दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥

मानवकी शक्ति मर्यादित है; क्योंकि उसका शरीर मर्यादित शक्तिवाला है। इसलिये उससे सेवा भी मर्यादित ही होगी। परंतु वृत्ति मर्यादित नहीं रखनी चाहिये। कोई मेरे कार्यक्षेत्रके बाहर हों, तो हर्ज नहीं, परंतु सहानुभूतिके विचारके क्षेत्रसे बाहर हो जाते हैं तो मैं अपनी शक्ति खोता हूँ; मेरी शक्ति मर्यादित हो जाती है। इसलिये चाहे सेवाका क्षेत्र मर्यादित हो, पर भावना और सहानुभूतिका क्षेत्र अमर्याद ही रहे। मनुष्यको मनुष्यके नाते ही देखें; नहीं तो, हिंदू-धर्मकी आत्माको हम खो देंगे। हिंदू-धर्म कहता है कि सबमें एक ही आत्मा है। यह एक ऐसा विशाल धर्म है, जिसमें किसी भी तरहका संकुचित भाव नहीं रह सकता। यदि हम यह बात ध्यानमें नहीं रखते, तो धर्मकी बुनियाद ही खोते हैं। —श्रीविनोबा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य ७॥) विदेशमें १०) (१५शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

विविध आसुरी सम्पत्ति

वर्ष ३३ संख्या १

मानवता-अंक

५. आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

६. 'मानवता-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग एक-डेढ़ महीना तो लग ही सकता है; इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' नंबरवार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७. 'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'-सम्पादन-विभाग, गीताप्रेस, महाभारत-विभाग, साधक-सङ्घ और गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८. सजिल्द विशेषाङ्क वी० पी० द्वारा प्रायः नहीं भेजे जाते। सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक १) २५ नया पैसा जिल्दखर्चसहित ८) ७५ नया पैसा मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें। सजिल्द अङ्क देरसे जायँगे।

९. किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य अलग ७) ५० नया पैसा है।

'कल्याण' के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

॥ श्रीहरिः ॥

'मानवता-अङ्क'की विषय-सूची

कुछ चित्रविषयक तथा घटनासम्बन्धी और भावात्मक लेख-कविता

पद्य-सूची

संकलित पद्य

चित्र-सूची

रेखाचित्र

मानवताके संरक्षक भगवान् विष्णु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर माघ २०१५, जनवरी १९५९ { संख्या १ पूर्ण संख्या ३८६

मानवताके संरक्षक भगवान् विष्णु

(रचयिता—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

जब अधर्म उठ चढ़ा शीशपर, बढ़े असुर अभिमानी ।
घटा धर्मका भाव धरापर, तापित संत अमानी ॥
तब-तब नव अवतार ग्रहण कर तुमने दिया सहारा ।
शोषित-पीड़ित मानवताको करके कृपा उबारा ॥
नरके नित्य सखा नारायण ! चक्र सुदर्शनधारी ।
देव ! तुम्हारे श्रीचरणोंमें है वन्दना हमारी ॥

आशाओंके महल ढहे जब, मिटे सभी मनसूबे ।
महाप्रलयके क्षुब्ध सिन्धुमें तीन लोक थे डूबे ॥
तुमने ही तब अन्न-बीज, ओषधियाँ सभी बचायीं ।
मानवके उस आदिपुरुषकी नौका पार लगायी ॥
जगके पालनहार ! भारहर ! महामत्स्य अवतारी !
देव ! तुम्हारे श्रीचरणोंमें है वन्दना हमारी ॥

कौमोदकी गदासे तुमने हिरण्याक्षको मारा।
उठा रसातलसे वसुधाको जलके ऊपर धारा॥
संकर्षणकी शक्ति इसे दे मानवलोक बसाया।
मानवताको मिली सदा ही प्रभो! तुम्हारी छाया॥
विमल यज्ञवाराह रूप धर वसुधाके उद्धारी!
देव! तुम्हारे श्रीचरणोंमें है वन्दना हमारी॥

'हममें, तुममें, खड्ग-खंभमें व्यापक हरिकी सत्ता।'
यह कह भक्त-रायने गायी प्रभुकी मान-महत्ता॥
'कहाँ विष्णु?' कह दैत्यराजने ज्यों तलवार उठायी।
खंभ फाड़ तुम प्रकट हुए त्यों, जनकी जान बचायी॥
दैत्यविदारण! दुःखनिवारण! जय नृसिंह वपुधारी!
देव! तुम्हारे श्रीचरणोंमें है वन्दना हमारी॥

तुमने ही बन कमठ पीठपर मन्दर-शैल उठाया।
क्षीरसिन्धु मथ इस वसुधापर सुधा-कलश प्रकटाया॥
दिखलाते-से अखिल भुवनमें व्यापक अपना आपा।
पहले वामन, फिर विराट बन तीन लोकको नापा॥
अपने शरणागत देवोंकी की तुमने रखवारी।
देव! तुम्हारे श्रीचरणोंमें है वन्दना हमारी॥

धन-मदसे उन्मत्त भूपदल हुआ ब्रह्महत्यारा।
जनहित परशुराम बन कर तब उन सबको संहारा॥
कर वरदान प्राप्त रावणने जब सब लोक रुलाये।
धर कर रूप महामानवका तब तुम भूपर आये॥
नर-वानरकी बढ़ी महत्ता, घटी निशाचर सत्ता।
दशमुखने दे दिये दसों मुख, उड़ा लंकका लत्ता॥
जन-जनमें रम रहे राम! तुम निखिल भुवन-भयहारी।
देव! तुम्हारे श्रीचरणोंमें है वन्दना हमारी॥

अत्याचार नृशंस कंसका था सीमासे ऊपर।
असुरोंसे पीड़ित मानवता सिसक रही थी भूपर॥
सहसा रवि-से उदित हुए तुम, असुरोंका तम भागा।
मुरलीके स्वर-लयपर घर-घर प्रेम-गीत था जागा॥
समराङ्गणमें गीता गूँजी अर्जुनसखे! तुम्हारी।
कृष्ण! तुम्हारे श्रीचरणोंमें है वन्दना हमारी॥

सब प्राणियोंमें एक ही भगवान् हैं

श्रीभगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

सबमें समभावसे परमात्माको देखनेवाला योगयुक्तात्मा पुरुष आत्मामें सब चराचर भूतप्राणियोंको और समस्त भूतप्राणियोंमें आत्माको देखता है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

जो मुझ (भगवान्) को सर्वत्र देखता है और सबको मुझ (भगवान्) में देखता है, मैं उससे कभी ओझल नहीं होता, वह मुझसे कभी ओझल नहीं होता ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(गीता ६ । ३१)

इस प्रकार मेरे साथ एकत्वमें स्थित होकर जो समस्त भूतप्राणियोंमें स्थित मुझको भजता है, वह योगी सब कुछ करता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है ।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गीता ७ । ७)

धनंजय ! मुझसे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है । सारा जगत् सूतमें सूतकी मणियोंके समान मुझमें गुँथा हुआ है ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
(गीता १० । ३९)

अर्जुन ! जो समस्त भूतप्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण—बीज है, वह मैं ही हूँ । चर-अचर कोई भी ऐसा भूतप्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गीता १३ । २७)

इस प्रकार जो मनुष्य इन नाश होते हुए समस्त चराचर भूतप्राणियोंमें मुझ अविनाशी परमात्माको समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
(गीता १३ । २८)

वह सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता । अतएव वह परम गतिको प्राप्त होता है ।

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४१)

'यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। यों समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे भगवद्भावसे प्रणाम करता है ।

जग-भूषण सच्चा मानव

माता, पिता, देव, गुरु, गुरुजन, गो, द्विज, रुग्ण, आर्त, अति दीन—
पशु, पक्षी, तिर्यक् प्राणी सब शुचि सुन्दर या अशुचि मलीन ॥
सेवा जो करता सबकी श्रद्धायुत, करता निर्भय दान।
भगवद्भाव भरे अन्तरसे सुख पहुँचाता ईश्वर जान ॥
दुर्व्यवहार न करता कभी किसीसे, देता सबको मान।
इन्द्रियजयी, चित्त-जयकारी, पर-धन जिसके धूल समान ॥
रक्षा करता पर-हितकी नित, सदा बचाता पर-अधिकार।
मङ्गल-कुशल बाँटता सबको, मङ्गलरूप स्वयं साकार ॥
निज-सुख-वाञ्छा परित्याग कर पर-सुखको ही निज सुख मान।
पर-हितार्थ कर सर्व-समर्पण परम सुखी होता मतिमान ॥
पतित, उपेक्षित, अपमानितको जो मनसे आदर देता।
तन-मन-धन देकर, बदलेमें उनका कष्ट-दुःख लेता ॥
करता नित्य पड़ोसीका हित, निज सुख देकर दुख हरता।
दुष्ट-सङ्ग कर त्याग सदा शुभ सङ्ग संत-जनका करता ॥
वर्ण-जाति-कुल-गृह-कुटुम्ब—सबका विधिवत् पालन करता।
पर कर त्याग मोह-ममताका, जीवनमें समता भरता ॥
ब्राह्मण, श्वपच, श्वान, गौ, गजमें सदा देखता ब्रह्म समान।
करता सब व्यवहार सविधि, अनिवार्य भेदको हितकर जान ॥
रहता नित कर्तव्यपरायण शास्त्र-संत-मतके अनुसार।
होता कभी नहीं उच्छृङ्खल, करता कभी न स्वेच्छाचार ॥
सब कुछ वैध उचित ही करता, करता नहीं कभी अभिमान।
सबका एक परम फल 'भगवत्-प्रीति' चाहता अमल महान ॥
सर्वकाल जो चिन्तन करता प्रभुके पावन गुण-गण नाम।
कर मन-बुद्धि समर्पण जो प्रभु-पदमें करता प्रेम अकाम ॥
ऐसे मानवसे रहता अति दूर सदा दुर्मति दानव।
ऐसा मानव ही 'जग-भूषण' कहलाता 'सच्चा मानव' ॥

महापुरुष-वन्दन

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ३३-३४)

'प्रभो ! आप शरणागतरक्षक हैं । आपके चरणारविन्द सदा-सर्वदा ध्यान करनेयोग्य, माया-मोहके कारण होनेवाले सांसारिक पराजयोंका अन्त कर देनेवाले तथा भक्तोंकी समस्त अभीष्ट वस्तुओंका दान करनेवाले कामधेनु-स्वरूप हैं । वे तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले स्वयं परम तीर्थस्वरूप हैं; शिव, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता उनकी स्तुति करते हैं और चाहे जो कोई उनकी शरणमें आ जाय, उसे स्वीकार कर लेते हैं । सेवकोंकी समस्त आर्ति और विपत्तिके नाशक तथा संसार-सागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं । महापुरुष ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ ।

'भगवन् ! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे । रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंके लिये भी वाञ्छनीय और दुस्त्यज राजलक्ष्मीको छोड़कर आपके चरण-कमल वन-वन घूमते फिरे । सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा हैं । और महापुरुष ! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरण-कमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे । सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं । प्रभो ! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ ।'

मानवके आदर्श गुण

(वैष्णवके लक्षण)

प्रशान्तचित्ताः सर्वेषां सौम्याः कामजितेन्द्रियाः ।
कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहमनिच्छवः ॥
दयार्द्रमनसो नित्यं स्तेयहिंसापराङ्मुखाः ।
गुणेषु परकार्येषु पक्षपातमुदान्विताः ॥
सदाचारावदाताश्च परोत्सवनिजोत्सवाः ।
पश्यन्तः सर्वभूतस्थं वासुदेवममत्सराः ॥
दीनानुकम्पिनो नित्यं भृशं परहितैषिणः ।

विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते ॥
वितन्वते तु तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ ।
नित्यकर्तव्यताबुद्ध्या यजन्तः शंकरादिकान् ॥
विष्णुस्वरूपान् ध्यायन्ति भक्त्या पितृगणेष्वपि ।
विष्णोरन्यं न पश्यन्ति विष्णुं नान्यत्पृथग्गतम् ॥
पार्थक्यं न च पार्थक्यं समष्टिव्यष्टिरूपिणः ।
जगन्नाथ तवास्मीति दासस्त्वं चास्मि नो पृथक् ॥
अन्तर्यामी यदा देवः सर्वेषां हृदि संस्थितः ।
सेव्यो वा सेवको वापि त्वत्तो नान्योऽस्ति कश्चन ॥

इति भावनया कृतावधानाः प्रणमन्तः सततं च कीर्तयन्तः ।
हरिमब्जजवन्द्यपादपद्मं प्रभजन्तस्तृणवज्जगज्जनेषु ॥
उपकृतिकुशला जगत्स्वजस्रं परकुशलानि निजानि मन्यमानाः ।
अपि परपरिभावने दयार्द्राः शिवमनसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
दृषदि परधने च लोष्टखण्डे परवनितासु च कूटशाल्मलीषु ।
सखिरिपुसहजेषु बन्धुवर्गे सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
गुणगणसुमुखाः परस्य मर्मच्छदनपराः परिणामसौख्यदा हि ।
भगवति सततं प्रदत्तचित्ताः प्रियवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
स्फुटमधुरपदं हि कंसहन्तुः कलुषमुषं शुभनाम चामनन्तः ।
जयजयपरिघोषणां रटन्तः किमु विभवाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
हरिचरणसरोजयुग्मचित्ता जडिमधियः सुखदुःखसाम्यरूपाः ।
अपचितिचतुरा हरौ निजात्मन्नतवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
विगलितमदमानशुद्धचित्ताः प्रसभविनश्यदहंकृतिप्रशान्ताः ।
नरहरिममरार्तबन्धुमिष्ट्वा क्षपितशुचः खलु वैष्णवा जयन्ति ॥

(स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड-उत्कलखण्ड १० । १०१—११५, ११७)

जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, जिन्होंने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत रहता है, जो चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं, सद्गुणोंके

संग्रह तथा दूसरोंके कार्यसाधनमें जो प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल—निष्कलङ्क बना रहता है, जो दूसरोंके उत्सवको अपना उत्सव मानते हैं, समस्त प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते, दीनोंपर दया करना जिनका स्वभाव बन गया है और जो सदा परहितसाधनकी विशेष इच्छा रखते हैं। अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ करोड़ गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार वे भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं। नित्य कर्तव्यबुद्धिसे विष्णुस्वरूप शंकर आदि देवताओंका भक्तिपूर्वक पूजन और ध्यान करते हैं, पितरोंमें भी भगवान् विष्णुकी ही बुद्धि रखते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखते और भगवान् विष्णुको किसी दूसरी वस्तुसे पृथक् नहीं देखते। समष्टि और व्यष्टि सबको भगवान्‌का ही स्वरूप समझते हैं तथा भगवान्‌को जगत्‌से भिन्न तथा अभिन्न दोनों मानते हैं। 'भगवान् जगन्नाथ! मै आपका दास हूँ; आपके स्वरूपमें भी मैं हूँ, आपसे पृथक् कदापि नहीं हूँ। जब आप भगवान् विष्णु अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, तब सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है।' इस भावनासे सदा सावधान रहकर—ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगल-चरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते, उनके नामोंका कीर्तन करते, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं। जगत्‌में सब लोगोंका उपकार करनेके लिये जो कुशलताका परिचय देते हैं, दूसरोंके कुशल-क्षेमको अपना ही मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना रखते हैं, वे ही विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, पर-धन और मिट्टीके ढेलेमें; परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकमें; मित्र, शत्रु, सगे भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और पराये मर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्‌में सदा विशेषरूपसे मन लगाये रहते तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो भगवान् कंसारिके पापहारी शुभनाम-सम्बन्धी मधुर पदोंका जप करते और जय-जयकी घोषणाके साथ भगवन्नामोंका कीर्तन करते हैं, वे अकिंचन महात्मा वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जडबुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान है, जो भगवान्‌की पूजामें दक्ष हैं तथा अपने मन और विनययुक्त वाणीको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर चुके हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। मद और अहंकार गल जानेके कारण जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो गया है, अहंकारके क्रमशः नष्ट होनेके कारण जो परम शान्त रहते हैं तथा अमरोंके विश्वसनीय बन्धु भगवान् नृसिंहका यजन करके जो शोकरहित हो गये हैं, ऐसे वैष्णव निश्चय ही उच्चपदको प्राप्त होते हैं।

योगी मानवके साधन तथा लक्षण

तद् गेहं यत्र वसति तद् भोज्यं येन जीवति ॥
येन निष्पाद्यते चार्थः स्वयं स्याद् योगसिद्धये ।
तथाज्ञानमुपासीत योगी यत्कार्यसाधकम् ॥
ज्ञानानां बहुता येयं योगविघ्नकरी हि सा ।
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ॥
अपि कल्पसहस्रायुर्नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ।
त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लब्धाहारो जितेन्द्रियः ॥
पिधाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ।
आहारं सात्त्विकं सेवेन्न तं येन विचेतनः ॥
स्यादयं तं च भुञ्जानो रौरवस्य प्रियातिथिः ।
वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ॥
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी यतिः स्मृतः ।
अनुरागं जनो याति परोक्षे गुणकीर्तनम् ॥
न बिभ्यति च सत्त्वानि सिद्धेर्लक्षणमुच्यते ॥

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषयोश्च ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥
समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी शुचिस्तथैकान्तरतिर्जितेन्द्रियः ।
समाप्नुयाद्योगमिमं महामना विमुक्तिमाप्नोति ततश्च योगतः ॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुंधरा भाग्यवती च तेन ।
अवाह्यमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
विशुद्धबुद्धिः समलोष्टकाञ्चनः समस्तभूतेषु वसन् समो हि यः ।
स्थानं परं शाश्वतमव्ययं च यतिर्हि गत्वा न पुनः प्रजायते ॥

(स्कन्दपुराण मा० कौ० ५५ । १३०—१४१)

वही घर है, जहाँ निवास हो; वही भोजन है, जिससे जीवनकी रक्षा हो। जिससे प्रयोजन सिद्ध हो और जो स्वयं ही योगसिद्धिमें सहायक हो, वैसे ही ज्ञानकी मनुष्य उपासना करे। यही उसके लिये कार्य-साधक हो सकता है। नाना प्रकारके ज्ञानका जो अधिक संग्रह है, वह योगकी साधनामें विघ्नकारक ही होता है। जो 'यह जानने योग्य है', 'यह जानने योग्य है' यों सोचते हुए बहुविध ज्ञानके लिये पिपासित हुआ फिरता है, वह एक हजार कल्पोंकी आयु प्राप्त करके भी ज्ञेय वस्तुको नहीं प्राप्त कर सकता। आसक्ति छोड़कर, क्रोधको जीतकर, अनायास जो कुछ मिल जाय उसीको खाकर संतोष करते हुए, जितेन्द्रिय हो और बुद्धिके द्वारा इन्द्रियद्वारोंको बंद करके मनको ध्यानमें लगाये। सात्त्विक आहारका सेवन करे; ऐसे आहारका नहीं, जिससे उसका चित्त काबूके बाहर हो जाय। चित्तको बिगाड़नेवाले आहारका सेवन करनेवाला मनुष्य रौरव नरकका प्रिय अतिथि होता है। वाणी दण्ड (का साधन) है, कर्म दण्ड है और मन दण्ड है—ये तीनों दण्ड जिसके अधीन हैं, वह 'त्रिदण्डी' यति माना गया है। जब सामने आया हुआ मनुष्य अनुरक्त हो जाय, परोक्षमें गुणोंका कीर्तन करने लगे और कोई भी जीव उससे भयभीत न हो, तब यह सब योगीके लिये सिद्धिसूचक लक्षण बताया जाता है। लोलुपताका न होना, नीरोग रहना, निष्ठुरताका अभाव

होना, सुन्दर गन्ध प्रकट होना, मल और मूत्रका कम हो जाना, शरीरमें कान्ति, मनमें प्रसन्नता तथा वाणीमें कोमलता—ये योगसिद्धिके प्रारम्भिक चिह्न हैं । जो एकाग्रचित्त, ब्रह्मचिन्तनपरायण, प्रमादशून्य, पवित्र, एकान्तप्रेमी और जितेन्द्रिय है, वह महामना योगी इस योगमें सिद्धि प्राप्त करता है और उस योगके प्रभावसे मोक्षको प्राप्त हो जाता है । जिसका चित्त मोक्षमार्गमें आकर परब्रह्म परमात्मामें संलग्न हो सुखके अपार सिन्धुमें निमग्न हो गया है, उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी माता कृतार्थ हो गयी तथा उसे पाकर यह सारी पृथ्वी भी सौभाग्यवती हो गयी । जिसकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध है, जो मिट्टीके ढेले और सुवर्णमें समान भाव रखता है, समस्त प्राणियोंमें समभावसे निवास करता है, वह यत्नशील साधक अपनी साधना पूर्ण करके उस सर्वोत्कृष्ट सनातन एवं अविनाशी पदको प्राप्त होता है, जहाँ पहुँच जानेपर कोई भी मनुष्य पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेता ।

मानव-धर्मसे च्युत मानवका भीषण भविष्य

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा ।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥
एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम् ।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद् भृतम् ॥
दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान् ।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः ॥
केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः ।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥
अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३० । ३०—३४)

इस प्रकार (अनेक कष्ट भोगकर) अपने कुटुम्बका ही पालन करनेवाला अथवा केवल अपना ही पेट भरनेवाला पुरुष उन कुटुम्ब और शरीर—दोनोंको यहीं छोड़कर मरनेके बाद अपने किये हुए पापोंका ऐसा फल भोगता है । अपने इस शरीरको यहीं छोड़कर प्राणियोंसे द्रोह करके एकत्रित किये हुए पापरूप पाथेयको साथ लेकर वह अकेला ही नरकमें जाता है । मनुष्य अपने कुटुम्बका पेट पालनेमें जो अन्याय करता है, उसका दैवविहित कुफल वह नरकमें जाकर भोगता है । उस समय वह ऐसा व्याकुल होता है, मानो उसका सर्वस्व लुट गया हो । जो पुरुष निरी पापकी कमाईसे ही अपने परिवारका पालन करनेमें व्यस्त रहता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें जाता है—जो नरकोंमें चरम सीमाका कष्टप्रद स्थान है । मनुष्य-जन्म मिलनेके पूर्व जितनी भी यातनाएँ हैं तथा शूकर-कूकरादि निकृष्ट योनियोंके जितने कष्ट हैं, उन सबको क्रमसे भोगकर शुद्ध हो जानेपर वह फिर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ।

नगर, देश और पृथ्वीका भूषण मानव

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहो मद्यमदादयः। माया मात्सर्यपैशुन्यमविवेकोऽविचारणा ॥
अन्धकारो यदृच्छा च चापल्यं लोलता नृप। अत्यायासोऽप्यनायासः प्रमादो द्रोहसाहसम् ॥
आलस्यं दीर्घसूत्रत्वं परदारोपसेवनम्। अत्याहारो निराहारः शोकश्चौर्यं नृपोत्तम ॥
एतान् दोषान् गृहे नित्यं वर्जयन् यदि वर्तते। स नरो मण्डनं भूमेर्देशस्य नगरस्य च ॥
श्रीमान् विद्वान् कुलीनोऽसौ स एव पुरुषोत्तमः। सर्वतीर्थाभिषेकश्च नित्यं तस्य प्रजायते ॥
(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद्यपान, मद आदि, कपट-छल, डाह, चुगलखोरी, अविवेक, विचारशून्यता, तमोगुण, स्वेच्छाचार, चपलता, लोलुपता, (भोगोंके लिये) अत्यधिक प्रयास, अकर्मण्यता, प्रमाद (कर्तव्य-कर्म न करना और अकर्तव्य करना), दूसरोंके साथ द्रोह करनेमें आगे रहना, आलस्य, दीर्घसूत्रता, परस्त्रीसे अनुचित सम्बन्ध, बहुत अधिक खाना, कुछ भी न खाना, शोक, चोरी—इन दोषोंसे बचा रहकर जो अपना जीवन बिताता है, वह मानव पृथ्वी, देश तथा नगरका भूषण है। वही श्रीमान्, विद्वान्, कुलीन और मनुष्योंमें सर्वोत्तम है। उसे नित्य ही सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेका फल मिलता है।

मानवके लिये त्याज्य दुर्गुण

(अवैष्णवके लक्षण)

शुभचरितमपि द्विषन्ति पुंसां स्वयमिह दुश्चरितानुबन्धचित्ताः।
महदकुशलमप्यवाप्य सुस्था भगरसरसिका अवैष्णवास्ते ॥
परमसुखपदं हृदम्बुजस्थं क्षणमपि नानुभजन्ति मत्तभावाः।
वितथवचनजालकैरजस्रं पिदधति नाम हरेरवैष्णवास्ते ॥
परयुवतिधनेषु नित्यलुब्धाः कृपणधियो निजकुक्षिभारपूर्णाः।
नियतपरमहत्त्वमन्यमाना नरपशवः खलु विष्णुभक्तिहीनाः ॥
अनवरतमनार्यसङ्गरक्ताः परपरिभावकहिंसकातिरौद्राः।
नरहरिचरणस्मृतौ विरक्ता नरमलिनाः खलु दूरतो हि वर्ज्याः ॥
(स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड—उत्कलखण्ड १०। १२०-१२३)

जो मनुष्योंके शुभ आचरणोंसे भी द्वेष करते हैं और स्वयं अपने चित्तको दुराचारमें ही बाँधे रखते हैं, बड़े भारी अमङ्गलको पा करके भी निश्चिन्त रहते हैं और सदा ऐश्वर्य तथा विषय-भोगके रसमें ही सुखका अनुभव करते हैं, वे वैष्णव नहीं हैं, वे तो बहुत ही निम्नश्रेणीके मनुष्य हैं। अपने हृदयरूपी कमलमें विराजमान परमानन्दमय श्रीहरिके स्वरूपका जो क्षणभर भी चिन्तन नहीं करते, उन्मत्त भावसे बैठे रहते हैं और अपने झूठे वचनोंके जालसे भगवान्‌के नामको भी निरन्तर आच्छादित किये रहते हैं, वे भी भगवान्‌के भक्त नहीं हैं। जिनके मनमें परायी स्त्री और पराये धनके लिये सदा लोभ बना रहता है, जो कृपण बुद्धिवाले हैं और सदा अपना पेट भरनेमें ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, वे नर-पशु विष्णु-भक्तिसे सर्वथा रहित हैं। जो निरन्तर दुष्ट पुरुषोंके साथ अनुराग रखते हैं, दूसरोंका तिरस्कार और हिंसा करते हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त भयंकर है तथा जो भगवान् नृसिंहके चरणोंके चिन्तनसे विरक्त रहते हैं, उन मलिन मनुष्योंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।
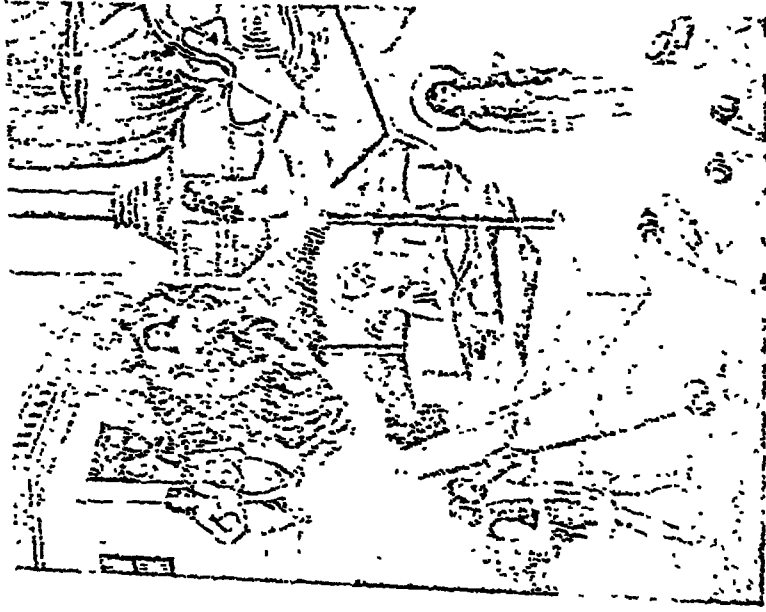
दस मानवधर्म

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनु० ६ । ९२)

दस मानव-धर्म

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

महर्षि दधीचकी धृति

'भगवन्! स्वार्थीजन अपने स्वार्थके सम्मुख दूसरेका कष्ट नहीं देख पाते। वृत्रासुर आपकी अस्थियोंसे बने वज्रसे मर सकता है और आपकी कृपाके विना·······', आगे बोला नहीं गया देवराजसे। उन्होंने लज्जासे मस्तक झुका लिया।

स्वर्गपर असुरोंका आधिपत्य हो गया था। उनके नायक वृत्रासुरने देवताओंके सब अस्त्र-शस्त्र निगल लिये थे। अमरावतीके सदनोंमें और नन्दनकाननमें असुर क्रीड़ा कर रहे थे और देवता गिरि-गुफाओंमें छिपते-भटकते फिर रहे थे। महर्षि दधीचकी अस्थिसे बने वज्रसे वृत्र मर सकता है; किंतु उन तपोधनपर आघात तो वृत्र-वधसे अधिक असम्भव—देवसमाज याचना करने आया था महर्षिसे।

'शरीर तो एक दिन जायगा ही। वह किसीका उपकार करते जाय, यह प्राणीका परम सौभाग्य!' महर्षि दधीचका लोकोत्तर धैर्य। समाधिमें स्थित होकर देहत्याग किया उन्होंने। अपने देहकी अस्थियोंका उनका दान—मानवताने जो महत्तम पुरुष दिये, उनमें भी महानतम महर्षि दधीच। धन्य दधीचकी धृति!

महर्षि वसिष्ठकी क्षमा

'कितनी निर्मल चन्द्रिका है!' देवी अरुन्धतीने रात्रिके एकान्तमें, उन्मुक्त गगनके नीचे ज्योत्स्नास्नात अपने आराध्य महर्षि वसिष्ठसे उनके वामपार्श्वमें बैठकर सहजभावसे कहा।

'यह चन्द्रिका इसी प्रकार दिशाओंको उज्ज्वल कर रही है, जैसे आजकल विश्वामित्रका तप लोकोंको समुज्ज्वल कर रहा है!' महर्षिने सोल्लास कहा।

सभाका शिष्टाचार नहीं, समूहमें दिखावेकी प्रशंसा नहीं, एकान्तमें पत्नीसे कहा गया यह वाक्य—हृदयका वास्तविक उद्गार! और विश्वामित्र कौन? वसिष्ठके परम शत्रु—महर्षिके सौ पुत्रोंकी हत्या करा देनेवाले। किसी भी प्रकार वसिष्ठको क्लेश देनेको नित्य उद्यत। वसिष्ठके पराभवके लिये ही जिनकी तपस्या थी।

उस दिन, उस समय भी विश्वामित्र वहीं थे। सशस्त्र वसिष्ठको मार देनेको उद्यत, अवसरकी प्रतीक्षामें झाड़ियोंमें छिपे विश्वामित्र—किंतु महर्षि वसिष्ठकी यह क्षमा, विपक्षीके अपराधकी पूर्ण विस्मृति और उसके गुणका ग्रहण—शस्त्र फेंककर महर्षिके पदोंपर गिर गये विश्वामित्र तो क्या आश्चर्यकी बात थी। यह है क्षमा!

अर्जुनका दम

'जैसे कुन्तीदेवी मेरी माता हैं, जैसे इन्द्राणी शची मेरी माता हैं, वैसे ही कुरुकुलकी जननी आप भी मेरी माता हैं! आप अपने इस पुत्रपर प्रसन्न हों!' एकान्तमें रात्रिके समय, स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा उर्वशी कामातुर आयी थी, देवराज इन्द्रके आदेशसे आयी थी और जितना शृङ्गार सम्भव था—भली प्रकार सजकर आयी थी।

मध्यम पाण्डव अर्जुनका लोकोत्तर मनोनिग्रह—उर्वशीका रूप, उसकी आतुर अनुनय-विनय—व्यर्थ और व्यर्थ उसका शाप! दम (मनके संयम) और सदाचारके प्रतीको कोई शाप दे—आशीर्वाद बनकर रहना होगा उसे। अर्जुनके लिये सहायक बना वह शाप।

लिखित ऋषिका अस्तेय

बड़े भाई शंखके उपवनसे एक फलमात्र खा लिया था। बड़े भाईका उपवन—अनुमति आवश्यक है, ध्यान नहीं रहा; किंतु बड़े भाई कहते हैं—यह कर्म चोरीकी परिभाषामें आयेगा—पाप है तो प्रायश्चित्त भी होना ही चाहिये।

'तुम मर्यादाका पालन करानेवाले हो—उसे बदलनेवाले नहीं। मर्यादाके निर्माता हम हैं—हम जानते हैं कि उचित क्या है!' लिखितने डाँट दिया नरेशको। वे चोरीका दण्ड लेने आये—नरेश क्यों कहता है कि वह क्षमा कर सकता है। चोरीका दण्ड—विवश नरेशको उनके हाथ कटवा देने पड़े।

'मैं दण्ड ले आया!' दोनों हाथ कट गये; किंतु मुखपर उल्लास कि निष्पाप हो गये। महातापस अग्रजका प्रभाव पीछे हाथ दे दे—यह भिन्न बात है। दूसरे दिन तर्पण करते समय ज्यों-के-त्यों हाथ आ गये!

देवमाता अदितिका शौच

पवित्रताके प्रतीक हैं देवता—देवताओंकी माता हैं जो, उनका शौच—उनकी पवित्रताका वर्णन वाणी कैसे करेगी!

उनकी आराधना—परमपुरुषकी आराधनामें नित्य संलग्न हैं वे। वे परमपुरुष भी उनको वामनरूपमें माँ बनानेको उत्कण्ठित हुए—शौचाचारका अपार माहात्म्य।

अद्रोहकका इन्द्रिय-निग्रह

'मैं अपनी शय्यापर ही इन्हें शयन कराऊँगा। इनकी रक्षा—इन लोकोत्तर सुन्दरीकी रक्षा लोकाचारके विपरीत व्यवहारके विना मुझे दीखती नहीं। आपको यह स्वीकार हो तो इन्हें यहाँ रखें।' अद्रोहककी यह बात स्वीकार कर ली राजकुमारने। उन्हें प्रवासमें जाना था। परम धार्मिक अद्रोहकको छोड़कर उनकी अत्यन्त रूपवती पत्नीकी रक्षा करनेवाला दूसरा कोई उन्हें दीखता नहीं था।

'मित्र! मैंने जो कुछ किया था—लोकापवादने उसे व्यर्थ कर दिया। मैं उस लोकापवादको नष्ट कर दूँगा।' छः महीनेपर जब राजकुमार लौटे—उनकी पत्नीके सम्बन्धमें जितने मुख, उतनी बातें। अद्रोहकके यहाँ वे पहुँचे तो आँगनमें काष्ठचिता सजी मिली।

'पीठकी ओर तुम्हारी स्त्रीको करके, अपनी पत्नीकी ओर मुख करके मैं सदा एक शय्यापर सोया हूँ। तुम्हारी स्त्रीके स्तन भी मेरी पीठमें जब स्पर्श किये हैं—मुझे माताके स्तनका बोध हुआ है। यदि मेरा भाव सदा शुद्ध रहा है तो अग्निदेव मेरे लिये शीतल रहें।' प्रज्वलित चितामें प्रवेश किया अद्रोहकने—ऐसे इन्द्रिय-निग्रही लोकोत्तर महापुरुषके रोमोंके भी स्पर्शकी शक्ति अग्निदेवमें कहाँ हो सकती है। अद्रोहकका वस्त्रतक नहीं जला। अद्रोहकपर दोष लगानेवालोंके मुँहपर कोढ़ हो गया!

महाराज जनककी बुद्धि

सच्ची वही जो सत्-असत्का ठीक-ठीक निर्णय कर ले। जो असत्में भूलकर भी प्रवृत्त न हो और सदा सत्के ही सम्मुख रहे। इस प्रकारकी सच्ची बुद्धिके प्रतीक महाराज जनक—वे नित्य अनासक्त, ज्ञानियोंके भी गुरु मिथिला-नरेश। धीकी असफलता है देहासक्ति—वह धन्य तो हुई महाराज विदेहमें।

महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासकी विद्या

'व्यासोच्छिष्टमिदं जगत्।' यह सारा विश्व—विश्वकी सम्पूर्ण विद्या व्यासजीकी जूँठन है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षका सम्पूर्ण वर्णन किया उन्होंने। वेदोंका विभाजन, पुराणोंका प्रणयन—पञ्चम वेद महाभारतका निर्माण। वही घोषणा कर सकते थे—'जो यहाँ है वही सर्वत्र है। जो यहाँ (*महाभारतमें*) नहीं, वह और कहीं नहीं।'

धर्म एवं न्यायपूर्वक अर्जित अर्थ, उस अर्थसे धर्मविहित कामका सेवन तथा दानादि धर्माचरण, धर्मका आचरण भी अर्थ या कामकी प्राप्तिके लिये नहीं—मोक्षके लिये—यही आदर्श विद्या है। वह तो अविद्या है, जो मनुष्यको अधर्मकी ओर, भोगकी ओर प्रवृत्त करती है। विद्याके परमाचार्य—विश्वके वास्तविक गुरु हैं भगवान् व्यास। जगत्को विद्याका आलोक देनेके लिये ही तो श्रीहरिने यह अवतार धारण किया है।

महाराज हरिश्चन्द्रका सत्य

राज्य गया, धन गया, वैभव गया। अयोध्याकी महारानीको वेचना पड़ा, वे दासी बनीं और स्वयं विकना पड़ा—स्वयं चाण्डालके हाथों विककर श्मशानका चौकीदार बनना पड़ा—इतनेपर भी सीमा नहीं। इकलौता पुत्र—अपनी परम सती पत्नी उस पुत्रकी लाश लिये क्रन्दन करती सम्मुख—श्मशानका कर लिये विना हरिश्चन्द्र अपने पुत्रका शव फूँकनेकी अनुमति दे नहीं सकते। हरिश्चन्द्रका सत्य—सत्य ही परमेश्वर है यह महात्मा गांधीने इस युगमें कहा; किंतु हरिश्चन्द्रके सत्यने त्रेतामें परमेश्वरको विवश किया था श्मशानमें प्रकट होनेके लिये।

भगवान् नारायणका अक्रोध

'*मन्मथ*! देवाङ्गनाओ! वायुदेव, ऋतुराज! आप सबका स्वागत! आप सब इस आश्रममें आ गये हैं तो कृपाकर हमारा आतिथ्य ग्रहण करें।' प्रसन्न सस्मित श्रीमुख भगवान् नारायण। क्षोभकी रेखातक नहीं भालपर। कामदेव तथा उसके सहचरोंको आश्वासन मिला, अन्यथा, उनके तो प्राण ही सूख गये थे—यदि ये क्रोध करें—भगवान् रुद्रका कोप स्मरण आ गया मदनको।

देवराज इन्द्र नित्य शङ्काकुल हैं तपस्वियोंके तपसे। उनका आदेश—अलकनन्दाका दिव्य उपकूल वसन्त-श्रीसे झूम उठा था। मलयमारुत, कोकिलकी काकली, अप्सराओंके नृत्य-संगीत तथा उनकी उन्मद क्रीड़ा—मदनके विश्वजयी पञ्चसर व्यर्थ हो गये और काम पराजित हो गया। पराजित काम भयसे काँपा; किंतु पराजित था वहाँ उसका छोटा भाई क्रोध भी। आदिऋषि भगवान् नारायण मुस्कराते स्वागत कर रहे थे।

कल्याण

(मानव-कल्याणका स्वरूप तथा उसके साधन)

याद रक्खो—मानव-शरीर विषयभोगके लिये नहीं ला है। इन्द्रियोंके भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त ते हैं। यहाँ भी प्रारब्धानुसार प्राप्त होंगे ही। मानव-वनका तो एकमात्र उद्देश्य है—भगवत्प्राप्ति। इसीको न, मोक्ष, निर्वाण, आत्मसाक्षात्कार या मुक्ति भी हते हैं। प्रेमी-भक्त मानव-जीवनका चरम और परम देश्य भगवत्प्रेमकी प्राप्ति बतलाते हैं। बात एक ही । दोनोंमें ही विषयभोगोंसे तथा सांसारिक प्राणी-दार्थोंसे आसक्ति-ममता हटानी पड़ती है। दोनोंमें ही ामना तथा अहंकारको मिटाना पड़ता है। विषया-क्त मनुष्य न भगवान्को प्राप्त होता है, न भगवत्प्रेम-ो। मानव जब भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम-प्राप्तिको ही पने जीवनका एकमात्र उद्देश्य मानकर उसीके ये प्रयत्न करनेका निश्चय करता है, तभी उसमें थार्थ मानवताका सूत्रपात या प्रारम्भ होता है। नहीं ; वह मानव-शरीरमें या तो पशु है या असुर। हार, निद्रा, भय, वैर, मैथुनकी ओर झुका हुआ मानव शुता'से युक्त है और भोगवासनाओंमें प्रमत्त मानव ानवता' या आसुरी सम्पदासे !

याद रक्खो—(१) जो केवल भोजनकी चिन्तामें लगा आ भोजनके लिये प्रयत्नशील रहता है। रोटीको ही बसे मोटी वस्तु जानकर, रोटीको ही जीवनका एकमात्र य मानकर—उसीकी प्राप्तिके लिये येन-केन-प्रकारेण द्योगमें लगा रहता है—हिंसासे मिले, चाहे अहिंसासे। २) जो स्त्री या पुरुष मानव केवल यौन-सम्बन्धको म सुख जानकर पशुकी भाँति किसी भी लौकिक म्बन्धका कोई विधि-निषेध न मानकर विविधरूपसे ाठ प्रकारके मैथुनोंमें जीवनको लगाये रखता है। ३) रोटी और स्त्री-पुरुष-मिलनमें किसी प्रकार बाधा न आ जाय, मिली हुई रोटी और स्त्री-पुरुष-मिलन चला न जाय, इस भयसे जो सदा भयभीत रहता है। (४) इनमें बाधा देनेवालेके साथ जो लड़ने लगता है तथा परम आत्मीयको भी शत्रु मान लेता है। और (५) पेट भरकर, स्त्री-पुरुषके यौन-सम्बन्धका सुख प्राप्त कर, बाधा देनेवालोंसे लड़-भिड़कर—जो सो जानेमें ही जीवनका सुख प्राप्त करता है, ऐसा मनुष्य मानव-शरीरधारी होनेपर भी मानव नहीं है; क्योंकि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा—जहाँसे मानवताका प्रारम्भ होता है, उसमें जाग्रत् ही नहीं हुई। कई बातोंमें तो वह पशुसे भी गया-बीता है। पशुका आहार-भोग आदि नियमित होता है, उसकी विचारशक्ति तथा सामर्थ्य-शक्ति भी सीमित होती है, इससे उसकी पशुता-का भी विशेष विकास नहीं होता। सिंह, बाघ, हाथी, कुत्ता, भेड़िया, गाय, भैंस, बकरी आदि पशु अपने शरीरोचित जितनी और जैसी चेष्टा कर सकते हैं, उतनी ही करते हैं; पर मनुष्य जब अपनी बुद्धिको तथा प्राप्त ज्ञानको पशुताकी वृद्धिमें लगाता है, तब तो वह इतना घोर पशु बनता जाता है, जो पशु-जगत्के लिये सम्भव ही नहीं है। इसीसे मानव-पशु पशुजातिके पशुकी अपेक्षा कहीं अधिक निम्नश्रेणीका होता है। पशु उससे उन्नत रह जाते हैं और वह नीची गतिमें चला जाता है।

याद रक्खो—भगवान्को जीवनकी परम गति न मानकर जो केवल भोगोंके प्राप्त करने और उन्हें भोगनेमें ही जीवनकी इतिकर्तव्यता मानता है, कामो-पभोग ही जिसके जीवनका सिद्धान्त है—वह असुर है। वह असुर-मानव दम्भ, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोर वचन तथा अज्ञानको अपनी सम्पत्ति माने रहता है। यथार्थमें कौन-सा कर्म करना चाहिये, कौन-सा नहीं

करना चाहिये, इसको वह जानता ही नहीं; इसलिये उसके जीवनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि रहती है, न श्रेष्ठ आचरण रहते हैं और न सत्यका व्यवहार या दर्शन ही। वह मानता है—संसारका कोई न तो बनानेवाला है, न कोई आधार है, प्रकृतिके द्वारा अपने आप ही यह उत्पन्न हो जाता है। स्त्री-पुरुषोंका संयोग ही इसमें प्रधान हेतु है। अतएव संसारमें भोग भोगना ही जीवनका सार-सर्वस्व है। इस प्रकार मानकर वह असुर-मानव अपने मानव-भावको खो देता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दूसरेका बुरा करनेमें ही वह अपना स्वार्थ समझता है, ऐसा कोई उग्र—क्रूर कर्म नहीं, जो वह नहीं कर सकता हो, दूसरे चूल्हे-भाड़में जायँ, उसका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिये।

वह सदा मान तथा मदसे भरा ही रहता है। उसकी विषयकामना कभी पूरी होती ही नहीं, परंतु कामनाओंकी पूर्तिके लिये वह मिथ्या मतवादोंको ग्रहण करके भ्रष्टाचारमें प्रवृत्त हो जाता है। किंतु 'कामोपभोग' ही जीवनका सार सिद्धान्त है, इस मान्यताके कारण वह मरनेके अन्तिम श्वासतक अनन्त-अनन्त चिन्ता-ज्वालाओंसे जलता रहता है। जन, धन, परिस्थिति, प्राणी आदिकी सैकड़ों-सैकड़ों आशाकी दृढ़ फाँसियोंसे जकड़ा हुआ वह असुर-मानव काम-भोगके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहमें लगा रहता है। रात-दिन यही सोचता रहता है, आज इतना मिल गया, अब प्रयत्न करके और भी पा लूँगा। इतना धन तो मेरे पास हो गया, उसके पास मुझसे अधिक है, मैं ऐसे उपाय करूँगा कि जिससे उससे भी अधिक धन-सम्पन्न हो जाऊँगा। आज यह अधिकार मिला, इस कुर्सीपर बैठा, कल इससे भी ऊँचा अधिकार प्राप्त करूँगा, पर अमुक-अमुक व्यक्ति मेरे मार्गमें बाधक हैं, वे सदा सर्वदा मेरे विरोधमें ही लगे रहते हैं। इन मेरे विपक्षी वैरियोंके रहते मेरा काम नहीं बनेगा। अतएव मुझे इन मार्गके काँटोंको हटाना ही पड़ेगा। कुछ काँटोंको तो हटा दिया गया है। जो बचे उनको भी हटाना है।

पर यह मेरे लिये कौन-सा कठिन कार्य है। हाथमें सत्ता है! ईश्वर क्या होता है। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही ऐश्वर्यका भोगनेवाला हूँ, सारी सिद्धि मेरे करतलगत हैं। मेरा अतुल बल है—किसः शक्ति है जो मेरे सामने आकर टिक सके। सा भोग-सुख मैं भोग रहा हूँ। कितनी सम्पत्तिका स्वा हूँ। मैं जनताका नेता हूँ। देश मेरे ही इशारेप नाचता है और नाचेगा। मैं बड़े-बड़े काम करूँगा मेरा नाम इतिहासमें अमर रहेगा—इस प्रकार वह असुर मानव मोह-जालके अंदर मनोरथोंके चक्रमें भटकता रहता है और मनोरथ-सिद्धिके लिये दिन-रात ऐसे अमानवीय कार्य करता रहता है, जिनके कारण यहाँ दिन-रात जलता है। महलोंमें रहता, आरामकुर्सियोंपर बैठता, मखमली गद्दोंपर सोता, वायुयानोंमें उड़ता तथा हुकूमत करता हुआ भी रात-दिन महान् मानस संताप से संतप्त रहता है और अपनी अमानवी करतूतों फलस्वरूप घोर अपवित्र नरकोंमें गिरनेको बाध्य होत है*। अहंकार, बलाभिमान, घमंड, काम, क्रोध औ

*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

उसके अन्तरमें नित्य विराजित श्रीभगवान्से द्वेष—ये ही उसके जीवनके सहज स्वभाव बन जाते हैं। अतः भगवान् भी उस नराधमको बार-बार कुत्ते, सुअर, गदहे, नरक-कीट आदिकी आसुरी योनियोंमें और भीषण नरकोंमें डालते रहते हैं; उसके अनर्थमय कर्मोंका यही अनिवार्य फल होता है।

नरकके तीन प्रधान साधन हैं—काम, क्रोध और लोभ। ये आत्माका नाश—पतन करनेवाले, जीवको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं*। ये ही आसुरी सम्पदाके प्रधान योद्धा हैं। इनमें काम मोहिनी आसुरी शक्ति है; लोभ आसुरी है और क्रोध राक्षसी है। काम—परम सुन्दरी स्त्री (या आकर्षक मनोहर पुरुष) बनकर, लोभ—धन-दौलत, मान-प्रतिष्ठा, मील-मकान, अधिकार-मद आदिका स्वाँग धरकर और क्रोध अपनी क्रूर आकृति धारण कर मानव-जीवनको जकड़ लेते हैं—दृढ़ बन्धनमें बाँध लेते हैं और दिन-रात उसे अधिक-से-अधिक अपनी ओर खींचते रहते हैं। तथा उनकी ओर खिंचे रहने—उनसे अभिभूत रहनेमें ही वह अपना परम लाभ—जीवनकी सिद्धि—सफलता समझता है। भगवान्की कृपा तथा सत्सङ्गके फलस्वरूप उसे जब कभी अपनी दुर्दशाका अनुभव होता है, तब वह भगवान्की ओर मुड़ना चाहता है तथा भगवान्से प्रार्थना करता है। उस अवस्थामें भी ये तीनों प्रबल खल दुर्दान्त शत्रु उसका पीछा छोड़ना नहीं चाहते। पर यदि वह आर्त होकर सच्चे हृदयसे प्रार्थना करता और इनसे छूटना चाहता है तो भगवान् कृपा करके उसके इस नरक-बन्धनको काट देते हैं। परंतु जबतक वह कामोपभोगको ही परम पुरुषार्थ मानता है, तबतक उसकी मानवता प्रकट ही नहीं होती—यही असुर-मानवका स्वरूप है*।

यह याद रक्खो—प्रकृति स्वाभाविक अधोगामिनी है। सत्त्वगुणसम्पन्न पुरुष भी यदि सावधानीके साथ आगे बढ़नेका—गुणातीत अवस्थामें पहुँचनेका प्रयत्न नहीं करता है तो सहज ही उसका सत्त्वगुण क्रमशः रजोमुखी, फिर रजोगुण तमोमुखी होकर घोर तमसाच्छन्न हो जाता है। इसलिये सदा सावधानीके साथ प्रकृतिको ऊँचा उठानेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। जगत्में सभी क्षेत्रोंमें फिसलाहट है, जरा-सी असावधानीसे मनुष्य फिसलकर नीचे गिर सकता है। फिर आसुरी शक्ति तो मनुष्यको सदा विभिन्न प्रकारके प्रलोभन तथा भय दिखलाकर अपनी ओर खींचती ही रहती है। आसुरी शक्तिका सबसे पहला काम होता है—ईश्वर तथा धर्मसे विश्वास उठाकर 'प्रकृतिमें विश्वास' करा देना। यही पतनका प्रथम लक्षण है। इसके होते ही क्षुद्र 'स्व' आ जाता है। और फिर स्वार्थ, हिंसा, असत्य, व्यभिचार, संग्रह-प्रवृत्ति, विलासिता, अहंकार, मद, अधिकारलिप्सा, विषमता, भोगपरायणता, द्वेष, युद्ध आदि दुर्गुण, दुर्भाव और दुराचार जीवनमें व्याप्त हो जाते हैं। असुरभावापन्न मानव बड़ी लुभाई दृष्टिसे इनकी ओर देखता है और पतित हो जाता है। कहीं सौभाग्यसे सत्पुरुषका शुभ संग मिलता है तो उससे उसकी इन दुर्गुण, दुर्भाव और दुराचारोंके विरोधी सद्गुण, सद्भाव और सदाचारोंकी ओर प्रवृत्ति होती है।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
(गीता १६। ७—१६)

* त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

* मुखपृष्ठका बहुरंगा चित्र देखिये।

सत्पुरुष उसे इधरसे हटाकर ईश्वरमें विश्वास, परार्थभाव, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सादगी, सेवाभाव, विनय, कर्त्तव्यशीलता, समता, त्याग और प्रेमकी ओर प्रवृत्त करना चाहता है—वह हाथ पकड़कर उसके जीवनको इधर घुमाता है। तब किसी महान् आदर्शकी ओर आकृष्ट होकर उसके जीवनकी गति इधर होती है। उपर्युक्त दुर्गुण, दुर्भाव और दुराचारोंका परिणाम होता है दुःख और विनाश—आत्माका घोर पतन। एवं उपर्युक्त सद्गुण, सद्भाव और सदाचारोंका फल होता है शाश्वती शान्ति, आत्यन्तिक आनन्द और नित्य आत्म—सच्चिदानन्दघन जीवनकी प्राप्ति। इधर मुड़कर—आध्यात्मिक साधनामें प्रवृत्त होकर आत्म-जीवन प्राप्त करनेवाला ही 'मानव' है। इस साधनामें प्रवृत्ति ही 'मानवताका आरम्भ' है और इस जीवनमें स्थिति ही 'सच्ची मानवता' है—मानवके मानव-जीवनकी सफलता है*।

याद रक्खो—सच्ची मानवताको प्राप्त मानव समस्त प्राणियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करता है, जैसे हम अपने शरीरके सब अङ्गोंके साथ करते हैं। हाथ-पैर, नाक-कान, मुख-आँख आदिके भेदसे हमारे शरीरके अङ्गोंमें बड़ा भेद है—उनके आकार-प्रकारमें भी तथा उनके कार्योंमें भी। कोई यदि चाहे कि उनका आकार-प्रकार एक-सा बना दें या उनके सबके काम एक-से बना दें तो यह कभी सम्भव नहीं है। न उनका आकार-प्रकार बदला जा सकता है, न उनके कार्य एक-से बनाये जा सकते हैं और न उनके ऊपर-नीचेके स्थानोंमें ही परिवर्तन किया जा सकता है। इतना रूपभेद, क्रियाभेद और स्थानभेद होनेपर भी सबमें आत्मभावना एक है, सम है और वह सहज अखण्ड है। इसलिये सबके दुःखमें एक-सा दुःख, सबके सुखमें एक-सा सुख, सबके दुःखनिवारणकी एक-सी चेष्टा, सबके सुख-सम्पादनकी एक-सी चेष्टा, सबके सम्भावित दुःखको न आने देनेका एक-सा प्रयत्न और सबके सम्भावित सुखके शीघ्र प्राप्त करनेका एक-सा प्रयत्न होता है। जितनी आवश्यकता और प्रीति मस्तिष्कमें है, उतनी ही चरणोंमें है। जितना निजत्व मुखमें है, उतना ही नीचेके अङ्गोंमें है। एक अङ्गके विपद्ग्रस्त होनेपर सारे अङ्ग स्वाभाविक ही उसकी विपत्तिको हटानेमें लग जाते हैं और एक अङ्गके द्वारा दूसरे अङ्गपर सहज आघात लग जानेपर भी आघात करनेवाले अङ्गको दण्ड नहीं दिया जाता। दाँतसे जीभ कट जानेपर कोई भी दाँतोंको दण्ड नहीं देता; क्योंकि दाँत और जीभ दोनोंमें ही समान आत्मभाव—सुतरां समान प्रेमभाव है। जैसे शरीरके सभी अङ्गोंकी समान रूपसे पुष्टि-तुष्टि अभीष्ट होती है, वैसे ही समस्त चराचर प्राणिमात्रकी पुष्टि-तुष्टि समानरूपसे अभीष्ट होनी चाहिये। जैसे शरीरके किसी एक अङ्गका पोषण किया जाय और दूसरोंकी अवहेलना की जाय तो वह जैसे अनर्थका कारण होता है, ऐसे ही किसी एक मानव-समाजका, किसी एक देश, जाति या व्यक्तिका पोषण किया जाय—उसीकी उन्नति की जाय, शेषकी अवहेलना हो तो उससे भी बड़ा अनर्थ होता है। सच्ची मानवताको प्राप्त मानवके द्वारा ऐसा अनर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि उसका मानवमें ही नहीं, प्राणिमात्रमें आत्मभाव—सुतरां प्रेमभाव नित्य अक्षुण्ण बना है।

याद रक्खो—ऐसा मानव विवेकको खोकर व्यवहारमें

---

* देखिये मुखपृष्ठका दुरंगा चित्र,—जिसमें एक ओर महात्मा गाँधी तथा दूसरी ओर प्रकृति-विश्वासी व्यक्तिकी मूर्ति अङ्कित है। इस चित्रका यह भाव नहीं है कि प्रकृतिविश्वासीका जो प्रतीक दिया गया है, उस वेशका कोई ईश्वर-विश्वासी या आध्यात्मिक गुणोंसे सम्पन्न पुरुष हो ही नहीं सकता। न यही अभिप्राय है कि महात्मा गाँधीजीके अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर-विश्वासी या इन दैवी गुणोंसे सम्पन्न नहीं है। इनसे भी ऊँचे महापुरुष हो सकते हैं।

समता नहीं लाना चाहता । हाथका काम पैरसे, मुखका काम गुदासे, मस्तिष्कका काम पेटसे अथवा जीभका काम कानसे लेनेकी इच्छा करना घोर अविवेक या मूर्खता है । लिया तो जा सकता ही नहीं, पागलपन या मूढ़ताका विस्तार अवश्य हो जाता है । पर व्यवहारकी विषमता, क्रिया तथा उपयोगके भेदसे आत्मामें कोई भेद नहीं आता; प्रेममें कोई भेद नहीं आ सकता ।

याद रक्खो—आत्मा जो हाथीमें है, वही चींटीमें है, वही कुत्तेमें है, वही गायमें है, वही ब्राह्मणमें है, वही चाण्डालमें है, वही पुरुषमें है और वही स्त्रीमें है । परमात्मा, ब्रह्म अथवा आत्मा—कुछ भी नाम रक्खा जाय, सबमें निर्दोष तथा समभावसे सदा स्थित है; परंतु व्यवहारमें भेद अनिवार्य है । विशाल हाथीका आकार बहुत बड़ा है और नन्हीं-सी चींटीका बहुत ही छोटा । हाथी और गायका आहार घास-पात-अन्न और कुत्तेका मांस भी । हाथीके आहारका परिमाण विशाल, इतना विशाल कि उसके एक समयके आहारके भारसे करोड़ों चींटियाँ दबकर मर जायँ, कुत्ते और गायको भी बड़ी चोट लगे । और क्षुद्र चींटीका आहार अत्यन्त अल्प । हाथीपर राजा-महाराजा सवार होकर गौरव-लाभ करें, गायपर सवारी करनेमें पापकी भीति रहे और कहीं कुत्तेकी सवारी करनेको कह दिया जाय तो घोर अपमान-का बोध हो—और कुत्तेकी सवारी सम्भव भी नहीं । गायका दूध सबको अत्यन्त प्रिय और पुष्टिकर, पर कुतियाका दूध किसीको प्रिय नहीं । गो-दुग्धके बदलेमें किसीको कुतियाका दूध पीनेकी बात कहकर देखा जाय, उसको कितना अप्रिय लगेगा । हाथीकी बड़ी कीमत, चींटी बेचारीकी कोई कीमत नहीं, कहीं आ जाय तो निकालकर दूर फेंकनेका सहज प्रयत्न । विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण सनातन शास्त्रानुसार सबका पूज्य और चाण्डालमें पूज्यताका अभाव । ब्राह्मणमें सहज सात्त्विक भाव तथा चाण्डालमें सहज तामसिक भाव । इस प्रकार जिनके आकार-प्रकार, आहार, उपयोग, मूल्य, सम्मान, उपकारिता आदिमें इतना और ऐसा भेद कि जो कभी कहीं मिटाया ही नहीं जा सकता; परंतु आत्म-भावमें सब सर्वत्र समान । जो आत्मा हाथीमें, वही चींटीमें, वही ब्राह्मणमें, वही चाण्डालमें, वही गौमें और वही कुत्तेमें ।

याद रक्खो—इसी प्रकार देश, जाति या व्यक्ति-विशेषमें बाह्य भेद है । इन भेदोंको कभी नहीं मिटाया जा सकता । सबके शरीरका गठन एक-सा नहीं, सबका रूप एक-सा नहीं, सबका स्वभाव एक-सा नहीं, सबकी बुद्धि एक-सी नहीं, सबमें समान प्रज्ञाका प्रकाश नहीं, सबकी प्रतिभा एक-सी नहीं, सबमें शासनपटुता एक-सी नहीं, सबकी रुचि एक-सी नहीं, सबकी पाचनशक्ति एक-सी नहीं—इस अवस्थामें सब बातोंमें सर्वत्र सम व्यवहारकी सम्भावना निरा पागलपन है । सृष्टिकी उत्पत्ति ही तब होती है, जब प्रकृतिमें विषमता आ जाती है और जबतक सृष्टि है, तबतक विषमताका रहना सर्वथा अनिवार्य है । प्रकृति, स्वभाव, व्यवहार आदिकी इस अनिवार्य विषमतामें भी जो समता देखता है, व्यवहार-भेद होनेपर भी जिसके मनमें राग-द्वेष या मोह-घृणाका अभाव है; देश, जाति, व्यक्ति, योनि आदि तमाम भेदोंको जो एक ही शरीरके विभिन्न अङ्गों तथा अवयवोंके भेदोंकी भाँति मानकर सबके सुखमें सुखी तथा सबके दुःखमें दुखी होकर यथायोग्य तथा यथासाध्य अपने निजके दुःख-निवारणकी भाँति ही दूसरोंका दुःख-निवारण तथा अपने निजके सुख-सम्पादनकी भाँति ही दूसरोंका सुख सम्पादन करता है—वही मानव है ।

याद रक्खो—मानव-नामधारी प्राणी जब अनेक नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त प्राणियोंको एक आत्मभावसे न देखकर पृथक्-पृथक् देखता है, तब अपने और पराये सुख-दुःखको भी पृथक्-पृथक् मानता है । इससे वह

अपने दु:ख-निवारण तथा अपने सुख-सम्पादनके लिये सचेष्ट और सक्रिय होता है और यह व्यष्टि-सुखसंचयकी इच्छा तथा प्रयत्न दूसरोंके सुखहरण और घोर दु:खोत्पादनका कारण बनता है। जितना-जितना मानवका 'स्व' संकुचित होता है, उतना-उतना ही उसका स्वार्थ भी संकुचित होता है तथा जितना-जितना 'स्व' विस्तृत होता जाता है, उतना-उतना ही स्वार्थ भी महान् होता जाता है। संकुचित स्वार्थ—एक स्थलपर एकत्र पड़े जलकी भाँति सड़ जाता है, उसमें दु:खरूपी कीड़े पड़ जाते हैं और विस्तृत स्वार्थ प्रवाहित जल-धाराकी भाँति पवित्र कीटाणुरहित नीरोग होकर सबको स्वास्थ्य-सुख प्रदान करता है। जब मानवका 'स्व' अत्यन्त विस्तृत होकर प्राणिमात्रमें फैल जाता है, तब उसे सर्वत्र एकात्मभावके दर्शन होते हैं और तब व्यवहारादिमें भेद रहते हुए भी उसके समस्त कार्य—देहके विभिन्न अवयवोंका समान हित करने तथा सबको समान सुखी करनेवाले शरीरधारीकी भाँति—प्राणिमात्रके लिये हितकर तथा सुखोत्पादक हो जाते हैं। अखिल विश्व-ब्रह्माण्डका सुख और हित ही उसका सुख और हित बन जाता है।

याद रक्खो—संसारमें जो भय, संदेह, उपद्रव, अशान्ति, दु:ख, क्लेश आदिका उद्भव तथा विस्तार होता है, इसमें प्रधान कारण इस 'स्व' का—'मैं'का संकोच ही है। एक शरीर और नामसे जकड़ा हुआ 'मैं' दूसरोंके लिये भयानक भय और दु:खोंकी सृष्टि करता रहता है और यह दु:ख-परम्परा संकुचित 'स्व' के साथ सुदूर काल-तक चलती रहती है। मानव-शरीर ही इसीलिये दिया गया है कि वह सब प्राणियोंको अपने आत्मामें समझे और अपने आत्माको सब प्राणियोंमें देखे तथा इस एकात्मज्ञानके साथ 'आत्मौपम्य' व्यवहार करके सुख-शान्ति देता तथा प्राप्त करता हुआ अन्तमें भगवान्को प्राप्त हो जाय। इस प्रकार जगत्के लघु-विशाल समस्त प्राणियोंमें आत्मानुभूति करके सबको सुख पहुँचानेकी सहज चेष्टा करनेवाला मानव 'ज्ञानी मानव' है। उसकी मानवता यथार्थ तथा धन्य है।

याद रक्खो—मानवताके मङ्गलमय स्वरूपकी एक बड़ी सुन्दर दूसरी अनुभूति है। इस अनुभूतिमें मानव सभी प्राणियोंमें अपने परम इष्टदेव, अपने परमाराध्य श्रीभगवान्के दर्शन करता है तथा इस दृष्टिसे प्राणिमात्रको सदा-सर्वदा परम पूज्य, परम सम्मान्य, परम आदरणीय तथा नित्य सेवनीय मानता है। वह अपनेको अनन्य सेवक और प्राणिमात्रको अपने स्वामी श्रीभगवान्का स्वरूप समझकर सदा सबके नमस्कार, पूजन तथा सेवामें लगा रहता है। सबके सामने सदा नत रहकर अत्यन्त विनय-विनम्रताका व्यवहार करता है, सबका सम्मान-सत्कार करता है और अपने सब कुछको भगवान्की सम्पत्ति मानकर सर्वस्वके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। इस सेवा-स्वीकारको वह उनकी कृपा मानता है। सेवा-बुद्धि प्रदान करने, सेवामें निमित्त बनाने तथा सेवा स्वीकार करनेमें भगवान्की कृपाको ही कारण समझकर वह सदा-सर्वदा कृतज्ञ हृदयसे श्रीभगवान्का स्मरण-चिन्तन करता रहता है। उसके पवित्र तथा मधुर अन्त:करणमें सदा निर्मल समर्पणकी पवित्र मधुर सुधा-धारा बहती रहती है। वह केवल चेतन प्राणीमें ही अपने भगवान्को नहीं देखता, जड़ प्राणियोंमें भी वह अपने भगवान्के नित्य दर्शन करके प्रणाम, पूजन तथा समर्पण आदिके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। ऐसा मानव 'भक्त-मानव' है। इसकी मानवता सर्वथा आदर्श तथा महान् है।

याद रक्खो—व्यवहारमें भेद न रखना मूर्खता या पशुता है। व्यवहारमें भेद रखे बिना जगत्का चक्र चल ही नहीं सकता। माता और पत्नी दोनों स्त्री-जाति हैं। दोनोंके अङ्ग-अवयव एक-से हैं, परंतु मनुष्य दोनोंमें भेद मानेगा ही। वरं इस भेदका मनपर विलक्षण प्रभाव होता

है। माताको देखकर मनमें कुछ और ही भाव आते हैं और पत्नीको देखकर कुछ और ही। आत्माके नाते परस्पर भेद समझना और किसीसे घृणा करना 'आसुर-भाव' है और अज्ञान है। किसी भी प्राणीपर क्रोध करना 'राक्षसपन' है।

याद रक्खो—मानवको सब कार्य यथाधिकार यथाविधि सुचारु रूपसे करने चाहिये। कार्यमें कहीं त्रुटि न हो, जो कार्य जहाँ जैसा करना विधेय हो, वैसा ही सम्यक् प्रकारसे करना चाहिये; परंतु करना चाहिये आसक्ति न रखकर जगन्मङ्गलके लिये, अथवा भगवान्‌की प्रसन्नता या प्रीतिके लिये। कर्म साङ्गोपाङ्ग हो, परंतु कहीं ममता-आसक्ति न रहे। जैसे नाटकमें नाट्यमञ्चपर अभिनेता अपने स्वाँगके अनुसार विधिवत् अभिनय करता है। जहाँ जिस रसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है, वहाँ वह उसीकी अवतारणा करता है। रोनेकी जगह रोता है, हँसनेकी जगह हँसता है। दर्शक-समुदाय उसके सफल अभिनयसे प्रभावित होकर रोने-हँसने लगते हैं; परंतु वह रोता-हँसता हुआ भी वस्तुतः न रोता है, न हँसता है। वह तो केवल अभिनय करता है और करता है उस अभिनयके द्वारा नाटकके स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये। नाट्यमञ्चपर वह किसीका स्वामी बनता है, किसीकी पत्नी बनता है, किसीका नौकर बनता है, किसीका मालिक बनता है, किसीका पुत्र बनता है, किसीका पिता बनता है और ठीक उसीके अनुरूप सम्बोधन करता है, व्यवहार-बर्ताव करता है। बहुमूल्य राजपोशाक तथा आभूषणादि पहनकर राजाका अभिनय करता है और फटा चिथड़ा लपेटकर फकीरका। परंतु वह जानता है कि मैं न तो यहाँके किसी सम्बन्धसे किसीके साथ सम्बन्धित हूँ, न पोशाक-गहने ही मेरे हैं तथा न मैं राजा या फकीर ही हूँ। इसी प्रकार मानव अपने कर्मक्षेत्रमें नाटकके अभिनेताकी भाँति कहीं भी ममता-आसक्ति किये बिना अपने कर्तव्यकर्मका सुचारु रूपसे पालन करता रहे और उसमें लक्ष्य हो—'भगवान्‌की प्रसन्नता'। इस प्रकार जीवन बितानेवाला मानव न तो कभी अशान्ति और दुःख भोगता है, न उसे चिन्ताग्रस्त रहना पड़ता है, न उसके द्वारा अपना या किसी भी दूसरेका कभी अहित ही होता है एवं न उसे कर्मबन्धन ही मिलता है। उसके द्वारा स्वाभाविक ही जगत्-मङ्गलदायक कार्य होते रहते हैं। जैसे अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती, वैसे ही उसके कर्मसे किसी भी प्राणीका अहित नहीं होता। उसका संसारमें जन्म लेना और रहना केवल सहज लोक-कल्याणके लिये ही होता है; परंतु वह अभिमानपूर्वक लोक-कल्याणके लिये प्रवृत्त नहीं होता। उसका स्वरूप ही होता है—लोक-कल्याण। जैसे सूर्यदेवता—वे प्रकाश देनेके लिये उदय नहीं होते, उनका स्वरूप ही प्रकाश है। अतः उनके उदय होते ही अपने-आप प्रकाशका सर्वत्र विस्तार हो जाता है, वैसे ही उस 'लोक-कल्याणरूप मानव'के द्वारा सहज ही महान् लोक-कल्याण होता रहता है।

याद रक्खो—भगवान् जब समस्त प्राणियोंमें सदा वर्तमान हैं, तब सबकी पूजा, सबको सुख पहुँचाना ही भगवान्‌की पूजा है। जो लोग भगवान्‌की पूजा करना चाहते हैं और सर्वप्राणियोंमें सदा स्थित परमात्माकी मोहवश उपेक्षा करते हैं, उनसे द्रोह करते हैं, उनके द्वारा बड़े विधि-विधान तथा प्रचुर सामग्रियोंसे की हुई पूजासे वस्तुतः भगवान् प्रसन्न नहीं होते। जो मानव समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे वर्तमान भगवान्‌का द्रोह करता है, वह वास्तवमें भगवान्‌से ही द्रोह करता है। इसलिये वही मानव बुद्धिमान् तथा अपना हित करनेवाला है, जो समस्त प्राणियोंके हित तथा सुखका आचरण करके भगवान्‌की पूजा करता है। पूजाके लिये अपना कर्म ही प्रधान है, भाव भगवत्पूजाका होना चाहिये। यही स्व-कर्मके द्वारा भगवान्‌का पूजन है।

याद रक्खो—पाप वही है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित हो और पुण्य वही है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित हो। पाप-पुण्यकी इस परिभाषाके अनुसार यह निश्चय करना चाहिये कि जिससे दूसरोंका अहित होता होगा, उससे कभी अपना हित होगा ही नहीं और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना हित निश्चय ही होगा। अतएव सदा-सर्वदा पर-हितमें ही अपना यथार्थ हित समझकर उसीमें प्रवृत्त रहना चाहिये।

याद रक्खो—सबसे 'श्रेष्ठ मानव' वह है, जो परार्थको ही अपना स्वार्थ मानकर अपनी हानि करके भी दूसरेको लाभ पहुँचाता है। उससे नीचा वह है, जो अपनी हानि न करके दूसरेका लाभ करता है। तीसरा वह है, जो अपना लाभ हो तो दूसरेका लाभ करता है, केवल दूसरेके लाभपर ध्यान नहीं देता। चौथा वह है, जो केवल अपना लाभ ही देखता है, दूसरेके बाबत कुछ नहीं सोचता। पाँचवाँ वह है, जो अपने लाभके लिये दूसरेकी हानि करनेमें नहीं हिचकता। छठा वह है, जो अपना लाभ न होनेपर भी दूसरेको नुकसान पहुँचाना चाहता है और सातवाँ वह है, जो अपनी हानि करके भी दूसरेकी हानि करता है। यह सबसे 'निकृष्ट मानव' है। ऐसे मानवोंकी संख्या जब बढ़ने लगती है, तब सब ओर दानवता छा जाती है। मानव मानवका शत्रु हो जाता है तथा एक दूसरेसे लड़कर सभी विनाशके मुखमें जाने लगते हैं।

याद रक्खो—मानवके पालनके लिये भगवान् देवर्षि नारदने तीस सामान्य धर्म बतलाये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महापुरुषोंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंसे निवृत्ति, मौन, आत्म-चिन्तन, प्राणियोंमें अन्न आदिका उचित विभाजन, सब जीवोंमें अपने आत्मा या इष्टदेवकी भावना, संतोंके परम आश्रय भगवान्‌के नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण। ये तीस प्रकारके आचरण 'मानवमात्रके लिये परम धर्म' हैं, इनके पालनसे सर्वात्मा भगवान् संतुष्ट होते हैं*।

याद रक्खो—संसारमें अर्थ और अधिकारके पीछे पागल न होकर त्याग और कर्तव्यका आचरण करनेवाले मनुष्योंमें ही मानवताका प्रकाश होता है तथा मानवताका प्रकाश होनेपर ही यथार्थतः त्याग और कर्तव्यका आचरण होता है। जो लोग अर्थके पीछे पागल होते हैं, वे अपनेको तथा संसारको महान् हानि पहुँचाते हैं। आजका भ्रष्टाचार, घूसखोरी, चोरबाजारी, मिलावट आदि सब भीषण अर्थपिपासाके ही परिणाम हैं। घोर अर्थलिप्सा मानवमें घोर राक्षसी भाव पैदा कर देती है—एक अर्थसे पंद्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं—चोरी, हिंसा, मिथ्याभाषण, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि यथार्थ स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी इस 'अर्थ' नामधारी 'अनर्थ'का दूरसे ही त्याग कर दे। अर्थात् धनमें आसक्ति रखे ही नहीं। अर्थलोलुपतामें भाई-

---

* श्रीनारदजी राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेह-बन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं, उनके मन भी इतने फट जाते हैं कि एक-एक कौड़ीके लिये वे परस्पर शत्रु बन जाते हैं। थोड़े-से धनके लिये क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर सारे सौहार्द-सम्बन्धको छोड़ देते हैं और सहसा प्राण लेनेपर उतारू हो जाते हैं। देवताओंके भी प्रार्थनीय मानव-जन्मको और ब्राह्मणत्वको पाकर जो धनके लिये उसका अनादर करते हैं, वे अपने परमार्थरूप सच्चे स्वार्थका नाश करके अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं। मानव शरीर है मोक्ष तथा स्वर्गका द्वार, इसको पाकर भी अनर्थोंके धाम इस धनमें जो आसक्त रहता है, वह कभी बुद्धिमान् नहीं है*। इसलिये अर्थलिप्सा न रखकर न्यायसे अर्थोपार्जन करके उसके द्वारा अपने आश्रित कुटुम्बकी तथा बच रहे तो समस्त प्राणिजगत्की सेवा करनी चाहिये। मनुष्यका वस्तुतः उतने ही धनपर अधिकार है, जितनेसे उसका पेट भरे—जीवन-निर्वाह हो, इससे अधिकपर जो अपना अधिकार मानता है, वह तो चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये।†

* स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥
(श्रीमद्भा० ११। २३। १८—२३)

† यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

इसी प्रकार अधिकार-लिप्सा भी मनुष्यजीवनको अनर्थ-मय बना देती है। आज अधिकार और पदप्राप्तिके लिये मानव क्या-क्या नहीं कर रहा है। अपने मुखसे अपनी मिथ्या अनर्गल प्रशंसा, दूसरेमें मिथ्या दोषोंका आरोप करके उसकी परोक्ष और अपरोक्षमें निन्दा, परस्पर दलबंदी करके, एक दूसरेको पदच्युत करके स्वयं पदारूढ होनेका प्रयत्न; छल, बल, कौशल, उत्कोच आदिके द्वारा प्रतिपक्षको हराकर विजय प्राप्त करनेकी अवैध चेष्टा, तदनन्तर जीवनभर वैर-विरोधका पोषण। (चुनावका इसका ज्वलन्त प्रमाण है) यह मानवताका पतन नहीं तो और क्या है ?

याद रक्खो—यहाँ जो मानव परस्पर वैर-विरोध रखते हैं, सदा मानस-हिंसाका पोषण करते हैं, प्रतिशोधकी भावना रखते हैं, वे यहाँ तो मृत्युके शेष क्षणतक अशान्ति, भय तथा वैरकी अग्निमें जलते ही हैं, मरनेके बाद भी संस्कारवश उनके वैसे ही भाव रहते हैं और प्रेतादि लोकोंमें भी वे तदनुसार आचरण करते हुए दिन-रात संतप्त रहते हैं। अतएव मानवको चाहिये कि वह किसी भी प्राणीसे द्वेष या वैरभाव न रक्खे। स्वयं अपरिग्रही होकर वस्तुओंका यथायोग्य वितरण कर दे। सबसे प्रेम तथा सेवा करे, वह प्रेम तथा सेवा भी भगवत्सेवाके भावसे, ममत्वसे नहीं। इसीमें मानवकी 'मानवताका विकास है' और इसीमें 'मानवका कल्याण' है।

याद रक्खो—मनुष्यको जो सुख-दुःखरूप भोग प्राप्त होते हैं, उनमें उसके पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं। उन फलदानोन्मुख कर्मोंका नाम प्रारब्ध है। इस प्रारब्धका निर्माण जन्मसे पहले ही हो चुकता है और तदनुसार अच्छे-बुरे फल-भोग प्राप्त होते हैं। दूसरा कोई भी किसीको सुख-दुःख नहीं दे सकता। वह तो केवल निमित्त बनता है। सो यदि वह भलाईमें निमित्त बनता है तो वह पुण्य कर्म करता है और बुराईमें निमित्त बनता है तो पाप कर्म। उसके लिये ये नये कर्म होते हैं। पर भोगनेवालेको तो

उसके अपने पुराने किये हुए कर्मोंका ही फल मिलता है। अतएव यदि दूसरा कोई किसी मनुष्यके दुःखमें निमित्त बनता है तो उसपर जरा भी क्रोध या क्षोभ नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसने तो भूलसे बुराईमें निमित्त बनकर अपना ही बुरा किया है। यह निश्चय रखना चाहिये कि तुम्हें बुरा फल तुम्हारे कर्मसे ही मिलता है; दूसरा कोई तुम्हारा बुरा कर ही नहीं सकता, इसलिये तुम किसीपर भी क्रोध न करो, न प्रतिशोधकी भावना करो। परंतु तुम किसीका कभी बुरा मत करो, चाहो ही मत; क्योंकि उसका बुरा तो उसके कर्मानुसार होना होगा, तो ही होगा, परंतु तुम्हारा बुरा तो दूसरेका बुरा चाहते ही हो जायगा।

याद रक्खो—भगवान् या परमात्मा एक हैं—सत्य दो नहीं होते। भगवान्‌को प्राप्त करनेके साधन अनेक हैं—वहाँतक पहुँचनेके मार्ग अनेक हैं। सबके लिये मार्ग कभी एक हो नहीं सकता। काशी एक है पर काशी आनेवाले अपनी-अपनी दिशासे अपने-अपने विभिन्न मार्गसे आते हैं। जो लोग सर्व-धर्म-समन्वयके नामपर साधन या मार्गको एक बनाना चाहते हैं, वे भूलते हैं। साधन एक नहीं हो सकता, साध्य एक हो सकता है। अतएव अनादिकालसे नित्य रहनेवाले सनातनधर्मके अतिरिक्त—वह तो मानवमात्रका परम-धर्म है—जितने भी सिद्ध महापुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित धर्म या मत हैं—वे सभी परमात्माकी प्राप्तिके ही विभिन्न मार्ग हैं। उन मार्गोंको लेकर झगड़ना सर्वथा अनुचित है। इसलिये मानवको सदा पर-मत-सहिष्णु बनना चाहिये।

याद रक्खो—सुखी तथा सच्चा सेवापरायण मानव वही होता है, जो अपने कर्तव्यका पालन करता है, अपने अधिकारकी परवा नहीं करता और दूसरेके अधिकारकी रक्षा करता है, दूसरेके कर्तव्यका निर्णय करता है। जो मानव अपने अधिकारकी रक्षा तथा दूसरेके कर्तव्यका निर्णय करना चाहता है, वह न तो सुखी हो सकता है और न उसके द्वारा सच्ची सेवा ही बन पाती है।

याद रक्खो—जो मनुष्य दूसरे जीवोंको मारकर उनका मांस खाता है, उसकी मानवता नष्ट हो जाती है अथवा उसमें मानवता सहजमें आती ही नहीं। मांस-भक्षण राक्षसपन है, उसमें मानवता नहीं है। किसी भी प्राणीकी किसी प्रकार भी हिंसा न करनेपर ही मानवता सिद्ध होती है।

याद रक्खो—भगवान्‌का भजन करनेकी इच्छामें 'मानवताका प्रारम्भ', भजन करने लगनेपर 'मानवताका विकास' और भगवत्प्राप्तिमें ही 'मानवताकी पूर्णता' होती है। ऐसा पूर्ण मानव भगवान्‌के साथ एकात्मता प्राप्त करके या भगवान्‌की लीलामें प्रवेश करके धन्य होता है।

याद रक्खो—मानवता भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। इसीसे स्वयं परात्पर ब्रह्म साक्षात् भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण मानवरूपमें ही अपनी दिव्य लीला करनेके लिये लीलाधाममें प्रकट होते हैं और अपनी लीलामाधुरीसे परमहंस मुनियोंके मनोंको मोहित करते, प्रेमी भक्तोंको दिव्य रसका आस्वादन कराते, उनके प्रेमसुधा-रसका समास्वादन करते, साधु-पुरुषोंका परित्राण करते, असाधुओंका विनाश कर उन्हें परमधाम पहुँचाते और धर्मग्लानिको मिटाकर धर्मका संस्थापन करते हुए अपनी मधुरलीला-कथाको जगत्‌के प्राणियोंके उद्धारके लिये रखकर अन्तर्धान हो जाते हैं। मानवताके क्षेत्रमें स्वयं भगवान्‌का अवतीर्ण होकर मानवताको धन्य करना भगवान्‌की मानवपर महान् कृपाका एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। ये 'भगवान् मानव' ही मानवताके परम आदर्श

हैं। इनके चरित्रोंका अनुकरण तथा इनकी वाणीका अनुसरण करनेमें ही मानवका परम कल्याण है तथा इसीमें मानवताकी सफलता है।

याद रक्खो—मानव-शरीर प्राप्त करके भी जो केवल पशु या असुरकी भाँति भोगोंमें ही रचा-पचा रहता है, वह मानो अमृत खोकर बदलेमें विष लेता है* । मनुष्य-शरीर बहुत दुर्लभ है। भगवान्‌ने कृपा करके इसे सुलभ कर दिया। यह मानव-शरीर भवसागरको पार करनेके लिये सुन्दर सुखद सुदृढ़ नौका है, संत-महात्मा गुरुरूपमें केवट मिल गये हैं। भगवान्‌की कृपारूपी अनुकूल वायु प्राप्त है, इतनेपर भी जो इस भव-सागरसे नहीं तरता, वह आत्महत्यारा है† ।

'शिव'

जीवनदान

(रचयिता—श्रीसुमित्रानन्दनजी पंत)

मैं मुट्ठी भर-भर बाँट सकूँ
जीवनके स्वर्णिम पावक कण,
वह जीवन जिसमें ज्वाला हो
मांसल आकांक्षा हो मादन !

वह जीवन जिसमें शोभा हो
शोभा सजीव, चंचल, दीपित,
वह जीवन जिसको मर्म प्रीति
सुख-दुखसे रखती हो मुखरित !

जिसमें अंतरका हो प्रकाश
जिसमें समवेत हृदय स्पंदन,
मैं उस जीवनको वाणी दूँ,
जो नव आदर्शोंका दर्पण !

जीवन रहस्यमय, भर देता
जो स्वप्नोंसे तारापथ मन,
जीवन रक्तोज्ज्वल करता जो
नित रुधिर शिराओंमें गायन !

इसमें न तनिक संशय मुझको
यह जन-भू जीवनका प्रांगण,
जिसमें प्रकाशकी छायाएँ
विचरण करतीं क्षण-ध्वनित चरण !

मैं स्वर्गिक शिखरोंका वैभव
हूँ लुटा रहा जन धरणीपर,
जिसमें जग-जीवनके प्ररोह
नव मानवतामें उठें निखर !

देवोंको पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न मांसके मर्त्य वसन,
मानव आननसे उठा रहा
अमरत्व ढँके जो अवगुंठन !

* नरतनु पाइ विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं। (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

† नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥ (श्रीमद्भा० ११। २०। १७)

मानवकी माँग

बनूँ सदा रोगीकी औषध निपुण वैद्य मैं नाशक रोग।
बनूँ सदा आतुरका आश्रय, दुख-भोगीके सुखका भोग॥
बनूँ सदा निर्बलका बल मैं, बनूँ नित्य भूखेका अन्न।
बनूँ पिपासितका पानी मैं, हों मुझसे उल्लसित विपन्न॥
बनूँ अमित धननिधि, दरिद्रका हर लूँ सभी अभाव अपार।
बनूँ मान अपमानितका मैं, बनूँ तिरस्कृतका सत्कार॥
बनूँ सुखद मैं थान पङ्गुका, पुल बनकर कर दूँ मैं पार।
बनूँ नाव मैं जलनिमग्नका, करूँ सहज उसका उद्धार॥
बनूँ मित्र मैं मित्रहीनका, पितृहीनका पालक बाप।
बनूँ पुत्र मैं पुत्रहीनका, मातृहीनकी माता आप॥
बनूँ बन्धु मैं बन्धुहीनका, थकित पथिकका आश्रयधाम।
बनूँ पड़ोसीका हितकारक, बनूँ श्रमितका मैं विश्राम॥
बनूँ सभीका निकट कुटुम्बी, करूँ सभीकी सेवा नित्य।
बनूँ कष्टमें साथी सबका, झेलूँ उनके कष्ट अनित्य॥
बनूँ नाथ मैं लघु अनाथका, असहायोंका बनूँ सहाय।
बनूँ मार्ग मैं मार्गपतितका, निरुपायोंका बनूँ उपाय॥
बनूँ सेज सोनेवालोंकी, नग्न पदोंका पादत्राण।
बनूँ दास दासार्थीका मैं, बनूँ अकल्याणीका कल्याण॥
बनूँ दीप दीपक-इच्छुकका, घाम-प्रपीड़ितकी छाया।
बनूँ ज्ञान अज्ञानीका मैं, हरण करूँ उसकी माया॥
बनूँ सभीका सभी तरहका सुख-सुहाग, कर दुःख-हरण।
सबको सुखी बना दूँ, कर लूँ स-मुद सभीका दुःख वरण॥

आध्यात्मिक जीवन ही मानवताका लक्ष्य

(लेखक—श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु अनन्तश्रीविभूषित श्रीशंकराचार्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामीजी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

प्रभुकी सृष्टिमें मानवका स्तर सबसे उच्च माना गया है; क्योंकि मनुष्य अपने बुद्धियोगसे अक्षुण्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है, इसकी सुख-प्राप्तिके निमित्त ही सम्पूर्ण जगत् है। वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि भी मानव-लक्ष्यका अनेक प्रकारसे प्रतिपादन करते हुए उत्सर्ग एवं अपवादरूप वाक्योंद्वारा निरतिशय सुखकी ओर इसे ले जाते हैं। अतएव यदि मानव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर नहीं होता तो वह मानव कहलानेका अधिकारी नहीं।

पाणिनीय व्याकरणमें 'तस्यापत्यम्' इस सूत्रसे मनु महर्षिके अपत्यको 'मानव' कहा गया है 'मनोरपत्यं पुमान् मानवः'। इसके साथ ही 'मनोर्जातावञ्यतौपुक् च' इस सूत्रके अनुसार मनु शब्दसे जाति-अर्थमें अञ् और यत् प्रत्ययके साथ पुक्का आगम करके शब्द जातिवाचक 'मानुष' सिद्ध किया गया है। 'मानवका भाव अथवा कर्म' इस अर्थमें 'तल्' प्रत्यय जोड़कर 'मानवता'की निष्पत्ति हुई है। अर्थात् मनु महर्षिके विधानके अनुसार अपनी शारीरिक, मानसिक और वाचिक हलचलोंको तथा पाणि-पादद्वारा होनेवाले कर्मोंको नियन्त्रित करनेवालेका नाम 'मानव' है। इसीलिये मानवताके विरुद्ध भाव रखनेवाला 'माणव' कहा गया है। अर्थात् वह मानव कहलानेका अधिकारी नहीं।

> अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः।
> नकारस्य च मूर्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः॥

अर्थात् 'मनु' शब्दसे औत्सर्गिक 'अण' और नकारको णत्व होकर कुत्सित अपत्य और मूढ अर्थमें 'माणव' शब्दका प्रयोग होता है। इससे यह स्पष्ट है कि 'मानव' शब्दका प्रयोग शास्त्रीय मार्गसे व्यवहार करनेवाले व्यक्तिके लिये ही है और शास्त्रीय क्रियाएँ ही मानवता कही जायेंगी।

इसी प्रकार आध्यात्मिक शब्द भी 'आत्मनि इत्यध्यात्मम्, अध्यात्मभवमाध्यात्मिकम्'—अर्थात् आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला जीवन—आध्यात्मिक दुःखकी निवृत्तिपूर्वक आध्यात्मिक सुखावाप्ति ही मानवताका लक्ष्य होना चाहिये।

आध्यात्मिक उपेक्षा

आजका मानव बौद्धिक तत्त्वोंको प्रधानता देता हुआ बुद्धि-बलपर जीवित रह उसीके द्वारा सर्वेष्ट-साधनका अभिमान करता है। उसका कहना है कि बुद्धिद्वारा बुद्धिमानोंने देश, काल और पात्रोंकी परिस्थितिके अनुसार स्मृति आदिका निर्माण किया और इनके द्वारा कुछ वर्गोंका संचालन और संचालित वर्गोंके हानि-लाभका प्रदर्शन दृष्टान्त और आख्यानोंद्वारा किया, जिसे प्रमुखतः 'ब्राह्मणसभ्यता' के नामसे कहा जा सकता है। बुद्धिका विकास जैसे-जैसे होता है, मानव वैसे-वैसे ही अपने सुख-साधनोंका अन्वेषण और उनका उपभोग करके कृतकृत्यताका अनुभव करता है। बौद्धवाद ही भौतिकवादकी जड़ है। मनुष्यकी आवश्यकताओंके अनुसार बुद्धिको ऐसे क्षेत्रोंमें दौरा करना पड़ता है कि वह अपनी आवश्यकताका परिहार सोच लेता है और उससे नितान्त संतोष एवं आनन्दका अनुभव करता है। जैसे-जैसे जडवादकी उन्नति होती जाती है, वैसे-वैसे आध्यात्मिकतासे बहिर्मुखता भी होती चली जाती है; क्योंकि मनुष्य बाह्य वस्तुओंको ही सुख-साधन मान लेता है। उसके ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन बाहरकी ओर ही दौड़ लगाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह नयी-नयी आवश्यकताओंके अन्वेषणमें इतना विकल और व्यस्त हो जाता है कि उसके अतिरिक्त अन्य भी कोई वस्तु है, इसका उसे अनुभव ही नहीं हो पाता। अन्तमें वह जडवादी स्वार्जित और स्वनिर्मित पदार्थोंके उपभोगकी क्षमतासे क्षीण होकर व्यथित और किंकर्तव्य-विमूढ हो जाता है तथा अपनी आत्मबहिर्मुखतापर पश्चात्ताप करता है।

आध्यात्मिक दुःख

संसारमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीन दुःख प्रसिद्ध हैं। आधिभौतिक दुःख मानुष-पशु-मृग-पक्षि-सरीसृप-स्थावर आदिके द्वारा प्राप्त होता है। इसकी निवृत्ति बाह्य उपायोंसे होती है। आधिदैविक दुःख यक्ष-राक्षस-विनायक-ग्रह आदिके आवेशसे होते हैं। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारका है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक दुःख वात-पित्त और श्लेष्माकी विषमतासे अनेक प्रकारके होते हैं तथा मानसिक दुःख काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय-ईर्ष्यादि-विशेष विषय-निबन्धन अतएव विविध होते हैं। ये दुःख आन्तरोपायसाध्य हैं। 'धीधैर्यमात्मविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्' इस आयुर्वेदके सिद्धान्तके अनुसार बुद्धि, धैर्य एवं आत्मविज्ञान मनके दोषोंको शान्त करनेकी परम औषध हैं।

आध्यात्मिक दुःखकी शाखा

शारीरिक दुःख वात, पित्त और कफकी विषमताके कारण अनेक प्रकारसे शरीरको अभिव्याप्त करते हैं। वातज दोष शरीरको स्तब्धकर—संचालन-क्रियाका अवरोध करके उसे पङ्गु और चेष्टाहीन बना देते हैं। इसी प्रकार पित्त-प्रकोपजन्य रोग भी रक्त-चाप, व्रण-विस्फोटादि अनेक प्रकारके होते हैं। कफरोग कास-श्वासादिद्वारा मानव-देहका सदैव विघटन करते और उसे दुर्बल बनाते रहते हैं। मानसिक दुःखोंके विषयमें तो कहना ही क्या है, एक-एक मानसिक दोष साक्षात् नरकका द्वार बन बैठता है। कामको ही लीजिये—यद्यपि 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' इत्यादि वाक्योंके अनुसार धर्मसे अविरुद्ध काम भगवान्का स्वरूप है, तथापि मनका कुछ और ही संकल्प रहता है और वह इस भावनाको 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' तक पहुँचा देता है। इसी प्रकार 'क्रोधान्धस्य विवेकशून्यमनसः किं किं न क्रियते कटु', 'लोभः प्रसूतिः पापस्य लोभः पापस्य कारणम्' इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे मानसिक दुःख अनेक अनर्थोंका मूल है। अनेक अनर्थोंके मूल मानसिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न करना ही मानवताका मुख्य लक्ष्य है।

मानवकी महत्ता

आस्तिक और नास्तिक सभी इस बातको मानते हैं कि मानव-शरीर सर्वोत्कृष्ट है। यह जंक्शन स्टेशन है। मानव-शरीरको बनाकर परब्रह्म परमात्माने भी अपनी कृतकृत्यताका संदेश श्रीमद्भागवतमें दिया है—

> सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
> वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
> तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
> ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

अर्थात् भगवान्ने अपनी आत्मशक्ति मायाके द्वारा जड-सृष्टि वृक्षादि तथा चेतन-सृष्टि पशु, मृग आदिको रचकर असंतोष प्रकट किया। पुनः श्रमपूर्वक मनुष्यको बनाकर अपनी कार्यकुशलताका परिचय देकर अत्यन्त संतोष प्राप्त किया। कारण यह कि परब्रह्म परमात्माके साक्षात्कार अथवा यों कहिये कि आत्मदर्शनकी क्षमता मनुष्यमें ही है। अतएव महर्षि पराशरने मानव-प्रशंसा करते हुए कहा है—

> चित्तप्रसादबलरूपतपांसि मेधा-
> मायुष्यशौचसुभगत्वमरोगता च।
> ओजस्वितां त्विषमदात् पुरुषस्य चीर्णं
> स्नानं यशोविभवसौख्यमलोलुपत्वम्॥

'चित्तप्रसाद, बल, रूप, तप, बुद्धि, आयुष्य, शौच, सौन्दर्य, स्वास्थ्य, ओज, कान्ति, स्नान, यश, वैभव, सुख और अलोभ मानवके लिये स्वयं भगवान्की देन है।' मानवकी विशेषताके एक-एक अंशसे अन्य वस्तु विशिष्ट मानी गयी है। जहाँ सभी विशेषताओंका सामानाधिकरण्य है, वह मानव भगवान्की कितनी बहुमूल्य निधि है।

मानवका लक्ष्य

श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोकके 'ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः' इस चौथे पादमें ब्रह्मके अवलोकनकी क्षमता मानवमें है, यह कहा गया है। परब्रह्मके साक्षात्कारका अर्थ है—स्वात्मदर्शन। इस आत्मदर्शनके साधन अनेक शास्त्रकारोंने बताये हैं। उनमें व्याप्य-व्यापकरूपसे अनेक साधनों तथा उपायोंका वर्णन है। वर्णधर्म एवं आश्रमधर्म इसकी प्रधान भित्तियाँ हैं। जहाँ वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म नहीं हैं, वहाँ आत्मसाक्षात्काररूप मानवलक्ष्यकी पूर्तिकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। शङ्खस्मृतिमें आया है—

> परान्नं परवस्त्रं च परपानं पराः स्त्रियः।
> परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥

इसी प्रकार—

> लाक्षालवणमांसानि पतनीयानि विक्रये।
> पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि च॥

अर्थात् जिन-जिन वस्तुओंके निषेवनका निषेध शास्त्रकारोंने लिखा है, उसको उसी प्रकार मानना तथा आचरण करना कल्याणका हेतु और लक्ष्यका साधक है। इसके साथ-साथ जो सार्वभौम धर्म हैं, उनका भी आचरण करना चाहिये। 'सार्वभौम धर्म'—

> सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
> संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सार्व उदाहृतः॥

'सत्य, चोरी न करना, अक्रोध, लज्जा, पवित्रता, बुद्धि, मनःसंयम, इन्द्रियसंयम, विद्या आदि सार्वभौम धर्म हैं।' इन धर्मोंके पालन किये बिना मानव लक्ष्य-सिद्धिपर नहीं पहुँच सकता। जिन देशोंमें तथा जिन वर्गोंमें वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं

है, वहाँ आध्यात्मिक सुख स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं हो सकता— यह ध्रुव सत्य है।

कुछ लोग समयके साथ-साथ मानव-व्यवस्थापक धर्म-शास्त्रोंके परिवर्तनकी बात कहते हैं, यह उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि शास्त्रोंका सिद्धान्त सार्वभौम और अपरिवर्तनीय है, यह बात अनेक बार सिद्धान्त-सिद्ध हो चुकी है। मनुष्य अपनी दुर्बलताका आच्छादन इस प्रकारसे करनेकी चेष्टा करता है, जो सर्वथा व्यवहारायोग्य है। अतएव धर्मपूर्वक व्यवहार करनेसे गृहस्थ भी मुक्त होनेका अधिकारी बन जाता है—

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥

अर्थात् न्यायपूर्वक धनार्जन करनेवाला, तत्त्व ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाला, सत्यभाषी, अतिथिसेवी और देव-पितरोंको हवि और कव्यद्वारा प्रसन्न करनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है। यही आध्यात्मिक जीवन है और इसीकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेमें 'मानवता'की सार्थकता है।

छीना-झपटी

आज भौतिकवादसे आक्रान्त मनुष्यका दृष्टिकोण धर्म और ईश्वरसे हटकर अनधिकार चेष्टाओंमें अनवरत रत देखा जा रहा है। वर्ण और आश्रमकी मर्यादाओंको तोड़नेके लिये आन्दोलन चल रहे हैं। सब एक प्रभुकी संतान हैं, यों कहकर 'मानव-मानव एक समान' का ढोल पीटा जा रहा है। आखिर यह सब है क्या? यह है पतनकी ओर दौड़। जब मानव अपने देश, अपनी जाति, अपने धर्मग्रन्थोंपर अविश्वास करके अन्य देश, जाति और धर्मकी बात करता है, तब इसका सीधा अर्थ है कि वह कहीं भी सफल नहीं हो सकता। इसीलिये गीतामें भगवान्ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अपना धर्म ही सब कुछ है। उसमें किसी प्रकारका कष्ट भोगते हुए भी परधर्मकी अपेक्षा सौष्ठव है। इसीलिये भारतीय इतिहासके समुज्ज्वल रत्न अपनी मर्यादाओंकी रक्षाके लिये बलिवेदीपर चढ़े, उन्होंने प्राणतक दिये और अपना सब कुछ खोकर भी मर्यादाओंकी रक्षा की। प्रवाहमें बहना मुर्दोंका कार्य है। साहसी और जिंदादिल प्रवाहके प्रबल पातसे अपनेको सुरक्षित करते हुए मानवताका संरक्षण करते हैं तथा सदैव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहते हैं।

उपसंहार

मानव-जीवनकी सार्थकता और कृत्यकृत्यता आध्यात्मिक सुख-शान्तिमें है। उसके लिये सदैव जागरूक रहना चाहिये। चित्तका संशोधन अनेक उपायोंसे करना चाहिये। परदोष, पर-निन्दा, परस्वापहरणकी भावनाएँ—जो आज मानवको दानव बना रही हैं, इनसे बचना चाहिये। असत्यभाषणका अवरोध, सत्य-भाषणकी चेष्टा सदैव करनी चाहिये; तभी मनुष्य अपने लक्ष्य-की पूर्ति कर सकता है और मानव-शरीरकी सफलता प्राप्त कर सकता है। अन्यथा—

तस्यास्तृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्।

—के अनुसार मानव अमृतके आये हुए घटको अपने हाथसे गिराकर प्रमादका परिचय देगा। अतः आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिके लिये सदैव प्रयत्न करना चाहिये।

इंसानका जन्म

जब कि दानवने विहँसकर यों कहा भूमिके भगवानसे
"मैं तुम्हारी सृष्टिको रहने न दूँगा एक अपनी शानसे,
फोड़ दूँगा मैं तुम्हारे गेंद-जैसे इस महा ब्रह्मांडको"
तब कहींसे एक कोमल औ किलकते प्राणने आकर कहा—
मैं तुम्हारे नाशके हित बन बड़ा इंसान आऊँगा।
मैं मनुज हूँ, मनुजताका गीत गाऊँगा॥

—श्रीगोविन्दजी एम्० ए०

मानवता क्या है ?

(श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु अनन्त श्रीविभूषित श्रीशंकराचार्य श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ स्वामी महाराज)

आजकल 'मानवता' शब्दका बहुल प्रयोग देख पड़ता है। सभी राष्ट्रोंके कर्णधार मानवताका कल्याण ही अपना कार्य मानते हैं। परंतु साथ-ही-साथ वे हाइड्रोजन बम, ऐटम बम-जैसे मानवता-नाशक भयानक अस्त्र-शस्त्रोंकी सृष्टिमें भी व्यस्त हैं!

आखिर मानवता क्या है? 'मानवानां समूहो मानवता' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मानव-समुदाय ही मानवता होगी। यद्यपि यह व्याख्या भी गलत नहीं; तथापि इसकी अपेक्षा भी 'मानवस्य भावो मानवता' सदाचार, परोपकार, दया, अहिंसा, सेवा, त्याग, भक्ति आदि मानवोचित सद्गुणोंको ही मानवताका अर्थ मानना अधिक योग्य प्रतीत होता है।

आजकल कई लोग मानवताका अर्थ केवल दया ही मानते हैं तथा शास्त्रोक्त आचार-विचार प्रभृतिको मानवता-विरुद्ध बतलाते हैं। यह बिल्कुल गलत है। शास्त्र तो इस बातका बोधक है कि मानव पूर्ण मानव कैसे बने और मानव कैसे कल्याणको प्राप्त करे।

यद्यपि आजकल शास्त्रीय आचार-विचारोंमें कठिनाई प्रतीत होती है, तथापि रोगीके लिये पथ्यसेवनके समान वे मानवके हितके लिये ही हैं।

आजकल सर्वत्र आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है और मानवोचित दैवी सम्पत्तिका ह्रास हो रहा है। इससे विश्वमें सर्वत्र अशान्ति और संघर्ष ही दीख पड़ रहा है। और विश्वके मानव आज जैसे कार्योंमें रत हैं, उनसे दैवीसम्पत्ति घटकर आसुरी सम्पत्ति ही बढ़ेगी। अतः यथार्थरूपेण मानवको कल्याणकी प्राप्ति केवल शास्त्रोक्त सनातनधर्मके आचरणसे ही होगी। इसी ओर सबको ध्यान देना तथा प्रयत्नशील होना चाहिये।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
धर्मस्य विजयो भूयादधर्मस्य पराभवः।
सद्भावना प्राणभृतां भूयाद्विश्वस्य मङ्गलम्॥

मानवता तथा विद्याका फल विनय

(काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु अनन्तश्रीविभूषित श्रीशंकराचार्य स्वामी श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वतीजी महाराज)

एक समय बालभक्तोंमें अग्रगण्य प्रह्लादने असुर-बालकोंको उपदेश दिया—

दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।

'इस संसारमें मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति होती है; परंतु पता नहीं, कब इसका अन्त हो जाय।' श्रीमद्भागवतके इसी श्लोकका अनुसरण करके आचार्य भगवत्पादने विवेकचूडामणिमें कहा है—

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद् वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात् परम्।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते॥

'जीवोंके लिये प्रथम तो मानव-जन्म ही दुर्लभ है, उसमें भी पुरुषत्व और उसमें भी ब्राह्मणत्वका मिलना और भी कठिन है, ब्राह्मण होकर वैदिक धर्मका अनुगामी होना और उसमें भी विद्वत्ताका होना कठिन है। इसपर भी आत्मा-अनात्माका विवेक, सम्यक् अनुभव, ब्रह्ममें आत्मभावसे स्थिति और मुक्ति—ये तो करोड़ों जन्मोंमें उपार्जित पुण्यकर्मोंके फलके बिना प्राप्त हो ही नहीं सकते।'

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम्॥

'दुर्लभ मनुष्य-देह और उसमें भी पुरुषत्व पाकर जो स्वार्थसाधनमें प्रमाद करता है, उससे बढ़कर मूढ़ और कौन होगा?'

यह मनुष्य-जन्म पुण्यविशेषसे उपलब्ध हुआ है तथा यह परम पुरुषार्थका प्रदाता है—यह समझकर कर्तव्य-ज्ञानपूर्वक इसका भलीभाँति उपयोग करना चाहिये; क्योंकि मानव-जीवन दोषबहुल एवं अनियत कालतक रहनेवाला है। महाकवि कालिदासने भी कहा है—

क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।

'यदि जीव क्षणभर भी जीवित रहे तो यह उसके लिये परम लाभ है।' यह 'लाभ' शब्द केवल आहार-निद्रा आदिकी उत्पादनयोग्यताको सूचित करनेके लिये नहीं है, बल्कि

परिणाममें दुःखप्रद इन कर्म-समूहोंके आचरणसे जीव कैसे लाभान्वित हो सकता है—इसका परिचायक है। अतः शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिये ही इस प्राप्त हुए अवसरका उपयोग करना चाहिये। विषयी जीव भी संशयरहित होकर कहते हैं—'सुखमेव अन्विष्यामः—हमलोग सुखका ही अन्वेषण करेंगे।' इस प्रकार विषयी तथा विरक्त—दोनोंके लिये सुख ही अभिलषित वस्तु है, तथापि विषयी जीवोंको केवल सुखाभासकी ही प्राप्ति होती है। उनका सुख-दुःख, रोग और भयमें पर्यवसित होनेवाला होता है। ऐसे सुखकी प्राप्तिके लिये व्यर्थ गँवाये हुए जीवनको लाभरूपसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है? जीवन तो वही है, जो दुःख आदिका समूल विनाश करके निःश्रेयसरूप परमपदकी प्राप्तिके लिये उपयोगी हो। ऐसे जीवनकी चरितार्थताकी कसौटी तो सदाचार ही है, न कि साधारण व्यक्तियोंकी भाँति व्यर्थ जीवन व्यतीत करना; क्योंकि दिनमात्रकी आयुवाला सिरसका फूल सैकड़ों वर्ष जीवित रहनेवाले तालवृक्षसे कहीं अधिक मनोहर होता है। अतः तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिको ही मानव-जीवनका परम उद्देश्य मानना चाहिये।

यह तत्त्व-ज्ञान सरलतासे प्राप्त होनेयोग्य नहीं है, साथ ही बहुत दुर्लभ भी नहीं है; क्योंकि ध्रुव-प्रह्लाद आदिने बाल्यावस्थामें ही इसे प्राप्त किया था। किंतु कहीं-कहीं तो जगत्प्रसिद्ध पराक्रमी चक्रवर्ती सम्राटों तथा सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न विद्वद्वरोंद्वारा भी इसे प्राप्त करना अशक्य प्रमाणित हुआ है। इसकी सुलभता एवं दुर्लभताके विषयमें ईश्वरकी कृपादृष्टिकी प्राप्ति तथा अप्राप्ति ही हेतु है। इस ज्ञानका मूलभूत साधन विनयरूपी सम्पत्ति है। इस विनयके संवर्धनके लिये ही प्राचीन ऋषियोंने विद्याभ्यासके निमित्त गुरुकुल-सम्प्रदायको स्वीकार किया था, जिसमें उपलब्ध ज्ञानका आचरणद्वारा प्रचार किया जाता था। वहाँ न तो कुछ वेतन दिया जाता था और न लिया ही जाता था। छात्रोंको भिक्षावृत्तिद्वारा जीवनयात्रा चलानी पड़ती थी। यदि कोई शिष्य आचारादि कर्मोंके विषयमें कुमार्गका आश्रय लेता। तो गुरु उसे शिक्षा देते थे। आजकल तो पाठशालाओं तथा कलाशालाओंमें सभी प्रकारके भौतिक विषयोंकी शिक्षा दी जाती है। शिष्यलोग वेतन देते हैं और अध्यापक उसे ग्रहण करते हैं, जिसके कारण शिष्योंके मनमें यह विचार बद्धमूल हो गया है कि अध्यापकोंकी जीवनयात्राका निर्वाह हमारे ही अधीन है। ऐसी अवस्थामें विनयके लिये अवकाश ही नहीं रहता और विनयके अभावमें दूसरे गुण भी वहाँ प्रवेश नहीं कर पाते। विद्याभ्यासकी यह प्रणाली अपने एवं समूचे समुदायके विनाशका ही संचयन करती हुई आसुरी सम्पदाको ही प्रोत्साहन दे रही है। आधुनिक विद्याभ्यास-प्रणालीका निराकरण करके पुनः गुरुकुल-सम्प्रदायकी पद्धतिको अपनाना ही छात्रोंको विनीत तथा सद्गुणसम्पन्न बनानेमें समर्थ हो सकता है। उसीसे सब लोग विनय-सम्पन्न हो सकते हैं। अपने जीवनमें तथा सामुदायिक व्यवहारोंमें विनयकी अत्यन्त आवश्यकता है, अतः उत्तम विद्याद्वारा उसका सम्पादन करना चाहिये। प्राचीनोंका यही कथन है—

> विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
> पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥

'विद्यासे विनयकी उपलब्धि होती है, विनयसे सत्पात्रता आती है, सत्पात्रको धनकी प्राप्ति होती है, धनसे धर्म और धर्मसे सुख मिलता है।'

जो शिक्षाप्रणाली ऐसी कल्याण-परम्पराको लक्ष्यरूपसे स्वीकार करती है, वही विद्या कहलाने योग्य है। आजकलकी विनयविहीन विद्या ही वर्तमान मात्सर्य और सामुदायिक दुःखोंकी मूल कारण है। 'विद्या ददाति विनयम्' इस श्लोकमें कथित युक्ति भी उसी अर्थका समर्थन करती है। भौतिक विषयोंका ज्ञान भी जाननेयोग्य अन्य विषयोंकी परम्पराको प्रकट करता हुआ हमलोगोंको विनयशील बनाता है। ऐसी दशामें जिसे जान लेनेपर अन्य ज्ञातव्य वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती, उस ईश्वरविषयक ज्ञानके समक्ष विनयके अतिरिक्त दूसरी कौन-सी मनोवृत्ति अग्रसर हो सकती है?

तिर्यग्-योनियोंकी अपेक्षा मनुष्य-योनि अत्यन्त उत्कृष्ट है, इस प्रकार हमलोग मानते हैं। इसमें अन्य साधारण प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यमें उत्कृष्ट बुद्धिका होना ही कारण है। वह प्रज्ञा केवल मनुष्यकी उत्कृष्टता ही नहीं प्रकट करती, बल्कि मनुष्येतर प्राणियोंमें विद्यमान रहनेवाले विशेष गुणोंकी जानकारीके लिये भी उपयुक्त होती है। कुत्तोंमें स्वामिभक्ति, भ्रमरोंमें रसग्रहण-शक्ति, कौओंमें उपार्जित आहारको सभी आत्मीयजनोंमें विभक्त करके खानेका स्वभाव, गौओंमें परोपकारिता, चींटियोंमें कर्मतत्परता आदि जो-जो गुण मनुष्येतर प्राणियोंमें देखे जाते हैं, उन-उन गुणोंमें उन जीवोंसे आगे बढ़नेमें मनुष्य समर्थ नहीं हो सकता। उन्हींकी अपेक्षासे मनुष्यको अपनेमें वैसे गुणोंकी कमीका ज्ञान भी होता है।

अपने परिमित होनेका ज्ञान अन्य मनुष्योंमें परम्परासे विद्यमान रहनेवाले ऐश्वर्य, ज्ञान और बल आदिकी खोजमें ही नहीं समाप्त हो जाता; बल्कि अधम योनियोंमें जन्म लेनेवाले पशु-पक्षियों-के गुण-विशेषोंको भी जाननेके लिये उपयुक्त होता है। रामायणमें परोपकारार्थ परिश्रम करके मरणावस्थाको प्राप्त हुए जटायुको निमित्त बनाकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥

'सुमित्रा-नन्दन! सर्वत्र तिर्यग्योनिको प्राप्त हुए जीवोंमें भी शूरवीर, शरणदाता, धर्मचारी साधु देखे जाते हैं।' इस प्रकार तिर्यक् प्राणियोंमें रहनेवाले गुणोंका ज्ञान भी मनुष्यकी विनय-सम्पत्तिको ही परिपुष्ट करनेवाला होता है।

केवल विनम्र होना ही विनय नहीं है; बल्कि सरलता, सदाचार, क्षमा और अनसूया आदि गुण भी विनयके ही अन्तर्गत हैं। विनययुक्त पुरुष ही संस्कारसम्पन्न कहा जाता है। प्राचीनोंने 'शिष्य' शब्दका अन्य पर्यायवाची शब्द 'विनेय' बतलाया है। पद्मपादाचार्यने 'विनीतविनेयभृङ्गाः' ऐसा कहा है। विनम्र छात्र आचार, शील आदि गुणोंमें भली-भाँति नियमित होनेसे विनीत होता है। न तो उसका कोई शत्रु होता है और न उसकी निन्दा ही होती है। निन्दाका पात्र तो वह होता है, जो उपार्जन करने योग्य थोड़ी-सी वस्तु-को भी अपने अधिकारमें करके अपना उत्कर्ष प्रदर्शित करता है; परंतु जहाँ वह अर्जन करनेयोग्य वस्तु अपरिच्छिन्न तथा अखण्डरूपसे है, वहाँ असूया किसी प्रकार पहुँच ही नहीं सकती।

कुछ ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारी ऐसा मानते हैं कि विनय दिखलानेसे वे अपने गौरवसे च्युत हो जायँगे; परंतु उनका ऐसा मानना केवल व्यामोह ही है। सर्वत्र अधिकारक्षेत्रमें अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारोंमें भी गर्व, अहंभाव आदिका अभाव कल्याणप्रद ही है। रघुवंश काव्यमें महाराज दिलीपके वर्णन-प्रसङ्गमें कालिदास कहते हैं—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

'प्रजाओंमें विनयकी स्थापना तथा उनके रक्षण और भरण-पोषण करनेसे राजा ही पिता थे। उनके पिता तो केवल जन्म देनेमें ही कारण थे।'

आधुनिक राज्यतन्त्रमें रक्षा और भरण-पोषणको ही प्रधानरूपसे ग्रहण किया गया है, परंतु प्राचीन भारतीय राज्य-तन्त्रमें विनयाधानको प्रथम स्थान दिया गया था। सद्गुणके संवर्धनद्वारा प्रजाओंकी तथा अपनी उन्नतिका सम्पादन करना 'विनयाधान' कहलाता है। बाह्य उत्कर्षके साधक रक्षा और भरण-पोषणरूप कार्य भी आन्तरिक विनयोत्कर्षकी स्थापनासे सरलतापूर्वक सिद्ध किये जा सकते हैं। विनयविहीन जनोंद्वारा रक्षण और भरण-पोषणरूप कार्य दुस्साध्य ही है; क्योंकि जो स्वामी स्वयं ही विनय रहित है, वह दूसरोंको विनीत बनानेमें समर्थ नहीं हो सकता। अतः भरणरूप कार्यके अधिकार-पदपर नियुक्त व्यक्तियोंके लिये विनय-सम्पत्ति केवल गुणकारी ही नहीं है, अपितु कार्य-संचालनमें अत्यन्त आवश्यक भी है। नेता और जनताके विनयविहीन होनेपर शशकके सींगके समान राष्ट्रकी सुदृढ़ता असम्भव ही है। जो शिक्षा-पद्धति विनयरहित है, वह विद्या कहलानेयोग्य नहीं; क्योंकि 'शीलेन शोभते विद्या'—शीलसे विद्याकी शोभा होती है यह कहा गया है। आन्तरिक विनयका बाहर भासित होना 'शील' कहलाता है। 'प्रसूते सा परां श्रियम्'—वह उत्कृष्ट लक्ष्मीको उत्पन्न करनेवाली है। इस उक्तिके अनुसार जो विद्या शीलसे संयुक्त है, वही आत्यन्तिक दुःखका विनाश करनेवाली तथा कल्याणप्रदा है। इसी कारण उसे परा लक्ष्मी-का विस्तार करनेवाली कहा जाता है। वह विद्या दो प्रकारकी है—'परा' और 'अपरा'। अपरा विद्या भौतिक ज्ञानके लिये उपकारी होती है एवं परा आत्मज्ञानके लिये। ऐसी दशामें दोनों ही परा लक्ष्मीका विस्तार करती हैं—यह कैसे कहा जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि भौतिक वस्तुसमूहकी जानकारीके लिये जो अपरा विद्याका उपयोग किया जाता है, उस-का केवल भौतिक ज्ञान ही परम उद्देश्य नहीं होता; क्योंकि प्रपञ्च-सम्बन्धी आदि-अन्तके हेतुभूत ईश्वरविषयक जिज्ञासाके उद्बोधन होनेपर ही प्रपञ्चविषयक श्रेष्ठ ज्ञानका पर्यवसान हो सकता है। इसलिये साधारण तौरपर सभी विद्याएँ परम्परया अथवा साक्षात् रूपसे कल्याणप्रदायिनी ही हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। आजकल संसारमें 'अपरा' विद्या भौतिक ज्ञानमें पर्यवसित होने-वाली मानी जाती है और 'परा' विद्याका आश्रय लेनेपर तो कोई चिन्ता ही नहीं रह जाती। अतः परा तथा अपरा विद्याओंका परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजकभाव भी नहीं सुना जाता। इसीलिये आधुनिक लोग अपरा विद्याका भी पूर्णरूपसे उपयोग नहीं करते; क्योंकि वह भौतिक ज्ञानतक ही सीमित है। इस कारण आजकलके विद्याभ्यासका उपयोग केवल दुःख-संवर्धन-के लिये ही है। भौतिक ज्ञान भी जब विनय-सम्पद्से संयुक्त होता है, तभी सुशीलता आदि गुणोंकी अधिकतासे साम्प्रदायिक

जीवनको सुन्दर बनाता है तथा आत्मज्ञानमें प्रेम उत्पन्न करता है। उत्तरोत्तर कल्याणप्रद उच्चतम कार्योंमें नियुक्त हुई विद्या सर्वोत्कृष्ट ईश्वरमें समर्पित हो जाती है। संसारमें प्रकृतिगत नानाविध आश्चर्य, सौन्दर्य और शक्तियोंका परिज्ञान ही भौतिक ज्ञान कहा जाता है। यदि ऐसा है तो त्रैलोक्यकी महिमासे भी उत्कृष्ट महिमावाले, कान्तिनिधिसे भी कमनीय, सर्वोत्कृष्ट मधुरतासे भी मधुर, श्रेष्ठ सौन्दर्यसे भी रमणीय, परमाश्चर्ययुक्त चेतनस्वरूप परमात्माको निमित्त बनाकर जिज्ञासाका उत्पादन किये बिना भौतिक ज्ञान कैसे सम्पूर्ण हो सकता है।

अतः मनुष्यके लिये विनयका संवर्धन करनेवाली विद्या ही आवश्यक है। मानव-मन सर्वत्र अपनेसे उत्कृष्ट किसी गुणविशेषको देखनेके लिये उद्यत रहता है। गुणोंका निन्दा-रहित अङ्गीकार जहाँ कहीं एक भी ईश्वरीयविभूति दृष्टिगोचर हो, वहाँ-वहाँ ईश्वरके सांनिध्यका ज्ञान, श्रीमद्भागवतके वचनानुसार हमलोगोंके लिये गुरु-पदके योग्य पशु-पक्षियोंसे भी सद्गुण ग्रहण करनेमें आसक्ति आदि मनोभाव ही मनुष्यको सर्वथा परिपूर्ण बनाते हैं। वैसे मनोभावोंको प्रोत्साहन देनेके लिये जैसी शिक्षा-पद्धति उपयोगी हो, वही हमलोगोंके लिये अङ्गीकार करनेयोग्य है। वही विद्या व्यष्टि तथा समष्टिके लिये मार्गदर्शक हो सकती है। उससे समस्त जीव-समूहोंमें प्रेम उत्पन्न होता है। उससे हिंसादि दोषोंका उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। अतः मानव-जीवनकी सफलताके लिये हमलोगोंकी शिक्षा जिस प्रकार विनयसम्पन्न हो सके, समस्त विद्याओंके अधीश्वर परमेश्वर वैसा करनेके लिये हमलोगोंको प्रेरणा प्रदान करें।

सदाचार

(लेखक—श्रीशृंगेरीमठाधीश्वर जगद्गुरु अनन्तश्रीविभूषित श्रीशंकराचार्य श्रीमदभिनव विद्यातीर्थ स्वामी महाराज)

यदि कोई मनुष्य साङ्ग समग्र वेदोंमें पारंगत हो फिर भी यदि वह सदाचारसम्पन्न नहीं है तो वेद उसकी रक्षा नहीं करेंगे। वेद दुराचारी मनुष्यका वैसे ही त्याग कर देते हैं जैसे सर्वाङ्गपूर्ण नवशक्तिसम्पन्न पक्षी अपने घोंसलेका त्याग कर देते हैं। पुराकालके ऋषियोंने अपनी स्मृतियोंमें वेदविहित सदाचारके नियम निर्दिष्ट किये हैं और विशेष आग्रहपूर्वक यह विधान किया है कि जो कोई इन नियमोंका यथावत् पालन करता है, उसके मन और शरीरकी शुद्धि होती है। इन नियमोंके पालनसे अन्तमें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है।

परंतु व्यवहार-जगत्में इस बातका एक विरोध-सा दीख पड़ता है। जो लोग सदाचारी नहीं हैं, वे सुखी और समृद्ध देख पड़ते हैं और जो सदाचारके नियमोंका सचाईके साथ यथावत् पालन करते हैं, वे दुखी और दरिद्र दीख पड़ते हैं। परंतु थोड़ा विचार करने और धर्मतत्त्वको और अच्छी तरहसे समझनेका प्रयत्न करनेपर यह विरोधाभास नहीं रह जाता। हिंदू-धर्म पुनर्जन्म और कर्मविपाकके सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित है। कुछ लोग सदाचारका पालन न करते हुए भी जो सुखी-समृद्ध दीख पड़ते हैं, इसमें उनके पूर्वजन्मके पुण्यकर्म कारण हैं और कुछ लोग जो दुखी हैं, उसमें उनके पूर्वजन्मके पाप ही कारण हैं। इस जन्ममें जो पाप या पुण्य कर्म बन पड़ेंगे, उनका फल इसके बादके जन्मोंमें प्राप्त होगा।

आचार क्या है और अनाचार क्या है, इसका निर्णय हम अपनी तर्क-सामर्थ्यसे नहीं कर सकते। कुछ लोग मद्यपानको अपने लिये लाभकारी समझते हैं, पर दूसरे कुछ लोगोंको वह हानिकर प्रतीत होता है। इस सीधी-सादी बातमें भी हमारी तर्कशक्ति विश्वसनीय मार्गदर्शक नहीं होती। फिर आचार-जैसी बातोंमें, जिन्हें हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणोंसे जाँच नहीं सकते, तर्कसे कोई काम नहीं बनता। श्रुतियाँ और श्रुतियोंके आधारपर बनी स्मृतियाँ तथा इन श्रुति-स्मृतिके विधानोंका सचाईके साथ जिन लोगोंने पालन किया है, उनके आचार ही इस विषयमें हमारे निर्भ्रान्त मार्गदर्शक हैं।

इस समयका कुछ ऐसा रवैया है कि बड़े-बड़े गम्भीर प्रश्नोंके निर्णय ऐसे बहुमतसे किये जाते हैं, जिसे उन प्रश्नोंके विषयमें प्रायः कुछ भी ज्ञान नहीं होता। राजनीतिक जगत्से सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंमें भी यह पद्धति सही कसौटी नहीं होती। फिर, धर्म और आचारके विषयमें ऐसी पद्धतिसे काम लेनेका परिणाम सर्वथा विनाशकारी होगा ही। जो आत्मा अलख है और लख पड़नेवाले शरीरसे सर्वथा भिन्न है तथा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अचिन्त्य है, उसके अस्तित्वके विषयमें संदेह उठे तो उसका निराकरण केवल बुद्धिका सहारा लेनेसे नहीं हो सकेगा। यह निराकरण वेदोंके द्वारा तथा उन सद्ग्रन्थोंके द्वारा ही हो सकता है, जो वेदोंके आधारपर रचित हैं।

यदि अज्ञानी लोग अपने विशाल बहुमतके बलपर निर्णय कर दें कि अमुक बात धर्म है तो उतनेसे कोई बात धर्म नहीं

हो जाती। सदाचार वह है, जिसका सत्पुरुष पालन करते हैं और जो लोग ऐसे सदाचारका आचरण करते हैं, उन्हें यह सदाचार सुख-सौभाग्यशाली बनाता है। इसके विपरीत अनाचार वह है, जिसका सदाचारी पुरुष परित्याग कर देते हैं। जो लोग ऐसे अनाचारमें रत रहते हैं, उनका भविष्य अच्छा नहीं होता।

विद्याध्ययन सम्पूर्णकर जब विद्यार्थी गुरुकुलसे विदा होनेको होते हैं, तब गुरु उन्हें यह उपदेश देता है—

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः॥

'अब यदि अपने कर्मके विषयमें अथवा अपने आचरणके विषयमें कभी कोई शङ्का उठे तो वहाँ जो पक्षपातरहित विचारवान् ब्राह्मण हों, जो अनुभवी, स्वतन्त्र, सौम्य, धर्मकाम हों, उनके जैसे आचार हों, उन्हींका तुम्हें पालन करना चाहिये।'

यह बहुत ही अच्छा होगा, यदि बच्चोंको बचपनसे ही ऐसी बुरी आदतें न लगने दी जायँ, जैसे मिट्टीकी गोलियोंसे खेलना या दाँतोंसे अपने नख काटना। विशेषतः बड़ोंके सामने बच्चे ऐसा कभी न करें। मनुका वचन है कि ऐसे लोगोंके कुटुम्ब नष्ट हो जाते हैं। हमारे ऋषि संध्यावन्दन और सदाचारमय जीवनके द्वारा अमृतत्वको प्राप्त हुए। इसी प्रकार हमलोग भी अपने जीवनमें सदाचारका पालन करके सुख-समृद्धि और दीर्घजीवन लाभ कर सकते हैं।

अन्तमें हिंदुओंके, वैदिक और लौकिक—इस प्रकार जो भेद किये जाते हैं, उनके विषयमें एक शब्द कहना है। यह वर्गीकरण बहुत ही भद्दा और गलत है। हिंदू-धर्ममें ऐसा कोई वर्गभेद नहीं है। सभी हिंदू वैदिक हैं और सबको ही सदाचारके उन नियमोंका पालन करना चाहिये, जो वर्ण और आश्रमके अनुसार वेदोंमें विहित हैं।

वेदोंकी संहिताओंमें मानवताका प्रशस्त आदर्श

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिकसार्वभौम-विद्यावारिधि-न्यायमार्तण्ड-वेदान्तवागीश-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ स्वामीजी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर)

मङ्गलाचरणम्

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥
(ऋ० ७।५९।१२; शु० य० ३०।६०; अथर्व० १४।१।१७; तै० सं० १।८।६।२; शतपथ-ब्रा० २।५।३।१२)

यह प्रामाणिक सिद्धान्त है कि 'शास्त्रं मनुजानेवाधिकरोति' अर्थात् वेदादि-शास्त्र मनुष्योंके अभ्युदय एवं कल्याणके लिये ही उपदेश दे रहे हैं, इसलिये शास्त्रोंमें मनुष्योंका ही अधिकार माना जाता है। अतः जिसके अनन्त महत्त्वका पावन यश दिव्य सुगन्धकी भाँति समस्त विश्वमें अभिव्यात है तथा जिसकी अहैतुकी कृपासे ऐहिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक—सभी प्रकारकी हितकर पुष्टियोंकी अभिवृद्धि होती रहती है, उन तीन नेत्रवाले—त्र्यम्बक-भगवान्की हम सब मानव श्रद्धा एवं एकाग्रताके साथ आराधना करते हैं। तथा उन महान् परमेश्वरसे हम सब मानव यह विनम्र प्रार्थना करते हैं कि—'हे भगवन्! जिस प्रकार अत्यन्त पका हुआ बेर या ककड़ीका फल अपने वृन्तसे सहज ही पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार आप हमें कृपया बन्धनभूत अविद्या—मिथ्याज्ञानादिरूप मृत्युसे विमुक्त कर दें और अभ्युदय एवं निःश्रेयसरूप अमृत-फलसे कदापि विमुक्त न करें। श्रीत्र्यम्बक-प्रभु अपने ज्ञानरूप प्रदीप्त सूर्यनेत्रसे मानवोंके निविड़ अज्ञानान्धकारका, शान्तिरूप आह्लादक चन्द्रनेत्रसे संसारके त्रिविध संतापोंका एवं निष्काम कर्मयोगरूप वह्निनेत्रसे कामकर्मादिरूप कल्मषोंका विध्वंस करते रहते हैं। ऐसे सुखकर, हितकर, परमप्रिय, सर्वात्मा भगवान्की जप-ध्यानादिके द्वारा आराधना करना हम सब मानवोंका प्रथम एवं प्रधान प्रशस्त कर्तव्य है।

मानवोंका कौटुम्बिक आदर्श

माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदिके समुदायका नाम कुटुम्ब है। उसके साथ सर्वतः प्रथम हम सब मानवोंका कैसा धर्ममय प्रशस्त आदर्श होना चाहिये? इसके लिये वेदभगवान् उपदेश देते हैं—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु ।
(अथर्व० १ । ३१ । ४)

अपने-अपने माता एवं पिताके प्रति हम सब मानवोंका स्वस्तिमय सद्भाव एवं प्रशस्त-आचरण होना चाहिये, जिससे वे स्वगृहावस्थित प्रत्यक्ष देवरूप माता-पिता सदैव संतुष्ट एवं प्रसन्न बने रहें और हमें शुभाशीर्वाद देते रहें । अर्थात् वृद्ध माता-पिताकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत उनकी अभीष्ट देववत् परिचर्या करते रहना चाहिये । श्रीरामवत् उनकी प्रशस्त आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है । अतः प्रमादवश या उच्छृङ्खलतावश उनके साथ कष्टजनक अनिष्ट व्यवहार कदापि कहीं भी नहीं करना चाहिये ।

और भगवान् वेदके इन सदुपदेशमय शब्दोंके द्वारा ऐसी शुभभावना सदैव स्मृतिमें रखनी चाहिये—

यदा पिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन् ।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया ॥
(शु० य० १९ । ११)

'जब मैं छोटा-सा सर्वथा असमर्थ शिशु था, उस समय जिस विपुल स्नेहमयी माताकी मधुरतामयी गोदमें लेटकर प्रमुदित होकर जिसके अमृतमय स्तन्यका पान करता हुआ पैरोंके आघातद्वारा उसे पीड़ित करता रहा, अब मैं उनके लालन-पालनादिके द्वारा बड़ा हो गया हूँ, और वे मेरे पूजनीय जनक एवं जननी वृद्ध एवं अशक्त हो गये हैं । अतः मेरे द्वारा मेरे वे वन्दनीय माता-पिता कदापि किसी भी प्रकारसे पीड़ित (व्यथित) न हों, प्रत्युत प्रशस्त सेवा-सत्कार आदिके द्वारा वे सदा संतुष्ट ही बने रहें, इस प्रकार हे परमात्मन्! मैं उनकी सेवा एवं प्रसन्नताद्वारा आनृण्य (ऋण-भार-निवारण) सम्पादन कर रहा हूँ ।'

अतएव अतिधन्य वेदभगवान् परिवारके सभी सदस्योंके प्रति ऐसा उपदेश देते हैं कि—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अथर्व० ३ । ३० । २-३)

'पुत्र पिताके अनुकूल ही कार्य करे, प्रतिकूल कार्य कदापि न करे । माताके साथ भी अच्छे मनवाला बना रहे, खराब मनवाला नहीं, अर्थात् पिता-माता दोनोंके प्रति सदा प्रेम—सद्भाव बनाये रहे । इस प्रकार उपलक्षण-न्यायसे पुत्री भी माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करे । और भार्या—पत्नी भी अपने स्वामी—पतिके प्रति मधुर—आह्लादक, सुखमयी ही वाणी बोले, अर्थात् द्वेष एवं कुभावपूर्वक क्षोभप्रद कटु वाणी कदापि न बोले । इस प्रकार पति भी अपनी धर्मपत्नी—भार्याके प्रति भी वैसी ही अच्छी वाणी बोले, खराब नहीं । भाई भाईके प्रति भी दाय-भागादि निमित्तसे विद्वेष न करे, किंतु श्रीराम एवं भरतकी भाँति परस्पर अपना स्वार्थत्याग प्रेमसे करनेके लिये उद्यत रहे । एवं बहिनके प्रति बहिन भी द्वेष न करे, किंतु सदैव प्रेम—सद्भाव बनाये रहे । उपलक्षण-न्यायसे भाई एवं बहिन भी परस्पर द्वेष न करें । इस प्रकार परिवारके सभी सदस्य—सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अच्छे मनवाले बनकर परस्पर शुभाचरण रखते हुए सुख-सम्पादक भद्रवाणी ही बोलते रहें ।'

इसलिये वेदभगवान् पुनः विशेषरूपसे दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक यही उपदेश देते हैं कि—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
(अथर्व० ३ । ३० । १)

'मैं (वेद-भगवान्) सदुपदेशके द्वारा कुटुम्बके छोटे-बड़े—तुम सब सदस्योंका हृदय सहृदय यानी परस्पर प्रेम-सद्भावयुक्त बनाता हूँ । समान भाववाला हृदय ही सहृदय कहा जाता है । जैसे अपना यह हृदय अपना अनिष्ट न कभी चाहता है न कभी करता है, प्रत्युत सर्वदा अपना इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वैसे ही जो हृदय अन्योंका भी अनिष्ट न कभी चाहता है, न कभी करता है, प्रत्युत इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वह प्रशस्त समभाववाला हृदय ही सहृदय हो जाता है । इस प्रकार मैं तुम्हें सांमनस्यका उपदेश देता हूँ, अर्थात् तुम सब अपने मनोंको अच्छे संस्कारोंसे, अच्छे विचारोंसे, अच्छे संकल्पोंसे एवं पवित्र भावनाओंसे सदा भरपूर रखो, वैमनस्यका निवारण करते हुए ऐसा साम्मनस्य सदा धारण करते रहो । तथा च मैं सहृदय एवं साम्मनस्यके द्वारा विद्वेषाभावसे उपलक्षित प्रेम, सद्भाव, सरलता, सुशीलता, विनय, विवेक आदि गुणोंसे युक्त शरीरादिके सभी व्यवहारोंका तुम्हें कर्तव्यरूपसे बोधन कर रहा हूँ । जैसे गाय अपने सद्योजात अभिनव

वत्सके प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे ही तुम सब परस्पर विशुद्ध स्नेह रखो और निष्कपट, विनम्र—सरल स्वभाव बनाये रहो।'

इस प्रकार वेदभगवान्—हम मानवोंके गृहोंमें पूर्वोक्त सद्गुणोंके विकासद्वारा स्वर्गीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये ऐसा उपदेश देकर मानवोंका कौटुम्बिक आदर्श प्रदर्शित कर रहे हैं।

सुमति-लाभकी प्रार्थना

मानवोंमें रहा हुआ स्व-पर-हितकर सद्भावनारूप धर्म ही मानवता कहा जाता है, इसीका दूसरा नाम सुमति है। यह सुमति ही मानवको सच्चा मानव बनाकर सद्गुणमयी सुख-सम्पत्तियोंके सदा-प्रफुल्लित-सुगन्धित-रमणीय-स्वादु-फलाढ्य नन्दनवनमें स्थापितकर धन्य बना देती है। और जिसमें कुमति बनी रहती है, वह मानव मानव ही नहीं रहता, अपितु पूरा दानव बन जाता है, और विविध विपत्तियों-के कुत्सित गर्तमें पड़कर दुखी ही बना रहता है।

यह सुमतिकी प्रार्थना प्राचीनतम वैदिककालसे ही चली आ रही है। अतएव हमारे अतिधन्य वेदोंमें भी सुमति-लाभकी प्रार्थनाएँ इस प्रकार की गयी हैं—

महस्ते विष्णो ! सुमतिं भजामहे।
(ऋ० १। १५६। ३)

उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
(ऋ० १। २४। ९)

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो निवर्ततान्।
(ऋ० १। ८९। २; शु० य० २५। १५)

'हे विष्णो ! तुझ महान् परमात्माकी सर्वजन-सुखकर हितकर सुमतिका हम सेवन करते हैं।' सद्गुरु महर्षि आशीर्वाद देता है कि—'हे शिष्य ! तुझे उर्वी यानी उदार—विशाल सद्भाववाली एवं गम्भीर सुमति प्राप्त हो। हम सब मानव कुटिलतारहित सौम्य—स्व-परहितकर सरल स्वभाव सम्पादन करना चाहते हैं; अतः हमें इन महान् देवोंकी कल्याण-कारिणी भद्रा सुमतिका लाभ हो, वे महान् कृपालु देव हमें सुमतिका दान दें।

भद्रा सुमतिके द्वारा अभिनव-सर्जित मानवजीवन अतीव प्रशस्त—भद्रमय हो जाता है, इसलिये ऋग्वेदसंहिताके 'देवानां भद्रा सुमतिः' इस मन्त्रपर अध्यात्म-ज्योत्स्नाविवृति-का संस्कृत-व्याख्यान इस प्रकार किया गया है—

'देवानुग्रहाल्लब्धाया यस्या भद्रायाः सुमतेः प्रभावाद् वयं सदा सत्यमेव परिशीलयेम, सदा सम-शान्त-प्रसन्न-प्रेम-कृपा-दृष्टि-सुधापावनवृष्टिभिरेव सर्वं विश्वं परिषिञ्चेम, प्राणप्रियामिव विश्वहितेच्छुतां सदा हृदि विधारयेम, समान-मनोवचनक्रियता-प्रियतामभिवृणुयाम, सर्वदा सर्वजनहित-करेषु सत्कार्येष्वेव मनोवाक्कायकर्मणां प्रवृत्तीर्योजयेम, न विपत्सु व्याकुलतां न सम्पत्सूच्छृङ्खलतां चावलम्बेमहि, परकीयसुखदुःखसमभावग्रहणसदाग्रहशालिशीलतामेवाङ्गी-कुर्याम। न कदाचिदप्युद्वेगकरमनृतं वचनमुच्चरेम, नान्यायतः परधनं परिहरेम, नान्यदारान् कुत्सितचक्षुषा परिपश्येम, एकपत्नीव्रतं पातिव्रत्यं च परिपालयेम, ब्राह्म-मुहूर्तोत्थानं संध्योपासनादिकं नित्यकर्म, पथ्याशनं व्यायामं स्वाध्यायसत्सङ्गदानादिकं च अत्यहमनुतिष्ठेम, सौजन्यजन्यं यशः समुपार्जयेम, परमेश्वरभक्तिलक्षणस्य नितान्तकमनीयस्य कल्पवृक्षस्य शान्तिसुखदां छायां क्षणमपि न परित्यजेम, ब्रह्मचर्याभयपराक्रमाहिंसादिदेवगुणान् बिभृयाम, नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तपूर्णाद्वयानन्तानन्दनिधिमात्मानमजस्रमनुसंध्याम —इत्यादिकं यथा वृद्धकुमारी तपस्विनी इन्द्रेणोक्ता वरं वृणीष्वेति सा वरमवृणीत—'पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्निति (व्याकरणमहाभाष्ये 'न तुले') एकवाक्येन सा पतिः पुत्रा गावो धान्यमिति सर्वं संगृहीत-वती, तथात्रापि भद्रासुमतिग्रहणेन तदेतदखिलं देवसद्गुण-जातं संगृहीतं भवतीति बोध्यम्।

अर्थात् देवोंके अनुग्रहसे प्राप्त जिस भद्रा सुमतिके प्रभावसे हम सब मानव सदा सत्यका ही परिशीलन (सेवन) करें, सर्वदा सम-शान्त-प्रसन्न प्रेम एवं कृपारूपी अमृतमयी-दृष्टियोंकी पावन वृष्टियोंसे हम समस्त विश्वका परिषिञ्चन करते रहें, प्राण-प्रिया सुन्दरीके समान विश्वहितेच्छुता हृदयमें सदा धारण करें; मन, वाणी एवं क्रियामें समभाव रखनेकी प्रीति-का हम वरण करें, सर्वजनके हितकर सत्कार्योंमें अपने मन, वाणी एवं शरीरके कर्मोंकी प्रवृत्तियोंको लगाते रहें। हम विपत्तियोंमें व्याकुलताका एवं सम्पत्तियोंमें उच्छृङ्खलताका अवलम्बन न करें। अन्योंके सुख-दुःख भी अपने सुख-दुःखके समान ही इष्टानिष्ट हैं—अर्थात् जैसे हम अपने लिये सुख ही चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते, वैसे ही हमें दूसरोंके लिये भी सुखकी ही कामना रखनी चाहिये, दुःखकी नहीं। इस प्रकार-

के समभावका सम्पादन करनेका आग्रहशाली स्वभाव हम अङ्गीकार करें, कभी भी उद्वेगकर अनृत-वचनका उच्चारण न करें, अन्यायसे परधनका हरण न करें, कुत्सित दृष्टिसे परायी स्त्रियोंको न देखें। पुरुष-मानव एकपत्नीव्रतका एवं पत्नी-मानव पातिव्रत्यका पालन करें। ब्राह्ममुहूर्तमें उठना, संध्योपासना-मन्त्रजपादि नित्यकर्म, पथ्यभोजन, व्यायाम, स्वाध्याय, सत्सङ्ग एवं दानादिका प्रतिदिन अनुष्ठान करते रहें। अपनी सज्जनतासे प्रादुर्भूत यशका उपार्जन करें। परमेश्वरकी भक्तिरूपी सर्वथा सुन्दरतम कल्पवृक्षकी शान्त, सुखप्रद छायाका हम एक क्षणके लिये भी परित्याग न करें। ब्रह्मचर्य, अभय, पराक्रम, अहिंसा आदि देवगुणोंको धारण करें। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-पूर्ण-अद्वय-अनन्त-आनन्दनिधिरूप आत्माका निरन्तर हम अनुसंधान बनाये रहें।' इत्यादि। जैसे तपस्विनी वृद्धकुमारीके प्रति इन्द्र देवताने कहा कि 'तू मुझसे वरदान माँग' इसपर उसने ऐसा वर माँगा कि 'मेरे पुत्र काँसीके पात्रमें बहुक्षीर एवं बहुघृतसे युक्त भात खायें' और इस प्रकार एक ही वाक्यसे उसने पति, पुत्र, गायें, चावल आदि सबका संग्रह कर लिया, वैसे ही यहाँ भी सुमतिके ग्रहणसे सभी सद्भाव-सदाचारादि शुभगुण संगृहीत हो जाते हैं। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी रामचरितमानसमें कहते हैं—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

अर्थात् सुमति ही विविध सद्गुणरूपी सम्पत्तियोंकी जननी है, और कुमति विविध दुर्गुणरूपी विपत्तियोंकी।

स्व-पर-मित्रता-लाभकी प्रार्थना

शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें सर्वभूतसुहृद् भगवान्‌से मानव इस प्रकार स्व-पर-मित्रता-लाभके लिये प्रार्थना करते हैं—

दृते ! दृꣳह मा मित्रस्य मा
चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि
भूतानि समीक्षे चक्षुषा समीक्षामहे॥
(शु० य० ३६। १८)

'हे दृते! अर्थात् सर्वजनोंके द्वारा आदरणीय-प्रार्थनीय अनन्तानन्दनिधे भगवन्! या निखिलशोक-संताप-विदारक परमात्मन्! अथवा—'दृते' इसे 'सति सप्तमी' विभक्ति भी मान सकते हैं अर्थात्—ईर्ष्या-द्वेषादि दोषोंके द्वारा मेरा अन्तःकरण विदीर्ण एवं विक्षिप्त रहनेपर तथा शान्ति-सद्विचारादिसे भ्रष्ट होनेपर, हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! तू मेरे दुर्गुणादिका निवारण करके मुझे मैत्र्यादि सद्भावनासे युक्त बना! मनुष्यादि विविध समस्त प्राणिवर्ग मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें, शत्रुकी दृष्टिसे नहीं। ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। (मित्र वह है, जो स्नेह रखता है एवं उपकार करता रहता है। मित्रकी दृष्टिसे मुझे सब तभी देखने लगेंगे, जब मैं उन सबका प्रिय बना रहूँगा। सबका प्रिय मैं तभी बन सकता हूँ, जब मैं भी उन सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे ही देखता रहूँ। अतएव) मैं सबको मित्रकी सुखकर हितकर प्रिय दृष्टिसे ही देखता हूँ, यह मेरी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा है और हम सब मानव मित्रकी दृष्टिसे ही एक-दूसरेको देखते हैं, यह हम सबकी समष्टि-प्रतिज्ञा है। अर्थात् मैं समस्त मानवादि प्राणिवर्गको आत्मवत् प्रिय मानूँ—केवल प्रिय ही नहीं, किंतु उनका हितकर-सुखकर भी बना रहूँ और वे भी मुझे प्रिय मानें, मेरे प्रति हितकर-सुखकर ही बने रहें।'

मित्रकी दृष्टि सर्वथा प्रिय-भावनायुक्त, शान्त एवं हितकर ही होती है; वह किसी भी प्राणीके प्रति अनिष्टकी भावना एवं ईर्ष्या-द्वेषभाव नहीं रखती। सबके प्रति हमारा मित्रभाव तभी सिद्ध हो सकता है, जब हममें कापट्य, विश्वासघात, अनिष्टचिन्तन, परार्थ-विघातपूर्वक स्वार्थसम्पादनादि दुर्गुण न हों। जो-जो बातें हमें प्रतिकूल हैं, हम अपने लिये जिन-जिन बातोंको अच्छा नहीं मानते, उन सबका हम दूसरोंके प्रति भी कभी आचरण न करें, तभी हम सबके प्रिय मित्र हो सकते हैं। जब हम सर्वतः प्रथम सबके प्रति मित्रभाव रखनेके लिये प्रयत्नशील बने रहेंगे, तभी वे सब हमारे प्रति भी मित्रभाव रखनेके लिये तैयार होंगे। इस प्रकार परस्पर मित्रभाव रखनेसे ही मानव सच्चा मानव बनकर सर्वत्र सुखपूर्ण स्वर्गीय दृश्यका निर्माण कर सकता है।

अथर्व-संहितामें भी ऐसी ही प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।
(अथर्व० १९। ५। ६)

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।
(अथर्व० १९। १४। १)

मा नो द्विक्षत कश्चन। (अथर्व० १२। १। १८)

'मञ्चाः क्रोशन्ति' की तरह यहाँ तात्स्थ्यलक्षणासे आशाका अर्थ उनमें अवस्थित जन समझना चाहिये। आशा

यानी दिशाएँ। अर्थात् समस्त दिशाओंमें अवस्थित निखिल मानवादि प्राणी मेरे मित्र—हितकारी ही बने रहें और मैं भी उन सबका हितकर मित्र ही बना रहूँ। समस्त प्रदेशोंमें अवस्थित जन मेरे प्रति संताप एवं उपद्रवके बीजभूत शत्रु-भावसे रहित हों। तेरे या अन्य किसीके प्रति भी हम द्वेषभाव नहीं रखते, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखते हैं, इसलिये हमें परस्पर अभय ही बने रहना चाहिये। कोई भी मानव हमारे प्रति द्वेषभाव न रखे, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखें

मधुरतापूर्ण समग्र-जीवनकी प्रार्थना

कैसे जीना और कैसे मरना ? ये दो प्रश्न समस्त मानवोंके प्रति हरदम उपस्थित रहते हैं। जैसा जीवन, वैसा मरण—यह सामान्य नियम है। जिसका जीवन मधुर है, उसका मरण भी मधुर ही रहता है। जिसका जीवन कटु है, उसका मरण भी कटु ही बन जाता है। जो अपने जीवनको सुधारता है, उसका मरण भी स्वतः सुधर जाता है; जिसका वर्तमान अच्छा है, उसका भविष्य भी अच्छा ही रहता है। अतः स्वतःप्रमाण वेदभगवान् प्रथम हमें अपने इस वर्तमान जीवनको मधुरतापूर्ण ही बनानेके लिये हमारी प्रार्थनाद्वारा इस प्रकार आदेश देते हैं—

ॐ मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥
(अथर्व० १।३४।३)

'निक्रमण यानी मेरी समस्त प्रवृत्तियाँ मधुरतापूर्ण—सर्वत्र सदा प्रसन्नता-सम्पादक ही बनी रहें और परायण यानी मेरी निखिल निवृत्तियाँ भी मधुरतासे युक्त ही होनी चाहिये। (जैसे अनीतिसे परद्रव्य-ग्रहणसे निवृत्ति—जो संतोषरूपा है तथा उच्छृङ्खल विषय-लालसाकी निवृत्ति—जो संयमरूपा है—इत्यादि निवृत्तियाँ यहाँ समझनी चाहिये।) जिह्वाके द्वारा मैं मधुर ही बोलता हूँ और मैं बाहर-भीतर सबमें पूर्ण सन्मात्र-चिन्मात्र-परमानन्दरूप मधुब्रह्मका ही सतत दर्शन करता रहता हूँ। (इस प्रकार मेरा समग्रजीवन मधुमय बन जाय तो मेरी मृत्यु भी मृत्यु न रहकर मधुमय—अमृतरूप ही बन जायगी, और मैं मानवताके उच्चतम आदर्शके दिव्यतम शिखरपर आरूढ़ होकर धन्य एवं कृतार्थ बन जाऊँगा।)'

पापिनी-लक्ष्मीके निवारणकी एवं भद्रा—पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभकी प्रार्थना

अन्यायोपार्जिता एवं *बलात्कारसे संगृहीता लक्ष्मी पापिनी-लक्ष्मी मानी जाती है। ऐसी खराब लक्ष्मी मानवसमाजमें संघर्ष पैदा कर देती है और मानवको बड़ी दुर्गति देती है। जो लक्ष्मी नीति, धर्म एवं परिश्रमसे उपार्जित है, जिसके लिये किसीके प्रति अत्याचार नहीं किया गया, वह लक्ष्मी पुण्यमयी भद्रा लक्ष्मी है। वह शिष्टप्रशंसा, यश, पुण्य एवं ईश्वर-कृपालाभद्वारा मनुष्यको सद्गति प्रदान करती है। इसलिये अथर्वसंहितामें ऐसी प्रार्थना की गयी है—

ॐ या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा-
भिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा
हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥
(अथर्व० ७।११५।२)

'जो लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी है—जिसका लोभ मानवको धर्म एवं नीतिसे भ्रष्ट कर देता है, शिष्ट मानव जिसका सेवन नहीं करते एवं जिसमें प्रीति नहीं रखते, वस्तुतः ऐसी लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं है, किंतु अलक्ष्मी है। वह, जिस प्रकार वन्दना नामकी लता हरे-भरे वृक्षका शोषण करती है, उस प्रकार मेरा भी शोषण करती है। इसलिये हे सविता देव ! उस खराब लक्ष्मीको मेरे समीप मत रहने दें, मत आने दें, उसे अन्यत्र ही रहने दें और सुवर्णके समान ज्योतिर्मय हस्तवाले सवितादेव मुझे धर्म, नीति एवं श्रमद्वारा प्राप्त होनेवाला प्रशस्त धन देकर मुझपर अनुग्रह करें।'

इस प्रकार अथर्ववेदके अन्य मन्त्र भी पापमयी लक्ष्मीके निवारणका एवं पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभका उपदेश दे रहे हैं। जैसे—

शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नियच्छ।
(अथर्व० ७।११५।३)

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।
(अथर्व० ७।११५।४)

प्र पतेतः पापि ! लक्ष्मि ! नश्येतः प्रामुतः पत।
(अथर्व० ७।१२०।१)

अर्थात् हे सर्वज्ञ परमेश्वर! हमें कल्याणकारिणी—पुण्यमयी ही लक्ष्मी देना। पवित्र लक्ष्मी ही हमारे गृहोंमें रहकर हमें सुखी बनायें और जो पापिनी लक्ष्मी है, उसका नाश हो जाय। हे पापमयी धनरूपी लक्ष्मी ! इस गृहसे तू चली जा—अदृष्ट हो जा एवं अति दूरस्थलसे भी तू भाग जा।

* इस समय पापिनी लक्ष्मीकी प्राप्तिके—रिश्वत-कालाबाजार-भ्रष्टाचार-आदि—जो दुष्ट साधन हैं, वे सब बलात्कार ही कहे जाते हैं।

दुश्चरित-दुर्भावनादिरूप कल्मषोंके निवारणद्वारा ही मानवताका विकास

मानव जबतक दुश्चरित-दुर्भावना आदिरूप कल्मषोंका निवारण नहीं करते, तबतक उनमें अवस्थित सुप्त मानवताका विकास नहीं होता; इसलिये हमारे अतिधन्य वेदोंमें इन कल्मषोंके निवारणके लिये एवं उनसे पुनः अपनी रक्षाके लिये सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे पुनः-पुनः प्रार्थनाएँ इस प्रकार की गयी हैं—

ॐ श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥
(ऋ० २।३३।३)

अर्थात् हे रुद्र—दुःखद्रावक भगवन्! उत्पन्न हुए समग्र विश्वके मध्यमें अपरिमित ऐश्वर्यसे तू ही एकमात्र श्रेष्ठ है। हे वज्रबाहो! विविध शक्तियोंके द्वारा बढ़े हुए देवोंके मध्यमें एकमात्र तू ही अतिशय बढ़ा हुआ महादेव है। वे—आप भगवान् हम सभी मानवोंको दुश्चरितरूप पापसे, जो पशुता एवं दानवताका विकासक है—अनायास ही पार कर दें, और उस पापके दुस्सङ्ग-दुर्भावना आदि सभी कारणोंसे भी हमें पृथक् कर दें।

ॐ यदाशसा निःशसाऽभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥
(ऋ० १०।१६४।३)

'जागते हुए या सोते हुए अर्थात् जानते हुए या नहीं जानते हुए हमने झूठी आशासे या कामादि दोषोंसे या बुरे संस्कारोंसे एवं दुष्ट संगतिसे जो-जो दुश्चरितरूप पाप किये हैं या करते हैं, अग्निभगवान् शिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषोंके द्वारा असेवित उन सभी पापमय दुष्कृतोंको हम सब मानवोंसे अलग करके दूर भगा दें।'

ॐ उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥
(ऋ० १०।१३७।१। अथर्व० ४।१३।१)

'हे देवो! मुझ मानवको अच्छे पुण्यमय सच्चरितरूप मार्गमें जानेके लिये ही सावधान करें, प्रेरित करें तथा हे देवो! विषयासक्तिरूप प्रमादसे मुझ मानवको अलग करके समुन्नत बनायें, पुनः हे देवो! पाप—अपराधको किये हुए या करते हुए मुझ मानवको पुनः उससे बचायें—रक्षा करें तथा हे देवो! मुझे शोभन, पवित्र, शान्तिमय आनन्दमय, जीवनसे युक्त करें।' यहाँ यह समझना चाहिये कि एक ही भगवान्‌की अनेकविध शक्तियों एवं दिव्य विभूतियोंका नाम ही देवगण है। इसलिये यह देवोंकी प्रार्थना भी वस्तुतः भगवत्प्रार्थना ही है।

श्रमोंकी पराकाष्ठारूप कृषिके लिये उपदेश

मानव जब श्रमसे मुख मोड़ता है और नितान्त सुविधा-प्रिय, विलासी-एवं आलसी बन जाता है और परिश्रम बिना मुफ्तमें ही धन-धान्यादिकी प्राप्तिकी अभिलाषा रखता है, तब उसमें मानवता-विरोधी दानवताके पोषक दुर्गुणोंकी भरमार हो जाती है। श्रमद्वारा पसीना बहाकर कुटुम्ब-निर्वाहके लिये जिससे धन-धान्यादि प्राप्त किया जाता है, वही कृष्यादि उत्कृष्ट साधन हृदयका शोधक एवं मानवताका विकासक बन जाता है। प्रसिद्ध अनेकविध श्रमोंमेंसे एकमात्र कृषि ही श्रमोंकी पराकाष्ठारूप मानी गयी है, अतएव उत्तमताका विरुद (टाइटल) उसे ही दिया गया है। इस समय भारतको—जहाँ बेकारी एवं दरिद्रता नग्नरूपसे नाच रही है और जन-संख्या भी अनर्गलरूपसे बढ़ रही है—विशेषरूपसे उत्पादक कृषक-वर्गकी समुन्नतिकी खास आवश्यकता है। इसलिये हमारा अतिधन्य वेदभगवान् भी मानवोंके प्रति कृषिके लिये इस प्रकार उपदेश देता है—

ॐ अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥
(ऋ० १०।३४।१३)

'हे कितव! तू पाशोंसे जुआ मत खेल। जीवन-निर्वाहके लिये तू कृषि कर—अर्थात् परिश्रमी बन, हरामी मत बन। नीतिके मार्गसे कमाये हुए धनको बहुत मानता हुआ तू उसमें ही रमण कर अर्थात् संतोष रखकर प्रसन्न रह। उस उत्तम व्यवसायरूप कृषिमें ही गौ आदि पशु भी सुरक्षित रहते हैं, एवं उसमें ही स्त्री आदि कुटुम्बीजन भी प्रसन्न रहते हैं। ऐसा मुझ मन्त्रद्रष्टा ऋषिके प्रति इन विश्वस्वामी सविता देवने मानवोंको उपदेश देनेके लिये कहा है।' कितव यानी 'किं तव' अर्थात् तेरा क्या है? सब कुछ मेरा है' ऐसा मिथ्या दुष्टभाव रखनेवाला हरामी मानव। सट्टा आदि भी एक प्रकारका जुआ ही माना गया है, इसका भी परित्याग यहाँ उपदिष्ट है।

इस प्रकार अन्य अनेक वेदमन्त्र भी कृषिके लिये ऐसा उपदेश देते हैं—

सुसस्याः कृषीस्कृधि । (शु० य० ४ । १०)
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ।
(शु० य० ९ । २२)
नो राजा नि कृषिं तनोतु । (अथर्व० ३ । १२ । ४)
ते कृषिं च सस्यञ्च मनुष्या उपजीवन्ति ।
(अथर्व० ८ । १० । १२)
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना । (अथर्व० १२ । १ । १३)

'हे मानव ! तू चावल, गेहूँ आदि अच्छे धान्यवाली कृषि कर । कृषिके लिये, तल्लभ्य निर्वाहके लिये, धनके लिये एवं परिवारादिके पोषणके लिये मैं परमेश्वर तुझ मानवको नियुक्त करता हूँ । हमारा राजा या नेता कृषिका अच्छी प्रकारसे विकास एवं विस्तार करता रहे । वे सब मानव कृषि एवं धान्यका ही उपजीवन करते हैं । शोभन कृषिके द्वारा अभिवर्धित एवं सुशोभित हुई भूमि माता हमें सभी प्रकारसे समुन्नत एवं सुखी बनाये ।'

अभ्युदय-प्रयोजक संघट्टनादिका उपदेश

समस्त अभ्युदयोंका प्रयोजक है—समाजमें एवं राष्ट्रमें परस्पर संघट्टन, संवदन, सद्भाव तथा अपने ही न्यायोचित भाग (हिस्से) में एकमात्र संतोष रखना, दूसरोंके भागोंको लेनेकी इच्छातक भी नहीं करना—यही मानवताका विकासक आदर्श चरित्र है । इसका निखिल-वसुधानिवासी मानवोंके हितके लिये जगद्गुरु वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं—

ॐ सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
(ऋ० १० । १९१ । २; अथर्व० ६ । ६४ । १; तै० ब्रा० २ । ४ । ४ । ४)

'आप सब मानव धर्म एवं नीतिसे संयुक्त हुए परस्पर प्रेमसे सम्मिलित—संघटित बनें । सब मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य हित-प्रियवाक्योंको ही बोलें तथा आप सबके मन, सुखदुःखादिरूप अर्थको सबके लिये समानरूपसे जानें । जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादिदेव धर्म एवं नीतिकी मर्यादाको जानते हुए अपने ही हविर्भागका अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपने ही न्यायोचित भागका अङ्गीकार करें, अन्यके भागको अन्यायसे ग्रहण मत करें ।

इस मन्त्रपर—अध्यात्म-ज्योत्स्ना-विवृतिका संस्कृत-व्याख्यान इस प्रकार है—

जगदीश्वरो भगवान् सर्वान् मानवान् इत्थं समुपदिशति । यूयं सर्वे धर्मनीतिसंयुक्ता भवत । निखिलदुःखविपत्प्रदानं कौटिल्यं विरोधं च विहाय सर्वसौख्यसम्पन्मूलां संघशक्तिं समाश्रयत । भारतभूदेव्या यथाखण्डाभ्युदयो भवेत्तथा प्रयतध्वम् । परिपुष्टशरीरेन्द्रियबलबुद्धिविद्याशक्तिमन्तः सन्तः स्वदेशाभ्युदयं स्वदेशरक्षकबन्धुसहायं च कुरुत । विश्वहितैषित्वं जगद्बन्धुत्वं च परार्थेषु स्वार्थबुद्धित्वं च विधत्त । मनसा वचसा कर्मणा च यथाशक्ति यावज्जीवं स्वपरहितमेव वितनुत । यद्यदात्मनः प्रतिकूलं तत्तत्परेषु कदापि कथमपि न समाचरत । यद्यदात्मनोऽनुकूलमिष्टं यथा च—'सर्वे प्राणिन अस्माकमनुकूला उपकारका मित्राणि च भवेयुः, हितमेव चिन्तयेयुः, सुखमेव समर्पयेयुः, आपत्समये सहायकाः स्युः, न चास्मान् निन्देयुः, न निष्ठुरमनृतं च भाषेरन् । स्वकीयस्वसृदुहितृपत्न्यादिकं कुदृष्ट्या न केऽपि पश्येयुः, न चास्मान् वञ्चयेयुः, न च विश्वासघातं द्रोहं च कुर्युरित्यादिलक्षणं स्वेभ्यो यथा युष्माभिरभिलष्यते, तत्तदखिलं वयं सर्वेषामनुकूला उपकारका मित्राणि च भवेम इत्यादिकं तथैव यूयमन्येभ्योऽप्यभिलषत । ....'परस्परं सद्भावयन्तः, चेतसः ईर्ष्यापरापकारचिकीर्षासूयामर्षकालुष्यं परित्यजत । सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यकृत्सु पापिष्ठेषु च क्रमशो मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षालक्षणां चेतःप्रसादिनीं भावनाचतुष्टयीं प्रणयमधुरां प्रेयसीं सुन्दरीमिव समाश्लिष्य सौजन्यामृतसिन्धवो भवत । परसुखसम्पद्भङ्गकरणं स्वसुखसम्पद्भङ्गायैव भवति, परदुःखविपत्प्रदानं स्वदुःखविपत्प्रदानायैव भवतीति च मनसि विनिश्चित्य परसुखसम्पद्भङ्गः परदुःखविपत्प्रदानं च न कदापि करणीयम् । निरुपमधैर्यं निसर्गसिद्धोत्साहं निस्सीमशौर्यशक्तिं विपुलतमप्रज्ञाविधुतिं च समाश्रित्य सदा गभीरोदारशान्तविशुद्धाशयाः प्रसन्नानना विश्रुतवीरव्रताश्च भवत । अन्यभागहरणं स्वभागहरणायैव भवति, कृतानुकरणस्य लोकस्वभावसिद्धत्वादिति परिज्ञाय स्वभागरक्षणायान्यभागहरणं कदापि न कर्तव्यम् । स्वभागसंतोषाभावादेव परभागलिप्सा प्रादुर्भवति, तया खलु विविधं कलहं कुर्वाणा मानवाः कुटिलप्रकृतयो भवन्ति । एतादृशानां तेषां कुतोऽभ्युदयः, कुतस्तरां सौख्यं च सिद्ध्येताम् ? तस्माद्यथा देवाः परस्परमैकमत्यं प्राप्ता यज्ञे स्वकीयमेव हविर्भागमाददते, नान्यदीयं हविर्भागं लिप्सन्ते तथा यूयमपि स्वभाग एव संतोषमास्थाय कदाप्यन्यायेन हेतुना मा परभागलिप्सां कुरुत इति ।

अर्थात् जगदीश्वर भगवान् विश्वके समस्त मानवोंके प्रति

'आप सब मानवोंकी आकूति यानी संकल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार समान—समभाववाले, सरल—कापट्यादि दोषरहित: स्वच्छ रहें। एवं आप सब मानवोंके हृदय भी समान—निर्द्वन्द्व, हर्ष-शोकरहित समभाववाले रहें तथा आप सब मानवोंका मन भी समान—सुशील: एक प्रकारके ही सद्भाववाला रहे। जिस प्रकार आप सबका शोभन (अच्छा) साहित्य—(सद्भाव), धर्मार्थादिका समुच्चय सम्पादित हो, उस प्रकार आपके आकूति—हृदय एवं मन हों।

इस मन्त्रपर 'अध्यात्म-ज्योत्स्ना-विवृति'का संस्कृत व्याख्यान इस प्रकार है—

हे मानवाः! सर्वलोकहितोपदेष्टुर्मम भगवतो वेदस्येमं सदुपदेशं सावधानेन मनसा यूयं समाकर्णयत, तदनु विचार्य स्वहृदि च विधारयत। युष्माभिर्युष्मदीयाः सर्वे संकल्पा निश्चयाः प्रयत्ना व्यवहाराश्च सरलाः अवक्राः कापट्यविश्वासघातादिदोषरहिता भावसंशुद्धिसमुपेताश्च क्रियन्ताम्। तथा हृदयानि समानानि विधीयन्तां न विषमाणि, येन यूयं सौमनसं सुखं लभध्वम्। येषां खलु विवेकविचाररहितानां मूढानां हृदयानि वैषयिकं सुखमनुरज्यन्ति, दुःखमलुलन्ति, लाभे प्रसीदन्ति, अलाभे च विषीदन्ति, जयमाद्रियन्ते, पराजयमवमन्यन्ते, सम्मानस्तुत्यादौ हृष्यन्ति, अवमाननिन्दादौ म्लायन्ति, तेषां हृदयानि तानि रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानानि द्वन्द्वमजस्रं भजमानानि विषमाणीत्युच्यन्ते। येषां किल विवेकविचारशीलानां महाधीराणां विज्ञानां हृदयानि न सुखं वैषयिकं क्षणिकं तुच्छं प्रेप्सन्ति, न दुःखं जिहासन्ति, किंतु बलवत्प्रारब्धवशात् समागते सुखदुःखेऽनासक्तबुद्ध्याऽनुभवन्त्यपि तानि प्रियमिष्टं प्राप्य नानुरज्यन्ति, अप्रियमनिष्टं प्राप्य न द्विषन्ति। एवं लाभे न नन्दन्ति, नालाभे संतपन्ति, न विजयं प्रमोदकरं याचन्ते, न पराजयं संतापकरं जुगुप्सन्ते, न मानावमाननिन्दास्तुत्यादौ हर्षशोकाभ्यामनुद्रवन्ति, एवं सर्वत्रान्तर्बहिः समब्रह्मभावनावशात् क्वचिदपि कदाचिदपि रागद्वेषाभ्यामप्रवर्तमानानि पाथसा पाथोजवत् ताभ्यामसंस्पृष्टानि द्वन्द्वातीतानि तानि समानानीत्युच्यन्ते। ......तस्मादयं हृदयस्य गर्ह्यतमं वैषम्यं यत्नेन परित्यज्यध्वं समानत्वापरपर्यायं स्तुत्यतमं साम्यं सादरेण भजध्वम्। समत्वयोगेनैव सर्वविधं शोभनं धर्मार्थादेः साहित्यं सुलभं सिद्ध्यतीति।

अर्थात् हे मानवो! समस्त लोगोंके हितके उपदेष्टा मुझ भगवान् वेदके इस सदुपदेशको सावधान मनसे आप सब सुनें और पश्चात् विचार करके उसे अपने हृदयमें धारण करें। आप सब अपने समस्त संकल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार, सरलता, यानी वक्रता—टेढ़ेपन (उच्छृङ्खलता) से रहित, कापट्य-विश्वासघातादि दोषोंसे रहित एवं हृदयके भावोंकी सम्यक् शुद्धिसे संयुक्त करें तथा हृदयोंको भी समान (समभाववाले) करें, विषम (विरुद्ध—द्वन्द्व भाववाले) न रखें। जिससे आप सब मानव सुशोभन—पवित्र मनके होकर दिव्य सुख प्राप्त करें। विवेक-विचारसे रहित जिन मूढ़ मनुष्योंके हृदय विषयोंके तुच्छ—क्षणिक सुखके पीछे अनुरक्त हो जाते हैं, दुःखके पीछे रोने लगते हैं, लाभ प्राप्त होनेपर प्रसन्न बन जाते हैं एवं हानि होनेपर विषादको प्राप्त होते हैं, जयका समादर करते हैं और पराजयका तिरस्कार करते हैं, अपने सम्मान-स्तुत्यादि होनेपर हर्षित हो जाते हैं और अपमान-निन्दादिके होनेपर म्लान हो जाते हैं। उन्हींके वे हृदय, राग-द्वेषके द्वारा प्रवर्तमान होनेके कारण एवं निरन्तर सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका ही सेवन करते रहनेके कारण विषम कहे जाते हैं। और विवेक-विचारशील महाधीर जिन विज्ञोंके हृदय शब्दादि-विषयजन्य क्षणिक तुच्छ सुखकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रखते न दुःखके त्यागकी ही इच्छा रखते हैं, किंतु बलवान् प्रारब्धके योगसे आये हुए सुख एवं दुःखका अनासक्त बुद्धिसे अनुभव करते हुए भी इष्ट (प्रिय) पदार्थ प्राप्त होनेपर उसमें अनुरक्त नहीं होते; अनिष्ट (अप्रिय) पदार्थ प्राप्त होनेपर उससे द्वेष नहीं करते एवं लाभ होनेपर न हर्षित होते हैं, हानि होनेपर न उद्विग्न होते हैं, प्रमोदकारी विजयकी याचना नहीं करते, न संतापकारी पराजयसे घृणा करते हैं, मानापमान निन्दा-स्तुति आदिके होनेपर जो हर्ष-शोकके पीछे दौड़ते नहीं हैं—इस प्रकार समस्त प्रिय या अप्रिय पदार्थोंमें अंदर-बाहर समब्रह्मकी भावनाके वश कहीं भी कभी भी राग-द्वेषके द्वारा प्रवर्तमान न होनेवाले, जलसे कमलकी भाँति उन रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे संस्पृष्ट न होनेवाले द्वन्द्वातीत-हृदय समभाववाले—समान कहे जाते हैं। ....इसलिये आप सब मानव हृदयके अतिगर्ह्य (गर्हा—घृणा करनेयोग्य) वैषम्यका प्रयत्नद्वारा परित्याग करें और समानभाव जिसका पर्याय है—ऐसे अति स्तुत्य साम्यका आदरपूर्वक सेवन करें; क्योंकि समत्वयोगसे ही सर्वत्र सब प्रकारका धर्मार्थादि चतुर्विध पुरुषार्थोंका शोभन साहित्य (समुच्चय) सुलभ रीतिसे सिद्ध हो जाता है।

उपसंहार

इस प्रकार स्वतःप्रमाण अतिधन्य वेदोंकी संहिताओंमें मानवोंके प्रशस्त आदर्शोंका वर्णन बहुत ही प्रचुररूपमें किया गया है। अन्तमें ऋग्वेदसंहिताके निम्नाङ्कित दो प्रार्थनामन्त्रोंको उद्धृत करके इस लेखका हम उपसंहार करते हैं। मानव-जीवनको आदर्शमय (चारित्र्यशील) बनानेमें भगवत्प्रार्थना एक मुख्य प्रयोजक साधन माना गया है। जो मानव उन अपने अन्तर्यामी सर्वात्मा भगवान्पर दृढ़ विश्वास रखता है, उनके शरणापन्न बना रहता है, उनके इष्टानिष्ट सभी विधानोंमें जो संतुष्ट रहता है, सभी परिस्थितियोंमें उनकी पावन मधुर ध्रुवा स्मृति बनाये रखता है और विश्वके अभ्युदय एवं निःश्रेयसके लिये हृदयके सद्भावोंके साथ उन सर्वसमर्थ प्रभुकी प्रार्थना करता रहता है, उस मानवमें पशुता एवं दानवताका ह्रास होकर मानवताका विकास हो जाता है। केवल मानवताका ही नहीं, किंतु उन करुणासागर भगवान्की अनुपम कृपासे उसमें क्रमशः देवत्व एवं महादेवत्वका विकास होकर उसका मानव-जीवन धन्य एवं चरितार्थ बन जाता है।

ॐ विश्वेदेवा नो अद्या स्वस्तये
वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये
स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥
(ऋ० ५। ५१। १३)

'भगवत्स्वरूप समस्त देव इस समय हम सब मानवोंकी स्वस्ति (कल्याण)-लाभके लिये अनुकूल हों। वैश्वानर वसु अग्निदेव भी हमारी स्वस्तिके लिये प्रयत्नशील हों। ऋभु यानी स्वर्गनिवासी देव हमारे कल्याणके लिये हमारा रक्षण करें। रुद्रभगवान् भी हमारे कल्याणकी सिद्धिके लिये पशुता एवं दानवतारूप पापसे हम सब मानवोंकी रक्षा करें।'

ॐ शं नो देवः सविता त्रायमाणः
शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः
शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥
(ऋ० ७। ३५। १०; अथर्व० १९। १०। १०)

'भय एवं संतापोंसे रक्षा करते हुए सवितादेव हम सबके शं (शान्ति-सुख) के लिये अनुकूल हो। सूर्यप्रकाशसे प्रथम अपना मधुर एवं शान्त प्रकाश फैलानेवाली एवं अन्धकारको भगा देनेवाली उषा देवियाँ हम सबके शंके लिये प्रयत्नशील हों। पर्जन्य (मेघ) हमारी सब प्रजाके लिये शं (सुखकारी) हो। क्षेत्रके पति शम्भुभगवान् हम सबके शंके लिये प्रसन्न हों।'

हरिः ॐ तत्सत्, शिवोऽहं शिवः सर्वम्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्।

पत्थरोंका उपालम्भ

पूछा बरसातमें पसीजे हुए पर्वतोंसे—
'गिरि! जडताको किसके अधीन ले गये?'
उत्तरमें नीर टपकाता हुआ बोला वह—
'पाहनता कुलकी कभी कहीं न ले गये॥
किंतु जो भरे थे मणि-रत्न, उन्हें खोज-खोज
'वासुदेव' लोग एक-एक बीन ले गये।
पास बची एकमात्र सङ्गिनी कठोरता थी,
मानव कहानेवाले वह भी छीन ले गये'॥

—वासुदेव गोस्वामी

मानवकी मानवता

(लेखक—पूज्यचरण स्वामीजी श्रीसच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती महाराज)

'मानवकी मानवता क्या वस्तु है ?' यहाँ इसी विषयपर विचार करना है।

मानवका ही दूसरा नाम पुरुष है—यह 'ब्राह्मण' आदि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है। तैत्तिरीयोपनिषद्में सर्वात्मभूत परब्रह्म परमात्मासे आकाशादि भूतोंकी सृष्टिका प्रकरण आरम्भ करके कहा गया है—

पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः इति।

'पृथ्वीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न और अन्नसे पुरुष प्रकट हुआ है।' इस विषयमें भाष्यकार भगवत्पाद भगवान् शंकराचार्यद्वारा 'सर्वेषामन्नरसविकारत्वे ब्रह्मवंश्यत्वे चाविशिष्टे कस्मात् पुरुष एव गृह्यते—'सभी प्राणियोंमें अन्नरसविकारत्व और ब्रह्मवंशता समान होनेपर पुरुषका ही ग्रहण क्यों किया जाता है?' ऐसी शङ्काकी उद्भावना करके उसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

प्राधान्यात्। किं पुनः प्राधान्यम्? कर्मज्ञानाधिकारः। पुरुष एव हि शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वाच्चार्थी विद्वान् समर्थः कर्मज्ञानयोरधिक्रियते। पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा। स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमः। विज्ञातं वदति, विज्ञातं पश्यति, वेद श्वस्तनम्। वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सतीत्येवं सम्पन्नः। अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिज्ञानम्। (ऐ० आ० २। ३। २-४) इति श्रुत्यन्तरदर्शनात्।

'प्रधानताके कारण पुरुषका ही ग्रहण होता है। उसकी प्रधानता क्या है? तो इसका उत्तर है—कर्म और ज्ञानका अधिकार। पुरुषमें ही सामर्थ्य, अर्थित्व और उदासीनताके विद्यमान होनेके कारण वही समर्थ, अर्थी और उदासीन है एवं वही कर्म और ज्ञानका अधिकारी है। पुरुषमें ही आत्माका आविर्भाव हुआ है। वही उत्कृष्ट ज्ञानसे सर्वाधिक सम्पन्न है। वह जाने हुएको ही कहता है और उसीको देखता है। वह भविष्यका ज्ञाता तथा उत्तम और अधम लोकोंका जानकार है। मरणधर्मा शरीरसे अमृतत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। वह ऐसे ज्ञानसे सम्पन्न है। पुरुषेतर पशुओंको तो भूख-प्यासका ही ज्ञान होता है। ऐसा अन्य श्रुतियोंमें देखा जाता है।'

इस विषयमें यों समझना चाहिये—यद्यपि उपर्युक्त श्रुतिमें 'अन्नात् पुरुषः' इतना ही कहा गया है, तथापि भगवान् भाष्यकारने स्पष्ट कर दिया है कि 'सभी प्राणियोंमें अन्नरसविकारत्व समान होनेपर भी विशेषताके कारण पुरुषका ग्रहण होता है।' इतना ही हेतु श्रुतिको अभिमत नहीं है। इसलिये केवल सप्त धातुमय शरीरके पा लेनेसे ही मानवकी मानवता नहीं सिद्ध होती; बल्कि कार्याकार्यकी व्यवस्थासे व्यवसायात्मिका बुद्धिद्वारा जो उत्तम-से-उत्तम कर्म और ज्ञानमें प्रवृत्ति है, वही मानवमें मानवता ले आती है—ऐसा भगवान् शंकराचार्यका अभिप्राय प्रकट होता है।

उनके द्वारा उदाहृत श्रुतिसे भी यही भाव अभिव्यक्त होता है; क्योंकि वहाँ ऐसा कहा गया है कि सर्वव्यापी परमात्माका आविर्भाव मिट्टी-पाषाण आदि अचेतन पदार्थोंमें सत्तारूपसे होता है और ओषधि-वनस्पति आदि स्थावरों तथा जङ्गम आदि चेतन प्राणियोंमें उससे अधिक मात्रामें होता है। कारण कि स्थावरोंमें रस देखा जाता है, जो आत्माका चिह्न है; और वही मिट्टी तथा पाषाण आदिसे उनकी विशेषता प्रकट करता है। उनसे भिन्न अन्य प्राणधारी जङ्गमोंमें चित्तका व्यापार भी उपलक्षित होता है। इससे यह विदित होता है कि स्थावरोंकी अपेक्षा भी प्राणधारी जङ्गम ही आत्माके आविष्कारमें बढ़-चढ़कर होते हैं। इन प्राणधारियोंमें भी मानव-योनिको प्राप्त हुए पुरुषमें ही सबसे बढ़कर आत्माका आविर्भाव हुआ है—ऐसे कहना चाहिये; क्योंकि वह सभी प्राणियोंसे बढ़कर उत्तम ज्ञानसे संयुक्त है। वह अन्य प्राणियोंकी भाँति दुःखसे प्रेरित केवल अव्यक्त शब्द नहीं करता, बल्कि विशेष समझदारीके साथ बोलता है तथा 'इदं पश्यानि' इस प्रकार विचारपूर्वक परीक्षा करता है। वर्तमानकालमें बीते हुए विषयोंका स्मरण करता है और भावी घटनाओंका विचारपूर्वक निश्चय करके उन्हें देखता या समझता है। लोकके उत्तम और अधम स्वरूपको जानता है। मरणधर्मा शरीरसे कर्मादि साधनोंद्वारा अमृतस्वरूप देवत्व आदि प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। इसके अतिरिक्त पशु आदि प्राणियोंमें न तो ऐसा विशेष ज्ञान (समझ) है और न समझदारीके साथ किसी कार्यमें उनकी प्रवृत्ति या उससे निवृत्ति ही होती है; बल्कि वे क्षुधा-तृषा

आदि कष्टोंसे ही प्रवृत्त होते हैं और यन्त्रोंपर कीलित कठपुतलीकी तरह सब ओर घूमते रहते हैं।

इससे यह कहा जा सकता है कि जो लोग केवल अन्न-रस-विकारमय शरीरको आत्मा मानकर काम, क्रोध, मोह आदि दोषोंके वशीभूत हो सब ओर भटकते रहते हैं, वे वस्तुतः मानव नहीं हैं, बल्कि मानवरूपमें पशु ही हैं; क्योंकि उनमें मानवकी विशेषतारूप विज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति और निवृत्ति आज भी नहीं लक्षित होती, बल्कि नीच जन्तुओंकी भाँति दुःखसे प्रेरित चित्त-वृत्तिका ही प्रसार देखा जाता है।

परंतु ऐसे अमानव कहलानेवाले प्राणियोंसे भी विलक्षण वे लोग हैं, जो मानव-वेषमें भी दानवका-सा आचरण करते हैं। जो अज्ञानसे आवृत पशु आदिकी अपेक्षा भी हेय वृत्तिवाले हैं, वे ही राक्षस या असुर आदि विविध नामोंसे श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंमें वर्णित हुए हैं। वैदिक वाङ्मयका अध्ययन करनेवालोंसे यह छिपा नहीं है कि देवों और असुरोंने यह प्रयत्न किया—वयं स्वर्गमेष्यामः, वयमेष्यामः। वयमेव परमात्मतत्त्वं विज्ञास्यामः, वयमेव विज्ञास्यामः। येन सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवेत्—'हमलोग अवश्य ही स्वर्गको प्राप्त करेंगे। हमलोग अवश्य ही परमात्मतत्त्वको जानेंगे। जिससे सम्पूर्ण लोकोंमें इच्छानुसार विचरण किया जा सकेगा।' ऐसी पारस्परिक स्पर्धा दोनोंमें उत्पन्न हुई। जगह-जगह ऐसा वर्णन देखा जाता है। उन-उन स्थलोंमें इस प्रकारकी स्पर्धाके फलका यह प्रतिपादन भी देखा जाता है कि अन्ततोगत्वा असुरोंकी पराजय हुई और देवोंने ही विजय प्राप्त की। कुछ लोगोंका कहना है कि वेदों एवं पुराणोंमें जिन देवों तथा असुरोंका वर्णन हुआ है, वे मानवों-से उत्कृष्ट प्राणी हैं। परंतु दूसरे लोगोंका मत है कि देवता या असुर मनुष्योंसे भिन्न कोई दूसरे प्राणी नहीं हैं; बल्कि मनुष्योंमें ही जो दया, दान, दम आदि उत्तम गुणोंसे युक्त हैं, वे देव हैं; तथा जिनमें दम्भ, दर्प, क्रोध, हिंसापरायणता आदि दोष प्रधानरूपसे विद्यमान हैं, वे क्रूर स्वभाववाले मानव असुर ही हैं। आस्तिक सम्प्रदायवालोंके मतमें ये दोनों ही असम्भावित नहीं हैं; क्योंकि स्थावर, जङ्गम और मनुष्योंमें क्रमशः उत्तरोत्तर आत्मविभूतियाँ अभिव्यक्त हुई देखी जाती हैं। इसी प्रकार जिनमें मनुष्योंसे भी उत्तरोत्तर आत्ममहिमाका प्राकट्य है, वे देव हैं—यह ठीक ही है।

जो कुछ भी हो, मनुष्योंमें कुछ लोग दैवी सम्पत्तिसे तथा कुछ लोग आसुरीसे संयुक्त होकर उत्पन्न होते हैं—यह तो निर्विवाद ही है। श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें इस प्रकारका दैवासुरसम्पद्-विभाग विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हुआ है। वहाँ ऐसा निर्णय भी किया गया है—दैवी सम्पद्-विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता 'दैवी सम्पदा मोक्षका और आसुरी बन्धनका कारण होती है।'

ये दोनों—दैव तथा आसुर—सम्पत्तियाँ साधारणतया सभी मनुष्योंमें बीजरूपसे वर्तमान हैं। उनके संस्कारोंको उद्भूत एवं पराभूत करनेवाले पदार्थोंके संनिवेशविशेषके कारण उनका उत्कर्ष और अपकर्ष होता है। इसी प्रकार देवों और असुरोंकी जय-पराजयके रूपमें रूपककी कल्पनाद्वारा दैवासुर-वृत्तियोंके उत्कर्ष एवं अपकर्षका वर्णन वैदिक अर्थवादमें हुआ है। (इस विषयमें भगवान् भाष्यकारके द्वारा रचित बृहदारण्यक १।३।२ के भाष्यकी अवतरणिका देखनी चाहिये।) जब जीवोंकी इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही प्रत्यक्ष और अनुमानद्वारा उपलक्षित प्रयोजनवाले कर्म और ज्ञानसे भावित होती हैं, तब उनकी वृत्तियाँ आसुरी कही जाती हैं; क्योंकि असुर अपने प्राणोंमें ही रमते (आनन्द मानते) हैं। वे ही वृत्तियाँ जब विवेकबुद्धिसे भावित होती हैं, तब कार्याकार्य तथा यथार्थ वस्तुतत्त्वको प्रकट करनेवाली होनेके कारण 'देव' कहलाती हैं। विवेकसे संयुक्त वृत्तियाँ प्रयत्नसे सिद्ध होनेवाली होती हैं, इसीलिये देवोंकी संख्या अल्प है और प्रत्यक्ष प्रयोजनवाली वृत्तियोंकी स्वाभाविकताके कारण सभी कालोंमें भी असुरोंकी संख्या अधिक पायी जाती है। यद्यपि यह सभी जीवोंमें समानरूपसे विद्यमान है, तथापि मनुष्योंमें अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये बुद्धिपूर्वक प्रयत्न विशेषरूपसे देखा जाता है। मानवोंको सत्सङ्ग, सदाचार और सद्विचारद्वारा प्रयत्नपूर्वक दैवी सम्पदाकी प्राप्ति करके वास्तविक मानवताका सम्पादन करना चाहिये—ऐसा ज्ञानवृद्ध पुरुष पद-पदपर उपदेश देते हैं।

जैसे मनुष्योंमें दैव और आसुर सम्पत्तियाँ पदार्थोंके संनिवेशविशेषसे उत्कर्ष तथा अपकर्षका अनुभव करती हैं, उसी प्रकार समष्टिरूप जनसमुदायमें भी समझना चाहिये। आजकलके मनुष्योंमें भौतिक विज्ञानकी प्रबलता है, जिससे उन्होंने अपने द्वारा बनाये हुए यन्त्र आदि उपकरणोंके सहारे प्रत्यक्ष प्रयोजनवाली भोग-सामग्रियोंका समूह अधिक

मात्रामें एकत्र कर लिया है; इसीलिये इच्छा-द्वेषद्वारा उत्पन्न द्वन्द्वमोहरूपी वैभव सर्वत्र दिखायी देता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जिन-जिन व्यक्तियोंमें आधिभौतिक विज्ञानकी कलाका रहस्य विशेषरूपसे वर्तमान है, उन-उनमें कलिका स्वरूप प्रत्यक्ष-सा दिखायी देता है। इसीसे मनुष्योंकी विषयोंमें आसक्ति होती है और आसक्तिसे काम, क्रोध, लोभ आदि विशेषरूपसे बढ़ते हैं, जिससे अपनेमें सिद्धता और ईश्वरत्व आदिका अभिमान बद्धमूल हो जाता है तथा सदाचार, संयम, धर्मानुष्ठान, चित्तसमाधान और ईश्वरभक्ति आदिके उत्पादनमें अनादरका प्रसार होने लगता है—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जहाँ-कहीं शास्त्रोंके अध्ययन या तत्त्वविचार आदि कार्योंमें प्रवृत्ति भी देखी जाती है, वहाँ भी माया, ठगी और आडम्बर आदिके आश्रयसे दम्भ, दर्प और मानाधिक्यके प्रदर्शनपूर्वक धर्माभासका ही अनुष्ठान, अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शन, दूसरेके मतकी निन्दा, अपने अभीष्ट मतमें लोगोंको दीक्षित करके लोकसंग्रहके लिये प्रयत्न करनाआदि आसुरी सम्पदाके चिह्न विकसित हो रहे हैं। दुराचारमें प्रेम, आत्मप्रशंसा, दूसरेका अपमान करना, समाजका सुधार करनेके बहाने उसे दूषित करना, स्वयं अन्यायसे द्रव्य-संग्रह करना और दूसरेको त्यागका उपदेश देना, भाषाभक्ति, देशभक्ति और परोपकारपरायणता आदिको निमित्त बनाकर अभूतपूर्व कलहका बीज बोना आदि शत-शत आसुर-धर्म आज सर्वत्र नग्न नृत्य कर रहे हैं। राष्ट्रतन्त्राधिकारी जननायकोंमें नयी-नयी शासनप्रणालीकी खोज, मनमानी दण्डनीतिकी स्थापनाके लिये नाना प्रकारकी नवीन शासनपद्धतियोंकी रचनाका कौतूहल, स्वदेशकी उन्नति एवं उसकी रक्षाके बहाने अनेक प्रकारके यन्त्ररूपी उपकरणोंकी सहायताका आश्रय लेकर विभिन्न नये-नये उद्योगोंके निर्माणद्वारा स्वावलम्बी जनोंकी जीविकाका हनन करना, शरीर-निर्वाहके लिये अत्यन्त आवश्यक भोजन-वस्त्र आदिकी भी दुर्लभता उत्पन्न करना, दूसरे राज्योंका अनिष्ट करनेका प्रयत्न करना, प्रजाको पीड़ित करनेवाले भाँति-भाँतिके नये-नये कर लगाना, आत्मरक्षा एवं अपने सहयोगी राष्ट्रकी सहायताके व्याजसे नाना प्रकारके धातुनिर्मित अस्त्रोंका संग्रह आदि कार्य, जो अपने नाममात्रसे सारी जनताकी जीविताशाका विनाश करनेवाले हैं, प्रतिदिन नये-नये रूपमें आविष्कृत हो रहे हैं। असुरोंकी आजकलकी उस विजयपर आश्चर्य है।

यद्यपि आधुनिक मानवताका जैसा वर्णन किया गया है, उससे तो कुछ मन्दबुद्धि लोगोंको वह वर्णन दोषदर्शी लोगोंका किया हुआ-सा प्रतीत होगा, तथापि वस्तुस्थितिको प्रकट करनेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तियोंको यथार्थ कथनसे नहीं डरना चाहिये। अनर्थके ठीक-ठीक ज्ञात हो जानेपर उसके मूलकी खोज की जा सकती है और उसके निवारणके लिये यत्नका आश्रय लिया जा सकता है। निष्पक्षताका आश्रय लेनेवाले सभी विचारकोंका यह निश्चय है कि मानवताकी प्राप्तिके मार्गको लेकर आजकलकी जनतामें जो विपरीत ज्ञान बद्धमूल हो गया है, वही इस समय मानवकी दुरवस्थाकी जड़ है। आजकलका मानव-समुदाय 'चाहता कुछ और करता कुछ और है' इसी न्यायका अनुगामी हो रहा है। शाश्वत शान्ति एवं सुखकी खोजमें निरन्तर लगे रहनेपर भी उनके मूलभूत धर्म अथवा ज्ञानकी ओर कोई भी कभी कटाक्षसे भी नहीं देखता। प्रत्युत—

> असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
> अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
> एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
> प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
> (गीता १६। ८-९)

'वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि संसार आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल भोगोंके लिये ही है। इसके अतिरिक्त और क्या है? इस मिथ्या ज्ञानका आश्रय लेकर जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अहित करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही उत्पन्न होते हैं।'

—इस भगवद्वचनको अक्षरशः सार्थक करनेवाले, असत्यवादी, अधर्माचारी, ईश्वरभक्तिसे विमुख, काममात्रकी शरण लेनेवाले, अपने तथा पराये अर्थात् सारे संसारके नाशके लिये ही अणुबम, हाइड्रोजनबम आदिके निर्माण तथा संग्रहरूप क्रूरकर्ममें निरत रहनेवाले, आसुरी सम्पत्तिके आविष्कारसे ही अपनेको कृतार्थ माननेवाले, अपने एवं पराये अर्थात् समस्त प्राणियोंमें व्याप्त परमात्मासे भी द्वेष करनेवाले और सत्पुरुषोंको निर्दयतापूर्वक कष्ट देनेवाले लोग चारों ओर फैले दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कैसे आश्चर्यकी बात है!

जो अधिकतर व्यक्तियोंद्वारा अपनायी गयी है तथा आसुरी सम्पत्तिरूपी फलवाली है, ऐसी इस व्यवहारपद्धतिकी बीभत्सताका भलीभाँति मनमें विचार करना ही इस प्रकारके उन्मार्गके निवारणका प्रथम उपाय है। तदनन्तर उसे दूर करनेके लिये सत्पुरुषोंका सङ्गलाभ करना चाहिये। तत्पश्चात् मानवकी मानवताके मूलभूत धर्म और ज्ञानके मार्गका अनुसरण करनेके लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। परंतु इस समय यह उन लोगोंके लिये ही उपादेय नहीं प्रतीत होता, जो आजकल आत्मसम्भावना तथा धन-मानके मदसे संयुक्त होकर आसुरी सम्पदाको ही बहुत माननेवाले हैं। अतः इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं जो साधारण दो-चार सात्त्विक व्यक्ति हैं, उन्हें पहले व्यक्तिगतरूपसे अपने-अपने कल्याणके लिये अनुष्ठान करना चाहिये। तदनन्तर समयानुसार ऐसे मार्गका अनुसरण करनेवाले बहुत-से पुरुषोंके अनुभवमें आनेवाली तथा दूसरोंको न प्राप्त होनेवाली शान्तिको देखकर दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करेंगे; क्योंकि यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः— 'श्रेष्ठलोग जो-जो आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी उसी-उसीका अनुकरण करते हैं।' ऐसा न्याय है। इस प्रकरणमें धर्म भी केवल दम्भी पुरुषोंद्वारा आचरित तथा मनमानी रीति-नीतिका प्रसारमात्र नहीं है, अपितु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यमोंका, तथा धर्म-मार्गपर अग्रसर होनेवाले सम्प्रदायोंके सभी प्रवर्तकोंद्वारा उपदिष्ट शौच, संतोष, ईश्वरप्रणिधान आदि नियमोंका मनोयोगपूर्वक अनुष्ठान करना ही धर्म है। अपने तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा एक भगवान् ही हैं—ऐसे ज्ञानकी प्राप्तिके लिये जो भगवद्भक्तिमें तल्लीनता है, वही तत्त्वज्ञान-का अवलम्बन है और वही ज्ञान शाश्वत शान्ति तथा सुखका देनेवाला है। श्रुतियोंने इसी बातकी उच्चस्वरसे घोषणा की है—

> एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
> एकं रूपं बहुधा यः करोति।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

'जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा समस्त प्राणियोंके भीतर आत्मारूपसे वर्तमान है और एक ही रूपको अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उसको जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है, औरोंको नहीं।'

> नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
> मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

'जो नित्योंमें नित्य, चेतनोंमें चेतन और अकेला ही बहुतोंको भोग प्रदान करता है, अपने अन्तःकरणमें स्थित उसको जो बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं, उन्हींको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, औरोंको नहीं।'

नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मा ही समस्त प्राणियोंका तथा मेरा भी आत्मा है। वही नाम-रूपकी उपाधिसे अनेक रूप धारण करता है। वही हम सब लोगोंके अभीष्ट पदार्थका दाता है। इस प्रकार शास्त्रों तथा आचार्योंके उपदेशका अनुसरण करके जो लोग प्रत्यक्षरूपसे अनुभव करते हैं, उन्हींको नित्य सुख एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है। यही उपर्युक्त दोनों श्रुतियोंका सम्मिलित तात्पर्य है।

मनुष्य इस प्रकार नित्य शान्ति तथा नित्य सुखका अनुभव करनेके लिये जो सतत प्रयत्नशील रहता है तथा उसके हेतु जो—यह सारा संसार भगवान् ही है और सभी प्राणियोंमें एवं मुझमें भी वही परमात्मा आत्मारूपसे स्थित है—ऐसी अटल श्रद्धाका आश्रय लेकर सबके साथ प्रेमका व्यवहार करते हुए जीवनयात्राका निर्वाह करनेके लिये प्रयास करता है, उसका यह प्रयत्न ही मानवकी मानवता है—यों ज्ञात होता है। इस वास्तविक मानवताकी प्राप्तिके लिये जिस प्रकार हमलोग प्रयत्न कर सकें, उसके लिये सर्वान्तर्यामी भगवान् नारायण अनुग्रह करें। हमलोगोंको ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये।

(प्रेषक—श्री एच्०एस्० लक्ष्मी-नरसिंहमूर्ति शर्मा अध्यात्म-विद्याप्रवीण)

मानवताका वास्तविक स्वरूप और पर्यवसान

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

मानवता या मनुष्यता शास्त्र-प्रामाण्यसे ही प्रारम्भ होकर पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान्‌की प्राप्तिमें ही पर्यवसित होती है। प्रत्यक्ष एवं अनुमानके द्वारा पशु-पक्षीतक व्यवहार करते हैं। भोजनादिमें प्रवृत्ति तथा विष-सर्पादिसे निवृत्ति विना अनुमानके नहीं हो सकती। किसीके अज्ञान, संशय, भ्रान्ति, विप्रतिपत्ति, प्रतिपित्सा आदिका भी परिज्ञान अनुमानके विना नहीं हो सकता; परंतु मनुष्यकी मनुष्यता या उसकी अपनी विशेषता यहींसे आरम्भ होती है कि वह प्रत्यक्षानुमानके अतिरिक्त शास्त्रप्रमाण भी मानता है। तभी वह नीति, धर्म, आत्मा एवं परमात्माकी चिकीर्षा एवं प्रतिपित्साकी ओर अभिमुख होता है। तर्कमात्रके आधारपर तो धर्म आदिके सम्बन्धमें कल्प-कल्पान्तरोंमें भी निर्णय नहीं हो सकता। अतएव अनादि शास्ता परमेश्वरके हितप्रद वचन अनादि वेदादि सद्ग्रन्थ ही शास्त्र हैं। तदनुकूल वृद्धों—आप्तोंके वचन भी शास्त्र हैं। उनके अनुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारकी हलचलरूप धर्मसे मानवता विकसित होती है। मनमानी पाशविक उच्छृङ्खल चेष्टाओंसे तो पशुता या दानवता ही विकसित होती है।

शास्त्रों, वृद्धोंके वचनोंमें विश्वास न रखनेवाला अपने माता, पिता, भ्राता, पुत्री, भगिनी आदिको भी नहीं पहचानता। इसी प्रकार शास्त्रप्रमाण न माननेवाला पशु माता, भगिनी आदिको भी नहीं पहचानता। अतः पशुओंमें न उत्तराधिकारका प्रश्न है न विवाहका। उनके यहाँ अदत्तादान, अगम्यागमन आदिको पाप भी नहीं समझा जाता। यही उनकी पशुता है; परंतु मनुष्य आजके गये-गुजरे जमानेमें भी अगम्यागमनको पाप मानता है, अदत्तादानको चोरी या डाका मानता है। मनुष्यके लिये आज भी माता, भगिनी, पत्नी, पुत्री आदिमें तथा स्वधन-परधनमें भेद मान्य है। तभी गम्यता-अगम्यता, ग्राह्यता-अग्राह्यताका उसके सामने प्रश्न उठता है। शास्त्र-प्रामाण्यको माननेमें जितनी शिथिलता बढ़ती है, उतनी ही मनुष्योंमें भी पशुता या दानवता बढ़ती जाती है। शास्त्रानुसारी धार्मिक नियन्त्रण उच्छृङ्खलतामें बाधक अवश्य है; किंतु वही वास्तविक स्वाधीनताका मूल-मन्त्र है। पाशविक प्रेरणाओंसे मुक्त होना ही तो मानवता है। यद्यपि वर्तमान युग शास्त्र-सम्मानका विरोधी है, तथापि प्राणिहितका बीज तो शास्त्र-सम्मानमें ही निहित है।

शास्त्र-प्रामाण्यवाद ही वास्तविक बुद्धिवाद है। कहा जाता है कि बुद्धि एवं शास्त्रका विरोध होनेपर बुद्धिका ही सम्मान करना चाहिये, शास्त्रका नहीं; क्योंकि बुद्धिसे ही शास्त्रका निर्माण होता है। शास्त्रतात्पर्य भी बुद्धिसे ही विदित होता है। अतः बुद्धिविरुद्ध शास्त्र नहीं मानना चाहिये। परंतु शास्त्र तो प्रमाण होनेसे बुद्धिका जनक है। जैसे रूपबुद्धि चक्षुके परतन्त्र होती है, शब्द-बुद्धि श्रोत्रके परतन्त्र होती है, गन्ध-बुद्धि घ्राणके परतन्त्र होती है, उसी तरह शास्त्रार्थबुद्धि शास्त्र-परतन्त्र होनी ही चाहिये। जैसे गन्ध-बुद्धिसे घ्राणका विरोध नहीं हो सकता, वैसे ही शास्त्रार्थबुद्धिका भी शास्त्रसे विरोध नहीं हो सकता। केवल बुद्धि (अन्तःकरण) तो रूपादि-बुद्धिमें स्वतन्त्र नहीं, प्रत्युत प्रमाण-परतन्त्र ही होती है। जब व्यवहारमें कोई मनुष्य अपनी स्वतन्त्र-बुद्धिसे चिकित्सा नहीं कर सकता, उसके लिये उसे चिकित्सा-शास्त्रका अध्ययन करना पड़ता है, तब धार्मिकनियम-पालन एवं धर्माचरणमें धर्मशास्त्रके बिना कोई कैसे समर्थ हो सकता है।

भ्रम तथा प्रमाके भेदसे बुद्धि दो प्रकारकी होती है। प्रमाबुद्धि आदरणीय होती है और भ्रमबुद्धि त्याज्य। परंतु भ्रम क्या है और प्रमा क्या है, इसकी कसौटी प्रत्यक्षादि प्रमाण ही हैं। संसारमें बुद्धि सबके पास है, तथापि सबकी बुद्धिका अनुसरण नहीं किया जा सकता। इसीलिये राजसी, तामसी बुद्धियाँ असम्यग्बुद्धि होती हैं; सात्त्विकी बुद्धि ही सम्यग्बुद्धि होती है। बुद्धिके सम्यक्त्व-असम्यक्त्वका निर्णय करनेके लिये ही प्रमाणका अनुसरण करना पड़ता है। लौकिक पदार्थोंका निर्णय प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके आधारपर होता है। पर धर्म-ब्रह्म आदिका निर्णय शास्त्रके आधारपर ही होता है। अतएव अहिंसा, सत्य, दया, क्षमा, परोपकार आदि उत्तमोत्तम गुणोंका पूर्ण निर्णय शास्त्रके ही आधारपर होता है। उक्त गुणोंका विकास ही मानवताका पोषक है।

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारसे व्यतिरिक्त निर्दृश्य क्षेत्रज्ञ द्रष्टाका ज्ञान मानवताका प्रारम्भिक कार्य है। देहादि-भिन्न क्षेत्रज्ञको जाननेवाला प्राणी ही धर्म-ब्रह्मकी ओर प्रवृत्त हो सकता है। देहात्मवादी भौतिक विश्वसे आगे कुछ सोच ही नहीं सकता। आत्मवादी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दया, क्षमा,

परोपकार आदि सामान्य धर्म तथा वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त आदि विशिष्ट धर्मोंका आचरण करता हुआ सर्वाधिष्ठान सर्वेश्वरकी आराधना करता है। उसीसे विशुद्धस्वान्त होकर उपासनाके द्वारा वह तत्त्वदर्शनक्षम होता है। वेदान्त-श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनके द्वारा सर्वान्तरात्मा सर्वाधिष्ठान सर्वेश्वर तत्त्वका वह अपरोक्ष अनुभव करता है। तभी मानवता पूर्णरूपसे विकसित—अभिव्यक्त होती है।

अध्यात्मवादी 'अमृतस्य पुत्राः' के अनुसार प्राणिमात्रको परमेश्वरकी संतान समझकर सबके साथ सहज समानता, सहज स्वतन्त्रता एवं अकृत्रिम भ्रातृताका अनुभव करता हुआ विश्वके हितमें ही आत्महित समझता है। समष्टिहितके अविरोधेन स्वात्मोन्नति करता हुआ वह मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयत्नशील होता है। वस्तुदृष्ट्या सब कुछ अनन्त, अखण्ड विशुद्ध चिदानन्दघन परमात्मस्वरूप ही है—ऐसा अनुभव करके वह स्वयं तो कृतकृत्य होता ही है, यावज्जीवन व्यावहारिक जीवनमें वह अन्य प्राणियोंको भी कृतार्थ करनेका प्रयत्न करता रहता है। यही मानवताकी चरम अभिव्यक्ति है।

संक्षेपमें शास्त्रानुसार सदाचाराचरण करनेवाला ही नर है। केवल बुद्धिके अनुसार मनमाना आचरण करनेवाला तो वानर ही है—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

धर्माचरण ही मानवताकी विशेषता है, अन्य सब आचरण तो पशु भी करता है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अतः धर्माचरणपूर्वक भगवत्प्राप्तिमें ही मानवताकी सफलता है। पहले प्रजापतिने वृक्ष, सरीसृप, पशु, पक्षी, मशक, मत्स्य आदिकी सृष्टि की। पर इनसे उन्हें संतोष नहीं हुआ; क्योंकि उनमें धर्माचरण तथा परमेश्वरको पहचाननेकी मति-शक्ति नहीं थी। अन्तमें उन्होंने मनुष्यकी रचना की और इसे ईश्वरको जानने, समझने तथा साक्षात्कारमें सक्षम देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनेको सृष्टिनिर्माणमें सफल—कृतार्थ माना—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
(श्रीमद्भागवत ११। ९। २८)

अतः सुस्पष्ट है कि भगवत्साक्षात्कारके तथा तदर्थ प्रयत्नके बिना मानवता निरर्थक ही है, वह तो एक प्रकारसे पशुता ही है; और भगवान्‌का ज्ञान, उनकी प्राप्ति शास्त्रानुसरणके बिना कथमपि सम्भव नहीं। अतः शास्त्रोक्त सदाचारकी ओर प्रवृत्त होना ही मानवताकी ओर प्रवृत्त होना है।

पशु तो न बनो

सुर न बनो तो पशु तो न बनो॥
मुक्ति न प्राप्त करो तो मानवतासे गिरकर पशु तो न बनो।
उत्तम जन हैं वे, जो परहित जीवन होम दिया करते हैं॥
मध्यम परका अहित न करके अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।
अधम स्वार्थके लिये न परका जीवन भी लेते डरते हैं॥
किंतु अकारण अहित पराया जो नरतनधारी करते हैं।
उनको किस श्रेणीमें रक्खें, यह न समझ ज्ञानी पाते हैं॥
उत्तम बनो, नहीं तो मध्यम या फिर चाहे अधम ही बनो।
पशु भी बनो, किंतु तुम पशुसे बदतर मानव-पशु तो न बनो॥

—मधुसूदन वाजपेयी

लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

ध्यान-स्तवन

(१)

गोपाल गोकुल वल्लवी प्रिय गोप गोसुत वल्लभं ।
चरनारविंदमहं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभं ॥
घनस्याम काम अनेक छवि लोकाभिराम मनोहरं ।
किंजल्क वसन, किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं ॥
सिर केकि पिच्छ विलोल कुंडल अरुन वनरुह लोचनं ।
गुंजावतंस विचित्र सब अँग धातु भवभय मोचनं ॥
कच कुटिल सुंदर तिलक भ्रू राका मयंक समाननं ।
अपहरन तुलसीदास त्रास विहार वृन्दाकाननं ॥

—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

(२)

मोहन वदन विलोकत अलिगन उपजत है अनुराग ।
तरनि तप्त तलफत चकोर ससि पिवत पियूष पराग ॥
लोचन नलिन नए राजत रति पूरे मधुकर भाग ।
मानौ अलि आनंद मिले मकरंद पिवत रस फाग ॥
भमरी भाग भ्रकुटिपर चंदन वंदन विंदु विभाग ।
ता तकि सोम सँक्यो घन घनमें निरखत ज्यौं वैराग ॥
कुंचित केस मयूर चंद्रिका मंडित कुसुम सु भाग ।
मानौ मदन धनुष सर लीने बरखत है वन बाग ॥
अधर विंब तैं अरुन मनोहर मोहन मुरली राग ।
मानौ सुधा पयोध घोर वर ब्रज पर बरषन लाग ॥
कुंडल मकर कपोलन झलकत श्रम सीकर के दाग ।
मानौ मीन कमल वर लोचन सोभित सरद तड़ाग ॥
नासा तिल प्रसून पदवी तर चिवुक चारु चित खाग ।
डारयौ दसन मंद मुसिकावनि मोहत सुर नर नाग ॥
श्रीगुपाल रसरूप भरे ये सूर सनेह सुहाग ।
मानौ सोभा सिंधु बढ्यौ अति इन अँखियन के भाग ॥

—श्रीसूरदासजी

(३)

श्रीवृंदावन चंद सुभग धारा धर सुंदर ।
दनुज धंस बन दहन वीर जदुवंस पुरंदर ॥
अति विलसति बनमाल, चारु सरसीरुह लोचन ।
बल विदलित गजराज, विहित वसुदेव विमोचन ॥
सेनापति कमला हृदय कालिय फन भूषन चरन ।
करुनालय सेवौ सदा गोवरधन गिरिवर धरन ॥

—महाकवि सेनापति

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें मानवताका सर्वाङ्गीण प्रकाश

मानवताका आदर्श

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् ।
अक्लेशयित्वा चात्मानं यत्स्वल्पमपि तद्बहु ॥

'दूसरेको संताप दिये विना—किसीको भी पीड़ा दिये विना, खललोगोंसे याचना किये विना तथा अपने-आपको अधिक क्लेश दिये विना यदि थोड़ा भी मिले तो उसे बहुत मानना चाहिये।' उसीमें संतोष करना चाहिये ।

भोग-साधनोंकी विपुलतासे सुख नहीं मिलता, वल्कि दुःख ही बढ़ता है । प्रारब्धसे अधिक किसीको नहीं मिलता और तृष्णा कभी भोगोंसे शान्त नहीं होती ।

इस प्रकार यथाप्राप्तमें संतुष्ट रहनेवाला मानव ही मानव रह सकता है, अन्यथा वह दानव या पशु बन जाता है।

उपदेश

एक बार एक सज्जन आकर बोले—'आपके पास आनेकी इच्छा तो अनेकों बार होती है, परंतु आपका उपदेश हमलोगोंके किस कामका । इस कारण प्रमादवश नहीं आता ।'

उस समय तो उनको कुछ उत्तर नहीं दिया; परंतु उनके जानेके बाद जो विचार आया, उसे ज्यों-का-त्यों नीचे दे रहा हूँ—

(१) मेरे पास जो आता है, उसको मैं त्यागका या संन्यास लेनेका अथवा वेदान्तके अद्वैत ज्ञानका उपदेश नहीं देता; क्योंकि उसके लिये तो बहुत उत्तम अधिकार चाहिये। विना अधिकारका उपदेश तो हानिकारक ही होता है ।

इस सम्बन्धमें श्रीसुरेश्वराचार्य कहते हैं—

नाविरक्ताय संसारान्नानिरस्तैषणाय च ।
न चाप्ययतये देयं वेदान्तार्थप्रवेशनम् ॥

'जो संसारसे विरक्त न हुआ हो—जिसको संसारमें तनिक भी सुख दीखता हो, उसे वेदान्तका उपदेश न दे । जिसने तीनों एषणाओंका त्याग न किया हो—जो सब प्रकारसे निःस्पृह न बना हो, उसको भी अद्वैत ज्ञानका उपदेश न दे; तथा जिसने मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें न कर लिया हो, उसको भी वेदान्तके तात्पर्यका उपदेश न दे ।'

(२) मनुष्य हो, इसलिये मनुष्य रहो—यह हम अवश्य कहते हैं और इसके लिये (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय—दूसरेकी वस्तु न लेना या किसी प्रकारकी चोरी न करना, (४) शरीर और मनको पवित्र रखना—शरीरको स्नान-आदिसे और मनको जप, तप, ध्यान आदिसे और (५) अपरिग्रह—आवश्यकतासे अधिक संग्रह न करना—इन पाँच साधनोंके ऊपर ध्यान देना चाहिये ।

(३) प्रकृतिका स्वभाव अधोगामी है अर्थात् मनुष्यत्वसे पशुत्वकी ओर ढुलक जाना । जिनके अवलम्बनसे मनुष्य अपने स्थानके ऊपर अडिग खड़ा रह सकता है, वैसे सदाचारके नियमोंको धर्म नामसे पुकारते हैं । इसका स्वल्प दिग्दर्शन ऊपर दिया गया है ।

(४) आज जो सुख-सुविधा आदि प्राप्त होती है, वह पूर्वजन्ममें किये हुए सत्कर्मके फलरूपमें ही मिलती है—यह निश्चय करके यथाशक्ति सत्कर्म ही करता रहे, जिससे उत्तरोत्तर अधिक सुख और सुविधा प्राप्त होती जाय ।

आज जो दुःख दीखता है या भोगना पड़ता है, वह पूर्वजन्मके किये हुए अशुभ कर्मोंके फल रूपमें ही प्राप्त हुआ है—ऐसा निश्चय करके पापसे दूर ही रहे, जिससे भावी जन्ममें दुःखका सामना न करना पड़े ।

(५) जीवनको सादा, सरल और त्यागप्रधान बनाना आवश्यक है । विलासी जीवनसे तन और मन दोनों खराब होते हैं ।

(६) अधिक न हो सके तो आयका दसवाँ भाग तो अवश्य ही सत्कार्यमें लगाना चाहिये; क्योंकि विना बोये फल नहीं मिलता ।

(७) जिस ईश्वरने हमको जन्म दिया है, सुन्दर शरीर दिया है, कार्यक्षम मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ दी हैं तथा शरीर-निर्वाहके लिये ऐसी मनोहर सृष्टि रची है, उसके स्मरण-चिन्तनमें चौबीस घंटोंमें एकाध घंटा भी न लगे तो हम कृतघ्न ही कहलायेंगे ।

(८) हम न्याय, नीति और सदाचारके नियमसे चलेंगे, तो भी शरीरके भोग तो प्रारब्धानुसार मिलते ही रहेंगे और परलोक सुधरेगा, यह विशेष लाभ मिलेगा । और यदि हम अधिक

प्राप्तिके लोभसे न्याय, नीति और सदाचारका मार्ग छोड़ देंगे, तो भी प्रारब्धसे अधिक तो हमें मिलनेका नहीं; हानि यह होगी कि परलोक बिगड़ेगा।

(९) 'परलोक सुधरेगा' का अर्थ इतना ही है कि आगामी जन्ममें इस जन्मकी अपेक्षा अधिक सुख-सुविधा प्राप्त होगी और उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते स्वर्ग-सुखतक पहुँचा देगी। (निष्काम भाव आया तो मोक्ष भी मिल जायगा।) 'परलोक बिगड़ेगा' का अर्थ यही है कि इस जन्ममें जो दुःख, दारिद्रय या कठिनाइयाँ हैं, उनमें वृद्धि होती रहेगी और अन्तमें नरककी यातना भोगनेका समय आ जायगा।

(१०) चौरासी लाख योनियोंमें एक मानव-शरीर ही ऐसा है कि जिसमें नवीन कर्म करके यथेच्छ लाभ प्राप्त किया जा सकता है। तुम्हारी इच्छा हो तो शुभ कर्म करके स्वर्गमें जा सकते हो; तुम्हारी इच्छा हो तो पाप-कर्म करके नरकमें भी जा सकते हो और ईश्वर सद्बुद्धि दे तो ज्ञान प्राप्त करके मुक्तिलाभ भी कर सकते हो।

मनुष्य-जन्म मिलता है भावी जीवनको सुधारनेके लिये, भावी जीवनका निर्माण करनेके लिये, भावी जन्मके संबल जुटानेके लिये। भोग भोगनेके लिये तो तिरासी लाख निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे शरीर हैं ही, जिनमें प्रारब्धके भोगके सिवा और कुछ करना नहीं रहता। मनुष्य-जीवनमें भी यदि इतना ही करें तो फिर मानव और इतर प्राणीमें कोई भेद ही नहीं रह जाता।

> खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
> तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां च तादृशी॥

'कुत्ते, सूअर और गधे-जैसे प्राणी भी नित्य खाते-पीते और खेलते हैं। मनुष्य यदि इन्हीं वृत्तियोंमें जीवन बिता दे तो फिर मनुष्य और इतर प्राणियोंमें क्या अन्तर रहा।'

(११) जन्म-मरणके चक्रमें परवश होकर कैसे घूमना पड़ता है, इस बातको भगवान्ने बहुत सरल रीतिसे भागवत-में समझाया है—

> य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्।
> क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैः जुषन्तः संसरन्ति ते॥
> (११। २१। १)

'जो मनुष्य मेरे बतलाये हुए भक्ति, ज्ञान या कर्ममार्गमें-से एकका भी अनुसरण नहीं करते और 'जीवन क्षणभङ्गुर है'—यह जानते हुए भी क्षुद्र विषयोंका ही सेवन करते हैं, वे जन्म-मरणके चक्रमें परवश होकर घूमा करते हैं।'

प्रारम्भमें बतलाया गया है कि इस प्रकारके ज्ञानके अधिकारी बहुत ही कम हैं, परंतु कर्म और उपासनाका अधिकार तो मनुष्यमात्रको होता है। इतना भी जो न कर सके, वह कृतघ्न है और इस कारण उसकी गिनती शास्त्रोंमें पशुओंमें करनेके लिये कहा है।

> यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः।
> न करोति हरेर्भक्तिं स नरो गोवृषः स्मृतः॥

'जो मनुष्य जन्मभर शरीरके पालन-पोषणमें ही रत रहता है और ईश्वरकी भक्ति नहीं करता, उसको तो दो पैरवाला बैल ही जानना चाहिये।' यथेच्छसि तथा कुरु।

> उत्तम लइ अवतार न भज्यो जे भगवान ने।
> हारी गयो गँवार, जीती बाजी जार माँ॥
> भावे न भजे राम, मानव तन मळवा छतां।
> ते ज मूर्खनो जाम, जन्मे मरवा कारणे॥

'देव-दुर्लभ यह मानव-देह मिला है, तथापि जो मनुष्य भगवान्का भजन नहीं करता, उसको गवाँर ही समझना चाहिये; क्योंकि वह अपनी ही मूर्खतासे जीती बाजी हार जाता है।

'ऐसा उत्तम मनुष्य-शरीर मिलनेपर भी जो मनुष्य प्रभु-का भजन भावसे नहीं करता, उसको तो मूर्खोंका सरदार ही समझना चाहिये और उसका जन्म व्यर्थ है—वह केवल मरनेके लिये ही पैदा हुआ है। पशु-पक्षियोंके समान उसका जन्म मरनेके लिये ही है—ऐसा जानना चाहिये।'

इसलिये चेतावनी देते हुए सुभाषित कहता है—

> प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
> किंतु मे पशुभिस्तुल्यं किंतु सत्पुरुषैरिव॥

'यदि मानवतासे पशुतामें न जाना हो—मानव-पशु न बनना हो, तो मनुष्य प्रतिदिन अपने जीवनको देखता रहे और ध्यान रखता रहे—सतत सावधान रहे कि उसका जीवन सत्पुरुषके समान बीतता है या पशुके समान।'

'विचार-सागर' में मानवकर्तव्यको समझाते हुए निश्चल-दासजी कहते हैं—यदि निर्गुण उपासना न बन सके तो सगुण उपासना करे तथा सगुण उपासनाकी इच्छा करनेवाला मनुष्य ईश्वरमें मनको स्थिर करे। यदि सगुण उपासना भी

न बन पड़े तो फलकी कामना छोड़कर अपने वर्णाश्रमके योग्य नित्य तथा नैमित्तिक कर्म करे और उसे ईश्वरको अर्पण कर दे तथा साथ ही राम-नाम आदिका कीर्तन करके ईश्वरको भजे। यदि निष्काम कर्म भी न बने तो सकाम शुभकर्म करे; और सकाम शुभकर्म भी न हो सके तो हे क्षुद्र मानव! पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदिके समान बारंबार जन्मा कर और मरा कर। *

श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

येषां चित्ते नैव विवेकस्ते पच्यन्ते नरकमनेकम्।

'जिस मनुष्यके चित्तमें विवेकका उदय नहीं होता, वह अनेकों नरकोंमें पचता रहता है।'

अध्यात्मरामायणमें एक प्रसङ्ग है, जहाँ शुक दैत्य रावणसे कहता है—

देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम्।
को विद्वानात्मसात्कृत्वा देहं भोगानुगो भवेत्॥

'विवेक-बुद्धिके कारण ही जिसकी महत्ता है, ऐसा मानव-देह मिलना दुर्लभ है। उसमें द्विजत्वकी प्राप्ति तो और भी दुर्लभ है तथा उसमें भी कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म पाना सर्वापेक्षा अधिक दुर्लभ है। ऐसा देवदुर्लभ मानव-देह और वह भी भारतवर्षमें पाकर ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो देहको ही अपना स्वरूप मानकर उसे पालने-पोसनेके लिये विषय-सेवनमें ही उसका उपयोग करता हो।'

यहाँ याद रखना आवश्यक है कि केवल भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। अन्य देश केवल भोगभूमियाँ हैं; क्योंकि वहाँके मनुष्योंमें परलोक, पुनर्जन्म या मोक्षकी समझ नहीं होती और न वहाँ कोई स्थायी समाज-व्यवस्था या पुरुषार्थकी योजना होती है। वहाँ तो केवल 'खादते मोदते नित्यम्'—नित्य खाते-पीते और आनन्द मनाते हैं।

सामर्थ्य, अमरत्व और अनन्त रस ही मानवकी माँग है

(एक महात्माका प्रसाद)

मानवता मानवमात्रमें बीजरूपसे विद्यमान है। उसके विकसित करनेकी स्वाधीनता अनन्तके मङ्गलमय विधानसे सभीको प्राप्त है। मानवता किसी परिस्थिति-विशेषकी ही वस्तु नहीं है। उसकी उपलब्धि सभी परिस्थितियोंमें हो सकती है। उसकी माँग अपने लिये, जगत्के लिये एवं अनन्तके लिये अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि मानवतामें ही पूर्णता निहित है।

विवेक-विरोधी कर्मका त्याग अर्थात् कर्तव्य-परायणता, विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग अर्थात् असङ्गता और विवेक-विरोधी विश्वासका त्याग अर्थात् उसमें अविचल श्रद्धा, जो इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञानका विषय नहीं है—यही मानवताका चित्र है। कर्तव्य-परायणता आ जानेसे मानव-जीवन जगत्के लिये, असङ्गता प्राप्त होनेसे जीवन अपने लिये और अविचल श्रद्धापूर्वक आत्मीयता स्वीकार करनेसे जीवन अनन्तके लिये उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद है कि मानवता सभीकी माँग है।

विवेक-विरोधी कर्म अपना जाना हुआ असत् है। जाने हुए असत्का त्याग न करना अकर्तव्यको जन्म देना है। अकर्तव्यकी उत्पत्तिमें ही कर्तव्यपरायणताकी विस्मृति निहित है। विस्मृति जाने हुएकी होती है; उसकी नहीं होती, जिसे नहीं जानते। अनन्त कालकी विस्मृति वर्तमानमें मिट सकती है। विस्मृति वास्तविकताकी माँगको दबाती है, मिटाती नहीं। दबी हुई माँग संदेहकी वेदना उत्पन्न करती है। संदेहकी वेदना जिज्ञासा-जाग्रतिमें हेतु है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असत्के सङ्गसे उत्पन्न हुई कामनाएँ स्वतः जलती जाती हैं। जिस

* जो यह निर्गुन ध्यान न है तौ. सगुन ईश करि मनको धाम। सगुन उपासनहू नहिं है तौ, करि निष्काम कर्म भजि राम॥
जो निष्काम कर्महू नहि है, तौ करिये शुभ कर्म सकाम। जो सकाम कर्मंहु नहि होवै, तौ सठ बार बार मरि जाम॥
(विचार-सागर ५। १६९)

कालमें सभी कामनाएँ जल जाती हैं, उसी कालमें जिज्ञासाकी पूर्ति अर्थात् निस्संदेहताकी उपलब्धि होती है। निस्संदेहताके आते ही अकर्तव्यका नाश और कर्तव्यपरायणताकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जिसके होते ही जीवन जगत्के लिये उपयोगी सिद्ध होता है।

कर्तृत्वका अभिमान अकर्तव्यमें ही है, कर्तव्यपरायणतामें नहीं। अकर्तव्यका जन्म अहं-भावसे होता है, कर्तव्यपरायणता अनन्तके मङ्गलमय विधानमें निहित है। जिसका जन्म अहं-भावसे होता है, उसके फलमें आसक्ति स्वाभाविक है। इस दृष्टिसे अकर्तव्य ही फलासक्तिमें हेतु है। फलासक्ति ही प्राणीको देहाभिमानमें आबद्ध करती है, जो समस्त अनर्थोंका मूल है। फलासक्ति कर्तव्यपरायणतामें विघ्न है। जिसकी व्यक्तिगत कुछ भी माँग है, वह सर्वांशमें कर्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकता। कर्तव्यनिष्ठ होनेके लिये व्यक्तिगत माँगको नष्ट करना अनिवार्य है; क्योंकि किसीकी माँग किसीके कर्तव्यमें निहित है। अपनी माँग किसी औरके कर्तव्यमें और दूसरोंकी माँग अपने कर्तव्यमें ओतप्रोत है। मानवता कर्तव्यपरायणताकी प्रतीक है, माँगकी नहीं।

कर्तव्यके साथ-साथ अकर्तव्य जबतक रहता है, तबतक प्राणी गुणोंके अभिमानमें आबद्ध रहता है। गुणोंका अभिमान समस्त दोषोंका मूल है। इस कारण अकर्तव्यसे रहित कर्तव्य ही वास्तविक कर्तव्य है। अकर्तव्यका नाश जाने हुए असत्के त्यागमें ही निहित है। अकर्तव्यका नाश होते ही व्यक्ति और समाजमें, शरीर और विश्वमें एकता आ जाती है। इस दृष्टिसे कर्तव्यपरायणता जगत्के लिये उपयोगी सिद्ध होती है। कर्तव्यपरायणता भौतिक दृष्टिसे सुन्दर समाजके निर्माणमें, अध्यात्मदृष्टिसे राग-रहित करनेमें और आस्तिक दृष्टिसे अनन्तकी पूजामें हेतु है। विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग किये बिना असङ्गता सिद्ध नहीं होती और उसके हुए बिना निर्वासता नहीं आती। वासनाओंके नाशमें ही स्वाधीनताकी अभिव्यक्ति निहित है। स्वाधीनता मानवमात्रकी स्वाभाविक माँग है। स्वाधीनता किसी अन्यके द्वारा प्राप्त नहीं होती। जिसकी उपलब्धि किसी अन्यके द्वारा होती है, उसमें स्वाधीनताकी गन्ध भी नहीं है। स्वाधीनता अभिमान तथा दीनताको खा लेती है। इतना ही नहीं, स्वाधीनता हमें दिव्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न करती है। यद्यपि विवेक-विरोधी सम्बन्ध अपना जाना हुआ असत् है, फिर भी प्राणी निज विवेकका अनादर करके अपने जाने हुए असत्का त्याग नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि स्वाधीनताकी माँग शिथिल हो जाती है और वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थितिका आश्रय लेकर प्राणी पराधीनतामें ही जीवन-बुद्धि स्वीकारकर दीनता और अभिमानमें आबद्ध हो जाता है। दीनता और अभिमानमें आबद्ध प्राणी अपने सुख-दुःखका कारण दूसरोंको मानता है। यह नियम है कि अपने सुख-दुःखका कारण दूसरोंको मानना जीवनमें राग तथा द्वेषको जन्म देना है। राग जडताको और द्वेष भेदको पोषित करता है। जडता चेतनासे और भेद प्रेमसे प्राणीको विमुख करता है। विमुखता देश-कालकी दूरी उत्पन्न नहीं करती, अपितु वास्तविकताको आच्छादित करती है। दीर्घ-कालकी विमुखता वर्तमानमें मिट सकती है। विमुखताका अन्त करनेके लिये निज विवेकके प्रकाशमें विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग अनिवार्य है। जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं है, उसकी ममता विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। ममता उसीसे होती है, जिससे भिन्नता है। इस दृष्टिसे ममताके त्यागमें ही विवेक-विरोधी सम्बन्धका त्याग निहित है। मिली हुई वस्तुओंकी ममता ही अप्राप्त वस्तुओंकी कामनाओंको जन्म देती है। यदि प्राप्त वस्तुओंमें ममता न रहे तो अप्राप्त वस्तुओंकी कामना अपने-आप मिट जाती है। प्राप्त वस्तुओंकी ममता और अप्राप्त वस्तुओंकी कामना नष्ट होते ही असङ्गता अपने-आप आ जाती है, जिसके आते ही जीवन अपने लिये उपयोगी सिद्ध होता है। असङ्गता प्राप्त करनेमें मानव-मात्र सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

विश्वास उसीका सार्थक सिद्ध होता है, जिसके सम्बन्धमें प्राणी कुछ नहीं जानते। अर्थात् विश्वास उसीमें करना है, जो इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञानसे सिद्ध नहीं है। यद्यपि बुद्धि-ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञानकी अपेक्षा भले ही विशेष ज्ञान है फिर भी वह ज्ञान जो बुद्धि-ज्ञानका प्रकाशक है, उसकी अपेक्षा तो बुद्धि-ज्ञान भी अल्प ही है। अल्प-ज्ञान संदेहको जन्म देकर जिज्ञासा-जागृतिमें हेतु बनता है, विश्वासमें नहीं। इस दृष्टिसे अधूरे ज्ञानके आधारपर विश्वास करना विवेकविरोधी विश्वास है। विश्वास उसीमें करना है, जिसके सम्बन्धमें हमने सुना तो है पर हम जानते कुछ नहीं। सुने हुएको स्वीकार करना विश्वास है, ज्ञान नहीं। विश्वास कहते ही उसको हैं; जिसको जाननेसे पूर्व मान लिया जाय।

अल्प-ज्ञानके आधारपर किया हुआ विश्वास विकल्प-रहित विश्वास नहीं है। विकल्पयुक्त विश्वास असाधन है, विवेक-विरोधी है, उसका जीवनमें कोई स्थान नहीं है। विश्वाससे सम्बन्धकी अभिव्यक्ति होती है। सम्बन्ध अखण्ड स्मृतिको और स्मृति प्रीतिको पुष्ट करती है। प्रीति दूरी तथा भेदको खा लेती है। इस दृष्टिसे विकल्परहित विश्वास ही वास्तविक विश्वास है। अतः विकल्पयुक्त विश्वासका अन्त करके सरल विश्वासपूर्वक अपने विश्वास-पात्रमें आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है। आत्मीयता प्रियताकी जननी है। प्रियता प्रियतमको रस देनेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे मानवता अनन्तके लिये उपयोगी सिद्ध होती है।

यह सभीको मान्य होगा कि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। इस कारण विद्यमान मानवताको विकसित करनेके लिये विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वासका त्याग करना अनिवार्य है। उसे विना किये अमानवताका अन्त न होगा। अमानवको पशु कहना पशुकी निन्दा है; क्योंकि अमानवता पशुतासे भी बहुत नीची है और मानवको देवता कहना मानवकी निन्दा है; क्योंकि मानवतायुक्त मानव देवतासे बहुत ऊँचा है। अथवा यों कहो कि मानवता देवत्वसे ऊँची है और अमानवता पशुतासे बहुत नीची। इस दृष्टिसे अमानवताका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। अमानवताके नाशमें ही मानवता निहित है।

निज विवेकके आदरमें ही अमानवताका अन्त है। अतः विद्यमान मानवताको विकसित करनेमें प्रत्येक वर्ग, समाज और देशका व्यक्ति सर्वदा स्वाधीन है। मानवता किसी मत, सम्प्रदाय तथा वादविशेषकी ही वस्तु नहीं है, अपितु सभीको सफलता प्रदान करनेवाली अनुपम विभूति है। कर्तव्य-परायणता, असङ्गता एवं आत्मीयता मानवताके बाह्य चित्र हैं और योग, बोध तथा प्रेम मानवताका अन्तरङ्ग स्वरूप हैं। योगमें सामर्थ्य, बोधमें अमरत्व और प्रेममें अनन्त रस निहित है। सामर्थ्य, अमरत्व और अनन्त रसकी माँग ही मानवकी माँग है। इस दृष्टिसे मानवतामें ही पूर्णता निहित है।

श्रीश्रीआनन्दमयी माँकी अमर वाणी*

१. हे अतिमानव! महामानव! अनुकूल क्रियासे अपना आवरण आप ही हटाकर प्रकट हो। नित्य स्वयं-प्रकाश तो तू है ही।

× × × × ×

२. जिसको अपने मनका होश हो, वह मनुष्य है। मनका होश माने भगवत्-प्राप्तिके लिये यात्राका प्रारम्भ। भगवान्‌को पाना माने अपनेको पाना और अपनेको पाना माने भगवान्‌को पाना।

× × × × ×

३. धर्म, नीति और समाजका अनुशासन मानकर चलनेपर ही मनुष्य मनुष्यत्वको प्राप्त करता है। सबसे पहले मनुष्य होनेकी चेष्टा करो।

× × × × ×

४. मानव ईश्वरका प्रतिरूप है। अपनेको या भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करना ही मानवका कर्तव्य और परम पुरुषार्थ है।

× × × × ×

५. मनुष्यत्व प्राप्त करनेके बाद जब पारमार्थिक भाव मनुष्यके मनमें आने लगते हैं, तब वह मोहकी सीमा पार कर अतिमानव हो जाता है। मनुष्य अभावपूर्ण करनेकी चेष्टा करता है और अतिमानव स्वभावमें प्रतिष्ठित होता है।

× × × × ×

---

* यह वाणी पत्रादिके उत्तरमें या प्रश्नोत्तरके रूपमें श्रीश्रीमाँके श्रीमुखसे समय-समयपर निकली है।

यथार्थ मानव

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी अनन्त श्रीहरिबाबाजी महाराज)

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

(१)

एक कोई पुरुष अपने घरमें सोया हुआ था । अकस्मात् उसकी आँखें खुलीं तो देखता है कि सारे घरमें दिव्य प्रकाश छा रहा है । वह चकित और भयभीत-सा हो कर देखता है कि उस प्रकाशमें कोई व्यक्ति है । वह साहस करके पास गया तो देखा कि वे परम प्रसन्न और आनन्दमय पुरुष हैं, जिनके पास एक बही खाता-सा है, जिसमें वे कुछ लिख रहे हैं । प्रेमपूर्वक श्रीचरणोंमें दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़ पूछा, 'महातेजस्वी कृपालु ! आप कौन हैं और कैसे इस दासपर कृपा करके पधारे हैं तथा क्या कर रहे हैं ?'

महापुरुष बोले—"भैया ! मैं विश्वपति श्रीहरिका एक तुच्छ दास हूँ, मेरा नाम नारद है, मैं श्रीहरिके धामसे आया हूँ । उन्होंने कृपापूर्वक मुझे आज्ञा दी है कि 'तुम मेरे विश्वमें जाकर मेरे प्यारे भक्तोंके नाम और गुण लिखकर लाओ, जिससे मैं देखूँगा कि उन सबमें मेरा सबसे बढ़कर प्यारा कौन है ।' अतः मैं वही काम कर रहा हूँ ।" यह सुन वह पुरुष बोला कि 'महाराज ! मैं तो उन श्रीभगवान्का भजन-पूजन कुछ भी नहीं जानता और न मुझे उनका कुछ परिचय ही प्राप्त है । इतना ही जानता हूँ कि सब जीव उनके ही हैं और उनकी प्यारी संतानें हैं । इसलिये जबसे मैंने होश सँभाला है, मैं सब प्रकार हर्षपूर्वक उनकी सेवा करता रहता हूँ । रोगी हो, दुखी हो, विपत्तिमें पड़ा हो, अपने सुख-स्वार्थको भूल प्राणपणसे उनकी सेवा करता रहता हूँ, और कोई भी किसी कामको कहे, अपना काम छोड़, पहले उसका काम करनेमें मुझे बड़ा सुख होता है । किसीका भी किसी प्रकारका भी दुःख मुझसे सहा नहीं जाता । उसे दूर करनेकी मैं भरसक चेष्टा करता हूँ । मैं रास्तोंमें पेड़ लगाता और उनको सींचता रहता हूँ, जिससे राहगीरोंको सुख मिले । वनमें पशुओंके पीनेके लिये अपने हाथों तालाब आदि खोदता हूँ । जिस प्रकार भी बन सके, सभी जीवोंको सुखी करनेमें ही मुझे सुख होता है । इसलिये यदि आपके मनमें आये तो श्रीभगवान्के जीवोंके सेवकमें मेरा भी नाम लिख लीजिये ।' श्रीनारदजी बोले—'अच्छा भैया ! मैंने लिख लिया ।'

बहुत समयके बाद एक बार फिर उस पुरुषकी रातको सोतेमें आँखें खुलीं और उसने उसी प्रकार दिव्य प्रकाशमें श्रीनारदजीके फिर दर्शन किये । वह आनन्दसे दौड़कर पास गया । दण्डवत्-प्रणाम करके पूछा कि 'अब आप कैसे पधारे हैं ?' श्रीनारदजी बड़ी प्रसन्नतापूर्वक बोले—'भैया ! मैंने जब जाकर अपना खाता श्रीभगवान्के सामने पेश किया, उन्होंने सारा-का-सारा पढ़ा फिर बड़े हर्षसे तुम्हारे नामपर ही सबसे पहले उँगली रखी । इसलिये मैं तुम्हें शुभ संवाद सुनाने आया हूँ । तुम धन्य हो, तुम्हीं सबसे बढ़कर श्रीभगवान्के परम प्यारे हो ।'

(२)

प्राचीन समयकी बात है । एक बार श्रीकाशी-विश्वनाथजीके मन्दिरमें श्रीविश्वनाथजीकी प्रेरणासे एक दिव्य बहुमूल्य थाल प्रकट हुआ । पुजारीलोग उसे देख बड़े आश्चर्यान्वित हुए । उस थालपर सुन्दर स्पष्ट अक्षरोंमें लिखा हुआ था कि 'विश्वमें मेरे सबसे बढ़कर प्यारेके लिये यह मेरा प्रीतिपुरस्कार है । ऐसे व्यक्तिके पास यह थाल स्वयं चलकर जायगा ।' महाराज काशीनरेशको इस अलौकिक घटनाकी सूचना दी गयी । उन्होंने सर्वत्र—देशभरमें इस बातकी घोषणा करवा दी । बहुत बड़े भंडारेका प्रबन्ध हुआ ।

शिवरात्रिका दिन था । चारो ओरसे बड़े-बड़े प्रसिद्ध महात्मा, योगी, यति, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, भक्त—सभी सम्प्रदायोंके एकत्र हो गये । वेदध्वनि, मङ्गलगान, नाम-संकीर्तनादिकी अपूर्व छटा छा गयी । सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिका निर्णय होनेपर ही भंडारा परोसा जानेको है । सब-के-सब महापुरुष श्रीविश्वनाथजीके मन्दिरमें दर्शनोंको जा रहे हैं । बारह, एक, दो बज गये; परंतु वह दिव्य थाल किसीकी ओर चलता ही नहीं । इतनेमें एक सीधा-सादा सरल प्रकृतिका ग्रामीण पुरुष दिखायी दिया । उसके मनमें आयी कि 'आज शिवरात्रि है, गङ्गास्नान करके श्रीशंकरजीपर गङ्गाजल और बिल्वपत्र तो चढ़ा आऊँ ।'

ऐसा विचार करके जब वह मन्दिरमें जाने लगा, तब उसने देखा कि द्वारके बाहर एक गलित कुष्ठी बैठा है, जिसके शरीरसे भयानक दुर्गन्ध आ रही है । मक्खियाँ भिनभिना रही

हैं और वह दुःखसे रो रहा है। उसके पाससे और सब महा-पुरुष नाकपर वस्त्र रख भीतर चले गये थे। उस ग्रामीण पुरुषका एक पैर तो देहलीके भीतर और एक बाहर था। उसने भीतरका पैर बाहरकी ओर हटाकर उस कुष्ठीके शरीर-की ओर झुकते हुए उसको स्नेह और प्रेमभरी वाणीसे आश्वासन देते हुए कहा—'भैया! तुम घबराओ नहीं। इस महान् कष्टमें भी तुम्हारा मङ्गल ही होगा। दुःख सदा तो रहेगा नहीं। मैं अभी श्रीभगवान्‌पर जल-पत्र चढ़ाकर आता हूँ, तुम्हें अपने घर ले चलूँगा। प्रेमसे तुम्हारी सब प्रकारसे सेवा-शुश्रूषा और रोगका उपचार करूँगा।' ऐसे कह ज्यों ही वह भीतर गया कि वह अपूर्व दिव्य थाल चलकर उसके चरणोंमें आ लगा। पृथ्वीपर और आकाशमें चारों ओरसे जयजयकारकी ध्वनि गूँज उठी!

ये हैं यथार्थ मानव।

मानवताकी पावनता

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-ऐट-ला, विद्यावारिधि)

मानवता है सकल जगत्‌की उन्नतिका आधार।
निर्माता है राष्ट्र-भाग्यका जन-जनका आचार॥ १॥
मानव-धर्म वचनका पालन, चाहे जायें प्रान।
वादेकी वेदीपर करना तन-मन-धन बलिदान॥ २॥
करुणा, प्रेम, सत्य, शुचिता हैं मानवताके अंग।
पूर्ण विकास उन्हें देता है, आत्म-शक्तिका संग॥ ३॥
मानवताके परम शत्रु हैं लोभ क्रोध औ काम।
उनपर विजय वही नर पाता, जिसके मनमें राम॥ ४॥
मानवताका मान बढ़ाया, हरिने ले अवतार।
जीवनका आदर्श दिखाया, करना जग-उपकार॥ ५॥
काले-गोरे, पीत-साँवले दुनियाके इंसान।
वे सारे हैं भाई-भाई, ईश्वरकी संतान॥ ६॥
हिंदू, बौद्ध, पारसी, जैनी, मुसलमान, क्रिस्तान।
मानवताकी नेह-नजरमें सब हैं एक समान॥ ७॥
मानवताकी जन्मभूमि है प्यारा भारतवर्ष।
वसुधाको दी सुधा उसीने, लिया चरम उत्कर्ष॥ ८॥
ईश्वरके ही अंश जीव हैं, मानव-शक्ति अपार।
भारतके ऋषियोंने गाया—सब पृथ्वी परिवार॥ ९॥
उसके गिरि-गह्वरमें गूँजी यही सुरीली तान।
सर-सरिताओंके तीरोंपर ध्वनित हुआ यह गान॥ १०॥
भारतकी संस्कृतिने कर दी मानवता साकार।
हुई प्रवाहित दिग्-दिगन्तमें विश्व-प्रेमकी धार॥ ११॥
मानवता-पावनता-प्रेमी रहा हमारा देश।
'जुगल' दिव्य यह ज्योति जगत्‌में जगमग रखें महेश॥ १२॥

पृथ्वीको धारण करनेवाले सात तत्त्व

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

'गौ, ब्राह्मण, वेद, सती, सत्यवादी, निर्लोभी और दानशील—इन सातने पृथ्वीको धारण कर रखा है।'

गौ—गायका आध्यात्मिक रूप तो पृथ्वी है ही, प्रत्यक्ष-रूपमें भी उसने पृथ्वीको धारण कर रखा है। समस्त मानव-जातिको किसी-न-किसी प्रकारसे गौके द्वारा जीवन तथा पोषण प्राप्त होता है। प्राचीन कालके यज्ञोंमें घृतकी प्रधानता थी। अब भी देव-पित्र्य आदि समस्त कार्य घृतसे ही सुसम्पन्न होते हैं। दुर्भाग्य है कि आज गोघृतके बदले नकली घी हमारे घरोंमें आ गया है। गाय दूध, दही, घी, गोबर, गोमूत्र देती है। उसके बछड़े बैल बनकर सब प्रकारके अन्न, कपास, सन, तिलहन आदि उत्पन्न करते हैं। दुःखकी बात है कि हमारी जीवन-स्वरूपा वह गौ आज गोरक्षक भारतवर्षमें प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें कट रही है।

विप्र—पता नहीं, किस अतीतकालसे ब्राह्मणने त्यागमय जीवन बिताकर विद्योपार्जन तथा विद्या-वितरणका महान् कार्य आरम्भ किया था, जो किसी-न-किसी रूपमें अबतक चल रहा है। ब्राह्मणने पृथ्वीके लोगोंको ज्ञानका प्रकाश-दान न दिया होता तो वह सर्वथा अज्ञानान्धकारमें पड़ा रहता।

वेद—परमात्माके यथार्थ ज्ञान या ज्ञान करानेवाले ईश्वरीय वचनोंका नाम वेद है। यह वेद अनादि है। वेदमें समस्त ज्ञान भरा है। इतिहास-पुराणादि भी उसीके अनुवाद हैं। समस्त कर्मपद्धतियाँ, संस्कार, ज्यौतिष आदि सभीका उद्गम-स्थान वेद है। वस्तुतः गौ, विप्र और वेद—ये तीनों ही एक दूसरेमें अनुस्यूत हैं—

गावो विप्राश्च वेदाश्च कुलमेकं द्विधाकृतम्।
एकतो वर्तते मन्त्रो हविरेकत्र तिष्ठति॥
(महाभारत)

सती—सती स्त्रियाँ पृथ्वीकी दृढ़ स्तम्भरूपा हैं। सतियोंके त्याग, तेज, प्रतापसे मानवको बड़ा विलक्षण सात्त्विक बल मिलता रहा है और अब भी मिल रहा है। सतीकी स्मृति ही पुण्यदायिनी है। सतियोंकी पवित्र संतानसे ही लोकका संरक्षण, अभ्युदय तथा पुण्यजीवन होता है।

सत्यवादी—जगत्का सारा व्यवहार सत्यपर आधारित है। झूठ बोलनेवाले भी सत्यकी महिमा स्वीकार करते हैं। सत्य भगवान्का स्वरूप है। इस सत्यको स्वीकार करके सत्यभाषणपरायण पुरुष जगत्के मानवोंके सामने एक महान् आदर्श ही नहीं रखते, जीवनको सरल, शुद्ध तथा शक्तिशाली बनानेमें सहायता भी करते हैं। झूठ भ्रमवश पनपता भले ही दीखे, अन्तमें विजय सत्यकी ही होती है। सत्य तथा सत्यवादियोंके द्वारा उपजाये हुए विश्वासपर ही जगत्के व्यवहार टिके हैं। जबतक जगत्में सत्यवादी मानवोंका अस्तित्व बना रहेगा—चाहे वे थोड़े ही हों, तबतक जगत्की स्थिति रहेगी।

निर्लोभी—पापका बाप लोभ है। लोभके कारण ही विविध प्रकारके नये-नये दुर्गुण, दोष तथा पाप उत्पन्न होते हैं तथा परिणाममें महान् संतापकी प्राप्ति होती है। चोरी, बेईमानी, चोरबाजारी, घूसखोरी, डकैती, ठगी, लूट, वस्तुओंमें मिलावट आदि चरित्रको भ्रष्ट करनेवाले सारे अपराधोंका मूल लोभ ही है। लोभी मानव स्वयं सदा अशान्त तथा दुखी रहता है और सबको दुखी बनाता है। वह पृथ्वीके सद्गुणोंका उच्छेदक है। इसके विपरीत जो लोभहीन है, वही सच्चा मानव समस्त दुर्गुणों, दोषों तथा पापोंसे स्वयं बचता तथा सबको बचाता हुआ मानवताका विकास, संरक्षण तथा संवर्धन करता है—इस प्रकार वह पृथ्वीको धारण करता है।

दानशील—सारी सुख-शान्तिका मूल प्रेम है तथा प्रेमका मूल त्याग है। दानमें त्यागकी प्रधानता है। जो मानव अपने धन, विद्या, कुशलता, ज्ञान एवं अन्य साधन-सामग्रीका परार्थ उत्सर्ग—दान करता है, वही दानशील है। ऐसा दानशील मानव लोभ, कृपणता, परिग्रहवृत्ति आदिका नाश करता है, लोगोंमें परस्पर सेवा-सहायताकी भावना जाग्रत् रखता है। दानसे वस्तुतः पवित्र सर्जन तथा निर्माणका कार्य सम्पन्न होता है। देनेकी प्रवृत्ति जगत्में बढ़ती है। उदारताका विस्तार होता है। इस प्रकार दानशील पुरुष पृथ्वीको धारण करता है।

अतएव इन सातके द्वारा ही पृथ्वी विधृत है, निरालम्ब अन्तरिक्षमें टिकी है।

२९. पृथ्वीको धारण करनेवाले सात तत्त्व
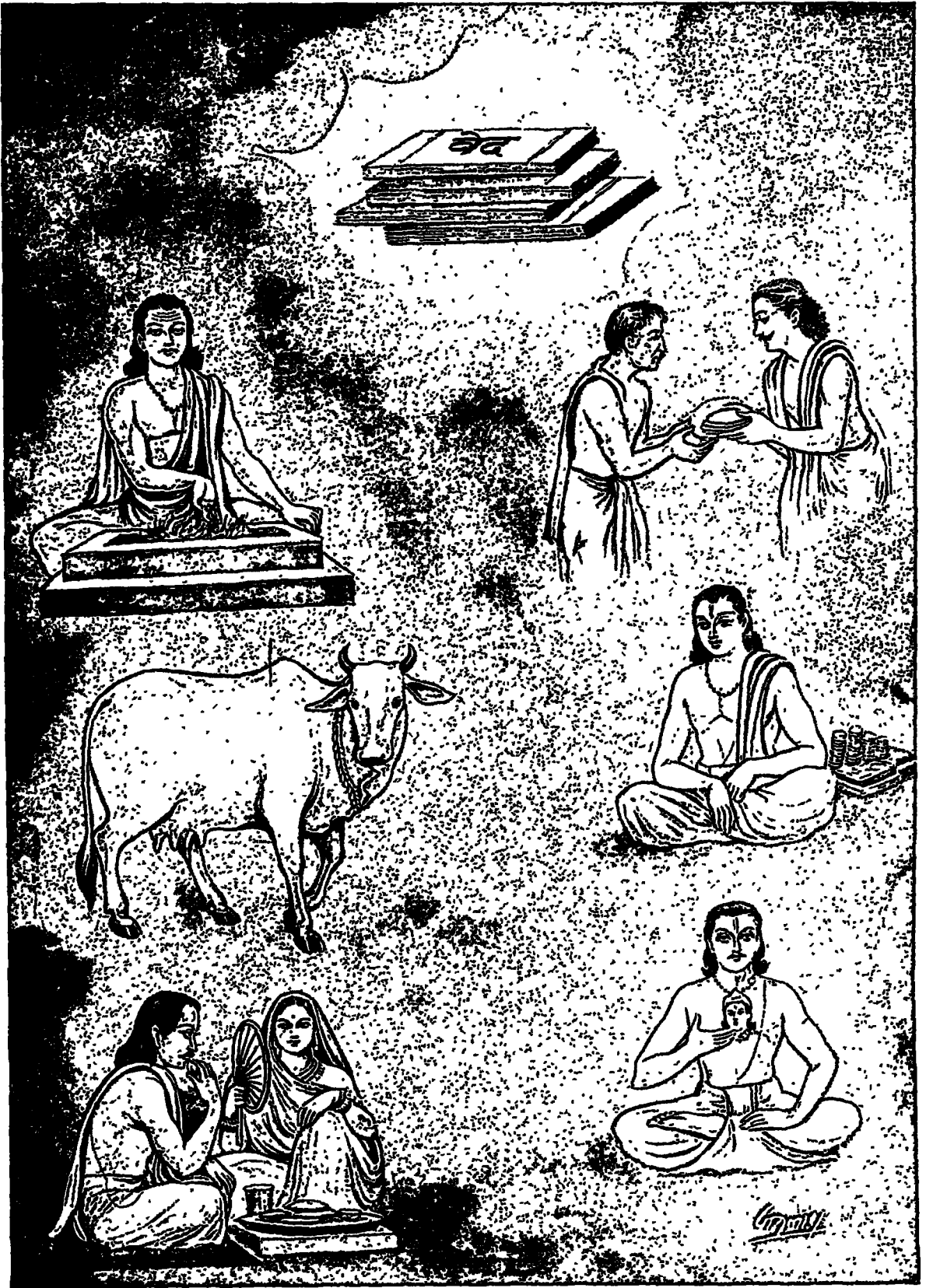
मानवता

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजी महाराज)

विशालविश्वस्य विधानबीजं
वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः ।
वसुंधरावारिविमानवह्नि-
वायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे ॥
प्रणवः परमं ब्रह्म प्रणवः परमः शिवः ।
प्रणवः परमो विष्णुः प्रणवः सर्वदेवता ॥

ॐ

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशु तथा मानवमें समानरूपसे होते हैं, मनुष्यमें धर्म ही एक विशेष है, जिससे पशु और मानवकी विशेषताका ज्ञान होता है । धर्महीन मनुष्य पशुके समान हैं ।'

धर्म किसे कहते हैं ? धरति यः स धर्मः । जो धारण करता है, वह धर्म है ।

श्रीमनुसंहितामें दशलक्षणात्मक धर्मका उल्लेख है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥
(६।९२-९३)

'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं । जो ब्राह्मण धर्मके इन दस लक्षणोंका अध्ययन करते हैं और पढ़कर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये अनुष्ठान करते हैं, वे परम गति अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ।'

'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमोंमें विचरण करते हुए द्विजके लिये यत्नपूर्वक दशलक्षणात्मक धर्मका सेवन करना परम आवश्यक है ।'

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥
(मनु० १० । ६३)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच तथा इन्द्रियनिग्रह—ये चारों वर्णोंके संक्षिप्त धर्म हैं, इनका अनुष्ठान करनेके लिये भगवान् मनु कहते हैं ।' प्रकरणके अनुसार ये धर्म मनुष्यमात्रके अनुष्ठान करने योग्य हैं ।

दशलक्षणात्मक धर्ममें पहला है—'धृति' अर्थात् धैर्य या संतोष । मानव-शरीर धारण करनेपर रोग-आरोग्य, शोक, मान-अपमान, दारिद्र्य-सम्पत्तिशीलता, शान्ति-अशान्ति आदि द्वन्द्वोंका भोग करना होगा । जब जैसी अवस्था उपस्थित हो उसीमें संतुष्ट रहनेका नाम धैर्य है । धृतिके बलसे मनुष्य जगत्पर विजय प्राप्त कर सकता है । जिसमें धृति है, वह नरके आकारमें देवता है । रोग-आरोग्य, शान्ति-अशान्ति, मान-अपमान—ये द्वन्द्व भगवान्के दो चरण हैं । जब-जब ये आवें, तब-तब इनको दृढ़तापूर्वक पकड़कर जो स्थिरभावसे अवस्थित रहते हैं, वे ही यथार्थ धृतिमान् हैं । मेधातिथि कहते हैं कि धृति आदि आत्मगुण हैं, धन आदिके चले जानेपर सत्त्वगुणका आश्रय लेकर स्थित रहनेका नाम धृति है ।

धृति शब्दका दूसरा अर्थ है—संतोष । पातञ्जलयोगदर्शनमें कहा गया है कि शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं ।

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः । (साधनपाद ४२) नियमके अङ्ग संतोषके प्रतिष्ठित होनेपर अनुत्तम, जिससे बढ़कर उत्तम और कुछ नहीं है—इस प्रकारका सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मसुख प्राप्त होता है ।

द्वितीय 'क्षमा' है । किसीके अपकार करनेपर उसके प्रतिशोधकी सामर्थ्य रहनेपर भी अपकार न करना और उसके अपराधको भगवान्से प्रार्थना करके क्षमा करवा देना—इसका नाम क्षमा है । इस क्षमाके बलसे मनुष्य विश्वपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होता है । क्षमाका लक्षण है—

बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित् ।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥
(एकादशी तत्त्व)

'बाह्य तथा आध्यात्मिक (देह और मनसम्बन्धी) दुःखके उत्पन्न होनेपर क्रुद्ध न होने, आघात न करनेका नाम क्षमा है ।'

आक्रुष्टोऽभिहतो यस्तु नाक्रोशेन्न हनेदपि ।
अदुष्टैर्वाङ्मनःकायैस्तितिक्षुश्च क्षमा स्मृता ॥
(मत्स्यपुराण)

'क्रुद्ध और आहत होनेपर भी जो मन, वाणी और शरीरके द्वारा क्रोध नहीं करता और न आघात करता है, बल्कि आनन्दसे सहन करता है, उसकी इस सहनशीलताका नाम क्षमा है।'

विगर्हातिक्रमाक्षेपहिंसाबन्धवधात्मनाम् ।
अन्यमन्युसमुत्थानां दोषाणां वर्जनं क्षमा ॥

'निन्दा, आक्षेप, हिंसा, बन्धन और वधरूपी क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको रोकना क्षमा कहलाता है।'

तृतीय लक्षण है—'दम'। गोविन्दराज कहते हैं—

शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुता दमः ।

तथा अन्यत्र—

विकारहेतुविषयसंनिधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः ।

अर्थात् विकार उत्पन्न करनेवाले विषयोंके पास रहनेपर भी मनका विकारहीन बना रहना दम है।

मनसो दमनं दम इति सदानन्दवचनात् ।

'सदानन्दजी कहते हैं कि मनका दमन ही दम कहलाता है।' वेदान्तसारमें कहा है—

दमस्तु बाह्येन्द्रियनिग्रहः ।

'बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह ही दम है।'

विषयव्यावृत्तस्य मनसो यथेष्टविनियोगयोग्यता दमः ।

'विषयोंसे विशेषरूपसे मनको हटाकर परम वस्तु (इष्टदेव) में लगानेकी योग्यताका नाम 'दम' है।' पद्मपुराणमें दमका लक्षण कहते हैं—

कुत्सितात्कर्मणो विप्र यच्च चित्तनिवारणम् ।
स कीर्तितो दमः प्राज्ञैः समस्ततत्त्वदर्शिभिः ॥

'हे विप्र! निन्दनीय कर्मोंसे चित्तको हटाना ही बुद्धिमान् और तत्त्वदर्शी लोगोंके मतसे 'दम' है।'

महाभारत, शान्तिपर्वके १६० वें अध्यायमें लिखा है—

तत्त्वदर्शी पण्डितोंने 'दम' को मुक्तिकी प्राप्तिका साधन बतलाया है। दम सब लोगोंके लिये विशेषतः ब्राह्मणके लिये सनातन धर्म है। दमकी साधनासे ब्राह्मणकी कार्यसिद्धि होती है। दमकी साधना दान, यज्ञ और शास्त्रज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसके द्वारा तेजकी वृद्धि होती है। दमकी साधनाके समान पवित्र कुछ भी नहीं है। मनुष्य दमकी साधनाके द्वारा निष्पाप और तेजस्वी होकर ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। दमकी साधना अति उत्कृष्ट धर्म है। दमके द्वारा इहलोकमें सिद्धि और परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है। दमगुणसे सम्पन्न मनुष्य अनायास ही उत्कृष्ट धर्मकी प्राप्तिमें समर्थ होता है, निर्भय होकर निद्रासुखका अनुभव करता है, निर्भय होकर जागता है और निर्भय होकर जन-समाजमें विचरण करता है। उसके अन्तःकरणमें स्वतः प्रसन्नता विराजती है। जो मनुष्य दम-विहीन है, उसे निरन्तर दुःख भोगना पड़ता है तथा वह अपने ही दोषसे बहुत अनर्थ उत्पादन करता है। चारों आश्रमोंके लिये दमको उत्कृष्ट गुण बतलाया है, यहाँ दमसे उत्पन्न होनेवाले समस्त गुणोंका मैं तुमसे उल्लेख करता हूँ, सुनो।

दम सरलता, इन्द्रिय-जय, दक्षता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, अदीनता, अक्रोध, संतोष, प्रियवादिता, अहिंसा, अनसूया, गुरुपूजा तथा दयाकी उत्पत्तिका कारण है। दमगुणसे युक्त महात्मा क्रूर व्यवहार, मिथ्या-वाक्य-प्रयोग तथा दूसरेका अपमान, उपासना या निन्दा कभी नहीं करते। काम, क्रोध, लोभ, दर्प, आत्मश्लाघा, ईर्ष्या और विषयानुरागका एकबारगी त्याग कर सकते हैं। अनित्य सुखकी प्राप्तिसे उनको कभी तृप्ति नहीं होती। सम्बन्ध-संयोगसे उत्पन्न ममताके द्वारा उनको कभी दुःख-भोग नहीं करना पड़ता।

चतुर्थ 'अस्तेय' है—

अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं तद्भिन्नमस्तेयम् ।

'अन्यायके द्वारा पर-धनको अपहरण करना 'स्तेय' कहलाता है, इसके विपरीत 'अस्तेय' है।'

पातञ्जलयोगदर्शनके अष्टाङ्ग योगमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम आते हैं। यमका तृतीय अङ्ग है अस्तेय अर्थात् लोभ-शून्यता। अस्तेयके प्रतिष्ठित होनेपर सब रत्नोंकी उपस्थिति होती है—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।
(पातञ्जलयोगदर्शन, साधनपाद ३७)

इस रत्नका साधारण अर्थ है—'मणि-काञ्चन', विशेष अर्थ है—'ज्ञानरूप रत्न।' धर्मार्थसेवीका 'योगक्षेम' ही सर्वरत्न है। अस्तेयके प्रतिष्ठित होनेपर सभी दिशाओंमें स्थित रत्न प्राप्त होते हैं।

'अस्तेयकी प्रतिष्ठाके द्वारा साधकके मुखादिसे एक प्रकारके निःस्पृहभाव विकीर्ण होते हैं। उसे देखकर प्राणी अत्यन्त विश्वास करने लगते हैं और इस कारण दातालोग उसे अपनी उत्तमोत्तम वस्तुएँ उपहार देकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं। इस प्रकारके योगीके समीप (यदि वह नाना दिशाओंमें भ्रमण करता है तो) विभिन्न दिशाओंके रत्न, उत्तमोत्तम द्रव्य उपस्थित हो जाते हैं। योगीके प्रभावसे मुग्ध होकर, उसको परम आश्वास-स्थान समझकर चेतन रत्न स्वयं उसके पास उपस्थित होते हैं, परंतु अचेतन रत्न दाताके द्वारा ही उपस्थित होते हैं। जिस जातिमें जो उत्कृष्ट वस्तु होती है, उसको 'रत्न' कहते हैं।'

साधारण धन आदिके अपहरणका नाम 'स्तेय' है। इस प्रकारकी चोरीका पाप राजदण्ड आदिके द्वारा क्षयको प्राप्त होता है; परंतु इसकी अपेक्षा अति भयङ्कर चोरी है 'भावका अपहरण।' जैसे, मैं साधु नहीं हूँ। लोगोंको ठगनेके लिये साधुवेष धारण करके साधुका बाह्य आचरण करता हूँ तथा सुविधा और सुयोग देखकर अपने दुष्ट भावोंको प्रकट रूपमें लाकर लोगोंका अनिष्ट करता हूँ। इससे बढ़कर 'महान्' चोरी और कुछ नहीं हो सकती। इस चोरीका फल जन्म-जन्मान्तरमें भोगना पड़ता है। साधारणतः पाप करनेसे जो दोष लगता है, साधुवेष धारण करके जनताको ठगकर पाप करनेसे उससे सहस्रों गुना अधिक दोष लगता है।

पाँचवाँ—'शौच' है।

यथाशास्त्रमृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचम्।(कुल्लूकभट्ट)

'शास्त्र-विधिके अनुसार मृत्तिका और जल आदिके द्वारा देहको शुद्ध रखनेका नाम 'शौच' है।' मेधातिथि कहते हैं—

शौचमाहारादिशुद्धिः।

—आहार आदिकी शुद्धिका नाम 'शौच' है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें कहा गया है कि शौच दो प्रकारका होता है—'बाह्य' और 'आन्तर।' मृत्तिका और जल आदिके द्वारा बाह्य शौच सम्पादित होता है तथा मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाके द्वारा आन्तर शौच होता है। शौच शब्दका आध्यात्मिक अर्थ 'आत्मज्ञान' है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें कथित यमाङ्ग 'शौच' प्रतिष्ठित होनेपर स्वाङ्गजुगुप्सा अर्थात् अपने अङ्गोंकी तुच्छताका बोध होता है और दूसरोंके साथ संसर्गहीनता प्राप्त होती है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (साधनपाद ४०)

धर्मका षष्ठ लक्षण है—'इन्द्रिय-निग्रह।' अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ आदि इन्द्रियोंका निग्रह अथवा संयम। इन्द्रियोंकी स्वाभाविकी गति बहिर्मुखी होती है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ० उ० २। १। १)

परमेश्वरने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। जीव बाह्य विषयको देखता है, अन्तरात्माको नहीं देखता। कोई विवेकी अमृतत्वकी अभिलाषा करते हुए इन्द्रिय-संयमपूर्वक प्रत्यगात्माको देखता है। कर्ण आदि इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि बाह्य विषयोंकी ओर उन्मत्तकी भाँति दौड़ती हुई दुःखके ऊपर दुःख भोगती रहती हैं। परनिन्दा सुननेके लिये लोलुप कर्ण दूसरोंके पापोंको ग्रहण करके देहात्माभिमानी जीवको नरककी ओर खींच ले जाता है। परायी स्त्रीको देखनेकी अभिलाषा करनेवालेको नरकसे कोई बचा नहीं सकता। इसी प्रकार स्पर्श, रस, गन्धके विषयमें भी समझना चाहिये। शास्त्र कहते हैं—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

'इन्द्रियोंका असंयम ही आपदाका मार्ग कहा गया है। इन्द्रियोंका जय ही सम्पदाका सरल, सुगम राजपथ है। जिसके द्वारा इष्टकी प्राप्ति हो, उसी मार्गसे गमन करो।'

इन्द्रियनिग्रह शब्दका अर्थ इन्द्रियोंका विनाश करना नहीं है। बल्कि इसका अर्थ है, वे जिससे परम निवृत्ति प्राप्त करती हुई मनके मन तथा प्राणके प्राण परमानन्दमय श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर सकें, इस प्रकार उनको संयतमें रखना। परनिन्दा तथा आत्मप्रशंसा सुननेके लिये लोलुप 'श्रोत्र'-इन्द्रियको श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीला श्रवण करानेका नाम ही 'श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह' है। इसी प्रकार साधु-देहका आलिङ्गन, भगवान्‌के चरणोंमें दण्डवत्-प्रणाम, सारे शरीरमें तीर्थ-रज-लेपन 'त्वगिन्द्रिय'का निग्रह है। श्रीविग्रह, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंका, समुद्र आदि तीर्थोंका तथा तुलसीवन और भक्तोंका दर्शन ही 'चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह' है।

श्रीभगवान्‌का प्रसाद और चरणामृतका पान ही 'रसनेन्द्रिय-निग्रह' है। उनको अर्पित की गयी तुलसीका गन्ध तथा उनको निवेदित किये गये धूपादिका गन्ध ग्रहण करना ही 'घ्राणेन्द्रिय-निग्रह' है। श्रीभगवान्‌के नाम, लीला और गुणका कीर्तन और श्रुति तथा श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका स्वाध्याय, यह 'वाग्-इन्द्रिय' का निग्रह है। श्रीभगवान्‌के मन्दिरका मार्जन, पुष्प-चयन, माला-ग्रन्थन, चन्दन-घर्षण, श्रीविग्रहको सजाना आदि सारे कर्म 'पाणि-इन्द्रिय' के निग्रह हैं। तीर्थ-तीर्थमें भ्रमण करना, देव-दर्शनके लिये पैदल ही व्रजमन्दिरमें गमन करना 'पाद-इन्द्रिय' का निग्रह है। श्रीभगवान्‌के प्रसाद, सात्त्विक भोजन, मित और शुद्ध रुचिकर आहार आदिके द्वारा यथा समय (ब्राह्ममुहूर्तमें) शौच 'पायु-इन्द्रिय' का निग्रह है। जो गृहस्थ नहीं हैं, उनको काय, मन और वचनके द्वारा अष्टाङ्ग मैथुनका परित्याग तथा गृहस्थोंका ऋतुकालमें स्त्री-गमन करनेका नाम ही 'उपस्थ-इन्द्रिय-निग्रह' है। केवल इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रहके द्वारा ही मानव मानवताको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है तथा महामानवके रूपमें पूजित हो सकता है।

सातवाँ 'धी' है—

सम्यग् ज्ञानं प्रतिपक्षसंशयादिनिराकरणम्।

(मेधातिथि)

'सम्यग् ज्ञान तथा प्रतिपक्षियोंके संशय आदिका निराकरण ही धी कहलाता है।'

शास्त्रादितत्त्वज्ञानं धीः। (कुल्लूकभट्ट)

'शास्त्रादि-तत्त्वज्ञानका नाम धी है।'

धर्मके दस लक्षणोंमें अष्टम 'विद्या' है।

विद्याऽऽत्मज्ञानम्। (मेधातिथि)

मेधातिथि कहते हैं कि 'विद्या आत्मज्ञान है।' कर्मज्ञानका नाम 'धी' है और अध्यात्मज्ञानका नाम 'विद्या' है। कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि 'आत्मज्ञान ही विद्या है।'

परमोत्तमपुरुषार्थसाधनीभूता विद्या ब्रह्मज्ञानरूपा।

(नागोजीभट्ट)

'पुरुषके परम उत्कृष्ट प्रयत्नसे साधित ब्रह्मज्ञान ही 'विद्या' कहलाती है।' विद्या शब्दका दूसरा अर्थ है—'शास्त्र'।

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रपुराणानि विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

(विष्णुपुराण)

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥

(प्रायश्चित्ततत्त्व)

'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र —ये अष्टादश विद्याएँ हैं।'

विद्याकी प्रशंसा

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूजिता न तु धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(भर्तृहरि-नीतिशतक २०)

'विद्या मनुष्यको रूपवान् बनाती है, विद्या प्रच्छन्न—गुप्त धन है, विद्या भोग प्रदान करती है, यश और सुख प्रदान करती है, वह गुरुओंको भी ज्ञान देनेवाली गुरु है, विद्या विदेश जानेपर बन्धुजनके समान सहायक होती है, विद्या परम देवता है, विद्या राजाओंके द्वारा पूजा-सत्कार कराती है, जो धनके द्वारा प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य विद्या विहीन है, वह पशुके समान है।'

देवीपुराणमें लिखा है—

विद्यादानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति।
विद्यादानेन दानानि नहि तुल्यानि बुद्धिमन्॥
विद्या एव परं मन्ये यत्तत् पदमनामयम्।

'विद्यादानसे बढ़कर कोई दान न हुआ और न होगा। हे बुद्धिमन्! विद्यादानके समान कोई दूसरा दान नहीं है। विद्या ही सर्वश्रेष्ठ परम पद है।'

पद्मपुराण-उत्तरखण्डमें लिखा है—

दशवापीसमं कन्या भूमिदानं च तत्समम्।
भूमिदानाद् दशगुणं विद्यादानं विशिष्यते॥
यथा सुराणां सर्वेषां रामश्च परमेश्वरः।
तथैव सर्वदानानां विद्यादानं तु देहिनाम्॥
राजसूयसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत्फलम्।
तत्फलं लभते विप्रो विद्यादानेन पुण्यवान्॥
सर्वदास्यसमाकीर्णां सर्वरत्नोपशोभिताम्।
विप्राय वेदविदुषे महीं दत्त्वा शशिग्रहे।
यत्फलं लभते विप्रो विद्यादानेन तत्फलम्॥

'दस वापी-दानके तुल्य कन्यादान होता है, भूमिदान भी उसके समान ही होता है। भूमिदानकी अपेक्षा विद्यादान दसगुना श्रेष्ठ है। जैसे सब देवताओंमें राम परमेश्वर हैं, उसी प्रकार मनुष्योंमें सब दानोंमें विद्यादान परमोत्कृष्ट है। उत्तम रूपसे सहस्रों राजसूय यज्ञ करनेपर जो फल होता है, पुण्यवान् विप्र विद्यादानके द्वारा उस फलको प्राप्त करता है। चन्द्र-ग्रहणके समय समस्त शस्यसे पूर्ण तथा सभी रत्नोंसे सुशोभित भूमि वेदज्ञ ब्राह्मणको दान करनेसे दाता जिस फलको प्राप्त करता है, विद्वान् केवल विद्यादानके द्वारा उस फलको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।'

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
(अध्यात्मरामायण)

"'मैं देह हूँ'—इस बुद्धिका नाम अविद्या है, तथा 'मैं देह नहीं, चिदात्मा हूँ' इस बुद्धिका नाम विद्या है।"

दशलक्षणात्मक धर्मका नवाँ लक्षण—'सत्य' है। 'यथार्थाभिधानं सत्यम्'—यथार्थ कथनका नाम सत्य है।

यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम्।
तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययम्॥
(पद्मपुराण)

'यथार्थ कथनको सत्य कहते हैं। वह सब लोकोंमें सुख प्रदान करता है। और उसके विपरीत कथनको असत्य कहते हैं, वह सर्वत्र दुःख प्रदान करता है।' महाभारतमें लिखा है—

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकाराश्चतुर्दश॥

'सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, ह्री (लज्जा), तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, आर्यत्व, धृति, सतत दया, अहिंसा—ये चौदह सत्यके आकार हैं।' पातञ्जलदर्शन-में कहा है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं। यमका द्वितीय अङ्ग सत्य है।

जैसा हुआ हो तदनुरूप अर्थयुक्त वाणी और मन—जिस प्रकार दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हुआ हो तदनुसार ही वाणी और मनको रखना, अर्थात् बोलना और चिन्तन करना। अपना अभिप्राय दूसरेपर प्रकट करनेके लिये जो वचन बोले, वह वञ्चना अथवा भ्रान्तिमूलक न हो और न श्रोताके लिये अर्थशून्य हो, तभी वह बात सत्य हो सकती है। परंतु वह वचन किसी प्राणीके लिये घातक न हो, बल्कि उपकारकी दृष्टिसे बोला गया हो—यह भी आवश्यक है; क्योंकि वाक्यके मुखसे निकलनेपर यदि वह प्राणियोंके लिये घातक हो तो उससे सत्यरूपी पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, पाप ही होता है। इस प्रकारके पुण्यवत् प्रतीत होनेवाले पुण्यसदृश वाक्यके द्वारा दुःखमयता अथवा नरककी प्राप्ति होती है। अतएव विचारपूर्वक सर्वभूतहितका उत्पादक सत्य वचन बोलना चाहिये।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
(पातञ्जल० साधनपाद ३६)

सत्यकी प्रतिष्ठा हो जानेपर वचन क्रियाफलका आश्रय बन जाता है। 'धार्मिक हो जाओ'—कहनेपर श्रोता धार्मिक हो जायगा। 'स्वर्ग प्राप्त हो'—कहनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होगी। सत्यकी प्रतिष्ठासे वाणी अमोघ हो जाती है। 'जल मिट्टी बन जाओ'—इस प्रकारके वाक्य सत्यकी प्रतिष्ठाके द्वारा सिद्ध नहीं होते। अतएव सत्यप्रतिष्ठ योगी क्षमताके अन्तर्गत रहकर ही संकल्प करता है। जो वाक्यार्थको समझता है, वैसे ही मनुष्यके ऊपर सत्यप्रतिष्ठा-जनित शक्ति कार्य करती है।

सत्यके सम्बन्धमें श्रुति कहती है—

सत्य ही ब्रह्म है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
(ईशोपनिषद्)

ज्योतिर्मय पात्र अर्थात् सूर्यके द्वारा सत्यस्वरूप पुरुष-का मुख आवृत है। हे पूषन्! मुझ सत्यधर्माकी उपलब्धिके लिये उसे खोल दो।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः
सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।
(केनोपनिषद् ४।८)

'तपस्या, उपशम, कर्म आदि उक्त उपनिषद्के पाद-स्वरूप हैं, वेद उसके विविध अङ्ग हैं और सत्य उसका निवासस्थान है। सत्य ही ब्रह्मविद्याका विशेष साधन है।'

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्।
(मुण्डक० १।२।१)

वसिष्ठ-आदि मेधावियोंने ऋग्वेदादिसे जिन कर्मोंको

देखा, अपरा विद्याके विषयीभूत वे कर्म ही सत्य हैं अर्थात् निश्चित रूपसे पुरुषार्थके साधन हैं।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपाः।

(मुण्डक० २।१।१)

परा विद्याके द्वारा ज्ञेय यह अक्षर ही पारमार्थिक सत्य है। जिस प्रकार सम्यक् प्रज्वलित अग्निसे अग्निकी सजातीय सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार हे सौम्य! अक्षरसे नाना प्रकारके जीव उद्भूत होते हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥

(मुण्डक० २।१।७)

'उससे ही विभिन्न देवयोनियाँ समुत्पन्न होती हैं, साध्य देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, जीवन, व्रीहि-यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा कर्मविधि उत्पन्न होती है।'

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥

(मुण्डक० ३।१।५)

जिसे क्षीणदोष यति लोग उपलब्ध करते हैं, उस ज्योतिर्मय शुद्ध आत्माको अविचल सत्य, अविराम एकाग्रता, नित्य, सम्यक् आत्मदर्शन और अटूट ब्रह्मचर्यके द्वारा हृदयाकाशमें प्राप्त करते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

(मुण्डक० ३।१।६)

सत्यकी विजय होती है, मिथ्याकी नहीं। सत्यरूपी साधनके द्वारा प्राप्य वह सर्वोत्तम पुरुषार्थ जहाँ निहित है वहाँ आप्तकाम ऋषिगण जिस मार्गसे जाते हैं, वही देवयान मार्ग है और सत्यके द्वारा अविच्छिन्नभावसे आस्तीर्ण अर्थात् सतत सत्यावलम्बनमें प्रवृत्त है।

तैत्तिरीय उपनिषद्में शीक्षाध्यायके प्रथम अनुवाकमें कहा गया है—

'सत्यं वदिष्यामि'—'सत्य बोलूँगा।' (प्रथम अनुवाक)

सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। (नवम अनुवाक)

'सत्य बोलूँगा और अध्ययन-अध्यापन करूँगा।'

सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः॥ (तैत्ति० १।९।१)

'रथीतरगोत्रीय सत्यवचा कहते हैं कि सत्यका अनुष्ठान करना कर्तव्य है।' विज्ञानमय आत्माका 'सत्यमुत्तरपक्षः'—(ब्रह्मवल्ली) सत्य, यथायथ कथन भी आत्माका वामपक्ष है।

श्वेताश्वतरमें लिखा है—

सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

सत्य और तपस्याके द्वारा''जो श्रवणके पश्चात् साक्षात्कार करता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० २।१।३)

सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप ब्रह्मको जो हृदयस्थ परमाकाशमें बुद्धि-गुहाके भीतर स्थित देखता है, वह साथ ही सब प्रकारकी काम्य वस्तुओंका उपभोग करता है।

सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते।

(तैत्ति० २।६।१)

'उस कार्यमें प्रवेश करके सत्यस्वरूप ब्रह्म मूर्त्त-अमूर्त्त जो कुछ है, सब हो गया। सत्य-मिथ्या सब कुछ वही है। इस कारण ब्रह्मवेत्ता लोग उसे सत्य कहा करते हैं।'

छान्दोग्योपनिषद्में कहा गया है—'पश्चात् उसकी तपस्या, दान, सरलता, अहिंसा और 'सत्यवचनमिति' सत्यवादिता पुरुषयज्ञकी दक्षिणा है।' (३।१७।४)

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्।

(छा० उ० ६।८।७)

'वह सत् नामक सूक्ष्म कारण है, उसके द्वारा ही यह समस्त जगत् आत्मवान् है। वही परमार्थ सत्य है, वही आत्मा है।'

एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति।

(छा० उ० ८।३।४)

उक्त ब्रह्मका नाम सत्य है। ब्रह्मके इस नामके अक्षर संख्यामें तीन हैं—स, त्, यम्। जो सकार है वह अमृत है, जो तकार है वह मर्त्य है और जो 'यंकार' है, वह पूर्वोक्त दोनों अक्षरोंको वशीभूत करता है।

'जो मिथ्या बोलता है' उसका सुकृत नष्ट हो जाता है। उसके पापसे यह पृथ्वी बारबार काँपती रहती है।'

सत्यं परं ब्रह्म विज्ञानरूपं
सत्यं हि सृष्टिस्थितिलीनकर्तृ।
सत्यं हि साम्यं किल वस्तुधर्मः
सत्यं शरण्यं शरणं प्रपद्ये॥

सत्य है परं ब्रह्म, सत्य ही ज्ञानमय।
सत्यसे होता जगतका सृष्टि स्थिति लय॥
सत्य ही साम्य है, निश्चय ही वस्तुधर्म।
सत्य ही शरणदाता जाऊँ उसके शरण॥

हमने श्रुति तथा पुराणादिकी आलोचनाओंके द्वारा यह देख लिया कि सत्य ही परम ब्रह्म है, सत्य ही भगवान् है। यह विराट् ब्रह्माण्ड सत्यसे ही उत्पन्न, सत्यमें ही प्रतिष्ठित है तथा अन्तमें सत्यमें ही लीन हो जाता है। धर्मके दस लक्षणोंमेंसे सत्यरूपी नवें लक्षणका भी यदि कोई अवलम्बन करे तो वह महामानवके रूपसे संसारमें प्रसिद्ध हो जायगा। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

धर्मके दसवें लक्षणका नाम—'अक्रोध' है। रजोगुणसे उत्पन्न ज्वलनात्मक वृत्तिका नाम क्रोध है। इसके विपरीत अक्रोध है। कुल्लूकभट्ट कहते हैं—

क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिरक्रोधः।

'क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोधके उत्पन्न न होनेका नाम अक्रोध है।' यह अक्रोध मानवको देवत्व प्रदान करता है। चित्त पूर्ण शान्त न हो तो मनुष्य अक्रोधी नहीं हो सकता। अक्रोधी मनुष्य विश्वविजयी होता है।

इस दशलक्षणात्मक धर्ममें प्रतिष्ठित होनेमें जो समर्थ है, वह महामानवरूपमें परिगणित होता है। मानवता उस महापुरुषमें पूर्णताको प्राप्त करती है।

स्थावरास्त्रिंशल्लक्षाश्च जलजा नवलक्षकाः।
कृमिजा दशलक्षाश्च रुद्रलक्षाश्च पक्षिणः॥
पशवो विंशलक्षाश्च चतुर्लक्षाश्च मानवाः।
एतेषु भ्रमणं कृत्वा द्विजत्वमुपजायते॥
(कर्मविपाक)

स्थावर जीव तीस लाख, जलज जीव नौ लाख, कृमिज दस लाख, ग्यारह लाख पक्षी, बीस लाख पशु, चार लाख मनुष्य-योनिमें भ्रमण करनेके बाद द्विजत्वको प्राप्त होकर वेदविहित कर्मका अधिकार प्राप्त करते हैं। उसके अनुष्ठानसे शुद्धचित्त मानव 'मानवता' को प्राप्त करता है। मानवताको प्राप्त जो मनुष्य होता है, उसको श्रुति 'परमहंस,' योगवासिष्ठ 'जीवन्मुक्त,' महाभारत 'ब्राह्मण', गीता 'स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, और गुणातीत' कहती है।

मानवताका वास्तव अर्थ है कि श्रीभगवान्‌को प्राप्त करके जीवभावको विलीन कर देना। ज्ञानी लोग 'ब्रह्मास्मि' 'सोऽहं'—इस रूपमें, भक्त 'दासोऽहम्'—इस रूपमें मानवताकी प्राप्तिसे मानवजन्म सफल करते हैं। जिस प्रकार वेदविहित कर्मोंके द्वारा मानवताकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार शरणागति—भगवद्भक्तिके द्वारा मानवता प्राप्त होती है।

कबीर, रविदास, धन्नाजाट, सेना नाई, गोरा कुम्हार, चोखामेला, मीराँबाई, यवन हरिदास आदि भक्तगण और पुराणप्रसिद्ध अन्यान्य भक्तजन केवल भक्तिके द्वारा ही मानवताको प्राप्त करके मानवजन्म सार्थक कर चुके हैं।

आज भी अनेकों भक्त भक्तिके आश्रयसे कृतार्थ हो रहे हैं।

सृष्टिका मूल सूत्र है आदिसंकल्प—'बहु स्यां प्रजायेयेति।' 'बहुत हो जाऊँगा, जन्म ग्रहण करूँगा।' जीव इस संकल्पसूत्रमें आबद्ध होकर जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर परिभ्रमण करता रहता है। मानवताकी प्राप्तिसे उस संकल्पका अवसान हो जाता है। श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

अनेक जन्मोंमें साधनाके फलस्वरूप मानव अन्तिम जन्ममें 'वासुदेव ही सब कुछ हैं'—इस प्रकार शरणापन्न हो जाता है, इस प्रकारके महात्मा अति दुर्लभ हैं।

जिस मानवताकी प्राप्तिसे मानव-जन्म धन्य हो जाता है, उस मानवताकी प्राप्तिका उपाय है—दशलक्षणात्मक धर्मका अनुष्ठान करना। वर्तमान कालमें रोग, शोक, दुःख और दारिद्र्यसे पीड़ित, षड्-रिपुओंके गुलाम, ऐसे मनुष्योंके लिये उक्त धर्मानुष्ठान बहुत कठिन है। शास्त्रने वर्तमान कलि-पीड़ित जीवोंके मनुष्यत्वकी प्राप्तिके लिये जो उपाय बतलाये हैं, उसको श्रीविष्णुपुराण इस प्रकार कहता है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

'सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतायुगमें यज्ञ, द्वापरयुगमें पूजाके

द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुगमें केशवके नाम-संकीर्तनके द्वारा वह प्राप्त हो सकता है।'

येन केन प्रकारेण नाममात्रस्य जल्पकाः।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तत्सर्वेऽपि धार्मिकाः॥

'जिस किसी प्रकारसे नाम-कीर्तन करनेवाले सुखपूर्वक जिस गतिको प्राप्त होते हैं, समस्त धार्मिक लोग उस गतिको नहीं प्राप्त होते।'

कलिपावन मन्त्र हरिनाम कलिसंतरण-उपनिषद्में—

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इसी प्रकार, योगसार-तन्त्र, राधातन्त्र, ब्रह्माण्डपुराणमें—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥

—उल्लिखित है। श्रीमन्महाप्रभु इसी महामन्त्रका प्रचार कर गये हैं। यह मानवताकी प्राप्तिका चरम तथा परम मन्त्र है—

जय नाम जय नाम, जय जय नाम!

मधुर रूपमें वहें निरन्तर सकल समीरण।
सरिताएँ संतत मधुमय रस करें प्रस्रवण॥
ओषधियाँ उत्पन्न सतत हों प्रतिफल मधुमय।
रजनी दिवस धूलि धरणी हो अतिशय मधुमय॥
अन्तरिक्ष मधुमय द्युलोक ज्योतिर्मय मधुमय।
सोम वनस्पतियाँ लहरावें संतत मधुमय॥
भुवन भास्करकी किरणें जीवनप्रद मधुमय।
दसों दिशाएँ हों प्रसन्न अति सुखमय मधुमय॥

ॐ मधु मधु मधु—ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

मानवता

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

'धर्म' मानव-जीवनका सार है। धर्मका अर्थ है—'धारण'। जिसे धारण किया जाय और जो धारण करे, वह है 'धर्म'।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।
(महाभारत, शान्तिपर्व १०९।१२)

'जो धारण किया जाता है, उसे धर्म कहते हैं और जो प्रजाको धारण करता है, वह भी धर्म है।'

जिसे सभी मानव धारण करें और जो सभी मानवोंको धारण करे, वह हुआ 'मानव-धर्म'। जो यहाँ-वहाँ आदि सब देशोंमें, तत्र-अत्र आदि सब कालोंमें, यह-वह आदि सब वस्तुओंमें, तू-मैं आदि सब व्यक्तियोंमें तथा समष्टिमें समान-रूपसे लागू हो सके, उसका नाम है—'सनातनधर्म'। यहाँ मानवधर्मपर थोड़ा विचार करना है। मानवशरीरकी सृष्टि जिस कार्यके लिये हुई है और मानवको अपना शरीर जिस कार्यको पूर्ण करनेके लिये धारण कराया गया है, वह है मानवका मुख्य धर्म और उस कार्यको सब प्रकारसे पूर्ण करना ही सच्ची मानवता है। जैसे उष्णता अग्निका मुख्य धर्म है, उष्णता न हो तो अग्निका अस्तित्व ही नहीं रहेगा, वैसे ही मानवका मुख्य धर्म है—मानवता, मानवता न हो तो मानवकी सत्ता ही नहीं रह जायगी। सुतरां मानवता ही मानव-जीवनका सार है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
(श्रीमद्भा० ११।९।२८)

'भगवान्‌की अपार कृपाके विना जिसको पराजित करना सर्वथा असम्भव है, ऐसी अपनी अचिन्त्य मायाशक्तिके द्वारा भगवान्‌ने वट, पीपल आदि वृक्ष, सरककर—रेंगकर चलनेवाले जन्तु, चार पैरवाले पशु, आकाशमें उड़नेवाले पक्षी, मच्छर आदि डाँस जातिके जन्तु और जलमें विहार करनेवाले मत्स्य आदि अनेकों प्रकारकी योनियोंके शरीरोंकी रचना की, किंतु इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। कारण यह कि इनमेंसे किसीको भी अपने बनानेवालेको पहचाननेका ज्ञान नहीं था। अन्तमें परमात्माने मानवशरीरकी सृष्टि की, तो इससे उन्हें संतोष तथा आनन्द हुआ; क्योंकि भगवान्‌के लाडले मानवको अथाह ज्ञानका ऐसा अटूट भंडार मिला है कि जिसके द्वारा वह परब्रह्म परमात्माका परिचय प्राप्त कर लेता है।'

इससे पता चलता है कि मानवको यह शरीर ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये धारण कराया गया है। मानवयोनिकी विशेषता भी यही है। वैसे तो सभी योनियोंकी अपनी-अपनी

विशेषताएँ होती हैं; परंतु मानवयोनिकी विशेषता कुछ विलक्षण ही है। मानव चाहे तो श्रेष्ठतर ही नहीं, श्रेष्ठतम भी बन सकता है। मानव यदि जंगली जानवरोंकी आदतें छोड़ दे और मानवकी तरह जीना एवं रहना सीख ले तो वह श्रेष्ठतम है ही एवं मानवताके आदर्शको अपनानेके लिये उसे ऐसा करना भी चाहिये। एक मनुष्यका बालक और मनुष्येतर प्राणीका (उदाहरणके लिये गायका) एक बच्चा, दोनों पैदा होते हैं, कुछ कालतक समान जीवन जीते हैं। दोनों अपनी-आपनी माताका स्तन चूसकर दूध पीते हैं, कभी-कभी स्तनमें दाँत भी लगा देते हैं। दोनों ही अपना खाना-पीना जानते हुए भी दूसरेका दुःख नहीं जानते। दोनों समानतया अज्ञान होते हैं। पर मनुष्यका बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसका अज्ञान घटता और ज्ञान बढ़ता चला जाता है और बछड़ा बड़ा हो जाता है, तो भी उसका ज्ञान, अज्ञान प्रायः पूर्ववत् ज्यों-का-त्यों रहता है। बछड़ा अपनी थकी-मादी माँको सींग-लात मारता है, भूखी माँके सामनेका चारा जबरन् खा लेता है। बालक माँको न मारता है, न गाली ही देता है; प्रत्युत माँकी आज्ञा मानता है, सेवा करता है और माँको खिलाकर खुश होता है। बछड़ा खेतमें जायगा, तो हरी-भरी लहलहाती फसलको उजाड़ देगा, पौधोंको रौंदेगा, खायगा कम और नुकसान करेगा अधिक। इसमें बछड़ेका कोई दोष नहीं है, उसका स्वभाव ही वैसा है। हाँ, मानव अपने विवेकशील और प्रेममय स्वभावके विपरीत यदि वैसा करेगा तो वह अवश्य दोषका भागी माना जायगा। खेतमें तो मानव भी जाता ही है, खाने लायक चीजें खाता भी है, फिर भी नुकसान नहीं करता। वह तो नींद (फसलको हानि पहुँचानेवाले अडवाऊ घास) को उखाड़कर, खेतमें खाद-पानी देकर, बछड़े आदि सभी प्राणियोंसे फसलकी रक्षा करता है और बछड़े आदि प्राणियोंको भी पालता है। यद्यपि मानवको दूसरे प्राणियोंसे अपनी सेवा करानेमें आनन्द अवश्य आता है, तथापि दूसरोंकी सेवा करनेमें उसे जो आनन्द मिलता है, उसकी तुलनामें वह नगण्य है। जैसे परिवारका प्रधान पुरुष कम खाकर, फटे-पुराने कपड़े पहनकर परिवारके अन्य सदस्योंकी आवश्यकताएँ पूरी करके उनकी सेवा करता है और उसमें उसे पूर्ण संतोष तथा अपूर्व आनन्द मिलता है; वैसे मानवको भी सभी प्राणियोंमें श्रेष्ठ होनेके नाते प्राणिमात्रकी सेवामें अपना तन, मन, धन खर्च करके संतृप्त तथा आनन्दित होना उचित है।

मनुष्योंकी भाँति सभी प्राणी खाते-पीते, सोते-जागते, लड़ते-झगड़ते, डरते-डराते और बाल-बच्चे पैदा करते हैं; परंतु मानवकी विशेषता इनसे एकदम ऊपर उठी हुई है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
(महाभारत, शान्तिपर्व २९४। २९)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों तथा पशुओंके लिये एक समान स्वाभाविक है। मनुष्यों और पशुओंमें यदि कोई भेद है तो केवल धर्मका है—अर्थात् इन स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको मर्यादित करनेका है। जिन मनुष्योंमें यह धर्म नहीं है, वे पशुओंके समान हैं।'

पशुओंको खूराक न मिले तो उपवास अनायास हो जाता है, परंतु उसका आनन्द उन्हें नहीं आता। खानेका सामान घरमें भरपूर भरा रहनेपर भी मनुष्य कभी-कभी नहीं खाता। वह सोचता है—'आज एकादशी है, नहीं खाऊँगा, व्रत करूँगा, आजका अपने भागका भोजन किसी अधिकारीको दे दूँगा' और सचमुच जान-बूझकर भूखा रहता है, तो उसका उपवास तो हो ही जाता है, उसे व्रतका आनन्द भी मिल जाता है।

भगवान्‌की अनुपम अनुकम्पासे मानवको ब्रह्मसाक्षात्कारकी अनोखी शक्ति मिली है। वह परमात्माकी ही वस्तु है, उसके द्वारा उन्हींकी सेवा होनी चाहिये। वैभव तो विभुका ही है, ऐश्वर्य तो ईश्वरका ही है, लक्ष्मी तो नारायणकी ही है, उसे अपनी व्यक्तिगत मिलकियत मानना तो स्वयं ईश्वर बन बैठना है। ईश्वरको मालिक न माननेका आवश्यक अर्थ होता है—अपने-आपको मालिक मान लेना और इस जघन्य अपराधके असह्य दण्डको आमन्त्रित करना। लक्ष्मी नारायणकी चरणसेवामें रहती है, इसका भी यही तात्पर्य है कि नारायणकी असीम दयासे मानवको मिली हुई तन-मन-धन-शक्तिको नारायणकी चरण-सेवामें सादर समर्पित करना। नारायणके चरणोंको कहीं दूर खोजने जानेकी जरूरत नहीं है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि। (ऋग्वेद १०। ९०। ३)

'समस्त प्राणी परमेश्वरके (विराट् नारायणके) प्रत्यक्ष पाद (चरण) हैं।' नामरूपात्मक सम्पूर्ण पदार्थ परमेश्वर-

का दूसरा रूप है; नारायण ही सभी सजीव, निर्जीवरूपसे विलसित हो रहे हैं; सभी प्राणियोंके शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, हृदय, आत्मा आदि सब कुछ नारायण ही बने हुए हैं। अतः सबकी सेवा नारायणकी सेवा है। नरके (जीवमात्रके) हृदयका नाम है 'नार' और यह नार ही है 'अयन' (निवास या प्राप्ति-स्थान) जिनका, उन्हें 'नारायण' कहते हैं। इस अर्थमें हमारे हृदय-मन्दिरके आराध्य देव ही, हमारे अन्तर्यामी ही, हमारे आत्मा ही सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
(गीता १३ । १६)

'चराचर समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और व्यवस्था करनेवाले परब्रह्म परमात्मा सब भूतोंमें एक अविभक्त होनेपर भी नाम-रूपके भेदसे प्रत्येक पदार्थमें भिन्न-से प्रतीत होते हैं।'

अनेकताके अन्तर्निहित एकताका उपदेश देते हुए मानवके रूपमें प्रकट हुए भगवान् श्रीकृष्णने भी मानवमात्रको यही आदेश दिया है कि 'विश्वव्यापी परब्रह्मके दर्शन विश्वमें ही करो।' मानवको जो ब्रह्मसाक्षात्कारकी ज्ञानशक्ति मिली है, इसके द्वारा वह ऐसा कर सकता है। जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, वह सब हमारे अंदर आत्मरूपसे रहे हुए परब्रह्म ही हैं—ऐसा ज्ञान हो जानेपर हमारा सबमें अविलम्ब वैसा ही प्रेम हो जाता है, जैसा कि अपने-आपमें। जिसका ज्ञान हुआ, उसमें प्रेमका होना अनिवार्य है। गुड़ खाया, मधुरताका अनुभव हुआ और गुड़में प्रेम हो गया। सच्चिदानन्द प्रभुका विश्वव्याप्त अनुभव हुआ कि विश्वप्रेम हो गया। यह गुड़-सा मीठा भगवान् गूँगेका गुड़ तो है नहीं। यह प्रेममय परमेश्वर तो मूक वाणीको भी वाचाल बना देता है; तन-मन आदि जडवर्गको चेतना प्रदान करता है। प्रेमसेवा करानेमें नितान्त निष्णात है। प्रेमी प्रियतमकी सेवा किये बिना जी ही नहीं सकता। जीमसे किसीके साथ बोलते समय सबके हृदयमें विराजमान हमारे प्रियतम नारायण ही मीठी, मधुरी, प्रेमभरी बातें सुननेके लिये अधीर होकर सुननेवालेके कानमें आ बैठे हैं और मैं उन्हें अपने मनोभाव सुना रहा हूँ—ऐसी नीयतसे वह प्रेमी बोलता है। हाथ, पैर, आँख, कान आदि अन्य इन्द्रियोंसे व्यवहार करते समय भी वह इसी प्रकार अपने प्रियतम प्रभुकी सेवा ही करता है और शनैः-शनैः सेवाके क्षेत्रको विस्तृत करता है। स्थलचर, जलचर, नभचर, अचर आदि सभी योनियोंके प्राणियोंमें विलसित परमेश्वरकी सेवाका एक भी अवसर खाली न निकल जाय, इसके लिये वह सदा सावधान रहता है। इस प्रकार विश्वव्यापी प्रभुका प्रत्यक्ष ज्ञान, ज्ञानसे विश्वप्रेम और प्रेमसे यथाशक्ति विश्वसेवामय अपने जीवनको बना लेता है। बस, यही मानव-जीवनका सार है, सच्ची मानवता है, इसी कार्यको पूरा करनेके लिये मानव-शरीर मिला है और इसे पूरा कर लेनेपर ही इसकी रचना करनेवाले परमात्माको संतोष या मोद-प्रमोद होता है। परम दयानिधान परमात्मा असीम दया दिखायें और वर्तमान युगके मानवको मानवताकी ओर चलनेकी शक्ति और भावना दें।

चार प्रकारकी मानवता

१—ब्रह्मज्ञ, २—उत्तम, ३—मध्यम और ४—निकृष्ट।

निकृष्ट मानवकी यह वृत्ति,
मेरा सो मेरा, तेरा भी मेरा॥

उत्तम मानवकी यह वृत्ति,
तेरा सो तेरा, मेरा भी तेरा॥

मध्यम मानवकी यह वृत्ति,
मेरा सो मेरा, तेरा सो तेरा॥

ब्रह्मज्ञ मानवकी यह वृत्ति,
झूठा झमेला, न तेरा न मेरा॥

—श्रीबुद्धिप्रकाशशर्मा उपाध्याय, 'बुद्धदेव'

मानवताकी सफल योजना

(लेखक—स्वामीजी अनन्तश्री नारदानन्दजी सरस्वती)

मानवताका परिचय मानव-धर्मसे ही होता है, शरीरकी आकृतिसे नहीं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—इन दस धर्मके लक्षणोंसे युक्त मनुष्यको मनुने 'मानव' कहा है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

(योगदर्शन)

सभी जाति, देश, कालमें मनुष्यमात्रने इसे स्वीकार किया है। इन्हीं महाव्रतोंको दृढ़ करनेके लिये तथा व्यवहारको सुव्यवस्थित चलानेके हेतु राष्ट्र-निर्माणमें परम उपयोगी समझकर वर्णाश्रम-व्यवस्थाको आदरसहित पालन करनेमें बहुत कालतक ऋषियोंने प्रयास किया है।

प्राचीन इतिहाससे बोध होता है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था-पालनमें उपर्युक्त महाव्रतोंकी जब-जब उपेक्षा की गयी, तब-तब मानव-समाजमें असंतोष, विग्रह, दुर्व्यवस्था तथा क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अवैदिक मतोंका प्रचार हुआ। कुछ कालतक सुख-शान्तिके आभासका अनुभव हुआ तथा वर्णाश्रम-धर्मरहित सामान्य धर्मोंका समुदायने आश्रय लिया, पर न वह अवैदिक धर्म सम्पूर्णतया व्यापक ही हो सका, न दीर्घ कालतक स्थिर ही रहा। अपितु उसने सैकड़ों पन्थ, स्वेच्छाचारी वर्ग एवं भिन्न-भिन्न जातियोंको जन्म दिया। कलह, अशान्ति बढ़ गयी; स्वेच्छाचारिता, पाखण्ड, नास्तिकताका घोर प्रवाह चला। समयके परिवर्तनने समाजको भोग-लिप्सासे असंतुष्ट, किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया। तत्त्वदर्शियोंका अभाव होनेसे मानव-समाजको पथ-प्रदर्शन न मिल सका। जनता दुखी होकर अखिल सृष्टिके संचालक दैवी शक्तिसे प्रार्थना करने लगी। देव तथा देवदूतोंके रूपमें ऋषि-मुनियोंका अवतरण हुआ। अहिंसादि महाव्रतोंका स्वयं पालन करते हुए वर्णाश्रमकी मर्यादा-स्थापनाद्वारा मनुष्य-समाजको मार्ग दिखाया। प्राणिमात्रको सुख-शान्ति मिली, दीर्घकालतक समाजकी सुव्यवस्था चलती रही। केवल पञ्चमहाव्रतोंसे अथवा इनकी उपेक्षा करके केवल वर्णाश्रम-धर्मसे समाजकी सुन्दर व्यवस्था नहीं बनी।

पूर्वकालीन इतिहासको भली प्रकार दीर्घ कालतक मनन करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि महाव्रतोंका पूर्ण आदर करते हुए समाजको किसी अंशतक सुख मिल सकता है। वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी उपेक्षा करके महाव्रतोंका सहस्रों वर्ष प्रचार किया गया, पर समाज सुव्यवस्थित न हो सका और पञ्चमहाव्रतोंकी उपेक्षा करके केवल वर्णाश्रमधर्म भी समाजको संतुष्ट न कर सका। पञ्चमहाव्रत और वर्णाश्रमधर्म शास्त्रविधिसे पालन करनेपर ही मानवताका पूर्ण विकास हो सकता है। शास्त्रका विधान मनुष्यमें पशुता और दानवताका परिहार करता हुआ मानवताके पूर्ण विकासरूप देवत्वतक उसे पहुँचानेमें समर्थ है।

तत्त्ववेत्ताओंने जिस मनुष्यमें पूर्ण मानवताका विकास पाया, उसे महापुरुष, पुरुषोत्तम आदि विशेषणोंसे सम्बोधित किया। संत, साधु, महात्मा शब्दोंसे भी व्यक्त किया है। श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें दैवी, आसुरी सम्पद्के लक्षणोंद्वारा मानवता और दानवताका अन्तर समझाया है। श्रीरामचरितमानसमें परम भागवत गोस्वामी तुलसीदासजीने संत, असंतके लक्षणोंद्वारा दोनों पक्षोंका निरूपण किया है।

भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने मानवताके पूर्ण विकासके लिये वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी रक्षाका आदर्श उपस्थित किया। केवल प्रवचनसे नहीं, अपितु अधिक-से-अधिक लोकसंग्रहके अर्थ स्वधर्मका पालन किया। उसी प्रकार लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्ने जिनको स्वयं कर्म करनेकी आवश्यकता न थी, लोकसंग्रहके निमित्त स्वयं धर्ममर्यादाका पालन किया और समुदायसे करवाया। जिससे यह प्रतीत होता है कि जीवन्मुक्त तत्त्ववेत्ता ही स्वधर्मका पालन करके मानव-समाजको मानवताकी शिक्षा देनेमें समर्थ हुए हैं, सफल हो रहे हैं और सफल होंगे। आचरणकी उपेक्षा करके केवल बृहस्पतिके समान वक्ता होकर भी सुमधुर प्रवचनद्वारा ही जनताको सत्कर्मकी शिक्षा देनेमें कोई समर्थ नहीं हो सकता। भले ही उपदेशसे सात्त्विक भाव अंशतः जाग्रत् हो जायँ। शास्त्रविधानके आधारपर जीवन्मुक्तोंद्वारा मानवताकी शिक्षा कभी विफल नहीं हो सकती।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।
(नारदभक्तिसूत्र)

परब्रह्म परमात्मा अचल है, सनातन है । सच्चिदानन्दघन, अपरिवर्तनशील, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय जिसमें आरोपित है, वही अक्षय सुखका भंडार मनुष्योंके लिये जीवनका लक्ष्य होना चाहिये । विषयभोगमें सुख नहीं । नश्वर पदार्थ परिणाममें दुःखदायी होनेसे वैराग्य करनेयोग्य हैं । परमात्मा ही अक्षय सुख-भंडार होनेके कारण सब जीवोंको अमर सुख प्राप्त करा सकता है ।

जो आनंदसिंधु सुखरासी । सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुख धाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥

प्राचीन कालके इतिहासमें दैवी आचरणोंके आधारपर शास्त्रोक्त विधिसे ब्रह्मप्राप्तिके उद्देश्यका आश्रय लेकर एक समाज अपनी उन्नति करता था । दूसरा विषयभोगको ध्येय मानकर आसुरी गुण-कर्म-स्वभावका आश्रय लेकर अपना उत्थान करता था । कभी-कभी परस्परमें टकरानेसे देवासुर-संग्राम हो जाता था । महाभारत तथा लङ्काकाण्ड इसीके उदाहरण हैं ।

एक ही वंशमें दैवी, आसुरी प्रकृतिके कारण ही दो समुदायोंका बन जाना स्वाभाविक था । एक समाजमें दो उद्देश्य, दो विधान-पालन नहीं हो सकते । रावणका वंश भी उत्तम कुल पुलस्त्यका परिवार था । पाण्डव और कौरव भी चचेरे भाई थे । कौरवों, पाण्डवोंका विपरीत उद्देश्य होनेसे भगवान् श्रीकृष्ण भी नीति और प्रकृतिके कारण समन्वय न करा सके । यदि दोनों समाज एकमें मिलकर रहते तो पाण्डवोंका विनाश हो जाता । वेश्या और पतिव्रताकी साझेकी दूकान चलानेमें वेश्याकी कोई क्षति नहीं, पतिव्रताकी ही क्षति है । संत-कसाईके साझेकी दूकानमें संतकी क्षति है, कसाईकी नहीं; भेड़ और भेड़ियाको एक कमरेमें रखनेसे भेड़को भय है, भेड़ियाको नहीं । ऐसे ही दैवी गुणोंके पुरुषको क्षति है, आसुरी वृत्तिवालेको नहीं ।

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
पिता तज्यो प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितन्हि भये मुद मंगलकारी ॥

यदि किसी मनुष्यको अपनी दानवता दुःखदायी प्रतीत हो, ग्लानि हो तो उसे मानवताके सच्चे पुजारी, केवल साधु-वेशधारी ही नहीं, अपितु साधुप्रकृतिवालोंकी शरणमें जाना चाहिये । जैसे एक रत्नाकर डाकूको जब अपनी दुश्चरित्रता, दानवतापर ग्लानि हुई, उसी समयसे उसने संतोंकी शरण ली, तप किया और त्रिकालदर्शी, महाकवि, महामानव, महर्षि वाल्मीकिके पदको प्राप्तकर भगवान् श्रीरामको आशीर्वाद देने योग्य बन गये ।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
(९ । ३०

कोई भी मनुष्य अपने दुश्चरित्रोंसे दुःखित होकर मेरी शरणमें आता है तो मैं उसको शीघ्र ही साधुवृत्तिवाला बनाकर सदैवके लिये सुखी करके जीवन कृतार्थ कर देता हूँ ।

देह धरे कर यह फल भाई । भजिअ राम सब काम बिहाई ॥

सभी शास्त्रोंका यही सार है कि मानवताका विकास करो । दानवताका विनाश करो । रजोगुण, तमोगुण दानवताको बढ़ानेवाले हैं, सत्त्वगुणकी वृद्धिसे मानवताका विकास होता है । इससे भागवतके एकादश स्कन्धमें मानवता बढ़ानेके दस साधन बताये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १३ । ४)

शास्त्र, जल, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र, संस्कार—ये दस वस्तुएँ सात्त्विक, राजस, तामस जिस गुणवाली होती हैं, उसी गुणको बढ़ाती हैं ।

इनसे सात्त्विक समाज एकत्रित करके मानवताके सद्गुणों-द्वारा एकताका संगठन करे, जिससे सभी समाज शनैः-शनैः अपनी दुर्वृत्तिका दमन करके सत्त्वगुणी बननेका प्रयास करे ।

जो व्यक्ति धर्म, ईश्वरसे विमुख होकर समाजकी सेवामें लगे हैं, उनमें भी मानवताके लक्षण मिलते हैं । जो ईश्वर, धर्मको माननेवाले समाजकी सेवाको भूले हुए हैं, उनमें भी कुछ अंश मानवताके पाये जाते हैं । यदि ईश्वर, धर्मको माननेवाले जनताको जनार्दन समझकर समाज-सेवाको भगवत्सेवाका अङ्ग समझें और समाजसेवी पुरुष ईश्वर-स्मरणको समाज-सेवाका अङ्ग समझें तो विश्वशान्ति होनेमें अधिक समय नहीं लगेगा । इसीसे भागवतकार श्रीव्यासजीने परम पूजाके रहस्यको व्यक्त किया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४५-४६)

'प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि रखकर उस विराट् भगवान्‌को सर्वत्र देखना मानवताका सत्यस्वरूप है। ईश्वरसे प्रेम, भक्तोंसे मैत्री, अज्ञानीपर कृपा, दुष्टोंके प्रति उपेक्षाभाव रखना मानवताका आंशिक रूप है।' अतः अपनी वृत्तिको सुन्दर बनानेके हेतु आन्तरिक विकारोंकी निवृत्ति करना चाहिये। हृदयकी सुन्दरता सच्ची मानवता है, शरीरकी सुन्दरता नहीं। काम-क्रोधादि षट् विकार मनुष्यको दानवताकी ओर प्रवृत्त करते हैं, इनकी निवृत्ति और दैवीसम्पद्‌के लक्षणोंकी वृद्धि मानवताके विकासमें सहायक है।

समाजका नेतृत्व तत्त्ववेत्ता ही कर सकते हैं; क्योंकि वे राग-द्वेषसे रहित होते हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(गीता २।६४)

रागी पुरुष गुण न होते हुए भी आसक्तिके कारण गुण देखता है। द्वेषदृष्टिवाला पुरुष दोष न होते हुए भी दोष देखता है। इससे रागद्वेषरहित होकर व्यावहारिक क्रिया करे। शुद्ध हृदयवाले पुरुषोंके संगठनमें देर नहीं लगती। राग-द्वेष-युक्त पुरुषोंका संगठन दुःसाध्य है, अतः एक विचारवाले सभी सात्त्विक समाजका संगठन मानवताके आधारपर हो सकता है। यह ध्रुव सत्य है। ऋषियोंका यह उदार सिद्धान्त प्राणिमात्रके लिये हितकारी है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

सच्ची मानवताकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंका आश्रय आवश्यक

(वीतराग ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्री स्वामी श्रीहीरानन्दजी महाराज)

[प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी]

[अभी अगस्त सन् १९५८ में पिलखुवा हमारे स्थानपर भारतके सुप्रसिद्ध महान् संत परमपूज्यपाद वीतराग ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य अनन्तश्री स्वामी श्रीहीरानन्दजी महाराज पधारे थे। आप बड़े उच्चकोटिके महापुरुष माने जाते हैं। उस समय आपके मानवता-सम्बन्धी कुछ सदुपदेश लिख लिये थे, जो यहाँपर दिये जा रहे हैं। इसमें जो भी गलती रह गयी हो, वह सब हमारी ही समझनी चाहिये। प्रे०]

प्रश्न—महाराजश्री! सच्चे रूपमें मानव कौन है और मानवके अंदर मानवता कैसे आ सकती है?

उत्तर—वर्णाश्रमधर्मके आधारभूत मनुस्मृतिके रचयिता मनु भगवान्‌की संतान ही मानव है, मानवता उनमें तभी समझी जायगी कि जब कारणसे आयी वस्तु उनमें उपलब्ध होगी। मानवको स्वतः ही बुद्धि-वैशारद्य प्राप्त है; क्योंकि वह वर्णाश्रमी है। उस बुद्धि-वैशारद्यसे ही लोक-परलोक तथा अध्यात्मकी समस्त उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। अतएव लोक-परलोक और अध्यात्मकी सफलतामें बुद्धि-वैशारद्य-प्राप्त मानवका ही अधिकार है। साथ-ही-साथ विकासके तारतम्यका यथावत् परिज्ञान भी मानवतापर ही अवलम्बित है। विकासकी चरम सीमा अनिर्देश्य, अव्यक्त, अक्षर, ब्रह्म-की एकरस परिपूर्णताकी अनुभूति मानवतापर अवलम्बित है; क्योंकि बुद्धिकी शुद्धिका उपायभूत खान-पान, आहार-विहार आदि समस्त मनु तथा अन्यान्य श्रुतिमूलक स्मृतिरचयिताओं-पर आधारित है। इसीलिये पूर्णरीत्या उनमें मानवता भी आती है। सभी प्रकारका विकास भी मानवपर ही आधारित है।

प्रश्न—मानवके अंदरसे मानवताका ह्रास क्योंकर हो जाता है?

उत्तर—अभक्ष्य भक्षण करनेसे, अगम्य गमन करनेसे, अकर्तव्यमें कर्तव्यका भ्रम होनेसे मानवमें दानवताका उदय होता है। मांस-मछली खाना, अंडे-मुर्गे खाना, बीड़ी-सिगरेट पीना, चाय-सोडा पीना, शराब पीना आदि सब मानवताके ह्रासके कारण हैं। शराब तो एक दम चोटीपर चढ़े हुए मनुष्यको सर्वथा धराशायी कर दिया करती है। इसलिये भूलकर भी मांस-मदिराके हाथ लगाना भी पाप मानना चाहिये और इनके पास भी नहीं फटकना चाहिये। मांस-मदिराका सेवन करनेवाला मानव अपनी मानवताको तिलाञ्जलि देकर

दानवताका घर—साक्षात् दानव बन जाता है। किसी भी निरपराध जीवको व्यर्थ ही मारा-काटा जाय और उसका मांस खाया जाय एवं फिर भी अपनेको मानव कहा जाय तथा मानवताकी आशा की जाय—यह कैसे हो सकता है? मानव वही है कि जो किसी भी निरपराध जीवको कभी नहीं सताता, वरं जीवमात्रको स्वयं कष्ट झेलकर भी सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है। वह भला कैसा मानव है और उसके अंदर मानवता कैसी है कि जो व्यर्थ ही जीवोंको कष्ट देता है और उन्हें मार-काटकर, सताकर उनका मांस खाता है? इसलिये यदि मानवको अपने अंदर सच्ची मानवता लानी हो तो उसे शास्त्रोंका सहारा लेना चाहिये और अपना खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार शास्त्रानुसार सात्त्विक बनाना चाहिये। सनातन प्रभुके सनातन वेद-शास्त्रानुसार, सनातन-धर्मका पालन करना ही सच्ची मानवताकी प्राप्तिमें प्रधान हेतु है।

मानव, मानवता और मानवधर्म

(लेखक—अनन्तश्रीस्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी विदेह)

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि,
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो,
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥
(ऋ० १०।५३।६)

तन्तुं तन्वन् रजसः भानुं अनु-इहि,
ज्योतिःमतः पथः रक्ष धिया कृतान्।
अनू-उल्बणं वयत जोगुवां अपः,
मनुः भव जनयं दैव्यं जनम्॥

विभिन्न शाखाओंमें मानवकी उत्पत्तिके भिन्न-भिन्न, किंतु महत्त्वद्योतक आख्यान आख्यात किये गये हैं।

एक शाखा आख्यात करती है कि मनुष्यकी उत्पत्ति कमलके फूलमेंसे हुई। अनासक्तिके लिये कमलकी उपमा दी जाती है। इस आख्यानसे तात्पर्य यह है कि मानव वह है, जो संसार-वारिमें कमल-पुष्पके समान अनासक्त रहे।

दूसरी शाखा आख्यात करती है कि मनुष्यकी उत्पत्ति पार्थिव कमलसे नहीं, उस अपार्थिव कमलसे हुई, जिसका आरोहण विष्णु भगवान्‌की नाभिसे हुआ। इस आख्यानका आशय यह है कि मानव वह है, जो पृथिवीपर अपार्थिव (त्रिगुणातीत) होकर रहे।

तीसरी शाखा कहती है कि खुदाने ध्वनि की "हो जा" और सारा ब्रह्माण्ड अस्तित्वमें आ गया। किंतु मानवको खुद खुदाने बनाया और फ़रिश्तों (देवों) को आदेश दिया कि वे मानवको नमस्कार करें। सभी फ़रिश्तोंने मानवको नमस्कार किया, केवल एक था जिसने मानवके आगे नमनेसे इन्कार किया। खुदाने उसे स्वर्गसे निकाल दिया और वह शैतान (स्तेन) के नामसे पुकारा गया। इसका अभिप्राय यही है कि मानव प्रभुका प्रतिनिधि है, वे जन फरिश्ते हैं, जो मानव या मानवताका मान करते हैं और वे जन शैतान (स्तेन) हैं, जो मानव या मानवताका अवमान करते हैं।

मानव विशेषणातीत है। 'मानव' के साथ किसी भी विशेषणका प्रयोग मानवकी महिमाको न बढ़ाकर उसकी महिमामें लघुता-सी लाता है। अनासक्त, त्रिगुणातीत और ब्रह्मका प्रतिनिधित्व करनेवाले इस मानवकी वास्तविक महिमा इसके विशुद्ध मानव होनेमें है। मानवका गौरव न देव बननेमें है, न स्तेन बननेमें; क्योंकि मानव वह है, जिसे देव नमस्कार करते हैं। देव बनकर मानव नमस्करणीय न रहेगा, नमस्कारकर्ता बन जायगा और स्तेन बननेसे तो मानवताका सर्वथा लोप हो जायगा। इसीलिये वेदमाताने मानवको दुलारके साथ प्रेरणा की है—मानव! (मनुः भव) मानव बन, विशुद्ध मानव बन।

मानवको चाहिये भगवान्‌का अनासक्त और त्रिगुणातीत प्रतिनिधि बनकर भगवान्‌की सृष्टिमें दिव्य जन—ता (मानवता) का प्रादुर्भवन और प्रकाशन करे। शोभा इसीमें है कि मानव दैव्य मानवताका द्योतन करे। दानव बनकर दानवताका द्योतन करनेसे तो मानव भगवान्‌का प्रतिनिधि न रहकर स्तेनका प्रतिनिधि बन जाता है। मानव विशुद्ध मानव बने और मानवताका विश्वमें द्योतन करे, यही मानवका धर्म है और यही मानवकी सत्य मानवता है।

आज न जाने मानवको क्या हो गया है। न वह अपनेको मानव कहता है, न वह मानवताको अपना धर्म समझता है। मानवताके अतिरिक्त मानवका धर्म और हो ही क्या सकता है? पर वर्तमानमें उलटी गङ्गा बह रही है।

एक गधेसे पूछिये, 'तू कौन है ?' उत्तर मिलेगा, 'मैं गधा हूँ'। एक बैलसे पूछिये, 'तू कौन है ?' उत्तर मिलेगा, 'मैं बैल हूँ'। एक सिंहसे पूछिये, 'तू कौन है ?' उत्तर मिलेगा, 'मैं सिंह हूँ'। परंतु एक मानवसे पूछिये, 'तू कौन है ?' तो 'मैं मानव हूँ' यह उत्तर न मिलकर कुछ और ही उत्तर मिलेगा। इसी प्रकार आप किसी पशु-से उसका धर्म पूछिये, उत्तरमें वह अपना पशुताजन्य धर्म ही बतायेगा। पर किसी मानवसे पूछिये, 'तेरा धर्म क्या है ?' 'मानवता मेरा धर्म है' 'मेरा धर्म मानवधर्म है' यह उत्तर न मिलकर आपको कुछ और ही उत्तर मिलेगा। युगकी यह अमानवता और मानवधर्महीनता मानवके लिये एक भयंकर अभिशाप बना हुआ है। मानव सुने कि वेदमाता इस विषयमें क्या कह रही है—मानव ! तेरा धर्म है कि तू (दैव्यं जनं जनय)। दैव्य जनका प्रकाशन कर, दिव्य मानवताका द्योतन कर।

मानवता अथवा मानवधर्मके तीन मूलभूत आधारोंका मन्त्रमें संक्षेपसे वर्णन किया गया है। (१) मानव ! (रजसः तन्तुं तन्वन् भानुं अनु इहि) लोकके तन्तुको तनता हुआ सूर्यका अनुसरण कर। इस पृथिवी-लोकका निवासी यह मानव लौकिक कर्मकलापों और कर्तव्य-कर्मों-का ताना-बाना बुनता हुआ सूर्यका अनुकरण करे। सूर्य सदा अपने आवृत (Orbit) पर स्थित रहता है, अपने प्रकाशसे सौर-मण्डलको प्रकाशित करता है, अपने समस्त ग्रहों और उपग्रहोंको अपने आकर्षणसे अपने प्रति आकृष्ट रखता है। मानवका धर्म है कि वह मानवता अथवा मानवधर्मके आवृतपर संतत संस्थित रहे, मानव-मण्डलमें मानव-धर्मका प्रकाशन करे और अपनी पुनीत और पावन मानवी सेवाओंसे मानव-मात्रको अपने प्रति आकृष्ट रखे।

(२) मानव ! (धिया कृतान् ज्योतिष्मतः पथः रक्ष) धीमान् वर्गद्वारा सम्पादित ज्योतिर्मय पथोंकी रक्षा कर। मानव एक धीमान्—बुद्धिप्रधान प्राणी है। मानवको चाहिये कि मेधावियोंद्वारा सुनिष्पादित मानव-जीवनके ज्योतिर्मय पथोंकी रक्षा करे। उन मानव-पथोंको वह विलुप्त न होने दे। मेधावी मानवोंने मानवोंके लिये जीवनके जो अनुभूत और समुज्ज्वल आदर्श स्थापित किये हैं, जो मानवी मर्यादाएँ संस्थापित की हैं, उनपर स्वयं चलना और दूसरोंको चलाना —यही उनके द्वारा सुनिर्मित ज्योतिर्मय पथोंकी रक्षा करना है।

(३) मानव ! (जोगुवां अनुल्वणं अपः वयत) पूर्वजोंके अजटिल (ऋजु) कर्मोंको गति दे (कर)। मानव प्राचीन आदर्श मानवोंके ऋजु कर्मोंका पालन करे। महा-जन (महा-मानव) जिन ऋजु कर्मोंका प्रवाह प्रवाहित कर गये हैं, उनका प्रपालन प्रत्येक मानव आस्थायुक्त होकर सदा करे। आदर्श मानवोंके महामानवोंके कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकारके कर्म अनू-उल्वण-उलझन-रहित, ऋजुतामय होते हैं। उनके कर्मोंमें उलझन और जटिलता लेश-मात्र नहीं होती। उलझन और जटिलता तो दानवीय कर्मोंमें होती है, मानवीय कर्मोंमें नहीं।

सूर्यानुसरण, ज्योतिष्पथिकता और ऋजुता—मानवता या मानव-धर्मके तीन पाद हैं। इस त्रिपाद मानवधर्मकी व्याप्तिसे ही मानव दानवतासे मुक्त होकर पुनः सत्य, शिव और सुन्दर मानव बनेगा। इस त्रिपाद मानवधर्मकी धृतिसे विश्वमें मानवताकी संधारणा होगी। इस त्रिपाद मानवधर्मकी भित्तिपर ही मानवता चिरस्थायी होगी। शुद्ध श्वेत वस्त्रपर अच्छा रंग चढ़ता है। शुद्ध श्वेत मानवपर ही मानवताका रंग चढ़ता है। मानव जब शुद्ध मानव होता है, तभी वह प्रत्येक संस्था, संस्थान, समाज, राष्ट्र और सम्प्रदायके लिये वरदान सिद्ध होता है।

प्रभु हमें शक्ति दें, हममें क्षमताका आधान करें और हम कृत-संकल्प होकर मानवका समादर करें, विश्वमें मानवताकी पुनः स्थापना करें और 'मानवधर्मकी जय' का सक्रिय जयघोष गुँजायें।

(रजसः तन्तुं तन्वन्) लोकके तन्तुको तनता हुआ, (भानुं अनु-इहि) सूर्यका अनुसरण कर।

(धिया कृतान्) धीमान् वर्गद्वारा निर्मित (ज्योतिष्मतः पथः रक्ष) ज्योतिर्मय पथोंकी रक्षा कर। (जोगुवां) चिरानुष्ठानियों—पूर्वजोंके (अनुल्वणं अपः) अनतिरिक्त कर्मोंको (वयत) गति दे।

(मनुः भव) मानव हो, मानव बन।

(दैव्यं जनं जनय) दिव्य जन—मानवताको प्रकाशित कर।

वन्दे मानवम्।

वन्दे मानवधर्मम्।

श्रीमद्भागवतमें मानवताका आदर्श

(लेखक—वैकुण्ठवासी जगद्गुरु अनन्तश्री स्वामी श्रीदेवनायकाचार्यजी महाराज*)

श्रीकृष्ण प्रभु साक्षात् परिपूर्ण अद्वयज्ञान ब्रह्म, परमात्मा भगवान् हैं। श्रीमद्भागवत उन्हींका शब्द-ब्रह्ममय अवतार है; अतएव इसमें समस्त विश्वका आदर्श विद्यमान है। साधकजन सावधानीसे इसकी उपासना कर अपने अभिमत आदर्शको भलीभाँति प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी वस्तुस्थितिमें मानवको वास्तविक मानव बननेके लिये श्रीमद्भागवतके अन्तर्गत मानवताका आदर्श देख उसका अनुसरण करना सर्वथा कर्तव्य है।

श्रीमद्भागवतकी दृष्टिमें मानवताका सम्बन्ध उस मूल पुरुषसे है, जिसकी संतान आजका समस्त मानव-समाज है। इसलिये सर्वप्रथम उस मूल पुरुष मनुके ही शब्दोंमें मानवता-का चित्र देखना अप्रासङ्गिक न होगा। आद्य मनु स्वायम्भुव अपनी पत्नी शतरूपाके साथ वनमें जाकर सुनन्दा नदीके किनारे एक पैरसे सौ वर्षतक खड़े रहकर घोर तपस्या करते समय नित्य भगवान्‌की स्तुति किया करते थे, जो इस प्रकार है—

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः॥
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किंचिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत॥
न यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः।
विश्वस्यामूनि यद् यस्माद् विश्वं च तदृतं महत्॥
स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयाऽऽत्मशक्त्या
तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते॥
अथाग्र ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे।
ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते॥
ईहते भगवानीशो नहि तत्र विषज्जते।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम्॥
तमीहमानं निरहंकृतं बुधं
निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्।
नॄन् शिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं
प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम्॥

(श्रीमद्भागवत ८।१।९—१६)

इसका सारांश यह है कि जिन भगवान्‌को यह विश्व चेतना नहीं देता, अपितु जिनकी चेतनाके स्पर्शसे यह विश्व चेतन हो जाता है, जो भगवान् इस विश्वके सो जानेपर अर्थात् प्रलयकालमें भी जागते रहते हैं, जिनको यह विश्व नहीं जानता, परंतु जो इसे जानते हैं, वे ही परम आत्मा भगवान् हैं। इस सम्पूर्ण विश्व और इसमें रहनेवाले चराचर सभी प्राणियोंमें वे व्याप्त हैं, इसलिये विश्वकी किसी भी वस्तुमें मोह न करते हुए त्यागके साथ केवल जीवन-निर्वाहोपयोगी भोग करना चाहिये। संसारकी सम्पत्तियाँ परमात्माके सिवा किसीकी भी नहीं हैं। इस बातको समझ तृष्णाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। भगवान् सबके साक्षी हैं। बुद्धि-वृत्तियाँ एवं नेत्र आदि इन्द्रियाँ उन्हें देखनेमें असमर्थ हैं, पर उनकी ज्ञानशक्ति अखण्ड है। समस्त प्राणियोंमें रहनेवाले उन स्वयं-प्रकाश असङ्ग परमात्माकी शरणमें जाओ, जिनका आदि, अन्त और मध्य नहीं है, जिनका कोई अपना-पराया नहीं है, जिनके न बाहर है और न भीतर है, वे भगवान् विश्वके आदि-अन्त-मध्य, बाहर-भीतर—सब कुछ हैं। उन्हींकी सत्तासे वास्तविक सत्ता है। वे ही वास्तविक परमब्रह्म हैं। वे ही विश्व-रूप, सर्वशक्तिमान्, सत्य, स्वयंप्रकाश, अजन्मा और पुराण-पुरुष हैं। उनके नाम अनन्त हैं। वे अपनी मायाशक्तिके

* परम सम्मान्य आचार्य महोदयका यह लेख अधूरा ही छापा जा रहा है। आप 'कल्याण'के विशेषाङ्कके लिये कलकत्तेमें यह लेख लिख रहे थे। किसी कामसे बाहर गये थे। लौटते समय मोटर-दुर्घटनासे आपका वैकुण्ठवास हो गया। आचार्य महोदय सनातन धर्मके महान् स्तम्भ थे। आजीवन धर्मसेवाका कार्य करते रहे और इस धर्मसेवारूप भगवत्कैङ्कर्यका कार्य करते-करते ही चले गये। आपके जानेसे सनातन धर्म-जगत्का एक अत्युज्ज्वल प्रकाशस्तम्भ टूट गया। इस क्षतिकी पूर्ति सम्भव नहीं है। भगवान्‌का विधान कब किस रूपमें प्रकट होता है, कुछ कहा नहीं जाता। 'कल्याण' पर आचार्य महोदयकी सदा ही अनन्त अनुकम्पा रही और 'कल्याण' की सेवा-सहायता करते-करते ही आप चल बसे। हम उनकी अमर आत्माका सश्रद्धि अभिनन्दन करते हैं—सम्पादक

मानवता-पालनकी बीस मर्यादाएँ

(लेखक—सर्वदर्शननिष्णात, तर्कवेदान्तशिरोमणि, स्वामीजी श्रीश्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज)

शास्त्रोक्त अवतार-परम्परा, श्रीशंकर-रामानुजादि-आचार्य-प्रणालिका एवं सूर-तुलसी-आदि संतोंद्वारा गृहीत मर्यादाओंके सांस्कृतिक इतिहासको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष सदैव मानवताके पालन एवं दानवताके विनाशके लिये संनद्ध और सुसज्जित रहा। दूसरे शब्दोंमें इसे यों कहा जा सकता है कि भारतवर्षके निवासी मानवता-मूलक धर्म और नीतिके रक्षक तथा दानवता-मूलक अधर्म एवं परपीडाके विरोधी रहे हैं। महाभारत, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि मुख्य भारतीय ग्रन्थोंमें कहे गये—

'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।'
'संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।'
'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।'

—आदि सिद्धान्त-वाक्योंका यही अभिप्राय है, जिसे संत तुलसीने सर्वसुलभ सामयिक भाषामें—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीडा सम नहिं अधमाई॥

—कहकर कलियुगी जीवोंको अपने उद्धारके लिये उसी मार्गका अनुसरण करनेकी सत्प्रेरणा दी है। उसी सर्वशास्त्र एवं संतोंद्वारा समर्थित सन्मार्गके पालनके लिये भारतवर्षके परम यशस्वी मासिक 'कल्याण'का यह मानवता-प्रसारमूलक आयोजन महत्त्वपूर्ण सामयिक सांस्कृतिक सेवा होनेसे स्तुत्य है।

मानवताका पालन, जो आज विश्वभ्रातृत्वकी उदार भावनाको पुष्ट करनेके लिये आवश्यक है, मानव-धर्मको मनसा, वाचा, कर्मणा धारण करनेपर निर्भर करता है। मानव-धर्म—यह समस्त पद है, जिसमें मानव एवं धर्म—ये दो शब्द सम्मिलित हैं। इनमेंसे धर्म-शब्दका अर्थ कर्ममीमांसामें 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' किया गया है। चोदनाका अर्थ प्रेरणा है। 'इदं कुरु, इदं मा कुरु' इस विधि-निषेधात्मक मर्यादाको चोदना कहते हैं तथा धर्म-शब्दका अर्थ इष्ट-(सुख) साधक एवं अनिष्ट (दुःख)-निवर्तक विधि-निषेधात्मक मर्यादा होता है। 'मानव' शब्दका अर्थ होता है—शरीर, वाणी, मन, बुद्धि तथा आत्माका समुदाय। एवं च सुख-शान्ति तथा दुःखाभावकी कारणरूपा शरीर, वाणी, मन, बुद्धि और आत्मा सम्बन्धी विधि-निषेधात्मक मर्यादाएँ मानव-धर्म हैं। मनुष्य शब्दके पर्याय 'मर्य' शब्दकी 'मर्यादावान् मर्यः' इस निरुक्तिसे भी मनुप्रोक्त विधि-निषेधात्मक मर्यादाका पालन ही मानवता है—यह सिद्ध हुआ।

यद्यपि मनुष्य शब्दकी 'मत्वा' 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति' इस निरुक्तिसे विवेकपूर्वक दीर्घ विचार एवं 'मनस्य मानेन प्रजापतिना सृष्टाः' इस निरुक्तिसे विशाल-मनस्त्व तथा मानुष शब्दकी 'मा दुष' इस व्युत्पत्तिसे दोषाभाव भी मानवता है; किंतु यहाँ मर्यादारूप मानवताका ही विवेचन अपेक्षित है।

विधि-निषेधात्मक मर्यादाएँ बीस प्रकारकी हैं। इनमेंसे दस मर्यादाएँ निषेधात्मक एवं दस विधानात्मक हैं। मानवको अपनी मानवताके विकासके लिये निषेधात्मक मर्यादाओंसे दूर रहना चाहिये। उनका वर्णन तीन भागोंमें क्रमशः किया जाता है। अदत्तादान (चौर्य), अवैधानिक हिंसा एवं व्यभिचार—ये तीन शारीरिक पाप हैं। इनसे बचना मानवका परम कर्तव्य है। जब मानव-समाजने प्रथम अदत्तक-आदान (चोरी) करना प्रारम्भ किया होगा, तभीसे राजा, राज्य, पुलिस, सेना एवं न्यायालय (कोर्ट) आदिका निर्माण हुआ होगा, जिसे अनेक प्रकारकी कर-वसूलीके रूपमें मानव-समाज आज भी भरता आ रहा है। इससे सिद्ध होता है कि अधर्मके आचरणका फल दुःख है।

दूसरा शारीरिक पाप अवैधानिक हिंसा है। जिस मानव-समाजमें यह फैल जाती है, वह समाज केवल पशु-पक्षियोंको ही संत्रस्त नहीं करता, अपितु जड-पदार्थोंकी भी नसें निकाल लेता है। वह राष्ट्र-समृद्धिके अन्यतम कारण पशु-धनको उदरस्थ कर नष्ट कर डालता है, जिससे शुद्ध दुग्ध, घृत आदिके अभावमें मानव-समाज शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक बलोंसे हीन हो जाता है तथा अनेक आधि-व्याधियोंसे संतप्त रहता है। मानवके आदि-इतिहास महाभारतसे पता चलता है कि राजा नहुषने भूलसे एक गौकी हत्या कर डाली थी, जिससे उसपर १०१ व्याधियाँ उतर पड़ी थीं। तब जिस विश्वमें अनन्त-असंख्य गायोंका वध होता हो, वह विश्व नीरोग एवं बलवान् कैसे रह सकता है? आश्चर्य है कि अब राष्ट्रकी नीरोगताको गो-दुग्ध एवं घृतसे सुरक्षित न रखकर मुर्गीके अंडोंसे सुरक्षित रखनेकी योजना बनायी जा रही है!

यह कैसी विडम्बना है ! पशुओंको केवल मार देना ही हिंसा नहीं है, किंतु उनपर अधिक भार रखना एवं उनकी उचित देख-रेख न रखना भी हिंसामें सम्मिलित है। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' प्राणिमात्रपर दया करो, इस वैदिक आदेशकी उपेक्षा करके हिंसक मानव-समाज सबके दुःखका कारण बन गया है। पशुरक्षक, जीवदयामण्डल आदि संस्थाएँ तबतक स्वकार्यमें पूर्णतः सफल न होंगी, जबतक मूल मानव-धर्मपर लक्ष्य न दिया जायगा। एकपत्नीव्रतका अङ्ग (व्यभिचार) भी मानवके लिये महापाप है। जो वैदिक मन्त्र स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्यके निर्देशक हैं, वे ही मन्त्र पुरुषोंके लिये एकपत्नीव्रतके निर्देशक क्यों नहीं हो सकते ? इन तीनों पापोंसे बचना ईश्वरकी सच्ची पूजा है। भगवान् व्यासके मतानुसार यही आस्तिकता है।

क्रूर वचन, असत्य-भाषण, पैशुन्य एवं असम्बद्ध प्रलाप—ये चार वाचिक महापाप हैं। मानवता-पालनके लिये इनसे बचना भी आवश्यक है। 'ऐतरेयब्राह्मण' के मतानुसार—सा वै राक्षसी वाग् यामुन्मत्तो वदति यां च दृप्तः। (उन्मत्त एवं दर्पयुक्त पुरुषकी वाणी राक्षसकी वाणी है।) क्रूर-वचन मानवोंका धर्म न होकर दानवोंका धर्म है; क्योंकि वह वाणी हिंसा एवं विनाशका कारण बनती है। हिंसा और विनाश ही तो दानवता है। क्रूर-वचन ही युद्ध, वैर, कलह एवं अशान्ति आदि अनेक उत्पातोंका मूल है, अतः उससे बचना परमावश्यक है।

दूसरा वाचिक पाप असत्य-भाषण है। इसकी विशेष व्याख्याकी आवश्यकता नहीं; यह तो हमारी जीवन-चर्यामें घुल-मिल गया है। एक समय था, जब हमारे पूर्वज सत्यके लिये सब कुछ त्याग देते थे; किंतु आधुनिक मानव-समाजका आचरण इससे सर्वथा विपरीत ही है।

तीसरा वाचिक पाप पैशुन्य है। अहितकारी वचनोंको ही पैशुन्य कहा जाता है। भगवान् मनुने इसकी गणना उपपातकोंमें की है; किंतु ध्यान रहे कि किसीके हितको लक्ष्यमें रखकर कहे गये वचन पैशुन्य (चुगली) नहीं हैं।

चौथा वाचिक पाप असम्बद्ध प्रलाप है, जिसका अर्थ व्यर्थकी बकवाद अथवा अधिकारहीन प्रलाप करना है। इस पापसे आजका मानव-समाज असंयतभाषी एवं अनधिकारी वक्ता हो गया है। इसीने वाचिक पाखण्डको जन्म दिया है। इसीसे ग्रस्त मानव आसक्त होनेपर भी अनासक्तका तथा अधर्मज्ञ होकर भी धर्मज्ञका वाणीद्वारा अभिनय करता है, जिसका फल उच्छृङ्खलता एवं अश्रद्धा हो रहा है। इन चार पापोंको छोड़ देना भगवान्‌की वाचिक सेवा एवं यथार्थ आस्तिकतापूर्ण मानवता है।

अब मानसिक पापोंका वर्णन किया जा रहा है, जिनसे बचे बिना वास्तविक मानवताकी उपलब्धि नहीं होती। अन्यायसे पर-द्रव्य लेनेकी इच्छा, अनिष्टचिन्तन, नास्तिकता—ये तीन मानसिक महापाप हैं। इतिहास बताता है कि अन्यायसे परस्वापहरणकी इच्छा ही प्रलयकारी महायुद्धोंका मूल-कारण सिद्ध हुई है।

मनकी अप्रतिम शक्तियोंसे कौन अपरिचित है ? मनद्वारा एक व्यक्तिका भी अनिष्ट-चिन्तन विश्वका अनिष्ट-चिन्तन ही है। विश्वमें वह स्वयं भी है, अतः पर्यायसे वह अपना भी अनिष्ट-चिन्तन करता है। इसलिये वेदने मानवको शिव-संकल्पवान् होनेका आदेश दिया है। 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।' मानव-जीवनकी सफलता इसीमें है कि दुःख, अज्ञान, अशान्ति एवं अनाचारप्रचुर संसारको सुखी, ज्ञानी, शान्त एवं सदाचारी बनाया जाय, न कि अनिष्ट-चिन्तनसे उपर्युक्त दुर्गुणोंको विश्वमें बढ़ाया अथवा फैलाया जाय।

तीसरा मानसिक पाप नास्तिकता है। कर्मफल, परलोक, आत्मा एवं ईश्वरको न मानना ही नास्तिकताकी परिपूर्णता है। धर्माधर्म-विचार एवं ईश्वर-भयसे जब मानव-समाज निर्मुक्त हो जाता है, तब उसमें विनाशके कारणभूत विलासिता, अतिमानिता, पृथक्ता आदि दोष प्रवेश कर जाते हैं और मानव-समाज उनमें अधिक-से-अधिक फँसकर नष्ट हो जाता है। अतः समाजको पतनसे बचानेके लिये नास्तिकताको छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। इन मानसिक पापत्रयसे बचना मानसिक भगवत्पूजा है। इस प्रकार मानवता-पालनकी मूलभूता निषेधात्मक १० मर्यादाओंका वर्णन किया गया।

अब विधानात्मक १० मर्यादाओंपर विचार किया जा रहा है, जिन्हें स्वाचरणमें लाना मानवताकी अभिवृद्धिके लिये परम आवश्यक है। विधानात्मक मर्यादाएँ भी १० हैं—३ शारीरिक, ४ वाचिक और ३ मानसिक।

दान, परित्राण, सेवा—ये तीन शारीरिक मर्यादाएँ हैं। सर्वभूतहितकी दृष्टिसे दानका विधान किया गया है। प्रकृतिके विधानपर दृष्टि डालनेसे ज्ञात होता है कि प्रत्येक पदार्थमें अपनी तथा दूसरोंकी न्यूनताकी परिपूर्तिके लिये आदान-प्रदान विद्यमान है। आदान-प्रदानात्मक क्रियाका नाम यज्ञ

भी है, जिसके मूलमें त्यागकी भावना विद्यमान है। मीमांसकोंने यज्ञकी व्याख्या इस प्रकार की है—'देवतोद्देशेन द्रव्य-त्यागो यागः। विभिन्न शरीरोंमें विद्यमान परमात्माके उद्देश्यसे द्रव्य-त्याग करना यज्ञ है।' इसी अर्थका प्रकाश 'देहि मे, ददामि ते' आदि वैदिक मन्त्र भी कर रहे हैं। अतः जो कुछ भी प्राप्त हो, उसको विश्वके संचालक देव, ऋषि, पितर, मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि पाँच शक्तियोंको पुनः प्रत्यर्पित करना आवश्यक है। यही दान है। भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥
(श्रीमद्भागवत (८।१९।३७)

इस प्रकार धनके पाँच भाग करनेपर इस लोक तथा परलोकमें शान्ति मिलती है। अन्यथा संतुलनके नष्ट होनेपर विषमताके कारण अशान्ति उत्पन्न हुए बिना कदापि नहीं रह सकती। 'केवलाघो भवति केवलादी' इस पवित्र वैदिक वाक्यका भी यही तात्पर्य है। 'दानाद्धि देवः' इस शास्त्र-वाक्यके अनुसार वे देव हैं, जो दान करते हैं। अतः मानवको मानव बननेके लिये आवश्यक है कि वह दानमना बने।

परित्राण—बल, ऐश्वर्य, पद एवं शक्ति आदिमें अपनेसे हीनको स्वयं न सताना और दुष्टोंसे समस्त निर्बलोंका यथाबल रक्षण करना परित्राण कहा जाता है। वह मानव कैसा, जिसके देखते हुए दुष्टजन दुर्बलोंपर अत्याचार करते हों और वह उस अत्याचारका प्रतीकार न करता हो। आदर्श मानवताके प्रतीक भगवान् श्रीरामने—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।

—कहकर परित्राणकी आवश्यकता बतायी है। अतः जहाँ-कहीं भी अत्याचार होता हो, उसको स्वयं या संगठित होकर मिटा देना मानवका कर्तव्य है। यह परित्राणकी परिभाषा है।

सेवा—माता, पिता, आचार्य, अतिथि, रोगी, श्रान्त, गौ, जनता, देश, भाषा, संस्कृति, समाज एवं ईश्वरकी सेवा भी मानवका परम कर्तव्य है। माता-पिता आदिके रूपमें विराजमान ईश्वरकी ही मैं सेवा कर रहा हूँ, ऐसी भावना करनेपर यही सेवा भगवत्-सेवा हो जाती है। सेवाके कारण ही श्रीरामजीने अपनेको श्रीहनुमान्‌के वशमें बतलाया था। विश्वरूप रामकी सेवा करके आज भी हम श्रीहनुमान्‌की तरह श्रीरामको वशमें कर सकते हैं। हमारे इस शरीरको यह रूप प्राप्त होनेमें अनेकोंकी सेवा कारण है। अतः हमारा भी कर्तव्य हो जाता है कि हम सबकी सेवा करें। सचमुच सेवाधर्म परम गहन है। इसका पालन करनेसे मानवका अन्तःकरण जितना शीघ्र निर्मल होता है, उतना शीघ्र शायद ही अन्य किसी व्रतसे होता है। संत-सेवासे ही श्रीनाभाजीको दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया था। सेवाके कारण ही आर्यशास्त्रोंमें पतिव्रताका स्थान सबसे ऊँचा माना गया है। अतः जितना हो सके, उतना मानवको विद्या, वस्त्र, चिकित्सा आदिसे विश्वकी सेवा करनेके भावमें संलग्न रहना आवश्यक है। इस प्रकार शारीरिक—दान, परित्राण तथा सेवा आदि विधानात्मक मर्यादाओंका विवेचन किया गया है।

अब वाचिक विधानात्मक मर्यादाओंपर विचार किया जाता है। प्रियवादिता, सत्यवादिता, हितवादिता एवं स्वाध्याय—ये चार वाचिक कर्तव्य हैं।

प्रियवादिता मानवका सुकोमल धर्म है, जिससे मानवका हृदय स्वयं सरस होता और विश्वको सरस बनाता है। बुद्धिमान् विदुरने प्रियवादिताको जीवलोकका सुख माना है। इसके द्वारा हम विश्वको सुखी बना सकते हैं। प्रियवादिताद्वारा आनन्दस्वरूप परमात्माका हम अपने तथा दूसरोंके हृदयोंमें प्राकट्य कर सकते हैं। क्रूर-से-क्रूर प्राणी भी प्रियवचनसे कुछ शान्त होता है। तपका वर्णन करते हुए सत्याषाढ़ने प्रियवाचाको पूर्ण तप माना है। अतः प्रियवादी होना मानवका परम कर्तव्य है।

दूसरा वाचिक धर्म सत्यवादिता है। सत्यका अर्थ है—यथार्थ-भाषण। सत्यकी परिभाषा भगवान् व्यासने योग-सूत्रमें 'यथाश्रुत यथादृष्ट वस्तुको तथैव कहना' की है। सत्य वाणीका मूल है। असत्यका प्रयोग करनेवाला उसी प्रकार सूख जाता है, जिस प्रकार मूलके नष्ट होनेपर वृक्ष। सत्यव्यवहारकी कीमत मनुष्य उस समय करता है, जब मिथ्याव्यवहारसे उसे किसीने धोखा दिया हो। जिस व्यवहारसे हमको दुःख होता है, उस व्यवहारको दूसरोंके प्रति छोड़ देना मानवका परम कर्तव्य है।

तीसरा वाचिक धर्म हितवादिता है। मनुष्यको प्राणि-मात्रके हितके लिये ही वाणीका प्रयोग करना चाहिये। जिस वाणीसे अहित हो, जिस वाणीमें वञ्चना भरी हो, जो वाणी छल-कपटवाली हो, उसका प्रयोग करना मानवताका भङ्ग

है। अनिष्टकार एवं अश्लील वचन (गाली) बोलना भी अहित वचन ही है। अश्लीलका अर्थ अश्रीक है। श्री-हीन वचन सब अहित वचन ही हैं। जो वचन सन्मार्गके प्रदर्शक हैं, जो वचन शील, समाधि तथा प्रज्ञाके परिष्कारक हैं, वे सब हितवचन हैं। इन सब वचनोंका स्वयं स्मरण करना और बोलना हितवादिता है।

चौथा वाचिक धर्म स्वाध्याय है। ज्ञान-विज्ञान-प्राप्तिका मुख्य साधन स्वाध्याय ही है। इतिहाससे ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वजोंको स्वाध्याय बहुत प्रिय था। अपनी आयुका अधिकांश वे स्वाध्यायमें ही लगाते थे। उससे वे कभी तृप्त न होते थे। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' से विदित होता है कि महर्षि भारद्वाज बहुत कालतक स्वाध्याय ही करते रह गये। कठिन-से-कठिन मूल्य चुकाकर भी वे ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति तथा प्रचारमें लगे रहते थे। अष्टादश विद्या तथा चतुःषष्टि कलाओंमें प्रवीण होना उन्हें बहुत प्रिय था। विश्वका ऐसा कोई भी विषय नहीं, जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें विवेचन न किया हो। संस्कृत, पाली, प्राकृत भाषामें लिखित अतुल ग्रन्थ-सम्पत्ति एवं जम्बूद्वीपकी तत्तद् भाषाओंमें अनुवादित ग्रन्थ ही इसके परम प्रमाण हैं। हमने यदि किसीको महान् समझा है तो स्वाध्यायशीलोंको। 'योऽनूचानः स नो महान्' 'गुणाः पूजास्थानम्', न कि धनादिकं पूजास्थानम्। अतः स्वाध्याय करना सभी दृष्टियोंसे हितकर है। एक श्लोकका भी क्यों न हो, प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये। अन्ततोगत्वा नियमसे श्रीराम-मन्त्रका जप भी स्वाध्यायमें सम्मिलित है। इस प्रकार वाचिक विधानात्मक मर्यादाओंका विवेचन किया गया।

अब मानसिक धर्मों—संतोष, विश्वहित-चिन्तन तथा श्रद्धाका विवेचन किया जाता है। इनमें प्रथम स्थान संतोषका है। संतोष ही मानवको न्यायसे अर्थोपार्जनके लिये प्रेरित करता है एवं अन्यायपूर्वक अर्थ-संचय करनेसे रोकता है, साथ ही संचित अर्थको सद्व्यय करनेकी प्रेरणा करता है। संतोषका यह अर्थ नहीं कि आलसी, निरुद्यम, कर्महीन बना जाय; अपितु दूसरोंकी देखा-देखी अधिक भोग-संचयकी इच्छा, विलासी देशोंको देखकर विलासी-जीवन बितानेकी इच्छा और उसके लिये दूसरे देशोंके मानवोंको दास बनानेकी इच्छा न रखना ही संतोष है। असंतोष ही अपने तथा पराये दुःखका कारण बनता है। किसी भी विषयमें असंतोषी मानव-समाज एक दिन अवश्यमेव अवनतिके गर्तमें गिर पड़ता है। अतः शान्तिके इच्छुकोंका परम कर्तव्य है कि वे उत्पादन तथा व्यय—दोनोंमें संतोष-धर्मका पालन अवश्य ही करें।

दूसरी मानसिक मर्यादा विश्वहितका नित्य-चिन्तन है। यह स्वार्थत्याग एवं परोपकारका कारण है। जबतक इस स्मृतिकी जागृति मानव-हृदयमें नहीं होती, तबतक वह स्वार्थ-त्याग एवं परोपकारके लिये कदापि कथमपि प्रवृत्त नहीं हो सकता। विश्वका हित-चिन्तन यथार्थमें अपना ही हित-चिन्तन है; क्योंकि वह उस विश्वका वासी है, जिसका हित-चिन्तन वह कर रहा है। नादत्तमुपतिष्ठते—यह ईश्वरीय नियम अव्याहत है। जो दिया, वही मिलेगा। एक पौराणिक उपाख्यानमें बताया गया है कि एक समय परम भागवत अम्बरीष महाराजकी पुत्री श्रीमतीसे विवाह करनेके लिये परस्पर अनिष्ट-चिन्तन करते हुए श्रीनारद तथा पर्वत ऋषिने अपनेको वानररूपमें परिणत कर लिया था। इसलिये संतशिरोमणि भगवदीय प्रह्लादका जगत्के मानवोंसे आग्रह है—'ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।' जगत्का कल्याण चाहना सबसे बड़ी भगवत्सेवा है। अतः विश्व-हित-चिन्तन मानवका परम कर्तव्य ही है।

मानवका तीसरा मानसिक कर्तव्य श्रद्धा है। श्रद्धाका ही नाम आस्तिकता है। श्रद्धाका निर्वचन करते हुए निरुक्तमें महर्षि यास्कने 'श्रत् इति नामसत् धानात् श्रद्धा' कहा है। अर्थात् जिन सद् वस्तुओंका अनुभव या साक्षात्कार शक्तिसे नहीं हो सकता, उन वस्तुओंको जो शक्ति ग्रहण करती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। 'श्रद्धा भगस्य मूर्धनि' इस ऋचामें श्रद्धाके माहात्म्यका वर्णन है। श्रद्धा सब ऐश्वर्योंका मूल-कारण है। 'अश्रद्धया मनृतेवाद' इस ऋचामें श्रद्धा (आस्तिकता) को अनृतके विनाशका कारण माना गया है। 'नास्ति कर्म, नास्ति कर्मफलम्, नास्ति आत्मा, नास्ति परलोकः, नास्ति ईश्वरः'—यह नास्तिकोंका सिद्धान्त है, जो लोक-संग्रहमें सर्वथा अनुपयुक्त ही है। यह सिद्धान्त अकर्मण्यता, उच्छृङ्खलता, अज्ञानता आदिका पोषक है तथा कुपथमें प्रवृत्ति होनेका मूल कारण है, जिसका फल विनाश है। 'दुर्लभो हि शुचिर्नरः' इस सिद्धान्तसे मानवको राज-भयसे चरित्रवान्, नीतिमान् तथा शीलवान् नहीं बनाया जा सकता। केवल शास्त्र-भय ही मानवको नीतिशील तथा चरित्रवान् बनानेमें समर्थ हो सकता है। शास्त्रकी मान्यता भी अन्ततोगत्वा श्रद्धा (आस्तिकता) पर ही प्रतिष्ठित है। आस्तिकता ही एक ऐसी वस्तु है, जो मानवको विलासिताकी ओर जानेसे रोकती है एवं कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा देती है। हृदयसे आस्तिक मानव ही किसीको धोखा नहीं दे सकता, किसीकी वस्तु चुरा नहीं सकता, किसीकी

हिंसा नहीं कर सकता, उत्कोच (रिश्वत) नहीं ले सकता और किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं कर सकता। विश्वमें आजकल हार्दिक आस्तिकता बहुत ही कम मात्रामें रह गयी है। विश्वका बहुमत आज आस्तिकताका अभिनयमात्र ही कर रहा है। इतिहास इसका प्रमाण है कि यह अभिनीत आस्तिकता ही नास्तिकताके प्रसारमें मुख्य कारण हुई है। सही, सच्ची हार्दिक आस्तिकताके साथ विश्वका कोई भी उपासना-मार्ग (मत) जीवको कल्याण, शान्ति एवं निर्वाण देनेमें समर्थ हो सकता है, किंतु अभिनीत आस्तिकताके साथ-साथ उत्तम-से-उत्तम उपासना-मार्ग (मत) भी मानवके कल्याण एवं शान्तिका कारण न होकर दुःख एवं अशान्तिका कारण बन जाता है। इस प्रच्छन्न-नास्तिकताने मनुष्यके मत—दुराग्रहके साथ सम्मिलित होकर कितने ही निरपराध प्राणियोंके प्राण लिये हैं, विश्वमें अशान्ति, कलह, घृणा आदि दुर्गुणोंके फैलानेमें प्रबल सहयोग दिया है; अतः जगत्के अभ्युदय, सौमनस्य, सुख-समृद्धि एवं शान्तिके लिये मानवका श्रद्धा (आस्तिकता) से सम्पन्न होना परमावश्यक है। इस विवेचनसे यह भी सिद्ध होता है कि 'धर्म' राष्ट्र तथा मानव-उन्नतिके लिये अभिशाप नहीं, वरदान है; किंतु वह 'धर्म' हो, धर्माभास नहीं। यह तो मानव-बुद्धिकी ही दुर्बलता है कि वह अधर्मको ही धर्म मान ले और उसके द्वारा होनेवाले मानव तथा राष्ट्रके अकल्याणको धर्मजन्य समझकर उसपर अश्रद्धा करने लगे, एवं राष्ट्रको धर्मरहित राष्ट्र बनानेका यत्न करे। इस प्रकार अदत्तादान, हिंसा, एकपत्नीव्रतका भङ्ग, क्रूर-वचन, असत्य-भाषण, पैशुन्य, असम्बद्ध-प्रलाप, परद्रव्येच्छा, अनिष्ट-चिन्तन, नास्तिकता—ये दस त्याग करने योग्य और दान, परित्राण, सेवा, प्रियवादिता, हितवादिता, सत्यवादिता, स्वाध्याय, संतोष, जितेन्द्रियता एवं श्रद्धा—ग्रहण करने योग्य हैं। ये मानवधर्मकी बीस मर्यादाएँ हैं, जिनके पालनसे मानवताकी वृद्धि होकर दानवताका संहार हो सकता है। पहली १० मर्यादाएँ हेय हैं। अन्तकी १० मर्यादाएँ उपादेय हैं। इनका यथार्थ पालन करनेवाला सही अर्थमें आस्तिक और सच्चा मानव है।

'मानवधर्म'को ही सनातनधर्म कहते हैं, जो प्राणिमात्रके अभ्युदय, सुख और शान्तिका संविधान है। इसका पालन तथा प्रसार करना मानवमात्रका पूर्ण कर्तव्य है।

चेतावनी

(रचयिता)—स्व० योगिवर्य महाराज चतुरसिंहजी)

पर घर पग नहिं मेलणो, विना मान मनवार।
अंजन आवे देखने सिंघल रो सतकार॥ १॥
मिले मोखळा मनख पण मिलै न मनखाचार।
फोगट फोनाग्राफ ज्यूँ, वाता रा वेवार॥ २॥
संगत रंगत नी फरै, पण गुण जाय गमाय।
वोइज लोई आपणो, गंधे माकड़ माय॥ ३॥
मक्या ज्यूँ ही मनखने, जग-झाळामें शोक।
दनरा दाणां वीणने, डूँडश्यो देवे फेंक॥ ४॥
कई काढने किस्त दे, किस्त काळ री टाळ।
झूठी बाजी जीत ने, मनख जनम मत हार॥ ५॥
ज्ञान उडंत लगायने, मंत्री मोह निपात।
योग अनोखी चाल सूं, मनने करदे मात॥ ६॥

(प्रेषक—श्रीजगदीश मीबंर)

माता-पिताके सेवक

भगवान् श्रीराम

'महाराजने मुझे दो वरदान देनेका वचन दिया और मैंने माँगा; किंतु महाराजका तुमपर इतना स्नेह है कि वे अपने मुखसे तुम्हें वन जानेको कह नहीं सकते।' उस दारुण रात्रिके दारुण प्रभातमें जब महामन्त्री सुमन्त्र श्रीरामको उनके सदनसे कैकेयीके भवनमें बुला लाये और पिताको मूर्छित, भूलुण्ठित, अत्यन्त विह्वल देखकर श्रीरघुनाथने कारण पूछा, तब कैकेयीने स्वस्थ स्वरमें अपनी सब करतूत उन्हें सुना दी।

'माता! आप मेरे लिये परम पूजनीया हैं। आपकी इच्छा ही मेरे लिये परमादेश है। पिताजी वरदान न भी देते तो क्या।' श्रीराघवेन्द्रने—इसी प्रातःकाल जिनका राज्याभिषेक होना था, प्रसन्न चित्तसे चौदह वर्षका वनवास स्वीकार किया सौतेली माताके आदेशसे। समस्त वस्त्राभरण उतारकर वल्कल पहिने उन चक्रवर्ती सम्राट्के राजकुमारने पिता-माताका आदेश पालन करनेके लिये।

श्रवणकुमार

'बेटा! तीर्थ-स्नान कर पाते हम!' श्रवणके माता-पिता दोनों अंधे। अत्यन्त वृद्ध दोनों। तीर्थयात्रा उन दिनों सबल तरुणोंके लिये भी सुगम नहीं थी। देश भरमें बड़े-बड़े वन थे। वनोंमें भयानक पशु थे। न सड़क, न नदी-नालोंपर पुल। वर्षोंका समय लगता था तीर्थयात्रामें। श्रवणके माता-पिता कौन-से नरेश या नगरसेठ थे कि रथ, अश्व या हाथी यात्राको मिलता अथवा सेवक साथ चलते। किंतु तीर्थयात्राकी कामना—कामना क्या स्थिति तथा औचित्य देखकर उठा करती है?

'जैसी आज्ञा!' पैदल एकाकी यात्रा कठिन और श्रवणकुमारने काँवर बनाकर उसके पलड़ोंमें एक ओर माताको, एक ओर पिताको बिठाया तथा तीर्थयात्रा करने निकल पड़े।

भिक्षा माँगकर खाना ठहरा। यात्रा और माता-पिताकी सब प्रकारकी सेवा; किंतु श्रवणने माता-पिताको ही तो अपना आराध्य माना।

भीष्म

महाराज शान्तनु दासराजकी कन्यापर आसक्त हो गये। वह अत्याचारका युग नहीं था कि बलात् कन्या नरेश छीन लेते। मछुओंके उस सरदारने एक बात स्पष्ट कह दी—'उसकी कन्याके पुत्रको ही राज्याधिकारी बनानेका वचन मिले तो वह कन्या दे।' यह वचन महाराज कैसे दे दें। उनके पुत्र कुमार देवव्रत—उन परमप्रिय, पितृपरायण, अत्यन्त गुणवान् गङ्गातनयको महाराज कैसे उनके स्वत्वसे वञ्चित कर दें। किंतु कामासक्ति—उस आधिने महाराजका शरीर क्षीण करना प्रारम्भ किया।

कुमार देवव्रतने किसी प्रकार पिताकी चिन्ता जान ली। उन्होंने स्वयं जाकर दासराजसे कहा—'आपकी कन्या मेरी माता बनें। मुझे सिंहासन नहीं चाहिये।' दासराजने नया प्रश्न किया; किंतु आपकी संतति तो स्वत्व माँगेगी?' देवव्रतने घोषणा की—'मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा।' सुरोंने सादर पुकारा—'भीष्म! भीष्म प्रतिज्ञा है यह।' और उसी दिन कुमार देवव्रतका नाम भीष्म हुआ।

राजकुमार चण्ड

जोधपुरनरेशने चित्तौड़के युवराज चण्डसे अपनी राजकुमारीका विवाह करनेके लिये नारियल भेजा था। परिहासमें राणा लाखाने कहा—'अब कोई इस बूढ़ेके लिये नारियल थोड़े ही भेजेगा।'

राजकुमार चण्डने सुना और वे अड़ गये—'हँसीमें भी पिताने जिस नारियलकी कामना की, वे कुमारी मेरी माता हो चुकीं।'

चण्ड किसी प्रकार समझाये न जा सके। पिताने धमकी दी—'नयी रानीका पुत्र ही राजा होगा' तो चण्डने उसे सहर्ष स्वीकार ही नहीं किया, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत भी ले लिया।

वृद्ध राणा लाखाने विवाह किया और रानीको पुत्र भी हुआ। राणा तो गया-तीर्थकी रक्षा करने जाकर मारे गये; राजकुमार चण्डने अबोध छोटे सौतेले भाई मुकुलको स्वयं राजतिलक किया और सदा राजमाताकी तथा उसकी रक्षा करते रहे।

माता-पिताके सेवक

भगवान् श्रीराम

श्रवणकुमार

देवव्रत भीष्म

राजकुमार चूंड

मानवकी समस्या

(जगद्गुरु रामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीश्रीराघवाचार्यजी महाराज)

मानवका शरीर प्रकृतिकी सर्वोत्कृष्ट कलाकृति है। उसकी कर्मेन्द्रियोंमें क्रियाकी सामर्थ्य है और ज्ञानेन्द्रियोंमें दृश्यमान जगत्को जाननेकी सामर्थ्य। उसका मन कामना करता है और बुद्धि विवेचन करती है। उसका प्राण जीवनको गतिशील बनाये रखता है। वह जन्मता है, जवान होता है, बूढ़ा होता है और मृत्युके मुखमें चला जाता है। वह जागता है। जाग्रत्-अवस्थामें उसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि कार्य करती रहती हैं। वह सो जाता है। सोनेपर कभी स्वप्नावस्थामें स्वप्न देखता रहता है अथवा कभी गहरी नींदमें सोता रहता है। जागनेपर श्रम और सोनेपर विश्राम—यही उसकी दिनचर्या है। जीवित अवस्थामें क्रिया और मृत्युके मुखमें चले जानेपर क्रियासे छुटकारा—यह उसकी जीवनचर्या है। उसकी लालसा सदा जीवनमें लगी रहती है। मृत्यु आती अवश्य है, किंतु वह मरना नहीं चाहता। जीवनमें जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसे या तो वह भोगता है या उसे भोगना पड़ता है। कामनाएँ उसे भोगकी ओर ले जाती हैं। वह भोग चाहता है कामनाओंकी पूर्तिके लिये। जहाँ भोग नहीं मिलता अथवा इच्छाके प्रतिकूल भोग मिलता है, वहाँ तो कामनाएँ बनी ही रहती हैं। जहाँ अनुकूल भोग मिलता है, वहाँ भी कामनाओंकी पूर्ति नहीं होती। कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। कामनाओंका भार लिये वह सुखकी मृगतृष्णामें भटकता फिरता है। सुखसे अतृप्त और दुःखसे दुखी वह अशान्तिके महासागरमें गोते लगाता रहता है। फिर भी सुखकी चाह छूटती नहीं!

भौतिक सुखोंकी चाह मानवको कबसे हुई, यह बतानेकी आवश्यकता भारतके त्रिकालदर्शी ऋषियोंने नहीं समझी। उन्होंने वासना और परिस्थितिको इसके लिये उत्तरदायी बताया। अन्य कतिपय ईश्वरवादियोंने इसके लिये शैतानको जिम्मेदार ठहराया। फिर भी आसक्तिके लिये मानव स्वयं दोषी था। अपनी अन्तःप्रवृत्तिको ठुकराकर वह कामनाओंका दास बना, अपनेको देह मानकर प्राप्तकी ममतामें फँसा और परिस्थितिको जीवन मान बैठा। फलस्वरूप अशान्ति और दुःखने घेर लिया। अप्राप्तके चिन्तनसे उसके जीवनका प्रवाह अनित्यताकी ओर हो गया। प्राप्त विवेकके द्वारा यदि मानव अपनी चिन्मयता तथा आनन्दके नित्य सम्बन्धका ज्ञान प्राप्त कर ले और अप्राप्तकी आशा त्याग दे तो नित्यजीवनमें उसका प्रवेश हो जाता है। प्राप्त पदार्थोंके सदुपयोग और परिस्थितिको साधन बना लेनेसे अशान्ति दूर हो जाती है और आनन्दका अनुभव होने लगता है।

मानवकी अन्तःप्रवृत्ति जाग्रत् हो और वह जीवनकी वास्तविक आवश्यकताको समझ सके, इसके लिये प्रकृतिको अनादिकालसे कठोर साधना करनी पड़ रही है। निरन्तर अबाध गतिसे इस साधनाका क्रम चला जा रहा है। दिखायी देता है कि यह क्रम उस समयतक चलता रहेगा, जबतक एक-एक मानव जाग्रत् नहीं हो जायगा। कितना कल्याणदायक है प्रकृतिका यह प्रयास और कितनी आत्मीयता है इसमें, यह हृदयसे अनुभवका विषय है। निश्चितरूपसे प्रकृति जड है। सत्त्व, रज और तम नामक उसके गुण जड हैं। प्रकृतिके भौतिक विस्तारमें भी जडता-ही-जडता है। समष्टिसे व्यष्टिके विकासमें प्रवृत्त होकर जड प्रकृति प्राणियोंमें चैतन्यताको कैसे उत्पन्न कर सकी, इसका उत्तर न विकासवादियोंके पास है और न ह्रासवादियोंके पास। प्रकृति सत् अवश्य है; किंतु चित् नहीं है। इन्द्रियोंमें, मनमें, बुद्धिमें भी जडता है। भौतिक विज्ञानने शरीरके एक-एक अङ्गका विश्लेषण करके देख लिया। मनोविज्ञानने मन और बुद्धिकी मीमांसा कर डाली। कहीं चेतनका साक्षात्कार नहीं हुआ। होता भी कैसे? पाञ्चभौतिक देहसे लेकर बुद्धितक सर्वत्र जडताका ही तो विस्तार है। चेतन जीवात्मा इससे भिन्न है। जड साधनोंके द्वारा जड पदार्थोंका ही परीक्षण हो सकता है, चेतन तत्त्वका परीक्षण नहीं हो सकता। प्राणीकी चेतना प्रत्यक्ष है। विश्लेषण करते ही वैज्ञानिक उस चेतनाको खो देता है और उसके सामने रह जाता है प्राणीका शव। यह भौतिक विज्ञानकी असफलता है। प्राणीकी चित्-शक्तिके परीक्षणकी बात छोड़िये। प्राणीके शरीरमें जो अगणित कोष (cells) होते हैं, उनमें भी चेतना रहती है। भौतिक विज्ञान तो अभीतक एक कोषकी चेतनाका रहस्य नहीं जान पाया। वस्तुतः चेतनका अनुसंधान विज्ञानकी सीमासे बाहरका विषय है।

दार्शनिकोंने अवश्य इस दिशामें सफलता प्राप्त की। मानवकी अन्तःप्रेरणामें 'मैं हूँ, मैं बना रहूँ, मैं सुख भोगूँ'

की भावनाका अध्ययन करते हुए उन्होंने चित्तत्त्वकी खोज निकाला। प्रत्येक प्राणीके शरीरसे वेष्टित उन्होंने एक-एक चेतन जीवात्माका अनुभव किया। उन्होंने देखा कि प्रत्येक शरीरमें भिन्न जीवात्मा है, जो जड शरीरसे सर्वथा भिन्न है। अनेकताके मूलमें स्थित एकताका अन्वेषण करते हुए वे अनन्त अपौरुषेय वेद-वाङ्मयके अन्तस्तल वेदान्तके प्रतिपाद्य परम तत्त्व तक पहुँचनेमें समर्थ हुए। उन्होंने निश्चय किया कि प्राणीके शरीरमें विविध अङ्गों और एक अङ्गी चेतनके समान सम्पूर्ण चराचर जगत्का एक विश्वात्मा आत्मा है। वह परम तत्त्व है, परब्रह्म है, परमात्मा है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के अनुसार वह अणुका भी अणु है और महान्का भी महान् है। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' के अनुसार वह सबका अन्तर्यामी है और जन-जनका नियामक है। वह सम्पूर्ण जगत्का आधार, नियन्ता और शेषी है। वह सच्चिदानन्दघन है। जड प्रकृतिकी सत्ता, चेतन जीवकी सत्ता और चिन्मयताके आगे बढ़कर अध्यात्मवादियोंने जब आनन्दकी मीमांसा की, तब उन्होंने अनुभव किया कि विश्वके कण-कणमें सच्चिदानन्दघन विराजमान हैं तथा चेतनके अन्तर्यामीके रूपमें सच्चिदानन्द मूर्तिकी स्थिति है। परमतत्त्व आनन्दमय है, रसरूप है। सुखकी आकाङ्क्षा और सुखकी स्थितिका कारण आनन्दमयका आनन्द है, जिसका ज्ञान होनेपर दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और वास्तविक सुखकी अनुभूति होती है।

पुराण-वाङ्मयने जगत्का वर्णन सच्चिदानन्दसे आरम्भ किया है। जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय—तीनों परम तत्त्वके संकल्पपर आश्रित हैं। प्रकृतिकी साधनामें जो आत्मीयता दिखायी देती है, वह इसी सच्चिदानन्दघन परमात्माकी मङ्गलमयी भावना है, जिसके द्वारा प्राणिमात्रका हित हुआ करता है। संसारकी रचनामें, संसारके पालन तथा संहारमें दयामय भगवान्की दया अपना कार्य करती रहती है। भगवान् माताके समान एक-एक प्राणीको जन्म देते हैं, पिताके समान पोषण करते हैं और कुशल वैद्यके समान उसकी चिकित्सा करते हैं। यदि प्राणी इस सत्यको समझ ले तो भगवान्की आत्मीयताके सहारे वह अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें संशयहीन हो सकता है। अङ्गी जीव अपने अङ्गोंकी हित-साधनामें संलग्न रहता है। जीव चेतन होता है। उसके अङ्ग जड होते हैं। वे अपने अङ्गीकी हित-साधनाको नहीं जानते। वे जान भी नहीं सकते। जीवोंका अन्तर्यामी विश्वात्मा जीवोंकी हितसाधना करता है। चेतन होनेके कारण यदि जीव इस तथ्यको समझ लेता है तो उसकी प्रवृत्ति अपने अन्तर्यामीके अनुकूल हो सकती है। परमात्मा स्वरूपतः विभु है। जीवात्मा स्वरूपतः अणु है। परमात्माकी विभुताका चिन्तन करते हुए वह विभुताको अपना गुण बना सकता है। इस प्रकार भगवान्के स्वरूपके अनुकूल उसका गुण हो जानेपर जो तादात्म्यका अनुभव होता है, वह आनन्दकी अनुभूतिको व्यापक एवं पूर्ण बना देता है।

प्राणीको पूर्णताकी ओर अग्रसर करनेमें प्रकृतिने जो योगदान किया है, वह सृष्टिक्रमके विभिन्न सर्गोंमें स्पष्टतया देखा जा सकता है। वनस्पति-सर्ग, तिर्यक्-सर्ग, देव-सर्ग और मनु-सर्ग—ये चार अध्याय हैं, जो प्राणीको क्रमशः मानवरूपतक पहुँचाते हैं। सृष्टिविज्ञानकी ये चार प्रमुख कड़ियाँ हैं, जिनमेंसे देवसर्गकी कड़ीको वैज्ञानिक अभीतक खोज नहीं पाये हैं। शेष तीन कड़ियोंमें भी कई छोटी कड़ियाँ हैं, जिनका वैज्ञानिकोंको पता नहीं लग सका है। ऐसी स्थितिमें प्राप्त योनियोंके आधारपर सृष्टिक्रमकी संगति लगानेका साहस दुस्साहस मात्र है। सच तो यह है कि केवल विकासवाद अथवा केवल ह्रासवादके द्वारा सृष्टिक्रमकी व्याख्या नहीं हो पाती। दोनों वादोंको अभिव्यक्तिवादके साथ मिलानेपर जो क्रम प्रकट होता है, उसमें सारे संदेहोंका परिमार्जन हो जाता है। जड पदार्थोंमें विकास और ह्रास दोनों ही कार्य निरन्तर चलते रहते हैं। दोनों कार्योंके मध्य अभिव्यक्तिके द्वारा पदार्थगत मौलिकता प्रकट होती रहती है। प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंका विश्लेषण करते हुए जहाँ दार्शनिकोंने इस मौलिकताका समर्थन किया, वहाँ आजके वैज्ञानिक भी इलक्ट्रन, प्रोटेन आदि मूलभूत तत्त्वोंतक पहुँचकर इसे स्वीकार करते हैं। अतः वनस्पति-सर्ग तथा तिर्यक्-सर्गके विविध भेदोंमें प्रत्येककी मौलिकताकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। जिस प्रकार पञ्चभूतोंके सृष्टि-क्रममें आकाशके बाद वायु, वायुके बाद अग्नि, अग्निके बाद जल और जलके बाद पृथ्वीका नाम आता है और इनके संहार-क्रममें पृथ्वीके बाद जल, जलके बाद अग्नि, अग्निके बाद वायु और वायुके बाद आकाशका नाम आता है तथा इन पाँचों भूतोंकी मौलिकतामें अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार विकासवाद और ह्रासवादका अभिव्यक्तिवादके साथ सामञ्जस्य किया जा सकता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भौतिक विज्ञानके विद्वान् स्वयं विकासवादमें संदेह करने लगे हैं और ऐसा संदेह करनेके लिये उनके पास तर्क भी हैं। दूसरी ओर प्रत्यक्ष प्रमाण

अभिव्यक्तिवादका समर्थन करता जा रहा है। ऐसी स्थितिमें 'मानव मनुकी संतान है' यह न माननेमें कोई कारण नहीं दिखायी देता। भारतका सम्पूर्ण प्राचीन वाङ्मय इस प्रश्नपर एकमत है। मिस्र, बेबीलोन, सीरिया, चाल्डिया, जूडिया, फारिस, अरब, ग्रीस, चीन आदि संसारके सभी देशोंमें जल-प्लावन और मत्स्यावतारकी जो अनुश्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनसे भी विवस्वान्से मनु और मनुसे मानवका जन्म सिद्ध होता है।

वनस्पति-सर्ग और तिर्यक्-सर्गका मनुष्यकी शरीर-रचनाके साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेपर प्रकट होता है कि वनस्पति-सर्गका मूल नीचेकी ओर है तथा मनुष्यका मूल ऊपरकी ओर। वनस्पतिका मस्तिष्क भूमिमें रहता है और मनुष्यका शरीरके सर्वोच्च भागमें। वनस्पति और मनुष्यका मेरुदण्ड खड़ा-खड़ा है। तिर्यक्-सर्गका मेरुदण्ड पड़ा-पड़ा है। भौतिक विज्ञानने इस भेदका रहस्य बता दिया है। पार्थिव पदार्थोंका आकर्षण-केन्द्र है—पृथ्वी; और भूपिण्डका आकर्षण-केन्द्र है—सूर्य। चेतनाका सर्वप्रथम उदय वनस्पति-सर्गमें हुआ। वनस्पति धरतीसे उपजी। वनस्पति-सर्ग अन्तःसंज्ञ है। वह तमोगुणसे अभिभूत है। उसकी जीवनीशक्तिका केन्द्र जड (मूल) में है। तिर्यक्-सर्ग ससंज्ञ है। वह रजोगुणसे अभिभूत है। मानव-धर्मशास्त्रमें कहा है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः······

आशय यह है कि भूतों (जड पदार्थों) से प्राणी (चेतन प्राणी) श्रेष्ठ हैं। इन प्राणियोंमें वे श्रेष्ठ हैं, जिनमें बुद्धिकी प्रबलता दिखायी देती है। जैसे कृमियोंमें सर्प, कीटोंमें भ्रमर, पक्षियोंमें चक्रवाक, शुक तथा पशुओंमें गज-अश्व आदि। इन बुद्धिमान् प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं—मानव। कारण अन्य, प्राणियोंकी अपेक्षा उसकी बुद्धि सूर्यसे विशेष प्रभावित हो जाती है। जबतक प्राणी मानवका शरीर धारण नहीं करता, प्रकृति अपना नियन्त्रण कठोर रखती है। मानवका शरीर धारण करते ही प्रकृति उसकी बुद्धिको सूर्याभिमुख कर अपना नियन्त्रण स्वयं शिथिल कर लेती है। वैवस्वत मनुका जन्मदाता सूर्य बुद्धिका अधिष्ठाता है। ऋषि-प्राणोंका निवास इसी बुद्धिमें रहता है। यदि मानव ऋषि-प्राणोंकी सहायतासे इन्द्रिय-दृष्टिके बदले बुद्धि-दृष्टिको अपना ले और तदनुसार व्यवहार करने लगे तो मानवताका पथ प्रशस्त हो जाता है।

भारतीय इतिहाससे प्रकट है कि मानवमें मानवताकी प्रतिष्ठाके उद्देश्यसे ऋषियोंने वेदज्ञानका उपदेश किया और अपने प्रयोगों एवं परीक्षणोंके द्वारा आदि-मानव-समाजको धर्मके अनुष्ठानके लिये प्रेरित किया। वैदिक विज्ञानके प्रकाशमें लोगोंने देखा कि भौतिक जगत्के पदार्थोंमें अपने तथा दूसरेके स्वरूपकी रक्षाके निमित्त क्रिया होती रहती है। आत्मरक्षक क्रियासे तप और पररक्षक क्रियासे यज्ञकी प्रेरणा मिली। व्यक्ति और समाजको धारण करनेवाली शक्ति कर्तव्यभूत धर्मके रूपमें जाग्रत् हुई। ज्ञान, शक्ति, अर्थ और श्रमके सामञ्जस्यमें वर्णधर्म तथा एतदर्थ योग्यता-सम्पादन और उसका अपने लिये तथा समाजके लिये उपयोग करनेमें आश्रमधर्मकी प्रतिष्ठा हुई। ब्राह्मणने ज्ञानके द्वारा, क्षत्रियने रक्षाके द्वारा, वैश्यने अर्थके आदान-प्रदानद्वारा तथा शूद्रने श्रमके द्वारा समाजकी सेवाका उत्तरदायित्व ग्रहण किया। ब्रह्मचर्य-आश्रममें योग्यताका सम्पादन तथा गृहस्थ-आश्रममें योग्यताका उपयोग किया जाने लगा। वानप्रस्थ-आश्रममें पारमार्थिक साधना और संन्यास-आश्रममें उसका समाजहितमें उपयोग किया जाने लगा। पुरुषार्थ-चतुष्टयके 'अर्थ' और 'काम' पर 'धर्म' और 'मोक्ष'का सम्पुट लगा और जीवनका ध्येय 'अभ्युदय' से लेकर 'परम श्रेय'तक मान लिया गया। इस प्रकार आदि-मानव-समाजमें समाज-विधानकी जो प्रतिष्ठा हुई, उसमें शरीरकी सम्यक् कृतिसे कला और सभ्यताका, वाणीकी सम्यक् कृतिसे भाषा और साहित्यका तथा मन और बुद्धिकी सम्यक् कृतिसे ज्ञान-विज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। सबकी समष्टिमें मानव-संस्कृतिके दर्शन हुए।

भारतभूमि और उसकी जलवायुके वैज्ञानिक परीक्षणके साथ भारतीय वाङ्मयमें वर्णित मातृभूमि और विराट्रूपकी भावनाका अनुशीलन करनेपर प्रमाणित होता है कि भारतके शिरोभागमें ही आदि-मानव-समाजका जन्म हुआ और मानव-संस्कृतिका जीवन लेकर मनुष्य यहींसे विश्वके दूसरे देशोंमें गये। कितने तथ्यपूर्ण हैं भगवान् श्रीकृष्णके ये शब्द—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
(गीता १० । ६)

आशय यह कि सप्त ऋषियों और चार मनुओंसे इस सम्पूर्ण संसारकी प्रजा उत्पन्न हुई है। कहना न होगा कि विश्वके प्राचीन इतिहासका जितना शोध होता जाता है,

उतना ही विश्वके मूलमें एक मानव-समाजका भाव पुष्ट होता जाता है।

जैसे-जैसे मनुष्य विश्वके अन्य देशोंमें फैलते गये, एक मानव-समाज देशभेद, भाषाभेद, आचारभेद आदिके कारण अनेक भेदोंमें विभक्त होता गया। एकता अनेकतामें परिणत हो गयी। किंतु अब वैज्ञानिक आविष्कारोंके द्वारा अनेकता पुनः एकताकी ओर अग्रसर हो रही है। यह शुभ लक्षण है। कायिक, वाचिक एवं मानसिक सम्यक् कृतिके द्वारा यदि इसको पुष्ट किया गया तो सम्पूर्ण विश्वके मानव पुनः मानव-संस्कृतिसे संस्कृत होकर अपनी मौलिक एकताका साक्षात्कार कर सकेंगे। एक मानव-राष्ट्रके लिये एक मानव-संस्कृतिके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता। एक-एक मानवके अभ्युत्थानका भी यही साधन है। संस्कृतिनिष्ठ मानव शान्त और सुखी होगा और उसकी मानवता विश्वके उत्पीडित और अशान्त मानवोंके लिये शान्ति और सुखका मार्ग-दर्शन करा सकेगी।

शिष्टाचारात्मक मानवता

(लेखक—स्वामीजी श्रीश्रीपुरुषोत्तमाचार्य रङ्गाचार्यजी महाराज)

मानवमें शिष्टाचारात्मक मानवताका विकास होना भी विश्वमें विधानके आदिनिर्माता भगवान् मनुने परमावश्यक माना है। उनके मतमें शिष्टाचारसम्पन्न होना ही शिक्षित होना है। शिष्टाचार ही मानवसे आसुरी दुर्गुणोंको निकालता है और उसमें गुणोंको उत्पन्न करता है। मनुद्वारा कथित शिष्टाचारात्मक मानवताका स्वरूप निम्नलिखित है—

१–माता, पिता, आचार्य, ज्येष्ठ भ्राता, ज्येष्ठ भगिनी, सास, ससुर, मातृ-पितृकुलके अन्य वृद्ध पुरुषोंका प्रणामादिसे सम्मान करना।

२–देश, राष्ट्र एवं विश्वके विद्वानोंका आदर करना।

३–सम्पन्न, कुलीन, प्रतिष्ठाप्राप्त सम्भावित जनोंका सत्कार करना तथा उनसे सहयोग बनाये रहना।

४–समाजके शिष्ट पुरुषोंके गुणोंका, उनके उदात्त आदेशोंका ही अनुगमन करना, उनके मानवसुलभ दोषोंकी न तो समालोचना करना एवं न अनुकरण ही।

५–यदि कोई विद्वान्, कुलीन, सम्पन्न एवं भद्र पुरुष घरपर आवें तो तृण (आसन), जल, मधुर वाणी एवं भद्रव्यवहार आदिसे उनको पूर्ण संतुष्ट रखनेका यत्न करना।

६–यदि कोई भारवाही भार ढोनेमें असमर्थ हो तो उसे सहयोग देना।

७–अनाथ, पीड़ित, दुखी एवं दरिद्री आदि असमर्थ व्यक्तियोंकी तन, मन तथा धन आदिसे यथाशक्ति सहायता करना।

८–अपने सम्मान्य पुरुष तथा पूजनीय (पूज्य) माता आदि स्त्रियोंके सामने बहुत विनीतभावसे तथा विनययुक्त वाणीसे उपस्थित रहना।

९–अन्ध, बधिर, कुब्ज, वामन, पण्ढ, मूक, विकृताङ्ग एवं उन्मत्त आदिका कभी उपहास न करना।

१०–शरीरको मोड़ते न रहना।

११–चक्षु, नासिका, मुख, हाथ-पैर आदि अवयवोंसे विकृत कुचेष्टाएँ न करना।

१२–छोटी उम्रके बच्चोंसे मित्रता न करना।

१३–निष्प्रयोजन अट्टहास न करना।

१४–स्त्रियोंसे विवाद न करना।

१५–अशुभ, अश्लील, त्रुटित, स्खलित, उद्दण्डतापूर्ण एवं असभ्य भाषाका प्रयोग न करना।

१६–मस्तक टेढ़ा करके, पाँवपर पाँव रखके, दोनों पैरोंको छातीसे लगाकर, घुटने टेककर, लंबे पसारकर, हाथोंमें ग्रन्थि लगाकर, अंगुलियोंको मोड़कर, दोनों हाथोंको दण्डवत् खड़ा करके मिलाकर न बैठना।

१७–शिष्ट पूज्य पुरुषोंकी भर्त्सनापर भूलकर भी उन्हें उद्दण्डतापूर्वक उत्तर न देना।

१८–भोजनके समय झुँझलाना, चिड़चिड़ाना, बात-बातपर बिगड़ जाना और क्रोधावेशमें आकर भोजनका तिरस्कार कर देना, भूमिपर पैर पटक-पटककर चलना, भ्रमङ्गीको विकृत कर लेना एवं अवाच्य वाणीका प्रयोग करना आदि-आदि असभ्यतासूचक, विनयवर्जित एवं अमाङ्गलिक महादोषोंसे बचते रहना।

१९—दुष्ट, हीनाचार, पतित, भृत्यवर्ग, उन्मत्त, मद्यप, क्रोधी, लोभी, नास्तिक, स्त्रीवशवर्ती एवं स्नेहातिविह्वला माताकी संतान आदिसे सम्पर्क न रखना।

२०—गर्जन-तर्जनपुरस्सर लड़ते हुए साँड़ोंको देखने न दौड़ना।

२१—शृङ्खला तुड़ाकर भागते हुए हाथीको देखने न दौड़ना।

२२—कलह करते हुए कुटुम्बियोंकी चर्चामें हस्तक्षेप न करना।

२३—पागल मनुष्यकी ओर दृष्टि जमाकर न देखना,

२४—पाकशाला, शयनगृह, गमनागमन-मार्ग, अग्निस्थान, जलस्थान, अतिथिशाला, धर्मशाला, व्याख्यानभवन, पाठशाला, वापी, कूप, तड़ाग, देवमन्दिर, दिव्य वृक्ष, पथिकमार्ग एवं श्मशान आदि स्थानोंमें उपेक्षासे अमेध्य पदार्थ (कूड़ा-कचरा), विषैली ओषधियाँ, बासी भोजन, कफ, थूक, लार एवं पीक आदि न डालना।

२५—सर्प, हिंसक पशु-पक्षी, कीट एवं शस्त्र आदिसे विनोदपूर्वक क्रीड़ा न करना।

२६—अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये चाटुकार न बनना।

२७—दूसरेके दोषोंकी समालोचना न करना।

२८—पाखण्डी, कुकर्मी, धर्मध्वज, वकवृत्ति, शठ, धूर्त, कुतर्की, अश्रद्धालु एवं संशयात्मा आदि असद् व्यक्तियोंका सत्कार न करना।

२९—केश, नख, श्मश्रुको कटवाकर सदा स्वच्छ वेश-भूषासे युक्त रहना।

३०—विभव होनेपर जीर्ण एवं मलिन वस्त्रोंको न पहिनना।

३१—मार्गमें, रास्तेपर, गोशालामें, विदीर्ण भूमिमें, दीमकके स्थानमें, देवालय-भूमिमें, प्राणियुक्त गड्ढोंमें, चलते-चलते, खड़े-खड़े, नदी-तीरपर एवं पर्वतकी चोटीपर मल-मूत्रका त्याग न करना।

३२—सोते हुए श्रेष्ठ पुरुषको न जगाना।

३३—व्याधिग्रस्त ग्राममें न रहना।

३४—वैद्यशून्य ग्राममें न रहना।

३५—विधर्मियोंके पड़ोसमें न रहना।

३६—गदहे, गाय, बैल आदिकी पीठपर न बैठना।

३७—उच्छिष्ट-मुँह इधर-उधर न फिरना।

३८—नखोंसे तृणोच्छेदन न करना।

३९—ग्रासको आधा-आधा ही काटकर न खाना।

४०—पैरके अँगूठेसे भूमिको न कुरेदना।

४१—दाँतोंसे नखोंको न काटना, यह कर्म दुर्गुणोंका मूल है। जो मानव इस कर्मको करता है, वह सर्वथा शीघ्र नष्ट हो जाता है।

४२—हाथसे अङ्गोंका ताड़न न करना।

४३—आवेशमें शीघ्र चपलतापूर्वक अनर्गल वाणी न बोलना।

४४—हाथ-पैरोंको मलिन न रखना।

४५—बालोंको रूखा न रखना।

४६—चुटकी, ताली, सीटी न बजाना।

४७—स्त्री, सम्पत्ति एवं भोजन—इन तीनोंमें सदा संतोष रखना।

४८—विद्या, दान तथा अध्ययन—इन तीनों कर्मोंमें कभी संतोष न रखना।

४९—अपने स्वाध्यायकर्ममें बाधा उत्पन्न करनेवाले लौकिक कर्म, अर्थपरिग्रह, सम्बन्ध, मैत्री आदि सब कुछ छोड़ देना।

५०—बुद्धिवर्धक इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, कलाशास्त्र, लौकिक व्यवहारशास्त्र एवं आयुर्वेद आदि-आदिके ग्रन्थोंका समय निकालकर अवश्य अवलोकन करना।

५१—नवीन धान्य, नवीन वस्त्र, नवीन आभूषण एवं नवीन परिग्रहोंको मङ्गल मुहूर्तमें इष्टदेवताके समर्पण करके उपयोगमें लेना।

५२—वेदविद्या-व्रती, स्नातक, श्रोत्रिय एवं सद्गृहस्थ आदिका हव्य-कव्य आदिसे सत्कार करना।

५३—अपनी संचित अर्थ-सम्पत्तिका यथाशक्ति सुविधानुसार परार्थ एवं परमार्थके कार्योंमें भी उपयोग करना।

५४—उदित होते हुए सूर्य, अस्त होते हुए सूर्य, दर्पण-जलादिमें प्रतिबिम्बित सूर्य, ग्रहग्रस्त (ग्रहणकालके) सूर्य तथा मध्याह्नके सूर्यको न देखना।

५५—इन्द्रधनुष दूसरेको न दिखलाना।

५६—गोवत्स (बछड़े) तथा तन्त्री (रस्सी) को न लाँघना।

५७—पानी, तेल एवं पङ्क (कीचड़) में अपनी परछाईं न देखना।

५८–सामने मिली हुई गौ, ब्राह्मण, घृत, दुग्ध, मधु, चौराहे, कदलीवृक्ष (केला), अश्वत्थ (पीपल), वट, बिल्व, तुलसी, उदुम्बर (गूलर) आदि-आदि दिव्य वृक्षोंकी परिक्रमा करके आगे बढ़ना ।

५९–अग्निको अपने मुँहकी हवासे प्रज्वलित न करना ।

६०–अग्नि, दर्पण, पुस्तक, भोजन-द्रव्य, शय्या, आसन एवं पात्र आदिको न तो पैरसे छूना एवं न इन्हें लाँघना ।

६१–पानी पीती हुई, घास खाती हुई गायको न भगाना, खेतमें चरती हुई गायको न बताना ।

६२–अञ्जलिसे जल न पीना ।

६३–काँसी, सोने एवं चाँदीके बरतनोंको पैरसे न ठुकराना ।

६४–उदय हुए सूर्यकी धूपका सेवन न करना ।

६५–चिताधूमसे अपने-आपको बचाना ।

६६–किसीकी उतरी हुई माला न पहनना ।

६७–पहिनी हुई मालाको हाथसे न खींचना ।

६८–कभी जुआ न खेलना ।

६९–वर्षाकालमें न दौड़ना ।

७०–अपने जूते हाथमें लेकर न चलना ।

७१–अद्वारसे ग्राम तथा घरमें प्रवेश न करना ।

७२–हाथोंसे नदी पार करनेका दुस्साहस न करना ।

७३–दोनों हाथोंसे सिर न खुजलाना ।

७४–क्षत्रिय, सर्प एवं बहुश्रुत ब्राह्मणका अपमान न करना ।

७५–कूप एवं नदीतटपर विश्राम न करना, कूपका उल्लङ्घन न करना एवं उसमें झुककर न देखना ।

७६–अंधे, बहरे, कुबड़े, बौने, षण्ढ, पशु, स्त्री, बालक, स्नातक, राजा एवं ब्राह्मण आदिको मार्ग देकर स्वयं हटकर चलना ।

७७–गन्धशून्य, उग्रगन्ध एवं रक्तपुष्प आदिकी माला न पहनना ।

७८–मैले एवं फूटे दर्पणमें मुख न देखना ।

७९–भोजन करती हुई, वस्त्र पहनती हुई, काजल और बिन्दु लगाती हुई, आभूषण पहनती हुई, सोती हुई, विनोद करती हुई एवं नग्न स्त्रीको न देखना ।

८०–हाथोंसे ढेला न मसलना और न उछालना ।

८१–अग्निमें पैर न तपाना ।

८२–दूसरेके पहने हुए वस्त्र, जूता, माला, यज्ञोपवीत, आभूषण आदिको न पहनना ।

८३–अधिक समयतक पर्वतीय स्थानोंमें न रहना ।

८४–नाच-गानमें विशेष आसक्ति न रखना ।

८५–अप्रिय भाषण न करना ।

८६–एकान्तमें स्त्रियोंसे सम्भाषण न करना ।

८७–स्त्रियोंका भूलकर भी अपमान न करना ।

८८–बच्चोंके सिरपर कभी न मारना ।

८९–देवता, ब्राह्मण, शास्त्र, गुरु, सम्मान्य पुरुष एवं महात्माओंकी निन्दा, मीमांसा तथा समालोचना न करना ।

९०–किसीके वैभवको देखकर ईर्ष्या न करना ।

९१–परगुणोंकी विस्तारसे सच्ची स्तुति करना ।

९२–अपने अपमान, शुष्क वैर तथा विवादको छोड़ देना ।

९३–सत्यभाषण तथा भद्रभाषण करना ।

९४–एक कपड़ेसे स्नान न करना और नग्न स्नान न करना ।

९५–वायु, अग्नि, ब्राह्मण, जल और गौ—इनको देखते हुए मल-मूत्रका कभी भी विसर्जन न करना; क्योंकि इनके देखनेसे ज्ञानपर विपरीत परिणाम होता है और उससे प्रज्ञा नष्ट हो जाती है ।

९६–संध्याकालमें भोजन, चंक्रमण, शयन तथा स्त्रीगमन न करना ।

९७–रात्रिमें वृक्षकी जड़ोंके पास न रहना तथा न सोना ।

९८–शय्यापर, हाथपर एवं आसनपर भोजनपात्रको रखकर भोजन न करना ।

९९–नग्न होकर न सोना, चलते-फिरते न खाना ।

१००–हाथ-पैरकी चपलता, नेत्रकी चपलता, वाणीकी चपलता, मनकी कुटिलता तथा दूसरोंका अपकार करनेकी बुद्धि न रखना, जलमें न थूकना, बार-बार न थूकना, सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रतामें सदा लगे रहना ।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्वृत्तिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥

'वय, कर्म, वित्त, शास्त्र, कुल, वेष (बाने), दिये हुए वचन तथा जीविकाके अनुकूल आचरण करता हुआ जगत्‌में निर्द्वन्द्व विचरे ।'

मानवताकी रक्षाके लिये धर्मकी आवश्यकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक महाराज)

मानवके जिस कर्तव्यपालनमें मानवताकी रक्षा और विश्वका कल्याण संनिहित है, उस कर्तव्यको 'धर्म' तथा उसके विपरीत व्यवहारको 'अधर्म' कहा जाता है। वैशेषिक दर्शनमें महर्षि कणादने धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिस सदाचारके पालन करनेसे मानवको लोकमें अभ्युदय और परलोकमें परम कल्याणरूप शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, वही धर्म है।' महर्षि कणादके कथनसे यह सिद्ध हो जाता है कि जो धर्मके अङ्ग—यज्ञ, दान और तप आदि साधन हैं, जिन साधनोंका अनुष्ठान करके मानव पवित्र हो जाता है—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

—उन सदाचरणोंका परित्याग मानवको कभी भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्मपालनसे मानवताकी रक्षा होती है। मानव-प्रकृति स्वभावतः निर्बल होती है और मनुष्यको यदि धर्मका अवलम्ब प्राप्त न हो तो वह सांसारिक प्रलोभनमें पड़कर अधर्म करने लगता है, अर्थात् मानवका अन्तःकरण राग-द्वेषसे दूषित हो जाता है। अन्तःकरणके कलुषित हो जानेसे धर्माचरणमें प्रवृत्ति नहीं होती और वह 'मानव' भौतिक सुखोंके तात्कालिक प्रलोभनोंमें पड़कर धर्माचरणका पावन अवसर हाथसे खो देता है। तत्पश्चात् जब उसे उन पदार्थोंमें आपात-रमणीयता प्रत्यक्ष भासने लगती है, तब वह पश्चात्ताप करता है कि हाय! मैंने अपनी अविचारशीलतासे धर्म करनेके अवसरको खो दिया और इन भौतिक सुखोंको भोगनेमें भी कुछ हाथ नहीं लगा, अपितु इन्द्रियोंकी शक्तिको व्यर्थमें व्यय करके अधर्मका भागी बन बैठा। इस प्रकार पश्चात्तापके उपरान्त मानवको अधर्माचरणसे उपेक्षा हो जाती है और वह मानवताकी रक्षाके लिये निर्भ्रान्त होकर धर्मका अवलम्ब ग्रहण कर लेता है।

महर्षि पतञ्जलिजीने मानवताकी रक्षाके लिये मानवमात्रको धर्माचरणका आदेश देते हुए कहा है कि संसारमें चार प्रकारके प्राणी पाये जाते हैं—कोई सुखी, कोई दुखी, कोई धर्मात्मा और कोई अधर्माचरणी होते हैं। उपर्युक्त चार प्रकारके प्राणियोंमें क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाकी भावनाद्वारा जब मानव अपने अन्तःकरणको पवित्र कर लेता है, तब वह शास्त्रानुमोदित धर्म-पालनमें स्थित हो जाता है। वह जानता है कि सुखी प्राणियोंके साथ मैत्री, दुखी प्राणियोंपर करुणा, धर्माचरणियोंके प्रति मुदिता और अधर्माचरणियोंसे उपेक्षाका भाव रखनेसे मानवताकी रक्षा हो सकती है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

इस प्रकारकी भावनाद्वारा मानव अपने-आपको प्रगतिके पथपर अग्रसर करता है, जिससे उसके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई ईर्ष्या और असूया आदि असद्भावनाएँ चित्तवृत्तिको मलिन नहीं बना पातीं। मानवकी चित्तवृत्ति जबतक निर्मल बनी रहती है, तभीतक वह धर्म-पालनकी आवश्यकता समझता है। महर्षियोंने जब देखा कि मानवताकी रक्षा धर्मपालनसे ही हो सकती है, तब उन्होंने तपद्वारा सदाचारको ग्रहण किया—ऐसा मनु महाराजका कथन है।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

मानवके कर्तव्योंका मूल मन्त्र-ब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेद है। वेदके ज्ञाता महर्षियोंने स्मृति आदि धर्मशास्त्रोंका निर्माण किया है, जिनमें मानवताकी रक्षाके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता बतलायी गयी है और मानवताका पतन करनेवाले जो असदाचरण हैं, उनके लिये दण्ड तथा प्रायश्चित्तका विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त उन धर्माचार्योंने स्वयं सदाचारका पालन करके मानवमात्रको धर्माचरण करनेका आदर्श सिखलाया है; क्योंकि सदाचारी साधु पुरुषोंद्वारा पालन किया हुआ धर्म ही अन्य मानवोंकी आत्मनस्तुष्टिका कारण हो सकता है और वह आत्मनस्तुष्टिका साधन 'धर्म' ही मानवताकी रक्षाके लिये सर्वथा उपादेय है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
(मनु०)

मानवके अन्तःकरणमें जिस आचरणसे भय, शङ्का, लज्जा और आत्मग्लानि आदिके भाव उत्पन्न न हों, उसी व्यवहारका

आचरण करना उचित है। कर्तव्याकर्तव्यकी कसौटीके सम्बन्धमें सदाचारी मानव अपने अन्तःकरणकी प्रवृत्तिपर विचार करता है—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

—क्योंकि अन्तःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति धर्माचरणकी ओर होती है। इसी कारण जब मानवका झुकाव असत्कर्मोंकी ओर होता है, तब हृदयमें भय, आशङ्का और अशान्ति आदिके भाव जाग्रत् हो जाते हैं। यदि मानव उस समय हठधर्मी न करे तो उससे असत् कर्म नहीं हो सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि धर्म-पालन करनेसे चित्त प्रसन्न होता है और अधर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये जिस धर्माचरणसे आत्मपरितोष हो, उसे यत्नपूर्वक करना चाहिये और जिन असदाचरणोंके करनेसे शोक, ग्लानि तथा भय आदिके भाव उत्पन्न हों, बुद्धिमान् मानवको उनका आचरण कभी नहीं करना चाहिये—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वन्ति विपरीतं तु वर्जयेत्॥
(मनु०)

मानव-समाजके आदिशासक भगवान् मनु हैं और उन्होंने सदाचारको ही परम धर्म बतलाया है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।

वेद, स्मृति, सदाचार और अपने अन्तःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति—इन चार लक्षणोंसे युक्त धर्मका प्रत्यक्ष स्वरूप है, अर्थात् उपर्युक्त लक्षणोंवाला धर्माचरण ही मानवताकी रक्षाके लिये आचरणीय है। मानव इस लोकमें अकेला आता तथा अकेला ही यहाँसे जाता है और अकेला ही धर्म-अधर्मका फल भोगता है। ऐसा ही लोकमें भी देखा जाता है। मानवके मृत शरीरको बान्धव लोग काष्ठ और मिट्टीके ढेलेकी भाँति श्मशानमें त्यागकर विमुख लौट आते हैं, एकमात्र धर्म ही उसके पीछे-पीछे जाता है।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

मानवको परलोकमें अपनी सहायताके लिये धर्मका संग्रह शनैः-शनैः करते रहना चाहिये; क्योंकि धर्मकी सहायतासे प्राणी दुस्तर अन्धकारको भेदकर तेजोमय दिव्य लोकोंमें प्रवेश करता है। परलोकमें सहायताके लिये माता-पिता नहीं रहते और न पुत्र, स्त्री तथा जातिवाले ही वहाँ पहुँच सकते हैं। वहाँ तो एकमात्र धर्म ही सहायक होता है। जैसे दीमक शनैः-शनैः मिट्टीकी दीवार खड़ी करती है, उसी प्रकार मनुष्यको चाहिये कि वह किसी प्राणीको कष्ट न देता हुआ परलोक सुधारनेके लिये नित्य धर्मका संचय करता रहे। पापी प्राणियोंकी शीघ्र ही अधोगति होती है, ऐसा समझकर कष्ट पानेपर भी अपने मनको अधर्ममें न लगावे; क्योंकि अधर्मी मानवकी प्रथम तो उन्नति होती हुई-सी प्रतीत होती है परंतु कालान्तरमें वह मूलसहित शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसलिये किसी कामना, भय, लोभ और जीवनलाभके हेतुसे भी धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये। ये सांसारिक सुख-दुःख अनित्य हैं, शरीर भी यहीं साथ छोड़ देता है, धन यहीं रह जाता है और मृत्यु भी सदा साथ ही रहती है; इसलिये शाश्वत धर्मका संग्रह करते रहना चाहिये।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

मानवके साथ धर्मका अविच्छेद्य सम्बन्ध है, इसलिये मानवताका चरम लक्ष्य धर्म-पालन ही होना चाहिये; क्योंकि मनुजीने धर्म-पालनके मार्गको श्रेष्ठ और सरल बतलाया है। जो मानव धर्माचरण नहीं करता, उसको धर्म-हत्याका पाप लगता है और वह त्याग किया (मरा) हुआ धर्म उस धर्महन्ताको मारता है। इसके विपरीत धर्म-पालन करके जो मानवधर्मकी रक्षा करता है, वह 'रक्षित धर्म' उस धर्म-पालककी रक्षा करता है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

कहनेका अभिप्राय यह है कि मानवमात्रको अपने उत्कर्षके लिये सदाचारका पालन करते रहना चाहिये। यह नश्वर देह किस दिन विनष्ट हो जायगा—यह निश्चय नहीं। यौवन, धन और कुटुम्बी जनोंका वियोग होना भी निश्चित है, अर्थात् यह सभी स्थिर रहनेवाले नहीं हैं। धर्म मानवका जीवनभर साथ देता और मरणोपरान्त भी वह साथ रहता है; इसलिये बुद्धिमान् मानवको धर्मपरित्याग कभी नहीं करना चाहिये। मानव-शरीर-रचनाके उपरान्त सर्वहृदय-प्रेरक परमात्माने उसे धर्म-पालनका आदेश दिया था, इसलिये मानवका धर्ममय और स्वावलम्बी जीवन होता है। मानवको धर्माधर्मका पूर्ण ज्ञान होनेसे वह जानता है कि धर्माचरण करनेमें कौन-कौन नियम सहायक और कौन-कौनसे उसके प्रतिबन्धक हैं। पशुको धर्माधर्मका कुछ भी बोध

नहीं होता, इसीसे उसका जीवन सदैव अव्यवस्थित और परावलम्बी बना रहता है । हाँ, पशु और मानवमें प्रकृति-नियमानुसार शारीरिक व्यवहार—आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि समान रूपसे विद्यमान रहते हैं । धर्म-पालनकी विशेषता एकमात्र मानव-जीवनमें ही पायी जाती है और यदि वह धर्म-पालनकी विशेषता मानवतामें नहीं प्राप्त होती तो वह मानवता पशुता-सदृश ही है ।

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

जिनको मानवताकी रक्षा करना अभीष्ट है, उन्हें सदाचार-का मार्ग अपनाना चाहिये; क्योंकि सदाचारभ्रष्ट वेदज्ञाता वेदाध्ययनके फलको प्राप्त नहीं कर सकता और जो सदाचार-से युक्त है, वही संसारमें सब प्रकार सुखी रहता है । सदाचार-से दीर्घायु मिलती है, सदाचारसे अभिमत संतानें प्राप्त होती हैं । सदाचारसे अक्षय धन प्राप्त होता है और सदाचार पालन करनेसे अशुभ लक्षणोंका भी नाश हो जाता है ।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
(मनु० ४ । १५६)

कहनेका अभिप्राय यह है कि अनन्त-गुण-गण-निलय परात्पर परब्रह्म परमात्माका धार्मिक विधान अटल और अनिवार्य है; वह किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता । जिसने हंसोंको शुक्लता प्रदान की है, जिसने शुकोंको हरित बनाया है और जिसने मयूरोंको नाना रंगोंमें चित्रित किया है, उसी सर्व-नियन्ता सर्वेश्वर भगवान्‌ने मानवताकी रक्षाके लिये धर्म-पालनका विधान बनाया है । जैसे कमल जलका भेदन कर उसमें अछूता निकल आता है, उसी प्रकार निर्लिप्त भावसे धर्माचरण करनेवाला मानव घोर आपत्तियोंके समूहको भी पारकर परमात्मप्राप्ति कर लेता है । पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके लिये यह मानवशरीर मिला था और यदि मानवशरीरद्वारा पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि न हुई तो मानवताका कुछ मूल्य नहीं है ।

आध्यात्मिक जीवन—मानवताका ध्येय

(लेखक—स्वामीजी श्रीरङ्गनाथानन्दजी महाराज)

मानव-जातिके इतिहासमें कभी मानव-अस्तित्वके ध्येयकी व्याख्या करनेकी इतनी तीव्र आवश्यकता नहीं अनुभव की गयी, जितनी आज की जा रही है । यह केवल बुद्धि-विलासका प्रश्न नहीं है, अपितु यह आधुनिक युगके सामान्य एवं असामान्य, प्राच्य एवं पाश्चात्य—सभी स्त्री-पुरुषोंके हृदयमें स्वतः उठा हुआ प्रश्न है । अपनी धार्मिक सम्पत्तिके आलोकमें, इन सहस्रों वर्षोंसे मानवता आध्यात्मिकताको मानवजीवनका ध्येय मानती आयी है; किंतु पाश्चात्य यूरोपीय जातियोंद्वारा वर्तित बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्तिके कारण पिछली शताब्दियोंमें उस धार्मिक सम्पत्तिका बल शिथिल पड़ गया है । इसलिये उस क्रान्तिके स्वरूपकी समीक्षा करने तथा उसके प्रकाशमें मानव-अस्तित्वके ध्येयको फिरसे घोषित किये जानेकी आवश्यकता है ।

आधुनिक विज्ञानकी सर्वेक्षणात्मक एवं प्रयोगात्मक विधियोंके कारण पश्चिमी यूरोपमें सत्रहवीं शताब्दीमें जो शक्तिपूर्ण यन्त्र-कौशलीय सभ्यता उत्पन्न हुई, उसके तीव्र आघातको समस्त संसारमें मानवताने अनुभव किया है । यह आघात या धक्का विचार एवं विश्वासको भी उसी प्रकार लगा है, जिस प्रकार जीवन एवं आचरणको लगा है । प्रकृति एवं मानवीय अनुभवसम्बन्धी बुद्धिसंगत खोजके परिणामों एवं विधियोंका पाश्चात्य मानवके अपरीक्षित मतों एवं विश्वासोंसे, जो उसके धर्मकी वैचारिक पृष्ठभूमिको प्रायः सहस्राधिक वर्षोंसे घेरे हुए थे, अधिकाधिक संघर्ष होता गया । जब आधुनिक विचारने पुरानी वैचारिक पृष्ठभूमिको अपदस्थ कर दिया, तब धर्मका मूल्य अपने-आप घट गया और उन्नीसवीं शताब्दीने देखा कि आधुनिक पाश्चात्य मानवने अपनी आस्था धर्मसे हटाकर भौतिक मूल्योंपर जमा दी है । सत्रहवीं शताब्दीमें आधुनिक विज्ञानने जिस यन्त्रकौशल-सम्बन्धी क्रान्तिका आरम्भ किया था, उसने इन भौतिक—सांसारिक मूल्योंको बढ़ानेमें सहायता की और अगली ढाई शताब्दियोंमें मानवकी सांसारिक बुभुक्षाको बहुत तीव्र कर दिया । और चूँकि आधुनिक यूरोपने समस्त संसारमें राजनीतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे प्रभुत्व पा लिया था, इसलिये न्यूनाधिक प्रबलताके साथ इन आघातों और दबावोंका शेष संसारमें भी अनुभव किया गया । आज सारा संसार सत्रहवीं शताब्दीकी यूरोपीय वैज्ञानिक क्रान्तिसे उद्भूत—भौतिक, मानसिक तथा सामाजिक प्रभावोंकी मुट्ठीमें है ।

इन प्रभावोंमें शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकारके तत्त्व सम्मिलित हैं। प्रथममें आधुनिक सभ्यताका उज्ज्वल रूप है—दूरीका लोप तथा विश्वका भौतिक ऐक्य-साधन, व्यक्तिके सम्मान एवं मूल्यपर आधारित लोकतन्त्रका सिद्धान्त तथा आचरण, विश्वव्यापी पैमानेपर सामाजिक कल्याणकी अनेकविध योजनाएँ तथा कार्य, धार्मिक सहिष्णुतामें अभिवृद्धि, एक अन्ताराष्ट्रिय दृष्टिकोणका क्रमिक विकास। ये सब बातें विज्ञानद्वारा बाह्यप्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेसे पैदा हुई हैं और मानव-इतिहासमें ये सफलताएँ अभूतपूर्व हैं।

अशुभ तत्त्वोंने उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तसे अपनेको प्रबलरूपमें स्थापित करना आरम्भ किया; स्वार्थ, हिंसा एवं युद्धकी गति बढ़ी। सत्रहवीं शताब्दीके यूरोपने तीस-वर्षीय धार्मिक युद्धोंके विरुद्ध प्रतिक्रियारूपमें मानवी निष्ठाके केन्द्र धर्मको निर्वासित कर दिया और उसके स्थानपर विषयोंका महत्त्व स्थापित किया। इस प्रकार धर्मको निर्वासित करनेपर भी उसके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य मानवमें एक तीव्र भावना रही कि वह जीवनसे एक गम्भीर मूल्यवान् वस्तुको दूर कर रहा है। किंतु वह विवश था; क्योंकि वह मूल्यवान् वस्तु उसके सामने तर्कविरुद्ध तथा समाज-विरोधी तत्त्वोंसे आच्छादित होकर आयी थी, जो उसके नवप्राप्त वैज्ञानिक तथा तर्कप्रधान स्वभाव, उद्देश्यों तथा विधियोंके लिये—विदेशी-विरोधी-सी लगती थी।

विश्व-इतिहासके वर्तमान विशेषज्ञ प्रो० ए० जें० ट्वायनवी (Toynbee) लिखते हैं—'धार्मिक युद्धोंके अनौचित्यपर नैतिक रोषका जो विस्फोट हुआ, उसने मध्ययुगीन पाश्चात्त्य ईसाई सार्वभौमदृष्टि (वेल्टनशाउंग—(Weltanshauung) की सुदृढ़ प्राचीरोंको ही उड़ा दिया। इस नैतिक विद्रोहकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति यह हुई कि सत्रहवीं शताब्दीके पाश्चात्त्य मानवकी आध्यात्मिक विधिको एक असाध्य रूपसे विवादग्रस्त धर्मशास्त्रसे हटाकर एक आपाततः निर्विवाद प्राकृतिक विज्ञानमें स्थापित कर दिया गया। फलतः मध्ययुगीन पाश्चात्त्य ईसाई-मतका बौद्धिक ढाँचा धीरे-धीरे ढह गया। यह ईसाई-मतके नैतिक दावोंके विरुद्ध पहले जो विद्रोह हुआ उसीका प्रभाव था।'[1]

यद्यपि सत्रहवीं तथा परवर्ती शताब्दियोंकी वैज्ञानिक क्रान्तिने धर्मको निर्वासित कर दिया और जीवनको धर्म-निरपेक्ष बना दिया, फिर भी उसने बाह्य प्रकृतिपर मनुष्यको पर्याप्त सीमातक प्रभुत्व प्रदान किया; साथ ही उसका अपनी अन्तःप्रकृतिपर जो नियन्त्रण था, उसे शिथिल भी कर दिया, जिससे उसके आन्तरिक जीवन-का दीवाला निकल गया तथा आधुनिक सभ्यताके पूर्वोक्त अशुभ तत्त्वोंको सामने आनेका अवसर मिल गया। धर्मने मनुष्यके सामने इन्द्रियोंसे मुक्ति दिलानेवाला एक साधन रखा था; इसके विरुद्ध आधुनिक सभ्यताने उसे इन्द्रियोंकी स्वतन्त्रता-की ओर ले जानेवाले मार्गपर चले आनेके लिये निमन्त्रित किया। चूँकि दोनोंमें यह दूसरा मार्ग सरल था और मनुष्यके प्राकृतिक आवेगों और प्रवृत्तियोंको खुला खेलनेकी स्वतन्त्रता देता था, इसलिये हर जगह वह इसकी ओर आकर्षित हुआ। इस प्रकार आधुनिक सभ्यताका तत्त्वज्ञान मानवकी सहज बुभुक्षाको उत्तेजित करता है और दिन-दिन उन्नत हो रहा यन्त्रकौशल उस भूखको संतुष्ट, तृप्त करनेका प्रयत्न करता है। यह भूख एवं तृप्तिकी परस्पर होड़, धर्मद्वारा नियोजित रुकावटों और प्रतिबन्धोंसे मुक्त न होकर, १७ वीं शताब्दीके आरम्भसे २० वीं शताब्दीके आरम्भतक, दर्शनों एवं विचारधाराओंको आलोकित करती हुई मानवप्रयत्नवादकी आशाओंसे तथा प्रकाश, हेतुवाद, मानवतावाद और प्रगतिके नारोंमें व्यक्त होकर आनन्दपूर्वक चलती रही।

ट्वायनवी लिखते हैं—'सत्रहवीं शताब्दीके पिछले दशकोंके पाश्चात्त्य मानवकी दृष्टिमें पृथ्वीपर स्वर्गका राज्य उतार लानेकी अपेक्षा एक पार्थिव स्वर्गकी सृष्टि करनेका प्रयत्न अधिक व्यावहारिक लक्ष्यके रूपमें दिखायी पड़ा। पाश्चात्त्योंके पिछले अनुभवने प्रकट कर दिया था कि पृथ्वीपर स्वर्ग-राज्यके विशेष विवरणोंको लेकर धर्मशास्त्रियोंके प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायोंके बीच कटु एवं अनवरत झगड़े होते रहे हैं; इसके विरुद्ध व्यावहारिक यन्त्रशिल्पियों या प्रयोगशील वैज्ञानिकोंके बीच मतभेदके ठंडे हो जानेकी ही नहीं, अपितु निरीक्षणके निष्कर्ष तथा निरीक्षाके परिणामविषयक तर्कसे, जिसपर कोई मतभेद नहीं होता, बहुत शीघ्र उसके दूर हो जानेकी भी सम्भावना थी[1]।'

ट्वायनवी आगे फिर लिखते हैं—'पर इस सत्यका

१. ऐन हिस्टोरियंस अप्रोच टु रिलीजन, पृ० १६९।

१. ऐन हिस्टोरियंस अप्रोच टु रिलीजन, पृष्ठ १८४।

अनुभव नहीं किया गया कि अपने निर्विवाद आविष्कारोंद्वारा आपाततः त्रुटिरहित ये यन्त्र-कलाकोविद एक ऐसे नवीन प्रकारकी शक्ति उत्पन्न कर रहे हैं, जिसका प्रयोग आगे चलकर उनके हाथों नहीं तो अन्य हाथोंद्वारा वर्तमान संतुलनको बिगाड़नेमें किया जा सकता है[1]।'

वैज्ञानिक,यन्त्रकलासम्बन्धी तथा सामाजिक क्रान्तिकारिणी उपलब्धियोंकी ढाई शताब्दियोंके बाद उन्नीसवीं शताब्दी पाश्चात्त्य मानवकी इस अनबुझी आशाके साथ समाप्त हुई कि एक पूर्ण जगत्का आगमन बस, होनेहीवाला है। प्रगतिकी शताब्दीकी इस मनोदशाको प्रकट करते हुए ब्राउनिंगने गाया था—'ईश्वर अपने स्वर्गमें है और संसारमें सब कुछ ठीक-ठाक है।'

इस सरल आशावादको प्रथम आघात १९१४–१८ के विध्वंसक विश्व-युद्धसे लगा। एक इन्द्रियाराम सभ्यताके हृदयमें उत्पन्न होकर लोभ, हिंसा एवं युद्धके अशुभ तत्त्वोंने अपनी प्रबलता स्थापित करना आरम्भ कर दिया था। इस विश्वयुद्धने आधुनिक पाश्चात्त्य विचारकोंमें आत्मपरीक्षण एवं आत्मशोधका एक आन्दोलन ही चला दिया। 'हमारी सभ्यतामें कौन-सी बुराई आ गयी है'—यह विषय बड़ी गम्भीर आलोचना एवं टीकाका केन्द्र बन गया; स्पेंगलर-जैसे ऐतिहासिकोंने पाश्चात्त्य सभ्यताके ह्रासपर लिखा; दूसरे विचारकोंने उसके मूलभूत धर्मनिरपेक्ष तत्त्वोंका समर्थन किया और अन्ताराष्ट्रिय सहकारी प्रयत्नोंद्वारा कुछ छोटे-मोटे सुधारोंपर जोर दिया। किंतु प्रथम विश्व-युद्धवाला संकट युद्ध समाप्त हो जानेपर भी दूर नहीं हुआ, बल्कि संकटोंकी एक मालिकाके रूपमें—कभी बोल्शेविक क्रान्ति, कभी फासिस्त एवं नात्सी प्रभाव एवं लोभ, असहिष्णुता तथा हिंसाके बढ़ते हुए ज्वारके रूपमें—व्यक्त हुआ और अन्ततोगत्वा १९३९–१९४५ के द्वितीय विश्व-युद्धके अभूतपूर्व संकटके रूपमें फूट पड़ा। इसी महायुद्धके अन्तमें स्वयं आविष्कारकको खा जानेवाले दानव अणु-बमका आविष्कार हुआ। आधुनिक यन्त्रविज्ञानप्रधान सभ्यताने पार्थिव स्वर्गके निर्माणकी जो आशा मनुष्यताको दिलायी थी, वह इस युद्धकी समाप्तिके साथ ही विलीन हो गयी। मानवताने मानव-इतिहासके अणु-युगमें प्रवेश किया। इसमें मानवके लिये उज्ज्वल भविष्यकी आशा है, यदि उसके विचार एवं कार्यका पथदर्शन विवेक करता है; पर इस आशाके साथ अशेष विश्व-संहारका भय भी है, यदि उसका पथ-दर्शन अविवेकके हाथमें रहता है।

१. ऐन हिस्टोरियंस अप्रोच टु रिलीजन, पृष्ठ १८६।

बरट्रेंड रसेल कहते हैं—'हम साधनविषयक मानवीय कौशल तथा साध्यविषयिणी मानवीय मूढ़ताके मध्य हो रही दौड़के बीचमें अपनेको पाते हैं।' और अन्तमें कहते हैं—'जबतक ज्ञानके साथ मनुष्योंके विवेकमें भी समानान्तर वृद्धि नहीं होती तबतक ज्ञानकी वृद्धिसे दुःखकी ही वृद्धि होगी।[1]'

भारतीय चिन्ताधारा बहुत पहले घोषणा कर चुकी है कि इन्द्रियाराम मनुष्य अशान्ति, संघर्ष तथा शोकका केन्द्र होता है। सांसारिक ज्ञान केवल उसकी पाशव बुभुक्षाको तीव्र करता तथा उसके आन्तरिक संघर्षको बढ़ाता है। जो सभ्यता मनुष्यको केवल इन्द्रियाराम व्यक्ति-के रूपमें ही जानती है और उसकी पाशविक बुभुक्षाओंको तीव्र करती तथा उनकी तृप्तिकी व्यवस्था करती है, बालूपर बनी कमजोर इमारतके समान है। वह अपने ही आन्तरिक संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्वोंसे, कालान्तरमें, ढह जायगी। ईसाने कहा था कि विवेकवान् अपना मकान चट्टानोंपर बनाता है जब मूर्ख उसे बालूपर उठाता है! पश्चिमने ईसाकी इस चेतावनीका तिरस्कार किया है। विवेकवान् एवं सहानुभूति-शील आधुनिक विचारक आधुनिक सभ्यताके इस चिन्ताजनक पहलूसे परिचित थे।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम दशकमें स्वामी विवेकानन्द-ने कहा था—'यदि कोई आध्यात्मिक आधार न मिला तो अगले पचास वर्षोंमें सम्पूर्ण पाश्चात्त्य सभ्यता टूटकर चकनाचूर हो जायगी। मनुष्यजातिपर तलवारसे शासन करनेका प्रयत्न निराशापूर्ण एवं सर्वथा निरर्थक है। आप देखेंगे कि बलात् सरकार स्थापित करने-जैसी धारणा जिन केन्द्रोंसे उद्भूत हुई, वे ही सबसे पहले पतित एवं अधोगामी हुए तथा चूर-चूर हो गये। भौतिक शक्तिके प्रकाशके केन्द्र यूरोपने यदि अपनी स्थितिमें परिवर्तन करनेकी परवा न की और अपनी भूमिका बदलकर आध्यात्मिकताको जीवनका आधार नहीं बनाया तो पचास वर्षोंके भीतर ही वह चूर-चूर हो जायगा[2]।'

भारत बराबर इस विचारको ग्रहण किये रहा है कि आध्यात्मिकता ही वह दृढ़ाधार है, जिसपर एक दृढ़ चरित्र या सभ्यताका निर्माण किया जा सकता है। वह किसी समाज या सभ्यताका मूल्य इस बातपर आँकता था कि उसके नागरिकोंने

१. इम्पैक्ट आफ् साएंस ऑन सोसायटी, पृष्ठ १२०-१२१।

२. कम्प्लीट वर्क्स ऑव स्वामी विवेकानन्द, भाग ३, पृष्ठ १५९।

कितनी आध्यात्मिकताका अर्जन किया है। उसने घोषणा की कि मानवकी श्रेष्ठता उसके अंदर ईश्वरत्वके प्रकाशको लेकर ही है और जो अनुशासन इसे सम्भव बनाता है, वही धर्म है; किंतु भौतिक विज्ञान, यन्त्रकौशल या राजनीति स्वयं अपनेमें धर्म नहीं हैं। ये गौण हैं; धर्म मुख्य—प्राथमिक वस्तु है। मानवके बाह्य जीवनमें व्यवस्था एवं प्रकाश लाकर ये मानवके आन्तरिक जीवनको समृद्ध एवं गम्भीर करनेमें धर्मकी सहायता करते हैं। मानव-जीवनके प्रसङ्गमें देखें तो इन दोनों मूल्यों एवं अनुशासनोंके बीच कोई संघर्ष नहीं है, न हो सकता है। यह दुर्भाग्यकी बात है कि पश्चिममें धर्म असहिष्णु एवं विज्ञान-विरोधी रहा। इससे भी बड़ी दुर्भाग्यकी बात यह है कि सत्रहवीं शताब्दीके पाश्चात्त्य वैज्ञानिक एवं यन्त्र-शिल्पियोंद्वारा तथा इन तीन शताब्दियोंमें उत्पन्न उनके उत्तराधिकारियोंद्वारा भी धर्म एवं विज्ञान दो परस्परविरोधी अनुशासन एवं मूल्य समझे गये। पाश्चात्त्य धार्मिक असहिष्णुता यह सिद्ध नहीं करती कि धर्ममें तत्त्वतः या अनिवार्य-रूपेण कोई असहिष्णुता होती है। भारतीयोंका अनुभव तो कुछ दूसरा ही रहा है। सर्व-समन्वयात्मक दार्शनिक सिद्धान्तके प्रकाशमें भारत न केवल विज्ञान एवं धर्मके बीच सामञ्जस्य-का दर्शन एवं समर्थन करता है बल्कि धर्म-धर्मके बीच भी इस प्रकारका भाव रखता है जैसा एक ही लक्ष्यकी ओर जानेवाले पथिकोंके बीच होता है। क्योंकि लक्ष्य एक है; मार्ग अनेक हैं।

ट्वायनवी लिखते हैं—'फेरिसेइज्म *(बाह्याचारप्रधान यहूदी मत, बाह्याचार) यहूदी-वर्गके विविध धर्मोंका पापावरण रहा है और इस पापने अत्याचारों एवं आकस्मिक विपत्तियोंकी एक दुःखात्मक शृङ्खलाके रूपमें अपने ऊपर ही दण्ड-प्रहार किया—फेरिसेइज्मका फल असहिष्णुता है, असहिष्णुताका फल हिंसा है और पापका पुरस्कार मृत्यु है।'[1] इसके बाद भारतीय धर्म-भावनाके विषयमें लिखते हुए वे कहते हैं—'यह एक ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है कि अभीतक यहूदी-वर्गके धर्म भारतीय धर्मोंकी अपेक्षा अधिक कट्टरपंथी रहे हैं। विश्व-इतिहासके एक ऐसे अध्यायमें, जहाँ उच्चतर जीवित धर्मोंके अनुयायी पूर्वापेक्षा परस्पर अधिक घनिष्ठ सम्पर्कोंमें प्रवेश करते दिखायी पड़ते हैं, भारतीय धर्मोंकी अन्तर्भावना जहाँ भी पहुँच पायेगी, मुस्लिम, ईसाई एवं यहूदी हृदयोंसे परम्परा-गत पाखण्ड वा धर्मान्धताको निकाल बाहर करेगी।'[1]

विज्ञान एवं धर्म दोनोंका घोषित उद्देश्य मानव-जीवनका समृद्धीकरण तथा अभिवर्द्धन है। विज्ञानके बिना धर्म असहाय है, जब कि बिना धर्मके विज्ञान खतरेसे भरा हुआ है। इस प्रकार जब दोनों परस्पर-पूरक हैं, धर्म मानवीय समस्यामें अधिक गहरा प्रवेश करता है तथा समस्त मानवीय कर्म एवं प्रयत्नकी दिशा निर्धारित करता है और यह दिशा-निर्धारण आध्यात्मिक दिशा-निर्धारण है—प्रत्येक स्त्री-पुरुषमें प्रच्छन्न आध्यात्मिक निधिका व्यक्तीकरण है। धर्म न केवल लक्ष्यका निर्धारण करता है वरं मार्ग भी बताता है। लक्ष्य है आध्यात्मिक मुक्ति—सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक, बाह्य एवं आन्तरिक बन्धनोंसे मुक्ति, जिससे मानवात्मा अपने वास्तविक, शुद्ध एवं भागवतस्वरूपमें प्रकाशित हो। और मार्ग है प्रकृतिके रहस्यको समझकर उसके ऊपर नियन्त्रण स्थापित करके बाह्य प्रकृतिपर विज्ञानद्वारा एवं अन्तःप्रकृतिपर नीति एवं धर्मद्वारा प्रशिक्षण। इस प्रकार जीवन एवं अनुभव मनुष्यके लिये विवेकपूर्ण आत्मानुशासनका एक शृङ्खलाबद्ध शिक्षालय बन जाते हैं। इस आत्मानुशासनद्वारा बाह्य एवं आन्तरिक तत्त्वोंका ज्ञान एकीभूत होकर विवेकमें विलीन हो जाता है। यही गीताका बुद्धियोग है, जो मानवको इन्द्रिया-रामके स्तरसे ऊपर उठने तथा विवेकका आश्रय लेनेकी शिक्षा देता है—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥[2]

भारतके सनातनधर्मकी यह शिक्षा स्वामी विवेकानन्दके एक संक्षिप्त, पर विशद वक्तव्यमें व्यक्त हुई है—

'प्रत्येक आत्मामें ईश्वरता छिपी है।'

'लक्ष्य है उस अंदरके ईश्वरको, बाह्य एवं

---

* एक प्राचीन यहूदी सम्प्रदाय, जो धर्मकी अन्तर्भावनाकी अपेक्षा उसके बाह्याचार या लौकिक रूपमें अधिक विश्वास रखता था एवं उसके प्रति कट्टर एवं धर्मान्ध था। पाखण्ड, कट्टरता एवं धर्मान्धताके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग किया जाता है। —सम्पादक।

१. ऐन हिस्टोरियंस अप्रोच टु रिलीजन, पृष्ठ २९४।

१. ऐन हिस्टोरियंस अप्रोच टु रिलीजन, पृष्ठ २८२-८३।

२. भगवद्गीता, अध्याय ७ श्लोक ४९।

अन्तःप्रकृतिके नियन्त्रणद्वारा प्रकाशित करना ।

'इसे कर्म, उपासना, राजयोग या तत्त्वज्ञान—इनमेंसे किसी एक या एकाधिक या सबके द्वारा सम्पन्न करो और मुक्त हो जाओ।'

'यही है सम्पूर्ण धर्म । सिद्धान्त, मतवाद, कर्मकाण्ड या शास्त्र या मन्दिर या बाह्य रूप—सब विस्तारकी गौण बातें हैं[1] ।'

आधुनिक विज्ञान एवं यन्त्रशिल्पने आधुनिक मानवके हाथमें जो विशाल ज्ञान-भंडार तथा शक्ति रख दी है, उसके होते हुए भी वह जो इतना असंतोष एवं संघर्षका अनुभव करता है और आज उससे मुक्ति देनेवाले ज्ञानकी जो खोज कर रहा है, उसे देखकर हमें परम ज्ञानी नारदजीकी वह कथा याद आती है, जिसमें वे ज्ञानकी खोजमें ऋषि सनत्कुमारके चरणोंमें उपस्थित होते हैं । यह कथा छान्दोग्य उपनिषद्में वर्णित है ।

जो विशाल ज्ञान नारद प्राप्त कर चुके थे, उन सबका उल्लेख करनेके बाद तथा यह स्वीकार करते हुए कि मैं अभीतक दुःख एवं संघर्षके पाशमें बँधा हुआ हूँ, उन्होंने कहा—'भगवन् ! मुझे उपदेश दीजिये । मैं केवल शब्द एवं उनका अर्थ जानता हूँ, किंतु आत्माको नहीं जानता—जो मनुष्यका वास्तविक स्वरूप है; और मैंने आप-सरीखे महान् गुरुओंसे सुना है कि केवल आत्मज्ञानी ही दुःखपर विजय पा सकता है । इसलिये हे भगवन् ! इस दुःख-सागरको पार करनेमें मेरी सहायता कीजिये ।'

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः । तꣳहोवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति। सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् । श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु[2] ॥

और गुरु उस ज्ञानका स्वरूप एवं मार्गकी व्याख्या करके मानवके लिये आध्यात्मिक आशापूर्ण अत्यन्त श्रेयस्कर वचन कहते हुए अपने उपदेशका उपसंहार करते हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः[1] ॥

'आहारशुद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण शुद्ध होनेसे स्मृति ध्रुव हो जाती है, स्मृति-लाभसे सर्वबन्धनोंसे मोक्ष हो जाता है ।'

उपनिषद्में आगे और भी कहा गया है—जिन्होंने हृदयकी पूर्ण पवित्रतामें अपनेको ढाल लिया था, उन नारदको ऋषि सनत्कुमारने सम्पूर्ण अज्ञानान्धकारके परे जो (ब्रह्मका) प्रकाश है, उसका दर्शन कराया—

तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः[2] ॥

भारतीय विचारधारा यह है कि मुक्ति मानव-आत्माका स्वरूप है; पर मनुष्य देखता है कि वास्तविक जीवनमें वह स्वतन्त्र नहीं है, उसकी बाह्य और आन्तरिक प्रकृति प्रतिपगपर उसका अवरोध करती है । चूँकि उसकी आत्मामें यह स्वातन्त्र्य, यह मुक्ति निहित है और वह वास्तविक जीवनमें बन्धनका अनुभव करता है, इसलिये भगवान्‌की सृष्टिमें मानव ही एक अशान्त पथिक बन जाता है और स्वातन्त्र्य तथा शान्तिको पानेके लिये उसका जीवन एक युद्धक्षेत्र-सा बन जाता है । भौतिक पोषणों, सामाजिक सुखों, राजनीतिक स्वातन्त्र्य, बौद्धिक ज्ञान, नैतिक उत्थान तथा आध्यात्मिक मुक्तिके लिये इतिहासमें निरन्तर जो प्रयत्न और संघर्ष होते रहे हैं, उनका यही तात्पर्य है ।

स्वातन्त्र्यके लिये, मुक्तिके लिये यह प्रयत्न सम्पूर्ण इतिहासमें मनुष्यकी सबसे आग्रहपूर्ण एवं सबसे शानदार खोज रही है । मानवात्मा अपने चतुर्दिक्‌की शक्तियोंसे अवरुद्ध होना नहीं चाहता है । जब वह बाह्य जगत्‌में इन शक्तियोंको दबानेमें सफल होता है, तब मनुष्यको सभ्यता प्राप्त होती है । यह उस विज्ञान एवं यन्त्रशिल्पसे प्राप्त होती है, जो मानव-इतिहासकी यात्रामें प्रगति करता आदिम अवस्थासे अणु-युग तक पहुँच गया है । जब आत्मा मन एवं हृदयके आभ्यन्तर जगत्‌में इन शक्तियोंको पराजित कर लेता है, तब मानवको संस्कृति एवं नीति प्राप्त होती है । यह सदाचरण एवं धर्मसे प्राप्त होती है और ये सदाचरण

१. कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, भाग १, पृष्ठ ११९ ।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ७ । १ । १, ३ ।

१. छान्दोग्य उपनिषद् ७ । २६ । २ ।

२. छा० उ० ७ । २६ । २ ।

एवं धर्म भी अनेक भूमिकाओंसे विकसित होते हुए विश्वके महान् धर्मोंकी सर्वोच्च स्थितिमें पहुँचे हैं।

इतिहासके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि स्वातन्त्र्यका यह मूल्याङ्कन और उसके साथ शान्ति और सिद्धि; अपने शुद्धतम एवं पूर्णतम रूपमें, केवल मानवके अन्तर्जीवनमें ही प्राप्त होती है। उसके बाह्य जीवनमें, उसके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं बौद्धिक पुरुषार्थके क्षेत्रोंमें—इनके सर्वोत्तम रूपोंमें भी उसकी आंशिक अभिव्यक्ति ही सम्भव है; क्योंकि इन क्षेत्रोंमें बाह्य नियन्त्रण किसी-न-किसी अंशमें अनिवार्य है; कोई भी रोमाञ्चक, आकर्षक दर्शन इसे दूर नहीं कर सकता। जिस सभ्यतामें आध्यात्मिक मूल्योंका प्राधान्य होगा, वहाँ यह कम-से-कम होगा और जिस सभ्यतामें वैषयिक मूल्योंका प्राधान्य होगा वहाँ यह सबसे अधिक होगा—यहाँतक कि उत्पीडक और कष्टप्रद रूप धारण कर लेगा। आज स्वतन्त्रताकी बड़ी-बड़ी बातें सुनायी पड़ती हैं, फिर भी आधुनिक विश्वसे सच्ची स्वतन्त्रताका लोप होता जा रहा है। यदि विवेक एवं शान्तिद्वारा या मूर्खता एवं युद्धद्वारा कल विश्व-राज्यका निर्माण हो भी गया तो भी स्वतन्त्रताके कम एवं अधिक सत्य होनेकी तबतक कोई आशा नहीं, जबतक कि वर्तमान 'धर्मनिरपेक्ष 'वेल्टनशाउंग' (विश्ववाद) विश्व-सभ्यताको प्रेरित करता रहेगा।

ट्वायनबी लिखते हैं—'इन परिस्थितियोंमें भविष्यवाणी की जा सकती है कि विश्व-इतिहासके अगले अध्यायमें मानव-जाति अपने अधिकांश राजनीतिक, आर्थिक एवं कदाचित् पारिवारिक स्वातन्त्र्यविषयक क्षतिपूर्ति आध्यात्मिक मुक्तिमें अपनी अधिक पूँजी लगाकर करना चाहेगी[1]।'

विश्वमें आत्माका क्षेत्र ही स्वतन्त्रताका गढ़ होगा[2]।'

और हमारी आणविक सभ्यताके आध्यात्मिक पुनः-संस्करणका समर्थन करते हुए ट्वायनबी (Toynbee) लिखते हैं—

'हमारे लिये समय आ गया है कि सत्रहवीं शताब्दीकी भौतिक एवं गणितीय दृष्टिके बन्धनसे हम अपनेको खींचकर, झटका देकर मुक्त कर लें—उस दृष्टिसे जिसका हम अबतक अनुसरण करते जा रहे हैं और आध्यात्मिक दिशाकी ओर पुनः नयी यात्रा आरम्भ करें। यदि हमारा यह आशा करना ठीक है कि इस अणु-युगमें, जिसका १९४५ ई० में आरम्भ हुआ, भौतिक नहीं, आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र ही मुक्तिका क्षेत्र होने जा रहा है तो इस समय पुनः दोनों दृष्टियोंमेंसे यही अधिक आश्वासंनप्रद है[3]।'

भारतीय दर्शन घोषित करता है कि जगत् पूर्णतः चिन्मय है। इसकी सीमित एवं क्षणस्थायी अभिव्यक्तियों-के भीतर एक ऐसी सत्ता है, जो असीम सत्, असीम चित् एवं असीम आनन्दरूप है। सीमित मानवका अन्त एवं लक्ष्य इस असीम आत्माकी साधनाद्वारा पूर्णत्वकी प्राप्ति है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति[4]।

भारतीय दर्शनकी दृष्टिमें यह अमर सत्य है कि आध्यात्मिकता ही जीवनका ध्येय है। यह बात इस अणु-युगमें भी उतनी ही समयानुकूल है, जितनी उस उपनिषत्कालमें थी, जिसमें आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व, उसका विवेचन हुआ था। यह शाश्वत सत्य, बड़े ही सुन्दर रूपमें, श्रीमद्भागवतके निम्नाङ्कित श्लोकमें व्यक्त हुआ है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति[5]॥

'निश्चित रूपसे मानवका सर्वोच्च धर्म वही है, जिससे वह भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करे—वह भक्ति जो शुद्ध, अप्रतिहत एवं अहैतुकी है। इस धर्मकी उपलब्धिसे मानव पूर्णता एवं शान्ति प्राप्त करता है।'

---

१. ऐन हिस्टोरियंस अप्रोच टु रिलीजन, पृष्ठ २४४।
२. " " " " पृष्ठ २४९।
३. " " " " पृष्ठ २८४-२८५।
४. तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१।
५. श्रीमद्भागवत १।२।६।

संत-स्वभाव

मानवताकी चरम सीमा

(रचयिता—श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम्० ए०, एल्० टी०)

किसी दिन मधुपुरीमें एक रमते-राम आ निकले
जहाँकी सैर करने बेग़रज़ निष्काम आ निकले
नज़र आई खड़ी अट्टालिका पे एक मधु बाला
ग़ज़बकी सुन्दरी, नव यौवना, सुषमाकी शुचि शाला
उन्होंने रूप-निर्माताकी अद्भुत शानको देखा
जगतके पार्थिव पुतलेमें जीवन-प्राणको देखा
हुए उन्मत्त, गद्-गद् हो गए, देखा किए घंटों
मिले अवसर तो ऐसे दृश्यको देखा करे बरसों
पती बालाका सहता किस तरह यह उसकी गुस्ताखी
चढ़ा गुस्सा तो वह नीचे उतर आया लिये लाठी
जमा दीं लाठियाँ शैतानके दो चार कस-कसकर
तड़पकर रह गये, सहते रहे, श्रीमंत हँस-हँसकर
'अबे बदमाश, लुच्चे, क्यूँ खड़ा है, दूर हो, चल चल
पराई औरतोंको ताकता फिरता है यूँ पागल'
यह कहते कहते अन्याई हुआ छिनमें धरा-शायी
पतीका यूँ पतन देखा, विकल बाला उतर आयी
लिपट पद-पङ्कजोंसे, करुण क्रन्दन कर, क्षमा माँगी
सतीने प्राण-धनके प्राण-रक्षाकी दुआ माँगी
अभय मुद्रा, क्षमाकी मूरती, 'ऐसा हि हो,' बोले
सरल वाणी-सुधाके मधु-सरीखे स्रोत यूँ खोले
पतीने तेरे आकर जिस तरह तेरी हिफ़ाज़त की
पिताने मेरे आकर इस तरह मेरी हिमायत की
'उठो, बेटा, उठो, सचमुच, बड़े सौभाग्यशाली हो
जहाँकी दिव्यतम वस्तुके तुम निर्भीक वाली हो
'ग़रज़ इससे न थी मेरी, न शैदा इसकी सूरतका
मैं आसिक़ हूँ फ़क़त उस रूप-निर्माताकी कुदरतका
'नज़र आया मुझे इसमें सनातन अंश अंशीका
विषम टंकार साराँगकी, मधुर संगीत वंशीका
'विमुख संसारसे बेकल, विषय सम्मुख न आते हैं'
भजो सियराम, राधेश्याम, रमते-राम जाते हैं

शिव-स्तवन

सदा—

शंकरं, शंप्रदं, सज्जनानंददं, शैलकन्याक्षरं, परम रम्यं।
काममदमोचनं, तामरसलोचनं, वामदेवं भजे भावगम्यम् ॥ १ ॥
कंबु-कुंदेंदु-कर्पूर-गौरं शिवं, सुंदरं, सच्चिदानन्दकंदं।
सिद्ध-सनकादि-योगीन्द्र-वृंदारका, विष्णु-विधि-वन्द्य चरणारविंदम् ॥ २ ॥
ब्रह्मकुल-वल्लभं, सुलभमतिदुर्लभं, विकटवेषं, विभुं, वेदपारं।
नौमि करुणाकरं, गरल-गंगाधरं, निर्मलं, निर्गुणं, निर्विकारम् ॥ ३ ॥
लोकनाथं, शोक-शूल-निर्मूलिनं, शूलिनं मोह-तम-भूरि-भानुं।
कालकालं, कलातीतमजरं, हरं, कठिन-कलिकाल-कानन-कृशानुम् ॥ ४ ॥
तज्ञमज्ञान-पाथोधि-घटसंभवं, सर्वगं, सर्वसौभाग्यमूलं।
प्रचुर-भव-भंजनं, प्रणतजन-रंजनं, दास तुलसी शरण सानुकूलम् ॥ ५ ॥

—विनयपत्रिका

देव नर किन्नर कितेक गुन गावत पै
पावत न पार जा अनन्त गुन पूरे को।
कहै 'पदमाकर' सुगाल के बजावत ही
काज करि देत जन-जाचक जरूरे को॥
चंद की छटान जुत पन्नग-फटान-जुत
मुकुट बिराजै जटाजूटनके जूरे को।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ
पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को॥

—महाकवि 'पद्माकर'

मानवताके संशोधक भगवान् शङ्कर

मानवता और भगवत्ता

(लेखक—स्वामी श्रीअसङ्गानन्दजी महाराज)

संस्कृति और आध्यात्मिकताके क्षेत्रमें हिंदीके मासिक पत्र 'कल्याण'का कार्य अत्यन्त महान् और मनोहर है। यह प्रतिवर्ष और प्रतिमास ईश्वर, प्रेम, भक्ति, ज्ञान एवं ऐसे ही अन्यान्य विषयोंपर पिछले ३२ वर्षोंसे भारत एवं विदेशके हिंदी पढ़े-लिखे भक्तोंको पाठ्य-सामग्री देता रहा है। इसके वार्षिक विशेषाङ्क भी बहुत रोचक और ज्ञान-वर्द्धक होते हैं। उनके विषय भी मानव-जातिके लिये परमावश्यक होते हैं। इस वर्षका 'विशेषाङ्क' एक ऐसे ही अत्यावश्यक विषयको लेकर प्रकाशित हो रहा है, जिसकी ओर पूर्व और पश्चिमके गम्भीर विचारकोंका विशेष ध्यान है। इस अङ्कका नाम 'मानवता-अङ्क' रखा गया है। इस बातको कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि आजके इस क्षणमें, जब प्रत्येक व्यक्ति भयानक संकटकी आशङ्कासे त्रस्त है और जब जनताके सर्वश्रेष्ठ नेतागण विश्वको विनाशसे बचानेके उपाय ढूँढ़ निकालनेके लिये विचार-विनिमय कर रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि 'कल्याण'के निर्देशकोंने इसी लक्ष्यको सम्मुख रखकर अपना नवीन वार्षिक अङ्क निकालना उचित समझा है। श्रीभगवान् उनकी सदिच्छाको परिपूर्ण करें।

बहुत समय पूर्व कई सहस्राब्दियों पहले भारतके महर्षियोंने जीवन और मरणके प्रश्नपर विचार किया था और उसका एक स्थायी समाधान भी ढूँढ़ निकाला था, जो आत्माके आधारपर ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं। समस्त अस्तित्वका वही मूलाधार है। उन महर्षियोंके लिये ईश्वर एक निराकार भावमात्र नहीं था, अपितु सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी परमात्मा था। यह संसार उसकी रचना है, अतएव इस जगत्‌का प्रत्येक प्राणी अन्य प्राणियोंका भाई-बन्धु है। अपनी इस मनोवृत्तिसे ही वे यह अनुभव करनेमें समर्थ हो सके कि यह जगत्—जिसमें विभिन्न जातियाँ, मत-मतान्तर, वर्ण और अभीप्साएँ विद्यमान हैं, परस्पर संहारके लिये रणक्षेत्र नहीं है, अपितु जङ्गम देवता तथा देवियोंके लिये निवासकी भूमि है। अन्नपूर्णास्तोत्रमें एक सुन्दर श्लोक है—

> माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
> बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥

अर्थात् श्रीपार्वती देवी हमारी दिव्य जननी हैं और श्रीमहेश्वर हमारे दिव्य जनक हैं। भगवान् शंकरके सभी उपासक हमारे भाई-बन्धु हैं और भूलोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक अथवा स्वर्ग, मर्त्यलोक तथा पाताल—यह त्रिलोकी ही हमारा स्वदेश है। कितना महान् और उदात्त आदर्श है।

हमारा यह दृश्यमान और अदृश्यमान प्रपञ्च भगवान्‌के द्वारा रचा गया है—किंतु उस अर्थमें नहीं, जिसमें प्रतीच्य विद्वान् समझते हैं। सृष्टिके सम्बन्धमें अनेक मत हैं, जिनमेंसे दो गम्भीर विचारास्पद हैं। एक तो 'सेमेटिक' है और दूसरा 'आर्य'। सेमेटिक-विचारधाराके अपनानेवालोंका यह विश्वास है कि यह समस्त संसार शून्यसे उत्पन्न हुआ है, वर्तमान जीवन ही प्रथम और अन्तिम जीवन है, कयामतके दिन प्रत्येक व्यक्तिको खुदाके सम्मुख उपस्थित होना होगा, प्रभु उसके कर्मोंके अनुसार फैसला देंगे। दूसरी ओर आर्य-विचारधाराको ग्रहण करनेवालोंका अथवा यों कहें कि भारतीय आर्योंका यह विश्वास है कि यह विश्व परमेश्वरसे प्रकट हुआ है और यह जीवन प्रथम और अन्तिम न होकर जीवन-परम्परामेंसे एक है तथा यह परम्परा तबतक चलती रहेगी, जबतक जीवनके अन्तिम ध्येय अर्थात् कैवल्य अथवा मुक्तिकी प्राप्ति न हो जाय। हिंदुओंकी धारणाके अनुसार सृष्टिका अर्थ रचना नहीं है, अपितु उसका अर्थ है—प्रादुर्भाव—ईश्वरसे प्रकट होना, ईश्वरमें स्थिति और अन्तमें ईश्वरमें ही लय होना। मानव—नहीं-नहीं, यह विश्व—ईश्वरसे प्रादुर्भूत होकर ईश्वरमें ही विद्यमान रहता है और अन्तमें ईश्वरमें ही विलीन हो जाता है—

> यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म।
> (तैत्तिरीय०)

अर्थात् जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें यह रहता है और जिसमें यह पुनः प्रविष्ट हो जाता है, समझनेकी इच्छा करो कि वह ब्रह्म है।

हिंदुओंने मानवको ईश्वरकी सर्वोत्तम रचनाके रूपमें ही स्वीकार नहीं किया है; वह विश्वका एक लघुसंस्करण है। यह विश्व कीट, पतंग, वनस्पति एवं पशु-पक्षियोंका आवास है; मनुष्य इन सबका शीर्षस्थानीय है। यह मनुष्य ही है, जो

सत्ताकी जटिलताको सोचता, समझता और अनुभव करता है और अन्तमें विश्वके कर्ता, भर्ता, हर्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है। अतएव मनुष्यको भगवान्की सर्वोत्तम सृष्टि माना गया है। हिंदू पुराणोंके अनुसार जीवात्मा चौरासी लाख योनियोंके अनन्तर मनुष्य-योनि प्राप्त करता है। अस्तु, कोई व्यक्ति इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकता कि मुक्तिकी सच्ची पिपासा जीवको तभी होती है, जब वह जीवनके हर्ष और शोकका अनुभव कर लेता है और जीवनरूपी ग्रन्थका एक नया पन्ना उलटता है।

मानवके सम्बन्धमें हमारे देशमें एवं विदेशोंमें अनेक प्रकारकी विचारधाराएँ हैं। इनमेंसे हम दोकी चर्चा यहाँ करेंगे। वे हैं—दैवी और आसुरी। श्रीमद्भगवद्गीता आसुरी विचारधाराके विषयमें कहती है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
(१६।८)

अर्थात् आसुर-भाववाले लोग कहते हैं कि ईश्वर-नामक कोई विश्वका कर्ता नहीं है, यह जगत् असत्य है और निराधार है, परस्पर कामजन्य संयोगसे सृष्टिका प्रवाह चल रहा है; इसका और क्या कारण हो सकता है?

छान्दोग्योपनिषद्में एक उपाख्यान है—इन्द्र और विरोचनका। एक समय देवता और दैत्योंमें यह निश्चय करनेके लिये बड़ा युद्ध हुआ कि हम दोनोंमें कौन बड़ा है और विश्वपर किसका शासन चलेगा। उस समय प्रजापति ब्रह्माजी उनके सम्मुख प्रकट हुए और उन्होंने लोगोंसे युद्धका कारण पूछा। कारण विदित होनेपर प्रजापति उनसे बोले—'यदि तुम-लोग इस प्रकार लड़ोगे तो परस्पर प्रहारद्वारा दोनोंका शीघ्र ही संहार हो जायगा। यदि तुम ब्रह्मको जान लोगे, जो 'अपहतपाप्मा', 'विरज', 'विमृत्यु' और 'विशोक' है तो तुम सब कुछ जान लोगे और तत्पश्चात् सबपर शासन करनेमें समर्थ बन जाओगे।' इसपर सभीने ब्रह्मको जाननेकी इच्छा प्रकट की। प्रजापतिने कहा कि 'तुम दोनों अपने-अपने दलमेंसे एक-एक प्रतिनिधि चुनो, मैं उसीको ब्रह्मका उपदेश दूँगा और फिर वह तुम सबमें उस उपदेशका प्रचार करेगा' इस पर देवताओंने इन्द्रको और असुरोंने विरोचनको प्रतिनिधिरूपमें छाँटा। इन्द्र और विरोचन प्रजापतिके निकट उपदेश ग्रहण करनेके लिये पहुँचे। प्रजापतिने उन्हें उपदेशसे पूर्व ३२ वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रत-पालनका परामर्श दिया। दोनोंने व्रत-पालन किया। अवधि समाप्ति होनेपर प्रजापतिने दोनोंको एक सरोवर-के तटपर खड़ा किया और उनसे कहा कि 'जलमें पड़ते हुए अपने-अपने प्रतिबिम्बको देखो। फिर वे बोले—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचै-तदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।

अर्थात् नेत्रमें दृश्यमान पुरुष आत्मा है, वह नित्य और अभय है। विरोचन बड़ा प्रसन्न हुआ और यह सोचकर चल पड़ा कि यह शरीर ही ब्रह्म है और आराधनीय है। जब दोनों—इन्द्र और विरोचन—जा रहे थे, तब प्रजापतिने उच्च स्वरसे कहा कि 'यदि तुममेंसे कोई शरीरको ही ब्रह्म मानकर चला जायगा तो उसका नाश हो जायगा।' इन्द्रने सोचा कि शरीर ब्रह्म नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो वृद्धावस्था, शोक और मृत्युके वशमें है। अतएव वह प्रजापतिके पास लौटा और पुनः ब्रह्मचर्यका पालन करके उसने ब्रह्मविद्याका अध्ययन किया किंतु विरोचन प्रजापतिके पास लौटकर नहीं गया, उसने स्व-वर्गीय व्यक्तियोंमें शरीरात्मवादका ही प्रचार किया। आज हम देखते हैं कि इन्द्रके अनुयायियोंकी अपेक्षा विरोचनके अनुयायियोंकी संख्या अधिक है। चार्वाकके अनुयायीलोग आत्मामें विश्वास नहीं करते थे। वे कहते थे—

न स्वर्गो नापवर्गश्च आत्मा नो पारलौकिकः।
यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्॥

अर्थात् 'न तो स्वर्ग है न मोक्ष; परलोकमें जानेवाले आत्माका भी कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि जबतक जीवित रहे, सुखपूर्वक रहे; ऋण करके भी घृत-पान करता रहे; क्योंकि एक बार अग्निमें दग्ध हुआ शरीर फिर कहाँसे आयेगा।' एपिक्यूरसके अनुगामी दार्शनिक निस्संदेह वर्तमान चार्वाक हैं; वे कहते हैं, 'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ; क्या पता हम कल ही चल बसें।'

प्राचीन मिश्रदेशवासियोंकी यह धारणा थी कि आत्माकी एक छायामूर्ति भी होती है। अतएव वे निष्प्राण देहको, मोम लगाकर पिरामिडोंमें सुरक्षित रखा करते थे। वे मानते थे कि आत्मा रात्रिमें शव-स्थानमें केवल यह देखने आया करती है कि शरीर सुरक्षित है अथवा विखण्डित। यदि भीतरका शरीर क्षत-विक्षत है, तो आत्मा भी विक्षत हो जायगी; और यदि शरीर-को नष्ट कर दिया जाय तो आत्माकी द्वितीय मृत्यु हो जायगी।

पाश्चात्त्य जडवादी विज्ञान-वेत्ताओंके अनुसार मानव-शरीर कोषोंके समुदायके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, एवं वह अपने वंशजोंके रूपमें अमर रह सकता है।

जडवादी चिकित्सा-शास्त्रियोंकी दृष्टिमें शरीर और आत्मा नामकी दो सत्ताएँ नहीं हो सकतीं। कैबैनिस (Cabanis) का कथन है कि शरीर और आत्मा एक ही पदार्थ है। मानव स्नायु-समुदायके अतिरिक्त कुछ नहीं। जिस प्रकार यकृत्से पित्त निकलता है, उसी प्रकार मस्तिष्कसे विचार निकलते हैं। वे लोग वैराग्य, आध्यात्मिक साकार मूर्तियों और समाधि एवं मुक्तिसुखको कोई महत्त्व नहीं देते। वे कहते हैं—'विश्वके विषयमें विलियमकी उदासीका कारण है—उसकी जठरानल-मन्दता; सम्भवतः उसका यकृत् कार्यशील नहीं है। गिर्जाघरमें एलिज़ाकी प्रीति उसकी वातप्रधान प्रकृतिका लक्षण है······ धर्म-परिवर्तन वयस्कता और तारुण्यका विकार है। संतों और आचार्योंकी भक्ति आत्म-बलिदानकी पित्रनुरूप भावनाके विपर्ययका उदाहरण है। (विलियम जेम्सकृत Varieties of Religi ›us experience.)

किंतु अब उन्नततर और उदारहृदय विज्ञानवेत्ता जीवनके गम्भीर रहस्यको धीरे-धीरे समझने लगे हैं। 'साएंस एंड ह्यूमन प्रोग्रेस'में सर ऑलिवर लॉज लिखते हैं कि 'जड जगत्में कार्यकी उत्पत्तिके लिये हमें किसी सहायक पदार्थकी आवश्यकता होती है। जीवको शरीर इसलिये मिला है कि पञ्च-भौतिक शरीरपर उसकी और शरीरकी उसपर प्रतिक्रिया हो सके। शरीरका क्या अर्थ है, इसे हम समझते हैं। वह अभिव्यक्तिका एक साधन है, एक यन्त्र है। एक संगीतज्ञके आत्मामें संगीत रह सकता है, किंतु उसे दूसरोंके प्रति अभिव्यक्त करनेके लिये एक वाद्य-यन्त्रकी आवश्यकता पड़ती है। संगीतज्ञको जैसे सारंगीकी, वैसे ही आत्माको शरीरकी अपेक्षा है। यह ठीक है कि नैसर्गिक प्रक्रियाओंके अनुसार हमने अनजानमें ही शरीरकी रचना की है।

प्रयोगापेक्षी विज्ञान चेतना जीवमें कहाँसे आती है, यह बतानेमें अक्षम है। अबतक वैज्ञानिक लोग चींटी और मक्खी-की गतिका; चींटी, मधुमक्खी, कुत्ते और बंदरकी बुद्धिकी माननीय भावना, स्मृति और विवेकका संतोषजनक रीतिसे कारण-निर्देश करनेमें असफल रहे हैं। जीववाद एक अप्रमेय तत्त्वका निर्देश करता है—

> न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
> इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥
> (कठोप०)

अर्थात् जीवन न तो प्राणके आश्रय है न अपानके, किंतु एक अन्य वस्तुके आश्रय है, जिसपर प्राण और अपान दोनों ही अपनी सत्ताके लिये सदा आश्रित हैं।

हिंदू-दर्शनमें आत्माके सम्बन्धमें अनेक वाद हैं—उदाहरणार्थ—देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद और प्राणात्मवाद। हिंदुओंका विश्वास है कि अमर आत्मा मरणधर्मा देहमें निवास करता है। प्राच्य और प्रतीच्य दार्शनिकोंमें इस विषयमें महान् मतभेद है। प्राच्य मनीषी कहते हैं कि 'देही देहका त्याग करता है।' किंतु प्रतीच्य चिन्तकोंके अनुसार देह देहीका त्याग करता है। हिंदू ऋषियोंने कठोर आध्यात्मिक साधना करके उस सर्वव्यापक प्रभुका आश्चर्यजनक प्रातिभ ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जो विश्वमें व्याप्त रहता हुआ उससे परे भी विद्यमान है। अतएव मानव और उसकी सच्चिदानन्द-मयताके विषयमें उसकी धारणा अटल थी। भारतका इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणोंसे परिपूर्ण है, जिनमें यह धारणा कालकी गतिसे प्रमाणित हो गयी। मानव मांस और अस्थियोंका पुञ्जमात्र नहीं है। वह ईश्वरका अंश है। कई वर्ष हुए, हिमालयके अरण्यमेंसे होकर बहती हुई गङ्गाजीके तटपर एक संत रहा करते थे। वे ज्ञाननिष्ठामें स्थित रहकर अपना अधिकांश समय तपश्चरणमें व्यतीत किया करते। एक दिन सायंकालको जब वे गङ्गाजीका जल लेने नीचे उतरे तो सघन वनसे सहसा एक व्याघ्र निकला और उनकी ओर झपटा। वह भयंकर पशु उन संतको बलात् पकड़कर ले चला; किंतु उनके मुखसे 'सोऽहम्, सोऽहम्' की ध्वनि निकल रही थी। यही एक ऐसा उदाहरण नहीं है—अन्य भी अनेक हैं, जहाँ साधकोंने अपने शरीरसे अतिरिक्त आत्माका अनुभव किया है। इतना ही नहीं, संत-महात्मा दिव्यानन्दके सर्वोच्च अनुभवकी स्थितिमें रहा करते हैं और परमात्माकी अखण्डता और व्यापकताके—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के संदेशको दुहराया करते हैं। ऐसे महान् अध्यात्म-ज्ञान-सम्पन्न व्यक्तियोंकी दृष्टिमें पापी कहानेवाला व्यक्ति भी प्रभुसे भिन्न नहीं होता। यह विस्मयोत्पादक अनुभूति संसारके सभी धर्मोंमें देखनेको मिलती है। बौद्ध-धर्मकी अम्बुपाली कौन थी? ईसाई-धर्मकी मर्था और मेरी कौन थीं? बंगालके नवीन वैष्णवधर्मके जागाई और माधाई कौन थे? वे सब महामानवकी चामत्कारिक शक्तिद्वारा परिवर्तित ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

मानव ब्रह्मत्वकी प्राप्ति करनेतक विकासके विविध स्तरोंका अतिक्रमण करता है। प्रारम्भिक दशामें अज्ञानके कारण वह

विपरीत मार्गपर चलने लगता है, जिसका परिणाम होता है— दुःखकी कष्टप्रद अनुभूति; किंतु जब सत्त्वकी वृद्धि होती है, तब वह अपने दोषोंका परिमार्जन करता है, और क्रमशः अपने मूलभूत विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। स्वामी विवेकानन्द महाराजका कथन है कि मानव अल्प सत्यसे महान् सत्यकी ओर चला करता है, किंतु असत्यसे सत्यकी ओर नहीं। सूर्यकी ओर यात्रा करते समय पद-पदपर तुम उसका छायाचित्र लेते चलो। जब तुम इन छायाचित्रोंकी तुलना करोगे तो तुम्हें सबमें अन्तर प्रतीत होगा, यद्यपि सूर्य एक ही है। मानवकी भी यही बात है; अतएव वह ज्ञान और प्रकाशस्वरूप परमात्माकी प्रतिकृतिके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है।

शान्तिके उन दिनोंमें, जब इस पवित्र देशकी जनता इस दिव्य आदर्शका पालन करती थी, समग्र देश स्वर्ग प्रतीत होता था। भारतमें बौद्ध-धर्मके स्वर्ण-युगमें भी यह देदीप्यमान चित्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होता था। चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेनसाँग भारतमें तीर्थपर्यटन एवं शिक्षा-प्राप्तिके लिये आये थे। उन्होंने अपनी यात्रा-दैनन्दिनीमें अपने प्रशंसनीय अनुभव लिखे थे। उन्होंने लिखा है कि 'भारतमें कारागृह तो हैं, किंतु उनमें अभ्यस्त बंदी नहीं है और यहाँके निवासी अपने घरोंके द्वार खुले रखकर सोया करते हैं।' उन दिनों भारतकी नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति उन्नतिकी परम सीमातक पहुँच चुकी थी।

तब क्या कारण है कि आज हम सर्वत्र विषम परिस्थितिको ही देखते हैं तथा वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक उन्नति होनेपर भी प्रायः सभी व्यक्ति सतत आतङ्कित एवं परस्पर सशङ्कित जीवन व्यतीत कर रहे हैं। क्या कारण है कि स्वर्ग, जो कभी इसी धराधामपर अवतरित किया गया था, आज दृग्गोचर नहीं हो रहा है? इस दयनीय दशाका उत्तरदायित्व किसपर है? मानव निस्संदेह ईश्वरका अंश है और निश्चय ही यथासमय दिव्यताको प्राप्त कर लेगा। किंतु अध्यात्मविद्या और संस्कृतिके संरक्षकोंने न तो इसपर उतना ध्यान दिया है और न उतना यत्न ही किया है जितनेकी उनसे आशा की जाती है। वे ही पथप्रदर्शक हैं और उन्हें ही मानव-जातिको यह दिखाना है कि ईश्वर, आत्मा और कैवल्य निरे थोथे शब्द ही नहीं अपितु वास्तविक तथ्य हैं। वे ऐसे सत्य हैं, जिनकी उपलब्धि यहाँ और अभी हो सकती है। समय आ गया है उस परम तत्त्वके श्रवण, अभ्यास और साक्षात्कार करनेका। तभी यह विश्व स्वर्ग बन सकेगा। आज चन्द्रलोक एवं लोकान्तरोंमें जानेका उद्योग किया जा रहा है, किंतु क्या इतनेसे उन उद्योगियोंके मन बदल जायँगे और वे चन्द्रलोकके निवासी बन जायँगे? मैं तो ऐसा नहीं समझता। मानव ईश्वरकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। जबतक उसकी दृष्टि सर्वथा बदल नहीं जाती, भौतिकतासे आध्यात्मिकता नहीं हो जाती, तबतक विज्ञानके क्षेत्रमें कितनी भी प्रगति क्यों न हो जाय, विश्वका वह सुन्दर रूप नहीं होनेका, जिसमें मनुष्य निरापद् और सुरक्षित रहकर परस्पर स्नेह-सहयोगका जीवन बिता सके तथा वैयक्तिक, जातीय, राष्ट्रिय, राजनीतिक एवं भौगोलिक सीमाओंको भूल सके। क्या हम आशा करें कि प्रभु अपनी संतानके प्रति असीम वात्सल्य, कृपा और करुणासे प्रेरित हो मानव-जातिको वरेण्यतम भावनाओं एवं आदर्शोंसे अनुप्राणित करेंगे और पुनः एक बार इस धराधामपर स्वर्गको अवतरित करेंगे?

मानव किधर ?

आज कोलाहलमें मानव-शिशु भटक गया!
थोड़ेसे खिलौने विज्ञानके-
खींचे लिये जाते हैं—
विकराल विनाशके गर्तकी ओर उसे।
महायुद्ध न भी हो,
ईश्वर दया करे!

क्षीण हुआ जाता स्वास्थ्य,
क्षीण हुई जाती शान्ति,
वासना आज आराधनीया बन गई!
शौच-सदाचार—
प्रगतिशील मानवके सम्मुख यह असभ्य चर्चा!
हाय रे मानव!
विवेकजीवी मानवका ऐसा पतन!!

—सुदर्शनसिंह

मानवता-धर्म

(लेखक—श्रीस्वामी स्वाहानन्दजी, सम्पादक 'वेदान्त-केसरी')

[मानवताका अर्थ जनता भी हो सकता है और मानवोचित गुण तथा उदारता भी। इसी प्रकार मानवताके धर्मका भी अर्थ मानव-धर्म तथा दयालुताका नैसर्गिक धर्म दोनों हो सकता है। हमने यहाँ मानवता अर्थात् मनुष्योंकी समष्टिको 'उपासना-योग्य महापुरुष' के रूपमें ग्रहण किया है।]

धर्मनिरपेक्षताके विकासके साथ ईश्वरके प्रति विश्वास क्षीण हो गया है। प्रत्यक्षमें ही नास्तिकताकी मनोवृत्ति सम्पूर्ण विश्वमें फैल रही है। पश्चिममें तो धर्मनिरपेक्षता एवं नास्तिकताका बहुत पहले आरम्भ हो गया था। ईसाई-धर्मके व्यापक प्रभावकी उपेक्षा करके ही पाश्चात्त्य ज्ञानको आगे बढ़ना था। प्रतिक्रिया-स्वरूप दार्शनिकोंमें ईश्वर तथा धर्मको अपदस्थ करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। किंतु सामाजिक दर्शनशास्त्रियोंने देखा कि निस्स्वार्थ कर्म करनेकी स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये मनुष्यको किसी धर्म या निष्ठाकी आवश्यकता है। इसलिये उन्होंने ईश्वरके स्थान-पर मानवताको स्थापित करना चाहा। इस प्रकार प्रत्यक्षवाद और मानवतावाद उत्पन्न हुए। ज्ञानकी विभिन्न शाखाएँ एक-देशीय हैं। वे प्रकृति अथवा समाजके किसी एक विशेष पक्षका गहन अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। इसलिये वे जिन निष्कर्षोंपर पहुँचती हैं, उनमें ईश्वर या धर्मका कोई वर्णन नहीं आता। इन सब शास्त्रोंका धर्मके पक्ष या विपक्षमें कोई मत नहीं रहता; क्योंकि यह विषय उनके क्षेत्रसे बाहर होता है। किंतु आंशिक सत्यपर आश्रित वैज्ञानिक तत्त्वज्ञानने विचारोंमें उलझन अवश्य उत्पन्न कर दी है। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन भी वैज्ञानिक होनेका दावा करता है और या तो ईश्वरकी उपेक्षा करता है, जैसा धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रमें देखा जाता है, या फिर उसका तीव्र विरोध करता है, जैसा कि हम सम्पूर्णसत्ताधारी साम्यवादमें देखते हैं। परंतु चूँकि उसका सम्बन्ध मानव-प्राणियोंसे होता है, इसलिये वह ईश्वरमें निष्ठाकी उपयोगिताको जानता है और स्वयं मानवताको ही ईश्वरके आसनपर आसीन करनेकी चेष्टा करता है।

स्वभावतः प्रश्न उठता है—'क्या ऐसा करना उचित है ?' 'क्या मानवताको ईश्वरके स्थानपर बिठाना चाहिये ?' जैसा गेटे कहता है, यह तो सत्य है कि 'विश्व-इतिहासके गहनतम विचारका विषय, बल्कि एकमात्र विचारका विषय आस्तिकता और नास्तिकताका संघर्ष है। मानवीय इतिहासके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युग आस्तिकताके युग हैं। आस्तिकता भले ही विविध नामों तथा रूपोंको ग्रहणकर आगे बढ़ी हो, पर वह सदा मानवताकी श्रेष्ठतम हलचलोंमें सबसे आगे रही है।

इतिहासके सभी महत्त्वपूर्ण युगोंमें, जिनमें मनुष्यने अपने आत्माकी उच्चतम शक्तियोंको प्रकट किया है, आध्यात्मिक एवं नैतिक व्यवस्थामें तथा मानव-आत्माकी अमरता एवं मानवीय गुणोंकी अविनाशशीलतामें, जो दोनों उस परम शक्तिपर, जो अदृश्य, शाश्वत तथा सर्वशक्तिमयी है, आधारित हैं—विश्वास ही मानव-क्रियाशीलताका मुख्य स्रोत रहा है।

इस महान् ऐतिहासिक विषयकी ओर प्रत्यक्षवादी एवं मानवतावादीकी दृष्टि क्या है? वे इसकी वास्तविक सत्तामें संदेह करते हैं और इसे मानव-मनकी कतिपय आवश्यकताओंकी पूर्तिकी इच्छाका परिणाम मानते हैं। उन्होंने मानवताको ईश्वरके स्थानपर बिठा दिया है और उसे वास्तविक एवं समर्थ मानते हैं। वे सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रयत्नोंके लिये स्फूर्ति प्रदान करनेवाली लोक-निष्ठा एवं लोक-प्रेमको आकर्षित करना पर्याप्त समझते हैं। ये प्रत्यक्षवादी विचारक हमसे कहते हैं कि 'ईश्वरको निश्चितरूपसे सिंहासनच्युत कर देना चाहिये; इससे संसारकी कोई हानि नहीं होती; क्योंकि उसका स्थान मानवता ले लेती है और उसके सम्पूर्ण कार्योंको करती है। ईश्वरनिष्ठासे उत्पन्न जीवनका सौन्दर्य एवं श्रेष्ठता इसमें भी बनी रहती है, बल्कि उसके प्रत्यक्ष सत्य एवं वैज्ञानिकरूपसे प्रमाणित करने योग्य होनेके कारण और बढ़ती ही है। मानवतारूप इस परम पुरुषके प्रति, जिसमें हम जीते, चलते-फिरते और अपना अस्तित्व रखते हैं और जिसकी गोदमें हम बुलबुलोंकी भाँति उठते और मिटते हैं, हमारी सम्भ्रम एवं दिव्यताकी भावना भी जागरित हो सकती है। युगोंकी विरासत हमारे पास है। इसके पासतक पहुँच सरल है, इसलिये यह अधिक प्रेम करने योग्य है। इस प्रकार उनका दावा है कि मानवता बुद्धिगम्य होनेके साथ ही हृदयकी लालसाओंकी पूर्ति भी करती है तथा तथ्य एवं अनुभवके अकाट्य आधारपर खड़ी है।' इस प्रकार उन्होंने मानवताको धर्मका विषय बना दिया है।

किंतु क्या मानवता सचमुच उपासनाकी वस्तु हो सकती है और क्या इसकी उपासना मनुष्यको अपने कर्तव्यरूप आदर्शोंकी सिद्धिके लिये अपने आवेगोंको जीतनेमें हमारी सहायता कर सकती है ? जब हम विविध धर्मोंका अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि एक अदृश्य सत्ता सदैव उपासनाका विषय रही है। वह सदैव सर्वातिरिक्त; सबसे परे रही है। यहाँतक कि जंगलियों एवं आदिवासियोंकी जड-उपासना भी केवल प्राकृत विषयोंसे सम्बद्ध नहीं रही; बल्कि उसमें भी उन सबमें अनुस्यूत एक अदृश्य, अन्तःस्थ सत्ताकी भावना है। उच्चतर धर्मोंमें यह धारणा और विकसित है। पुरातन भारतीय विचारकोंने उपासनाके एकमात्र विषय; शाश्वत चेतनका वर्णन इन शब्दोंमें किया है—'आँखें वहाँ प्रवेश नहीं कर सकतीं; न वाणी एवं मन ही वहाँतक पहुँच सकते हैं' (केन० १ । ३)

प्रत्यक्षवादियोंकी भूल यह है कि वे भक्ति-प्रेरित क्रियाके दो क्षेत्रों; स्तरोंको एक समझ लेते हैं; ईश्वर जहाँ अदृश्य जगत्में क्रियाशील है, वहाँ मानवता वैज्ञानिक या दृश्य जगत्में कार्य करती है। यदि अतीतके धर्मको आधार बनाना है—और यदि उनके विकासवादका सिद्धान्त समस्त विश्वपर लागू होता है तो ऐसा करना ही पड़ेगा—तब प्रत्यक्षवादियोंका मानवता-धर्म आधाररहित हो जाता है। तार्किकमें दृष्टिसे त्रुटि है। व्यावहारिक दृष्टिसे देखें तो भी मानवता उपासनाकी वस्तु नहीं हो सकती। उपासनाका तात्पर्य ही पवित्रता एवं धार्मिकताके भावमें प्रवेश करना है। अपने प्रत्यक्षवादी पक्षोंमें मानवता हमें उदात्त नहीं बनाती प्रत्युत विराग उत्पन्न करती है। जैसा प्रो० हक्सले कहते हैं,—'मैं अध्ययनके दूसरे किसी विषयको इस प्रकार नितान्त अवसादजनक नहीं पाता जितना मानवताके विकासको पाता हूँ।' किसी भी ऐसे प्राणी या सत्ताकी पूजा करना असम्भव है, जिसका इतिहास उतना ही बुरा हो जितना हमारा रहा है और जो अपनी न्याय एवं धर्मबुद्धिपर गौरव न अनुभव कर सकता हो। मानवताकी पूजा करनेके अनुरोधपर कार्लाइलने कहा था—'मानवताकी पूजा करूँ ? नहीं, आपका धन्यवाद, मैं इस जीवको भलीभाँति जानता हूँ।'

फिर जिस शक्तिकी उपासना हम कर सकें, वह केवल साधुवृत्ति ही नहीं, बल्कि शाश्वत एवं स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली भी होनी चाहिये। मानवता ऐसी नहीं है; वह विकासका एक अस्थायी परिणाममात्र है। वह देशतः एवं कालतः असीम सृजनात्मक शक्तिकी शाश्वतधारामें एक बुद्बुदके समान है। असीम स्रोतकी उपेक्षा करके क्षणभङ्गुरकी उपासना करना मूर्खताकी सीमा होगा।

निस्संदेह मानवताकी पूजा सम्भव है, पर केवल ईश्वरीय सत्ताकी अभिव्यक्तिके रूपमें ही। इसका समर्थन भारतके सर्वोच्च दार्शनिक संतने किया है। आचार्य शंकरने अपने निम्नलिखित प्रसिद्ध वचनमें अपने वेदान्तदर्शनका सार रख दिया है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।

'केवल ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।'

इतने वर्षोंतक हम उपर्युक्त वचनके पूर्वार्द्धपर ही बल देते आये हैं। भारतके देशभक्त संत स्वामी विवेकानन्दने पुकारकर इसे इसके उत्तरार्द्धको कि जीव वस्तुतः शिव है और इस दृष्टिसे मानवताकी सेवा ईश्वरकी ही सेवा है, आदर देना सिखलाया। प्रत्यक्षवादियोंका जगत्के अन्तरालमें स्थित आत्माका बहिष्कार करके मानवताकी उपासनाकी बात कहना मानो हमसे शवकी उपासना करनेको कहना है, जिससे आत्मा निकल गयी है। स्त्री-पुरुषोंका समुदाय वह प्रेम एवं सम्मान हममें जगा नहीं सकता; किंतु ईश्वरीय आदर्शोंसे संयुक्त मानवता तथा मानव-जाति एवं उसके इतिहासमें अपनेको अभिव्यक्त करनेवाले ईश्वरके प्रति अवश्य हमारे अंदर भक्ति एवं उपासनाका भाव जाग्रत् हो सकता है। पर जिनके लिये केवल प्रत्यक्ष ही सब कुछ है और मृत्यु ही अस्तित्वका अन्त है, उनके लिये कोई वस्तु पवित्र नहीं हो सकती और बिना पावनताके विश्व मृत्यु एवं विकारसे पूर्ण हो जायगा।

इस प्रकार मानवता उपासना एवं भक्तिका विषय बननेके अयोग्य है। उसमें स्वतः आत्मबलिदानके कार्योंके प्रति प्रेरित करनेवाली किसी उच्च स्फूर्ति अथवा वीरभावपूर्ण भक्तिको जगानेकी सामर्थ्य नहीं है। कर्तव्य-भावना और नैतिक उद्देश्यपर बल देना धर्मकी महती देनके रूपमें स्वीकार किया गया है। पर जिस मानवतावादी धर्मने ईश्वरीय शक्ति तथा भावी जीवनके प्रति विश्वासको निर्वासित कर दिया है, क्या वह एक समाजके नैतिक जीवनका पोषण कर सकेगा ? क्या वह समाजको नैतिक उत्थानके लिये पर्याप्त स्फूर्ति प्रदान कर सकेगा ? प्रकृतिके परे जो अतीन्द्रिय सत्ता है, उसके प्रति सम्पूर्ण विश्वासका त्याग करके मानवता-धर्मका आचरण अभी किया ही नहीं गया है। कहा जाता है कि ऐसे आदमी हैं,

जो किसी भी धर्ममें विश्वास किये बिना ही निस्स्वार्थ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। किंतु इसका कारण वह चतुर्दिक् व्याप्त धार्मिक वातावरण है, जो उन्हें अनजाने ही प्रभावित करता रहता है। विरासत एवं तत्कालीन जन-साधारणके स्तरका व्यक्तियोंपर दृढ़ प्रभाव पड़ता है।

स्थायी वस्तुओंको लोग क्षणभंगुर अनित्य वस्तुओंकी अपेक्षा अधिक मानते हैं। उनका आत्मा सर्वव्यापी और शाश्वतकी सेवा करनेको उत्कण्ठित रहता है और ईश्वरके कार्योंमें भाग लेनेमें अधिक उत्साहका अनुभव करता है। किंतु जिन लोगोंका प्रत्यक्षवादियोंकी भाँति यह विश्वास है कि मानव-जाति एक क्षुद्र विश्वमें एक अत्यन्त क्षुद्र बुद्बुदके समान है और विनष्ट होनेवाली है, उनका उत्साह सर्वथा भग्न हो जाता है। अमरता तथा मानवके कर्मोंका स्थायी परिणाम बिना आत्मोत्सर्गकी क्रिया एक चरम सीमाकी भूल होगी। ऐसा विचार आनेपर कर्तव्यके प्रति निष्ठा भी शिथिल हो जायगी।

वह क्या है, जो हमें अपने सहमानवोंको प्यार करने तथा पाप-पथसे विरत होनेको विवश करता है? वह है यही विश्वास कि एक ही ईश्वरीय शक्ति, एक ही भगवत्ता सबके अंदर है। सदाचारमय जीवन और सत्कर्मके सिद्धान्तमें ही यह बात निहित है कि एक परम चैतन्य सबमें व्याप्त होकर सबको एकताके सूत्रमें पिरो रहा है और जिसके साथ हम सूत्रमें मणियोंकी भाँति गुँथे हुए हैं। इस विश्वासके बिना जगत् अव्यवस्थाकी स्थितिमें आ जायगा और नैतिक जीवन एक भ्रान्तिमात्र रह जायगा। ईश्वर, मरणोत्तर जीवन तथा व्यक्तिमें स्थित ईश्वरीय ज्योतिः-कणको न मानकर मानवता-धर्म नीति, सदाचरणके आधारको ही समाप्त कर देता है। वह निस्स्वार्थ कर्मके लिये मानवको प्रेरित करनेवाली शक्ति उससे छीन लेता है और उसे एक ऐसा प्रेमरहित एकाकी जीव बना देता है, जिसके पास वर्तमानके लिये कोई सान्त्वना तथा भविष्यके लिये कोई आशा नहीं है।

मेरी मानवता ही भगवत्ता है

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामदासजी)

प्रश्न—मानवता भगवत्ता कैसे है?

उत्तर—मानव-प्राणीमें विवेक है, जिसका सर्वोत्तम उपयोग वह भगवान्को पानेकी तीव्र आकाङ्क्षाके विकासमें कर सकता है। यह आकाङ्क्षा वैषयिक सुखोंके प्रति गहरी अनासक्तिसे समर्थित होनी चाहिये। अब देखो, जीवनका उद्देश्य क्या है? आनन्द! यह प्रिय उद्देश्य ईश्वर-साक्षात्कारके द्वारा ही पूर्ण होता है। यह ईश्वर सनातन, निरतिशय आनन्दरूप है।

विषयोंसे मुझे जो सुख प्राप्त हुआ, वह न केवल अनित्य था, बल्कि वेदना और दुःखसे संयुक्त था—यह तथ्य मैं अच्छी तरह जान गया। इसलिये मैंने क्षणस्थायी पदार्थोंसे मनको हटाकर जीवनके शाश्वत स्रोत—ईश्वरमें उसे लगानेकी प्राणपणसे चेष्टा की। ईश्वर—जो सत्, चित् और आनन्दरूप है—मेरे अंदर है। मनको असत्—जीवनकी बाह्य वस्तुओंसे हटाकर मैंने निरन्तर, उसके पवित्र नामके जपद्वारा, उसके स्मरण-में प्रवाहित होने दिया। निरन्तर स्मरणने मेरे मनको विशुद्ध और नियन्त्रित कर दिया।

अब रहस्यमयी गुरु-कृपाने—जिसने पहले मुझे ईश्वर-की खोजकी ओर प्रेरित किया था—युगोंसे मेरे आत्माको ढक देनेवाले अज्ञानके परदेको हटा दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रकाशकी एक बाढ़ आ गयी और यह प्रकाश मेरे शरीर एवं इन्द्रियोंमें ही नहीं, सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हो गया। इस दीप्तिमें मेरा आत्मा विलीन हो गया। इसके बाद मेरे अंदर एक समष्टि-चेतनाका उदय हुआ और मेरे अचल सर्वव्यापी आत्माका ज्ञान हुआ। इसके बाद इससे भी ऊँची, इससे भी पूर्ण और इससे भी आनन्दमय अनुभूति मेरे प्रबुद्ध आत्माको हुई। वह थी मेरे आत्माका विश्वप्रपञ्चके साथ एकीभाव। दूसरे शब्दोंमें मुझे अनुभूति हुई कि मेरा आत्मा और विश्व एक हैं। आधिशून्य आत्माके साक्षात्कारपर आधारित इस दिव्य चमत्कार और अनुभवने मुझ मानव-प्राणीको सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त ईश्वरका मूर्तिमान् रूप बना दिया।

जैसे पहले मेरे आत्माने पशुतासे उठकर मनुष्यतामें प्रवेश किया, वैसे ही अब वह मानवतासे ऊपर उठकर ईश्वर—पुरुषोत्तमके रूपमें बदल गया। यह आध्यात्मिक एवं दैहिक दोनों प्रकारका विकास था—महत्तम परिणति, इस

मानव-प्राणीमें अपनी सम्पूर्ण दिव्यताके साथ अपनेको व्यक्त करनेके ईश्वरीय संकल्पकी श्रेष्ठतम सिद्धि।

वास्तवमें ईश्वर ही साधक है और ईश्वर ही साध्य है। यह उनकी रहस्यमयी लीला है। वास्तवमें मेरा आत्मा और ईश्वर—जीव और ब्रह्म एक हैं। उनकी जय हो!

इतनेपर भी वे सर्वोच्च आध्यात्मिक सम्भावनाएँ, जिनके द्वारा भगवान्‌ने मुझे अपनी ओर खींचा, समाप्त नहीं हो जातीं। अपने प्रारम्भिक संघर्ष और आकाङ्क्षामें बराबर मैंने जो निकटस्थ और व्यक्तिगत सम्बन्ध—मधुरतम और प्रियतम सम्बन्ध उनके साथ रखा, वह इस समय सत्य, घनिष्ठ और स्थायी हो गया है। एक अवेक्षणशीला माँ एवं उपकारी स्वामीकी भाँति अब वे मेरे नित्य सखा हैं। मनुष्य, पशु एवं पक्षी—नहीं, सम्पूर्ण प्राणियों एवं वस्तुओंमें भी मैं उनको—अपने प्रियतमको देखता हूँ। उनकी पुनः जय हो।

मानवताका सुख और मानवताका ज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीमाधवतीर्थजी महाराज)

१—प्राचीन कालमें जब सत्ययुग था, तब मनुष्य आत्माके ज्ञानको 'सच्चा ज्ञान' और आत्माके सुखको 'सच्चा सुख' मानता था। उस समयके संस्कारोंका इतिहास हमको शास्त्रोंमें मिल सकता है।

२—पश्चिमके देश ऐसा मानते हैं कि प्राचीन कालमें मनुष्य पशु-जैसा था। उसे भोजन बनाना भी नहीं आता था, इसलिये वह पशुओंको मारकर खा जाता था। पीछे बस्ती बढ़ी, बुद्धि बढ़ी और मशीनोंका आविष्कार हुआ। इसको वहाँके लोग विकास कहते हैं। भारतीय आर्योंका उनके साथ संस्कारका सम्बन्ध हुआ।

३—बुद्धके समयतक और ईसामसीहके समयतक मनुष्यके पास इन्द्रियोंके भोगके लिये बहुत साधन नहीं थे। इससे अनीति मर्यादामें रहती थी। उसके बाद क्रमशः बस्ती बढ़ी, मशीनें बढ़ीं, विद्युत्‌का आविष्कार हुआ, भोगके साधन बढ़े तथा सब देशोंके संस्कारोंका मिश्रण हुआ। कलियुगके जो दोष हमारे शास्त्रोंमें लिखे हैं, वे सब आज भी देखनेमें आते हैं। मुसल्मानोंके हिंदुस्थानमें आनेके समयतक वर्णाश्रमधर्म चालू था और स्त्रियाँ पर्देमें रहती थीं। अंग्रेजी राज्यमें स्त्रियाँ पर्दा छोड़कर बाह्य-जीवनमें भाग लेने लगीं और पुरुषोंकी बराबरी करने लगीं। कालेजोंमें जवान लड़के और लड़कियों-का सह-शिक्षण शुरू हुआ और स्त्रियोंका मासिक रजस्वला-व्रत पालन करना भी प्रायः बंद हो गया। गृहस्थाश्रम लंबा हुआ, बस्ती बढ़ी, मौज-शौक बढ़े और घरका खर्च बढ़ा। खर्च पूरा करनेके लिये और मौज-शौकके लिये पैसा बढ़ानेकी जरूरत पड़ी और फलस्वरूप सहज ही अनीति बढ़ी। मोटर और विमानके लिये पेट्रोल चाहिये और पृथिवीका अधिक पेट्रोल अरबके देशोंमें है। इससे ऐसी मान्यता उत्पन्न हुई कि जिसके आधिपत्यमें अरबके देश रहेंगे, उसके आधिपत्यमें पृथ्वी रहेगी। इससे लड़ाईका बीज अरबके देशों-में ही उत्पन्न होगा, ऐसा लगता है।

४—दूसरी मान्यता यह उत्पन्न हुई कि 'पूँजीवाले लोग मजदूरोंसे अधिक काम लेकर उस कमाईसे अधिक मौज-शौक करते हैं और मजदूर वह सुख नहीं भोग सकते। इसलिये पूँजीवाले लोगोंके ऊपर कर और कानूनका बोझ डालकर उनके पैसे घटा दिये जायँ और मजदूरोंकी आय बढ़ानी चाहिये।' इससे राजाओंके राज्य गये, जमींदारोंकी जमीन गयी और सेठलोग करके बोझसे दब गये; परंतु करके बढ़नेसे महँगाई बढ़ी, मजदूरोंमें भी मौज-शौक आया। मजदूरोंका खर्च बढ़ गया और वे भी सुखी नहीं हुए; तब वे अधिक मजदूरीके लिये हड़ताल करने लगे। यही नहीं, इन्द्रिय-सुख ही सच्चा सुख है, ऐसी सबकी मान्यता हो गयी।

५—अब ज्ञानका विचार कीजिये। ज्ञानका साधन बढ़ा है और इससे कुछ लाभ भी हुए हैं। पुस्तकोंकी सुविधा हो गयी है। 'कल्याण' मासिकपत्रकी लाखों प्रतियाँ और गीताप्रेसकी सस्ती पुस्तकें जन-समाजमें पहुँच रही हैं। (समाचार-पत्र और रेडियोके द्वारा दूरके देशोंका समाचार तुरत जान जा सकता है तथा पश्चिमके सापेक्षवाद, कांटम थियरी और जेस्टाल्टके मानसशास्त्रसे भी ज्ञानका साधन और मायाको समझनेका साधन बढ़ा है। इस अनुसंधानको अभी पचास वर्ष हुए हैं। अधिक लोग इसका लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि इनमें बहुत सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता पड़ती है।

६—दूसरा बड़ा परिवर्तन यह हुआ है कि प्राचीन कालमें केवल राजा राज्य करते थे और केवल क्षत्रिय लड़ते थे

पढ़ाने-लिखानेका काम धर्मगुरु करते थे। अब वस्ती बढ़ी तो पार्लमेंटका राज्य हुआ। लड़ाईके समय सारी प्रजा लड़ती है और शिक्षा-दीक्षाका काम राज्यके मन्त्रियोंके हाथमें है। इससे मनुष्यको देश जीतने तथा देशकी रक्षा करनेका ज्ञान अधिक मिलता है। देशकी रक्षा करनेकी चिन्ता बढ़ी है। इससे भविष्यका विचार आता है; और कालको कोई जीत नहीं सकता।

७. सिनेमा भी बहुत बढ़े और इनसे मनुष्यकी वृत्तियाँ उत्तेजित होती हैं। सिनेमा आनेके पहले नाटक थे, उनमें प्रायः स्त्रियाँ अभिनेत्री न होनेसे मनुष्योंके मनोंमें विकार-वृद्धिकी भी कम सम्भावना रहती थी और उनसे मनोरञ्जनके साथ कुछ बोध भी प्राप्त होता था; परंतु आजकलके सिनेमाके मालिक यह समझते हैं कि उनका कर्तव्य केवल मनोरञ्जन करके पैसा कमाना है। उपदेश देना उनका काम नहीं है, ऐसा वे मानते हैं। मनोरञ्जनमात्रका कार्यक्रम रखनेसे उनको तो कमाई अच्छी हो जाती है, पर लोगोंके चरित्रका नाश होता है। इस कमीको दूर करके उपदेशप्रद फिल्म बनानेके लिये सिनेमाकी देख-रेख रखनेवाले सरकारी अधिकारियोंको मैंने पत्र लिखे; पर उन्होंने कहा कि इस विषयमें उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। इसपर ज्ञानके साथ-साथ लोगोंको मनोरञ्जन मिले, इस प्रकारकी मैंने कुछ स्लाइडें तैयार करायीं और वे अभी लोगोंको दिखायी जा रही हैं।

८. प्राचीन कालमें धर्मका अर्थ अभ्युदय और निःश्रेयस होता था। आजके युगमें धर्मका अर्थ केवल 'समाज-सेवा' है। पहले धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ थे। अब अर्थ और काम—ये दो ही पुरुषार्थ रह गये हैं; इस कारण गृहस्थाश्रम लंबा हो गया है। हिंदुस्तानमें प्रतिदिन १३,००० की जन-संख्या बढ़ती है और सारी पृथ्वीपर कुल ८०,००० की जन-संख्या बढ़ती है। यूरोप और अमेरिकाके होटलोंमें भोजन और निवासकी व्यवस्था रहती है और कितने ही होटलोंमें युवती स्त्रियोंकी भी व्यवस्था रहती है। शहर बढ़ गये हैं और प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है। विविध प्रवृत्तिवाला मनुष्य अपनेको देख ही नहीं सकता।

९. श्रीअरविन्द कहते थे कि अब मनुष्यका जीवन किसी मनुष्यकी शक्तिसे सुधरनेवाला नहीं है। इसलिये भगवान्‌के अवतारकी आवश्यकता है। नयी सड़कों और नये अस्पतालोंसे सुधार नहीं होगा, बल्कि मानवतामें नयी चेतना आनी चाहिये। श्रीमद्भागवतमें जो 'भविष्य' कथन है, उसके अनुसार कल्कि भगवान् देवदत्त नामके घोड़ेपर बैठकर दस्युओंको मारेंगे। पश्चात् भगवान्‌के शरीरमेंसे सुगन्ध निकलेगी और हवामें फैलेगी तथा शेष प्रजाके प्राणोंमें प्रवेश करेगी। उसके बाद जो प्रजा बचेगी, वह सात्त्विक होगी।

१०. श्रीकृष्णके समक्ष महाभारतके युद्धके समय अर्जुनको यह भय हुआ था कि वर्णोंमें संकरता हो जायगी। इस विषयमें उत्तर देते हुए भगवान्‌ने कहा था कि चारों वर्णोंकी स्थापना मैंने की है। यदि यूरोप, अमेरिका तथा इस्लामी देश भी भगवान्‌के रचे हैं तो वहाँ भगवान्‌ने चार वर्ण क्यों नहीं बनाये?—यह एक प्रश्न होता है। वहाँ ब्राह्मणके स्थानमें पादरी, क्षत्रियस्थानीय सेना, वैश्य और मजदूर हैं; परंतु आश्रमधर्म अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम वहाँ नहीं है। श्रीकृष्णने जो अन्तिम उपदेश उद्धवजीको दिया है, उसमें वर्ण-धर्म और आश्रमधर्म दोनोंकी बात आती है। गीतामें केवल वर्ण-धर्म है; क्योंकि अर्जुनका प्रश्न वर्णधर्म-विषयक ही था। भागवतमें यह भी कहा गया है कि कलियुगका अन्त हो जानेपर हिमालयमें रहनेवाले दो महात्मा मरु और देवापि वर्णाश्रम-धर्मका पुनः प्रचार करेंगे; परंतु कलियुगका अन्त कब माना जाय, यह कोई बतला नहीं सकता। 'देवदत्त' शब्दका व्युत्पत्तिगम्य अर्थ यदि हम यह करें कि 'देव—द्युति अथवा तेज, और तेजका घोड़ा अर्थात् अटम बम,' तो हम कह सकते हैं कि कल्किका घोड़ा तैयार हो गया है।

११. आजके आदमी श्रेयके मार्गमें नहीं बढ़ सकते। वर्णाश्रम-धर्मका पालन छोटी बस्तीमें हो सकता है। आजके युगमें हिंदू आश्रमधर्मका पालन करें तो उसमें सारे जीवनका पौना भाग (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासके रूपमें) ब्रह्मचर्य पालनेके लिये है और केवल चौथाई भाग गृहस्थाश्रमके लिये रक्खा हुआ है। हिंदू यदि इस प्रकार रहें और मुसल्मानोंको चार स्त्री करनेकी छूट रहे, तो यहाँ थोड़े ही समयमें पाकिस्तान हो जाय। इसलिये हिंदुओंको वर्णाश्रमके अनुसार रहनेमें कठिनाई पड़ रही है। यह कहा जाता है कि इस्लामी पैगम्बर महम्मद साहबके समयमें मनुष्य बहुत स्त्रियोंसे ब्याह करते थे, इसलिये उनके पैगम्बरने केवल चार स्त्री करनेकी छूट दी है। यह संयम बढ़ानेके लिये है।

१२. प्राचीन कालमें स्वतन्त्र तत्त्वको कम करनेकी प्रवृत्ति थी। घरमें सभी एक बड़ेकी आज्ञाके अधीन रहते थे। स्त्री पतिके अधीन रहती थी। प्रजा राजाके अधीन थी और विद्यार्थी गुरुके शासनमें रहते थे। इसका कारण

था—स्वतन्त्र तत्त्वको कम करके एकमात्र स्वतन्त्र तत्त्व भगवान्‌में अन्ततोगत्वा मिल जानेकी प्रवृत्ति। आजके युगमें सबको स्वतन्त्रता मिली है, इससे घरमें सभी स्वतन्त्र और सभी मालिक हैं; विद्यार्थी गुरुका कहना नहीं मानता, मजदूर हड़ताल करते हैं, प्रजा सर्वोच्च मन्त्रीका मुकाबला करती है। पाकिस्तानमें तो कितने ही प्रधान मन्त्री आये और समाप्त हो गये। हिंदुस्तानमें भी मन्त्रियोंकी संख्या और उनके मार्ग-व्ययको देखें तो उनका खर्च राजाओंके खर्चसे कम नहीं होता है। उनके बाहरी व्यवहारके खर्च भी बढ़े हैं, उद्घाटन बढ़े हैं, कर बढ़े हैं। कानून बढ़े हैं। परंतु लोगोंको शीघ्र न्याय नहीं मिलता और सम्मन तुरंत नहीं निकलता। महँगाई बढ़ी है और इसके साथ रिश्वत भी बहुत बढ़ी है।

१३. सबको समान सुख और समान अधिकार देना—यह कांग्रेसका समाजवाद है। किसी मनुष्यके पास दस लाख रुपये हों तो उसमें भाग करके दस आदमीको एक-एक लाख देनेसे किसीको दस लाखका सुख नहीं मिलेगा। सुख समान नहीं किया जा सकता, इसलिये पैसेका सम विभाग आर्योंके प्राचीन संस्कारमें नहीं था। वर्तमान कालमें जन-समाजका भला करनेके लिये बुद्धिमान् मनुष्यको भी अज्ञानी-जैसा बनना पड़ता है। प्राचीनकालमें अज्ञानी लोग ज्ञानीकी सेवा करते थे। आजके युगमें धारासभामें सभासद् बनानेके लिये मतदाताओंमें महात्माको एक मत देनेका अधिकार रहता है और वेश्याको भी एक मतका अधिकार रहता है तथा बहुमत अज्ञानियोंका होता है। इसलिये भारतके १५ पार्लमेंटके ४००० सभ्य भी भारतके जीवनको ऊँचा नहीं उठा सके। कर और कानून बढ़ते चले जा रहे हैं, तथापि मनुष्य संयमी नहीं बन रहे हैं।

१४. भोजनसे वीर्य बनता है और वीर्यसे प्रजा होती है, अतएव वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार सबके साथ बैठकर भोजन करनेकी छूट नहीं है। आजकल सब आदमी सबके साथ भोजन कर सकते हैं और ब्याह कर सकते हैं; इससे मनुष्यका वीर्य बिगड़ गया है। रज-वीर्यकी शुद्धि हिंदू-संस्कृतिका मूल था। किसान अच्छी खेतीके लिये अच्छा बीज पसंद करते हैं; अच्छी गायके लिये, अच्छी नस्लके घोड़ेके लिये अच्छा बीज पसंद करते हैं। परंतु अच्छे मनुष्यके लिये अच्छा बीज पसंद नहीं किया जाता। इसके लिये संस्कारी परिवारमें ब्याह होना चाहिये।

१५. अब सब देशोंके संस्कारोंका मिश्रण हो गया है, इससे कोई एक देश अलग रहकर सुधर नहीं सकता; फलतः जो सब देशोंके लिये उपयोगी हो, ऐसा सुधार होना चाहिये। यह कठिन काम है, तथापि नीचे लिखे अनुसार कुछ प्रस्ताव रखे जा सकते हैं—

(१) सब देशोंका एक राज्य और एक सेना होनी चाहिये। ऐसा करनेसे सभी देशोंका सैनिक-व्यय कम हो जायगा और वह रकम अधिक अच्छे संस्कारोंको बढ़ानेमें लगायी जा सकेगी।

(२) शिक्षा देनेका कार्य धर्मगुरुओंके हाथमें रहना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य सारी पृथ्वीका नागरिक बने और किसी देशविशेषका नागरिक न रहे। जिससे आत्मामें प्रीति और विषयोंसे वैराग्य प्राप्त हो, ऐसी शिक्षा देनी चाहिये। यह सिद्धान्त सब धर्मोंमें लागू होने योग्य है।

(३) समाजमें दो वर्ग हों—(१) संस्कारी वर्ग और (२) संस्कारहीन वर्ग। संस्कारी वर्ग नीचे लिखे अनुसार सारे जीवनकी योजनाके अनुसार बरतें। (क) पहले २४ वर्ष ब्रह्मचर्य-आश्रम और विद्याभ्यास, (ख) वर्ष २४ से ३६ तक गृहस्थाश्रम (अर्थात् वैवाहिक-जीवन), (ग) वर्ष ३६ से ४८ तक वानप्रस्थ-आश्रम, (द) ४८ से आगे संन्यास-आश्रम अथवा समाज-सेवा।

(४) विद्यालयके शिक्षक नीतिमान् और संयमी हों। जो शिक्षक अनीतियुक्त सिद्ध हो, उसकी डिग्री रद्द कर दी जाय।

(५) सिनेमा इस प्रकारके तैयार किये जायँ, जिनसे मनुष्यको मनोरञ्जनके साथ-साथ ज्ञान भी मिले।

(६) पार्लमेंटके चुनावमें केवल संस्कारी वर्गके लोग ही मत दें। जो मनुष्य उपर्युक्त योजनाके अनुसार न चले, उसको संस्कारहीन वर्गका मनुष्य माना जाय।

(७) धर्मशास्त्रके साथ पश्चिमका सापेक्षवाद और जेस्टाल्टका मानस-शास्त्र भी शिक्षणमें रखा जाय। इससे कालधर्म सहज ही जीता जा सकेगा।

१६. समाज और राज्यमें जहाँतक ऊपर लिखे अनुसार परिवर्तन न हो जाय, तबतक आत्मनिरीक्षण करनेवाला कोई भी मनुष्य ऊपर लिखे अनुसार ६० वर्षकी (सारे जीवनकी) योजना बनाकर यदि जीवन-यापन करेगा तो वह अपने जीवनको अच्छा बना सकेगा।

१७. सत्य ज्ञानके लिये गीताके १८ वें अध्यायके २०, २१, २२—ये तीन श्लोक और सत्य सुखके लिये ३७, ३८, ३९—ये तीन श्लोक एक पन्नेमें अर्थके सहित छपाकर

प्रत्येक विद्यार्थीको देने चाहिये और तदनुसार भावना करने-के लिये कहना चाहिये । मुसल्मान विद्यार्थियोंके लिये ऐसे ही वाक्य उनके धर्मशास्त्रसे निकलवाकर छपवाकर वितरण करने चाहिये ।

१८. सब धर्मवाले परस्पर सद्भाव रख सकें, इसके लिये प्रत्येक कालेजमें बाबू भगवानदासकी अंग्रेजी पुस्तक Essential Unity of all Religions अनिवार्य पाठ्य-पुस्तकके रूपमें पढ़ायी जाय ।

मानव-धर्म

(लेखक—श्रद्धेय श्रीश्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥*
(श्रीमद्भा० १ । २ । ६)

परम धरम है जिहीं भक्ति भगवत में होवै ।
होवै हरषित हियौ, मलिनता मन की खोवै ॥
हेतुरहित निष्काम भक्ति अति सरस सुहाई ।
सब शास्त्रनि को सार यही मेरे मन भाई ॥
शौनकजी ! सच-सच कहूँ, सब शास्त्रनि सम्मत जिही ।
भक्ति भनी भागीरथी, विषयवासना विष कही ॥
(भागवतचरित)

भारतीय वाङ्मयमें 'धर्म' शब्द इतना महत्त्वपूर्ण, सार-गर्भित तथा लचीला है कि किसी भी भाषामें इसके समानार्थ शब्द नहीं । आज जो 'धर्म' शब्द दल, सम्प्रदाय, फिरका, पन्थ आदिके लिये प्रयुक्त होने लगा है—जैसे हिंदूधर्म, ईसाई-धर्म, मुसलिमधर्म, यहूदीधर्म आदि-आदि, यह धर्मका संकुचित और एकदेशीय प्रयोग है । इसे सर्वथा अशुद्ध तो नहीं कह सकते, किंतु यह धर्मका अपूर्ण प्रयोग है । 'धर्म' शब्द बड़ा व्यापक अर्थ रखता है—जैसे वर्णाश्रमधर्म, ब्राह्मणधर्म, क्षत्रियधर्म, वैश्यधर्म, शूद्रधर्म, स्त्रीधर्म, यतिधर्म, आपद्धर्म यहाँतक कि वेश्याओं और चोरोंके धर्मका भी हमारे शास्त्रोंमें वर्णन है और उनके प्रणेता भी ऋषि हैं ।

धर्मका सम्बन्ध भीतरसे भी है और बाहरसे भी तथा आजीविकासे भी है । तुम अपने समस्त जीवनमें समस्त प्राणियोंके साथ मनसा-वाचा-कर्मणा कैसा व्यवहार करो और कैसे अपनी आजीविका चलाओ, इन्हीं बातोंकी शिक्षा धर्म देता है । अर्थात् लोक-परलोकके प्रति कर्तव्यपालन तथा व्यावहारिक जीवन जिससे आनन्दप्रद बने । इसीलिये जिससे इस लोकमें अभ्युदय हो और परलोकमें मोक्षकी प्राप्ति हो, उसे ही धर्म कहते हैं ।*

बौद्धधर्मसे पहिले यहाँ व्यक्तियोंके नामसे धर्म चलानेकी प्रथा नहीं थी । ऋषियोंके नामसे गोत्र चलते थे, उनका सम्बन्ध कुलसे था । धर्म सबके लिये एक है, वह मानव-मात्रके लिये सनातन—शाश्वत है । जैसे हम यह नहीं कहते—बौद्ध दया, ईसाई सत्य, मुसलिम अहिंसा । दया, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण सबके लिये समान हैं, उसी प्रकार धर्म भी सबके लिये समान है । यह नहीं कि हिंदुओंके लिये कोई धर्म दूसरा हो, अंग्रेजोंके लिये तीसरा हो और अरबवालोंके लिये चौथा हो । जैसे गुड़को चाहे अंग्रेज खायँ, चीनके लोग खायँ, अरबनिवासी खायँ, भारतीय खायँ—सभीको वह मीठा ही लगेगा—उसी प्रकार धर्मका आचरण चाहे अंग्रेज करें, भारतीय करें, पारसके लोग करें अथवा अरबके करें, सभीको उससे इस लोकमें सुख और परलोकमें निःश्रेयस—मोक्षकी प्राप्ति होगी ।

सदासे दो प्रकारके मनुष्य होते आये हैं—दैवी सम्पत्तिके प्रेमी और आसुरी सम्पत्तिके; आर्य और अनार्य अथवा सुसंस्कृत तथा पिछड़ेवर्गके जंगली लोग । जो मोक्षके लिये, संसारकी निवृत्तिके लिये साधन करें, परलोकको ध्यानमें रखकर सब कार्य करें, वे आर्य हैं । जो केवल पेट भरनेके लिये ही पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति निरन्तर पेटकी चिन्तामें ही निमग्न रहें, पेटके लिये मोहवश अर्थ-अनर्थ सब कुछ करनेको उद्यत हों, वे ही अनार्य हैं। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे यही बात कही—'तुम मोहवश क्षत्रिय-धर्मका परित्याग कर रहे हो, यह 'अनार्यजुष्ट' कार्य है, अस्वर्ग्य है। इससे परलोक

* सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—'मानवमात्रका सबसे उत्तम—परमधर्म वही है, जिसके आचरण करनेसे भगवान्‌में निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति हो जाय तथा जिससे अन्तरात्मा सदा प्रफुल्लित और प्रसन्न बनी रहे ।'

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

नहीं बन सकता; स्वर्ग भी नहीं मिल सकता; क्योंकि स्वर्ग कीर्तिमान्‌को मिलता है, तुम्हारा यह कार्य अकीर्तिकर है।'

आर्य और अनार्योंके कुल पृथक्-पृथक् होते थे, क्योंकि कुलागत संस्कार कठिनतासे मिटते हैं। रज और वीर्यमें वंशगत गुण-अवगुणोंके संस्कार विद्यमान रहते ही हैं, इसलिये आर्य और अनार्योंके रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार-बर्ताव पृथक्-पृथक् होते हैं। फिर भी धर्मका सम्बन्ध बाह्य कर्मोंकी अपेक्षा सद्गुणोंसे अधिक माना गया है। कोई अनार्य वंशमें भी उत्पन्न हो; किंतु उसमें आर्यों-जैसे सद्गुण हों तो वह आर्योंके सदृश ही माना जायगा और कोई जन्मना आर्य भी हो—उच्च कुलका भी हो, किंतु उसके आचरण अनार्यों-जैसे हो गये हैं तो वह अनार्यवत् ही बन जायगा। किंतु अनार्य भी अपनी परम्पराको, अपने व्यवहारको धर्म कहते हैं। जैसे रावण आर्यवंशमें उत्पन्न हुआ था, ब्राह्मण था, किंतु मातृदोषसे और अपने व्यवहारसे वह राक्षस हो गया था। जब उससे कहा गया, 'तुम अधर्म क्यों कर रहे हो? परदारा-हरण तो अधर्म है', तब उसने स्पष्ट कहा—'नहीं, मैं अधर्म नहीं कर रहा हूँ, मैं तो राक्षस-धर्मका ही पालन कर रहा हूँ'—

राक्षसानामयं धर्मः परदाराभिमर्शनम्।

'परस्त्रीका अपहरण करना तो राक्षसोंका धर्म ही है।' इसीसे मैं कहता हूँ कि धर्मकी व्याख्या हो नहीं सकती—धर्मस्य गहना गतिः। इसीलिये ऋषियोंने कहा है—

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

'अपने बुद्धिमान् तत्त्वदर्शी बड़े लोग जिस मार्गसे जायँ वही सदाचार है, वही धर्म है।' धर्ममें दो बातें मुख्य हैं—एक तो यह कि अपने आचरणको शुद्ध रखो अर्थात् दुर्गुणोंको छोड़कर सद्गुणोंको धारण करो; दूसरी बात यह कि अपनी वंशपरम्परागत शुद्ध आजीविकासे निर्वाह करो। जो यों करता है, वही धार्मिक है। सभी धर्मप्रवर्तक महानुभावोंने इन्हीं दो बातोंपर विशेष बल दिया है। सनातनधर्म किसी एक जातिके लिये, एक देशके लिये, एक समाजके लिये नहीं है। धर्ममें हिंदू-मुसलिम-ईसाई—ये विशेषण लगाना ही उचित नहीं; धर्म तो धर्म ही ठहरा, फिर भी देश, काल तथा पात्रके भेदसे धर्मकी बाह्य क्रियाओंमें भेद माना गया है।

जैसे कोई ब्रह्मचारी है, उसका धर्म है—स्त्री-संसर्गसे सर्वथा दूर रहे। वही व्यक्ति जब गृहस्थ हो जाता है, तब उसका धर्म हो जाता है—ऋतुमती भार्याके साथ समागम करना। यदि वह ऐसा नहीं करता तो अधर्म करता है। गृहस्थके लिये निज पत्नीमें ऋतुगमन धर्म है। किंतु वही व्यक्ति जब संन्यासी हो जाता है, तब उसी स्त्रीको, जिसके साथ कलतक संसर्ग धर्म था, अब उसकी ओर देखना भी अधर्म माना जाता है। इसी प्रकार देशसे, कालसे, पात्रसे धर्मके बाह्याचरणमें भेद हो जाते हैं। किंतु सनातन-धर्म सदा एक-सा ही बना रहता है; क्योंकि वह शाश्वत धर्म है, अपरिवर्तनीय और अनिवार्य है।

आजकल तो धर्म बाह्याडम्बरमें ही माना जाता है, यद्यपि आप देखेंगे कि प्राचीन शास्त्रोंमें धर्मका सम्बन्ध सद्गुण तथा आजीविकाकी शुद्धतासे ही था। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक भेदसे धर्म दो प्रकारका है। बाह्य धर्मका सम्बन्ध कर्मसे है, कर्म इन्द्रियोंद्वारा होते हैं। अतः बाह्य धर्मको कर्म या स्वभावजन्य क्रिया भी कहते हैं। जैसे ब्राह्मणके शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, मृदुता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य, वेदाध्ययन तथा यज्ञ करना—ये तो भीतरी धर्म हैं। अच्छा, अब वह अपनी आजीविका कैसे चलाये; क्योंकि बिना शुद्ध आजीविकाके धर्माचरण होना सम्भव नहीं! इसलिये उसकी आजीविका भी जब ब्राह्मण-धर्मके अनुकूल हो, तभी वह धार्मिक बना रह सकता है। ब्राह्मणकी आजीविका भी ऋत, मृत और प्रमृत अर्थात् उत्तम, मध्यम और निकृष्ट—तीन तरहकी बतायी गयी है। किसी-को तनिक भी बिना कष्ट पहुँचाये स्वतः पृथ्वीपर पड़े अन्नके दानोंको कबूतरकी भाँति चुग कर ले आये और उन्हींसे अपनी आजीविका चलाये—यह उत्तम आजीविका है। यह न कर सके तो पढ़ाकर, दान लेकर, यज्ञ-यागादि कराके निर्वाह करे। इससे भी आजीविका न चले तो खेती-व्यापार ही कर ले। नहीं तो, नित्य-नित्य मुट्ठी-मुट्ठी भीख माँग लाये। नित्य याच्ञा सबसे निकृष्ट वृत्ति है गृहस्थ ब्राह्मणके लिये। यदि वह गृहत्यागी, विरागी, सर्वस्वत्यागी, ब्रह्मचारी या संन्यासी हो, तब तो भिक्षा-का अन्न उसके लिये अमृतान्न है और वह उसका सर्वोत्तम धर्म है।

इसी प्रकार क्षत्रियके तेज, बल, धैर्य, शौर्य, तितिक्षा, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मणभक्ति), वेदा-ध्ययन, यज्ञ, दान तथा ऐश्वर्य—ये आन्तरिक धर्म हैं। वह अपनी आजीविकाके लिये प्रजासे कर लेकर उससे निर्वाह करे, अथवा युद्ध करे। दान लेना, पढ़ाना, यज्ञ कराना—इनसे आजीविका

न चलाये । काम न चले तो खेती, व्यापार, गोपालन आदि कर ले।

वैश्यके लिये आस्तिकता, वेदाध्ययन, दान, दम्भ-हीनता, ब्रह्मण्यता और अधिकाधिक धन-संग्रह—ये धर्म हैं। वह कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य—इनसे आजीविका चलाये। इनसे काम न चले तो नौकरी-चाकरी-शिल्पादि क्रिया कर ले। इसी प्रकार शूद्र ब्राह्मण, गौ, देवता तथा अन्य सभी वर्णोंकी निष्कपट भावसे सेवा करे और उसी सेवा-द्वारा जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपनी आजीविका चला ले। इससे सिद्ध हुआ कि सद्गुण तो धर्म हैं ही, वंशपरम्परागत चली आयी आजीविकाको बनाये रखना—यह भी धर्म है। गीतामें तथा अन्य सभी आर्यधर्मशास्त्रोंमें परम्परागत वृत्तिको बनाये रखनेपर बड़ा बल दिया गया है। उनका कथन यह है कि तुम अपनी पैतृक आजीविकाको छोड़कर उत्तम-से-उत्तम आजीविकाके लिये इधर-उधर भटकोगे तो दूसरोंकी आजीविका छीनोगे। तुम्हारा मुख्य उद्देश्य फिर परमार्थकी प्राप्ति न होकर पेट-पालन ही रह जायगा। समाजमें उच्छृङ्खलता फैल जायगी। वृत्ति-संकर हो जायगा, लोगोंके सामने निर्वाहकी समस्या खड़ी हो जायगी। अतः जो तुम्हारा स्वाभाविक कर्म है, सहज धर्म है, उसमें लगे रहो और सद्गुणोंको, धर्माचरणको बढ़ाते रहो। तुम यदि कुम्भकार हो तो बर्तन ही बनाओ, वैश्य हो तो व्यापारको मत छोड़ो। अपने धर्ममें मर जाना भी श्रेयस्कर है, किंतु दूसरोंके धर्मको अपनाना भयावह है।

लोग समझते हैं महाभारतका युद्ध धनके लिये, भूमिके लिये, आपसी बँटवारेके लिये हुआ; किंतु जिन्होंने विधिवत् महाभारतका अध्ययन किया है, वे जानते हैं—महाभारतका युद्ध विशुद्ध धर्मयुद्ध था। पाण्डवोंका कहना यह था कि हम क्षत्रिय-पुत्र हैं, हमारा धर्म प्रजापालन है; हम राजा दुर्योधनके अधीन रहकर भी अपने धर्मका पालन करनेको तैयार हैं। हम पाँच भाइयोंको राजा दुर्योधन पाँच ही गाँव दे दें। हम एक गाँवके भी राजा होकर क्षत्रिय-धर्मका पालन तो कर सकेंगे, धर्मच्युत तो न होंगे। भीख माँगना क्षत्रिय-का धर्म नहीं। इतने दिन जो हमने भीखपर निर्वाह किया, यह हमने आपद्धर्मका पालन किया। अब जब हम समर्थ हैं, तब आपद्धर्मका पालन नहीं करेंगे, क्षत्रियकी भाँति रहेंगे। दुर्योधनका कहना था, मैं प्राण रहते एक सूईकी नोकके बराबर भूमि भी पाण्डवोंको न दूँगा। इसीपर युद्ध छिड़ा। मनुष्य धर्म दो ही कारणसे छोड़ता है—एक तो विषयोंके लोभसे, दूसरे कुटुम्बियोंके मोहसे। अर्जुनने भी जब देखा कि सम्मुख लड़नेवाले तो सब-के-सब हमारे चाचा, बाबा, भाई, मामा आदि घरके कुटुम्बी हैं, इन्हें मारकर रक्तसे सने राज्यको लेकर हम क्या करेंगे, तब भगवान्ने उन्हें धर्मका रहस्य बताया। भगवान्ने कहा—'भाई! तुम क्षत्रिय हो, धर्मयुद्ध करना तुम्हारा स्वभाव है; जहाँ भी अधर्म देखोगे, वहीं तुम युद्धमें जाओगे। युद्धके बिना तुम रह नहीं सकते। अब तुम्हें धर्म-पालनके समय जो मोह हो गया है, वह अनार्यजुष्ट है। धर्मयुद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये कल्याणकारी दूसरा कोई धर्म ही नहीं।' तब अर्जुनने धर्म-पालनके निमित्त युद्ध किया, न कि राज्य-प्राप्तिके लोभसे।

गीताकार बार-बार कहते हैं—'अपना धर्म (आजीविकाका साधन) चाहे विगुण भी हो, दोषयुक्त भी हो और दूसरेका धर्म चाहे कितना भी सुन्दर क्यों न हो, फिर भी अपने धर्मको छोड़ना नहीं चाहिये। स्वभावनियत कर्मको करता हुआ प्राणी दोषी नहीं कहा जा सकता।' इसपर यह प्रश्न होता है कि रस बेचना निन्दित कर्म है और जप आदि करके आजीविका चलाना हिंसारहित कर्म है तो क्यों न हम मांस बेचने-जैसे कुकर्मको छोड़कर पण्डिताई, पुरोहिताई-ऐसे शुद्ध कर्म-को करें? इसपर शास्त्रकार कहते हैं—'देखो, भाई! अग्नि स्वयं शुद्ध ही नहीं, सबको शुद्ध करनेवाली है; किंतु अग्नि जहाँ होगी, वहाँ धूआँ भी रहेगा। जहाँ-जहाँ धूआँ है, समझ लो वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी। इसलिये संसारमें सोलह आने शुद्ध तो कोई काम है ही नहीं। यज्ञ करना कितना शुद्ध काम है, किंतु उसमें भी कितने जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़ों-की हिंसा हो जाती है। अतः जो भी काम आरम्भ करोगे, उसीमें कुछ-न-कुछ दोष रहेगा ही। निर्दोष तो एक ब्रह्म ही है। इसलिये स्वभावनियत सहज कर्मको नहीं छोड़ना चाहिये।' *

इसी बातकी पुष्टि महाभारतमें अनेक उपाख्यान देकर बहुत ही विस्तारसे की गयी है। तुलाधार और धर्मव्याधके उपाख्यानोंमें यही तत्त्व निहित है। धर्मव्याध अपने समयका सर्वश्रेष्ठ धर्मवक्ता था। जब सतीके कहनेपर ब्राह्मण उससे उपदेश लेने गया और उसका ऐसा पाण्डित्य देखा, तब

* सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
(गीता १८। ४८)

ब्राह्मणने उससे कहा—'महानुभाव! आप निश्चय ही ब्राह्मणके सदृश हैं, किंतु आप इस घृणित व्यापारको करते हैं। बड़े दुःखकी बात है, आप इसे छोड़ क्यों नहीं देते?' इसपर धर्मव्याधने कहा—'विप्रवर! देखिये, मैं स्वयं तो हिंसा करता नहीं। मैं स्वयं मांस खाता भी नहीं। मांस खाना मेरे लिये धर्म नहीं है। मैं तो मांस क्रय करके लाता हूँ, बेचता हूँ। यह मेरी वंशपरम्परागत आजीविका है, मेरा पैतृक कर्म है। न्यूनाधिक सभी कर्मोंमें कुछ-न-कुछ दोष है, फिर मैं अपने वंशपरम्परागत कर्मको क्यों छोड़ूँ।'

इसीलिये वर्णाश्रम-धर्ममें कुलागत आजीविकाके साधनको छोड़ना दोष बताया है। हाँ, तीन काम यदि परम्परागत हों, तो भी उन्हें यदि छोड़ दे तो कोई दोष नहीं। एक तो वध करनेका काम, दूसरा चोरी करनेका व्यवसाय और तीसरा नाटकोंमें स्त्री बनकर, नाच-गाकर आजीविका चलाना। इन तीन पैतृक कामोंको छोड़ भी दे तो कोई दोष नहीं। शेष सभी पैतृक कार्योंको करते रहना धर्म है। यह तो हुआ बाह्यधर्म। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना; काम, क्रोध, लोभसे बचे रहना, ऐसी चेष्टाओंको सदा करते रहना, जिनसे सभी प्राणियोंका हित और प्रिय हो—ये सभी वर्णोंके सामान्य नियम हैं। इन धर्मोंका पालन मानवमात्रको करना चाहिये।*

इन उद्धरणोंसे सिद्ध हुआ कि धर्मका सम्बन्ध बाह्य दलबंदी, व्यक्तिपूजा और फिरका-परस्तीसे या तो बिल्कुल है ही नहीं, या है तो बहुत कम। आजकल जो प्रचलित धर्म या सम्प्रदाय-फिरके हैं, उनका कहना है कि जबतक तुम अपने धर्मको छोड़कर हमारे धर्ममें दीक्षित न होगे, तबतक तुम्हारा उद्धार नहीं। एक बड़े भारी प्रसिद्ध राजनीतिक मुसल्मान नेता, जो महात्मा गांधीजीके आश्रममें भी रहते थे, उनका कहना था कि 'मुझे गांधीजीपर दया आती है, निश्चय ही उन्हें नरककी भट्ठीमें तपना पड़ेगा; क्योंकि उन्होंने मुस्लिमधर्मकी दीक्षा नहीं ली। वे मुसल्मान नहीं हैं।' इसपर गांधीजीने उनकी मान्यताको ठेस पहुँचाते हुए एक बड़ा-सा लेख भी लिखा था। कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि वर्तमान समयके ईसाई भी यही कहते हैं 'जबतक प्रभु ईसाकी शरणमें तुम नहीं आते, जबतक बपतिस्मा नहीं लेते, तबतक तुम्हारे अपराध क्षमा नहीं हो सकते। तुम्हारे लिये स्वर्गका द्वार खुल नहीं सकता।' इसी प्रकारकी मान्यताएँ अन्य सम्प्रदाय, फिरके, दल या पंथवालोंकी हैं; किंतु हमारे वैदिक सनातन आर्यधर्मने ऐसी भूल कभी नहीं की। वह दलबंदीसे सदा ऊपर उठकर सोचता है। वह मानव-धर्म है। वह व्यक्तियोंकी मान्यताका आदर करता है। वह कहता है 'तुम सूर्यकी उपासना करो, चाहे शक्ति, गणेश, शिव या विष्णुकी; तुम निराकारको भजो या साकारको। तुम भगवान्‌को अस्तिरूपसे मानो या नास्तिरूपसे। तुम ज्ञाननिष्ठ हो या उपासना, भक्ति अथवा कर्ममें निष्ठा रखनेवाले—कैसे भी तुम भजो, उपासना करो, सबका परिणाम एक होगा। सर्वज्ञ सर्वाधार सर्वसमर्थ सर्वेश्वर प्रभु तुम्हारी उसी भावसे रक्षा करेंगे, उसी भावनासे फल देंगे।'*

सनातन वैदिक आर्यधर्म यह नहीं कहता कि तुम अपनी जातिको, वर्गको, सम्प्रदायको, मान्यताको छोड़कर अमुकमें दीक्षित हो जाओ; तभी तुम्हारा उद्धार होगा। उसका कथन है—तुम जहाँ हो, वहीं रहकर धर्माचरण करो। तुम वर्णाश्रमी हो तो अपने-अपने वर्ण-आश्रममें रहो; अवर्णाश्रमी हो—आर्य, अनार्य, म्लेच्छ जो भी हो, वहीं स्वधर्मका पालन करो, सद्गुणोंको धारण करो। तुम्हारा कल्याण होगा। वैदिक आर्यधर्म जाति, वर्ग, रङ्ग, व्यवसाय, सम्प्रदायको छोड़नेकी सम्मति नहीं देता। वह तो अधर्मको छोड़कर धर्माचरणकी सम्मति देता है। महात्मा रैदास आज हमारे प्रातःस्मरणीय हैं। बड़े-बड़े वैदिक ब्राह्मण श्रद्धासे उनके लिये नतमस्तक होते हैं। उन्होंने अपनी जाति नहीं छोड़ी, बड़े गौरवसे वे अपनेको चमार कहते हैं; उन्होंने अपना व्यवसाय नहीं छोड़ा। अन्ततक जूते बनाकर, जूते गाँठकर निर्वाह करते रहे, किंतु उन्होंने अधर्मको छोड़कर धर्मको अपनाया। निष्कपट, निर्दोष (कैतवरहित) जो भगवत्-भक्तिरूप धर्म है, उसे धारण किया। वे भक्ताग्रगण्य हो गये।

आज जो ये ईसाई मिशनरी धनका लोभ देकर

---

* अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥
(श्रीमद्भागवत)

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ४। ११)

विद्यालयों, अस्पतालों और सेवाका लोभ देकर तथा सुन्दरी लड़कियोंका मोह देकर लोगोंको ईसाई बना रहे हैं, निश्चय ही यह प्रभु ईसाके सिद्धान्तोंके सर्वथा विपरीत है। मुझे हँसी आती है—जो आदमी चोर-डाकू है, व्यभिचारी है, व्यभिचारकी पूर्तिके लिये ही जिसने धर्मदीक्षाका ढोंग रचा है, एक ही दिनमें बपतिस्मा लेकर या सुन्नत कराकर जो काफिरसे ईसाई या मुसल्मान बन जाता है, उसके आचरणोंमें कोई परिवर्तन हुआ हो, सो भी बात नहीं, उसमें किन्हीं सद्गुणोंका विकास हो गया हो, यह भी बात नहीं; वह एक गिरोहको छोड़कर दूसरे स्वार्थी गिरोहका सदस्य बन गया। इतनेसे ही क्या वह धार्मिक बन गया ? यही इन संख्या बढ़ानेके लोभी पंथोंमें बड़ा दोष है।

यह प्रवृत्ति परवर्ती बौद्धसम्प्रदायसे आरम्भ हुई है और शनैः-शनैः बढ़ते-बढ़ते अब पराकाष्ठाको पहुँच गयी है। अब तो यह रोग हमारे सनातन वैदिक आर्यधर्मके उपसम्प्रदायोंमें भी बढ़ गया है।

इस भारतवर्षमें धर्म-असहिष्णुता कभी नहीं हुई। बौद्धधर्म कोई वैदिक आर्यधर्मसे पृथक् धर्म नहीं था। वह तो वैदिक धर्मके अन्तर्गत ही सुधारकोंका एक समूह था। समाजने हिंदूधर्म, बौद्धधर्म—ऐसा भेदभाव कभी नहीं किया। जो राजा-महाराजा होते थे, बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मणोंको समानभावसे पूजते थे, समानभावसे उन्हें दान देते थे। वे ही सब सिद्धान्त, वही सब सद्गुणोंके विकासपर बल। धर्म तो एक ही है।

शनैः-शनैः बौद्धधर्ममें हीनयान, महायान आदि बहुत-से भेद-प्रभेद बढ़े, प्रचारका लोभ बढ़ा। संख्या बढ़ानेके प्रलोभनको वे रोक न सके। कैसे भी बढ़े, भिक्षुओंकी, भिक्षुणियोंकी संख्या बढ़ायी जाय। बौद्धधर्मका प्रचार हो, बुद्धके नामका डंका सम्पूर्ण विश्वमें फैले—ऐसी प्रवृत्ति बौद्धसंघोंमें, बौद्धाचार्योंमें बढ़ी। उसीकी पूर्तिके लिये वे शीश हथेलीपर रखकर देश-विदेशोंमें भटकते फिरे। लाखों भिक्षु धर्मप्रचारके निमित्त पृथिवीके विभिन्न देशोंमें गये। उस समय भी उनकी यह प्रवृत्ति नहीं थी कि लोग अपने कुल-परम्परागत धर्मको छोड़कर बुद्धधर्ममें दीक्षित हो जायँ। उस समयतक बौद्धधर्मकी कोई निश्चित रूपरेखा ही नहीं बनी थी। कोई भेदभाव वैदिकधर्मसे हुआ ही न था। बुद्ध भगवान् चाहते थे—यज्ञोंमें जो वेदके नामपर लाखों जीवोंकी बलि दी जाती है, वह न दी जाय। यदि वेद इस क्रूर हिंसाका समर्थन करते हैं तो उन्हें भी अमान्य ठहरा दिया जाय। इतना ही उनका वर्तमान कर्मकाण्डियोंसे मतभेद था। सत्य, अहिंसा, भूतोंका प्रिय, हित आदि सद्गुणोंकी बात तो समान ही थी। बौद्धभिक्षु चीन, जापान—जहाँ भी गये, उन्होंने प्राचीन मान्यताओंका कहीं खण्डन नहीं किया। अपने प्राचीन धर्ममें ही रहकर सब लोग भगवान् बुद्धके आदेशोंका पालन करें—यही उनका ध्येय था। उन्होंने किसीसे लड़ाई नहीं की। सबको प्रेमसे, सद्गुणोंसे जीत लिया। सम्पूर्ण विश्वमें भारतके बौद्धधर्मका डंका बजा दिया।

यहूदियोंकी कुछ मान्यताएँ भिन्न थीं, वे पुनर्जन्मको नहीं मानते थे; और भी कुछ बातें भिन्न थीं। प्रभु ईसापर बुद्धधर्मका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। कुछ लोगोंका कहना तो यहाँतक है कि वे बारह वर्ष आकर भारतमें बौद्धोंके संघोंमें रहे और पढ़े। कुछ भी हो। वे चाहे यहाँ आये हों, न आये हों, बौद्धोंके साथ रहे हों, न रहे हों; किंतु यह तो ध्रुव सत्य है कि वे बौद्धोंसे अत्यन्त प्रभावित थे। वे भी एशियाके थे, यूरोपमें तबतक धर्मका प्रचार नहीं हुआ था। प्रभु ईसाने, जो स्वयं यहूदी-समाजमें उत्पन्न हुए थे, उसमें कुछ सुधार करने चाहे; इसीपर तत्कालीन शासकोंसे उनका मतभेद हुआ और उन्हें शूलीपर चढ़ा दिया गया। वर्तमान समयके धर्म-प्रचारकोंमें प्रभु ईसा ही एक ऐसे विख्यात धर्म-प्रचारक हैं, जो अपने समयमें अपने सम्प्रदायकी उन्नति स्वयं नहीं देख सके। किंतु वे स्वयं बड़े पवित्र थे, धर्माचरण करनेवाले त्यागी थे। उनके शिष्योंने उनके नामको नाना कष्ट सहकर प्रचारित किया। उनके शिष्योंने यहूदी-धर्मसे भिन्न ईसाई-धर्मकी स्थापना की। ईसाईधर्ममें पुनर्जन्मको और मान लिया जाय तो उसमें और बौद्धधर्म तथा सनातन वैदिकधर्मके सिद्धान्तोंमें अन्तर ही क्या। यहाँ भारतमें भी बहुत-से चार्वाक आदि नास्तिक हुए हैं, जो वेद, परलोक, पुनर्जन्म—कुछ नहीं मानते थे; फिर भी समाजमें वे ऋषि करके पूजे या माने जाते थे। पीछे जब ईसाइयोंका प्रभुत्व हो गया और पोप धर्म-गुरु ही न रहकर शासक भी माने जाने लगे, तब वे भी अपने सम्प्रदायको बढ़ानेके लोभको संवरण न कर सके। नौकाओं और जहाजोंपर चढ़कर साहसी ईसाई समुद्रमें चक्कर लगाने लगे। उनके साथ दो वस्तुएँ रहती थीं—एक तो तोप, दूसरी पोपकी व्यवस्था। वह यह कि जो ईसाई न हो, उसे समुद्रमें न आने दिया जाय।

भारतीय व्यापारी जो अत्यन्त कष्टसे जलयानोंद्वारा एशिया तथा यूरोपके समस्त देशोंमें बड़े व्यापार करते थे और जिनकी सत्यताकी साख सर्वत्र फैली हुई थी, उनके पास तोपें नहीं थीं; उन्हें इस पोपके फरमानसे बड़ा आश्चर्य हुआ। यदि हम झूठ बोलें, किसीका अनुचित धन अपहरण करें, कोई नैतिक-सामाजिक अपराध करें, तब तो दण्डके भागी हो भी सकते हैं; किंतु जो ईसाई न हो, उसे तोपसे उड़ा दो, यह तो विचित्र आज्ञा थी, किंतु जिसके पास शक्ति है उसके सामने सभी सिर झुका देते हैं। भारतीय व्यापारी वैसे ही विदेशके व्यापारसे ऊब रहे थे। हथेलीपर सिर रखकर समुद्रकी यात्रा की जाती। तिसपर भी धर्मान्ध जलीय दस्युओंके इस व्यवहारने उनका उत्साह भङ्ग कर दिया। भारतका व्यापार यूरोपसे और शनैः-शनैः एशियाके देशोंसे भी समाप्त हो गया।

मुसल्मानोंने तो धर्मान्धताकी हद ही कर दी। जो भी मुसल्मान न हो, उसे लूट लो, या तो बलपूर्वक उसे मुसल्मान बना लो या मार डालो—यही खलीफाओंकी नीति रही। इसमें कुछ अपवाद भी हैं, किंतु मुस्लिम-धर्मका प्रचार सभी देशोंमें ऐसे ही हुआ। भारतमें एक सहस्र वर्षपर्यन्त धर्मके नामपर जो कुछ हुआ और जिसकी पुनरावृत्ति पाकिस्तानकी स्थापनाके समय हुई, इसे सुनकर तो रोमाञ्च हो आता है। यह सब हुआ धर्मके नामपर!

धर्मके नामपर अब एक और नया अंधेर चल पड़ा है। जिस सिखधर्मकी स्थापना हिंदूधर्मके रक्षार्थ हुई थी, समस्त वैदिक सनातनधर्मका उद्धार करनेके लिये गुरु गोविन्दसिंह देश-विदेश भटकते रहे, जो दस गुरु गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक कहकर समाजमें पूजे जाते थे, अपनेको उन्हींका अनुयायी बतानेवाले सिख आज अपनेको हिंदूधर्मसे पृथक् सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं और मुसल्मानोंका अनुकरण करके हिंदुओंको सिक्ख बना रहे हैं। इससे भी विलक्षण बात यह हो रही है कि जिस बौद्धधर्मका प्रचार करने भारतीय भिक्षु देश-विदेशोंमें भटकते रहे, जो भारत सर्वत्र धर्मगुरुके नामसे जगत्में ख्यात था, बौद्धधर्मका प्रचार करने उसी भारतमें तिब्बतसे लोग आ रहे हैं। उसी बौद्धधर्मके सिद्धान्त हिंदूधर्मके सिद्धान्तोंसे भिन्न नहीं, एक ही वस्तु हैं; किंतु वे तो चमार, भंगी आदि निम्न श्रेणीके लोगोंको बौद्ध लिखाकर अपनी जनगणनामें संख्या बढ़ाना चाहते हैं, जिससे बौद्ध-हितोंकी रक्षाके नामसे चीन, जापान आदि बौद्ध सरकारें हस्तक्षेप कर सकें। जैसे आज मुसल्मान और ईसाइयोंके हितके नामसे मुस्लिम और ईसाई देश हमारे राजनीतिक कार्योंपर दृष्टि रखते हैं और हमारी सरकार अपनेको धर्मनिरपेक्ष कहती हुई भी नौकरी आदिमें अपने विधानके विरुद्ध भी भयके कारण ईसाई-मुसल्मानोंका अनुपात रखती है, मन्त्रि-मण्डलमें, चाहे अयोग्य ही क्यों न हो, ईसाई-मुसल्मान आदिको उनके अनुपातसे स्थान देती है, वैसे ही बौद्ध भी चाहते हैं। यह धर्म नहीं, अधर्म है। यह शुभ प्रचार नहीं, दुष्प्रचार है। भला, जिस भारतका अनपढ़ भी धर्ममें बड़े-बड़े विदेशी विद्वानोंसे बढ़-चढ़कर है, उसे धर्म सिखाने यूरोपके पादरी ईसाई आयें—इससे बढ़कर लज्जा और दुःखकी बात क्या होगी। वे धर्म क्या सिखाते हैं, हिंदू-धर्मकी बुराई बताकर धन आदिका लोभ देकर जनगणनामें ईसाइयोंकी संख्या बढ़ाकर राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। आसाम आदिके मिशनरी ईसाई पृथक् राज्यकी माँग कर ही रहे हैं। यह सब धर्मके नामपर अधर्म हो रहा है। इस धर्म-परिवर्तनका अर्थ राजनीतिक दल-बंदी मात्र ही है।

भारतवर्षने धर्मका सम्बन्ध किसी व्यक्तिके नामसे कभी नहीं जोड़ा। तभी तो ईसाई, मुसल्मान आदि कहा करते हैं—'हिंदू-धर्म भी कोई धर्म है? इस बातका पता ही नहीं कि इसका प्रवर्तक कौन है। इसकी न कोई एक पुस्तक, न उपासनाकी कोई एक निश्चित पद्धति।' यदि इसका भी कोई एक प्रवर्तक मान लिया जाता, इसकी भी एक ही पुस्तक मान ली जाती, इसकी भी उपासनाकी एक ही पद्धति निश्चित कर दी जाती तो यह मानवधर्म न रहकर एक सम्प्रदाय ही बन जाता। हमारे यहाँ जितने आर्षग्रन्थ हैं, सभी धर्म-ग्रन्थ हैं। उनमें आस्तिक-नास्तिक सभी ग्रन्थोंका समावेश है—जैसे ४ वेद, ४ उपवेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष, छन्द—ये छः वेदाङ्ग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव, सौगत (बौद्ध), जैन (अर्हत), लोकायत (चार्वाक)—सभी प्रकारके तर्कप्रधान दर्शन, १८ धर्मशास्त्र, १८ पुराण, १८ उपपुराण, १८ उपोपपुराण, अनेक क्षुद्र पुराण—ये सब-के-सब धर्मशास्त्र हैं। फिर शिक्षाके भी असंख्य ग्रन्थ हैं, व्याकरण दस प्रकारके प्रचलित हैं, और भी असंख्य है, ज्यौतिषके अनेक ग्रन्थ, आयुर्वेदके असंख्य ग्रन्थ। कहनेका अभिप्राय—१८ विद्याएँ हैं, ये सब धर्मको बताती हैं। जितने ऋषि हैं, वे धर्मके प्रवर्तक नहीं, प्रचारक हैं। उनमें बहुतोंका अनुभव एक दूसरेके विरुद्ध है। वह मुनि ही नहीं माना जाता, जिसका कोई मत भिन्न न हो—

नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।

—इतना सब होनेपर भी धर्मका जो रहस्य है, वह सर्वत्र ओतप्रोत है । धर्मका सम्बन्ध सद्गुणोंसे है। हमारे यहाँ ब्राह्मणकी यह व्याख्या कहीं नहीं कि जो बड़ी चोटी रखाये, माथेपर तिलक या भस्म लगाये, जो ऐसा वस्त्र पहिने। सर्वत्र यही बताया है—शम, दम, तितिक्षा, तप आदि सद्गुण जिसमें हों, वही ब्राह्मण है। समाजमें सर्वत्र विभिन्नता रही है, रहेगी। जैसे भोजन अपनी-अपनी रुचिका होता है, वैसे ही उपासना भी अपनी-अपनी रुचिकी की जाती है। समाजमें बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं। उन्होंने उपासनाकी भिन्न-भिन्न विधियाँ बतायी हैं; आपको जो विधि अनुकूल पड़े, उसीका आचरण कीजिये—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।

परंतु इन सबको धर्म नहीं कहते। धर्म तो मनकी शुद्धि करता है और मन शुद्ध होता है सद्गुणोंसे । इसीलिये महाभारतमें पाँच श्लोकोंमें धर्मकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
बहून् यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ॥

इन पाँच श्लोकोंमें धर्मकी पूरी व्याख्या कर दी गयी है । इन श्लोकोंमें बताया है—धारण करनेसे धर्म कहलाता है, धर्म ही प्रजाको धारण किये हुए है । जो धारणसंयुक्त है, जिससे समाज सधा रहे, समाजमें उच्छृङ्खलता न आने पाये, वास्तवमें वही धर्म है । धर्म होता है प्रभवके लिये, उन्नतिके लिये । धर्मप्रवचन उन्नतिके निमित्त है । जो सर्वत्र—इस लोकमें तथा परलोकमें—प्रभवसंयुक्त है, उन्नति करनेवाला है वही धर्म है । प्राणियोंमें अहिंसाका प्रचार हो, लोग एक-दूसरेको पीड़ा पहुँचाना छोड़ दें, धर्मका प्रवचन इसी हेतुसे किया गया है । जो अहिंसासंयुक्त है—परपीड़ासे रहित है, वास्तवमें वही धर्म है । जो धर्म बहुत-से लोगोंको पीड़ा पहुँचाये, बलपूर्वक जिसे माननेको लोगोंको विवश किया जाय, वास्तवमें उसे धर्म नहीं कह सकते; वह तो कुधर्म है—अधर्म है । हे सत्यविक्रम ! जो धर्म अविरोधी है, किसीको हानि नहीं पहुँचाता, किसीकी मान्यतापर आघात नहीं करता, वही धर्म है । संसार एक यात्रियोंका समूह है। सभी यात्री हैं । सभी कहीं जा रहे हैं । यह लोकयात्रा जिस साधनसे सरल-सुगम बने, वही धर्म है । इसीके लिये सभी धार्मिक नियम हैं । तुम्हारी माता-बहिनको कोई बुरी दृष्टिसे देखे तो तुम्हें कष्ट होगा; तुम्हारी लोकयात्रा दुःखद होगी । इसलिये धर्मवेत्ताओंने नियम बना दिया—'मातृवत् परदारेषु ।' दूसरोंकी स्त्रियोंको माताके समान समझो । इसी प्रकार धर्मके सत्य, अहिंसा, दया, अस्तेय आदि नियम हैं । इनके पालनसे लोकयात्रा सुखद बन जायगी। जिन नियमोंसे इस लोकमें और मरकर परलोकमें भी सुख हो, वही धर्म है ।

यह धर्मकी कितनी विशाल, निष्पक्ष, सत्यसंगत सार्वभौम व्याख्या है । जैसे ईसाई-मुसल्मान आदि सम्प्रदायोंमें दूसरोंको ईसाई-मुसल्मान बनानेके नियम हैं, वैसे सनातन वैदिक आर्य धर्ममें नहीं हैं । हाँ, कोई दस्युधर्मी म्लेच्छ बलपूर्वक किसीको अभक्ष्यका भक्षण करा दे, अपेयको पिला दे, जिस स्त्रीसे संसर्ग न करना चाहिये, उससे संसर्ग करा दे, गौ आदिका वध करवा दे, किसी स्त्रीको बलपूर्वक पकड़ ले जाय, उसकी उसकी इच्छाके विरुद्ध सतीत्व नष्ट कर दे, बलपूर्वक गर्भधारण करा दे या सदाचारहीन समाजमें उसे रहना पड़े, इनकी शुद्धिका विधान है । जो बलपूर्वक विधर्मी बना लिये गये हों—आज बनाये गये हों या सौ वर्ष पूर्व, उन सबका प्रायश्चित्त है । वह समाजमें सम्मिलित करनेका प्रायश्चित्त है* । धर्मके प्रचारके लिये वंशपरम्परागत मान्यताओंको छोड़नेकी बात पहले कभी नहीं कही जाती रही । भारतवर्षसे सर्वत्र विदेशोंमें धर्म-प्रचारके हेतु बौद्ध गये । तबतक ईसाई-धर्म, मुस्लिम-धर्मका तो जन्म भी नहीं हुआ था । यहूदी-धर्मने भी सम्प्रदायका रूप धारण नहीं किया था । लोग अपनी भावनाके अनुसार

* बलाद् दासीकृता ये च म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः ।
अशुभं कारितं कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथा तस्यैव भोजनम् ।
खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम् ॥
तत्स्त्रीणां तथा हि सङ्गस्ताभिश्च सहभोजनम् ।
मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥

भिन्न-भिन्न भाँतिकी उपासना करते थे। उसी समय बौद्ध भिक्षु तथा ब्राह्मण-संन्यासी यूरोप और एशियाके प्रायः प्रत्येक देशमें सैकड़ों-सहस्रोंकी संख्यामें पहुँच गये थे। उनका जीवन त्यागमय होता था, उनमें अधिकांश लोग दिगम्बर रहते थे; जो वस्त्र भी पहिनते थे, एक-आध फटा-पुराना चिथड़ा लपेट लेते थे। वे अन्तःकरणकी शुद्धिपर बल देते थे। अफगानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान, सीरिया, चीन, जापान, लङ्का, जावा, मंगोलिया, सुमात्रा तथा यूरोपके सभी देशोंमें ये त्यागी-विरागी संत पहुँचे थे। ये लोग न तो किसी देवताका विरोध करते थे, न किसीकी परम्परागत मान्यता तथा पैतृकधर्मको ही छुड़वाते थे। ये सब विश्वप्रेम, सत्य, सरलता, सदाचार, सादगी, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा योगसाधनापर बल देते थे। जापानमें लोग प्रायः शिंतोधर्मके माननेवाले थे और चीनमें ताओ-मत प्रचलित था। बौद्ध भिक्षुओंने न तो इनका खण्डन किया और न इसे छोड़नेको कहा—ये अबतक चीन, जापानमें विद्यमान हैं।

भारतीय धर्म-प्रचारकोंने सदा आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक उन्नति तथा अन्तःकरणकी पवित्रताको ही धर्मका मुख्य अङ्ग माना है। बाह्य मान्यताएँ आपकी कुछ भी हों—इसपर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। तभी तो भारतवर्षमें भी हम हिंदुओं-की बाह्य मान्यता, उपासना-पद्धति, रीति-रिवाज, सम्प्रदाय—सब भिन्न-भिन्न होते हुए भी मूलमें सब एक ही धर्मके अनुयायी हैं। उसे चाहे आप वैदिक धर्म कहें अथवा सनातन-धर्म, आर्य-धर्म, मानवधर्म या हिंदूधर्म—किसी भी नामसे पुकारें। भागवतमें भगवान् व्यासने सनातनधर्मका निरूपण करते हुए कहा है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(श्रीमद्भा० ७।११।८-१२)

अर्थात् सत्य व्यवहार, दया करना, तपस्या, बाहर-भीतर-की पवित्रता रखना, सुख-दुःखको समभावसे सहन करना, युक्त-अयुक्तका विचार करते रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनोनिग्रह करना, किसीकी भी हिंसा न करना, ब्रह्मचर्यको धारण करना, त्यागवृत्तिसे रहना, सदा स्वाध्यायमें संलग्न रहना, जीवनमें सरलता लाना, संतोष रखना; जो भी समदर्शी महात्मा हों, उन सबकी समानभावसे सेवा करना; इस बातका सर्वदा अभ्यास बनाये रखना कि संसारी भोग अनित्य हैं, इनसे निवृत्त रहना ही श्रेयस्कर है; इस बातका विचार रखना कि मिलता सब प्रारब्धसे ही है, वरं कभी-कभी मानव-प्रयत्नोंका ठीक उलटा ही फल हो जाता है; मौनका अभ्यास करना, आत्मचिन्तनमें समय बिताना; सभी प्राणियोंको यथाशक्ति, यथासामर्थ्य अन्न आदिमें भाग देते रहना; समस्त प्राणियोंमें विशेषकर मानवमात्रमें इष्टदेवकी बुद्धि रखना; जो प्रभु महात्माओंके आश्रयभूत हैं, उनके नाम-गुणोंका श्रवण करना, उनके नाम-गुणोंका कीर्तन करते रहना, उन भगवान्-का सदा स्मरण करते रहना, भगवान्‌की यथाशक्ति यथा-सामर्थ्य सेवा करते रहना, भगवान्‌की पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, भगवान्‌के प्रति दासत्वभाव रखना, उनके प्रति सखाभाव रखना और उनपर अपनेको न्यौछावर कर देना—इस प्रकार यह तीस प्रकारका आचरण ही परम-धर्म है, यही सनातन वैदिक आर्यधर्म है। यही सर्वोत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ तथा मानवमात्रके लिये परम धर्म है। इस धर्मका पालन करनेसे सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार आप देखेंगे कि यथार्थ धर्म बाह्य आचरणों-की विशेष अपेक्षा नहीं रखता; वह देश, काल, सम्प्रदाय, सीमा तथा रङ्ग-रूपमें आबद्ध नहीं। उसका पालन सर्वत्र, सभी स्थानोंपर, सभी मनुष्योंद्वारा सर्वदा किया जा सकता है।

मानवता और गीताका संदेश

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी महाराज)

आज मानवता जिन कतिपय संकटोंका अनुभव कर रही है, वे इतने सुविदित हैं कि यहाँ उनकी विशेष चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं है। तब उन समस्याओं, संकटों, अशान्तियों और आजके मनुष्यके भाग्यके सम्बन्धमें हमारी गहरी चिन्ता इतनी ही रह जाती है कि व्यावहारिक ज्ञान और गहनतम विचारकी खानिरूप भगवद्गीतासे हम पथ-प्रदर्शन प्राप्त करें—उस गीतासे जिसने कतिपय महत्तम पुरुषोंको साहस, शक्ति, प्रकाश, शान्ति, अन्तर्बल और आनन्द दिया है। जबतक मानवता अपनी दैनिक जागरूकतामें भगवान्‌के पथप्रदर्शक ज्ञानको सम्पूर्ण जीवनका आधार नहीं बनाती; जबतक वह मानव-जीवनकी निर्मलता, पवित्रता और आध्यात्मिक प्रयोजनको स्वीकार नहीं करती तथा इस ज्ञान एवं स्वीकृतिके महत्त्वपूर्ण तात्पर्योंका उसके विविधपक्षीय कर्म एवं अनुभवरूपमें अनुसरण नहीं करती, तबतक कोई वास्तविक मानवी प्रगति और शान्ति, कोई व्यक्तिगत सुख एवं सामूहिक सामञ्जस्य नहीं हो सकता, न मानव-जाति जिन गम्भीर समस्याओंके कारण उद्विग्न है, उन्हींका समाधान होनेकी कोई सम्भावना की जा सकती है।

आधुनिक सभ्यताने जीवनके मूलभूत तात्पर्यको समझनेकी परवा नहीं की है; वह भौतिक अस्तित्वके आभासमान तलपर तैरनेमें ही संतुष्ट होकर रह गयी है। यहीं गीता एक महत्त्वपूर्ण संदेश देती है। शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक जीवनकी विविध अवस्थाओंसे सम्बन्धित सामाजिक, राजनीतिक या वैयक्तिक समस्याएँ कतिपय मूलभूत कठिनाइयोंकी शाखाएँ मात्र हैं, जिनके कारण हमारा अस्तित्व, हमारा जीवन तीव्र अशान्ति एवं व्यथासे भरा-सा लगता है। शान्ति, समृद्धि तथा आनन्द ही वे वस्तुएँ हैं, जो जीवनके मूल्यका नियन्त्रण करती हैं; इनका अभाव ही कठोर आवश्यकता और समस्याका स्रोत है; उनकी निरन्तर उपस्थिति समस्त दुःखोंपर विजय प्राप्त कर लेती है। गीता बताती है कि मौलिक भूल जो मनुष्यने की है, वह निर्बाध निरतिशय संतोषमें अपनेको स्थापित करनेमें बाधक सब प्रकारकी समस्याओंके मुख्य कारणके ज्ञानका अभाव है। आजका विज्ञान चाहे कितनी ही गहराईमें जाता हो, पर वह जाग्रत् अवस्थाके सामान्य अनुभवके जगत्‌का परीक्षणमात्र है। मनुष्यके सूक्ष्मतर, अधिक गहन जीवनकी अवस्थाओंमें होनेवाले परिवर्तनोंका जो गम्भीर महत्त्व है, उसका उसने तिरस्कार किया है।

आधुनिक मनुष्य अपनेको वैज्ञानिक तथा पूर्ण विवेकी बताता है। भगवद्गीता चेतावनी देती है कि विज्ञान और हेतुवादी ज्ञान केवल बाह्यानुभवके नियम और ज्ञान हैं, जो केवल अपनेको ही लेकर वैध नहीं हैं। वे वहींतक ठीक हैं; प्रमाणभूत हैं जहाँतक इन्द्रियलब्ध ज्ञाताके अनुभवका विषय है, पर जो ज्ञान वा इन्द्रियलब्ध अनुभवका भी हृदय है, उस इन्द्रियोत्तर अनुभवके विषयमें, वह भी अप्रमाण है, बेकार है। अनुभव आत्मचैतन्यके बादकी वस्तु है, पहलेकी नहीं। इसलिये जगत्‌में जो भी अनुभव है, ज्ञाताके रूपमें चैतन्यमें जो विचार उठते हैं, उन्हींका परिणाम है। गोचरको अगोचरमें, जो मूल-अस्तित्व है, विलीन हो जाना चाहिये। जबतक यह नहीं होता कोई समस्या हल नहीं हो सकती, कोई वेदना शान्त नहीं की जा सकती।

आज जब मानवता दो मार्गोंके बीचमें खड़ी है, तब गीताके प्रकाशसे उत्तम दूसरा पथ-प्रदर्शक नहीं मिल सकता। अहंकार, स्वार्थ, लोभ, शक्तिकी लालसा, मर्यादा और पद अर्थात् अन्धकारकी शक्तियोंने मानव-जातिको आक्रान्त कर रखा है, उसकी दृष्टिको धुँधला कर दिया है, उसकी बुद्धिको भ्रममें डाल दिया है और वे उसको विनाशकी ओर लिये जा रही हैं। आज विज्ञानने जो अत्यधिक प्रगति की है, उसके सामने युद्धका अर्थ है भयानक संहार—केवल उनका संहार नहीं, जो युद्धमें हेतु बनते हैं और इस प्रकार स्वयं अपने ऊपर उसे बुलाते हैं, वरं उनका भी संहार, जो पूर्णतः निर्दोष हैं।

तब श्रीकृष्णका इस दुनियाके प्रति क्या संदेश होगा? भगवान् कहेंगे—'हे मनुष्य! उठ खड़ा हो; कटिबद्ध हो जा, कायर मत बन। शान्तिके इन आन्तरिक शत्रुओं—वासना, क्रोध, लोभसे युद्ध कर और उन्हें पराजित कर। उनपर नियन्त्रण स्थापित करके, सम्पूर्ण इन्द्रियलब्ध विषयोंका त्याग करके, सम्पूर्ण प्राणियोंके श्रेयके लिये कार्य करके ही तू शाश्वत जीवन, नित्य शान्ति एवं अक्षय आनन्द प्राप्त कर सकता है। मनको पवित्र करनेके लिये मानवताकी निस्स्वार्थ सेवासे

बढ़कर और कुछ नहीं है। निस्स्वार्थ सेवा वह महान् कवच है, जो तुरंत मनसे सम्पूर्ण निषेधात्मक विचारों एवं प्रवृत्तियोंको निकाल बाहर करता है। यदि कोई निस्स्वार्थ होकर मानवताकी सेवा करता है और अपनी सेवाओंके बदले किसी प्रकारके पुरस्कारकी आशा नहीं करता, न उस सेवाके प्रति आसक्ति रखता है तथा इस ज्ञानके साथ सेवा करता है कि उसके द्वारा वस्तुतः भगवान् स्वयं कार्य कर रहे हैं और वह उनके हाथका यन्त्रमात्र है तो निस्संदेह यहाँ और इसी समय वह प्रबुद्ध और मुक्त हो जायगा।'

भौतिक शक्तियोंसे अंधे हुए मनुष्यकी आँख वस्तुओंके सत्यको नहीं देख पाती। राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक समस्त क्रियाएँ केवल इस परम एवं अकाट्य तथ्य-पर आधारित होनी चाहिये कि मानवके लिये अपनेको आध्यात्मिक पूर्णताकी क्रमशः उच्चातिउच्च अवस्थाओंमें विकसित करनेकी तबतक आवश्यकता है, जबतक कि कैवल्य-स्थिति नहीं प्राप्त हो जाती। चेतनाकी इस अन्तर्धाराके बिना जीवन निष्फल है, जीवन जीवन कहलाने योग्य नहीं है। यदि जीवनमें यह बात भूल जाती है तो सम्पूर्ण कार्य निरर्थक, बल्कि आत्मघातक हो जाते हैं। आध्यात्मिक सत्ताके प्रति पूर्ण ऐक्यभावकी इस शाश्वत पुकारको न सुननेके कारण ही वेदना है। इस दुःख एवं वेदनासे तभी बचा जा सकता है जब हम जो कुछ भी करें, वह ईश्वरीय सत्ताके नियमके अनुकूल हो।

गीतामें बारंबार यह घोषणा की गयी है कि ईश्वरसाक्षात्कार-से ही संशयों, समस्याओं और दुःखोंपर विजय प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वरज्ञान या ईश्वरप्राप्तिका अर्थ स्वयं ईश्वर हो जाना है; इसलिये जब हम इस ज्ञानपर पहुँच जाते हैं कि वास्तविक भूलती कल्पनाओंको सत्य एवं आत्मरूप समझ लेने-में है और सच्ची पूर्णता ईश्वर या ब्रह्मकी अनुभूतिमें विलीन हो जानेसे प्राप्त होती है, तब जगत्में जीवनकी यह पहेली अपनी दुर्विज्ञेय चिन्ताओं और खिझानेवाले अनुभवोंके साथ अन्तिमरूपसे हल हो जाती है। गीता स्फूर्तिप्रद संदेश देती है कि उसके ईश्वरत्व, उसकी अमर प्रकृतिकी अनुभूति या साक्षात्कारके लिये मनुष्यको कुटुम्ब एवं मित्रोंका समुदाय छोड़कर संन्यासी होने तथा समाजसे दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है; संसारके कामोंको करते हुए भी ईश्वरसे मिलन सम्भव है तथा इस आनन्दपूर्ण मिलनमें जो बाधाएँ हैं, वे हमारे ही अंदर हैं, बाहर नहीं। यही उस अद्भुत भगवद्वाणीकी मुख्य शिक्षा है।

उद्बोधन

ऐ मानव तू संसार देख, कुछ अपनी ओर निहार देख।
मानवताका वह केन्द्र बिन्दु, जिसमें बरसाता अमृत इन्दु
विषयोंके चक्करमें पड़कर तू पीता है अंगार देख॥ 'ऐ०'॥
यह मधुर मोहका मलिन जाल, निष्फल अपने ऊपर न डाल
उस प्रेम-सिंधुमें मज्जनकर, प्रभु लीलाका आधार देख॥ 'ऐ०'॥
छल-छद्म-दम्भ-पाखण्ड-द्वेष, करता है निशिदिन निर्निमेष
इस विषम विश्वकी चीत्कार, कुछ-कुछ तो आँख पसार देख॥ 'ऐ०'॥
मतवाले तेरा अहंकार, फलता है तरु-तरु डार-डार
इस विश्व-वृक्षके पुष्प तुल्य, उन ऋषि-मुनियोंका प्यार देख॥ 'ऐ०'॥
यह सुर-दुर्लभ मानव-शरीर, मत कर तू इसको नष्ट वीर
कुछ महामानवोंके चरित्र, कुछ संतोंके व्यवहार देख॥ 'ऐ०'॥
यह लज्जाकी है बात हाय! तेरा शुभ चेतन चरा जाय,
हे यशःशोभ, हे कीर्तिलोभ, पाता है क्या दुत्कार देख॥ 'ऐ०'॥
कर तू अपना कल्याण आज, अपनेसे अपना त्राण आज
कर्तव्य पथिक बनकर 'दिनेश' तू निराकार साकार देख॥ 'ऐ०'॥

—सूर्यनारायण अवस्थी 'दिनेश'

वास्तविक मानवतावाद

(लेखक—स्वामीजी श्रीश्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती)

मनुष्य परमेश्वरकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। परमेश्वरने विविध प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया। यद्यपि उनमें विचित्र रचना-चमत्कृति थी, फिर भी उनके निर्माणसे उनको संतोष नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने जब ऐसे मानव-शरीरका निर्माण किया, जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य बुद्धि थी, तब उन्हें विशेष प्रसन्नता हुई। यही कारण है कि विभिन्न विशेषताओंके होते हुए भी इस विशेषताके कारण मानवयोनि शास्त्रोंमें सर्वश्रेष्ठ योनि कही जाती है।

मानवमें कुछ ऐसी विलक्षणताएँ हैं, जो अन्य प्राणियोंमें नहीं पायी जातीं तथा जिनके बलपर ही वह इतरप्राणियों एवं प्रकृतिपर आधिपत्यका दावा कर रहा है। अपने जीवन-निर्वाह, उपभोग-सौकर्य एवं ज्ञान-संवर्धनकी सामग्रियोंके चयनके जितने सुन्दर उपाय उसको उपलब्ध हैं, उतने और किसीको नहीं। उसकी इन्हीं विशेषताओंको देखकर उसके प्रति अत्यधिक ममत्वशील हो जानेके कारण 'मानवतावाद' नामका एक पृथक् वाद ही जोरोंसे चल पड़ा, जिसमें मानव-मानवके बीचके समस्त सामाजिक, राष्ट्रिय और धार्मिक भेदरूप व्यवधानोंको समाप्त कर मानव-जातिके प्रति उदार आत्मीयता और संवेदन-शीलताकी ओर प्रेरित किया जाता है। संयुक्त-राष्ट्रसंघका मानवाधिकार-घोषणा-पत्र इसका एक प्रतीक समझा जा सकता है। किंतु इस वादकी सहृदयताका क्षेत्र केवल 'मानव-जाति' ही है, इसमें मानवेतर प्राणियोंको मानव-कल्याणका उपकरण माना गया है। मानवताके जातीय स्वार्थ और अनुरूपताको ध्यानमें रखते हुए ही अन्य प्राणियोंके प्रति भी दयाका कुछ स्थान इसमें हो सकता है और इसको मानवकी प्रगति समझा जाता है। इस वादमें मानवोंके परस्पर सम्बन्ध और सामान्य आवश्यकताओंकी पूर्ति तथा कुछ स्वाभाविक अधिकारोंकी सुरक्षापर विशेष ध्यान दिया जाता है। यद्यपि इस सिद्धान्तके अन्तर्गत मानवीय गुणोंके विकासका विशाल क्षेत्र है, तथापि आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं; क्योंकि इतना सब होनेपर भी इसके द्वारा मानव आहार-निद्रा-भय-मैथुनरूप पशुत्वके स्तरसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकता। साथ ही भौतिकवादी दृष्टिकोणके कारण कहीं-कहीं आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित सामाजिक और जातीय विशेषताओंका इसके द्वारा विनाश भी होता है।

एक प्रकारके और आध्यात्मिक मानवतावादकी चर्चा चलती है, जिसमें मानवमात्रको एक ईश्वरकी संतान समझकर परस्पर सौहार्दका विस्तार करनेका प्रयत्न किया जाता है; किंतु अभीतक परिष्कृतरूपमें यह विश्वके सम्मुख न तो उपस्थित हो सका है और न लोकप्रियता ही प्राप्त कर सका है। जडवादके आधारपर प्रतिष्ठित राजनीति इसकी प्रबल बाधक है।

हमारे शास्त्रोंमें मानवताका पर्याप्त विवेचन किया गया है। यद्यपि 'अमृतस्य पुत्राः' इस वेद-वचनके अनुसार सभी प्राणी परमेश्वरकी ही संतान हैं और इसी नाते सबमें परस्पर सौहार्द स्वाभाविक है, तथापि मानवका इसलिये अधिक महत्त्व है कि यह पाशविकतासे मुक्त होकर, दैवी सम्पत्ति-द्वारा चित्तको निर्मल बनाकर परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है। यह विशेषता किसी अन्य प्राणीमें नहीं। अन्य प्राणियोंसे मनुष्यको पृथक् करनेवाली विशेषता यह ब्रह्मावलोक-धिषणा (ब्रह्म-साक्षात्कारसमर्थ बुद्धि) ही है। इसका विकास और सार्थकता ही इस सिद्धान्तके अनुसार मानवीय उन्नतिका लक्षण हो सकता है। पिछले मानवतावादसे इसमें यह विशेषता है कि यह अपने सौहार्दका क्षेत्र केवल मानवके ही नहीं, अपितु प्राणिमात्रको बनाता है। उस मानवतावादमें अन्य प्राणियोंसे व्यवहारका आधार जहाँ मानवका जातीय स्वार्थ और उसकी अनुरूपता थी, उसके स्थानपर यहाँ एक सुस्पष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक उन्नतिका अनिवार्य साधन 'समस्त प्राणियोंका हित' अथवा 'सर्वभूत-समत्व' ही व्यवहारका आधार होता है। साथ ही मानवकी आध्यात्मिक उन्नतिसे सम्बन्धित सभी परम्पराएँ और शास्त्रीय विधियाँ भी इससे विरुद्ध नहीं पड़तीं। यद्यपि धार्मिक परम्पराओं और विधानोंमें कुछ लोगोंको संकीर्णता और भेद-भावकी गन्ध प्रतीत होती है और इसी आधारपर वे इनको उपर्युक्त मानवताका विरोधी मानकर हेय समझने लगते हैं, तथापि आध्यात्मिकताकी दृष्टिसे विचार करनेपर इनकी उपयोगिता और महत्ता सहजमें ही समझी जा सकती है। उद्देश्यके आधारपर ही किसी व्यवस्थाको संकीर्ण या उदार कहना संगत है।

श्रीअरविन्दके द्वारा अतिमानवतावादके रूपमें एक नवीन दर्शन ही प्रस्तुत हुआ है, जिसकी विचार-भूमि विकासवादका आध्यात्मिक रूपान्तर है। इनकी योगसाधनाका लक्ष्य मानवको महामानवके रूपमें विकसित करना ही नहीं, अपितु उसे अतिमानसके क्षेत्रमें पहुँचाकर अतिमानवके रूपमें परिणत कर देना है। उनका यह भी कहना था कि जिस प्रकार एक साधारण प्राणी विकसित होता हुआ मानव बना, उसी प्रकार उनके प्रवर्तित योगके द्वारा क्षिप्र गतिसे एक दिन समस्त मानव-जाति भी अतिमानवके रूपमें विकसित की जा सकेगी। वे अपनेको इस विकासकी प्रथम कड़ी मानते थे; परंतु इसमें वे कहाँतक सफल हुए, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हमारी औपनिषद साधनाकी विचारभूमि श्रीअरविन्दकी विचार-भूमिसे सर्वथा मेल नहीं खाती। विकासवादके सिद्धान्तको अध्यात्मवादके साथ नहीं जोड़ा जा सकता। यदि शरीरसे पृथक् एक स्वतन्त्र आत्मा है तो प्रश्न होता है 'विकास किसका—शरीरका या आत्माका ?' आत्माका तो विकास हो नहीं सकता। बिना आत्मामें परिवर्तनके उसके विकासका कोई अर्थ नहीं और आत्माको नित्य मान लेनेपर उसमें परिवर्तनकी बात संगत नहीं। तब फिर शरीरका ही विकास कहना पड़ेगा। किंतु किसी एक ही शरीरका सृष्टिके प्रारम्भसे आजतक विकास होता चला आया है, ऐसा कोई भी नहीं मानता।

शरीरकी विभिन्नता और आत्माकी नित्यता स्वीकार कर लेनेपर आध्यात्मिक साधनामें विकास-सिद्धान्तका कोई उपयोग नहीं रह जाता। अन्तःकरणका विकास माना जा सकता है, किंतु इससे भी किसी प्रकारके विकासवादकी सिद्धि नहीं होती। अन्तःकरणके विकासकी चरमावस्था है—परमात्मदर्शनकी क्षमता, जो जीवके मानव-शरीरमें आनेपर उपलब्ध होती है। परमात्माके यथार्थ स्वरूपको जान लेनेपर जीवकी सत्ता परमात्मसत्तासे अभिन्न रूपमें अनुभूत होने लगती है। इसलिये उस परम सत्तामें विकासकी बात सोची भी नहीं जा सकती।

जहाँतक अन्तःकरणके विकासका प्रश्न है, उसकी भी अवधि चरमा वृत्ति (ब्रह्माकारवृत्ति) का उदय ही है। यही निर्वाण है। श्रीअरविन्द निर्वाणके आगे भी विकासकी बात चलाते हैं—वस्तुतः उनके दर्शनका प्रारम्भ ही निर्वाणसे होता है; किंतु यदि निर्वाण वास्तविक है तो वह है तत्त्वसाक्षात्कारहीन साधकके चित्तकी अवस्था-विशेष। नहीं तो, उसमें समस्त बाह्य आध्यात्मिक प्रवृत्तिसम्बन्धी वासनाओंका शैथिल्य अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थितिमें निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति श्रीअरविन्दके योगका अधिकारी ही कैसे हो सकता है। यदि किसीमें इस प्रकारका संकल्प या संस्कार विद्यमान है तो उसके निर्वाणमें ही संदेह है। इसलिये यही मानना संगत प्रतीत होता है कि मानस, अधिमानस और अतिमानस तथा मानव, अधिमानव, अतिमानव—ये मानवकी ही विशेष-विशेष अवस्थाएँ हो सकती हैं और ये सब तत्त्वसाक्षात्कार या निर्वाणके पूर्वकी ही हैं। श्रीअरविन्द जिसको 'निर्वाण' नामसे अभिहित करते हैं, वह भी तत्त्वसाक्षात्काररहित साधकके अन्तःकरणकी ही एक अवस्था-विशेष है। उनकी साधनामें भी उसीका अवतरण होता है; क्योंकि औपनिषद तत्त्वमें आरोह-अवरोह सम्भव नहीं।

वास्तवमें पूर्ण विकसित मानवकी मनःस्थिति ही मानवताका आदर्श स्वरूप कही जा सकती है। मनुष्यका आचार-विचार और व्यवहारमें स्खलन उसकी अपूर्णताके ही कारण होता है। जैसे-जैसे उसमें परिष्कार होता चला जाता है, उसका स्तर उच्च हो जानेके कारण उसके आचार-विचार और व्यवहार भी उच्च स्तरके होने लगते हैं।

प्रायः साधकोंमें देखा जाता है कि वे जो व्यवहार स्वाभाविकरूपसे अपनी अन्तःप्रेरणासे करते हैं, अथवा उनके हृदयमें जो भगवद्विषयक विविध भावोंका आविर्भाव होता है, या तत्त्वसम्बन्धी विचार करते हुए वे जिस निष्कर्षपर पहुँचते हैं, वह शास्त्रसंगत ही होता है, यद्यपि कभी-कभी साधकोंको इसका ज्ञान बादमें होता है कि उनका कर्म, भाव या विचार शास्त्रसम्मत भी है। यह इस बातका द्योतक है कि शास्त्रीय विधान, भावनाएँ और विचार किस प्रकार उच्चस्तरके मानवमें स्वाभाविकरूपसे अनुष्ठित और उद्बुद्ध होने लगते हैं। यद्यपि साध्य-साधनभावका स्वाभाविक पौर्वापर्यक्रम शास्त्र-ज्ञान, तदर्थानुष्ठान, चित्त-शुद्धि, भगवद्भक्ति एवं तत्त्वबोधरूप ही है, तथापि शास्त्राध्ययनरहित साधकके द्वारा उपर्युक्त प्रकारसे अनुष्ठित एवं उद्बुद्ध शास्त्रीय साधनक्रमके उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तःकरण परिष्कृत होते हुए किस प्रकार साधकको पूर्णताकी ओर ले जाता है। साथ ही साधनाके स्तरोंके साथ शास्त्रके संवादसे यह भी निश्चय होता है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी मानवकी पूर्णताका स्वरूप वही है, जो हमारे शास्त्रोंमें प्रतिपादित है।

सर्वोच्च स्तरका मानव स्थितप्रज्ञ माना गया है। स्थितप्रज्ञकी समस्त विशेषताएँ सहज होती हैं। तत्त्वाधिगम करके जो उसमें परिनिष्ठित हो गया है, वही 'पूर्ण विकसित मानव' है। वही स्थितप्रज्ञ है। तत्त्वतः उसकी परमार्थ तत्त्वसे पृथक् सत्ता न होनेपर भी व्यवहारदृष्ट्या जो उसकी स्थिति-गति है, वही मानवताका चरम विकास कही जा सकती है। स्थितप्रज्ञकी स्थिति-गतिको अपने विकासका चरम लक्ष्य समझकर उसके अनुकूल साधनोंका अनुष्ठान, जीवनके लक्ष्यसे साधनोंका समन्वय-सम्पादन एवं मनोवृत्तियोंकी पाशविक-धाराका नियमन-नियन्त्रण ही हमारे यहाँकी मानवताका व्यावहारिक रूप है।

मानवताके प्रति भारतीय शास्त्रों और मनीषियोंकी धारणाका यही रूप है। मानवताकी दुहाई देते हुए अपनी परम्पराप्राप्त सामाजिक-वैयक्तिक शास्त्रीय मर्यादाओंको तोड़नेका प्रयास शुद्ध उच्छृङ्खलता ही कहा जा सकता है।

मानवताकी इस धारणाके अन्तर्गत विभिन्न मानवीय गुणोंका विकास, सामाजिक न्याय, विश्वबन्धुत्व और केवल मानवोंमें ही नहीं, अपितु प्राणिमात्रमें सहज भ्रातृता, समता-स्वतन्त्रताका प्रसार, पशुत्वका अतिक्रमण और व्यक्तिशः मानवकी उन्नति आदि सभी सम्भव हो सकते हैं। अतएव इसका समादर करते हुए इसीके प्रचार-प्रसारका प्रयत्न होना चाहिये।

मानवता

(लेखिका—स्व० वीरबाला कुलश्रेष्ठ)

सागरमें ज्वाला छिपी हुई है भरी बिन्दुमें अमिट प्यास।
है भटक रहा वन वन कुरङ्ग कुण्डलमें कस्तूरी निवास॥
पासङ्ग न बैठी अखिल सृष्टि जिसके कण भरकी समतामें।
उस महाशक्तिका मूलमंत्र है छिपा हुआ मानवतामें॥
सुख दुखके सहचरको भी हम क्या सच्चा मित्र बना पाते।
करके अभावकी पूर्ति, जो कि जीवनको सुगम बना जाते॥
हम उसे खोजते फिरते हैं आडम्बर हमको अपनाता।
वह आकर द्वार हमारे ही हमसे ही ठुकराया जाता॥
हम उसे क्रोधसे देख रहे, वह हमें प्यारसे दुलराता।
संतप्त हृदयपर सुधामयी करुणाकी किरणें बरसाता॥
जीवन-रजनीमें जब कोई आशाके दीप बुझा जाता।
वह थकित हृदयको मधुर प्यारके तारोंसे उलझा जाता॥
इस अगम पंथके बीच किसीका भोला हृदय ठगा जाता।
तब देकर निज संबल, उरमें वह नव-नव-स्फूर्ति जगा जाता॥
उसके बन्धनमें बँधी सृष्टि सुख स्वप्न देखनेमें लय है।
पद-तलमें भूतल पड़ा हुआ जिसकी आँखोंमें विस्मय है॥
है जीव-मात्रमें उसका घर मन-मनमें उसका मन्दिर है।
जगके कण-कणका सार-रूप चिर सत्य और चिर सुन्दर है॥

श्रीरामका भेदरहित प्रेम

शबरी (भीलनी)

अवधेन्द्रकिशोर कौसल्यानन्दवर्धन श्रीराम अनुजके साथ वन-पथमें थे। मारीचकी मायाने रावणको श्रीजनकनन्दिनीके हरणमें सफल कर दिया था और उन श्रीवैदेहीका अन्वेषण करते श्रीरघुनाथ विरह-लीला करते वनमें भटक रहे थे। गीधराज जटायुको परमधाम प्रदान करके सानुज उन्होंने मतङ्गाश्रमकी सीमामें प्रवेश किया।

मतङ्गाश्रम जनशून्य नहीं था। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने उसे अपना आवास बनाया था। वहाँ वृद्धा भीलनी शबरी न बहुत प्रसिद्ध थी और न कोई बड़ा भारी आश्रम था उसका। सभी ऋषि-मुनि लालायित थे कि श्रीराघवेन्द्र अपने श्रीचरणोंसे उनके आश्रमको पवित्र करें; किंतु श्रीराम पूछ रहे थे—'शबरीजीकी कुटिया किधर है ?' एक कोनेमें उपेक्षिता नन्ही-सी शबरीकी कुटिया—श्रीरघुनाथ भाईके साथ सीधे उस भीलनीकी कुटियापर पधारे। धन्य हो गयी शबरी, सार्थक हो गयी उसकी प्रतीक्षा—'शबरी परी चरन लपटाई।'

अस्पृश्य निषाद

आजका युग नहीं था भाई! और आज भी अभी छूआ-छूतका भेद थोड़े ही मनोंसे गया है। वह रहना चाहिये या जाना चाहिये, यह बात यहाँ करनेको स्थान नहीं है। यहाँ तो त्रेताकी एक बात करनी है—उस त्रेताकी जब इन नियमोंका बड़ी कठोरतासे पालन होता था।

श्रीरामको आज ही नहीं, उस समय भी एक ओरसे सभी मर्यादापुरुषोत्तम मानते थे। वेद-शास्त्रकी और समाजकी समस्त सम्मान्य मर्यादाओंके परमादर्श, परम-संस्थापक श्रीराम। श्रीरामका आचरण—आचारका मापदण्ड—श्रीराम जो करें वही धर्म।

दूसरी ओर निषाद—वेनके कल्मषने जिस जातिके आदिपुरुषके रूपमें अपनेको साकार किया, वह अस्पृश्य निषाद।

'जासु छाहँ छुइ लेइअ सींचा।'

जिसकी छाया शरीरपर पड़ जाय तो द्विजाति सचैल स्नानके बिना अपनेको अपवित्र मानते थे।

किंतु पवित्र प्रेमसे परिपूर्ण-हृदय निषाद जब श्रीचरणोंकी ओर झुका—श्रीराम, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने उसे भर लिया भुजाओंमें। तन नहीं, मन देखना चाहिये यह मर्यादा उनकी—धन्य हो गया निषाद! समुज्ज्वल हुई मानवता।

राक्षस विभीषण

और उन मर्यादापुरुषोत्तमने मानवताको जो अद्भुत मापदण्ड दिया— समता और विश्वासका मापदण्ड—शत्रु रावणका सगा भाई, दशग्रीवका विश्वासभाजन, लंकाका व्यवस्थापक राक्षस विभीषण! किंतु विभीषण जब शरणमें आ गये—शंका, अविश्वास—छिः! श्रीरघुनाथने उन्हें अन्तरंग सचिव बनाया। उनकी मन्त्रणाका वे सम्मान करने लगे। विश्वास एवं आत्मीयताकी नींवपर मानवताकी प्रतिष्ठा है बन्धु।

वानर सुग्रीव

समता—श्रीराघवेन्द्र कहा करते थे—'सुग्रीव मेरे मित्र हैं।' अग्निकी साक्षीमें मित्र बनाया था उन्होंने बंदर सुग्रीवको। मुनिमण्डलवन्द्य अवधेन्द्रकुमार श्रीराम—सुर भी जिनकी पदवन्दना करके सनाथ हों और वानर सुग्रीव—अरण्यवासी कपि! सुग्रीव वानरराज थे श्रीरामकी कृपासे। सुग्रीवका सुख-वैभव था श्रीरघुनाथका प्रसाद; क्योंकि ऊँच-नीचके भेदको विस्मृत करके मित्र बना लिया था श्रीरामने वानर सुग्रीवको।

रामका भेदरहित प्रेम

भीलनी शबरी　　　　अस्पृश्य केवट

राक्षस विभीषण　　　　वानर सुग्रीव

आदर्श मानवता

(लेखक—साधु श्रीश्रीप्रज्ञानाथजी)

(१) मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता

हम अनेक बार बहुत-सी वस्तुएँ प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, परंतु पाते नहीं, और बहुतेरी अप्रिय वस्तुएँ, इच्छा न करनेपर भी, हमारे पास आ उपस्थित होती हैं एवं हमारे जीवनको अस्त-व्यस्त कर देती हैं। इसीका नाम है पराधीनता, बन्धन या अज्ञान। भगवान्ने हमको जितनी शक्ति और वस्तुएँ प्रदान की हैं, यदि हम उनसे संतुष्ट रह सकते तो हमको अनधिकार चर्चा करके अस्त-व्यस्त होना नहीं पड़ता और हमारा जीवन भी सुखमय हो जाता। हम अपने-आप अपना बन्धन तैयार करके अपनेको कोषाकार कृमिके समान आवद्ध करके मरते रहते हैं। भगवान्ने असीम कृपा करके हमको मनुष्यका शरीर प्रदान किया है। देवता तथा नरकके जीव भी मनुष्य-शरीर पानेकी इच्छा करते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीर पाप-पुण्यकी समताके कारण देवदुर्लभ वस्तु है। देवताओंको भोग-शरीर प्राप्त रहता है, उनमें दुःखकी कमी होनेके कारण मुक्तिकी इच्छा गौण होती है और स्थावर आदि योनियोंमें विवेकका अभाव होनेके कारण तथा ज्ञान-प्राप्तिके साधनके न होनेके कारण उनको भी भोगमात्रके द्वारा जीवन व्यतीत करना पड़ता है। मनुष्य-शरीरमें सारे ज्ञानके साधन भगवत्-कृपासे प्राप्त हैं। यह शरीर पशु-पक्षियोंसे विलक्षण होनेके कारण स्वर्ग और नरकका द्वार है। अन्यान्य योनियोंमें सारे जीव प्रकृतिके अधीन रहते हैं। प्रकृति भोग प्रदान कर धीरे-धीरे उनका सुधार करके उन्हें मनुष्य-शरीरके लिये उपयोगी बना देती है। मनुष्य-शरीर प्राप्त करते ही जीव प्रकृतिके दासत्वसे मुक्त हो जाता है और इच्छा करनेपर स्वर्ग या नरक अपने लिये प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्यका शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण और बुद्धि—ये सभी उसे मुक्त करनेमें समर्थ हैं। इनका वैध व्यवहार किया जाय तो ये मुक्तिके साधक बनते हैं और दुरुपयोगके द्वारा ये ही नरकके हेतु बन जाते हैं। इन्द्रियोंका असंयम ही अनर्थका हेतु है तथा इन्द्रियोंकी वश्यता ही सम्पद्का हेतु है। जो इन्द्रियोंके दास न बनकर इनका यथोचित व्यवहार करके मुक्तिकी साधना करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। इसके विपरीत जो इनके दास बनकर, इनका सेवन करके जीवन-यापन करते हैं, वे जीवित रहते हुए ही मृतवत् बन जाते हैं।

(२) विद्या

'विद्या तत्र सुदुर्लभा।' मनुष्य-शरीर प्राप्त करके भी विद्याहीन जीवन पशुके समान हो जाता है, अतएव मनुष्य-शरीरकी अपेक्षा भी विद्वान्का शरीर श्रेष्ठ है। विद्या मनुष्यका परम धन है। दूसरे धनको चोर चोरी करके ले सकता है, परंतु विद्याको कोई चुरा नहीं सकता। इसको जितना ही दान करें, उतना ही यह वृद्धिको प्राप्त होती है। राजाकी पूजा केवल अपने देशमें होती है, परंतु विद्वान् सर्वत्र पूजित होते हैं।

(३) श्रद्धा और वैराग्य

विद्वान् होकर भी श्रद्धा और वैराग्यसे हीन होनेपर मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अतएव विद्वानोंमें जो श्रद्धा और वैराग्यसे युक्त हैं, वे केवल विद्वानोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। केवल विद्यासे श्रद्धा और वैराग्य नहीं हो सकते। शास्त्रावलोकन और सज्जनोंके सङ्गके बिना किसीमें श्रद्धा और वैराग्यका उदय नहीं होता। अतएव सत्-शास्त्रोंके अभ्यास और सज्जनोंका सङ्ग करके विद्वान्को श्रद्धा और वैराग्यका सम्पादन करना चाहिये।

(४) सज्जन-कृपा

श्रद्धाके साथ शास्त्र और सज्जनोंका सङ्ग करते रहनेपर भी विविध शास्त्रोंके, अधिकारी-भेदसे, नाना प्रकारके उपदेश सुनकर शङ्काएँ पैदा हो जाती हैं। उस समय कौन-सा पथ ठीक है, यह निश्चय करनेमें मनुष्य असमर्थ हो जाता है। तब अविश्वास उत्पन्न हो जाता है, या नास्तिकता आ जाती है। अतएव गुरुके शरणापन्न होकर शास्त्र और सज्जनोंका सङ्ग करना चाहिये; इससे अपने ऊपर दायित्व नहीं रहेगा। गुरु अपनी रुचि और सामर्थ्यको देखकर जो मार्ग ग्रहण करा देंगे, उसी पथपर अग्रसर होते रहना होगा। उस पथके साधकोंका सङ्ग तथा शास्त्रोंका चिन्तन करना होगा। इससे इधर-उधर भ्रममें भटकना नहीं पड़ेगा। जो लोग गुरुके पास रहकर शास्त्रोंका अनुशीलन करते हैं, वे केवल गुरु-मुख होनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ फल प्राप्त करते हैं; क्योंकि शास्त्र ही लोक-चक्षु हैं, शास्त्रद्वारा ही गुरु शिष्यके अज्ञानान्धकारको दूर करनेमें समर्थ होता है।

(५) तत्त्व-ज्ञान

शास्त्र पढ़कर भी अनेकों महामहोपाध्याय संसारके कृमि होकर उत्पन्न होते हैं; अतएव शास्त्राध्ययन करके तत्त्वज्ञानी बनना और भी दुर्लभ है। अर्थात् शास्त्राध्ययन करनेवालोंमें भी तत्त्वज्ञानी दुर्लभ और श्रेष्ठ हैं।

(६) सहजावस्था

तत्त्वज्ञान प्राप्त करके भी बहुतसे लोग दिग्विजयके मोहमें पड़कर सहजावस्थासे च्युत हो जाते हैं। अतएव तत्त्वज्ञानियोंमें भी जिनको सहजावस्था प्राप्त है (अर्थात् जो सर्वदा एक-रस रहते हैं); वे और भी दुर्लभ हैं।

(७) वृत्तिहीनता

तत्त्वज्ञानके फलस्वरूप समाधिके दृढ़ अभ्याससे एक अवस्था आकर उपस्थित होती है; तब जगत्‌का कोई भी व्यवहार उसे अच्छा नहीं लगता। वह सदा ध्यानमें निमग्न रहकर क्षणमात्रके लिये भी ध्यानका त्याग करना नहीं चाहता। शरीरके पोषणके प्रति भी उसकी कोई कर्तव्यबुद्धि नहीं होती। कोई खिला दे तो खा लेता है। स्नान करा दे तो स्नान कर लेता है। अथवा कुछ भी नहीं करता। सुषुप्तके समान पड़ा रहता है। ऐसे पुरुष धन्य हैं। उनको जीवनका लक्ष्य प्राप्त हो गया है। अतएव प्रत्येकको जीवनकी शक्ति और सामग्री देखकर उपर्युक्त किसी भी स्तरके लिये यत्न करना मनुष्यमात्रके लिये आवश्यक है। अधिकारी हुए बिना जो चेष्टा करता है; वह विफलमनोरथ होता है।

(८) साधना

अपने-अपने अधिकारके अनुसार साधन करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर, ज्ञान, भक्ति और कर्मका अपूर्व समन्वय करके जो उपदेश दिया है, वह मुमुक्षुमात्रके लिये उपयोगी है। साधारणतः तीनों प्रकारके मनुष्योंका एक ही लक्ष्य होता है। कर्मी कर्मके द्वारा, ज्ञानी ज्ञानके द्वारा और भक्त भक्तिके द्वारा अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। मार्ग और सिद्धान्तको लेकर दलबंदी न करके; अपनी शक्ति और साधन-सामग्रीको देखकर जिससे जितना हो सके, उसके लिये उतना ही साधन करना युक्तिसंगत है। कर्मके बिना भक्ति और भक्तिके बिना ज्ञान टिक ही नहीं सकता। इन तीनोंका पारस्परिक अपरिहार्य सम्बन्ध होनेके कारण एकका त्याग करनेपर दूसरेकी स्थिति ही असम्भव हो जाती है। अतएव खण्डन-मण्डन छोड़कर मुमुक्षुको सत्यकी ओर अग्रसर होना आवश्यक है। सत्य स्वयं प्रमाण होनेके कारण सबकी निजी वस्तु है। साधनके द्वारा सत्यकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। सत्य स्वप्रमाण होनेके कारण साधनसापेक्ष नहीं है। गणितका मिश्रयोग जब गुरु विद्यार्थियोंको करनेके लिये देते हैं, तब जिनके फल ठीक होते हैं; उन सबका एक ही फल देखनेमें आता है। जिसका फल ठीक नहीं होता; उसके साथ उनका ऐक्य नहीं हो सकता और जिनके फल ठीक नहीं रहते, उनमें भी परस्पर ऐक्य नहीं होता। यदि ऐक्य हो गया तो मानना पड़ेगा कि एकने दूसरेकी चोरी की है या नकल की है। इसी प्रकार साधनके द्वारा जो सिद्ध हो गये हैं; उनके चित्तकी शान्ति; भोग-निःस्पृहता; आनन्दकी अभिव्यक्ति; विषय-वैराग्य; आरोग्य—नीरोगता; सुख-दुःखमें समानता और प्रसन्नता आदि बाह्य लक्षणोंको देखकर दूसरे लोग अनुमानमात्र कर सकते हैं। परंतु ज्ञान और मुक्ति स्वसंवेद्य होनेके कारण वे दूसरोंकी बुद्धिके विषय नहीं बन सकते।

मानवता कहाँ है ?

सत्य-असत्य-विवेक तथा जिनमें सुख औ दुखकी समता है,
दीन-दुखीजन देख दया परकष्ट-निवारणकी क्षमता है।
भक्ति सदा गुरु-देवनमें, जगके सब प्राणिनमें ममता है,
आस्तिकता छलहीन जहाँ 'कविराम' वहीं सच मानवता है॥

—श्रीसीतारामजी झा

मानवताका विकास

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मनुष्यकी आकृतिमें मानवताका दर्शन बाह्य नेत्रोंसे नहीं होता । उसके देखनेके लिये विवेकशीला बुद्धि चाहिये ।

जहाँ सारी क्रिया तथा इन्द्रियोंकी चेष्टा एवं मनकी प्रवृत्ति विवेकके आधारपर होती है, वहीं मानवताका विकास समझना चाहिये ।

शारीरिक बल मनुष्यकी अपेक्षा हाथी, घोड़ा, बैल आदि पशुओंमें बहुत अधिक है । इसी प्रकार इन्द्रियोंकी शक्ति भी छोटे-छोटे जन्तुओंमें मनुष्यसे बहुत अधिक पायी जाती है । परंतु बुद्धि-विवेकके बिना शारीरिक शक्तिशाली पशु बन्धनमें रहकर जीवनभर बुद्धिमान् मनुष्यके संकेतानुसार कर्म करता है । उसे स्वयं अपने लिये हितकर कर्तव्यका विवेक नहीं होता ।

यद्यपि पशुओंके द्वारा मानवजातिकी बहुत बड़ी सेवा होती है, तथापि वह सेवा-कर्म स्वयं पशु अपने विवेकसे नहीं करता, उससे कराया जाता है ।

जहाँ समस्त कर्म कर्तव्यका विवेक रखकर होते हैं, वहीं मानवता है, और जहाँ शासनमें रखकर कर्म कराये जाते हैं, वहीं पशु-प्रकृतिकी प्रधानता है ।

मनुष्यकी आकृतिमें कहीं पशु-प्रकृति, कहीं आसुरी प्रकृति और कहीं-कहीं मानवी प्रकृतिका दर्शन मिलता है । इससे भी ऊपर मनुष्यकी आकृतिमें ही ईश्वरीय दिव्यता भी आविर्भूत होती है ।

मानव-आकृतिके भीतर मानवताका निर्णय उसके बाह्य कर्मोंसे ही नहीं होता प्रत्युत कर्मके पीछे भाव, भावके पीछे विचार तथा विचारके पीछे उद्देश्यको समझना आवश्यक होता है ।

जहाँ विचार-विवेककी प्रधानतामें समस्त कर्म होते हैं, वहीं मानवताका निर्माण होता है और मानवतामें ही दिव्यताका अवतरण होता है ।

मनुष्य ज्यों-ज्यों विचारके द्वारा अपने भीतर पशु-स्वभावका दमन करता जाता है त्यों-त्यों मानवीय गुणोंकी जागृति होती जाती है ।

जहाँ अपने ही शरीरका सुख तथा इन्द्रियोंद्वारा विषयरसमें आसक्ति प्रबल है, वहीं पशु-प्रकृति है ।

जहाँ भोगोंमें आसक्तिके साथ देहाभिमान, बलाभिमान है, वहीं आसुरी प्रकृतिकी प्रधानता है; जहाँ भोग-सुखोंमें तथा धन एवं मानकी प्राप्तिमें धर्मयुक्त मर्यादाका पक्ष है, वहीं मानवी प्रकृतिकी जागृति है ।

राग, द्वेष, ईर्ष्या, मद, मोहसे रहित जहाँ सेवा और तपका व्रत चलता है, वहीं मानवता परिपुष्ट होती जाती है । इसीके साथ-साथ जब दोषोंका पूर्णतया त्याग एवं एकमात्र सत्य परमात्मासे अनुराग होता है, तब जीवनमें दिव्यता आती है ।

आलस्य, विलासिता, सुखोपभोगकी दासता, सभी प्रकारके सीमाबद्ध अभिमान मानवता-निर्माणमें सदा बाधक बनते हैं ।

श्रम, संयम, सेवा, सदाचार, विनम्रतायुक्त व्यवहार मानवता-निर्माणमें सदा सहायक होते हैं ।

आलसी, विलासी, सुखासक्त मनुष्य सेवा नहीं कर सकता और वह श्रमी तथा सदाचारी एवं कर्तव्यपरायण नहीं हो सकता । आलसी मनुष्यका भविष्य अन्धकारमय रहता है; क्योंकि वह वर्तमानमें ही पूर्ण होनेवाले कर्तव्यसे जी चुराता है ।

विलासी मनुष्यका भविष्य भी घोर दुःखमय बनता जाता है; क्योंकि वह मिली हुई शक्तिको क्षणिक विषयजनित रसके पीछे नष्ट करता रहता है ।

सुखासक्त मनुष्यका भविष्य अनेक अपराधों, दोषोंसे भरता जाता है; क्योंकि वह सुखासक्तिवश ही अपने अनुकूलके प्रति रागी एवं प्रतिकूलके प्रति द्वेषी होता है; रागद्वेषके कारण उससे अनेकों अपराध—पाप बनते रहते हैं ।

पशु-प्रकृतिका मनुष्य वह है, जो इन्द्रियग्राह्य विषय-सुखमें तल्लीन रहकर धर्मकी, कर्तव्यकी तथा शास्त्र एवं गुरु-आज्ञाकी अवहेलना करता रहता है; वह मुक्त-जीवनकी, शान्तिकी परवा नहीं करता ।

आदर्श मानव वही है, जो अपने कर्तव्य-पालनमें, स्वधर्म-पथमें अविचल रहकर इन्द्रिय-सुखोपभोगकी परवा नहीं करता; वह कष्टसहिष्णु, धैर्ययुक्त एवं परमार्थ-तत्त्वका प्रेमी होता है ।

जहाँ तप करना, सेवा करना, दान करना तथा दोषोंका त्याग करना प्रिय लगता है, वहाँ मानवता है। जहाँ-कहीं दूसरोंकी सेवा-सहायता करनेमें दोषोंको छोड़नेमें कष्ट होता है, दान करना, त्याग करना अप्रिय लगता है तथा शुभ संकल्पको, त्याग, दान तथा सेवाकी प्रेरणाको टाल दिया जाता है, वहीं पशु-प्रकृतिकी प्रधानता है।

पशु-प्रकृतिमें भाव तथा विवेकशून्य भोग-सुखकी तृष्णा प्रबल रहती है। मानवताकी जागृतिमें प्रत्येक कर्मके साथ सद्भाव-सद्विचारकी प्रधानता होती है। मानवतामें जब दिव्यता उतरती है, तब त्यागकी पूर्णता, प्रेमकी पूर्णता पायी जाती है।

जो मानव शरीरादि साधनोंको संसारकी सेवामें नियुक्त कर देता है और अपनेको परमात्माके समर्पित करके अपने लिये संसारमें कुछ भी नहीं चाहता, वही ईश्वरमय जीवनका अनुभव करता है।

विवेकी मानवमें मानवताका परिचय सेवाओंसे मिलता है। वह दूसरोंकी सेवामें ही अपना हित देखता है; सेवाके बदलेमें वह न धन चाहता है न मान चाहता है; उसे किसी प्रकारकी शक्ति सुलभ होती है तो उसे सेवामें ही लगाता जाता है; अपने लिये तो वह केवल शान्ति चाहता है, जो उसे दोषोंके त्यागसे अनायास ही अपने-आपमें प्राप्त होती दीखती है।

राग-द्वेष, लोभ, मोह, अभिमान आदि दोषोंका दुःखपूर्वक ज्ञान होना मानवताकी जागृति है; क्योंकि पशु-प्रकृतिको अपने दोषोंका ज्ञान नहीं होता और आसुरी प्रकृतिको दोषोंका तो कभी-कभी ज्ञान होता है परंतु दोषोंके होनेका दुःख नहीं होता। मानवताकी जागृतिमें ही दोषोंका दुःख होता है।

ज्यों-ज्यों राग-द्वेष, लोभ-मोहादि दोषोंका त्याग होता जाता है, त्यों-ही-त्यों मानवता भी पूर्ण होती जाती है। मानवता पूर्ण होनेपर प्रेममें पूर्णता आती है, जो जीवनको दिव्य—चिन्मय बना देती है।

दिव्य तथा चिन्मय जीवनकी प्राप्ति मानव-जीवनका लक्ष्य है। जब मानवता जाग्रत् हो जाती है, तब वह जडत्वके बन्धनमें चैन नहीं लेने देती। देहाभिमान आदि जडत्वके बन्धनमें चैन न लेनेपर मानव-जीवनमें सद्गति—परमगति सुलभ होती है। समस्त जीवन साधन बन जाता है, सिद्धि सुलभ हो जाती है।

पाशविक वृत्तियोंको विविध वस्तुओंकी भूख होती है। आसुरी वृत्तियोंको केवल शक्तिकी भूख होती है। मानवी वृत्तियोंको सद्भाव तथा सद्गुण एवं यथार्थ ज्ञानकी भूख होती है।

जिस जीवनमें किसी प्रकारकी भूख नहीं रह जाती, वही दैवी, ईश्वरमय, पूर्णताको प्राप्त जीवन है।

मानव-जीवनमें जहाँ कहीं अतृप्ति है, अशान्ति है, वही पूर्णताके लिये प्रेरित करती है। इसी प्रकार जीवनमें विनाशकी आशङ्का, वियोगका भय, अभावका दुःख बार-बार नित्य योग एवं अविनाशी जीवनकी खोजके लिये विवश करता है।

अबाध स्वाधीनता, प्रसन्नता तथा शाश्वत शान्ति, अमरत्व और निष्काम प्रेम मानवजीवनमें ही सुलभ हैं।

अबाध स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये विवेकपूर्वक सभी आसक्तियोंका त्याग करना होगा। सदा प्रसन्न रहनेके लिये अनुकूलताके रागवश होनेवाले क्रोधका त्याग करना होगा। शाश्वत शान्तिका अनुभव करते रहनेके लिये प्रतिकूलतावश होनेवाले क्षोभसे बचते रहना होगा।

कर्तव्य-परायण बने रहनेके लिये तथा अविनाशी जीवनकी अनुभूतिके लिये और प्रेमको कामनासे निष्कलुष रखनेके लिये निरन्तर विस्मृतिदोषसे सावधान रहना होगा।

त्यागका सामर्थ्य विवेकी जीवनमें, प्रेमी हृदयमें ही आता है। त्यागसे ही मानवतामें प्रगति-सद्गति होती है। रागसे ही रुकावट होती है। शाश्वत शान्तिकी अभिलाषा प्रबल होनेपर दुःखदायी दोषोंका त्याग करना विवेकी मानवके लिये अति सुगम हो जाता है। जिसे त्याग कठिन प्रतीत होता है, उसके हृदयमें शान्तिकी अभिलाषा प्रबल नहीं है, कहीं सुखकी चाह बलवती बनी हुई है।

आजके मानव-समाजमें कदाचित् भौतिक विज्ञानके सहारे शक्ति अधिक बढ़ रही है। कहीं-कहीं सम्पत्ति भी बहुत अधिक है। भोग-सामग्रीकी कमी नहीं है, योग्यता और अधिकार भी इच्छानुसार अनेकोंको सुलभ है। परंतु फिर भी मानव भयातुर है, चिन्तित है, अशान्त है; क्योंकि अनेक अनुकूलताओंके होते हुए भी आज प्रायः समाजमें मानवताका अभाव देखा जा रहा है। परस्पर मानवताकी माँग विचारवान् हृदयको व्याकुल—आतुर बना रही है। मानव-आकृतिमें पशु-प्रवृत्ति एक दूसरेको चैनसे रहने नहीं दे रही है, आसुरी प्रकृति किसीकी समृद्धिको, किसीके उत्थानको

देखकर स्वयं चैन नहीं ले पा रही है। इस अशान्तिमय वातावरणमें मानवताकी दिव्यतासे पुकार हो रही है कि असुरताका तथा पशुताका दमन हो।

मानवताकी भूमिमें ही प्रेमसे द्वेषपर, न्यायसे अन्यायपर, सेवासे स्वार्थपर, आत्मज्ञानसे देहाभिमानपर, सत्य-चिन्तनसे विषय-चिन्तनपर, गुणोंके द्वारा दोषोंपर विजय सुलभ हो सकती है।

इसका बार-बार मनन करना है कि हम मानव हैं। हमें वह बुद्धि मिली है, जिसमें विवेक प्रकाशित होता है। हम विवेकका आदर करते हुए अपने जीवनको सुन्दर बना सकते हैं। हमारे जीवनकी सुन्दरतासे समाज भी सुन्दर हो सकता है।

विवेकयुक्त प्रवृत्तिके द्वारा ही हम मानवताका परिचय दे सकते हैं। मानव वही है, जिसकी सभीको आवश्यकता है; अतः हमें अपना जीवन इतना सुन्दर बना लेना है; जिसे सब चाहें और हमें इतना सुन्दर होना है कि हम किसीसे कुछ न चाहें।

जिसने जो माँगा, उसके हितका ध्यान रखकर उसे वही देनेवाले तथा स्वयं किसीसे कुछ न माँगनेवाले मानव संसारमें दुर्लभ हैं।

विशुद्ध बुद्धि, तपोमय जीवन, तीव्र वैराग्य; राग-द्वेष, मान-बड़ाई तथा महत्ताका त्याग; तत्त्वज्ञान, शुद्ध चैतन्यका ध्यान, निष्काम प्रेम, गर्वशून्य कला-विज्ञान, प्रियवचनसहित दान, शक्ति होनेपर भी सहनशीलता, विपुल सम्पत्ति होनेपर भी नियमोंका पालन, सुखी दशामें दुखियोंकी सेवा, दुखी दशामें सुखसे पूर्ण विरक्ति और परमात्मामें ही पूर्ण अनुरक्ति मानवताके पूर्ण विकासमें ही सम्भव हैं, सुगम हैं।

मानवता ही दिव्यताप्राप्तिका साधन है। दिव्यताके योगसे ही मानवताको परम तृप्ति मिलती है, परमशान्ति सुलभ होती है, सुख-दुःखके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है।

मानवताके द्वारा ही यह अनित्य जीवन नित्यजीवनकी प्राप्तिका साधन बन जाता है।

दुःखदायी भूलका, भ्रान्तिका, अज्ञानका ज्ञान और अपने द्वारा होनेवाले दोषोंका दुःख मानवताकी जागृतिमें ही होता है। सद्गुणोंकी तथा ज्ञानकी एवं त्याग-प्रेमकी कमीका अनुभव करना और इस कमीको मिटानेका पूर्ण प्रयत्न करना मानवता है। मानवताके आरम्भमें दुःख-सुखका भोग नहीं होता, उनका सदुपयोग होता है। सुखका सदुपयोग सेवाके द्वारा, दुःखका सदुपयोग त्यागके द्वारा होता है।

सभी दोषों, सभी दुर्बलताओंकी निवृत्ति मानव-जीवनकी आवश्यकता है। परमानन्दपूर्ण सत्यका योग ही मानव-जीवनका लक्ष्य है।

मानव ! मानवता छोड़ नहीं

[ले०—पं० प्रकाशचन्द्रजी कविरत्न]

मानव ! मानवता छोड़ नहीं ॥
रविकी किरणें भूपर आतीं,
तेरे पद-रजको छू जातीं,
हे मानव ! तू जगमें महान
देवोंकी भी कर होड़ नहीं।
मानव ! मानवता छोड़ नहीं ॥

विज्ञान मुक्तिका कारण है,
यदि श्रद्धाका मधु-मिश्रण है,
तू बुद्धिवादके पाहनसे
सहृदयताका घट फोड़ नहीं।
मानव ! मानवता छोड़ नहीं ॥

क्यों ! बेलि कपट विषकी बोई,
वैरी न यहाँ तेरा कोई,
जिसमें तेरी छवि अङ्कित है,
तू उस दर्पणको तोड़ नहीं।
मानव ! मानवता छोड़ नहीं ॥

मानव ! तेरा अधिकार ?

वर्तमान समय मानव-जातिके लिये क्रान्तिका युग कहा जाता है। कहते हैं, शताब्दियोंसे सोये हुए मानवने आज करवट बदली है। अबतक वह परतन्त्रता और रूढ़ियोंकी दासतामें ग्रस्त था, किंतु अब इन बेड़ियोंको काटकर वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार—स्वतन्त्रता और सर्वाङ्गीण विकास पानेके लिये व्यग्र है। किसी जाति, सम्प्रदाय या रूढ़िका बन्धन वह सहन नहीं कर सकता। अब वह स्वतन्त्रताकी स्वच्छ वायुमें स्वच्छन्द विचरना चाहता है। इस भूमिपर ही नहीं, अब तो वह अन्यान्य ग्रह और नक्षत्रोंपर भी अपने स्वास्थ्य-संस्थान और विहार-संस्थान बनाकर सशरीर स्वर्ग-सुख भोगनेके लिये व्याकुल है।

परंतु भोले मानव ! तनिक सोच तो, क्या यही तेरा वास्तविक अधिकार है ? क्या भर-पेट भोग भोगनेके लिये ही प्रभुने तुझे यह शरीर प्रदान किया है ? भोगोंसे क्या कभी किसीका पेट भरा है ? यह तो ऐसी बुरी विडम्बना है कि भरनेसे पहले ही पेट फट जाता है—भोग रोगमें परिणत हो जाता है और भोग-वासना अतृप्त ही रह जाती है। सारे संसारकी सम्पत्ति मिलकर भी क्या किसी एक मनुष्यकी तृष्णाको शान्त करनेमें समर्थ है ? इसलिये थोड़ा ठहर और सोच कि तेरा वास्तविक अधिकार क्या है।

क्या कोई ऐसी वस्तु तेरा अधिकार हो सकती है, जिसे पानेमें तू परतन्त्र हो, जिसकी प्राप्ति अनिश्चित हो और जिसे पा लेनेपर भी तेरी तृष्णा अतृप्त ही रहे। अपने अधिकारको पाकर तो तुझे कृतकृत्यता और पूर्णकामताका अनुभव होना चाहिये। अतः निश्चय मान, संसारकी कोई भी वस्तु, अवस्था या परिस्थिति तेरा वास्तविक लक्ष्य या अधिकार नहीं हो सकती; क्योंकि उन्हें पानेमें तू स्वतन्त्र नहीं है, उनकी प्राप्ति निश्चित नहीं है और न उन्हें पा लेनेपर तुझे आत्यन्तिकी विश्रान्ति ही मिल सकती है। प्यारे मानव ! इसमें संदेह नहीं, तू स्वभावसे ही पूर्णताकी माँग लेकर अवतीर्ण हुआ है। माताकी कोखसे जन्म लेते ही तुझमें रुदनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। तेरे सिवा और किसी प्राणीको जन्म लेते ही रोते नहीं देखा गया। रुदन सर्वदा किसी-न-किसी अभावकी वेदना होनेपर ही होता है। अतः निश्चय होता है कि तेरा आविर्भाव सब प्रकारके अभावोंका अभाव करनेके लिये ही हुआ है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अन्य प्राणियोंको कोई अभाव ही नहीं होता। समय-समयपर अभावोंकी अनुभूति तो सभी प्राणियोंको होती है और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार वे उनकी पूर्तिका प्रयत्न भी करते हैं; परंतु मानव तो आरम्भसे ही अभावकी वेदना लेकर उत्पन्न होता है और केवल वही ऐसा जीव है, जो सब प्रकारके अभावोंका अभाव करके पूर्ण पदपर प्रतिष्ठित हो सकता है।

इसका एक विशेष कारण है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—चार प्रकारके प्राणी हैं। इनमेंसे उद्भिज्ज प्राणियोंमें अन्नमयके अतिरिक्त केवल प्राणमय कोशकी ही अभिव्यक्ति हुई है। प्राणशक्तिके बिना तो किसी व्यक्तिको 'प्राणी' ही नहीं कहा जा सकता। अतः प्राणिवर्गका विकास उद्भिज्ज जगत्से ही आरम्भ होता है। इस कोटिके जीवोंमें जन्म, मरण और वृद्धि आदि प्राणके व्यापार ही देखे जाते हैं। उनमें किसी प्रकारकी वासना या संकल्पकी स्फूर्ति नहीं देखी जाती। स्वेदज प्राणियोंमें मनोमय कोशका भी विकास हुआ है। इसलिये उनमें संकल्प-शक्ति भी रहती है। वे सुख-दुःखका अनुभव करते हैं और चलते-फिरते भी हैं; परंतु उनमें किसी प्रकारका शत्रु-मित्र या अपने-परायेका भेद नहीं रहता। अण्डज और जरायुज प्राणियोंमें पूर्वोक्त तीन कोशोंके अतिरिक्त विज्ञानमय कोशका भी विकास हुआ रहता है। अतः उनमें शत्रु-मित्र तथा अपने-परायेका भी भेद रहता है; परंतु ये सभी प्राणी केवल दृष्ट दुःखकी ही निवृत्ति करते हैं; इनमें आगामी दुःखकी निवृत्तिका उपाय अथवा अधिकाधिक सुख पानेकी वासना नहीं देखी जाती। भूख लगनेपर ये अपना स्वभावसिद्ध आहार ग्रहण कर लेते हैं, परंतु यह कभी नहीं सोचते कि फिर भी भूख लगेगी, इसलिये कुछ आहार संग्रह करके रख लें। और न कभी ऐसा ही विचार करते हैं कि हम जो आहार ग्रहण करते हैं, उसे मिर्च-मसाले मिलाकर कुछ और स्वादिष्ट बना लें। इसी प्रकार गर्मी-सर्दी लगनेपर अथवा भय उपस्थित होनेपर भी वे अपने स्वभावके अनुसार तात्कालिकी व्यवस्था ही करते हैं, उनसे बचनेका कोई स्थायी प्रबन्ध नहीं करते। परंतु

मनुष्यका स्वभाव कुछ दूसरे ही प्रकारका है। वह तो केवल दुःख-निवृत्तिका ही नहीं, उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख पानेका भी प्रयत्न करनेमें व्यस्त है। इसीसे उसकी भोग-सामग्री दिनोंदिन बढ़ती जानेपर भी वह निरन्तर उसे बढ़ानेमें ही लगा रहता है, जब कि अन्य प्राणी जिस प्रकार लाखों वर्ष पूर्व रहते थे, उसी प्रकार आज भी रहते हैं। इसका कारण यह है कि आनन्दमय कोशका विकास केवल मानवमें ही हुआ है। अतः निरतिशय आनन्द ही उसकी एकमात्र माँग है। जहाँ जन्मकालिक रुदन उसमें इसके अभावकी वेदना सूचित करता है, वहाँ उसका उन्मुक्त हास्य उसमें इसकी पूर्तिकी क्षमताका भी परिचय देता है। मानवके अतिरिक्त किसी अन्य प्राणीको कभी हँसते हुए भी तो नहीं देखा जाता। अतः सब प्रकारकी पूर्णता, निरतिशय आनन्द या अमरत्व ही तेरा एकमात्र अधिकार है।

अपने इस जन्मसिद्ध अधिकारको प्राप्त किये बिना तुझे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। परंतु तू तो न जाने क्या-क्या उपाय शान्तिकी प्राप्ति और सुरक्षाके लिये करता रहता है। अपने समकक्षोंके प्रति संशयालु होकर उन्हें भयभीत रखनेके लिये तू बड़ी-बड़ी संहारकारी शक्तियोंकी शरण लेता है और अपनेको समृद्ध एवं सुरक्षित बनानेके लिये पृथ्वीपर नहीं, आकाशके उस पार अपना घर बनाना चाहता है। भला, इस प्रकार कभी किसीको शान्ति मिली है ? दूसरोंको भयभीत रखकर क्या कोई स्वयं निर्भय रह सकता है ? ये सब तो संघर्ष और अशान्तिकी ही भूमिकाएँ हैं। शान्ति तो तेरी निजी सम्पत्ति है। वह तो तुझे स्वभावसे ही प्राप्त है। तूने इस अशान्तिके उपकरणोंका आश्रय लेकर तो उल्टा अपनेको अशान्त ही किया है। तेरी अधिकार-लालसाने तेरे सहजसिद्ध अधिकारका, तेरी सुखलोलुपताने तेरे स्वरूपभूत सुखका, तेरी सुरक्षाकी चिन्ताने तेरे स्वाभाविक अमरत्वका और तेरी विस्तारकी वासनाने तेरे वास्तविक विभुत्वका आवरण ही किया है। इस प्रकार आज जिसे साधन समझकर तूने अपना रखा है, वह तो वास्तवमें असाधन ही है। यदि तुझे अपना वास्तविक साध्य पाना है तो इन सब साधनाभासोंको छोड़कर उस साध्यकी ही शरणमें चला जा। वह स्वयं ही अपना परिचय कराकर तुझे अपनेसे अभिन्न कर लेगा।

थोड़ा विचार कर, तेरा वास्तविक अधिकार तो तेरे पास ही है और वह इतना महान् है कि उससे बड़ी बात तू सोच ही नहीं सकता। आज जिन वस्तुओं और परिस्थितियोंको पानेके लिये तू बेचैन है, उनकी तो उसके आगे कुछ सत्ता ही नहीं है। तू अपने सहज स्वरूपको भूलकर अपनेको देह मान बैठा है, इसीसे तुझे इस व्यर्थ वासनाके चंगुलमें फँसना पड़ा है। तू जो कुछ पाना और सुरक्षित रखना चाहता है, उसका सम्बन्ध इस देहसे ही तो है और देहमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे इस विश्वसे विभक्त किया जा सके। अतः यह शरीर तो इस संसार-सागरकी ही एक तुच्छ तरङ्ग है। जिस प्रकार यह संसार जड, पर-प्रकाश्य और परिणामी है, उसी प्रकार यह शरीर भी तो है। तू तो चेतन, स्वयंप्रकाश और एकरस है। अतः जिस प्रकार संसार तेरा प्रकाश्य है और उससे तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार यह शरीर भी कदापि तेरा स्वरूप नहीं हो सकता। इस शरीरसे तादात्म्य करके ही तूने अपनी यह दुर्दशा की है। इसीके कारण तू अपने सहजसिद्ध अलौकिक अधिकारको भूलकर उन वस्तुओंकी वासनामें फँसा है, जो कभी किसी प्रकार तेरी नहीं हो सकती। अतः यदि तू अपनेको अपने उस स्वयंसिद्ध परमपदपर अभिषिक्त देखना चाहता है तो तुझे इस देहके तादात्म्यसे मुक्त होना होगा।

देहसे तादात्म्य करनेके कारण ही तुझे वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितियोंकी अनुकूलता या प्रतिकूलताका भास होता है, जिससे उनमें राग या द्वेष करके तू उन्हें पाने या त्यागनेके लिये चिन्तित रहता है। परंतु इस देहके रहते हुए क्या कभी यह सम्भव है कि तेरे जीवनमें सर्वदा अनुकूलता ही रहे, प्रतिकूलताका दर्शन ही न हो ? संसारके इतिहासमें आजतक तो ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं सुना गया, जिसके जीवनमें प्रतिकूलता न रही हो। यही नहीं, सच बात तो यह है कि प्रतिकूलतासे ही जीवन निखरता है। संसारमें जितने महापुरुष हुए हैं, उनके जीवनको महान् बनानेका गौरव तो प्रतिकूलताको ही रहा है। जो प्रतिकूलताका धैर्यपूर्वक स्वागत करते हैं और बड़ी-से-बड़ी विपत्तिकी सम्भावना होनेपर भी अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होते, वे ही तो जनसाधारणके पथप्रदर्शक और समाजके भूषण माने जाते हैं। अतः अनुकूलताके प्रलोभन और प्रतिकूलताके भयको छोड़कर तू सत्यके संकेतका अनुसरण कर। वही जीवन-पथमें आनेवाली सब प्रकारकी घाटियोंसे पार करके तुझे तेरे साध्यसे मिला देगा।

यह सत्यका संकेत पानेके लिये तुझे कहीं अन्यत्र नहीं जाना है। प्रभु तेरे भीतर स्वयं अन्तर्यामी या विवेकरूपसे

अवतीर्ण होकर विराजमान हैं। वे ही तेरे सच्चे गुरुदेव और पथप्रदर्शक हैं। तुझे यह शरीर पूर्णपदपर प्रतिष्ठित होनेके लिये मिला है और वह पद सर्वथा अप्राकृत एवं अलौकिक है। कोई भी लौकिक साधन तुझे वहाँ नहीं ले जा सकता। अतः करुणामय प्रभु तुझे अपने उस परमधाममें ले जानेके लिये स्वयं ही विवेकरूपसे तेरे हृदयमें आविर्भूत हैं। अविवेकवश अपनी स्वार्थमयी दूषित प्रवृत्तियोंके कारण तू कितना ही पतित क्यों न हो जाय, तथापि ये विवेक भगवान् कभी दूषित नहीं होते; क्योंकि ये सर्वथा अलौकिक, अप्राकृत एवं एकरस हैं। अतः इनके द्वारा तुझे कभी ऐसा कोई संकेत नहीं मिल सकता, जो तुझे असत्प्रवृत्तिमें प्रेरित करे। यदि तू इनके संकेतका *अनुसरण* करेगा तो निश्चय ही एक दिन अपने चरम लक्ष्य और वास्तविक अधिकारको प्राप्त कर लेगा।

विवेकका आदर करनेके लिये पहली शर्त यह है कि तुझे दूसरोंके नहीं, अपने आचरणपर दृष्टि रखनी होगी। जिसकी दृष्टि परदोषदर्शनमें लगी रहती है, वह विवेक-भगवान्‌के संकेतको कभी नहीं समझ सकता; क्योंकि परदोषदर्शन अपनेमें गुणोंका अभिमान होनेपर ही होता है और जहाँ गुणोंका अभिमान है, वहाँ ऐसा कोई दोष नहीं जो प्रकट न हो सके। अतः दूसरोंके दोष न देखकर अपने ही आचरणपर दृष्टि रख। उसमें यदि कोई त्रुटि हो तो उसके लिये प्रायश्चित्त कर और उसे पुनः न दुहरानेका निश्चय कर। इससे तेरी दृष्टि निर्दोष होगी और उस निर्दोष दृष्टिसे ही तू विवेक-भगवान्‌के संकेतको देखने और उसका अनुसरण करनेमें समर्थ होगा।

आज तू दूसरोंके कर्तव्यपर दृष्टि रखता है और उनके द्वारा अपने अधिकारोंको सुरक्षित देखना चाहता है। यही तो सारी अशान्तिका मूल है। तेरी स्वतन्त्रता तो अपना कर्तव्य-पालन करनेमें ही है। दूसरे अपना कर्तव्य पालन करें—यह तेरे वशकी बात तो है नहीं। उन्हें कर्तव्यपालनकी प्रेरणा देनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय भी स्वयं कर्त्तव्यनिष्ठ होना ही है। साथ ही उनके द्वारा अपने अधिकारोंकी प्राप्ति अथवा सुरक्षाकी वासना भी संघर्षका ही मूल है। यह अधिकार-वासना सर्वदा देहाभिमानको ही पुष्ट करती है, जो सब प्रकार अनर्थका ही कारण है। अतः उन अधिकारोंके न मिलनेसे भी तेरी क्या क्षति होती है? छोड़ इस अधिकार-लालसाको। यह तो दूसरोंके क्षोभ और तेरी अशान्तिका ही कारण है। दूसरोंपर शासन न करके तू अपनेपर ही शासन कर। जो दूसरोंके प्रति क्षमाशील रहता है और अपनेपर शासन करता है, वह स्वयं निर्दोष बन जाता है और दूसरोंको कर्त्तव्यनिष्ठ बननेकी प्रेरणा देता है।

इस प्रकार निर्दोष होनेपर ही तू निष्काम हो सकेगा। कामना ही मनका मल है। जब मनमें भोगोंकी कामना नहीं रहती और सभी विषय निस्सार प्रतीत होने लगते हैं, तभी वास्तविक कल्याण-कामना जाग्रत् होती है। जो चित्त बाह्य विषयोंमें अपनी प्रसन्नता नहीं देखता, वही उनकी ओरसे विमुख होकर अपने स्वरूपभूत शाश्वत परमसुखकी ओर मुड़ता है। ऐसा चित्त अपनी प्रकृतिके अनुसार या तो जिज्ञासु होकर परमार्थ-सत्यकी खोजमें लग जाता है या अपने परम प्रेमास्पदसे अभिन्न होनेकी लालसा लेकर प्रेमपथका पथिक बन जाता है।

जो चित्त विचारप्रधान होता है, वह जब विषयोंसे विमुख होता है, तब उसे इस दृश्यजगत् और जगत्कर्ताके विषयमें तरह-तरहके संदेह होने लगते हैं। यही है आत्मकृपा; क्योंकि जिस विश्व-प्रपञ्चमें अन्य जीव रचे-पचे रहते हैं, उसमें अनासक्ति होकर उसे सत्यकी जिज्ञासा जाग्रत् हो जाती है। जब उसकी यह संदेहकी वेदना असह्य हो जाती है, तब भगवत्कृपा गुरुदेवके रूपमें उसके आगे अवतरित होती है। गुरुदेव विवेकरूपमें तो पहले ही उसके अन्तःकरणमें विराजमान थे ही, अब प्रत्यक्ष मानव-मूर्ति होकर भी उसके आगे प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मकृपा, भगवत्कृपा और गुरुकृपा—तीनोंका सहयोग होनेपर उसपर शास्त्रकी भी कृपा होती है। शास्त्र किसी ग्रन्थविशेषका ही नाम नहीं है। गुरुदेव जो उपदेश या अनुशासन करते हैं, वह भी शास्त्र ही है। उसका रहस्य हृदयंगम होने लगे—यही है शास्त्रकृपा। इस प्रकार चारों कृपाओंका संयोग जुटनेपर निःसंदेहता प्राप्त होती है। इससे उसके अंदर रहनेवाली जड-चेतनकी ग्रन्थि कट जाती है और उसके समस्त संदेह निवृत्त हो जाते हैं, फिर जिस वस्तुकी उसे उपलब्धि होती है, वही है सर्वाधिष्ठानभूत परमार्थ सत्य। वही परमपद है और प्यारे मानव! वही तेरा परम और चरम अधिकार है। वह तेरी अपनी ही वस्तु है, तुझे जो सदा प्राप्त है, अविवेकके कारण केवल तेरी आँखोंसे ओझल हो रहा है। जब वह मिल जाती है तब क्या होता है—जानता है? फिर और कुछ भी जानना या पाना शेष नहीं रहता, उससे बड़ा और कोई लाभ दिखायी नहीं देता और बड़ी-से-बड़ी आपत्ति भी उसे एक खिलवाड़-सी जान पड़ती है।

यह हुई विचारप्रधान चित्तोंकी बात। किंतु कोई चित्त भावप्रधान होते हैं। उन्हें अपने साध्यके विषयमें कोई संदेह नहीं होता। उनका हृदय स्वभावसे ही उसकी ओर आकर्षित रहता है और वे उसके साथ घुल-मिलकर एक हो जानेके लिये लालायित रहते हैं। जब वे विषयोंसे विमुख होते हैं, तब सब प्रकारके सांसारिक सम्बन्धोंको छोड़कर प्रभुसे ही नाता जोड़ते हैं। इस प्रकार अन्य सब आश्रयोंको छोड़कर वे भगवदाश्रित हो जाते हैं। यह आश्रय अनेक प्रकारके भावोंमें परिणत होकर प्रेमका रूप धारण कर लेता है। फिर तो प्यारेके साथ प्रेमका आदान-प्रदान करते हुए जो भी लीला होती है, उसमें प्रेम ही स्थायीभाव होता है। उस लीलाका कभी अन्त नहीं होता। उसमें जिस अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं अप्राकृत आनन्दका, वह आस्वादन करता है, इस सम्पूर्ण विश्वका सुख उसके एक कणकी भी तुलना नहीं कर सकता। मोक्षका सुख भी उसके सामने नगण्य है। वह आनन्द नित्य-नवीन और निरन्तर बढ़नेवाला होता है। उसमें न कभी तृप्ति है न पूर्ति, निरन्तर वृद्धि-ही-वृद्धि है। उस प्रभुप्रेमीकी सृष्टि अलग ही होती है। देहदृष्टिसे इस प्राकृत प्रपञ्चमें दिखायी देनेपर भी वह सर्वदा चिन्मय भावजगत्में ही विचरता है। उस चिन्मय लोकमें जो रसमयी लीला होती है, उसमें भक्त, भगवान् और परिकरका भेद केवल लीलामात्र ही होता है। वहाँ धाम, धामी और लीला—सब रसरूप ही हैं। वह रस चिन्मय है। चिन्मय भी उसे लीला-लोकमें ही कहा जाता है, वास्तवमें तो वह चिन्मात्र ही है। इस प्रकार जिज्ञासुको अपना परम लक्ष्य प्राप्त होनेपर जिस सर्वाधिष्ठान-भूत चिन्मात्र तत्त्वकी उपलब्धि होती है, वही अपने प्रेमी भक्तको दिव्य चिन्मय प्रेमरसका आस्वादन करानेके लिये रसरूपसे अभिव्यक्त होता है। वस्तु एक ही है, केवल उपलब्धि और आस्वादनका ही भेद है। सुवर्ण और आभूषणमें तथा जल और समुद्रमें जैसे तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानीको उपलब्ध होनेवाले परब्रह्म और प्रेमीको प्राप्त होनेवाले रसस्वरूप भगवत्तत्त्वमें भी कोई भेद नहीं है।

जिस महाभागको इस परमपदकी प्राप्ति हो जाती है, उसका अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता। वह तो इस अनन्त और अखण्ड तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है। सब प्रकारकी अहंता गल जानेपर ही इस चिन्मय अमर पदकी अनुभूति होती है। अहंताने ही इस चिन्मात्र अभय पदमें जड़ता एवं मृत्युका भास कराया है। सम्पूर्ण प्रपञ्चका निषेध होनेपर ही इसकी अनुभूति होती है, अतः यह सर्वातीत है। किंतु अनुभव हो जानेपर यही सर्वरूप जान पड़ता है। इस प्रकार सर्वातीत ही सर्व है। सर्वातीत ही परब्रह्म है और सर्व ही भगवान् वासुदेव हैं। ये सर्वमय भगवान् वासुदेव ही भावुक भक्तोंको अलौकिक भाव-रसका आस्वादन करानेके लिये चिन्मय धाम, धामी और परिकरके रूपमें प्रकट हैं। अतः तत्त्वज्ञानियोंका परब्रह्म ही भक्तोंके भगवान् हैं। जिस प्रकार परब्रह्मका ज्ञान होनेपर कुछ जानना शेष नहीं रहता, उसी प्रकार भगवान्की प्राप्ति हो जानेपर भी कुछ और पाना नहीं रहता, क्योंकि सब कुछ उन्हींका तो दृष्टिविलास है। भोले मानव ! जीवनका परम लाभ समझकर जिन पद, प्रतिष्ठा और राज्य-वैभव आदिके पीछे तू भटक रहा है, उनका महत्त्व तो तेरी आसक्तिका ही चमत्कार है। तूने मोहवश अपना मूल्य घटाकर ही उनकी महिमा बढ़ायी है। प्यारे ! वे सब तेरी ही छाया हैं। जो व्यक्ति सूर्यसे विमुख होकर अपनी छायाको पकड़नेके लिये दौड़ता है, वह कभी उसे पकड़ नहीं पाता; किंतु यदि छायासे मुँह मोड़कर वह सूर्यकी ओर बढ़ने लगे तो छाया उसके पीछे लग जाती है। यही दशा इस मायाके विलासकी है। जो इसे पकड़ना चाहता है उससे यह दूर भागता है और जो इसकी ओरसे मुँह मोड़कर मायापतिकी ओर बढ़ने लगता है, उसके पीछे यह स्वयं लग जाता है। परंतु वह कभी इसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। अतः जिन वस्तुओंके लिये आज तू भटक रहा है, अपने उस वास्तविक अधिकारपर अभिषिक्त हो जानेपर तो वे सब तेरा पानी भरेंगी। इसलिये सबकी मोह-ममता छोड़कर तू अपने उस निजधामकी ओर चल।

अपने इस वास्तविक अधिकारको पानेमें तुझे किसी प्रकारकी पराधीनता भी नहीं है। यह तेरी निजी सम्पत्ति है, तेरे पास ही है, तुझे प्राप्त ही है। केवल अन्य वस्तुओंकी आसक्तिसे ही तुझे इसकी अप्राप्तिकी भ्रान्ति हो रही है। उस भ्रान्तिकी निवृत्ति ही इसकी प्राप्तिका साधन है। भ्रान्तिकी तो वास्तवमें अपनी कोई सत्ता ही नहीं होती; और जिसकी सत्ता ही नहीं, उसकी निवृत्तिमें परिश्रम भी क्या हो सकता है। न इसके लिये किसी प्रकारके संग्रहकी ही अपेक्षा है। अतः इसे प्राप्त करनेमें तू सर्वथा स्वतन्त्र है, इसे पानेके लिये ही तुझे यह शरीर मिला है और इसे पानेपर तुझे और कुछ पाना शेष नहीं रह जायगा। फिर तू अपनी इस अक्षय निधिको छोड़कर और कहाँ भटक रहा है ?

'सनातन'

मानवताका आदर्श 'परहित'

(लेखक—महात्मा श्रीरामदासजी महाराज)

परम करुणावरुणालय भगवान् श्रीरामजीकी अहैतुकी कृपासे यह मानव-शरीर मिला है, इसे पाकर उनके आज्ञानुसार न चलना उनकी कृपाकी अवहेलना करना है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

सुर-दुर्लभ मानव-शरीर जिसे प्राप्त हुआ है, वह बड़ा भाग्यशाली है। इस शरीरके समान कोई शरीर नहीं। चराचर जगत्के जीव यह चाहना करते हैं कि हमें मानव-शरीर प्राप्त हो जाय तो हम संसारके पाप-तापसे छुटकारा पाकर अक्षय सुख और परम शान्तिको प्राप्त कर लें।

जिन्हें मानव-शरीर प्राप्त है, वे हृदयको टटोलकर देखें कि हम मानवताकी ओर बढ़ रहे हैं या दानवता अथवा पशुताकी ओर ?

श्रीरामचरितमानसके चरित-नायक भगवान् श्रीराममें मानवके पूर्ण लक्षण विद्यमान हैं, उनके चरित्र और उपदेशका अनुकरण करना मानवताको सुगमतासे प्राप्त कर लेना है। यदि मानवता हृदयसे दूर हो गयी तो निश्चित समझिये कि मानव-शरीरसे दूर होकर तिर्यक्-योनियोंमें जाना पड़ेगा। पितृभक्ति, मातृभक्ति, देशभक्ति, संत-गुरु-भक्ति, परस्पर प्रेम, क्षमा, शील, सत्य, कोमलता, कर्तव्य-पालन, इन्द्रिय-निग्रह—यह दैवी सम्पत्तिकी धारणा ही मानवता है। ये सभी गुण धारणामें न आवें तो जितना भी मानव-धर्म आचरणमें लाया जा सके, उत्तम है। धीरे-धीरे सब गुण अपने-आप आते जायँगे। संतोंने सीधे शब्दोंमें उपदेश देकर मानवोंको मानव बनाया है।

पूर्वकालमें दतिया (सेंवढ़ा)-नरेश पृथ्वीचंदमें सत्सङ्गके फलस्वरूप वैराग्य होने लगा। रानी साहिबाको चिन्ता हुई कि ये साधु न बन जायँ। उस समय 'अनन्यजी' एक प्रसिद्ध संत थे, जो पहले उन्हींके राज्यमें पटवारी थे। उनके पास समाचार भेजा गया कि आप हमारे पतिको उपदेश देकर सन्मार्गपर लगायें। 'अनन्यजी' ने कह दिया—हम आसनपर आनेवालेको ही उपदेश करते हैं, दूसरेके आसनपर नहीं जाते। रानी साहिबा एक दिन राजाको लेकर उनके यहाँ पहुँचीं। ये पैर फैलाकर लेटे थे। राजाने कहा—'पैर कबसे पसारे ?' अनन्यजीने कहा, 'जबसे हाथ समेटे।' राजा प्रभावित होकर बैठ गये। तब उन्होंने उपदेश दिया, जो 'राजबोध' नामक पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित है। उसमेंसे प्रेमियोंके मनन करने योग्य दो कविताएँ, जो हमारे रामको प्रिय लगीं, यहाँ लिखे देते हैं।

नसऊ माहिं संदेह नहीं, नर भया कुसंगति कच्चा।
अपने घर की खबर नहीं, तू नारायणका बच्चा ॥

कैसा ही नास्तिक हो, ईश्वरको न मानता हो, उसका शजरा खानदानी बनाया जाये। यदि वह अपने बापको मानता है तो बापका बाप, बापका बाप लिखते-लिखते नारायणतक पहुँच जायगा; क्योंकि सभी नारायणके बच्चे हैं। तब वह अपने-आपको पहिचान जायगा कि हम कौन हैं।

तन कर मन कर बचन कर्म कर दुःख न काहू देनौ।
सौ बातन की एक बात है, नाम धनी कौ लेनौ ॥

किसीको तन-मन-वचनसे पीड़ा मत पहुँचाओ—'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई'। गवालियरमें एक फकीर ऐनसाह हुए हैं, उन्होंने एक कुण्डलियामें कहा है—

दिल किसीका मत दुखा, जी चाहे सो कर।
मान यार ! इस बातको, दिल अल्लाहका घर ॥
दिल अल्लाहका घर, यार ! घट-घटमें अल्ला।
जीवोंका कर भला, मान ले मेरी सल्ला ॥
ऐन खुदासे मिलनका रास्ता है यह नर।
दिल किसीका मत दुखा, जी चाहे सो कर ॥

अन्तमें राजाको यह निश्चय कराया कि 'सबकी सेवा करते हुए मालिककी याद करो। याद है तो आबाद है, भूल है तो बरबाद है। आप याद करोगे तो लौटकर दया प्राप्त होगी, जीवन सुख-शान्तिमय बन जायगा। उपदेश ग्रहण करके राजाने राज्यका कार्य सँभाला, फिर तो एक-एक करके सभी दैवी गुण उनमें आने लगे। राजाका जीवन रसमय बन गया।

श्रीरामचरितमानसमें 'परहित' को सर्वोपरि धर्म बताया है—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।'

श्रीगोस्वामीजीने दो प्रकारके जीवोंको एक ही सुन्दर सुगम 'परहित' रूप साधन बताया। अधिकांश प्राणी कामके गुलाम हैं, काम-कामी हैं। श्रीमानसमें कामदेवसे देवताओंने प्रार्थना की कि भगवान् शंकरपर चढ़ाई करो,

जिससे वे विवाह करें और फलतः उन्हें पुत्र हो तथा तब उसके द्वारा तारकासुरका वध हो। कामदेव घबराये कि शिव-विरोधसे निश्चित ही मृत्यु है, पर यह विचारकर कि—

परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥

उसने शंकरजीपर चढ़ाई कर दी और उनकी नेत्राग्निसे भस्म हो गया। रतिके रुदनसे दयार्द्र होकर शंकरजीने वर दिया—'कृष्ण तनय होइहि पति तोरा'। फलतः श्रीभगवान्‌की गोदमें पुत्र बनकर सुख प्राप्त किया—यह 'परहित'का ही परिणाम मिला। अब श्रीरामजीके सम्बन्धमें श्रीगृध्रराजजीको देखिये—उन्होंने जगत्-जननी श्रीजानकीजीके लिये 'परहित'में अपना बलिदान किया, श्रीराघवेन्द्र सरकार सजल-नेत्र होकर कहने लगे—'हे तात! आपने अपने कर्मसे गति प्राप्त की है। वह कर्म क्या है। इसपर भगवान् श्रीरामके सम्बन्धी विचार करें। श्रीमुख-वाक्य है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

जटायुजीने प्रभुकी गोदमें स्थान प्राप्त किया और श्रीहरि-रूप पाकर प्रार्थना करके हरिधामको पधारे। चाहे कोई कामके गुलाम हों, चाहे भगवान् श्रीरामके गुलाम हों, 'परहित' करनेसे प्रभुकी गोदमें स्थान प्राप्त होता है। पर आज-कल स्वार्थका बोलबाला है, जिससे मानव दानव और पशुसे भी गया-बीता होता जा रहा है। श्रीप्रभुने हमें दो नेत्र दिये हैं, उनका सदुपयोग करो—

दो नैनोंका यहीं सँदेस, यह भी देख कुछ, वह भी देख।
देखत-देखत इतना देख, मिट जाय दुविधा, रह जाय एक ॥

मानवता और आध्यात्मिक साम्यवाद

(लेखक—स्वामीजी श्रीओंकारानन्दजी स० द०, वेदान्तशास्त्री)

मानवकी महत्ता प्राणिमात्रकी अपेक्षा सर्वोपरि सिद्ध है, यह सुनिश्चित सिद्धान्त है। किंतु जब इसमें निजी चेतना या स्वारस्यका संतत समुद्भास होता है, तभी इसके उच्चतम व्यक्तित्वकी गणना की जाती है। अन्यथा आहार-निद्रा-भय-भोग-परायण जीवन पशुसे भी निकम्मा सिद्ध होता है।

मानवताका अर्थ है, मानवमें रहनेवाला मानवीय व्यापार—मानवोचित चेष्टा या क्रिया। मानवकी सद्भावनाओं-का या निजी उत्कर्ष अर्थात् स्वीय धर्मका जहाँ समुचित विकास होता है, वहीं मानवता है। जिसमें मनुष्येतर पाशविक, पैशाचिक या आसुरी क्षुद्र धर्मोंका सर्वथा संकोच होता है, उत्तरोत्तर जहाँ पतनसे उत्थानकी ओर, नानात्वसे एकत्वकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, मृत्युसे अमृतत्वकी ओर, अनित्यसे नित्यकी ओर, निखिल दुःख-द्वन्द्वोंसे सतत आनन्दकी ओर, मनुष्यत्वसे देवत्वकी ओर, मायासे महेश्वरकी ओर मानवचेतना प्रवाहित होती रहती है, वह मानवता है।

नरसे नारायण अथवा जीवसे शिवस्वरूप होनेकी कला मानवतामें सर्वथा विद्यमान है। धीरता, वीरता, सहिष्णुता, जितेन्द्रियता, पवित्रता एवं सच्चरित्रता मानवताके ही प्रतीक हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया, दाक्षिण्य आदि धर्मोंके धारण करनेकी जहाँ सतत प्रेरणा प्राप्त होती रहती है, वह मानवता है। विद्या, विनय, संतोष, सरलता, समदृष्टि, स्वार्थपरित्याग, मन-वाणी और शरीरका संयमरूप तप, सदाचार, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति आदि सद्गुणराशिका समावेश मानवतामें ही हुआ है। मानवमात्रमें सम्भावनीय सर्वजन-हितैषी, सर्वजनवाञ्छनीय ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न मानवतासे सम्बन्ध रखते हैं।

विधाताके विविध सर्गोंका सृजन हो जानेपर भी मानवीय सर्गके बिना उन्हें असंतोष ही रहा। उस निर्विकार निराकार ईश्वरने भी मनोहर मानवीय विग्रह निजके लिये पर्याप्त माना।

यों तो मानवमें रहनेवाले उत्तम-अधम गुण-दोष, क्रिया, जाति, स्वभाव, सहजधर्म आदि सभीको मानवता कहा जा सकता है; क्योंकि भाव या क्रिया अर्थमें ही 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होते हैं। जिनसे मनुष्यत्व, मानवत्व या मानवता शब्दकी सिद्धि होती है, परंतु लोकमें प्रत्यक्ष है—यदि कोई व्यक्ति मर्यादाविरुद्ध—जो आचरण पशुतुल्य पैशाचिक कृत्यरूपमें होता है—*करने लगता है तो समाज* उसकी 'क्या यही मानवता है?' 'इसे क्या मनुष्यता कहेंगे?'—इत्यादि शब्दोंसे कड़ी आलोचना करता है। इससे सिद्ध है कि मानवमें अन्य प्राणियोंके समान—बीभत्स, भयंकर, कुत्सित प्रवृत्तियाँ भी देखी जाती हैं। अतः उन्हें मानवता नहीं कहा जायगा। सारांश यह कि जो

स्वयंकी, परिवारकी एवं समाजकी हितकारिणी लोक-परलोकोपयोगी शुभ प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं, उन्हें ही मानवता कहा जा सकता है।

व्यक्तिमें वैचित्र्य स्वाभाविक है। प्रकृतिप्रदत्त गुणोंके तारतम्यसे जगत्‌में विषमता अवश्य रहेगी, जो व्यवहारोपयोगी होते हुए लोक-परलोक दोनोंसे सम्बन्ध रखती है। यह कभी न मिटी, न मिटेगी। विचारकर देखा जाय तो लोकमें प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले भेद या विषमता जन-समाजको बाधा नहीं पहुँचाती। बाधक है केवल आन्तरिक वैषम्य, जिससे प्राणिमात्र सर्वदा संत्रस्त रहते हैं।

यहाँ प्रत्येक व्यक्तिका आकार भिन्न, रुचि भिन्न, आचार भिन्न; किंबहुना बल, बुद्धि, इच्छा, क्रिया, गुण, संस्कार, भोग, योग्यता, सम्बन्ध, स्वभाव आदि सभी भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, जो सहज और स्वाभाविक है। विश्वमें संघर्ष इन भेदोंसे नहीं होता; किंतु जब मानवकी आन्तरिक विचारधारा मलिन होकर मानवताकी ओर प्रवाहित न होती हुई दानवता या पशुताकी ओर अग्रसर होने लगती है, तभी अशान्त दुःखदायी वातावरण संसारमें फैलने लगता है। अतः मानवकी सहज प्रवृत्ति सम-विषम उभयरूप है।

कामातुर पशु माता, भगिनी, पुत्री आदिका कुछ भी विवेक नहीं रखता। क्षुधातुर हुआ जिस किसीके खेतमें, घरमें, उपवनमें प्रविष्ट होकर सब कुछ निगलने लगता है। क्रोधावेशमें वही बाल-वृद्ध, नर-नारी, कुमार-कुमारी आदि किसीका कुछ ध्यान न रखकर सभीको दबोचने लगता है। दण्ड पानेपर भी छलसे अपनी चेष्टाएँ किया करता है। सर्वस्वापहारी, सर्वभक्षी दानवीय या आसुरी स्वभावमें भोगलिप्सा, स्वार्थपरता, सर्वाधिकारिता, क्रूरता, अनुचित कामुकता, अहंता, ममता आदि दुर्गुणराशि भी कूट-कूटकर भरी रहती है। इन सभी दुर्गुणोंसे मानव भी जब आक्रान्त होने लगता है, तब उसमें मानवताका दर्शन नहीं होता। इससे सिद्ध है—मानव अपनी प्रकृतिमें सर्वदा स्थित नहीं रहता, किंतु अन्य प्राणियोंके गुण-धर्मोंका भी इसपर पूर्ण प्रभाव होता है, जिससे मानवमें उक्त वैषम्य स्वाभाविक है।

इतना होनेपर भी मानवमें एक आदर्श शुभ साम्य है, जो केवल आध्यात्मिक स्तरपर ही परिनिष्ठित है। वह सत्य है, जिसके सिद्ध होनेपर ही विश्वमें वास्तविक सुख और शान्तिका साक्षात्कार होता है, जिसकी सदैव मानव-समाजको आवश्यकता रही और है। मनुष्य उसका यदि सर्वत्र दर्शन करने लगे, निस्संदेह संसारसे वैर-विरोध, हिंसा-प्रतिशोध, ईर्ष्या-कलह, घृणा और द्वेष आदि दुर्गुणोंका डेरा ही उठ जाय। तथ्य तो यह है कि मनुष्य यदि अपने वास्तविक स्वरूपको पहचान ले तो उसके सम्पूर्ण दुःख-द्वन्द्वोंकी निवृत्ति और निर्बाध निजानन्दकी सहज ही प्राप्ति उसे हो जाय, जिसके अभावमें ही सर्वत्र दीनता-हीनता छायी रहती है।

वह समता क्या है, जिसे हम आध्यात्मिकरूपसे ग्रहण करना चाहते हैं? उसके लिये सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णकी सुमधुर वाणी गीतारूपमें श्रवण करें। उन्होंने मानवमात्रको लक्ष्य करते हुए जिसका उपदेश दिया, जो वास्तविक साम्यवादकी रूपरेखा है, जिसके अपनानेसे ही हम सच्चे साम्यवादी होनेका सौभाग्य प्राप्त करते हैं, जो किसी मतवाद या वैयक्तिक सिद्धान्तपर अवलम्बित नहीं अपितु विश्वको अनुपम देन है, वह है—

गीतामें साम्यवाद

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५।१८)

'विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें, गायमें, हाथीमें, कुत्ते और चाण्डालमें पण्डितगण समका दर्शन किया करते हैं।'

सद्-असद्-विवेकवती बुद्धिको मनीषियोंने पण्डा कहा है; वह जिन्हें प्राप्त है, वे पण्डित कहे जाते हैं। ऐसे पण्डित ही सर्वत्र साम्यका दर्शन करते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो विषमता स्पष्ट दिखलायी देती है। कुत्ते और हाथी आदिके शरीरोंका पार्थक्य अति स्थूल है। पशु और मानवकी विभिन्नताएँ सिद्ध हैं। मानव इनके स्थूल आकारोंका, जाति और स्वभावका एवं गुण और धर्मोंका किसी भी प्रकार साम्य नहीं देखता। मनुष्यका खाद्य अन्य, पशुका अन्य; पशुओंमें भी कुत्तेका भिन्न, हाथीका भिन्न तथा गौका भिन्न। उनके परिमाणमें विभिन्नता। मानवका स्थान भिन्न, पशुका भिन्न, उनके उपयोग विभिन्न तथा आकार-प्रकारमें भी बड़ा भेद। भगवान्‌का उपदेश निर्दिष्ट उन्हीं प्राणियोंतक सीमित नहीं। अपितु मानवके सम्पर्कमें आनेवाले उत्तम, अधम, सात्त्विक, तामसादि गुण-विशिष्ट सभी जीवोंमें वे समदर्शन-की शिक्षा दे रहे हैं, जब कि प्राणिमात्रमें शरीर सबके विषम, इन्द्रियाँ विषम, प्राणादि-व्यापार विषम, सबके मन विषम, बुद्धितत्त्व भी विषम और व्यक्तिमात्रका अहंभाव विषम अर्थात्

भिन्न है। स्थूलशरीरसे अहं पर्यन्त, जब सभी विषम सिद्ध हैं तब प्रश्न होता है—समत्व क्या है ? उत्तरमें कहना होगा—समस्त अनात्मवर्गको छोड़कर केवल आत्मतत्त्व ही समतत्त्व है, जो सदैव एकरस और सर्वत्र समान सिद्ध होता है।

अतः समदर्शनका अर्थ है, जो सम तत्त्व है, उसका दर्शन; क्योंकि विषमको सम देखना श्यामको श्वेतवर्ण देखने-जैसा है। जो केवल भ्रम ही होता है, वस्तुस्थिति नहीं। इसीको स्पष्ट करते हुए भगवान्‌ने स्वयं अगले मन्त्रमें कहा है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' अर्थात् वास्तविक समतत्त्व ब्रह्म ही है, जो सर्वथा निर्दोष है। अतएव प्राणिमात्रमें एक ही तत्त्वका दर्शन करना वास्तविक समदर्शन है।

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म इत्यभिधीयते।

'स्वयं महान् होनेसे और चराचरको महान् सिद्ध करनेवाला होनेसे वह ब्रह्म कहा जाता है।' उसी सच्चिदानन्द ब्रह्मको सभी निगम-आगम ईश्वर, वासुदेव, शिव, नारायण, आत्मा, चेतन-तत्त्व, पारमार्थिक वस्तु आदि नामोंसे संकेतित करते हैं। उस ब्रह्मको ही चराचर विश्व-ब्रह्माण्डमें समानरूपसे देखना यथार्थ समदर्शन है। सभी शुचि शास्त्र इसका मुक्तकण्ठसे उपदेश दे रहे हैं—ईशावास्यमिदं सर्वम् (ई० उ० १)। 'यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरसे व्याप्त है।' सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० उ० ३। १४। १)। 'निस्संदेह यह सब ब्रह्मस्वरूप ही है।' पुरुष एवेदं सर्वम् (पु० सू० २) 'यह सब पुरुष ही है।' सर्वत्र परिपूर्ण होनेसे अथवा पुरनाम शरीरोंमें शयन करनेके कारण परमात्माको पुरुष कहा जाता है। वासुदेवः सर्वमिति (गीता ७। १९)। 'सब कुछ वासुदेव ही है।'

वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासत्वाद् वासुदेवः स उच्यते॥

'भगवान् वासुदेवके सर्वत्र बसनेसे तीनों लोक उनसे व्याप्त हो जाते हैं। अतः समस्त भूतोंमें निवास करनेसे ही वे वासुदेव कहे जाते हैं।'—इत्यादि।

इसी समदर्शनको भगवान्‌ने गीताके छठे अध्यायमें और भी स्पष्ट किया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(२९)

'समदर्शी योगयुक्त महापुरुष सर्वत्र सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको और सब भूतोंको आत्मामें स्थित हुआ देखते हैं।' भगवान्‌को आत्मा और ब्रह्मका ऐक्य अभीष्ट है। तभी वे पहले 'ब्रह्म' शब्दसे निर्देश करके उसीका 'आत्मा' शब्दसे वर्णन करते हैं। खाँडके खिलौनोंमें माधुर्यके समान, बर्फमें जलके समान, त्रिभुवनव्यापक भानुके प्रकाशके समान, सर्वत्र व्याप्त आकाशके समान प्राणिमात्रमें यह आत्मतत्त्व विद्यमान है। वही उसका वास्तविक स्वरूप है। तथा पाषाण-खण्डमें कल्पित कलाके समान, सुवर्णमें आभूषणोंके समान, जलमें तरङ्गोंके समान, स्वप्नद्रष्टामें तत्कालीन दृश्यके समान सम्पूर्ण प्राणी उसी आत्मामें स्थित हैं। समदर्शी ऐसा निश्चितरूपसे अनुभव करता है। उसे भगवान् 'योगयुक्तात्मा' कहकर उसकी विशेषता बतलाते हैं। असलमें इस दर्शनके अभावमें अपने प्रियतम निज प्रभुका वियोग ही प्राणियोंको बना रहता है। मानव जब उसका सर्वत्र साक्षात्कार करने लगता है, तब वह वियोग योगरूपमें परिणत हो जाता है; क्योंकि जीवात्माका परमात्मासे मिलनरूप योग ही वास्तविक योग है। अतएव समदर्शीके लिये 'योगयुक्तात्मा' विशेषण अत्यन्त समीचीन है।

निरात्मक वस्तुका कोई अस्तित्व नहीं होता। जो-जो अस्तित्व प्रतीत होते हैं, उनमें आत्माकी स्थिति है। अतएव वे जाने जाते हैं और प्रिय भी होते हैं। इसलिये चराचरमें सच्चिदानन्दरूप आत्मतत्त्व सर्वत्र अनुभूतिका विषय है।

'दृश्यते वस्तु तत्त्वं अनेन' इति दर्शनम्।

'जिससे सत्यका साक्षात्कार किया जाता है, वही दर्शन है।' विश्व-ब्रह्माण्डको वासुदेवरूप देखनेसे बढ़कर और क्या साम्य होगा। यह तो दर्शनकी पराकाष्ठा है, जहाँ जीवकी दृष्टि सार्थक हो जाती है।

यह है सच्चा आध्यात्मिक साम्यवाद—आन्तरिक समदर्शन। सभी प्राणियोंमें वास्तविक आत्मीयता सिद्ध होनेपर विवेकी जन आंशिकरूपसे बाहर भी समदर्शन करते हैं। बाह्य दृष्टिसे प्राणिमात्रके शरीर पञ्चभूतोंके ही परिणाम प्रतीत होते हैं। सभी पञ्चभूतके पुतले हैं। कहा भी है—

स्वर्गे मर्त्ये च पाताले यत्किंचित् सचराचरम्।
तत्सर्वं पाञ्चभौतिकं षष्ठं किंचिन्न विद्यते॥

अतः प्राणिमात्रके शरीरोंकी उपादानमूलक समता प्रत्यक्ष सिद्ध है। उनमें होनेवाले सुख-दुःख, क्षुधा-पिपासा, आधि-व्याधि, जरा-जन्म-मृत्यु आदिको भी विवेकी अपने शरीरके ही समान देखता है। अपनी सुख-सुविधाके अनुसार उन्हें

भी पूरी सुख-सुविधाएँ देना, अपने शरीरकी रक्षाके साथ ही प्राणिमात्रकी रक्षामें सदैव सावधान रहना समदर्शन है। यह आधिभौतिक साम्य भी बड़े महत्त्वकी वस्तु है, जो आध्यात्मिक साम्यकी सुस्थिर भूमिकापर ही समारूढ़ होता है। बाह्याभ्यन्तर-भेदसे दोनों ही समदर्शीको उपादेय हैं।

इसी आध्यात्मिक साम्यवादको व्यवहारमें उतारनेके लिये भगवान्‌की प्रेरणा है। वे कहते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गीता ६।९)

'सुहृद्, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, अप्रिय एवं प्रिय बन्धुजनोंमें, पुण्यशाली और पापीजनोंमें समदृष्टि रखनेवाला श्रेष्ठ कहा जाता है।' यहाँ भी भगवान् सर्वथा विषम वातावरणमें समताकी सीख दे रहे हैं। इसका आशय यही—मानव केवल अपने स्वार्थसाधक प्रिय बन्धु सुहृद्‌के प्रति ही सद्भावना न रखे, अपितु जो अपने विरुद्ध प्रतीत होते हैं, उनमें भी आत्मीयताका अपूर्व आदर्श स्थापित करे।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

'मनीषियोंने यह मेरा, यह अन्यका यों समझनेवालेकी क्षुद्र जीवोंमें गणना की है। उदारचरित्र महामानव सम्पूर्ण वसुधातलपर पले प्राणियोंमें पारिवारिक दृष्टि रखकर समदर्शी हुआ करते हैं।'

यह समदर्शन योगदर्शनमें जहाँ—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

'सुखीजनोंके साथ मैत्री, दुखी प्राणियोंपर करुणा, पुण्यशालियोंमें प्रसन्नता एवं पापाचारियोंके प्रति उपेक्षाकी भावनासे चित्त प्रसन्न रहता है, यह कहकर भिन्न-भिन्न दृष्टियोंका अवलम्बन करनेकी बात योगीको कही। उससे भी बढ़कर भगवान् सर्वत्र समताको बतला रहे हैं, जिसकी प्रशंसा—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गीता १३।२७)

—यह कहकर भगवान्‌ने की है। 'सम्पूर्ण चराचरमें समरूपसे विराजमान परमेश्वरको अर्थात् विनाशी वस्तुओंमें एक अविनाशी तत्त्वको देखनेवाला ही यथार्थ देखता है।' अन्यत्र भी कहा है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।

'सभी प्राणियोंको अपने आत्माके समान देखना ही यथार्थ देखना है।' इसीका अभ्यास गीतामें सर्वत्र भगवान्‌को अभीष्ट है—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति', 'समोऽहं सर्वभूतेषु', 'सर्वत्र समबुद्धयः', 'समः सर्वेषु भूतेषु'—इत्यादि।

साम्यवादसे लाभ

यह आध्यात्मिक साम्यवाद भारतीय दर्शनोंका प्राण है। इसके सफल होनेपर निस्संदेह विश्व सच्चे सुख-शान्तिमय स्वाराज्य-सिंहासनपर समासीन हो सकता है। भगवान् स्वयं इसका महत्त्वपूर्ण फल-निर्देश कर रहे हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(गीता ५।१९)

'जिनका मन इस साम्यवादमें सुस्थिर हो गया, उन्होंने जन्म-मरणकी परम्परारूप सृष्टिपर विजय प्राप्त कर ली, अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये; क्योंकि उन्होंने दोषरहित ब्रह्मको ही सर्वत्र समरूपमें अपनाया। अतः वे सभी अवस्थाओंमें उस परब्रह्ममें ही अवस्थित रहते हैं। इससे बढ़कर और क्या फल होगा। इसके साथ ही समदर्शीके शोक-मोह, घृणा, राग-द्वेष और वैर-विरोध आदि भी सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ई० उ० ६-७)

'जो सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें और सबमें आत्माका दर्शन करता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता। जहाँ सभी भूत आत्मरूप ही हो गये, वहाँ एकत्वका दर्शन करनेवाले विद्वान्‌को शोक और मोह कहाँ।' संतशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ।

वैर-विरोध आदि अपनेसे भिन्नके साथ ही हुआ करते हैं।

सर्वत्र आत्मीयता सुस्थिर हो जानेपर वे कैसे टिक सकते हैं।

इस साम्यवादके रागी-त्यागी, भोगी-योगी—सभी अभिलाषी हैं। लोग कहेंगे—'यह साम्यवादकी दार्शनिक परिभाषा है। अद्वैतवादकी पराकाष्ठा है। सर्वसाधारणकी वस्तु नहीं। ये तो मुमुक्षुओंके गीत हैं इत्यादि।' किंतु ये कल्पनाएँ भ्रममूलक हैं; क्योंकि हमारा दर्शन व्यवहारमें न उतरा, केवल मानव-मस्तिष्कका व्यायाम ही बना रहा। तब उससे मानवजीवनकी कोई समस्या हल नहीं होगी। 'जानाति इच्छति करोति' सिद्धान्तसे व्यक्तिके ज्ञानके अनुसार इच्छा और उसके पश्चात् क्रिया हुआ करती है। अतएव मानवका आन्तरिक दर्शन या ज्ञाननिष्ठा ही सम-विषम परिस्थिति प्रकट किया करती है। जहाँ आन्तरिक समता है, वहीं शान्ति है और जहाँ शान्ति है, वहीं सुख भी है—जो प्राणिमात्रका ध्येय, श्रेय और परम प्रेय हुआ करता है।

यहाँ किन्हीं महानुभावोंका यह भी कथन है कि 'भगवान्‌ने उपर्युक्त मन्त्रमें समदर्शन कहा है, समवर्तन नहीं।' सो यह उचित ही है। समवर्तन तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। मानवका मानवके साथ भी समवर्तन सिद्ध नहीं होता, फिर अन्यके साथ तो हो ही कैसे सकता है। त्रिगुणात्मक सृष्टिमें प्राणिमात्रका पार्थक्य् स्थूलरूपमें देखा जाता है। वर्ताव या व्यवहार भी जीवजगत्‌की स्थूल वस्तु है। इसमें विषमता होगी ही। कदाचित् मानवके साथ मानव भ्रमसे—हठधर्मीसे समान व्यवहार कर भी लें; किंतु भगवान्‌के दिये उदाहरणमें श्वान, हाथी, गौ आदि भी हैं। उनके साथ मानव कैसे समान व्यवहार करेगा।

मनुष्य अमूल्य वस्तुओंका सेवन करता है—सुन्दर अलंकार, वस्त्र-परिधान, इत्र-चन्दनादि भी ग्रहण करता है। मानवका भोजन बहुमूल्य—सुस्वादुमय होता है। आरामके लिये वह कुर्सी, पलंग इत्यादिका भी उपयोग करता है। अनेक सार्वजनिक महोत्सवोंमें भाग लेता है। क्या हम कुत्ते, हाथी और गौ आदि सभी प्राणियोंको भी इन सब व्यवहारोंमें साथ-साथ लेकर चलेंगे, जो सर्वथा लोक-विरुद्ध प्रतीत होता है? केवल पूर्वोक्त रीतिसे प्राणियोंके स्वरूपानुकूल उन्हें आराम प्रदान करना ही उनके साथ समता या समदृष्टि कहा जायगा।

यहाँ कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'दर्शन अर्थात् आन्तरिक दृष्टि कुछ और, व्यवहार कुछ और—यह तो छल हुआ, समता नहीं। पूरी विषमता ही रही इत्यादि।' किंतु ऐसी बात कहनेवाले गम्भीरतासे विचार नहीं करते। उपर्युक्त समता जब कि आत्मविषयिणी ही सिद्ध होती है न कि स्थूल व्यवहारमयी, तब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि दर्शन कुछ और, व्यवहार कुछ और।

वास्तवमें सर्वत्र समीचीन आत्मदृष्टिसे परस्पर घृणा-मूलक, द्वेषमूलक व्यवहार ही नहीं होते। स्थूल व्यावहारिक भेद अवश्य रहेंगे। वे अशान्ति या क्षोभके हेतु नहीं होते। विवेकीजन मानवमें नर-नारी, बाल-वृद्ध आदिके भेदोंको लेकर क्या उनमें नैतिक, धार्मिक उचित सम्बन्ध नहीं जोड़ते? एक ही स्त्रीमें व्यक्तिभेदसे माता, पत्नी, पुत्री, भगिनी आदि भेद लोकप्रसिद्ध हैं। इनमें एक ही दृष्टि नहीं रखी जा सकती। हमारे एक ही शरीरमें विभिन्न अङ्गोंके विभिन्न उपयोग हैं और उनके साथ भिन्नताका व्यवहार है, यद्यपि सब एक ही शरीरके अङ्ग हैं। अतः समताका व्यवहार नैतिक, आन्तरिक, आत्ममूलक ही होगा। स्थूल व्यवहार विच्छेदक नहीं। निष्कर्ष यही निकला कि हमारे खान-पान, स्पर्शास्पर्श, उत्तमाधम, अधिकार-अनधिकार आदिके भेद समग्र बने रहनेपर भी आन्तरिक समदर्शन बना रहनेसे एक दूसरेके साथ घृणा-द्वेषादि नहीं होते। प्रथम ही कहा जा चुका है—मानव प्राणिमात्रको आत्मदृष्टिसे देखता हुआ अनैतिक व्यवहार नहीं करता, अपितु सदाचारमूलक सुजनता, सहिष्णुता, स्नेह, सौहार्द, सरलता आदि सद्गुण ही प्रकट करता है, जिससे प्राणि-मात्रको परितोष होता है।

आध्यात्मिक साम्यवाद इतना ही नहीं, बल्कि व्यवहारमें आसक्तिके पूर्ण परित्यागका भी मानवको आदेश देता है। किसी वस्तुविशेषके प्रति अहंता-ममता समदर्शीको नहीं होती। वस्तुओंका संग्रह भी उचित मात्रामें ही होता है।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

'जितनेसे मनुष्यकी उदरपूर्ति होती है, उतनेपर ही अधिकार रखे। अधिक संग्रहको अपना माननेवाला चोर दण्ड देने योग्य है।' इन वाक्योंसे संग्रहकी निन्दा की गयी है। अतः समदर्शीका संग्रह स्वार्थके लिये न होकर 'सर्वभूतहिते रताः' की भावनासे होता है। उसके अतिरिक्त—

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन् पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम्॥
(श्रीमद्भा० ७। १५। ६)

मानवके लिये उपदेश है—'अन्नादिका विभाग वह सदैव नियमितरूपसे करे। देवता, पितर एवं अन्य प्राणियोंके लिये, स्वजनोंके लिये और निजके लिये भाग रखते हुए सम्पूर्ण जगत्‌को प्रभुमय ही देखे।' वास्तवमें सभी भगवान्‌के विग्रह हैं।

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।

हमारे यहाँ नित्यकी पञ्चमहायज्ञ-प्रणाली आध्यात्मिक साम्यका सुन्दर उदाहरण है। जहाँ देव, पितर, दानव, मानव, पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि सबके प्रति सद्भावनाएँ व्यक्त करते हुए आत्मीयताका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इससे बढ़कर और क्या साम्य होगा।

जो जग, सो जगदीश, ईश नहिं जगसे न्यारा।
करिये सब से प्रेम, प्रेम भगवत को प्यारा॥

ऐसा समदर्शन ही विश्वमें आदर्शरूप हुआ और हो सकता है, जिससे सारा विश्व विश्व न रहकर विश्वेश्वररूप हो जाता है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

'स्वदेशो भुवनत्रयम्'

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः॥

—आदि सिद्धान्त इसी आध्यात्मिक साम्यवादके मङ्गलमय उद्घोष हैं। यह समदर्शन मानवताकी चरम सीमा है।

मानवताका परित्राता योग

(लेखक—कवि योगी महर्षि श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

आजकी मानवता कृत्रिमताके चाकचिक्यमें व्यस्त है। वैज्ञानिक बुद्धिवादके भ्रममें उसकी अवस्थिति है। बुद्धिका वृथाभिमान उसे चन्द्र और सूर्यकी रचना करनेके लिये प्रेरित कर रहा है। आज मनुष्यने आकाशमें एक छोटा-सा चन्द्रमा उड़ाया है और वह भगवन्निर्मित चन्द्रमासे स्पर्धाका स्वप्न देख रहा है। दो एक महीनेसे गगनमें ५०० मीलकी ऊँचाईपर एक स्पुतिक भ्रमण कर रहा है। इसने संसारमें एक उन्मादपूर्ण हलचल मचा दी है। कुछ व्यक्ति चन्द्रमामें भू-खण्ड मोल लेनेके लिये आगे बढ़ रहे हैं और हम शीघ्र ही चन्द्रमामें अनेकानेक मनुष्योंको देख सकेंगे। तत्पश्चात् मङ्गल ग्रहमें भी उन्हें देखेंगे। चन्द्रमाके मनुष्य मङ्गलमें भी जा सकेंगे और वे अपने साथ इस भूमिके वैर-विरोधोंको ले जायँगे। केवल स्थानका परिवर्तन होगा, मानवके मनका नहीं। वही व्यापारिक स्पर्धा, वे ही शोषण, वही गुटबंदी, वही दलबंदी, वही राजनीतिक चालें, वही योजनामयी भावनाएँ, वे ही क्रान्तियाँ, वे ही शस्त्रास्त्रके विधान और ध्वंसात्मक युद्ध आजके मानवके पीछे-पीछे रहेंगे। भले ही वह ऊँचे-से-ऊँचे स्वर्गमें चला जाय, उसके भवनका शिखर सूर्यकी कान्तिको कम न कर सकेगा और स्पुतिक भी कभी चन्द्रमासे स्पर्धा न कर सकेगा।

(२)

निस्संदेह हम विज्ञानके रचनात्मक लाभोंका स्वागत करते हैं। इसके द्वारा हमने समयकी बचत कर ली है; क्योंकि दूर-दूरके देशोंमें हम शीघ्र ही पहुँच जाते हैं। इसने पृथ्वीको प्रकाशमय कर दिया है। पहलेकी अपेक्षा इसने देशोंको निकटतर कर दिया है। जीवनके विकासको भी अग्रसर किया है। विद्युत्, आकाशवाणी, दूरदृक्, दूरश्रवण, रडार, अति-बैंजनी किरणें, अरुण किरणें, जलयान, वायुयान और रेलसे होनेवाली सुविधाओंका हम उपयोग करते हैं। विज्ञानने अणुका भेदन किया है और उससे महती शक्तिका उपार्जन किया है। जलीय-आणविक (हाइड्रो-ऐटमिक) तथा विश्वसे मिलनेवाली शक्तियों (कॉस्मिक इनर्जीज़) की प्राप्तिसे हमें आश्चर्य होता है। किंतु मानवका एक दूसरा दानवीय पक्ष भी है, जो युगोंसे चली आयी सृष्टिका विध्वंस करनेके लिये प्राण-घातक शस्त्रास्त्र, बम, रॉकेट और टार्पीडो बनानेमें प्राकृतिक शक्तियोंका उपयोग कर रहा है। मैंने अपने यूरोप-वासमें सर्वाधिक प्रगतिशील औद्योगिक नगरी ड्रेस्डनको निराशाजनक ध्वंस-दशामें देखा है। वहाँ मैंने अन्यान्य सुन्दर नगरियोंको भी खंडहरके रूपमें देखा। दो विश्व-युद्ध मानवको शान्तिका पाठ नहीं पढ़ा सके। शक्तिशाली देश बहुतर संहारके उपकरणोंके आविष्कार और युद्धके भयावह शस्त्रोंके निर्माणमें लगे हुए हैं। तृतीय विश्वयुद्धकी अग्नि सुलग रही है। अतलान्तिक द्वीपोंसे रॉकेटद्वारा चलाया हुआ 'पुशबटन हाइड्रोजन बम' प्रशान्त महासागरके तटोंपर सहस्रों निरपराध

व्यक्तियोंको उड़ा देगा। आजकी मानवताकी यह दुर्दशा है।

(३)

पूर्वमें हम देखते हैं कि जाति-भेद, मत-मतान्तर, सम्प्रदाय-भेद और वर्ग-भेदने मानवताको छिन्न-भिन्न कर दिया है। सभी मानव स्वयंनिर्मित अपने-अपने वादोंके दुर्गोंमें बैठकर परस्पर रिपुवत् युद्धमग्न हैं। हम देखते हैं कि मानवीय विचारपर राजनीतिने अपना प्रभुत्व जमा रखा है और हमारी राजनीति उदर-पूर्तिकी सीमाका अतिक्रमण नहीं करती। इसे चाहे राष्ट्रवाद कहें अथवा समाजवाद, साम्यवाद अथवा चाहे और किसी वादके नामसे इसे पुकारें; राजनीतिके पीछे उदरपूर्तिका प्रश्न विद्यमान है और उस राजनीतिका नेतृत्व करती है उच्चताकी आकाङ्क्षा। लेख और भाषणके द्वारा आन्दोलनोंके चलते हुए भी, और वैज्ञानिक विधिसे जीवन-यापन करते हुए भी, हमारे ऊपर दरिद्रताकी दृष्टि लगी हुई है। अन्न कम हो रहा है, मूल्य बढ़ रहा है, हड़तालें हो रही हैं और मजदूर काम कम करने लगे हैं। जो व्यक्ति खेतोंमें काम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है, वह उस कामको छोड़कर सरकारी नौकरीके लिये जा रहा है। जातिगत ईर्ष्या बुद्धिजीवी लोगोंको कुचल रही है। शिक्षापर व्यय कम किया जाता है, जिसके कारण उस विभागके लोगोंमें असंतोष है। पढ़े-लिखोंको काम नहीं मिलता। वे भूखों मर रहे हैं। आत्महत्याकी दुर्घटनाएँ भी होती रहती हैं। वर्ण-धर्म परिहासका विषय बन गया है। राजनीतिक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये मन्दिरों तथा धार्मिक संस्थाओंका दुरुपयोग किया जा रहा है। देशमें सामाजिक और आर्थिक संकट छाया हुआ है!

(४)

शिक्षा राष्ट्रका जीवन है। उसके स्तरमें दयनीय पतन हुआ है। उदात्त गुणोंको ग्रहण करनेसे पूर्व ही बालकोंके मस्तिष्कमें व्यापारिक भावनाएँ भर दी जाती हैं। चर्खे और अङ्कोंको अनावश्यक महत्त्व देनेके कारण शिक्षाका अध्ययन-पक्ष नष्ट हो रहा है। विद्यार्थी ब्रह्मचर्यको और आचार्य मर्यादाको कुछ भी महत्त्व नहीं दे रहे हैं। वे तो अध्यापकोंको आदेश देते हैं और कभी-कभी अशिष्ट विद्यार्थी अध्यापकोंका अनादर भी कर देते हैं। अध्यापक विद्यार्थियोंसे संत्रस्त रहता है। जीवन-यापनके लिये अपर्याप्त वेतन पानेवाला बिचारा शिक्षक आगे पाठ पढ़ानेके स्थानपर असम्भव अनुशासन बनाये रखनेमें ही अपनी सर्वोच्च शक्तिका उपयोग करता रहता है। मैं संसारके सभी उत्तम विश्वविद्यालयोंमें गया हूँ। ऑक्सफर्ड, केम्ब्रिज, ज्यूरिक, बर्लिन, मॉस्को और पैरिस विश्वविद्यालयोंने संस्कृति और अनुशासनको बनाये रखा है, जिससे राष्ट्र और मानवताकी वाञ्छनीय वृद्धि होती है। भारतमें स्तर गिर चुका है। यदि आज विद्यार्थी प्रश्नपत्रको किसी उपायसे जान लेता है तो वह कल अपने कक्षा-कार्यकी ओर ध्यान नहीं देगा। छात्रके उदर और परीक्षककी रंगीन पेंसिलके बीच शिक्षा लटक रही है।

(५)

आज अंधेको भी मानवताकी दुःखद दशाका भान हो सकता है। राजनीति पारस्परिक विनाशकी ओर चल रही है, अर्थशास्त्र शोषणकी ओर उछल रहा है, व्यापार चोर-बाजार-की ओर झपट रहा है, शासननीति मन्त्रिमण्डलके पदोंके चारों ओर नृत्य कर रही है, शिक्षाका ह्रास हो रहा है, संस्कृतिमें विलासिता आ रही है, मानवताकी उपेक्षा हो रही है, मानव केवल इन्द्रियोंके लिये आहार चाहता है, मनके लिये शान्ति और आत्माके लिये प्रकाश नहीं!

(६)

मानवताका आज पतन क्यों हुआ है? इसलिये कि उसने अपना आध्यात्मिक आधार खो दिया है। विज्ञान आधिभौतिक विद्या है। आपका थर्मामीटर तापका मान बता सकता है, किंतु उसमें उपचय और अपचय नहीं कर सकता। बैरोमीटर ऊँचाई बता सकता है, परंतु उसमें परिवर्त्तन नहीं कर सकता। रॉकेटका बम आकाशमें उड़कर गिर सकता है, परंतु सहृदय होकर विचार नहीं कर सकता। मस्तिष्कको संवेदनशील हृदयकी आवश्यकता है। हृदयमें ही उस प्रेमका प्रादुर्भाव हो सकता है, जो समष्टिके साथ एकात्मताका अनुभव कर सके। हृदय ही वह समन्वय स्थापित कर सकता है, जिससे मानवता एक सूत्रमें बँध जाय। एकमात्र एकता ही शान्ति ला सकती है और वह एकता केवल अन्तर्जातीय भोजन और विवाहसे प्राप्त नहीं हो सकती। अन्तःकरणको बदलना पड़ेगा और उसके लिये अपरिहार्य है—योग।

योग वह जीवन है, जो सदा शान्तिमय और आनन्दमय अन्तरात्मासे जुड़ा हुआ रहता है। योग व्यावहारिक सजीव धर्म है। एकमात्र योग ही भौतिक चाकचिक्यके दोषको दूर कर सकता है और साथ ही जीवनके आध्यात्मिक स्तरको भी बनाये रखता है। योग और धर्मका एक ही अर्थ है और

वह है मानवका प्रभुसे सम्बन्ध स्थापित कर देना। मानवीय जीवनको दिव्य-चेतनासे पुनः सम्पृक्त कर देना ही धर्म है और जीवनको भगवत्तासे संयुक्त कर देना ही योग है। योग तपस्यासे भी बढ़कर है, धर्म और दर्शनसे भी बढ़कर है। योगमें तत्त्व-संख्यान, सृष्टि-विज्ञान, हेतु-वाद और मनोविज्ञान संनिविष्ट हैं, एवं वह इन सबसे परे भी है—इस अर्थमें कि उसके द्वारा मानव अनन्तके साथ संयुक्त हो जाता है। एक-न-एक दिन ससीमको असीमकी उपलब्धि करनी पड़ेगी, जडको एक-न-एक दिन चेतनका लाभ करना पड़ेगा, मनुष्यको अपने अंदर ईश्वरका संधान करना पड़ेगा और अशान्त विश्वको आत्मसमाधानके द्वारा शान्ति-लाभ करना पड़ेगा। यह सब योगके द्वारा सम्भव है।

(७)

योगीके लिये समस्त विश्व एक सीमारहित मन्दिर है। आत्म-जीव समष्टि परमात्मा है; जीवात्माओंकी यज्ञरूपमें की गयी सेवा ही भगवदुपासना है। आनन्दमय परमात्माके अनुकूल जीवन ही मुक्ति है। प्रेमी परमात्माके लिये—और केवल परमात्मा-के लिये ही—जीवित रहता है। उसके लिये ईश्वर ही जगत् है, ईश्वर ही मानवता है और ईश्वर ही जीवन है। वह परमात्माको अपनी आत्मामें, दूसरी आत्माओंमें, मानवतामें—सर्वत्र देखता है। जिस प्रकार वह अपने भीतर विराजमान प्रभुको कष्ट नहीं पहुँचा सकता, उसी प्रकार वह दूसरोंमें विराजमान परमात्माको भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता। एक वैज्ञानिक, जो साथ ही योगी भी है, अपने अन्वेषणों और आविष्कारोंको मानवताके कल्याणके लिये उपयोगमें लायेगा। जीवनमें भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक योगका सम्मिलन विश्वमें समष्टिगत शान्ति और समन्वय स्थापित कर देगा। योगके द्वारा जाति, देश और धर्मके सभी संकीर्ण विचार दूर कर दिये जायँगे और इस प्रकार हम इस नील गगनके नीचे एक विश्वमें उस मानवताको विचरते हुए देखेंगे, जो समस्त जीवोंके हृदयरूप एक अद्वितीय परमेश्वरको मानने-वाली होगी।

(८)

योग एक ऐसी आत्मविद्या है, जो विश्वमें समन्वय स्थापित करती है। सभ्यताके उदयकालसे ही योगके उपदेष्टा मानवताको एक करनेके लिये धरा-धामपर आते रहे हैं। वैदिक ऋषियोंने यह घोषणा की थी—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्य तो एक ही है, यद्यपि मनीषीजन उसे अनेक रूपोंमें अनुभव करते हैं। वैदिक ऋषियोंके अनुगामी जरथुस्त्रका कहना है कि ईश्वर प्रकाशस्वरूप है और अग्नि उसका प्रतीक है; मन, वचन और कर्मकी पवित्रता और श्रेष्ठता प्रभुकी प्राप्तिके साधन हैं। मूसाने परमात्मामें विश्वासका धर्म चलाया। ईसामसीह शान्ति और त्यागके महान् आदर्श थे। रसूल परमेश्वरके प्रति श्रद्धा और समर्पणके उपदेष्टा थे। बुद्ध और महावीरने जीवनके नैतिक आधारोंका निर्देश किया। इस युगमें महात्मा गांधीने उन्हींके बताये अहिंसा-व्रतका सम्यक् पालन किया था। परमहंस रामकृष्णने अपनी भक्तिकी प्रखरतासे पाषाण-प्रतिमाको अलौकिक शक्ति-सम्पन्न बना दिया था। श्रीअरविन्दने अपने आध्यात्मिक एकान्तकी शान्त, गम्भीर नीरवतामें मानवके अति-मानवीय स्तरतक विकसित होनेका मार्ग ढूँढ़ निकाला। 'तुम कौन हो ?' के अनादि प्रश्नका उत्तर माँगती हुई जनताके सम्मुख रमण महर्षि आत्मनिष्ठ होकर बैठ जाते थे। शंकर-जैसे दार्शनिकों-ने जीवकी ब्रह्मरूपताका स्मरण कराया। रामानुज, मध्व, वल्लभ और निम्बार्कने मानवको ईश्वर-शरणागतिके लिये प्रेरित किया। अहमदनगर-मण्डलके संत—साँईं बाबा और उपासनी बाबा—भी प्रेमकी पवित्रतामें प्रपत्तिके मार्गका उपदेश दे चुके हैं।

इस प्रकार संसारके प्राचीन और अर्वाचीन योगियोंने मानवताको दिव्य चेतनामें समष्टि सत्ताकी पवित्रता, एकता और दिव्यताकी ओर अग्रसर किया है।

योगीलोग मानवताका नेतृत्व करते हैं। वे उसके लिये नियम बनाते हैं। वे मानवीय सत्ताको भगवान्में पर्यवसित कर देते हैं। वे मानवताके परित्राणकर्ता हैं।

योग जीवन है और जीवन योग है; क्योंकि अन्तरात्माके बिना जीवन सम्भव नहीं है। जो कार्य हम मन और इन्द्रियोंके द्वारा करते हैं, उसे अन्तरात्मा ही अन्नमय, प्राणमय और मनोमय करणोंके द्वारा सम्पादित करता है। उस दिव्य अन्तरात्माके साथ जीवनका सामञ्जस्य स्थापित करना ही योग है।

शरीर, मन और इन्द्रियोंकी पवित्रताके साथ योगका प्रारम्भ होता है। भोजनकी शुद्धि योगकी पहली सीढ़ी है; क्योंकि भोजनकी परिणति रुधिरमें, रुधिरकी वीर्यमें, वीर्यकी

ओजमें,ओजकी प्राणशक्तिमें, प्राणशक्तिकी विचारशक्तिमें,विचारशक्तिकी प्रज्ञाशक्तिमें, प्रज्ञाशक्तिकी आत्मशक्तिमें तथा आत्मशक्तिकी दिव्यशक्तिमें होती है। सात्त्विक अन्न, सात्त्विक विचार, मौन, मितभाषण, मितभ्रमण, शास्त्रोंका स्वाध्याय, सत्सङ्ग, सामूहिक आत्मनिरीक्षण, कीर्तन, जप, पूजन, संतसेवा, मनन, चित्तकी एकाग्रता और समर्पण योग-सिद्धिकी सीढ़ियाँ हैं।

योग मनको निर्मल और बुद्धिको कुशाग्र कर सकनेकी सामर्थ्य रखता है। वह प्रतिमाको प्रदीप्त कर देता है और सुप्त शक्तियोंको जागरित कर देता है, जिससे योगी आत्मचेतनामें भौतिक शक्तिका भी प्रयोग कर सकता है। योगी अन्तर्जगत्में स्वराज्य और बहिर्जगत्में साम्राज्य प्राप्त कर सकता है।

योग मानवताका त्राणकर्ता है। अन्तर्यामी परमात्माके साथ योगयुक्त होकर सभी पवित्रता, शान्ति, आनन्द, शक्ति और समष्टिके प्रति आत्मभावका जीवन व्यतीत करें। तब यह संसार प्रकाशमान दिव्यतासे परिपूर्ण स्वर्ग बन जायगा और व्यष्टि-जीवनके साथ समष्टि-जीवनसे एकात्मता हो जायगी। युद्ध बंद हो जायँगे और विज्ञान ऐसे जीवनका विस्तार करेगा जहाँ मनमें भय न हो, सिर उन्नत रहे, ज्ञान उन्मुक्त हो और आनन्दमयी सत्ता सबके लिये समानरूपसे सुलभ हो।

मानवता और उसके भेद

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

संत-महात्माओंने इस मानव-शरीरको बड़ा ही दुर्लभ बताया है; क्योंकि यह चौरासी लाख योनियोंसे परे है, साधन-धाम तथा मोक्षका द्वार है। ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति भी इसी शरीरमें सुलभ है। इसीलिये—

'दुर्लभो मानुषो देहः'

'नरतन सम नहिं कवनिहु देही,
बड़ें भाग मानुष तन पावा। सुर दुरलभ सद ग्रंथनि गावा॥'

—इत्यादि वचन कहे गये हैं। यह मानव-शरीर भगवान्को भी परम प्रिय है, क्योंकि इसमें उनका अंश विशेष है।

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहि भाए॥

मनुकी संतान होनेसे ही मनुष्यका 'मानव' नाम पड़ा। सबका नेता होनेसे इसको 'नर' भी कहते हैं—नयतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नरसे चाहे कोई नारायण बन जाय, अथवा चाहे वानर (पशु) बन जाय। शास्त्रोंमें गुण-कर्म-भेदसे 'नर' के कितने ही भेद किये गये हैं। यहाँ संक्षेपमें कुछका वर्णन किया जाता है।

(१) नररूप नारायण

जो अनेक संकटोंको सहकर भी अपने धर्मका पालन करते हैं—उसका परित्याग नहीं करते, वे धीर पुरुष वास्तवमें नारायण भगवान्के ही रूप हैं।

तिय तजि जन तजि मान तजि, धारत धरम अनूप।
सो नर नहिं नरनाह नहिं, नारायन को रूप॥
(संत अमृतलालजी)

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
(मानस)

ज्ञानी भक्त भी भगवान्के ही रूप हैं—

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
(गीता अ० ७

(२) नर-देवता

जो इस मानव-शरीरको पाकर श्रीगीता, रामायण, भागवत—पुराणादि ग्रन्थोंको सुनते हैं, पढ़ते हैं, मनन करते हैं तथा उसीके अनुसार आचरण करके अपनेमें दैवी सम्पत्तिके दान, दया, दम आदि गुणोंका विकास करते हैं, वे नर नहीं, देवता हैं।

ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम्।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः॥
(गीता-मा०)

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं परं तपः।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुषः॥
(शिवसंहिता)

(३) नर-श्रेष्ठ (मानव-महात्मा या पण्डित)

जो विद्या, कुल, शील और कर्मसे युक्त हों, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ महात्मा या पण्डित हैं।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥
(चाणक्य०)

जो परस्त्रियोंको माताके समान, परधनको मिट्टीके समान और जो सब प्राणियोंको अपने ही समान देखता है, वह पण्डित है।

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥
(चाणक्य०)

जिनके मन, वचन एवं कर्म—तीनोंमें एक ही भाव रहता है, वे भी महात्मा ही हैं।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
(चाणक्य०)

ऐसे सज्जन पुरुष ही अन्तमें नारायणरूप हो जाते हैं।

(४) नर-रूप राक्षस (मानव-दानव)

इनका लक्षण श्रीगीताजीके सोलहवें अध्यायमें सातवें श्लोकसे इक्कीसवें श्लोकतक देखना चाहिये । विस्तारभयसे यहाँ नहीं दिया गया । संक्षेपमें जो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञानसे युक्त हैं अथवा जिनके मन, वचन और कर्ममें और-और भाव होते हैं, जो माता-पिताकी अवज्ञा करते हैं, पर-द्रोही, पर-दार-रत हैं, काम-क्रोध-परायण, हिंसक, भोगी तथा साधु-द्रोही हैं, वे ही आसुर मानव हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
(गीता १६ । ४)

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
(चाणक्य०)

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लंपट पर धन पर दारा ॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी । ते जानेहु निसिचर सब प्रानी ॥
(मानस)

(५) नर-पशु (मानव-पशु)

मानव-तनु पाकर भी जो विवेकका सदुपयोग नहीं करते; जिनमें न विद्या है न ज्ञान है, न शील है न गुण है और न धर्म है, जो भगवान्से प्रेम नहीं करते अथवा भगवद्-विमुख हैं, वे 'पशु' ही माने गये हैं।

विद्याविहीनः पशुः ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ।

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥
(भर्तृहरि)

जो पै रहनि राम पै नाहीं ।
तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं ॥
(वि० प०)

भजन बिना नर देह वृथा खर फेरु स्वान की नाईं
(गीतावली)

तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी ।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी ॥
(वि० प०)

(६) मानव-मुर्दा

जीयत राम, मुए पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति जेही ।
सोइ जिए जग में तुलसी न तु डोलत और मुए धरि देही ॥
(कविता०)

कौल काम बस कृपिन बिमूढ़ा । अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ॥
सदा रोग बस संतत क्रोधी । बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी ॥
तनु पोषक निंदक अघ खानी । जीवत सव सम चौदह प्रानी ॥
(मानस)

(७) नराधम (मानवाधम)

जो प्राप्त शक्ति, सामर्थ्य, शरीर, विद्या, धन आदिको भगवत्सेवा या जन-सेवामें नहीं लगाते, वे नराधम हैं। मरनेपर इनके मुर्दा शरीरको सियार भी नहीं खाता । चाणक्यने लिखा है—

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो
रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः ॥

मानव-दानवकी अन्तिम दशा

यह मानव-शरीर बड़ा ही दुर्लभ है। परम कृपालु परमेश्वरकी अहैतुकी कृपासे ही यह किसी-किसीको सुलभ हो जाता है। जो इस मानव-शरीरका सदुपयोग करते हैं, वे ही महान् (परमेश्वर-तुल्य) बन जाते हैं—

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।

पर जो इस मानव-शरीरका दुरुपयोग करते हैं, वे 'दानव' कहलाते हैं। इन्हींको 'असुर' भी कहते हैं; क्योंकि ये आसुरी-सम्पत्तिके लक्षणोंसे युक्त होते हैं।

ये लोग भगवद्विमुख तथा शास्त्र-पुराणोंके विरोधी होते हैं।

बिष्नुबिमुख श्रुति संत बिरोधी।

श्रीगीताजीमें भी लिखा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

इनका सारा जीवन भोगमय बीतता है। काम-क्रोधके तो ये परायण ही होते हैं। अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करना और परस्त्रियोंका अपहरण करना तो इनका स्वभाव ही है। 'खाओ, पीओ, चैन करो' ही इनके जीवनका लक्ष्य रहता है। ये अपने बलका तो दुरुपयोग करते हैं और विवेकका अनादर। इसीसे इनमें अभिमान और अहंकी पुष्टि होती रहती है। तीनों 'द' (दान, दया और दम) से ये दूर ही रहते हैं।

मानव-शरीरका सदुपयोग परोपकारमें ही है, पर ये मानव-दानव इस बातको कब समझ सकते हैं। इनका तो जन्म ही संसारके दुःखका हेतु है—

दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥
संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥

अपना कोई स्वार्थ भले ही सिद्ध न हो, पर ये परापकार करनेमें चूकते नहीं। कभी-कभी तो दूसरोंकी हानि करनेके लिये अपना जीवन भी दे देते हैं—

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥

श्रीमद्गोस्वामीजीने इनके लिये उपमा भी खूब खोज निकाली—'अहि' (साँप) और 'मूषक' (चूहा)। साँप तो जान लेता है और चूहा धान। उसी तरह ये अधम मानव जान और माल दोनोंपर हाथ फेरते हैं।

इन मानव-दानवोंके तन, मन, वचन, श्रोत्र सभी दूसरोंके अहितके लिये ही होते हैं। 'मानस' में एक-एकका उदाहरण देखिये।

(१) तनसे—

पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं॥

(२) मनसे—

परहित हानि लाभ जिन केरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें॥

(३) वचनसे—

बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर दोषा॥

(४) श्रवणसे—

पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना॥

(५) आँखोंसे—

जे पर-दोष लखहिं सहसाखी। पर हित घृत जिन्ह के मन माखी॥

कहाँतक कहा जाय, इनका सभी आचरण असत्य ही होता है—

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥

इस तरहके अपवित्र आचरण करनेवाले मानव-दानव जीवन-भर पापकी गठरी ही ढोते फिरते हैं। अन्तमें जब कालदेव इनको घसीटकर ले जाता है, तब ये यमराजके द्वारा दी हुई घोरतम नरकोंकी यातना सहकर फिर नीच योनियोंमें बार-बार जन्म लेते हैं। देखिये गीता अ० १६। १९—२०—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

परद्रोही परदाररत परधन पर अपबाद।
ते नर पावँर पापमय देह धरें मनुजाद॥

सत्रह तत्त्वोंसे युक्त सजीव लिङ्ग (सूक्ष्म)-शरीरकी तो यह दशा हुई और जिस स्थूल-शरीरका त्याग किया था, वह कहीं जंगलमें फेंक दिया जाता है तो कुत्ते और सियार भी सूँघना नहीं चाहते।

चाणक्य महाराज बहुत बढ़िया दृष्टान्त देते हैं। एक मानव-दानवकी मृत्यु हो गयी। उसका शव फेंक दिया गया। एक सियार जंगलसे निकलकर उसको खाने आया और उसने

ज्यों ही उस शवपर अपना मुँह लगाना चाहा कि आकाश-वाणीने उसे सावधान किया—

'अरे गीदड़ ! इस अति निन्दनीय नीच शरीरको शीघ्र ही त्याग दे; क्योंकि इसके हाथ दानविवर्जित हैं, कर्ण शास्त्रद्रोही हैं, नेत्र साधुजनोंके दर्शनोंसे वञ्चित हैं, चरणोंने कभी तीर्थ-गमन नहीं किया, उदर अन्यायार्जित धनसे ही पाला गया है और यह सिर सदा गर्वसे ऊँचे उठा रहता था।'

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भी परमार्थ-विमुख इन्द्रियोंकी बड़ी निन्दा की है—

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥
जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती॥

रुबाइयात उमर खैयाम और मानवता

(अनुवादक—श्रीरामचन्द्रजी सैनी)

जो तू कीर्ति गगनपर होगा कुयश अवनिपर आवेगा।
और मानके सिरपर चढ़कर अन्त विनय पद पावेगा॥
इससे जहाँ तलक हो सम्भव छोड़ लड़ाई झगड़ेको।
अगर किसीको कष्ट न देगा तो न सताया जावेगा॥

× × × ×

स्वामिन ! एक काम करने दो मिटने दो इस मनका ताप।
राम भजनमें लीन रहें हम कृपया आप रहें चुपचाप॥
जो है सीधा मार्ग हमारा उसको ही समझे हो वक्र।
निज नयनोंकी करें चिकित्सा हमको हमपर छोड़ें आप॥

× × × ×

विषम वियोग वेदना देकर चाहे सदा रुलाया कर।
चाहे मधुर मिलन मधु देकर प्रिय मधुकरी हँसाया कर॥
अपने मुखसे मैं न कहूँगा इस प्रकार आचरण करो।
जैसा तेरा यह मन चाहे वैसा खेल खिलाया कर॥

× × × ×

बन जा पथिक प्रेमके पथका रख सबके मनको अनुकूल।
जो मालिकसे मिलना चाहे कभी न उसके मनको भूल॥
अचला अम्बु रचित सौ काशी एक हृदयके आगे तुच्छ।
तीर्थ पर्य्यटन क्या करता तू किसी हृदयका बन सुख-मूल॥

× × × ×

आज तुझे भावीके ऊपर जब किंचित् अधिकार नहीं।
कलकी क्यों करता है चिन्ता ? तू विक्षित गँवार नहीं॥
यदि है चित्त ठिकाने तेरा व्यर्थ न खो इन घड़ियोंको।
क्या हो मूल्य शेष जीवनका ? इसका तनिक विचार नहीं॥

× × × ×

जिसकी विरह-व्यथाका मारा करूँ निरन्तर हाहाकार।
वह भी प्रेम प्रणोदित पीड़ित उसको भी है यही विकार॥
आह ! चिकित्साका अब कैसे कर सकता हूँ शीघ्र उपाय।
जो है अपना चतुर चिकित्सक वही आजकल है बीमार॥

× × × ×

द्वार-द्वार झक मार न यों ही जीवन पथसे विचलित हो।
प्रत्युत जगके भले बुरे पर सरल-भाव परितोषित हो॥
भाग्य अक्षरसे भाल गगन पर जैसी हो संख्या अंकित।
उसके ही अनुसार चाल चल खेल उसीसे प्रमुदित हो॥

× × × ×

यह पथ रज है उसी संतवर बाबा दूधा-धारीकी।
अपने युगका जो अनुपम था महामान्य उपकारीकी॥
जहाँ चरण तेरे पड़ते हैं मनमें निश्चय समझ वहीं।
शक्ति अलौकिक भरी हुई है ब्रह्मानन्द विहारीकी॥

× × × ×

शत्रु मित्र क्या कोई भी हो सबसे है सद् भाव पवित्र।
बुरा किस तरह कर सकता है जिसका है सौजन्य चरित्र॥
यद्यपि अनहित किया मित्रका तो वह बन जावेगा शत्रु।
यदि हित किया तनिक भी अरिका तो वह बन जावेगा मित्र॥

× × × ×

सभ्य शिरोमणि विज्ञानीको विधि-निषेधकी है पहचान।
जीव लोकसे कैसे आया उसको ही है इसका ज्ञान॥
विधिके आदेशानुसार ही मिलती रहती है हर वस्तु।
जिससे उभय लोक चलता है उसमें दोष न अपना मान॥

× × × ×

निर्णायककी निष्पक्ष दृष्टिमें भला बुरा सब एक समान।
प्रेमी-जनको नरक स्वर्ग क्या है समान रीढा अपमान॥
हृदय-हीन दुखियोंके तनको चीनांशुक हो या हो टाट।
प्रणय व्यथितके शीश तले क्या कठिन उपल कोमल उपधान॥

× × × ×

अपने दोषोंके जंगलकी सैर सदा मैं किया करूँ।
अन्य व्यक्तियोंके दोषोंसे आँख बचाकर जिया करूँ॥
जैसी विश्व दशा सम्मुख है वह तो यह बतलाती है।
इससे अंचल खींच सर्वदा मनचीती कर लिया करूँ॥

× × × ×

सारद ! जिस मेरी मन भूपर प्रणय बीजका हुआ विकास।
उसने अबतक प्रचुर प्रेमको गोपनीयका किया प्रयास॥
अंचल झटक न विनयी जनसे हाव-भाव लीलाको छोड़।
क्योंकि न छोड़ेंगे करसे पट जब-तक है जीवनकी श्वास॥

× × × ×

-आज हमें जो तटिनी तटपर हरियाली आती है दृष्टि।
मानो देवदूत अधरोंपर बरस रही है रसकी वृष्टि॥
तुच्छ जानकर पद प्रहारसे करें नहीं इसका अपमान।
केचित् चन्द्रमुखीकी रजपर रची हुई है मनहर सृष्टि॥

× × × ×

जिसने किया प्रयत्न निरन्तर हरिकी इच्छाके अनुसार।
जिसने सुख संचय निमित्त ही किया चषकको अंगीकार॥
अथवा मानसमें सुबुद्धिसे लिख रक्खा है जीवन पृष्ठ।
उसने अपने आयु क्षणिकको जाने नहीं दिया बेकार॥

× × × ×

वह भाजन जिसको लोगोंने भरा और भर रिक्त किया।
और उसीको तोड़-फोड़कर पथके ऊपर फेंक दिया॥
पथिक कदापि न उसके ऊपर अरे चरण अपना रखना।
क्योंकि किसीके कल कपालने मृदु भाजनका रूप लिया॥

× × × ×

गुणी आपके हर्षित मनसे हर्षित होवे नूतन वर्ष।
चारु चन्द्र जैसे आननसे सज्जित होवे नूतन वर्ष॥
धन्यवाद आपके यहाँ यह देने आया है इस हेतु।
जिससे गौरव और कीर्तिसे भूषित होवे नूतन वर्ष॥

× × × ×

व्योम विलोकन करनेवाले करते हैं जो लोक-सुधार।
आते हैं फिर जाते हैं वह फिर लेते भूपर अवतार॥
गगनाञ्चलमें पृथ्वीतलमें एक सृष्टि रहती है और।
जो जगपतिका साथ प्राप्तकर करती है आनन्द-विहार॥

× × × ×

जो मेघा कल्याण-मार्गमें अपनी दौड़ लगाती है।
दिनमें सौ-सौ बार स्वयम् वह तुमसे कहती जाती है॥
गुरु लघु सत्संगतके क्षणपर भलीभाँति संतोष करो।
जग जीवन तो तरकारी है काटेसे उग आती है॥

× × × ×

जो जीविका न्यायसंगत है प्रभुने वह निश्चित कर दी।
उससे कणभर न्यूनाधिक हो ऐसी शक्ति न तिल भर दी॥
तुझे चाहिये जो मिलता है उसपर ही संतोषी बन।
जो न मिले उससे विमुक्त रह तूने बुद्धि कहाँ धर दी॥

× × × ×

मानव ! मेरे दग्ध हृदयसे रक्त टपकता रहता है।
मेरी इन आँखोंसे अविरल रक्त बरसता रहता है॥
पलकोंसे यदि रक्त टपकता तो कोई आश्चर्य नहीं।
देख रहे हो शूलोंसे ही फूल निकलता रहता है॥

× × × ×

प्राणीको प्राणोंके जगसे सावधान ही रहना है।
इस दुनियाके सब कामोंमें मौन मान ही रहना है॥
आँख कान मुख आदि इन्द्रियाँ जबतक तनमें रहती हैं।
अंधे बहरे गूँगोंकी सी धार बान ही रहना है॥

× × × ×

ज्ञान मार्ग अतिरिक्त ज्ञानके और किसीसे प्रीति न जोड़।
जब कि भला तेरा साथी है तो फिर साथ बुरोंका छोड़॥
यदि तेरी इच्छा है यह जग तुझको करे हार्दिक प्रेम।
प्रसन्नताके साथ रहा कर अहं भावसे नाता तोड़॥

× × × ×

जो कुछ सुखानन्द दुनियामें विधनाने उत्पन्न किया।
वीत रागवाले संतोंको वह सब उसने सौंप दिया॥
जो मनुष्य सो गया छोड़कर मायाकी मृदु ममताको।
सब दुख रखा उठा कोनेमें जीवनका आनन्द लिया॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम

ध्यान-स्तवन

(१)

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं ।
नवकंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज, पद-कंजारुणं ॥
कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरद सुंदरं ।
पट पीत मानहु तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक-सुतावरं ॥
भजु दीनबंधु दिनेश दानव-दैत्यवंश-निकंदनं ।
रघुनंद आनँदकंद कोसलचंद दशरथ-नंदनं ॥
सिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदारु अंग विभूषणं ।
आजानु-भुज शर-चाप-धर, संग्राम-जित-खरदूषणं ॥
इति वदति तुलसीदास शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं ।
मम हृदय कंज निवास कुरु, कामादि खल-दल-गंजनं ॥

—विनय-पत्रिका

(२)

सखि ! रघुनाथ-रूप निहारु ।
सरद-विधु रवि-सुवन मनसिज-मान-भंजनिहारु ॥
स्याम सुभग सरीर जन-मन-काम-पूरनिहारु ।
चारु चंदन मनहु मरकत-सिखर लसत निहारु ॥
रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गजमनि-हारु ।
मनहु सुरधनु नखतगन बिच तिमिर-भंजनिहारु ॥
बिमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-बिनिंदनिहारु ।
बदन सुषमासदन सोभित मदन-मोहनिहारु ॥
सकल अंग अनूप, नहिं कोउ सुकवि बरननिहारु ।
दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु ॥

—गीतावली उ० का०

(३)

परम जोति जाकी अनंत, रमि रही निरंतर ।
आदि मध्य अरु अंत, गगन, दस-दिसि, बहिरंतर ॥
गुन पुरान इतिहास, वेद बंदीजन गावत ।
धरत ध्यान अनवरत, पार ब्रह्मादि न पावत ॥
सेनापति आनंदघन, रिद्धि-सिद्धि-मंगल करन ।
नाइक अनेक ब्रह्मांड कौ, एक राम संतत-सरन ॥

—महाकवि 'सेनापति'

भगवान् श्रीरामचन्द्रमें मानवताका महान् आदर्श

मानवसेवा और भगवत्सेवा

(परम सम्मान्या श्रीमाताजी, श्रीअरविन्द-आश्रम, पांडिचेरी)

मनुष्यजातिकी सेवा करने, उसकी भलाई करनेकी इच्छा करना तुम्हारी महत्त्वाकाङ्क्षा और अहंकारको सूचित करता है। कैसे ?

तुम भला, मनुष्यजातिकी सेवा करना क्यों चाहते हो ? तुम्हारा उद्देश्य क्या है ? तुम्हारा अभिप्राय क्या है ? क्या तुम जानते हो कि मनुष्यजातिकी भलाई किस बातमें है ? और क्या तुम स्वयं मनुष्यजातिसे भी अधिक अच्छे रूपमें यह जानते हो कि उसके लिये अच्छा क्या है ? अथवा क्या तुम इसे भगवान्‌की अपेक्षा अधिक रूपमें जानते हो ? तुम कहते हो कि भगवान् सर्वत्र हैं; इसलिये यदि तुम मनुष्य-जातिकी सेवा करते हो तो वह भगवान्‌की ही सेवा हो जाती है। बहुत अच्छा, यदि भगवान् सर्वत्र हैं तो वह तुममें भी हैं; अतएव सबसे उत्तम और अत्यन्त युक्तिसंगत बात तो यह होगी कि तुम स्वयं अपनी सेवासे ही आरम्भ करो।

तब क्या मनुष्यजातिकी सेवा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं ? क्या अस्पताल, सेवा-सदन, दानशील-संस्थाएँ मनुष्य-जातिके लिये उपयोगी नहीं सिद्ध हुई हैं ? क्या लोकोपकारकी भावना मानवजीवनमें कोई सुधार और उन्नति नहीं ले आयी है ?

क्या ले आयी है, मैं पूछती हूँ। तुमने जहाँ-तहाँ कुछ थोड़े-से लोगोंकी सहायता करनेकी चेष्टा की है। परंतु जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, उसके सामने वह कितना-सा है ? कहावतके अनुसार, समुद्रमें एक बूँद है या उससे भी कम ही है। क्या तुम्हें पाल (Paul) के संत विन्सेण्ट (St. Vincent) की कहानी याद है ? उन्होंने गरीबोंको दान देना आरम्भ किया। पहले दिन दस गरीब थे, दूसरे दिन बीस हुए, तीसरे दिन पचाससे अधिक और इस तरह गणित-शास्त्रकी गुणोत्तर वृद्धिसे भी अधिक उनकी संख्या बढ़ती गयी। और फिर ! राजाके मन्त्री कॉलबर्ट (Colbert) ने उन संतकी दुरवस्था देखकर टीका की—'ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा भाई अपने गरीब लोगोंको अनगिनत पैदा करता जा रहा है।'

मैं नहीं समझती कि दानशीलताकी भावनाने मनुष्यकी अवस्थाओंको किसी तरह सुधारा है। मैं नहीं देखती कि मनुष्य पहलेकी अपेक्षा रोग और दरिद्रताके कम अधीन हुए हैं। दानशीलता बराबर ही रही है और उसके साथ-साथ मनुष्यकी दुरवस्था भी सदा ही बनी रही है। मैं नहीं समझती कि दोनोंके बीचका अनुपात किसी भी अंशमें कम हुआ है। तुम्हें याद होगा कि किसी व्यक्तिने मनुष्यके दुःख-कष्टका उपशमन और विनाश करनेके लिये किये गये विज्ञान-के प्रयासोंकी चर्चा करते हुए यह व्यंगपूर्ण पर उपयुक्त टिप्पणी की थी—'बेचारे परोपकारी व्यक्ति बड़ी दुर्दशामें पड़ जायँगे, उनका रोजगार ही मारा जायगा !' मनुष्यको जो दूसरोंका उपकार करनेकी इच्छा होती है, उसका कारण अन्यत्र होता है, वह अपनी प्रसन्नताके लिये उसे करता है, आत्मतुष्टिके लिये उसे करता है। यह कार्य करनेसे तुम्हें आनन्द मिलता है। तुम्हें ऐसा होता है कि तुम कुछ कार्य कर रहे हो, तुम मनुष्य-परिवारके एक मूल्यवान् सदस्य हो—दूसरोंके जैसे नहीं हो, तुम एक विशिष्ट व्यक्ति हो। यह सब भला, इसके सिवा और क्या है कि तुम दम्भी हो, आत्मगौरवसे भरपूर हो, अहंसे परिपूर्ण हो ? जब मैंने यह कहा था कि तुम महत्त्वाकाङ्क्षा या अभिमानके वशीभूत होकर ही परोपकारी बनते हो, तब मेरा मतलब यही था। निश्चय ही, यदि यह कार्य तुम्हें पसंद हो, यदि तुम्हें इसे करनेमें प्रसन्नता होती हो तो तुम्हें उसे करने और चालू रखनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है। पर यह न समझो कि तुम मनुष्यजातिकी कोई सच्ची या उपयोगी सेवा कर रहे हो; विशेषकर यह तो कभी कल्पना मत करो कि उसके द्वारा तुम भगवान्‌की सेवा कर रहे हो, आध्यात्मिक जीवन-यापन कर रहे हो या योग कर रहे हो।

जो भावना हमारे अंदर परोपकारवादको जगाती है, उसका स्वरूप बतलानेके लिये मैं यहाँ उसकी थोड़ी-सी व्याख्या करूँगी। दानी मनुष्य उस वस्तुका उदारता-पूर्वक दान करता है, जिसे लोग जानते हैं, स्वीकार करते हैं, आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। यदि वह देखता है कि उस कार्यके साथ उसका नाम जोड़ दिया गया है, उद्घोषित और प्रचारित किया गया है, यदि उस कार्यसे उसे नाम-यश मिलता है तो उसका हृदय विशाल हो जाता है। परंतु तुम यदि उससे किसी ऐसे कार्यके लिये एक कौड़ी भी माँगो जो सच्चा कार्य हो, जिसमें कोई दिखावा न हो या जो निराला हो—ऐसी

वस्तु माँगो, जो सचमुच आध्यात्मिक और दिव्य हो, तो तुम देखोगे कि उसकी थैलीका डोरा कड़ा हो गया है, उसका हृदय बंद हो गया है। जिस दानका दाताके लिये कोई मूल्य नहीं होता, उसके लिये साधारण परोपकारवादीके अंदर कोई आकर्षण नहीं होता। निस्संदेह एक दूसरी कोटिके, इससे उलटे प्रकारके दानी होते हैं, जो निश्चितरूपसे अज्ञात रहना चाहते हैं। यदि उनका नाम घोषित कर दिया जाय तो वे अप्रसन्न हो जायँगे। परंतु यहाँ भी उद्देश्य बहुत भिन्न प्रकारका नहीं होता है; वास्तवमें यहाँ भी बस, वही उद्देश्य गलत तरीकेसे, मानो उलटेरूपमें काम करता होता है। यहाँपर आत्मगौरवका एक बढ़ा-चढ़ा तत्त्व विद्यमान होता है। मनुष्य देता है और लोग नहीं जानते कि किसने दिया—यह एक ऐसी बात है जिसके कारण और भी अधिक गर्व होता है।

जब तुम कोई कार्य केवल इस कारण करते हो कि साधारणतया वही कार्य किया जाता है और साधारणतया कार्य उसी ढंगसे किये जाते हैं, तब उससे पहले तुम्हें अपने अंदर झाँकना चाहिये, अपने-आपसे प्रश्न करना चाहिये। तुम दूसरोंकी भलाई कर सकते हो, यदि तुम्हें मालूम हो कि वह भलाई क्या वस्तु है और यदि वह वस्तु तुम्हारे भीतर विद्यमान हो। यदि तुम दूसरोंकी सहायता करना चाहते हो तो तुम्हें उनकी अपेक्षा ऊँचे स्तरपर अवश्य होना चाहिये। यदि तुम दूसरोंके साथ युक्त हो, स्वभाव और चेतनामें उनके ही स्तरमें हो तो फिर उनके अज्ञान और अंधाधुंध क्रियाओंमें भाग लेने तथा उसी अज्ञान और उन्हीं अंधाधुंध क्रियाओंको स्थायी बनानेके सिवा तुम और क्या कर सकते हो? अतएव वास्तवमें निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य है—स्वयं अपनी सेवा करना।

यदि तुम यह जाननेकी चेष्टा करो कि तुम क्या हो और तुम कौन हो तो तुम्हें एक अद्भुत वस्तुका पता लगेगा। बस, इसी तरह तुम्हें आरम्भ करना चाहिये। 'मैं मनुष्य-जातिकी सेवा करना चाहता हूँ। मैं कैसे सेवा कर सकता हूँ? यह 'मैं' कौन है, जो सेवा करना चाहता है?' तुम कहते हो, 'मैं अमुक व्यक्ति हूँ, मेरा यह रूप है और यह नाम है।' परंतु तुम्हारा जो रूप इस समय है, वह उस समय तो नहीं था जब कि तुम एक बच्चे थे। वह तो निरन्तर बदलता जा रहा है। तुम्हारी देहके सभी अङ्ग सम्पूर्णतया नये होते जा रहे हैं। तुम्हारे इन्द्रियानुभव और हृदयगत भाव भी अब वे ही नहीं हैं, जो अबसे कुछ वर्ष पहले थे। तुम्हारे विचार और तुम्हारी भावनाएँ भी कितनी ही क्रान्तियोंमेंसे गुजर चुकी हैं। 'मैं' तो नित्य परिवर्तनशील अवयवोंका एक संघात है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे निश्चितरूपसे 'मैं' कहा जाय। यह तो निरा परिवर्तनोंका एक चक्र है। एक निस्सार नाम ही बस, स्थायी वस्तु प्रतीत होता है। एक समय एक तत्त्व आगे आ जाता है—एक भावना, एक अनुभव, एक प्रवेग—और वही है उस समयके लिये तुम्हारा 'मैं'। दूसरे क्षण एक दूसरा तत्त्व ऊपर आ जाता है और तुम्हारा 'मैं' बन जाता है। तुम एक 'मैं' नहीं हो, बल्कि बहुत-से 'मैं' के एक समूह हो। अतएव अनेक 'मैं' मेंसे किसी एक 'मैं' की इस घोषणाका क्या मूल्य है कि मैं उस लक्ष्यको, सत्यको, कर्तव्यको जान गया हूँ जिसका कि मुझे अनुसरण करना है? इस तरह यदि तुम और आगे बढ़ो, पूर्णरूपसे और सच्चाईके साथ अपना परीक्षण और विश्लेषण करो तो तुम अकस्मात् सद्वस्तुको पा जाओगे। तुम देखोगे कि 'मैं' का सर्वथा कोई अस्तित्व नहीं है। जो कुछ है, वह कोई दूसरी ही वस्तु है। वह तो एक अविभाज्य सद्वस्तु है, एकमात्र भगवान् है।

यही वह आत्मान्वेषण है, जो तुम्हें मौलिक ज्ञान और जीवनका आधार प्रदान करेगा,—यह अन्वेषण कि तुम्हारा कहलानेवाला तुम्हारा कोई स्वरूप विद्यमान नहीं है, वास्तवमें तुम कुछ नहीं हो। 'कुछ नहीं होने' का यह भाव तुम्हारी सारी सत्तामें व्याप्त हो जाना चाहिये, तुम्हारी सत्ताके सभी अङ्गोंमें भर जाना चाहिये और उसके बाद ही सत्य तुम्हारे सामने प्रकट हो सकता है और भगवान्‌की उपस्थितिका अनुभव तुम्हें हो सकता है। परंतु अभीतक बराबर तुम जो कुछ करते आ रहे हो, वह इसके एकदम विपरीत है; तुम तो अपने अहंकारको, अपने दम्भको प्रतिष्ठापित करते हो—यह दिखलाते हो कि तुम कोई विशिष्ट व्यक्ति हो, तुम कुछ कर सकते हो, संसारको तुम्हारी सहायता आवश्यक है और तुम वह सहायता दे सकते हो। परंतु ऐसी कोई बात नहीं है। जब तुम इस सत्यका पता पा जाओगे और उसे स्वीकार कर लोगे, जब तुम विनीत बन जाओगे और सच्ची नम्रताके साथ जीवन और सद्वस्तुके समीप आओगे, तब तुम अपने सच्चे चरित्र और कार्यको देख सकोगे।

गम्भीर अर्थमें लिया जाय तो वास्तवमें जब तुम अपनी सेवा करते हो, तभी तुम दूसरोंकी भी सबसे अच्छी सेवा करते हो। जब तुम अपने अंदर एक काला दाग—अहंकार, महत्त्वाकाङ्क्षा, स्वार्थपरताका एक बीज ढूँढ़ निकालते हो, जब

तुम उसके आवेगके अधीन नहीं हो जाते, बल्कि उसे अतिक्रान्त कर जाते हो, जब तुम इस तरह अपने अंदरकी एक पथभ्रष्ट करनेवाली क्रियाको जीत लेते हो, तब तुम अपनी उसी क्रियाके अंदर दूसरोंके लिये भी विजय ले आते हो; तुम दूसरोंमें भी वही सम्भावना उत्पन्न करते हो। इस व्यक्तिगत आदर्शको प्रतिष्ठापित करनेसे अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई कार्य नहीं हो सकता। यह बात नहीं है कि दूसरे तुम्हें देखते हैं और तुम्हारी नकल करते हैं; बल्कि उसका प्रभाव अधिक सूक्ष्म और अधिक शक्तिशाली होता है। तुम सुयोग पैदा करते हो, एक प्रकाश ले आते हो, अपने अनुभवकी शक्तिको क्रियामें उतार लाते हो, जब कि दूसरोंको उसका कोई ज्ञान नहीं होता। दूसरोंको जो अदृश्य सहायता इस प्रकार दी जाती है, केवल उसीसे वे लाभान्वित होते हैं। परंतु यहाँ भी तुम्हें अपने ऊपर चौकसी रखनी होगी। तुम्हें यह नहीं कहना चाहिये कि 'मैं दूसरोंकी सहायता करूँगा, अतएव मुझे उन्नति कर लेने दो।' तुम्हारे अंदर लेन-देन या मोल-तोलका ऐसा कोई भाव नहीं होना चाहिये। बस, अपने निजी व्यापारमें अपनेको आबद्ध रखो; दूसरोंपर कैसे प्रभाव पड़ता है या नहीं पड़ता, यह तुम्हारा प्रश्न नहीं है। यदि तुम इस प्रकारकी भावनाका पोषण करोगे तो तुम उसी दम्भ और अभिमानको पीछेके दरवाजेसे अपने अंदर बुलाओगे। तुम्हारा जीवन तो बस, फूलके खिलनेके जैसा होना चाहिये; फूल तो आत्मचरितार्थताके अपने निजी हर्ष और आनन्दके वश खिलता है; उस प्रक्रियामें, अपने निरे अस्तित्वके द्वारा ही वह चारों ओर अपना सुवास फैलाता है, अपने आनन्दप्रद प्रकम्पनसे अपने परिपार्श्वको भर देता है। पर वह सब अपने-आप ही होता है, वह जान-बूझकर या किसी उद्देश्यसे यह सब नहीं करता। ठीक, उसी तरह वह जीव भी करता है, जो अपनेको चरितार्थ करता है। वह अपने लिये जो विजय ले आता है, वह संक्रामक होती है और अपने-आप ही फैलती है।

मैंने कहा है कि तुम्हारा अहं एक भ्रम है। तुम्हारे 'मैं' का सर्वथा अस्तित्व ही नहीं है। वह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे पृथक् स्वतन्त्र व्यक्तित्व और व्यक्तिगत चरितार्थता कहा जाय। एकमात्र भगवान् हैं और उनका संकल्प है। वही अद्वितीय और एकमेव तथा सबको अपने अंदर समाविष्ट करनेवाली सद्वस्तु है। तब भला, सत्ताकी इस विभिन्नता और बहुविधताका मूल स्रोत क्या है? इन व्यष्टियों और व्यक्तित्वों-का संसारके रंगमञ्चपर उनके प्रकट होने तथा क्रीड़ा करनेका अर्थ, यदि कोई अर्थ हो तो, क्या है?

मानवताके दान

वैरीको दो क्षमा, मित्रको सत्य हृदय दो।
मानहीनको मान, भीतको सदा अभय दो॥
प्रतिद्वन्द्वीको सहनशीलता सुख-सेवा दो।
अपकारी-हितहारीको हितमय मेवा दो॥
भक्तिपूर्ण मनसे दो सदा पिताको आदर।
भाई-बहिनोंको दो ज्यादा सम्पति सादर॥
तुम्हें जन्म देनेका हो गौरव मनमें अति।
माताको दो निज शुभ कर्मोंसे, ऐसी मति॥
शुभ आचरण स्वयं कर दो, बच्चोंको शिक्षा।
दीन जनोंको दो उनका हक समझ, सुभिक्षा॥
अपनेको इज्जत दो, सेवा दो जन-जनको।
प्रभुके पावन चरणोंमें दे दो निज मनको॥
प्रेम पड़ोसीको दो, निर्मल मधुमय वाणी।
तन-धन सब दो समुद समझ सब हरिमय प्राणी॥

मनुष्यत्व

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०, डी०लिट्०)

प्राचीन हिंदूशास्त्रमें—केवल हिंदूशास्त्रमें ही नहीं, अन्यान्य देशोंके धर्मशास्त्रोंमें भी इतर प्राणियोंके जीव-देहकी अपेक्षा मानव-देहको अधिक उत्कृष्ट माना गया है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुषसंश्रय—इन तीनोंको अति दुर्लभ पदार्थके रूपमें वर्णन किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन तीनोंमें भी मनुष्यत्व ही प्रधान है; क्योंकि मनुष्य-देहकी प्राप्ति हुए बिना मुक्तिकी इच्छा तथा महापुरुष या सद्गुरुका आश्रय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। चौरासी लाख योनियोंके बाद प्राकृतिक विधानसे सौभाग्यवश मनुष्य-देहकी प्राप्ति होती है। चौरासी लाख योनियोंमें स्थावर-जङ्गम सबका समावेश है। स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज—इन त्रिविध प्राणियोंमें जरायुज श्रेष्ठ हैं तथा जरायुजोंमें मनुष्य श्रेष्ठ होता है। चौरासी लाख योनियोंमें जो क्रम-विकासकी धारा दीख पड़ती है, वह केवल प्राकृतिक क्रमका अवलम्बन करके काल-राज्यमें अभिव्यक्त होती है। इन सब योनियोंमें ज्ञान और शक्तिगत जो तारतम्य दीख पड़ता है, उसके मूलमें कर्मगत वैचित्र्य नहीं है। वह केवल प्राकृतिक व्यापार है। एक ही देहमें जैसे क्रमशः बाल्य, यौवन और वार्द्धक्यका विकास होता है, उसी प्रकार एक ही मूल जीवन-धारामें क्रमशः निम्नकोटिके जीवसे आरम्भ करके अधिक-अधिक उत्कृष्ट जीव-जातिकी अभिव्यक्ति हुआ करती है। इस आरोह-क्रममें प्रकृतिका स्वाभाविक विवर्तन ही एकमात्र नियामक होता है। जिस नियममें अव्यक्त सत्ता किसी निर्दिष्ट क्रमके प्रवाहमें अभिव्यक्तिकी ओर अग्रसर होती है, उसी नियममें आदिजीव-स्पन्द प्रकृतिके सहयोगसे क्रमशः आधारके क्रमविकासमूलक अपने क्रमविकासके मार्गमें धीरे-धीरे अग्रसर होता है। एक विचित्र शक्ति प्रकृतिमें निहित रहती है और विशिष्ट देहमें यथासमय इन सभी शक्तियोंका विकास होता है।

अन्नमय कोषका विकास पहले होता है। इस विकाससे ही असंख्य जीवयोनियोंका अतिक्रमण संघटित होता है। क्रमशः अन्नमय कोषमें प्राणशक्तिके अधिकाधिक विकासके फलस्वरूप अन्नमय कोषकी पुष्टताके साथ-साथ प्राणमय कोषका भी विकास होता जाता है। प्राणमय कोषके विकासके फलस्वरूप क्रमशः अति जटिल प्राणचक्रोंकी अभिव्यक्ति होती है। यह प्रसिद्ध है कि आत्मसंवित् पहले प्राणमें परिणत होकर देहके भीतर व्यापकभावसे क्रिया करती है। यह प्राण-शक्तिकी क्रिया विभिन्न श्रेणियोंमें विभक्त होती है। परंतु इन समस्त शक्तियोंके संचालनके लिये विभिन्न मार्ग आवश्यक हैं। इन सब मार्गोंको नाडी या शिरा कहते हैं। अभिव्यक्तिके नियमके अनुसार जैसे प्राणशक्तिके विभिन्न स्तर हैं, उसी प्रकार इन नाडियोंके भी पृथक्-पृथक् स्तर हैं। नाडीचक्रकी यह जटिलता क्रमशः प्राणशक्तिके विकासके साथ-साथ वर्द्धित होती है। पश्चात् ऐसा समय आता है, जब प्राणमय कोष मनोमय कोषमें परिणत हो जाता है। इस परिणतिके समय देहका आमूल परिवर्तन घटित होता है; क्योंकि उस समय केवल प्राणशक्तिके संचालनके मार्गके अतिरिक्त मनोमय शक्तिके संचालनका मार्ग भी प्रकाशित होने लगता है। इसको मनोवहा नाडी कहते हैं। प्राणवहा नाडी जैसे अनेक प्रकारकी होती है, उसी प्रकार मनोवहा नाडी तदपेक्षा और भी अधिक वैचित्र्यसे युक्त होती है।

मनोमय कोषकी अभिव्यक्ति और मनुष्यदेहकी अभिव्यक्ति समकालमें सम्पादित होती है। अतएव प्राणमय कोषका पूर्ण विकास और मनोमय कोषका पूर्वाभास लेकर ही चौरासी लाख योनियोंकी परिसमाप्ति होती है। मनोमय कोषका विकास और मनुष्य-देहका उद्भव एक ही बात है। चौरासी लाख योनियोंके अवसानकी ओर पशु आदिमें मानवोचित वृत्तियोंका कुछ पूर्वाभास देखनेको मिलता है। ये सारी वृत्तियाँ मानसिक वृत्तियोंके रूपमें ही प्रतीत होती हैं, परंतु ये मनके आभासमात्र हैं। प्रकृत मन उस समय भी अवगत नहीं होता। एकमात्र मनुष्य-देहमें ही यथार्थ मनोमय कोषकी स्थिति और क्रिया सम्भव है। मनुष्य-देहमें विचार और विवेकशक्ति क्रमशः प्रस्फुटित होती है। शुभ और अशुभ, सत् और असत्—इन दोनोंकी विचारपूर्वक विवेचना करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमें ही सम्भव है। मानवदेहमें मनकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ अहंमति या अभिमानका उद्भव और विकास घटित होता है। मनुष्यके सिवा अन्य पशु-योनियोंमें यह अभिमान स्पष्ट रूपसे उदित नहीं होता। इस अभिमानसे व्यक्तित्वके बोधका

सूत्रपात होता है तथा मैं और तुम, इन दोनों भावोंके बीच भेदज्ञानका आविर्भाव सम्भव होता है। यह अभिमान क्रियमाण कर्म और उपभुज्यमान फल—दोनों ही ओर सम-भावसे वृद्धिको प्राप्त होता है, अर्थात् एक ओर जैसे कर्तृत्वा-भिमान उत्पन्न होकर अपनेको कर्त्तारूपमें परिचित कराता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भोक्तृत्वाभिमानके प्रभावसे अपनेको सुख-दुःखके भोक्ताके रूपमें परिचित कराता है। कर्म करना और कृतकर्मका फल भोग करना, दोनोंके मूलमें देहके साथ तादात्म्य-बोध निहित रहता है। यह तादात्म्य-बोध अविवेकके द्वारा उत्पन्न हुआ है और यही एक ओर जैसे कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्तिका हेतु है, दूसरी ओर उसी प्रकार कर्मफल-भोगका भी हेतु है। यही सांसारिक जीवनका वैशिष्ट्य है।

इससे समझा जा सकता है कि जीव मनुष्य-देहमें प्रकट होनेके बादसे संसारी बनकर अपने-अपने संस्कारके अनुसार प्रकृतिके राज्यमें शुभाशुभ कर्म करता रहता है और उसका फल भोग करनेके लिये कर्मानुरूप देह ग्रहण करनेको बाध्य होकर लोक-लोकान्तरमें अनुरूप देहोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। इसी प्रकार असंख्य जन्म बीत जाते हैं और इस जन्म-परम्पराके भीतर जीवको विभिन्न प्रकारके शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं। शुभकर्मोंके फलस्वरूप ऊर्ध्वलोकमें गति होती है और नाना प्रकारके देवताओंके शरीर प्राप्त होते हैं। अशुभ कर्मके फलसे उसी प्रकार अधोलोकमें गति होती है तथा पशु आदि निम्न योनियोंमें पतन हो जाता है। साधारणतः मिश्रकर्मके फलसे पुनः मनुष्य-देहमें ही जीव लौट आता है।

यहाँ एक बात याद रखने योग्य है कि मनुष्य निम्न स्तरके पशु-पक्षी आदि कोई देह ग्रहण करनेपर भी उस देहमें दीर्घकालतक नहीं रहता। कर्मफल-भोगके पूर्ण होते ही फिर मनुष्य-देहमें लौट आता है। आरोह-क्रमसे जो जीव पशु-पक्षीके शरीरमें जन्म लेते हैं, उनको मनुष्य-देहमें साधारणतया निर्दिष्ट क्रमको भेद करके आना पड़ता है, परंतु अवरोहक्रममें ऐसा नहीं होता; क्योंकि अवरोहक्रममें जो जन्म होता है, वह केवल कर्मफल-भोगके लिये ही होता है। भोग पूरा हो जानेपर मनुष्यदेहमें जीव फिर लौट आता है। आरोहक्रमसे कर्मफल-भोगके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह पहले ही कहा जा चुका है। जो कर्मवादी नहीं हैं, उनके लिये पशु-पक्षी आदिके देहसे पुनः मनुष्य-देहमें आना जागतिक अचिन्त्य शक्तिके ऊपर निर्भर करता है और वह कब संघटित होता है, यह कहना बहुत ही कठिन है। इस विषयमें अधिक विस्तार इस प्रसङ्गमें अनावश्यक है।

जिस अभावको लेकर जीव मनुष्यदेहमें जन्म लेता है, वह भोगके साथ-साथ भोगाकाङ्क्षाकी वृद्धिके फलस्वरूप क्रमशः बढ़ता जाता है। अनेक जन्म बीत जानेपर एक ऐसा समय आता है, जब भोगाकाङ्क्षा क्रमशः शिथिल हो जाती है; क्योंकि जब देखा जाता है कि अनन्त प्रकारकी भोग्य वस्तुओंका अनन्त प्रकारसे भोग करके भी भोगाकाङ्क्षा शान्त नहीं होती, तब मनमें ग्लानि उत्पन्न होती है और अस्फुट रूपमें निर्वेद और वैराग्यका भाव जाग्रत् होता रहता है। तब प्रवृत्तिकी ओर गतिका वेग घटने लगता है तथा चित्त निवृत्तिभावका आश्रय लेकर क्रमशः अन्तर्मुख होनेकी इच्छा करता है। किसकी यह अवस्था कब होगी, यह बतलाना कठिन है; किंतु जब भी यह होगी, तभीसे उसके अभिनव जीवनका सूत्रपात होगा—यों जानना चाहिये। उस समय जीवको यह आभास होता है कि एक महाशक्ति इस विश्वके भीतर और बाहर कार्य कर रही है। वह प्रकृति है, उसके गुणोंके द्वारा जगत्के सारे कार्य हो रहे हैं। जीव इस प्रकृतिके जालमें जड़ित होकर अविवेकवश समझता है कि कार्यका कर्ता वही है। जीवका यह कर्तृत्वा-भिमान मिथ्याज्ञानका कार्य है। अज्ञ जीव अपनी सामर्थ्यसे कोई कर्म नहीं कर सकता, परंतु प्रकृतिके किये हुए कर्मको भ्रमवश अपना कर्म समझने लगता है। इसीके फलस्वरूप उसको संसारी बनकर नाना प्रकारके सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। आभासरूपसे यह ज्ञान वैराग्यके साथ-साथ किसी-किसीके भीतर जाग उठता है। तब जीव यह समझ पाता है कि आनन्दकी खोजमें वह इस विराट् विश्वमें जन्म-जन्मान्तरसे भटकता आ रहा है। वह आनन्द उसको बाहर किसी देहमें या लोक-लोकान्तरमें उपलभ्य नहीं है। अतएव बारंबार बाहर घूमकर परिक्लान्त होनेकी उसकी इच्छा नहीं होती। परंतु वह आनन्द है कहाँ, इसका पता उसे नहीं होता। अस्फुटरूपसे उसके हृदयमें यह आनन्दका संवाद प्रस्फुटित हो उठता है और यह भी वह जान लेता है कि यह ध्रुव सत्य है; परंतु इसकी प्राप्तिके लिये कौन-सा मार्ग ग्रहण करके, किस प्रकार अग्रसर हुआ जाय—यह उसकी समझमें नहीं

आता। दिन-प्रतिदिन व्याकुलता बढ़ती जाती है तथा वैराग्य भी तीव्र होता है; साथ ही इस अखण्ड विश्वमें वह अपनी क्षुद्रताका भी अनुभव करता है; परंतु जबतक मार्गका संधान नहीं पाता, तबतक अग्रसर नहीं हो पाता।

यह आनन्द ही वस्तुतः उसका स्वरूप है और इसका संधान पानेके लिये ही उसको समस्त जीवन लगा देना उचित है, इस बातको वह समझ लेता है। भगवान् शंकराचार्यने जिस मुमुक्षुत्वकी बात कही है, वह इसी समय उदित होता है। जिस प्रकार चौरासी लाख योनियोंके बाद मनुष्य-देहकी प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार कोटि-कोटि जन्मोंके कर्मफल भोगनेके बाद वैराग्यका उदय और आनन्दस्वरूप निज आत्माका परिचय प्राप्त करके मायाजालसे मुक्त होनेकी आकाङ्क्षा भी दुर्लभ है। यह आकाङ्क्षा ही मुमुक्षा है।

इसके बाद भगवान् शंकराचार्यने महापुरुषके आश्रयकी बात कही है। वे महापुरुष ही सद्गुरु हैं तथा भ्रान्त जीवको स्वस्थानमें लौटाकर स्वरूपमें प्रतिष्ठित करानेके अधिकारी हैं। आचार्यने सद्गुरु-प्राप्तिको अत्यन्त ही दुर्लभ वस्तु माना है, यह सब सत्य है। परंतु यह भी सत्य है कि दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके, उससे भी अधिक दुर्लभ वैराग्य और निवृत्तिभाव तथा मुक्तिकी आकाङ्क्षा प्राप्त करके, सद्गुरुकी कृपाकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अवश्यम्भावी है।

सद्गुरुको खोज करके निकालना नहीं पड़ता, परंतु कभी-कभी अपने कर्मके क्षयके लिये अन्वेषण आवश्यक होता है। समय पूरा होनेपर सद्गुरु स्वयं ही मुमुक्षु जीवको दर्शन देते हैं। सद्गुरुके बिना मार्गका संधान कोई नहीं पाता। मार्गपर चलाकर ले चलनेकी शक्ति भी किसीमें नहीं होती। तथा महालक्ष्यका साक्षात् परिचय भी दूसरोंको नहीं होता। परंतु अल्पज्ञ जीव मायासे मोहित होकर दिग्भ्रान्तरूपमें भटक-भटककर सद्गुरुका संधान नहीं पा सकता। सद्गुरु वस्तुतः स्वयं श्रीभगवान् हैं। उनकी अनुग्रह-शक्ति ही 'गुरुपद'-वाच्य है। वे उपेय हैं अर्थात् उपायके सहयोगसे प्राप्त होते हैं और उपाय भी वे ही स्वयं हैं। वे अपना मार्ग न दिखायें तो कौन उनको खोज निकाल सकता है। वे ही पथ हैं तथा वे ही पथके गन्तव्य स्थान हैं। यह पथ छोटा है या बड़ा—इसको भी एकमात्र वे ही जानते हैं। उनका अनुग्रह होनेपर बहुत लंबा पथ भी छोटा हो सकता है। उनका अनुग्रह शिथिल होनेपर लघु पथ भी दीर्घरूपमें प्रवर्तित हो जाता है और महान् अनुग्रहके समय क्षणभरमें ही पथ अदृश्य भी हो जाता है, एकमात्र स्वयंप्रकाश वे ही अखण्ड भावसे विराजमान हो जाते हैं। याद रखनेकी बात है कि साधारणतया एक उपयुक्त आधारका अवलम्बन करके गुरुरूपी श्रीभगवान् जीवके सामने अपनी अनुग्रह-शक्तिको प्रकाशित करते हैं। इस शक्ति-प्रकाशकी धारा अखण्ड है। जीवकी योग्यता विभिन्न प्रकारकी होती है, अतएव विभिन्न जीवोंके सामने विभिन्न भावसे इस शक्तिका प्रकाश होता है।

गुरुका प्रधान कार्य है—आश्रित शिष्यकी दृष्टिका पर्दा खोल देना तथा उसको सत्यके अनावृत स्वरूपका दर्शन कराना। जीवनका आत्मस्वरूप क्या है, यह जानना आवश्यक है; क्योंकि यही सत्यका यथार्थ स्वरूप है। इस स्वरूपको दिखा देना तथा जो पथ इस स्वरूपकी उपलब्धिकी ओर अग्रसर होता है, उसको दिखा देना गुरुका कार्य है। परंतु उस पथपर चलना तथा क्रिया-कौशल, भावना अथवा संवेगके द्वारा उस पथको पूरा करना शिष्यका काम है। गुरुकी कृपा और शिष्यका आत्म-पौरुष सम्मिलित होकर असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। शिष्य क्षणमात्रके लिये भी अपने स्वरूपको देखकर समझ सकता है कि वह आजतक अपनेको जो समझता रहा है, वह नहीं है। अर्थात् यह देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कुछ भी वह नहीं है। चिरकालतक भोग-मार्गमें चलते-चलते इनको ही वह अपनी सत्ताके रूपमें समझने लगा था। गुरुकी कृपासे वह अब समझ जाता है कि वस्तुतः वह इनमेंसे कोई भी नहीं है, वह इन सब अनात्मसत्ताओंसे पृथक् वस्तु है और चेतन-स्वरूप है। अब वह विज्ञानमय देहमें प्रतिष्ठित हो गया है।

विवेक उत्पन्न होने तथा देहके प्रथम आविर्भावके बाद सुदीर्घकाल तक क्रम-विकासके पथसे विभिन्न स्तरोंसे होते हुए इसे अग्रसर होना पड़ता है। जीवदेह क्रमशः अभिव्यक्त होकर मनुष्य-देहमें जबतक परिणत नहीं होता, तबतक यह प्रश्न उठता ही नहीं कि वह कौन है और उसका स्वरूप क्या है? मनुष्य-देह प्राप्त होनेपर भी देहादिके अभिमानसे युक्त होनेके कारण अपने यथार्थ स्वरूपके विषयमें कोई प्रश्न ही उसके चित्तमें नहीं उठता। सुदीर्घकाल तक कर्मफल-भोग करनेके बाद अन्तमें अवसाद-ग्रस्त होकर जब वह जीवनकी निष्फलताका अनुभव करता है, तब वस्तुतः 'मैं क्या हूँ'—इस प्रश्नका उदय होता है। उसके बाद जबतक यह प्रश्न जड़ नहीं जमा लेता, तबतक इसका समाधान प्राप्त नहीं होता। पश्चात् गुरुकृपासे संशय, भ्रम आदि दूर होकर 'सोऽहं' रूपमें अर्थात्

'मैं ही वह परम पदार्थ हूँ'—इस रूपमें प्रत्यक्षतः उस प्रश्नका उत्तर प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य-देह वस्तुतः समस्त विश्वका प्रतीक है। नीचे, ऊपर, बीचमें—जहाँ जो कुछ है, सबका सार ग्रहण करके यह शरीर रचा गया है। इसीलिये कहा जाता है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है, वही पिण्डमें है और जो पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया था, परंतु वस्तुतः सभी कुछ विश्वरूप है। केवल अपना स्वरूप विस्मृत हो जानेके कारण मनुष्य अपनेको विश्वरूपमें पहचान नहीं सकता। मनुष्य केवल विश्वरूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो विश्वसे भी अतीत है। मनुष्य विश्व भी है और विश्वातीत विशुद्ध प्रकाशस्वरूप भी है—एक ही साथ दोनों है। इस कारण पूर्णत्वकी अभिव्यक्ति मनुष्यमें ही सम्भव है। पशु-पक्षीके देहमें जैसे पूर्णत्वका अभिज्ञान नहीं होता, वैसे ही देव-देहमें भी नहीं होता; क्योंकि दोनों प्रकारके देह भोग-देहके अन्तर्गत हैं। कुण्डलिनी-शक्ति निद्रित रहनेपर भी एकमात्र मनुष्यके देहमें ही विराजती है तथा एकमात्र मनुष्य-देहमें ही वह जाग्रत् होती है, यहाँ तक कि मनुष्य-देहमें ही उसका पूर्ण जागरण सम्भव होता है। देवताओंमें जो पुण्य-कर्मके फलसे भोग और ऐश्वर्यमें प्रतिष्ठित हैं, वे अपूर्ण हैं। यहाँतक कि जो देवता कर्मके सम्बन्धके बिना भी आजान देवताके रूपमें सृष्टिके आदिसे प्रतिष्ठित हैं, वे भी विशेष-विशेष अधिकारोंसे सम्पन्न होनेके कारण पूर्णत्वसे वञ्चित हैं। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड ऐश्वर्य, अखण्ड भाव—ये सब एकमात्र मनुष्य-देहमें ही अवस्थाविशेषमें व्यक्त हो सकते हैं। मनुष्यके सिवा अन्य किसी योनिमें पूर्णत्वके मार्गपर आरूढ़ होना सम्भव नहीं। इसीसे शास्त्र कहते हैं कि देवगण भी मनुष्य-शरीरकी स्तुति किया करते हैं।

पूर्णज्ञानको समझनेके लिये अज्ञानके स्वरूपको समझना आवश्यक है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, उसके उस स्वरूपको ठीक-ठीक जाननेका नाम ही यथार्थ ज्ञान है। आत्मा यदि अपनेको आत्माके रूपमें पहचान सके, अर्थात् यदि उसकी निज-स्वरूपमें अहंकी प्रतीति उत्पन्न हो जाय, तो उसीको यथार्थ आत्मज्ञान समझना चाहिये। अतएव आत्मामें अनात्म-बोध होना अथवा अनात्मामें अनात्माको आत्मा समझना—दोनों ही अज्ञानपदवाच्य हैं। पूर्ण अहंभाव केवल परमात्मा या परमेश्वरमें ही सम्भव है। जब तक आत्मा मायासे आच्छन्न है, तबतक वह अनात्माको आत्माके रूपमें ग्रहण करनेके लिये बाध्य होता है। सर्वप्रथम वह इस स्थूल देहको ही अपना स्वरूप समझता है और इसीमें उसका 'मैं-पन' निहित रहता है। इसके बाद स्थूल देहसे 'मैं-पन' का बोध दूर हो जानेपर भी प्राण और बुद्धिमें अर्थात् सूक्ष्म सत्तामें 'मैं-पन'का बोध रह जाता है। इसको दूर करनेमें बहुत समय लगता है। उसके बाद प्राण और बुद्धिके परे शून्यमें उसका 'मैं-पन'का बोध निमग्न हो जाता है। इसी प्रकार क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे होते हुए जीव निरन्तर घूमता-फिरता रहता है। इसके फलस्वरूप उसका शून्यभेद अथवा सुषुप्तिभेद घटित नहीं होता और वह मायाके बाहर अपने स्वरूपको उपलब्ध नहीं कर पाता। यही सांसारिक अवस्थाका संक्षिप्त विवरण है। परंतु जब विवेक-ज्ञानका उदय होता है, तब आत्मा समझ पाता है कि वह मायासे भिन्न और मायाके कार्यभूत त्रिविध देहसे भी भिन्न है; मायिक सत्ता जड है, परंतु वह शुद्ध चेतन है। इस अवस्थामें स्थित होनेपर जीवनरूपी आत्मा कर्म और माया दोनोंसे मुक्त हो जाता है और कैवल्य-दशाको प्राप्त होता है। साधारण दृष्टिसे यह भी मुक्त अवस्था है, इसमें संदेह नहीं है। परंतु यह पूर्ण मुक्ति नहीं है; क्योंकि अनात्मामें आत्मबोधरूपी अज्ञान निवृत्त हो जानेपर भी शुद्ध अज्ञान अब भी रह ही जाता है। कैवल्यको प्राप्त आत्मा कर्म-संस्कारके अभाववश संसारचक्रमें तो नहीं पड़ता, परंतु पूर्ण भागवत-जीवनका अधिकारी नहीं होता; उस समय ज्ञानका विकास होनेपर भी वह यथार्थ दिव्य ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उस समय क्रिया-शक्तिका विकास नहीं होता। वस्तुतः पूर्ण चैतन्यस्वरूपमें ज्ञान और क्रिया अभिन्न होते हैं। अतएव महामायाके उल्लासरूप शुद्ध अज्ञानकी निवृत्ति जबतक नहीं होती, तबतक जीव कैवल्यरूप मुक्तिको प्राप्त होकर भी दिव्यजीवनके मार्गमें पदार्पण नहीं कर सकता। सद्गुरुकी कृपाके बिना पूर्णत्वका पथ उन्मुक्त नहीं होता। गुरुकी कृपासे जब वह मार्ग प्राप्त हो जाता है, तब जीवका जीवभाव अर्थात् प्राकृत भाव कट जाता है तथा दिव्य और अप्राकृत भावका उदय होता है। उस समय क्रमशः चैतन्य शक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। अनात्मामें आत्मभाव कट जानेपर भी अबतक आत्मामें अनात्मभाव नहीं कटा था। दिव्यज्ञानके उदय और विकासके साथ-साथ आत्मामें अनात्म-भावरूप शुद्ध अज्ञान कटना प्रारम्भ हो जाता है। यह अज्ञान जब पूर्णतया उच्छिन्न हो जाता है, तब अपनेको पूर्ण और परमात्मरूपमें उपलब्ध करता है। उस समय बोध-क्षेत्रमें अनात्मभाव बिल्कुल ही नहीं रह जाता। यह शुद्ध आत्मा सोऽहं

रूपमें अपनेको पूर्ण अनुभव करता है। यही चित्-शक्तिकी पूर्ण अभिव्यक्ति है तथा परमात्माके साथ जीवात्माके अभेदकी प्रतिष्ठा है।

इस अवस्थाके आनन्दको मानवीय भाषामें व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह स्थिति प्राप्त करनेके बाद केवल निरन्तर आत्मस्वरूपका ही अविच्छिन्न अनुभव जाग्रत् रहता है। उस समय विश्व अथवा जगत्की स्मृति या अनुभव उसको नहीं होता। यही पूर्ण ब्राह्मी स्थिति है। परंतु इसके परे भी एक अवस्था है। वह अवस्था निश्चय ही सबके लिये नहीं है। किसी-किसी विशिष्ट पुरुषको उस अवस्थाकी प्राप्ति होती है, सबको नहीं। उस अवस्थामें जगत्का बोध फिर लौट आता है; परंतु यह पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थितिकी प्रतिकूल अवस्था नहीं है। क्योंकि ब्राह्मी स्थितिकी अखण्ड अनुभूति कभी लुप्त होनेवाली नहीं।

ब्राह्मी स्थितिकी अवस्था और उसके बाद आनेवाली अवस्थाके बीच एक सामान्य भेद है। ब्राह्मी स्थितिके पूर्वकी अवस्थामें जैसे केवल जीवभाव रहता है, उस समय ब्रह्मभावका स्फुरण नहीं होता, उसी प्रकार ब्राह्मी स्थितिमें ब्रह्मभावना जब होती है, तब जीवभावका भी स्फुरण नहीं होता; परंतु तृतीय अवस्थामें परिनिष्ठित ब्रह्मभावके भीतर ही जीव और जगत्की अनुभूति यथावत् लौट आती है। इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थितिके भीतर ही एक अभूतपूर्व उल्लास लक्षित होता है, जिसके फलस्वरूप पूर्ण आनन्द महाकरुणाके रूपमें प्रकट होता है। जीव-अवस्थामें समस्त विश्व दुःखमय होता है, यथार्थ आनन्दका आभास वहाँ जाग्रत् नहीं होता। जो आनन्द छायाके रूपमें वहाँ उपलब्ध होता है, वह दुःखका ही एक भेदमात्र होता है; परंतु ब्रह्मावस्थामें समस्त दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति एक साथ ही होती है। इस अवस्थामें दुःखकी अनुभूति भी नहीं रहती, जीवकी अनुभूति भी नहीं रहती, जगत्की अनुभूति भी नहीं रहती। सर्वत्र अपना ही स्वरूप दीखता है तथा अविच्छिन्न स्वरूपमें आनन्दके सिवा और कुछ लक्षित नहीं होता। यही वस्तुतः स्वरूपस्थितिका विवरण है। परंतु यह श्रीभगवान्के साथ 'जीवात्माका' साम्य है, यह भी परिपूर्ण अवस्था नहीं है; क्योंकि जो अखण्ड सत्ता योगीका चरम लक्ष्य है, वह सम्यक् प्रकारसे अब भी अधिगत नहीं होती; क्योंकि एकमुक्ति और सर्वमुक्तिके अभिन्न रूपमें प्रकाशित होनेका अभी अवसर ही नहीं आया। तृतीय अवस्थामें द्वितीय अवस्थाकी पूर्णताके भीतर ही प्रथम अवस्थाकी वेदना प्रतिभासित हो उठती है। उस समय जीव और जगत् तथा अनन्त दुःख अखण्ड पूर्ण आनन्दके भीतर फूट पड़ता है। जो समाधिके आवरणमें दबा हुआ था, वह अवसर पाकर अपनेको प्रकट करता है। इसके फलस्वरूप दुःखके सांनिध्यके कारण पूर्ववर्णित आनन्द करुणा-रूप धारण करता है। जिसमें इस करुणाशक्तिका जितना ही अधिक उद्रेक होता है, वह उतना ही अधिक परिपूर्ण स्थिति प्राप्त करनेकी योग्यतासे सम्पन्न होता है। यह तृतीय अवस्था ही सद्गुरुकी अवस्था है। वे नित्यमुक्त पूर्ण ब्रह्मस्वरूप होकर भी एक प्रकारसे प्रतिजीवके दुःखके स्पर्शसे करुणार्द्रहृदय होते हैं। दुर्गासप्तशतीमें श्रीजगदम्बाको 'सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता' कहा गया है। संतान-वात्सल्य-मूलक जो आनन्दमयी माँकी आर्द्रचित्तता है, वही महाकरुणाका निदर्शन है। स्वयं आनन्दमें प्रतिष्ठित होकर भी जबतक दूसरेको उसी प्रकारके आनन्दमें प्रतिष्ठित नहीं किया जाता, तबतक यह कहना नहीं बनता कि जीवनका यथार्थ महत्त्व सम्पन्न हो गया; परंतु यह बात सबके लिये नहीं है, किसी-किसी भाग्यवान्के लिये है। इसी कारण एक ओर अनवच्छिन्न परमानन्द होते हुए भी दूसरी ओर अशेष करुणाका स्थान रहता है। कहना नहीं होगा कि परमानन्दकी भित्तिमें यह परम रसका उल्लास है। यह रस अनन्त प्रकारका हो सकता है। अथवा शास्त्र-निर्दिष्ट नौ प्रकारका भी हो सकता है। परंतु यहाँ जिस दृष्टिकोणसे विचार किया जा रहा है, उसके अनुसार इसको करुणरसके नामसे पुकारना ही ठीक है। इसी कारण महाकवि भवभूतिने कहा है—एको रसः करुण एव।

यह जिस स्थितिकी बात कही गयी है, वही सद्गुरुकी स्थिति है। दूसरेके दुःखसे दुःखित हुए बिना करुणाका उदय नहीं होता और करुणाके बिना दूसरेका दुःख भी दूर नहीं किया जाता। जबतक दूसरा है, तबतक उसका दुःख भी है तथा उसको निवृत्त करनेका प्रयोजन भी है और उसकी निवृत्ति आवश्यक है। अतएव गुरुभावका योग भी स्वाभाविक है। किंतु पूर्वोक्त द्वितीय अवस्थामें यह अन्यबोध तथा अन्यका दुःख-बोध नहीं रहता। अतः उसका अस्तित्व भी उस समय कल्पित होनेकी सम्भावना नहीं होती; परंतु समाधि या समावेश दशाके कट जानेपर अपनी पूर्णतानुभूतिके भीतर ही यह अन्य या पर-बोध व्युत्थितके हृदयमें जाग उठता है। उस समय करुणाका उद्रेक होता है। यही जीवन्मुक्त सद्गुरुकी दशा है। जो जिस परिमाणमें श्रीभगवान्के अनुग्रह-वितरण-

रूपी इस महायज्ञमें भाग ले सकते हैं, उनको उतना ही सौभाग्यवान् समझना चाहिये। जिनकी करुणाका प्रसारक्षेत्र जितना अधिक होता है, श्रीभगवान्के साथ उनका तादात्म्य भी उतना ही गम्भीर होता है।

एक प्रकारसे मुक्तपुरुष श्रीभगवान्के साथ अभेदमें प्रतिष्ठित होनेपर भी दूसरी ओर देहावस्थामें किंचित् भेद-विशिष्ट होनेके कारण करुणाके अधिकारके सम्बन्धमें भी तारतम्यविशिष्ट होते हैं। अपने स्वगत भावको जो परम स्वरूपमें विसर्जित कर सकता है, उसका कर्मक्षेत्र असीम हो जाता है। नहीं तो, जिसका क्षेत्र जिस परिमाणमें होता है उसे उसी परिमाणमें अनुग्रह-शक्ति अथवा महाकरुणाका विस्तार करके अवसर ग्रहण करना पड़ता है।

मनुष्य-शरीरका गुरुत्व इतना अधिक है कि वह विश्व-गुरुके साथ अभिन्न होकर, जबतक इच्छा हो, तबतक सिद्धस्वरूपमें विश्वगुरुके प्रतिनिधि अथवा परिकरके रूपमें, जगत्के सेवाकार्य या जीवके उद्धारकार्यमें अपनेको नियुक्त रख सकता है। कहना नहीं होगा कि यह सब महामायाकी नित्यलीलाके अन्तर्गत है। अतएव मनुष्य-देहका गौरव केवल ब्रह्मको प्रत्यक्ष जाननेमें नहीं है, केवल ब्रह्मानन्दका स्वयं भोग करनेमें नहीं है, बल्कि निर्विशेषरूप ब्रह्मानन्दको सबमें वितरण करनेका अधिकार प्राप्त करनेमें है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि देवताओंको भी यह अधिकार नहीं है, यहाँतक कि साधारण मुक्त पुरुषको भी नहीं है। इस अधिकारकी प्राप्ति जबतक पूर्ण नहीं होती (अवश्य ही अपनी ओरसे), तबतक आत्मा परमात्माके साथ अभिन्न होकर भी कुछ भेदयुक्त रहता है। यह अवस्था दीर्घकालतक रह सकती है और क्षणमात्रमें भी विलीन हो जा सकती है। सब कुछ स्वेच्छाधीन है। उससे स्वरूपकी हीनता या क्षुद्रता नहीं होती।

अतएव 'महापुरुषका संश्रय' भी मानवदेहकी महिमाका सम्यक् परिचय नहीं है। 'महापुरुष' पदमें स्वयं प्रतिष्ठित होना भी मानवदेहमें ही सम्भव है।

मानवता और उसका तत्त्व

(लेखक—डा० श्री[illegible] साहा, एम्० ए०, डी० लिट्०)

मानव-जीवनका उद्देश्य क्या है ? लक्ष्य क्या है ? मानव-जीवन क्या है ? इन सब प्रश्नोंके साथ-साथ हमारे स्मृति-पथमें कुछ श्रुति-वाक्य उदित होते हैं—

> किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
> जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
> अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
> वर्तामहे…………………… ॥—इत्यादि

ये प्रश्न और भी स्पष्टतररूपमें जिज्ञासित हुए हैं केनोपनिषद्में—

> केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
> केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः—इत्यादि

हम कहाँसे आये हैं ? हम किस प्रकार जीवन धारण करें ? जीवनमें सुख-दुःखकी व्यवस्था किसने की ? मनकी वृत्तियोंके मार्गमें मनको किसने प्रेरित किया ? आद्य प्राणका संचारण ही किसकी शक्तिके द्वारा सम्पन्न हुआ ?

इन प्रश्नोंके ऊपर ध्यान देनेसे हमारी समझमें आ जाता है कि मानव-जीवन केवल घर-द्वार, सोना-चाँदी, रुपया-पैसा, धन-सम्पत्तिके लिये नहीं है। मानव-जीवनका तत्त्व बड़ा ही गहन और गम्भीर है। जीवनके सुख-दुःख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन, पाप-पुण्य आदि अत्यन्त ही गूढ़ और जटिल तत्त्व-समूह हैं। इन सब विषयोंकी जटिलताके भीतर प्रवेश न करके हम इस विषयपर सहज ढंगसे विचार करनेकी चेष्टा करेंगे।

मनुष्य सुख चाहता है, परंतु पाता नहीं। सुख प्रेतदीपके प्रकाशके समान है, वह मनुष्यको विपथमें ले जाकर विपद्ग्रस्त कर देता है। भारतीय दर्शन दुःखको लेकर ही सब तत्त्वोंकी आलोचना करते हैं। सांख्यदर्शनमें कहा गया है—

> दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।

इन विषयोंका अति गम्भीरतापूर्वक निरूपण श्रीमद्भागवतमें हुआ है। मनुष्य दुःख क्यों पाता है ? दुःख दूर करनेका उपाय क्या है ? नीचे एकादश स्कन्धका एक श्लोकांश उद्धृत किया जाता है—

'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्०' (११ । २ । ३७) —जीवनमें जहाँतक दुःख और दुर्दशा दीख पड़ती है, उन सबका मूल भय है। अद्वितीय-स्वरूप भगवान्को भूलकर मनुष्य अन्यान्य नाना विषयोंमें नाना प्रकारसे अभिनिविष्ट

हो जाता है और इसी कारण उसके जीवनमें दुरन्त दुःखकी घनघटा घनीभूत हो उठती है। वह परमेश्वरके ध्यान और धारणासे च्युत हो जाता है। उसके जीवनकी सारी बातें विपरीत हो जाती हैं। वह दुःखको सुख समझता है। पापको पुण्य मानता है। अमङ्गल उसकी दृष्टिमें मङ्गल दीखता है, कुत्सित सुन्दर दीखता है। उसके जीवनकी ध्रुव-स्मृति नष्ट हो जाती है। भगवद्-विषयको भूलकर, पारमार्थिक विषयको भूलकर वह मिथ्या-मिथ्या विषयोंमें, अनात्म-विषयोंमें मत्त होकर असत्पथमें विचरण करने लगता है। मायाके प्रभावसे ये सारे अनिष्ट घटित होते हैं। मायाका प्रभाव अत्यन्त कठिन है। भगवदाश्रित व्यक्तिको माया प्रभावित नहीं कर सकती। भगवान्‌से विच्युत होकर ही जीवगण मायाके अधीन होते हैं। मायाके प्रभावको दूर करनेका एकमात्र उपाय है पुनः भगवत्पादपद्ममें आश्रय लेना। इसके लिये श्रीशुकदेवजीका उपदेश है—श्रीगुरुदेवको हृदयमें रखकर, गुरुदेवके बतलाये हुए मार्गपर चलते हुए भगवद्भजन करना। हम जिस प्रश्नको लेकर विचार करना चाहते हैं, एकादश स्कन्धके एक और श्लोकपर दृष्टिपात करनेसे हमको इस प्रश्नका उत्तर मिल जायगा। मानव-जीवनमें दो क्रियाएँ होती हैं—दैहिक क्रिया और मानसिक क्रिया। परंतु यह द्वैत अज्ञतामूलक है। दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे देह और मन एक दूसरेसे पृथक् नहीं हैं। इस बातको तनिक खोलकर कहना है। देह जीवनकी मूलभित्ति है। मन देहके ही अन्तर्गत है। देह चार प्रकारका है अथवा चार पृथक् स्तरोंमें अवस्थित है। स्थूलदेह मांस, अस्थि, स्नायु और मज्जा आदिसे निर्मित है; इसीका 'भोगमन्दिरम्' कहकर निर्देश करते हैं तथा यह 'केवलं दुःखभोगाय क्लीसंतति-गुम्फितम्' है। अर्थात् प्रतिक्षण दुःखभोग ही इस देहका विशेषत्व है। सुख अस्थायी है। वह दुःखके द्वारको खोलकर चला जाता है। इस स्थूल-देहका ही दूसरा नाम है—अन्नमयकोश। स्थूलदेहके बाद सूक्ष्मदेह है, जिसका दूसरा नाम 'आतिवाहिक' देह है। स्थूलदेहके समान ही सूक्ष्मदेह भी पाञ्चभौतिक है। सूक्ष्मदेह साधारण इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होता। देहान्तके समय जब जीव परलोकके लिये गमन करता है, उस समय वह इसी सूक्ष्मदेहके साथ आबद्ध रहता है। सूक्ष्मदेहके अन्तर्गत लिङ्गदेह है। यह लिङ्गदेह ही मनोमय-देह है, जिसे मानसदेह भी कह सकते हैं और जो अठारह अंशोंसे परिपूर्ण होता है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च-प्राण, अहंकार, बुद्धि और मन—ये ही अष्टादश अङ्ग हैं, जिनसे लिङ्गदेह गठित है। दूसरे मतसे पञ्चप्राणके स्थानमें पञ्चतन्मात्राएँ ली जाती हैं; क्योंकि विधारणशक्ति पञ्च-तन्मात्राओंकी ही होती है। लिङ्ग-शरीर ही अन्तःकरणका आश्रय होता है। लिङ्ग-शरीर ही जीवनका मूल तत्त्व है, मूल व्यापार है, मूल विषय है। पाप-पुण्य, सुख-दुःख, उन्नति-अवनति, धर्म-ज्ञान, वैराग्य-ऐश्वर्य तथा अधर्म-अज्ञान, अवैराग्य-अनैश्वर्य—सभी लिङ्ग-शरीरके आश्रित हैं। लिङ्ग-शरीर ही मानवताकी केन्द्रभूमि है। मानवका छोटा-बड़ा होना, अच्छा-बुरा होना, श्रेष्ठ-निकृष्ट होना—सब कुछ लिङ्ग-शरीरमें अङ्कित, परिमित तथा परिचित है। लिङ्ग-शरीरको हम जीवनका साधन (Instrument of life) कह सकते हैं। जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक लिङ्ग-शरीर रहता है। लिङ्ग-शरीर जबतक प्रकृतिमें लीन नहीं होता, तबतक मोक्ष नहीं होता। 'लयं गच्छतीति लिङ्गम्'—समस्त कामनाओं और वासनाओंका अवसान हुए बिना लिङ्ग-शरीर लीन नहीं होता और लिङ्ग-शरीरके लीन हुए बिना मोक्ष भी नहीं होता। लिङ्ग-शरीर कारण-शरीरसे उत्पन्न होता है। वह तत्त्व-प्रधान, चित्स्वरूप, शान्त और निर्मल होता है।

वासुदेवाख्य भगवत्तत्त्व इसी कारण-शरीररूपी चित्त-क्षेत्रमें विभासित रहता है। इसी प्रसङ्गमें हम पञ्चकोशका उल्लेख करेंगे। चीन देशके एक विचित्र डिब्बेकी बात हम जानते हैं, जिसमें अनेक कोष्ठ होते हैं, जो एक दूसरेमें बंद किये जा सकते हैं। उसी प्रकार पञ्चकोश परस्पर समावृत तथा संनिरुद्ध होते हैं। प्रथमतः अन्नमय कोश है, जो वस्तुतः स्थूलदेह है। इस अन्नमय कोशमें संगृहीत होता है प्राणमय कोश। अन्नमय कोशको हम भौतिक ढाँचा(Physiologica structure) कह सकते हैं। उसके भीतर विधृत हो... है प्राणमय कोश (Vital structure), इसके भीतर समावृत होता है मनोमय कोश। मनोमय कोशके अन्तर्गत विज्ञानमय कोश होता है। बुद्धि तथा पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ विज्ञानमय कोशके उपादान हैं। मनुष्यकी विवेक-शक्ति, नीति, धर्म, पाप-पुण्य आदि-का विचार-विमर्श जिस शक्तिके द्वारा होता है तथा जिस शक्तिको अंग्रेजीमें 'कान्शेन्स' (Conscience) कहते हैं—ये सब विज्ञानमय कोशके अन्तर्गत हैं। आनन्दमय कोश विज्ञानमय कोशके अन्तर्गत होता है। यह आनन्दमय कोश सत्त्वप्रधान होता है। रज और तम इसमें प्रायः लीन रहते हैं। यही कोश भगवत्-अधिष्ठान है। भागवतमें कहा है—

यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदुच्यते।

अतएव हमको आनन्दमय कोश नाना नामोंसे अभिहित

मिलता है। प्रथमतः यह आनन्दमय कोश है, द्वितीयतः चित्त है, तृतीयतः भगवत्-क्षेत्र है, चतुर्थतः महत्तत्त्व है। व्यष्टिरूपमें जो महत्तत्त्व है, वही समष्टिरूपमें हिरण्यगर्भ है। वही मूर्तिमान् होकर ब्रह्मा, सृष्टिका बीज तथा सृष्टिकर्त्ता है। आनन्दमय कोश ही जीवके भीतर प्राकृतिक सीमा है। आनन्दमय कोशको पार करनेपर ही सच्चिदानन्दमय भगवान्‌का राज्य मिलता है। आनन्दमय कोशका आनन्द प्राकृतिक है। प्राकृतिक आनन्द सच्चिदानन्दका आनन्द नहीं है। प्राकृतिक आनन्दका जो निर्मलतम आनन्द है, वही आनन्दमय कोश है।

ये पञ्चकोश ही जीवके चार देहोंका निर्माण करके अवस्थित रहते हैं। इन चार देहोंमें स्थूल देह अस्थि-मांस-शोणितमय और नितान्त नश्वर है, दुःख-यन्त्रणाका हेतु है। देहान्त होनेपर जीवके द्वारा असह्य क्लेश और यन्त्रणाका भोग होता है, वह सूक्ष्मदेहमें होता है। सूक्ष्मदेहमें स्थूलदेहके समान रक्त-मांस नहीं होता; परंतु वह अत्यन्त दुःखावह होता है। वह जैसे दुःखावह होता है, वैसे ही सुखावह भी होता है। स्थूलदेहमें जो सुख-दुःख-भोग होता है, सूक्ष्मदेहमें उससे सैकड़ों-गुना अधिक होता है। मर्त्य-जीवनमें जब मनुष्य पाप-पुण्यका आचरण करता है, उस समय यह बात उसको याद रखनी चाहिये। इन पञ्चकोशान्तर्गत देह-मन-बुद्धि आदि तत्त्वों-का विचार करनेपर 'मानव-जीवन क्या है? तथा कैसा है? जीवनका क्या कर्तव्य है?' आदि विषय स्वतः ही प्रकाशित हो उठते हैं। जीवनकी उन्नति और अवनति, उत्थान और पतनकी क्या नीति है, यह हम अनायास ही समझ सकते हैं। इस विवेचनमें हमने एकादश स्कन्धके जिस एक श्लोकका उल्लेख किया है, उसपर यहाँ कुछ विचार किया जाता है। श्लोक यह है—

> नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
> प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
> मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
> पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। २०। १७)

मनुष्य-शरीर ही सबसे आद्य देह है। सब देहोंका साँचा (Model) है। इसके नीचे इतर जीव-समूहोंके देह हैं। ऊपर उच्चतर देवादि जीवोंके देह हैं। सब देहोंका आदर्श है मानव-देह। अर्थात् मानव-देह सर्वाङ्गसुन्दरता (Perfection) को प्राप्त होकर देवादि उच्चतर जीवोंके देहमें परिणत होता है तथा वही मानव-देह अपभ्रंशको प्राप्त होकर अन्य निकृष्ट जीवोंके देहमें परिणत होता है— जैसे पशु-पक्षी, सरीसृप आदिके देह। नृदेहसे शुकदेवजीका अभिप्राय मनुष्यके चार प्रकारके देहसे ही है। वे कहते हैं कि मानव-देह जैसे सुलभ है, वैसे ही दुर्लभ भी है। जो लोग सैकड़ों-हजारों जन्मोंके बाद एक बार मनुष्य होकर जन्मते हैं—मानव-देह प्राप्त करते हैं, उनके लिये मानव-देह सुलभ हो गया है; क्योंकि प्रायः मनुष्य मरनेके बाद मनुष्य होकर ही जन्म ग्रहण करता है, यद्यपि ऐसा नियम नहीं है। परंतु चतुष्पद और सरीसृप आदि देहके लिये मनुष्य-देह अति दुर्लभ है। हम कितने लाख जन्मोंके बाद फिर मनुष्य होंगे —मनुष्य-देह प्राप्त करेंगे, इसका कोई निश्चय नहीं है।

नृदेहका दूसरा विशेषण है 'सुकल्प'। प्रथम विशेषण है आद्य, द्वितीय सुलभ, तृतीय दुर्लभ और चतुर्थ सुकल्प। 'सुकल्प'का अर्थ है सर्वतोभावेन सुयोग्य (fully competent) और सुदक्ष। जीवनका सम्पूर्ण कार्य इन चार देहोंके द्वारा साधित होता है। देहधारी जीवके लिये ऐसा कोई कार्य, ऐसा कोई विषय अथवा ऐसा कोई व्यापार नहीं, जो सम्पन्न न हो सके। वह आकाशमें उड़ सकता है, समुद्रतलमें पैठकर मोती ला सकता है, अपने कमरेमें बैठा हुआ आकाशचारी ग्रह-नक्षत्रोंके मङ्गल-अमङ्गलजनक प्रभावोंका हिसाब-किताब कर सकता है। परंतु मानव-देहकी सर्वोपरि शक्ति, सर्वोत्कृष्ट योग्यता यही है कि वह अगाध भवसिन्धुको पार कर सकता है। यह एक सुचारु, सुगठित, सर्वभारवहन करनेमें समर्थ, सुदृढ़ नौकाके समान अगाध समुद्रमें कार्य कर सकता है।

'प्लवं सुकल्पम्'—भगवान्‌ने इस देहकी सृष्टि करके इसके द्वारा देहधारीको भवसागर पार करानेकी सारी व्यवस्था कर रखी है। गुरुदेव डाँड़ पकड़े बैठे हैं। 'प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्'—करुणामय भगवान् चिरकालसे ही देहरूपी नौकाका पाल तानकर अनुकूल वायु बहानेके लिये प्रस्तुत हैं। जीव पार होनेके लिये उत्सुक होकर, आकर नौकामें बैठ जाय और एक बार कह दे—'हे कृष्ण! करुणा करके पाल उठा दो और अनुकूल वायु प्रवाहित करो। गुरुदेव! डाँड़ पकड़कर नौका चलाओ। भवसिन्धु मेरे लिये दुःखसिन्धु हो गया है, कृपा करके मुझको पार करो। चिन्मय आनन्द और उज्ज्वल आलोकके तटपर मुझे उतार दो।' सर्वान्तःकरणसे जो भगवान्‌से यह प्रार्थना करेगा, वह अनायास ही भवसिन्धु-से पार हो जायगा। यदि वह ऐसा नहीं करता—ऐसी सुयोग-

दुर्विपाकः कल्याणपथके इतना अवरोधक। इतने आलोचनका पर्दा उठ नहीं उठता तो वह निश्चय ही आत्मघाती है—

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।

इस प्रकार भागवतके दो श्लोकोंकी समीक्षा की गयी। इससे 'मानव-जीवन क्या है? मानव-जीवनका कर्तव्य क्या है? जीवनका कल्याण किसमें है? परम पुरुषार्थ क्या है तथा कैसे प्राप्त हो सकता है?'—इत्यादि विषयोंका सुनिश्चित आभास हमें मिला। मानव-जीवन दुःख और दुर्दशासे परिपूर्ण है—

दुःखालयमशाश्वतम्। इमं प्राप्य भजस्व माम्॥

भगवद्भजन जीवका सर्वोपरि कर्तव्य है। परंतु भगवद्भजन सहज होनेपर भी मायाके प्रभावसे दुरूह हो गया है। मायाके प्रभावका खण्डन करनेके लिये एकमात्र उपाय है—एकान्त मनसे भगवदाश्रय ग्रहण करना; परंतु भगवदाश्रय ग्रहण करनेकी सुमति और सत्प्रवृत्ति सबमें नहीं होती तथा सब समय नहीं होती। यह मानव-जीवनकी उच्च भूमिकाओंका विषय है। अबतक उसी उच्च भूमिकाकी बात कुछ कही गयी है। अब एक बार यत्किंचित् नीचेकी ओर दृष्टि लौटाइये।

भगवद्भक्तिकी साधना उच्च भूमिका मुख्य व्यापार है। वहीं परमार्थकी तथा परम पुरुषार्थका अनुसंधान है। भक्ति सबके चित्तमें प्रतिभात नहीं होती। उन सब चित्तोंके लिये शास्त्रने ज्ञान-विज्ञान तथा अद्वैतकी साधना और ब्रह्म-सायुज्यका विधान बतलाया है। ये सारी उच्च भूमिकाकी बातें हैं; परंतु संसारमें सहस्रों लोग हैं, जिनका मन इनमेंसे किसीमें भी नहीं लगता। वे मायामुग्ध तथा मायाबद्ध जीव हैं। उनके जीवनकी कल्याणसाधना किस प्रकार होगी? विषयोंकी ध्यान-धारणा करनेसे विषयोंमें आसक्ति पैदा होती है; आसक्तिसे दुर्दान्त काम और कामनाकी उत्पत्ति होती है। काम ही रूपान्तरित होकर क्रोधमें परिणत होता है। क्रोधसे मोहकी उत्पत्ति होती है, पूर्ण मूढ़ता आ जाती है। मोहसे जीवनके कल्याणकी स्मृतिका सूत्र छिन्न हो जाता है। स्मृतिके छिन्न होनेसे बुद्धि भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। बुद्धिके छिन्न-भिन्न हो जानेपर मृत्यु—सर्वनाशका प्रभाव घेर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषय-भावना तथा जडका चिन्तन प्रकारान्तरसे मृत्युकी भावना है। चाहे जो भावना हो; चाहे जो भावना हो, उसका एक लक्ष्य रहेगा ही। उस लक्ष्यको लक्ष्यरूपमें जानें या न जानें, वह या तो मृत्यु है या अमृत है। इन दोनों लक्ष्योंके सिवा एक तीसरा लक्ष्य भी है। लक्ष्य जानकर ही लोग उसका अनुसंधान करते हैं। वह है पुण्य, जिसके द्वारा स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति सम्भव होती है। जडकी साधना वस्तुतः कोई चाहता नहीं। शारीरिक अर्थात् इन्द्रियादिकी जड शक्ति इन्द्रियोंकी परितृप्ति, लोलुपता आदि मोहमय रूप धारण करती है। सुख-सम्भोगकी तीव्र आकाङ्क्षा अन्तःकरणमें जाग उठती है; उसके सिवा और कुछ अच्छा नहीं लगता। इस आकाङ्क्षाके अधीन होना और मृत्युके जालमें जकड़ना एक ही बात है। इस आकाङ्क्षासे जकड़ा हुआ जीवन, इस कामिनी-काञ्चनकी कामनासे विजडित जीवन वस्तुतः मानव-जीवन नहीं है। यह मानवके आकारमें पशु-जीवन भी नहीं है; क्योंकि पशुके जीवन-की लालसा सीमाबद्ध होती है और मानव-जीवनकी लालसा सीमाहीन। मानवका काममय जीवन पशुके जीवनसे भी निकृष्ट होता है। पशुके जीवनमें उच्च प्रवृत्ति कुछ नहीं होती। मनुष्यके मनमें सब प्रकारकी सम्भव प्रवृत्ति होती है। तथापि उसके अनुसरणकी सारी शक्तिको पददलित कर मनुष्य पशुसे भी हीन बनकर जो कामकी साधना करनेके लिये उन्मत्त हो उठता है, इससे बढ़कर जीवका अधःपतन और क्या हो सकता है? कामकी साधनाका अर्थ है—मृत्युकी साधना। मृत्यु हम नहीं चाहते। मृत्युसे छुटकारा पानेके लिये कामकी अधीनताका परिहार करना पड़ेगा। कामाधीनता एक क्षुद्र स्वार्थपरता है। स्वार्थ अनेक प्रकारका होता है। उनमें निकृष्टतम इन्द्रिय-परितृप्तिकी लालसारूप स्वार्थ है, जो सबके लिये अकल्याणका हेतु है।

मानव-जीवनकी दो प्रधान भावनाएँ हैं—स्वार्थभावना और परार्थभावना। परार्थभावना मङ्गलका निधान है। स्वार्थभावना जिस प्रकार अन्तःकरणको संकीर्ण और निकृष्ट बना डालती है, परार्थभावना उसी प्रकार मनोवृत्तियोंको उदार, उन्मुक्त और उज्ज्वल कर देती है। परार्थभावना ही धीरे-धीरे परमार्थभावनामें परिणत होती है। असंख्य मनुष्य ऐसे हैं, जिनका चित्त भगवत्प्रेमकी ओर कदापि उन्मुख नहीं होता। वे लोग भगवान्के प्रति एक प्रकारका लघु विद्वेष अनुभव करते हैं। विद्वेष न होनेपर भी अप्रीति तो होती ही है। उन सब लोगोंकी स्वार्थभावनाको भगवद्भावनामें परिणत करना प्रायः असम्भव है। स्वार्थके नरकसे उनका उद्धार करनेका एक उपाय है और वह है 'परार्थभावना', परहितकी एषणा, परहितका व्रत। यह संसार दुःखमय है, ताप-संतापमय

है—यह समझनेके लिये कोई चेष्टा आवश्यक नहीं होती। हमारे किसी दुःखको यदि कोई दूर कर दे तो हमें परम परितृप्ति होती है। हम यदि दूसरोंके दुःखको दूर करें, दूसरोंके सुखमें आनन्दका आभास देखें तो हमको हृदयमें आनन्दका अनुभव होगा, हम अपने हृदयमें विशुद्धताका अनुभव करेंगे, अन्तःकरण प्रसन्न हो उठेगा। हम अविलम्ब समझ सकेंगे कि परहित-साधन उच्चकोटिकी मानवताके स्फुरणका प्रधान उपाय है। दूसरोंकी भलाई करते-करते चित्तमें एक अपूर्व प्रसन्नता जाग उठेगी। भीतर एक उज्ज्वल विशालता खिल उठेगी। बहुत दिनोंकी इकट्ठी स्वार्थबुद्धि धीरे-धीरे संकुचित हो जायगी।

मनुष्यत्व और पशुत्वमें चाहे कितना ही भेद हो, उनमें मुख्य भेद यह है कि मनुष्य दूसरोंके दुःखमें दुःखका अनुभव करता है। अन्य किसी जीवमें यह अनुभव-शक्ति नहीं है। यह 'पर-दुःख-कातरता' तथा 'पर-सुखमें सहृदयता' ही मनुष्यका सर्वप्रधान मनुष्यत्व तथा मानवकी सर्वप्रधान मानवता है। यह परदुःखकातरता, यह दया नामक सुदिव्य सद्गुण, यह सुकोमल करुणा, जो पुण्य नेत्रोंमें मङ्गलाश्रुके रूपमें बह उठती है, यही यथार्थ मनुष्यत्व है। यही सच्ची मानवता है। इसी कारण अंग्रेजीमें सहृदयता, दया, सहानुभूतिको Humanity अर्थात् 'मानवता' कहते हैं। Humane शब्दका अर्थ है 'सदय'। सहानुभूति और दयासे सारे सद्गुणोंकी उत्पत्ति होती है। इधर भी हम देखते हैं कि परोपकार-व्रतमें निरत रहनेपर नाना प्रकारके सद्गुणोंका अनुशीलन करनेकी प्रवृत्ति चित्तमें जाग उठती है। इसी कारण नीतिधर्ममें द्वादश नीतियोंमें प्रथम नीति है दया। उन द्वादश नीतियोंको दया-दान, यम-नियम आदिके नामसे पुकारते हैं। मनुष्यमें प्रेम करनेपर, मनुष्यका हित-साधन करनेकी चेष्टा करते-करते अन्तःकरणमें सारे सद्गुणोंकी स्फुरणा होती है। जीवके प्रति दया ही उज्ज्वल होकर, उन्नत होकर, दिव्यभावको प्राप्त होकर भगवान्‌के प्रति भक्तिमें परिणत होती है।

बौद्धधर्ममें भगवान् नहीं हैं और भक्ति भी नहीं है। किंतु अप्रतिहतबुद्धि बुद्धदेवने भगवान् और भक्तिके स्थानमें स्थापित किया है अहिंसा और दयाको, जीवके प्रति करुणा और मैत्रीको। उन्होंने बतलाया है कि परार्थभावनामें तथा पर-दुःखमें दुःखकी अनुभूति करनेमें सारे सद्गुण निहित हैं। उन्होंने देवत्वको हटाकर उसके स्थानमें मानवताको स्थापित किया था। जैनधर्म-प्रवर्तक महावीर स्वामीने भी यही किया है। दूसरोंके दुःखमें दुःखानुभूति और परहित-व्रतको उन्होंने धर्मकी मूलभित्तिके रूपमें प्रतिष्ठित किया है।

नीतिधर्मकी द्वादश नीतिका उल्लेख ऊपर किया गया है। यह पातञ्जल-दर्शनका प्रारम्भिक विषय है। पतञ्जलि मुनिने अपने दर्शनमें दस नीतियोंका उल्लेख किया है। पतञ्जलि ऋषिने इन नीतियोंको सार्वभौम कहा है। विश्वके प्रत्येक मनुष्यके लिये ये नीतियाँ आवश्यक हैं, प्रत्येकके लिये पालनीय हैं, प्रत्येकको इनका अनुशीलन करना होगा। इन नीतियोंके ऊपर ही मनुष्यका मनुष्यत्व तथा मानवकी मानवता प्रतिष्ठित है। प्रथमतः अहिंसा ही सब धर्मोंका मूलतत्त्व है। अहिंसा ही मानवताका प्रथम अङ्ग है। इस अहिंसापर ही बुद्धदेवका धर्म अवलम्बित है। अहिंसाके द्वारा ही महावीरके जैनधर्मकी विजयपताका जगत्‌में फहरायी है। ईसाके धर्ममें भी अहिंसाका स्थान अति उच्च है। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो अहिंसाकी प्रशंसा और आदर न करता हो। अहिंसाके बाद है 'सत्य', जिस सत्यके सम्बन्धमें कहा गया है—'न हि सत्यात्परो धर्मः।' यहाँ उसी सत्यका स्थान है और अहिंसाके बाद आनेपर भी सत्य ही सब नीतिधर्मकी तथा भागवत-धर्मकी आदि भित्ति है। स्वयं श्रीभगवान् सत्यस्वरूप हैं। एक छोटे-से-छोटा कीट भी सत्यमें प्रतिष्ठित है। सत्यमें ही विश्व विधृत है। सत्यके बाद आता है 'अस्तेय'। परधनको आत्मसात् करनेकी प्रवृत्तिको जो शक्ति दमन करती है, उसका नाम 'अस्तेय' है। यह नीतिधर्मका एक मुख्य अङ्ग है। इसके पश्चात् आता है 'ब्रह्मचर्य'। जिसके ऊपर मानव-चरित्रकी प्रतिष्ठा है तथा जिसके बिना चरित्रगठन असम्भव है। चरित्रका सारा सौन्दर्य ब्रह्मचर्यसे आता है। तत्पश्चात् 'अपरिग्रह' आता है। जीवन-धारणके लिये जो आवश्यक है, उसके अतिरिक्त कुछ ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' है। अपरिग्रह वैराग्यका उद्बोधक है। एक प्रबल शक्ति, जिसमें इन पाँचोंका समावेश होता है, 'यम'के नामसे पुकारी जाती है। बाह्य जगत्‌के साथ मनुष्यका जो नाना प्रकारसे सम्बन्ध होता है, आदान-प्रदान होता है, ये पाँचों नीतियाँ उन सारे सम्बन्धोंको नियमित करती हैं।

इनके सिवा पाँच और नीतियाँ हैं, जो सभी अन्तरङ्ग हैं—मनुष्यके अन्तर्जीवनके विषयोंको नियमित करती हैं। बहिर्जगत्‌के साथ इन नीतियोंका योगायोग नहीं होता। इन पाँच

नीतियोंको 'नियम' कहते हैं। 'यम' जिस प्रकार बहिर्जीवन-विषयक है, उसी प्रकार 'नियम' अन्तर्जीवन-विषयक है। उन पाँचोंमें प्रथम नीति 'तप' है। जिस अध्यात्मशक्तिके द्वारा दैहिक और मानसिक शक्तियोंको सुसंगत, सुसंयत तथा पूर्णरूपसे वशीभूत रक्खा जाता है, उसीका नाम 'तप' है। इसको अंग्रेजीमें Power of Spiritual Continence कहते हैं। इसके बाद आता है—'शौच'। 'शौच' दैहिक और मानसिक शुद्धता और निर्मलताको कहते हैं। शौच एक नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति है, जिसके द्वारा जीवनकी सब प्रकारसे विशुद्धि होती है। जीवनमें जितनी अशुद्धि है, वह मुख्यतः कामना, वासना और लालसासे आती है। अतएव शौच वैराग्यका सहायक है। जीवको उन्नत बनानेके जितने भी उपाय हैं, शौच भी उनमेंसे एक है। शौच कामवासना और भोगवासनाका विरोधी है। तृतीय नीति है 'संतोष'। यह वस्तुतः निर्लोभता और अलोलुपताका पर्याय है। संतोष जीवनमें एक परम सम्पत्ति है। यह मणि-मुक्ताकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। चतुर्थ नीति है—'स्वाध्याय'। स्वाध्यायका अर्थ है—वेद-वेदान्त, गीता-भागवत आदिका अध्ययन। यह प्राण और मनको उन्नत और उज्ज्वल करता है, उदार और उन्मुक्त करता है, ज्ञानालोकके अनेकों झरोखे खोल देता है। स्वाध्यायकी शक्ति और महिमाका वर्णन नहीं किया जा सकता। स्वाध्यायके बाद 'ईश्वर-प्रणिधान' आता है। पातञ्जल-दर्शनमें ईश्वरका उल्लेख यहीं आरम्भ होता है और यहीं समाप्त हो जाता है। सांख्य-दर्शनमें इसकी अपेक्षा कुछ अधिक उल्लेख है, यद्यपि अज्ञ पण्डितवर्ग सांख्यको 'निरीश्वर' विशेषण देते हैं, परंतु वह भ्रान्ति है। सांख्य-दर्शनमें निविड़ और निगूढ़भावसे ईश्वरका उल्लेख है।

मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये यम-नियम और दया-दानके कल्पतरुके नीचे आश्रय ग्रहण करके शक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी होगी। इन नीतियोंका प्रयोग यदि जीवनमें ठीक-ठीकसे हो तो जीवनकी सारी नैतिक आधि-व्याधि दूर हो जायगी। सारी दुर्बलताओंके स्थानमें शक्तिका आधान होगा। सारी अशुचिता, सारी अपवित्रता, सारी मलिनता धीरे-धीरे धुल जायगी। मानव देहमें, मनमें दिव्यताको प्राप्तकर, सर्वाङ्गसुन्दर रूप और सब प्रकारके गुणोंको प्राप्तकर जीवनकी अतिमानुषिक भूमिकी ओर अग्रसर होगा।

ये दया-दान और यम-नियम ही श्रेष्ठ मानवताकी साधनाके अन्तिम उपाय नहीं हैं, इनके सिवा दूसरे भी उपाय हैं। गीतामें तेरहवें अध्यायके पूर्वार्द्धमें वर्णित नीतियोंका यहाँ यत्किंचित् उल्लेख किया जाता है। वहाँ जो बीस अवयवोंसे युक्त ज्ञानकी बात कही गयी है, हमें उसी ज्ञानका अर्जन करना होगा। उस ज्ञानमें मनुष्य बननेका तथा मनुष्य बनकर देवता बननेके श्रेष्ठ मार्गका निर्देश है। 'ज्ञान' शब्दसे हमारा अभिप्राय विज्ञानरूपी ज्ञानसे है, जिसको अंग्रेजीमें abstract knowledge कहते हैं; परंतु गीतामें जो ज्ञान वर्णित है वह दिव्य चरित्रके निर्माणका प्रवर्तक है। उसके द्वारा निर्मल, उज्ज्वल, अभिनव, शक्तिमान् मन, बुद्धि और चित्तका गठन होता है। अन्तःकरण आलोकित हो उठता है। उस ज्ञानका प्रथम अवयव 'अमानित्व' है। उस ज्ञानके होनेपर मैं जज हूँ, मैं मैजिस्ट्रेट हूँ, विद्वान् हूँ, बुद्धिमान् हूँ, ब्राह्मण हूँ, अधिकारी हूँ, मन्त्री हूँ या साधक हूँ—इत्यादि कोई भी अभिमान न रहेगा। चित्त विनयी, नम्र और विमल हो जायगा। दूसरा अवयव है—'अदम्भित्व'। चाहे जितनी ही ज्ञान-विद्या, धन-सम्पत्ति रहे, इसके साधनसे मनमें दाम्भिकता न रहेगी। सारा दिखावा दूर हो जायगा। तीसरा अवयव है—'अहिंसा'। अहिंसाका यमके रूपमें हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ ज्ञानकी धारामें उसका पुनः उल्लेख हुआ है। चौथा अवयव है 'क्षान्ति'। क्षान्तिके दो अर्थ हैं—एक है क्षमा, और दूसरा यह कि चाहे जो कुछ हो, मुझे चिन्ता नहीं करनी है। इसीको अंग्रेजीमें Resignation कहते हैं। पाँचवाँ अवयव है—'आर्जव' अर्थात् सरलता। मन, वाणी और कर्ममें एक—रहना सरलता कहलाता है। छठा है भाव 'गुरुसेवा', गुरुकी उपासना। सातवाँ है—'शौच', जो नियमके अङ्गके रूपमें पहले ही आ चुका है। आठवाँ है—'स्थैर्य'—स्थिरता। प्रतिक्षण चञ्चलता, जीवन-पथमें परिवर्तन पापतुल्य है; इसको रोकना पड़ेगा। स्थिरता और धैर्यका अवलम्बन करना होगा। जीवनका लक्ष्य स्थिर रखना होगा। चाहे कितना ही कठिन हो, कितना ही क्लेशकर हो, जो कार्य आरम्भ कर दिया है, उसको करते ही जाना—इसका नाम है स्थैर्य। नवाँ है 'आत्मविनिग्रह' अर्थात् आत्मसंयम। चरित्रकी मुख्य नीति आत्मसंयम ही है। चित्तके विकार एकके बाद दूसरे नदीके तरङ्गके समान आते ही रहेंगे, उनमें प्रवाहित होनेसे काम नहीं चलेगा। विकारोंके वेगको रोकना पड़ेगा। तर्क और युक्तिके द्वारा वासनाओंका त्याग करना पड़ेगा। यही

आत्मविनिग्रह है। दसवाँ है इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्। यही यथार्थ वैराग्य है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिके प्रति जो पञ्चेन्द्रियोंकी लालसा है, उसका दमन करना होगा। अतएव ये सभी अनात्मवस्तु हैं; सभी अशुचि हैं, सभी मोहमय हैं, सभी परमार्थविरोधी हैं, इनको मैं बिल्कुल ही नहीं चाहता—इस प्रकार इन सबको विषवत् त्यागना होगा। ग्यारहवाँ है—'अनहंकार'। अहङ्कार सब अनर्थोंका मूल है। सारे पापोंका उत्पत्तिस्थान है। अहंकारका परिहार करना होगा। अहंकार दूर होनेपर भगवद्भावना सहज हो जायगी। तत्पश्चात् बारहवाँ है—जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्। जीवनमें दुःखका अन्त नहीं है। दोषका अर्थात् पापका अन्त नहीं है। व्याधि—पीड़ा पुनः-पुनः आती है। बुढ़ापेकी दुर्दशा चारों ओर दीखती है। मृत्यु निश्चित है। पुनः जन्म और पुनः मृत्यु—इत्यादि जीवनके व्यापारको ध्यान देकर देखना होगा। ये सब कुछ हमारी आँखोंके सामने आभासित हो रहे हैं। हम अंधे हैं, मूढ़के समान कुछ भी नहीं देखते, कुछ भी नहीं समझते। ऐसा होना ठीक नहीं। यह अज्ञान है। तेरहवाँ है—'असक्ति' अर्थात् साधारणतः विषयोंसे वैराग्य—अपारमार्थिक, अनात्मविषयमें उपेक्षाभाव। चौदहवाँ है—स्त्री-पुत्र-कन्या-गृह आदिमें अनासक्ति। अर्थात् इन सबमें जो मन मग्न रहता है, वह अनिष्टकर है। इसकी निवृत्ति आवश्यक है। पंद्रहवाँ है—नित्य समचित्तता। 'जीवनमें इष्ट और अनिष्ट, ईप्सित और अनीप्सित प्रतिक्षण आते ही रहेंगे। इन सबमें समचित्त रहना। इनके द्वारा चित्त सदा ही चञ्चल होता रहता है, इस चञ्चलताको कदापि न होने देना। यही समचित्तत्व है। निर्विकारता और समचित्तताका अभ्यास करना होगा। सोलहवाँ है—'श्रीभगवान्‌में सुदृढ़ा अकिंचना अव्यभिचारिणी भक्ति'। यही ज्ञानका सुगम्भीर आश्रय है, यह जीवनमें सर्वोपरि वाञ्छनीय वस्तु है। भक्ति ज्ञानका केवल अङ्गमात्र नहीं है; यह ज्ञानकी भित्ति है, ज्ञानकी प्रतिष्ठा है। सत्रहवाँ है—निर्जन स्थानमें वास करना। इस जीवनमें अध्यात्म-प्रवृत्ति तथा पारमार्थिक भाव जितने ही प्रबल होंगे, उतना ही हमें निर्जन स्थान प्रीतिप्रद जान पड़ेगा तथा जन-समागम अप्रिय जान पड़ेगा। यही है अठारहवाँ अङ्ग—जन-समाजसे अप्रीति। उन्नीसवाँ—अध्यात्मज्ञानानुसंधान प्रतिक्षण होता रहेगा। तत्पश्चात् बीसवाँ—तत्त्वज्ञानार्थकी उपलब्धि ही नहीं होगी, बल्कि वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा।

यह जो बत्तीस (२०+१०+२) ज्ञान-विज्ञान तथा नीतिधर्मके अवयवोंके विषयमें उल्लेख किया गया, यह केवल विज्ञानतः अर्जन मात्र नहीं हैं। ये चित्त और चरित्रको क्रमबद्धताके साथ निर्माण करते हैं। ईंटके ऊपर ईंट रखकर सिमेंट देकर राजमिस्त्री जैसे प्रासादका निर्माण करता है, यह चरित्रनिर्माण भी उसी प्रकार होता है। उपर्युक्त रीतिसे उपादानोंके द्वारा जो चरित्रगठन होगा, उसमें कोई त्रुटि नहीं रहेगी। वह त्रुटिहीन और निर्दोष होगा और प्रबल शक्तिशाली होगा। वह अनिवार्यरूपसे तेजस्वी होता है। इसी चरित्रके भीतरसे श्रेष्ठ मानवता प्रकाशित होती है। श्रेष्ठ मानव, अतिमानवको प्रकट करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

मानव छोटे-से-छोटा होता है, दुर्बल-से-दुर्बल होता है, निकृष्ट-से-निकृष्ट होता है—क्षुद्र स्वार्थपरताके कारण, इन्द्रियवृत्तियोंकी चरितार्थताके लिये जडाभिनिवेशके कारण। जिस प्रणालीसे चरित्रगठनके उपायोंका ऊपर निर्देश किया गया है, उसमें जीवनके इन सब पापोंका प्रवेश असम्भव हो जायगा। भोग-लालसा आदि दोष हृदयमें जाग न सकेंगे। उपर्युक्त पुण्यमयी नीतियोंके पुण्यप्रभावसे अन्तःकरणके आध्यात्मिक सत्त्व सुवर्णमय हो जायँगे, कभी नष्ट-भ्रष्ट न हो सकेंगे। चिरंतन बने रहेंगे।

ये बत्तीस नीतियाँ यदि जीवनमें किंचिन्मात्र भी यथार्थरूपसे आ जायँगी तो जीवनमें अमङ्गल दूर हो जायँगे और यदि अधिकांश या समग्ररूपमें आ जायँगी तो मानव सर्वसम्पदाका अधिकारी हो जायगा। इनमें सर्वप्रधान भगवद्भक्ति है, द्वितीय है अद्वैत ज्ञान तथा ब्रह्मसायुज्य मुक्तिकी योग्यता। तृतीय है जगन्मङ्गलमय महान् पुरुषोंके कार्योंका अंश ग्रहण करनेकी प्रबल प्रवृत्ति, अर्थात् सर्वतोभावेन परहित-व्रत ग्रहण करनेकी ऐकान्तिक इच्छा। मानव-जीवनके प्रबल शत्रु हैं—इन्द्रियभोगकी वासना, तज्जनित स्वार्थपरता तथा तज्जनित जड विषयोंकी अधीनता। ये सब धीरे-धीरे नष्ट हो जायँगे और जीवन ज्योतिर्मय तथा आनन्दमय हो उठेगा। क्रमशः उत्कृष्टतर मानवताका स्फुरण होगा और धीरे-धीरे उसका पूर्ण प्रकाश होगा। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

आदर्श आतिथ्य

मयूरध्वजकी अभूतपूर्व अतिथि-सेवा

महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञका अश्व श्रीकृष्णार्जुनके संरक्षणमें था, उधर उसी समय रत्नपुराधीश्वर महाराज मयूरध्वजका अश्वमेधीय घोड़ा भी निकला था। मणिपुरमें दोनोंका सामना हो गया। ताम्रध्वज अर्जुनको पराजित करके दोनों अश्वोंको अपने पिता मयूरध्वजके पास ले गया। मयूरध्वजको इससे कष्ट हुआ; क्योंकि वे श्रीकृष्णके परम भक्त थे। अर्जुन मूर्च्छासे चेत करनेपर घोड़ेके लिये विकल हो उठे। भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मण गुरु बने और अर्जुनको शिष्य बनाकर मयूरध्वजके पास गये। राजाके पूछनेपर बताया गया कि सिंहने इनके पुत्रको पकड़ लिया है। सिंह किसी प्रकार भी उसे छोड़नेपर राजी नहीं हुआ। अन्तमें वह इस बातपर राजी हुआ है कि 'यदि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपने दाहिने अङ्गको अपनी रानी तथा राजकुमारके द्वारा चिरवाकर दे दें तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।'

उदार राजा मयूरध्वजने प्रसन्नतासे अपना दक्षिण अङ्ग देना स्वीकार किया। दो खंभोंके बीचमें 'गोविन्द-माधव-मुकुन्द' नामोच्चारण करते हुए राजा बैठ गये। राजाके आज्ञानुसार रानी तथा पुत्र ताम्रध्वज आरेसे उनको चीरने लगे। जब शरीर चीरा जा रहा था, तब मयूरध्वजकी बायीं आँखसे आँसूकी बूँद टपक पड़ी। इसपर ब्राह्मण-वेशधारी भगवान्ने कहा—'राजन्! मैं दुःखपूर्वक दी हुई वस्तु नहीं लेता।' तब राजा बोले—'महाराज! आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि शरीर कटनेसे मुझे दुःख हो रहा है। बायें अङ्गोंको इस बातका दुःख है कि वे दाहिने अङ्गोंके समान ब्राह्मणके काममें आनेका सौभाग्य प्राप्त न कर सके। इसीसे बायीं आँखमें आँसू आ गये।'

राजाकी बात सुनते ही श्यामसुन्दर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूपमें प्रकट हो गये। उन्होंने अपने अमृतमय कर-कमलसे राजाके शरीरका स्पर्श किया। स्पर्श करते ही वह पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर, तरुण और पुष्ट हो गया। राजाको भगवान्ने निश्चल प्रेम-प्राप्तिका वरदान दिया। राजाने कहा—'प्रभो! ऐसी कठोर परीक्षा किसीकी न की जाय।' अन्तमें तीन दिन उनका आतिथ्य स्वीकार करके घोड़ा लेकर श्रीकृष्णार्जुन वहाँसे चले गये।

रन्तिदेवकी विलक्षण अतिथि-सेवा

राजा रन्तिदेव बड़े त्यागी थे। जो कुछ मिलता, सब दूसरोंको दे डालते और स्वयं भूखे रह जाते। एक-बारकी बात है—उनका अन्न-धन सब वितरित हो चुका था। अड़तालीस दिन बीत गये केवल जल पीकर और तब अचानक एक दिन घी पड़ी खीर, लपसी तथा जल किसीने दे दिया। भगवान्को अर्पित करके अड़तालीस दिनका भूखा परिवार भोजन करने जा रहा था कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गये। रन्तिदेवने भगवान् समझकर उन्हें सादर भोजन कराया और अपनेको धन्य माना कि प्रभुने अतिथि भेजा! अतिथिको खिलाये बिना आहार नहीं लेना पड़ा।

किंतु रन्तिदेवके भाग्यमें भोजन कहाँ था! वह तो अतिथियोंके आगमनका दिन था। विप्रके जानेपर एक शूद्र आ गया और वह भी जब तृप्त होकर जा चुका, तब कुत्तोंसे घिरा चाण्डाल आया। कुत्ते भूखसे दुर्बल

आदर्श आतिथ्य

मयूरध्वज-श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण-दुर्वासा

रन्तिदेव

मुद्गल

भगवान्‌के लिये त्याग

कुमार सिद्धार्थ — बालक शङ्कराचार्य — श्रीचैतन्यदेव — मीराँबाई
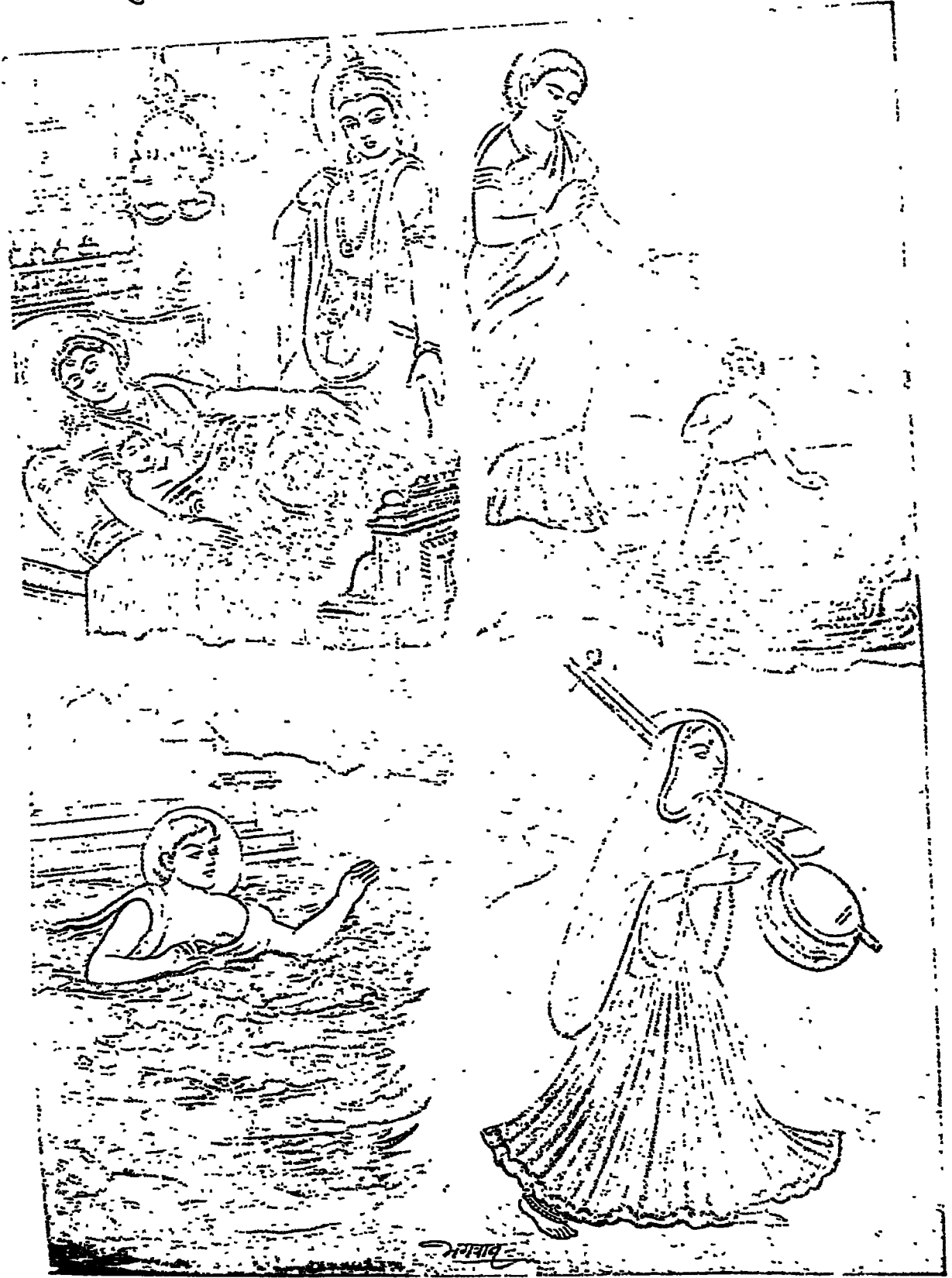
ौर भूखा चाण्डाल—अब भला भोजन कहाँसे बचता। बचा था थोड़ा-सा जलमात्र और जब रन्तिदेव उसे ापसमें बाँटकर पीने जा रहे थे उसी समय आर्तकण्ठ, पिपासापीड़ित एक चाण्डाल जल माँगता आया!

'मेरे इस जलदानसे प्राणियोंके कष्ट दूर हों। आधि-व्याधिपीड़ित प्राणियोंका क्लेश मिटे!' रन्तिदेवने ह जल भी अतिथिको दे दिया। विश्वके परम संचालक—ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों रूपोंमें ऐसे अतिथिसेवीके सम्मुख पनेको प्रकट करनेसे कैसे रोक सकते थे!

श्रीकृष्णकी 'न भूतो न भविष्यति' अतिथि-सेवा

महर्षि दुर्वासाने द्वारकामें जाकर कहा—'मुझे अपने घरमें कौन ठहराता है? मुझे वही ठहराये, जो मेरा सब कुछ सह सके।' श्रीकृष्णने उनको ठहराया। वे कभी रोने लगते, कभी हँसते; कभी घरकी चीजोंमें आग लगा देते। जब जो इच्छा होती, माँगते और उसी क्षण वह वस्तु उन्हें मिल जाती।

एक दिन बोले—'खीर लाओ।' श्रीकृष्णने तुरंत खीर दे दी। थोड़ी-सी खाकर बोले—'कृष्ण! इस खीरको अपने सारे शरीरपर पोत लो।' श्रीकृष्णने वैसा ही किया। ऋषिने पास खड़ी रुक्मिणीदेवीसे कहा—'तुम भी चुपड़ लो।'

फिर बोले—'रथ मँगाओ।' तुरंत रथ आ गया। तब कहा—'रुक्मिणी तुरंत रथमें जुत जाय।' खीर लिपटी रुक्मिणी रथमें जुत गयी। महर्षि रथपर बैठे चाबुक लेकर। राजमार्गपर रथ चला मुनिके इच्छानुसार और वे सटासट चाबुक फटकारते रहे रुक्मिणी देवीपर।

खीर लपेटे श्रीकृष्णने सामने आकर बिना क्रोधके नम्रतासे कहा—'भगवन्! प्रसन्न होइये।' दुर्वासा पानी-पानी हो गये। बोले—'गोविन्द! तुम धन्य हो। तुम्हारे बिना मेरा ऐसा आतिथ्य कौन करता।'

मुद्गल मुनिकी परम अतिथि-सेवा

कुरुक्षेत्र निवास था मुद्गलजीका। वे गृहस्थ थे। पत्नी तथा एक पुत्र। किंतु उनका भोजन पंद्रह दिनमें केवल एक बार बनता था। पंद्रह दिन वे खेतोंमें गिरे दाने चुनते। इस शिलोञ्छवृत्तिसे १५ दिनमें एक द्रोण (लगभग ३४ सेर) अन्न वे एकत्र कर लेते थे।

अमावस्या तथा पूर्णिमाको एकत्र अन्नसे इष्टीकृत यज्ञ, दर्श तथा पौर्णमास श्राद्ध करके, अतिथि-सेवाके पश्चात् जो बच जाता, उससे वह तापस-परिवार पेटकी ज्वाला शान्त कर लेता था।

मुद्गलके तप-त्याग-धर्मकी ख्यातिने महर्षि दुर्वासाको आकर्षित किया। वे एक पूर्णिमाको पागलके वेशमें मुद्गलके यहाँ पहुँचे। मुद्गलने सादर आतिथ्य किया। दुर्वासाने भोजन किया और जो अन्न बचा उसे पूरे शरीरमें मल लिया। वे तो चले गये; किंतु ब्राह्मणपरिवार भूखा रह गया। अब प्रत्येक अमावस्या-पूर्णिमाको दुर्वासाजी आ धमकते। उनका एक ही ढंग। पूरे छः बार अर्थात् तीन महीने उपवास किया मुद्गलके परिवारने।

ऐसे महातपोधनको लेने स्वर्गसे विमान न आये तो किसके लिये आयेगा; किंतु मुद्गल-जैसे परम पदके आकाङ्क्षी महामानव तो विमानको निराश लौटानेमें समर्थ हैं।

भगवान्‌के लिये त्याग

श्रीशङ्कराचार्यका संन्यास

'मा ! तेरा पुत्र अपने मनुष्य-जन्मको सफल करने जा रहा है, अतः तू व्यथित मत हो । जीवनके लक्ष्य-को—परम तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये सांसारिक मोहको, गृहके बन्धनको छोड़ना पड़ता है और जब तेरे देह-त्यागका समय होगा, मैं अवश्य तेरे समीप आ जाऊँगा ।' पाँच वर्षके बालकके इन वचनोंसे माताको कितना धैर्य मिलना था; किंतु जिन्हें विश्वको अपने ज्ञानालोकसे झलमला देना था, जो ज्ञानके भास्करको निरावरण करने पधारे थे धरापर, गृह कैसे रोक लेता उन्हें । पाँच वर्षकी अवस्था; किंतु महामानवोंके प्रबुद्ध होनेमें अवस्था कहाँ व्याघात बनी । वह बालक जो गृह त्याग रहा था—वही तो भुवनवन्द्य शङ्कराचार्य थे ।

बुद्धत्वकी ओर

'अब इन्हें ले जाओ सारथि ! सिद्धार्थके लिये अब इनका कोई उपयोग नहीं ।' अर्धरात्रिमें सोती हुई पत्नी यशोधरा तथा शिशुपुत्र राहुलको छोड़कर राजकुमार सिद्धार्थ राजसदनसे निकल गये । दूर जाकर अश्व भी छोड़ दिया उन्होंने और अपने शरीरपरके बहुमूल्य वस्त्राभरण भी उतारकर साथ आये सारथिको दे दिये—'महाराजसे कहना ! बोध प्राप्त हो गया तो किसी दिन उसका आलोक प्रदान करने लौटूँगा अन्यथा…………'

इस प्रकार जिनके त्यागमें सुविचार एवं दृढ़ निश्चय है—बुद्धत्व उनकी प्रतीक्षा न करता तो करता क्या । जगत्‌को पुनीत होना ही था उनकी वाणीसे ।

निमाईका गृह-त्याग

क्या नहीं था गौराङ्गके गृहमें । साक्षात् कमलोद्भवा-सी परम सुन्दरी, पतिपरायणा पत्नी विष्णुप्रिया, वात्सल्यमयी जननी, स्वस्थ सुरसुन्दर शरीर, नदियाके जन-जनका सच्चा स्नेह, आत्माधिक सम्मान करनेवाले सुहृद्, प्रकाण्ड प्रतिभा, विपुल यश—संसारमें जिन भोगोंकी कोई स्पृहा कर सकता है, सभी तो निमाईके श्रीचरणोंमें समुपस्थित थे ।

अर्धरात्रिमें निद्रिता माता, प्रसुप्त पत्नीको क्रन्दन करनेके लिये त्यागकर गङ्गाको भुजाओंसे तैरकर निमाई निकल पड़े संन्यास-ग्रहणके लिये—किसी दुःखसे ? किसी अभावसे ? अरे, उस भुवनमोहन नीलसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका आकर्षण—उसको प्राप्त करनेकी पिपासा जब प्राणोंमें जाग्रत् हो जाय—संसारके स्वजन एवं भोग दृष्टि पड़ते हैं ?

राजरानी मीराँ

'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।'

यह उन्मादिनीकी भाँति नाचती, गाती हुई अश्रुधारासे पथधूलिको आर्द्र करती, वृन्दावनका मार्ग पूछती, दौड़ती पगली—कौन है यह ? क्या हुआ है इसे ?

यह राजरानी—इसे ही कहाँ कोई अभाव था । मीराँ राजरानीकी भाँति रहती, सुख-सम्मानकी क्या कमी थी इसके लिये, किंतु रहती कैसे ? वह यशोदाका लाल रहने भी दे । उस त्रिभङ्ग-सुन्दरकी वंशी जब किसीके प्राणोंमें बज उठती है—स्थिर रह सकता है वह ?

यह भी उसी नन्दनन्दनकी प्रेम-दिवानी—अब वृन्दावनका पथ छोड़कर दूसरा कोई पथ इसके पाद-स्पर्शसे कैसे पुनीत बननेका सौभाग्य पाता ।

मानवताका उद्भव और विकास

(लेखक—पं० श्रीपाद दा० सातवळेकर महोदय)

'मानवता' का अर्थ 'मनुष्यपन' है। वास्तवमें मानव-का अर्थ 'मनुके कुलमें उत्पन्न' है। अर्थात् 'मानवता'का अर्थ 'मनुके कुलकी शोभा बढ़ानेवाला आचरण करनेवाले मनुष्यका मनुष्यपन' है। हमें आज 'मानवता'का अर्थ 'मनुष्यपन' ही ध्यानमें रखना है और यह मनुष्यपन मनुष्यमें किस रीतिसे विकसित होता है, इसपर विचार करना है।

मनुष्यके नाम 'जन' 'लोक' 'मनुष्य, 'नर' इत्यादि वेदमें आये हैं। ये नाम मनुष्यकी श्रेणी बताते हैं। देखिये—

१.'जन' का अर्थ 'प्रजनन करनेवाला' है।यह अपने सदृश द्विपाद मानव उत्पन्न कर सकता है। इससे अधिक इसकी योग्यता नहीं है। वेदमें 'आत्महनो जनाः' (शु० यजु० अ० ४०।३)—आत्मघाती जन होते हैं ऐसी बात जनोंके विषयमें कही गयी है।

२. 'लोक' (लोकृ दर्शने)—ये लोग केवल देखते हैं, आत्मोद्धारके मार्गपर उन्नति नहीं करते।

३. 'मनुष्य' (मननान्मनुष्यः। निरुक्त)—मनन करनेवाला होनेसे वह मनुष्य है। यह मनन करके सत्य बात जान सकता है।

४. 'नर' (न रमते। नरति इति नरः)—जो भोगोंमें रमता नहीं तथा अनेक अनुयायियोंको शुभमार्गसे संचालित करता है, वह 'नर' है। वेदमें कहा गया है—न कर्म लिप्यते नरे। (शु० यजु० ४०। २)—नरको कर्मका लेप नहीं होता, वह निर्लेप रहता है।

वेद यों नहीं कहता—'न कर्म लिप्यते जने'; परंतु यही कहता है—'न कर्म लिप्यते नरे।' इससे 'नर' की श्रेणी श्रेष्ठ है—यह स्पष्ट होता है। मानवताका विकास किस तरह होता है, यह 'जन' 'लोक' 'मनुष्य, 'नर'—इन पदोंको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है।

पृथ्वीपरके लोग 'जनश्रेणी' में हैं, उन्हें 'नरश्रेणी' में लाना चाहिये। जनश्रेणीके लोगोंमें मानवताका ह्रास होता है और नरश्रेणीके लोगोंमें मानवताकी उन्नति होती है। इसलिये जो ऐसी इच्छा करते हैं कि मानवता उन्नत हो, उनको ऐसा यत्न करना चाहिये कि जनश्रेणीके लोगोंका बहुमत न रहे, नरश्रेणीके लोगोंका बहुमत हो। यह कैसे किया जाय, इसपर विचारवानोंको विचार करना चाहिये।

जगत्‌में तीन प्रकारके लोग हैं—(१) परमेश्वरको न माननेवाले, (२) परमेश्वरको सातवें आसमानमें मानने-वाले और (३) परमेश्वरको सर्वत्र उपस्थित माननेवाले। परमेश्वरको न माननेवाले सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र रह सकते हैं।उनके लिये कोई नियामक नहीं है। वे स्वेच्छाचारी रहते हैं। दूसरी श्रेणीके अर्थात् सातवें आसमानमें ईश्वरको माननेवाले लोगोंके लिये भी यहाँ कोई देखनेवाला न रहनेके कारण वे स्वेच्छाचारी हो सकते हैं। इन दो प्रकारके लोगोंकी इस जगत्‌में बहुसंख्या है और ऐसे लोग ही इस समय महाशक्तिशाली हैं। इसी कारण मानवताका ह्रास हो रहा है और सब लोग संत्रस्त हो रहे हैं।

परमेश्वरको सर्वव्यापक—अपने सब ओर उपस्थित माननेवाले परमेश्वरको सदा सर्वत्र अपने समीप मानते हैं। इस कारण वे बुरा कार्य कर ही नहीं सकते।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किंच। (वा० यजु० ४०।१ईशोप० १)

'जो कुछ यहाँ है, उसमें परमेश्वर पूर्णरूपसे ओत-प्रोत—भरा है।' जो मनुष्य इसको ठीक तरह समझेगा, उसमें मानवता विकसित हो सकेगी। जो मनुष्य अपने अंदर और बाहर सर्वत्र सर्वज्ञ सर्वेश्वरको उपस्थित जानेगा, वह जान-बूझकर बुरा कार्य कर ही नहीं सकेगा और उसके अंदर मानवता विकसित होगी।

परमेश्वर दूसरे कमरेमें या तीसरे मंजिलमें है, ऐसा मानना और बात है और परमेश्वर अपने अंदर और बाहर सदा उपस्थित है, यह मानना और बात है।

मानवताका विकास हो, इसके लिये 'परमेश्वरकी सर्व-व्यापकता'को निश्चयरूपसे माननेकी अत्यन्त आवश्यकता है। भारतीय ऋषियोंने परमेश्वरकी सर्वव्यापकता मानकर मानवता-के विकासकी उत्कृष्ट भूमिका रची थी; पर इसका विश्वभरमें संचार करनेके लिये इस ज्ञानके प्रचारक जितने होने चाहिये, उतने इस समय नहीं हैं। इसी कारण विश्वभरमें मानवताका

ह्रास हो रहा है। अर्थात् इसका उत्तरदायित्व ऋषि-संतानोंपर है।

वसुधैव कुटुम्बकम्

वसुधाको कुटुम्ब मानना भी मानवताके विकासमें सहायक है। पर एक कुटुम्बके लोग आपसमें लड़ते हैं, यह हम देखते हैं। कौरव-पाण्डव भाई थे, पर वे लड़े और साथ ही उन्होंने भारतके वीर तरुणोंका भी संहार किया। इसलिये 'पृथ्वीपरके सब मानव एक कुटुम्बके कुटुम्बी हैं' यों माननेसे कार्य नहीं चलेगा। इतिहास भाई-भाईके वैरसे भरा है। वेदने और एक बड़ा सिद्धान्त मानवताके विकासके लिये कहा है, वह यह है—

विश्वमानव एक पुरुष

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(ऋ० १०।९०।१)

'जिसके हजारों सिर, आँख और पाँव हैं, ऐसा पुरुष पृथ्वीके चारों ओर है।' जितने मनुष्य हैं, उतने सिर, बाहु, उदर, पाँव इस पुरुषके हैं। यह पुरुष पृथिवीके चारों ओर है।

यह 'एक पुरुष' है, जिसमें सम्पूर्ण मानव जाति सम्मिलित है। सारी मानवजाति मिलकर एक विराट् देह है। प्रत्येक मनुष्य समझे कि मैं इस देहका एक अवयव या भाग हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण मानवजातिरूप एक पुरुष है, सब मानव उसके सिर-हाथ-पेट-पाँव हैं। कोई मनुष्य इस पुरुषके शरीरसे बाहर नहीं है। यह ज्ञान विश्वशान्ति फैलानेवाला और मानवताका विकास करनेवाला है। पर इस वैदिक ज्ञानके प्रचारक आज नहीं हैं।

जिस प्रकार एक शरीरमें सिर-हाथ-पेट-पाँव—ये अवयव हैं अर्थात् ये सम्पूर्ण शरीरकी स्वस्थताके लिये यत्न करते हैं, उसी तरह विश्व-मानवरूपी एक विराट् पुरुष है; ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कर्मचारी—ये सब इस विराट् मानवके अवयव हैं। इसलिये इनको 'अखिल-मानव-पुरुषकी स्वस्थ अवस्था' टिकानेके लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये।

आज राष्ट्र-राष्ट्रमें युद्ध है। यह न होकर 'सब राष्ट्र मिलकर एक मानव समष्टि देह है' ऐसा ज्ञान सबको होना चाहिये। तब मानवताका विकास होगा और पृथ्वीपर स्वर्गका अनुभव होगा।

पर इस वैदिक ज्ञानका प्रचार करनेवाले कहाँ हैं? प्रचारकोंके विना यह दिव्य सिद्धान्त चारों दिशाओंमें रहनेवाले जान भी कैसे सकते हैं।

मानवता

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए०, शास्त्री)

बचा! बचा! हा! भौतिकताके भँवर-बीच डूबी मानवता!
हाय! आज अपने ही जीवन-वैभवसे ऊबी मानवता!!

× × ×

(१)

मानव! आज चला है क्या तू अपना ही अस्तित्व मिटाने?
पतित मनुज भी होगा इतना क्या आशा की थी वेधा ने?
अरे! स्वार्थके लिये रात-दिन तेरी ये जघन्य करतूतें!
प्रकट अनर्थोंसे ही तेरे गुप्त कुकृत्योंको हम कूतें!
शान्ति भङ्ग कर रही जगत्की, तेरी यह दुरन्त लोलुपता!
खोज! खोज! संकीर्ण-स्वार्थके, तममें है खोयी मानवता!!

(२)

हाय ! मनुष्योंमें भी दिखती व्याप्त चरम सीमापर पशुता !
गुरुता पर-पीड़नमें, जनकी सेवामें लगती है लघुता !
कपट और धोखेसे आँकी जाने लगी मनुजकी पटुता !
मृदुताका व्यवहार दिखाकर यहाँ पिलायी जाती कटुता !
चेतन मनुज ! शूल-सी उरमें, गड़ती है तेरी यह जडता !
उठा ! उठा ! सम्मोह-गर्त्तमें, गिरी जा रही है मानवता !

(३)

प्रगति बताकर जिस समाजमें होता मर्यादाका लङ्घन !
भीतर घोर विषमता है, पर समताका ही बाह्य-प्रदर्शन !
हा ! अनुशासनहीन जहाँ है, पद-लोलुप जनताका शासन !
सुधरेगा समाज वह कैसे ? व्यक्ति-व्यक्तिका कलुषित जीवन !
आह ! अराजकता है छायी, कैसे मिट सकती बर्बरता !
हटा ! हटा ! इस देवालयमें घुसी जा रही है दानवता !

(४)

क्षण-भङ्गुर धन-जनके मदमें मनुज अरे क्यों अकड़ रहा तू ?
तुच्छ स्वत्वके लिये परस्पर कुत्तों-सा क्यों झगड़ रहा तू ?
आह ! मोह-वश क्यों पापोंसे निज जीवनको जकड़ रहा तू ?
क्यों न छोड़कर अधम प्रेयको, परम श्रेयको पकड़ रहा तू ?
मृग-तृष्णामें प्यास बुझी कब ? बढ़ती ही नित गयी विकलता !
रोक ! रोक ! तेरे जीते जी, कहीं न मर जाये मानवता !

(५)

मानव ! यदि तूने दोषोंसे निज जीवनको खूब सँभाला !
संयमसे अपने चरित्रको यदि तूने पवित्र कर डाला !
सच्चाईके साँचेमें यदि तूने निज जीवनको ढाला !
तपा अहिंसाके आँवेमें फिर इसको परिपक्व निकाला !
खरा तभी तू उतर सकेगा, निखरेगी सच्ची सुन्दरता !
देख ! देख ! निश्छिद्र बने तू, कहीं न विगलित हो मानवता !

(६)

मानव ! तेरे उर-गागरमें उमड़ पड़े करुणाका सागर !
विश्व-प्रेमके विमल सूत्रसे संचालित हो उठे चराचर !
आलोकित कर तू त्रिभुवनको आत्म-तत्त्वकी ज्योति जगाकर !
मानवताकी बलि-वेदीपर होवें तेरे प्राण निछावर !
क्षमा, शील, संतोष, त्याग तव, निरख सिहाने लगे अमरता !
जाग ! जाग ! तू युग-तन्द्रासे, जाग उठे सोयी मानवता !

सृष्टिका श्रेष्ठ प्राणी मानव

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्०ए०, बी०एल्०)

विधाताकी सृष्टि प्रधानतया दो प्रकारकी है—चेतन और अचेतन । चेतनसे अभिप्राय है—जिसमें प्राण हो । जड या अचेतन पदार्थमें प्राण नहीं होता । हम यहाँ केवल प्राणीके विषयमें विचार करेंगे । जड पदार्थके भीतर जब प्राणका स्पन्दन होता है, तभी वह प्राणी कहलाता है । ईंट, खाट, वस्त्र आदिमें कोई स्पन्दन नहीं होता; ये केवल जड हैं । परंतु पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदिमें प्राण या चेतना होनेके कारण ये प्राणी हैं । प्राणियोंमें भी कुछ अचल होते हैं—जैसे वृक्ष, पर्वत आदि । और बहुत-से चल होते हैं, जो एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा सकते हैं । अचल प्राणी चल नहीं सकते; परंतु उनमें प्राण या जीवनके लक्षण देखे जाते हैं । वे जन्मते हैं और वृद्धिको प्राप्त होते हैं । जड या अचेतन एक ही रूपमें रहते हैं; उनमें प्राणका कोई स्पन्दन नहीं होता । जलको भी हम हिलते देखते हैं, परंतु वह स्वयं नहीं हिलता । पृथिवीके आकर्षणसे ऊपरसे नीचे चलनेपर जलका सोता बनता है । जलमें इस प्रकार चलनेकी शक्ति नहीं है, वह अचेतन—जडमात्र है । हवा, इंजन, मोटर आदि चलते हैं किसी शक्तिकी प्रेरणासे; नहीं तो वे निश्चल हैं, जडमात्र हैं ।

चेतनताके विकासकी मात्राके अनुसार प्राणियोंमें प्रकार-भेद है । शास्त्रोंके आशयको लेकर श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरने मूलतः इसके पाँच विभाग निश्चित किये हैं । तदनुसार (१) वृक्ष-पर्वतादि आच्छादित-चेतन, (२) कीट, पतङ्ग, जलचर, पशु-पक्षी आदि संकुचित-चेतन, (३) साधारण मानव मुकुलित-चेतन (४) जो भगवच्चिन्तनमें प्रवृत्ति-साधक हैं, वे विकसित-चेतन तथा (५) भगवान्‌के भाव-भक्तजन पूर्ण विकसित-चेतन हैं ।

हम देखते हैं कि मानव-पर्यायके पूर्वपर्यन्त प्राणियोंकी चेतनता आच्छादित और संकुचित होती है । केवल मानवमें ही चेतनताकी मुकुलित अवस्था प्रारम्भ होती है । अतएव आच्छादित-चेतन वृक्ष आदि तथा संकुचित-चेतन पशु आदि प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है । परंतु यहाँ अपनेको श्रेष्ठ समझकर आनन्दसे नाच उठनेका कोई कारण नहीं है । बहुधा मुकुलित चेतनताके प्राथमिक विकासके प्रारम्भमें जो असभ्य जंगली मानव आते हैं, वे अपने आचार तथा ईर्ष्या-द्वेष आदिसे पूर्ण विचारोंके कारण अपना श्रेष्ठत्व स्थापित करनेमें असमर्थ हैं । पशुबलका प्रयोग ही उनके जीवनका संबल है । आधुनिक युगमें भी मानवकी तथाकथित सभ्यता एवं जड-विज्ञानका इतना विकास होनेपर भी, अधिकांशमें वह नीतिहीन, निरीश्वर तथा जातिका विनाश करनेकी सामग्री प्रस्तुत करनेमें अग्रसर है । ये मुकुलित चेतनताके किस स्तरमें वर्तमान हैं, यह विचारणीय विषय है । बहुत-से मनुष्य क्रमशः निरीश्वर अवस्थामें ही नीतिपरायण हो उठते हैं । तत्पश्चात् बहुतेरे कल्पित ईश्वरवाद-युक्त नीतिपरायण कर्मी हो सकते हैं । पुनः बहुत लोग वस्तुतः ईश्वरको मानकर भी भक्तिपथको ग्रहण नहीं करते, क्रमशः अहंकारका विस्तार करके अपनेको ही ईश्वर कहते हैं । ये सभी मुकुलित-चेतन हैं । परंतु तारतम्यके अनुसार पूर्वकी अपेक्षा क्रमशः परवर्ती लोग उत्कृष्टतर हैं । जब कोई अपने स्वरूप-ज्ञानके विकसित होनेपर अपनेको नित्य भगवत्सेवक समझकर उनकी भक्ति करनेमें प्रवृत्त होता है, तभी उसकी चेतनता विकसित होती है । वही साधक-भक्त है । चेतनताका पूर्ण विकास होनेपर उसमें फिर जड-सम्पर्कका लेश भी नहीं रहता, वह उस समय मायामुक्त अवस्थामें भगवान्‌के प्रति रागानुगा भक्ति करते-करते क्रमशः भावयुक्त होकर भगवत्प्रेममें तल्लीन हो जाता है ।

श्रीमद्भागवत (६ । १४ । ३) में श्रीशुक मुनि कहते हैं—

> रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः ।
> तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥

'पृथ्वीके धूलिकणोंके समान असंख्य जीवोंमें क्रमशः उन्नति करते-करते मनुष्य-जन्म पाकर कोई-कोई कल्याण-प्राप्तिकी चेष्टा करते हैं ।' परंतु उनमें भी बहुतेरे विषयी, जड तथा सामान्य इन्द्रिय-सुखादिमें मत्त रहते हैं । श्रीभगवान्‌ने भी गीता (७ । ३) में कहा है—

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।

श्रीपाद श्रीधरस्वामी इस श्लोककी सुबोधिनी टीकामें कहते हैं—

असंख्यातानां जीवानां मध्ये मनुष्यव्यतिरिक्तानां श्रेयसि

प्रवृत्तिरेवेह नास्ति। तत्र ज्ञानयोग्यानां मनुष्याणां तु सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेव पुण्यवशात् सिद्धये आत्मज्ञानाय प्रयतते।'

'असंख्य जीवोंमें मनुष्यके सिवा और किसीमें कल्याणके लिये प्रवृत्ति ही नहीं होती। उन मनुष्योंमें भी जो ज्ञानयोग्य हैं, उनकी संख्या भी विरल है; इस प्रकारके सहस्रों मनुष्योंमें कोई-कोई कल्याण-साधन या आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये यत्नशील होते हैं। ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत ही कम है।'

मनुष्योंमें अधिक लोग मुकुलित-चेतन ही होते हैं। क्रमानुसार इनकी उन्नति **'अहं ब्रह्मास्मि'** तक होती है। जबतक भगवत्सेवकके रूपमें अपने स्वरूप-ज्ञानका विकास नहीं होगा, जबतक इनकी चेतनताके यथार्थ विकासका अवसर नहीं आये, तबतक ये भी विकसित-चेतनके रूपमें उन्नत नहीं होंगे।

भगवान् उक्त श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहते हैं—

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।

यहाँ श्रीधर स्वामिपादने कहा है—

सिद्धानामात्मज्ञानां मध्ये अपि कश्चिदेव मां परमात्मानं मत्प्रसादेन तत्त्वतः वेत्ति तदेवमतिदुर्लभमात्मतत्त्वम्।

'आत्मज्ञानियोंमें भी बहुत कम लोग मुझ परमात्माको मेरे प्रसादसे तत्त्वतः जानते हैं।' प्रसिद्ध टीकाकार श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद और भी स्पष्टरूपसे यहाँ कहते हैं—

तादृशानामपि मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिदेव मां श्यामसुन्दराकारं साक्षादनुभवति। निर्विशेषब्रह्मानुभवानन्दात् सहस्रगुणाधिकः सविशेषब्रह्मानुभवानन्दः स्यादिति भावः।

अर्थात् वैसे सहस्रों-सहस्रों मनुष्योंमें भी कदाचित् एकाध पुरुष ही श्यामसुन्दराकार मुझको (गीताके वक्ता श्रीकृष्णरूपमें अभिव्यक्त मूर्तिमान्‌को) तत्त्वतः जानकर साक्षात् अनुभव करते हैं। निर्विशेष ब्रह्मानुभवके आनन्दसे हजारगुने अधिक सविशेष (जडविशेषातीत चिद्विशेष समन्वित) ब्रह्मानन्दको प्राप्त करके पूर्ण विकसित चेतनताको प्राप्त करनेके योग्य बनते हैं। इस प्रकारके भाग्यवान् सर्वोत्तम पर्याययुक्त मानवकी संख्या बहुत कम होती है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (१।१।२५) में लिखा है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुधाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

'परार्द्धगुणीकृत अर्थात् जहाँतक संख्या की जा सकती है, उतनेगुने ब्रह्मानन्दका सुख भी भक्ति-सुधा-सिन्धुके परमाणुके बराबर भी नहीं हो सकता।'

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ० ६।४३) में लिखा है—

कृष्णदास अभिमाने ये आनन्दसिन्धु।
कोटि ब्रह्मसुख नहे तार एक बिन्दु॥

पुनः (आ० ७।८४-८५) में कहते हैं—

कृष्ण-विषयक प्रेमा परम पुरुषार्थ।
जार आगे तृन-तुल्य चारि पुरुषार्थ॥
पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमानन्दामृत सिन्धु।
ब्रह्मादि आनन्द जार नहे एक बिन्दु॥

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चतुर्वर्ग परम पुरुषार्थ श्रीकृष्णप्रेमके सामने तृणवत् तुच्छ हैं।'

ऊपर श्रीमद्भागवतसे जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसके आगेके श्लोक (६।१४।४-५) में लिखा है—

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

इसीकी प्रतिध्वनिके रूपमें श्रीचैतन्यचरितामृत (म० १९।१४१-१४८) में श्रीमहाप्रभुकी उक्ति इस प्रकार प्राप्त होती है—

तार मध्ये मनुष्यजाति अति अल्पतर।
तार मध्ये म्लेच्छ पुलिन्द शबर॥
वेदनिष्ठमध्ये अर्धेक वेद मुखे माने।
वेद निषिद्ध पाप करे, धर्म नाहि माने॥
धर्माचारी मध्ये बहुत कर्मनिष्ठ।
कोटि कर्मनिष्ठ मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ॥
कोटि ज्ञानी मध्ये हय एक जन मुक्त।
कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्ण भक्त॥

'अनन्तकोटि जीवोंकी तुलनामें मनुष्यकी संख्या अति अल्प है। उनमें भी म्लेच्छ-पुलिन्दादि वेद-बहिर्मुख मनुष्य प्रायः पशु-तुल्य हैं और जो लोग अपनेको वेदानुयायी कहते हैं, वे भी वेदको न मानकर अधर्माचरण करते हैं और वेदोक्त धर्माचरण करनेवालोंमें अधिकांश कर्मकाण्डी हैं। उनकी अपेक्षा उन्नत मोक्षाभिलाषी ज्ञाननिष्ठ जन अल्पसंख्यक होते हैं। उनमें जडाभिनिवेशसे मुक्त ज्ञानी पुरुष और भी कम

हैं। उन मुक्तपुरुषोंमें जो शान्तिको प्राप्त भगवद्भक्त हैं, वे दुर्लभ होते हैं। भगवद्भक्तके बिना और कोई शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि—

> भुक्ति मुक्ति सिद्धि कामी सकलई अशान्त।
> कृष्णभक्ति निष्काम, अतएव शान्त॥

'जो लोग भोग, मोक्ष और योगैश्वर्यकी प्राप्तिके साधनमें तत्पर हैं, उनकी कामना तृप्त न होनेके कारण उन्हें कभी शान्ति नहीं मिलती। केवल श्रीकृष्ण-भक्त ऐसा है, जिसके लिये भगवत्सेवा-प्राप्तिके सिवा और कोई प्राप्तव्य विषय ही नहीं है। अतएव वही भगवत्पादपद्मका आश्रय लेकर यथार्थ शान्ति प्राप्त करता है।' यह भगवद्भक्ति ही सृष्टिका श्रेष्ठ तत्त्व है। इसीमें यथार्थ मानवता देखनेको मिलती है।

देव और असुर अपनेको मानवकी अपेक्षा उन्नततर जीव बतलाकर आत्माभिमान करते हैं। परंतु वे भी मनुष्योंकी भाँति भगवद्भक्ति प्राप्त कर शान्तिके अधिकारी नहीं हो सकते। देवगण स्वर्गसुखके भोगमें उन्मत्त रहनेके कारण असुरोंका नित्य विरोध प्राप्त कर शान्तिका मुख नहीं देख पाते। उनको सदा डर लगा रहता है कि असुर कब उनको स्वर्ग-च्युत करेंगे। भगवत्सेवाके सिवा दूसरे किसी भी पदार्थमें अभिनिवेश होनेसे भय होता है। नव योगीन्द्रोंमें अन्यतम महामुनि कवि निमि महाराजसे कहते हैं—

> भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
> दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
> तन्माययातो बुध आभजेत्तं
> भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥
> (श्रीमद्भा० ११।२।३७)

ईश्वरसे बहिर्मुख होकर जो दूसरे विषयमें अभिनिवेश करते हैं, उन्हींको भय होता है। भगवान्‌की सेवा छोड़कर अन्य किसी विषयमें जिसकी आसक्ति नहीं होती, उनको भय नहीं होता। उनका क्या नष्ट होगा? उनका अपना कुछ है ही नहीं, सब भगवान्‌का है। वे स्वयं भी भगवान्‌के ही चरणोंके आश्रित हैं, अतएव उनको किससे भय होगा? जब मनुष्यकी दूसरी किसी वस्तुमें आसक्ति होती है, तभी निकटस्थ माया उसको झपटकर पकड़ लेती है। अर्थात् वह मायासे ग्रस्त हो जाता है और बुद्धि-विपर्यय होनेके कारण अपने नित्य स्वरूपको; भगवान्‌के नित्य दासत्वको भूल जाता है। पुनः बुद्धिका उदय होनेपर साधु गुरुके चरणोंका आश्रय लेकर ऐकान्तिक भक्तिके साथ भगवान्‌का भजन करना उसके लिये उचित हो जाता है। देवतालोग जो भगवान्‌के अधीन हैं, वे भी एकान्तभक्त नहीं हैं। एकान्तभक्तको भगवत्सेवाके सिवा और कुछ नहीं चाहिये। परंतु देवतालोग पर्याप्तभोगी तथा भोगाकाङ्क्षी होते हैं, केवल विपत्कालमें ही भगवान्‌को पुकारते हैं। अतएव उनको शान्ति नहीं मिलती, केवल भय होता है। परंतु 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' (श्रीमद्भा० १२।१३।१६) अर्थात् वैष्णवश्रेष्ठ शम्भुको भोगैश्वर्यकी आवश्यकता नहीं, इसलिये उनको भय भी नहीं होता। भगवद्विरोधी असुर-कुलमें जन्म ग्रहण करनेपर भी क्या प्रह्लादको कोई भय था? नहीं; क्योंकि वे भगवान्‌में एकान्त रति रखते थे। यद्यपि बलि आदि दो-एक असुर उनके आदर्शको लेकर भगवान्‌के चरणोंमें शरणापन्न हुए थे, तथापि अन्य असुरगण असुर ही रहे।

अतएव देखा जाता है कि यथार्थ भक्तोंमें मानवोंकी संख्या ही अधिक है। 'शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता।' शास्त्रका निर्देश है कि भक्तिमें केवल नरका ही अधिकार है। मानवमात्रको ही यह अधिकार प्राप्त है; परंतु इस अधिकारको ग्रहण करनेका आग्रह सबका नहीं है। अतएव मनुष्योंमें अधिकांश भोगी हैं और जो दुःख-भोगसे व्याकुल हो उठते हैं, वे इस दुःखमय संसारके कारागृहसे मुक्ति चाहते हैं। यह भी भोगकी ही एक दूसरी दिशा है। दुःख-प्रतीकारको ही वे सुख मानते हैं (भा० ३।३०।९)। दुःख-प्रतीकार भी भोग है; क्योंकि वह भी निज-सुख-प्राप्तिका मार्ग है और भगवान्‌को सुख देनेका नाम है—'भक्ति'। अतएव भक्तिमें भोगको स्थान नहीं है। नर-तनु भजनका मूल है। भगवान्‌की सेवा करनेके लिये मानव-देहकी आवश्यकता है। भक्तको कदाचित् ही देवासुर-तिर्यक् आदि योनिमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवको यही उपदेश दिया है—

> लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
> मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
> तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
> न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
> (श्रीमद्भा० ११।९।२९)

अनेक जन्मोंके बाद मनुष्यदेहकी प्राप्ति होती है; क्योंकि अन्यान्य प्राणियोंके समान हिंसा-द्वेष आदि वृत्तियोंके प्रबल होनेपर मृत्युके अनन्तर इतर योनियोंमें ही जन्म लेना

पड़ता है। अत्यन्त भोगाकाङ्क्षाके साथ बहुत पुण्य संचय करनेपर देवलोकमें जन्म होता है। भगवान्से द्वेष करनेके फलस्वरूप असुर-श्रेणीमें जन्म मिलता है। 'मानुष्य' अर्थात् मनुष्यदेहकी पुनः प्राप्तिकी आशा बहुत कम होती है। इसी कारण भगवान्ने मनुष्यदेहको 'सुदुर्लभ' कहा है। और क्योंकि केवल इस मनुष्यजन्ममें ही वास्तविक अर्थ या परमार्थके लिये यत्न किया जाता है, अतएव यह 'अर्थद' है। परंतु यह मनुष्यदेह क्षणभङ्गुर है, अभी है—अभी नहीं ! अतएव यह 'अनित्य' है। ऐसी अवस्थामें जिसकी बुद्धिका विकास हुआ है, उसके लिये क्या कर्तव्य है ? अभी अर्थात् क्षणमात्र विलम्ब न करके, जबतक मृत्युके मुखमें नहीं जाते, तबतक निःश्रेयस अर्थात् चरम कल्याणरूप जो भगवान्की सेवा है, उसके लिये विशेष यत्नशील हो जाय; क्योंकि विषय अर्थात् चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचाके भोग्य विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श सभी जन्मोंमें प्राप्त होंगे; परंतु भगवान्की सेवाका सुयोग प्राप्त न होगा, जिसमें जीवका परम मङ्गल है।

भगवान्की इस उक्तिसे भलीभाँति समझा जा सकता है कि मनुष्य-जन्म ही सर्वश्रेष्ठ जन्म है; परंतु इस जन्मका सुयोग न लेकर अन्य प्राणियोंकी भाँति द्वेष, जीवहिंसा, मात्सर्य आदि दयाधर्मकी अभावरूप वृत्तियोंमें आबद्ध रहनेसे विशेष बुद्धिमत्ताका परिचय नहीं प्राप्त होगा और 'मानुष्य' या मानव-जन्मकी पुनः प्राप्तिकी आशा बहुत ही कम रह जायगी। अतएव किसी भी प्रकारसे मानव-देह प्राप्त करनेके लिये तदुपयोगी दया-धर्ममें प्रतिष्ठित होना होगा। इसके लिये भगवान् श्रीहरिके चरण-सेवकोंके आश्रयमें रहकर और उनके आदर्शानुसार अपने-अपने जीवनको गठित करके हम अपने 'मानुष्य' की रक्षा करनेमें समर्थ हो सकेंगे। नहीं तो, हम दम्भी होकर उसकी अवज्ञा करेंगे और हमारे कल्याणकी तब कोई आशा नहीं रहेगी और पुनः हम 'सृष्टिका श्रेष्ठ जीव मानव' कहकर अपना परिचय देनेका सुयोग न पायेंगे।

गीता (८। ६) में श्रीभगवान्ने उपदेश दिया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

'मृत्युके समय मनुष्य जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ देह-त्याग करता है, सदा उसी-उसी भावकी भावनासे युक्त होकर दूसरे जन्ममें उसी भावको प्राप्त होकर तदनुरूप देह धारण करता है।' श्रीधर स्वामी अगले श्लोककी अपनी टीकामें कहते हैं—'यस्मात् पूर्ववासनैव अन्तकाले स्मृतिहेतुः, न हि तदा विवशस्य स्मरणोद्यमः सम्भवति' अर्थात् पूर्ववासना ही अन्तकालमें स्मृतिका हेतु बनती है, नहीं तो, मृत्युकालमें विवश-अवस्थामें स्मरणके लिये उद्यम करना सम्भव नहीं होता। वेदान्तके सुप्रसिद्ध गोविन्द-भाष्यकार श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण अपनी 'विद्वद्रञ्जन' टीकामें कहते हैं—अन्तिम-स्मृतिश्च पूर्वस्मृतिविषयैव भवति, अर्थात् अन्तिमकालमें पूर्वाभ्यस्त स्मृतिका विषय ही अन्तिम स्मृतिका विषय बनता है।

श्रीमद्भागवत (५। २८। २७) से ज्ञात होता है कि श्रीभरतमहाराजने राज्यादिका त्याग करके भगवद्भजन करते हुए भी देह-त्यागके समय मृगका चिन्तन करके मृगका शरीर प्राप्त किया था। श्रीभागवत ४। २८। २७,२८ में लिखा है कि स्त्री-चिन्तनद्वारा पुरंजनको स्त्रीत्वकी प्राप्ति हुई थी। यह घटना भी हमारे लिये स्मरण रखने योग्य है। अतएव हमारी चिन्तनधारा सदा पवित्र न रही तो मृत्युके समय साधु-चिन्तनकी आशा करना केवल पागलपन है और यदि मानवोचित भाव अभ्यस्त न हुए तो पशुभावको लेकर ही हमारी मृत्यु होगी। अतएव दूसरे जन्ममें पशुदेहकी ही प्राप्ति होगी।

विदेहराज निमि नौ योगीन्द्रोंसे कहते हैं—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
(श्रीमद्भा० ११। २। २९)

और प्रह्लादजीने भी कहा है—

दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।
(श्रीमद्भा० ७। ६। १)

'मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति सहज ही नहीं होती और उसके पानेका कोई निश्चय भी नहीं होता तथा वह होता है क्षणभङ्गुर। परंतु वह 'अर्थद' अर्थात् परमार्थप्रद है।' दूसरे शब्दोंमें जिसकी अपेक्षा अन्य कोई श्रेष्ठ प्राप्य वस्तु नहीं हो सकती, उसी भगवद्भक्तिकी योग्यता वह प्रदान करता है। एकमात्र भगवत्सेवक ही यथार्थ मानवोचित जीवदया आदि गुणोंसे सम्पन्न होता है। अतएव वस्तुतः बुद्धिमान् मानवमात्र केवल भगवत्सेवाकी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं और इस भगवत्सेवाकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है कि भगवान्के शुद्ध भक्तका आश्रय लेकर उनको गुरुरूपमें वरण किया जाय। अन्यथा, बिना उनके आश्रयमें सुरक्षित रहे, भगवद्भजन नहीं होगा। इसीसे मध्ययुगके आचार्य श्रीनरोत्तम ठाकुर उपदेश देते हैं—

आश्रय लइया भजे, ताँरे कृष्ण नाहि त्यजे ।
आर सब मरे अकारण ॥

श्रीगुरुके पादपद्मका आश्रय लेकर भजन करनेसे श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्त होती है, अन्यथा उसकी आशा दुराशामात्र है। श्रीभगवान्‌ने भी गुरुतत्त्वकी अवज्ञा करनेवाले अभक्तको आत्मघाती कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्‌।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान्‌ भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १७)

यह नरदेह प्रथम है अर्थात्‌ सर्वापेक्षा उत्तम है। यह हरिभजन करनेवालेके लिये सुलभ या सहज प्राप्य है, परंतु दाम्भिक जीवहिंसकके लिये सुदुर्लभ है। यह भवसिन्धु पार करनेके लिये सुकल्प अर्थात्‌ सुदृढ़ नौका है। श्रीगुरुदेव इसके कर्णधार हैं। अर्थात्‌ सुदक्ष नाविक जैसे ठीक तरहसे नौकाको निपुणताके साथ चलाकर उसको प्रतिकूल वायुसे, संताडित उत्तुङ्ग तरङ्गोंसे, झंझा अथवा भँवरोंसे बचाता है तथा निरापद किनारेपर ले जाता है, उसी प्रकार सद्गुरु भी भगवद्भजनके प्रतिकूल नाना प्रकारके आवर्त्तोंसे शिष्यकी रक्षा करके श्रीभगवान्‌की चरण-सेवारूपी भवसागरके उस पार पहुँचा देते हैं। मैं (भगवान्‌) स्वयं अनुकूल वायुरूप बनकर उस जीवदेहरूपी नौकाको संसार-सिन्धुसे पार कर देता हूँ। इतना सुयोग रहते हुए भी जो अभागा मनुष्य भवसागरके पार जानेका यत्न नहीं करता, वह आत्मघाती है। अर्थात्‌ आत्माका धर्म जो नित्य भगवत्सेवा है, उससे वह विच्युत हो जाता है।

अतएव देखा जाता है कि मानव ही सृष्टिका श्रेष्ठ प्राणी है। परंतु हरिभजनके बिना किये उसके इस श्रेष्ठत्वका कोई मूल्य नहीं रहता; क्योंकि अभक्तमें मानवोचित गुणोंकी सम्भावना नहीं होती। यदि कभी उनका अस्तित्व दीख पड़ता है तो वह यथार्थ नहीं, कृत्रिम और छलमात्र है। इसीलिये श्रीमद्भागवत (५ । १८ । १२) में कहा है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

'जो भगवान्‌के एकान्त भक्त हैं, उन्हींमें सारे सद्गुण विद्यमान होते हैं। जो हरिका भक्त नहीं है; उसमें महान्‌ गुण कैसे रहेंगे; क्योंकि उसका इन्द्रियरूपी घोड़ोंसे युक्त मनरूपी रथ सर्वदा असत्‌ अर्थात्‌ अनित्य बहिर्जगत्‌में ही भोग खोजता रहता है।'

अतएव सृष्टिका श्रेष्ठ तत्त्व श्रीभगवान्‌का भाव-भक्त पूर्ण विकसित चेतन-मानव है। देवतालोग भी इनके श्रेष्ठत्वकी श्लाघा करते नहीं थकते; क्योंकि वे ही प्रकृत साधु हैं, जिनके सम्बन्धमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने ऋषि दुर्वासासे कहा था—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्‌ ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३, ६८)

'मैं (भगवान्‌) स्वाधीन नहीं हूँ, भक्तके पराधीन हूँ। भक्तजन मेरे प्रिय हैं। भक्त साधुजनोंने मेरे हृदयपर अधिकार कर रखा है। साधुलोग जैसे मेरा हृदय हैं, वैसे ही मैं उनका हृदय हूँ। मेरे सिवा वे और कुछ नहीं जानते, मैं भी उनसे क्षणकालके लिये भी दूर नहीं होता।' इन्हींके सम्बन्धमें सम्यक्‌ शिक्षाप्राप्त दुर्वासा ऋषि कहते हैं—

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे ।
कृतागसोऽपि यद्राजन्‌ मङ्गलानि समीहसे ॥
यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान्‌ भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ५ । १४, १६)

'अहो! आज मैंने अनन्त भगवान्‌के दासोंकी महिमा देख ली। महाराज अम्बरीष! आप वस्तुतः साधु पुरुष हैं। मैं आपके निकट अपराधी था, फिर भी आपने मेरे कल्याणके लिये चेष्टा की। जिनका नाम सुनते ही मनुष्य निष्पाप हो जाता है, जिनके चरणोंमें सारे तीर्थ स्थित हैं, उन भगवान्‌के दासोंके लिये प्राप्त करने योग्य क्या रह जाता है? अर्थात्‌ वे ही सृष्टिमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ हैं।'

विशुद्ध प्रेममयी मानवता

(लेखक—श्रीयुत मा० स० गोळवल्कर, सरसङ्घसंचालक रा० स्व० संघ)

आजकलके विज्ञान-युगमें पृथ्वीके सभी देश एक दूसरेसे अधिक निकट सम्बन्धोंसे जुड़ने लगे हैं। गमनागमनके साधनोंमें नव-नवीन संशोधनोंके कारण अधिकाधिक वेगवान् यान उपलब्ध हो रहे हैं। एक छोरसे दूसरे छोरतक जाना सुगम हो गया है। अल्प समयमें पृथ्वीकी परिक्रमा करके किसी भी देशमें रहनेवाले बन्धुओंसे मिलने-जुलनेमें कठिनाई नहीं रही। पूर्वकालमें ऐसे साधनोंके अभावमें एक-एक भूखण्डके लोग अपनी छोटी-सी सीमामें निवास करनेवालोंसे ही सम्बन्धित रहते थे। कितनी भिन्नतासे भरी रहन-सहन, भाषा-बोली, आचार-विचार-व्यवहार, गुण-अवगुण, उन्नत-अवनतावस्था पृथ्वीपर रहनेवाले मानवोंमें व्यक्त होती है—इसका ठीक-ठीक ज्ञान भी सम्भवतः न था। एक दूसरेपर इन भिन्न मानवसमूहोंका प्रभाव भी नहींके बराबर ही होता था। क्वचित् निकटवर्ती भिन्न प्रकृतिवाले लोगोंके साथ शत्रु-मित्रादि सम्बन्ध आते अवश्य थे, किंतु विचार-संस्कारादिका आदान-प्रदान तुरंत होना कठिन था। अतः मानवोंके अनेक समूह अपने-अपने क्षेत्रमें अपने भिन्न-भिन्न विचार-भावनाओंका विकास करके अपने-अपने वैशिष्ट्यसे रहते हुए दिखायी देते थे। इसी परस्पर सम्बन्धरहित स्व-वैशिष्ट्ययुक्त जीवनके विकासके फलस्वरूप एक-एक क्षेत्रमें जो मानवसमूहका जीवन प्रस्थापित हुआ, वही आगे चलकर राजनीतिक सम्बन्धोंके कारण राष्ट्रके नामसे परिचित होने लगा। आज पृथ्वीके अनेक देशोंमें इस प्रकार अपनी विशिष्टतासे जीवन व्यतीत करनेवाले, अपनी विशिष्ट चेतनासे युक्त तथा अपनी विशिष्ट गुणयुक्त चेतनामें अभिमान करनेवाले राष्ट्र दृष्टिगोचर होते हैं। यह हो सकता है कि इनमेंसे अनेक राष्ट्रोंको अपनी चेतना, विशिष्ट राष्ट्रियताका यथार्थ परिचय न हो और वे केवल अपने भिन्न भूभाग, ऐहिक जीवनके सुख-दुःख, शत्रु-मित्र तथा बाह्य रहन-सहन, मनोविनोदके साधन एवं भाव इत्यादि स्थूल बातोंका ही अभिमान धारणकर उसीमें अपने राष्ट्रत्वका सार-सर्वस्व मानकर चलते हों किंतु भिन्न स्वभाव, भिन्न प्रकृति एवं उन्हें अज्ञात ऐसी भिन्न चेतना उनमें अभिव्यक्त होती ही है।

भिन्न-भिन्न जीवनप्रणाली तथा उसका अभिमान एक मर्यादातक ठीक है। आवश्यक भी है, यह भी कहा जा सकता है। परंतु जब यह अभिमान ऐकान्तिक हो जाता है और इससे जब अन्य सब मानवसमूहोंको क्षुद्रताकी—अवहेलनाकी दृष्टिसे देखनेका अवगुण उत्पन्न हो जाता है, तब अपनी ही पद्धतिको सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे सारी पृथ्वीके मानवोंपर थोपना तथा इस हेतु अन्य राष्ट्रोंकी चेतनाको नष्ट करना, उनपर भौतिक आधिपत्य प्रतिष्ठापितकर स्वयं पृथ्वीका स्वामी बननेकी कामना करना—ऐसे संघर्षोत्पादक अनिष्ट भावोंको वह जन्म देता है। पृथ्वीका गत इतिहास, जितना भी ज्ञात है, इसी प्रकार निर्माण हुए संघर्षोंका ही वर्णन करता है। इससे असंख्य मानवोंका संहार हुआ है। बनी-बनायी सभ्यताका नाश हुआ है। कितने ही सुन्दर वैशिष्ट्य नष्ट हो चुके हैं। कला, तत्त्वज्ञान, साहित्य विनाशको प्राप्त हो चुके हैं।

परंतु मानवमें जैसे स्वार्थ, दुरभिमान, हिंस्रता आदि दुर्गुण हैं, वैसे ही उसमें दिव्यत्व, विशाल अन्तःकरण, सर्वव्यापी प्रेम आदि पुनीत भावनाएँ भी हैं। समय-समयपर मानवको विनाशकी ओर ढकेलनेवाले अतिरिक्त संकुचित राष्ट्राभिमानके स्थानपर स्थायी बन्धुत्वकी प्रतिष्ठा करनेके श्रेष्ठ भावोंके भी प्रकट होनेके प्रसङ्ग इतिहासमें हैं। प्राचीन कालमें 'जगत्का पिता एवं स्वामी एक ईश्वर है और सब उसकी संतान हैं'—इस विश्वासको आधार बनाकर मानवोंमें बन्धुत्व स्थापन करनेकी कामनासे कई पंथ प्रसृत हुए। पिछले दो सहस्र वर्षोंमें इस प्रकारके महत्त्वपूर्ण दो पंथ—ईसाईपंथ तथा इस्लाम जगत्के बड़े क्षेत्रपर फैल भी गये। किंतु केवल ईश्वरके पितृत्व तथा तदनुसार मानवोंका बन्धुत्वके विचार कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, मानवोंकी स्वाभाविक दीखनेवाली सीमित राष्ट्राभिमानकी भावनाको वे जीत नहीं सके। इतना ही नहीं, राष्ट्राभिमानकी अत्यधिक, अमर्याद तथा संकीर्ण दुर्भावनाके साथ अपने विशिष्ट पंथका दुरभिमान निर्माण करनेमें ही उनका पर्यवसान हो गया और ये 'धर्म' कहलानेवाले 'पंथ' उनमेंसे उत्पन्न हो गये तथा ये उपपंथ स्वयं ही मानव-संहारके साधन एवं प्रेरक बन गये। 'जगत्साम्राज्य किसी पंथविशेषका ही हो, अन्य सब पंथ—मार्ग नष्ट हो जायँ' इत्यादि राष्ट्रकी भौतिक जीवनसम्बन्धी दुर्भावनाओंका इनमें प्रादुर्भाव हो गया तथा ये पंथ राष्ट्रकी दुर्भावनाओंसे युक्त होकर मानवोंके अति भयानक शत्रु बन गये। यह भी इतिहास है। जानकार इसे जानते हैं।

इस प्रकार अतिरेकी राष्ट्रवाद तथा असहिष्णु पंथवादसे पीड़ित मानवताका अपने अन्तःकरणकी सुप्त-सी प्रेममयी विशालताका स्मरण करके, उसकी पुकार सुननेके लिये, उस प्रेममयी, विशाल, बन्धुत्वपूर्ण मानव-जीवनकी चिरजीवी स्थापनाके लिये तड़प उठना स्वाभाविक है। एवं मनीषी मानवोंके लिये इस प्रकारकी विशालताको चिरस्थायी बनानेवाले सुस्थिर आधारकी खोज भी स्वाभाविक है।

धर्म, ईश्वर आदि भाव भी संघर्षके हेतु बने, राष्ट्र-दुरभिमान तो पहलेसे था ही। यह देखकर सामान्य जनोंको, जिन्होंने जगत्की वास्तविक एकताका साक्षात्कार नहीं किया है तथा जो इस लोकको ही सर्वस्व मानते हैं, स्वाभाविक ही तुरंत यही विचार सूझता है कि 'धर्म, ईश्वर, राष्ट्र आदि भावोंको जीवनसे हटाकर सम्पूर्ण जगत् तथा मानवोंके बीच आर्थिक समानताके आधारपर तथा अधिकारोंको संतुलित समानताका आग्रह करके संघर्षविहीन जीवनका निर्माण करना चाहिये।' गत तीन शताब्दियोंमें राष्ट्रके स्थानविशिष्ट भावके निर्माणके साथ ही एक बड़ा परिवर्तन प्रारम्भ हो चुका था, जो औद्योगिक क्रान्तिके नामसे परिचित है। भौतिक शास्त्रोंकी अनपेक्षित असामान्य प्रगतिके कारण मानवको अपनी शक्तिके ऊपर इतना अधिक विश्वास होने लगा है कि जगत्के संचालक ईश्वर तथा तदधिष्ठित धर्म अज्ञानी लोगोंकी कल्पनामात्र हैं— यह कहनेमें भी नहीं सकुचाता। वस्तुतः विज्ञानसे वह इतना ही सीख सकता था। अतः धर्म, ईश्वर आदिको छोड़कर विज्ञानके बलसे प्रकृतिपर विजय प्राप्त करके मैं जगत्का संचालन कर लूँगा—इस प्रकार साहसपूर्ण कार्य करनेको उद्यत होना उसके लिये अस्वाभाविक नहीं है।

इस विज्ञानका एक और परिणाम यह हुआ कि उत्पादन-के साधनोंकी क्षमता कल्पनातीत बढ़ गयी। कुछ लोगोंके हाथोंमें इन साधनोंके द्वारा धन पुञ्जीभूत हो गया। इससे मनुष्य-जीवनमें धनी-निर्धन, पूँजीपति-श्रमिक—ऐसे नवीन भेदोंका निर्माण होकर वे अधिकाधिक स्पष्ट होने लगे। जीवनके भौतिक सुखोंके स्तरमें भी अत्यधिक भिन्नताका अनुभव होने लगा, इससे ईर्ष्या-द्वेष आदि विप्लवकारी भावोंका जन्म होने लगा। एक दूसरेके सुखमें सुखी होना अपने जीवनसे संतोष इत्यादि गुण धर्म-विश्वासके फल थे। विज्ञानके द्वारा धर्मको पदच्युत करनेका प्रयास होते ही ये गुण लुप्त होकर असहिष्णुताकी अनुभूति बढ़ने लगी। उत्पादनकी वृद्धिके साथ उसका वितरण करनेकी सुगमताकी प्राप्ति होनेके लिये राष्ट्रके रूपमें कुछ समूहोंने साम्राज्य विस्तारकर विज्ञानमें अप्रगत अन्यान्य लोगोंका उत्पीडन-शोषण आरम्भ किया। पीड़ित जन-समूहोंमें अपने उत्पीडक राष्ट्रोंके प्रति विद्वेषाग्निका धधक उठना अपरिहार्य था। इसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रभावके साम्राज्यवादी बननेका कारण केन्द्रीभूत धनकी—पूँजीकी वृद्धिकी कामना ही दिखायी दी। अतः 'इस पूँजीवादको नष्ट करना, धर्मका भी अपने उपकरणके रूपमें उपयोग करनेवाले, इस पूँजीवाद-पर आधारित राष्ट्रको समाप्त कर, जगत्में एक आर्थिक समानतापर अधिष्ठित अधिसत्ता उत्पन्न करना ही मानवता-की प्रतिष्ठाके लिये एकमात्र मार्ग है—यह विश्वास अनेक मनीषियोंके अन्तःकरणमें दृढ़ हो गया। आधुनिक कालका जागतिक समाजवाद या साम्यवाद इसी विश्वासका परिणाम है।

किंतु अर्थ-व्यवस्थाके परिवर्तनमात्रसे मानवके सहस्रों वर्षोंके स्वभाव नहीं बदलते। यद्यपि आर्थिक समानताका प्रचार किया जाता है एवं वैसी ही शिक्षा भी दी जाती है, बाल्यकालसे ही विज्ञान तथा अर्थप्रधान साम्यवादके ही संस्कार कर अन्य सब प्रकारके विचार-संस्कारोंके प्रति घृणा निर्माण करनेका आयोजन भी किया जाता है, तथापि इन सबके परे अन्तस्तलमें इसी घृणाके शिक्षा-संस्कारोंसे परिपुष्ट होनेवाले सत्ता-साम्राज्य आदिके स्वार्थ, वैयक्तिक अधिकार-मद आदि मानव-संघर्षके हेतु अन्य रूप धारणकर प्रकट होते ही रहते हैं। आज रूस आदि देशोंमें इस बातके प्रमाणोंकी कमी नहीं। आर्थिक समानताकी घोषणा स्वयं ही एक ऐसी साम्राज्यवादी प्रेरणा बनी हुई दीख रही है। कुछ कालके उपरान्त उसका यथार्थ विनाशकारी स्वरूप प्रकट होनेवाला है ही। आजसे पहले ही वह असंख्य मानवोंके विनाशका कारण बन चुका है। यों असंख्य मानवों-के विनाशपर उर्वरित मानवोंको सुख देनेका दावा अवश्य ही चमत्कारपूर्ण है। उसपर यह विश्वास करना कि वह कभी पूर्ण मानवताकी प्रतिष्ठा तथा बन्धुभाव, प्रेम, विश्वास आदिका निर्माण कर सकेगा, भोले-भाले लोगोंके अथवा वर्तमानमें किसी विषम जीवनसे व्यथित होकर किसी भी प्रकार किसीके भी आधारपर उस जीवनसे छुटकारा पानेके लिये लालायित अदूर-दर्शी मनुष्योंके लिये ही ऐसा समझना सम्भव है।

इस अवस्थामें, विज्ञानसे एक दूसरेके निकट आये हुए मानवको उसी विज्ञानके बलपर अधिक सुगमतासे एक दूसरेका विनाश करनेमें समर्थ देखकर शुद्ध-स्नेहमय मानवता-का स्वप्न देखनेवालोंके अन्तःकरणका विदीर्ण होना अनिवार्य है। इस विषम अवस्थासे निकलनेका मार्ग ढूँढ़ना ही चाहिये।

आज जो सर्वनाशकारी शस्त्रास्त्रके निर्माणकी स्पर्धा चल रही है, उससे वैज्ञानिक भी चिन्तित हो उठे हैं और ये विज्ञानके अनुसंधान—प्रकृतिकी शक्तिका उपयोग करनेका यह ज्ञान विनाशके लिये नहीं, अपितु उन्नतिके लिये उपयुक्त हो एवं मानव एक कुटुम्बके रूपमें रहकर परस्पर सहकारी बनें-ऐसी उत्कट इच्छा जगत्के मनीषियोंके अन्तःकरणमें प्रकट होकर क्रमशः बल पकड़ रही है। मार्गकी खोज चल रही है।

इस परिस्थितिमें कुछ बातें स्मरण रखना लाभदायक होगा। सम्पूर्ण मानवजातिका एक कुटुम्बके रूपमें स्थित होना असम्भव नहीं है; किंतु इसमें कोई यदि यह सोचे कि भीतर-बाहर सब समान हो जायँगे तो यह सोचना ठीक नहीं है और न ऐसी निर्जीव समानता मानवके सुखका निर्माण ही कर सकती है। जबतक सृष्टि है, तबतक विविधता रहेगी ही। विभिन्न स्थानोंके समूह अपने स्थानवैशिष्ट्य तथा परम्परा-वैशिष्ट्यसे युक्त रहेंगे ही। इन सब वैशिष्ट्योंसे युक्त इन राष्ट्र-जीवन भोगनेवाले समूहोंके वैशिष्ट्यको नष्टकर उन्हें एक ही ढाँचेमें ढालनेकी चेष्टा करना जगत्की सुन्दरता, सुख आदिको नष्ट करना है। वैशिष्ट्य नष्ट होनेसे उन समूहोंकी जीवनविषयक अन्तःस्फूर्ति ही नष्ट हो जायगी। इस प्रकारका मृतप्राय मानव पशुभावसे केवल शारीर कर्म तथा सुखोप-भोग आदिमें ही संतुष्ट होगा तथा इसके फलस्वरूप उसके भीषण अधःपतनकी सम्भावना होगी। अतः आवश्यक है कि राष्ट्रोंका विनाश न करके उन्हें अपने-अपने श्रेष्ठ वैशिष्ट्योंसे युक्त जीवन-विकास करने दिया जाय। उस विकासमें सब राष्ट्र परस्पर सहकारी बनें, अनिष्ट विशेषताओंको परस्पर सहकार्यसे दृढ़तापूर्वक हटा दें, ऐहिक जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके हेतु सब राष्ट्र एक दूसरेका भरण-पोषण करनेमें सहायक हों। वैज्ञानिक प्रगतिके अभिमानसे अत्यधिक भोग-सामग्रीका निर्माण न करते हुए, सम्पूर्ण जगत्को आवश्यक वस्तुएँ मिलती रहें—इसके लिये सब राष्ट्र आपसमें मिलकर उन वस्तुओंके निर्माण-कार्यका बँटवारा कर लें तथा अधिक वस्तुओंसे उत्पन्न हो सकनेवाले संघर्षोंको समाप्त कर दें। सम्पूर्ण जगत्में एक दूसरेकी विशिष्टताका पर्याप्त ज्ञान तथा तत्सम्बन्धी आदरका निर्माण हो और इस प्रकारकी व्यवस्थासे परस्पर स्नेहपूर्ण तथा सहयोगपूर्ण परस्पर-पूरक राष्ट्रोंका एक महान् कुटुम्ब स्थापित करनेका प्रयत्न किया जाय और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सब लोग इस 'एक कुटुम्ब' भावनाको यथार्थ आधार समझकर चलें।

जिन महानुभावोंने जगत्की एकताके स्वप्न साकार करनेके हेतु विचार किये हैं, सिद्धान्त खोज निकाले हैं, उनमेंसे अपने भारतके ऋषि, मुनि, संत आदिके तत्त्वज्ञान एवं जीवन-दर्शनकी ओर जगत्के अन्य भौतिकतामें मग्न मानवोंका ध्यान अभी पर्याप्तरूपमें नहीं गया है। वास्तवमें यह तत्त्वज्ञान ही, अद्वैत ही, एक ही सच्चिदानन्द सर्वत्र व्याप्त है—भेददृष्टि, द्वैतदृष्टि सर्वथा मिथ्या है—इसकी अनुभूति ही मानवके व्यावहारिक जीवनमें मानवता, बन्धुता आदि शब्दोंसे परिलक्षित विशाल जीवनको प्रतिष्ठित करनेकी क्षमता एवं पात्रता निर्माण कर सकती है। विविधतामें एकताका साक्षात् दर्शन इसी तत्त्वज्ञानमें रमनेपर हो सकता है। आजका विज्ञान भी इसी तत्त्वज्ञानकी नितान्त सत्यताकी ओर संकेत करने लगा है तथा बढ़ने लगा है। इस तत्त्वज्ञानकी उपासना होना तथा इस ज्ञानको ही जीवनका आधार बनाकर चलना शान्ति-सुखपूर्ण बन्धुभावसे भी दृढ ऐकात्म्यपूर्ण मानवताकी चिरजीवी स्थितिके लिये अनिवार्यरूपसे आवश्यक है।

परंतु कुछ लोग यह कह सकते हैं कि 'यह तत्त्वज्ञान तो पुराने समयसे विद्यमान है, भारत तो इसपर अभिमान करता रहा है; परंतु न तो भारतमें, न अन्यत्र ही जगत्में कहीं इसका प्रभाव दिखायी देता है।' किसी अंशमें यह शङ्का ठीक ही है। परंतु यदि हम सोचेंगे तो दिखायी देगा कि ज्ञान तो दिक्कालातीत सत्य था और सत्य ही है; किंतु उसका अनुभव करके तदनुसार व्यक्ति तथा समाजके जीवनकी रचना करने-की उत्सुकता जनमतमें उतनी नहीं रही, जितनी रहनी चाहिये। इस ज्ञानके आधारपर जीवन-रचना करनेका विशाल समाजव्यापी प्रयोग यथार्थरूपमें कभी हुआ ही नहीं। कहीं किसी अंशमें उसका प्रयोगाभास जब-जब हुआ, तब-तब उस आभासमात्रसे भी मानवमें परस्पर स्नेह, विश्वास, आत्मीयता, सहकार्य आदि गुण प्रकट हुए तथा समाज उत्कर्षको प्राप्त हुआ। अपने भारतके इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। परंतु पूर्णरूपेण यह प्रयोग हुआ नहीं। इसी हेतु श्रीव्यासमहर्षिको कहना पड़ा कि 'धर्मको आधार बनाओ, उसीसे ऐहिक जीवनका उत्कर्ष एवं सर्वसुखोपभोग प्राप्त होंगे। ऐसे धर्मकी उपासना क्यों नहीं करते? अरे, मैं हाथ उठाकर पुकारकर यह कह रहा हूँ; पर मेरी कोई सुनता ही नहीं।'

आज विज्ञानके द्वारा इस तत्त्वज्ञानकी पुष्टि होने लगी है। विज्ञानने अपनी अपूर्णता भी विनाशकारी बनकर सिद्ध कर

दी है। अब इस 'ज्ञान' के आधारपर विज्ञानका उपयोग करते हुए 'एक ही सत्तत्व जगत्रूप बनकर आविष्कृत हुआ है' इसकी अनुभूति प्राप्त करनेके लिये अनुभूत मार्गोंका अवलम्बन करना चाहिये। इस ज्ञानके आधारपर मानव-समाजकी वैज्ञानिक शास्त्रशुद्ध रचना—धर्मनिर्दिष्ट चतुर्वर्णात्मक रचना करनी चाहिये तथा समष्टिरूप परमात्माका मानवजाति एक स्वरूप है; प्रत्येक व्यक्ति—सूक्ष्म तथा समान गुण-कर्मयुक्त व्यक्ति, समूह, स्थूल उस विराट् देहके अवयव हैं—इस सिद्धान्तको व्यवहारमें लाकर सबका समन्वय करना आवश्यक है। इसीसे चिरसुख, असीम शान्ति तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का यथार्थ अनुभव करानेवाले ज्ञानयुक्त, शील-चारित्र्ययुक्त, धर्मनियन्त्रित, परस्पर विश्वास तथा सहकार्यसम्पन्न मानव-समाजका निर्माण होगा और उससे सुखकी चरम सीमा प्राप्त हो सकेगी। आजके अधिकार-विषयक तथा स्वार्थ-विषयक सारे संघर्ष—आर्थिक, राजकीय, धर्ममताधिष्ठित या इसी प्रकारके अन्य किसी भी स्वार्थके कारण उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण संघर्ष सदाके लिये शान्त हो जायँगे और स्वकर्तव्यका योग्य परिचय तथा परिपालन होकर सर्वत्र प्रेममय मानव—परमात्माके अंशभूत होनेके कारण अति विशुद्ध प्रेममय मानवका उन्नत जीवन प्रतिष्ठित हो सकेगा।

सर्वजगद्व्यापी, अन्तर्यामी जगत्पालक सच्चिदानन्द श्रीपरमात्मा अपनी धर्म-रक्षणकी प्रतिज्ञाका स्मरण कर इस ज्ञान-रूप जीवनके आधारकी प्रतिष्ठापना करनेकी शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त होकर जगत्में अपना आनन्द भरें, मानव उस आनन्दमें अन्तर्बाह्य सुस्नात हो और प्रत्येक मानवको सम्पूर्ण जगत् ही सच्चिदानन्दरूपमें दिखायी दे। यही इच्छा श्रीभगव-च्चरणोंमें निवेदन कर यह अल्प-सा—अल्प मतिद्वारा व्यक्त किया हुआ प्रबन्ध पूर्ण करता हूँ।

मानव-जीवनका चरम और परम लक्ष्य तथा सुफल

(लेखक—श्रीयुत स० लक्ष्मीनरसिंह शास्त्री)

मानव-जातिके इतिहासमें बड़ी कठिन परीक्षाका समय उपस्थित है। ऐसा समय इससे पहले नहीं देखा गया। अब यह प्रश्न उपस्थित है कि क्या मानव-जाति पूर्ण विध्वंसको प्राप्त होकर विनष्ट हो जायगी और उसके इस विनिपातके साथ उसके वे सब महान् मूल्य और आदर्श नष्ट हो जायँगे, जिन्हें आजतक उसने अपने नेत्रोंके सामने रखा, अथवा वह यहींसे फिरकर किसी श्रेष्ठ और महान् भवितव्यताकी ओर अग्रसर होगी। कोई भी इस प्रश्नका उत्तर आज नहीं दे सकता। मानवजाति आज एक करारपर खड़ी है। यहाँसे वह महाविनाशके भयानक गर्तमें कूद पड़नेको तैयार है। इस गर्तके कराल गालमें गिरकर मानवजाति अपनी सारी मानवताके साथ प्रलयमें लीन होना चाहती है, महा-विनाश—महामृत्युके मौनमें मिट जाना चाहती है। क्या अकस्मात् कोई ऐसी दैवी घटना हो सकती है जो इस विनिपातसे उसे बचा ले अथवा जो होना है, अपरिहार्य है, वही होकर रहेगा ?

शेक्सपियरने मनुष्यको साभिमान 'इस मिट्टीका सत' कहा है। मनुष्य प्रकृतिकी वह संतति है, जो उसकी सबसे बड़ी समस्या है। इसमें एक असाधारण आश्वासन है, ऐसा आश्वासन जो उसे नरसे नारायण बना सकता है। मानव-जाति कितनी भी बिगड़ी हुई हालतमें हो, पुराकालमें इसने ऐसे महापुरुष उत्पन्न किये हैं, जिनकी आध्यात्मिक गौरव-गरिमा आज इस युद्ध-विद्ध जगत्पर भी अपनी ज्योत्स्ना छिटका रही है; परंतु इन्हें हम असामान्य विशेष कह सकते हैं, सामान्यमें जिनकी कोई गणना नहीं। सामान्यतः तो मानव-जातिने अपने भयंकर कुकृत्योंसे मानव-हित-साधकको निराश किया है और मानव-जातिके शत्रुओंके हृदय आह्लादित किये हैं। कभी-कभी हिंस्र पशु भी मनुष्यसे अधिक सौम्य प्रतीत होते हैं, यद्यपि मनुष्य अपने आपको सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा करता है। 'जंगलका विधान' जिसे कहते हैं वह भी अधिक सुव्यवस्थित, अधिक सौम्य और अधिक सावधान विधान है; उससे सृष्टिके निम्नस्तरी[illegible] जीव-जगत्में एक संतुलन बना रहता है। पशु अपनी सह[illegible] पशुबुद्धिसे अपने जीवनविधानका पालन करते रहते हैं पर मनुष्यमें तर्कबुद्धि है। यह उसका महत्तम आभूष[illegible] और गम्भीरतम अभिशाप है। वह इसके बलपर उन स[illegible] सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विधानोंक[illegible] तिरस्कृत कर देता है, जिन्हें वह अपने लिये स्थिर कि[illegible] हुए रहता है। उसका नैतिक विधान मानो पालन[illegible] अधिक उल्लङ्घनके लिये ही होता है। वाक्शूरताके सा[illegible]

आवेशयुक्त भाषण करते हुए वह बड़े-बड़े, ऊँचे आदर्शोंकी बात करता है; पर व्यवहार करता है ऐसे ढंगसे कि जिसकी उसके भाषणके साथ कोई संगति नहीं ! यह देखकर यही कहनेको जी चाहता है कि 'असंगति ! तेरा ही नाम मानव है।'

प्रकृतिके समस्त उत्पातोंकी अपेक्षा मनुष्यकृत कारणोंसे ही जगत्के प्राणियोंका अधिक संहार हुआ है, अधिक विनाश हुआ है और उनपर अधिक आपदाएँ आयी हैं। कौरवोंने पाण्डवोंसे युद्ध किया अथवा यूनानियोंने युद्धमें ट्रोजनोंको मार भगाया, तबसे हनीबल, सीजर, अटिला, तैमूरलंग, नेपोलियन, हिटलर और स्टालिन-जैसे प्रसिद्ध सेनानियोंके रूपमें मानवी आपदाएँ बराबर आती ही रही हैं; पर ये आपदाएँ भी आजकी प्रभुत्वोन्मत्त राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विताओं-के सामने नगण्य-सी लगती हैं। उन सेनानियोंने अधिक-से-अधिक जगत्का बहुत छोटा-सा ही हिस्सा उजाड़ा है। पर ये आधुनिक आदर्शगत विचारधाराओंके बुद्धि-वैभवशाली प्रसारक अपने दानवीय आदर्शोंकी बलिवेदीपर अपनी रक्त-सनी बलिके रूपमें सारे संसारका और शायद उससे भी कुछ अधिकका बलिदान किया चाहते हैं। वर्तमान शताब्दीके गत पूर्वार्द्धमें दो भीषण महायुद्ध हो चुके हैं। बर्लिन और हिरोशिमा-जैसे सघन बस्तियोंके दो महानगर उसमें मिट गये और अब इस क्षण क्षितिजपर युद्धकी घटाएँ घिरती नजर आ रही हैं। मालूम होता है, कोई ऐसा तूफान उठेगा जो सारे संसारको, उसके समस्त नूतन संहारक यन्त्रोंके साथ अपने अङ्कमें उड़ा ले जायगा और झोंक देगा किसी महान् अग्निप्रलयमें। पर इन युद्ध-व्यवसायियोंकी इस भीषण निष्ठुरतासे भी अधिक आश्चर्यजनक इनकी पाखण्डभरी बातें हैं। ये बड़े ऊँचे आदर्श अपने बतलाते हैं और 'युद्धान्तके लिये युद्ध' और 'शान्तियुक्त सह-अस्तित्वकी दिशामें' के मोहक नारे लगाते हैं। 'युद्धसे युद्धका अन्त' करनेकी बात स्पष्ट ही असम्भवको सम्भव बताना है, एक प्रकारका छल है। इसी प्रकार एक दूसरेके गले काटकर शान्तियुक्त सह-अस्तित्व स्थापित करनेकी बात भी एक व्यर्थका प्रलाप है। दुर्भाग्य है जो ऐसी कोरी बातोंमें बहुत-से लोग आ जाते हैं और इनकी सार्थकता और सचाईमें विश्वास करने लगते हैं। प्रत्येक युद्धका परिणाम बहुत व्यापक होता है। धन-संहार, सम्पत्तिनाश, आपद्-विपद्, दुर्भिक्षादि युद्धके तत्काल होने-वाले परिणाम तो हैं ही; मानव-मनपर भी इसका परिणाम बहुत बुरा होता है। मनुष्य इससे हृदयहीन पशु, देवस्वाप-हारी, विवेकरहित निष्ठुर यन्त्र-सा प्राणी बन जाता है; यह फिर सभी उच्च नैतिक और आध्यात्मिक विचारोंको तुच्छ समझने लगता और अपने कमीने भौतिक स्वार्थोंके साधनमें कोई बात उठा नहीं रखता। तब इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है कि कुछ प्राचीन धर्म-सम्प्रदायोंने मनुष्यसे निराश होकर उसे पापी माना और देव-दानवोंके शतरंजका प्यादा कहा है।

आज मनुष्यको इस पृथ्वीका प्रभुत्व भी कम जँचता है। उसकी लोभदृष्टि पड़ी है इस पृथ्वीके परे विशाल आकाशपर और वह इसे जीतने तथा ग्रहोपग्रहोंपर भी अपना साम्राज्य स्थापित करनेके लिये प्रचण्ड प्रयत्नोंमें लगा है। मनुष्यकी इच्छा और लोभका कितना विस्तार हो सकता है। इसकी सचमुच ही कोई सीमा नहीं है। एक वस्तु हाथमें आयी तो उससे दूसरी चीजके लिये भूख बढ़ती है। जीतकी यह सर्वग्रासी भूख प्रत्येक ग्रासके साथ मानो अधिकाधिक भयानक होती जा रही है। मान लें कि हमने सारा विश्व जीत लिया, उसपर अपना प्रभुत्व स्थापित हो गया; पर इससे क्या हुआ ? क्या इससे मानवकी सुख-लालसा पूरी हो जायगी ? तब क्या वह प्रभुत्व पानेका यह उन्मादभरा प्रयत्न करना छोड़ देगा ? क्या मनुष्यको अपने जीवनका सारतत्त्व तब मिल जायगा ? क्या तब उसे वह परम आनन्द और अक्षय शान्ति मिल जायगी, जो इस मर्त्यजीवनके सब दुःखोंका अन्त करनेवाली है ? नहीं, कदापि नहीं।

प्राप्तश्चारः पक्षिवत् खे ततः किम् ?
... ...

भूपेन्द्रत्वं प्राप्तमुर्व्यां ततः किम् ?
देवेन्द्रत्वं सम्भृतं वा ततः किम् ?
शुण्डीन्द्रत्वं चोपलब्धं ततः किम् ?
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत् ॥

(श्रीशंकराचार्यकृत अनात्मश्रीविगर्हणम् १०, १२)

तब वह कौन-सा प्रमाद है, जो मनुष्य-जातिके द्वारा आज हो रहा है। अधिकाधिक स्वतन्त्र होनेका मार्ग ढूँढ़ना तो कोई प्रमाद नहीं हो सकता; कारण स्वतन्त्र होना, मुक्त होना, सर्वबन्धविनिर्मुक्त होना उसका स्वभाव ही है। पर जिस कारणसे मानव-जाति अभिशप्त हुई है वह कारण यही है कि उसके प्रयत्नोंकी दिशा गलत है; उन प्रयत्नोंके साध्य उसने

जो निश्चित किये, वे ही गलत हैं। यह कहना कुछ विरोधाभास-सा लगेगा; पर सच्ची बात यही है कि मनुष्यने इस भौतिक जगत्पर जो-जो विजय पायी, उस प्रत्येक विजयसे वह प्रकृतिके दासत्व-बन्धनमें बँधता गया है। प्रकृतिके अनन्त रहस्योंमेंसे जिस किसी रहस्यका मनुष्य उद्घाटन करता है, वही उसके लिये एक प्रलोभनका फंदा बन जाता है और उससे प्रकृति मनुष्यको लुभाकर उसके द्वारा अपने काम कराती है। मनुष्य तो यह मान लेता है कि हमने प्रकृतिके रहस्य जान लिये, पर यथार्थमें वह उसी प्रकृतिका अधिकाधिक दृढ़ताके साथ दास बनता जाता है। प्रकृति इस प्रकार उसे गले लगाकर, अपनी बाँहोंमें दबाकर पीस डालती और उसे आत्महननकी गति प्रदान करती है। जैसे कोई पशु जालमें फँसनेपर उससे बाहर निकलनेके लिये जितना ही प्रयत्न करता है, उतना ही वह फँसता जाता है, वैसे ही मनुष्य भी प्रकृतिको अपने वशमें करनेके प्रयासमें पद-पदपर उसका दास ही बनता जाता है।

तब मनुष्यके उद्धारका क्या कोई उपाय नहीं है ? क्या मनुष्य जन्मतः पापी है और विनाशको प्राप्त होनेके लिये ही जन्मा है ? नहीं, ऐसा नहीं है। मानव-जातिपर इस समय आध्यात्मिक ग्रहणकी एक प्रगाढ़ छाया पड़ी हुई है। मनुष्य यदि अधःपतनकी इस तीव्र गतिसे अपने-आपको रोक ले, ठहर जाय और पीछे फिरकर देखे, स्थिर-शान्त होकर विचारे कि अबतककी उसकी इस चालसे क्या बिगड़ा, क्या बना, तो अब भी उसके लिये आशा है। जिस क्षण मानव-जाति सारे विश्वपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी इस उन्मादपूर्ण होड़से विरत होगी, उसी क्षण मानव-जीवनका चरम लक्ष्य उसकी दृष्टिके सामने आ जायगा।

वह कौन-सी वस्तु है, जो मनुष्यको इस भौतिक प्रगतिकी ओर प्रेरितकर उसके पीछे उसे पागल बना देती है ? वह तत्त्व है मुक्ति और परमानन्द पानेकी उसकी सहज उत्कण्ठा। पर यह मुक्ति और यह परमानन्द, जिनके लिये वह इतना उत्कण्ठित है, उसीके अंदर हैं। पर अपने स्वरूपके सम्बन्धमें किसी अनिर्वचनीय अज्ञानके कारण वह यह समझता है कि मोक्ष और आनन्द बाह्य जगत्के पदार्थोंमें हैं। अतः सुदृढ़ उत्साहके साथ वह इन्हींके पीछे पड़ जाता है। पर बदलेमें पाता है केवल दासत्व और दुःख। पर फिर यही प्रश्न होता है कि वह जिसे चिरस्थायी सुख समझता है, उसे पानेके लिये इन क्षणस्थायी पदार्थोंका पीछा क्यों करता है ? यह भी एक गूढ़ और अभेद्य रहस्य है। मनुष्यकी एवं अन्य सभी उच्च-नीच जीवोंकी रचना सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे होती है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(गीता १४। ५)

समस्त सृष्टि, सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड ही इन्हीं तीन गुणोंका विस्तार है। इनमें सत्त्वगुणका लक्षण है शरीर, मन और बुद्धिकी निर्मलता, ज्ञानकी निर्मलता, शान्ति और चित्तकी समता। इसके विपरीत विकारवशता, इन्द्रियसुख देनेवाले पदार्थोंकी उत्तेजनाभरी सर्वग्रासी आसक्ति तथा उन पदार्थोंको पानेकी निरन्तर चेष्टा रजोगुणका लक्षण है। कोई जितना ही इस गुणके अधीन होता है, उतना ही वह कामके वश होकर दुःख उठाता है। 'रजसस्तु फलं दुःखम्' (गीता १४। १६)। तमोगुणका लक्षण है जडता, मानसिक आलस्य, अनुत्साह, मोहमयी निद्रा।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
(गीता १४। ८)

ब्रह्मासे लेकर छोटे-से-छोटे तिनके तक इस जगत्का कोई भी जीव इन तीन गुणोंमेंसे किसी-न-किसी एक गुणकी प्रधानताके अधीन होता ही है। देवताओंमें सत्त्वकी प्रधानता होती है, रज और तम गौण होते हैं। मनुष्यमें रजोगुणकी प्रधानता है, उसका झुकाव स्पष्टतया चाहे सत्त्वकी ओर हो या तमकी ओर। पशुओंमें तमकी ही प्रधानता होती है। गुणोंके इस तारतम्यसे स्पष्ट है कि मनुष्य इस सृष्टि-रचना-क्रममें देवताओं और पशुओंके बीचमें है। आधा देव, आधा पशु। यदि सत्त्व अन्य दो गुणोंको दबाकर ऊपर उठ जाय तो मनुष्य देवताओंसे भी अधिक ऊँचा पद प्राप्त कर ले। परंतु यदि दुर्भाग्यवश तम सत्त्व और रजको दबाकर प्रधान हो जाय तो वह मानव-आकारमें ऐसा दानव बन जाता है जिसके सर्वभक्षी लोभका किसी बातसे संतोष नहीं हो सकता, न जिसकी हृदयहीन क्रूरता किसी बातसे मिट सकती है। सम्प्रति मानव-जाति एक भयानक रज-तम-मिश्रणके प्रभावसे प्रेरित है। इसीसे संसार भयंकर यातनाओं, दुरवस्थाओं और दुःखोंका शिकार हो रहा है। यह रज-तम-सम्मिश्रण मनुष्यको शैतान बना देता है। शैतानकी प्रकृतिमें साधुता नहीं होती, न्याययुक्त सुख-समृद्धि नहीं होती; न त्याग, न शुचिता, न सदाचार और न सत्यप्रियता ही होती है। ऐसे असुर परमेश्वर-

की सत्ता नहीं मानते, मनुष्योंके परस्पर सम्बन्धोंकी पवित्रताका उपहास करते हैं और इस सत्यानाशी सिद्धान्तका प्रचार करते हैं कि मैथुनी प्रवृत्ति ही समस्त सृष्टिका मूल है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
(गीता १६। ७-८)

ऐसे भयानक जीव फिर क्या करते हैं? सहस्रों आशा-पाशोंसे बद्ध, काम और क्रोधसे प्रेरित ये आसुरी प्रकृतिके लोग नीचातिनीच उपायोंद्वारा अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये अर्थ-संचय करते हैं। 'इतना मैंने कर लिया है, इतना और कर लूँगा। इतना धन मैंने बटोर लिया है, इतना और बटोर लूँगा। इस शत्रुको मैंने मार डाला है, अब दूसरोंको भी, जो मुझसे घृणा करते हैं, मैं समाप्त कर दूँगा। वास्तवमें मैं ही इस सृष्टिका स्वामी हूँ। मैं ही सब सुखोंको भोगता हूँ। समस्त पार्थिव सिद्धियाँ मैंने पा ली हैं। मैं बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ, सब प्रकारसे मैं समृद्ध हूँ, मैं कुलीन हूँ। मेरी बराबरी भला, कौन कर सकता है। अतिनिन्दनीय अहंभावसे प्रेरित, महाक्षोभकारी कामनाओंसे परिचालित और तमोमय मोहपाशोंसे आबद्ध ये आसुरी जीव कामभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए तीव्र गतिके साथ महानरकमें जा गिरते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
(गीता १६। ११-१६)

इस प्रकार जो व्याधि मानवको इस समय पीड़ित किये हुई है, उसका निदान तो हुआ; पर केवल निदानसे क्या होगा, जबतक उसकी औषध न बतायी जाय। जो भयानक भवितव्य सामने दीख रहा है, उससे बचनेके लिये मानव-जातिको क्या करना चाहिये? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि तामसी प्रवृत्तियोंका सर्वथा त्याग और सात्त्विक प्रवृत्तियोंका अधिकाधिक अनुसरण करना चाहिये, अपनी वंशपरम्परा और परिस्थितिके अनुसार, भगवत्प्रीत्यर्थ अपने कर्तव्योंका काम-राग-विवर्जित होकर पालन करनेका यत्न करना चाहिये और इस प्रकार जीवनको चरितार्थ करना चाहिये। इस मार्गके दर्शक दो प्रसिद्ध स्मृतिवचन हैं। एक है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

भगवान् श्रीकृष्ण इसमें परमानन्दपदकी प्राप्तिके लिये स्वकर्मका पालन आवश्यक बतलाते हैं। दूसरा वचन है—

अयं तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्।
(याज्ञवल्क्यस्मृति)

इसमें भगवान् याज्ञवल्क्य आत्मसाक्षात्कारके लिये योग-साधनकी अपेक्षा बतलाते हैं। आपाततः ये दो विभिन्न मार्ग-से दीख पड़ते हैं। पर यथार्थमें दोनों ही महापुरुषोंने एक ही बातका निर्देश किया है। श्रीकृष्ण भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेको कहते हैं और याज्ञवल्क्य योगाभ्यास करनेको। परंतु यदि हम योगकी गीतोक्त व्याख्या ध्यानमें रखें तो दक्षताके साथ विधिपूर्वक किये हुए सर्वथा सुसंगत कर्मको ही योग कहते हैं—योगः कर्मसु कौशलम्। अतः ये दोनों ही स्मृतिवचन एक ही मार्ग और एक ही गन्तव्य स्थानका निर्देश करते हैं

अब गीताने जो उपाय बताया है, उसके वास्तविक आशय और उसकी अव्यर्थताको हम समझें।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

कर्म चाहे शास्त्रविहित हो अथवा सांसारिक परिस्थितियोंसे प्राप्त हो, सर्वथा निःस्वार्थ होकर भगवदर्चनाके रूपमें किया जाय तो यही परम साध्यका अव्यर्थ साधन बन जाता है। जब कर्मका कर्ता अपने लिये अपने कर्मके फलकी कोई लालसा नहीं रखता बल्कि उसे भगवान्‌को समर्पित कर देता है, तब ऐसे भक्तियुक्त कर्म करनेवालेके कल्याणका सम्पूर्ण उत्तर-दायित्व स्वयं भगवान्‌पर ही आ जाता है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९।२२)

ऐसे साधनमार्गसे साधकको न केवल 'यदृच्छालाभसंतुष्टिः' ही होती है, बल्कि साधक क्रमशः परम साध्यको प्राप्त होता है—'सिद्धिं विन्दति मानवः।' किसी फलाकाङ्क्षासे किया हुआ कर्म कर्ताको संसारके चक्करमें डालकर उसमें अधिकाधिक फँसा देता है। कर्मका यह स्वभाव है कि वह कर्ताके मनको अशुद्ध कर देता है। परंतु कर्म जब अपने किसी वैयक्तिक लाभके लिये नहीं, बल्कि भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किया जाता है, तब वह कर्ताको अशुद्ध नहीं करता, बल्कि उसे कर्मके बन्धनसे छुड़ा देता है। अतः जब पूर्णरूपसे रागद्वेषरहित होकर, पूर्ण आत्मसंयमके साथ, कामना-वासनाके कलङ्कसे वियुक्त होकर ईश्वरमें दृढ़ विश्वास रखते हुए कर्म किया जाता है, तब ऐसे कर्मका कर्ता उस आध्यात्मिक उच्चताको प्राप्त होता है, जहाँ पूर्ण वैराग्यके द्वारा वह शारीरिक कर्म करता हुआ भी परम आध्यात्मिक नैष्कर्म्यकी स्थितिमें पहुँच जाता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥
(गीता १८।४९)

इस ज्ञानदीप्त नैष्कर्म्यस्थितिसे ब्रह्मकी प्राप्ति, जो समस्त मानवीय कर्मका परम लक्ष्य है, दूर नहीं रहती। जिसकी बुद्धि सर्वथा विशुद्ध और मन एकाग्र है, इन्द्रियोंके विषय जिसे बहका नहीं सकते, जिसके चित्तमें राग-द्वेषकी कोई बात रह नहीं गयी है, जो एकान्तसेवी है, जो उतना ही आहार करता है जितना शरीर-धारणके लिये आवश्यक है, जिसके समस्त कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म संयत होते हैं, जो परमध्येयके ध्यानमें ही निमग्न रहता है, जिसने अपना क्षुद्र अहंकार त्याग दिया है, जो स्थिर-शान्त है, ऐसा पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य होता है। जो ब्रह्मके द्वारा ब्रह्ममें अपनी सत्ताका दर्शन कर लेता है और उस शान्तिको प्राप्त कर लेता है, जो मन-बुद्धिके लिये अगम्य है, उसीकी ऐसी स्थिति होती है कि न उसे किसी बातसे शोक होता है न किसी बातकी इच्छा होती है। उसकी दृष्टि सर्वत्र सब प्राणियों और पदार्थोंमें एक भगवान्‌को ही देखती है और सब कुछ भगवान्‌में देखती है। ऐसा पुरुष समदर्शी होता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तथैव—

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ऐसी स्थिति होनेपर पराभक्ति प्राप्त होती है। इस परमाह्लादमयी भक्तिकी अनुभूति साधकमें भगवत्कृपासे ओतप्रोत हो जाती है, तब वह संसार-सूत्रके संचालक भगवान्‌के दिव्य कर्मका आकलन कर सकता है और भगवान्‌को भी यथावत् समझ सकता है। तब उसमें भगवत्संकल्पसे भिन्न अपनी कोई इच्छा नहीं रह जाती और उसके सब कर्म भगवत्संकल्पके ही साधक होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के अंदर भगवदीय योजनानुसार भगवान्‌का ही अनुगमन करता हुआ भगवत्कृपासे पूर्णतया आच्छादित होकर अन्ततः परमानन्दकी सनातनी स्थितिमें—उस ब्रह्मकी स्थितिमें जाग पड़ता है, जो ब्रह्म परम और शाश्वत सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।
(बृहदारण्यक०)

तथा—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्।...
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।
(तैत्तिरीय० २१)

यह आध्यात्मिक सिद्धि वह क्रम है, जिसका गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें कितना सुन्दर वर्णन हुआ है—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

(गीता १८ । ५०—५६)

यही वह परमानन्दकी प्राप्ति है, जिसे याज्ञवल्क्य भी मानवजीवनका परम फल मानते हैं—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

यही बात इन्हीं महर्षिने मैत्रेयीको उपदेश करते हुए बृहदारण्यक-उपनिषद्में विस्तारसे समझायी है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

मनुष्यके अंदर जो आत्मा है वह ब्रह्म ही है—

अयमात्मा ब्रह्म ।

(माण्डूक्य० २)

अतः मानव-जीवनका चरम लक्ष्य और महाफल यही है कि 'हम अपने सच्चे स्वरूपको जानें। अपने स्वरूपकी उस महिमा और समृद्धताको जो स्वानुभवसे जान लेता है, वह कभी सांसारिक विषयोंकी माया-मरीचिकाके पीछे नहीं दौड़ता। जो पूर्ण निर्भय होता है, वह किसीसे द्वेष नहीं करता; कारण, भयसे ही द्वेष उत्पन्न होता है। परमानन्दकी उस स्थितिमें कोई मोह नहीं, कोई शोक नहीं—

तत्र को मोहः कः शोकः ।

(ईशावास्य०)

मानवका भवितव्य वास्तवमें इतना महान् है। फिर भी कैसे दुःखकी बात है कि उसके जीवनका पर्यवसान ऐसा शोकजनक हो। जो मानव ऐसी महत्तम भवितव्यताको प्राप्त होनेका अधिकारी है, वही द्वेष और दुःख उपजानेवाले वैषयिक सुखके दलदलमें इस प्रकार लोटपोट करे! यह कितने आश्चर्य और दुर्भाग्यकी बात है कि मनुष्य अपने ब्रह्मत्वसे बेखबर होकर अपने क्षुद्र अहंकारके गर्तमें अधिकाधिक धँसता जा रहा है—उस रेशमके कीड़ेकी तरह, जो अपने-आपको अपने कोयेके कफनसे ढँककर दफन हो जाता है। ब्रह्मत्वके असीम अनन्त साम्राज्यका अधिकारी मनुष्य आज एक भिखमंगेकी तरह सांसारिक सुखोंके दुर्गन्धियुक्त ढेरमेंसे कूड़ा बटोर रहा है!

क्या मानव-जाति अब भी, जब कि उसके भीषण भविष्यपर मुहर लग चुकी है, पीछे फिरकर देखेगी? क्या मानवके नेत्रोंपरसे प्रमादका यह परदा हटेगा और वह शाश्वत आनन्दसे परिपूर्ण परम धामकी कुछ झलक पायेगा? क्या वह यह अनुभव करेगा कि वह भगवत्कर्मकी पूर्णताके साधनमें एक स्वीकृत निमित्त है और इस नाते क्या वह विनम्र होकर उन भगवान्की शरण ग्रहण करेगा, जिन भगवान्से ही समस्त कल्याणके स्रोत निकलते हैं? उत्तरकी प्रतीक्षा है।

मानवताके पुरातन सिद्धान्त

(लेखक—माननीय पं० श्रीगोविन्दवल्लभजी पन्त, गृहमन्त्री, केन्द्रिय सरकार)

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि 'कल्याण'का मानवतापर एक विशेषाङ्क प्रकाशित हो रहा है। आज हमारे चारों ओर संघर्ष व्यापक है। राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रोंमें ही नहीं; किंतु आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्तरमें भी महान् चुनौतियाँ सामने हैं। मानव-समाजका ढाँचा तेजीके साथ बदलता जा रहा है। विज्ञानके सहारे ज्ञानके नये पृष्ठ खुलते जा रहे हैं। मनुष्यकी आकाङ्क्षाएँ धरातलको छोड़ बाह्य जगत्के निरीह क्षेत्र-में विचरण करने लगी हैं; किंतु स्थूल जगत्की विजयसे भी मनुष्यके आन्तरिक संसारका संघर्ष कम नहीं हुआ, बढ़ता ही जा रहा है। इस युगमें, विभिन्न विचारों और विपरीत आदर्शोंके कोलाहलमें, हमें फिरसे मानवताके पुरातन सिद्धान्तोंका मनन करना है। ये सिद्धान्त विवादसे परे हैं, ज्ञानकी पराकाष्ठा हैं। इनका स्वरूप हरेक धर्ममें निहित है—कारुण्य, औदार्य, सेवाभाव, अहिंसा। मानव-जातिका इतिहास इन शक्तियों-का विकासमात्र है और इन्हींके संवर्धनद्वारा उसका कल्याण सम्भव है।

मानवताके मूल तत्त्व

(लेखक—सम्मान्य श्रीश्रीप्रकाशजी, राज्यपाल, बम्बई)

शारीरिक दुर्बलता और मानसिक आवश्यकताके कारण मनुष्यको दूसरोंका साथ खोजना पड़ता है। वह अकेले जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। वह सामाजिक जन्तु है और समाजमें ही उसे रहना पड़ता है। शताब्दियोंसे विकास करता हुआ वह आजके स्तरपर पहुँचा है। उसने अपने लिये बड़े विशाल सामाजिक और आर्थिक संघटन तैयार किये हैं, जिनके द्वारा वह अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है, अपने आदर्शोंको चरितार्थ करनेका प्रयत्न करता है और यथासम्भव सुख और समृद्धिकी खोजमें रहता है। ऐसी अवस्थामें अवश्य ही यह समस्या उसके सामने सदा खड़ी रहती है कि अन्य मनुष्योंसे उसका क्या सम्बन्ध रहे और मनुष्य परस्पर कैसा व्यवहार करें। यदि मनुष्य भी अन्य जन्तुओंकी तरह एकाकी रह सकता तो ऐसे प्रश्न उसके सामने न उठते। वह भी स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करता और अपनेको किन्हीं नियमोंके बन्धनमें न डालता। पर जब उसका अन्य लोगोंके साथ रहना आवश्यक है, तब उसके लिये पारस्परिक व्यवहारकी मर्यादा भी स्थापित करना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकारसे चलते-चलते उसने बहुत बड़े कर्मकाण्डकी स्थापना कर ली है, जिसके अनुसार यथाशक्ति, यथाबुद्धि वह अपने-अपने समुदायविशेषोंमें व्यवहार करता है और जिसके विरुद्ध चलनेवाले असभ्य और उच्छृङ्खल समझे जाते हैं। किन्हीं अवस्थाओंमें तो समाजकी ओरसे ऐसे व्यक्तियोंको दण्ड भी दिया जाता है। मनुष्यने अपनेको स्वेच्छासे इतने कठोर बन्धनोंमें डाल रखा है कि उसने अपने ऊपर राज्यकी भी स्थापना कर ली है और इस प्रकारसे उसने अपने परस्परके व्यवहारको विशेषरूपसे नियमबद्ध करनेके प्रयत्नमें बहुत कुछ सफलता भी पायी है।

ऐसी अवस्थामें यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि साधारण प्रकारसे हम सब लोग जानते हैं और जान सकते हैं कि हमें दूसरोंके साथ कैसा आचरण करना चाहिये, क्या बात उचित है और क्या नहीं। किसी बातको करनेसे दण्डतक मिल सकता है और किसी बातसे सुयशकी भी प्राप्ति होती है। पर इतना प्रयत्न और प्रबन्ध होनेपर भी कुछ बात रह ही जाती है, जिसे हम साधारण लौकिक दृष्टिसे नहीं देख सकते, पर जो मनुष्यके जीवनको समुचित रूप देने और उसे सुन्दर एवं सरल बनानेके लिये आवश्यक है। इसका अध्यात्मसे सम्बन्ध हो सकता है, पर इसका प्रभाव हमारे दिन-प्रति-दिनके जीवन-पर भी पड़ता ही है। इसे हम अपने बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं अनुभव कर सकते। इसका वर्णन करना भी कठिन है। इसकी परिभाषा भी नहीं की जा सकती। यह है 'मानवता।' यदि मनुष्य एकाकी रहे या रह सके तो मानवता-नामके सूक्ष्म भावकी समीक्षा-परीक्षा करनेकी आवश्यकता न हो। परंतु जब हम संघटित समाजमें रह रहे हैं और जब हम एक दूसरेपर हर प्रकारसे आश्रित हैं, जब हमारे मनमें यह इच्छा होती है कि हम समुचित सहायता दूसरोंसे पा सकें और दूसरोंके विचार हमारी ओरसे अच्छे हों, तब मानवताको समझना, उसका आवाहन करना और उसके अनुसार चलना अनिवार्य हो जाता है। दुःख तो इस बातका है कि मनुष्यका जीवन कई कारणोंसे ऐसा कर्कश हो गया है कि उसे इस ओर ध्यान देनेका समय ही नहीं मिलता। ऐसी अवस्थामें इस भावनाका इतना प्रचार नहीं हो सका है, जितना होना चाहिये। और यही कारण है कि अभीतक पर्याप्त मात्रामें दुःख और अशान्ति मनुष्य-समाजमें फैली हुई हैं और उनका निराकरण नहीं हो रहा है। जो थोड़े-से लोग मानवताका विचार रखते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं और करना चाहते हैं, वे संसारकी गतिको देखकर उससे विरक्त हो जाते हैं और अपना जीवन पृथक् ही अपने ही विशेष समुदायमें व्यतीत करते हैं, जिससे उनका जो प्रभाव दूसरोंपर पड़ सकता है और पड़ना चाहिये, वह नहीं पड़ने पाता और मानवताके उपासकोंका समुदाय समाजके साधारण प्रवाहसे पृथक् हो जाता है, जिससे, जो लाभ उसके कारण हो सकता था, वह नहीं हो पाता।

बहुत सम्भव है कि 'मानवता' शब्दको सुनकर लोग कुछ हिचकें, कुछ असमंजसमें पड़ें। उन्हें आश्चर्य भी हो सकता है कि इसकी विशेषरूपसे क्यों चर्चा की जाती है। मनुष्य और मानव तो एक ही वस्तु हैं। मनुष्य जिस प्रकारसे आचरण करता है, उसे ही मानवता समझना चाहिये। कुछ लोगोंका ऐसा भी विचार हो सकता है कि इससे किसी विशेष प्रकारके आचरण और व्यवहारका निरूपण किया जाता है, जिसका साधारण लोगोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस कारण हमें इससे

दूर ही रहना चाहिये। सम्भव है कि बड़ी ऊँची-ऊँची कलाएँ इसमें निहित हैं, जो धनियों और विशेष रूप और प्रकारके शिक्षित लोगोंको ही मिल सकती हैं। इस कारण जब हमारे लिये यह उपलब्ध नहीं है, तब हमें इसके बारेमें विचार करनेसे क्या प्रयोजन। थोड़ेमें इस सबका यह परिणाम होता है कि साधारण लोग इस शब्दको सुनते ही घबराते हैं। वे समझते हैं कि यह किसी ऐसे विशिष्ट लोगोंसे सम्बन्ध रखती है, जो जनसाधारणसे बहुत परे हैं, जो अपना जीवन पृथक् ही व्यतीत करते हैं और कर सकते हैं, जिनका हमसे सम्पर्क प्रायः नहीं ही है, न हो ही सकता है। ऐसी अवस्थामें उनका यह विचार करना स्वाभाविक है कि इससे दूर ही रहना चाहिये। इसके पास साधारण लोगोंको जानेमें भय ही है; क्योंकि उनका जीवन अनिवार्यरूपसे ऐसा कटु और कठिन है कि यदि वे इस ओर ध्यान देंगे तो अपना दिन-प्रति-दिनका कर्तव्य वे नहीं ही पालन कर सकेंगे।

यह दुःखकी बात है कि मनुष्य-समाजने अपनेको नाना प्रकारके छोटे-छोटे समुदायोंमें विभक्त कर लिया है। प्रत्येक समुदायका जीवन दूसरे समुदायोंसे अलग रहता है। हम सभी लोग अपने ही समुदायमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं और इस कारण दूसरोंसे सम्बन्ध नहीं रख पाते। ऐसी अवस्थामें एक दूसरेको न हम समझते हैं, न उनके साथ सहानुभूति ही रख सकते हैं। हम एक दूसरेके सुख-दुःखमें काम नहीं आते, इस कारण परस्पर जातिगत और श्रेणीगत संघर्ष भी चलता रहता है। जीवनमें वह सुख और शान्ति भी नहीं मिलती, जिसकी खोजमें हम सदा रहते हैं। ऐसी दशामें यदि मानवताकी ओर भी लोग संदिग्ध हों और उसे कोई विशेष अद्भुत बात समझें, जिसका साधारण लोग अनुसरण नहीं ही कर सकते, तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह भी सम्भव है कि जो लोग मानवताके उपासक हैं और उसके सिद्धान्तोंके अनुसार जीवन-यापन करते हैं, उन्हें अन्य लोग दम्भी, मक्कार, बने-ठने, अपनेमें मस्त, शान करनेवाले समझें तो भी कोई आश्चर्य नहीं। खेद है कि हम सब लोग छोटी-छोटी सरल बातोंको ऐसा क्लिष्ट रूप दे देते हैं, जिससे और लोग घबराकर अलग हो जाते हैं।

वास्तवमें मानवता कोई भयोत्पादक वस्तु नहीं है। वह कोई ऐसी बात नहीं है, जिसे हम सभी लोग नहीं अपना सकें— चाहे हम छोटे हों, चाहे हम बड़े हों, चाहे हम धनी हों, चाहे हम निर्धन हों, चाहे अपने जीविकोपार्जनके लिये कोई भी काम हम करते हों। वास्तवमें हम सभी मानवताके सिद्धान्तको अपने मनमें सदा रख सकते हैं और उसके बताये गये मार्गपर चल सकते हैं। ऐसा ही हमें करना भी चाहिये, यदि हमारी यह अभिलाषा हो—जैसा कि होना स्वाभाविक है— कि हम स्वयं सुखी रहें, दूसरे हमारी हर प्रकारसे सहायता करें और हम भी यथाशक्ति दूसरोंके काममें आ सकें, दूसरे हमारी प्रशंसा करें और हमारे प्रति अच्छे विचार रखें। हमारे देशमें वर्ण-व्यवस्था विशेषरूपसे चली आ रही है। खेद है कि इसका मौलिक सिद्धान्त आज हम भूल गये और उसको हमने विकृतरूप दे रखा है। देशका वातावरण कुछ ऐसा हो गया है कि नयी-नयी जातियाँ और उपजातियाँ हमारे यहाँ बहुत शीघ्रतासे पैदा हो जाती हैं। इस कारण जिस प्रथासे हमने समाजका संघटन करना चाहा था, उसीसे आज विघटन हो रहा है। आवश्यकता इस बातकी है कि कम-से-कम प्रधान-प्रधान बातोंमें तो हम सब एक रहें और समाजको समुचितरूपसे चलानेमें सहायक हों। हमको ऐसे बीभत्स दृश्योंसे बचना चाहिये, जिनके कारण हमने देशभक्तों, लोकोपकारियों, दानदाताओं, समाजसेवियों आदिकी भी पृथक्-पृथक् जातियाँ सृष्ट कर दी हैं; और जो काम हम सभीको करना चाहिये और जो भाव हम सभीको रखना चाहिये, उसे भी हमने किसी जाति या उपजाति, समुदाय या सम्प्रदाय-विशेषके लिये ही समझ रखा है, जिसका दूसरोंसे कोई सम्बन्ध नहीं समझा जाता। मुझे भय है कि कहीं इसी प्रकारसे मानवता भी किन्हीं विशेष लोगोंकी सम्पत्ति न समझी जाने लगे। मानवताको भी ऐसी वस्तु समझना चाहिये, जिसके अनुसार हम सब लोग सरलतासे चल सकते हैं और हम सबको इसी प्रकार चलना भी चाहिये। इसपर न किसीका अनन्याधिकार है, न होना ही चाहिये। इसका कोई ऐसा कर्मकाण्ड भी नहीं है, जिसका पालन व्यक्ति या समुदायविशेष ही करे या कर सके। यह सबके लिये है और वास्तवमें यह बहुत छोटी-सी बात भी है।

इसका मूल तत्त्व केवल यही है कि प्रत्येक व्यक्ति सदा इस बातका ध्यान रखे कि जैसा व्यवहार हमें अच्छा लगता है, वैसा ही दूसरोंको भी लगता है; जो हमें बुरा लगता है, वही दूसरोंको भी बुरा लगता है। यदि हम इस छोटी-सी बातको सदा ध्यानमें रखें कि जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ आचरण करें, वैसा ही वे भी चाहते हैं कि हम उनके प्रति करें, तो हम कदापि कोई भूल नहीं कर सकते;

न हम व्यर्थ किसीको कष्ट देंगे, न किसीसे व्यर्थ कष्ट पायेंगे। वास्तवमें हम सब सदा इसी स्थितिकी खोजमें रहते हैं, पर अपनी थोड़ी-सी नासमझीसे उसे पाते नहीं। दूसरोंके भावोंका सदा ध्यान रखना—यही मानवता है। यदि हम प्रतिक्षण सोचें कि हम दूसरोंसे ऐसी अवस्थामें क्या आशा करते हैं तो हम भी उसी अवस्थामें पड़े हुए दूसरोंके साथ वैसा ही आचरण स्वयं करेंगे। बहुत-से लोग इसकी प्रतीक्षामें रहते हैं कि जब कोई हमसे कुछ माँगे, तभी हम उसे दें; पर वास्तवमें मानवता यह चाहती है कि दूसरेके कहनेके पहले ही हम स्वयं उसके अभावका अनुभव करें और उसे मिटानेके लिये समुचित आचरण करें। वास्तवमें यह कितनी छोटी बात जान पड़ती है। इसके लिये कोई विशेष शिक्षा-दीक्षाकी आवश्यकता भी नहीं है। पर आश्चर्य तो यह है कि हममेंसे इतने कम लोग होते हैं, जो इसपर ध्यान रखते हों और इसके अनुसार व्यवहार करते हों। सिद्धान्तों और उच्च विचारोंका वास्तविक मूल्य तो यही है कि वे हमारे प्रतिदिनके जीवनमें सहज सहायक हों, वे साधारण-से-साधारण लोगोंके लिये व्यवहारमें लाने योग्य हों। यदि कोई बात इतनी बड़ी है कि वह हमारे सीमित जीवनमें ग्राह्य नहीं है तो वह हमारे लिये निरर्थक है।

मानवता ऐसी वस्तु नहीं है। मनुष्य होनेके नाते हम सभीको मानव होनेका समुचित गर्व होना चाहिये और मानवके योग्य जीवन व्यतीत कर हमें यह सिद्ध कर देना चाहिये कि वास्तवमें मनुष्य केवल जन्तु ही नहीं है; उसमें कोई विशेषता है, जो साधारण शारीरिक प्रेरणाओंके परे उसे ले जाकर उसको आध्यात्मिक जीव भी बनाती है। साथ-ही-साथ अध्यात्म भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो थोड़े-से लोगोंके ही पास रह सकती है। जिस प्रकारसे बाह्य प्रकृतिकी देन सबके लिये है, जिस प्रकार जल, वायु, आकाश सबके लिये हैं, उससे कोई भी वञ्चित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मानवता भी सबकी सम्पत्ति है। किसीको ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि हम तो इतने छोटे हैं और अपनी घर-गृहस्थी, अपने हाल-रोजगारके झंझटोंमें ऐसे पड़े हुए हैं कि हम मानवताकी उपासना नहीं कर सकते; क्योंकि वास्तवमें सभी ऐसा कर सकते हैं। सच्ची बात तो यह है कि प्रतिदिनके साधारण जीवनकी स्थितियाँ ही हमारी मानवताकी परीक्षा लेती रहती हैं और उन्हींमें यह पर्याप्त और उपयुक्त रूपसे प्रदर्शित भी होती है। किसीको ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये कि 'हम इतने बड़े हैं कि हमें मानवताके सिद्धान्तोंको माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। हम विशिष्ट लोग हैं। हम साधारण समाजके परे हैं।' उन्हें भी इसको मानना ही पड़ेगा, नहीं तो, वे अपनेको काफी खतरेमें डाल देंगे और समाजको भी नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। इतिहासकी बड़ी-बड़ी सशस्त्र क्रान्तियाँ इसका प्रमाण दे रही हैं।

हम सब छोटे-बड़े लोग मानव हैं। मानवता हमारे क्रमशः विकसित होते हुए समाजकी हम सबको देन है। हमें केवल इतना विचार सदा रखना चाहिये कि जो सृष्टि हमारे चारों ओर है, उसके प्रति हमारी प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिये। मनुष्योंके साथ तो हमारा आचरण ठीक होना ही चाहिये। साथ-ही-साथ पशुओंके प्रति भी हमें दया और न्यायके साथ आचरण करना चाहिये। सम्भव है कि पशु अपनी प्रकृतिके वश कभी हमारे साथ क्रूरता करे, परंतु सच्चा मानव उसकी ओर भी समुचित व्यवहार ही करता है, दया और न्यायकी ही दृष्टि रखता है। साथ ही मानवताका उपासक इससे संतुष्ट नहीं रहता कि हम स्वयं बड़े अच्छे हैं, हम स्वयं कोई बुराई नहीं करते। वह इसका भी प्रबन्ध करता है कि संसारमें जो बुराई है—जो निर्दयता, क्रूरता, बर्बरता फैली है, वह यथाशक्ति दूर की जाय। सच्चा मानव इसके लिये सदा प्रयत्नशील रहता है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हमारे चारों ओर प्रकृतिने समुद्र, जंगल और पहाड़ दे रखे हैं। उनकी ओर भी सच्चे मानवका विशेष आचरण होता है। वह सबसे लाभ उठाता है और सबको लाभ देता है। वृक्ष और पुष्पकी ओरसे वह उदासीन नहीं रहता। उनके साथ भी उसका आचरण बड़ा सुन्दर होता है। उनकी भी वह रक्षा करता है। वास्तवमें मानवता हमारे क्षण-क्षणके जीवनसे सम्बन्ध रखती है, हमारे क्षण-क्षणके आचरणमें वह हमारी परीक्षा करती रहती है। छोटे-बड़े सभीका इसके साथ सम्पर्क और सम्बन्ध है। सच्ची मानवताकी ही संसारको सदा आवश्यकता रही है और आज भी है। हम भारतीयोंका तो इसके प्रति विशेष उत्तरदायित्व है। हम यदि अपने इतिहास, अपनी परम्परा, अपने शास्त्रके योग्य अपनेको सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें मानवताको अपनाना होगा। यदि हम ऐसा कर सकें तो हम अन्य देशोंके सामने अच्छा उदाहरण उपस्थित करेंगे और विश्व-शान्तिकी स्थापनाके लिये प्राणिमात्रमें सद्भावके प्रसारमें समुचित योग देकर अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रिय जीवनको सार्थक बना सकेंगे।

मानवता

(लेखक—सम्मान्य श्रीमोरारजी देसाई, वित्तमन्त्री, केन्द्रिय सरकार)

मानवताके अनेक पहलू हैं। मानवताके विकासका महत्त्व प्रत्येक युगमें और प्रत्येक देशमें सभीने स्वीकार किया है। यह कार्य प्रत्येक जन—मनुष्यमात्र कर सकता है। ऐसा करके ही हम सृष्टिको अधिक सुखी, सब प्रकारसे समृद्ध तथा मनुष्यके रहने योग्य बना सकते हैं। इसके लिये हमको सर्वप्रथम मानव-प्रेमकी शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

हमने सृष्टिके किसी भी भागके समाजके स्त्री या पुरुषके रूपमें जन्म लिया है। पूर्वजन्मके संस्कार, माता-पिताका तथा अड़ोस-पड़ोसके भौतिक संयोगोंका उत्तराधिकार हमको मिला है। इस उत्तराधिकारसे उत्पन्न मर्यादाओंके भीतर रहकर हमें सृष्टि-सम्बन्धी अपने कर्तव्योंका पालन करना है। इसमें शिकायतको बहुत स्थान नहीं होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिके संयोग विभिन्न होते हैं, तदनुसार उसके कर्तव्य भी विभिन्न होते हैं। इसलिये हमारे चलनेके लिये पहलेसे ही निश्चित किया हुआ कोई निश्चित मार्ग सम्भव नहीं है, यह बात हमको सदा ध्यानमें रखनी चाहिये।

मनुष्यके रूपमें हमारे कर्तव्य बड़े हैं, इसी प्रकार हमारा उत्तराधिकार भी छोटा नहीं है। पूर्वजोंके समान हमने वेद-वेदाङ्ग, गीता-पुराण आदिके द्वारा महान् आध्यात्मिक उत्तराधिकार मानवताके चरणोंमें रखा है। शिल्प, संगीत, गृह, वस्त्र आदि कलाएँ विकसित करके भेंट की गयी हैं। धर्मका उद्गम-स्थान बनकर मनुष्यको प्रेरणा प्रदान की है। पश्चिममें पीछेसे जागृति हुई और इसने भौतिकवादको अग्र-स्थान प्रदानकर विज्ञान और उद्योगका विकास किया है। भौतिक तत्त्वोंका अन्वेषण करके शक्तिके स्वरूपका प्रकटीकरण किया है। इन सब अनुसंधानोंके पीछे एक परम तत्त्वकी मुख्यता है; आखिर, ऐसे आध्यात्मिक अनुमानपर ये लोग भी पहुँच गये हैं।

इस वैभव और उत्तराधिकारसे सुसज्जित होकर हम मानवताके विकासमें किस प्रकारसे योग दे सकते हैं, यह महत्त्वकी बात है। यह काम सहज नहीं है; तथापि हम जीवनमें अमुक मौलिक तत्त्वको ध्यानमें रखें तो हमारा मार्ग सहज हो जाता है और हम कितने ही दुःखों तथा संघर्षोंको पार कर सकते हैं।

पहली बात है—जीवनके व्यवहारमें सचाईका विकास। हमको विचारपूर्वक झूठ बोलनेके प्रसङ्गोंसे बचना चाहिये। सच क्या है और झूठ क्या है, यह परखना कठिन नहीं है। बालक और निरक्षर तथा मूढ़ समझे जानेवाले लोग भी सत्य क्या है तथा झूठ क्या है, इसका भेद बता सकते हैं। सत्यका आचरण कठिन है, यह बहुत ही प्रयत्नसाध्य है, इसलिये मनुष्यको खूब धैर्यसे इस दिशामें आगे बढ़ना चाहिये। हमारा धर्माचरण, प्रार्थना, सत्सङ्ग—सबका प्रयोजन यही है।

यदि सत्य चला गया तो शेष सब निरर्थक है, ऐसी हमको दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये। मानवताके इस उच्च आदर्शपर पहुँचनेके लिये सामाजिक या व्यक्तिगत, जो भी प्रयास होते हों, उनमें हमको पूरा साथ देना चाहिये। इसके विरुद्ध बातोंका हमको निषेध करना चाहिये, बहिष्कार करना चाहिये।

परंतु यह सत्याचरण पुस्तकीय उपदेशसे साध्य नहीं हो सकता, इसके लिये तो योग्यता और उद्यमकी आवश्यकता है। योग्यता क्या वस्तु है? किसी भी कार्यकी सिद्धिके लिये व्यवस्थित साधना करनेकी आवश्यकता होती है। यह व्यवस्था ही योग्यता है और उद्यम साधनाका मुख्य अङ्ग है। योग्यतापूर्वक उद्यम करो तो तुम्हारा कर्तव्य पूरा होगा। मनुष्य अव्यवस्थित रहे और आलसी बने तो मानवताकी मौत हो जाय। सृष्टिक्रममें हमको निश्चित स्थान प्राप्त है। उसको सुशोभित करनेवाले अपने कर्तव्यको हम स्वीकार करें तो उसके धारण—पोषणके लिये नियमपूर्वक अपने हिस्सेके कर्तव्यको पूरा करनेके लिये निष्ठापूर्ण परिश्रम करना आवश्यक है। इसीमें योग्यता और सचाई है। इससे अपना पिण्ड छुड़ाकर भागनेमें मानवता नहीं है।

इन सारी बातोंका सार देखना हो तो वह इतना ही है कि मनुष्यकी तरह हमें मानव-प्रेमका विकास करना चाहिये। इसके बाद सृष्टिके सभी प्राणियोंके प्रति प्रेम और दयाका विकास करनेकी बात आती है। सृष्टि या प्रकृतिको किसने पैदा किया, यह प्रश्न सहज ही उठता है और इसमें ईश्वरके प्रति श्रद्धाकी बात आती है। हम ईश्वरको मानें या न मानें,

परंतु सृष्टिमें जो क्रमबद्धता और नियम दीख पड़ते हैं, उससे ऐसी प्रतीति हुए बिना नहीं रहती कि उनका कर्ता कोई होना चाहिये। उस शक्तिके सामने हम कितने असहाय हैं ! यह विचार करके हम नम्रता सीखें और जगन्नियन्ताकी गोदमें सिर रखकर शान्तिसे रहें। धर्म-श्रद्धा, ईश्वर-श्रद्धा या प्रकृतिमें श्रद्धाका सार यही है। कोई नीतिकी श्रद्धासे समाधान प्राप्त करता है। मार्ग अलग दीख पड़ते हैं; परंतु ध्येय एक ही है—मानवता।

मानवता

(लेखक—पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, वित्तमन्त्री, राजस्थान)

'मानवता'की उत्पत्ति 'मन' शब्दसे हुई है, जिसका एक अर्थ है मनन करना, दूसरा अर्थ है 'सहानुभूति रखना'। मनन करना बुद्धिका और सहानुभूति रखना हम हृदयका धर्म समझते हैं। अतः 'मन' शब्दमें बुद्धि और हृदय दोनोंके गुणोंका समावेश हो जाता है। एक मनस्विता शब्द भी है, जो 'मन'से ही बनता है। इसका अर्थ है—जो मनको ठीक लगता है, उसपर डटे रहनेकी वृत्ति। इस तरह 'मानवता'में मुख्य तीन गुणोंका समावेश हो जाता है—'मनन करना', 'सहानुभूति रखना', 'निश्चयपर अटल रहना'। इन तीनों गुणोंके मिलनेसे 'मानवता' परिपूर्ण हो जाती है। मनन करनेसे सही और गलतका बोध होता है, सहानुभूति रखनेसे दूसरे व्यक्तिके साथ मनका मेल—एकत्व सधता है, निश्चयपर अटल रहनेसे अङ्गीकृत कार्योंमें—जीवनमें सफलता प्राप्त होती है।

भगवान् सृष्टि-रूपमें साकार हुआ। 'मानव'के रूपमें हमें उसके सबसे विकसित रूपका—अवतारका दर्शन हुआ। 'देव'के रूपमें हमें उसके और उच्च रूपकी कल्पना हुई। वह हमारा एक नजदीकी लक्ष्य—आगेकी एक मंजिल हो सकती है; आज हम 'मानवता'की मंजिलका विचार कर रहे हैं।

क्या हम मानवताकी मंजिलतक पहुँच गये हैं ? हमारा शरीर अवश्य मानवका है, परंतु क्या मानवोचित पूर्वोक्त सब गुण हमें प्राप्त हो गये हैं ? हम सबको—एक-एक मानवको—प्राप्त हो गये हैं ? यदि नहीं तो, देवत्वके पहले हमें मानवताकी साधना करनी होगी—हममें जो मानवताको साध चुके हैं, वे ही देवत्वकी ओर प्रगति करनेके अधिकारी हैं।

आजका मानव किस अवस्थामें है ? हम स्वयं किस सीमातक मानव कहलानेके अधिकारी हैं ? इसका निर्णय कौन करे ? कैसे करे ? मैं दूसरेके लिये कैसे निर्णय करूँगा ? समग्र मानवता-जैसी कोई वस्तु है क्या ? प्रत्येक मानवके गुण-अवगुणका सामान्य योग ही तो आजकी मानवताका चित्र खड़ा कर सकता है। क्या यह नाप-तोल करना, हिसाब लगाना और उसका तलपट निकालना आसान है ? और क्या इसके बिना मानवताकी प्राप्ति या प्रगति नहीं हो सकती ? यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनका हिसाब लगाता रहे—तलपट निकालता रहे, उसके लिये सतत प्रयत्न—साधना करता रहे तो उसे मिलाकर सबकी प्रगति मानवताकी दिशामें न हो सकेगी ? बूँद-बूँदसे ही अन्तको समुद्र बनता और भरता है—इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी मानवताके योगसे ही संसारकी मानवताकी वृद्धि या पूर्ति होती है। अतः मैं तो यही ठीक समझता हूँ कि व्यक्ति समग्र सृष्टिकी मानवताकी चिन्ता छोड़कर स्वयं अपनी मानवताके—मानवोचित पूर्वोक्त गुणोंके विकासका ही ध्यान रखें।

हम मानव पहले हैं—भारतवासी या यूरोपवासी बादमें। हमारी भारतीयता हमारी मानवतामें छोटी—सीमित वस्तु है। भारतीयतासे छोटी और सीमित है हमारा पंजाबीपन, बंगालीपन, राजस्थानीयता। यदि यह सही है तो हमारा अपनी प्रान्तीय भाषाओंका दावा हमारी राष्ट्रिय भाषाके दायरेसे छोटा, कम या सीमित ही रहेगा। यह बात स्पष्ट है, फिर भी हम इस लक्ष्यको भूल जाते हैं और छोटी-छोटी बातोंपर उलझकर बड़ी बातको हानि पहुँचा देते हैं। क्या यह उचित है ?

मानवता

(लेखक—श्रीमल्लूरायजी शास्त्री)

मानवता वहाँ रहती है, जहाँ सहृदयता, सांमनस्य तथा द्वेषरहितता निवास करती है।

अथर्वसंहिता बताती है—

ॐ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

मनुष्योंको परमात्माने स्वभावसे ही सहृदय, विवेकी एवं अविद्वेषी बनाया है। मनुष्य एक दूसरेकी ओर प्रेमभावसे आकृष्ट हों, जैसे सद्योजात वत्स अपनी माता गौकी ओर लपकता है और गौ ऐसे वत्सकी ओर।

मनुष्यके इन्हीं स्वाभाविक गुणोंकी ओर गीताने संकेत किया है, जब वह कहती है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

मनुष्य वही है, जो भूतमात्रसे—प्राणिमात्रसे द्वेष नहीं करता, सबके साथ मैत्रीका भाव रखता है और करुणाकी भावनासे ओत-प्रोत सहृदयताका परिचय देता है।

इन्हीं मौलिक सद्गुणोंका उद्रेक मनुष्यको पशु-कोटिसे पृथक्कर उसे अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करता है। नहीं तो 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' की सूक्ति उसपर चरितार्थ होकर वह खर-कूकर-शूकर-श्वानसमान कहलानेका पात्र बन जाता है।

इस वैदिक भावनाके अनुरूप ही मसीही भावना इस सम्बन्धमें दीख पड़ती है। खुदाने अपने अनुरूप मनुष्यको बनाया—इंजील कहती है। इंग्लैंडका मसीही दार्शनिक ह्यूम कहता है कि 'खुदाने अपने हृदयकी छाप मनुष्यके हृदय-पर डाल दी है।' इन वचनोंसे यही प्रमाणित होता है कि कुछ विशेष सद्गुणोंकी झलक जहाँ है, वहीं मानवता है। जहाँ वे गुण नहीं, वहाँ मानवताका अभाव है।

गिद्ध, बिल्ली, कुत्ते हड्डियोंके लिये कटकटाते हुए युद्ध करते हैं। यदि मनुष्य भी उक्त पशुओंके नख-दन्तको आपसी एवं आग्नेय अस्त्रोंसे बदलकर पराचर भूमि एवं अन्य सत्ताओं और अधिकारोंके लिये लड़ मरनेपर उतारू हो जाय तो फिर वह अपने भीतर मानवताका परिचय देगा अथवा पशुताका?

'मानवता' शब्द पशुताका प्रतिवाद है—अर्थात् पशुता जहाँ मिट जाती है, नष्ट हो जाती है, वहाँसे मानवताका उदय होता है। जबतक पशुता है, तबतक मानवता कहाँ? पशुता 'द्वेष-संघर्ष-व्यवाय-नींद-आहार'में ही सीमित रह जाती है। जब इन सबके ऊपर उठकर कुछ विशेष गुणोंका प्रदर्शन सामने आता है, तब मानवताकी दिव्य झाँकी झलकने लगती है। जब मानवता झलकी, तब मैत्री-विवेक एवं सहृदयताके दर्शन हुए।

मानव जब इन तीन मौलिक आधारोंपर खड़ा हो लेता है, तब उसे एक ओर तो पशुतासे ऊपर उठ जानेका आभास मिलता है, साथ ही दूसरी ओर उसे पशुताके अपने पुराने संस्कार बार-बार स्मरण होते रहते हैं। तब वह अपने मानवीय जीवनमें स्थिरता, सत्यता नहीं पाता। वह अनुभव करता है कि उसका जीवन असत्यमय—अनृत है। तब वह अनुभव करता है कि वह दैवीसम्पत्का अधिकारी है। वह सयुज, सगोत्र है ब्रह्मका—ईश्वरका—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' के वचन उसे व्यथित करते हैं। वह ब्रह्मरूप है, यह अनुभूति उसे होती है। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि—का संकल्प वह लेता है। व्रतोंके अनुष्ठानसे, श्रेष्ठ कर्मोंके सम्पादनसे उसे यह क्षमता प्राप्त होती है—वह अपने 'अनृत' मानवरूपको त्यागकर 'सत्य' देवरूप ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। पशुओंकी चेतनामें जीव प्रतिबोधको प्राप्त नहीं कर पाता—मानव चोलेमें ही यह समर्थता प्राप्त होती है कि वह अपने भीतर स्वरूपकी परछाहीं देखे और स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सके और इस प्रकार समाधिसिद्धिके द्वारा—समाधिसुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता—के वचनोंके अनुसार वह ब्रह्मरूप बन सके। यह रूप मानवताका प्रतिवाद है—अर्थात् 'जब हरि, तब मैं नाँय'की दशा हो गयी। तात्पर्य यह कि जब हम पशु थे, तब मनुष्य न थे। जब पशुता गयी, तब उसकी प्रतिवाद-रूपा मानवता आयी और अन्तिम प्रतिवादकी दशामें यह मानवताका भाव गया, तब हरिरूपता—ब्रह्मरूपता—ईश्वररूपता प्राप्त हुई। यही दूसरा प्रतिवाद अन्तिम प्रतिवाद है, जिसमें मानव भगवान् बन जाता है।

वह मानव मानव नहीं, जिसमें इस प्रतिवादके लिये क्षमता और प्रयत्न न हो। इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहा-

वेदीन्महती विनष्टिः—उपनिषत् पुकारकर कहता है कि इस चोलेको पाकर ब्रह्मको जान लिया तो कल्याण, नहीं तो महाविनाश ! मानव चोला ही इस कार्यके लिये समर्थ है । वहीं मानवताका निवास जानिये, जहाँ अपनेको मिटाकर उसके स्थानमें ब्रह्मको ला बैठानेकी क्षमता और प्रयत्न है । इसी स्थितिको कबीरने कहा है—'मरना हुआ तो मरि गये, फिर ना मरना होय।' यदि मानव इन उदात्त आकाङ्क्षाओंसे ओत-प्रोत नहीं तो उसमें मानवताका लेश नहीं ।

ईश्वरने मानव-सृष्टिके समय उसे गाय, अश्व—दोनोंके शरीर दिखलाये—तं गामानमत्ता तमश्वमानमत्ता । जीवने कहा—नोऽयमलमिति ! हमें ये नहीं चाहिये— तं पुरुषमानमत्ता—तब यह मानव काया उसे दिखायी गयी । जीव बोला—सुकृतवतेति—हाँ, यह सुन्दर है । इस आख्यानमें सुन्दर ढंगसे वह चित्रित किया गया है कि मानव-शरीर ही उसे चरम विकास तथा स्वरूपावबोधके लिये एकमात्र साधन है। यह शरीर पाकर यदि पशुतासे ऊपर उठानेवाले प्रारम्भिक गुणोंसे वह संयुक्त नहीं होता—अर्थात् सहृदयता, अविद्वेषता एवं सांमनस्य उसमें नहीं आती तो वह मानव नहीं—उसमें मानवता नहीं । और यदि पशुताके प्रतिवादरूप मानवताको प्राप्तकर अपने इस रूपके प्रतिवादरूप देवत्व—ईश्वरत्वके लिये वह प्रयत्नशील नहीं, तो भी वह मानवतारहित, घुना हुआ बीज है, परिपुष्ट परिपक्व बीज नहीं। इस प्रकार हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि मानवता वहाँ है, जहाँ पशुता नष्ट हुई है और जहाँसे देवत्व-प्राप्तिके लिये उदार आकाङ्क्षाएँ एवं प्रयत्न प्रारम्भ हुए हैं । जहाँ सहृदयता आदि सद्गुणोंका व्यवहार पारस्परिक बर्तावमें भूतमात्रके साथ पाया जाता हो, वहीं मानवता प्रतिबिम्बित है और पूर्ण मानवता तभी जानिये, जब वह मानवता अपने इस ऐहिक रूपको अपूर्ण, नश्वर, अनृत जानकर पूर्ण सत्यरूपकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्नशील, व्रत एवं श्रेष्ठ कर्मोंमें संलग्न हो ।

ईश्वर मानवको विश्वभरमें मानवताके इस रूपमें आस्था प्रदान करे ।

वर्तमान समयकी माँग है—मानवता

(लेखक—सेठ अचलसिंहजी, एम्० पी०)

भारत एक प्राचीन और ऋषियोंका ऐतिहासिक देश है । यहाँकी सभ्यता और संस्कृति बड़ी उदार और महान् रही है । भगवान् महावीर और बुद्धके समयमें यहाँ अहिंसा और प्रेमका साम्राज्य था । बड़ों और गुरुजनोंका आदर, गरीबों और बेकसोंकी सहायता, सचाई, ईमानदारी, सदाचारका बोलबाला था । नीच और बुरे कामोंको घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता था । जो मनुष्य पतित होता था, उसे सदुपदेश तथा प्रेमसे सुपथपर लाया जाता था । निकम्मे आदमी नाममात्रको थे ।

उस समय आत्मविकासके सिद्धान्तका बोलबाला था । त्याग, तपस्या, नम्रता, आदर और संतोषका प्रभाव था । पर जैसे-जैसे समय बीतता गया, आपसमें कलह, फूट, वैमनस्य फैलता गया—यहाँतक कि विदेशियोंने यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया । पर कुछ समय बाद वे विदेशी भी स्वदेशी बन गये और भारतको अपना देश मानने लगे । मुगलोंके बाद जब अंग्रेज भारतमें आये, वे इंगलैंडको अपना देश मानते रहे और भारतको स्वार्थक्षेत्र अर्थात् व्यापारस्थान मानते रहे ।

दिनोंदिन मनुष्यकी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं और साथ-ही-साथ मानवतामें भी कमी आती गयी । भारतको आदर्श बनानेमें जिसने सहायता की, वह था 'धर्म' । जन्मसे ही भारतवासियोंमें धार्मिक वृत्तियोंका संचालन होता चला आता है; उसीका यह परिणाम था कि भारतवासियोंमें मानवताका संचार था ।

जब विदेशियोंकी स्वार्थवृत्ति बढ़ती गयी, तब भारतको स्वतन्त्र करनेका आन्दोलन चला, जिसकी बागडोर महात्मा गांधीने अपने हाथमें ली और अत्यधिक परिश्रमके बाद १५ अगस्त सन् १९४७ को भारतको स्वतन्त्रता प्राप्त हुई ।

मानवताका पतन कुछ-कुछ प्रथम विश्वयुद्धके बाद हुआ, पर दूसरे विश्वयुद्धके बाद तो उसके पतनकी हद हो गयी । कंट्रोलोंका प्रादुर्भाव हुआ । उसका सीधा और उल्टा असर साधारण जनता और अधिकारियोंपर पड़ा और करीब-करीब प्रत्येक मनुष्य उसका शिकार हुआ । जनस्वार्थ अपनी पराकाष्ठापर पहुँच गया । बड़े प्रयत्नोंके बाद कंट्रोल समाप्त किये गये, पर उन्हींका दुष्परिणाम अबतक अपना कार्य करता चला आता है ।

जब कोई बुराई या अच्छाई अपनी पराकाष्ठातक पहुँच जाती है, तब प्राकृतिक नियमके अनुसार उसमें परिवर्तनकी आवश्यकता होती है।

इसके फलस्वरूप महात्माओं, राजनीतिक नेताओं और उच्च आत्माओंका ध्यान इस ओर गया और उसके फलस्वरूप अणुव्रत-आन्दोलन, विश्वधर्म-सम्मेलन, महात्माओंका उपदेश, कीर्तन, सत्सङ्ग आदि होने लगे, ताकि जनताका ध्यान और विचार उस ओरसे हटकर एक उच्च आदर्शकी ओर लगे।

यह युगकी माँग है कि मनुष्यमें—मुख्यतः भारत-वासियोंमें मानवताका संचार हो। वह वस्तु अथवा मानवता दुर्विचारों और दुष्कर्मोंके कारण दवी हुई है।

मुझे विश्वास है कि यदि सचाई और ईमानदारीसे अधिकारियों और साधारण जनताकी दवी हुई मानवताको उभारा जाय और प्रोत्साहन दिया जाय तो भारतकी खोयी हुई मानवता फिरसे प्राप्त की जा सकती है और उसी सूरतमें भारत सच्चे अर्थमें 'भारत' कहलाये जानेका अधिकारी हो सकता है।

मानुषं रूपं

(लेखक—श्रीश्रीमन्नारायणजी)

अर्जुनको श्रीकृष्णभगवान्से बहुत-सा तत्त्वज्ञान सुनकर भी संतोष न हुआ। दुनियामें रहकर निष्काम-वृत्तिसे अपना धर्म-पालन करनेका उच्चतम आदर्श उसने सुना और समझा भी। पर केवल इस संसारकी वस्तुओंको देखकर वह संतुष्ट नहीं होना चाहता था। वह भगवान्के 'विश्वरूप'का दर्शन करना चाहता था।

भगवान्ने भक्तकी इच्छा पूर्ण की, उसे दिव्य दृष्टि प्रदानकर अपना विशाल, अनन्त और देदीप्यमान विश्वरूप दिखा दिया। पर अनोखा विश्वरूप देखकर अर्जुन घबरा गया और उसकी शान्ति भङ्ग हो गयी। वह हाथ जोड़कर बोला—'आपका अपूर्व रूप देखकर मेरे रोयें खड़े हो गये हैं और भ्रमसे मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिये हे देव! आप अपना पहलेका ही रूप फिर दिखाइये और प्रसन्न होइये।'

भगवान्ने फिर अपना चिरपरिचित मानवरूप धारण कर लिया, तब अर्जुनके होश ठिकाने आये—

> दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
> इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

गीताके इस ग्यारहवें अध्यायका विद्वान् पण्डित ठीक क्या अर्थ लगाते हैं, मुझे पता नहीं। पर मेरे लिये 'रूपमैश्वरं' और 'मानुषं रूपं' का आध्यात्मिक अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। मैं मानता हूँ कि विश्वरूप-दर्शन कराकर भगवान् अर्जुनको यह बतलाना चाहते थे कि मनुष्यको इस संसारके परेकी अनोखी दुनियाको जाननेकी चिन्तामें नहीं पड़ना चाहिये। मनुष्यमात्रको भूलकर जंगलोंमें तपस्या तथा साधना करनेसे 'विश्वरूप' के दर्शन भले हो जायँ; पर यदि हम अपना मानव-धर्म अनासक्त बुद्धिसे निभाते रहें तो इसी 'मानुषं रूपं' में उच्चतम शक्ति तथा आनन्दके दर्शन किये जा सकते हैं। पिण्डमें ही ब्रह्माण्डकी झलक मिल सकती है।

जो हो, मैं तो गीताके सारे तत्त्वज्ञानका यही सार मानता हूँ। संन्यास, योग और कठिन तपस्याकी आवश्यकता नहीं है। मानव-धर्म निभाना ही सबसे बड़ी साधना है। अपनी मानवताको भूलकर जो 'दर्शन' के रहस्यको खोजनेकी चेष्टा करता है, वह व्याकुल और बेचैन होगा। जिसने 'मानुषं रूपं' में ही 'रूपमैश्वरं' के दर्शन कर लिये, उसने सब कुछ पा लिया।

दुनिया इंसानको हिकारतकी निगाहसे देखती है; उसे पापी, पतित और नापाक समझती है। अपने कर्तव्यको ठुकराकर साधु, संन्यासी जंगलोंकी ओर लंगोटी लगाकर भागते हैं, कठिन योग और तप करते हैं; फिर भी शान्ति और आनन्द उनके हाथ नहीं लगते। यह मुमकिन है कि आखिरमें उन्हें कामयाबी हासिल हो भी जाती हो। पर हमें इस रास्ते जानेकी जरूरत नहीं है। हम तो अपनी घर-गिरस्तीमें ही रहकर इंसानके कंधेसे कंधा मिलाकर अपना दुनियावी काम-काज करते हुए ऊँचे-से-ऊँचे और गहन-से-गहन तत्त्वको देख और समझ सकते हैं।

ईसासे किसीने पूछा—'आपके सारे उपदेशोंका सार क्या है?'

'अपने-जैसा ही अपने पड़ोसीसे प्यार करो।' उत्तर मिला। इसी तत्त्वको समझाते हुए उन्होंने कहा कि 'अगर कोई इंसान अपने भूखे भाईको अपने दरसे लौटा देता है,

किसी प्यासे आदमीको पानी देनेसे इन्कार कर देता है या अपने बीमार पड़ोसीकी सार-सम्हाल करनेकी फिक्र नहीं करता तो मौतके बाद खुदा उससे कहेगा कि 'जब मैं भूखा था, तुमने मुझे खाना नहीं दिया; जब मैं प्यासा था, तुमने मेरे खुश्क गलेमें पानी नहीं डाला; बीमार था, तब तुमने मेरी सेवा नहीं की।' वह इंसान हैरान होकर पूछेगा—'ऐ परमेश्वर! ऐसा मैंने कब किया? आपके लिये ऐसा मैं क्योंकर करता?' तब उसे जवाब मिलेगा—'दुनियामें तुमने मेरे बंदोंकी सेवा नहीं की, इसलिये मेरी भी खिदमत नहीं की।'

इंसानकी सेवा और मुहब्बतका यही पैगाम मुहम्मद साहबने भी अरबोंको सुनाया। प्रेम व अहिंसाका यही संदेश आज इस युगकी सबसे ऊँची हस्ती अपने सेवाग्रामकी छोटी-सी कुटीसे सारी दुनियाको मिला।

रामकृष्ण परमहंसके पास एक नौजवान आया और उनके चरणोंकी धूल लेकर उनसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। रामकृष्णने मुस्कराकर पूछा—

'क्या तुम अकेले ही हो? तुम्हारे घरमें और कोई नहीं है?'

'बस, एक बूढ़ी माँ है, महाराज!'

'फिर तुम दीक्षा लेकर संन्यासी क्यों बनना चाहते हो?'

'मैं इस संसारको त्यागकर मोक्ष चाहता हूँ।'

भगवान् रामकृष्णने बड़े प्रेमसे समझाकर कहा—'बेटा! अपनी बूढ़ी माताको असहाय छोड़कर तुम्हें मोक्ष नहीं मिल सकता। जाओ! दिल लगाकर अपनी माँकी सेवा करो। उसीमें तुम्हारा कल्याण है; उसीसे तुम्हें मोक्ष मिल जायगा।'

कितनी गहरी है यह नसीहत और वह भी एक ऐसे शख्सकी, जो जीवन-मरणका सारा मसला सुलझा चुका था, जिसका एक-एक पल ब्रह्माण्डकी असीम शान्ति और आनन्दमें बीतता था और जिसके दिलकी एक-एक धड़कन असंख्य प्राणियोंके दिलोंकी अविरत धड़कन थी।

हम ईश्वरकी पूजा करते-करते उसके दुखी-गरीब बंदोंकी याद नहीं रखते, अपने मन्दिरों और गिरजोंके घंटोंकी आवाजमें पड़ोसीकी कराहोंको सुन नहीं पाते, मुक्ति और स्वर्गके स्वप्नोंके बीच अपना मानव-धर्म पालना भूल जाते हैं। धन्य थे राजा शिबि, जो भगवान्से यह प्रार्थना कर सके—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

और बापूका प्यारा भजन भी तो कुछ इसी तरहका है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे॥

जिसके दिलमें दूसरोंके लिये प्रेम, सहानुभूति और दर्द नहीं, वह इंसान कैसा? और अगर हमने इंसानियत खो दी तो फिर बचानेके लिये हमारे पास रह ही क्या जाता है? हम भले ही प्रगाढ़ ज्ञानी और पण्डित हों, सारे तीर्थोंकी खाक छान चुके हों, सभी धार्मिक ग्रन्थ कण्ठस्थ कर चुके हों और रोज अपने कई घंटे पूजा-पाठमें बिताते हों; पर यदि हम अपनी मानवताको भूल गये तो हमारा सारा मजहब और इल्म किस कामका?

कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।

पुरानी कहावत है—'मन चंगा तो कठौतीमें गङ्गा।' अगर हमारा दिल साफ है, अगर हमने अपनी कुदरती मुहब्बत और हमदर्दी कुचल नहीं डाली है, अगर हम अपने पड़ोसीसे अपने-जैसा ही प्यार कर सकते हैं और यदि हमने अपनी आत्माकी खुशबूको सब प्राणियोंमें सूँघनेका प्रयत्न किया है तो फिर हमें मुक्ति, स्वर्ग और परमेश्वरकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं। प्राणिमात्रसे दूर और कोई खुदा नहीं हो सकता। अगर है तो उसकी फिक्र करनेकी हमें आवश्यकता नहीं। देवता बन जाना आसान है, इंसान बनना कठिन है।

भगवान् अपने बंदोंके प्रेमके भूखे हैं। फिर हम भगवान्‌की अर्चना करते समय उनके बंदोंको कैसे भूल सकते हैं?—

'सबसौं ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधन की मेवा त्यागी, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरी के खाए, बहुबिधि प्रेम लगाई।'

'विश्वरूप-दर्शन'के बजाय हमें 'स्वरूप-दर्शन' की ही जरूरत है। मनुष्य अपनी मानवताको पहचानकर और उसे जगा हर ऊँचे-से-ऊँचे आनन्दका रसास्वादन कर सकता है। मनुष्य हीन और नश्वर नहीं, उसकी मानवता अमर और उन्मुक्त है; उसकी हस्ती इस ब्रह्माण्डमें किसीसे नीची नहीं। उसके अनुपम गौरवका अनुभव करके 'महाभारत' का कवि भी गा उठा—

न मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

मानवता क्या है ?

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्रीअम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी)

'मानव' शब्दके आगे भाववाचक 'ता' प्रत्यय जुड़नेसे यौगिक शब्द 'मानवता' बनता है। इसलिये मानवताका साधारण अर्थ होता है मनुष्यत्व। एक भाषाका शब्द अपनी सीमामें—घरके अंदर जो भाव व्यक्त करता है और जिसे घरवाले अनायास समझ लेते हैं, वह दूसरी भाषाके लोग नहीं समझ पाते। इसके अनेक कारणोंमें शब्दकी व्युत्पत्ति, परम्परा और सामर्थ्य मुख्य हैं। मानवताको यदि हम फारसीके इंसानियत शब्द-द्वारा व्यक्त करना चाहें तो वह व्यर्थ होगा; क्योंकि इंसानियत हैवानियतका विपरीतार्थक शब्द है। इसी प्रकारका अंगरेजी शब्द Philanthropy है। Philanthropy का अर्थ है मनुष्यजातिसे प्रेम। इंसानियतकी भाँति यह भी शब्दको सीमित कर देता है; परंतु 'मानवता' बहुत व्यापक शब्द है।

एक भाषाका शब्द दूसरी भाषाके शब्दद्वारा वही भाव नहीं व्यक्त कर सकता, जो उसका भवागत है, उसकी रग-रगमें भरा हुआ है। उदाहरण लीजिये। प्रसिद्ध है कि च्यवनप्राशका सेवन करनेसे बूढ़े च्यवन ऋषि जवान हो गये थे। आज देशमें मनों या टनों अथवा नयी नापतोलके अनुसार किलो-ग्रामों या क्विंटलोंमें च्यवनप्राश बनता और बिकता है, पर क्या उसका सेवन करनेवाले किसीका बुढ़ापा रत्तीभर भी घटा ? इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि च्यवनप्राश बनानेमें अष्टवर्गकी जो दवाएँ या वनस्पतियाँ या जड़ियाँ च्यवन ऋषिके लिये काममें लायी गयी थीं, वे आजकल नहीं लायी जातीं; क्योंकि बहुत-से लोगोंको वे मिलतीं ही नहीं और वे उनके बदले कुछ और चीजें काममें लाते हैं, जिन्हें वे प्रतिनिधि ओषधियाँ कहते हैं। इसी प्रकार हमारे मानवता शब्दके पर्याय या प्रतिनिधि शब्द वह भाव व्यक्त नहीं कर पाते, जो मानवतासे व्यक्त होता है।

और देखिये। सब लोग जानते हैं कि मनुसे मानव हुआ है और आदमसे आदमी। परंतु मनु कौन है ? क्या वह विवस्वान्‌का पुत्र मनु है ? साधारणतया लोग यही समझते हैं। पर यह बात नहीं है। विवस्वान्‌का पुत्र मनु पुरुष था, पर मानवकी जननी मनु स्त्री थी। दोनोंका नाम मनु ही था। आप कहेंगे, 'वाह! कहीं पुरुष और स्त्री दोनोंका एक ही नाम हो सकता है !' हम कहते हैं, हुआ है और हो सकता है! महाभारत पढ़िये और उसमें देखिये कि आस्तीकके पिता जरत्कारुने प्रतिज्ञा की थी कि मैं उसीसे ब्याह करूँगा, जिसका नाम जरत्कारु होगा और उन्होंने जरत्कारु नामकी स्त्रीसे ब्याह किया भी। इसलिये यदि जरत्कारु उभयलिङ्गी शब्द हो सकता है, तो मनुके उभयलिङ्गी होनेमें क्या बाधा है ?

अब प्रश्न होता है, यह मनु कौन थी ? यह कश्यप ऋषिकी पत्नी थी। कहते हैं कि दक्षकी ६० कन्याओंमें आठसे कश्यपने विवाह किया था। इनके नाम थे—दिति, अदिति, दनु, काल्का, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला। इसी मनुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मानव उत्पन्न हुए थे। दितिसे दैत्य हुए और अदितिसे आदित्य, वसु, रुद्र और अश्विनीकुमारद्वयने जन्म लिया। द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, एकादश रुद्र और दो अश्विनीकुमारसमेत ३३ देवता हुए। ये ही वैदिक देवता हैं। इनकी एक-एक कोटि या जाति है, जिसे न समझकर लोगोंने ३३ कोटिसे ३३ करोड़ देवताओंकी कल्पना कर ली। और आज तो ३३ से भी शायद कई करोड़ अधिक देवता हो गये होंगे। बुद्धके समयतक तो ३३ ही थे। उस समय स्वर्गको 'तेवत्तीभवनम्' कहते भी थे।

दनुसे दानव हयग्रीव नामका पुत्र पैदा हुआ। काल्कासे काल्क और नरक—दो पुत्र हुए। ताम्राके गर्भसे क्रौंची, भासी (गिद्धी), श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी—पाँच कन्याएँ हुईं। क्रोधवशाने मृगी, मृगमन्दा, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि, सुरसा और कद्रूको जन्म दिया। अनलाके गर्भसे प्रशस्त फल-सम्पन्न वृक्षोंका जन्म हुआ। मनुकी सातों बहनें मानवोंकी मौसियाँ और उनकी संतानें मौसेरे भाई और मौसेरी बहनें हुईं। ताम्राके गर्भसे मादा पक्षियों और क्रोधवशाके गर्भसे मादा जानवरों तथा साँपोंकी माता सुरसा और गरुडकी माता विनताका जन्म हुआ। मानवोंके पिता कश्यप हैं; इसलिये कहा है कि जिसे अपना गोत्र न ज्ञात हो, वह अपना गोत्र कश्यप कहे। कहावत है—

भूले बिसरे कश्यपगोत्र।

'वृक्षोंमें प्राण है' इसका ज्ञान हिंदुओंको सर जगदीशचन्द्र वसुके आविष्कारके बहुत पहलेसे था। इसीलिये हरे वृक्षोंके काटनेका निषेध किया गया था। दतवनके लिये नीम आदिकी

टहनी तोड़ने और पूजा आदिके लिये फूल-पत्ते लेनेके नियम भी 'आचारदर्पण' जैसे आचार-ग्रन्थोंमें बताये गये हैं। एक बार श्रीमती एनी बेसेंटने महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयसे कहा था कि थियोसोफी मनुष्यमात्रमें बन्धुत्वका समर्थन करती है। इसपर मालवीयजी महाराजने कहा—'हिंदू-धर्म तो सृष्टिके प्रत्येक भागसे आत्मीयता रखता है।' बात ठीक ही है। जो तर्पण किया जाता है, वह अपने पितरोंके उद्देश्यसे ही नहीं किया जाता, सृष्टिके प्रत्येक अङ्गसे आत्मीयताका बोध कराता है। जैसे हम अपने शरीरके किसी अङ्गकी रक्षा करने या उसे स्वस्थ रखनेमें किसीपर उपकार या एहसान नहीं करते, वैसे ही सृष्टिके प्रत्येक भागसे आत्मीयताकी कल्पना है। यही मानवता है।

अंगरेजीके "Fatherhood of God and Brotherhood of man" की जो कल्पना है, उससे मानवताकी कल्पना हमारी बहुत आगे बढ़ी हुई है। वह मनुष्यों या मानवों या इंसानतक ही सीमित नहीं है। वह विश्वव्यापक है। ऐसे उदात्त विचार हिंदू-धर्मके बाहर कहीं नहीं मिलते। तुलसीदासजीने अपनी रामायणमें लिखा है—

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ही मूलमन्त्र है। वही मानवता है। हमें इस मानवताको अपनानेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

मानवता क्या है ?

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

यह एक प्रश्न बना हुआ है। इसलिये कि हम मूलको भूलकर इधर-उधर भटक गये हैं। मानवताको समझनेके लिये भगवान् 'मनु'को समझना पड़ेगा। 'मनु'को समझनेके लिये भगवान् 'विवस्वान्' को ध्यानमें लाना होगा और भगवान् 'विवस्वान्'का ध्यान करनेके लिये श्रीमन्नारायणदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका ज्ञान साक्षात् करना होगा। इतना किये बिना 'मानवता क्या है' इसे हम अनन्त कालतक नहीं समझ सकते।

अंग्रेजीका 'मैन' (man) शब्द भी 'मनु' से बना है। 'मनु'से उत्पन्न ही 'मनु-ज', 'मानव' या 'मैन' कहलाता है। आदिम बाबा वैवस्वत 'मनु'से उत्पन्न ही 'आदिमी' या 'आदमी' कहलाता है।

दुनिया और दुनियाके मालिकका बोध करानेके लिये जो सर्वश्रेष्ठ स्मृतिग्रन्थ है, उस श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्के वचनामृत हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान्।
विवस्वान् मनवे प्राह।
मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

चतुर्थ अध्यायके इन प्रारम्भिक वाक्योंके पहले (तीसरे अध्यायके अन्तमें) भगवान्ने कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

'इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे आत्मा है अर्थात् आत्माका प्रकाश बुद्धिमें आया यानी बुद्धिके देवता सविताके (विवस्वान् भगवान्के) पास परमात्मासे आया और विवस्वान् भगवान्ने मनुको दिया यानी बुद्धिके द्वारा वह ज्ञान मनके पास आया और मनु भगवान्ने उसे इक्ष्वाकुको दिया यानी मनके द्वारा इन्द्रियमें आया और फिर वह ज्ञान विषयोंतक पहुँचकर नष्ट हो गया।

तात्पर्य यह कि मानवताका सच्चा बोध तभी हो सकता है, जब हम विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियोंको अधिक महत्त्व दें, इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनको अधिक महत्त्व दें, मनकी अपेक्षा बुद्धिको अधिक महत्त्व दें और बुद्धिकी अपेक्षा आत्माको अधिक महत्त्व दें।

जो विवेक-बुद्धि और आत्माके अनुशासनमें अपने मन और इन्द्रियोंको चलाता है, वही 'मानव' है और जिसकी बुद्धि और आत्मा मन और इन्द्रियोंसे अनुशासित हैं, वही 'दानव' है। 'देव' या दिव्य मानव वही है, जिसकी इन्द्रियाँ मन, बुद्धि और आत्मा परमात्माद्वारा प्रकाशित हैं। दुःखमें रोनेवाला 'हैवान' है, दूसरोंको दुश्मन समझकर रुलानेवाला 'शैतान' है। मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर सहन करने-

वाला 'इन्सान' है और जो इन सबसे परे और सबमें व्यापक शक्तिका अधिष्ठाता है, वह भगवान् है। उसीका प्रकाश बुद्धिमें आता रहे—वहाँसे मनपर आये और फिर इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें जाय तो वह मानवता-युक्त भोग है और विषयोंके द्वारा आकर्षण इन्द्रियोंका हो, इन्द्रियोंके द्वारा जबर्दस्ती मनको खींचा जाय और मन बुद्धिको भ्रष्ट करे तो आत्मा जीवभाव धारण करके चौरासीका चक्कर लगाता है, फिर उसे मानवता दुर्लभ हो जाती है। फिर—

कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

फिर कभी अहैतुकी दया करनेवाला जगदीश्वर कृपा कर दे तो मानव-देह मिलती है। फिर भी यदि हमने मानवताका मर्म न समझकर विषयोंकी अधीनता स्वीकार कर ली तो गोस्वामीजी लिखते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

श्रीमद्भागवतमें उसे आत्महत्यारा महापापी दुर्भागी कहा गया है।

मनुष्य-समाजमें उत्पन्न होकर यदि मनुष्यता प्राप्त करनी है तो इन्द्रियोंको अनुशासनमें रखकर भगवान्के प्रकाशसे प्रकाशित बुद्धिकी शरण ग्रहण करनी पड़ेगी। इसके लिये वेद-माता गायत्रीकी शरण लेनी चाहिये। तभी मन-बुद्धि उन विवस्वान् भगवान्के मार्गसे प्रेरित होकर स्व-पर-कल्याणमें सहायक होंगे; क्योंकि भगवान् विवस्वान् समस्त आकर्षणके केन्द्रबिन्दु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारा अनुशासित हैं, उनके सनातन शिष्य हैं, कर्मयोग और संन्यास दोनोंके आदर्श हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

(सविताके मार्गसे) मनुष्योंमें वही बुद्धिमान् है या भगवान् सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित है, जो सम्पूर्ण कर्म करता हुआ भी योगी यानी साधक ही नहीं 'युक्तः' यानी सिद्ध है। भगवान् विवस्वान् कुछ नहीं करके सब संसारका कार्य कर रहे हैं और समस्त संसारको जाग्रत् करनेपर भी कुछ नहीं कर रहे हैं। जो उनका यथार्थ परमार्थ-दर्शन करके संसारमें व्यवहार करता है और अंदरसे अकर्ता रहता है, वही सच्चा मनुष्य है और उसके स्वभावको ही मानवता कहते हैं।

ऐसी मानवताके आदर्श हैं—

भगवान् श्रीरामचन्द्र	और	भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र
राजर्षि जनक	,,	ब्रह्मर्षि वशिष्ठ
देवर्षि नारद	,,	महर्षि भृगु
भक्त प्रह्लाद	,,	भक्त ध्रुव
भगवान् ऋषभदेव	,,	भगवान् दत्तात्रेय
भगवान् कपिलदेव	,,	भगवान् महावीर
भगवान् सनकादिक	,,	भगवान् बुद्ध
ज्ञानेश्वर	,,	रामदास
एकनाथ	,,	तुकाराम
चैतन्य महाप्रभु	,,	रामानन्द
सूरदास	,,	तुलसीदास
नानक	,,	कबीर
मीरा	,,	मुक्ताबाई
निवृत्तिनाथ	,,	नामदेव
शिवाजी	,,	प्रताप
रामकृष्ण परमहंस	,,	विवेकानन्द
गांधी	,,	मालवीय

गोविन्दके हो रहो

रे मन! गोविंदके ह्वै रहियै।
इहिं संसार अपार विरत ह्वै, जम की त्रास न सहियै॥
दुख, सुख, कीरति भाग आपनैं आइ परैं सो गहियै।
सूरदास भगवंत-भजन करि अंत बार कछु लहियै॥

—सूरदासजी

भगवती दुर्गा

कनक-भूधर-शिखर-वासिनि, चन्द्रिका चय चारु हासिनि
दशन कोटि विकास, वंकिम तुलित चन्द्रकले।
क्रुद्ध सुररिपु-बल-निपातिनि, महिष-शुम्भ-निशुम्भ-घातिनि
भीत-भक्तभयापनोदन—पाटल प्रबले॥

जय देवि दुर्गे दुरिततारिणि, दुर्गमारि विमर्द हारिणि
भक्ति-नम्र सुरासुराधिप—मंगलायतरे।
गगन मंडल गर्भगाहिनि, समर-भूमिषु सिंहवाहिनि
परसु-पाश-कृपाण-सायक—शङ्ख-चक्र-धरे॥

अष्ट भैरवि-संग-शालिनि, सुकर कृत्त कपाल (कदम्ब) मालिनि
दनुज-शोणित पिशित वर्द्धित पारणा रभसे।
संसारबंध-निदान-मोचिनि, चन्द्र-भानु-कृशानु-लोचनि
योगिनीगण गीत शोभित नृत्यभूमि रसे॥

जगति पालन-जनन-मारण, रूप कार्य सहस्र कारण
हरि विरंचि महेश शेखर चुम्ब्यमानपदे।
सकल पापकला-परिच्युति, सुकवि विद्यापति कृतस्तुति
तोषिते शिवसिंह भूपति कामना फलदे॥

—मैथिल-कोकिल विद्यापति

मानवताकी रक्षा करनेवाली असुरसंहारिणी दशभुजा माता

सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव

(लेखक—सम्मान्य पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

सृष्ट जगत्‌में सबसे श्रेष्ठ मानवी सृष्टि है। इसमें पाँच ऐसी विशेषताएँ हैं, जो मानवेतर प्राणियोंमें नहीं हैं—(१) कर्मभूमित्व, (२) प्रकृतिपर स्वामित्व-संस्थापनकी चेष्टा, (३) विवेक-बुद्धि, (४) उत्तरदायित्व और (५) सहृदयता।

(१) इस संसारमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि समस्त मानवेतर प्राणियोंका जीवन केवल एक भोग है। अपने जीवनमें किसी प्रकारका सुधार या परिस्थितिमें किसी प्रकारका परिवर्तन करनेवाला कोई कर्म उनके द्वारा नहीं होता। शेर जंगलमें रहता है, भूख लगनेपर अपनी माँदसे बाहर निकलकर शिकार ढूँढ़ता और उसे मारकर उसके रक्त-मांससे अपनी भूख मिटाता है। किसी जलाशयके समीप जाकर अपनी तृषा शान्त करता और अपनी माँदमें जाकर सोता है। इतना ही इस पृथ्वीपर उसका काम है। अपने लिये न तो वह कोई घर उठाता है, न कलके लिये आज कोई संचय करता है। सभी पशु-पक्षियों और कीट-पतंगोंका खाना और सो जाना अथवा चलना-फिरना, उड़ना या पड़े रहना—इतना ही काम है। कुछ पक्षी अपने लिये घोंसले बनाते हैं, चूहे आदि कुछ जानवर जमीन खोदकर अपने लिये बिल और एक जगहसे दूसरी जगह जानेके लिये जमीनके भीतर-ही-भीतर रास्ते बना लेते हैं। पर सृष्टि हुई तबसे आजतक इनके इस काममें कोई नयी बात नहीं हुई, कोई सुधार या परिवर्तन नहीं हुआ। दो काम इनके और हैं। पशु हो या पक्षी, कीट हो या पतंग, जिस किसीसे उन्हें भय होता है, उससे बचनेके लिये या तो वे भागते हैं या उसपर चोट करते हैं। प्रजननमें भी इनकी सहज प्रवृत्ति है और ये अपनी संततिका विस्तार करते हैं। ये चारों काम मनुष्य भी करता है—सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। पर मनुष्य अपनी परिस्थितिसे कभी संतुष्ट नहीं रहता। अपनी स्थिति सुधारनेका सतत प्रयत्न करता है। पहले यदि वह जंगलमें पर्णकुटी बनाकर रहता था तो अब अपने निवासके लिये सुन्दर-से-सुन्दर महल बनाता है। जीवनको अधिकाधिक सुखी, साधन-सम्पन्न और सुसमृद्ध बनानेकी चेष्टामें वह सदा ही लगा रहता है। उसके इस प्रयत्नमें जो पदार्थ या प्राणी बाधक होते हैं, उनसे वह सतत संघर्ष करता है। संघर्षमें विजयी होनेके लिये अधिकाधिक कार्यक्षम साधन ढूँढ़ निकालता और अपनी स्थितिको निष्कण्टक बनानेका प्रयत्न करता है। आहार-निद्रादि भोग उसके पीछे भी लगे हुए हैं। इस तरह उसके जीवनका अल्प या अधिक भाग भोगमें बीतता है। पर भोगके लिये हो अथवा भोग-रोगसे विरक्त होकर अज्ञान और जरा-मरणादिसे मुक्त होनेके लिये हो, वह जन्मतः कर्मशील है। यही उसका कर्मभूमित्व है, जो मानवेतर प्राणियोंसे उसे श्रेष्ठ बनाता है।

(२) मानवेतर प्राणियोंके समान मानव भी प्रकृतिमें बद्ध है। पर वह प्रकृतिनिर्मित परिस्थितिसे ऊपर उठनेका यत्न करता है। प्रकृतिका विश्लेषण करके उसके रहस्योंको जानता और उससे अपने जीवनको आधि-व्याधियोंसे मुक्त करता और अपने अभावों और अपूर्णताओंकी पूर्ति करता रहता है। इसी मानव-प्रयत्नसे नाना प्रकारके भौतिक विज्ञान निकल पड़ते हैं और उनसे मानव-जीवन समृद्ध होता है। इस तरह वह अपने कल्पित सुख और वैभवका क्षेत्र चाहे जितना विस्तृत कर सकता है और यह कर्म करनेमें मानवेतर सृष्टियोंपर उसका प्रभुत्व स्थापित होता है। हाथियों और घोड़ोंपर वह सवारी करता है, गधोंपर अपने कपड़े लादता है, ऊँटोंसे सवारी और लदाई—दोनों काम लेता है, बैलोंसे अपने खेत जुतवाता है। जो प्राणी उसके जीवन-सुखमें बाधक होते हैं, उन्हें वह जानसे मार डालता या अपने वशमें कर लेता है। हिंस्र पशु अवसर पाकर भले ही मनुष्यपर चोट कर लें, पर मनुष्यपर अपना कोई अधिकार नहीं जमा सकते। यह सामर्थ्य मनुष्यमें ही है जो वह मानवेतर प्राणियोंपर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है। प्रकृतिपर स्वामित्वकी यह प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक होती है। पर-अपर-भेदसे इसके दो रूप हैं। एक सर्वथा असंस्कृत प्राकृत रूप है, जो प्रत्येक मानवसमूहमें देखनेमें आता है, चाहे वह समूह पारिवारिक हो या राष्ट्रिय अथवा सार्वराष्ट्रिय। किसी-न-किसी प्रकारका अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी इच्छा प्रत्येक मानवमें होती है—चाहे उसका क्षेत्र कहीं एक परिवार अथवा महल्लेके बच्चोंकी टोली-जितना छोटा हो या महान्-से-महान् बलवान् और विभवसम्पन्न राष्ट्रका-सा विश्वव्यापी। इस प्रवृत्तिका सुसंस्कृत रूप अपनी ही इन्द्रियों और मनपर अपना प्रभुत्व

स्थापित करना है, जो 'मनुष्याणां सहस्रेषु' कश्चित् देखनेमें आता है। पहला प्रकार मनुष्यको पशुकोटिसे बहुत ऊपर नहीं उठने देता। दूसरा मानवकी श्रेष्ठताका असंदिग्ध लक्षण है।

(३) मनुष्यके कर्मभूमित्व और प्रकृतिपर प्रभुत्वकी चरितार्थता सत्के ग्रहण और असत्के त्यागसे ही सम्भव है। सत्-असत्का निर्देश परम तत्त्वके संस्कारोंसे परिमार्जित विवेकबुद्धिके द्वारा होता है। यह विवेकबुद्धि पशु-पक्ष्यादि सृष्टिमें नहीं होती, मानवमें ही होती है। पर संस्कार-हीन सर्वथा प्राकृत अवस्थामें मानव भी सदसद्विवेक-शून्य होता है और उसके सभी कर्म भोगभूमिके होते हैं, कर्मभूमिके नहीं। इस अवस्थामें इन्द्रियोंके भोगोंमें ही मन रहता है और मन जो कहे, उसीके पीछे प्राणी दौड़ जाता है। इसमें इन्द्रियोंपर मनका कोई स्वामित्व नहीं रहता, न बुद्धि सत्-असत्का विवेक करके कर्मका निर्णय करती है। इन्द्रियाँ दौड़ती हैं विषयोंके पीछे, मन इन्द्रियोंके पीछे और बुद्धि भी अपने विवेकात्मक निर्णयके श्रेष्ठ कर्मसे च्युत होकर इन्द्रियोंके विषय-भोगके साधनोंका ही विधान करती है। कहते हैं, रावणने सब देवताओंको अपने रथके पहिये बना रखा था। इसीकी पुनरावृत्ति असंस्कृत मनुष्यके उस प्राकृत जीवनमें होती रहती है, जिसमें मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको हमारे कामाचार जीवन-रथके पहिये होकर रहना पड़ता है। मनुष्य अपनी इन्द्रिय-लालसाको तृप्त करनेके लिये पशु-पक्षियोंको मारकर उनका मांस खाता है। मांसाहारमें रुचिसे बढ़कर क्रूरता और क्या होगी? मनुष्य अपनी विवेकबुद्धिकी हिंसा पहले करता है और तब प्राणियोंकी हिंसामें प्रवृत्त होता है। मनुष्यकी क्रूरताका यह भी एक उदाहरण है कि वह अपने पैरोंको मुलायम-से-मुलायम चमड़ेके जूते पहनानेके लिये जीते जानवरोंकी खाल खिंचवाता है। मनुष्यकी यह क्रूर हिंसावृत्ति पशुओंके साथ ही सीमित नहीं है। मनुष्य मनुष्यको ही खा जाना चाहता है। अमीर गरीबोंको चूसकर अमीर बनते हैं। दूकानदार ग्राहकोंको ठगनेमें ही अपना लाभ देखते हैं। शुद्ध घी कहकर वनस्पति बेचते हैं। हर चीजमें मिलावट करके पैसेके लिये अपना ईमान बेचते हैं। कचहरियों और अन्य कई महकमोंके कर्मचारियोंने रिश्वतखोरी, धोखेबाजी और बेईमानीको ही अपने समृद्ध जीवनका एकमात्र साधन मान लिया है। पशुओंकी भोग-भूमिसे भी मनुष्य यहाँ बहुत नीचे उतर आया है। राष्ट्र-राष्ट्रके परस्पर सम्बन्ध इतने हिंसामय हो गये हैं कि अटम और हाइड्रोजन बम ही इनकी नीति निर्धारित कर रहे हैं। इन बमोंका किसी महायुद्धमें जब विस्फोट होगा, तब यह दुनिया रहेगी या नहीं—इसीमें लोग संदेह करते हैं और यदि रही तो किस रूपमें रहेगी, यह कल्पनातीत है। हिरोशिमा और नागाशाकीपर गिरे हुए बमोंसे जो सहस्रों मनुष्य और अन्य प्राणी जलकर भस्म हो गये, उनकी मरणोत्तर क्या गति हुई होगी—यह तो कोई बतला नहीं सकता, पर जो प्राणी बचे हैं, उनके झुलसे हुए शरीर और विकलाङ्ग देखकर भी मनुष्यके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अब तो बमोंकी भीषणता हजारों गुना बढ़ गयी है। इनके केवल जो परीक्षण बीच-बीचमें हुआ करते हैं, उनसे ही पृथ्वीका वातावरण विषाक्त हो गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघकी महासमितिद्वारा नियुक्त पंद्रह राष्ट्रोंकी जो वैज्ञानिक समिति गत दो वर्षोंसे इस विषय-का अध्ययन करती रही है, उसकी यह रिपोर्ट है कि 'किरणसक्रियताका प्रभाव गर्भ और अस्थियोंपर आशाङ्कित है, जिनमें वह अस्वाभाविकता लाकर घातक सिद्ध हो सकता है। हड्डियोंमें शोथ और रक्ताल्पताके सिवा, प्रजननशक्ति, आनुवंशिक तत्त्व आदि भी उससे दूषित हो सकते हैं।' अभी यह विष अल्प मात्रामें है, अतः इसके दीर्घकालीन कुप्रभावोंका अनुमान वैज्ञानिकोंके लिये सम्भव नहीं है। जब उनका ठीक-ठीक परीक्षण करनेका समय आयेगा, तबतक इस समितिका यह कहना है कि 'हममेंसे कोई भी उन कुप्रभावोंसे बचा न रह जायगा।' यह कितनी भीषण परिस्थिति उत्पन्न हुई है केवल एक विवेकबुद्धिके साथ वैर करनेसे। मनुष्य मनुष्यत्वसे ही नीचे नहीं गिरा है, बल्कि पशु-भूमिसे भी नीचे गिरकर इतना अधम हो गया है कि उसकी कोई मिसाल ही नहीं है। उसे फिरसे यदि उठा सकती है तो विवेकबुद्धि ही उठा सकती है। मनुष्य श्रेष्ठ है सदसद्विवेकके कारण। सदसद्विवेकसे वह अपने मानवोचित श्रेष्ठ कर्मका निर्णय करे और उस कर्मसे अपना कर्मभूमित्व और प्रकृतिपर अपना सहज स्वामित्व सिद्ध करे। नियतिके द्वारा वह ऐसे ही श्रेष्ठ कर्मके लिये उत्पन्न हुआ है। जो थोड़े-से लोग विषयभोगकी भूमिसे अपनेको ऊपर उठाते हैं और मन एवं इन्द्रियोंको जीतकर बुद्धिके अधीन कर देते हैं और बुद्धिको उस परम तत्त्वके अधीन, जो ही एकमात्र सत् है और जिसपर सारा संसार टिका

हुआ है, वे ही मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं; उन्हींके अनुगमनमें जगत्के सब प्राणियोंका कल्याण है।

(४) जहाँ विवेकवती प्रज्ञा होगी, वहाँ उसके साथ उसका उत्तरदायित्व भी होगा। मनुष्येतर प्राणियोंमें विवेक-बुद्धि न होनेसे उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं है। यदि बिल्ली अपने ही बच्चोंको खा जाय या नागिन अपने बच्चोंको निगल जाय या साँप मनुष्यको काट ले और शेर अपने पंजेसे मनुष्यको गिराकर उसका हृदय चीरकर खा जाय तो किसीके भी सामने उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं है। किसी भी न्यायालयमें उनपर कोई मामला नहीं चलेगा। किसी भी शासन-व्यवस्थामें उनके लिये कोई दण्डविधान नहीं है। कारण, ये जो कुछ करते हैं, स्वयं प्रकृति करती है, जिसकी कोई जिम्मेदारी इनपर नहीं। पर मनुष्य अपने हर कामके लिये उत्तरदायी होता है— सरकारके सामने, समाजके सामने और स्वयं अपने विवेकके सामने। वह यदि कोई अनुचित कर्म करता है तो सरकारी न्यायालयका विवेक उसे दण्ड देता है, समाजका विवेक भी उसे दण्डित करता है और उसका अपना विवेक भी उसे दण्ड दिये बिना नहीं रहता। सरकारसे, समाजसे, सारे संसारसे भले ही वह अपना अपराध छिपा ले, पर अपने विवेकसे नहीं छिपा सकता। विवेक उससे बराबर यही कहता है कि 'तुम अपराधी हो, तुमने यह पाप किया है।' इसकी बड़ी कठोर वेदना उसे सहनी पड़ती है। जो मनुष्य अपने इस उत्तरदायित्वको समझता है, वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ होता है, बल्कि यह कहना चाहिये कि इस उत्तरदायित्वके कारण मानव अन्य प्राणियोंसे श्रेष्ठ है। अपने दायित्वको समझनेवाला मनुष्य यह समझता है कि इन्द्रियोंके विषयोंका भोग मानव कर्मभूमिका लक्ष्य नहीं है। मानव कर्मक्षेत्र वह कर्म करनेके लिये अथवा सभी कर्म इस बुद्धिसे करनेके लिये है कि जरा-मरण, आधि-व्याधि, अज्ञान और दैन्यसे मुक्त होकर वह अपने उस अमृतत्वको प्राप्त हो, जो शास्त्र कहते हैं कि उसका स्वतःसिद्ध स्वरूप है और संसारमें उसका जीवन सबके लिये कल्याणप्रद हो। प्राकृत प्राणियोंपर स्वामित्व स्थापित करनेकी उसकी बौद्धिक क्षमताका भी यही संकेत है कि वह प्रकृतिके दासत्वसे मुक्त होकर अपने स्वरूपकी महिमामें स्थित हो और सब प्राणियोंको सुखी करे। मानव-जीवनका यही उत्तरदायित्व है।

(५) मनुष्य सब कुछ हो, पर सहृदय न हो तो उसका सब कुछ होना बेकार है। सहृदय होना ही मनुष्य-का मुख्य लक्षण है। किसी मनुष्य या अन्य प्राणीको विपद्में देखकर उसके साथ यदि सहानुभूति नहीं होती और हमारे हाथ उसकी मदद करने आगे नहीं बढ़ते तो यही कहा जायगा कि हममें मनुष्यता नहीं है। जो मनुष्य किसीका दुःख दूर करके उसके सुखसे सुखी नहीं होता, उसके बारेमें यही कहा जायगा कि उसमें मनुष्यता नहीं है। मनुष्यकी श्रेष्ठता उसकी सहृदयता ही है। सहृदयता ही मनुष्यता है। जिसके हृदयमें करुणा नहीं, दया नहीं, प्रेम नहीं, वह मनुष्य होकर भी दानव है। किसी मनुष्यकी श्रेष्ठता इस बातमें नहीं है कि वह कितना बलवान्, कितना वैभवशाली है, अथवा उसके प्रभुत्वके क्षेत्रका कितना विस्तार है। प्रत्युत श्रेष्ठता उसकी इसीमें है कि जो प्राणी उसकी छत्रछायामें रहते हैं, वे सच्चे अर्थोंमें कितने सुखी हैं। रामराज्य मानव-राज्योंमें इसीलिये सर्वश्रेष्ठ माना जाता है कि केवल मानव ही नहीं, मानवेतर प्राणियोंमें भी कोई दुखी नहीं था और मानवोंकी सहज प्रवृत्ति एक दूसरेको सुख पहुँचानेकी ही थी। किसी कुटुम्बमें माता-पिता इसलिये श्रेष्ठ नहीं माने जाते कि परिवारके सब लोगोंपर उनका स्वामित्व है। प्रत्युत माता-पिता इसलिये श्रेष्ठ हैं कि वे अपने परिवार और आश्रित जनोंको सब प्रकारसे सुखी करनेका प्रयत्न करते हैं, उनका दुःख भी स्वयं उठा लेते हैं और उठा लेते हैं प्रेमसे, जिसमें दुःख भी एक अनिर्वचनीय आनन्द बन जाता है। जो बात घर-घरमें है, एक बहुत सीमित क्षेत्रमें, वही यदि सम्पूर्ण राष्ट्र या अखिल विश्वमें विस्तृत हो जाय तो वही रामराज्य हो जायगा। आध्यात्मिक जीवनसे ही यह सहृदयता परिवार, समाज, राष्ट्र आदिकी सीमाएँ लाँघकर सर्वत्र फैलती है। ऐसे सहृदय पुरुष आध्यात्मिक जीवनक्षेत्रमें ही अधिकतर मिलते हैं। इनका जीवन अपने लिये नहीं बल्कि दूसरोंका दुःख हरण करनेके लिये होता है।

भारतवर्षमें ऐसे सहृदय आत्मवान् सत्पुरुषोंकी परम्परा अखण्डरूपसे चली आयी है। सृष्टिमें सर्वश्रेष्ठ मानवकी ही यह तीर्थमय पावन कर्मभूमि है।

सच्ची मानवता और आजकलका मानव

[आध्यात्मिक दृष्टिसे विचार]

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

आजकलका मानव एक अशान्त प्राणी है और शान्तिकी खोजमें भटकता फिरता है। पर आश्चर्य यह है कि एक ओर जहाँ वह शान्तिकी चिन्तामें है, वहाँ दूसरी ओर अशान्तिके साधन भी इतने अधिक जुटा रहा है कि मानवकी इस उभयविध स्थितिको देखकर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शान्तिकी खोजमें मनुष्य-स्वभाव-सुलभ दोष-जन्य भ्रान्तिसे अशान्तिके मार्गपर ही जा रहा है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वह शान्तिकी प्राप्तिके लिये, चरम सीमाकी शान्तिकी प्राप्तिके लिये अशान्तिकी चरम सीमातक पहुँचना चाहता है।

इस तत्त्वज्ञानकी भाषाको छोड़कर सीधे-सरल शब्दोंमें हम कहना चाहते हैं कि आजकलका मानव अपनेमें अनेक न्यूनताओंको देखता है और उन्हींकी पूर्तिके लिये उसका यह समस्त प्रयत्न है और ये न्यूनताएँ भी सर्वत्र सम—समान रूपमें ही दृष्टिगोचर हो रही हैं अर्थात् सर्वत्र रोग एक ही है। रोग एक-सा ही है, पर उसके उपाय नाना प्रकारके हो रहे हैं—जान और अनजानमें। एक रोग और एक-सा ही रोग होनेपर भी हम उस रोगको अनेक रूपमें देख रहे हैं—अन्नकी कमी, कामकी कमी, ज्ञानका दुर्भिक्ष अथवा अकाल, श्रद्धाका अभाव, बुद्धिका दिवाला, मैत्रीकी कमी, करुणाका अभाव, सहानुभूति तथा समवेदनाका दुर्भिक्ष—ये सारी बातें उस न्यूनतामें आ जाती हैं। ऐसी दशामें मानवको अल्प समाधान भी नहीं मिल सकता—पूर्ण समाधानकी बात, पूर्ण शान्तिकी बात तो कौन कहे। इस असंतोष, असमाधान, अशान्तिके बढ़ानेमें आजकलका विज्ञान, भौतिक विज्ञान, अध्यात्मशून्य विज्ञान पूर्ण बल लगा रहा है।

एक शब्दमें कहना हो तो—

हम कह सकते हैं कि मानवको दरिद्रता दुःख दे रही है—चाहे वह अर्थ-दरिद्रता हो, धी-दरिद्रता हो, ज्ञान-दारिद्र्य हो अथवा अन्य किसी प्रकारका दारिद्र्य हो। इस विषयमें संसारके उन-उन राष्ट्रोंके सम्मुख उन-उन देशोंकी परिस्थितिके अनुरूप धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रश्न हैं ही।

इस प्रकार—

हम इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं कि आजकलके मानवकी अशान्तिका, विकलता अथवा व्याकुलताका एकमात्र कारण न्यूनता ही है—चाहे वह किसी प्रकारकी हो।

इसका स्पष्ट उपाय है—

इस अभाव अथवा इन अभावोंको दूर किया जाय अर्थात् दरिद्रताकी प्रतियोगी जो समृद्धि है, उसके लिये यत्न किया जाय और अपने-अपने ढंगसे मानव उस समृद्धिके लिये यत्न कर भी रहा है—पाश्चात्त्य जगत् विज्ञानद्वारा और पौरस्त्य जगत् अध्यात्मद्वारा।

ऐसा प्रतीत हो रहा है

जगत्का एक छोर दारिद्र्य (न्यूनता, शून्यता) है,
जगत्का दूसरा छोर वैपुल्य (विपुलता, बहुलता) है।

इसमें जिधर अधिक वैपुल्य है, उसमेंसे निकालकर दूसरे छोरको भरनेके अतिरिक्त क्या उपाय हो सकता है? यही कारण है मानवकी अशान्तिका।

डॉ. कुर्त्तकोटि शंकराचार्यका निदान

डॉ. कुर्त्तकोटि कहते हैं—'मानवीय जीवनके शाश्वत विरोधाभासको भलीभाँति समझे बिना हमको इस असमाधानका उत्तर नहीं मिल सकेगा—मानवकी प्रगति और क्रान्तिके प्रयत्न इसीलिये अयशस्वी होते रहे हैं, इतिहास इस बातका साक्षी है। प्रगतिकी प्रतिक्रिया है—परागति और क्रान्तिकी प्रतिक्रिया है—प्रतिक्रान्ति। बहुत बार ऐसा होता है कि रोगकी अपेक्षा उसका उपाय ही अधिक घातक बन जाता है।

'धर्मकी उत्पत्ति ही शान्ति और सद्भावनाके लिये थी। दुर्दैव यह है कि वही धर्म द्वेष और संघर्षका मूल कारण बन बैठा है। (असलमें अधर्मको ही धर्म मान लिया गया है, इसीसे) धर्मप्रसारक आचार्य इतना प्रयत्न कर रहे हैं, तो भी श्रद्धा नामशेष होती जा रही है। मुखमेंसे निकल रही है ईश-प्रार्थना, पर हृदय भरा पड़ा है—

हिंसात्मक भावनाओंसे।

'राजकीय क्षेत्रोंकी अंधाधुंधीकी बात तो पूछिये ही नहीं। राजतन्त्र प्रायः नष्ट है। कहीं-कहीं राजा नामक प्राणी

दिखलायी पड़ रहे हैं सही, वे राजत्वसे हीन राजा हैं, इस राजसत्तामेंसे लोकसत्ताका उदय हुआ । धनिक-सत्तामेंसे श्रमिक-सत्ताका उदय हुआ । समाजवादकी प्रबल लहरोंसे व्यक्तिवाद धूलमें मिल गया । अपने-आपको ईसाई कहलानेवाले राष्ट्रोंने भी जंगली, पाशविक सैन्यसत्ताको ही बढ़ाया । 'राष्ट्रसंघ' और 'यूनो' के शान्त्यर्थ किये गये सब प्रयत्न निष्फल हो गये—आज भी युद्ध चल ही रहे हैं। भूमितृष्णा, धनलालसा और अधिराज्य गरज रहे हैं । प्रत्येक बलवान् राष्ट्रको अपने साम्राज्यकी इच्छा है । अच्छे-बुरे ढंगसे कमायी हुई अपनी इंचभर भूमिको भी कोई छोड़नेको तैयार नहीं । अपनी साम्राज्य-तृष्णाके अच्छे-अच्छे सुन्दर नाम रखकर उसीसे प्यार कर रहे हैं ।

'सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रमें भी बड़ी गड़बड़ी है । विज्ञानकी प्रगतिसे पृथ्वी-प्रदेशोंकी पारस्परिक दूरी कम हो जानेपर भी, इस तरह परस्परकी इस समीपताका कुछ भी अर्थ नहीं—संसारके लोगोंके पारस्परिक सम्बन्ध जहाँ एक ओर बढ़ रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर राग, द्वेष, मत्सर भी बढ़ रहे हैं (मानो अन्धकार और प्रकाश हाथमें हाथ डालकर स्वच्छन्द विचर रहे हैं) ।

'ऐसा प्रतीत होता है कि आजका जगत् जंगली अवस्थासे भी गया-बीता हो रहा है । उत्पादन बढ़ गया, उत्पादनके साधन भी बढ़ गये—दुगने हो गये । इससे काम तो बढ़ गया, इधरसे उधर जाना अर्थात् यात्रा सरल सीधी हो गयी है । उद्योग-व्यवहारमें अधिक पैसा लग रहा है, लगाया जा रहा है; तथापि दुःख और अभाव बढ़ ही रहे हैं । यदि कोई वस्तु विपुल है तो वह है दुर्भिक्ष, रोग और मरण ।

त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम् ।

(मनु)

'आजकलका नरसंहारक, नरभक्षक मानव अपने-आपको चढ़ा हुआ, बढ़ा हुआ मानता है; पर उसकी रक्तपिपासा असंख्य निरपराध मनुष्योंकी अमानुष हत्या कर ही रही है खुल्लम-खुल्ला । आजकलकी संस्कृतिको बड़ा घमंड है कि उसने दासप्रथाको जड़से उखाड़ फेंका; किंतु बहुसंख्यक जनताको अज्ञान, अन्धकार और दरिद्रतासे जकड़ी रखनेमें उसे बड़ा कौतुक हो रहा है । उसको यह भी घमंड है कि युगानुयुग जिन भूखण्डोंका पता नहीं चलता था, उसने उनको ढूँढ निकाला है । उसको यह भी घमंड है कि उसने अश्म (पाषाण-युग) के मानवको सुधारा है, सुधारकर सभ्य मानव बनाया है । पर अधिकांश मानव-समूहकी दुर्दशा चल ही रही है, संस्कृतिका नाम यद्यपि शेष है । उसका ढिंढोरा मात्र पिट रहा है । अथवा सब जगह जंगलीपन है । आशाओं और आकाङ्क्षाओंका संघर्ष चल ही रहा है । नाना देशोंमें नाना रूपोंमें अधिकाधिक संघर्ष उत्पन्न किया जा रहा है और दूसरी ओर उसको मिटानेके लिये प्रबल प्रयत्न भी हो रहे हैं ।

'इन सब बातोंको देखते हुए मानवको कभी शान्ति, सुख, समाधान मिलेगा कि नहीं—यह संदेह हो रहा है ।

'संसारके लोग कभी सुखी और समाहित नहीं थे और आगे कभी नहीं होंगे—यह माननेका कोई कारण नहीं । केवल यही देखना है, यहीं सोचना है कि संसारमें छाया हुआ यह अशान्तिका वातावरण कैसे कम हो सकता है ।

'यह अशान्ति, असमाधान, दुःख-दारिद्र्यका तनाव आध्यात्मिक प्रकारोंसे ही न्यून होगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं—यद्यपि दूसरेकी हितसाधना हमारे हाथमें नहीं, तथापि दूसरेका अहित न सोचना, न करना—यह तो अपने हाथकी बात है ।'

यह आधुनिक मानवकी दशाका एक सुन्दर शाब्दिक चित्रण है ।

आधुनिक मानव

डॉ. यंग कहते हैं—आधुनिक विज्ञानद्वारा प्रवर्तित क्रान्तिकी संतान है आधुनिक मानव—वही इस समय संसारका प्रतिनिधि बना हुआ है (संसार इसीके इशारेपर नाच रहा है) ।

यह मानव

एक ओर भूतकालके बन्धनोंकी टूटी हुई अवस्था और दूसरी ओर भविष्यके अन्धकारकी दशा—इन दोनोंके बीच फँसा हुआ है यह नया मानव । एक ओर तो यह पर्वतके उच्चशिखरपर खड़ा है, दूसरी ओर सामने भविष्यका भयंकर अन्धकाररूपी गढा है । ऊपर अनन्त आकाश है, सामने नीचे मानवता पड़ी लड़खड़ा रही है, जिसका इतिहास धुंधमें पड़ा हुआ दिखलायी नहीं पड़ रहा है । पड़ा हुआ है अकेला, खड़ा हुआ है अकेला और सोच रहा है अकेला—कहाँ हूँ, कहाँसे निकलूँ, क्या करूँ ? उसको अपनी पड़ी है—है किसी आध्यात्मिक खोजमें ।

आगे यंग कहते हैं—

पाश्चात्य मानवकी दुर्दशा

We don't understand the whites.—they are always wanting something—always restless,—always looking for something. What is it? We don't know. We can't understand them. They have such sharp noses, such thin cruel lips, such lines in their faces. We think they are all crazy.

'हम इन गोरे पाश्चात्योंको समझ ही नहीं पाते हैं। उनको सदा कुछ-न-कुछ चाहिये, वे सदा बेचैन-से रहते हैं, कुछ-न-कुछ तलाश करते रहते हैं—किसकी तलाशमें रहते हैं, हम जान नहीं पाते। उनकी कोई बात हमारी समझमें नहीं आ रही है। उनकी उन नोकदार नाकोंको देखो, उनके उन पतले और क्रूर होठोंको देखो, उनके माथे अथवा मुखकी वे विचित्र रेखाएँ देखो—ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी पागलपनमें मस्त हैं।'

विज्ञान-विकास

पाश्चात्य मानव अपने चारों ओर धूपबत्ती जलाता है और उस धूपबत्तीके धुएँके कारण आँखोंमें वह अपना मुख देख नहीं सकता। वास्तवमें, वह अपना स्वरूप ही भूल गया है, वह साफ अपने मूलको भूलता गया है और—

अब उसके सामने प्रश्न स्पष्ट है

अब उसके सामने यही प्रश्न है—यह मानवी मन, यह मानवी आत्मा क्या वस्तु है? अब पाश्चात्य मानवमें मन, अहंकार, बुद्धि, आत्माके मूल तत्त्वोंको जाननेकी उत्कट लालसा जाग्रत् हुई है।

यदि आधुनिक मानव—

अपनी अहंताको एक ओर रखकर, विशुद्ध जिज्ञासु-वृत्तिसे भारतीय और वैदिक दर्शनोंका अभ्यास और अनुशीलन करेगा तो उसकी शङ्काओंका निरसन हो सकेगा। वैदिक दर्शन मन, अहंकार, बुद्धि, पुरुष-प्रकृति, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, मानवात्मा-विश्वात्मा इत्यादि विषयोंपर जितना यथार्थ प्रकाश डालते हैं, उतना प्रकाश संसारका कोई भी वाङ्मय नहीं डालता।

आधुनिक मानवका नव वैराग्य और हमारे भारतका योग-वेदान्त-प्रणीत प्राचीन वैराग्य—इन दोनों वैराग्योंका तुलनात्मक अभ्यास करनेका समय आ गया है। नये वैज्ञानिक युगका नया मानव और प्राचीन युगका प्राचीन मानव—इन दोनोंमें समसामञ्जस्य हो जाय तो संसारका मानव सुखी हो सकता है। नया वैज्ञानिक युग मानवको बहिर्मुख बनाता है, प्राचीन आध्यात्मिक युग मानवको अन्तर्मुख करता है। प्राचीन मानवकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक अथवा अध्यात्मप्रधान रही, नवीन अध्यात्मशून्य कोरा भौतिकवादी वैज्ञानिक मानव केवल सांसारिक अभ्युदयके पीछे पड़ा है, इसीलिये अशान्त है।

सामञ्जस्य इसीमें है—

कि पाश्चात्य मानवका सम्बन्ध भारतीय अध्यात्म-वादसे हो जाय। तभी वह सुखी होगा और इसीमें भारतीय मानवका भी कल्याण है। यह भारतीय मानव प्राचीन भारतका प्रतिनिधि है, इसके महामानवोंकी विचारधाराका प्रभुत्व अब भी संसारपर है।

यह भारत सदैवसे महामानवोंकी भूमि है, जो अनन्त परम्परासे संसारको चरित्रशिक्षा देते रहे हैं। मानवको सच्चा मानव बनानेकी कुंजी भारतवर्षके इन महामानवोंके ही हाथोंमें रही है, जिससे संसारमें मानवताकी अबतक रक्षा हो सकी है। वह कुंजी है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की दृष्टि। जब यह दृष्टि आयेगी, चलेगी, तब मानव सच्चे अर्थोंमें मानव बनेगा। तब कौन किसका क्या छीनेगा, कौन किसकी हिंसा करेगा, कौन किसको हीन अथवा बड़ा मानकर आत्मवञ्चना करेगा। जब यह व्यापक दृष्टि हो जायगी, तब व्यष्टि और समष्टिका तत्त्व यथार्थरूपमें समझकर मानव-समाज सुख-शान्ति, ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धिसे समन्वित होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के तत्त्वको समझ सकेगा।

मुख्य तत्त्व यह है—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥

"सब भूतोंमें भरे हुए आत्मतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्वको देखकर—अनुभवकर कौन ऐसा मानव होगा; जो अन्यत्र 'मैं' रूपेण दिखलायी पड़नेवाले अपने-जैसे 'मैं' को हिंसा करनेके लिये उद्यत होगा।" ज्ञानी मनुष्यको एक ही आत्मतत्त्व दिखलायी पड़ता है। इसलिये ऐसे विज्ञानी मानवसे कभी किसीको त्रास अथवा कष्ट नहीं पहुँच सकता। जो इस मानवको व्यष्टि और समष्टिके तत्त्वको जानकर

वर्तता है, वह कभी अशान्त नहीं रहता, उसको किसीसे त्रास नहीं होता, उससे किसीको त्रास नहीं मिलता।

हम कहते हैं—हे मानवते! तुझमें नये युगकी 'मानवता' नव मानवता (मा) न प्रवेश करे। मानवते! तू अपने प्राचीन शुद्ध स्वरूपमें ही संसारको सुखधाम बनानेकी शक्ति रखती है। इस समय तू दबी पड़ी है, तनिक बल लगाकर उठ खड़ी हो और अपनी आँखों देख कि संसार किस प्रकार विनाशकी ओर दौड़ रहा है—उसको सत्यकी कल्पना ही नहीं है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

सत्य तत्त्व, सत्य स्थिति, सत्य मानवता, सत्य मानव, सत्य मानवधर्मके विचार-प्रचार-संचार-व्यवहारके बिना मानव कोरा दानव है। इस मानवधर्मका सार हमारे धर्मशास्त्रोंमें, दर्शनोंमें, वैदिक वाङ्मयमें ओत-प्रोत है; देखनेवाले देखें तो सही, अनुभवकी इच्छा रखनेवाले अनुभव करें तो सही!

सावधान

(साधुवेशमें एक पथिक)

मानव हो जाओ सावधान!

जो कुछ दिखता है दृश्य जगत् इसमें ही तुम जाना न भूल।
जिस सुखके पीछे दौड़ रहे वह निश्चय ही है दुःख-मूल।
दिखता उसको ही जिसे ज्ञान॥ मानव०॥

संघर्ष कलहका कारण है यह राग-द्वेष-मय भेद दृष्टि।
तुमने ईश्वरकी दुनियाँमें रच ली है अपनी क्षुद्र सृष्टि।
जिसका कि तुम्हें मिथ्याभिमान॥ मानव०॥

कुछ पद पाकर मद आ जाता, होने लगती है स्वार्थ-पूर्ति।
परहित तो वे कर पाते हैं, जो होते सच्चे त्यागमूर्ति।
अब देखो तुम किनके समान॥ मानव०॥

प्रभुता पाकर भोगी न बने, ऐसे भी जगमें पुरुष वीर।
देखो उनको, उनसे सीखो, वे कितने हैं गम्भीर धीर।
यदि तुम भी हो कुछ बुद्धिमान॥ मानव०॥

है शक्ति जहाँ तक भी तुममें, तुम पुण्य करो या महापाप।
तुम देव बनो या दानव ही, लो सुखप्रद वर या दुखद शाप।
बन लो कठोर या दयावान॥ मानव०॥

दुख बोकर दुख ही काटोगे, बच सकते केवल सुख बोकर।
जो कुछ दोगे वह आयेगा कितने ही गुना अधिक होकर।
है अटल प्रकृतिका यह विधान॥ मानव०॥

तुम अतिशय सरल विनम्र बनो, समझो न किसीको तुच्छ नीच।
कटुता कर्कशता निर्दयता लाओ न कभी व्यवहार बीच।
परहितका रक्खो सदा ध्यान॥ मानव०॥

जो संग न सदा रह सकेगा, अब उसका तुम दो मोह छोड़।
जो तुमसे भिन्न न हो सकता, ऐ पथिक! उसीसे नेह जोड़।
इस त्याग प्रेमका फल महान॥ मानव०॥

दया, अहिंसा, त्याग

शिवि

'राजन् ! मैं भूखसे मरा जा रहा हूँ और यह मेरा दैव-विहित आहार है। आप एककी रक्षाके लिये दूसरोंकी हत्या करें, यह कौन-सा धर्म है ?' महाराज शिविके वस्त्रोंमें एक भयभीत कबूतर आ छिपा था और दो क्षण पश्चात् ही एक बाज वहाँ आया। उसने स्पष्ट मनुष्यवाणी बोलकर चकित कर दिया महाराजको।

'इस आर्त शरणागतका त्याग तो मैं नहीं करूँगा। तुम्हें क्षुधा-निवृत्तिके लिये मांस ही तो चाहिये।' राजाने बाजसे कहा।

'केवल इस कपोतके वजन-जितना मांस' बाज संतुष्ट होकर बोला—'किंतु जब आप किसी प्राणीका वध करायेंगे ही तो यह कपोत न मरे। इस आग्रहका कोई महत्त्व मैं नहीं समझता।'

'मैं अपने शरीरका मांस दूँगा।' महाराज शिविने तराजूके पलड़ेपर रखा कपोतको और दूसरे पलड़ेपर अपने शरीरके अङ्ग अपने हाथों काट-काटकर रखने लगे।

यह ठीक है कि कपोत अग्निदेव बने थे और बाजके रूपमें स्वयं धर्म थे; किंतु कपोतके बराबर वजन पूरा न होते देख जब शिवि अपने अङ्ग काटते ही चले गये और अन्तमें पूरा देह धर दिया तराजूपर—ये देवोत्तम प्रसन्न होकर प्रकट होने ही थे।

गौतम बुद्ध

उद्यानमें ही टहल रहे थे राजकुमार सिद्धार्थ। एक बाण-विद्ध हंस सहसा आकाशसे गोदमें आ गिरा। दुःख-से सर्वथा अनभिज्ञ राजकुमार—पक्षीके शरीरसे बाण निकालकर अपनी बाहुमें उसकी नोक चुभा ली और काँप उठे—'ओह ! इतनी भयानक पीड़ा होती है पक्षीको।'

आहत पक्षीके घावका रक्त वे जलसे धोने लगे। देवदत्त—पक्षीको जिसने बाण मारा था, वह उस अपने शिकारको लेने भले आवे; किंतु आपको भी सिद्धार्थका यह तर्क तो स्वीकार करना होगा कि 'प्राणीपर उसे मारनेवालेकी अपेक्षा जीवन देनेवालेका स्वत्व अधिक है।'

अशोक

'सम्राट् अशोककी जय !' रक्तस्नात सेनापतिने सम्मुख आकर मस्तक झुकाया—'श्रीमान् विजयी हुए।'

'विजयी हुए श्रीमान्!' सहसा एक तेजोमय प्रशान्त पीतचीवर-धारीका स्वर भी एक ओरसे आया। अशोकने—प्रचण्ड अशोकने देखा, भिक्षुके स्वरमें व्यंग नहीं, उसके नेत्रोंमें अपार करुणा है और वह कह रहा है—'कलिंगके शौर्यकी लाशें तड़प रही हैं। जन्मभूमिके गौरवकी रक्षाका जिन्होंने प्रयत्न किया, उन्हें कुत्ते-गीध नोच रहे हैं। श्रीमान्का विजयोत्सव मना रहे हैं—ये शृगाल, ये गीध, ये कुत्ते। पतिविहीना विलखती सतियाँ, पुत्रहीना क्रन्दन करती माताएँ, भ्रातृहीना विसूरती बहिनें—सबका चीत्कार श्रीमान्का विजयघोष है। श्रीमान् विजयी हुए इन लाशोंपर, इस रक्तलथपथ धरापर, इस खण्डहरोंकी भूमि कलिंगपर·······।'

'बस भिक्षु—बस !' चीत्कार कर उठा अशोक। उस रणदुर्मद सम्राट्ने नोच फेंका कटिप्रदेशका शस्त्र और उसने उसी युद्धभूमिमें प्रतिज्ञा की—'अशोक अबसे हिंसाका त्याग करता है। अहिंसाके लिये है अशोकका शेष जीवन !'

हर्षवर्द्धन

श्रीगङ्गा-यमुनाकी संगमस्थली और कुम्भका पुनीत पर्व—प्रत्येक कुम्भ एवं अर्धकुम्भीके समय सम्राट् हर्ष पधारते थे और पधारते थे केवल स्नान या दर्शनका ही पुण्य नहीं प्राप्त करने। हर्षके सर्वस्वदानका पर्व था यह। सर्वस्वदान—अन्न-वस्त्र, स्वर्ण-मणि-आभरण, गज-रथ-अश्व, हर्षका जो कुछ है—अपने शरीरके आभूषण। और वस्त्रतकका दान कर देनेवाले वे महामानव !

कुम्भकी अपार भीड़ देखती थी, भारतका वह सम्राट् अपने अन्तिम वस्त्रतक दान करके बहिन राजश्रीसे माँगकर एक चिथड़ा कटिमें लपेटकर प्रयागसे विदा हो रहा है।

दया-अहिंसा

महाराज शिवि

भगवान् बुद्ध

सम्राट् अशोक

हर्षवर्धन

कुष्ठ-सेवक

श्रीचैतन्य महाप्रभु

महात्मा गांधी

सन्त फ्रांसिस

महारानी एलिज़ाबेथ
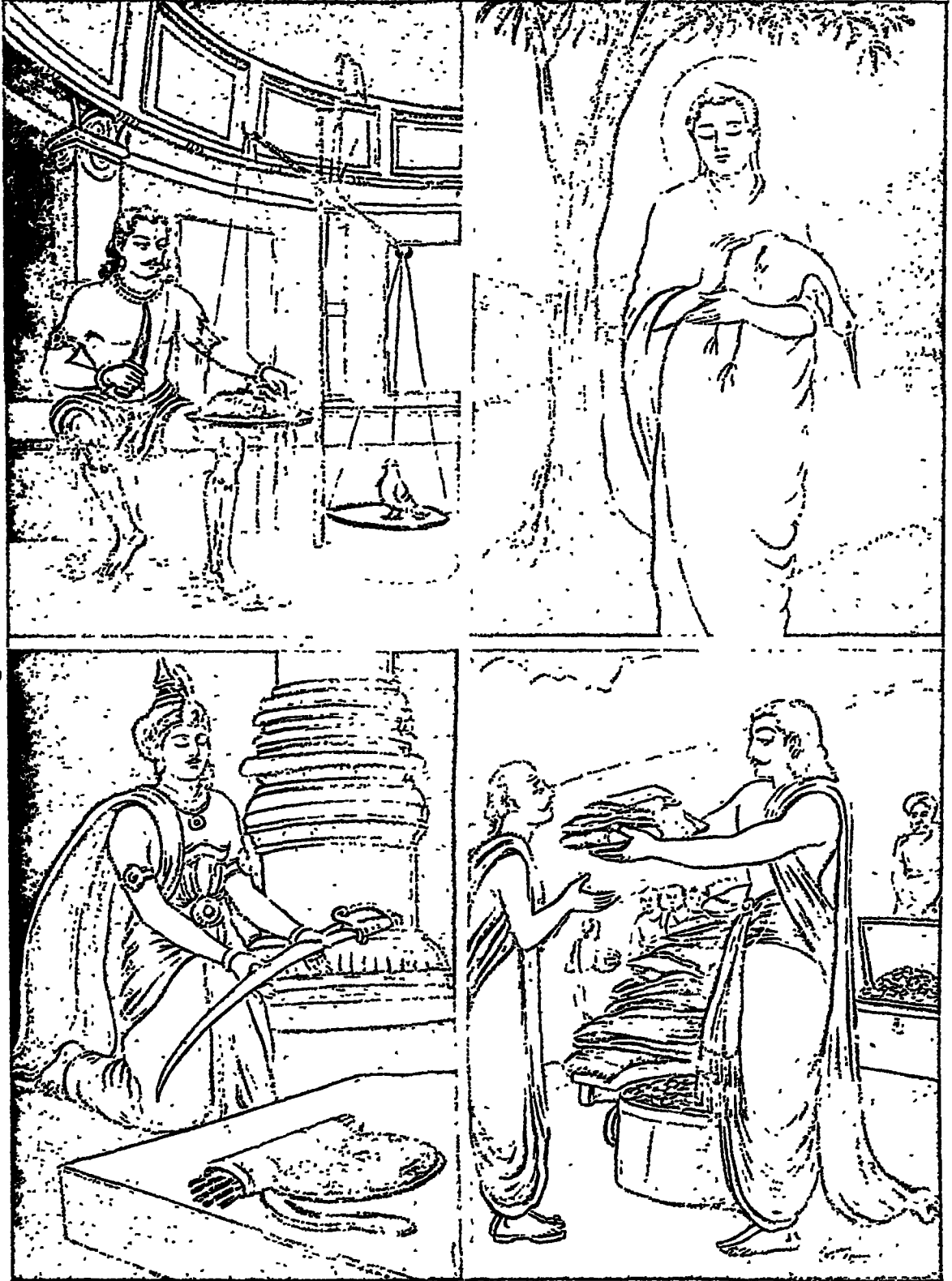
कुष्ठ-सेवक

श्रीचैतन्य महाप्रभु

'आप……आप यह क्या कर रहे हैं? मुझ पतितका स्पर्श न करें प्रभु!' उसके सर्वाङ्गमें कुष्ठ था—गलित कुष्ठ। उसने जब दोनों बाहु फैलाकर गौराङ्ग महाप्रभुको अपनी ओर बढ़ते देखा, तब वह व्याकुल होकर पीछे हटने लगा।

महाप्रभु पुरीसे दक्षिण भारतकी यात्रापर गये थे। उन्होंने भगवन्नामका कीर्तन सुना—स्वरमें माधुर्य था, प्रेम था और वेदना थी। श्रीचैतन्यदेव प्रेमोन्मत्त बढ़े आलिङ्गन देने।

'महाभाग! आपके स्पर्शसे मैं पवित्र बनूँगा। प्रेमपूर्वक भगवन्नाम लेनेवाला त्रिभुवनको पवित्र करता है।' और बलपूर्वक महाप्रभुने उस कुष्ठीको—पीब, सड़ाँध भरे शरीरके घावोंसे आकुल कुष्ठीको भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया।

कुष्ठी तत्काल स्वस्थकाय हो गया तो आश्चर्य क्या। श्रीचैतन्यदेवकी महामानवता—लोकोत्तर श्रद्धा—उसकी शक्तिकी कोई सीमा हो सकती है?

सेंट फ्रांसिस

'मेरे प्रभु मुझे यहाँ पुकारते हैं। मैं इन पीड़ितोंमें उनके दर्शन करता हूँ और उन दीनबन्धुकी सेवा मुझे यहाँ प्राप्त होती है, यह उनका अपार अनुग्रह—इस तुच्छ जनपर उनकी असीम दया, फ्रांसिस—संत फ्रांसिसकी सेवा—सच्ची मानवताकी सेवामें गर्वको कहाँ स्थान होता है। समाजसे—स्वजनोंसे भी उपेक्षित, दुर्गन्धिभरे घावोंवाले दीन, निराश, पीड़ित कुष्ठी—उनकी दारुण वेदना! संत फ्रांसिसने जीवन अर्पण कर दिया उनकी सेवाके लिये और यह सेवा कोई उपकार नहीं, कोई गर्वका हेतु नहीं। प्रभु सेवाका अवसर देते हैं, यह अनुग्रह उनका! मानवता ऐसे ही महत्तम पुरुषोंको पाकर उज्ज्वल होती है।

महारानी एलिजाबेथ

ब्रिटिश साम्राज्यकी महारानी—विश्वके प्रथम श्रेणीके राष्ट्रकी सर्वाधिक सम्मान्या; किंतु मानवता तो सबके लिये सर्वोपरि है। वैभव एवं सत्तामें जो मानवताको विस्मृत कर जायँ—क्या कहा जाय उन्हें।

गलित कुष्ठ छूतका रोग है। उसके रोगीके सम्पर्कमें आनेपर स्वयंको उस घृणित रोगके होनेका भय रहता है। स्वयं यह रोग—पीबसे भरे, राध टपकते दुर्गन्धित घाव। आपने गलित कुष्ठके रोगी देखे होंगे …………।

रानी एलिजाबेथ स्वयं कुष्ठके रोगियोंकी सेवामें लगीं—जब सच्ची मानवता जाग्रत् होती है, महामानवोंमें ही जाग्रत् होती है और तब क्या विपत्तिका भय, कष्ट एवं रोगकी आशङ्का उन्हें कर्तव्यसे विरत कर पाते हैं।

महात्मा गान्धी

विदेशकी नहीं, स्वदेशकी बात। प्राचीन नहीं, सर्वथा अर्वाचीन बात। अब भी ऐसे बहुत लोग जीवित हैं देशमें जो राष्ट्रपिताकी महामानवताके प्रत्यक्ष साक्षी हैं।

सेवाग्राममें स्थित परचुरे शास्त्रीको गलित कुष्ठ हो गया। उनको एकान्त कुटीर दे दी गयी। बापू चाहते—सेवकोंका, नर्सों एवं चिकित्सकोंका अभाव नहीं होता। वैसे कोई स्वेच्छासे प्रस्तुत नहीं था। ऊपरसे कोई कुछ कहे, हिचक तो मनमें होती ही थी।

'यह तो मेरा काम है। इसे स्वयं मुझे ही करना चाहिये।' महात्माजी अपने हाथों परचुरे शास्त्रीके घावोंको स्वच्छ करते थे। उन घावोंपर पट्टी बाँधते थे। शास्त्रीजीने रोकना चाहा था, आश्रमवासी भी नहीं चाहते थे कि बापू यह सब करें; किंतु बापू—उनकी महान् मानवता इन निषेधोंको माननेको कैसे प्रस्तुत हो जाती।

मानवताकी विशिष्टता

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भगवान्‌की सृष्टिमें मानव श्रेष्ठतम प्राणी है। विकासवादी पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंकी गवेषणा बतलाती है कि इस पृथ्वीतलपर नाना क्षुद्र जीवोंके विकसित होनेपर अन्तिम विकासको प्राप्त होनेवाला जन्तु मनुष्य ही है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवसृष्टिकी गणनामें मनुष्य ही बुद्धिमें, तर्क-वितर्क करनेमें, अपने कार्यकी सिद्धिके लिये उद्योग-कलामें सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। आधुनिक वैज्ञानिक यह नहीं जानता कि मनुष्यका विकास इतनेपर ही रुक जायगा या यह अपने विकासको पाकर अपने गुणोंकी अभिव्यक्ति आगे भी करता चलेगा। भारतीय तत्त्ववेत्ताओंकी दृष्टिमें भी मनुष्य ही इस सृष्टिका सर्वगुणसम्पन्न प्राणी है। भागवतमें एक बड़ा ही मार्मिक पद्य इस विषयमें उपलब्ध होता है। भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु), पशु, पक्षी, दंश और मछली आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परंतु इनसे उन्हें संतोष नहीं हुआ। इस प्रकार अतुष्ट-हृदय विधाताने मनुष्यके शरीरकी रचना करके अपने हृदयमें संतोषकी उपलब्धि की—

> सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
> वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
> तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
> ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
> (श्रीमद्भा० ११। ९। २८)

इस पद्यमें मनुष्यकी विशिष्टताका सूचक एक उपादेय विशेषण है—'ब्रह्मावलोकधिषणम्।' इसका तात्पर्य है कि मनुष्यके पास ऐसी बुद्धि (धिषणा) है, जिसके द्वारा वह ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकता है। मनुष्यका पशुओंसे विभेद करनेवाला यह बड़ा मार्मिक विशेषण है।

महाभारतके अनुसार भी मनुष्य ही इस सृष्टिमें श्रेष्ठतर है। मनुष्य-धर्म या मानवतासे बढ़कर इस विश्वमें कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं है—

> गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्॥
> (शान्ति० १८० । १२)

मध्ययुगके संतगण भी एक स्वरसे पुकारते हैं—अरे भाई! मानुषसे बढ़कर कोई जीव नहीं है और मानुष-धर्मसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। 'सर्व चेये श्रेष्ठ मानुष रे भाई'—चण्डीदासका यह मन्त्र मध्ययुगके धर्माकाशमें सर्वदा गूँजता रहा है।

विचारणीय प्रश्न है—मानुष-धर्मका वैशिष्ट्य क्या है, जिसके कारण वह सृष्टिका अलंकार तथा विश्वका रत्नाभरण बना हुआ है? इसका व्यापक उत्तर है—प्रेम। प्रेमके द्वारा ही मानव मानव है और प्रेमके अभावमें मानव दानव है। मानवता तथा दानवताका भेद इस प्रेमको लेकर ही है। दानव प्रेमहीन हिंसक जीव है, परंतु मानव प्रेमसम्पन्न सहानुभूतिमय जन्तु है। मानवताकी पूरी पहचान होती है इस प्रेमके कारण। यदि मनुष्य अपने परिवारसे, अपने भाई-बन्धुओंसे, मनुष्यमात्रसे प्रेम नहीं रखता तो वह वस्तुतः मनुष्य नहीं है।

आजकल सर्वातिशायी आवश्यक गुण यही होना चाहिये। आज मनुष्य ही मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु है। वह नये-नये घातक अस्त्रोंका आविष्कार करके अपनी मानवी सृष्टिके सत्यानाशपर तुला हुआ है। जहाँ देखिये, वहीं दानवताका प्रचण्ड ताण्डव अपना दृश्य दिखला रहा है। 'मानव-जीवनकी पवित्रता' नष्ट हो चली है। प्राचीन कालमें हमारी भावना थी कि 'जिस वस्तुको तुम दे नहीं सकते, उसे लेनेके लिये कभी उद्योग न करो।' जीवन कोई दे नहीं सकता। यह भगवान्‌की अचिन्तनीय शक्तिका ही वरदान है। ऐसी दशामें उस जीवनके हरण करनेका उद्योग नितान्त निन्दनीय, उपहसनीय तथा गर्हणीय है। संसारमें इस 'मानवता' की कमीके कारण ही इतना उत्पात, इतना रक्तपात, इतना संहार और इतना संघर्ष चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहा है। यह बात भारतवर्षके लिये भी उतनी ही चरितार्थ है, जितनी वह विश्वके अन्य देशोंके लिये है। हमारे शास्त्रोंका मान्य उपदेश है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु'—सब प्राणियोंको अपने समान ही समझो। शास्त्रोंके प्रति हमारी मौखिक सहानुभूति तथा श्रद्धा है, आन्तरिक नहीं। यदि हमारी श्रद्धा वास्तव होती, हम वास्तवमें आस्तिक होते तो क्या हम अपने भाइयोंकी, स्वजनोंकी, पड़ोसियों-

की, मानवमात्रकी इतनी उपेक्षा करते, जितनी हम आज कर रहे हैं ?

मानवताका विकास धर्मके आधारपर ही सम्भव है। धर्मके मूल तथ्योंको माननेपर ही मानव पूर्ण मानव बन सकता है। वैदिक धर्म ही वह वास्तव धर्म है, जो देश और कालकी परिधिसे बाहर निकलकर समग्र विश्वके मानवोंके हितार्थ जागरूक रहता है। धर्मके बन्धनको ढीला करनेपर या तोड़ देनेपर मानव आपत्तिके गम्भीर गर्तमें गिरनेसे बच नहीं सकता। स्वतन्त्र भारतकी वर्तमान दशा इसका स्पष्ट दृष्टान्त है। 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य होनेसे भारत जो धर्मकी अवहेलना कर रहा है, उसका कटु फल उसे हाथोंहाथ मिल रहा है। धर्मके भयसे मनुष्य अपने कर्तव्यके पालनसे तनिक भी पराङ्मुख नहीं होता। वर्तमान सरकारने इस मन्दिरसे धर्मकी मूर्तिको तो उखाड़ फेंका है, परंतु उसके स्थानपर किसी भी अन्य देवताकी आज भी प्रतिष्ठा नहीं की। इस दुर्व्यवस्थाका फल हमें राज्यके प्रत्येक विभागमें, ऊँचेसे लेकर नीचे तकके अधिकारियोंके व्यवहारमें सर्वथा उपलब्ध हो रहा है। चोर-बाजारीके तथा भ्रष्टाचारके इस विपुल प्रचार तथा प्रसारका रहस्य इसी धर्मकी उपेक्षामें छिपा हुआ है। यदि हम मानव बनना चाहते हैं, इस जगतीतलपर सुखी प्राणी बनकर अपना जीवन सफल बनाना चाहते हैं तो हमारा मूलमन्त्र होना चाहिये—धर्मके प्रति पूर्ण आस्था, ईश्वरमें पूर्ण विश्वास, कर्तव्यके प्रति दृढ़ निष्ठा तथा प्राणिमात्रके लिये मैत्री तथा सहानुभूति। वह जीवन नहीं, धिक्-जीवन है, जिसमें मनुष्य अपने लिये ही जीता है तथा अपने बन्धुओं एवं सम्बन्धियोंकी दुर्दशापर समर्थ होते हुए भी थोड़ी भी दृष्टि नहीं डालता। आवश्यकता है सच्चा मानव बननेकी, सच्ची मानवताके अनुशीलनकी। यह बात सर्वदा उपादेय है; परंतु आजकल तो इसकी परम आवश्यकता है।

भगवान्‌की ओर प्रवृत्तिमें ही मानवताकी सार्थकता है। भागवतने स्पष्ट शब्दोंमें मानव-जीवनको 'ब्रह्मावलोकधिषण' कहा है। मनुष्यके जीवनकी यह महती विशिष्टता है कि वह भगवान्‌को साक्षात्कार करनेवाली बुद्धिसे सम्पन्न है। मनुष्यका जन्म बहुत-से जन्मोंके अनन्तर प्राप्त होता है। यह भी स्वयं अनित्य है—मृत्यु इसके पीछे छायाकी तरह सदा लगी रहती है; परंतु इसकी एक विलक्षणता है कि यह 'अर्थद' अर्थात् परम पुरुषार्थको पानेका साधन है। अन्य किसी भी जन्ममें भगवान्‌की प्राप्ति उतनी सुलभ नहीं है जितनी इस मानव-जीवनमें ही। अतएव अनित्य होनेपर भी 'अर्थद' होनेके कारण साधक लोग इसकी उपेक्षा नहीं करते। हमारा उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है और इसीलिये हमारे समस्त उद्योगोंको उसी लक्ष्यकी प्राप्तिमें सर्वदा संलग्न रहना चाहिये। निष्प्रपञ्च ब्रह्मकी प्राप्ति इस प्रपञ्चके भीतरसे ही होती है। मानव-जीवनका लक्ष्य विषयभोग नहीं है; क्योंकि इसकी प्राप्ति तो प्रत्येक जीवनमें हो सकती है। तब मानव-जीवनका वैशिष्ट्य ही क्या रहा? जबतक मृत्यु आकर इस जीवनको ध्वस्त नहीं करती, तबतक मोक्ष पानेके लिये सतत उद्योग करना चाहिये। विकास-सिद्धान्तके अनुसार भी मानवका विकासके लिये पूर्ण स्वातन्त्र्य है, पूरा अधिकार है।

ऐसी दशामें मनुष्य इधर-उधरके नगण्य व्यापारोंमें अपनेको क्यों लगाता है? विषय-भोगमें इतनी आसक्ति क्यों रखता है? भगवान्‌का स्पष्ट उपदेश है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

यह लोक सुखसे रहित—दुःखसे पूर्ण है तथा कालकी दृष्टिसे क्षणिक, अस्थायी है। ऐसी दशामें नित्य तथा आनन्दमय पुरुषोत्तमकी प्राप्तिमें लगना उसका परम धर्म होना चाहिये और ऐसा व्यक्ति भगवान्‌को छोड़कर दूसरा नहीं है। भागवतमें इस तथ्यकी घोषणा बड़े स्पष्ट शब्दोंमें की गयी है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
　मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
　न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
(श्रीमद्भा० ११।९।२९)

हमारे प्रतिपादनका तात्पर्य यह है कि इस विश्वमें मानवता एक दुर्लभ वस्तु है। मानवताका मूल मन्त्र है पारस्परिक प्रेम तथा मैत्रीका उपार्जन। मानवताका आधारपीठ है धर्ममें पूर्ण विश्वास तथा उसका सम्यक् आचरण। मानवताकी सार्थकता है—भगवान्‌की ओर प्रवृत्तिमें। मानवताके ये मूल तथ्य हैं, जिनके ज्ञानके बिना हमारा जीवन शुष्क और एकाङ्गी बना रहेगा। जीवनको सफल बनानेके लिये पूर्ण मानवताका अपनेमें विकसित करना हमारा सर्वोच्च ध्येय होना चाहिये।

मानवता अमर रहे !

(लेखक—शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

संसारमें एक व्यक्तिके दूसरे व्यक्तिसे जितने भी सम्बन्ध हैं या हो सकते हैं, वे सब एकमात्र लौकिक कल्पनाओंकी आधार-शिलापर ही सुस्थापित होते हैं, उनके मूलमें कोई ईश्वरीय संकेत निहित नहीं होता—यह तथ्य अविलम्ब आगेकी पंक्तियोंसे सुस्पष्ट हो जायगा; परंतु एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यसे जो ईश्वरद्वारा स्थापित अकल्पित सम्बन्ध है, वह एकमात्र 'मानवता' का सम्बन्ध है।

मानव मानवका सम्मान करना सीखे

समान व्यवसाय, समान जाति, समान उद्देश्य और समान देश आदि कारणोंसे जो भाईचारा स्थिर किया जाता है, वह एक दूसरेको तादृश जान-पहचानकर या पूछकर ही स्थिर किया जा सकता है। परंतु बिना कुछ जाने-पहचाने और बिना पूछताछके लिये जिह्वा हिलाये एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यसे जो अविचलित सम्बन्ध है, वह केवल 'मानवता' ही है। अन्य सम्बन्ध जहाँ संकुचित, ससीम और परिवर्तनशील एवं अनित्य हैं, वहाँ मानवताका सम्बन्ध व्यापक, अपरिच्छिन्न, सदैव स्थिर रहनेवाला अथ च सर्वथा और सर्वदा अपरिवर्तन-क्षम है।

'गुणाः पूजास्थानम्' यह सिद्धान्त सार्वजनीन अवश्य है, परंतु है सर्वथा अनाध्यात्मिक; क्योंकि तत्तद्गुण विदित होनेपर ही उसका प्रादुर्भाव होता है; परंतु 'मानवता' वह सम्बन्ध है, जो किसी भी लौकिक गुणकी अपेक्षा न रखता हुआ एक मानवको दूसरे मानवसे इसीलिये और केवल इसीलिये प्रेम करना सिखलाता है कि वह 'मानव' है।

जीओ और जीने दो !

यदि आजका जडवादी जगत्—यह काला है, मैं गोरा हूँ; यह एशियाटिक है, मैं यूरोपियन हूँ; यह हिंदू है, मैं मुसल्मान या ईसाई हूँ—इत्यादि देह, देश और सम्प्रदाय-विशेषपर आधारित कल्पित भेद-भावोंको भुलाकर 'मैं मानव हूँ' और 'यह भी मानव है' इस अमिट तथ्यको समझ ले तो जटिल-से-जटिल कही जानेवाली सब समस्याएँ पलक-झमकमें सदाके लिये समाहित हो सकती हैं।

बड़ी-बड़ी सेनाएँ, दूरमारक शस्त्रास्त्रोंके भंडार, फिर इन सब साधनोंको जुटानेके लिये अधिकाधिक सुवर्ण-संग्रह और सेना बटोरनेके लिये कच्चा माल उपजानेवाले तथा पक्के सामानको खरीदनेवाले पिछड़े देशोंमें अपना-अपना प्रभाव बढ़ानेकी होड़—ये सब अनर्थ-परम्पराएँ आज पश्चिमी देशोंमें चल रही हैं। पौरस्त्य देशोंने भी इस होड़में खुलकर भाग ले सकनेकी अपनी असमर्थताके कारण उसे रूपान्तरमें पंच वर्षीय किंवा दसवर्षीय कथित योजनाओंके नामपर चालू कर रखा है, जिसकी पूर्तिके लिये नित्य नये-नये कर लगाकर प्रजाजनोंको बन्दियों-जैसा जीवन बितानेके लिये विवश किया जा रहा है। इन सब अनर्थोंका मूल चमड़ियोंके विभिन्न रंगोंपर या तत्तद् भूभागविशेषोंके निवासपर आधारित वह कल्पित भेदभाव ही है, जिसे 'मानवताशून्य भौतिकवाद' का अभिशाप कहा जा सकता है। इसलिये आजके युगकी परमावश्यकता है कि स्वयं जीने और जीने देनेके लिये मानव 'मानवता' का सम्मान करना सीखे।

मानवताकी परिभाषा

'मानवता' क्या है—यह रहस्य जाननेके लिये 'मानव' शब्द और उसके पर्यायभूत अन्यान्य शब्दोंके निर्वचनमात्र जान लेना पर्याप्त होगा। संस्कृत-कोशोंके अनुसार 'मानव', 'मनुष्य', 'मानुष' और 'मनुज' आदि सभी शब्द एक ही कोटिके हैं, जो मूल धातु 'मनु ज्ञाने' या 'मनु अवबोधने' से सुनिष्पन्न हैं। तत्तद् विकार-विशेषोंके कारण वेद-निरुक्त आदि ग्रन्थोंमें उक्त शब्दोंके जो मननीय निर्वचन किये गये हैं, वे सब धात्वर्थके साथ-साथ अन्यान्य कई रहस्योंका भी उद्घाटन करते हैं। यथा—

'मनोरपत्यं पुमान् मानवः।' 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्तीति मनुष्याः।' 'मादुषमेव सन्तं परोक्षेण मानुष-मित्याचक्षते'। 'मनोर्जाता मनुजाः'।

अर्थात् मनुके वंशधर होनेके कारण 'मानव' शब्दका प्रचलन हुआ। जो ज्ञानपूर्वक सब कार्य करें, वे 'मनुष्य' कहे जाते हैं। मा=मत दुष=दोष जिसमें हो, उसे ही परोक्ष भाषामें 'मादुष' के बजाय 'मानुष' कहते हैं। आदिम विधान-निर्माता वृद्ध मनुसे समुत्पन्न समाजका व्यक्ति 'मनुज'-शब्द-वाच्य है। [इन्हीं वृद्ध मनुका अपर पर्याय 'जरद्मनु' कुरान, बाइबिल आदिमें उच्चारण भेदसे 'हजरत नुह' बन गया है।]

मानवकी सीधी परिभाषा धात्वर्थके अनुसार यही हो सकती है कि जिस प्राणीकी सब चेष्टाएँ ज्ञानपर आधारित हों—अर्थात् जो पहले तौलता है फिर बोलता है, पहले सोचता है फिर कदम उठाता है तथा पहले मनन करता है और फिर क्रियामें प्रवृत्त होता है, वह मानव है। आपाततः नियन्त्रित और मर्यादित जीवन बितानेवाला प्राणी ही 'मानव'-शब्द-वाच्य है।

मानवताके पालनका फल आयुष्यवृद्धि

वास्तवमें मानव और मानवेतर तिर्यक् प्राणियोंमें आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि सब चेष्टाएँ समान होते हुए भी यदि इनमें कुछ विभेदक वैलक्षण्य है तो केवल तत्तत् क्रियाओंका मर्यादित किंवा अमर्यादितरूपमें करना ही है। बैल दिनभर खाये और दिनभर गोबर करे, उसी तलैयामें जल पीये और उसीमें साथ-ही-साथ मूत्रोत्सर्ग भी करता जाय—इस तरह अनियमित जीवन बिताता है; परंतु मानवके खान-पान, रहन-सहनके कुछ नियम हैं। वह तदनुसार मर्यादित जीवन बितानेकी चेष्टा करता है। मर्यादाका तात्पर्य है—'मर्य्यैरादीयत इति मर्य्यादा।' अर्थात् मर्य्य=मरणधर्मा प्राणी जिस मार्गका अवलम्बन करके पूर्ण आयु प्राप्त कर सके, तादृश पद्धतिका नाम 'मर्य्यादा' है।

अमर्यादित जीवन बितानेवाले तिर्यञ्चों और मर्यादित जीवन बितानेवाले मानवोंमें तादृश प्रवृत्तिका फल जीवनस्तर-का तारतम्य प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। बैल, भैंस, गधा, घोड़ा और लम्बग्रीव उष्ट्रतक—सभी तिर्यक् प्राणी मानवकी अपेक्षा शारीरिक बलमें कहीं अधिक होते हुए भी आयुष्यमें प्रायः तुर्यांशभागी ही रहते हैं। अर्थात् यदि मनुष्य सौ वर्ष जीता है तो वे केवल पच्चीस वर्षमें ही जीवन-लीला समाप्त कर बैठते हैं।

मानव बनना सहज नहीं

संसारमें सभी पद स्वल्पप्रयत्नलभ्य हैं, परंतु मानवपद प्राप्त करना सर्वथा 'अलभ्य' नहीं तो 'दुर्लभ' अवश्य है। पढ़कर विद्वान् बना जा सकता है, प्रारब्ध साथ दे तो अमुकामुक व्यवसायोंसे धनिक बना जा सकता है, और तो और, सकाम कर्म करनेसे देवता भी बना जा सकता है; परंतु कथनमात्रका नहीं—किंतु मानवताके सब गुणोंसे परिपूर्ण 'मानव' बन सकना सरल नहीं।

यों तो आज भी जनगणनाकी पुस्तिकामें 'मानवता' की कोष्ठकपूर्ति करनेवाले संसारमें अन्यून तीन अरब प्राणी मानव कहे जाते हैं। परंतु यदि शास्त्रनिर्दिष्ट मानवताकी कसौटीपर कसकर देखा जाय तो निश्चित ही उनमें एक भी प्राणी 'मानव' कहा जाने योग्य न निकलेगा। आज कलिकालकी कौन कहे, त्रेतायुग-जैसे धर्म-प्रधान युगमें भी जब—धर्म अपने तीन चरणोंकी विद्यमानताके कारण सर्वत्र व्याप्त था—संसारमें एक भी 'पूर्ण मानव' विद्यमान न था। पाठक रामायणकालीन उस घटनासे सुपरिचित हैं, जब रावणके तपसे संतुष्ट हुए पितामहने उसे सनियम कुछ अपवादसहित यथेच्छ वर माँगनेको कहा, इसपर उसने 'रावन मरन मनुज कर जाचा'—अन्य सब प्राणियोंसे अवध्य किंतु केवल मानवद्वारा ही वध्य होनेका वर माँगा। बुद्धिमान् रावणका यह प्रयास अविवेक-विजृम्भित नहीं था; वह खूब समझता था कि "इस समय संसारमें देव, दानव, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी प्राणी विद्यमान हैं; परंतु कोई 'पूर्ण मानव' नहीं है। निकट भविष्यमें कोई मानव बन सकेगा, इसकी भी सम्भावना नहीं। अतः अन्य सबसे अवध्य होनेका तो मुझे प्रत्यक्ष वर मिल ही गया और मनुष्य न कोई इस समय है, न भविष्यमें होगा—इसकी सम्भावना है; अतः मैं सर्वथा और सर्वदा 'अवध्य' हो गया।"

रावणका यह विचार सर्वथा सत्य ही था, उस समय वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषि विद्यमान थे। परशुराम, कार्तवीर्य-जैसे दिग्विजयी वीर थे तथा अष्टावक्र, याज्ञवल्क्य, जनक-जैसे ज्ञानी भी विद्यमान थे; परंतु यह कहना ही पड़ेगा कि उन सबमें कोई भी 'मानव' नहीं था। यदि कोई भी मानव होता तो वह रावणको अवश्य मार डालता, रावण अपनेको अवध्य समझकर घोर अत्याचार न कर पाता। इसलिये यह सिद्ध है कि संसारभरमें उस समय भी कोई 'मानव' विद्यमान न था। तभी तो 'सुर मुनि गंधर्बा मिलि कर सर्बा गे बिरंचि के लोका।' उक्तिके अनुसार सबको ब्रह्मलोकतक दौड़-धूप करनी पड़ी थी और रावणका अन्यथा वध न देखकर षोडश कलापूर्ण अजन्मा भगवान्को हो 'तुमहि लागि धरिहौं नर बेषा।' स्वायम्भुव मनुको दिये हुए इस वरदानके अनुसार मानव रूपमें अवतरित होना पड़ा।

आदिकवि वाल्मीकिजीने श्रीनारदसे जब पूछा—'कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके' अर्थात् "इस समय जगत्में सर्वगुणसम्पन्न 'मानव' कौन है ?" तब नारदजीने उनसे यही कहा—'बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः' अर्थात् आपने जिन-जिन गुणोंसे युक्त मानवको पूछा है, वे सब गुण एकत्र बहुत दुर्लभ हैं। तथापि 'मुने ! वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः' मैं अपनी बुद्धिके अनुसार बतलाता हूँ कि उक्त सब गुणोंसे युक्त इस समय यदि कोई विद्यमान है तो वह एकमात्र 'राम' हैं।

आज मानवता दानवताके पंजेमें फँसी कराह रही है। सर्वगुणोंसे सम्पन्न, मानवकी कौन कहे, अङ्गुलिगण्य गुणोंसे युक्त मानवोंका भी उत्तरोत्तर अभाव होता जा रहा है। यदि 'कल्याण'-परिवारके इस पुनीत आयोजनसे प्रसुप्त मानवता पुनरपि प्रबुद्ध हो सकी तो इससे निश्चित ही मानव-समाज कृतकृत्य हो सकेगा।

मानवताविषयक विचार-धारा

(लेखक—श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

'मानव' का अर्थ

किसी पदका अर्थ उसके मूल-शब्दके अधीन हुआ करता है; अतः किसी शब्दके अर्थको जाननेके लिये उसके मूल-पदकी देख-भाल करनी पड़ती है। इस प्रकार जब हमको 'मानव'के अर्थपर विचार करना है, तब हमें सोचना पड़ेगा कि इसका मूल शब्द क्या है और उसका अर्थ क्या है। मूलशब्दको बतानेमें व्याकरणकी आवश्यकता पड़ा करती है। वादि-प्रतिवादि-मान्य पाणिनीय व्याकरण 'मानव' के विषयमें बताता है—'मनोरपत्यं मानवः'—मनुकी संतान 'मानव' कहलाती है। इसपर अष्टाध्यायीका सूत्र है—'तस्यापत्यम्' (४।१।९२)। इस सूत्रसे 'मनु' शब्दसे संतान अर्थमें 'अण्' प्रत्यय और 'ओर्गुणः' (पा० ६।४।१४६) से 'उ' को 'ओ' और 'ओ' को अव् और पूर्व अच्को वृद्धि होकर 'मानव' शब्द बनता है। 'मनु' सृष्टिके आदिम पुरुष थे—इसमें सबका ऐकमत्य है।

अष्टाध्यायीका अन्य सूत्र यह है—'मनोर्जातौ अञ्यतौ षुक् च' (४।१।१६१) इसके अनुसार 'मनु' शब्दसे संतान और जाति अर्थमें—अञ् प्रत्यय और षुक्का आगम और पूर्वकी वृद्धि करके 'मानुष' शब्द बनता है और 'मनु' शब्दसे यत् प्रत्यय तथा षुक्का आगम करके 'मनुष्य' शब्द बनता है; अथवा 'आगमशास्त्रमनित्यम्' इस परिभाषाके अनुसार अञ् प्रत्ययके साथ षुक्का आगम न होकर भी जाति-अर्थमें 'मानव' बन जाता है। इसका भाव यह हुआ कि मनुष्य, मानुष एवं मानव—ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं। जो मनुष्य है, वह 'मानव' है; जो 'मानव' है, वह मनुष्य है। जब सृष्टिके आदिम 'व्यक्ति मनु' की संतानका नाम 'मानव' है, तब सच्चा मानव या मनुष्य वह कहलायेगा, जो अपने पिताके नियमानुकूल चले। मनुने अपने नियम भृगुके द्वारा सुनायी 'मनुस्मृति' में कहे हैं; अतः उसके अनुकूल व्यवहार करनेवाला ही पूर्ण मानव कहलायेगा। अपने इच्छानुकूल व्यवहार करनेवाला पूर्ण मानव कभी नहीं कहला सकता।

सृष्ट्यादिजात मनुकी इतनी विशेषता क्यों है, इसपर वेद कहता है—'स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दद् ज्योतिर्मनवे हविष्मते' (ऋ० सं० १०।४३।८) अर्थात् मघवा (इन्द्र) ने सोमका अभिषव करनेवाले, शीघ्र दान देनेवाले तथा यज्ञकर्ता मनुको ज्योतिः अर्थात् ज्ञान दिया। यही अन्य मन्त्रमें भी कहा गया है—'विदत् स्वर्ज्योतिर्मनवे ज्योतिरार्यम्' (ऋ०सं० १०।४।३४) इन्द्रने मनुको दिव्य ज्योति प्रदान की। हमने यहाँ मनुका अर्थ मनुष्य नहीं किया; क्योंकि निघण्टुमें मनुष्यके नामोंमें 'मनु' नहीं आया है। बल्कि निरुक्तमें 'मनुष्य' का निर्वचन किया गया है—'मनोरपत्यम्' (३।७।२) यहाँ मनुकी संतानको 'मनुष्य' कहा गया है; इससे मनु मनुष्योंका पिता सिद्ध हुआ। तभी निरुक्तकार श्रीयास्कने 'यामथर्वा मनुष्पिता' (ऋ० १।८०।१६) इस मन्त्रकी व्याख्या करते हुए 'मनुष्पिता मानवानाम्' (निरुक्त १२।३४।१) मनुको मानवोंका पिता कहा है। तभी मनुको सर्वज्ञानमय माना जाता है—

> यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
> स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
>
> (मनु० २।७)

'जो किसीका कोई धर्म मनुने कहा है, वह सभी वेदमें भी कहा गया है; क्योंकि वे मनु सर्वज्ञानमय हैं।' ज्योति जिसे मिल गयी, वह सर्वज्ञानमय होगा ही। तभी तो ताण्ड्यमहाब्राह्मणने भी मनुके लिये कहा है—

'यत्किंचन मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः'

'मनुका वचन औषधोंका भी औषध है।

इसलिये मनुकी स्मृति मनुस्मृति भी वादीप्रतिवादी सभीको मान्य है। श्रीयास्कने 'विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' (३।४।२) में मनुस्मृतिको सृष्टिके आदिमें रचित माना है। आजकलके सुधारक आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा० दयानन्दजीने भी यही माना है—यह मनुस्मृति, जो सृष्टिके आदिमें हुई है, उसका प्रमाण है। (स०प्र० ११, पृ० १७२)

तब मनुकी संतान 'मानव' का मनुप्रोक्त धर्मका पालन करना ही 'मानवता' सिद्ध होता है। धर्म एक ऐसी वस्तु है, जो पालन किये जानेपर वस्तुका स्वरूप सुरक्षित रखता है और उसके नष्ट किये जानेपर उसके स्वरूपको नष्ट करता है, विकृत किये जानेपर उसे विकृत करता है। इसीलिये 'मनुस्मृति' में भी कहा गया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥
(८।१५)

इसके उदाहरणस्वरूप अग्निको देख लीजिये, उस अग्निका स्वरूप अथवा धर्म उष्णता है। जबतक अग्नि उस धर्मको रखे हुए है, तबतक तो उसकी सत्ता रहेगी। जब उसकी उष्णता न रहेगी, तब वह अग्नि भी न रहकर भस्म हो जायगी। इसी प्रकार जलको लीजिये—उसका धर्म तरलता तथा प्यास बुझाना आदि है; जब उसमेंसे वह धर्म निकल जायगा वा निकाल दिया जायगा, तब वह जल न रहकर कीचड़ ही हो जायगा। इसी प्रकार यदि भारतीय मानव—क्योंकि मनु अपनी स्मृतिमें अपने देशसे भिन्न देशको 'म्लेच्छदेश' कहते हैं—मनुप्रोक्त धर्मका पालन नहीं करता तो उसमें वह भारतीय मानवता भी नहीं रह जाती। वह अपने देशमें रहता हुआ भी विदेशी, विरूप—भिन्नरूप हो जाता है। धर्म ऐसी वस्तु है, जो पाप नहीं करने देता, पापसे बचाता है। धर्मका विरोधी ही मानव दानव बन जाता है।

मानव-धर्म

मनुजीने मानवके लिये सामान्य धर्म इस प्रकार कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(६।९२)

अब देखिये—इन दस लक्षणोंको जो धारण करेगा, वह पूर्ण मानव होगा ही। जो व्यक्ति धैर्य रखेगा, सहिष्णुताको धारण करेगा, जो मनका दमन करेगा, जो किसीकी चोरी नहीं करेगा, जो पवित्रता रखेगा, जो इन्द्रियोंको संयममें रखेगा, जो बुद्धिकी उपासना करेगा, सत्-शास्त्रसे विद्या प्राप्त करेगा, सत्य व्यवहार करेगा, क्रोध न करेगा, वही पूर्ण मानव होगा। जो इससे विरुद्ध आचरण करेगा, वह दानवताको निमन्त्रण देगा। उसका वही स्वरूप बनेगा। भारतसे इतर देश इस धर्मको नहीं अपना सके, पर भारतने इस संकटके समयमें भी इसे अपनाया है—यह उसकी मानवताके गौरवका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। पर अन्य देशोंके व्यक्ति भी यदि चाहें तो इन धर्म-लक्षणोंको अपनाकर मानव कहे जा सकते हैं। तब भारतीय मानव तथा विदेशी मानवका भेद न रह जायगा; यही सोचकर श्रीमनुजीने भारतीय मानवके लिये साक्षात् धर्मके लक्षण भी बताये हैं। वे हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२।१२)

भारत सब देशोंका हृदय है, केन्द्र है। इसमें यदि मानव-धर्मका पालन ठीक होता रहे तो सब देशोंमें धार्मिकता तथा शान्ति रह सकती है। केन्द्रमें ही यदि गड़बड़ाध्याय प्रारम्भ कर दिया जाय, तब अन्य देशोंका क्या कहना। उनमें तो गड़बड़ी होगी ही।

वेदका अधिकार मनुजीने वेदका संकेत देखकर सबको नहीं दिया, किंतु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको ही दिया है। अतः 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे यहाँ द्विजका विचार करके लिखा गया है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥
(२।१६८)

यह मनुजीका वादि-प्रतिवादिमान्य वचन है। यहाँ वेद न पढ़नेवाले द्विजको जब शूद्रके सदृश कहा गया है, तब शूद्र वेदका अधिकारी उनके मतमें कैसे हो सकता है।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते॥
(२।१७२)

यह भी मनुवचन वादि-प्रतिवादि-मान्य है। यहाँ यज्ञोपवीत एवं वेदारम्भसे पूर्व द्विजको शूद्रके समान कहा गया है, तब साक्षात् शूद्रको वेदका अधिकार कैसे हो सकता है। यही वेदका संकेत भी है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्'। (यजुः वा० सं० ३०।५)

यहाँपर वेदका मुख्य अधिकार ब्राह्मणको दिया गया है। शूद्रको तप (जिसका अर्थ सभी वादी-प्रतिवादी कृच्छ्र-कर्म करते हैं) का अधिकार दिया गया है, ब्रह्मणे शूद्रम् नहीं कहा गया। यह शूद्रोंपर अन्याय भी नहीं; सेवाधर्म-जैसे (सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः) कठिन कर्ममें लगे हुए शूद्रादिको वेदके वैसे अध्ययनका अवकाश ही नहीं रहता। यदि वह इधर लगेगा तो उधर नहीं लग सकेगा। तब उनपर अनुग्रह करके पुराणादि-श्रवणद्वारा उन्हें वेदका निचोड़ सुना दिया जाता है। यह उन सेवाकार्यमें लगे हुओंका समय तथा मस्तिष्क-परिश्रम बचाकर उनपर बड़ा अनुग्रह किया

गया है। यदि शूद्र वेदादिमें प्रवृत्त हो जाय तो उससे उसका अपना कठिन कर्तव्य छूटता है। यदि वह अपनी बुद्धिका उपयोग सेवा-शिल्प आदिमें करता तो संसारका उसकी अपेक्षा अधिक उपकार करता, जो अब उसने एक ब्राह्मणकी वृत्ति छीनकर किया है। इसी एक-दूसरेके कर्म तथा वृत्तिकी छीना-झपटीसे आज संसारमें अव्यवस्था मची हुई है और कभी इधर, कभी उधर—ऐसी बातोंमें लगा हुआ समाज अव्यवस्थित-चित्त होकर 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' का उदाहरण बनकर संस्कारहीन हो जाता है। हिंदू-धर्म सबका मित्र है; अतः सबको अपने अधिकारमें रहनेके लिये प्रेरित करता है। यही—अपने अधिकारमें रहना ही मानव-धर्म एवं मानवता है, एक-दूसरेके धर्म तथा वृत्तिकी छीना-झपटी करना दानवता है।

वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक दो भागोंमें विभक्त होते हैं। मन्त्रभागकी ११३१ संहिताएँ होती हैं, उतना ही ब्राह्मणभाग होता है। ब्राह्मणभागमें आरण्यक, उपनिषद् भी अन्तर्भूत हैं। यह धर्मका प्रथम लक्षण होता है। धर्मका दूसरा लक्षण 'स्मृति' है। स्मृतिमें धर्मशास्त्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र तथा स्मृतियाँ अन्तर्भूत हैं। इसमें वैदिक नियम संगृहीत किये जाते हैं। धर्मशास्त्रको श्रेष्ठ प्रमाण माना जाता है। न्यायदर्शनमें आता है—

अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपा-ल्लोकोच्छेदप्रसङ्गः। (४।१।६२)

यदि धर्मशास्त्रको अप्रमाण माना जाय तो लोक-व्यवहारका विलोप हो जानेसे लोकोच्छेदका प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है।

तीसरा धर्मका लक्षण है—'सदाचार'—सत्पुरुषोंका आचार। सत्पुरुषोंके आचारसे पुराण-इतिहास संगृहीत हो जाते हैं। पुराण-इतिहासमें वेद-प्रोक्त धार्मिक सूत्रोंके उदाहरण-प्रत्युदाहरण दिये जाते हैं—इससे विषम समयमें विषम समस्याएँ सुलझ जाती हैं। इन्हीं पुराण-इतिहाससे हिंदू-जाति मुसल्मानी क्रूर समयमें भी सुरक्षित रही और अंग्रेजोंके मोहक समयमें भी धर्ममें स्थिर रह सकी।

चतुर्थ लक्षण है धर्मका—'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इसका अर्थ है कि धर्म-विकल्पोंमें जो अपने आत्माको प्रिय हो, उसका आचरण करे। यही मानव-धर्म है। मानवका ही धर्म मानवता होती है।

मानवके साथ गौका अविच्छेद्य सम्बन्ध

गाय मानवकी माता है। माता दूध देकर पुत्रको पालती है, यही बात गायकी है। दूध भैंसका भी होता है; पर भैंस तामसिक जीव है, अतः उसके दूधका प्रयोग करनेवाले तमोगुणी हो जाते हैं। भैंसके बछड़ेको ही देख लीजिये, वह ऊँघता-सा रहता है। यह तमोगुणका चिह्न है—'प्रमादालस्य-निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत' ॥ (गीता १४। ८) देखनेमें भी वह तमोगुणी दीखता है। पर गायके बछड़ेको देखिये, जो पैदा होते ही कूदने-फाँदने लग जाता है तथा देखनेमें भी सात्त्विक दीखता है। अतः यदि अपने बच्चोंको फुर्तीला या सात्त्विक बनाना है तो उन्हें गायका दूध दीजिये। इसके विपरीत यदि उन्हें ऊँघनेवाला या आलसी बनाना चाहते हैं तो उन्हें भैंसका दूध पिलाइये। भैंस काली होती है, कालापन उसमें स्वाभाविक होनेसे वह तमोगुणी जीव सूर्यसे ऊष्मा बहुत खींचता है; अतः उसके दूधमें ऊष्मा बहुत होती है, उसे कोमल बच्चोंको पिलानेसे वे बच्चे निरन्तर व्रण रहा करते हैं। इसके अतिरिक्त ऊष्मा उत्तेजन करनेवाली होती है, उत्तेजनासे संयमका भङ्ग होता है। संयमके भङ्गसे आयु घटती है, वाद-विवादप्रियता बढ़ जाती है और ऊष्मासे बुद्धि भी घटती है; पर गायका दूध सात्त्विकतासे मिला होता है, अतः वह बुद्धि देता है। बुद्धिका स्थिर या सात्त्विक होना ही मानवता है, अन्यथा वह दानवता हो जाती है। भैंसका बछड़ा मर जाता है तो उसमें भूसा डालकर भैंसके सामने रख देते हैं; वह ऐसी बुद्धिहीन है, जो उसे ही अपना बछड़ा समझकर दूध उतार देती है। इसीलिये उसके दूधका प्रयोग करनेवाला भी प्रायः बुद्धिहीन या तामस बुद्धिवाला होता है। गाय प्रायः इन चालबाजियोंमें नहीं फँसती, वह अपना स्नेही बछड़ा न होनेपर दूध समाप्त कर देती है, यही उसकी बुद्धिमत्ता-का प्रमाण है। अतः उसका दूध भी बुद्धिवर्धक हो—यह स्वाभाविक है। पर भैंसका दूध अज्ञानवर्धक तथा विवाद-वर्धक एवं कठोरताको प्रश्रय देनेवाला है—जो मान-वताके शत्रु हैं।

इधर भैंस वन्य जीव भी है, अतः बुद्धिकी न्यूनता उसमें स्वाभाविक है। गाय ग्राम्य जीव है, उसमें बुद्धिमत्ता अपेक्षाकृत स्वाभाविक तथा अधिक होगी। फिर वन्यकी संगतिसे पुरुष भी वन्य बन सकता है। भैंस जलका प्यासा जीव भी है। इसको जबतक जलसे बहुत-सा स्नान नहीं कराया

जायगा, तबतक वह दूध नहीं देगी। वह खूराक भी गायकी अपेक्षा दुगुनी-चौगुनी खाती है; जबतक उसे पूरी खूराक नहीं दी जायगी, तबतक वह दूध नहीं उतारेगी। गायका सामान्य सेवासे भी काम चल जाता है, दूध भी उससे अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अतः गायका जहाँ मानवसे अविच्छेद्य सम्बन्ध है, वैसे वह मानवताको उत्पन्न करनेवाली भी है। इन सब कारणोंसे गायका मानवसे पूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध है। अतः गायकी सेवा करने तथा गोदुग्धका प्रयोग करनेसे ही हमें सात्त्विकता प्राप्त होकर मानवता प्राप्त हो सकती है।

वर्णाश्रमधर्मसे मानवताका पोषण तथा संरक्षण

चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। इनके धर्मका नाम वर्णाश्रमधर्म है। वर्णाश्रमधर्म कहता है—स्वयं जीओ और दूसरोंको भी जीने दो। वह कहता है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।(गीता ३। ३५) 'अपने धर्ममें मृत्यु अच्छी; परंतु दूसरेका धर्म भयप्रद है। इस प्रकारका उपदेश इस धर्मसे भिन्न धर्मोंमें नहीं मिलता। इस धर्ममें एक वर्ग दूसरे वर्गकी वृत्तिके साथ छीना-झपटी नहीं करता और अपनी साधारण वृत्तिमें भी संतोष करता है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(गीता १८। ४७)

यही मानवता है। दूसरेकी वृत्तिपर डाका डालना दानवता है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी गृहस्थसे केवल निर्वाह चाहते हैं और उसके बदले आपको अपने अनुभवोंसे पूर्ण सुन्दर उपदेश देकर आपके लोक-परलोकका सुधार करते हैं।

विदेशोंमें वर्णाश्रमधर्म न होनेके कारण ही अपनी-अपनी वृत्तिमें संतोष न होनेसे वहाँपर मानवता कराहती रहती है, दानवताका बोलबाला हो जाता है। उसीके फलस्वरूप वहाँपर महायुद्ध होते हैं, मानवताको नष्ट करनेवाले परमाणु बमोंके आविष्कार हुआ करते हैं। जन्मना वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्था कार्य-विभाजनकी एक सुन्दर प्रणाली है। सदाके लिये इससे आजीविकाकी चिन्ता मिट जाती थी। बेकारीको प्रश्रय न मिलता था, परस्पर सहिष्णुता भी होती थी। इसी कारण मानवता पनपती थी। अतः इस मनुप्रोक्त वर्णाश्रम-धर्मके पालनसे ही हमें सच्ची मानवता मिल सकती है। आइये मानवगण! जब हम-आप मनु-पुत्र हैं, तब हमें उस मनु-व्यवस्थापित वर्णाश्रम-धर्मको अपनाकर अपनी पूर्ण मानवताका परिचय देना चाहिये। वर्णाश्रम-धर्मकी कई आपाततः प्रतीयमान भ्रान्तियोंको दूर करनेके लिये हम 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला भी प्रकाशित कर रहे हैं। *

फलतः 'सर्वभूतहित' में रति ही 'मानवता' है, पञ्चमहायज्ञ भी इसीको बता रहे हैं। मानवता और विश्वप्रेम पर्यायवाचक शब्द हैं। इस मानवताके प्राप्त्यर्थ हमें प्राणपणसे उद्योग करना चाहिये। इसीसे दानवत्व एवं पशुत्व हटकर हमें देवत्व प्राप्त होनेका अवसर मिलेगा। आजकलके वैज्ञानिक शस्त्रास्त्र मानवताके शत्रु अतएव विश्वयुद्धके मूल-सूत्र हैं। यदि भगवद्-गीतोक्त प्रकारसे हमने राग-द्वेष दूर कर दिये और मानवता प्राप्त कर ली तो हमें विश्वयुद्धोंके करनेकी आवश्यकता ही न रह जायगी। यह मानवताका सुपरिणाम होगा।

भजनके विना पशु-समान

भजन बिनु कूकर-सूकर-जैसौ।
जैसें घर बिलावके मूसा, रहत बिषय-बस वैसौ॥
बग-बगुली अरु गीध-गीधिनी, आइ जनम लियौ तैसौ।
उनहू कैं गृह, सुत दारा हैं, उन्हैं भेद कहु कैसौ?॥
जीव मारि कै उदर भरत हैं, तिन कौ लेखौ ऐसौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, मनौं ऊँट-वृष-भैंसौ॥

—सूरदासजी

* इस ग्रन्थमालाके पाँच पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं, छठा पुष्प प्रकाशित होने जा रहा है। हमारे नामसे पोस्ट बॉ० १९ राजपतनगर, नयी देहली १४' इस पतेसे उक्त ग्रन्थमाला मँगायी जा सकती है।—लेखक

मानवता

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्०ए०, डी०लिट्०)

'मानवता' वह धर्म है, जो एकमात्र मनुष्यमें ही रहता है और जिसके विद्यमान रहनेके कारण ही मनुष्य 'मनुष्य' कहा जाता है। यदि किसी प्रकार किसी अंशमें मानवता-धर्ममें त्रुटि हो जाय तो वह मनुष्य 'मनुष्य' नहीं है, किंतु मनुष्याभास है। 'मानवता' किन गुणोंसे युक्त है, यह कहना कठिन है। परंतु इसको अपनी बुद्धि और सत्तर्कके द्वारा समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। यह प्रायः सभी मनुष्योंको ज्ञात है कि पृथ्वीपर—भूलोकमें रहनेवाले सभी प्राणियोंमें मनुष्य ही सृष्टिके क्रमिक विकासमें सबसे श्रेष्ठ और सर्वाङ्गपूर्ण है। इसीलिये मनुष्यके स्थूल शरीरको 'अन्त्यावयवी' शास्त्रकारोंने कहा है। बुद्धिके द्वारा परमतत्त्वके साक्षात्कारके लिये, परमानन्दकी प्राप्तिके लिये, दुःखकी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये, जीवनके चरम लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये तथा जन्म और मरणसे सर्वथा एवं सदाके लिये छुटकारा पानेके लिये जिन अंशोंकी अपेक्षा होती है, वे सब 'मानवता' में ही विद्यमान हैं। अतएव 'मानवता' को समझनेके लिये हमें सबसे पहले यह विचार करना आवश्यक है कि मानवजीवनका चरम लक्ष्य क्या है, ज्ञानकी पराकाष्ठा कहाँ है।

संसार दुःखमय है, जीवन भी दुःखमय है और दुःखमय जीवनके ही द्वारा दुःखमय संसारसे छुटकारा मिल सकता है। इस बातको समझनेके लिये यद्यपि मनुष्यमें ही शक्ति होती है, फिर भी इसे सभी नहीं समझ सकते। यही कारण था कि बुद्धने अपने चार 'आर्यसत्यों' में इसे प्रमुख स्थान दिया था। परंतु यह सत्य है कि किसीको दुःख प्रिय नहीं है। सभी दुःखसे घृणा करते हैं, उससे छुटकारा पानेके लिये सर्वदा व्यग्र रहते हैं। वस्तुतः मातृगर्भमें आनेसे लेकर जीवनके अन्तिम श्वास-पर्यन्त कायिक, वाचिक तथा मानसिक जितनी हमारी क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ होती हैं, सभी दुःखानुभवसे प्रेरित होती हैं तथा दुःखसे छुटकारा पानेके लिये ही होती हैं। ये क्रियाएँ दुःखकी चरम निवृत्ति होनेपर ही विश्राम पाती हैं, अन्यथा चलती ही रहती हैं। इसीलिये मनुष्यको बार-बार जन्म और मरणको प्राप्त होना पड़ता है और असीम दुःखका भोग करना पड़ता है। परंतु इससे छुटकारा पानेके लिये दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं है।

उपर्युक्त बातको समझकर तदनुसार अपने जीवनको बनाना ही 'मानवता' का स्वरूप है। यह अनुभवका विषय है कि उपर्युक्त बातें सभी मनुष्य सभी अवस्थामें समझ नहीं सकते; परंतु इनके समझनेकी योग्यता अव्यक्तरूपमें प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। इस योग्यताकी अभिव्यक्तिके लिये मनुष्यको सद्गुरुसे उपदेश लेना चाहिये, भगवद्भक्त संतोंका सङ्ग करना चाहिये तथा तत्त्वज्ञानी ऋषि-मुनियोंके द्वारा साक्षात् अनुभूत विषयोंका लिखित रूपमें प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये। किसीको पूर्व-पूर्व जन्मोपार्जित शुभ कर्मोंके संस्कारसे नैसर्गिक रूपमें भी इस विषयको जाननेके लिये आवश्यक ज्ञान प्राप्त होता है; परंतु यह किसी विरल महात्मामें ही सम्भव है। अतएव अपनी सद्भावनासे सदनुष्ठानके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होनेपर ही मनुष्यको पूर्णताका बोध अपनेमें हो सकता है। साथ-ही-साथ हमें अपने खाने-पीनेकी वस्तुओंकी एक व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे दूषित अन्न तथा दूषित पेय न खाया और पिया जाय। जिस प्रकारका अन्न खाया जाता है, उसी प्रकारकी बुद्धि और जिस प्रकारका पेय पिया जाता है, उसी प्रकारका प्राण बनता है—यह तो उपनिषद्में ही स्पष्टरूपसे कहा गया है। किंतु स्मृतियोंमें तथा धर्मशास्त्रमें तो और भी सूक्ष्म रूपसे विचार किया गया है। बादको इस निर्णयपर शास्त्रकार लोग पहुँचे हैं कि हमारे प्रत्येक आचरण, व्यवहार, वस्त्र-धारण आदिका प्रभाव 'मानवता' को पुष्ट करनेमें आवश्यक है। इसी आधारपर सात्त्विक आहार आदि करना, सात्त्विक जीवन व्यतीत करना शास्त्रोंमें विहित है। मेरा तो विश्वास है कि बाह्य रूपकी शुद्धिके बिना अन्तरात्माकी शुद्धि हो ही नहीं सकती और बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग शुद्धिके बिना 'मानवता' का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। यही बात योगशास्त्रमें भी कही गयी है कि यम, नियम आदि अष्टाङ्ग योगके साधन बिना मनुष्य लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकता। वर्तमान कालमें बड़े-बड़े विद्वान् यम, नियम आदिको तथा शुद्ध भोजन और पान आदि आचरणको विशेष महत्त्व नहीं देते और स्वच्छन्द होकर 'पार्टियों' में जाकर

उच्छिष्ट भोजन करनेमें कुछ भी ग्लानि नहीं मानते। परंतु यह सर्वथा अनुचित है। जबतक पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उपर्युक्त पवित्र आचरण और व्यवहारकी बड़ी आवश्यकता है। 'आजकलके युगमें उन कठोर रीतिसे जीवन-निर्वाह करना असम्भव है' यह कहना सर्वथा दौर्बल्य है, मानवताके विकासमें बहुत बड़ा विघ्न है। हमें अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये उचित आचरण करनेमें संकोच एवं लज्जाका अनुभव करना, दलील देना तथा उपहासकी शङ्का करना परम अनुचित है। हमें अपने कर्ममें दृढ़ रहना चाहिये। अवश्य ही हमलोग शास्त्र-सम्मत कर्म करें, लोगोंके उपहासकी चिन्ता न करें। हमने देखा है कि केवल दौर्बल्यके वशीभूत होकर सिगरेट पीनेवाले अपने एक मित्रके आग्रहको अस्वीकार करनेमें सर्वथा असमर्थ होकर बहुत-से मनुष्य सिगरेट पीने लगते हैं तथा इसी प्रकार अन्य दोषोंको भी लोग आसानीसे अपना लेते हैं। इन बातोंसे 'मानवता' में कमजोरी आ जाती है और हम भारतीय संस्कृतिसे दूर चले जाते हैं तथा मानवताके स्वरूपको भूल जाते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। यह चरित्रहीनताका स्वरूप है। इन दोषावह, नाशकारी, लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेवाले कर्मोंसे 'मानवता' की हानि है। इसी कारण आज देशमें असंतोष, दुःख, छल, मिथ्याभिमान, दूसरोंको धोखा देना इत्यादिकी वृद्धि हो रही है।

जैसा ऊपर कहा गया है, दुःखसे सर्वथा छुटकारा पानेके लिये ही मनुष्यकी सभी प्रवृत्तियाँ हैं। इसीसे यह भी स्पष्ट है कि मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है दुःखसे चरम-निवृत्ति। इसे ही मुक्ति, परमानन्दप्राप्ति, ज्ञानकी पराकाष्ठा आदि कहते हैं। इस पदको प्राप्त करनेसे ही 'पूर्णता' की, मनुष्य-जीवन प्राप्त करनेके उद्देश्यकी तथा 'मानवता' की प्राप्ति हो सकती है। मनुष्यके दुर्लभ जीवनको प्राप्तकर भी यदि कोई 'पूर्णता' को, 'मानवता' के पूर्ण विकासको, चरम दुःखकी निवृत्तिको, परमानन्दको या आत्मसाक्षात्कारको न प्राप्त कर सके तो शंकराचार्यके शब्दोंमें वह 'आत्महा' कहा जायगा। विवेक-चूडामणिमें शंकराचार्यने कहा है—

> लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
> तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
> यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः
> स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार दुर्लभ मनुष्य-जन्मको प्राप्तकर और उसमें भी—जिस (स्वरूप) में श्रुतियोंके द्वारा ज्ञान होता है, ऐसे पुरुषत्वको पाकर जो मूढ़ बुद्धिवाला अपने आत्माकी मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है। वह असत् वस्तुओं (को सत् मानकर उन) में लग्न होनेके कारण अपनेको नष्ट करता है।

अन्तमें मेरा इतना ही निवेदन है कि मनुष्य होकर भी जो 'मानवता' को न समझता है और न उसके अनुरूप कार्य करता है, वह मनुष्याभास है और वस्तुतः आत्मघाती है। सभीको मनुष्य-जीवनका महत्त्व समझना चाहिये तथा उसकी मर्यादाकी रक्षाके लिये जीवनभर प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है।

यदि

प्राणधन मिल जायँगे, यदि हारको तुम जीत समझो।
मोह माया है जगत्में,
शोक छाया है जगत्में।
पर जगत्में ही सदा तुम, ईश-प्रीत पुनीत समझो।
सुख सर्वदा सम्भव नहीं,
दुख सर्वदा सम्भव नहीं।
दुःख ही सुखरूप है बस, तुम रुदनको गीत समझो।
अपकार जो मेरा करें,
उपकार हम उनका करें।
स्वर्गका सोपान है यह, शत्रुको तुम मीत समझो।
प्राणधन मिल जायँगे, यदि हारको तुम जीत समझो॥

—शिवनाथ दुबे

मानवता और भगवत्ता

(लेखक—डा० श्रीवीरमणिजी उपाध्याय एम्०ए०, बी०एल्०, डी०लिट्०, साहित्याचार्य)

मानव और भगवान् परमार्थतः या स्वरूपतः एक ही शुद्ध चैतन्य या चिच्छक्तिके दो औपाधिक रूप हैं; दोनोंमें व्यावहारिक अन्तर उपाधिकी शुद्धि और मलिनताके कारण प्रतीत होता है, किंतु उपाधिप्रयुक्त व्यावहारिक भेदके माननेसे पारमार्थिक स्वरूपमें अभेदकी हानि नहीं होती। घटाकाश-महाकाशमें औपाधिक भेद अवश्य प्रतीत होता है; किंतु उस प्रतीतिसे आकाशकी एकतामें क्या बाधा? पल्वल, तडाग, सरोवर, नदी और समुद्रके जलमें औपाधिक भेद प्रतीत होता है तो हुआ करे; किंतु जल तो स्वरूपतः एक ही है। स्वाद आदिमें दूसरे तत्त्वके सम्मिश्रणके कारण भेद है।

हाँ, यह अवश्य है कि इस औपाधिक अन्तरके कारण दोनोंकी विविध शक्तियोंमें तथा कार्योंमें परस्परविरोधी तथा दूरगामी वैलक्षण्य हो जाता है। ईश्वर या भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक है और जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और परिच्छिन्न-देहव्यापी है; उपाधिकी कल्पनाके आधारपर प्रतीयमान जीवस्वरूप और ईश्वरस्वरूप दोनों व्यावहारिक अवस्थामें कल्पित एवं औपाधिक हैं। उस कल्पनाका अधिष्ठान दोनोंमें अनुगत सामान्य चित्स्वरूप है और यही दोनोंका पारमार्थिक स्वरूप है, जो एक ही है।

समस्त जड पदार्थ अद्वैत वेदान्तके अनुसार चेतनकी उपाधियाँ हैं। जड पदार्थ भी व्यष्टि और समष्टि अर्थात् वैयक्तिक और सामूहिक भेदसे दो प्रकारके हैं। उदाहरणार्थ, वृक्ष व्यष्टि-जड है और वन समष्टि-जड। जड-व्यष्टिरूप उपाधिके कारण जीवकी प्रतीति हो रही है और जड-समष्टिरूप उपाधिके कारण ईश्वरको मानना पड़ता है; क्योंकि बिना समूह या समष्टिके व्यष्टिकी कल्पना नहीं हो सकती। और इसी प्रकार इसका उलटा भी, जैसा कि नैयायिक मानते हैं—'निर्विशेषं न सामान्यम्'। चैतन्यकी उपाधि जड तत्कालकृत अवस्थाभेदसे स्थूल, सूक्ष्म और अव्याकृत भेदसे तीन प्रकारका क्रमशः भासित होता है। कोई भी उदाहरण लें—नदीके जलमें वीचि, तरङ्ग और बुद्बुद आदि स्थूल जडके रूपमें दिखलायी दे रहे हैं; किंतु जलका सूक्ष्मरूप भी है और दोनोंका कारण एक अव्यक्त या अव्याकृत रूप भी, जो वैज्ञानिक यन्त्रोंके द्वारा तथा सहज अन्तर्बोध (Intuition) से ही जाने जा सकते हैं। ये त्रिविध भेद जड-व्यष्टि और जड-समष्टि दोनोंके स्वरूप पर समानतया प्रतीत होते हैं। तदनुसार जिस प्रकार जीवकी उपाधि जड-व्यष्टि अर्थात् शरीर-पिण्ड स्थूल, सूक्ष्म और कारणके भेदसे तीन प्रकारका है, उसी प्रकार ईश्वरकी उपाधि जड-समष्टि अर्थात् विश्व (ब्रह्माण्ड) भी स्थूल, सूक्ष्म और कारणके भेदसे तीन प्रकारका भासित होता है। पञ्चीकृत भूतात्मक स्थूलशरीर है, उसका कारण अपञ्चीकृत भूतमय 'सूक्ष्मशरीर' है और साक्षात् तथा परम्परया दोनोंका कारण व्यष्टि-अविद्या कारण-शरीर है। पञ्चीकृत-भूतात्मक दृश्यमान जगत् स्थूल विश्व है, उसका कारण अपञ्चीकृतभूतमय सूक्ष्म विश्व है और साक्षात् एवं परम्परया दोनोंका कारण समष्टि-अविद्या, अव्याकृत या अव्यक्त कारण है। समष्टि-अविद्या शुद्धसत्त्वप्रधान होनेके कारण उत्कृष्ट, व्यापक एवं पूर्णशक्तिशाली उपाधि है और व्यष्टि-अविद्या मलिनसत्त्वप्रधान होनेके कारण परिच्छिन्न एवं अल्पशक्तियुक्त अपकृष्ट उपाधि है और इसी उपाधिकृत उत्कर्षापकर्षके फलस्वरूप जीव और भगवान्की शक्तियों तथा कार्योंमें महान् व्यावहारिक अन्तर प्रतीत हो रहा है। इतना होते हुए भी, दोनोंके पारमार्थिक स्वरूपमें कोई भेद नहीं; क्योंकि वह तो एक ही मौलिक अधिष्ठानभूत शुद्धचैतन्य है। तन्त्र-दर्शनमें जीवको 'पशु' कहा जाता है और भगवान्को 'शिव'। वहाँ भी दोनोंका पारमार्थिक स्वरूप शिव-शक्ति-सामरस्यात्मक परम तत्त्व है। समस्त विश्वके मूलमें दो शक्तियाँ हैं—१. चिच्छक्ति और २. विमर्शशक्ति। इनकी दो अवस्थाएँ हैं—१. सामरस्यकी और २. परस्पर व्याप्य-व्यापकभावके कारण विश्लिष्टताकी। दोनों जब अविभक्त-दशामें समरस रहती हैं, तब एक तत्त्वके रूपमें अवस्थित उनका पारमार्थिक स्वरूप माना जाता है और जब प्रतीतितः विश्लिष्ट या विभक्त होकर काम करने या खेलने लगती हैं, तब शिवतत्त्व या चित्प्रकाश और शक्तितत्त्व या अचित्-विमर्श अथवा विसर्गके रूपमें एक दूसरेको अभिव्याप्त करते रहते हैं। अस्फुटका स्फुट होना प्रकाश है और 'यह', 'यह'—इस रूपमें अर्थात् किसी पदार्थविशेषके रूपमें हृदयंगम होना विमर्श है। व्यावहारिक ज्ञान दोनोंके सम्मिश्रणसे बनता है; क्योंकि ज्ञान केवल प्रकाश ही नहीं या केवल विमर्श ही नहीं होता, अपितु विमर्शात्मक प्रकाश है अर्थात् किसी पदार्थविशेषके रूपमें विमृष्ट होता हुआ स्फुर्ती-

भाव है। पशुभाव और शिवभाव—दोनों ये क्रमशः अवस्था-विशेषमें घड़ीकी कीलके समान अनुवृत्त होते रहते हैं और सामरस्य उनके मूलमें अन्तस्तल-धाराके समान अनवरत प्रकाशित होता रहता है। सामरस्यकी दशामें विमर्श ही 'महात्रिपुरसुन्दरी' और प्रकाश ही 'परम शम्भु' पदसे व्यवहृत होते हैं और परमार्थतः वे दोनों मूलमें सामरस्यापन्न एक ही तत्त्व हैं। तदनुसार 'पशु' और 'शिव' दोनोंका वही पारमार्थिक स्वरूप है।

इस दर्शनमें चेतनता और जडता—ये दोनों शब्द पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त होते हैं अर्थात् व्यापक चेतन है और व्याप्य जड है। जब अभेद-संसारमें प्रकाश व्यापक रहता है और विमर्श व्याप्त अर्थात् कवलीकृत हो जाता है, तब प्रकाश चेतन और विमर्श जड माना जाता है। इसी प्रकार जब भेद-संसारमें विमर्श व्यापक रहता है और प्रकाश व्याप्त अर्थात् अन्तर्निलीन हो जाता है, तब प्रकाश जड और विमर्श चेतन माना जाता है। महाशक्ति त्रिपुरसुन्दरीके कई रूपोंमें दो रूप हैं—१. शुद्धविद्या और २. माया। अहंता और इदंताकी अभेद-बुद्धि शुद्धविद्या है और उन दोनोंकी विभेद-बुद्धि माया है। परमार्थतः, निसर्गानन्द-सुन्दर प्रकाशात्म परम शिवके साथ सामरस्यापन्न परमानन्दनिर्भर परप्रेमास्पदी-भूत महात्रिपुरसुन्दरी अथवा प्रकाश-विमर्श-सामरस्यरूपिणी पराशक्ति होता हुआ भी पशु या जीव सांसारिक दशामें पशुभावापन्न होकर पाँच कञ्चुकों और आठ पाशोंसे जकड़ा हुआ अत्यन्त संकुचित बना रहता है। माया या अविद्याकी पञ्चविध संकोचिनी शक्तियों अर्थात् कन्चुकोंसे परिच्छिन्न जीव सर्वथा विवश और संकुचित बना रहता है। उन कञ्चुकोंका विवरण निम्नलिखित है—

१—सर्वकर्तृत्वशक्ति-संकोचरूप कञ्चुक—कला।
२—सर्वज्ञताशक्तिसंकोचरूप कञ्चुक—अविद्या।
३—नित्यपरिपूर्णताशक्तिसंकोचरूप कञ्चुक—राग।
४—नित्यताशक्तिसंकोचरूप कञ्चुक—काल।
५—स्वतन्त्रताशक्तिसंकोचरूप कञ्चुक—नियति।

इन्हीं पञ्चविध कन्चुकोंसे परिच्छिन्न होनेके कारण जीव अत्यन्त संकुचित-शक्ति रहता है; परंतु यह संकुचित रूप, जिसका दूसरा नाम मानवता है, वास्तविक नहीं। उसका पारमार्थिक स्वरूप तो सदा अपरिच्छिन्न और सामरस्यात्मक असंकुचित ही है। ऐसी दशामें मानवता या भगवत्तामें क्या अन्तर हो सकता है। यह ज्ञानमार्गकी दृष्टिसे विवेचन है।

हाँ, यह मानना पड़ेगा कि भक्तिमार्गमें भक्त ब्रह्म और चित् अर्थात् भगवान् और मानवको नित्य मानकर उनका अन्तर बनाये रखना चाहता है; क्योंकि वह अक्षय सेव्य-सेवक-भाव या प्रभु-दास-भावको ही परम पुरुषार्थ मानता है और उसका अन्त नहीं चाहता। इनकी सभी इन्द्रियाँ भगवत्तत्त्वके अनुभव बिना, भगवद्दर्शन तथा भगवान्के स्वरूपके रसास्वादनके बिना, अपनेको अकृतार्थ और हतभाग्य समझती हैं। नारदके द्वारा किये गये भक्ति-निर्वचनसे सिद्ध होता है कि वे भक्तिको भगवान्के प्रति परम-प्रेमरूपा ही नहीं मानते; किंतु अमृतरूपा भी मानते हैं। उनके विचारमें भक्त केवल सिद्ध ही नहीं होता, किंतु अमृतरूप भी हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें इनकी भक्ति नित्य और अनपायिनी है। तात्पर्य यह कि भगवान्, भक्त और भक्ति—तीनों शाश्वत तथा अमर हैं। तथापि अन्तिम स्थितिमें आकर भगवान् और भक्तमें परम साम्य हो जाता है। भक्तिमार्गमें सिद्धि-सोपान निम्नलिखित उपलब्ध होते हैं—

१—महात्मा, सिद्ध और संतोंकी सेवा।
२—उनका अनुग्रह-सम्पात।
३—उनके सहवास और सत्सङ्ग आदिके फलस्वरूप भगवद्भजनरूपी उनके धर्ममें श्रद्धा।
४—अनवरत भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन आदिमें तल्लीनता।
५—देहसे भिन्न आत्माका ज्ञान।
६—भगवान्में दृढ़ निष्ठा और भगवत्प्राप्तिके लिये प्रबल तथा पूर्ण प्रयास।
७—भगवत्तत्त्वज्ञान।
८—भगवत्कृपासे सर्वज्ञता आदि सकलकल्याणगुणगणका भक्तमें भी आविर्भाव। और
९—सायुज्य आदि चतुर्विध मोक्षमेंसे किसी एककी प्राप्ति।

इससे स्पष्ट है कि अन्ततोगत्वा भगवान् और भक्त सर्वथा समान और समकक्ष हो जाते हैं। दोनोंमें ऐसी अनन्यता और अन्योन्यनिष्ठा आ जाती है कि एक-दूसरेके लिये व्याकुल रहता है। कहा जाता है कि सिद्ध भक्तके हृदयमें यदि किसी बातकी इच्छा या संकल्पके अङ्कुरमात्रका उदय होता है तो उसी क्षण भगवान् उसकी पूर्तिके लिये दौड़ पड़ते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी यदि भगवान्की इच्छाशक्ति प्रकृति या नियतिके विरुद्ध भी भक्तका संकल्प हो जाता है तो भगवान् प्रकृतिको दबाकर भक्तकी इच्छाकी ही पूर्ति करते हैं, भक्तकी रक्षा तथा कल्याणके लिये अपनी प्रतिज्ञाओं-

को भी तोड़ देते हैं। निबन्धके विस्तारके भयसे मैं शास्त्रीय प्रमाणों तथा उदाहरणोंको यहाँ उद्धृत नहीं करता। निष्कर्ष यह कि इस प्रकार भक्तिमार्गके अनुसार भी सिद्धिकी अन्तिम स्थितिमें मानवता और भगवत्तामें कोई अन्तर नहीं रह जाता।

कर्मयोगमार्गमें भी कर्ता मानव जब सिद्धिकी चरम सीमापर पहुँचता है, तब मानवता और भगवत्तामें कोई भेद नहीं रह जाता है। संसार या बन्धनकी दशामें मानव और भगवान्‌में स्पष्ट अन्तर यह पाया जाता है कि मानव कर्म-फलसे बद्ध और उसमें लिप्त रहता है और इसी कारण माया-परवश रहता है; किंतु ईश्वर विश्व-संचालनरूपी कर्म करता हुआ भी कर्मफलसे बद्ध और उसमें लिप्त नहीं होता और इसी कारण मायाके अधीन नहीं, किंतु मायाका नियामक और मायातीत रहता है। कर्मयोग-मार्गके निर्धारित सिद्धि-सोपानोंकी अन्तिम सीढ़ीमें जीव कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसंधिसे रहित हो जानेके कारण मायाके चंगुलसे छुटकारा पा जाता है। उस अवस्थामें भला, मानवता और भगवत्तामें क्या अन्तर ?

अवतारकी दशामें भगवान् मानवके रूपमें पृथ्वीपर आकर मानव-लीला करते हैं और मुक्तिकी दशामें मानव ब्रह्मस्वरूप या भगवद्रूप हो जाता है। वाचस्पति मिश्रके अवच्छेदवादके अनुसार अविद्याका आश्रय जीव और विषय ईश्वर माने जाते हैं। परित्याज्य अंश आश्रयाश्रयिभाव और विषयविषयिभावके निकल जानेपर परिशिष्ट केवल चैतन्य ही रह जाता है। अतः मानवता और भगवत्तामें कोई अन्तर नहीं। औपाधिक अन्तरसे पारमार्थिक अन्तर नहीं होता। इस संक्षिप्त निबन्धमें सभी दार्शनिक विचारों तथा दृष्टिकोणों-का समावेश नहीं किया जा सका।

मानवताकी आधार-शिला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

पिछले दो सौ वर्षोंमें जगत्‌में जो राजनीतिक तथा आर्थिक क्रान्तियाँ हुईं, उनके कारण विराट् जन-समूहोंमें व्यापक चेतना आयी; विभिन्न देशोंमें राजनीति एवं अर्थ-व्यवस्था अधिकाधिक समष्टिधर्मक होती गयी। भौतिक वैज्ञानिक क्रान्तिने संसारका रूप ही बदल दिया। तीव्र गतिशील याता-यातके साधनों तथा टेलिफोन, टेलिविज़न इत्यादिके कारण दुनिया छोटी हो गयी। जो दूर था, बहुत पास आ गया। एक-के विचार, आशा, आस्था, संदेह, भ्रमका दूसरेपर तेजी-से प्रभाव पड़ा। विश्व भौतिक दृष्टिसे बहुत संघटित होता गया। विश्व-जीवनकी परस्पर-निर्भरता दिन-दिन बढ़ती गयी।

अपने सर्वोत्तम रूपमें यह वामनके विराट् होनेका नया उदाहरण है। मानव आज अपनी जाति, सम्प्रदाय, धर्म एवं देशके बाहर फैल गया है। दीवारें टूट गयी हैं और उसके कार्यका क्षेत्र विशाल हो गया है। बुद्धिको उड़नेके लिये अनन्त गगनका विस्तार प्राप्त हो गया है। एक देशका मानव अपनी यन्त्रणाकी घड़ियोंमें अकेला नहीं रह गया है। अपने सुख एवं सुख-वर्द्धक साधनोंकी आविष्कार-शृङ्खलामें उसका दूसरोंके लिये खुला आमन्त्रण है। एक देशके विशाल जन-समूह दूसरे देशोंके जन-समूहोंसे अपने देशमें रहते हुए भी मिलते हैं, वार्तालाप करते हैं, सहयोग-का जीवन बिताते हैं और टकराते भी हैं। आजका व्यक्ति इस प्रकार अधिक समष्टिधर्मी दिखायी पड़ता है।

परंतु इतना होते हुए भी संसारपर मृत्युकी विभीषिका छा गयी है। जब विश्व-जीवन विकसित होकर नभमें उड़नेको सचेष्ट है, तब उसके चारों ओर मरणका अन्धकार छा गया है। बुद्धिने जीवनके टुकड़े कर दिये हैं; चेतनाएँ उठ-उठकर लड़खड़ाती हैं और गिर पड़ती हैं। ऐक्यकी सम्पूर्ण शिक्षाएँ राष्ट्रोंके तीव्र आवेगोंमें बह जाती हैं। मानवताकी रक्षाके नामपर ही मानवता खण्डित की जा रही है। उसके नामपर अकल्पनीय मारक अस्त्रोंका आविष्कार होता है; उसके नामपर युद्धकी मोर्चाबंदियाँ होती हैं। जैसे किसी जमानेमें पाश्चात्त्य देशोंमें धर्म-रक्षाके नामपर युद्ध होते थे—भयानक युद्ध, वैसे ही मानवताके रक्षणके नाम-पर अमानवीय, राक्षसी कल्पनाएँ मानवके विस्तीर्ण मन-गगनपर छा रही हैं। एक ओर आशाका दीपक, मानवता-की भावनाकी ज्योति; दूसरी ओर समग्र ज्योतिका निर्वाण करनेवाला विकृत मनोवेगोंका प्रभञ्जन। एक ओर मानवकी आयु बढ़ानेवाले, रोगोंको निर्मूल करनेवाले, उसे अमर

बनानेकी दिशामें ले जानेवाले आविष्कारोंमें लगे मनीषियोंका आश्वासन; दूसरी ओर सर्वनाशके अट्टहास-जैसे भौतिक परमाणु-भञ्जनके स्वर ! कालकी भयानक उन्माद-लीला ! यह एक साथ ही दो प्रकारके विषम दृश्योंसे पीड़ित मानवता आज किंकर्तव्यविमूढ़ चौराहेपर खड़ी है।

एक ओर न्याय, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्वके नारे हैं; दूसरी ओर इन्हीं गुणोंके विनाश-साधनकी तैयारियाँ हैं। एक ओर दुनिया मानसिक दृष्टिसे अविभाज्य बनती जा रही है, दूसरी ओर पहलेसे भी अधिक खण्डित है। सुविधाएँ बढ़ी हैं—अंधोंके लिये स्कूल खुल गये हैं, बहरोंके लिये श्रवण-यन्त्र उपलब्ध हैं; गरीबोंके लिये चिकित्सालय हैं, कोढ़ियोंकी चिकित्साके लिये व्यवस्था है; बूढ़े अशक्त लोगोंकी ओर समाजका ध्यान गया है; बच्चोंकी शिक्षाका रूप बदल गया है, उनका महत्त्व समझा जाने लगा है; गर्भवती स्त्रियोंपर विशेष ध्यान दिया जा रहा है, विधवाओंकी सहायताके लिये स्कूल और आश्रम खुल गये हैं; बेगारकी प्रथा उठा दी गयी है; बेकारीकी समस्या भी अब उपेक्षणीय नहीं रह गयी; गुलामीकी प्रथा उठा दी गयी है या उठती जा रही है; अकाल, बाढ़, भूकम्प इत्यादि प्राकृतिक आपदाओंसे लड़नेके संघटित साधनोंकी खोज की जा रही है; ज्ञान पुस्तकालय, समाचारपत्र, रेडियो आदि अगणित वेश धरकर घर-घर दौड़ रहा है; विनोदके साधन सुलभ किये जा रहे हैं; यात्रा पहलेसे सस्ती और सुविधाजनक हो गयी है; पशुओंकी नस्ल सुधारनेकी चेष्टाएँ की जा रही हैं, उनके प्रति अत्याचार दण्डनीय हो गया है। इस प्रकार मानव मानवके, प्राणीके अधिक निकट आता दीख पड़ रहा है।

पर दूसरी ओर देखते हैं तो हर समाज, समूह या सम्प्रदायके अलग-अलग संघटन बन रहे हैं। वर्गचेतनाकी वृद्धिसे मानवताके टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। प्रत्येक वर्गमें अपने हितकी, स्वार्थकी प्रेरणा इतनी बढ़ गयी है कि दूसरे वर्गोंके—समष्टिके हितकी भावनाका ही लोप हो गया है। स्त्रियाँ अपने सम्पूर्ण कष्टोंके लिये पुरुष-वर्गको कोसती हैं; मजदूर मालिक-वर्गको गालियाँ देते हैं, मालिक-वर्ग मजदूरोंका शोषण करके उनसे अधिकाधिक लाभ उठाना चाहता है; विद्यार्थी अपने वर्गकी इकाइयोंद्वारा की गयी त्रुटियोंका भी समष्टिरूपमें समर्थन करता है, अध्यापकवर्ग अनुशासनहीनताकी जिम्मेदारी विद्यार्थियोंपर डाल देता है। वर्ग-भावना आगे और विभाजित हो जाती, एक खण्डको और संकुचित कर देती है। यह है दफ्तरका बाबू, यह है रेलवेका मजदूर, यह है खानका श्रमिक। सब अलग-अलग, अपने हितोंकी सीमामें आबद्ध। उसे मिले, दूसरोंको मिले-न-मिले। वह जिम्मेदार है ? हर पेशेके अलग संघटन हैं। यही राष्ट्रोंके मानसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। राष्ट्र-राष्ट्र, देश-देशके बीच प्रतिद्वन्द्विता है। गुलामीके विरुद्ध आवाज उठानेवाले राष्ट्र दूसरे देशों एवं जातियोंको अपने बन्धनमें रखनेके लिये असत्य प्रचार तथा विज्ञानकी सहायता लेते हैं। अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका इत्यादि देशोंमें अश्वेत जातियोंके विरुद्ध भयंकर वर्ण-द्वेष तथा प्रतिहिंसाकी भावना है। राष्ट्रोंके बीच अस्पष्टता, संदेह, अविश्वास, प्रतियोगिता और धमकीका बोल-बाला है; राष्ट्रोंके वैदेशिक विभाग मैत्री-वर्द्धनके यन्त्रकी जगह षड्यन्त्रोंके अड्डे बन गये हैं। जीवनकी स्वच्छता तथा आयुको बढ़ानेके लिये एक ओर जहाँ इतने प्रयत्न हो रहे हैं, वहाँ समूहों, वर्गों एवं राष्ट्रोंके पारस्परिक संघर्षके कारण वही जीवन पग-पगपर खतरोंसे भर गया है। मानव-जीवनका मूल्य घट गया है। व्यक्तिकी वास्तविक स्वतन्त्रताका, स्वतन्त्र चिन्तन एवं तदनुसार कार्य करनेकी प्रेरणा तथा शक्तिका लोप हो गया है। सामूहिक जीवन पाखण्डसे पूर्ण हो गया है। प्रत्येक वर्ग और समूह सुविधा और लाभ तो अधिक-से-अधिक चाहता है; पर ईमानदारीके साथ उसका मूल्य चुकानेको तैयार नहीं—अधिकार अधिक और जिम्मेदारियाँ कम चाहता है। व्यक्तिगत जीवन तथा सदाचारमें जो बातें हेय हैं, उन्हींका वर्गगत जीवनमें बोल-बाला है—वही लूट, वही हत्या, जो व्यक्तिगत जीवनमें घृणित है, वर्गगत भावनाओंके उद्रेकमें समर्थनीय हो जाती है।

हमारे सामने यह कैसा परस्पर-विरोधी दृश्य है। मानव-जीवनका एक पक्ष स्वस्थ, सुखद, सज्जनता एवं सहानुभूतिसे भरा है और उसीका दूसरा पक्ष भद्दा, घृणापूर्ण, दुःख तथा अन्धकारसे आच्छन्न है।

इस वैषम्यसे मानवता किंकर्तव्य-विमूढ़ है। कदाचित् ऐसी ही अवस्था रही होगी जब वैदिक ऋषिकी वाणी हृदयसे उठी और कण्ठसे फूटी होगी—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
(ऋ० १०।८२।७; यजु० १७।३१)

'हे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते, जिसने इन

सबको बनाया है। तुम अन्य प्रकारके हो गये हो और तुममें उससे बहुत अन्तर पड़ गया है। अज्ञानकी नीहारिका तथा अनृत एवं निरर्थक शब्द-जालसे ढके हुए मनुष्य प्राणतृप्तिके कार्योंमें लगकर या आडम्बरयुक्त और बहुभाषी होकर भटकते हैं।'

इसमें विवशताकी अनुभूतिसे विगलित वाणी ही नहीं है। मानवकी इस अवस्थाके मूल कारणकी ओर सूक्ष्म संकेत भी है।

सब कुछ याद रखकर हम आज भूल-से गये हैं कि समस्त मानवता, क्या समस्त प्राणि-जगत्का, क्या समस्त चराचर विश्वका जीवन-बिन्दु एक ही स्रोतसे निस्सृत है। एक ही जीवन-पुञ्ज शतधा, सहस्रधा, लक्षधा, कोटि-कोटिधा विभक्त होकर हममें फैल गया है। इसलिये हम सबमें उस जीवनके आदिस्रोतको समझने एवं पानेकी प्रच्छन्न स्पृहा है। हम सब एकसे ही अनेक हुए हैं, एकके ही अनेक अंश हैं। हम अनेकमें वही एक है। हममें उसीकी ज्योति है, उसीके प्राण हैं, उसीकी जीवन-धारा है। इस मूल सत्यके कारण ही समस्त मानवता एक है, समस्त प्राणि-जगत् एक है; समस्त जगत् एक है। मानवताके मूलाधारकी यह जीवन्त अनुभूति जबतक न होगी, तबतक बौद्धिक संग्रथनके बलपर ऐक्यकी साधना दुराशामात्र है। जब उस मूल सजीव-स्रोतमें विश्वास होगा, आस्था दृढ़ होगी, जिससे हम सबकी स्थिति है, तभी मानवके हृदयमें मानवके प्रति, बल्कि जीवमात्रके प्रति प्यारका सोता फूटेगा। केवल बुद्धि एवं तर्कके धरातलपर मानवताके निर्माणका प्रयत्न इसीलिये आज असफल हो रहा है। इसमें व्यक्तिका, समाजका, राष्ट्रका अहम् केवल भौतिक तलपर भटक रहा है। स्वभावतः आसक्ति, होड़, संघर्ष है।

सम्पूर्ण जीवन जिससे निकला है, सम्पूर्ण ज्ञान जिसमें आश्रित है, मानवकी सम्पूर्ण क्रियाएँ जिसे लेकर हैं, उसीको जानना होगा। उसीके प्रति आत्मार्पण करना होगा। सब जानकर भी जो उस अक्षरको, अविनाशीको नहीं जानता, वह उद्वेग एवं अशान्तिसे कैसे त्राण पा सकता है। प्रकारान्तरसे यही बात ऋषि कहते हैं—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋक्० १। १६४। ३९; अथर्व० ९। १०। १८)

'ऋचाएँ उसी अक्षर अविनाशी परम व्योममें आश्रित हैं, जिसमें सब-के-सब देव ठहरे हुए हैं। इसलिये जो मनुष्य उस अक्षरको नहीं जानता, वह ऋचाएँ, वेद-मन्त्रादि पढ़कर क्या करेगा? और जो उसे जानते हैं, वे ही समासीन—स्वस्थ, आत्मानन्दमें स्थित होते हैं।'

इस एक ही अक्षर स्रोतसे निर्मित होनेकी चेतना जबतक न आयेगी, जबतक हममें यह भावना अंदरसे न उभरेगी, यह अनुभूति हमारी समस्त चेतनापर न छा जायगी कि हमें प्राणिमात्रमें बन्धुताकी खोज करनी नहीं है, वरं हम सचमुच बन्धु हैं ही—एक ही जननस्रोतसे उत्पन्न होनेके कारण, एक ही शक्तिके अधिष्ठानके कारण, तबतक ऊपरसे बुद्धिद्वारा थोपी हुई, स्वार्थोंके कारण आरोपित, तर्कोंसे समाहृत मानवताकी भावना, मानवमात्रके प्रति ऐक्यकी भावना टिक न पायेगी।

अभयं मित्रादभयममित्रात्—मित्रसे भय न हो, अमित्रसे भय न हो। भय मरणका चिह्न है, वह भेदका चिह्न है, वह विशृङ्खला एवं विखण्डनका चिह्न है, वह नश्वर प्रवृत्तियोंके प्राबल्यका चिह्न है। आज संसारपर भय छा गया है; क्योंकि हम सर्वभूतोंमें अभेदका अनुभव न करके अपने क्षुद्र 'स्व'-में संकुचित, लिप्त हो गये हैं। जबतक हम अनुभव न करेंगे कि दूसरोंका हित और हमारा हित एक ही है—दूसरे हैं ही नहीं और भेद तथा भयमें हम अपना ही विरोध, अपना ही खण्डन कर रहे हैं, तबतक कुछ न होगा। किससे होड़, किसके प्रति हिंसा, किसके प्रति भय, जब सब एक ही है?

आज मानवताकी जययात्रामें अवरोध यही है। हमारी सभ्यता तर्क और बुद्धिसे ही समस्याएँ हल करना चाहती है। मस्तिष्क बढ़ गया है, पर हृदय सूखकर संकुचित हो गया है और मनोवेगोंका स्रोत हृदय है, मस्तिष्क नहीं इसलिये बौद्धिक चेतनाके साथ जबतक हृदयकी वास्तविक अनुभूतिका संगम नहीं होता, जबतक मानवके हृदयमें मानवके प्रति वास्तविक अभेद-ज्ञानका रस नहीं फूटता, जबतक विरहसे प्राण नहीं छटपटाते; जबतक वाणीमें, हृदयमें विरहका, आत्मार्पणका, अभेदत्वके स्पर्शका स्वर नहीं फूटता तबतक मानवता ऐसे रिक्त गगनमें खड़ी है, जिसके नीचे कोई आधार नहीं है।

मानवता-धर्म

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

वर्तमान युगकी आवश्यकता धर्म नहीं, ईश्वर-सिद्धि है। धर्म उस लक्ष्यमें सहायक हो सकता है, उसके लिये प्रथम तैयारीके रूपमें ग्रहण किया जा सकता है; किंतु जिस रूपमें विश्वमें उसपर आचरण हो रहा है, उस रूपमें वह इस प्रयोजनकी बिल्कुल पूर्ति नहीं कर पा रहा है—अधिकांशतः वह निर्जीव परम्पराओं, मतवादों तथा कट्टरताओंका पुञ्ज बनकर रह गया है, जो हमें मार्गपर अग्रसर करनेमें असमर्थ है; प्रायः वह ऐसे मूढ़ विश्वासोंमें परिवर्तित हो जाता है, जो मानवताके लिये अत्यन्त हानिकर होते हैं। समय आ गया है कि विकृत धर्मकी इस खाईसे मनुष्योंको निकालकर उन्हें सच्चे धर्म—आध्यात्मिकता वा योगके सत्पथपर अग्रसर किया जाय।

संसारके समस्त वर्तमान धर्म एक ऐसे युगके हैं, जो आज समाप्त हो चुका है; फिर विभिन्न देशों एवं स्थितियोंमें वे पनपे और उनके आन्तरिक अर्थ तथा महत्त्वको लोग भूल चुके हैं। भारतीय संस्कृतिके विकासकी एक अवस्थामें मन्दिर-पूजाका आयोजन किया गया था। मन्दिरकी मूर्ति एक प्रतीक थी, वह प्रस्तरकी वाणी थी, जो इस आध्यात्मिक सत्यको व्यक्त करती थी कि मन्दिरकी मूर्तिकी भाँति ही ईश्वर प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें आसीन है और जिस प्रकार हम मन्दिरमें मूर्तिको प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ही ईश्वरकी खोज हृदयमें करके उसे वहाँ प्रत्यक्ष देखना चाहिये। आज लोग उस प्रतीकवादको सर्वथा भूल गये हैं; वे प्रस्तर-मूर्तिको ही ईश्वर मानते हैं और उससे अपनी प्रार्थनाओंकी पूर्तिकी आशा करते हैं। चूँकि लोग मन्दिरोंमें प्रायः अपवित्र इच्छाएँ एवं वासनाएँ लेकर जाते हैं, इसलिये वहाँ ईश्वरकी उपस्थिति सम्भव नहीं है।

जैसे धर्म अब मनुष्यकी सहायता नहीं कर सकता, उसी प्रकार सदाचरण भी उसकी सहायतामें असमर्थ है। धर्मकी निष्फलताके साथ सदाचारकी शक्ति या प्रमाणका भी लोप हो गया और आधुनिक मनुष्य नवीन प्रमाणोंकी खोजमें व्यस्त है; पर यह व्यर्थ है। उच्च-से-उच्च वर्गोंमें भी भ्रष्टता फैल गयी है और कोई नैतिक नियमोंकी परवा नहीं करता। फिर बारंबार इन नियमोंको दोहरानेसे क्या होगा कि—'मिथ्या न बोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, हिंसा न करो।' मानव-जाति हजारों वर्षोंसे इन शब्दोंको सुनती आयी है और आज उसकी स्थितिको देखिये। श्रीअरविन्द कहते हैं—'मनुष्य एवं पदार्थोंकी प्रकृति ही इस समय विषम हो गयी है—सामञ्जस्यका लोप हो गया है। मानवके सम्पूर्ण हृदय, कर्म और मनको बदलना होगा; पर यह अंदरसे करना होगा, बाहरसे नहीं। राजनीति एवं सामाजिक संस्थाओंद्वारा नहीं, मतों एवं दर्शन-प्रणालियोंद्वारा भी नहीं वरं अपने तथा जगत्के अंदर ईश्वरानुभव, ईश्वर-सिद्धिके द्वारा और इस प्रकार जीवनको पुनः ढालकर। यह केवल पूर्ण योगके द्वारा ही सम्भव है—योग जो किसी प्रयोजन-विशेष, लक्ष्यविशेषके प्रति समर्पित नहीं है, फिर चाहे वह प्रयोजन वा लक्ष्य मुक्ति या आनन्द ही क्यों न हो वरं अपने एवं दूसरोंके अंदर दिव्य मानवता, ईश्वरीय मानवताकी सिद्धिके लिये समर्पित है।'

किंतु सामान्य जन सहसा योग वा आन्तरिक अभ्यासमें प्रवेश नहीं कर सकते; उन्हें कुछ बाह्य रूप, कुछ प्रतीक देने ही पड़ेंगे, जिससे उनके आन्तरिक प्रयत्नको शक्ति मिलती रहे। यदि पुरानी प्रतिमाएँ दुर्बल हो गयी हैं तो हमें आधुनिक युग एवं आवश्यकताओंके अधिक उपयुक्त नवीन रूपोंका निर्माण करना होगा। आचार्य विनोबा भावे बताते हैं कि रामकी उपासनासे लोग निष्क्रिय एवं तामसिक हो रहे हैं, इसलिये हनुमान्की उपासनाका प्रसार होना चाहिये; क्योंकि हनुमान् गति, शक्ति तथा शाश्वत अर्चाके मूर्त रूप हैं। हम नहीं जानते कि यह बात विनोदमें कही गयी है या गम्भीरतापूर्वक; क्योंकि यदि मानवको उच्च स्तरतक पहुँचना है तो अपनी उपासनाके लिये उसे गौओं और कपियोंको देवोंके स्थानापन्न न बनाना चाहिये। परंतु इसमें इतना सत्य अवश्य है कि उपासनाके वर्तमान रूपोंको बदलना और उन्हें अधिक गत्यात्मक और प्रभावशाली बनाना है। श्रीअरविन्द कहते हैं—'मृत वस्तुओंके प्रेत बड़े कष्टकारक होते हैं और आज उनका बाहुल्य है—मृत धर्मों, मृत कलाओं, मृत नीतियों, मृत राजनीतिक सिद्धान्तोंके प्रेत, जो अपने विनष्ट शरीरोंको बनाये रखने अथवा पदार्थोंके वर्तमान गठनोंमें आंशिक रूपसे जीवन फूँकनेका दावा करते हैं।' अठारहवीं शताब्दीके यूरोपीय बुद्धिवादी

विचारकोंने पौरोहित्यप्रधान ईसाई-धर्मके बाह्याचारप्रधान अध्यात्मवादके स्थानपर मानवताके धर्मकी स्थापना की ।

'आधारभूत धारणा यह है कि मानव-जाति ही वह ईश्वर है, जिसकी उपासना एवं सेवा मनुष्यको करनी है और मानव-प्राणी तथा मानव-जीवनका सम्मान, सेवा तथा प्रगति ही मानव आत्माका मुख्य कर्तव्य तथा मुख्य ध्येय है । युद्ध, प्राणदण्ड, मानव-जीवनका नाश, सब प्रकारकी निर्दयता,—फिर चाहे वह व्यक्ति, राज्य अथवा समाज, किसीके द्वारा की जाय,—न केवल शारीरिक बल्कि नैतिक निर्दयता भी—किसी भी कारण या किसी भी स्वार्थके लिये मानव-प्राणी वा मानव-प्राणियोंके किसी वर्गकी अवमानना, मनुष्यद्वारा मनुष्यका, वर्गद्वारा वर्गका, राष्ट्रद्वारा राष्ट्रका शोषण तथा इसी प्रकारकी जीवनकी अन्य रूढ़ियाँ तथा सामाजिक संस्थाएँ, जिन्हें धर्म तथा नीति किसी समय सहन अथवा कार्यरूपमें समर्थित भी करती थीं, मानवता-धर्मके विरुद्ध ऐसे अपराध हैं जो उसकी नैतिक भावनाके लिये घृणित हैं और उसके मुख्य सिद्धान्तोंद्वारा निषिद्ध हैं, जिनके विरुद्ध सदा लड़ाई जारी रहनी चाहिये तथा जिन्हें किसी भी रूप या अंशमें सहन न किया जाना चाहिये ।'

इस मानव-धर्मने कितना गहरा प्रभाव डाला और कितना उपयोगी कार्य किया, यह देखनेके लिये एक या दो शताब्दी पूर्वके मानव-जीवन, विचार एवं भावनाके साथ प्राक्-युद्ध-कालके मानव-जीवन, विचार एवं भावनाकी तुलना करना मात्र पर्याप्त है । उसने ऐसे अनेक काम कर दिखाये, जिन्हें प्राचीन धर्म प्रभावपूर्ण रीतिसे करनेमें असफल रहा था । फिर भी मनोकल्पित यह धर्म अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें असफल ही रहा, जैसा कि समस्त मानवीय कष्टोंसे युक्त दो विश्वयुद्धों तथा हाइड्रोजन-बमके वर्तमान युगसे प्रत्यक्ष है । वह असफल इसलिये हुआ कि उसने ईश्वरको निरर्थक समझकर एकदम त्याग ही दिया और जैसा कि हमने आरम्भमें बताया है, केवल ईश्वरानुभूतिके द्वारा तथा तदनुकूल जीवन तथा कर्मको ढालकर ही मानव-जीवनकी बुराइयोंपर विजय प्राप्त की जा सकती है तथा मानव-जातिके लिये एक अधिक अच्छे तथा सुखी जीवनकी अवतारणा की जा सकती है । इसके लिये हमें मनुष्योंकी नहीं, पर मनुष्यमें ईश्वरकी उपासना करनी होगी । प्रस्तर-मूर्तियोंकी पूजाकी जगह हमें स्वयं ईश्वरके प्रतिबिम्ब तथा अवतारके रूपमें मानवकी पूजा एवं सेवा करनी होगी । और वेदों तथा उपनिषदोंकी उच्चतम शिक्षाओंके अनुसार मनुष्य ईश्वर तो है ही । यह सत्य वस्तुतः विश्वके सभी महान् धर्मोंके मूलमें पाया जाता है । हमारे युगमें स्वामी विवेकानन्दने सबसे पहले मानवता-धर्मको आध्यात्मिक आधारपर प्रतिष्ठित किया । आधुनिक मानवके प्रति उनके स्फूर्तिवर्धक शब्द हैं—'अपनी मुक्तिकी सम्पूर्ण इच्छा मुझमें मिट गयी है । मैं बार-बार पैदा होऊँ तथा सहस्र-सहस्र व्यथा-वेदना सहन करूँ ताकि मैं एक ही ईश्वरकी उपासना कर सकूँ,—एक ही ईश्वरकी, जिसका अस्तित्व है, एक ही ईश्वरकी, जिसमें मैं विश्वास रखता हूँ, जो सम्पूर्ण आत्माओंका समष्टिरूप है । और सर्वोपरि मेरा ईश्वर है दुरात्मा-जन, वह मेरा ईश्वर है दुखी प्राणी, वह मेरा ईश्वर है सम्पूर्ण मानव-जातियोंके सभी योनियोंके दीनजन, जो मेरी पूजाके विशेष पात्र हैं—वह जो एक साथ उच्च और नीच है, जो संत और पापी है, देव एवं कीट है । उसकी पूजा करो—उसकी जो दृश्य, ज्ञेय, वास्तविक, विश्वव्यापी है; अन्य सब मूर्तियोंको हटा दो । उसमें न अतीत जीवन है न भावी जन्म है, न मृत्यु है न आवागमन है, जिसमें हम सदा रहे हैं और सदा रहेंगे । उसे पूजो ।

यह केवल मानवप्रेम या मानवतावादका उपदेश नहीं है; यह एक नवीन प्रेरणाप्रद और जीवित रूपमें धर्म एवं आध्यात्मिकताका ही प्राचीन तथ्य है । लोग नैतिक व्यवस्थाकी पुनः स्थापनाके लिये पुकार कर रहे हैं मानो केवल उसीपर सामाजिक व्यवस्था निर्भर है । पुरानी व्यवस्था भूमिसात् हो गयी; क्योंकि वह अपने आपाततः भद्र रूपके अन्तरात्मामें बहुत-सी अनैतिकताओंको छिपाये हुए थी । हम भारतकी परम्परागत महत्ताकी बात करते हैं, पर क्या अस्पृश्यता और जाति-पाँतिका भूत उसी महत्ताके अङ्ग नहीं हैं ? इन सबको हटा दो और सच्चे ईश्वरकी खोज करो, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विराजमान है । जबतक यह नहीं किया जाता, मनुष्य उस अहंकारसे मुक्त नहीं हो सकता, जो समस्त धर्मों एवं मानवीय प्रयत्नोंकी निष्फलताका मूल कारण रहा है । इस अहंकारसे प्रभावित होकर हम अपनेको अन्य सब प्राणियोंसे भिन्न और अलग मान लेते हैं तथा दूसरोंके हितकी हानि करके अपना विस्तार करने एवं अपने हितके लिये दूसरोंको शोषित और विजित करनेका औचित्य मानने लगते हैं । यह बात व्यक्तियों एवं राष्ट्रों, सम्प्रदायों एवं जातियों—सबपर लागू है और इसीके कारण संसारमें संघर्ष और दुःख बना हुआ है ।

इसकी दवा यह अनुभव करना है कि जिस अहंकारके

कारण हम दूसरोंसे अपनेको भिन्न एवं अलग मानते हैं, वह हमारा वास्तविक रूप, हमारा आत्मा नहीं है; अपने यथार्थरूपमें हम ईश्वर तथा समस्त प्राणियोंसे अभिन्न हैं। केवल इसी आध्यात्मिक अनुभूतिके आधारपर सामञ्जस्य, शान्ति, प्रेम एवं आनन्दसे पूर्ण एक नयी सामाजिक विश्व-व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। मानवता-धर्मकी योजना इस प्रकार करनी होगी कि वह हमें सीधे आत्मसाक्षात्कार और ईश्वर-साक्षात्कारतक पहुँचा सके। श्रीअरविन्दने इसे ही स्पष्ट किया है। अपने महान् ग्रन्थ 'The Ideal of Human Unity' (मानव-ऐक्यका आदर्श) के अन्तिम अध्यायमें वे कहते हैं—'मानवताका आध्यात्मिक धर्म ही भविष्यकी आशा है। इसका अर्थ वह नहीं है, जिसे सामान्यतः सार्वदेशिक धर्म, एक पद्धति, एक मतवाद एवं बौद्धिक विश्वास तथा सिद्धान्त और बाह्य आचार समझा जाता है। उक्त साधनोंसे मानव-जाति ऐक्यके लिये प्रयत्न कर चुकी है; वह असफल हुई और उसे असफल होना ही चाहिये था; क्योंकि मानसिक विश्वास एवं जीवित रूपमें कोई सार्वदेशिक धर्म-प्रणाली नहीं हो सकती। अवश्य ही आन्तरिक भावना एक है; परंतु अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन अपनी आत्माभिव्यक्ति और आत्मविकासके साधनोंकी विविधता एवं स्वतन्त्रतापर कहीं अधिक बल देता है। मानवता-धर्मका तात्पर्य ही इस सत्यका अधिकाधिक अनुभव करना है कि एक गुप्त आत्मा एक दैवी सत्ता है, जिसके अंदर हम सब एक हैं और मानवता धरतीपर उसका सर्वोच्च आधार है तथा मानव-जाति एवं मानव-प्राणी ही वे साधन हैं, जिनके द्वारा वह इस जगत्‌में अपनेको क्रमशः अभिव्यक्त करेगी। इसका अर्थ इस ज्ञानके अनुसार अपने जीवनको ढालना और परमात्माके राज्यको पृथ्वीपर लानेका अधिकाधिक प्रयत्न करना है। हमारे अन्तरमें इसके विकाससे अपने सजातीय प्राणियोंके प्रति ऐक्य वा अभिन्नताकी भावना हमारे सम्पूर्ण जीवनका प्रधान सिद्धान्त बन जायगी—केवल सहयोगका सिद्धान्त नहीं वरं एक गहनतर भ्रातृत्व, ऐक्य एवं समत्वकी तथा व्यापक जीवनकी एक वास्तविक एवं आन्तरिक भावना। व्यक्तिको यह अनुभव करना ही चाहिये कि केवल अपने साथी मानवोंके जीवनमें ही उसके जीवनकी पूर्णता है। दूसरी ओर मानव-जातिको अनुभव करना होगा कि व्यक्तिके स्वतन्त्र एवं पूर्ण जीवनमें ही उसकी पूर्णता तथा स्थायी सुखकी स्थापना की जा सकती है। इस धर्मके अनुसार संयम-नियम तथा मुक्तिका एक मार्ग भी होना ही चाहिये। तात्पर्य यह कि एक ऐसी पद्धति होनी चाहिये, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर इसे विकसित कर सके और अन्ततोगत्वा वह जातिके जीवनमें भी विकसित हो सके।'

इस ऐक्यकी बुद्धिगत धारणा, यहाँतक कि दार्शनिक धारणा भी पर्याप्त नहीं है। एक मानसिक एवं आध्यात्मिक साधक-प्रणाली भी इसके साथ होनी चाहिये। इसीको भारतमें योग कहा जाता है, जिसके द्वारा इस आध्यात्मिक सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है कि प्रत्येक प्राणीमें ईश्वर है और सब प्राणी ईश्वरमें स्थित हैं और सभी ईश्वर हैं। केवल उपकारके कार्य या दीनोंको भूमि एवं सम्पत्तिका दान करनेसे यह सत्यानुभूति नहीं आयेगी, न आवश्यक हृदय-परिवर्तन होगा; इनसे तो सम्भव है उलटे हमारे अन्तरके क्षुद्र अहंकारकी वृद्धि हो और हम ईश्वर-साक्षात्कारसे और दूर भटक जा सकते हैं। ये सब कार्य ईश्वरकी उपासना और त्यागकी सच्ची भावनासे युक्त होने चाहिये, अर्थात् उस कर्मयोगके रूपमें, जिसकी शिक्षा गीतासे अच्छे रूपमें अन्यत्र नहीं मिल सकती। भगवान् गीतामें कहते हैं—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'हे कौन्तेय! तुम जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो भी दो, जो भी तप करो—सब मुझे अर्पण कर दो।' यदि हमारे सार्वजनिक कौटुम्बिक जीवनके विविध क्षेत्रोंमें काम करनेवाले स्त्री-पुरुष—सारे शिक्षक, राजकीय और सैनिक विभागोंके कर्मचारी, सभी व्यापारी तथा कारखानों, खानों तथा खेतोंमें काम करनेवाले श्रमिक अपना-अपना काम रुपया कमाने या किसी संकुचित स्वार्थकी पूर्तिकी भावनासे न करें वरं सर्वत्र और सब प्राणियोंमें अवस्थित ईश्वरकी उपासनाके रूपमें करें तो सम्पूर्ण वातावरण बदल जायगा और सम्पूर्ण भ्रष्टाचार उसी प्रकार तिरोहित हो जायगा, जैसे प्रकाशके सम्मुख अन्धकार विलुप्त हो जाता है तथा सम्पूर्ण राष्ट्र ईश्वरीय चेतनाकी ओर तेजीसे आगे बढ़ जायगा जिससे इस धरतीपर एक दैवी मानवताकी सृष्टि होगी। इसलिये गीताको मानवताके आध्यात्मिक धर्मशास्त्रके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। 'आध्यात्मिक अभिन्नता एक ऐसी मनोवैज्ञानिक अभिन्नता उत्पन्न करेगी, जो किसी बौद्धिक वा बाह्य सारूप्यपर आश्रित नहीं होगी और बलात् जीवनकी उस अभिन्नताको लायेगी, जो ऐक्यके बाह्य साधनोंसे सम्बद्ध न होगी बल्कि एक मुक्त आन्तरिक सृजन तथा एक स्वतन्त्र विविध बाह्य आत्माभिव्यक्तिसे अपने सुरक्षित ऐक्यको समृद्ध करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहेगी। यह एक उच्चतर मानव-जीवनकी आधार-शिला होगी।'

मानवताका धर्म

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र एम्० ए०)

'मानवधर्म' शब्दसे तो हम परिचित हैं, पर इधर दो-तीन सौ वर्षोंसे एक 'मानवताका धर्म' (Religion of Humanity) भी प्रचलित है। इसका सूत्रपात ईसासे सैकड़ों वर्ष पूर्व प्राचीन यूनानी दार्शनिकोंमें ही हो चुका था। इसके अनुसार मानव-अनुभूतिका विवेचन ही समस्त दर्शनोंका लक्ष्य है। बौद्धिक जगत्का केन्द्र मनुष्य ही है। यूनानी दार्शनिक पीथागोरसका कहना है कि 'समस्त वस्तुओंका मापदण्ड मनुष्य ही है।' यह विचारधारा 'मानववाद' (Humanism) के नामसे प्रसिद्ध हुई और इसे 'कोरी कल्पनाओंके विरुद्ध मानवी-विद्रोह' बतलाया गया। इस सम्बन्धमें कितने ही विद्वान् समय-समयपर अपने मत प्रकट करते रहे। फ्रांसमें राजक्रान्तिके कुछ ही दिनों पूर्व जो विचारधारा चली, उसमें 'मानवता' पर अधिक जोर दिया जाने लगा। वाल्टेयरका कहना था कि 'बिना मानवताके, जिसमें सभी सद्गुण आ जाते हैं, 'दार्शनिक' नामका कुछ अर्थ ही नहीं।' प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्त कोन्तने, जिसकी मृत्यु १८५६ में हुई, इसे 'धर्म' का रूप दे दिया।

अपने 'Positive Philosophy' और 'Positive Polity' नामक ग्रन्थोंमें उसने इस 'मानवताके धर्म' का पूर्णरूपसे विवेचन किया। वह लिखता है कि 'सृष्टिका मूलतत्त्व खोजते रहनेसे कुछ लाभ नहीं; वह तो अगम्य है, उसे समझ लेना कभी भी सम्भव नहीं। इसलिये उसकी कल्पित नींवपर किसी शास्त्रकी इमारत खड़ा करना भूल है।' इतिहासके अध्ययनसे उसे मानव-विकासकी तीन अवस्थाएँ या विचारकी तीन सीढ़ियाँ दृष्टिगोचर हुईं। वह लिखता है कि 'असभ्य तथा जंगली मनुष्यने पहले-पहल जब पेड़, बादल, ज्वालामुखी पर्वत आदि देखे, तब उसने अपने भोलेपनमें इन सबको देवता ही मान लिया।' कोन्त इसे 'Theological' विचार कहता है। बादमें मनुष्यको इस कल्पनासे संतोष न हुआ और वह समझने लगा कि इन सब पदार्थोंमें कोई-न-कोई अव्यक्त तत्त्व है। कोन्त इसे 'Metaphysical' विचार कहता है और इसे मानवीय ज्ञानकी दूसरी सीढ़ी मानता है। परंतु जब सृष्टिका विचार इस रीतिसे भी करनेपर प्रत्यक्ष उपयोगी ज्ञानकी कुछ वृद्धि न हो सकी, तब अन्तमें मनुष्य पदार्थोंके दृश्य गुण-धर्मोंका ही चिन्तन करने लगा। इससे उसने रेल-तार-सरीखे कितने ही मानवोपयोगी साधन ढूँढ़ निकाले और उनके द्वारा बाह्य सृष्टिपर अपना प्रभाव जमा लिया। इसे कोन्तने 'Positive' विचार बतलाया है। उसके मतानुसार विषयके विवेचनके लिये इससे बढ़कर कोई दूसरी पद्धति नहीं। इसी दृष्टिसे उसने समाजका अध्ययन करके 'समाजशास्त्र', (Sociology) की रचना की और वह इस निर्णयपर पहुँचा कि समस्त मानव-जातिपर प्रेम रखकर उसके कल्याणके लिये सदैव प्रयत्न करना ही मनुष्यका परम धर्म है।

कोन्तको इतनेसे ही संतोष न हुआ, उसने ईश्वरके सिंहासनपर 'मानवता' को बिठला दिया और ईश्वरीय उपासना-व्यवस्थाके सदृश ही 'मानवता-उपासना-पद्धति' भी बना डाली। इस उपासनाके लिये नये प्रकारके गिरजाघर, नये ढंगकी सामूहिक प्रार्थना और नये विचारवाले पादरियोंकी व्यवस्था की गयी। कोन्तके मतानुसार 'मानवता' एक सजीव सनातन शक्ति है; जैसे मनुष्यका शरीर असंख्य परमाणुओंसे बना हुआ है, वैसे ही 'मानवता' भी आदिकालसे लेकर अबतक मनुष्योंके कार्योंके प्रभाव तथा उनके विचारोंका मिश्रित परिणाम है। 'धर्म और दर्शन' उसी उन्नति या विकासके इतिहास हैं। वह लिखता है कि जब हमारी समझमें यह आ जायगा और उसपर हमारा विश्वास हो जायगा, तब हमारा ज्ञान उस मानवताको जाननेके लिये, हमारा प्रेम उसके प्रति स्नेह करनेके लिये और हमारे समस्त कार्य उसकी सेवाके लिये होंगे। परंतु इस निराकार मानवताका भान होना साधारण व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं, इसलिये साकार मनुष्यमें ही उसका दर्शन और पूजन करना चाहिये। इस तरह संसारमें जो कुछ है, वह सब मनुष्यके लिये ही है। यह बात कोन्तके दिमागमें इतनी घुसी हुई थी कि उसकी रायमें 'ज्ञान केवल ज्ञानके लिये'—इसका कुछ अर्थ ही नहीं; अपितु समस्त ज्ञान 'मानवोपयोगी' साधन ढूँढ़ निकालनेके लिये ही होना चाहिये। वह लिखता है कि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रसमूहोंसे पूर्ण नभोमण्डलसे ईश्वरकी उतनी प्रतिभा नहीं, जितनी कि न्यूटन, कैपलर-सरीखे वैज्ञानिकोंकी, जिन्होंने उसे मनुष्यके उपयोगमें लाना सम्भव कर दिया।

इस विचारधाराके साथ कोन्तका 'धार्मिक आडम्बर' लोगोंकी समझमें न आया। इसलिये उसका नाम 'Humanitarianism' अर्थात् 'मानवतावाद' पड़ा। उसकी इस विचार-

धारासे अंग्रेज विद्वान् भी प्रभावित हुए और मिल्के 'Utilitarianism' (उपयोगितावाद) का जन्म हुआ। इसका अर्थ है 'अधिक-से-अधिक मनुष्योंका अधिक-से-अधिक सुख'; यही वह कसौटी है, जिससे किसी कार्यके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय हो सकता है। आजकलके जितने भी 'वाद' हैं, सब इसीके रूपान्तर हैं। 'मनुष्यका सुख'—सबका लक्ष्य यही है। इस धर्ममें ईश्वरके लिये स्थान नहीं; जो कुछ है, सब मनुष्यके ही लिये। जर्मनीके दार्शनिक नीत्शेने तो यहाँतक कह डाला कि 'उन्नीसवीं शताब्दीमें ईश्वर मर गया, अब अध्यात्मवादका थोथा झगड़ा है।'

मनुष्य इस शास्त्रका आधार है; परंतु इसमें यह कहीं नहीं बतलाया गया कि वह है क्या। यदि वह केवल परमाणुओंका ही एक पुतला है या उससे भी कुछ आगे बढ़कर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका संघातमात्र है तो यह शास्त्र समझमें आ सकता है। पर यदि वह इससे भी कुछ भिन्न है तो इस शास्त्रकी सारी इमारत ढह पड़ती है। दूसरी बात यह है कि 'मनुष्यका वास्तविक सुख किसमें माना जाय—क्या इन्द्रियजन्य सुख ही सुख है या वह इससे कुछ और बढ़कर भी है? मानवतावादियोंने भी 'मानसिक सुख' माना है, पर सुखकी अन्तिम सीमा क्या वहीं तक है? इन बातोंकी ओर ध्यान न देनेका फल यह हुआ कि 'मानवतावाद' की एक भ्रान्त धारणा पश्चिममें चल पड़ी। जब अधिक-से-अधिक मनुष्योंके लिये अधिक-से-अधिक वैषयिक सुख ही लक्ष्य है, तब फिर संघर्ष अवश्यम्भावी है। यूरोपके गत दो महायुद्धोंमें इसका विरूप भी देखनेमें आया। कोन्तने जिस 'मानवता' को ईश्वरके सिंहासनपर बिठलाया था, उसके पूजनमें नर-रक्तसे उसका अभिषेक हुआ, बमके फूल चढ़ाये गये, नर-मांसका भोग लगाया गया और यह सब हुआ उसके साकार-सगुणस्वरूप मनुष्यके कल्याणके लिये। आज भी उस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये शस्त्रीकरणकी होड़ लगी हुई है और ऐटम बम, हाइड्रोजन बम-जैसे एक-से-एक बढ़कर संहारक शस्त्रोंका निर्माण हो रहा है।

इससे यह अभिप्राय नहीं कि मानवतावादियोंका ऐसा कोई उद्देश्य रहा हो। वे हृदयसे मानव-जातिका कल्याण चाहते थे और अपनी समझके अनुसार उन्होंने उसके साधन भी बतलाये; पर भ्रान्ति रही उनके विचारोंमें, फलतः उन विचारोंका परिणाम भी उलटा ही हुआ। कोन्तने विचारोंकी जो तीन श्रेणियाँ बतलायी हैं, वे हमारे लिये कोई नयी नहीं। 'Theological' के लिये 'आधिदैविक' 'Metaphysical' के लिये 'आध्यात्मिक' और 'Positive' के लिये 'आधिभौतिक' —इन प्राचीन दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता है। पर इन शब्दोंका अर्थ कोन्तके शब्दोंसे कहीं अधिक व्यापक है। उसने सबसे अधिक महत्त्व 'आधिभौतिक' विचारको दिया, जिसके स्पष्टीकरणसे उसे आधुनिक अर्थमें 'वैज्ञानिक' कहा जा सकता है। परंतु अपने यहाँ प्राधान्य है—'आध्यात्मिक' का, जिसे कोन्तने गौण बना दिया है। 'मानवतावादियोंने' भौतिक आधारपर अपने सिद्धान्त स्थिर किये, पर उसकी असंगतियों-की कमी उनको भी खटकी। उन्हें दूर करनेके लिये 'मानवता-वादियों' ने किसी तरह अपने मनका संतोष कर लिया; पर इतने मात्रसे उसका जो अनिवार्य परिणाम था, वह नहीं रुक सका। कोन्तको ही कोई-न-कोई 'अव्यक्त तत्त्व' मानना पड़ा। इतना ही नहीं, वैज्ञानिक पद्धतिका विवेचन करते हुए उसे लिखना पड़ा कि 'विश्वकी वर्तमान अशान्तिका मुख्य कारण यह है कि किसी मूल सिद्धान्तपर सब लोग एक-मत नहीं हैं। जबतक वे मूलभूत सिद्धान्तपर सहमत नहीं होते, राष्ट्र क्रान्तिकी स्थितिमें बने रहेंगे और राजनीतिक दवाइयाँ कारगर न होंगी। यद्यपि वैज्ञानिक या भौतिक सिद्धान्तको मूलभूत बतलाया गया; पर सबमें वह लागू हो जायगा, यह समझ लेना ठीक न होगा। मेरा यह व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास है कि किसी एक सिद्धान्तके आधारपर समस्त विश्वकी समस्याके समाधानका प्रयत्न बहुत ही भ्रामक है, चाहे वह योग्य विद्वानोंद्वारा ही क्यों न किया गया हो। मेरा विश्वास है कि मानव-बुद्धिका क्षेत्र बहुत संकुचित है और विश्व अत्यन्त ही जटिल है। वैज्ञानिक पूर्णतया कभी उसका पूरा समाधान कर सकेगी, यह कहना बहुत कठिन है। उस ओर प्रयत्न अवश्य आरम्भ हो गया; पर मानव-ज्ञानकी वर्तमान स्थितिमें हम उस समयसे बहुत दूर हैं, जब ऐसे प्रयत्नकी सफलताकी आशा की जा सकती है।' क्या इन वाक्योंमें उसका यह भाव नहीं छिपा है कि वैज्ञानिक साधनोंद्वारा विश्वका रहस्य समझना दूरकी बात है।

'अधिकांश लोगोंका अधिक सुख'वाले आधिभौतिक सिद्धान्तमें सबसे भारी दोष यह है कि उसमें 'कर्ताकी बुद्धि' या भावका कुछ विचार ही नहीं किया जाता। मिल साहबके लेखसे ही स्पष्ट हो जाता है कि 'उसकी युक्ति सच मानकर भी इस तत्त्वका उपयोग सब स्थानोंपर एक समान नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह केवल बाह्य फलके अनुसार नीतिका

निर्णय करता है। पर 'मिल' ने अपने सिद्धान्तको इन दोषोंसे मुक्त करनेका कोई गम्भीर प्रयत्न न करके केवल लीपा-पोतीसे काम लिया। वह लिखता है कि जबतक बाह्य कर्मोंमें कोई भेद नहीं होता, तबतक कर्मकी नीतिमत्तामें कुछ अन्तर नहीं हो सकता, चाहे कर्ताके मनमें वह काम करनेकी वासना किसी भी भावसे हुई हो। इसे उसके अपने मतका आग्रह-मात्र ही कहा जा सकता है। ['ईश्वरको मरा हुआ' मानते हुए भी नीत्शेको अपने ग्रन्थोंमें आधिभौतिक दृष्टिसे कर्मविपाक तथा पुनर्जन्म स्वीकार करना पड़ा। वह लिखता है कि काम ऐसा करना चाहिये कि जो जन्म-जन्मान्तरोंमें भी किया जा सके और समाजकी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि जिससे भविष्यमें ऐसे मनुष्य-प्राणी पैदा हों, जिनकी सब मनोवृत्तियाँ अत्यन्त विकसित होकर पूर्णावस्थामें पहुच जायँ।] इस 'महामानव' (Superman) का निर्माण ही मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य और परम साध्य होना चाहिये; पर भौतिकवाद-के आधारपर क्या कभी 'पुनर्जन्म' और 'कर्मविपाक' सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी नीत्शे-जैसे विद्वानोंने इसपर गम्भीर विचार करनेका अपने दिमागको कष्ट ही नहीं दिया।

पाश्चात्त्य 'मानववाद' का प्रभाव अपने यहाँके भी शिक्षित समाजपर पूर्णरूपसे पड़ा है। कल्याणकारी सरकारकी कल्पना-का, जिसकी आजकल बहुत चर्चा चल रही है, आधार बहुत कुछ 'पाश्चात्त्य मानववाद' ही है। इतना ही नहीं, अपने यहाँ तो 'नव-मानववाद' भी चल पड़ा है, जिसके प्रवर्तक थे स्वर्गीय श्रीमानवेन्द्रनाथ राय। पहले वे पक्के मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट थे, पर बादमें उनके विचार बदल गये। उनका कहना है कि "यूरोपमें जब आध्यात्मिकताके नामपर होनेवाले अत्याचारोंका विरोध किया गया, तभीसे 'मानववाद' का अङ्कुर स्पष्टरूपसे उत्पन्न हुआ; किंतु उस समय लोग किसी परामानवी सत्ताके भावसे मुक्त न हो सके, पूर्ण स्वतन्त्रताके अस्तित्वका बोध उन्हें न हो सका। आज भी बहुत-से लोग कहते हैं कि यदि मध्ययुगकी धार्मिक भावनाओंका प्रचार किया जाय तो मनुष्य वर्तमान संकटसे बच सकता है; पर वे भूल जाते हैं कि संकटका मूल कारण मनुष्यमें दासताकी भावना है—चाहे वह किसी देव, नर-देव, दल-देव या किसीकी क्यों न हो। ईश्वरकी सत्ता माननेका अर्थ यही है कि मनुष्य एक दासके रूपमें उत्पन्न हुआ और दासके रूपमें ही मरेगा। ऐसा सोचनेसे उसका विकास या आत्मविश्वास पनप नहीं सकता। वह दूसरेपर निर्भर करेगा और उसके सामने संकट-पर-संकट आते जायँगे। अतः नव-मानववादका प्रमुख उद्देश्य है—मनुष्यको इस कुसंस्कारसे मुक्त करना कि उसपर किसी अदृश्य शक्तिका नियन्त्रण है। नव-मानववाद चाहता है कि मानव-स्वभावका वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय और उसके आधारपर उसका विश्लेषण एवं मनुष्यका मनुष्यके साथ तथा भूत-जगत्‌के साथ सम्बन्धोंका निर्धारण हो।" अतः श्रीरायके मतसे ऐसे लोगोंकी आवश्यकता है, जो उक्त विषयका अनुभव करें और प्रत्येक व्यक्तिको उसके कुसंस्कारों-से मुक्तकर उसकी अपनी शक्तिसे उसे परिचित करायें। मनुष्यके चारों ओर जो भौतिक तत्त्व हैं, उन्हींकी वह उपज है। यदि पहले व्यक्ति ठीक हो जायँ तो फिर समाज भी आप ही सुधर जायगा। उनके इन विचारोंमें नीत्शेके 'महामानव' की झलक देख पड़ती है। पर उसके निर्माणके लिये नीत्शेको 'पुनर्जन्म' और 'कर्मफल' में विश्वास करना पड़ा; किंतु श्रीराय इसका एक वैज्ञानिक उपाय बतला देते हैं। उनका कहना है कि भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रोंमें अनुसंधान करनेके पश्चात् वैज्ञानिकोंका ध्यान मानव-स्वभावके क्षेत्रकी ओर आकृष्ट हुआ; अनुसंधानसे पता चला कि संवेदन या भावविकासके कारण आध्यात्मिक या प्राकृतिकसे परे नहीं, भौतिक शरीरकी कुछ सूक्ष्म ग्रन्थियाँ, (Glands) कृत्रिमरूपसे संचालित कर देनेपर भाव-विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतना भी भौतिक तत्त्वोंकी ही उपज है। वैज्ञानिक अनुसंधानसे भविष्यमें मनुष्य तथा मनुष्यके बीच सम्बन्ध भी निर्धारित किये जा सकते हैं। इसका सीधा अर्थ तो यही हुआ कि वैज्ञानिक चीर-फाड़से मनुष्यको 'महामानव' बनाया जा सकता है। श्रीरायने इसपर बहुत जोर दिया है कि 'मनुष्यको अपने-आपको पहचानना चाहिये।' यह तो अपने यहाँका पुराना सिद्धान्त है। पर जो सिद्धान्त और प्रक्रिया श्रीरायने बतलायी है, उसमें मनुष्य अपने-आप-को क्या पहचानेगा ? उसमें व्यक्तित्व नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। यदि श्रीरायके मतानुसार व्यक्ति यह मान ले कि 'मैं भौतिक तत्त्वोंकी ही उपज हूँ,' तो उसमें उनसे स्वतन्त्र वस्तु ही क्या रही, जिसमें वह अपने-आपका अनुभव कर सके ? फिर तो वह उन भौतिक तत्त्वोंका ही खेल हो गया, जिनपर उसका कोई अधिकार नहीं। यह उसकी स्वतन्त्रता हुई या परतन्त्रताकी पराकाष्ठा ?

यूरोपमें कैंट, हेगल, शोपेनहर, ग्रीन्ज आदि विद्वानोंने भौतिकतापर आधृत 'मानवतावाद'के विरुद्ध आवाज उठायी, पर बोलबाला रहा उसीका। अपने यहाँ भी मनुष्यको प्राणियों-में सर्वश्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि उसमें बुद्धि और विवेक है।

चौरासी लक्ष योनियोंके पश्चात् कहीं मानव-शरीर प्राप्त होता है; पर मनुष्य ही सब कुछ है, ऐसा अपने यहाँ कहीं भी नहीं कहा गया। कोन्तने तो केवल मनुष्यको ही ईश्वर माना है; पर हमारे यहाँ सभी कुछ ईश्वर ही है, उसके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं। मानवताका आधार भौतिक या आध्यात्मिक मान लेनेमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। एक उदाहरणद्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। इंगलैंडमें हाब्स और फ्रांसमें हेलवेशियस आदिने सब कार्योंको स्वार्थमूलक बतलाया है। उनका कहना है कि परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मित्रता आदि जो गुण लोगोंके सुखके लिये आवश्यक जान पड़ते हैं, वे सब यदि उनका मूल-स्वरूप देखा जाय तो अपने ही दुःख-निवारणार्थ हैं। कोई किसीकी सहायता करता है या किसीको दान देता है, क्यों ? इसीलिये न कि 'जब हमपर भी आ बीतेगी, तब वे हमारी सहायता करेंगे। हम अन्य लोगोंको इसलिये प्यार रखते हैं कि वे हमें भी प्यार करें; और कुछ नहीं तो हमारे मनमें अच्छा कहलानेका स्वार्थमूलक हेतु अवश्य रहता है। 'परोपकार' और 'परार्थ' दोनों शब्द केवल भ्रान्तिमूलक है। यदि कुछ सच्चा है तो 'स्वार्थ'; और स्वार्थ कहते हैं अपने लिये सुख-प्राप्ति या अपने दुःख-निवारणको। माता बच्चेको दूध पिलाती है; इसका यह कारण नहीं कि वह बच्चेसे प्रेम करती है; सच्चा कारण तो यही है कि उसके स्तनोंमें दूध भर जानेसे उसे जो कष्ट होता है, उसे कम करनेके लिये अथवा भविष्यमें यह लड़का मुझे प्यार करके सुख देगा—इस स्वार्थ-सिद्धिके लिये ही वह बच्चेको दूध पिलाती है।

इसके साथ बृहदारण्यकोपनिषद्में दिये हुए याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयीके संवादकी तुलना कीजिये। मैत्रेयी पूछती है—'हम अमर कैसे ?' याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—'हे मैत्रेयी ! स्त्री अपने पतिको पतिके ही लिये नहीं चाहती किंतु वह अपने आत्माके लिये उसे चाहती है। इस तरह हम अपने पुत्रपर उसके हितार्थ प्रेम नहीं करते, किंतु हम स्वयं अपने लिये ही उसके साथ प्रेम करते हैं। द्रव्य, पशु और अन्य वस्तुओंके लिये भी यही न्याय उपयुक्त है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।' अपने आत्माके प्रीत्यर्थ ही सब पदार्थ हमें प्रिय लगते हैं। यदि इस तरह सब प्रेम आत्ममूलक है तो क्या हमको सबसे पहले यह जाननेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये कि आत्मा क्या है। यह कहकर याज्ञवल्क्य उपदेश देते हैं—सबसे पहले यह देखो कि आत्मा कौन है; फिर उसके विषयमें सुनो और उसका मनन तथा ध्यान करो। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' इस उपदेशके अनुसार एक बार आत्माके सच्चे स्वरूपकी पहचान हो जानेपर सब जगत् आत्ममय दीख पड़ने लगता है और स्वार्थ तथा परार्थके भेदका टंटा ही टूट जाता है। याज्ञवल्क्यका यह युक्तिवाद देखनेमें तो हाब्सके मतानुसार ही है। पर दोनोंसे निकाले गये अनुमानोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। हाब्स स्वार्थको ही प्रधान मानता है और सब पदार्थोंको दूरदर्शी स्वार्थका ही रूप मानकर कहता है कि इस संसारमें स्वार्थके सिवा और कुछ नहीं है। याज्ञवल्क्य 'स्वार्थ' शब्दके 'स्व' (अपना) पदके आधारपर दिखलाते हैं कि 'अध्यात्म-दृष्टिसे अपने एक आत्मामें ही सब प्राणियोंका और सब प्राणियोंमें ही अपने आत्माका अविरोधभावसे समावेश कैसे होता है।' यह दिखलाकर उन्होंने स्वार्थ और परार्थमें दीखनेवाले द्वैतके झगड़ेकी जड़ ही काट दी। इस तरह मानवताका आधार भौतिक या आध्यात्मिक माननेमें कितना अन्तर पड़ जाता है। यह बात अवश्य है कि बादके पाश्चात्य विद्वानोंको हाब्स और हेलवेशियसका स्वार्थवाद मान्य न हुआ और वे 'अधिकांश लोगोंके अधिक सुख'की बात करने लग गये। पर यदि गम्भीरतापूर्वक उनके विचारोंका विश्लेषण किया जाय तो उनका पर्यवसान भौतिकवादमें ही होता है।

दृश्य-सृष्टिका कितना ही विचार क्यों न किया जाय, पर जबतक यह बात ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो जाती कि इस सृष्टिका देखनेवाला और कर्म करनेवाला कौन है, तबतक तात्त्विक दृष्टिसे इस विषयका भी विचार पूरा नहीं हो सकता कि इस संसारमें मनुष्यका परम साध्य, श्रेष्ठ कर्तव्य या अन्तिम ध्येय क्या है। दृश्य-जगत्की परीक्षा करनेसे यदि परोपकार-सरीखे तत्त्व ही अन्तमें निष्पन्न होते हैं तो इससे आत्मविद्याका महत्त्व कम तो होता नहीं, किंतु उल्टा उससे सब प्राणियोंमें एक ही आत्मा होनेका एक और प्रमाण मिल जाता है। इसके लिये तो कुछ उपाय ही नहीं कि आधिभौतिकवादी अपनी बनायी हुई मर्यादासे स्वयं बाहर नहीं जा सकते; परंतु हमारे शास्त्रकारोंकी दृष्टि इस संकुचित मर्यादाके परे पहुँच गयी। उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिसे ही सब बातोंपर विचार किया है। पाश्चात्त्य 'मानववाद' की चकाचौंधमें हमें यह तथ्य नहीं भूलना चाहिये। भौतिकतापर आधृत 'मानववाद' माननेसे अन्ततः उसका परिणाम कल्याणकारी नहीं हो सकता।

संत-स्वभाव

श्रीगोविन्दाचार्य

श्रीगोविन्दाचार्य वेङ्कटाचलमें अपने मामा श्रीशैलपूर्ण-स्वामीके आश्रममें रहते थे। ये श्रीरामानुजाचार्यके मौसेरे भाई थे। एक दिन श्रीरामानुजने दूरसे देखा—गोविन्दाचार्य एक विषधर सर्पको पकड़े उसके मुखमें अपनी अङ्गुली डाले हुए हैं। कुछ ही क्षणों बाद उन्होंने जल्दीसे अङ्गुली निकाल ली और साँपको छोड़ दिया। साँप मरा-सा होकर पड़ रहा। इस भीषण दृश्यको देखकर श्रीरामानुजने उनके पास आकर पूछा—'तुमने यह भयानक कार्य क्यों किया? भगवान्‌ने ही रक्षा की—इतना विषैला सर्प जरा भी डँस लिया होता तो प्राण नहीं बचते। फिर तुम्हारे अङ्गुली डालनेसे इसको कष्ट हुआ होगा। तुम-सरीखे दयालु पुरुष किसी जीवको कष्ट पहुँचावें, यह भी तो उचित नहीं है।' बड़े भाई श्रीरामानुजकी बात सुनकर गोविन्दने विनीतभावसे कहा—'भाई! किसी कँटीली चीजको गलेमें उतारते समय एक काँटा इस साँपके गलेमें विंध गया और उसकी भयानक पीड़ासे यह छटपटा रहा था। इसके उस कष्टको देखकर मुझसे नहीं रहा गया और मैंने तुरंत इसके मुखमें अंगुली डालकर उस काँटेको निकाल दिया। तकलीफके कारण यह शिथिल हुआ पड़ा है, अभी ठीक होकर चला जायगा।' गोविन्दकी इस अलौकिक बातको सुनकर और जीवके दुःखसे उनके मनमें आयी हुई करुणाकी पराकाष्ठाको देखकर श्रीरामानुज विस्मित और मुग्ध हो गये तथा अत्यन्त प्रेमसे गोविन्दको हृदयसे लगाकर भुजपाशमें बाँध लिया। जीवदयाका यह कितना अद्भुत प्रसंग है।

संत और बिच्छू

'निस्संदेह धारा वेगवती होती जा रही है, यह साधारण जीव इसके साथ बहकर प्राणसे हाथ धो बैठेगा।' नदीमें स्नान करते समय संतने बिच्छूकी दशापर विचार किया, उसे संकटमें देखकर उनका धैर्य छूट गया, दयामय आगे बढ़ गये उसे बचानेके लिये, इधर धारा तेज हो रही थी, उनके ही प्राण जानेकी आशङ्का थी। उन्होंने बिच्छूको हाथमें उठा लिया।

'यह क्या! इसने तो मुझे ही काट खाया।' संतके हाथमें पीड़ा थी, जहर चढ़ रहा था। हाथ हिला—बिच्छू बह चला धाराकी तूफानी गतिमें। संतसे उसका कष्ट न देखा गया। उठा लिया उन्होंने फिर उसे हाथमें। उसको बचानेकी भावनामें उन्हें अपनी पीड़ाका ज्ञान ही नहीं रह गया। बिच्छूने फिर काटा और तीसरी बार वह धारामें फिर बहने लगा।

'यह तो अपनी दुष्टता ही नहीं छोड़ रहा है; आप इसके प्राणकी रक्षा करना चाहते हैं और यह ऐसा है कि आपही पर उतर आया है। इसे मरने दीजिये न। इस जहरीले जीवकी यही दवा है।' नदी-तटपर खड़े एक व्यक्तिने संतसे प्रार्थना की। उनके रोम-रोम उस असहाय जीवकी प्राणरक्षाके लिये रो उठे, हृदयमें दयाका सागर उमड़ पड़ा। वे रोमाञ्चित हो उठे।

'भाई! बिच्छू अपनी दुष्टताका स्वभाव नहीं छोड़ना चाहता है तो मैं अपनी दयाका स्वभाव किस प्रकार छोड़ दूँ, मुझे भी इसीकी तरह अपनी सद्वृत्तिपर अटल रहना चाहिये।' दयामय संतका निष्कपट सहज उत्तर था।

संत एकनाथकी क्षमाशीलता

पैठणकी पुण्यभूमिसे विचुम्बित भगवती गोदावरीमें स्नानकर श्रीएकनाथ महाराज अपने निवासकी ओर जा ही रहे थे कि विशाल वृक्षकी डालीसे उनपर किसीने कुल्ला कर दिया। महाराज परम शान्त थे। वे गोदावरीके पुण्य स्नान और दर्शनसे अपने आपको पवित्र करने चल पड़े। महाराज पुनः स्नानकर लौट रहे थे कि उसी व्यक्तिने अपनी कुकीर्ति दोहरायी। इस प्रकार महाराजने एक सौ आठ स्नान किये एक दिनमें और उसने एक सौ आठ कुल्ले किये। महाराज अपनी शुभवृत्ति और क्षमा-भावनापर अटल थे, इधर वह व्यक्ति अपनी कुत्सित मनोवृत्ति और उच्छृङ्खलताका परिचय देता जा रहा था। आखिर थककर नीचे उतर आया और प्रार्थना करने लगा—

'महाराज! मुझे क्षमा कीजिये। मेरे जैसे पतितके लिये नरकमें भी स्थान नहीं है। मैं नित्य आपपर स्नान करनेके बाद कुल्ला किया करता था और आप शान्त रहते थे। आज तो मैंने अपनी दुष्टताकी सीमा ही तोड़ दी, पर आपका मन मेरी ओरसे तनिक भी विकृत न हो सका। मैं आपके चरणपर नत होकर अपनी दुष्कृतिका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ।' यवनका रोम-रोम रो उठा। उस व्यक्तिने एक ही साँसमें सारे जीवनकी पाप-कथा सुनानी चाही। वह महाराजके चरणोंसे लिपट गया।

'तुम इतने चिन्तित क्यों हो, भाई! तुमने तो मेरे साथ उपकार ही किया। तुम्हारी कृपासे मेरे तनने एक सौ आठ बार गोदावरी माताके दर्शन और पुण्यस्नानका फल पाया है। तुम धन्य हो, कितना परोपकार है मुझपर तुम्हारा।' महाराजने उसके सिरपर हाथ रख दिया। संतके स्पर्शसे उसके तन-मन शीतल हो गये!

संतस्वभाव

गोविन्दाचार्य

क्षमाशील संत

एकनाथ

नामदेव

आदर्श क्षमा

संत ईसामसीह   संत सरमद
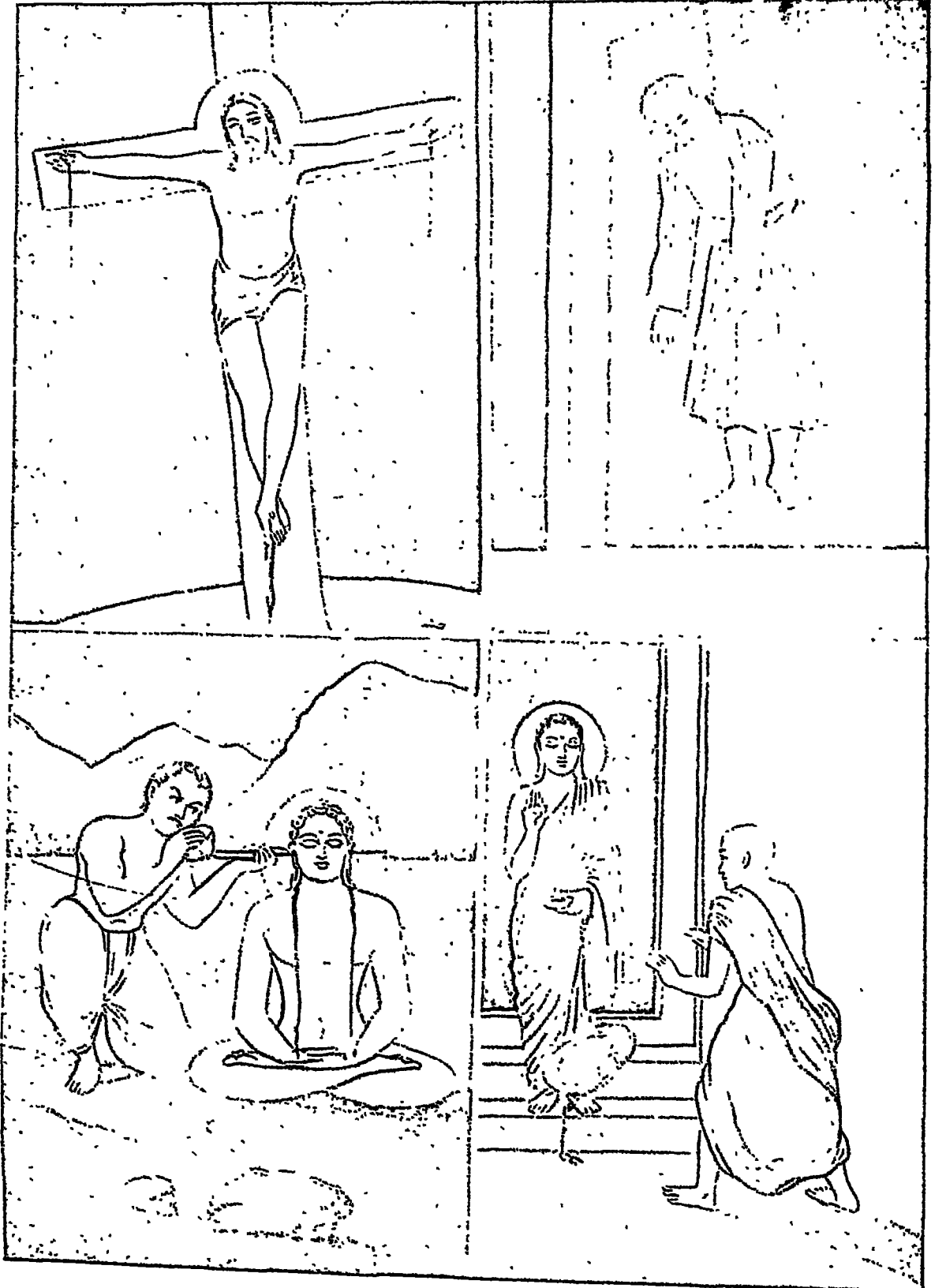
भगवान् महावीर   भगवान् बुद्ध

'मुझे, लज्जित न कीजिये, महाराज!' यवनने महाराजकी चरण-धूलि सिरपर चढ़ा ली।

बालक नामदेवकी आत्मपरीक्षा

'तुम्हारे पैरसे खून क्यों बह रहा है?' माताने अपने प्राणप्रिय पुत्रके हाथमें कुल्हाड़ी देखी। वे आश्चर्यचकित थीं।

'यह तो कुछ नहीं है, माँ! मैं तो यह देखना चाहता था कि पैरको कुल्हाड़ीसे छीलनेपर कितना दुःख होता है। उस दिन मैंने तुम्हारे कहनेसे पलाशके पेड़की छाल कुल्हाड़ीसे छीली थी न।' नामदेवका उत्तर सुनकर माँको याद आया कि मैंने काढ़ेके लिये छाल मँगायी थी नामदेवसे।

'तुमने यह ठीक नहीं किया बेटा! पैरका घाव बड़ा कष्ट देगा; तुमने जान-बूझकर अपने पैरमें कुल्हाड़ी मार ली। यह तो सड़ेगा, पकेगा।' माताका हृदय धक-धक कर रहा था।

'माँ, मैं तो यही समझना चाहता था कि जितना मुझे कष्ट हो रहा है, उतना ही कष्ट पलाशको भी हुआ होगा। उसमें भी तो जीव है न!' बालक नामदेवकी दया मुखरित हो उठी। माताने ममतासे बालकको प्यारसे देखा।

'तुम महान् संत होगे, नामा! निस्संदेह तुम्हारी ही तरह पेड़ और पशु-पक्षियोंमें भी प्राण हैं।' माँने अपने लालपर आशीषकी वर्षा की।

आदर्श क्षमा

क्रूसपर चढ़ाये जाते ईसामसीह

'प्रभो! वे नहीं जानते कि वे कर क्या रहे हैं। अज्ञानके अन्धकारमें भटक गये उन लोगोंको आप क्षमा कर दें!' जिन्होंने शूलीपर चढ़ाया था, उनके लिये ईसाने यह अन्तिम प्रार्थना की प्रभुसे।

ईसामसीहको शूली दी गयी—वे उससे बच सकते थे यदि अपने उपदेश बंद कर देते। यदि भगवान्‌की अपार दया एवं अहिंसाका समर्थन त्याग दिया होता उन्होंने; किंतु प्राणोंके मोहसे यह च्युति—यह भी क्या स्वीकार करने योग्य है। प्रभुका दिया शरीर—प्रभुके लिये अर्पित हो जाय, इतना महान् सौभाग्य छोड़ देते वे प्रभुके परम प्रिय पुत्र!

भगवान् बुद्ध

'वह अज्ञानी है। वह तुम्हारी दया और सहानुभूतिका पात्र है!' शिष्यवर्ग उत्तेजित थे—वे उसे दण्ड न देते; किंतु ऐसे अधमको अपने मध्य रखने—आश्रय देनेको तो वे सर्वथा प्रस्तुत नहीं थे।

ईर्ष्या क्या पाप नहीं कराती। बुद्धके एक शिष्यको अपने गुरुसे ही ईर्ष्या हो गयी। उसने एक शिला-खण्ड पटक दिया बुद्धके पैरोंपर—बहुत चोट आयी तथागतको, पर वे सहज स्थिर खड़े रहे। जब दूसरे शिष्योंको यह विदित हुआ—उनके रोषकी सीमा नहीं थी; किंतु भगवान् बुद्धकी क्षमा—उन्होंने सबको शान्त कर दिया! उनका स्नेह कोई अपराध देखता था?

तीर्थङ्कर महावीर

'आप मेरे बैलोंका तनिक ध्यान रखें, मैं घर हो आऊँ!' भोले किसानको क्या पता कि ध्यानस्थ महावीर स्वामीके श्रवणोंतक उसकी बात पहुँची ही नहीं। साधुने अस्वीकार नहीं किया, इसीको स्वीकृति समझकर जंगलमें अपने बैल चरते छोड़ वह घर चला गया।

'कहाँ गये मेरे बैल?' अरे, किसान लौटा तो बैल नदारद। महावीर स्वामीसे पूछने लगा तो वे मौन। इधर-उधर दौड़ा; किंतु बैल मिले नहीं। 'यही चोर है!' इस भावने उसे उत्तेजित कर दिया। गालियाँ दीं उसने, पीटा और अन्तमें एक नोकदार लकड़ी ठोंक दी महावीर स्वामीके कानमें। लकड़ी ठोंकता ही गया वह—तबतक, जबतक वह दूसरे कानसे बाहर निकल न आयी। रक्तकी धारा चल पड़ी।

'आप अनुमति दें! मेरा वज्र व्याकुल हो रहा है। मैं इस अधमको अभी भस्म कर दूँगा।' देवराज इन्द्र क्रोधावेशमें काँपते थरथर उतर आये; किंतु उन्हें लौटना पड़ा। तीर्थङ्कर महावीर शान्त थे। उन्होंने कहा—'क्रोध नहीं; क्षमा इस अपराधकी ओषधि है देवराज!'

मृत्युके क्षणमें सरमद

'सरमद काफिर है। वह अल्लाहको नहीं मानता।' औरंगजेबके लिये दाराशिकोहका गुरु, दिल्लीके मस्तोंका अग्रणी संत सरमद सरदर्द था; किंतु पहिली बार जब नंगे घूमनेके दोषमें सरमद पकड़ा गया, तब औरंगजेबका साहस नहीं हुआ उसे मार देनेका। किंतु इस बार मौलवी-मुल्लाओंका पक्ष प्रबल था। यह जन्मका यहूदी मुसल्मान हो गया। भारत आकर राम-लक्ष्मणका भक्त कहता है अपनेको और 'ला इलाही' इतना ही कलमा पढ़ता है। कत्लकी सजा मिली। सरमदने कहा—'मंसूरकी कहानी पुरानी पड़ गयी, मैं उसे ताजी कर रहा हूँ।' और जब जल्लाद आया, वह मस्त फकीर मुस्कराया—'दिलदार प्यारे! आ, तू चाहे जिस रूपमें आवे, मैं तुझे पहचानता हूँ।' उसने सिर नीचा कर दिया जल्लादके सामने!

मानवताका धर्म

(लेखक—प्रो० श्रीफ़ीरोज कावसजी दावर, एम्०ए०, एल्-एल्०बी०)

मानवता-धर्मका उद्देश्य है सद्भावना, दया, दान और स्नेहके द्वारा कल्याणकी प्राप्ति। यदि हम बाह्य आवरणोंको दूर कर दें तो सब धर्मोंमें यही सार मिलेगा। इसमें ईश्वर, देवता, स्वर्ग, नरक, परलोक आदि अतीन्द्रिय तत्त्वोंके प्रति विश्वासके लिये अवकाश नहीं है; तथापि पवित्रात्मा व्यक्तियोंके द्वारा किये हुए विश्वासोंका विरोध भी नहीं है। सब धर्मोंमें मानवता इस प्रकार अनुस्यूत है, जिस प्रकार सभी मिठाइयोंमें मिठास अथवा मालाके सभी मनकोंमें धागा। वास्तवमें यह सभी धर्मोंका समान तत्त्व है। मनुष्य किसी धार्मिक परम्पराका इतस्ततः उल्लङ्घन करनेपर भी नैतिक दृष्टिसे सुरक्षित ही रहेगा, यदि वह मानवता-धर्मका उत्साहपूर्वक पालन करता रहे। ऐसे व्यक्तिके आदर्शके सम्बन्धमें फ़ारसीके एक कविने कहा है—

> मय खुरो मसहफ़ वसूजो आतिश अंदर काबा जन।
> साकिने बुतख़ाना बाशो मर्दुम आज़ारी मकुन॥

'जी चाहे मदिराका पान करो, क़ुरानको जला डालो, काबामें भी आग लगा दो; जी चाहे किसी देव-मन्दिरमें रहो; किंतु मानवताको दुःख न दो।' इस प्रकार मानवता-धर्मका अन्तिम ध्येय है—सक्रिय परार्थ-भावना और सदाचार है उसकी प्राप्तिका उपाय।

मानवता-धर्मको अङ्गीकार करनेसे हम अपने निजी मतके विरोधी नहीं हो जाते। इसके विपरीत हम यह कह सकते हैं कि मत-विशेषके अनुयायी यदि मानवता-धर्मको सम्यक् अंगीकार कर लें तो वे अपने मतका और भी अच्छी तरह पालन कर सकते हैं। ईश्वर सबका पिता और मानव मानवका बन्धु—यह सिद्धान्त ही जिस मानवता-धर्मका मूल है; इसका पालन करनेवाला ईसाई अच्छा ईसाई बन सकता है। यदि कोई मुसल्मान मानवता-धर्मके द्वारा क़ुरान-प्रोक्त एकता और समताके आदर्शोंको हृदयङ्गम कर लेता है तो वह अच्छा मुसल्मान बन सकता है। जरथुस्त्रके अनुयायीका ध्येय है—निष्काम परार्थ भावना, जिसे मानवता-धर्म भी अपना लक्ष्य मानता है। हिंदूधर्म, बौद्धमत और जैनमत मानवता-धर्मका विरोध नहीं कर सकते; क्योंकि वे सभी प्रेम, करुणा और अहिंसापर आधारित हैं। रॉटरी क्लब-जैसी एक लौकिक संस्था भी, जो स्वार्थकी अपेक्षा सेवाको ही अधिक महत्त्व देती है, अन्ततोगत्वा मानवता-धर्मका ही पालन करती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मानवताका धर्म संघटक है, विघटक नहीं।

मानवता-धर्ममें वे आनुषङ्गिक आडंबर नहीं हैं, जो प्रायः बड़े-बड़े मतोंमें हुआ करते हैं। उसका अपना कोई प्रवर्तक नहीं है और न कोई विशेष प्रमाण-ग्रन्थ ही है, यद्यपि वह विश्वके सभी मत-प्रवर्त्तकों, संतों, आचार्यों और धर्म-ग्रन्थोंका सम्मान करता है। उसका कोई मन्दिर, पुरोहित और विधि-विधान नहीं है; क्योंकि वह किसी संस्था-विशेषका मत नहीं है। परंतु वह मन्दिर जानेवाले और पुरोहितोंद्वारा धार्मिक कृत्योंको करानेवाले किसी भी व्यक्तिका विरोध नहीं करता। जिन सिद्धान्तोंपर विश्वके सभी महान् धर्म आधारित हैं, उनके अतिरिक्त किसी भी रूढ़ि अथवा प्रथापर विश्वास करनेके लिये वह कभी किसीसे नहीं कहता। मानवताके धर्ममें सहिष्णुता इतनी गहरी है कि नास्तिक भी उसको अङ्गीकार कर सकता है और तदुक्त प्रेम और परार्थ-भावनाके नियमोंका अनुसरण कर सकता है। मानवता-धर्ममें वैराग्य और तपस्याका विधान नहीं है, किंतु सभी विरागियों और तपस्वियोंके भावानुकूल वैराग्यका अभ्यास किया जा सकता है और तपस्या भी की जा सकती है। मानवता-धर्म ज्ञान और भक्तिकी अपेक्षा निष्काम कर्मको अधिक महत्त्व देता है। मानवता-धर्मकी दृष्टिमें योग और ध्यान एवं भावसमाधि और अपवर्ग अगम्य हैं। मानवता-धर्म यद्यपि लक्ष्य और ध्येयकी दृष्टिसे अवम है, तथापि समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके वह सर्वथा अनुकूल है। यद्यपि इसका लक्ष्य परमोच्च नहीं है, तथापि यह मानवमात्रको सुख पहुँचानेके द्वारा आन्तरिक सुख और शान्ति-लाभके लिये प्रयत्नशील है।

जिन मतोंमें स्वमताग्रह और रूढ़ियोंकी प्रचुरता है, वे कभी-कभी भौतिक-विज्ञानके, प्रगतिके और ज्ञानप्रसारके विरोधी बन जाते हैं, किंतु मानवताके धर्ममें न कोई पंथ है, न प्रथा है; अतः वह समाजके कल्याणके लिये तर्क और विज्ञानकी सहायता लेनेमें स्वतन्त्र है।

प्रत्येक धर्मकी विकास-वेलामें हमें उसका प्रकाश अपने उत्तम और विशुद्धतम रूपमें मिलता है। जैसे-जैसे वह विधि-

विधान, कर्मकाण्ड, मताग्रह और रूढ़ियोंकी ओर बढ़ता है, उसका प्रकाश धूमिल पड़ने लगता है एवं दुराग्रह, मतान्धता और अन्धविश्वास तथा विरोधियोंके प्रति दमन-नीतिके आते ही वह बुझने लगता है। ऐसे समय किसी महान् आत्माका उदय होता है, जो अपने उपदेश और आचरणद्वारा धर्मकी सुलगती हुई अग्निको उस प्रदीप्त ज्योतिके रूपमें परिवर्तित कर देता है, जो आगामी संततियोंके पथका प्रदर्शन करती रहती है। किंतु मानवता-धर्ममें इस प्रकारकी म्लानता और पुनरुत्थानकी नौबत नहीं आने पाती; क्योंकि उसकी सत्ता किसी मतविशेषके अधीन नहीं होती और न किसी आराधना-विशेषसे ही उसका सम्बन्ध होता है। भले ही वह हमें ईश्वरा-नुभूतिके उच्चतम शिखरतक न पहुँचा सके, किंतु यह हमें असहिष्णुता, मतान्धता और धार्मिक युद्धोंके गड्ढोंमें नहीं गिरायेगा। मानवता-धर्म मत-मतान्तरोंके विश्वासोंका खण्डन नहीं करता, अतएव वह सनातन आदर्शकी सुदृढ़ भूमिपर अडिग खड़ा रहता है; और मत-मतान्तर भी उसको कोई हानि नहीं पहुँचाते। मानवता-धर्मके लिये 'धर्म संकटमें है' का प्रयोग नहीं करना पड़ता। अन्य धर्मोंमें अपनी मान्यताओं-को लेकर विवाद और विरोध हो सकते हैं; किंतु ये दोष उन व्यक्तियोंमें नहीं होते जो मानवताके संदेशका प्रचार और अनुसरण करते हैं।

जिस धर्मके वातावरणमें हम उत्पन्न होते हैं, उसे हम अपना धर्म कहते हैं। सच्ची भावना तथा प्रेम, भ्रातृत्व, सदाचार एवं शान्तिके साथ उसका पालन करनेसे हम परोक्षरूपमें मानव-धर्मका ही पालन करते हैं, जो एक शुभ अभीप्सा और मानव-जातिके कल्याणके अनुष्ठानकी निष्ठाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमारी आजकी सभ्यता एक दूसरेका गला घोटनेवाली प्रतियोगितापर आधारित है और उसका उद्घोष है—'आपाधापी दौड़ावै, पीछे पड़ पछतावै।' मानवता-धर्मका आदर्श वाक्य है—'व्यष्टि समष्टिके लिये और समष्टि व्यष्टिके लिये'। मानवता-धर्म कोई नया संदेश नहीं है। यह उतना ही प्राचीन है जितनी गिरि-मालाएँ; और वह धर्मोंके महान् आध्यात्मिक व्याख्याताओंकी वचनावलीसे संगृहीत है; किंतु यह स्वार्थनिष्ठ संसारको उचित समयमें जगाता है और समाजकी त्यागमय सेवा करनेके लिये उसे प्रेरित करता है। किसी व्यक्तिके लिये सिकंदर और नैपोलियन बनना और विशाल राज्योंकी स्थापना करना व्यावहारिक न भी हो, किंतु उसका एक भद्र नागरिक बनकर सद्गुणोंका अनुसरण करना सुगमतया सम्भव है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके लिये चैतन्य महाप्रभु और रामकृष्ण परमहंस बनना और असीमके साथ सायुज्यके लिये पिपासाकुल होना सम्भव न भी हो; किंतु प्रत्येक व्यक्ति अवश्य ही मानवता-धर्मका पालन कर सकता है और अपनी श्रेष्ठ तथा उच्चतम शक्तियों और योग्यताओंको अपने सहचर मानवोंके चरणोंपर रख सकता है। उनकी सेवा करना सर्वोच्च आनन्द है तथा उनका संकट-मोचन ही मानवीय अस्तित्वका परम ध्येय है।

आश्चर्य

अचंभौ इन लोगनि कौ आवै।
छाँड़ैं स्याम-नाम-अम्रित-फल, माया-विष-फल भावै॥
निंदत मूढ़ मलय-चंदन कौं, राख अंग लपटावै।
मान-सरोवर छाँडि हंस तट, काग-सरोवर न्हावै॥
पग तर जरत न जानै मूरख, घर तजि घूर बुझावै।
चौरासी लख जोनि स्वाँग धरि, भ्रमि भ्रमि जमहिं हँसावै॥
मृगतृष्ना आचार जगत जल, ता सँग मन ललचावै।
कहत जु सूरदास संतनि मिलि हरि-जस काहे न गावै॥

—सूरदासजी

मानवतावाद आजका युग-धर्म

(लेखक—श्रीशंकरदयालुजी श्रीवास्तव, सम्पादक 'भारत')

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श मानव-समाजके सम्मुख बहुत प्राचीन कालसे रहा है। संसारके सभी व्यक्ति एक ही परमात्माकी संतान हैं और इस दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्व एक विशाल परिवारके समान है—यह विचार भी नया नहीं है। समय-समयपर संसारमें प्रवर्तित अनेक प्रमुख धर्मोमें इस व्यापक और उदार दृष्टिकोणका परिचय मिलता है। कम-से-कम जो आस्तिक रहे हैं, जिन्हें ईश्वरकी सत्तामें अखण्ड विश्वास रहा है, वे सिद्धान्तरूपसे यही मानते आये हैं कि संसारके सभी मनुष्य एक ही ईश्वरके पैदा किये हुए हैं और वे सब आपसमें भाई-भाई हैं तथा भाई-भाईकी तरह उन्हें प्रेमसे मिलकर रहना चाहिये।

किंतु सम्पूर्ण विश्व, जैसा आज एक हो गया है और जिस प्रकार आज सब देशोंका दीर्घ अन्तर दूर हो गया है, वैसा कदाचित् पहले कभी नहीं था। विज्ञानने कम-से-कम विश्वका यह उपकार किया है। कुछ अर्थोमें वह भले ही अभिशाप सिद्ध किया जाय, किंतु विश्व-एकताके लिये एक बड़ी सीमातक वह वरदान सिद्ध हो रहा है—इस तथ्यको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह विज्ञानकी ही करामात है कि विश्वके सभी राष्ट्रोंके प्रतिनिधि कुछ ही दिनोंके अंदर किसी निर्दिष्ट स्थानपर विचार-विमर्शके लिये एकत्रित हो सकते हैं। यह भी विज्ञानका ही सुपरिणाम है कि विश्वके किसी कोनेमें घटित होनेवाले महत्त्वपूर्ण घटना-चक्रोंसे हम प्रायः सद्यः अवगत हो जाते हैं। समाचारपत्र संसारके सभी भागोंके उल्लेखनीय समाचार चौबीस घंटेके अंदर लाकर उपस्थित कर देते हैं। यही नहीं, हम अपने घरोंमें बैठे लंदन और वाशिंगटनकी विविध प्रकारकी वार्ताएँ सुन सकते हैं, हजारों मील दूर बैठे हुए व्यक्तिसे सीधे बातचीत कर सकते हैं। ऐसे युगमें विभिन्न देशोंके नागरिकोंमें परस्पर प्रेम और आत्मीयता, समझौता और सहानुभूतिका विकास तो होना ही चाहिये। विश्वबन्धुत्वका भाव तो फैलना ही चाहिये। संसारके किसी भागके नागरिकोंपर अकस्मात् भारी दैवी प्रकोप हो जाय तो शेष संसारको उनकी सहायताके लिये कोई प्रयत्न उठा नहीं रखना चाहिये।

सभ्यता-संस्कृतिका मेरुदण्ड

मानवता एक ऊँची उदार भावना है। स्वार्थ और संकीर्णतासे उसका घोर विरोध है। वह सबके—मानव मात्रके हित-साधनके लिये हमें प्रेरित करती है, सबकी हित-चिन्ताके लिये उत्प्रेरणा प्रदान करती है। मानवता वास्तवमें मनुष्यका धर्म है। सभी मनुष्योंसे प्रेम करनेकी बात वह सिखलाती है। जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, धर्म, देश आदिके भेदभावको वह नहीं स्वीकार करती। मानवताका आदर्श एक बहुत ऊँचा आदर्श है। उस आदर्शकी पूर्तिमें ही मानव-जीवनकी वास्तविक सार्थकता है। मानवता विश्वबन्धुत्वकी भावना है। वह सभ्यता और संस्कृतिकी मेरुदण्ड है। उसके बिना सभ्यता और संस्कृतिका विकास सम्भव ही नहीं होता। मानवता मनुष्यको सात्त्विकता तथा नैतिकताकी ओर ले जाती है। वह मनुष्यको सचमुच मनुष्य बनाती है।

मानव-सभ्यता और संस्कृतिकी सार्थकता इसीमें है कि संसारभरके लोग सुख, शान्ति और प्रेमके साथ रहें। एक जाति अथवा देशके मनुष्य दूसरी जाति अथवा देशके लोगोंकी सेवा-सहायता करनेके लिये सदैव तत्पर रहें। सब लोग अपनेको मानव-समाजरूपी विशाल परिवारका सदस्य समझें और सबके साथ भाई-बन्धुकी तरहका व्यवहार करें। मनुष्य-मनुष्यके बीच किसी प्रकारके भेदभावकी दीवार नहीं खड़ी होनी चाहिये। जाति, वर्ण, धर्म, देश आदिके आधारपर कोई पार्थक्य या अलगाव नहीं होना चाहिये। वर्ण, धर्म, जाति आदिकी विभिन्नता होते हुए भी पृथ्वीपर रहनेवाले समस्त व्यक्तियोंमें एक मौलिक एकता है। सबके अंदर जो आत्मा है, वह एक ही परमेश्वरका अंश है। सबमें एक ही परमात्माका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है।

बीच-बीचमें संघर्ष और युद्धके होते हुए भी संसारके सब देशोंमें सहयोगकी भावना बढ़ रही है। अन्ताराष्ट्रिय भावनाका विकास हो रहा है। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रोंमें अन्ताराष्ट्रिय सहयोगके आधारपर काम हो रहा है। इस बीसवीं शताब्दीमें दो बार भयंकर महायुद्ध हुए और दोनों बार युद्धकी व्यापक विनाशलीला देखकर बड़े-बड़े राष्ट्रोंके राजनीतिज्ञ अन्ताराष्ट्रिय शान्तिकी सुरक्षाके लिये विश्व-संगठन बनानेके लिये तैयार हुए। प्रथम यूरोपीय महायुद्धके पश्चात् राष्ट्रसंघका जन्म

हुआ और द्वितीय महासमरके अनन्तर संयुक्तराष्ट्र अस्तित्वमें आया। इन दोनों संगठनोंमें अन्ताराष्ट्रिय सहयोगकी पूरी व्यवस्था की गयी। संयुक्त-राष्ट्र-संगठनमें अस्सीसे अधिक देश सम्मिलित हो गये हैं और जो देश अभी बाहर हैं, वे भी उसमें शामिल होनेके लिये उत्सुक हैं। कुछ देश केवल अन्ताराष्ट्रिय द्वेष एवं गुटबंदीके कारण इस वृहत् संगठनके सदस्य नहीं बन पाये हैं। विश्व-ऐक्यकी दिशामें यह एक उल्लेखनीय प्रगति है और इसे देखकर यह विश्वास होता है कि एक-न-एक दिन सम्पूर्ण विश्व एक होकर रहेगा, एक वृहद् राज्यका रूप ग्रहण कर लेगा। वर्तमान देश उस विश्व-संघकी इकाईके रूपमें रहेंगे। इन देशोंमें परस्पर कभी युद्ध नहीं होने पायेगा। विश्व-राज्यकी सरकारका सबपर अङ्कुश रहेगा।

अर्द्धविकसित अथवा अविकसित देशोंकी सहायताके लिये अब भी प्रचुर धन सुलभ किया जा रहा है, यद्यपि इस सहायताके पीछे कुछ राष्ट्रोंका स्वार्थ भी छिपा हुआ है। अपना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जमानेके लिये अल्पविकसित देशोंको ऋण या अनुदान दिया जाता है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा शोषणकी भावना अभी पूर्णरूपसे समाप्त नहीं हुई है। जब बड़े-बड़े राष्ट्र मानवताकी सच्ची भावनासे अनुप्राणित होकर काम करेंगे और मनुष्य-मात्रके कल्याणकी चिन्ता करेंगे, तभी शोषण, उत्पीड़न एवं साम्राज्यवाद समाप्त होगा। सच पूछा जाय तो मनुष्यताके नाते प्रत्येक सम्पन्न एवं शक्तिशाली देशका कर्तव्य है कि पिछड़े हुए देशोंकी निर्धनता, अस्वस्थता, निरक्षरता आदिके निराकरणमें यथासम्भव योग दे, बिना किसी स्वार्थके आर्थिक सहायता दे।

कोई भी देश हो, उसकी सामाजिक व्यवस्था न्याय और मानवताके आधारपर होनी चाहिये। विषम आर्थिक असमानता नहीं रहनी चाहिये। उससे असंतोष और संघर्षका जन्म होता है। मनुष्य-मनुष्यके बीच जो प्रेम और सद्भाव रहना चाहिये, वह नहीं रह पाता। एक ओर कुछ लोग ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओंमें रहें, जीवनकी सब तरहकी सुख-सुविधाएँ उन्हें सुलभ रहें और बिना परिश्रम किये ठाट-बाटका जीवन व्यतीत करें और दूसरी ओर बहुत-से लोगोंको रहनेके लिये छोटा-मोटा स्वास्थ्यप्रद मकान भी न मिले और दोनों समय सादा भोजन भी मिलनेका ठिकाना न हो—ऐसी व्यवस्था मानवताके आदर्शोंके प्रतिकूल है। जो मोटर तथा वायुयानमें बैठकर यात्रा करते हैं, शीत-ताप-नियन्त्रित कक्षमें बैठते और सोते हैं, जो जाड़ेमें एकके ऊपर एक कई गरम कपड़े पहनकर निकलते हैं और गर्मीमें खसकी टट्टियोंके अंदर बिजलीके पंखेके नीचे बैठकर सुख लूटते हैं, उन्हें हृदयहीन तथा कठोर नहीं बनना चाहिये। उन दीन-दुखियोंपर उनकी दया होनी चाहिये, जो माघ-पूसके घोर जाड़ेमें बिना किसी गरम कपड़ेके रहते हैं और कड़ी-से-कड़ी गरमीमें खुले आसमानके नीचे खेतोंमें या सड़कोंपर काम करते हैं। दीन-दुखियोंका कष्ट और अभावयुक्त जीवन देखकर जिनका हृदय द्रवित नहीं होता, और जो सेवा-सहायताके लिये नहीं तैयार होते, वे सच्चे अर्थोंमें मानव कहलानेके अधिकारी ही नहीं हैं। मनुष्यतासे रहित ऐसे हृदयहीन लोगोंको चाहे जितना भौतिक ऐश्वर्य और वैभव प्राप्त हो, उन्हें धन्य नहीं कहा जा सकता। वे चाहे जितना गर्व करें, उनका जीवन हेय है। आज रामराज्य या सर्वोदय-समाजकी जो कल्पना की जाती है, उसका तात्पर्य यही है कि समाजका ऐसा नव-निर्माण होना चाहिये, जिसमें जीवनकी आवश्यक सुविधाएँ सबको समानरूपसे प्राप्त हों, आर्थिक असमानता अधिक न हो और सब लोग एक दूसरेके प्रति प्रेम, सहानुभूति तथा सद्भाव रखें। किसी तरहका अन्याय, अत्याचार और शोषण न हो।

मानवताका नैतिकता तथा आध्यात्मिकतासे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई व्यक्ति यदि सदाचारी नहीं है, नैतिक आदर्शोंमें उसकी आस्था नहीं है, परमात्माकी सत्तामें विश्वास नहीं है तथा यदि उसमें सहृदयता तथा सात्त्विकता नहीं है तो मानवताकी भावना उसमें स्फुरित नहीं होगी। जो अपना स्वार्थ दबाकर दूसरोंका उपकार और सहायता करनेके लिये तैयार रहता है, उसीमें मानवताके बीज अङ्कुरित होते हैं। संत विनोबाने 'गीता-प्रवचन' में एक स्थानपर लिखा है कि मनुष्यने अपने चारों ओर स्वार्थका संकीर्ण घेरा बना रखा है, जिसके बाहर वह निकल नहीं पाता। इस घेरेको तोड़े बिना और उसके बाहर निकले बिना कोई व्यक्ति मानवतावादी बन नहीं सकता। अपने हृदयको विशाल और उदार बनानेकी आवश्यकता है। प्रेमकी परिधिका विस्तार अपेक्षित है। जो अपने ऊपर कष्ट झेलकर भी दूसरोंके हित-चिन्तनमें लगा रहता है, वही मानवताको अपना धर्म बना सकता है। मानवताके मार्गपर चलनेके लिये नैतिकता तथा आध्यात्मिकताका सम्बल होना आवश्यक है। इस यात्रामें धर्म भी बड़ा सहायक हो सकता है। जो धर्मसे रहित अथवा अधार्मिक है,

उसमें मानवताकी प्रवृत्ति सहजरूपसे उत्पन्न नहीं होगी। इसके विपरीत, जिसकी आत्मा धर्ममें लगी हुई है अथवा जो धर्मात्मा है, वह सहज ही मानवताका उपासक बन जाता है।

मानव-जीवनका उच्चतम कर्तव्य या लक्ष्य क्या होना चाहिये, इस सम्बन्धमें बड़ा मतभेद रहा है। प्राचीन भारतीय समाज कभी निवृत्तिमार्गकी ओर झुका और उसके चरम बिन्दुतक पहुँच गया एवं कभी प्रवृत्तिमार्गकी ओर झुका तथा उसकी चरम सीमातक पहुँच गया। सांख्यवादी, योगी तथा वेदान्ती—सबने जगत्की नश्वरताका विवेचन करते हुए उसे त्याग देने अथवा उससे अलिप्त होकर रहनेका उपदेश दिया। निवृत्तिवादी अरण्यवासके समर्थक थे। उनका विश्वास था कि संसार छोड़कर जंगलमें या किसी पर्वत-कन्दरामें जाकर रहने और तप करनेसे ही मोक्ष मिलेगा। जिन्होंने इस तरह अपने मोक्षके लिये साधना और तपस्या की, वे धन्य ही थे; किंतु आधुनिक दृष्टिकोणसे वह मार्ग सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता। संसारके बीच रहकर अधिक-से-अधिक लोगोंके कल्याणकी चिन्ता करना, सामूहिक रूपसे सबकी उन्नति और उत्कर्षका मार्ग प्रशस्त करना ही अधिक श्रेयस्कर है। महात्मा गांधी और संत विनोबा-सरीखे मनीषियोंका जीवन केवल अपने मोक्ष या कल्याणके लिये नहीं था। कोटि-कोटि मानवोंके उद्धारका ध्येय अपने सामने रखकर उन्होंने काम किया है। लोककल्याण तथा लोकसंग्रहका यह मार्ग ही अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है। तभी तो हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द-जैसे आध्यात्मिक महापुरुषोंने घूम-घूमकर अधिकाधिक लोगोंको कल्याण-मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित किया। अनेक ऐसे संत हो गये हैं, जिनके उपदेशोंका सार यही था कि भगवान्‌के दरबारमें सभी मनुष्य समान हैं, भगवद्भक्ति तथा भगवत्कृपाके सभी अधिकारी हैं। सबको ईर्ष्या-द्वेष, छल-प्रपञ्च त्यागकर आपसमें प्रेमके साथ रहना चाहिये। कोई भेद-भाव नहीं रखना चाहिये। यही मानवताका सच्चा रूप है।

सर्वोदयके प्रसिद्ध विचारक और दार्शनिक दादा धर्माधिकारीने संत विनोबाजीकी पुस्तक 'जय जगत्' की भूमिकामें लिखा है कि 'भारतवर्षमें सांस्कृतिक भावना मानव-व्यापी रही।' भगवान् शंकराचार्यकृत देवीस्तोत्रमें 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' पद आया है। महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध संत श्रीतुकारामजीने भी लिखा है 'हम विष्णुदास, हमारा भुवन-त्रयमें निवास।' गोस्वामी तुलसीदासका यह दोहार्द्ध भी प्रसिद्ध है—'जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।' अपने देशमें संतोंकी एक लंबी परम्परा रही है। उनके हृदयसे जो वचन अथवा वाणियाँ निकली हैं, वे मानवताकी भावनासे ओत-प्रोत हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने जीवनभर लोककल्याण किया। गीताके तीसरे अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए लोकसंग्रहपर बड़ा बल दिया है। उनके अनुसार लोक-कल्याणकारी पुरुष ही श्रेष्ठ कर्मयोगी है। उन्होंने लोकसंग्रहके लिये कर्म करना आवश्यक बतलाया है तथा राजा जनकका उदाहरण भी दिया है। श्लोक इस प्रकार है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

अर्थात् जनक आदिने भी इस प्रकार कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त की थी। इसी प्रकार लोकसंग्रहपर भी दृष्टि रखते हुए तुझे कर्म करना ही उचित है। तीसरे अध्यायके इस श्लोकसे कुछ ही आगे यह भी कहा गया है कि 'लोकसंग्रह करनेकी इच्छा रखनेवालेको आसक्ति छोड़कर निष्काम भावसे कर्म करना चाहिये।' गीताके पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें यह भी बतला दिया गया है कि जो सब प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं, उन्हें भी मोक्ष मिल जाता है। इसी प्रकार गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवी-सम्पत्तिको मोक्षप्रद बतलाया गया है। प्रथम तीन श्लोकोंमें दैवी-सम्पत्तिके अन्तर्गत जो छब्बीस गुण गिनाये गये हैं, वे जिस मनुष्यमें होंगे, वह मानवता-प्रेमी और मानवतावादी ही होगा। सब प्राणियोंपर दया, सात्त्विक वृत्ति, कर्मफलका त्याग, तृष्णाका त्याग, शान्ति, अहिंसा, सत्य-जैसे गुणोंके समूहको ही दैवी सम्पत्ति कहते हैं। हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि गीता और उपनिषद् मानवताके धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं।

ऋग्वेदमें कहा गया है—'विश्वदानीं सुमनसः स्याम' अर्थात् हम सर्वदा प्रसन्न रहें। इस मनःप्रसाद अथवा मनकी प्रसन्नतासे सारी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं। मनः-प्रसादका आश्रय लेकर मनुष्य विपत्तिकी नदियोंको सुख-पूर्वक पार कर जाते हैं। इस मनःप्रसादकी रक्षामें लोक-हितैषिणी बुद्धि बहुत सहायक होती है। दूसरे शब्दोंमें लोक-सेवा तथा लोक-कल्याणमें लगे रहनेसे मन प्रसन्न रहता है। उसे बड़ा संतोष होता है। अतः जो मानवतावादी

अथवा मानवताके सेवक हैं, उनका मनःप्रसाद सदैव स्थिर रहेगा। उनका जीवन सुख और संतोषके साथ बीतेगा। दुःख और चिन्ता उन्हें कम व्याप्त होगी। ऋग्वेदमें शिक्षा दी गयी है—'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' अर्थात् एक दूसरेकी सदैव सहायता और रक्षा करना मनुष्योंका मुख्य कर्तव्य है। इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसी प्रचुर सूक्तियाँ पायी जाती हैं, जो मनुष्यको मानवताके लिये प्रेरित करती हैं। भारतकी प्राचीन संस्कृतिमें विश्व-बन्धुत्वकी भावना मिलती है। उससे यह शिक्षा मिलती है कि जीवात्मा समस्त प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें समस्त प्राणियोंको स्थित देखे। महाभारतके शान्तिपर्वमें एक स्थलपर कहा गया है—

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

इसका अर्थ यह है कि अपने शरीरके भीतर जिस तरह ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वैसा ही आत्मा दूसरोंके शरीरमें भी है। जिस पुरुषको निरन्तर ऐसा ज्ञान बना रहता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होनेमें समर्थ है। जो व्यक्ति सबको अपनी ही तरह समझेगा, वह कभी किसीके साथ अन्याय-अत्याचार, छल-कपट नहीं करेगा। वह सबकी सेवा-सहायता करनेके लिये तैयार रहेगा—वही मानवतावादी होगा।

विज्ञानने सब देशोंको एक दूसरेके बहुत निकट ला दिया है। बीच-बीचमें बाधा और अवरोध आते रहनेपर भी मनुष्य निरन्तर विकासकी दिशामें प्रगति कर रहा है। उसे उस बिन्दुतक पहुँचना है, जहाँ सम्पूर्ण विश्व एक शासनके अन्तर्गत आ जायगा, समग्र मानव-जाति एक विशाल परिवारकी तरह रहने लगेगी। आजके युगमें जब मनुष्य एक दूसरेके समीप आते जा रहे हैं, तब यह उचित ही है कि वे एक दूसरेकी सेवा-सहायता करना सीखें, मानवमात्रके कल्याणकी चिन्ता करें। मानवतावाद आजका युग-धर्म बन जाना चाहिये।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

भक्ति और तत्त्वज्ञानकी परिसीमा—मानवता

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी शास्त्री)

मानवताका सहज क्रम

मानवता, इन्सानियत और ह्यूमैनिटी—ये तीनों विभिन्न भाषाओंके शब्द एक ही अर्थ मानव-कर्तव्य या मानव-धर्मके बोधक हैं। मानवताका सम्बन्ध मानवसे है। जिसे मानवता प्रिय होती है, वही मानव या मनुष्य है और जो देहको ही अपना सर्वस्व समझता है, वह जीव है। जब हम मानवताका मूल्य न समझकर केवल अपने शरीर और प्राणोंको ही सँभालते और पालते हैं, तब यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि हम मानवताके समीपतक नहीं पहुँच पाये हैं।

मानवताके समीपतक पहुँचनेके लिये मानवताका लक्ष्यार्थ और उसके गुणोंको सबसे पहले हमें समझ लेना चाहिये। मानवताका सीधा-सादा अर्थ है—सबके प्रति समभाव रखना। मानवताका प्रारम्भिक गुण दया है। दया ही वस्तुतः मानव-धर्मकी बुनियाद है—

दया धर्मका मूल है, पाप-मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये, जब लग घटमें प्रान॥

दयासे धर्म और अहंकारसे अधर्मका उद्भव और विकास होता है। मानवता एक सिद्धि है, इसे प्राप्त करनेकी प्रारम्भिक भूमिका दया है। दयाके बाद क्रमशः अनेक गुणोंका उद्भव प्रकृत्या हुआ करता है। दया तबतक नहीं उत्पन्न होती, जबतक हमारे अंदर आत्मभावका उदय नहीं होता। जीवनको एक महाव्रत मानकर हमको विवेकका सहारा लेना चाहिये। अपने तथा दूसरोंके अनुभवोंका मन्थन करके जीवनका सार निकालना चाहिये और साथ ही उससे शिक्षा भी ग्रहण करते रहना चाहिये। जिस प्रकार हमारी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ होती हैं, उसी प्रकार दूसरोंकी भी हुआ करती हैं—यह भाव, ऐसा विचार हमें अपने हृदयमें हरदम रखना चाहिये। ऐसे विचार उत्पन्न होते ही हम अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओंको रोककर दूसरेंकी इच्छाओं और आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये संतोषपूर्वक हर प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये जब उद्यत रहने लगें, तब हमें समझना चाहिये कि हम मानवताके पथपर आरूढ़ हुए हैं। जहाँ हममें समताका भाव उदय हुआ, वहाँ अपनेतकमें ही सीमित लगनेवाला आत्मभाव व्यापक और सार्वभौम प्रतीत होने लगेगा। जिस क्रमसे हमारे अंदर मानवताकी वृद्धि होती रहेगी, उसी क्रमसे हममें सद्गुणोंकी वृद्धि होती जायगी और हमारे आत्मभावका विकास होता जायगा।

मानवताके प्रारम्भिक गुण दयाके कारण हमारा आत्मभाव पीड़ित व्यक्तितक पहुँच जाता है और हमें अपने निजी सुखके लिये संयम करना पड़ता है, जिससे अनेक कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। साहस और पुरुषार्थके काम भी करने पड़ते हैं। इसके बाद त्याग, सहनशीलता, विवेक, उदारता आदि मानवताके अनेक गुणोंका उदय हमारे अंदर होने लगता है। गुणोंके विकासके साथ ही हमारी मानवता भी विकसित होने लगती है। यही मानवताका सहज क्रम है। इस क्रमको समझ लेनेपर तथा इसके अनुकूल अपने व्यवहार और वर्ताव बना लेनेपर हमें मानवताकी सिद्धि आसानीसे प्राप्त हो सकती है।

जीवन-सत्र

मानवताके सिद्धि-मार्गपर सफलतापूर्वक अग्रसर होनेकी दृष्टिसे हमें अपने जीवनका वास्तविक मूल्य समझनेके लिये दृढ़ धारणा और दृढ़ आस्था बनानी चाहिये। इस धारणा और आस्थाके अनुसार हमें संकुचित पारिवारिक भावनाओंका परित्याग करना चाहिये। अपने अंदर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सार्वभौम भावनाका उदय करके शुद्ध और विशाल बननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अवश्य ही यह काँटोंका पथ है—कहने और लिखनेमें तो बहुत सरल है, किंतु इसे प्रयोगमें लानेके लिये बहुत ही साहस और त्यागकी आवश्यकता है; क्योंकि विशाल, विस्तृत क्रियाक्षेत्रमें अनेक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके काम किसी अभाववश रुके हुए हैं, उन्हें हमारी शक्ति और बुद्धिकी आवश्यकता है और हमारा कर्तव्य है कि उन्हें हम उदारतापूर्वक सहायता दें। यह भी सम्भव है कि अपना कर्तव्य निभानेमें हमारी शक्ति कम पड़ जाती है, मर्यादित हो जाती है। तब भी हमें निराश या हताश नहीं होना चाहिये; क्योंकि शक्ति अवश्य सीमित हो गयी है; किंतु कर्तव्यकी मर्यादा असीम है। अपनी शक्ति और बुद्धिको मर्यादित समझनेमें ही वस्तुतः हमारा श्रेय है, हमारी मानवताकी सिद्धि इसीमें संनिहित है।

जीवन वह महासत्र है, जो कभी भी पूरा होनेवाला नहीं है। इसकी सर्वाङ्गपूर्ति समदृष्टिमें ही है। छोटे-से-छोटे कर्तव्यको पूरा करनेमें हमें अपनी मानवताको ही बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये—पद, प्रतिष्ठा, यश, धन नहीं, कृतघ्नता, अन्याय, अपवाद, अप्रतिष्ठा मिलनेपर भी हमारे अंदर दया और क्षमाकी मात्रा कम न होने पाये, हम उत्तरोत्तर उदार बनें—यही चेष्टा करनी चाहिये। हमें इस बातपर विश्वास रखना चाहिये कि जिस जीवन-महासत्रके हम अध्वर्यु हैं और हमारे जिस हृदयने इसे स्वीकार किया है, वही हमारा साक्षी है। उस सत्रको सर्वाङ्ग समाप्त करनेके निमित्त हमें सब कुछ सहन करनेकी शक्ति हृदयसे मिलती रहेगी। निस्संदेह हमारा शाश्वत जीवन-सत्र पूरा होकर रहेगा। इसी सिद्धिके लिये हमें मानव-जीवन मिला है।

मानवताके अवरोधक

मानवताके सिद्धि-मार्गपर चलते हुए अनेक अवरोधोंका भी सामना करना पड़ता है। उनमें मुख्य ये हैं—

विवेककी कमी।

आदर्शकी गलत कल्पना।

प्रतिष्ठाका लोभ।

सुखकी इच्छा।

उपर्युक्त विषय जब मानवताके मार्गमें आ जाते हैं, तब सीधे रास्ते चलता हुआ मनुष्य उल्टे रास्ते लगकर अपनी मानवता खो बैठता है। किंतु वह इसे आत्मपतन न समझकर आत्मगौरव समझता है। इसलिये अपनी मानवता कायम रखनेके लिये मनुष्यको सदैव सतर्क और सावधान रहना चाहिये। वह सोच-समझकर अपना आदर्श स्थिर करे, कीर्ति-प्रतिष्ठाके मोहजालसे दूर रहे और सदैव विवेक-बुद्धिको अपनाये रहे।

जो व्यक्ति अपने अंदरकी मानवतासे प्रेम करता है, वह केवल अपनी ही मानवताको बढ़ानेका इच्छुक नहीं रहता, बल्कि संसारभरकी मानवताको बढ़ानेके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। उसे अपने इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये प्राणोंतककी आहुति देनी पड़ जाती है।

बुद्ध, ईसा, सुकरात, गुरु तेगबहादुर, महात्मा गांधी आदि अनेक महापुरुष ऐसे हो गये हैं, जिन्होंने सत्य और मानवताके लिये जीवनभर महान् कष्ट झेले, आत्माकी आहुति दी। प्रत्यक्ष है ऐसे महापुरुषों-जैसी मानवता यदि सहस्रों व्यक्तियोंमें होती तो उन्हें अपने प्राण न गँवाने पड़ते।

मानवता-निष्ठ विवेकी व्यक्ति हर विपरीत परिस्थितिको समझता है, हर जटिलताका हल खोज निकालता है। उसके स्वयंके आचरण ऐसे होते हैं कि मनुष्य-मनुष्यके बीचके सम्बन्ध स्वच्छ, सात्त्विक और आत्मभावसे सम्पन्न हों, उनमें स्वाभाविकता आये। विवेकी पुरुषोंके सदाचरणसे वातावरण

स्वतः पवित्र बन जाया करता है, दूसरोंमें सद्भावोंकी वृद्धि होती है अन्योन्याश्रय-सम्बन्धकी वृद्धि होती है।

इच्छाएँ दुर्दम्य होती हैं, प्रकृति परिवर्तनशील होती है। पता नहीं किस समय हम मानवसे दानव बन जायँ। हमारी वासनाएँ राक्षस बनकर कभी भी हमारी मानवताको निगल सकती हैं। ऐसी स्थितिमें हम विलासको ही विकास समझने लग जाते हैं।

मोह और अज्ञानको दूरकर और विवेकको शुद्ध और सूक्ष्म बनाकर यह समझना चाहिये कि जीवनके अन्ततक हमें क्या प्राप्त करना है। हम आत्मदौर्बल्य और आत्महीनताके कारण जीवनका अन्तिम लक्ष्य भूलकर अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये भटकने लग जाते हैं। जहाँ कहीं भी कामना-पूर्तिकी मृगतृष्णा दिखायी पड़ती है, वहीं हमें देवत्वका वास जान पड़ता है। यह हमारी दुर्बलता है, भावुकता है। हम इतने भावुक बन जाते हैं कि मानवतासे जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्तिको ईश्वरके पदपर तुरंत बैठा देते हैं और इससे अपना और उसका भी अहित कर बैठते हैं। धार्मिक आचरण, ईश्वरभक्ति, शीलता आदिसे अनहंकार, विनम्रता, कृतज्ञता आदि गुण आते हैं। ऐसे आध्यात्मिक पथपर चलता हुआ मानवताका उपासक भक्त भी कभी-कभी प्रतिष्ठाके व्यामोहमें फँसकर अपनेमें देवत्वका अनुभव करता हुआ मानवता खो बैठता है। आकाङ्क्षाएँ मानवताकी विडम्बना हैं, अवरोधक हैं। इच्छा-तृष्णासे मानव और उसकी मानवताकी महती हानि हुआ करती है। इसलिये संयम, धैर्य, विवेक, पुरुषार्थ, दया, क्षमा, सत्य और विनम्रतासे मानवताका पथ निष्कण्टक, सुगम और स्पष्ट बनानेके लिये सावधान और यत्नशील होना चाहिये। मानवता मानव-जातिका गौरव है; यह विश्वशक्तिका वह वरदान है, जिससे मानव-समूहका शाश्वत कल्याण हो रहा है।

मानवताका आदि-स्रोत वैदिकसंस्कृति

वेदमें जिस संस्कृतिका प्रतिपादन हुआ है, वह केवल भारतीय जातिके लिये नहीं वरं संसारकी सभी मानव-जातियोंके लिये है। यह संस्कृति 'सार्वभौम अस्तित्व' रखती है। वस्तुतः वैदिक संस्कृति मानव-संस्कृति है; क्योंकि यह मानवमात्रकी उन्नति चाहती है, किसी विशेष देश या जातिकी नहीं।

वैदिक संस्कृतिमें वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं, जिनसे मानवता विकसित और परिपुष्ट हुआ करती है। आत्मा और परमात्माकी सत्तामें अटल विश्वास रखना ही वैदिक संस्कृतिका मूल उद्देश्य है। यह एक ऐसा विश्वास है, जो मानवके हृदय और मस्तिष्कमें आध्यात्मिकता उत्पन्न करता है। आध्यात्मिकताकी परम परिणति विश्वबन्धुत्वमें ही नहीं, समस्त भूतोंको आत्मवत् समझनेमें है। हमारी संस्कृति प्राकृतिक सुखके साथ उपभोग करनेकी शिक्षा देती है और संयम मानवताका विशिष्ट गुण है। वैदिक संस्कृति प्रकृति और भौतिकताकी सत्ताको भी स्वीकारकर शारीरिक एवं भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये, प्राकृतिक उन्नतिके लिये भी हमें प्रेरित करती है। किंतु इतनी चेतावनी वह अवश्य देती है कि प्रकृति और भौतिक पदार्थ परमात्मा और आत्माके अधीन हैं, इसलिये प्रकृतिकी उन्नति करते समय आध्यात्मिक उन्नतिको भुला न देना चाहिये। आज संसार हा हा-ग्रस्त है। अविश्वास, अभाव, ईति-भीति, साम्राज्यलिप्सा आदि नानाविध विपदाएँ मानवताको ग्रस्त किये हुए हैं। इसका कारण आध्यात्मिकताकी उपेक्षा ही है। आवश्यकता तो यह है कि प्राकृतिक और आध्यात्मिक उन्नतिका समन्वय किया जाना चाहिये।

मानवताकी जड़ें सत्यपर ठहरी हुई हैं। वैदिक संस्कृति मनुष्यको सत्यकी उपासना करनेका आग्रह करती है। वह कहती है कि हर मनुष्यको सत्यका पूर्ण उपासक बनना चाहिये। सत्यपर धरती टिकी हुई है, सत्यकी उपासनासे ही राष्ट्र समुन्नत और समृद्ध हो सकते हैं*। मनुष्यको झूठसे घोर द्वेष रखना चाहिये तथा आपसमें किसीके प्रति द्वेषभाव न रखना चाहिये। सबके साथ समता और मित्रताका व्यवहार करना चाहिये†। और सबको सबसे स्नेहयुक्त मीठी वाणी बोलनी चाहिये‡।

वैदिक संस्कृति त्यागवादपर आधारित है, न कि भोगवाद-पर। मानवता त्यागकी छायामें ही पनपती, फूलती और फलवती होती है। प्रेमपूर्ण अहिंसामूलक जीवन व्यतीत करना

* सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋग्वेद १०।८५।१); सत्यं बृहदृतम्……पृथिवीं धारयन्ति (अथर्ववेद १२।१।१)।

† घोरासो अनृतद्विषः (ऋग्वेद ७।६६।१३); अविद्वेषं कृणोमि वः (अथर्ववेद ३।३०।१); मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे (यजुर्वेद ३६।१८)।

‡ यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि (अथर्ववेद १२।१।५८); जिह्वाया मूले मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् (अथर्ववेद १।३४।२)।

वैदिक संस्कृतिका लक्ष्य और मानवताका चरम उद्देश्य है। अपरिग्रह और त्यागके साथ सांसारिक पदार्थोंका उपभोग करना मानव-जीवनका सिद्धान्त है*। अस्तेय—लोभसे दूर रहकर जीवन बिताना श्रेयस्कर है। धोखा देकर, अपहरण करके किसीका धन हड़प लेना मानवताके विरुद्ध अपसांस्कृतिक कृत्य है†। भोग-विलाससे अनासक्त रहकर, मन-इन्द्रियोंको संयमित करके ब्रह्मचर्य, तपोमय, सरल, सादा, सहनशील जीवन विताना चाहिये ‡। मनुष्यको सौ वर्षतक जीवित रहनेका प्रयत्न करना चाहिये और इस अवधिमें आयुपर्यन्त सत्कर्म करते रहना चाहिये। निष्क्रिय और आलसी बनकर नहीं जीना चाहिये §। मानव वही है, जिसमें पुरुषार्थ है, संयम है, सहनशक्ति है और सर्वतोभावसे निर्भयता है×।

वैदिक संस्कृति मनुष्यको पवित्र, कर्मठ, समृद्ध और पुरुषार्थी तथा वीर बनाती है। संस्कृतिके इन तत्त्वोंको क्रियात्मक रूप जब दिया जाता है, तब ये ही तत्त्व मानवताके नामसे अभिहित होते हैं। अथर्ववेद ३। ३० में सात मन्त्रोंका एक सूक्त है, जिसे सांमनस्यसूक्त कहा जाता है। यह सूक्त विश्वके किसी भी राष्ट्रके निवासियोंके लिये सब प्रकारकी भौतिक, आध्यात्मिक उन्नतिका साधन है। इन मन्त्रोंका भाव यही है कि सब लोग परस्पर हिल-मिलकर रहें। कल्याणी वाणी बोलें। आपसमें विद्वेष, अविश्वास न रखें; सम्यक् ज्ञान रखकर हिल-मिलकर कार्यभारको वहन करें। सभी स्नेहके बन्धनमें बँधे रहें। हर वस्तुका उपभोग आपसमें बाँटकर प्रेम-पूर्वक करें। आपसी बर्ताव इतना घनिष्ठ और निस्स्वार्थ होना चाहिये जैसे एक गाय अपने नवजात बछड़ेके साथ करती है।

इसी प्रकार ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें चार मन्त्रोंका एक सूक्त (१९१) है, जो सामूहिक, राष्ट्रिय और सामाजिक अभ्युदय प्राप्त करानेवाला है। इस सूक्तके प्रथम मन्त्रमें भगवान्‌से राष्ट्रिय अभ्युदयकी प्रार्थना की गयी है। शेष तीन मन्त्रोंमें भगवान्‌ने ऐश्वर्य और अभ्युदय-प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए कहा है कि जो लोग आपसमें हिल-मिलकर रहते हैं, प्रेमालाप करते हैं, जिनके हृदय और मन प्रेमसे लबालब भरे रहते हैं, जो आपसी सहयोगसे विविध प्रकारका ज्ञानार्जन करते हैं, जिनकी मन्त्रणाएँ और मन्त्रणासभाएँ समान होती हैं—जिनमें सभी बिना किसी भेद-भावके समानरूपसे भाग लेकर मिल-जुलकर विचार-विमर्श करते हैं, जो एक दूसरेकी भलाईके लिये सब प्रकार की हवि देनेके लिये—सब प्रकारका त्याग करनेके लिये उद्यत रहते हैं, जिनके संकल्प और निश्चय सर्व-सम्मतिसे हुआ करते हैं, वे सभी प्रकारके ऐश्वर्य और अभ्युदयके शिखरपर चढ़ सकते हैं। उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

उपर्युक्त सूक्तोंके भाव भारतीय संस्कृतिके मूल सिद्धान्त और विश्व-मानवताके मूल आधार हैं, जिनमें भक्ति और तत्त्व-ज्ञानकी अमन्द मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है। इन सूक्तोंमें मानवताका मूल्य निहित है, मानवताकी भूमिका है और मानवीय आदर्शोंका सुन्दरतम निदर्शन है।

मानवताके विकासक सूत्र

मानवताका विकास बहुत आसानीसे अपने दैनिक व्यवहारों और विचारोंद्वारा किया जा सकता है। ईशावास्य-उपनिषद् मानवताका विकाससूत्र ही है। इस उपनिषद्‌के प्रत्येक वाक्यमें मानवता समायी हुई है। केवल दो सूत्र हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं—

१. ईशा वास्यमिदꣳसर्वम्—यह सारा संसार ईश्वरसे ओत-प्रोत है। समस्त विश्वमें ईश्वरकी ही सत्ता व्याप्त है। ईश्वरका राज्य साम्राज्यवादी नहीं होता। जिस प्रकार ईश्वर मङ्गलमय है, उसी प्रकार उसकी सत्ता—उसका शासन भी मङ्गलमय है। ईश्वरकी सत्ता स्वीकार कर लेनेसे हमारा अहं दूर हो जाता है, हमारा स्वामित्व समाप्त हो जाता है; क्योंकि ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनेपर हम उसे छोड़कर किसी वस्तुका भोग नहीं कर सकेंगे। वस्तुतः त्याग और भोगके बीचकी दीवार हटानेका यही एक सुगम उपाय है। जहाँ त्याग और भोगके भेदको समाप्त कर दिया गया, वहीं मानवता प्रतिष्ठित हो जाती है।

२. मा गृधः कस्यस्विद्धनम्—जब हमारे अंदर तृष्णा और भोगके प्रति ईर्ष्या-भाव रहता है, तभी हम दूसरेके धनकी आकाङ्क्षा करते हैं। यदि ईश्वरकी सत्ता स्वीकार कर त्यागको अपनाया जाय तो दूसरोंके भोगोंके प्रति ईर्ष्या और तृष्णाका उदय हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त दोनों सूत्रोंका यही

---

* तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। (यजुः ४०। १)

† मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (यजुः ४०। १)

‡ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। (अथर्ववेद ११। ५। १९)

§ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। (यजुः ४०। २)

× अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु (अथर्ववेद १९। १५। ५)। एवा मे प्राण मा बिभेः। (अथर्ववेद २। १५। १)

सार है कि ईश्वरकी सत्ताको पहचानकर त्यागवृत्तिसे जीवन व्यतीत करना चाहिये और दूसरोंके भोगोंपर कभी भी ईर्ष्या, आकाङ्क्षा नहीं करनी चाहिये। इन सूत्रोंको व्यवहारमें लानेसे अपने और परायेका भाव दूर होकर परमात्मबुद्धिका विकास होता है, जहाँ मानवताकी परिसीमा है।

३. कल्याणी सत्ता—मानवताके विकासमें कल्याणी सत्ताका बहुत बड़ा योग है। कल्याणी सत्ताका तात्पर्य जगत्‌के साथ समरसताका व्यवहार स्थापित करना है। यह सत्ता सत्त्वगुणप्रधान होती है। इसका शासन आध्यात्मिक होता है। राजस-शासन व्यक्ति और समाज दोनोंमेंसे एकका भी वास्तविक कल्याण करनेमें असमर्थ सिद्ध हुआ है; क्योंकि उसका संविधान केवल भौतिक स्वार्थकी सिद्धिपर अवलम्बित रहता है। उसमें कूटनीति, छलना और राग-द्वेषका माध्यम रहता है। आन्तरिक और बाह्य विरोधों—मतभेदोंका भय सवार रहता है। इसीलिये राजस-सत्ता कभी स्थायी नहीं हुआ करती। किंतु कल्याणी सत्ता आत्माका पूर्ण विकास करती है। दया, क्षमा, स्नेह, वात्सल्य, सौहार्द, उदारता, सत्य, समता आदि अनेक सद्गुण कल्याणी सत्ताके माध्यम हुआ करते हैं—जिनसे सद्वृत्तियोंका विकास होता है, जन-जनका आत्मिक विकास होता है। किसी प्रकारके संघर्ष होनेका कोई कारण उपस्थित ही नहीं होता। राजस-सत्ताकी महत्तामें क्षुद्रता निहित रहती है और कल्याणी सत्तामें शाश्वत महत्ता निहित रहती है। यह सत्ता जीवकी जडताको दूरकर उसे विशुद्ध चेतन बना देती है और जगत्‌के साथ क्रियात्मक समता, एकता स्थापित करती है।

मानवताका लक्ष्य

मानव-मानसमें अनेकधा मोह प्रकट और प्रच्छन्नरूपमें निवास करते हैं। मानवता मानवको अन्तर्मुखी बनाकर, शुद्ध विवेकसे सम्पन्न करके उसके मोहका आभास ही नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञान कराती है तथा मानवीय सभी शक्तियोंकी वृद्धि करके उसे पूर्ण बनाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सद्विचारोंमें दोषोंका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मनुष्यका तत्त्वज्ञान कोरा भ्रम बन जाता है। कोई भी विचारधारा, साधन और तत्त्वज्ञान कितना ही आकर्षक और महत्त्वपूर्ण क्यों न हो; यदि उससे सद्गुणोंका विकास न हो, आत्मभावोंके अनुसार आचरण करनेकी क्षमता न हो, कर्तव्य और पुरुषार्थकी वृद्धिके लिये कोई अवकाश न हो तो वह तत्त्वज्ञान, साधन और विवेक काठके लड्डूके समान होता है; क्योंकि मानव-जीवनको सफल बनानेवाली मानवताका उसमें लेश भी नहीं रहता।

विकासके लिये किसी नवीन वस्तु या विचारकी उद्भावना नहीं करनी पड़ती। अन्तर्निहित शक्तिको केवल बाहर निकालना पड़ता है। भक्ति, उपासना, कर्म और तत्त्वज्ञान विकसित होकर जब पूर्णावस्थाको प्राप्त होते हैं, तब साधकको यह बोध हो जाता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण निष्पन्न होता है, पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लो तो भी पूर्ण ही शेष रहता है। तात्पर्य वही है जो मानवताका चरम लक्ष्य है। अर्थात् विश्वात्मा पूर्ण है, विश्व पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकला है। उत्पत्तिसे पूर्ण न तो बढ़ता है और न प्रलयसे घटता ही है।

इस प्रकारका बोध मानवता कराती है। ऐसा बोध हो जानेपर मानव-मन परम शान्त हो जाता है। उसके आत्मिक विकासका द्वार खुल जाता है। इसमें श्रद्धा भी है और समाधान भी है। यही भक्ति और तत्त्वज्ञानकी परिसीमा है, जिसे मानवता कहते हैं।

व्यर्थ जीवन

बीत गये दिन भजन बिना रे।
बाल अवस्था खेल गँवायो, जब जवानि तब मान घना रे॥ १॥
लाहे कारन मूल गँवायो, अजहुँ न गइ मनकी तृसना रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो! पार उतर गये संत जना रे॥ २॥

—कबीर

स्मृतियोंमें मानवता-रक्षाके कुछ अमोघ उपाय

(लेखक—पं० श्रीरामप्रतापजी त्रिपाठी शास्त्री)

मानवताकी महत्ता सभी धर्मों और सम्प्रदायोंमें स्वीकार की गयी है । मानव-जीवन पाकर इस धरतीपर सुख-शान्तिपूर्वक रहनेकी उत्कृष्ट कलाको ही मानवताकी संज्ञा दी जा सकती है। संसारके सभी विचारकोंने अपने-अपने ढंगसे मानव-जीवनको सुख-शान्तिपूर्वक व्यतीत करनेके उपाय समय-समयपर बताये हैं । यह बात दूसरी है कि देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार उनमें यत्र-तत्र किंचित् भिन्नता भी मिलती है; किंतु समष्टिरूपसे जहाँतक मानव-जीवनके एकान्त निःश्रेयसकी कल्पना है, वहाँ सभी एकमत हैं। व्यक्तिकी स्वाभाविक विकृतियोंको दूर हटाकर उसमें समष्टि अथवा समाजके सर्वतोमुखी कल्याणकी कल्पना ही मानवताकी रक्षा है। इसीको प्रकारान्तरसे मानवमें मानवताकी स्थिरता अथवा देवत्वकी प्रतिष्ठा भी हम कह सकते हैं।

देवताओंकी कथाएँ हम सुनते हैं। उनके आदर्श चरितोंके सम्बन्धमें कवियोंकी कल्पनाओंका आनन्द हम लूटते हैं, किंतु किसी देवताको अपनी आँखों देखनेका सौभाग्य हमें नहीं मिला है। सम्भव है, सभी युगों अथवा कालोंमें यही स्थिति रही हो। किंतु मानव-रूपोंमें देवत्वकी रक्षा करनेवाले महानुभावोंका उज्ज्वल जीवन हमें आज भी प्रेरणा देता है कि इस संसारमें मनुष्यके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। वास्तवमें देवत्वकी यही कल्पना मानवताकी सच्ची प्रतिमूर्ति है। संसारके सभी अञ्चलोंमें समय-समयपर जन्म लेनेवाले महापुरुषोंके जीवन-चरित ही मानवताकी उत्तम कसौटी हैं। जिन सद्गुणोंको ग्रहणकर तथा दुर्गुणोंको त्यागकर मानव अपनी परिधिसे ऊपर उठता है, वे ही मानवताकी रक्षाके मूल उपादान हैं। संसारके सभी धर्मों और सम्प्रदायोंमें, सभी भूखण्डों और कालोंमें, उनके द्वारा ही मानवताकी उत्कृष्ट कल्पना की गयी है। विश्वके सुविस्तृत वाङ्मयमें जितनी भी सत्कथाएँ हैं, जितने भी आदर्श चरितनायक हैं, जितनी भी सूक्तियाँ अथवा उपदेश हैं, धर्मवाक्य अथवा ईश्वरीय संदेश हैं, उन सबोंमें मानवताकी रक्षाके लिये ही उपाय बताये गये हैं। अथवा मानवता-रक्षा ही उन सबका उपजीव्य विषय है। जब कभी किसी कारणवश मानवताकी रक्षा कठिन हो जाती है, चतुर्दिक् अनाचार और अत्याचारका बोलबाला होता है, अधर्मके चरणोंके नीचे धर्म दबा लिया जाता है अथवा आसुरी भावनाएँ मानवताको निगलनेकी तैयारी करती हैं, तब मानवताकी रक्षाके लिये ही किसी अतिमानव अथवा अवतारी महापुरुषका आविर्भाव होता है और वह फिरसे एक बार मानवताकी दुहाई फेरकर संसारको सतर्क कर जाता है । सृष्टिका यह अनादि क्रम कभी खर्वित नहीं हुआ। संसारके सभी अञ्चलोंमें यह सृष्टि-व्यापार अबाधरूपसे चलता रहता है।

आर्यधर्ममें स्मृतियोंका निर्माण केवल मानवताकी रक्षाके लिये हुआ है। समय-समयपर युगकी आवश्यकताओंको देखनेवाले क्रान्तदर्शी ऋषियोंने अपनी व्यापक अनुभूतियोंका इनमें ऐसा रस घोला है कि वे ईश्वरीय वाणीके समान आज भी हमारे जीवनको सुख-शान्ति देनेमें समर्थ हैं। उनकी एक भी ऐसी उक्ति नहीं है, जो काल-रेखाके अतिक्रमणके कारण आज भी उपेक्षणीय अथवा धूमिल हुई हो।

संसारके सभी जीवोंके साथ उचित रीतिसे जीवन-यापनकी शिक्षा देनेवाली ये स्मृतियाँ वास्तवमें मानवताकी अजस्र स्रोतस्विनी हैं। ऐसी किसी समस्या अथवा ऐसी किसी परिस्थितिकी मानव-जीवनमें कल्पना भी नहीं की जा सकती, जिसका समाधान इन स्मृतियोंमें न किया गया हो। इनमें केवल मानवताकी रक्षाके उपाय ही नहीं वर्णित हैं, अपितु मानवताके सर्वतोमुखी उत्थान एवं विकासकी सम्भावनाओंके साथ मानव-जीवनके सभी कर्मों, विकर्मों एवं अकर्मोंकी भी मीमांसा की गयी है । भगवद्गीताके—

> कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
> अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥
>
> (४।१७)

—इस वचनका अनुपालन ही स्मृतियोंका उपजीव्य है; क्योंकि भारतीय मान्यताके अनुसार कर्मकी गति अति गहन है। देश और कालके अनुसार एक ही कर्म कभी धर्म हो जाता है और कभी अधर्म बन जाता है। मनुष्यके कर्तव्य और कर्तव्यकी निर्देशिकाके रूपमें स्मृतियोंका आर्यजातिमें सदैवसे ऊँचा स्थान रहा है। स्मृतियोंका कथन है कि विहित कर्मोंके त्याग, निन्दित कर्मोंके अनुष्ठान तथा इन्द्रियोंका निग्रह न करनेके कारण मनुष्य मानवतासे गिरता है, उसका

पतन हो जाता है और इन सबकी शिक्षा उसे स्मृतियों-द्वारा ही प्राप्त होती है। याज्ञवल्क्यने मानवताके पतनकी मीमांसा करते हुए यही कहा है—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥

फलितार्थ यह हुआ कि धर्मशास्त्रानुमोदित अथवा कुल-परम्परागत कर्मोंको करनेसे तथा लोक एवं शास्त्रमें निन्दित कर्मोंका त्याग करनेसे और अपनी इन्द्रियोंपर उचित सीमातक नियन्त्रण करके मनुष्य मानवताकी रक्षा कर सकता है। इन सबकी शिक्षा स्मृतियोंद्वारा ही सम्भव है; क्योंकि कार्याकार्यकी व्यवस्थाका दायित्व भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंमें इन्हीं स्मृतियोंपर निर्भर है—तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥ इनमें आचार, लोकाचार, सदाचार, देशाचार, कुलाचार, शिष्टाचारादिके जो वर्णन किये गये हैं, उन सबका उद्देश्य मानवताकी सब प्रकारसे रक्षा ही है। यद्यपि किसी-किसी प्रसङ्गमें इनमें कहीं-कहीं कुछ मतभेद दृष्टिगत होते हैं, तथापि समय-समयपर उस-उस युगकी आवश्यकताके अनुरूप उल्लेख होनेके कारण उन मतभेदोंका कोई विशेष मूल्य नहीं है। उनकी एकवाक्यताके अनेक अवसर इनमें उपस्थित किये गये हैं।

स्मृतियोंमें मानवताके रक्षार्थ आचारपर विशेष बल दिया गया है। यही कारण है कि भारतीय जीवनमें इस पाश्चात्य सभ्यताके अन्धानुकरणके युगमें भी आचारकी महिमा थोड़ी बहुत शेष है। कैसा कोई भी राजनीतिक नेता हो, विद्वान् धर्मोपदेष्टा हो, ग्रन्थप्रणेता, कवि या साहित्यकार हो, यदि उसके चरितमें तनिक भी आचारहीनता दिखायी पड़ी कि वह आज भी समाजद्वारा उपेक्षित और निन्दित हो जाता है। दूसरे देशोंमें अथवा पश्चिमी सभ्यतामें आज आचारकी इतनी महिमा नहीं है; किंतु यहाँ मनुसे लेकर जितने भी अन्यान्य धर्मशास्त्रकार हुए हैं, सबने मनुके इस वाक्यको ही प्रकारान्तरसे दुहराया है—

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'
'वेदोऽखिलो धर्ममूलमाचारस्तु प्रकीर्तितः।'
आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते।
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम् ॥

आचारवन्तो मनुजा लभन्ते आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम्।
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोकमत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च ॥

इस प्रकार आचारको मानवताका मूलाधार माननेवाले हमारे स्मृतिकारोंने सर्वत्र उसकी प्रशंसा गायी है। आचारकी यह सीमा-रेखा मनुष्यके निजी जीवनतक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत उसमें समाज एवं संसारके हितार्थ सभी उत्तमोत्तम प्रसङ्गोंका संनिवेश है। उनके द्वारा ही इहलोक एवं परलोककी सफलता निश्चित बतायी गयी है और उन्हें ही धर्मका साक्षात् पर्याय बताया गया है—

चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालनम्।
प्रज्ञा तेजो बलं कान्तिर्ब्रह्मचर्येण वर्धते ॥

प्रज्ञावान्, तेजस्वी, बलवान् एवं कान्तिमान् पुरुष ही समाजकी शोभा है। जिस समाजमें ऐसे पुरुष या स्त्रियाँ नहीं रहेंगी, वह चिरकालतक जीवित नहीं रह सकता। स्मृतियोंके मतानुसार जिस प्रकार मानवताका मूलाधार आचार अथवा सदाचार हैं, उसी प्रकार आचार एवं सदाचारकी प्रतिष्ठा ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सम्भव है। जो व्यक्ति ब्रह्मचारी अथवा इन्द्रियजयी नहीं है, वह कभी समाजका वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता। भला, उससे दूसरोंका क्या कल्याण सम्भव है, जो स्वयं अपना कल्याण नहीं करता। स्मृतियोंका स्पष्ट मत है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सभी सदाचारोंकी रक्षा कर सकता है और तभी उसके द्वारा इहलोक एवं परलोककी रक्षा भी सम्भव है।

ब्रह्मचर्यके अनन्तर स्मृतियोंमें अपने कुलागत आचार एवं परम्पराकी रक्षापर बल दिया गया है। वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी प्रतिष्ठाके निमित्त निर्मित स्मृतियोंके लिये यह सर्वथा स्वाभाविक भी था; क्योंकि यदि एक वर्ण अथवा आश्रमके लोग अपने कर्मोंको नीचा तथा दूसरेके कर्मोंको ऊँचा अथवा अपने कर्मोंको ऊँचा एवं दूसरेके कर्मोंको नीचा मानते तो समाजमें बड़ी विषमता फैल जाती। फलतः चाहे जिस जातिका व्यक्ति हो, उसे अपने लिये विहित कर्मोंद्वारा ही कल्याणका भाजन बताना स्मृतियोंका मन्तव्य है। निम्नलिखित वचन प्रायः सभी स्मृतियोंमें है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।
अथवा—
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
अथवा—
येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

अथवा—

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः॥

अपने-अपने लिये विहित कर्मों एवं कर्तव्योंकी मर्यादाके निश्चयके साथ-साथ स्मृतियोंने सभी वर्णों एवं आश्रमोंके हितार्थ जो व्यापक नियम बनाये हैं, वे और भी उपादेय हैं। यद्यपि इन नियमोंकी संख्या अथवा इयत्ता निर्दिष्ट करना कठिन है—क्योंकि स्मृतियोंकी संख्या अधिक है, तथापि स्थूल-रूपसे यह कहा जा सकता है कि सभी स्मृतियों एवं अन्यान्य धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंका निचोड़ यही है कि इस संसारमें सर्वत्र व्याप्त जिस परम तत्त्वका दर्शन हम करते हैं, उसमें लीन हो जाना ही मानव-जन्मका चरम लक्ष्य है। उसकी प्राप्तिके जो भी अन्यान्य उपाय हों, उनसे सुगम उपाय यही है कि सभी जीवनमें आत्मतत्त्वका दर्शन करें और ऐसा कोई कर्म दूसरोंके लिये न करें, जो अपने लिये प्रतिकूल दिखायी पड़ता हो।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
अथवा—
सर्वमात्मनि सम्पश्येत् सच्चासच्च समाहितः।
अथवा—
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न समाचरेत्।

जो बात अपने लिये प्रतिकूल अथवा दुःखदायी हो सकती है, वह दूसरोंके लिये भी वैसी ही होती है। अतः सभी चराचरमें आत्मतत्त्वको देखनेवाला यह अकर्म कैसे कर सकता है।

अति संक्षेपमें स्मृतियोंमें वर्णित मानवताके उद्धारक उपादानोंकी राशिमेंसे चुने गये एक-दो मूल उपादानोंकी चर्चा मैंने की है। इनकी रक्षा करनेवाला कभी मानवतासे च्युत नहीं हो सकता। वह कभी कोई सुकर्म या यज्ञ करे या न करे, जप-तप करे या न करे; किंतु यदि वह सर्वत्र आत्म-तत्त्वका अन्वेषी अथवा द्रष्टा है और सभी जीवोंके प्रति आत्मवत् व्यवहार करता है तो वह कभी गिर नहीं सकता। सम्भवतः इस तथ्यको अवगत करनेके बाद ही ये पंक्तियाँ लिखी गयी थीं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

स्मृतियोंके मूलतत्त्वोंकी रक्षाके निमित्त निर्मित अठारहों पुराणोंके सारांशरूपमें परोपकारको पुण्य और परपीड़नको पाप घोषित करके भगवान् वेदव्यासने मानवताकी रक्षाका अमोघ उपाय बतलाया है। धर्मशास्त्रोंमें प्रकारान्तरसे इसीका पल्लवन किया गया है और इसी मन्तव्यको यह नीचेकी पंक्ति भी प्रकट करती है—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।

परोपकारी कभी दुर्गति नहीं देखता अथवा परोपकारसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है—मानवताकी रक्षाका इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय क्या हो सकता है। यदि समाजमें यह भावना गहराई प्राप्त कर ले और हम सभी अपने पुरजन, परिजन और पड़ोसीकी आपदा-विपदामें सहायक होने लगें तो संसारकी सारी विपत्ति बहुत कुछ दूर हो जाय। प्रेमके इस पुण्य-सरोवरमें समाजकी सारी कालिमा स्वतः धुल जाय। भोगवादी प्रवृत्तियोंका उन्मूलन होने लगे और आजकी पाश्चात्य अर्थमूलक जीवन-पद्धतिके कारण जो सारी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं, वे समाहित हो जायँ और ऊपर हाथ करके चिल्लानेवाले उस महान् भविष्यद्रष्टा एवं विचारकके इन शब्दोंका मर्म हम समझने लगें—

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

गोविन्द-नाम क्यों भूल गया?

क्यों तू गोविंद नाम बिसारै।
अजहूँ चेति, भजन करि हरि कौ, काल फिरत सिर ऊपर भारौ॥
धन-सुत-दारा काम न आवैं, जिनहिं लागि आपुन पौ हारै।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, चल्यौ पछिताइ, नयन-जल ढारै॥

—सूरदासजी

मानवताकी प्रतिष्ठा भगवान् श्रीराम

(रचयिता—श्रीगोकुलप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०)

(१)

अन्याय अत्याचार जब संहार बनकर आ गया।
आसुर-नियंत्रण-जन्य हाहाकार दश-दिक छा गया॥
तब आर्त, शरणागत जनोंकी करुण विकल पुकार पर।
अवतरित परमात्मा हुआ अवधेश-सुतका रूप धर॥

(२)

जिनका चरित आधार पहले काव्यका पावन बना।
जिसको श्रवण कर आज भी, होते पतित उन्नतमना॥
आदर्श मानव-धर्मके रखती सकल जिनकी कथा।
वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक सत्यजीवन एक था॥

(३)

वे सत्य-पालनके लिये चौदह बरस वनमें रहे।
ऋषि-साधु-सज्जन-त्राण-हित अगणित अमित संकट सहे॥
कर अन्त आसुर-राज्यका सुख शान्ति दी संसारको।
दृढ़ दे दिया आधार मानव भाव और विचारको॥

(४)

परिजन, प्रजा सब प्राणियोंके जो परम प्रिय प्राण थे।
जिनके विरहमें अवध नर-नारी हुए म्रियमाण थे॥
गुह-गीध-शबरी-कपि-विभीषण प्रणत जन अपने किये।
है आज मनुज समाज जिनके राजके सपने लिये॥

(५)

युग युग करेगी पथ-प्रदर्शन पुण्यमय उनकी कथा।
अनुगम्य मानव मात्रसे वह सर्वदा ही सर्वथा॥
है नाम ही जिनका अहो! भवसिन्धुकी नौका अमर।
मानव! उन्हीं श्रीरामकी उरमें प्रतिष्ठा आज कर॥

ऋद्धि-सिद्धि-दाता गणेशजी

अकथ अपार भव-पंथ के चले को श्रम
हरन करन बिजना-से बर-दाइए।
इहि लोक परलोक सुफल करन कोक-
नद-से चरन हिये आनि कै जुड़ाइए॥
अलि-कुल-कलित कपोल ध्याइ ललित,
अनंदरूप सरित में भूषन अन्हाइए।
पाप-तरु-भंजन बिघन-गढ़-गंजन,
भगत-मन-रंजन द्विरद मुख गाइए॥

—महाकवि भूषण

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सब काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को।
बिपति हरति हठि पद्मिनी के पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुख को॥
दूरि कै कलंक अंक भवसीस-ससि सम,
राखत है केसौदास दास के बपुख को।
साँकरे की साँकरन सनमुख होत तोरै,
दसमुख मुख जोवै गज-मुख-मुख को॥

—महाकवि केशवदास

विघ्ननाशक श्रीगणेशजी

मानवताके उपकरण

(लेखक—श्रीगुलाबरायजी एम० ए०)

मानवताके गुण

आत्माका प्रकाश और विकास तो सब स्थानोंमें है—मिट्टीके ढेलेसे लगाकर सभी निर्जीव पदार्थोंमें और चींटीसे कुञ्जरतक सजीव पदार्थोंमें तथा उनके मुकुटमणि मानव-देवमें भी; किंतु मानवमें वह सबसे अधिक है। नरत्व नारायणत्वकी श्रेणी है। आत्मा हमको विस्तारकी ओर ले जाती है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाती है। मानवताके इसी व्यापक दृष्टिकोणसे हम मानवता-सम्बन्धी गुणोंपर विचार करेंगे।

सत्य

सत्य मानवताका एक मौलिक सिद्धान्त है। सत्य भीतर-बाहर उभयत्र वाञ्छनीय है। सत्यको मनसा-वाचा-कर्मणा अपनाना चाहिये। सत्य बातका गोपन करना भी उतना ही असत्य है, जितना कि असत्य बोलना। शाब्दिक सत्यका ही निर्वाह आवश्यक नहीं, वरं उसके हार्द या उसकी आत्माका भी।

सत्यके ऊपर ही निजी और सामाजिक एवं अन्तर्राष्ट्रिय सम्बन्ध स्थिर रह सकते हैं। कथनीको पुष्टि करनीसे होनी चाहिये। सच्ची मानवता दिखावा नहीं स्वीकार करती। अपनी कमजोरीको स्पष्टरूपसे स्वीकार कर लेना सदाचारी बननेकी विडम्बनासे कहीं श्रेयस्कर है। जो मनुष्य अपनी कमजोरीको स्वीकार कर लेता है, वह दूसरोंकी कमजोरियोंके प्रति सहानुभूति दिखा सकता है।

दूसरेके दृष्टिकोणको महत्त्व देना

मानवताके दृष्टिकोणसे सभी पक्षोंके सत्यको देखना चाहिये। हम यदि मालिक हैं तो नौकरके, यदि साहूकार हैं तो देनदारके, यदि अध्यापक हैं तो विद्यार्थीके दृष्टिकोणके विपरीत पक्षोंका अध्ययन करना आवश्यक है। सत्यके एक ही पक्षपर बल देनेसे मनुष्य दूसरेके साथ न्याय नहीं कर सकता। न्याय भी सत्यका ही एक व्यावहारिक रूप है। न्याय अपने और दूसरोंके कर्तव्यों और अधिकारोंके सत्यकी स्वीकृति है। न्यायका अर्थ अपने लिये ही न्याय नहीं, वरं दूसरोंके लिये भी—उसी मानदण्डसे, जिससे हम अपने लिये चाहते हैं। हमको बेचने और खरीदनेके बाट एक-से रखने चाहिये। जिस मानदण्डसे हम विदेशियोंसे न्यायकी अपेक्षा रखते थे, उसी मानदण्डसे हमको हरिजनों और अन्य शोषित वर्गोंके साथ न्याय करना सिखानेके लिये ही महात्मा गांधीने हरिजन-आन्दोलनको महत्त्व दिया। समस्याको दूसरोंकी आँखोंसे देखना भी आवश्यक है।

महात्मा गांधीकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वे दूसरेके पक्षको सबसे अधिक महत्ता देते थे। वे उसका पूरा-पूरा ईमानदारीके साथ अध्ययन करते थे। चम्पारनमें गोरे जमींदारोंके विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ करनेसे पहले उन्होंने उनके पक्षका पूरा अध्ययन कर लिया था।

अहिंसा

अहिंसा भी सत्यका पूरक रूप है। अहिंसा व्यावहारिक सत्य है। अहिंसामें दूसरेके अधिकारोंकी, विशेषकर जीवनाधिकार-की स्वीकृति रहती है। अहिंसा भी मनसा-वाचा-कर्मणा—तीनोंसे ही होती है। अहिंसाके पीछे 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त रहता है। सह-अस्तित्वका सिद्धान्त अहिंसापर ही आधारित है। जहाँ अहिंसाका मान नहीं, वहाँ मानवता नहीं। अहिंसा मानवताका पर्याय है। मनुष्यको उस जानके लेनेका कोई अधिकार नहीं, जिसको वह दे नहीं सकता। हिंसा केवल जान लेनेमें ही नहीं है, वरं दूसरोंके स्वत्वों और स्वाभिमानको आघात पहुँचानेमें भी होत है।

पर-स्वाभिमान-रक्षा

दूसरोंके स्वाभिमानकी रक्षा अर्थात् किसीमें हीनताका भाव उत्पन्न न होने देना मानवताकी प्रमुख माँग है। रंग, रोग, अकुलीनता और किसी अंशमें निर्धनता भी मनुष्यके हाथकी चीजें नहीं हैं, उनके कारण उसे नीचा समझना या उसे उसकी हीनताका अनुभव कराना जलेपर नमक छिड़कना है। नैतिक पतनके कारण हम किसीका बहिष्कार कर सकते हैं, किंतु उसमें भी सहृदयता अपेक्षित रहती है। उसके पतनके कारणोंको समझना और उनको दूर करना मानवताके अन्तर्गत है।

शिष्टता

वह गुण वचन और व्यवहार दोनोंसे सम्बन्धित है।

यह भी सत्यका एक पूरक अङ्ग है। 'सत्यं ब्रूयात्' ही आवश्यक नहीं है, 'प्रियं ब्रूयात्' भी अपेक्षित है। वचनकी प्रियता ही दूसरोंमें हीनता-भावको उत्पन्न होनेसे रोकती है। जो लोग सत्यको प्रियरूप नहीं दे सकते, उनका अहं प्रबल हो जाता है। अहंभाव समाजमें टकराहटें पैदा करता है और संघर्षका जनक बन जाता है। विनय विद्याका ही भूषण नहीं, वरं सत्यका भी भूषण है। शिष्टता विनयका ही दूसरा नाम है। हमारी शिष्टता सत्यसमन्वित होनी चाहिये। शिष्टता, दम्भ या धोखेबाजीका रूप न धारण कर पाये, इसका सदा ध्यान रखना चाहिये।

सहिष्णुता

सहिष्णुता एक ऐसा गुण है, जो सत्यवादीके लिये आवश्यक है। उसमें अपने सत्यके प्रतिपादनके लिये कष्ट-सहनकी ही क्षमता नहीं होनी चाहिये, वरं धैर्यपूर्वक दूसरोंकी बात सुननेकी और सोचनेकी भी क्षमता होनी चाहिये। जो इस प्रकारकी सहिष्णुता नहीं रखते, वे सत्यको एकाङ्गी बना देते हैं। पर-धर्म सहिष्णुता शान्तिका एक आवश्यक उपकरण है।

आत्मौपम्य-दृष्टि

श्रीमद्भगवद्गीतामें आत्मौपम्य-दृष्टिकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

आत्माके दृष्टान्तसे जो सबको एक-सी दृष्टिसे देखता है और सोचता है कि जिस चीजसे मुझे सुख होता है उससे दूसरेको सुख होगा और जिससे मुझे दुःख होता है, उससे दूसरोंको भी दुःख होगा, वही परम योगी है। इसीलिये कहा गया है—आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। जो सब मानवोंको समानरूपसे देखता है, वही सच्चा मानव है। मानवताका गुण मानवोंके प्रति व्यवहारमें ही सीमित नहीं है, वरं मानवेतर सभी प्राणियोंके सम्बन्धमें लागू होता है। तभी भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात् पण्डितलोग विद्या और विनयसे सम्पन्न (विद्याके साथ विनयको ब्राह्मणके लिये भी आवश्यक माना गया है—) ब्राह्मणमें, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समान दृष्टि रखते हैं। सहानुभूति भी आत्मौपम्य-दृष्टिका ही एकरूप है। सहानुभूति आत्माके विस्तारका परिचायक है। जो मनुष्य सबमें एक ही आत्माका विस्तार जानते हैं, वे अवश्य दूसरोंके साथ सहानुभूति रखेंगे।

निर्बलपर बलप्रदर्शन न करना

निःशस्त्र, स्त्री और रोगीपर हथियार चलाना वीरताके विरुद्ध माना गया है। हमलोगोंकी यह साधारण-सी दुर्बलता है कि सबलके आगे दब जाते हैं और निर्बलपर अपना अधिकार जतानेका प्रयत्न करते हैं, उसको अपनी शक्तिसे आतङ्कित करनेसे भी नहीं चूकते। सच्चा मानवतावादी अपनी हानिकारक शक्तियोंपर कभी गर्व नहीं करता। उनके कारण तो वह सदा लज्जित ही रहता है। हमें निर्बलको अपनी शक्तिका भय नहीं दिखाना चाहिये; क्योंकि भयकी प्रीति स्थायी नहीं होती और दूसरेको कमजोर बना देती है। सबलके भयसे असत्यको स्वीकार करना या उसमें सहयोग देना दुर्बलता और कायरता है। सत्यवादी सदा निर्भय रहता है। 'अभय' तभी दैवी-गुण माना गया है। निर्बल और पतितोंका हमें सहानुभूतिपूर्ण आदर करना चाहिये। हरिजनोंके पास हम उद्धारकी भावनासे न जायँ, वरं उनकी सहायता भी सेवाभावसे करें, अधिकार-प्राप्तिकी भावनासे न करें।

अधिकार-भावनाका त्याग

सच्चा मानवतावादी अधिकृतको अपनी अधिकार-भावनासे कभी आतङ्कित नहीं करता। न वह विद्या और धनके वैभवसे दूसरोंको आक्रान्त करता है। शासित, सेवक तथा हिंदू-समाजमें स्त्रियाँ, नीचवर्णके लोग और बेटीवाले प्रायः अधिकृत समझे जाते हैं और दूसरे पक्षवाले अपनेको अधिकारी समझकर अपनी इच्छाओंकी अनुचित पूर्तिको भी धर्म समझते हैं—यह दूषित मनोवृत्ति है। यह समत्व-भावना और मानवताके विरुद्ध है।

पर-गुण-ग्राहकता

गोस्वामी तुलसीदासजीने संतस्वभावकी प्राप्तिके लिये उत्कण्ठा प्रकट करते हुए कहा है—

'पर गुन नहिं दोष कहौंगो।'

तुलसीने अपनी दीनतामें अपने दोष गिनाये हैं। उनमें एक यह भी है कि वे अपने समुद्र समान पापोंको जल-कण बराबर बतानेपर भी लड़ पड़ते हैं और दूसरोंके कण-समान

अवगुणोंको पहाड़के बराबर बना लेते हैं तथा दूसरेके पहाड़-बराबर सद्गुणोंको रजःकणके समान समझते हैं।

जानत हौं निज पाप जऱधि जियँ जऱ सीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि गुन गिरि सम रज तें निदरौं॥

दूसरोंके गुणोंकी अवमानना करना या अवगुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर कहना मानवताके विरुद्ध है। इसी प्रकार दूसरेके द्वारा किये हुए अपकारको याद रखना और उपकारको भूल जाना सज्जनताके विरुद्ध है। सज्जन लोग मित्रता और उपकारको पत्थरको लकीरके समान; मध्यम लोग बालूकी लकीरकी भाँति, जो कुछ देरतक बनी रहती है और फिर मिट जाती है; और नीच लोग पानीकी रेखाके समान, जो तुरंत मिट जाती है, अपने मनपर अङ्कित रखते हैं। वैरके सम्बन्ध-में सज्जन, मध्यम और नीच लोगोंका व्यवहार इससे विपरीत होता है। सज्जनोंके लिये वह पानीकी लकीरके समान होता है, मध्यम लोगोंके लिये बालूकी लकीरके समान और नीचके लिये पत्थरकी लकीरके समान होता है। कहनेका तात्पर्य यह कि सज्जन उपकार और मित्रताको अधिक याद रखते हैं और दुर्जन शत्रुताको। सज्जन शत्रुताको शीघ्र ही भूल जाते हैं।

उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुन की बैर ब्रितिक्रम जानि॥

मानवताका व्यवहार सभी क्षेत्रोंमें अपेक्षित है, चाहे वह निजी सम्बन्ध हो, चाहे व्यापारिक और चाहे राजनीतिक। महात्मा गांधीकी सबसे बड़ी यही विशेषता थी कि उन्होंने राजनीतिमें भी सत्य और मानवताका मानदण्ड ऊँचा किया। उनके हाथोंमें राजनीति कूटनीति न रहकर धर्मनीति बन गयी, उस महात्माको शत-शत नमस्कार है। ईश्वर हमको वह सद्बुद्धि दे कि हम उनके अपनाये हुए मार्गको अपना सकें।

मानवका स्वरूप और महिमा

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०)

भगवान् वेदव्यासका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन है, जो उनके समस्त ज्ञान-विज्ञानका मथा हुआ मक्खन कहा जा सकता है। उन्होंने लिखा है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

'जो गुह्य तत्त्वज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्मके समान सर्वोपरि और सर्वव्याप्त अनुभव है, वह मैं तुमसे कहता हूँ—मनुष्यसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।' सचमुच अनन्त शाखा-प्रशाखाओंसे वेदका गुह्य संदेश यही है कि मनुष्य प्रजापतिकी सृष्टिमें प्रजापतिके निकटतम है। शतपथ-ब्राह्मणमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। (शत० ४। ३। ४। ३)

पुरुष प्रजापतिके निकटतम है। निकटतमका तात्पर्य यही कि वह प्रजापतिकी सच्ची प्रतिमा है, प्रजापतिका तद्वत् रूप है। प्रजापति और उसके बीचमें वैसा ही सांनिध्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा प्रतिरूप अर्थात् असल रूप और अनुकृतिमें होता है। प्रजापति मूल है, तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है। प्रजापतिके रूपको देखना और समझना चाहें तो उसके सारे नक्शेको इस पुरुषमें देख और समझ सकते हैं। सत्य तो यह है कि पुरुष प्रजापतिके इतना नेदिष्ठ या निकटतम या अन्तरङ्ग है कि विचार करनेपर यही अनुभव होता है और यही मुँहसे निकल पड़ता है कि पुरुष प्रजापति ही है—

पुरुषः प्रजापतिः। (शत० ६। २। १। २३)

जो प्रजापतिके स्वरूपका ठाट या मानचित्र है, हूबहू वही पुरुषमें आया है। इसलिये यदि सूत्ररूपमें पुरुषकी परिभाषा बताना चाहें तो वैदिक शब्दोंमें कह सकते हैं—

प्राजापत्यो वै पुरुषः। (तैत्ति० २। २। ५। ३)

किंतु यहाँ एक प्रश्न होता है। पुरुष साढ़े तीन हाथ परिमाणके शरीरमें सीमित है, जिसे बादके कवियोंने—

अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कँवल तेहि माँह।

—इस रूपमें कहा है। अर्थात् साढ़े तीन हाथका शरीर एक सरोवरके समान है, जो जीवनरूपी जलसे भरा हुआ है और जिसमें हृदयरूपी कमल खिला हुआ है। जिस प्रकार कमल सूर्यके दर्शनसे, सहस्ररश्मि सूर्यके आलोकसे विकसित होता या खिलता है, उसी प्रकार पुरुषरूपी यह प्रजापति उस विश्वात्मा महाप्रजापतिके आलोकसे विकसित और अनुप्राणित है। प्रजापति

आतप है तो यह पुरुष उसकी छाया है। जबतक प्रजापतिके साथ पुरुषका यह सम्बन्ध दृढ़ है, तभीतक पुरुषका जीवन है। प्रजापतिके बलका ग्रन्थिबन्धन ही पुरुष या मानवके हृदयकी शक्ति है। जो समस्त विश्वमें फैला हुआ है, विश्व जिसमें प्रतिष्ठित है और जो विश्वमें ओत-प्रोत है, उस महा-प्रजापतिको वैदिकभाषामें संकेतरूपसे 'सहस्र' कहा जाता है। वह सहस्रात्मा प्रजापति ही वैदिक परिभाषामें 'वन' कहलाता है। उस अनन्तानन्त 'वन' के भीतर एक-एक विश्व एक-एक अश्वत्थ वृक्षके समान है। इस प्रकारके अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा 'वन' नामक प्रजापतिमें हैं। उसके केन्द्रकी जो धारा सृष्ट्युन्मुख होकर प्रवृत्त होती है, उसी मूलकेन्द्रसे केन्द्र-परम्परा विकसित होती हुई पुरुषतक आती है। केन्द्रोंके इस वितानमें पूर्वकेन्द्रकी प्रतिमा या प्रतिबिम्ब उत्तरके केन्द्रमें आता है। इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है, वही मूलसे तूलमें आता हुआ ठीक-ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूपके साथ इस पुरुषमें अवतीर्ण होता है और हो रहा है। वैदिक महर्षियोंने ध्यान-योगानुगत होकर उस महान् तत्त्वका साक्षात्कार किया और सृष्टि-परम्पराका विचार करते हुए उन्हें यह अनुभव हुआ कि यह जो पुरुष है, वह उसी सहस्रात्मा प्रजापतिकी सच्ची प्रतिमा है—

पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा।

(शत० ७।५।२।१७)

जो 'सहस्र' प्रजापति है, उसीके अनन्त अव्यक्त स्वरूपमें किन्हीं अचिन्त्य अप्रतर्क्य बलोंके संघर्षणसे या ग्रन्थिबन्धनसे या स्पन्दनसे सृष्टिकी प्रक्रिया प्रवृत्त होती है। किसी भी प्रकार-की शक्ति या वेग हो, उसके लिये बलग्रन्थि आवश्यक है। बिना बलग्रन्थिके अव्यक्त व्यक्तभावमें, अमूर्त्त मूर्त्तरूपमें आ ही नहीं सकता। शुद्ध रसरूप प्रजापतिमें अमितभावकी प्रधानता है; उसमें जबतक मितभावका उदय न हो, तबतक सृष्टिकी सम्भावना नहीं होती। प्रजापतिके केन्द्रसे जिस रसका वितान या विस्तार होता है, वह यदि बाहरकी ओर ही फैलता जाय तो कोई ग्रन्थिसृष्टि सम्भव नहीं। वह रस परिधिकी ओर फैलकर जब बलके रूपमें केन्द्रकी ओर लौटता है, तब दो विरुद्ध भावोंकी टक्करसे स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दनका चक्र जन्म लेता है। स्पन्दनका नाम प्रजापति है। स्पन्दनको वैदिक भाषामें 'छन्द' कहते हैं। जो छन्द है, वही प्रजापति है। किसी भी प्रकारकी फड़कनका नाम छन्द है। सारे विश्वमें द्विविरुद्ध-भावसे समुत्पन्न जहाँ-जहाँ छन्द या फड़कन है, वहीं प्रजापति-के स्वरूपका तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अतएव यह महान् सत्य सूत्ररूपमें इस प्रकार व्यक्त किया गया—

प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्।

(शत० ८।२।३।१०)

सृष्टिकी महती प्रक्रियामें अनेक लोकोंमें अनेक स्तरोंपर प्रजापतिके इस छन्दकी अभिव्यक्ति हो रही है। उसी छन्दो-वितानमें सहस्रात्मा प्रजापति पुरुषमें अभिव्यक्त होता है। सूर्य भी उसी केन्द्र-परम्पराका एक बिन्दु है। ऐसे पूर्वयुगकी कल्पना करें, जब सब कुछ तमोभूत था, अलक्षण था और अप्रज्ञात था। उस समय रस और बलके तारतम्यसे जो शक्तिका संघर्षण होने लगा, उसी संघर्षणके फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्योंका जन्म हुआ। वैज्ञानिक भाषामें इसीको यों सोचा और कहा जा सकता है कि आरम्भमें शक्तिके समान वितरणके फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था; शक्तिके उस शान्त सागरमें न कोई तरङ्ग थी न क्षोभ था। किंतु न जाने कहाँसे, कैसे, क्यों और कब उसमें तरङ्गोंका स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्षके फलस्वरूप जो शक्ति समरूपमें फैली हुई थी, उसमें केन्द्र या बिन्दु उत्पन्न होने लगे, जो प्रकाश और तेजके पुञ्ज बन गये। इस प्रकारके न जाने कितने सूर्य शक्तिकी उस प्राक्कालीन गर्भित अवस्थामें उत्पन्न हुए। वैदिक भाषामें व्यक्तकी संज्ञा 'हिरण्य' है। अव्यक्त अवस्था 'हिरण्यगर्भ' अवस्था थी। समभावसे वितरित शक्तिकी पूर्वावस्था वही 'हिरण्यगर्भ' अवस्था थी, जिसमें यह व्यक्त या हिरण्यभाव समाया हुआ था। आगेका व्यक्तभाव उसी पूर्वके अव्यक्तमें लीन था। यदि सदाकाल-तक शक्तिकी वही साम्यावस्था बनी रहती तो किसी प्रकारका व्यक्तभाव उत्पन्न ही न होता। शक्तिके वैषम्यसे ही महान् आदित्य-जैसे केन्द्र या बिन्दु उस शान्त शक्ति-समुद्रमें उत्पन्न होने लगे। पहली शान्त अवस्थाके लिये वेदमें 'संयती' शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्थाके लिये 'क्रन्दसी' शब्द है। 'संयती' शान्त आत्मा है, 'क्रन्दसी' क्षुभित आत्मा है। शक्तिके उस समुद्रमें जो क्षुभित केन्द्र उत्पन्न हुए, उन्हींकी संज्ञा 'सूर्य' हुई। हमारे सौरमण्डलका सूर्य भी उन्हींमेंसे एक है। प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापतिकी प्रतिमा है और वह भी ऐसी प्रतिमा है, जो विश्व-रूप है, जिसमें सब रूपोंकी समष्टि है, जिसके मूलकेन्द्रसे सब रूपोंका निर्माण होता है। उसीके लिये कहा गया है—

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्‌धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
(यजुः १३। ४१)

शक्तिके शान्त महासमुद्रमें जो आदित्य उत्पन्न हुआ, वह प्रजापतिका गर्भ या शिशुरूप था। उसके पोषणके लिये पय या दुग्धकी आवश्यकता थी। यह कौन-सा पय था, जिसने उस आदित्यको पुष्ट किया? ब्राह्मणोंकी परिभाषाके अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिससे आदित्यरूप उस शिशुका संवर्धन होता है। विराट् प्रकृतिमें सौर प्राणात्मक स्पन्दन या प्राणन-क्रियाके द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है, अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित है। वह अपनेसे पूर्वकी कारण-परम्पराओंका पूर्णतम प्रतिनिधि है। इसीलिये उसे सहस्रकी प्रतिमा कहा गया है। हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्हीं महान् आदित्योंकी केन्द्र-परम्परामें एक विशिष्ट केन्द्र है, अथवा उनकी तुलनामें यह शिशुमात्र है। इसीलिये वैदिक भाषामें—

द्रप्सश्चस्कन्द—

—कहा जाता है। अर्थात् शक्तिके उस पारावार-हीन महासमुद्रमें जो शक्तिका प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे बड़े समुद्रसे एक जलबिन्दु टपक पड़ा हो। वह महासमुद्र जो वाष्परूपमें था अथवा अव्यक्त था, उसीमेंसे यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभावको प्राप्त हो गया है। यही वैदिक काव्यकी भाषा है और यही विज्ञानकी भाषा है। सब प्रकारकी सीमाओंसे ऊपर, सब प्रकारके गणितीय निर्देशोंसे परे जो शक्तितत्त्व है, जहाँ किसी प्रकारके अङ्कोंका संस्पर्श नहीं होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त संज्ञक पूर्णमेंसे यह प्रत्यक्ष आदित्य-रूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है और इसकी संज्ञा भी पूर्ण है। वह 'अदस्' है, यह 'इदम्' है। वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। इस प्रकारकी रहस्यमयी भाषा सृष्टिसे प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वोंके लिये विज्ञान और वेद दोनोंमें समानरूपसे प्रयुक्त होती है।

प्रकृतमें हमारा लक्ष्य इसीपर है कि उस अनन्त प्रजापति-के छन्दसे ही पुरुषका निर्माण हुआ है। उस सहस्रात्मा प्रजापतिकी साक्षात् प्रतिमा पुरुष या मानव है। रस और बलके तारतम्यसे पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि—ये पाँच मुख्य पशु प्रकृतिमें प्राणदेवताओंके प्रतिनिधिरूपसे चुन लिये गये हैं, यद्यपि समस्त पशुओंकी संख्या अनन्तानन्त है। वैदिक परिभाषाके अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसीकी संज्ञा पशु या प्रजा है। यह भूतसृष्टि तीन प्रकारकी है—

१—असंज्ञ—जैसे पाषाण आदि,

२—अन्तःसंज्ञ—जैसे वृक्ष आदि, और

३—ससंज्ञ—जैसे पुरुष, पशु आदि।

इन तीनोंमें यह प्रातिस्विक भेद क्यों है, यह पृथक् विचारका विषय है। संक्षेपमें असंज्ञ सृष्टिमें केवल अर्थमात्राकी अभिव्यक्ति है। अन्तःसंज्ञ सृष्टिमें अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनोंकी अभिव्यक्ति है और ससंज्ञ प्राणियोंमें अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एवं मनोमात्रा—इन तीनोंकी अभिव्यक्ति होती है। इन्हें ही भूतात्मा और प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते हैं। प्रज्ञानात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते हैं। मानव या मनुष्यमें इस सौर इन्द्रतत्त्वकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति है। अन्तःसंज्ञ वृक्ष-वनस्पतियोंमें वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्च्छित रहता है। उनमें केवल प्राणात्मा या तैजस आत्माका विकास होता है। जहाँ तेज या प्राण है, वहीं विकास है। बीज जब पृथिवीमें जल और मिट्टी एवं पृथिवीकी उष्णताके सम्पर्कमें आता है, तत्क्षण उसमें विकासकी प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। अतएव उपनिषदोंमें कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है, वह वृक्ष-वनस्पतियोंमें भी है; किंतु प्रज्ञानात्माका विकास केवल मानवमें होता है। इस दृष्टिसे मानव समस्त विश्वमें अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जिस प्रकार प्रजापति वाक्-प्राण-मनकी समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनोंकी समष्टिका नाम है। अर्थ या स्थूल भूतमात्राको वैदिक परिभाषामें 'वाक्' कहते हैं। पञ्च-भूतोंमें आकाश सबसे सूक्ष्म होनेके कारण सबका प्रतीक है और वाक् या शब्द आकाशका गुण है। अतएव वा .से स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्राका ग्रहण किया जाता है। मानवका शरीर यही भूतभाग है। इसके भीतर क्रियारूप प्राणात्माका निवास है और उसके भी अभ्यन्तरमें मनोमय प्रज्ञानात्माका निवास है। मनकी ही संज्ञा 'प्रज्ञान' है।

इस प्रकार प्रजापति और मानव—इन दोनोंमें रूप-प्रतिरूप या बिम्ब-प्रतिबिम्बभावका सम्बन्ध है। पुरुष प्रजापतिकी सच्ची प्रतिमा है। इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजापति त्रिपुरुष पुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। त्रिपुरुषका तात्पर्य यह कि प्रजापति नामक संस्थाका निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर—इन तीन तत्त्वोंकी समष्टिसे होता है। इनमेंसे

'अव्यय' दोनोंका आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है। 'अक्षर' निमित्त है और 'क्षर' उपादान है। अव्यय प्रजापतिसे मन, अक्षरसे प्राण और क्षरसे शरीर-भागका निर्माण होता है। इस प्रकार जो प्रजापति है, वही पुरुष है और पुरुषको 'प्राजापत्य' कहना सर्वथा समीचीन है।

वैदिक दृष्टिके अनुसार पुरुष दीन-हीन, दासानुदास या शरणागत प्राणी नहीं है, वह है प्रजापतिके निकटतम—उसकी साक्षात् प्रतिमा। सहस्रात्मा-प्रजापतिका जो केन्द्र था, उसीकी परम्परामें पुरुष-प्रजापतिके केन्द्रका भी विकास होता है। जो सहस्रके केन्द्रकी महिमा थी, वही पुरुषके केन्द्रकी भी है। सहस्रात्मा 'वन'-संज्ञक प्रजापतिका केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थसंज्ञक प्रजापतिमें आता है और वही विकसित होता हुआ प्रत्येक सूर्यमें और प्रत्येक मानवमें अभिव्यक्त होता है। इसीलिये कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्यमें है, वही मानवमें है। वैदिक भाषामें केन्द्रको ही हृदय कहते हैं। केन्द्रको ही ऊर्ध्व, उक्थ और नाभि कहा जाता है। केन्द्र ऊर्ध्व और उसकी परिधि अधः है। चक्रकी नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि या परिधि उसका बाह्य या महिमा भाग है। केन्द्रसे चारों ओर रश्मियोंका वितान होता है। केन्द्रको उक्थ कहते हैं; क्योंकि उस केन्द्रसे चारों ओर रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती हैं। इन रश्मियोंको उक्थकी सापेक्षतासे अर्क कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्यसे सहस्रों रश्मियाँ चारों ओर फैलती हैं और फिर एक-एकसे सहस्र होकर बिखर जाती हैं—यहाँतक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नहीं रह जाता और उसकी एक चादर-जैसी सारे विश्वमें फैल जाती है,—वैसे ही पुरुषके केन्द्र या उक्थसे अर्क या रश्मियोंका विकास होता है—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्।

अर्थात् केन्द्रकी महिमा सहस्ररूपसे वितत होती और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र-सहस्ररूपसे बँट जाती हैं। जहाँ केन्द्र और परिधिकी संस्था है, वहाँ सर्वत्र यही वैज्ञानिक नियम कार्य करता है। इस प्रकार जो पुरुषका आत्मकेन्द्र—हृदय है, वह विश्वात्मा 'सहस्र' या प्रजापतिका ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है। यह पुरुष उस प्रजापतिकी महिमासे महान् है। साढ़े तीन हाथके शरीरमें परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णुके समान विराट् है। गीतामें जो कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

—वह इसी तत्त्वकी व्याख्या है। वैदिक दृष्टिकोणमें संदेह और अनास्थाका स्थान ही नहीं है। यहाँ तो जो पूर्ण पुरुष है, जो समस्त विश्वमें भरा हुआ है, वही पुरुषके केन्द्र या हृदयमें भी प्रकट हो रहा है। वह पुरुष वामन भी कहा जाता है। विराट् प्राणकी अपेक्षा सचमुच वह वामन है। यह जो मानवके केन्द्र या हृदयमें वामनमूर्ति भगवान् है, इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है। जो प्राण और अपान—इन दोनोंको संचालित करता और जीवन देता है, इस व्यान प्राणकी शक्ति बड़ी दुर्धर्ष है। इसके ऊपर सौर जगत्के प्राण और पार्थिव जगत्के अपान—इन दोनोंका घर्षण या आक्रमण निरन्तर होता रहता है। किंतु यह वामनमूर्ति विष्णु विराट्का प्रतीक है। यह किसी तरह पराभूत नहीं होता। यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्रमें न हो तो सौर और पार्थिव प्राण-अपान या धन-ऋण विद्युत्का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विलंघन कर डाले। उपनिषद्में कहा गया है—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राणमें ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनोंकी ग्रन्थि है, उसकी पारिभाषिक संज्ञा 'व्यान' है। उसीको यहाँ सांकेतिक भाषामें 'इतर' कहा गया है। प्राण-अपान दोनों उसीके आश्रयसे संचालित होते हैं। और भी—

मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते।

'यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सृष्टिके सब देवता इसकी उपासना करते हैं।' इसीके दृढ़ ग्रन्थिबन्धन या बलसे इतर सब देवोंके बल संतुलित होते हैं। यह वामनरूपी मध्यप्राण ही हृदय या केन्द्र है। यही अङ्गुष्ठ-पुरुष है। यही स्थिति-तत्त्व है। यही समस्त विश्वमें अपनी रश्मियोंसे फैलकर विराट् या वैष्णव-स्वरूप धारण करता है। विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामनके रूपमें सब प्राणियोंके भीतर प्रतिष्ठित है। इसीके लिये कहा जाता है—

स हि वैष्णवो यद् वामनः। (शत० ५।२।५४)

हृदयस्थ वामनरूपी विष्णु किसी प्रकार अवमाननाके योग्य नहीं है। वही अविचाली सहज परिपूर्ण और स्वस्थभाव है। जो मानव इस केन्द्रस्थ-भावमें स्थित रहता है, वही निष्ठावान् मानव है। जिसका केन्द्र विचाली है—कभी कुछ, कभी कुछ सोचता और आचरण करता है, वही भावुक मानव है। केन्द्र स्थिर हुए बिना परिधि या महिमामण्डल शुद्ध बन

ही नहीं सकता। आत्मा, बुद्धि, मन और शरीर—इन चारों विभूतियोंमें आत्मा और बुद्धिकी अनुगत स्थितिका नाम निष्ठा है और मन एवं शरीरकी अनुगत स्थितिका नाम भावुकता है। प्रायः निर्बल संकल्प-विकल्पवाले मनुष्य मन और शरीरके अनुगत रहते हुए अनेक व्यापारोंमें प्रवृत्त होते हैं। जो बुद्धि मनको अपने वशमें कर लेती है, उसीको वैदिक भाषामें 'मनीषा' कहते हैं। जिस अविचाली अटल बुद्धिमें पर्वतके समान ध्रुव या अटल निष्ठा होती है, उसे ही 'धिषणा' कहते हैं। वैदिक भाषामें इसी अश्मात्मक प्राणके कारण इसे 'धिषणा पार्वतेयी' कहा जाता है।

बारंबार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'भारतीय मानव धर्म-भीरु होते हुए भी सर्वथा अभिभूत क्यों है? उसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार कुण्ठित क्यों बना हुआ है?' इस प्रश्नका मान-वोचित समाधान यही है कि भारतीय मानव अत्यन्त भावुक हो गया है। उसने अपना प्राचीन निष्ठाभाव खो दिया है। वह सारे विश्वके कल्याणके लिये सौम्यभावसे आकुल हो जाता है, किंतु आत्मकेन्द्रकी रक्षा नहीं करता। उसका अन्तःकरण सौम्य होते हुए भी भावुक होनेके कारण स्पन्दमान या ढिलमिल रहता है। वह दृढ़ कर्म और विचारोंमें सक्षम नहीं बन पाता। उसमें धर्मभीरुता तो होती है, किंतु आत्मसत्यरूपी धर्मात्मकता नहीं होती। आत्मनिष्ठापर अध्यारूढ़ होना सच्ची श्रद्धा है। उसका भारतीय मानवमें अभाव हो गया है। अतएव उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वका विकास नहीं हो पाता। वह जिस किसीके लिये भी अपनी आत्माका समर्पण तो करता है, किंतु निष्ठापूर्वक ग्रहण कुछ भी नहीं करता। मनोगर्भिता बुद्धिसे प्रवृत्त होनेवाला मानव ही निष्ठावान् मानव है। ऐसे मानवका स्वयं केन्द्र विकसित होता है। केन्द्र-बिन्दुका नाम ही मनु है। आत्म-बीजका नाम ही मनु कहा जाता है। वह मनुतत्त्व जिस मानवमें विकसित नहीं है, उसमें श्रद्धाका होना भी व्यर्थ है। श्रद्धा तो मनुकी पत्नी है अर्थात् श्रद्धा मनुके लिये अधिति या भोग्या है। जिस समय आत्मकेन्द्र मनु तेजस्वी होता है, उस समय वह अपने ही आप्यायन या संवर्धनके लिये बाहरसे श्रद्धारूपी अधिति या भोग्य प्राप्त करता है। मनु श्रद्धाका भोग करके ही पूर्ण बनते हैं। मनु और श्रद्धाकी एक साथ परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही सत्यका स्वरूप है। सर्वप्रथम मानवका आत्म-केन्द्र उद्बुद्ध होना चाहिये। उसमें तेज प्राण या इन्द्रात्मक ज्योतिका पूर्ण प्रकाश आना चाहिये। तभी वह सच्चा मनुपुत्र या मानव बनता है। इस प्रकार आत्मकेन्द्रमें उद्बुद्ध होनेके बाद आत्मबीजके विकासके लिये वह सारे विश्वसे अपने लिये ग्राह्य अंश स्वीकार करता हुआ बढ़ता है। यही श्रद्धाद्वारा मनुका आप्यायन है। वैदिक भाषामें इसे ही यों भी कहा जाता है—

अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते।

केन्द्र या 'मनु' महदुक्थ है। उस महदुक्थकी तृप्ति या आप्यायन श्रद्धारूपी अशितिसे होता है, जो उसे चारों ओरसे प्राप्त होती है। इस प्रकार एक ही बातको कई रीतिसे कहा गया है। महदुक्थ और अशिति; मनु और श्रद्धा—इन दोनोंकी एक साथ अभिव्यक्तिका नाम ही सत्यरूपी प्रतिष्ठातत्त्व है—

सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।

सत्य स्वयं-प्रतिष्ठित होता है। और सब कुछ सत्यका आधार पाकर प्रतिष्ठित बनता है। सत्य आग्नेय तत्त्व है और श्रद्धा ऋत या स्नेह या आपोमय पारमेष्ठ्य तत्त्व है। सत्य-परायण बुद्धि तेज और प्राण या इन्द्रतत्त्वको ग्रहण करती है। सूर्यकी संज्ञा इन्द्र या रुद्र भी है। वेदकी दृष्टिसे अग्नि या शिव बड़े हैं और सोम अग्निका छोटा वत्स है। सोमकी आहुति अग्निमें पड़ती है; जिससे अग्नि सौम्य रहता है और अमृतधर्मा बनता है। यही प्रक्रिया मानवमें भी निश्चित है। भावुकता सौम्यताका रूप है और निष्ठा आग्नेय तेज प्राणात्मक बुद्धिका धर्म है। श्रद्धाका उद्गम मनमें और विश्वासका उद्गम बुद्धिमें होता है। विश्वास तेजतत्त्व और श्रद्धा आपोमय है। बुद्धिसे भी परे और उससे भी उच्चतर तत्त्वका नाम आत्मा है—

यो बुद्धेः परतस्तु सः।

श्रद्धासमन्वित बुद्धि ही उस आत्मतत्त्वतक पहुँच सकती है। वह जिसमें विकसित हो, उस व्यक्तिको ही 'महामानव' या 'पुरुषोत्तम मानव' कहा गया है। अलौकिक परिपूर्ण मानव ही मनुष्यजातिका युग-युगोंसे आदर्श रहा है। भगवान् श्रीकृष्णने इसी मानवको लक्ष्य करके पुरुषोत्तम कहा है। इसे ही अंग्रेजीमें 'Superman' कहते हैं। प्राकृत मानव और 'महामानवका' जो अन्तर है, वही 'Man' और 'Superman' का है। वेदव्यासने जो—

नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

—इस लोकोत्तर सत्यका उद्घोष किया था, वह उसी महामानव, अतिमानव या लोकोत्तर मानवके लिये है, न कि सर्वात्मना दीन-हीन और अशक्त बने हुए निर्बल-संकल्प मानव-

के लिये, जो परिस्थितियोंके थपेड़ोंसे पराभूत होता हुआ इधर-उधर लक्ष्यहीन कर्म करता रहता है। इस प्रकारका जो 'बापुरा' मनुष्य है, वह तो शोकका विषय है। वस्तुतः मानवका उद्देश्य तो अपने उस स्वरूपकी प्राप्ति है, जिसमें विश्वका वैभव या 'समृद्ध्यानन्द' और आत्माका सहज स्वाभाविक उत्कर्ष या 'शान्त्यानन्द' दोनों एक साथ समन्वित हुए हों। जो मानव इस प्रकारकी स्थिति इसी जन्ममें यहीं रहते हुए प्राप्त करता है, वही सफल श्रेष्ठतम मानव है।

मानवता—मानव-धर्म

(लेखक—पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

मानवताका अर्थ है—मानव-धर्म। धर्मका अर्थ है कर्तव्य। राजधर्म—राजाका कर्तव्य, प्रजाधर्म—प्रजाका कर्तव्य, नारी-धर्म—नारीका कर्तव्य। यह इस तरहकी कर्तव्य-व्यवस्था अन्यत्र नहीं है। मानव-धर्म ही मानवता है। यदि शरीर मानव-का है, पर उसमें मानवता नहीं, मानव-धर्म नहीं तो फिर उसे मानव न कहकर मानवका खोल कहा जायगा।

'मानव'का जन्म 'मनु'से है। 'मनु' मनको भी कहते हैं और 'मन' सभी प्राणियोंको प्राप्त है। परंतु 'मन' रखते हुए भी सब प्राणी 'मानव' नहीं। 'मनु' या मनने पशु-पक्षियोंको 'मानव' नहीं बनाया। इसका कारण है।

केवल 'मनु' (मन) 'मानवता' नहीं पैदा कर सकता। विशिष्ट बुद्धि तथा श्रद्धाका सहयोग पाकर ही 'मनु' 'मानव'की सृष्टि करता है। यदि 'मनु'के साथ विशिष्ट बुद्धि है, पर श्रद्धा नहीं है तो फिर वह ('मनु') 'मानव'के रूप-में नहीं, दानवके रूपमें प्रकट होगा। विशिष्ट बुद्धि मनको मन-माना नाच नचायेगी और फजीहत करा देगी। मन श्रद्धाका साथ कम करता है और इसीलिये पतन होता है। यदि एक बार पतनकी ओर जाकर भी कहीं श्रद्धासे युक्त हो जाय तो वह फिर सँभल जायगा—'मानव' बन जायगा। इसी चीजको वेद-साहित्यमें एक सुन्दर रूपकसे समझाया गया है। 'मन'का नाम 'मनु' है ही। 'बुद्धि' और 'श्रद्धा'को 'इडा' और 'कामायनी' नामसे रूपकमें प्रकट किया गया है। अर्थात् 'प्रमाथी' मनकी दो शक्तियाँ नारी-रूपसे हैं। यदि मनके साथ विशिष्ट बुद्धि न हो तो पशु और श्रद्धा न हो तो दानव! इस वैदिक रूपकके असली वर्णन ('प्रकृत') को न समझकर अप्रकृत (उपमान राजा-रानी) को ही प्रकृत समझ लिया गया और उस रूपकको ऐतिहासिक वृत्त मानकर 'कामायनी'-जैसे काव्य लोगोंने लिखे हैं।

मानव-धर्म है क्या ?

मानवधर्म बहुत स्पष्ट है। 'मनुस्मृति' मानव-धर्मशास्त्र है। यहाँ कहा गया है कि धर्म मानव-जगत्को धारण करता है। उपलक्षणार्थ निर्देश है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि। ये मानव-धर्म हैं। इनके बिना मानव-जगत् चल नहीं सकता। फिर यह भी मनुस्मृतिमें कहा गया है कि देश, काल, पात्रके अनुसार धर्म बदलता भी है। सदा जडभरत बनकर एक ही चीज पकड़े बैठा रहना मानवताके अनुकूल नहीं। 'अहिंसा' धर्म है; परंतु इसके साथ ही कहीं हिंसाका भी समावेश होता है। इस प्रकारकी हिंसा मानव-धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये ही है। 'अस्तेय' धर्म है; परंतु जो इस धर्मको न माने और समाजमें उपद्रव मचाये, उसे जेलमें डालना धर्म है और हिंसात्मक कृत्योंको रोकनेके लिये प्राणदण्डकी व्यवस्था भी धर्म है। यानी सर्वत्र 'अहिंसा' पकड़े बैठा रहना धर्म नहीं है। लोक-कल्याण या मानव-जगत्का 'धारण' उद्देश्य है। उसीके लिये धर्म-व्यवस्था है। इसीलिये कहीं हिंसा भी धर्ममें आ जाती है।

कभी-कभी समाजमें एकाङ्गिता आ जाती है। 'अहिंसा' को मानवधर्ममें सर्वोच्च स्थान मिला है। परंतु इसके भी अपवाद हैं। विष घातक है; परंतु सुयोग्य चिकित्सक इसका समुचित उपयोग करके कभी-कभी मुमूर्षुके प्राण बचा लेता है। परंतु यह प्रयोग अपवादमें आयेगा। कहाँ किस वस्तुका कैसा और कितना प्रयोग करना चाहिये, यही 'योग'-विद्या है—'योगः कर्मसु कौशलम्'—काम करनेमें कुशलता ही 'योग' है। 'योग' का अर्थ है—नुस्खा। नुस्खेमें बीसों चीजें मिलायी जाती हैं। कोई चीज ज्वर कम करती है, कोई खाँसी आराम करती है और कोई दाह दूर करती है; परंतु सब चीजोंकी मात्रापर ध्यान देना होता है। खाँसी नहीं है, तो उसके लिये निश्चित ओषधि 'योग' में वहाँ न दी जायगी। इसी तरह मानव-जगत्के रोग—चोरी, बेईमानी, कृतघ्नता आदि—दूरकर स्वस्थ मानवता पैदा करनेके लिये 'कर्मयोग' है। जंगली लोग हिंसा-रत रहते हैं। वहाँ

मानवता कहाँ? परंतु अहिंसाका अतिरेक भी मानवताको नष्ट कर सकता है। आततायी जन निर्भय होकर जनतामें लूट-पाटका अकाण्ड-ताण्डव करने लगेंगे—यदि यह डर न रहे कि धर्मशासन (राज-शासन) हमें मार देगा, ऐसे कृत्य करनेपर। अपने घरपर ही नहीं, देशपर भी आततायी आ टूटेंगे और एकान्त अहिंसाव्रती जनोंको उसी प्रकार दबोच लेंगे, जैसे भेड़को भेड़िया दबोच लेता है। इसलिये मानव हिंसासे विरत होनेपर भी एकान्त अहिंसाव्रती नहीं हो सकता। मानव न हिंसावादी है न अहिंसावादी। मानव है मानवतावादी। 'जिओ और जीने दो' का सिद्धान्त ही मानवता है। भेड़िया कहता है—जिओ, चाहे जिसे मार खाओ!' भेड़ कहती है—''प्रतीकार करना अपना काम नहीं; यदि 'में'-'में' करके चिल्लाना ही प्रतीकार है तो दूसरी बात है'' भेड़िया कभी भी न चाहेगा कि भेड़ें प्रतीकारमें अपने सींगोंका किंचित् भी उपयोग मिलकर करें। अतः हमारे भगवान् रामने हमें बताया कि न हिंसावादी बनो और न अहिंसाके ही एकान्त व्रती बनो—मानव बनो। यही चीज श्रीकृष्ण भगवान्‌ने बतायी और गीतामें इसीकी व्याख्या की है।

धर्म और मत-मजहब

ऊपर स्पष्ट हुआ कि मानवधर्म संसार-भरमें एक ही है। किसी भी देश या समाजमें झूठ बोलना और चोरी करना धर्म नहीं बतलाया गया है। परंतु मत-मजहब भिन्न-भिन्न हैं और वह भिन्नता प्रायः ईश्वर-उपासनाको लेकर है। सो, यह एक पृथक् चीज है। कपड़ेको साफ करना साबुन-का काम है और उसे रंगीन करना रंगका काम है। ईश्वर-भक्त भी अधर्मी हो सकता है, यदि चोरी आदि करता है और अनीश्वरवादी भी धर्मात्मा हो सकता है, यदि सत्य, अहिंसा, जनसेवा, दया, तितिक्षा आदि मानवधर्मोंका समुचित 'योग' उसमें है। यह अलग बात है कि भगवान्‌का 'अनन्य भक्त' बहुत शीघ्र सदाचारी (धर्मात्मा) भी बन जाय। वह बनेगा ही। यदि ऐसा न हो, भगवान्‌का भजन करने-वाला सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, दया आदि मानवधर्मोंसे या सदाचारसे दूर ही रहे, दुराचारी ही बना रहे तो समझना चाहिये कि भगवान्‌की भक्ति करनेका वह ढोंग करता है—वस्तुतः भगवान्‌का वह भक्त नहीं है। जो भगवान्‌का 'अनन्य भक्त' होगा, वह तुच्छ सांसारिक सम्पदा या मान-प्रतिष्ठाकी उपासनामें अपने धर्मका बलिदान कैसे कर सकता है? असम्भव बात है।

इसी तरह धर्मात्मा अनीश्वरवादी भी कभी ईश्वर-भक्त बन जायगा। वह मानवधर्मकी उपासना करता हुआ वस्तुतः उस रूपमें ईश्वरकी ही उपासना करता है; और इसमें संदेह नहीं कि उसकी उस उपासनासे भगवान् प्रसन्न होंगे।

संक्षेपमें यह मानवता, मत-मजहब आदिका उल्लेख हुआ। 'संस्कृति' पृथक् वस्तु है। मानव-धर्म, मत-मजहब, संस्कृति आदिका स्वरूप-निर्देश मैंने अपनी 'मानवधर्म-मीमांसा' में किया है। हमारा 'सनातन धर्म' वस्तुतः 'मानव-धर्म' ही है, अर्थात् मानवधर्म है हमारा 'सनातन धर्म'। पूजा-पद्धति सबकी अलग-अलग, पर मानव-धर्मसे सब एक जगह। जो किसी एक ही 'वाद' या किसी एक ही मतप्रवर्तकसे बँधे हुए हैं और दूसरोंको निन्दा करते हैं, वे 'सनातनधर्मी' नहीं।

राम-प्रेम बिना सब व्यर्थ

हिय फाटहुँ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं स्रवहिं पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥
हृदय सो कुलिस समान, जो न द्रवइ हरि-गुन सुनत।
कर न राम-गुन-गान, जीह सो दादुर जीह सम॥
स्रवै न सलिल सनेहु, तुलसी सुनि रघुबीर जस।
ते नयना जनि देहु, राम! करहु बरु आँधरो॥
रहैं न जल भरि पूरि, राम! सुजस सुनि रावरो।
तिन आँखिन महँ धूरि भरि भरि मूठी मेलिये॥

—तुलसीदासजी

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

मानवता-पोषक धर्मके चार चरण कहे गये हैं—सत्य, दया, तप और दान । यथा—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात् तज्जनैर्धृतः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । १८)

मनु० १ । ८१ । ८६ तथा स्कन्दपुराण, नारदपुराण २२१ । १८ में भी धर्मके चारों चरणोंकी व्यवस्था है । इन चारोंकी पूर्णतामें मानवता भी पूर्ण रहती है । ईश्वरकी सत्ता सर्वत्र देखनेके भावको 'सत्य' कहते हैं । जो सर्वत्र एवं सबमें ईश्वरकी सत्ता (स्थिति) देखता है, वह सर्वदर्शी एवं सर्व-रक्षक ईश्वरके भयसे किसीके प्रति मन, वचन और कर्मसे अन्यथा बर्ताव नहीं कर सकता । देह-पोषकतामें राग-द्वेष रहते ही हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
(गीता ३ । ३४)

तपस्या करनेसे मानवता-घातक ये दोनों दोष नहीं रह पाते; क्योंकि तपस्यामें इन्द्रिय-निग्रह रहता है और दया एवं दानसे कर्महीनोंके पोषणकी व्यवस्था रहती है । श्रीरामराज्यमें इन चारों चरणोंकी पूर्णतासे पूर्ण मानवता थी ।

किंतु उपासकोंमें मानवताकी प्रशस्त वृत्तियाँ स्वतः रहती हैं । दार्शनिक दृष्टिसे विचार करनेपर जीवमात्र ईश्वरके सेवक हैं; यथा—

जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी'''
(विनय-पत्रिका ५८)

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
(रामचरितमानस उत्तर० ११६)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(गीता १५ । ७)

अर्थात् जीवमात्र ईश्वरके अंश हैं ।

अंशभागौ तु वण्टके । (अमरकोष)

अर्थात् अंशका अर्थ भाग (हिस्सा) होता है; जो पदार्थ जिसका भाग होता है, वह उसीके उपभोगके लिये रहता है । अतः ईश्वरांश जीव ईश्वरका भोग्य है । इसका इन्द्रियोंसे ईश्वरकी भक्ति करते हुए रहना उसका भोग्यभूत होकर रहना है । श्रुतियोंने भी कहा है—

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८७ । २०)

'अपने कर्मोंसे उपार्जित इन मनुष्य आदि शरीरोंमें वर्तमान स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरोंके आवरणोंसे मुक्त पुरुषको विद्वान् लोग सर्वशक्तिमान् आपका अंश कहते हैं । इस प्रकार मनुष्यकी गतिका विचारपूर्वक निश्चय करके पृथ्वीके सभी सदसद्विवेकी लोग विश्वासपूर्वक संसारसे मुक्त करनेवाले आपके चरणोंका भजन करते हैं और उन्हींको समस्त सांसारिक कर्मोंके अर्पणका आश्रय मानते हैं; तथा—

दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः ।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च ॥
स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि ।
आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर ॥
(नारदपञ्चरात्र)

जीवकी इस प्रकारकी गतिके अनुसार उच्चकोटिकी अनन्य ईश्वर-भक्तिका उपदेश अपने परम प्रिय भक्त श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरामजीने दिया है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
(रामचरितमानस कि० ३)

अर्थात् भगवान्‌को अनन्यगति सेवक प्यारा है । अनन्य वह है, जिसके हृदयमें ऐसी बुद्धि चलायमान न हो कि 'मैं सेवक हूँ और चराचर रूप भगवान् मेरे स्वामी हैं । 'मति न टरइ'—यों कहनेका भाव यह कि इस भावमें बुद्धि चलायमान होनेकी सम्भावना है; यह मनमें आ सकता है कि सारा चराचर जगत् जब स्वामी श्रीरामजीका स्वरूप है, तब मैं भी भगवान्‌का शरीर होनेसे भगवान् ही हूँ । इसलिये सेवकभावपर दृढ़ बुद्धि रखनेको कहते हैं—

जैसे मनुष्यके हाथ-पैर आदि अङ्ग उसके सेवकरूपमें रहते हैं; यथा—

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।

(रामचरितमानस, अयोध्या० ३०६)

उसी प्रकार चराचररूप स्वामीका मैं शरीर (अङ्ग) होता हुआ भी सेवक हूँ; तथा—

सीय-राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रामचरितमानस, बाल० ७)

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(रामचरितमानस, उत्तर० ११२)

श्रीरामजीने परम प्रिय सखाओंको इसी प्रकार भक्तिकी शिक्षा दी है—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥

(रामचरितमानस उत्तर० १६)

एवं—

'जगत् सर्वं शरीरं ते'

(वाल्मीकि० ६। ११७। २५)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनको चराचर-शरीरके साथ अपना (विराट्) रूप दिखाया और उसकी परम दुर्लभता कहकर उसीकी अनन्य भक्तिसे उसकी प्राप्ति कही है—

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥
नाहं वेदैर्न तपसा··· ··· ···।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५२—५४)

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि मेरे इस विराट् (सचराचर) रूपके दर्शनकी देवता भी नित्य आकाङ्क्षा करते हैं; मेरा इस प्रकारका दर्शन न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे किया जा सकता है। परंतु, हे परंतप! अनन्यभक्तिसे मैं इस प्रकार तत्त्वसे जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ।

तात्पर्य यह कि चराचरको भगवद्रूप ही मानकर अनन्य भावसे (चराचरको भगवान्से अन्य न मानकर) सेवा करनेसे चराचर जगत्में स्वामिभावकी उत्तम प्रीति रहेगी और किसीसे वैर-बुद्धिकी सम्भावना ही न रहेगी—

उमा जे··· ·· ··························।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

—यह वृत्ति स्वतः अटल रहेगी। अतः इस अनन्य भक्तिमें मानवताका परिपूर्ण रूप सदा विकसित रहेगा। इसमें लोक-सुखकी सम्पन्नता रहेगी और उपर्युक्त 'प्रवेष्टुं च परंतप' के अनुसार अन्तमें भगवत्प्राप्ति होगी, यह परलोक-सुखकी पूर्णता है; यथा—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(गीता ८। १५)

अर्थात् वे परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्मागण मुझे प्राप्त होकर दुःखके स्थानरूप क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।

मनुष्य-शरीरका परिणाम

अब कहाँ चले अकेले मीता। उठहु न करहु घरहि कै चिंता॥
खीर-खाँड-घिउ पिंड सँवारा। सो तन लै बाहिर कस डारा॥
जो सिर रुच रुच बाँधी पागा। सो सिर रतन बिगारत कागा॥
हाड़ जरै जस लाकरि झूरी। केस जरै जस घास कै पूरी॥
आवत संग न जात सँगाती। काह भए दल बाँधे हाती॥
माया को रस लैन न पायो। अंतहु जम-बिलारि होय धायो॥
कहैं कबीर नर अजहुँ न जागा। जम-मुगदर सिर ऊपर लागा॥

—कबीर

मानवताका लक्ष्य स्वरूप-प्राप्ति है

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी शास्त्री)

आदि-मनुकी संतान संसारमें 'मानव' नामसे विख्यात हुई। जगत्-स्रष्टाकी रचनामें मानव-रचना सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। इस मानवको जगत्पिता जगदीशने बौद्धिक बलका प्राधान्य प्रदान किया है, जिस बुद्धिबलके द्वारा मानव काल्पनिक जगत्प्रपञ्चसे ऊपर उठकर आत्म-साम्राज्यमें विराजमान होकर अनन्याधिपति हो जाता है। इस अनन्याधिपतित्व (आत्मसाक्षात्कार) की भावना जिस मानवकी मनीषा (बुद्धि) में समा गयी, समझ लो—उसमें मानवता आ गयी; अन्यथा मानवता दानवतामें समा गयी।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

इस श्रुतिमें मानवके लिये आत्मसाक्षात्कारकी अवश्य-कर्तव्यता बतलायी है, अन्यथा महाविनाशकी सूचना दी है।

दानवमें भौतिक बलका प्राधान्य होता है। वह तामस-ज्ञानयुक्त भौतिक बुद्धिरूप नेत्रसे भौतिक शरीरको ही अपना रूप समझने लगता है। उसका इष्टदेव, ईश्वर या सर्वस्व शरीर ही होता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥
(गीता १८। २२)

वह मानवरूपी दानव अपने इष्टदेव (भौतिक शरीर) की नित्य शब्द-स्पर्शादि पञ्चविषयरूपी सामग्रीसे पञ्चोपचार पूजा करता है और अन्तमें मरकर अपने इष्टदेव भौतिक शरीर-को ही प्राप्त होता है—भूतानि यान्ति भूतेज्याः। एवं 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का चक्र उसका नहीं छूटता। यह जीवके पतनकी पराकाष्ठा है।

इसके पतनका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

चित् (कूटस्थ ब्रह्म) का अन्तःकरणमें जो आभास (प्रतिबिम्ब) है, वह चिदाभास ही जीव कहलाता है। यह इसके पतनका श्रीगणेश (आरम्भ) है।

वह जीव अन्तःकरणके सङ्गसे अन्तःकरणके तादात्म्यको, इन्द्रियोंके सङ्गसे इन्द्रियोंके तादात्म्यको और शरीरके सङ्गसे शरीरके तादात्म्यको प्राप्त हो जाता है। जैसे शुद्ध श्वेत जल काले, पीले और लाल रंगके काँचके पात्रमें डालनेसे काला, पीला और लाल रंगका दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार यह जीव भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंके सङ्गसे तत्तदाकार ही दिखायी देने लगता है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

यह अघटनघटनापटीयसी मायाकी महिमा है कि चेतन (चित्), अमल (सत्) और सहज सुखराशि (आनन्द) को अचेतन (जड शरीर), समल (असत्) सहज दुःखराशि बना दिया। कान सुनते हैं—कहता है, मैं सुनता हूँ; आँख देखती है तो कहता है—मैं देखता हूँ; रसनेन्द्रिय रस ले रही है, तब कहता है मैं स्वाद ले रहा हूँ। त्वचा-इन्द्रिय अपने शीतोष्ण विषयको ग्रहण करती है, पर जीव कहता है —मुझे सर्दी लग रही है, मुझे गरमी लग रही है। नेत्र रूपको ग्रहण करते हैं, लोग कहते हैं कि हमने आज बड़ा अच्छा सिनेमा देखा। एवं नासिकाके धर्म सुगन्ध-दुर्गन्ध-को अपना धर्म मानकर जीव सुखी-दुखी हो जाता है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

इस प्रकार बहिर्मुखी इन्द्रियोंके साथ एकीभावको प्राप्त हुआ जीव अपने अन्तरात्माका दर्शन नहीं कर पाता। कश्चिद् धीरः आवृत्तचक्षुः प्रत्यगात्मानमैक्षत—कोई विरला ही साधनसम्पन्न धीर पुरुष इन्द्रियोंसे पृथक् होकर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। यहाँ 'आवृत्तचक्षुः'का यह अर्थ नहीं कि धीर पुरुष आँखोंमें पट्टी बाँध ले और कानोंमें रूई ठूँस ले। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही आँखोंसे देखते हैं और कानोंसे सुनते हैं। अन्तर इतना है कि ज्ञानी तो 'पश्यन् शृण्वन्'—देखते-सुनते हुए भी 'नैव किंचित्करोति'—अकर्ता बना रहता है; क्योंकि वह स्वरूपमें स्थित है। अज्ञानी सदा विषयोंका रूप ही बना रहता है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' यही मानवमें दानवता है। ज्ञानी तो शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्धके विपरीत

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

—शब्दादि विषयोंसे रहित अवाच्यानन्तानन्दस्वरूप साम्राज्यमें विराजमान हो जाता है।

यत्स्वादाद् विरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः।

यहाँ मृत्युकी भी मृत्यु हो जाती है। इसी अनन्याधि-पतित्वमें मानवके मानवताकी चरितार्थता है।

भारतीय संस्कृति—मूर्तिमती मानवता

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

भारतीय संस्कृति ही ऐसी है, जो मनुष्यके सर्वाङ्गीण विकासका ध्यान रखती है और उन्नतिके सर्वाधिक साधन प्रस्तुत करती है। हिंदू-तत्त्वदर्शियोंने संसारकी व्यवहार्य वस्तुओं और व्यक्तिगत जीवन-यापनके ढंग और मूलभूत सिद्धान्तोंपर पारमार्थिक दृष्टिकोणसे विचार किया है। हमारे यहाँ क्षुद्र सांसारिक सुखोपभोगसे ऊपर उठकर—वासनाजन्य इन्द्रिय-सम्बन्धी साधारण सुखोंसे ऊपर उठ आत्मभाव विकसितकर पारमार्थिकरूपसे जीवन-यापनको प्रधानता दी गयी है। मानवताके पूर्ण विकास एवं निर्वाहको दृष्टिमें रखकर हमारे यहाँ मान्यताएँ निर्धारित की गयी हैं।

हिंदू-तत्त्वदर्शियोंने भारतीय संस्कृतिका सूक्ष्म आधार जिन मान्यताओंपर रखा है, उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। क्रमशः हम उन्हीं विशेषताओंपर विचार करेंगे—

१. सुखका केन्द्र आन्तरिक श्रेष्ठता

भारतीय ऋषियोंने खोज की थी कि मनुष्यकी चिरंतन अभिलाषा, सुख-शान्तिकी उपलब्धि इस बाह्य संसार या प्रकृतिकी भौतिक सामग्रीसे वासना या इन्द्रियोंके विषयोंको तृप्त करनेमें नहीं हो सकती। पार्थिव संसार हमारी तृष्णाओंको बढ़ानेवाला है। एकके बाद एक नयी-नयी सांसारिक वस्तुओंकी इच्छाएँ और तृष्णाएँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं। मनुष्यकी ऐसी प्रकृति है कि एक वासना पूरी नहीं होने पाती कि नयी दो वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। मनुष्य अपार धन-संग्रह करता है, अनियन्त्रित काम-क्रीड़ामें सुख ढूँढ़ता है, लूट-खसोट और स्वार्थ-साधनसे दूसरोंको ठगता है। धोखा-धड़ी, छल-प्रपञ्च, नाना प्रकारके षड्यन्त्र करता है; विलासिता, नशेबाजी, ईर्ष्या-द्वेषमें प्रवृत्त होता है; पर स्थायी सुख और आनन्द नहीं पाता। इस प्रकारकी मृगतृष्णा मात्रमें अपना जीवन नष्ट कर देता है। उलटे उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ और भी उत्तेजित हो उठती हैं। जितना-जितना मनुष्य सुखको बाहरी वस्तुओंमें मानता है, उतना ही उसका व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन अतृप्त, कण्टकाकीर्ण, दुखी, असंतुष्ट और उलझन-भरा हो जाता है।

हिंदू-तत्त्ववेत्ताओंने इस त्रुटिको देखकर ही यह निष्कर्ष निकाला था कि स्वार्थपरता और सांसारिक भोग कदापि स्थायी आनन्द नहीं दे सकते। हमारे स्थायी सुखोंका केन्द्र भौतिक सुख-सामग्री न होकर आन्तरिक श्रेष्ठता है। आन्तरिक शुद्धिके लिये हमारे यहाँ नाना विधानोंका क्रम रखा गया है। त्याग, बलिदान, संयम—वे उपाय हैं, जिनसे मनुष्यको आन्तरिक शुद्धिमें प्रचुर सहायता मिल सकती है।

२. अपने साथ कड़ाई और दूसरोंके साथ उदारता

भारतीय संस्कृतिमें अपनी इन्द्रियोंके ऊपर कठोर नियन्त्रणका विधान है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओं और इन्द्रियोंके ऊपर नियन्त्रण कर सकेगा, वही वास्तवमें दूसरोंके सेवा-कार्यमें हाथ बँटा सकता है। जिससे स्वयं अपना शरीर, इच्छाएँ, वासनाएँ और अपनी आदतें ही नहीं सँभलतीं, वह क्या तो अपना हित करेगा और क्या लोकहित।

हरन्ति दोषजातानि नरमिन्द्रियकिंकरम्।

(महा० अनु० ५१। १६)

'जो मनुष्य इन्द्रियों (और अपने मनोविकारों) का दास है, उसे दोष अपनी ओर खींच लेते हैं।'

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।

(मनु० २। १५)

'इन्द्रियाँ बहुत बलवान् हैं। ये विद्वान्‌को अपनी ओर बलात् खींच लेती हैं।'

अतः भारतीय संस्कृतिने मनुष्यके दिव्य गुणोंके विकास और उन्नतिको दृष्टिमें रखते हुए अपने साथ कड़ाईके व्यवहारकी स्थापना की है। यदि हम अपनी कुप्रवृत्तियोंको नियन्त्रित न करेंगे तो हमारी समस्त शक्तियोंका अपव्यय हो जायगा। आदर्श मानव वह है, जो दम, दान एवं यम—इन तीनोंका पालन करता है। इन तीनोंमें भी विशेषतः दम (अर्थात् इन्द्रिय-दमन) भारतीय तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंका सनातन धर्म है। इन्द्रिय-दमन आत्मतेज और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला है। दमके अभ्याससे तेज बढ़ता है। दमका प्रयोग मानवताके विकासके लिये उत्तम है। संसारमें जो कुछ नियम, धर्म, शुभकर्म अथवा सम्पूर्ण यज्ञोंके फल हैं, उन सबकी अपेक्षा दमका महत्त्व अधिक है। दमके बिना दानरूपी क्रियाकी यथावत् शुद्धि नहीं हो सकती। अतः दमसे ही यज्ञ और दमसे ही दानकी प्रवृत्ति होती है।

जिस व्यक्तिने इन्द्रिय-दमन और मनोनिग्रहद्वारा अपनेको वशमें नहीं किया है, उसके वैराग्यका बाना धारणकर वनमें भी रहनेसे क्या लाभ ? तथा जिसने मन और इन्द्रियोंका भलीभाँति दमन किया है, उसको घर छोड़कर किसी जंगल या आश्रममें रहनेकी क्या आवश्यकता ?

जितेन्द्रिय पुरुष जहाँ निवास करता है, उसके लिये वही स्थान वन एवं महान् आश्रम है। जो उत्तम शील और आचरणमें रत है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है तथा जो सरल भावसे रहता है, उसको आश्रमोंसे क्या प्रयोजन ? विषयासक्त मनुष्योंके वनमें भी दोष आ जाते हैं तथा घरमें रहकर भी पाँचों इन्द्रियोंपर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया जाय, तो वही तपस्या है।

एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति इन्द्रिय-संयमका उपदेश देती है, वहीं दूसरी ओर वह दूसरोंके प्रति अधिक-से-अधिक उदार होनेका आग्रह करती है। सच्चे भारतीयको दूसरोंकी सेवा, सहयोग और सहायताके लिये प्रस्तुत रहना चाहिये—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम्॥
(महा० शा० २९३। १९)

अर्थात् सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला सत्यका कथन है, परंतु सत्यका ज्ञान तो बहुत ही कठिन है। इसलिये सुगमरूपसे उसीको मैं सत्य कहता हूँ, जो प्राणियोंके लिये अधिकतया हितकर हो।

भारतीय संस्कृतिमें सदा दूसरोंके साथ उदारताका व्यवहार रहा है। जो लोग बाहरसे मारनेके लिये आये, जिन्होंने विष दिया, जिन्होंने आगमें जलाया, जिन्होंने हाथियोंसे रौंदवाया और जिन्होंने साँपोंसे डँसवाया, उन सबके प्रति भी भारतीय संस्कृति उदार रही है। हाथीमें विष्णु, सर्पमें विष्णु, जलमें विष्णु और अग्निमें भी उसने विष्णुको देखा है, तब फिर पशुओं और मनुष्योंकी तो बात ही क्या। हम जीवमात्रको प्यार करनेवाली उदार जातिके रहे हैं।

३. सद्भावोंका विकास

मनुष्य ईश्वरका स्वरूप है। उसकी अन्तरात्मामें समस्त ईश्वरीय सम्पदाओंके बीज वर्तमान हैं। इन सद्गुणों और दैवी सम्पदाओंका अधिकाधिक विकास करना भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य रहा है। 'शीलं हि शरणं सौम्य' (अश्वघोष) सत्-स्वभाव ही मनुष्यका रक्षक है। उसीसे अच्छे समाज और अच्छे नागरिकका निर्माण होता है। अन्तरात्मामें छिपे हुए सद्गुणों और दिव्यताओंको अधिकाधिक विकसित करना भारतीय संस्कृतिका मूलमन्त्र रहा है। हमारे यहाँ कहा गया है—

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचि।
(महा० शा० १९१। १८)

'समस्त तीर्थोंमें हृदय (अन्तरात्मा) ही परम तीर्थ है। सारी पवित्रताओंमें अन्तरात्माकी पवित्रता ही मुख्य है।'

हम यह मानकर चलते आये हैं कि मानवकी अन्तरात्मामें जीवन और समाजको आगे बढ़ाने और सन्मार्गपर ले जानेवाले सभी भाव और शुभ संस्कार भरे पड़े हैं। जिस प्रकार मकड़ी तारके ऊपरकी ओर जाती है तथा जैसे अग्नि अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ाती है, उसी प्रकार इस आत्मासे समस्त प्राण, समस्त देवगण और समस्त प्राणी मार्गदर्शन पाते हैं। सत्य तो यह है कि यह आत्मा ही उपदेशक और पथप्रदर्शक है। अतः हमें आत्माके गुणोंका ही विकास करके मानवताकी प्राप्ति करनी चाहिये।

४. व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाकर विश्वहितकी ओर ध्यान

भारतीय संस्कृतिने विश्वहितको बड़ा महत्त्व दिया है। अपनी निजी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाते रहना और समय, शक्ति तथा योग्यताका अधिकांश भाग विश्वहितमें लगाना हमारा आदर्श रहा है। कम-से-कम खा-पहिनकर दूसरोंकी अधिक-से-अधिक सेवा करना, स्वादके लोभसे भोजन न करना और विलास तथा दिखावेके लोभसे विलासितामें न फँसना हमारे देशकी परिपाटी रही है। हमारे यहाँ भोजन इसलिये किया जाता है कि शरीर स्वस्थ रहे और उस शरीरसे अधिक-से-अधिक विश्वकी सेवा होती रहे। भारतीय संस्कृतिके पुजारीको यह ध्यान रहता है कि उसके वस्त्र स्वच्छ हों और उनमें किसी प्रकारका दिखावटीपन न हो। वह कम-से-कम सोये और सांसारिक मिथ्या प्रदर्शनसे अपनेको अलिप्त रखे। बिना पूर्ण त्यागके विश्वहित नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृतिने ऐसे अनेक गृहस्थ उत्पन्न किये हैं, जिन्होंने पूरे राज्यका संचालन करते हुए अपने-आपको उनसे सर्वथा अनासक्त रखा है, अपने शरीरका भी मोह नहीं किया है। महाराजा जनक तो इसीलिये विदेह कहे जाते थे। विरक्तशिरोमणि श्रीशुकदेवजी भी जिन्हें गुरु बनाकर ज्ञानोपदेश

लेने गये थे, उन परम ज्ञानीके विषयमें क्या कहा जाय। तुलाधार वैश्य थे। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाकर वे सदा ग्राहकका ही हित देखते थे। धर्मव्याध शूद्र थे। उनके त्यागके सामने ब्राह्मण भी नत हो जाते थे। महर्षि याज्ञवल्क्य एक कौपीन और जलपात्रके अतिरिक्त कभी कुछ नहीं रखते थे। श्रीशुकदेवजी, श्रीशंकराचार्यजी आदि विरक्त संत निरन्तर लोकहितके कार्य करते रहे। भारतीय संस्कृतिमें इसी प्रकारके अनेक ज्ञानियोंने निष्काम भावसे परोपकार और प्राणिमात्रकी सेवाको अपने जीवनका ध्येय बनाया है।

५. शुद्ध कमाईका प्रयोग

भारतीय संस्कृतिने परिश्रम और अनुशासनसे प्राप्त ईमानदारीकी कमाईपर जोर दिया है। हम मुफ्तकी कमाई, रिश्वतखोरी, घूँस, लूट-खसोट और अनुचित तरीकोंसे पैसा पैदा न करें—यह हमारा एक सिद्धान्त रहा है। कहा भी गया है—

अपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदम्।

(अथर्ववेद ६। ११७। २)

अर्थात् 'ऋण लेना एक प्रकारकी चोरी है। हम अपनी सात्त्विक कमाईसे अधिक व्यय न करें। पापकी कमाई जन्म-जन्मतक दुःखरूपी नरकमें पड़े रहनेकी तैयारी है।'

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।

(अथर्ववेद ७। ११५। ४)

'पुण्यसे कमाया हुआ धन ही सुख देता है। जो पापयुक्त धन है, उसको मैं नाश करनेवाला बनूँ।'

हमारे यहाँ अर्थ-शौचपर बड़ा बल दिया गया है। सच्चे परिश्रम और ईमानदारीसे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीपर निर्वाह करनेपर जोर दिया गया है।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनु० ५। १०६)

सब शुद्धियोंमें धनकी पवित्रता ही श्रेष्ठ कही गयी है। जो कमाई शुद्ध है, उसका उपयोग करनेवाला व्यक्ति ही वास्तवमें शुद्ध कहा जा सकता है। मिट्टी या जलकी शुद्धि शुद्धि नहीं कही जाती।

तात्पर्य यह कि जो पराया धन नहीं हरता और न्यायसे धन उपार्जन करता है, वह शुद्ध है। जो पाप तथा अन्यायसे इसके विपरीत द्रव्य हरता है, किंतु मिट्टी लगा-लगाकर स्नान करता है, वह पवित्र नहीं है। कहा गया है—

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि।

(अथर्ववेद ७। ११५। १)

'पापकी कमाई छोड़ दो। पसीनेकी कमाईसे ही मनुष्य सुखी बनता है।'

देवः वार्यं वनते। (ऋग्वेद)

'धन उन्हींके पास ठहरता है, जो सद्गुणी होते हैं। दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्प कालमें नष्ट हो जाती है।'

रयिं दानाय चोदय।

(अथर्ववेद ३। २०। ५)

'दान देनेके लिये धन कमाओ। संग्रह करने या विलासिताके लिये धन नहीं है।'

६. समन्वय और सहिष्णुता

सहिष्णुता भारतीय संस्कृतिकी एक महान् विभूति है। हमारी संस्कृति हमें सिखाती है कि दूसरोंकी परिस्थितियोंको समझते हुए विचार-भिन्नता होते हुए भी हम सहिष्णु रहें। समस्त जीवोंके प्रति हम उदार हैं, सभीको अपने समान समझते हैं और उनके प्रति प्रेम-भाव रखते हैं तथा तदनुसार कार्य करते हैं। यह विचार हमारी संस्कृतिमें सच्चे रूपमें पाया जाता है।

हमारे समाजमें कुछ नीची, अछूत या संकर जातियाँ भी हैं। विकृतिके कारण विविध निम्न और पिछड़ी हुई जातियाँ उत्पन्न हुई हैं। वर्ण-संकरको दोष मानते हुए भी हमारे यहाँ यह विधान है कि वे अपने-अपने ढंगसे अपने-अपने धर्ममें रहकर अपना-अपना धंधा करती रहें, तो वह किसी प्रकार निन्द्य नहीं है। भोजनके समय भी यदि कोई चाण्डाल अतिथिके रूपमें आये तो उसका भी भोजन इत्यादिसे सत्कार करनेका हमारे यहाँ विधान है।

हमारी संस्कृतिमें बीजशुद्धिका विचार विशेष होनेसे अपने-अपने वर्णमें ही विवाह करना उचित माना गया है। उच्च वर्णोंमें पुराने उच्च संस्कार अभीतक भरे हुए हैं। यदि उच्च वर्ण उच्च वर्णोंमें ही विवाह आदि सम्बन्ध करेंगे तो बीज-शौच बना रहेगा। बीजमें खराबी नहीं आनी चाहिये, अन्यथा सारा समाज ही अपने संस्कारोंको दूषित कर लेगा।

फिर भी हम निम्न जातियोंके प्रति उदार हैं। हमारी

नींव सहिष्णुतापर टिकी हुई है। इसी कारण हम दूसरोंका दृष्टिकोण समझकर समझौतेके मार्गसे ही चलना उचित समझते हैं।

७. सर्वत्र आन्तरिक और बाह्य शौच

शौचका हमारे यहाँ महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे यहाँ स्वच्छता-की शिक्षा जीवनके प्रारम्भसे ही ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें प्रारम्भ हो जाती थी। प्रत्येक हिंदूका कर्त्तव्य है कि वह स्वयं तो स्वच्छ रहे ही, अपने घर, वातावरण और वस्तुओंको स्वच्छ रखे, स्वच्छ वस्त्र पहिने, स्वच्छ वस्त्रोंसे भोजन पकाये और स्वच्छ चौकेमें बैठकर भोजन करे। शौचका अर्थ केवल बाहरी सफाई ही नहीं है, प्रत्युत आन्तरिक स्वच्छतापर भी सदा हमारा ध्यान रहा है। पापकी भावनाओं, विषयभोगकी कुत्सित वासनाओंसे मनको गंदा न करना भी शौचमें सम्मिलित है। आन्तर-शौच, बीज-शौच और अर्थ-शौच इत्यादि नाना रूपोंमें आन्तरिक स्वच्छता बनाये रखनेकी गम्भीर व्यवस्था भारतीय संस्कृतिमें निहित है।

यतः पवित्रतायां हि राजतेऽतिप्रसन्नता ॥

अर्थात् पवित्रतामें ही प्रसन्नता रहती है।

स्नानका हमारे यहाँ बड़ा गहरा अर्थ लगाया गया है—

न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः ॥

'जलमें शरीरको डुबो लेनामात्र स्नान नहीं कहलाता। जिसने दमरूपी तीर्थमें स्नान किया है, मन-इन्द्रियोंको वशमें रखा है, उसीने वास्तवमें स्नान किया है। जिसने मनके मैलको धो डाला है, वही शुद्ध है।'

तात्पर्य यह कि भारतीय संस्कृतिमें मानवताकी रक्षा और विकासके सभी आधारभूत सिद्धान्त भरे पड़े हैं। इनका पालन करनेसे मनुष्य विकसित होकर सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बन सकता है।

भारतीय संस्कृति—मूर्तिमती मानवता

(लेखक—प्रो० श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, एम्० एल्० सी०)

स्मरणातीत कालसे लेकर वर्तमान पर्यन्त यदि हम भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिकी अखण्ड धाराका अनुशीलन करें तो हमें उसका सार मर्म यही जान पड़ेगा कि उसकी साधना भेदमें अभेदको, बहुत्वमें एकत्वको, खण्डमें अखण्डको उपलब्ध करनेकी दिशामें रही है। अनेकता, विविधता एवं विचित्रताके बीच भी यहाँ समन्वयकी जो शान्त भावना काम करती रही है, यही भारतीय संस्कृतिका मानव-जातिके लिये सबसे बड़ा दान है। यहाँ सबने अपने वैशिष्ट्यको सुरक्षित रखा, फिर भी एक समन्वयके सूत्रमें ग्रथित होनेके कारण सबमें एक जीती-जागती समग्रताकी भावना अक्षुण्ण बनी रही। राज-नीतिक एवं सामाजिक विपर्ययों एवं क्रान्तिकारी बाह्य परिवर्तनोंके बीच भी समग्रताकी इस भावनाने ही भारतीय जाति और उसकी सभ्यताको विस्मृतिके घनान्धकारमें विलीन नहीं होने दिया। भारतीय सभ्यताके समकालीन अन्यान्य प्राचीन सभ्यताएँ, जब कि महाकालके विध्वंसी हाथोंद्वारा नष्ट होकर इतिहास मात्रके शुष्क पृष्ठोंमें अपने अस्तित्वकी सूचना दे रही हैं, उस समय भी भारतीय जाति और उसकी सभ्यताकी प्राणसत्ता सुरक्षित है और जातिको संजीवित बनाये हुए है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथने भी भारतीय सभ्यताके इस सारभूत सत्यको पहचाना था और इसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने लिखा था—'भारतके पर्वत-प्रान्तसे लेकर समुद्र-सीमा पर्यन्त जो वस्तु सबसे बढ़कर स्पष्टरूपमें हमें दिखायी पड़ रही है, वह क्या है? वह यह है कि इतनी विभिन्न जातियाँ, इतने विभिन्न एवं विचित्र आचार और किसी देशमें नहीं हैं।' और इसके अन्तरालमें जो वस्तु सक्रिय एवं सजीव थी, वह थी समन्वयकी भावना। कवीन्द्रके शब्दोंमें, 'ऐक्यनिर्णय, मिलन-साधन तथा शान्ति एवं स्थितिके बीच परिपूर्ण परिणति एवं मुक्तिलाभका अवकाश।'

भारतीय सभ्यताका यह जो साधनालब्ध सत्य है, उसे सार्थकरूप तभी दिया जा सकता है जब कि उसके आध्यात्मिक स्वरूपकी उपलब्धि की जाय। भारतीय ऋषियोंने आत्मानुभूति-को, आत्मज्ञानको जीवनमें सबसे बड़ा स्थान दिया था। यह आत्मज्ञान ही उनका चरम, परम साध्य था। उनकी दृष्टिमें अभेद-दर्शन ही ज्ञान है—ज्ञानमभेददर्शनम्। जबतक मनुष्यमें यह अभेद-दर्शन, यह समदर्शिता नहीं आती, उसके मनुष्यत्वका परिपूर्ण विकास नहीं हो सकता। जीवमात्र ईश्वरके अंश हैं, सब मनुष्य एक ही परम पिता परमेश्वरकी संतान हैं—यह विश्वास बद्धमूल हो जानेपर ही मनुष्य अहंकी

संकीर्ण परिधिसे अपनेको ऊपर उठा सकता है और अपने आत्माका विस्तार कर सकता है। वेदकी वाणी है सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना—'मित्रस्य चक्षुषा मा जीवेभ्यः प्रमदः'—प्राणियोंके कल्याणकी ओरसे उदासीन मत हो, सबके साथ आत्मीयताका यह जो सम्बन्ध है, इसके कारण ही भारतीय संस्कृतिका प्रसार सुदूर देशोंमें बिना किसी रक्तपातके हुआ और भारतने विदेशोंके साथ अपना योगसूत्र स्थापित किया। जहाँ संसारकी दूसरी जातियोंने अपनी सभ्यता एवं संस्कृतिका प्रसार सैन्यबल एवं रक्तपातद्वारा किया, वहाँ भारतके कोपीन-धारी संन्यासियों एवं परिव्राजकोंने बिना किसी राजशक्तिकी सहायताके अपने धर्म एवं संस्कृतिका प्रचार किया; और यह धर्म, यह संस्कृति जहाँ-जहाँ गयी, वहाँ-वहाँके धर्म एवं संस्कृतिके लिये वह अभिशापतुल्य सिद्ध न होकर वरदान सिद्ध हुई। यह धर्म किसी जाति-विशेषका धर्म न होकर सत्यपर आधारित मानव-धर्म था—यह संस्कृति मानव-संस्कृति थी।

भारतका धर्म सनातन सत्यके ऊपर आधारित होनेके कारण ही 'सनातन धर्म'के नामसे अभिहित होता है। इस धर्ममें मैत्रीकी वाणी है, प्रेमकी वार्ता है और सबके साथ ममत्वका माधुर्य है। भारतीय सभ्यतामें स्थानजयको कभी महत्त्व नहीं दिया गया। स्थानजय, देशजय करनेकी जो कामना है, उसके मूलमें भोगकी प्रवृत्ति है और यह भोगकी प्रवृत्ति जबतक बनी रहेगी, तबतक मनुष्य परस्परकी छीना-झपटी और मार-काटकी पाशवी वृत्तिसे अपनेको मुक्त नहीं कर सकता तथा सब देश जहाँ भोगभूमि रहे हैं, वहाँ भारत 'ज्ञानभूमि' रहा है। यहाँ ज्ञानको सबसे बढ़कर पवित्र वस्तु माना गया है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' इस देशके ज्ञानतापसोंने सभी मनुष्योंमें ब्रह्मसत्ताका दर्शन किया था और मनुष्यके मनुष्यत्वकी महिमा अनुभूत की थी। तभी तो उनके कण्ठसे यह वाणी विनिस्सृत हुई थी—

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।

(उपनिषद्)

महाभारतमें भीष्मने कहा है—'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।' मनुष्यदेहको उन्होंने 'देवालय' और देही जीवको 'शिवस्वरूप' बतलाया—'देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।' भारतीय धर्म एवं संस्कृतिकी यह जो मानविकता है, उसके कारण ही वह अबतक 'कालजयिनी' बनी रही है। मानव-जीवनके भौतिक पक्षको आध्यात्मिक पक्षसे विच्छिन्न करके उसने कभी नहीं देखा। जीवनको खण्डरूपमें ग्रहण न करके उसने अखण्डरूपमें देखा और उसके आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यबोधको कभी दृष्टिसे अन्तर्हित नहीं होने दिया। भारतीय संस्कृतिका यह जो सनातन सत्य है, उसके पुनर्मूल्याङ्कनकी आज आवश्यकता है, ताकि हम मनुष्यको उसके मनुष्यत्वकी मर्यादामें प्रतिष्ठित करके देख सकें।

आधुनिकताके नामपर आज संसारमें सर्वत्र जिस जडवाद एवं भोगवादकी आराधना की जा रही है और इन्द्रियलोलुपता-को प्रश्रय दिया जा रहा है, उसके कारण मनुष्यके मनुष्यत्वका क्रमशः ह्रास हो रहा है। मनुष्य सद्गुण, सद्बुद्धि एवं सदसद्विवेकसे भ्रष्ट होकर भोगसर्वस्व जीवन एवं अस्वस्थ इन्द्रियपरायणताकी ओर प्रधावित हो रहा है। इस इन्द्रिय-प्रमत्तताको ही आज 'युगधर्म' का नाम दिया जा रहा है और इसकी महिमाका नाना प्रकारसे जयगान किया जा रहा है। शिक्षा एवं संस्कृतिके नामपर इसी 'जैवधर्म' की उपासना हो रही है और शिक्षणसंस्थाओंमें ज्ञान-विज्ञानके रूपमें इसका अध्ययन एवं अनुशीलन हो रहा है। इस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करके मनुष्यने एक ओर यदि भौतिक ज्ञानके क्षेत्रमें, नूतन तथ्योंकी उद्भावना एवं आविष्कारमें, शिल्प-वाणिज्य-द्वारा सम्पद्की सृष्टिमें अपनी गौरवदीप्त प्रतिभाका, अपने असामान्य कृतित्वका परिचय दिया है, वहाँ साथ-ही-साथ उसने कुछ ऐसी वस्तुओंको खो भी दिया है, जो उसके आत्माका धन थीं, जो उसके मनुष्यत्वकी पूँजी थीं। मनुष्यके मनुष्यत्वका मूल्य सत्य, क्षमा, दया, प्रेम, स्नेह, करुणा, स्थैर्य, संयम, शालीनता आदि जिन सद्गुणोंसे आँका जाता था और अन्तरकी जिन स्निग्ध, सुकुमार वृत्तियोंको क्रमशः विकसित करके मनुष्य अपनी पाशव-वृत्तिको संयत रखनेमें समर्थ होता था, आज उन सद्गुणोंकी उपेक्षा हो रही है और जीवनमें उनका स्थान अत्यन्त गौण हो गया है। जीवनमें महदा-दर्शोंके प्रति आस्था नहीं रह गयी है, जिससे अधिकांश मनुष्य हतबुद्धि एवं विभ्रान्त होकर 'दिशो न जाने न लभे च शर्म' की दुःखद स्थितिमें जीवन-यापन कर रहे हैं। एकान्त भौतिकमुखी एवं भोगलोलुप जीवनने मनुष्यके मनोराज्यको इस प्रकार विक्षिप्त, विच्छिन्न एवं विशृङ्खल बना दिया है कि वह मानसिक संतुलन खो बैठा है और प्रत्यक्षरूपमें एक समृद्ध एवं सुगठित सभ्यताका अधिकारी होनेपर भी अपने आचार-अनुष्ठानमें सर्वथा असभ्य मनुष्यकी हिंसा एवं आसुरिकताका

परिचय दे रहा है। वर्तमान युगमें ज्ञान-विज्ञानकी चरम उन्नति हुई है, मनुष्यने अपने पुरुषार्थ एवं कर्मोद्यमद्वारा असाध्य-साधन कर दिखाया है; फिर भी हृदयसे वह इतना निष्ठुर, स्वार्थान्ध एवं संकीर्ण बन गया है कि उसकी सारी विद्या, बुद्धि, मनीषा एवं प्रतिभा ध्वंस एवं विनाशके कार्योंमें नियोजित हो रही है। एक ओर तो वह मनुष्य और उसकी मानवताके नामपर राजनीति, अर्थनीति एवं समाजनीतिके क्षेत्रोंमें बड़े-बड़े सिद्धान्तोंकी अवतारणा कर रहा है; मनुष्यके बन्धुत्व, स्वातन्त्र्य एवं समत्वकी घोषणा करके जनतान्त्रिक सिद्धान्तोंका ढिंढोरा पीट रहा है; दूसरी ओर वही अपनी अहम्मन्यताकी उन्मादनामें उन्मत्त होकर अपने प्रभुत्व-विस्तारके लिये महाभयंकर मारणास्त्रोंका संचय कर रहा है। जाति-जातिमें, राष्ट्र-राष्ट्रमें, मनुष्य-मनुष्यमें आज जैसी भेद-बुद्धि, ईर्ष्या-द्वेष, कटुता, असहिष्णुता एवं शत्रुताकी भावना देखी जा रही है, वैसी पहले कभी नहीं देखी गयी थी। मानवताके कल्याणके लिये, उसके ऐहिक जीवनको सुखी एवं सम्पन्न बनानेके लिये विज्ञानके जो चमत्कारपूर्ण आविष्कार हुए हैं और हो रहे हैं, वे ही आज मनुष्यके लिये भय एवं विपद्के कारण बन गये हैं। इस प्रकार सभ्यताकी कल्पनातीत उन्नति एवं भोगैश्वर्यके असीम सम्भारके बीच भी मनुष्यका आत्मा आज दैन्यसे पीड़ित है। उसके अन्तरमें शून्य एवं हाहाकार है। नैतिक दृष्टिसे वह दिवालिया और आध्यात्मिक दृष्टिसे कंगाल बन गया है।

सारांश यह कि मनुष्य स्थूल लौकिक दृष्टिसे समृद्ध एवं सम्पन्न होनेपर भी मानविक दृष्टिसे, मनुष्यत्वकी महिमाकी दृष्टिसे, नैतिक मूल्यबोध एवं आध्यात्मिकताकी दृष्टिसे पतनोन्मुख हो रहा है। मानवताके लिये आज चरम संकटकाल उपस्थित है और संसारके सभी देशोंके दार्शनिक, चिन्तक एवं मनीषी समाहित चित्तसे इस संकटसे परित्राण पानेके उपाय ढूँढ़ रहे हैं।

इस अवस्थाके प्रतीकारके लिये सबसे पहले वर्तमान कालकी शिक्षा-दीक्षामें आमूल परिवर्तन करना होगा और मनुष्यको बताना होगा कि मानव-जीवनका लक्ष्य केवल स्थूल इन्द्रिय-सुख नहीं है। मनुष्य अस्थि, चर्म, मांस, मज्जा एवं रक्तका पिण्डमात्र नहीं है। वह बुद्धि-विवेकसे युक्त, दिव्यभावापन्न आध्यात्मिक प्राणी है। वह अपने जीवनमें श्रेयको ग्रहण करके अपनेमें अन्तर्हित दिव्य भावको इस प्रकार विकसित एवं प्रस्फुटित कर सकता है, जिससे इस संसारमें रहते हुए भी वह अमृतत्वका अधिकारी हो सकता है। आजके जिस सर्वात्मक इहलौकिक जीवन-दर्शनको ध्रुव नक्षत्र मानकर वह चल रहा है, उसीने उसकी मानविक श्रेष्ठताको, उसकी नैतिक बुद्धि एवं विवेकको कुण्ठित कर दिया है, जिससे प्रकृतिके रहस्योंको आयत्त करके और असीम भौतिक शक्तिका अधिकारी होकर भी वह उस शक्तिको नियन्त्रित करनेमें असमर्थ हो रहा है। उसका मन प्रवृत्तियोंके वशवर्ती होकर अनिवार्य वेगसे इतस्ततः प्रधावित हो रहा है। मनुष्यके मनके मोड़को आज अन्य दिशामें ले जानेकी आवश्यकता है। भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं दर्शनमें मनुष्यके अमृतत्वकी, उसके महाजीवनकी जो वाणी प्रच्छन्न है, उसके रहस्यका उद्घाटन करके उसे बताना होगा कि जीवनकी सार्थकता भोगकी सहज प्रवृत्तियोंको चरितार्थ करनेमें नहीं वरं भोग एवं त्यागकी वृत्तियोंके समन्वयमें है। त्यागद्वारा ही भोगके आनन्दका आस्वादन किया जा सकता है। उपनिषद्का वाक्य है—'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।' कर्मसे नहीं, प्रजासे नहीं, धनसे नहीं, त्यागसे कोई-कोई अमृतत्वको प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार उपनिषद्की यह वाणी मानवताके लिये कितनी उदात्त, उच्च एवं अनुप्रेरणामयी है—

> ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'इस चल जगत्में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वरसे परिव्याप्त है। संसारका भोग त्यागसे करो। किसीका धन मत छीनो।' संसारके विभिन्न राष्ट्र यदि इस सिद्धान्तको मानकर परस्पर सम्बन्ध स्थापित करें तो वैर-विरोध, कटुता एवं परश्री-लोलुपताके लिये स्थान ही नहीं रहेगा और मनुष्यको अपनी जीवन-यात्रामें एक नूतन ज्ञानालोकका संधान मिलेगा।

धर्मनिरपेक्ष (Secular State) राज्यका अर्थ धर्महीन राज्य नहीं है। सच तो यह है कि कोई भी राज्य धर्मके उन सार्वजनीन सिद्धान्तोंकी अवहेलना करके टिक नहीं सकता, जिनका आधार मानवता है। मानवमात्रके कल्याणके लिये धर्मके जो सार्वभौम सिद्धान्त हैं, उनको आदर्शरूपमें ग्रहण करके ही राजनीति जन-मङ्गल-विधायिनी हो सकती है। इस लिये हमारी शिक्षाव्यवस्थामें एक ऐसी चेतनाकी प्राणप्रतिष्ठा करनी होगी, जिससे प्राणहीन जड वैज्ञानिकताके आवर्तमें पड़कर हमारा जीवन जो अपने स्वधर्मसे च्युत और आत्म-

विस्मृत हो गया है, उससे उसका उद्धार हो और वह आत्मप्रतिष्ठ बने। मनुष्यमें मानवताका उद्बोधन हो, उसके व्यक्तित्वका विकास हो, उसमें सद्गुणोंका स्फुरण हो और उसकी कर्म-प्रचेष्टाएँ बृहत् कल्याणकी दिशामें प्रसारित हों।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका यह अर्थ नहीं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें जो उन्नति हुई है, विविध विद्याओंका जो अध्ययन-अनुशीलन हो रहा है, यन्त्र-विज्ञानकी सहायतासे धनोत्पादनमें जो वृद्धि हो रही है, उस ओरसे हम विमुख हो जायँ और एकमात्र आध्यात्मिक चिन्तन-मनन एवं ध्यान-उपासनामें ही अपनेको निमग्न कर दें। आधुनिक ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षाका जो मूल्य एवं महत्त्व है, उसे स्वीकार करते हुए हमें उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी एक ऐसे आदर्शके ऊपर, जो आदर्श हमारे जीवनके आध्यात्मिक पक्षके विकासमें सहायक हो और नैतिक मूल्योंके प्रति हममें आस्था उत्पन्न करे। हम श्रद्धाशील बनकर ज्ञानार्जन करें। यह श्रद्धा जीवनके नैतिक मूल्योंके प्रति, जीवनके आध्यात्मिक पक्षके प्रति होनी चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'। श्रद्धाभाव लेकर जो ज्ञान लाभ किया जाता है, वही मानवताके लिये कल्याणजनक होता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि भारतीय साहित्य एवं संस्कृतिका व्यापक प्रचार हो। लोग अपने प्राचीन ग्रन्थोंका अध्ययन करें, उनके महत्त्वसे परिचित हों। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञानके बीच सामञ्जस्य रखकर हमें चलना होगा। प्राचीन विद्या जिसकी परिभाषाकी गयी है—'सा विद्या या विमुक्तये', वह विद्या आजके युगमें भी हमारे लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है, यदि हम उसकी वाणीको समझकर उसे अपने जीवनमें आत्मसात् करनेकी चेष्टा करें। उस वाणीमें जीवनके पुरुषार्थ-चतुष्टय—अर्थ, धर्म, काम, मोक्षका संदेश संनिहित है। उसमें लौकिक जीवनकी, उसकी कामनाओंकी, भोग-सुखकी वर्जना नहीं है। उसमें जीवनका एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया गया है, जिसके अनुसार चलकर मनुष्य सांसारिक बन्धनोंके बीच भी अनासक्त भावसे अपने कर्तव्य कर्ममें प्रवृत्त हो सकता है, अपने सद्गुणोंको विकसित करके मनुष्यत्वके उच्च स्तरपर पहुँच सकता है। भारतीय संस्कृति हमारे मनके परिमण्डलको विस्तारित, हमारी दृष्टिको अन्तर्मुखी, हमारे हृदयको उदार और हमारी विचार-बुद्धिको संतुलित एवं सहनशील बनाती है। उसमें मूढ़ग्राहिता तथा परमत-असहिष्णुता नहीं है। उसका विश्वास है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' वह ईश्वरतक पहुँचनेके विभिन्न मार्गों एवं उपासना-पद्धतियोंमें विश्वास करती है। वह मनुष्यकी आत्मिक स्वतन्त्रताको सबसे बड़ी स्वतन्त्रता मानती है; क्योंकि मानवात्माके ईश्वरत्वमें, उसकी पवित्रतामें उसका विश्वास है। मनुष्य सब कुछ प्राप्त करके भी यदि आत्मारूपी धनको खो बैठा है, अपने मनुष्यत्वसे भ्रष्ट हो गया है, तो फिर उसकी विद्या-बुद्धि एवं ऐश्वर्यमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो गर्व करने योग्य हो। इसलिये ज्ञान-विज्ञानकी, शिल्प-वाणिज्यकी, कला-कारीगरीकी अथवा प्राविधिक—चाहे जिस प्रकारकी शिक्षा मनुष्यको दी जाय, संस्कृतिके संस्पर्शसे जबतक उसके मनुष्यत्वको, उसके नैतिक सद्गुणोंको जागरित नहीं किया जायगा, तबतक मानवताका उद्बोधन उसमें नहीं हो सकता और न वह अपने जीवनमें किसी उच्चादर्शसे अनुप्राणित हो सकता है। मनुष्य जबतक स्वयं मनुष्य नहीं बनेगा, तबतक उसकी आत्मा संकुचित बनी रहेगी, उसका व्यक्तित्व अहंके कारागारमें आबद्ध रहेगा और वह दूसरोंके सुख-दुःखके प्रति सहानुभूतिशून्य एवं असंवेदनशील बना रहेगा। यही कारण है कि भारतीय संस्कृतिमें आत्मानुभूतिपर इतना जोर दिया गया है। 'आत्मानं विद्धि' पहले अपनेको जानो, आत्मस्वरूपकी उपलब्धि करो। इस उपलब्धिके द्वारा ही विश्वके साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और एक मनुष्य अन्य मनुष्यके साथ प्रेमसूत्रमें ग्रथित हो सकता है।

मानव-शरीरका अन्त

हमकों ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ॥
प्रान राम जब निकसन लागे, उलटि गईं दोउ नैन-पुतरियाँ।
भीतर तें जब बाहिर लाये, छूटि गईं सब महल-अटरियाँ॥
चारि जने मिलि खाट उठाइन, रोवत लै चले डगर-डगरियाँ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, संग चली बस सूखी लकरियाँ॥

—कबीर

मङ्गलमयी 'मानवता'

(लेखक—पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

जिसे प्राणप्यारा सदाचार होगा, वही वीर संसारसे पार होगा।

नैतिकता नाता तोड़ भागी है न जाने कहाँ,
'मानवता' हाय! आज फूट-फूट रोती है।
धर्मका तो नाम लेते धरणी धसकती है,
अनघा अहिंसा वेदनाके बीज बोती है॥
सत्यके शरीर प कुठार चलता है क्रूर,
नीति अनरीतिसे विकल बड़ी होती है।
भारती पुकारती है, सुनता है कौन भला,
होकर अधीर आँसुओंसे मुँह धोती है॥

संसारमें जितने महान् पुरुष हुए हैं, सबने मानवता-निर्माणपर बल दिया है। जितने धर्म तथा सम्प्रदाय हैं, सभी मानवताके विकास और उसकी वृद्धिका समर्थन करते रहे हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने मानवताकी महती मीमांसा की है। अत्यन्त खेदपूर्वक देखा जाता है कि आज नेता, प्रणेता, विद्वान्, कवि, साहित्यकार, मन्त्री-मिनिस्टर, वकील-बैरिस्टर, डाक्टर और सेठ-साहूकार तो बहुत हैं; परंतु सच्चे मानवोंकी संख्या अति न्यून है। उर्दूके मशहूर शायर 'मीर' ने कैसी अच्छी बात कही है—

मीरसाहब गर फरिश्ता हो तो हो,
'आदमी' होना मगर दुश्वार है।

आज संसारमें जो स्वार्थान्धता, अशान्ति, अनाचार और भ्रष्टाचारका बोलबाला है; उसका मूल कारण 'मानवता', इन्सानियत या आदमियतकी कमी है। 'मानवता' क्या है? इसका निरूपण नीचे लिखे श्लोकमें कैसी सुन्दरतासे किया गया है—

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

अर्थात् जिन मानवोंका मन विद्या-विलासमें लीन है, जो सुन्दर शील-स्वभावयुक्त हैं, जो सत्यभाषणादि नियमोंका पालन करते हैं, जो अभिमान और अपवित्रतासे रहित हैं, जो दूसरोंकी मलिनताके नाशक, सत्योपदेश और विद्यादानके द्वारा सांसारिक जनोंके दुःख दूर करनेके संकल्पसे सुभूषित और जो वेदविहित कर्मोंसे पराया उपकार करनेमें रत रहते हैं, वे नर-नारी धन्य हैं और वे ही सच्चे मानव हैं। इसी श्लोकके आशयको राष्ट्र-भाषा हिंदीमें इस प्रकार कह सकते हैं—

विद्याके विलासमें निमग्न रहता है मन,
शिक्षा और शीलका महत्त्व अपनाया है।
धारण किया है सत्य-व्रत बड़ी दृढ़तासे,
मान, मद, मल जिसको न कभी भाया है॥
लोक-दुःख दूर करनेमें सुख पाता सदा,
पर-उपकारी बन संकट मिटाया है।
करके विहित कर्म सुयश कमाता रहा,
ऐसा धीर वीर धन्य मानव कहाया है॥

सचमुच 'मानवता' चरित्र-बल अथवा नैतिकताका ही नाम है। 'बोधसार' ग्रन्थमें भी स्पष्ट लिखा है—

अनाचारस्तु मालिन्यमत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचारसंयोगः सदाचारस्य लक्षणम्॥

जब विचार आचारमें आता है, तभी वह 'सदाचार' बनता है। अथवा जब ज्ञान क्रियामें परिणत होता है, तभी उसकी 'चरित्र' संज्ञा होती है। यदि कोई व्यक्ति मांस-भक्षणके विरुद्ध विचार रखता, किंतु मांस खाता है तो वह चरित्रवान् या सदाचारी नहीं है; क्योंकि उसका कर्म ज्ञानके विपरीत है। इसी बातको प्रसिद्ध विद्वान् विचारक इमर्सनने नीचे लिखे शब्दोंमें व्यक्त किया है—

Character is the transcription of knowledge into action.

अर्थात् जब ज्ञान क्रियामें आता है, तभी वह चरित्र बनता है।

संसारके प्रसिद्ध विद्वान् रोमा रोलाँने भी चरित्रपर बड़ा बल दिया है। वह कहता है—

Action is the end of thought; all thought which does not look towards action is an abortion and a treachery.

'क्रिया विचारोंकी परिसीमा है। जो विचार कर्मकी ओर प्रवृत्त नहीं होते, वे अधकचरे, अपरिपक्व, अविकसित, अपूर्ण तथा असफल हैं। उन्हें छद्म, दम्भ, ढोंग और छल-कपट कहना

चाहिये ।' यही नहीं, सच्ची मानवताके सम्बन्धमें उर्दूके महाकवि 'चकबस्त' कहते हैं—

दर्दे दिल पासे वफ़ा जज़्बए ईमाँ होना,
आदमीयत है यही, और यही इन्साँ होना ।

'जहाँ संवेदनाशील हृदय, सद्भावना, सत्पात्रता, सहृदयता और ईमानदारी है, वहीं मानवता या मनुष्यताका निवास है ।'

आजसे लगभग चार सौ वर्ष पहले साउथवेल नामक अंग्रेज कवि नीचे लिखी बात कह गया है । वह किसे मानव मानता है !

The man upright of life,
Whose guiltless heart is free
From all *dishonest* deeds
Or thoughts of vanity.

'वही मनुष्य वास्तवमें मनुष्य है, जिसका हृदय निर्दोष और पवित्र है, जिसने जीवनमें कभी बेईमानी या कुकर्म नहीं किये और जिसका मन दुरभिमानसे शून्य है ।'

हमारे शास्त्रोंने आचारको परम धर्म माना है—आचारः परमो धर्मः । जिसने 'संयम' और 'जितेन्द्रियता' को जीवनमें महत्त्व दिया है, वही वस्तुतः मनुष्य है । राष्ट्रोन्नतिका मूल भी जितेन्द्रियता ही है । महामुनि चाणक्यने स्पष्ट कहा है— 'राष्ट्रस्य मूलं जितेन्द्रियता ।' भारतीय संस्कृति और हिंदू-साहित्यने मानवताकी महत्तापर सर्व-प्रथम और सर्वाधिक बल दिया है । 'रामराज्य' की महिमा इसीलिये है कि उसमें जन-जनतामें मानवताका प्रकाश था । नागरिकता सद्गुणों एवं सद्भावोंसे सम्पन्न थी । कानूनके कड़े कोड़ोंसे चरित्रका निर्माण नहीं होता; हाँ, उससे भय-आतङ्क अवश्य छा जाता है । कानूनकी करामात तो शरीरतक ही रहती है । मनपर उसका असर होता या हृदयपर प्रभाव पड़ता तो एक बार अपराधी कारागार जाकर दूसरी बार न जाता । परंतु ऐसा नहीं होता । इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें हृदय-परिवर्तन और चरित्र-निर्माणपर ही बल दिया गया है । इन दोनोंसे ही मानवताका उदय माना गया है । प्राचीन भारतीय परम्परामें वही शासन सुखद और श्रेष्ठ समझा गया, जिसमें नागरिक जीवन सच्चरित्र-सम्पन्न और सद्भावनाओंसे भरा हुआ रहा हो । इसी सम्बन्धमें सुप्रसिद्ध विद्वान् स्पेन्सरने कहा है—

True criterion of good government is not the increase of wealth and population, it is the creation of character and personality.

अर्थात् श्रेष्ठ और सफल शासनका अर्थ सम्पत्ति और मनुष्य-गणनाकी वृद्धि नहीं, प्रत्युत चरित्र-बल एवं व्यक्तिका निर्माण है । चरित्र ही मानवताका मूलाधार है । आज हमारा देश स्वतन्त्र है अर्थात् अपने देशमें अपना शासन है । स्वराज्य-सूर्योदय हो चुका है, परंतु 'सुराज्य' की छबीली छटा अभी दिखायी नहीं दे रही है । इसके लिये हमें जन-जनता और नागरिकतामें चरित्र-निर्माणपर बल देना होगा । नैतिकताकी वृद्धि करनी होगी । ईश्वर और धर्म-सम्बन्धी दृढ़ भावना और उनके सम्बन्धमें अटल अनुष्ठान-प्रियता, जो चारित्र्यके लिये अनिवार्य है, अपनानी होगी । इस सम्बन्धमें महात्मा गांधीने कैसी सुन्दर बात कही है—

'मेरे नजदीक धर्महीन राजनीति कोई चीज नहीं है—धर्म यानी विश्वव्यापी सहिष्णुताका धर्म ! मैं धर्मसे भिन्न राजनीतिकी कल्पना भी नहीं कर सकता । वास्तवमें धर्म तो हमारे हरएक कार्यमें व्यापक होना चाहिये । धर्मका अर्थ है विश्वकी सुव्यवस्था ।'

वस्तुतः धर्म ही मानवताका निर्माता है । बिना धर्मके मनुष्य पशुसे भी गया-बीता बन जाता है । मानवता-निर्माता जिस धर्मकी ऐसी अद्भुत एवं महती सत्ता—महत्ता है, उसकी स्वतन्त्र भारतमें उपेक्षा या अवहेलना होना बड़े ही दुःखकी बात है । आज समयकी सबसे बड़ी आवश्यकता और परिस्थितिकी बड़ी भारी पुकार यही है कि विश्वमें धर्म-भावनाका प्रसार तथा विस्तार हो, चरित्र-बल बढ़े और परिणामस्वरूप मानवताका भव्य-भानु उदय हो ।

तनसे सेवा कीजिए, मनसे भले विचार ।
धनसे इस संसारमें करिये पर-उपकार ॥

यही है मानवताका सार ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

अन्तमें प्रभुसे प्रार्थना है कि वे जन-जनमें मङ्गलमयी मानवताकी समुज्ज्वल ज्योति जगाकर विश्वका कल्याण और सच्चरित्रताका त्राण करें ।

यह दानवतामय मानवता
सकलङ्क अधोगति है अघता ।
तुम मानव शुद्ध बनो विचरो,
ध्रुव धर्म धरो, शुभ कर्म करो ॥

जनता-हित जीवन-लक्ष्य रहे,
सद्भाव-सुधा-रस-स्रोत बहे।
शुभकर्म करो, फल-आश तजो,
भय-हीन रहो, भगवान भजो॥
तन पुष्ट बने, मन शुद्ध रहे,
धन-आगम-स्रोत विशुद्ध रहे।
कटु नीति, कुनीति न बाधक हो;
ऋजुता-शुचिता सुख-साधक हो॥

मृदुता उमगे जन-जीवनमें,
कटुता न निवास करे मनमें।
दृढ़ता दृढ़ हो व्रत-बन्धनमें,
मदमत्त न हों धरणी-धनमें॥
वह काम करो, भव स्वर्ग बने,
यह जीवन ही अपवर्ग बने।
सब देव बनें, सद्भक्त बनें,
अनुरक्त रहें, न विरक्त बनें॥

मानवमें भावनाशुद्धिकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीवचेन्द्रराय म० दूरकाल, एम्० ए०, विद्यावारिधि, साहित्यरत्नाकर, भारतभूषण)

हमारे ऋषि-मुनियोंका एक प्रमाण-वाक्य है—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' इसका अर्थ यह है कि जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही उसको सिद्धि होती है। अर्थात् सात्त्विक भावना हो तो सात्त्विक; राजसी हो तो राजसी; तामसी हो तो तामसी; पवित्र हो तो पवित्र; मलिन हो तो मलिन; दैवी हो तो दैवी और आसुरी हो तो आसुरी। यह सारा संसार इन भावनाओंकी सिद्धिकी प्रयोगशाला है। इस जगत्का इतिहास भावना-सिद्धिकी विविधताका इतिहास है। इस दुनियामें दिखलायी देनेवाले परिणाम, विपरीत परिणाम तथा निष्फलताएँ—ये भावनाओंके वैषम्यकी टीकाएँ हैं। जैसी भावना, वैसी सिद्धि—यह पूर्ण सत्य नहीं है, अपूर्ण सत्य है। भावनाकी सिद्धि ठीक होती भी है और नहीं भी होती।

हम जो कार्य, क्रिया या कर्म करते हैं, उसमें इतनी तो भावना-शुद्धि होनी ही चाहिये। भावना-शुद्धिका अर्थ है—भावनाकी सात्त्विकता, पवित्रता और निष्कपटता या निर्मलता। इस प्रकारकी भावनाका अज्ञेय तथा अद्भुत प्रभाव पड़ता है। प्रेम-जैसे विषयमें भी हम देखते हैं कि सावित्रीका प्रेम निर्मल था और उसके द्वारा वह अपने पतिको यम-फाँससे भी छुड़ा लायी। तथा रावणका प्रेम मलिन था, जिसके कारण सीताको प्राप्त करनेमें उसे मृत्यु प्राप्त हुई। शिवाजीके एक प्रसङ्गकी बात है कि अपने दरबारमें कैदीके रूपमें लायी गयी एक अति सुन्दरी युवतीको आश्चर्यचकित होकर वे देखने लगे। समस्त सभासदोंके मनमें उठनेवाली शङ्काका निवारण करते हुए उन्होंने कहा—'मुझे ऐसा लगता है कि मैं अगले जन्ममें इसी माताके पेटसे जन्म लूँगा।' प्रेम भी इस प्रकार सात्त्विकी, राजसी और तामसी भेदसे तीन प्रकारका होता है। धर्मबुद्धिसे होनेवाला प्रेम बहुत कुछ सात्त्विकता लिये होता है। भोगासक्तिसे हुआ प्रेम अधिकांशमें राजसी होता है और मोहादिसे हुआ मलिन प्रेम अधिकांशमें तामसी ही होता है। इन्हीं कारणोंसे गांधीजीके जैसा बचपनका ब्याह भी आजन्म स्नेहके स्रोतसे भरपूर होता है और पूर्णतः अनुभव बाद होनेवाले पुरुष-स्त्रीके ब्याहसे कुछ दिनोंके बाद तलाक करनेकी नौबत आ जाती है!

इसी कारण फ्रेडरिक महान् संग्राममें जाते समय अपनी रानीकी खूब प्रशंसा करते हुए कहता है—'उसे कहना कि मैं उसे प्राचीनकालकी यशस्विनी सन्नारियोंकी कोटिमें रखता हूँ।' ऐसी ही स्त्रियोंके उदरसे राम और राणा प्रताप-जैसे अवतारी पुरुष प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त नेपोलियन, स्टालिन और हिटलर-जैसे बलवान्, आग्रही, जोखिम सहन-करनेवाले तो होते ही हैं। आजकल स्वेच्छा-वरणकी प्रशंसा की जाती है, विवाह-पद्धतिमें यह चालू कमी है। कवि नान्हालाला भी प्रेमकी प्रशंसा करते हुए यह भूल कर जाते हैं। प्रेममें भी देहके समान विशुद्ध, सामान्य और मलिन—तीन भेद होते हैं, और उसको समय-समयपर साबुन लगाना या अभ्यङ्ग-स्नान कराना पड़ता है।

'भावना' शब्द 'भू' धातुसे बना है और 'इदं भवतु'—ऐसा हो, यह भावना या इच्छा इसका बीज है, यह कहा जा सकता है। जैसे प्रेम, स्नेह अथवा भक्ति करते समय भावनामें भेद होना सम्भव है, उसी प्रकार क्रिया, कर्म अथवा कार्य करते समय भी भावनामें भेदोंकी विविधता सम्भव है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको युद्ध करनेकी भावनामें विशुद्धि लानेकी शिक्षा दी है। फलकी अपेक्षा किये बिना, युद्ध करना उसका धर्म है—यह मानकर भगवान् उसे युद्ध करनेकी प्रेरणा प्रदान करते हैं तथा भवितव्यता भी निश्चित हो गयी है और इसे युद्ध करना है। आस्तिक

धर्ममूर्ति

गोस्वामी तुलसीदास

मानवको मानवोचित मर्यादाके जीवनदानके लिये गोस्वामी तुलसीदासने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका विमल चरित्र चित्रण किया। अपने रामचरितमानस तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें उन्होंने सनातन मानव-धर्म-तत्त्वमें आस्था रखनेकी सीख दी। गोस्वामीजीने कहा कि मनुष्य-शरीर भगवान्‌के भजनके लिये ही मिला है। उनका कथन है—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

उन्होंने समस्त जगत्‌को सीताराममय देखा।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

उन्होंने शैव और वैष्णव-सिद्धान्तकी भक्ति-परम्परामें समन्वय-भावना प्रकट की। दोहावलीमें वचन है—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

गोस्वामी तुलसीदासका समस्त जीवन भक्तिपूर्ण दैन्य और भगवत्-समर्पणका प्रतीक कहा जा सकता है। उन्होंने भक्तिकी व्याख्या की कि रामसे प्रीति करनी चाहिये, राग-रोष-पर विजय प्राप्तकर नीतिके पथपर चलना चाहिये, यही भक्तिकी रीति है। इस भक्ति-प्राप्तिके फलस्वरूप दैन्यका उदय होता है। गोस्वामीजी दैन्यके बड़े धनी थे। एक समयकी बात है, परम भागवत नाभादास काशीमें उनसे मिलने आये। गोस्वामीजी ध्यानस्थ थे, इसलिये भेंट न हो सकी; वे व्रज चले आये। तुलसीदासको बड़ी ग्लानि हुई। वे नाभादासजी-से मिलने व्रज आये, उस समय संतोंका भण्डारा चल रहा था, नाभादास उन्हें संतत्वकी कड़ी कसौटीपर कसना चाहते थे। जान-बूझकर उपेक्षा कर दी, खीर परोसते-परोसते उनके पास पहुँचे, पात्र नहीं था, गोस्वामीजीने किसी संतकी पनहीकी ओर संकेत कर कहा कि इससे अच्छा पात्र दूसरा क्या हो सकता है। नाभादासजीने उनको गले लगा लिया, कहा कि मुझे अपने 'भक्तमालका सुमेरु' मिल गया। गोस्वामीजीका यह आचरण सिद्ध करता है कि भगवद्भक्ति वास्तविक दैन्यसे ही मिलती है।

भगवान्‌की भक्ति ही उनके दृष्टिकोणसे जीवनका परम श्रेय है। राजरानी मीराँने चित्तौड़की राजसत्ताके उत्पीड़नसे त्रस्त होकर उनसे अपना कर्तव्य पूछा था, भक्तिके महान् न्यायपतिके न्यायालयसे अपने भाग्यका निर्णय माँगा था, गोस्वामीजीने अभय वाणीमें संदेश भेजा कि 'जिसको राम-वैदेही प्रिय न हों उसका कोटि वैरीके समान परित्याग कर देना चाहिये।' उनका निर्णय था।

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जा सों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

राजरानी मीराँके माध्यमसे उन्होंने प्राणिमात्रको भगवद्-भक्तिके पुण्य आचरणकी सीख दी। उन्होंने मानवताको भगवद्भक्तिके अमिट रंगमें रँग दिया। कवितावलीमें गोस्वामीजीका वचन है—

परमारथु, स्वारथु, सुजसु, सुलभ राम तें सकल फल।
कह 'तुलसिदास' अब जब कबहुँ एक राम तें मोर भल॥

धर्ममूर्ति श्रीगोस्वामीजीने सकल सुकृतका फल जीवके एकमात्र परम धर्म रामकी स्नेह-प्राप्तिमें स्थिर किया। मानवता उनकी भक्तिका रसास्वादन चिरकालतक करती रहेगी।

समर्थ रामदास

संत समर्थ रामदासने अपने समयकी सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओंका समाधान अध्यात्म-प्रकाशमें खोजा, तत्कालीन भारतीय मानवताके सामने उन्होंने पवित्र जीवनके जो आदर्श रखे, उनके निर्वाहकी परम्परा भारतमें शताब्दियोंतक चलती रहेगी, मौलिकरूपसे भारतीय स्वराज्यके संस्थापक तो वे ही थे। महाराष्ट्रमें हनुमान्‌के अवतारके रूपमें उनकी घर-घर पूजा होती है। उन्होंने स्वराज्य—संतसम्मत शासन-परम्पराका शुद्ध तथा परम निर्मल रूप समझाकर प्राणि-मात्रको परमात्माकी ओर प्रेरित किया। संत समर्थने बारह सालतक काशी, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, बदरीनारायण, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर आदिकी तीर्थयात्रा कर देश-कालकी परिस्थितिका अनुभव किया, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थानका मन्त्र जगाकर लोगोंको यथार्थ धर्म-का तत्त्व समझाया, राघवेन्द्र रामके राज्यादर्शका मर्म समझा-कर देशवासियोंको धर्माचरणका संदेश दिया।

धर्ममूलक स्वराज्यकी स्थापना और संचालनमें योग देते रहना उनकी सम्मतिमें मानवताके प्रमुख आदर्शोंमेंसे एक था। संत समर्थने स्वराज्यके संस्थापक छत्रपति महाराज

शिवाजी तथा भारतीय जनतासे कहा कि 'जब धर्मका अन्त हो जाय, तब जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है।' शिवाजीको समझाया कि 'धर्मको फिर जीवित कीजिये, हमारे पूर्वज—पितर स्वर्गसे हमारे ऊपर हँस रहे हैं।' संत समर्थने वर्णाश्रम-धर्मके संरक्षणमें अविचल निष्ठा प्रकट की। उनका जीवन परम त्यागमय था। एक दिनकी बात है कि कुछ शिष्योंके साथ भिक्षा माँगते हुए वे साताराके किलेमें पहुँच गये। उनके मुखसे 'जय-जय समर्थ रघुवीर' का जयघोष सुनते ही शिवाजीने एक पत्र लिखकर उनकी झोलीमें डाल दिया, जिसका अभिप्राय यह था कि मेरा समस्त राज्य आपका है। शिवाजीने कंधेपर झोली रखकर भिक्षा माँगी। संत समर्थने समझाया कि राजकार्य करना आपका धर्म है। शिवाजी महाराजने उनके परमोत्कृष्ट त्यागसे प्रभावित होकर सिंहासनपर उनकी चरणपादुका पधराकर धर्मराज्यकी नींव दृढ़ की।

संत समर्थका दासबोध ग्रन्थमें कथन है कि 'संतका मुख्य लक्षण यह है कि वह सदा अपने स्वरूपका अनुसंधान करता रहता है। सब लोगोंमें रहकर भी उनसे अलग रहता है, उसकी दृष्टि स्वरूपपर पड़ती है। उसकी सांसारिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं और अध्यात्म निरूपणके प्रति ममता उत्पन्न होती है।' समर्थ रामदासने आजीवन रामकी भक्तिप्राप्तिपर बल दिया। उन्होंने 'मनांचे श्लोक' के माध्यमसे कहा कि 'रामराघवके रूपका चिन्तन करनेसे भवका जड़ोन्मूलन हो जाता है, देहभाव मिट जाता है। संसारमें बड़ी सावधानीसे सत्यकी खोज करनी चाहिये, ऐसा करनेपर ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है।' संत समर्थने लोगोंको प्रोत्साहित किया कि ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये। सबके लिये उपासना ही बहुत बड़ा आश्रय है, इसके बिना सब निराश्रय हैं। उठते-बैठते ईश्वरका भजन करना चाहिये। भजन, साधन और अभ्याससे ही परम सुख मिलता है—मनमें इस बातका विश्वास रखना चाहिये। दासबोधमें संत समर्थकी ऐसी उक्ति है। समर्थ रामदासका जीवन धर्ममय है। वे आदर्श संत थे, मानवताके उद्धारक थे।

श्रीरामकृष्ण परमहंस

बंगालकी शस्यश्यामला स्वर्णभूमिने रामकृष्ण परमहंसको अपनी स्नेहमयी गोदमें पालित-पोषित करनेमें जो पुण्य कमाया, वह निस्संदेह विश्वके किसी भी भूमिभागके लिये अमित स्पृहाकी बात है। परमहंस रामकृष्णने भारत ही नहीं, अमेरिका, यूरोप, एशिया आदिके बहुत बड़े भागके अविद्या-अन्धकारको भारतीय धर्म तथा वेदान्तकी पुण्य ज्योति—(विवेकानन्दके माध्यम) से मिटाकर शुद्ध आत्मतत्त्वका रसास्वादन कराया। मानवमात्रको मानवताके समुत्थानमें यह उनका बहुत बड़ा योग स्वीकार किया जा सकता है। ईश्वरकी शक्तिरूपमें उपासना करनेवालोंमें परमहंस रामकृष्णका नाम सर्वोच्च है। वे महासाधक, अनुभूतिजन्य आत्मज्ञानके महान् पण्डित और आत्मदार्शनिक थे। उन्हें भौतिकता और वैषयिक सुखकी भावना स्पर्श तक न कर सकी। उनकी सबसे बड़ी इच्छा थी कि वे सदा जगदम्बाकी भक्तिमें निमग्न रहें। उनके साधनकालकी बात है। वे गङ्गातटपर गये, उन्होंने एक हाथमें मिट्टी रख ली और दूसरेमें रुपये रख लिये। उन्होंने विचार करना आरम्भ किया कि सोना और मिट्टी दोनों एक हैं—सोना मिट्टी है, मिट्टी सोना है। दोनोंकी एकरूपता सिद्ध हो जानेपर उन्होंने उनको गङ्गामें फेंक दिया। भगवती पार्वतीसे प्रार्थना की 'माता! मुझे भौतिक सम्पत्ति और विषय-सुखकी तनिक भी कामना नहीं है, मेरी सबसे बड़ी इच्छा यही है कि आप मेरे हृदयमें निवास करें।'

परमहंस रामकृष्णने समस्त धर्मोंकी मूलभूत एकताका भगवती महाकालीके रूपमें लोगोंको साक्षात्कार कराया। स्वामी विवेकानन्दने उनके आदर्श संत-मतकी व्याख्यामें घोषणा की थी कि हमारे सद्गुरुने कहा था कि 'सब धर्मोंका मूल स्रोत एक ही है।' उन्नीसवीं शताब्दीके इन परम संतने किसी भी धर्म या मतपर आक्षेप नहीं किया; उन्होंने अपने जीवनमें अनुभव किया कि सब मत-मतान्तर एक ही ईश्वरीय धर्मके विभिन्न अङ्ग हैं। परमहंसदेवका पूरा-पूरा विश्वास था कि छोटे-बड़े सबमें समानरूपसे भागवत-ज्योति विद्यमान रहती है। परमहंसदेवने एक दिन एक नवयुवककी ओर संकेत कर कहा कि 'यह फल्गुनदीके समान है, ऊपरसे तो फल्गुतटपर बालू ही दीख पड़ती है, पर नदीमें पवित्र जलकी धारा बहती रहती है। इसी प्रकार ऊपरसे नहीं पता चलता है, पर इस नवयुवकके भीतर अध्यात्मकी धारा प्रवाहित है।' समस्त प्राणिमात्रके हृदयमें वे परमात्माकी ज्योतिका दर्शन करते थे। उपर्युक्त घटनासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि छोटे-बड़े,

वयस्क और बालक सबमें समानरूपसे परमहंसदेवको अपने उपास्य ही दीख पड़ते थे।

एक समय परमहंसदेवसे एक शिष्यने पूछा कि 'जिसे भगवान्की प्राप्ति नहीं हो सकी है, क्या उसे सारे कार्य छोड़ देने चाहिये?' रामकृष्णदेवने समाधान किया कि इस 'कलियुगमें लोगोंके लिये भक्ति और प्रेमका पथ ही सुगम है। भगवन्नामका जप करना चाहिये, उन्हींका गुण-गान करना चाहिये और शुद्ध अन्तःकरणसे निवेदन करना चाहिये कि हे परमेश्वर! मुझे अपने भक्ति-ज्ञानका धनी बनाइये, मेरे नेत्र खोल दीजिये, मुझे अपना दर्शन कराइये।' परमहंसदेव अपनी कथनीके रूप ही करनीका परिचय देते थे। एक दिन वे भगवती कालीके दर्शनके लिये इतने व्याकुल हो गये कि उन्होंने दर्शन न होनेपर अपना प्राणान्त करनेके लिये खड्ग उठा लिया। जगदम्बाका साकार विग्रह उनके सामने प्रकट हो गया। माँने अपनी कृपाकी ज्योति-मन्दाकिनीमें उनको सराबोर कर दिया। उन्होंने मानवताको अपने भक्तिपूर्ण आचरणसे आस्तिकताका विश्वासी बना दिया, बड़े आत्मज्ञानी और वेदान्ती संत-महात्मा उनकी जगदम्बा-उपासनाका रसास्वादनकर धन्य हो गये।

महात्मा गांधीके शब्दोंमें रामकृष्ण परमहंसदेवका जीवन धर्मको व्यवहारक्षेत्रमें उतारकर मूर्तरूप देनेके प्रयासकी एक अमर गाथा है। परमहंस रामकृष्णका सत्सिद्धान्त यह था कि भक्ति-पथ सहज और सुगम है। दुर्लभ मानव-जन्म पाकर केवल इसी बातकी आवश्यकता है कि प्रभुके चरणकमलमें किस तरह भक्ति हो।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द पिछली शताब्दीकी प्रमुख आध्यात्मिक विभूतियोंमेंसे एक थे। उन्होंने मानवताको आध्यात्मिक ज्योतिसे परम सम्पन्न किया। दक्षिणेश्वरके शक्ति-ब्रह्मोपासक परमहंस रामकृष्णकी चरण-कृपाकी ज्योतिसे अविद्या-अन्धकारका नाश कर स्वामी विवेकानन्दने आत्मगत सत्य चेतनासे मानवके कल्याणका पथ प्रशस्त किया। केवल भारत ही नहीं, अमेरिका, यूरोप तथा विश्वके अन्य भाग भी उनकी आत्मज्योतिका रसास्वादन कर धन्य हो गये।

स्वामी विवेकानन्दने मानवमात्रको सेवाकी सीख दी। उन्होंने कहा कि 'प्रत्येक स्त्री-पुरुष सभीको ईश्वरके ही समान देखना चाहिये। तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा करनेका अधिकार है। ईश्वरके अनुग्रहसे यदि उनकी किसी संतानकी सेवा करोगे तो धन्य हो जाओगे। सेवा तुम्हारे लिये पूजा है।' स्वामी विवेकानन्दने विदेश जाकर लोगोंको अध्यात्मज्ञानका दान दिया। उन्होंने ब्रह्मविद्याका प्रचार किया तथा विदेशी चिन्तन-पद्धतिपर भारतीय अध्यात्मज्ञानकी विजय स्थापित की। इंग्लैंड आदि देशोंमें उनका विशेष स्वागत हुआ, लोगोंने साक्षात् बुद्ध और ईसाके रूपमें उनके दर्शन किये।

स्वामी विवेकानन्दने आजीवन अद्वैत भगवत्तत्त्वका प्रचार किया। वे अपनी साधनाकी सीमामें अपने लिये परम भगवद्भक्त थे; शिष्यों, प्रेमियों और अनुयायियोंको वे आत्मज्ञानी संतके रूपमें दीख पड़े। उन्होंने समझाया कि मानवता सत्यके ही प्रकाशमें विकसित हो सकती है। साहसपूर्वक सत्य बोलो, सत्य सनातन है, सभी आत्माओंकी प्रकृति सत्य ही है। सत्य प्रकाश प्रदान करता है, चेतनता और स्फूर्तिका सृजन करता है।

स्वामी विवेकानन्द मानवताके महान् आदर्श थे। वे आत्म-मानव थे। वे सर्वथा निष्पक्ष थे। एक समयकी घटना है। खेतड़ी-नरेशकी विशेष प्रार्थनापर वे राजस्थान गये। अलवरमें जिस समय रेलवे-स्टेशनपर उनके स्वागतके लिये बड़े-बड़े धनी-मानी खड़े थे, प्लेटफार्मपर उतरते ही थोड़ी दूरपर उन्हें रामसनेही नामक व्यक्ति दीख पड़ा। वह पहली यात्रामें उनका शिष्य हो गया था। स्वामीजी जोर-जोरसे उसका नाम लेते हुए अपार भीड़ चीरकर आगे बढ़ गये। वह बेचारा गरीब था। विवेकानन्दने प्रेमपूर्वक उसका आलिङ्गन किया। उनकी आत्मस्वरूपिणी मानवताका दर्शन कर उपस्थित जनता धन्य हो गयी।

स्वामीजीने कहा कि 'दूसरोंका दोष न देखकर यदि आप अपना चरित्र सुधारेंगे, अपना चरित्र पवित्र बनायेंगे तो संसार अपने आप ही सुधर जायगा।' उन्होंने मानवमात्रको इस प्रकार कर्मका रहस्य समझाया। वे मानवतावादी संत थे।

समर्थ रामदास

गोस्वामी तुलसीदास
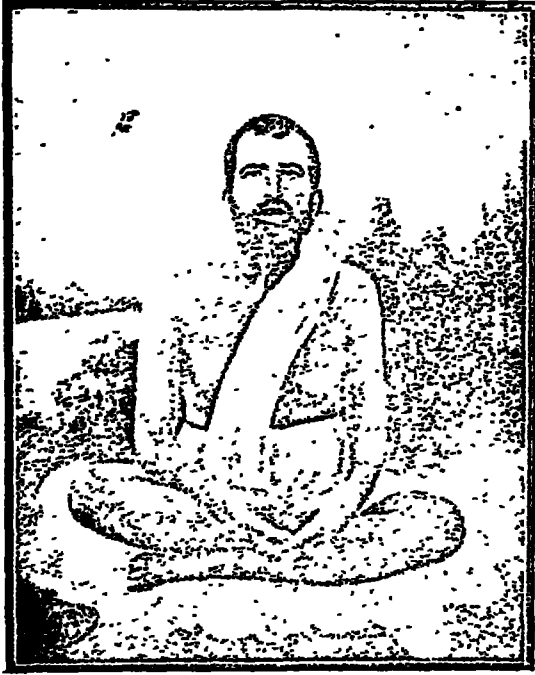
परमहंस रामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

धर्मरक्षक

गुरु तेगबहादुर

गुरु गोविंदसिंह
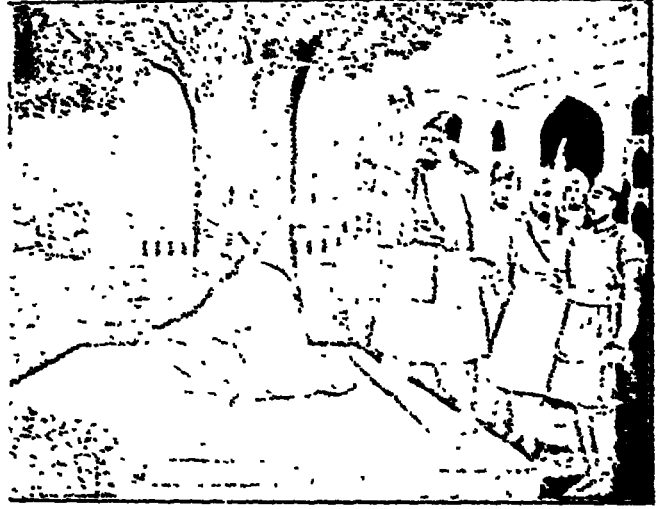
धर्म-रक्षक

छत्रपति शिवाजी

'यदि मेरी माता इतनी सुन्दर होतीं, मैं भी सुन्दर हुआ होता ।' महाराष्ट्र-सेनानायक विजयके पश्चात् परम सुन्दरी नवाब-कन्याको ले आये थे और उन्होंने उसे छत्रपतिके सम्मुख उपस्थित किया । धर्म-रक्षाके व्रती शिवाजी—उन्होंने देखा उस अद्भुत लावण्यको; किंतु उनके उद्गार उनके ही अनुरूप थे । उनके आदेशसे वह यवन-बाला सम्मानके साथ अपने पिताके पास भेजी गयी ।

औरंगजेबके धर्मान्धतापूर्ण अत्याचारोंका विपुल विस्तार था । महाराष्ट्र स्वयं भी यवन-राज्योंसे आच्छन्न था । मन्दिर टूटते थे, बलात् धर्मपरिवर्तन कराया जाता था और सतियोंका सतीत्व विलासियोंकी वासनाका भोग बन गया था । उस समय महाराष्ट्र-भूमिने हिंदू-धर्मको एक प्रोज्ज्वल प्रबल प्राण दिया—शिवाजी । शिवाजीका शौर्य, छत्रपतिकी प्रतिभा—दिल्लीतक काँप उठी । दब गये दक्षिणके अत्याचारी हाथ ! ऊँची फहराई धर्मकी गैरिक ध्वजा—छत्रपति शिवाजीका राज्य तो अर्पित था समर्थ स्वामी रामदासके चरणोंमें । उनकी करवाल तो उठी थी धर्म-रक्षाके लिये और वह शौर्य जो महाराष्ट्रमें शिवाजीने संचार किया—यवन-सत्ता उससे टकराकर छिन्न-भिन्न ही हो गयी ।

महाराणा प्रताप

सम्राट् अकबरकी कूटनीतिने मानधनी राजपूतोंके मस्तक झुका दिये । बेटियाँ ब्याह दीं दिल्लीपतिको; किंतु थक गया स्वयं दिल्लीपति—म्लान पड़ गया हिंदूकुल-सूर्य प्रतापके प्रबल प्रतापके सम्मुख ।

वन-वन भटके वे महाप्राण नन्हें शिशुओंके साथ । चित्तौड़की महारानी और शिशु युवराजको घासकी रोटियाँ भी कई-कई दिनोंपर प्राप्त होती थीं; किंतु प्रताप विपत्तियोंसे विचलित हो जायँ—तो सूर्य पूर्वके बदले पश्चिममें न उगे !

अडिग, अविचल, उन्नतभाल महाराणा प्रताप—चित्तौड़ महाराणाके प्रतापसे हिंदूका गौरव है और महाराणा—हिंदूके शौर्यके वे महान् प्रतीक !

गुरु तेगबहादुर

'इस्लाम कबूल कर लो तो पूरा सूबा तुम्हारा हो जायगा !' व्यर्थ था दिल्लीपतिका प्रलोभन !

'लोभ और भय तेगबहादुरके हृदयको नहीं छूते ।' गुरुका गम्भीर स्वर गूँजा—'सम्पत्ति चञ्चला है और शरीर नाशवान् । केवल धर्म शाश्वत है ।'

पंजाबमें दिल्लीपतिका अत्याचार बढ़ गया तो स्वयं गुरुने लोगोंको कहकर संदेश भिजवाया था कि 'तेगबहादुर इस्लाम कबूल कर लें तो यहाँ सभी कबूल कर लेंगे ।' दिल्लीपतिका छलपूर्ण आमन्त्रण, किंतु धर्मके लिये आत्मदान करनेका निश्चय तो स्वयं गुरुने किया था ।

'सत् श्रीअकाल !' अग्निमें उत्तप्त लाल-लाल सीखचोंसे गुरु तेगबहादुरके शरीरकी बोटी-बोटी अत्याचारी नोच सकता था—उसने अपनी पैशाचिकता पूरी की; किंतु गुरुके हृदयके प्रकाशको एवं उनकी अकाल पुरुषकी जयघोषणाको मन्द करना उसके वशकी बात कहाँ थी ?

गुरु गोविन्दसिंह

मृत्यु कापुरुषोंको कम्पित करती है । पिताके बलिदानने पुत्रको प्रचण्ड बना दिया । गुरु गोविन्दसिंहने नवीन शङ्खनाद किया पाञ्चालमें । मालाके स्थानपर सिखोंके बलशाली करोंने कृपाण उठायी । गुरुके आह्वान 'धर्म तुम्हें पुकार रहा है । धर्मके सैनिक—धर्मरक्षाके लिये शस्त्र धारण करो ! जीवन धर्मपर बलि होनेके लिये ।'

'जीवन धर्मपर बलि होनेके लिये ।' गुरुकी वाणी गूँजी और साधनप्राण, शान्त सरल साधुओंका समुदाय सिंहोंका समाज बन गया । औरंगजेबी अत्याचारके दुर्गपर प्रचण्डतम आघात पड़ने लगे । पाञ्चालसे यवन-सत्ताको समाप्त होनेमें समय नहीं लगा ।

मानवताके मूलस्रोत

(लेखक—श्रीरेवानन्दजी गौड, एम्०ए०, आचार्य, साहित्यरत्न)

जब धरा सो जाती है, तब मानवता पुकारकर उसे जगाती है। जब किसी देश अथवा जातिमें विनाशाग्नि धधक उठती है, तब कोई सच्चा मानव मानवताके गीतोंकी अमृतवर्षासे उसे बुझा देता है। यथार्थ मानवकी ध्वनि ईश्वरकी प्रतिध्वनि है। धरा जब विपत्तियोंमें फँस 'त्राहि-त्राहि' पुकारती है, सत्य जब असत्यसे पराजित होता है, मानवता जब अत्याचारोंसे दबायी जाती है, नागरिक जब अपने कर्तव्यको भूल बैठता है, काम, क्रोध, मद, लोभ तथा द्वेष जब पराकाष्ठापर पहुँच जाते हैं, परस्पर प्रेम तथा शान्तिका अभाव जब व्यापक हो जाता है, असहाय जब सहायताके लिये चिल्लाता है, तब भगवद्-वचनामृत, रहस्यपूर्ण श्रीमद्भगवद्गीताके—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

—इस सिद्धान्तके अनुसार किसी महामानवका आविर्भाव होता है। इसी सिद्धान्तका अनुमोदन महर्षि मार्कण्डेयके शब्दोंमें यह है—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति॥
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्।
(दुर्गासप्तशती ११।५४-५५)

दुर्गतिनाशिनी भगवती माँ दुर्गा ऋषि-मुनियोंकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर उन्हें आश्वासन दे रही हैं। इस प्रकार जब-जब दानवोंद्वारा बाधाएँ उत्पन्न होंगी, तब-तब मैं अवतरित होकर शत्रुवर्गका विनाश करूँगी। इन्हीं भावनाओंसे ओत-प्रोत होकर तुलसीकी आत्मा तुलसीकी लेखनीसे बलात् यह भावधारा बह उठी—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
(रामचरितमानस बाल० १२०)

कहनेका सर्वसम्मत अभिप्राय यह है कि महामानव (अवतार) प्रत्येक युगमें अवतरित होते आये हैं। उनका जीवन लोक-कल्याणकी भावनासे परिपूर्ण रहता है। उनकी व्यापक दृष्टि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'—श्रीगीताजीकी इस अमर वाणीसे अनुप्राणित रहती है। महामानवसे यहाँ तात्पर्य अतिमानवसे नहीं, अपितु पूर्ण मानवसे है। पाठक! यदि आप अतिमानव और पूर्णमानवकी व्याख्यासे अपरिचित हैं तो परिचित हो जाइये। यदि कोई विशालकाय, मांसल, मोटा, चौड़ा, लंबा, अनाचारी व्यक्ति अतिमानव है तो एक दुर्बल, क्षीणाङ्गविशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्ति पूर्णमानव अर्थात् महामानव है। महामानवका कल्याणप्रद चरित्र बड़ा ही रहस्यमय होता है। उनका पावन जीवन लोकहितशीला लीलासे ओत-प्रोत रहता है। कोई भी पूर्णमानव संसारमें मानवके सर्वोच्च उदात्त सद्गुणोंकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ सकल मानवतासम्बन्धी सर्वोच्च आदर्शपूर्ण सर्वाङ्गसुन्दर व्यक्तिके रूपमें प्रकट होता है। वह नरके रूपमें साक्षात् नारायण है। उसमें नरत्व और नारायणत्वका पूर्णतया समन्वय होता है। 'नरत्व नारायणकी सीढ़ी है' इसका तात्पर्य भी यही प्रतीत होता है कि नारायण-प्राप्तिका साधन ही मानवता है। शुद्ध मानवताका आश्रय लेकर मानव मानव ही नहीं, अपितु देव अथवा देवोंका भी देवाधिदेव बन सकता है—इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं।

महामानवका लक्ष्य सार्वभौम अर्थात् सर्वव्यापी होता है। उसका प्रकाश समस्त देशों तथा कालोंके स्त्री-पुरुषोंके अनुरूप ही नहीं, अपितु प्रत्येक सभ्यता एवं संस्कृतिके पोषक समस्त जन-समूहको अनन्तकालतक बल प्रदान करता है। उसका उदार दृष्टिकोण मानवमात्रके लिये ही नहीं, अपितु प्राणिमात्रके त्रिविध दुःख शान्त्यर्थ और 'धर्मार्थ-काम-मोक्ष'—प्राप्त्यर्थ होता है। महामानव संसारके सम्मुख मुक्ति या निर्वाण-को—कैवल्यभावनाको लेकर प्रस्तुत नहीं होता। वह तो सोचता है, जगत् पापमय है, सभी प्राणी अपने पाप-कर्मोंसे पच्यमान हैं, उनका समस्त लौकिक क्रियाकलाप दुःखमय है, उनकी आध्यात्मिक चेतनाको आन्तरिक अहंभावनाकी साधनाने नष्ट कर दिया है। जन्म, जरा-मरण तथा आधि-व्याधि-समापन्न संसारकी घोर यातना देखकर वह सिहर उठता है, विह्वल हो जाता है। परदुःखकातर, सहज-सुख-राशि वह महामानव संसारमें आध्यात्मिकताको प्रोत्साहन देता है। वह प्रत्येक मानवको किसी निर्विशेष, निष्क्रिय, सन्निष्ठ—सर्वव्यापी

निर्गुण ब्रह्ममें लीन कर देना ही नहीं चाहता। अपितु प्रत्येक मानवको पूर्णज्ञान, पूर्णकर्म, पूर्णयोग तथा सर्वविध सौख्य, दिव्यप्रेम और आनन्दमय विज्ञानसे पूर्ण देखना चाहता है। मानवताकी विशद व्याख्या मानवके जीवनमें परिपूर्ण होनेका स्वप्न सत्य हुआ देखना चाहता है। प्रत्येक व्यष्टि-मानवको समष्टि-मानवमें परिवर्तित करता है। वह तो मानवके जीवनमें सार्वभौमता, सनातनता, परदुःखकातरता और माधुर्य-सौन्दर्य-पूर्ण प्रेमका दर्शन करता है। यथाशक्ति समाजके सम्मुख मानवताका मूल-स्रोत प्रवाहित करता है। भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखारविन्दसे वचनामृत-प्रवाह प्रवाहित करते हुए श्रीमद्भगवद्गीतामें मानवताका मूल-स्रोत आप्लावित किया है। उन्होंने जब अपने सखा अर्जुनको मानवताका अमर संदेश देना प्रारम्भ किया, तब अर्जुन जिज्ञासाके भाव अपने हृदयमें लिये शिष्य बनकर भगवान्से बोले—शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। अर्थात् हे भगवन्! मैं आपके शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ। मुझे कर्तव्यका अवलोकन कराइये। भगवान्के सम्मुख अपनी आन्तरिक भावनाको और अधिक स्पष्ट करते हुए अर्जुनने कहा—यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे। आप कृपया प्रेयःकी अपेक्षा श्रेयःका स्वरूप समझाइये। श्रेयःकोटिमें निज-परका भेद समाप्त हो जाता है। परंतु विवेचना तो यही करनी है कि श्रेयःकोटिमें पहुँचा ही कैसे जाय। भगवान् श्रीकृष्ण अपने जिज्ञासु शिष्यको इसके साधनका उपदेश करते हैं—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
>
> (गीता २। ४७)

'अर्जुन! तेरा कर्ममें अधिकार है, फल-प्राप्तिमें नहीं। तू कर्मकी फल-वासनासे वासित न हो और अकर्ममें भी तू आसक्त न हो। इस प्रकार भगवान्ने श्रेयःका साधन 'फलासङ्गशून्य कर्म' के सिद्धान्तको प्रतिपादित किया। जब किसी भी व्यक्तिके जीवनमें 'फलासङ्गशून्य कर्म' का सिद्धान्त पनपने लगता है, तभी वह श्रेयःको प्राप्त होता है। श्रेयःकी विशद व्याख्या करते हुए भगवान् कहते हैं—

> श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
> ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
>
> (गीता १२। १२)

'अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञानसे ध्यान विशेष है। ध्यानसे कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है और कर्म-फल-त्याग ही श्रेयःकी—शाश्वत शान्तिकी प्राप्तिका परम साधन है।'

इस श्लोकमें अभ्यासका तात्पर्य साधनसे है और साधन भी कर्मद्वारा ही सम्पन्न होता है। अतः कर्म और अभ्यासमें व्यावहारिक भिन्नता होनेपर भी तात्त्विक अभेद है। अतः 'ज्ञानमय कर्म' ही श्रेयः है। ज्ञानमय कर्म श्रेयःकोटिमें तभी आ सकता है, जब उसमें ध्यानका पुट हो। इससे भी बढ़कर श्रेयः-प्राप्ति 'कर्मफलत्याग'में है। कारण कर्मफलत्यागी योगी ज्ञानपूर्वक ध्यानस्थ कर्म करता है। उसे सुख-दुःखका विचार नहीं होता। सिद्धि-असिद्धि, हानि-लाभ, जय-पराजयमें वह एक-समान रहता है। यही स्थिति सर्वोपरि है और यही श्रेयः है। अतः निष्काम कर्मसिद्धि ही मानवताका मूल-स्रोत है। ऐसी मानवतासे मानवका चरम विकास होता है। अब हम मानवतासम्बन्धी कुछ प्रमुख गुणोंपर क्रमशः विचार करेंगे—

सत्य

अस् धातुसे 'सत्य' शब्द निष्पन्न होता है। उसका अर्थ है 'होना'। सत्तामय ही सत्य है। 'सत्यं वद'—यह उपनिषद्-वाक्य सत्यकी व्यापकताका द्योतक है। मानवताकी रीढ़ सत्य है। मानव-जीवनमें बाह्य और आन्तरिक सत्य अपेक्षित है। केवल वाणीमात्रका सत्य जीवनमें पर्याप्त नहीं, अपितु आन्तरिक भावनाकी सत्यता भी आवश्यक है। जलसे बाह्य शारीरिक शुद्धि होती है तो सत्यसे आन्तरिक शुद्धि सम्भव है। 'वचस्येकं मनस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'—ऐसा व्यवहार सामाजिक और अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें होना चाहिये। 'कथनीकी पुष्टि करणीसे करना' ही मानवता है। यथासमय अपने अपराधको स्वीकार करना सदाचार-विडम्बनासे अधिक अच्छा है। अपराधकी स्वीकृतिसे प्रायश्चित्त होता है और विनयका संचार होता है। शास्त्रमें कहा गया है—

> सत्यपूतं वदेद् वाक्यम्।

आत्मौपम्य दृष्टि

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः।' नीतिकारका कथन मानवताकी सच्ची कसौटी है। जो प्रत्येक दशामें प्रत्येक मानवसे ही नहीं, प्राणिमात्रसे आत्मवत् व्यवहार करता है, वही सच्चा मानव है। यदि हम किसीके मालिक हैं तो हमें अपने नौकरसे वही व्यवहार करना चाहिये, जो हम स्वयं अपने मालिकसे चाहते हैं। यदि हम अध्यापक हैं तो हमें विद्यार्थियों-

को वे सब सुविधाएँ देनी चाहिये, जिन्हें हम विद्यार्थी-अवस्थामें चाहते थे। यदि कोई याचक द्वारपर है तो उसकी आत्मामें प्रवेश करके विचार करना चाहिये कि यदि मैं किसीके द्वारपर याचकके रूपमें होता तो निराशामें कितनी आन्तरिक पीड़ा होती। इस प्रकार मानव-जीवनमें आत्मौपम्य व्यवहार मानवताके अन्तर्गत है। आत्मौपम्य दृष्टिसे न्याय और सहानुभूतिको बल मिलता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५। १८)

विद्वान् समद्रष्टा होते हैं। वे विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें एक ही आत्माका अस्तित्व देखते हैं। ऐसी भावनाओंसे समाज और राष्ट्रमें सुख-शान्तिका संचार होता है।

शिष्टता

शिष्टाचारका पालन मानवताका पूरक है। 'सत्यं ब्रूयात्' का पाठ उतना आवश्यक नहीं, जितना 'प्रियं ब्रूयात्' का है। अंधेको अंधा न कहकर सूरदास, कानेको काना न कहकर समदर्शी कहना शिष्टता है। शिष्टतासे विनय और नम्रताका भाव जाग्रत् होता है। जब जन-जनमें विनयका भाव उत्पन्न होगा, तब समाजसे संघर्ष, परस्पर वैमनस्य एवं ईर्ष्याके भाव स्वयं ही समाप्त हो जायँगे। नम्रता सदैव प्रशंसनीय है; परंतु जब उसमें छल-कपट अथवा दम्भका समावेश होता है, तब वह मनुष्यको समूल नष्ट कर देती है। मानवको सदा 'आचारः परमो धर्मः' को अपना जीवन-लक्ष्य बनाये रखना चाहिये।

अहिंसा

मानवतावादी कभी हिंसक नहीं होता। वह मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसाका पोषक होता है। अहिंसाकी भावनामें दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षा ही नहीं होती, अपितु उनके जीवनकी स्वीकृति होती है। दूसरोंके प्राण लेना ही हिंसा नहीं, अपितु दूसरोंके अधिकारोंका अपहरण, अधिकृतका अपमान, पतित अथवा जातिबहिष्कृतके साथ अधिकार-भावनाका प्रदर्शन भी हिंसा ही है। 'जीओ और जीने दो' अर्थात् सह-अस्तित्वका सिद्धान्त भी अहिंसापर ही आधारित है। सबलसे भय और निर्बलपर बल-प्रदर्शन भी हिंसा है। दूसरेके स्वाभिमानकी रक्षा अहिंसाका व्यावहारिक रूप है। एक जोंककी रक्षाके लिये अनन्त जीवोंकी हत्या मानवतावादके सिद्धान्तके प्रतिकूल है। अहिंसाका महत्त्व स्वीकार करते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।' (सूत्र ३५) अहिंसक परम योगीके सांनिध्यमें वैरी भी अपना वैर त्याग देते हैं। भारतीय ऋषि-मुनियोंके आश्रम इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इस प्रकार जब मानव मानवताके गुणोंको अपना लेता है, तब वह आत्मा-अनात्माके भेदको भूल जाता है। वह अहंभावसे ऊपर उठकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ता है। मानवतावादी मानवके सम्मुख समस्त विश्वप्रेम, सौन्दर्य, आनन्द और कल्याणकी आत्माभिव्यक्तिके लिये एक व्यापक-क्षेत्रके रूपमें उपस्थित होता है। उसके पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रके समस्त कर्म लोक-कल्याणकी भावनासे परिपूर्ण होते हैं। मानवतावादीकी दृष्टिमें अभेद जीवका स्वरूप होता है। वह नानात्वमें एकत्वके दर्शन करता है। तब वह आनन्द-विभोर हो उठता है और एक स्वरसे प्रार्थना करता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

उस जीवनमें आग लग जाय जो रामका नहीं हो गया

तिन्ह तें खर, सूकर, स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
'तुलसी' जेहि रामसों नेहु नहीं, सो सही पसु पूँछ, बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवनु, जानकीनाथ! जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै॥१॥
गज-बाजि-घटा, भले भूरि भटा, बनिता, सुत भौंह तकैं सब वै।
धरनी, धनु, धाम, सरीरु भलो, सुरलोकहु चाहि इहै सुखु स्वै॥
सब फोकट साटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवनु, जानकीनाथ! जियै जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै॥२॥

मानवता संसारकी आधार-शिला

(लेखक—श्रीयशपालजी जैन)

संसारके इतिहासमें ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने आचरणसे मानव-प्रेम और मानव-सेवाका एक ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है। वे मूर्धन्य व्यक्ति सामान्य लोगोंकी भाँति जन्मे थे; किंतु प्रारम्भसे ही उनकी दृष्टि इतनी व्यापक तथा हृदय इतना विशाल था कि वे अपने परिवार तथा स्वार्थकी संकीर्ण परिधिमें आवृत न रह सके। वे सबके लिये थे और सब उनके अपने थे; उनका प्रेम, उनकी करुणा, उनकी परदुःखकातरता ऊँच-नीच, जात-पाँत, धर्म-विश्वास, अमीरी-गरीबी आदिके भेदको स्वीकार नहीं करती थीं। उनके लिये मानव मानव था और उसी नाते वे उसे जानते और मानते थे। वस्तुतः उनके लिये संसार एक विशाल परिवार था, जिसका सुख-दुःख उनका अपना सुख-दुःख था।

सच यह है कि मानवकी अच्छाईमें उनका अटूट विश्वास था। उनके लिये न कोई हेय था न पतित। वे मानते थे कि यदि कोई व्यक्ति निम्न श्रेणीका काम करता है तो इसलिये नहीं कि वह बुरा है, बल्कि इसलिये कि वह परिस्थितियोंसे विवश हो जाता है। परिस्थितियोंकी काली घटाएँ उसके विवेकके निर्मल आकाशको ढक देती हैं। ऐसी अवस्था अधिक समयतक नहीं रहती, मेघखण्डोंके हटते ही गगन फिर स्वच्छ हो जाता है। परिस्थितियोंसे पराभूत होनेकी मानवकी दुर्बलताको उन्होंने कभी घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखा; बल्कि उसके लिये मानवको और अधिक प्यार किया, उसे और अधिक सहानुभूति दी।

प्रभु यीशुकी एक बड़ी ही भावपूर्ण कथा इस प्रसङ्गमें याद आती है। एक दिन उन्होंने देखा कि एक स्थानपर बड़ी भीड़ इकट्ठी हो रही है, वे वहाँ पहुँचे। देखते क्या हैं कि एक स्त्रीको घेरे कुछ लोग खड़े हैं और क्रोधसे लाल-पीले हो रहे हैं। उन्होंने आगे बढ़कर बड़ी शान्तिसे पूछा, 'क्या बात है?'

कई स्वर एक साथ बोल उठे, 'यह स्त्री कुलटा है, इसने व्यभिचार किया है; हम पत्थरोंसे इसकी बोटी-बोटी उड़ा देंगे।'

यीशु गम्भीर हो आये, बड़े धीमे स्वरमें बोले—आपका क्रोध स्वाभाविक है, बुराईके लिये किसीके भी हृदयमें अवकाश नहीं रहना चाहिये, परंतु…'

एक साथ लोग बोल उठे, 'परंतु क्या?'

प्रभुने कहा, 'परंतु, दण्ड देनेका अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है, जिसने कभी कोई अपराध न किया हो। इस स्त्रीके पहला पत्थर वही व्यक्ति मार सकेगा, जिसने मन, वचन, कायासे कभी व्यभिचार न किया हो। आपमें ऐसा कोई है? वह सामने आये।'

लोगोंके हाथोंका तनाव ढीला पड़ गया, पत्थर नीचे गिर पड़े, सिर झुक गये, एक-एक करके सब अपने-अपने घर चले गये।

तब करुणा-सागर यीशुने उस शोक-संतप्त स्त्रीके आँसू पोंछे और बड़े प्यारसे कहा, 'बहन! भूल सबसे होती है; किंतु मनुष्यकी होशियारी इसमें है कि एक बार भूल करके फिर उसे दोहराये नहीं। तुम मनको शान्त करो, घर जाओ।'

हजरत मोहम्मदका हृदय प्यारसे छलछलाता रहता था; वे घरसे निकलते थे तो बच्चे उन्हें घेर लेते थे। कोई उनकी पीठपर चढ़ जाता तो कोई उनके कंधेपर जा बैठता था। दीन-दुखी उन्हें रोककर अपनी विपदा सुनाते और अपना हृदय हल्का कर लेते थे। एक दिनकी बात है, मोहम्मद साहब घरसे निकले। घूमते-घूमते वे एक घरके सामने आये, वहाँ उनके पैर अनायास ठिठक गये। उनके कानोंमें किसीके रोनेका शब्द आया, वे घरके भीतर गये। देखते क्या हैं कि एक स्त्री बच्चेको गोदमें लिये बड़ी विह्वल होकर बिलख रही है। हजरत मोहम्मदका हृदय उसकी व्यथासे विचलित हो गया। वे आगे बढ़कर स्त्रीके पास जाकर टूटी चटाईपर बैठ गये और उसकी पीठपर हाथ रखकर बोले, 'क्या बात है? तुम इतनी हैरान क्यों हो रही हो?'

जैसे रुका बाँध टूट गया हो, स्त्री एकदम फूट पड़ी; उसकी हिचकी बँध गयी। हजरतने उसे सान्त्वना दी, सुस्थिर हुई तो बोली, 'मेरी यह इकलौती संतान है, मौत इसे ले जा रही है; मैं क्या करूँ?'

मोहम्मदकी आँखें गीली हो गयीं। उन्होंने बच्चेको अपनी गोदमें ले लिया, बड़े प्यारसे उसके सिरपर और देहपर हाथ

फिराया और बड़ी देरतक उसे छातीसे लगाये रहे; फिर उन्होंने बड़ी आत्मीयतासे उस स्त्रीको समझाया, उसे ढाढस दिलाया, उसके दुःखको हल्का किया। बच्चेको जाना था, वह चला गया; किंतु स्त्रीने अनुभव किया, मानो उसका दुःख केवल उसका अपना नहीं रहा, उसमें एक साझीदार और आ गया।

मानवताके प्रेमीके लिये यह संसार पुष्प-शय्या नहीं है, जीवनमें पग-पगपर उसकी परीक्षा होती रहती है। पाठक जानते हैं कि भगवान् महावीर घरसे विरक्त होकर कठोर तपस्या करने वनमें चले गये थे। एक दिन वे निर्जन स्थानपर खड़े ध्यानमें लीन थे कि एक किसान आया और बोला, 'मैं खाना खाने गाँव जा रहा हूँ, तुम थोड़ा मेरे बैलोंको देखते रहना।'

इतना कहकर वह चला गया। थोड़ी देर बाद लौटा तो उसने देखा कि बैल वहाँ नहीं हैं। उसने महावीरसे पूछा, पर वे तो समाधिमें लीन थे। उन्हें चुप देखकर उसने सोचा कि हो-न-हो इसने बैल कहीं छिपा दिये हैं। सोचता होगा कि मैं हैरान होकर घर चला जाऊँगा तब यह उन्हें हाँककर ले जायगा। बस, फिर क्या था! पहले तो उसने महावीरको तरह-तरहकी गालियाँ दीं, फिर उन्हें खूब मारा। यहाँतक कहा जाता है कि उसने पेड़की एक लकड़ी तोड़ी और उसे एक कानसे ठोंककर दूसरेसे पार निकाल दिया, पर महावीर तनिक भी विचलित न हुए। वे जानते थे कि उस किसानने जो कुछ किया है, अज्ञानता-वश किया है। क्रोध आना तो दूर, उस किसानके प्रति उल्टे उनके हृदयमें दया उत्पन्न हुई। अज्ञानताके वशीभूत होकर जो व्यक्ति क्रोध करता है, वह स्वयं भी तो कम दुखी नहीं होता। यह थी वह दृष्टि, जिसने महावीरको मानवजातिके लिये वन्दनीय बना दिया।

भगवान् बुद्धको भी अनेक बार अग्नि-परीक्षासे पार होना पड़ा। कौशाम्बीके राजा उदयनकी रानी जब कुमारी थीं, तब उसके पिताने बुद्धसे उसके साथ विवाह करनेका प्रस्ताव किया। बुद्धने उत्तर दिया, 'यह शरीर नाशवान् है, इससे मोह छोड़नेके लिये ही तो मैंने घर-बारका त्याग किया है; मैं इस कन्याको कैसे स्वीकार करूँ?'

उस कुमारीको अपने रूपका बड़ा गर्व था। बुद्धके अस्वीकारसे उसने अपनेको बहुत ही अपमानित अनुभव किया। क्रोधसे पागल होकर उसने बदला लेनेकी ठानी। कुछ दिनों बाद वह राजा उदयनकी पटरानी बन गयी; पर अपमानकी आग उसके हृदयमें निरन्तर जलती रही। एक बार बुद्ध कौशाम्बी आये, रानीने कुछ लोगोंको धन देकर बुद्ध और उनके साथियोंको हैरान करनेके लिये कहा। उन लोगोंने यही किया; बुद्ध और उनके शिष्य जब-जब और जहाँ-जहाँ भिक्षाके लिये जाते थे, वे उन्हें घृणित गालियाँ देते थे। शिष्य बड़े क्षुब्ध हुए। उन्होंने बुद्धसे कहा, 'इस शहरको छोड़कर और कहीं चलें।'

बुद्धने मुसकराते हुए कहा, 'यदि वहाँ भी लोगोंने गालियाँ दीं तो?'

'और कहीं चले चलेंगे।'

'वहाँ भी ऐसा ही हुआ तो?'

'किसी तीसरी जगह चले जायँगे।'

बुद्धने कहा, 'यदि हम इस तरह भाग-दौड़ करते रहेंगे तो अकारण क्लेशके पात्र होंगे। यदि हम इन लोगोंकी बातें सहन कर लेंगे तो दूसरी जगह जानेका प्रयोजन नहीं रह जायगा और ये लोग भी अन्ततोगत्वा अपनी भूल समझकर चुप हो जायँगे।'

बुद्धकी अग्नि-परीक्षाओंकी कहानी बड़ी लंबी और हृदय-स्पर्शिनी है। उनके अपने ही शिष्यने ईर्ष्याके वश होकर एक बार उनके ऊपर एक भारी पाषाण-शिला पटक दी। बुद्धके पैरमें बड़ी चोट आयी। कई दिनोंतक वे चल-फिर भी न सके; किंतु अपने उस शिष्यके प्रति तनिक भी कटुता उनके हृदयमें उत्पन्न नहीं हुई।

अपने विरोधीके प्रति भी इतना उदार-भाव रखना बड़ा कठिन है; पर यही तो व्यक्तिकी कसौटी है और उसपर खरा उतरनेपर ही बुद्ध बना जा सकता है।

इस सृष्टिमें जो प्राणिमात्रको अपना मित्र, सखा-सहोदर मानता है, उसके लिये भयका कहीं और कोई स्थान ही नहीं रह जाता। गांधीजीके जीवनकी एक घटना है। चम्पारनकी बात है, वहाँ निलहे गोरोंके अत्याचारोंसे लोग बड़े त्रस्त थे। गांधीजी वहाँ गये। उनके जाने और कुछ लोकोपयोगी कार्य करनेसे वहाँकी जनतामें बड़ी जागृति पैदा हुई। इससे निलहे गोरे बड़ी परेशानीमें पड़े। एक दिन किसीने गांधीजीसे कहा, 'बापू, यहाँका अमुक गोरा बड़ा दुष्ट है, वह आपको मार डालना चाहता है; उसने इस कामके लिये हत्यारे तैनात किये हैं।'

गांधीजीने साथीकी बात सुन ली। उसके बाद उन्होंने जो किया, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। एक दिन रातको जब कि चारों ओर निस्तब्धता व्याप्त थी, गांधीजी अकेले उस गोरेके बँगलेपर पहुँचे, उससे मिले और बोले, 'मैंने सुना है कि आपने मुझे मार डालनेके लिये हत्यारे नियुक्त किये हैं! उसकी आवश्यकता क्या थी; लीजिये, मैं बिना किसीसे कुछ कहे अकेला यहाँ आ गया हूँ।'

गोरा स्तम्भित रह गया, उसका सिर झुक गया।

ऐसी घटनाओंसे दुनियाका इतिहास भरा पड़ा है। कोई भी देश, कोई भी धर्म ऐसा नहीं है, जिसने मानवताके आदर्शकी उत्कृष्टताको स्वीकार न किया हो। वस्तुतः सारे धर्मोंका मूल एक है कि धूल भी हेय नहीं है और इंसान-इंसानके बीच कोई अन्तर नहीं है, लेकिन·····

बस इसीके आगे एक ऐसा प्रश्न-चिह्न खड़ा हो जाता है कि दुनिया एक पहेली बन जाती है।

धार्मिक लोगोंकी मान्यता है कि यह पृथ्वी नागके फनपर टिकी है, विज्ञानवेत्ता उसका वैज्ञानिक कारण बताते हैं; किंतु सचाई यह है कि यह पृथ्वी प्रेम—जिसका दूसरा नाम मानवता है—की आधार-शिलापर टिकी है। आज यह शिला कुछ हिलती-सी दिखायी देती है और यही कारण है कि दुनिया आज इतनी संतप्त हो रही है। हम इस बातको न भूलें कि इस शिलाकी मजबूतीपर ही संसारका उज्ज्वल भविष्य निर्भर करता है और उसे सुदृढ़ बनानेमें पूरा-पूरा योग दें।

मानवतापर एक दृष्टि

बनाये विधिने दानव प्रथम, पाशविक बलका परमोत्कर्ष,
अचल भी करके कन्दुक बने, किंतु वे हुए नहीं आदर्श।
कल्पना कर फिर नर सुर रचे, किंतु वे भी न जँचे परिपूर्ण,
विषयरत बलिभुग्-मुख सर्वत्र, भूल निज समझी विधिने तूर्ण।
रची फिर तपकर सारी शक्ति लगाकर 'मानवता'की सृष्टि,
देख अनुपम गुण उसके झँपी देव-दानव दोनोंकी दृष्टि।
अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, सत्य, अपरिग्रह—यम अवलोक,
शौच संतोष ईश-विश्वास—नियम लख मुग्ध हुआ त्रैलोक्य।
सृष्टिका सर्वोत्कृष्ट प्रकर्ष देखकर मनुज-योनिमें व्याप्त,
विविध नव नव विधानकी जाँच विधाताने की यहीं समाप्त।
त्याग तप शुद्ध बुद्धिसे मनुज सहज दुर्बलतामय निज दोष,
जीत लेगा निश्चय सम्पूर्ण—हुआ विधिको इससे संतोष।
त्याग तप हुआ यहाँ साकार, कार्यमें परिणत था आदर्श,
सृष्टिमें ऐसी अनुपम सृष्टि-सफलतासे विधि हुए सहर्ष।
प्रजापति कर्मठ हुए अनेक, वंशधर बढ़ी विविध संतान,
सभीमें मानवता अक्षुण्ण रही चिरकाल निधान-समान।
रही मानवता पलती सही युगोंतक तपोभूमिमें नित्य,
विश्वको देती संस्कृति-दान किया जगको निश्चय कृतकृत्य।
तपस्वी ऋषियोंकी क्या बात, भूप भी बने स्वयं राजर्षि,
उन्हींके गुण-गणसे आकृष्ट उतर आते थे खुद देवर्षि।
यहाँ मानवसे मानव सदा सुरक्षित रहे—भला क्या बात?
क्षुद्र-से-क्षुद्र जीवपर कभी न होते थे अनुचित आघात।
हरे तृण तरुसे भी था प्रेम, व्यर्थ हम उन्हें न करते नष्ट,
भला फिर स्वार्थ सिद्धिके लिये जीवको कैसे देते कष्ट।

कहीं परहित स्वदेहका मांस काटकर दिया गया निज हाथ !
स्वार्थि-सुरपतिने माँगी अस्थि, प्राप्त कर वे भी हुए सनाथ।
यहीं तो सर्वोपरि दिख रहा परम 'मानवता'का उत्कर्ष;
देवता अस्थि-याचना करे ! मनुज दे परहित उसे सहर्ष।
महात्मा ईसाने . हैं सहे विवश होकर ही ऐसे कष्ट;
मुख्यता रही यहाँकी यही—हुआ स्वेच्छासे स्वीकृत स्पष्ट !
परम देवत्व पिछड़ता यहीं, दानवोंका क्या लें हम नाम ?
खोलकर मानवका इतिहास सीख लो मानवताके काम।
शक्तिधर सभ्य देशके मनुज तनिक सोचें मानवके कार्य !
भले मत सोचें चाहे अन्य, किंतु सोचें भारतके आर्य।
वेद स्मृति पुराणादिका ज्ञान शिष्टजन जब तक रहे प्रमाण,
रहा तब तक भारतका ही न वस्तुतः निखिल विश्व कल्याण !
समय बदला बदली जन-बुद्धि, शुद्धि साबुनमें ही रह गयी !
हुए मानव दानव प्रत्यक्ष, इसे कहते हैं 'उन्नति नयी' !
पूर्वकी व्याख्या सारी गयी, आजका विकृत ज्ञान-विज्ञान !
जगद्विध्वंसक निकला एक, उसीपर लगा विश्वका ध्यान !
आधिभौतिक सुख ही सर्वस्व मानने मानवता अब लगी !
सभीको रौंद-कुचलकर हाय ! निकल चलनेकी चिन्ता जगी !
कहाँसे बढ़ना है किस ओर, न होता इसका सम्यक् ज्ञान;
पतन-पथपर ही चाहे बढ़ें, इसीपर है अभिमान महान !
औरकी बात व्यर्थ क्या करें ? हमारा कहनेको 'स्वाधीन',
देश 'गोवध' भी रोक न सका । अहिंसकका संस्करण नवीन !
हते जाते हैं नरके लिये करोड़ों मूक जीव निरुपाय !
हाय रे ! साम्यवादका ध्येय ! यही क्या गीता-समता हाय !
कहाँ गाँधीकी आत्मा गयी ? कहाँ उनके अनुयायी आज ?
धर्म निरपेक्ष राज्यपर गर्व और करते मनमाने काज !
अहिंसाकी सीमा प्रत्यक्ष-बुद्ध-मन्दिरका जीर्णोद्धार !
योजनाओंमें जा छिप गया स्वप्नमय 'राम-राज्य'का सार !
देव सरिता-सी पावन पतित कलंकित मानवता हो रही !
गिरी प्रतिक्षण गिरती जा रही मात्र है पतन, प्रगति अब नहीं।
भगीरथ-सा न तपस्वी आज प्रगति पथ बतलाता है सही !
इसे है जगद् जह्नु पी गया ! प्रकट होगी प्रायः अब नहीं !
भगीरथ-वंश हुआ निःशेष ! रामके अनुयायी भी लुप्त !
हमारी सरस्वतीके तुल्य रहेगी मानवता भी गुप्त !
आह ! ऐसा न करो भगवान ! फटी जाती है छाती आज !
वस्तुतः मानवतासे युक्त शीघ्र हो सारा सभ्य समाज !

—नन्दकिशोर झा, काव्यतीर्थ

मनुष्य बनो

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पांड्या)

मनुष्य बनो। हे मनुष्यो! अपने गौरवको पहचानो और उसकी रक्षा करो।

स्वर्गके देवोंमें सदाकालीन यौवन है, दिव्य रूप है, व्याधिसे मुक्तता है, नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियाँ और असीम वैभव जन्मसे ही प्राप्त है, वहाँपर चिरयौवना दिव्य रमणीया अप्सराएँ हैं, मनोमोहक वसन्त सर्वदा विद्यमान रहता है; फिर भी स्वर्गके देवगण मनुष्य-जन्म पानेके लिये तरसते हैं। यदि रूप, सम्पदा, भोगमें मनुष्यका महत्त्व हो तो स्वर्गमें इनकी क्या कमी और मनुष्य-जन्ममें मिल सकनेवाली ये वस्तुएँ स्वर्गकी उन वस्तुओंके सामने कितनी तुच्छ, कष्टसाध्य और अस्थिर हैं। तब फिर मनुष्यकी महिमा किसमें है? संयममें, त्यागमें अर्थात् अपने आनन्दको स्वाधीन—बाहरी सम्पदा आदि पदार्थोंके अधीन नहीं, किंतु अपने स्वयंके अधीन बना लेनेमें है; भोगोंसे ऊँचा उठकर निस्स्वार्थतामें—परोपकारमें है; ऐसा अमर स्वाधीन आनन्द प्राप्त कर लेनेमें है, जिसे अभाव और मृत्यु भी कम नहीं कर सकें।

बाइबलमें आया है कि मनुष्यको परमात्मा-जैसा ही बनाया गया है (जेनेसिस १। २६-२७; ५। १; ९। ६) और उपदेश दिया गया है कि हे मनुष्यो! तुम भी वैसे ही पूर्ण और दयालु बनो, जैसा कि परमात्मा है (सेन्ट मैथ्यू ५। ४८; सेन्ट ल्यूक ६। ३६)। कुरानमें आया है कि मनुष्य पृथ्वी-पर अल्लाहका प्रतिनिधिस्वरूप है (सूरा २ व ३५। ३५); अल्लाहने मनुष्यको सर्वश्रेष्ठ आकारका बनाया है (सूरा ९५। ४; ६४। ३; ४०। ६६); कि इन्सानका पद फरिश्तोंसे भी ऊँचा है—आदमको परमात्माने फरिश्तोंसे नमस्कार कराया था (सूरा २। १५, ३८)। ऐसा ऊँचा और गौरवशाली है इन्सान!

सभी भारतीय धर्मोंका कहना है कि चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यका चोला पाना सबसे अधिक कठिन है तथा मुक्ति यानी स्वाधीन और अनन्तकालीन आनन्द मानव-देहसे ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिये मनुष्य-देह देवोंके लिये भी दुर्लभ है—देवोंके द्वारा भी स्पृहणीय है।

उपनिषदोंमें कथा आती है कि प्रजापतिने 'द' अक्षरका उच्चारण करके असुरोंको 'दया' का उपदेश दिया, मनुष्योंको 'दान' का (अर्थात् स्वार्थ-त्यागका, परोपकारका) और देवोंको इन्द्रिय-दमनका। इसका तात्पर्य यह है कि असुरता—पशुतासे ऊँचा उठकर मानव बननेके लिये 'दया' आवश्यक है—जिसमें दया नहीं है, वह मनुष्य नहीं, किंतु असुर (राक्षस) कोटिका है। अतः मनुष्य बनने और बने रहनेके लिये दया और अहिंसाको अपनाना और अपनाये रखना आवश्यक है तथा मनुष्यत्वकी उन्नतिके लिये परिग्रहका त्याग करके इच्छाओंका दमन करना चाहिये।

अतः दयाको धारण करते हुए अपरिग्रह और वासना-दमन (संयम) की ओर अग्रसर होना चाहिये।

जैन-धर्मके सर्वमान्य ग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्रके छठे अध्यायमें बताया गया है—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥
माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥
अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥
स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

अर्थात् बहुत आरम्भ करने (सांसारिक पदार्थोंमें—स्वार्थमें—बहुत व्यस्त रहने—अत्यन्त बहिर्मुखी रहने) और बहुत परिग्रह (लोभ-तृष्णा-असंतोष) रखनेसे नरक-आयुका आस्रव होता है। मायाचारके भावोंसे तिर्यक् (पशु, पक्षी, कीट, वनस्पति आदि) योनिका आस्रव होता है। थोड़ा आरम्भ करने (स्वार्थमें ही न लगे रहकर कुछ परार्थ एवं परमार्थका भी ध्यान रखने) एवं अल्प परिग्रह (तृष्णा) रखनेसे तथा कोमल (दयालु) परिणाम रखनेसे मनुष्य-आयुका आस्रव होता है। इससे भी स्पष्ट होता है कि नारकी और तिर्यक् स्वभाववालोंके क्या लक्षण हैं और मनुष्य-स्वभाववालोंके क्या लक्षण हैं। अर्थात् संतोष, निस्स्वार्थता और दयालुता—ये ही मानवताके लक्षण हैं।

चीनी संत कन्फ्युसिअसके भी वचन हैं कि दया ही मनुष्यका मन (विवेक या आत्मा) है और मनको बलवान् बनानेके लिये इच्छाएँ कम करनेसे बेहतर कोई उपाय नहीं है (मेनसिअस Ccs II), दया ही मनुष्यत्वका लक्षण है (मध्यम-सिद्धान्त Ccs I)।

अतएव दया और संयम—इन गुणोंको अपनाओ, इनका उत्तरोत्तर विकास करो और इस तरह मनुष्य बनो ।

मानव ! तुम दरिद्रताके लिये नहीं हो, अखिल आनन्दका भंडार तुम्हारे अंदर भरा है और इसको उपलब्ध करनेका एकमात्र साधन (मनुष्य-देह) भी तुमको प्राप्त है । अपने गौरवको और स्वरूपको तथा स्वर्ण-अवसरको पहचानो । बाहरी दरिद्रता, व्याधि, अभाव आदिसे व्याकुल मत होओ । इनके कारण अपनेको दीन-हीन मत समझो । तुम्हारी महिमा इनके रहते हुए अपनेको सुखी—आनन्दित बनाये रखनेमें है । इसीमें तो तुम्हारी शक्ति है, तुम्हारे आनन्दकी स्वाधीनता और अद्भुतता है । यदि तुम संयम तथा परोपकार-भावना—दयासे धनी हो तो तुम देवोंसे भी ऊँचे हो ।

दया है—अपने ही-जैसा सब प्राणियोंके प्रति बर्ताव करना ।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।'
'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥'

'जो बात तुम अपने लिये पसंद नहीं करते, उसका आचरण औरोंके प्रति मत करो ।' यह सुनहरा नियम सभी धर्मोंमें आचारका प्रधान सूत्र है । दया-भाव ही सच्चे दानका भी कारण एवं लक्षण है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'किसीको धन देनेका नाम ही दान नहीं है, सच्चा दान तो किसीसे द्रोह न करना है ।'

यह दया-भाव सभी प्राणियोंके प्रति होता है; क्योंकि सभी प्राणियोंको सुख-दुःख होता है और सभी जीव जीवन और सुख-शान्ति चाहते हैं ।

जेरे पायत गर बिदानी हाले मोर ।
हमचो हाले तस्त जेरे पाये पील ॥
(गुलिस्ताँ-शेखसादी)

अर्थात् तुम्हारे पाँवके नीचे दबी चींटीका वही हाल होता है जो यदि तुम हाथीके पाँवके नीचे दब जाओ तो तुम्हारा हो । इसी तरह कुरानके सूरा २७ वें (जिसका नाम ही चींटीका अध्याय है) में आया है कि एक मर्तबा जब कि सुलैमान और उसकी फौज (जिसमें जिन्न, मनुष्य और पक्षी भी थे) चींटियोंके स्थानपर आयी तो एक चींटीने दूसरी चींटियोंसे कहा कि अपने बिलोंमें चले जाओ, ताकि ऐसा न हो कि सुलैमान और उसकी फ़ौज तुम्हें न देखें और तुमको कुचल दें ।

आहिस्ता खराम बल्कि मखराम । कि जेरे कदमत हजार जानस्त ॥

(धीरे-धीरे चल, बल्कि चले ही मत; क्योंकि तेरे पाँवोंके नीचे हजारों जानें हैं—शेखसादी) ।

दयालुताकी कितनी ऊँची भावना है । अभिप्राय यह कि अच्छी तरह देखकर चलो—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्—मनु ।

जां मे सितां कि जां हमारा अजीज अस्त ।
हम्मोरी व पील इक सानस ॥

(किसीकी जान मत ले; क्योंकि अपनी जान सबको प्यारी है । चींटी और हाथीमें एक-सी जान है—शेखसादी) ।

हजार गंज कनाअत हजार गंज करम
हजार आताअत शुबहा ।
हजार बेदा हजार महर व महरदारा
हजार नमाज कबूल ने सा गर खातर ब्याजारी ॥

(मनुष्य मजहबमें ऊँचा हो, हजार खजाने रोज दान करता हो, हजारों रातें केवल प्रभु-स्मरणमें बिताये और हजारों ऐसे सिजदा करे कि हर एक सिजदामें हजार नमाज पढ़े; लेकिन अगर वह किसीको तकलीफ देगा तो उसके उपर्युक्त काम खुदाको कभी स्वीकार नहीं होंगे—शेखसादी) ।

अल्खल्कु इयालु अल्लाहि फा हुब्बुलखल्क इला अल्लाहि मन हसन इला इयालिही (सब प्राणी भगवान्‌के कुटुम्बी हैं; अतः भगवान्‌के लिये सब प्राणियोंके साथ अच्छा बर्ताव करो जैसा कि अपने कुटुम्बियोंके साथ करते हो—हदीस) ।

चीनी संत ताओने भी कहा है कि छोटे कीड़ों, घास तथा वृक्षोंको भी तकलीफ़ मत दो (कान यिंग पिएन) ।

श्रीमद्भागवतने गृहस्थके सदाचारोंका वर्णन करते हुए कहा है कि हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, साँप, पक्षी, मक्खी आदिको भी अपने पुत्रके समान ही समझना चाहिये (७ । १४ । ९) । पशु, मृग, पक्षी, साँप आदि रेंगनेवाले जन्तु, मच्छर, जूँ, खटमल, मक्खी आदि जीवोंसे द्रोह करनेवाले, उनकी हिंसा करनेवाले मनुष्य अन्धकूप नरकमें पड़ते हैं । यदि ये जीव हानिकारक प्रतीत भी हों तो उनकी वृत्ति ही ऐसी बनी हुई है और उन्हें दूसरोंको हानि पहुँचनेका ज्ञान भी नहीं है (५ । २६ । १७) ।

मानव-गुणधारी मनुष्य मांस, अंडा, असंख्य कृमियुक्त सड़ी हुई चीजें—जैसे शराब आदिका भक्षण नहीं कर सकता । वह वनस्पतिकी व्यर्थ हिंसासे भी बचेगा और संयममें बाधा डालनेवाले तथा मुक्तिके साधन (मानव-देह) के लिये

अहितकर वनस्पति-भोजनसे भी—जैसे लहसुन, प्याज (मनु० ५ । ५; ५ । १९) तथा बासी भोजन (गीता १७ । १०) तथा मादक यानी मानवोचित विवेक-बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली वस्तुओंसे भी परहेज करेगा।

'जो सौ वर्षतक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो मांस नहीं खाता, इन दोनोंका धर्मफल बराबर होता है। पवित्र फल, मूल और मुनियोंके नीवार (तिन्नी) आदि अन्न खानेसे भी वह फल नहीं मिलता, जो केवल मांस छोड़ देनेसे मिलता है।' (मनु० ५ । ५३-५४)। 'जो मछली खाता है, वह सब मांसों-का खानेवाला है; इसलिये मछली न खाय।' (मनु० १५ । १५)

'मांसके लिये परमात्माके कार्य (प्राणी)को नष्ट मत करो। न तो मांस खाना अच्छा है न शराब पीना और न ऐसी किसी चीजका सेवन करना, जिससे तेरा भाई (कोई प्राणी) नाराज हो या वह पङ्गु या कमजोर बन जाय।' (बाइबल—रोमन्स १४ । २०-२१)।

'अपने पेटको जानवरोंका कब्रिस्तान मत बनाओ।' (अली इब्न अबु तालीब)

'जिसने प्याज या लहसुन खाया हो, वह हमसे दूर रहे, वह हमारी मस्जिदसे दूर रहे, वह अपने घरमें ही बैठा रहे।' (हदीस—मिस्कत-उल-मसाबीह)।

'वह नेक आदमी, जिसने जानवरोंको जीवित देखा है, उन्हें मरते देखना नहीं सह सकता; जिसने जानवरोंकी मृत्यु-समयकी करुणाभरी चिल्लाहट सुनी है, वह उनका मांस खाना नहीं सह सकता।' (कन्फ्युसिअस-मेनसिअस Ccs II)

मद्य, मांस और प्याज (पलाण्डु) नहीं खाना चाहिये (बौद्धोंका लंकावतार-सूत्र ८ । १)। लंकावतार-सूत्रमें बुद्धदेवने कहा है कि 'मांस-जैसी कोई भी वस्तु ग्रहण करने योग्य नहीं है। भविष्यमें मेरे संघमें ऐसे पाखण्डी होंगे, जो मांस-भक्षणका समर्थन करेंगे—वे यह भी कहेंगे कि मैंने मांस-भक्षणकी आज्ञा दी है, नहीं-नहीं; मैंने स्वयं मांस-भक्षण किया है। परंतु मैंने कभी किसी भी सूत्रमें मांस-भक्षणकी आज्ञा नहीं दी है। मेरे शिष्य कभी किसी प्रकारका मांस नहीं खाते। वे समस्त जीवोंपर अपने पुत्रोंके समान दृष्टि रखते हैं। मैं किस प्रकार अपने शिष्योंको अपने ही बच्चोंके मांसको खानेकी आज्ञा दे सकता हूँ और किस प्रकार मैं स्वयं उसे खा सकता हूँ। यह सर्वथा असत्य है कि मैंने अपने शिष्यों-को मांस-भक्षणकी आज्ञा दी है या मैंने स्वयं मांस खाया है।'

इस प्रकार मानवताके दो गुण सिद्ध होते हैं—दया तथा आत्मसंयम। इन दोनों गुणोंका परस्पर भी घनिष्ठ सम्बन्ध है—दोनों एक दूसरेके लिये सहायक एवं आवश्यक हैं।

पारसियोंकी धर्म-पुस्तक जेन्द अवेस्ता (वेनीदाद) में भी लिखा है—'मनुष्यको नहीं चाहिये कि वह किसी दूसरेकी हिंसा या हानि करके अपना लाभ या हित करे; और वही आदमी बलवान् है, जो अपने अंदरूनी शैतानों—लोभ, क्रोध, काम, मान और असंतोष (तृष्णा) से युद्ध करनेमें समर्थ हो।'

जो मानव-हितके लिये मनुष्येतर प्राणियोंकी हिंसाका समर्थन करते हैं, वे मानवीय-गुण दया और निस्स्वार्थतापर तो कुठाराघात करते ही हैं; साथ ही जब इन गुणोंकी अवहेलना मनुष्येतर प्राणियोंके सम्बन्धमें की जाती है, तब मनुष्यका स्वभाव बिगड़कर मनुष्योंके सम्बन्धमें भी वह क्रूर और स्वार्थी बन जाता है। अपनेसे कमजोर, दीन प्राणी तो विशेष दयाके पात्र हैं। जब उनपर भी दया न करके उनको अपने स्वार्थका साधन बनाया जाता है, तब यही मनोवृत्ति मनुष्योंके सम्बन्धमें भी बन जाती है। पारस्परिक सहयोग, अहिंसा, विश्व-बन्धुत्व आदिके उपदेश तो वर्तमान समयमें बहुत दिये जाते हैं। रेडियो, मुद्रण-यन्त्र, पुस्तकें, समाचार-पत्र, यातायातकी शीघ्रता, सिनेमा आदि प्रचारके साधन भी आजकल प्रचुर हैं और बढ़ते ही जा रहे हैं; फिर भी उपर्युक्त मानवोचित गुणोंका ह्रास दिन-पर-दिन अधिकाधिक होता चला जा रहा है और मानव 'दानव'में परिणत हो रहा है—यहाँतक कि अब तो कुटुम्बके प्रति भी—पिता-पुत्र तथा पति-पत्नी एवं भाई-भाईके पारस्परिक व्यवहारमें भी—विश्वासघात, स्वार्थ-भावना बढ़ती जा रही है। पहले युद्धोंमें भी मानवताका काफी खयाल रखा जाता था। निर्बलों, स्त्रियों, बच्चों, अपंगों, शस्त्रहीनों, युद्ध-स्थलसे दूर रहनेवालोंका घात नहीं किया जाता था। परंतु अब तो वायुयानोंसे बम-वर्षा, विषाक्त गैसों, ऐटम बम, राकेट-युद्ध आदिसे सारे शहरों तथा देशोंको नष्ट कर देना युद्धका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया है।

इस दुरवस्थाका कारण यह है कि आजकल विश्व-प्रेमकी बातें तो खूब की जाती हैं, किंतु वातावरण और समाजकी तथा देशकी स्थिति इसके विपरीत है। पहले ऐसा नहीं था। यदि मानवताके गुणोंको बचाना है तो (१) मांस-भक्षण आदि हिंसामय और तामसिक भोजनको निरुत्साहित

करना होगा और सात्त्विक एवं स्वास्थ्यप्रद भोजनका प्रचार करना होगा। (२) मनुष्येतर प्राणियोंके प्रति भी दयाका भाव फैलाना होगा; औषध, अनुसंधान, फैशन आदिके लिये जो उनकी हिंसा की जाती है, उसे रोकना होगा। (३) सादे जीवनको प्रोत्साहन देना होगा, जिससे स्वार्थ-भाव और धनकी तृष्णा कम हो और मनुष्य-मनुष्यमें तथा देश-देशमें प्रतिस्पर्द्धा तथा तज्जन्य छल-कपट आदि मिटें। (४) ऐसी व्यवस्था करनी होगी, जिसमें अर्थोपार्जन (यानी आजीविका) के लिये प्रतिस्पर्द्धा कम हो और सबको आवश्यक पदार्थ सुगमतासे मिल सकें। इसके लिये, आजीविकाके निमित्त यथासम्भव अपने कुल-क्रमका ही अच्छा काम अपनाना, यह भी एक उपाय है। (५) बाल्यावस्था और छात्रावस्थामें ही संयम, दया तथा सादगीके भाव भरने होंगे तथा पचास-पचपन वर्षकी अवस्था होनेके बाद गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होकर अपनी संतानोंको धर्म, अर्थ, कामके लिये यथोचित सुविधा तथा स्वाधीनता देना तथा अपने-आपको समाजहित या आत्म-साक्षात्कारके प्रयत्नमें लगाना यानी अपने जीवनका अन्तिम लक्ष्य संयम एवं आत्मोन्नति रखना—इसको प्रोत्साहन देना होगा। इस तरह जब व्यक्ति सुधरेंगे, कुटुम्ब सुधरेंगे, तब समाज, देश तथा सारी मानव-जाति भी सुधरेगी।

मानवताकी वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्तव्य

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, अवसरप्राप्त अतिरिक्त जिलाधीश)

वर्तमान युगमें भयानक उपद्रव होने लगे हैं और इसमें, संदेह नहीं जान पड़ता कि निकट भविष्यमें ही तृतीय महायुद्ध प्रारम्भ होगा, जिसकी सम्भावनाएँ बड़ी ही भयावह हैं। सम्भव है कि इस युद्धमें पृथ्वीकी जनसंख्यामें बहुत उलट-फेर हो जाय और बड़ी-बड़ी राज्यसत्ताएँ विनाशको प्राप्त हो जायँ। कलियुग व्यष्टि तथा समष्टिके कर्मफलरूपमें ही बार-बार आता है और इसके द्वारा भगवान् पृथ्वीका बोझा हल्का करते हैं। ऐसे भयंकर अवसर अनेक बार आ चुके हैं और अपने पुराणोंमें उन महायुद्धोंका विवरण मिलता है, जिनसे पीड़ित मानवताकी सहायता हुई थी। मधु-कैटभ, हिरण्यकशिपु, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ, रावण, कंस, जरासंध, शिशुपाल इत्यादिके समय इसी श्रेणीमें आते हैं। ऐसे समयके लिये किसी व्यक्तिविशेषको दोष देना सरासर भूल होगी। जनताकी अनीश्वरवादी उच्छृङ्खलता और भोगकी वृत्तियोंके कारण ही ऐसा समय आता है और ऐसे समयमें अनेक निकृष्ट आत्माएँ जन्म लेकर पृथ्वीपर उत्पात मचाती हैं, अथवा ऐसी स्थितियोंमें योग देकर विनाशका पथ सुविस्तीर्ण करती हैं।

वर्तमान परिस्थितिको समझनेके लिये गत तीन-चार सौ वर्षोंमें संसारके इतिहासकी समालोचना करना आवश्यक है। प्रायः तीन सौ वर्ष हुए, जब इंगलैंड, जर्मनी तथा अमेरिकामें चुड़ैलोंका उत्पात प्रारम्भ हुआ। इस उत्पातको दबानेके लिये लगभग दो-ढाई लाख स्त्रियाँ जीवित जला दी गयीं। यह बड़ा रोमाञ्चकारी दृश्य रहा होगा। हमलोगोंके विश्वाससे कुछ प्रेताविष्ट आत्माएँ तो सदा होती ही हैं। पर यह निश्चय है कि इस बड़ी संख्यामें अनेकानेक निरपराध स्त्रियाँ भी जीवित जला दी गयीं। इस घटनाके प्रायः १५० वर्ष बाद ही वर्तमान विज्ञान (Science) का उदय हुआ और उसकी चरम सीमा वर्तमान अणु बम, हाइड्रोजन बम, अनेकानेक लड़ाईके रासायनिक पदार्थ, एयरोप्लेन, जहाज, पनडुब्बियाँ तथा वे भयंकर शस्त्रास्त्र हैं, जिनसे मानव-संहारके साधन सुलभ हो जाते हैं। कहा जाता है कि मुस्लिम-धर्मके प्रादुर्भावके अनन्तर मुसल्मानोंने कला-कौशल, विज्ञान तथा व्यापारिक साधनोंमें आशातीत उन्नति की। इस उन्नतिको देखकर पाश्चात्य राज्य चौंके। पहले तो उन्होंने धर्म-युद्धके नामपर क्रूसेड्स (Crusades) प्रारम्भ किये, जिनके कारण मुसल्मानोंसे सैकड़ों वर्षतक युद्ध चलता रहा। इसके साथ-ही-साथ भारतके अपूर्व व्यापारको हथियानेकी भी पाश्चात्य देशोंकी लालसा थी। पहले पुर्तगाल, स्पेन एवं हालैंडने अनेकानेक नक्शे पृथ्वीके बनाये और यातायातके साधनोंमें भी उन्नति की। आगे चलकर फ्रांस तथा इंगलैंडने भी इस होड़में भाग लिया और कालान्तरमें अंग्रेज वणिकोंद्वारा भारत-विजय हमलोगोंको ज्ञात ही है। बाष्प तथा विद्युत्के आविष्कारोंने यातायातमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। अब आवश्यकता यह प्रतीत हुई कि विजित देशोंमें बिकनेके लिये माल मशीनोंद्वारा बड़े पैमानेपर तैयार किया जाय। इन मशीनोंके आविष्कारके कारण मनुष्य-जीवनमें भारी परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तनके कारण लोग शान्त ग्राम्य-जीवन छोड़-

कर शहरोंमें बसने लगे और मिलोंमें काम करने लगे। इस विषयका एक सुन्दर वर्णन Goldsmith कृत Deserted Village नामक कवितामें मिलेगा। धीरे-धीरे यह यान्त्रिक सभ्यता बढ़ती ही गयी और भारतीय सभ्यताका इस नयी चकाचौंध करनेवाली सभ्यतासे सम्पर्क अपना रंग लाया। उपनिवेशवाद चारों ओर फैलने लगा। भारतकी रसविद्या अरबमें कीमियागिरी (Alchemy) के नामसे पहुँच गयी और उसकी आश्चर्यजनक शक्तियोंके कारण पाश्चात्य देशोंमें भी पारे, गन्धक, सुवर्ण इत्यादिके प्रयोग होने लगे। पारस पत्थर तथा अमृतके लिये खोज शुरू हुई। कालान्तरमें उपर्युक्त देशोंकी मण्डलियाँ अमेरिका तथा अन्य देशोंमें पहुँचीं। स्पेनके कार्टेज नामक व्यक्तिने अपने साथियोंसहित मेक्सिको नामक महान् धनी देशपर अधिकार कर लिया। उसी देशके पिज़ारो नामक व्यक्तिने अपार धनराशियुक्त पीरू नामक देशको हथिया लिया। इससे अन्य यूरोपीय लोगोंकी लार टपकने लगी। मेक्सिको तथा पीरूसे अपार धनराशि सुवर्ण तथा रजतके रूपमें स्पेनमें आयी। स्पेनके जहाजी बेड़ेको नष्ट करके अंग्रेज लोगोंने सन् १६०० ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनीकी स्थापना की। इस कम्पनीका मुख्य ध्येय यह था कि नयी-नयी वस्तुएँ बनायी जायँ और उनके लिये विजित लोगोंमें माँग पैदा की जाय।

यह नयी सभ्यता उच्छृङ्खल अनीश्वरवादपर बनी। इसमें माँग (Demand) को मुख्य स्थान दिया गया और कर्तव्यको गौण। धनके लालचमें फँसे हुए इन पाश्चात्त्योंको औचित्यका कुछ विचार न रहा। जैसे हो, पैसा खींचना—यही इनका मन्तव्य था।

भारतमें नयी शिक्षा-पद्धति जो सन् १८३३ ई० में प्रारम्भ हुई, उसका लक्ष्य भी भारतीयोंको केवल क्लर्क बनाना ही था, विद्याध्ययन नहीं। शुद्ध विद्याध्ययनसे विनय आती है, जिसका अभाव हमें प्रत्यक्ष ही दिखलायी पड़ रहा है। सन् १९१४ से १९१८ तक पहला विश्वयुद्ध हुआ और सन् १९३९ से १९४५ तक दूसरा विश्वयुद्ध चला। इन युद्धोंसे प्रत्येकमें प्रायः दो करोड़ व्यक्ति हताहत हुए। देश-देशके सिपाही लड़ाईके मैदानमें लड़ाईके लिये गये। देशोंकी व्यापारिक नीतिमें वस्तुओंकी कमीके कारण बहुत उथल-पुथल हुई। पहले महायुद्धमें तो कम, पर दूसरे महायुद्धसे बहुत अधिक लोभ बढ़ा। नियन्त्रणों (Controls) के कारण व्यवस्था और भी खराब हुई। काला बाजार (Black Market) नामक भूत प्रायः सर्वत्र दीखने लगा।

उपर्युक्त कारणोंसे सदाचारपर भी बड़ा आघात हुआ। पति-पत्नी तथा गुरु-शिष्यके सम्बन्धोंमें शिथिलता दीख पड़ने लगी। वर्तमान हिंदू-कोड-बिलके कारण तो समाजका ढाँचा ही पलट गया। स्त्रियोंके लिये सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक) का अधिकार भी बहुत घातक सिद्ध हुआ और होगा। खान-पानमें भी अनेक परिवर्तन हुए। शुद्ध गेहूँ तो मिलना ही कठिन हो गया। ग्वालियर राज्य तथा बुंदेलखण्डका लाल कठिया गेहूँ पुष्ट तथा मीठा होता है। पर लोग उसका तिरस्कार करते हैं। नील, फिटकिरी, चूने इत्यादिसे साफ की हुई, मिलमें बनी चीनी लोग अच्छी समझते हैं। लोगोंकी तो धारणा है कि जिन गन्नोंसे यह चीनी बनती है, उसका गुण नपुंसकता पैदा करना तथा एक सालके बाद खराब हो जाना है। भारतीय ऊखके चालीस वर्ष पुराने गुड़को तो मैंने स्वयं देखा है। डालडाके विषयमें क्या कहा जाय। इसमें बहुत पोषक पदार्थ (Vitamins) नष्ट हो जाते हैं और इससे उत्पन्न व्याधियोंसे तो आजकल प्रत्येक व्यक्ति परिचित ही है। शुद्ध सरसोंका तेल भी अब मिलना कठिन हो गया है। दूध मिलना भी बहुत कम हो गया है। नकली मक्खन सर्वत्र मिलता है और 'तक्रम् शक्रस्य दुर्लभम्' अर्थात् मठा तो इन्द्रके लिये भी दुर्लभ हो रहा है। लोग कहते हैं कि हिंदू लोग बहुत मसाला खाते हैं। उनका यह कहना भूल है। मेथी डालनेसे कद्दू अथवा कुम्हड़ेकी वायु शान्त होती है। अजवाइन डालनेसे घुइयाँकी वायु शान्त होती है। सोंठ और हींगके प्रयोगसे अन्य वस्तुओंकी वायु शान्त होती है। जीरा, मिर्च (काली), हल्दी और धनियाँ भी बड़े गुणकारी पदार्थ हैं। बर्फका सेवन अनेक रोगोंकी जड़ है। चायमें Tannin नामक विष रहता है और मांसमें मृतपशुके सब रोगोंके अतिरिक्त अन्य विशेष रोग भी होते हैं। होटलोंमें जो दुर्व्यवस्था दीख पड़ती है, उसका तो कहना ही क्या। जूठा भोजन देना तो मामूली बात है। बर्तन भी ठीक तरहसे साफ नहीं किये जाते। कुएँका जल पुष्ट तथा शान्तिदायक होता है। किंतु उसके स्थानपर नलका जल अनेक दूषणोंसे युक्त है। पाइपोंके बड़े-बड़े Mains तो शायद ही कभी भीतरसे साफ किये जाते हों और नमीके कारण Mains के भीतर अनेक तरहके कीटाणु पैदा हो जाते हैं। लोग सिरमें सुगन्धित तेल डालते हैं, जो प्रायः Paraffin Oil (मिट्टीका तेल) और तारकोलसे बनी हुई सुगन्धोंसे युक्त होता है। शुद्ध तेल तो तिलका ही होता है जैसा कि तैल शब्दसे विदित है। इन तेलोंसे बाल भी जल्दी

ही श्वेत हो जाते हैं। साबुनका प्रयोग भी कोई अच्छी चीज नहीं। उसके स्थानपर आँवला, बेल, इमली, बेसन इत्यादि बड़े ही शुद्ध और सात्त्विक पदार्थ हैं। ये बालोंकी जड़ तो पुष्ट करते ही हैं, साथ-ही-साथ बालोंको श्वेत होनेसे रोकते हैं। आँवलेके सेवनसे तो बहुत दिनोंतक प्रायः युवावस्था ही बनी रहती है। बड़े खेदका विषय है कि आजकल लोग गिलहरी, खरगोश, नीलगाय तथा मोरोंको मारनेका उपदेश देते हैं; क्योंकि वे हमारा कुछ अन्न खा जाते हैं। लाखों बंदर विदेशोंको दवा बनानेके हेतु भेजे जा रहे हैं और चर्म तथा अन्य द्रव्योंके लिये पहलेसे अधिक गोहत्या की जा रही है। वह इसलिये कि विदेशी मुद्रा (Dollar) प्राप्त हों और चमड़ेका व्यापार कम न हो। इस प्रान्तमें अनेकानेक काष्ठ-ओषधियाँ मिलती हैं, जिनके सेवनसे घर-घरमें माताएँ वैद्यका काम करती थीं और अब भी गाँवोंमें कुछ करती हैं। इनके विषयमें राज्यको प्रोत्साहन देना चाहिये। ये ओषधियाँ अचूक निकलती हैं और कौड़ियोंके मोलमें मिलती हैं। जहाँ ये काम नहीं करतीं, वहाँ दोष ओषधियोंका नहीं; क्योंकि काष्ठ ओषधि एक बरसातके बाद खराब होने लगती है और पसारियोंके यहाँ वर्षों पुराना कूड़ा-करकट मिलता है। सिनेमाके कारण जो नेत्रोंको हानि तथा सदाचारका पतन हो रहा है, उसका तो कहना ही क्या!

इन परिस्थितियोंके होते हुए भी पाश्चात्य देश चन्द्रलोक तथा मंगल-ग्रहमें पहुँचनेका विचार कर रहे हैं—यह जब कि संसार विनाशके समीप ही आ गया है।

अनेक लेखकोंने लिखा है कि इस संसारमें पोषक तथा नाशक—दोनों शक्तियाँ सदा वर्तमान रहती हैं। पोषक शक्तियाँ अवश्य ही प्रबल हैं; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो संसार कबका नष्ट हो गया होता।

गीतामें कहा है—'संशयात्मा विनश्यति।' हमलोगोंको भगवान्‌की सत्तामें अनन्य विश्वास होना चाहिये। हम-लोगोंको गरीबोंसे मिलकर रहनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि उन्हींमें भगवान् रहते हैं। आजकल धूर्त तथा प्रपञ्ची लोग सर्वत्र मिलेंगे। मेरा तो विचार है कि वस्तुतः भक्तिसे और धनसे तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है। किसी देवस्थान-पर पहुँचनेपर आपकी जो श्रद्धा हो, वह अर्पण कीजिये—चाहे एक फूल ही हो। दीन-दुखियोंके प्रति दया रखना और उनसे सहानुभूति रखना आवश्यक है। आप उनकी जो कुछ सहायता कर सकें, करें। हमलोगोंके धर्ममें अदृश्य जगत्‌का बड़ा स्थान है। इस विश्वाससे महती शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वर्तमान समयमें इस तत्त्वको लोग बिल्कुल ही भूल रहे हैं। आत्माके अमरत्वरूपी जन्मान्तरवादसे समाजमें लोग डरकर सदाचारकी वृत्ति परिपालन करेंगे और कर्मके परिणामको ध्यानमें रखकर सदा शुद्ध तथा सच्चा व्यवहार ही करेंगे। कलियुगमें केवल भगवत्-नाम-स्मरण ही रह जाता है और उसकी शक्ति अपूर्व तथा आश्चर्यजनक है। हमारी सभ्यता सिखलाती है कि मनसा, वाचा तथा कर्मणा हम सत्य तथा निश्छल व्यवहार करें। इसीमें सबका कल्याण है।

मनुष्य-शरीर 'बार-बार' नहीं मिलता और काल निरन्तर चलता ही जाता है। हमलोग इस विशाल ब्रह्माण्डमें अपने कर्मोंका—अच्छे तथा बुरे—फल भोगनेके लिये आते हैं और यहाँसे चले जाते हैं। यह तो निश्चय ही है कि जो व्यक्ति भगवान्‌का आश्रय लेकर रहेगा, उसमें अपार मानसिक तथा आध्यात्मिक बल होगा। जितनी उसकी निष्ठा होगी, उतना ही फल होगा। भगवान् भयंकर-से-भयंकर आपत्तियोंसे रक्षा करते हैं और उनकी कृपासे उनका भक्त सदैव आनन्दमें ही रहेगा, चाहे संसारका जो हाल हो।

जागते रहो

(तेरी) गठरीमें लागे चोर, बटोहिया का सोवै॥
पाँच पचीस तीन है चोरवा, ए सब कीन्हा सोर।
जाग सवेरा बाट अनेरा, फिरि नहिं लागै जोर॥
भव सागर इक नदी बहतु है, बिनु उतरै जा बोर।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जागत कीजै भोर॥

मनुर्भव—मनुष्य बनो—कैसे ?

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

ग्रीसके इतिहासमें एक दार्शनिककी घटना आती है। एक बार वह दिनके बारह बजे हाथमें लालटेन लिये घरसे बाहर निकल पड़ा तथा बाजारमें घूमता रहा। कुछ लोग उसकी ओर आश्चर्यसे देखते। कुछ यह समझते कि दार्शनिक तो आधे पागल होते हैं, यह भी एक ऐसा पागल है। वह दार्शनिक बाजारोंमेंसे निकलकर नगरके बाहर आ गया और जंगलकी ओर चल पड़ा। जलती हुई लालटेन उसके हाथमें थी और वह नीचे मुँह किये ऐसे जा रहा था, जैसे मानो उसकी कोई वस्तु खो गयी हो। कुछ लोगोंने साहस करके और कुछ पागल समझते हुए भी उस दार्शनिकसे पूछ ही लिया—'आप तो इतने बड़े विद्वान् हैं। इस दिनके चमकते प्रकाशमें लालटेन लेकर क्यों घूम रहे हैं और नीचेकी ओर देखकर किस खोयी हुई चीजकी तलाश कर रहे हैं?' दार्शनिक इस प्रश्नको सुनकर मुस्कराया। फिर गम्भीरताके साथ जन-समूहको देख उसे सम्बोधित करते हुए बोला—

'हे एथेन्सवासियो! मैं मनुष्यकी तलाश कर रहा हूँ।'

जनतामेंसे कुछ मनचलोंने तनिक तीक्ष्णतासे कहा—'तो क्या हम मनुष्य नहीं हैं?'

दार्शनिकने दृढ स्वरमें कहा—'नहीं, तुम मनुष्य नहीं हो!'

एक युवकने अधीरतासे पूछा—'तो हम क्या हैं?'

दार्शनिक—'तुममेंसे कोई दूकानदार है, कोई सरकारी अफसर या नौकर है, कोई किसान है, कोई अध्यापक है, कोई छात्र है, कोई स्त्री है, कोई पुरुष है, कोई माता है, कोई पिता है—पर शोक! तुममेंसे मनुष्य कोई नहीं है।'

ग्रीक दार्शनिकका यह कथन आज भी अक्षरशः सत्य है। आज हम वैज्ञानिक हैं, चिन्तक हैं, दार्शनिक हैं, व्यापारी हैं, अध्यापक हैं, छात्र हैं, उच्च सरकारी अफसर या मुख्य मन्त्री, प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति भी हैं, गृहस्थ हैं, साधु-संन्यासी हैं, पति-पत्नी हैं, माता-पिता हैं। तो फिर क्या नहीं हैं?

बस, मानव नहीं हैं!!

नारद-वाल्मीकि-संवाद

विश्वके आदिकालसे सच्चे मानवकी खोज है। आजसे लाखों वर्ष पहले यही प्रश्न नारदने विश्वके आदिमानव-कवि वाल्मीकिसे किया था। नारद पूछते हैं—ऐसा मानव कहाँ है?

१—को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
२—चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥
३—आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥

'इस समय संसारमें ऐसा मानव कौन है, जो गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता और अपने व्रतपर दृढ़ रहनेवाला हो, चरित्रयुक्त हो, सब प्राणियोंके हितमें लगा हुआ हो, विद्वान्, सामर्थ्ययुक्त और प्रियदर्शन हो, आत्माको जाननेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, तेजयुक्त और किसीसे ईर्ष्या करनेवाला न हो तथा यदि कभी उसे अन्यायके विरुद्ध क्रोध आ जाय तो उसके क्रोधसे देव भी भयभीत हो जाते हों?'

इस प्रकार नारदने सोलह गुणोंका वर्णन किया, जो मानवमें होने चाहिये। नारदके इस प्रश्नके उत्तरमें वाल्मीकि मुनि कहते हैं—

१—इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
२—बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
३—महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥

"इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न 'राम' नामका एक आदर्श मानव है, जिसका नाम जनतामें बड़ा प्रसिद्ध है। वह जितात्मा, महान् बलशाली, तेजस्वी, धैर्ययुक्त और संयमी है। वह बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, उत्तम वक्ता, शोभायुक्त और शत्रुओंका नाश करनेवाला है। उसके कंधे सुपुष्ट और ऊँचे हैं, भुजाएँ विशाल हैं, गर्दन शङ्खकी तरह उतार-चढ़ाववाली है और ठोडी गठी हुई है। उसकी छाती विशाल है, धनुष बड़ा है, शरीर गठा हुआ और शत्रुओंका दमन करनेवाला है। उसकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं, उसका मस्तक और ललाट सुन्दर है और वह विक्रमशाली है।"

वाल्मीकिने बाईस गुणयुक्त श्रीरामका आदर्श मानवके रूपमें बड़ा अभिराम और हृदयग्राही वर्णन किया है। नारद और वाल्मीकिके इस संवादद्वारा जिस आदर्श मानवका न केवल शब्द-चित्रण अपितु उस युगके सजीव और उस युगसे लेकर आजतकके लिये श्रीरामके रूपमें पूर्ण मानवकी जो रूप-रेखा खींची गयी है, हम समझते हैं, ऐसा अविकल, परस्पर सम्बद्ध और सुग्रथित वर्णन विश्व-साहित्यकी अन्य किसी पुस्तकमें सुलभ नहीं है। वाल्मीकिद्वारा वर्णित बाईस गुणोंकी एक विशेषता है, जो नारदके प्रश्नात्मक वर्णनमें नहीं है। वाल्मीकिने अपने उत्तरमें जहाँ श्रीरामके आत्मिक, मानसिक, बौद्धिक और नीतियुक्त गुणोंकी चरम सीमाका निदर्शन किया है, वहाँ उनके सुदृढ, सुगठित और बलयुक्त सुन्दर शरीरकी भी उपेक्षा नहीं की है। स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ आत्मा रह सकता है और 'मानवता शरीरके द्वारा मूर्तरूपमें भी प्रकट होनी चाहिये'—आदिकविने इसी अटल सत्यकी पुष्टि अपने शब्दोंद्वारा की।

मानव बननेके पाँच साधन

निरुक्तमें यास्काचार्यने मनुष्यका लक्षण किया है— *'मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्यः'*। 'जो ज्ञान और बुद्धिके द्वारा अपने कर्मोंका ताना-बाना बुनता है, वही मनुष्य है।' वेदके निम्नलिखित मन्त्रमें मानवको कर्मोंके इस ताने-बानेको व्यवस्था और पद्धतिके अनुसार बुननेका उपदेश दिया गया है—

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि,
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो
मनुर्भव जनय दैव्यं जनम्॥

(ऋक् १०।५३।६)

'हे मनुष्य! (तन्तुं तन्वन् रजसः) संसारके ताने-बानेको बुनता हुआ भी तू (भानुमन्विहि) प्रकाशके पीछे चल। (धिया कृतान् ज्योतिष्मतः पथः रक्ष) बुद्धिसे परिष्कृत प्रकाशयुक्त मार्गोंकी तू रक्षा कर। (अनुल्बणं जोगुवां अपः वयत) निरन्तर ज्ञान और कर्मके मार्गपर चलता हुआ उलझनसे रहित कर्मका विस्तार कर तथा (दैव्यं जनं जनय) अपने पीछे दिव्य गुणयुक्त उत्तराधिकारीको जन्म दे। इस प्रकार तू (मनुर्भव) मनुष्य बन।'

इस श्रुतिके द्वारा उत्तम मानव बननेके पाँच साधन बताये गये हैं। पहला है—संसारके ताने-बानेको बुनना, अर्थात् संसारमें कर्मयोगी बनकर रहना। मनुष्यके बहुविध, बहुमुखी और बहुत उद्देश्यवाले कर्म हैं; पर इन सबमें समन्वय और संतुलन रखना। अपने व्यक्तित्वको टुकड़ोंमें नहीं बाँटना। आजके युगमें मनुष्यने अपनेको कई टुकड़ोंमें बाँट रखा है। कारबारमें उसका जो रूप है, वह समाजमें नहीं और जो समाजमें है, वह घरमें नहीं। प्रसिद्ध आधुनिक विचारक श्री बर्ट्रेन्ड रसेलके शब्दोंमें आजके मनुष्यका व्यक्तित्व विभक्त (Split up Personality) है। श्रुतिके पहले भागमें इसका निराकरण किया गया है।

प्रकाशका अनुसरण और रक्षण

दूसरा उपाय है—प्रकाशका अनुसरण करना। मनुष्य स्वभावतः प्रकाशप्रिय है, पर अविद्या और अज्ञानके कारण उसकी इस भावनापर आवरण पड़ जाता है। ऋषि-मुनि यही प्रार्थना करते थे—

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

'हे प्रभु! मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलें।'

अथर्ववेदमें भगवान् अन्धकारग्रस्त मानवको प्रेरणा देते हैं—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥

(२।११।५)

'हे मनुष्य! तू वीर्यवान् है, तेजस्वी है, अपनेमें आनन्दमय है और ज्योतिवाला है। तू श्रेष्ठताको प्राप्त कर और अपने-जैसोंको लाँघ जा।'

मानव बननेका तीसरा उपाय है—बुद्धिसे परिष्कृत प्रकाशयुक्त मार्गोंकी रक्षा करना। जिन ऋषि-मुनियों और महापुरुषोंने जंगलोंमें कठोर तप और विषपान करके हमें ज्ञानका मार्ग दिखाया, क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम उनकी रक्षा करें? जिसने सबसे पहले हवाई जहाजका परीक्षण करते हुए अपनी जान दे दी थी, यदि उसके परीक्षणसे प्राप्त ज्ञानकी रक्षा नहीं की जाती तो क्या पीछे आनेवाले वैज्ञानिक सफल हो सकते थे? किसी भी विद्वान्‌का ज्ञान उत्तराधिकारियोंके लिये बड़ा उपयोगी तभी हो सकता है, जब उसकी ठीक रक्षा की जाय। इसीका नाम 'ऋषि-ऋण' है।

सरल जीवन और दिव्य उत्तराधिकारी

चौथा आदेश श्रुतिद्वारा दिया गया है—ज्ञान और कर्मके मार्गपर चलते हुए उलझनसे रहित जीवनका विस्तार करना।

हम अपने जीवनमें दूसरोंको धोखा देकर, झूठ बोलकर और मिथ्या आचरण करके कितनी उलझनें पैदा करते हैं। ये उलझनें बढ़ती हुई फिर कर्ताको अपने जालमें ऐसा फँसा लेती हैं कि उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। जीवन सरल और अकुटिल होना चाहिये।

पाँचवाँ साधन वेद कहता है—अपने पीछे दिव्य गुणयुक्त उत्तराधिकारी छोड़कर जा। यदि आप गृहस्थ हैं तो अपने पीछे ऐसी सत्ताको छोड़कर जायँ, जो आपसे भी अधिक अच्छी और दिव्य गुणयुक्त हो। यदि आप अध्यापक, आचार्य, उपदेशक, लेखक या सम्पादक हैं तो अपने शिष्यको और उत्तराधिकारीको अपनेसे अधिक गुणशाली बनाकर जायँ। उससे मानवके हृदयमें विशालता, उदारता और प्राणिमात्रके लिये हितकी भावना उत्पन्न होगी।

जब मार्ग न दिखायी दे

यदि यह पता न चले कि कौन-सा कर्म उलझनसे रहित है और कौन-सा दिव्य-जन पैदा करनेका उपाय है तो ऐसे उत्तम पुरुषोंकी तलाश करो, जो रास्ता बता सकें। तैत्तिरीय उपनिषद्में आचार्य शिष्यको उपदेश देते हुए कहता है—

यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः॥

'यदि तुझे कर्म करनेमें या सांसारिक व्यवहारमें कोई शङ्का हो तो तेरे आस-पास जो ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण विद्वान् हैं, जो समदर्शी, कर्मयोगी, सत्यप्रिय, निष्काम और धर्मनिष्ठ हैं, वे जैसा करते हैं, उसे देख और उनके-जैसा आचरण कर।'

प्रतिदिन पड़ताल करो

श्रीशंकराचार्यके शब्दोंमें, 'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्' —प्राणियोंमें नर-जन्म बड़ा दुर्लभ है, यह सोचते हुए—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किंनु मे पशुभिस्तुल्यं किंनु सत्पुरुषैरिति॥

मनुष्य प्रतिदिन अपने जीवनकी पड़ताल करे। वह सोचे कि मैं पशुओं-जैसा बन रहा हूँ अथवा श्रेष्ठ पुरुषों-जैसा। वेदमें मानवको ऊँचा उठानेके लिये भगवान्ने बहुत उपदेश दिये हैं। इनका पालन करनेसे ही मानवका कल्याण हो सकता है। हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य 'मानव' बनना ही होना चाहिये। एक उर्दू कविके शब्दोंमें—

फरिश्तेसे बेहतर है इन्सान बनना,
पर इसमें मेहनत है जरूर ज्यादा।

मानवताकी दुर्दशा

(लेखक—श्रीनारायणजी पुरुषोत्तम सांगाणी)

जगत्-स्रष्टा परमात्माने देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी आदि लाखों योनियोंके प्राणियोंकी अत्यन्त अद्भुत अनुपम सृष्टि सृजन की है। उनमें मानव सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मानव-शरीर धारण करनेवालोंको सर्वोत्तम माननेका कारण यह है कि वे बुद्धिके द्वारा विचार करके निर्णय कर सकते हैं और अपने तथा विश्वके कल्याणके लिये इच्छानुसार पुरुषार्थ कर सकनेकी क्षमता रखते हैं।

वस्तुतः मानव-शरीर प्राप्त होना ही कठिन है। अनेकों पुण्योंके फलस्वरूप प्रभुकृपासे इसकी प्राप्ति होती है। मानव-शरीर इतना दुर्लभ होनेपर भी क्षणभङ्गुर, नाशवान् और रोगग्रस्त होनेके कारण दुःखदायी बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको इसके नाश होनेके पहले ही इसके अंदर रहनेवाले अविनाशी जीवात्माकी सद्गति या मोक्षकी प्राप्तिके लिये सत्कर्मोंका अनुष्ठान कर लेना चाहिये।

जिस जीवके सांनिध्यसे मानव-देह सारी क्रियाएँ कर सकता है, वह जीव परमात्माका अंश है और सर्वव्यापी परमात्मा प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें विराजता है। इसलिये मन, वाणी, कर्मसे सबको सुख हो, सब नीरोग रहें, सबका कल्याण हो, कहीं किसी प्राणीको दुःख न हो—ऐसी उत्तम भावना रखकर मानवको यथाशक्य प्राणियोंकी सेवा करके सुख पहुँचाना चाहिये।

ऐसी श्रेष्ठ भावना हृदयमें प्रकट होनेके लिये मनुष्यको आचार-विचारकी शुद्धि रखकर सात्त्विक आहारका सेवन करना चाहिये और भगवान् मनुके दिखलाये हुए धर्मके दस लक्षणों—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोधको धारण करना चाहिये।

इस विश्वमें मानवका मुख्य कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंका सम्पादन करना है। मनुष्य यदि अपनी ज्ञाति, जाति एवं वर्ण-धर्मको ठीक समझकर आचरण करे और विश्व-नियन्ता ईश्वरकी शरणमें रहकर उनकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शुद्ध चित्तसे आराधना करे तो चारों पुरुषार्थ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं और सारी सिद्धियाँ सहज ही आकर प्राप्त होती हैं—ऐसा इतिहास देखनेसे प्रतीत होता है।

दुर्भाग्यकी बात है कि आजकलके मानव आत्मोत्कर्षके

समान परम श्रेयस्कर सरल विशुद्ध मार्गको तिलाञ्जलि देकर दुर्दशा अथवा आत्मघातकी पराकाष्ठाको पहुँच गये हैं। बुद्धिको स्थिर रखकर थोड़ा गहरे उतरकर ढूँढ़ें तो स्पष्ट हो जायगा कि इस जगत्‌में जो कुछ मङ्गल-कार्य हो रहा है, नियम-बद्ध हो रहा है, सुव्यवस्थित हो रहा है। सुव्यवस्था बनी हुई है। दुष्कर्मसे दूर रहकर मनुष्य यदि सत्कर्ममें लग रहा है तो वह केवल ईश्वर और धर्मके प्रति मान्यता तथा श्रद्धा-भक्तिके कारण ही ऐसा करता है। किंतु मोहवश अज्ञानी दुराग्रही मानव सर्वश्रेयके मूल ईश्वर और धर्मको उन्नतिमें अवरोधक तथा कलह और झगड़ेका कारण समझकर उड़ा देनेकी भयंकर चेष्टा कर रहा है। इससे अधिक मानवताकी दुर्दशा और क्या हो सकती है?

वस्तुतः ईश्वर परम उदार, दयालु और कृपालु हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, धर्म आदि भग उनमें रहते हैं, इसी कारण वे 'भगवान्' कहलाते हैं। सौन्दर्य, माधुर्य और लावण्य उनके रोम-रोमसे प्रकट रहते हैं और आर्त्तभावसे तनिक पुकारनेपर वे भक्त-वत्सल प्रभु तत्क्षण नृसिंह, वराह, कूर्म, मत्स्य, वामन, राम, कृष्ण आदि स्वरूपोंमें प्रकट होकर हमारा त्राण करते हैं, फिर भी उनको ही हिरण्यकशिपु या वेनके समान न मानना-जानना क्या मानवताकी कम दुर्दशा है?

अज्ञानवश मनुष्य परमात्माके अस्तित्वको न माने तो इससे सर्वशक्तिमान् ईश्वरका अस्तित्व कुछ मिटने या समाप्त हो जानेवाला नहीं। घट-घटव्यापी अन्तर्यामी प्रभुके नियन्त्रणसे ही वायु बहती है, मेघ बरसता है, सूर्य चमकता है, अग्नि उष्णता प्रदान करती है, यम पुण्य-पाप आदि शुभाशुभ कर्मोंका निर्णय करके जीवको उच्च-नीच योनि या सुख-दुःख प्रदान करते हैं और जलका निधि समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता।

ईश्वररूपी धर्मने भी इसी प्रकार चराचर ब्रह्माण्डको धारण कर रखा है। जो मनुष्य वापी, कूप, तालाब, बगीचा, अन्नक्षेत्र, पर्व, पाठशाला, धर्मशाला, औषधालय, मन्दिरका निर्माण तथा यज्ञ-याग, दान-पुण्य, तीर्थयात्रा आदि सत्कर्म करते हैं और चोरी, व्यभिचार, खून, मद्यपान, मांस-भोजन, जुआ, भ्रष्टाचार, विश्वासघात आदि कुकर्म करनेसे बचते हैं, वह केवल धर्मके उपदेशके द्वारा ही। इतना ही नहीं, अपितु इस लोकमें सारे सुख और सब प्रकारकी उन्नति तथा परलोकमें मोक्ष केवल एक धर्म ही प्रदान करता है। इस प्रकार अनन्त उपकार करके शाश्वत सुख-शान्ति और आनन्द प्रदान करनेवाले धर्म तथा ईश्वरको ही उड़ा देनेकी चेष्टा क्या मानवताकी दुर्दशाकी सीमा नहीं है?

परम हितकर धर्म और ईश्वरकी उपेक्षा करनेसे और भौतिक अथवा जडवादको ग्रहण करनेसे आज संसारमें मानवजातिकी भयंकर दुर्दशा हो रही है। इसीसे मनुष्यके ऊपर आज आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक हजारों प्रकारके कष्ट आ पड़े हैं। इसीसे स्वार्थ और विषय-वासनाके वशीभूत होकर वे परस्पर लूट-खसोट तथा कुटिल नीतिका प्रयोग करके वर्ग-विग्रह कराते हैं और अणुबम तथा हाइड्रोजन बम-जैसे भयानक अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण करके लाखों-करोड़ों निर्दोष प्राणियोंका संहार करनेमें लग गये हैं। इससे अधिक मानवताकी दुर्दशा और क्या हो सकती है?

गाय जगत्‌में अत्यन्त निर्दोष और परमोपकारक प्राणी है, यह संसारभरके लोग स्वीकार करते हैं। वह घास-तृण खाकर अमृतके समान दूध देती है तथा उसकी संतान, बछड़े-बैल खेतीके द्वारा अन्न उपजाकर सारे विश्वके लोगोंका पोषण करते हैं; इसलिये गायको विश्वकी माता और वृषभको पिता माना जाता है। इन परम वन्दनीय गायों तथा बैलोंका हर तरहसे रक्षण तथा पोषण करना चाहिये। इसके बदलेमें देशके तथा दुनियाके लोगोंको उनके मांस, हड्डी, चमड़ा, अँतड़ी पहुँचाकर रुपये, डालर, पौंड प्राप्त करनेके लिये अहिंसा, सत्य और पञ्चशीलकी हिमायत करनेवाले मनुष्य ही प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ों गायों, बछड़ों, बैलों, भैंसोंकी, परदेशसे करोड़ों रुपयोंकी नयी मशीनें मँगाकर, कसाईखानोंमें हत्या कराते हैं और गो-वध बंद करनेका आन्दोलन करनेवाले धर्मात्माओंको प्रत्याघाती अपराधी बताकर जेलमें बंद करते हैं—यह क्या मानवताकी दुर्दशाकी सीमा नहीं है?

स्वदेशकी उन्नति, उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको भाषामें, भावमें, रहन-सहनमें, आहारमें, वेष-भूषा-आरोग्य-उपचार-चिकित्सामें, व्यापार-कला-कौशलमें तथा संस्कृति-धर्ममें स्वदेशी बनना चाहिये। उसके बदले आजकल मानव उपर्युक्त समस्त स्वदेशीका नाश करके परदेशीके प्रति मोहान्ध होकर उसे अपनाकर अधोगतिके गहरे गर्त्तमें गिरता जा रहा है—यह क्या मानवताकी कम दुर्दशा है?

सादा जीवन और उच्च विचारका सेवन करनेवाले बहुत सुखसे स्वतन्त्र रीतिसे जी सकते हैं। उनको कोई छल-प्रपञ्च, खटपट, पाप, अनाचार, अत्याचार करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। परंतु कुबुद्धिके वश होकर आजकल कितने ही मनुष्य जीवनके स्तरको ऊँचा उठानेकी दिन-रात पुकार मचाकर जीवनकी आवश्यकताओंको बढ़ाते रहते हैं और फिर उनकी प्राप्तिके लिये, सीधे तौरपर प्रयास करनेपर जब प्राप्ति नहीं

होती तब, उनको सैकड़ों छल-कपट-पाखण्ड करने पड़ते हैं और दुःख-क्लेश, अशान्ति, विप्लवकी भट्टीमें नारकीय संकट सहन करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। यह क्या मानवताकी दुर्दशाकी हद नहीं है?

शुभ या अशुभ संस्कार मनुष्यको माता-पिताकी ओरसे उत्तराधिकारमें मिलते हैं। बालक जब माता-पिताकी गोदमें खेलता रहता है, तब माता-पिता जैसा विचार करते हैं, अथवा जैसी बात सुनाते हैं, उसीके अनुसार बालकका मानस गठित होकर तैयार होता है। पश्चात् माता-पिता बालकोंको सदाचार, ईमानदारी, सत्य, सेवा, धर्म, भक्ति आदिका पाठ घरमें सिखाते हैं, राज्यकी ओरसे शिक्षक स्कूल-कालेजमें सिखाते हैं और धर्माचार्य देव-मन्दिरोंमें सिखाकर उनमें आदर्श मानवता ला सकते हैं। परंतु अब इनमेंसे कुछ भी न होनेके कारण घर-घर लड़के-लड़की उद्धत, उद्दण्ड, स्वेच्छाचारी और धूर्त बनते जा रहे हैं। इसमें भी लड़के-लड़कियोंके सह-शिक्षण तथा नाटक-सिनेमाने तो अतिशय अनाचार, दुराचार, चोरी, लूट-पाटमें उनको लगाकर माता-पिता तथा समाजके जीवनको नीरस तथा दुःखमय बना दिया है। राजा, राज्य, आचार्य, माता-पिता तथा साधनसम्पन्न अग्रगण्य पुरुषोंका समाजपर अङ्कुश ढीला हो जानेसे संततिकी तथा भावी नागरिकोंकी इस प्रकारकी असह्य, विशृङ्खल, शत्रु-जैसी बुरी दशा हो गयी है। इससे अधिक मानवताकी दुर्दशा और क्या हो सकती है?

यूरोप और अमेरिकामें ऊँच-नीचका भेद रखनेवाले अमीर और मजदूर आदि वर्ग हैं। उनमें घृणाका भाव है और जन्म-जन्मान्तरके संस्कारका अभाव है। इधर भारतमें सृष्टिकर्त्ता ईश्वरकी ओरसे वर्णाश्रमकी जो पद्धति-प्रणाली निर्मित हुई है, वह नैसर्गिक है। समाज, राष्ट्र या विश्वके लिये यह विघ्न-स्वरूप न बनकर परस्पर सद्भाव प्रकट करके उन्नतिमें सहायक बनती है। वर्णाश्रमसे परम्पराके शुभ संस्कार सुरक्षित रहते हैं और प्रत्येक ज्ञाति, जाति, वर्गके बालक, वृद्ध और विधवाओंको आवश्यक संरक्षण, शिक्षण, पोषण सहज ही प्राप्त होता रहता है। कोई मनमानी छूट लेकर—अपेय-पान, अखाद्य-भक्षण, तलाक, सगोत्र-विवाह, असवर्ण विवाह आदि निषिद्ध कर्मोंके करनेकी छूट लेकर पतनको प्राप्त नहीं होता, अथवा उसे प्राप्त होने नहीं दिया जाता। परंतु आजके अविचारी मनुष्य बहुमत या सत्ताके बलपर इस वर्णाश्रमकी सर्वहितकारिणी और सुखदायिनी पद्धतिका लोप—उच्छेद करके; ब्राह्मण-क्षत्रिय, भंगी-भील, मुसल्मान-ईसाई, यहूदी-हब्शी आदि जातियोंका पंचमेल करके एक वर्गविहीन वर्णसंकरी समाज खड़ा करके मनुष्यके इहलोक और परलोकको बिगाड़कर नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। इससे बढ़कर मानवताकी दुर्दशा और क्या हो सकती है?

प्राचीन समयमें मनुष्य मन और इन्द्रियोंको अत्यन्त संयममें रखकर योग-यज्ञ, भक्ति-तत्त्वज्ञान, जप-तपके द्वारा ईश्वरकी आराधना करके उच्चकोटिके ज्ञान-विज्ञान तथा सिद्धियोंका सम्पादन करते थे। त्रिकालदर्शी उन महानुभाव महर्षियोंने उस ज्ञान-विज्ञानका उपयोग केवल अपने सुख या श्रेयके लिये न करके, समस्त विश्वके मानव अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार उसका लाभ उठाकर कृतार्थ हों—इसी आशयसे श्रम करके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका विभाग किया। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, दैवीमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा-जैसे दर्शनशास्त्र, रामायण-महाभारत-जैसे इतिहास, मनु-याज्ञवल्क्य-पराशर-शङ्ख-लिखित-अत्रि-यम-आपस्तम्ब-जैसी स्मृतियाँ, धर्मशास्त्र तथा श्रीमद्भागवत, विष्णु, पद्म, स्कन्द, नारद, मार्कण्डेय, वाराह, वामन, शिव, गरुड़-जैसे पुराणोंको रचकर विश्वको ज्ञान-विज्ञानसे भरपूर बना दिया। इस ज्ञान-विज्ञान, तप-योग-भक्तिके प्रभावसे वे स्वर्ग-मृत्यु-पाताल आदि लोकोंमें इच्छानुसार बिना रोक-टोकके आ-जा सकते थे। दस-दस हजार शिष्योंके वेद-शास्त्रके नादसे, अभ्याससे गूँजते हुए आश्रमोंमें बैठे-बैठे वे ध्यान-समाधिसे जगत्भरमें होनेवाली घटनाओंको एक क्षणमें जान सकते थे और वरदानसे श्रेष्ठ पद तथा शापसे भस्म करनेकी सामर्थ्य अपनेमें धारण करते थे। लोग उन महात्माओंके उपदेशको स्वीकार करके चलते थे और सब प्रकारके सुख भोगते थे। धन-सम्पत्ति, अन्न-वस्त्र तथा रस-आदिके भंडार भरे रहते थे और सब लोग बुद्धि, शरीर, विद्या, कुटुम्ब आदिके बलसे सर्वथा सम्पन्न रहते थे, एवं दुःख-दारिद्र्य, महामारी, दुष्काल, अकालमृत्यु, लड़ाई-झगड़ेके लिये कोई स्थान न था। यूरोप और अमेरिकाके विचक्षण विद्वान् चिन्तकोंको इस प्रकारके उच्चकोटिके आर्ष-जीवनके दर्शन हुए और वे भी मुग्ध होकर, जिनके भी ग्रन्थ प्राप्त हो सके, उनको बड़ी कीमतें चुकाकर भारतसे ले गये और एकाग्रचित्तसे उनका अवलोकन-अवगाहन करके, उनमेंसे अनेकों आविष्कार करके उन्होंने अपने देशको समृद्ध बनाया और बना रहे हैं। इधर आधुनिक भारतकी संतान अपने प्रतापी पूर्वजोंकी कृतियोंको पुरानी, जंगली, प्रगतिविरोधी कहकर उसका अनादर और विनाश कर रही है तथा यूरोप,

अमेरिका और रूसका अन्धानुकरण करनेकी दुश्चेष्टा कर रही है। यह क्या मानवताकी भयंकर दुर्दशा नहीं है?

स्त्रियाँ घरकी रानी हैं। घरका सारा कारबार उनको सौंप दिया गया है। पति, सास-ससुरकी सेवा, बालकोंको शुभ संस्कार डालकर पालना-पोसना और पातिव्रतधर्मका पालन करके, निजमाता-पिताके साथ गृहस्थीको चलाना इत्यादि उनके भूषण हैं। परंतु स्कूल-कालेजमें पढ़कर पर-पुरुषोंके साथ मटकना, प्रत्यक्ष रूपमें समानाधिकारके लिये भाषण करना या स्कूलों और आफिसोंमें नौकरी करना उनके लिये श्रेय नहीं है। इन्द्रियाँ बलवान् हैं, एकान्त मिलनेपर महाविद्वान्को भी वे पतनकी ओर ले जाती हैं; इसलिये सती स्त्रियाँ कदापि लज्जा छोड़कर परपुरुषके साथ वार्तालाप भी नहीं करतीं। आत्मा, देश, जाति, संस्कृति या धर्मके उद्धारक महापुरुष तथा स्वयं जगदीश्वर श्रीहरि भी इसी प्रकारकी सती-साध्वियोंके पेटसे ही अवतार लेते हैं। परंतु आजके मानव स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दताके नामपर लेख-भाषणद्वारा तलाक, सगोत्र-विवाह, वर्णान्तर-विवाहका समर्थन करनेवाले शारदा ऐक्ट-जैसे कानूनोंके द्वारा स्त्रियों तथा भोली-भाली लड़कियोंको शील-सतीत्वकी ओरसे फेरकर—विचलितकर उनके गृहस्थाश्रमके सुखको मलीभूत कर रहे हैं; इससे अधिक मानवताकी और क्या दुर्दशा हो सकती है?

इसलिये जिस सज्जन-मानवकी देश या दुनियाके मानवोंपर अनुकम्पा हो और जो चाहता हो कि प्रगति, सुधार या स्वतन्त्रताके नामपर मानव मानवकी दुर्दशा करके व्यर्थ ही मानव-जन्मको गँवाकर नारकीय दुःखोंका भोगी न बने तो उसको मानवताकी दुर्दशा रोकनेके लिये नीचे लिखे उपायोंकी योजनाका निश्चय और प्रबन्ध करना चाहिये—

(१) मानवको जगन्नियन्ता ईश्वर तथा ईश्वर-स्वरूप सनातन धर्मके ऊपर दृढ़ विश्वास करके उसकी निर्मल-चित्तसे भक्ति करनी चाहिये और उसकी आज्ञारूपी वेद-शास्त्र, गीता, भागवत, मनुस्मृति, रामायण, महाभारतके सिद्धान्तानुसार चलना चाहिये।

(२) स्वयं ईश्वरने ही मानवके सुख, अभ्युदय और मोक्षके लिये वर्णाश्रमधर्मकी स्थापना की है; इसलिये चाहे जिस स्थितिको सहकर उसका पालन करना चाहिये।

(३) मानव-जीवनका सर्वनाश करनेवाले जीवनके स्तरको ऊँचा बनानेके नारोंको न सुनकर मानवको सादा जीवन और उच्च विचारका ही सेवन करना चाहिये।

(४) स्कूल-कालेजकी प्रचलित शिक्षण-प्रथामें आमूल परिवर्तन करके प्राचीन ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम-जैसे विद्यालयोंमें विद्यार्थियोंको ब्रह्मचर्य तथा सदाचारका पालन कराते हुए कला-कौशल, उद्योग-व्यापार, कृषि-विज्ञान, आयुर्वेद, धनुर्वेदके साथ धार्मिक शिक्षा अनिवार्यरूपसे प्रदान की जानी चाहिये।

(५) शिक्षण प्रान्तीय भाषाके साथ-साथ संस्कृत और हिंदी भाषामें होना चाहिये।

(६) लड़के-लड़कियोंका सह-शिक्षण तुरंत बंद कर दिया जाय। लड़कियोंके लिये अलग विद्यालय खोलकर उनमें स्त्रियोपयोगी शिक्षा देनेका प्रबन्ध करना चाहिये और स्त्रियोंको नौकरीका मोह त्यागकर घर सँभालना चाहिये।

(७) मनुष्यको भाषा, वेष-भूषा, आहार, रहन-सहन, औषधोपचार, संस्कृति, धर्म आदि सम्पूर्ण विषयोंमें पूर्णतः स्वदेशी बनना चाहिये और प्राचीनके प्रति घृणा-तिरस्कार करना छोड़कर बंदरके समान यूरोपकी नकल करनेसे बाज आना चाहिये।

(८) जहाँतक हो सके, सब कुछ सहकर गायोंका रक्षण-पोषण करना चाहिये। भूदान या सम्पत्तिदानकी इच्छा हो तो स्थानीय प्रतिष्ठित गो-प्रेमी सज्जनोंकी समिति बनाकर उसके हाथमें गोचर-भूमिके लिये ही दान करना चाहिये।

(९) आरोग्य, धर्म, धन तथा मानवताका नाश करनेवाले सिनेमा तथा होटलोंको एकदम बंद कराना चाहिये।

(१०) शुद्ध घी-दूध तथा गाय-बैलोंका ह्रास करके अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाले वनस्पति घी और उसके कारखाने बंद होने चाहिये।

(११) यूरोप-अमेरिकामें उत्पन्न हुए अनेक वादोंने स्वच्छन्दता, उद्दण्डता और नास्तिकता फैलाकर घोर अनर्थ पैदा कर दिया है; इसलिये उन सबको विदा करके अनादिकालसे एक समान प्रवर्तित रहनेवाले, सबका कल्याण करनेवाले ईश्वर-स्वरूप सनातन धर्मका ही मानवोंको अनुसरण करना चाहिये। यों करनेपर मानवताकी दुर्दशा एकदम बंद हो जायगी और परम सुख-शान्ति तथा आनन्दकी प्राप्ति होगी।

अन्तकालका पश्चात्ताप और मानवताका उपदेश

(प्रे०—ब्रह्मस्वरूपा संन्यासिनी)

एक बाबाकी पुस्तकोंमें कुछ पुराने पन्ने रहते थे। जब वह बीमार पड़ा और उसकी अन्तिम घड़ी आ पहुँची, तब उसने तकियेके नीचेसे पुस्तक निकाली और शिष्योंको देकर आँखें बंद कर लीं तथा सदाके लिये इस लोकसे विदाई ले ली।

लोग समझते थे बाबाके पाठकी पोथी है, इसमें और क्या रखा है, पर एक दिन जैसे ही पोथी खोली गयी कि उसमें कुछ पन्नोंपर लिखा मिला—

मेरे प्यारे चेलो !

मैं संसारभरमें प्रसिद्ध लेखक, प्रसिद्ध महात्मा माना जाता हूँ। संसारमें बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जिनसे मुझे श्रद्धा-सम्मान न मिला हो। सभी समझते हैं—मेरा जीवन बहुत ऊँचा, आदर्श और सुखी है। मुझे बहुत लोग अवतार मानते हैं। तुमलोगोंने भी मेरी महिमाके बहुत गीत गाये। संसारमें मेरा खूब यश फैला। मैं तुम्हारा गुलाम बना रहा और तुमलोगोंसे डरता रहा। तुम जो भी करते, मैं आँखें और कान बंद कर लेता। मैंने यशके कारण उचित-अनुचित कुछ नहीं देखा। अब मेरा अन्तिम समय आ गया है। मैं संतोषकी मृत्यु नहीं मर रहा हूँ। मुझे अब बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है कि मैंने आजीवन स्वार्थरहित कोई भी कार्य नहीं किया। मैंने जो किया कीर्ति पानेके लिये। यही कारण है कि मैंने पाप-पुण्यका कोई विचार नहीं किया। संसारभरकी आँखोंमें मैंने धूल झोंकी, खूब लोक-मनोरञ्जन करके नाम कमाया। जिस-जिस प्रकारसे दुनियाँ फँसी, मैंने फँसाकर अपना उल्लू सीधा किया। शहर-शहरमें उपकारोंकी दूकानें खुलवायीं! लाखों शिष्य फँसाये। धनियोंकी चापलूसियाँ करके धन और यश कमाया। धनियोंकी चापलूसियोंसे महान् बना। किसी दीन-दुखियाके आँसू नहीं पोंछे। गरीबोंकी उपेक्षा की, उनके बसे घर उजाड़े। सुखियोंको दुखी बनाया। अनेक प्राणियोंको धोखा दिया। और भी बहुत कुछ किया!

आप कहीं यह समझनेमें भूल न करें कि परलोकमें भी मैं वैसे ही यश-कीर्तिका भागी बनूँगा। कदापि नहीं। मेरे द्वारा अपने जीवनमें मानवताकी रक्षा तो दूर रही, मैं स्वयं मानव भी न बन पाया। आपलोगोंको याद रखना चाहिये कि मानवमें मानवता आये बिना सुख, शान्ति, यश, कीर्ति आदि परलोकमें साथ नहीं देते। इसलिये प्यारे शिष्यो! मैं तो जैसा भी कुछ रहा, तुमलोग ऐसे मत बनना। तुम जो कुछ करो—ईश्वरको सर्वव्यापी जानकर करना; घट-घटवासी मानकर सेवा करना। समस्त कामनाओंसे ऊपर उठकर ही तुम पापसे बच सकते हो। विषयासक्ति तथा विषयेच्छासे रहित होनेपर ही मानवमें मानवता आती है और वही मानव लोक-परलोकमें यथार्थ सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। मानवताके बिना कल्याण नहीं।

भेड़की खालमें भेड़िये

महापुरुष, योगी, बने प्रेमी, ज्ञानी भंड।
शील-धर्म-धन ठग रहे, रच छलमय पाखंड॥
विषय-प्रीति-पूरित हृदय कपट-साधुता धार।
भेड़-खालमें भेड़िये छाये सब संसार॥

आदर्श कर्मयोगी और आदर्श कर्म-संन्यासी

कर्मयोगी श्रीकृष्ण

गीताके उपदेशक—जगद्गुरु श्रीकृष्ण—गृहत्याग या कर्मत्यागका कहीं उपदेश किया उन पार्थसारथिने ! श्रीकृष्णका लोकसंग्रह—कर्मनिवृत्तिका तो आदर्श नहीं रखा है उन्होंने ।

नैष्कर्म्य—अनासक्ति, फलासक्ति त्यागकर कर्तव्य-बुद्धिसे—विश्वात्माकी सेवाके लिये किया गया कर्म ही 'नैष्कर्म्य' है। यह श्रीकृष्णका उपदेश और श्रीकृष्णका आदर्श—इतना पूर्ण, इतना सुविशाल गार्हस्थ्य ।

षोडश सहस्र पत्नियाँ, प्रत्येकके दस-दस पुत्र ऊपरसे और द्वारकाका अपार यादवकुल श्रीकृष्णका अपना ही परिवार तो—हस्तिनापुर-पाण्डवकुल भी उनके परिवारमें आ गया ।

ब्राह्ममुहूर्तमें जागरण, प्रातःसन्ध्या, तर्पण, हवन, देवाराधन, अतिथिसेवा, स्वजनसत्कार—गृहस्थधर्मके सम्पूर्ण अङ्गोंको सम्यक् रीतिसे आचरणके द्वारा सुशोभित किया उन पूर्णकामने लोकसंग्रहके लिये । मानवको उसका कर्तव्य प्रदर्शित करनेके लिये ।

कर्मयोगी महाराज जनक

'मिथिलायां दह्यमानायां न मे दह्यति किंचन।'

सम्पूर्ण मिथिला अग्निमें भस्म हो रही है तो होने दो—मेरा उसमें क्या भस्म होता है ? यह उद्घोष और सचमुच जिसकी आसक्ति सांसारिक पदार्थोंमें नहीं, शरीरमें नहीं—जो पदार्थ एवं शरीरको अपना नहीं स्वीकार करता—अग्नि क्या जला सकता है उसका ?

यह अनासक्ति—महाराज जनकको चाटुकारोंने नहीं, महर्षियोंने, सर्वज्ञजनोंके समुदायने विदेह कहा था । वे नित्य देहातीत—शुकदेव-जैसे वीतराग-शिरोमणि उनके यहाँ तत्त्वज्ञानका उपदेश प्राप्त करने आते थे ।

आत्मज्ञानके वे परम धनी—गृहस्थ ही तो थे । गृहस्थ थे महाराज जनक और उनके गृहस्थधर्मके पालनमें कोई उपेक्षा, राज्य-संचालनमें कोई अनुत्तर-दायित्व, कोई प्रमाद, कोई त्रुटि कहीं कोई बता सकता है ? प्रजापालन, स्त्री-पुत्र-पुत्रियोंके प्रति स्नेहनिर्वाह, संध्या-तर्पणादि, देव एवं पितरोंकी आराधना, अतिथि-सेवा—गृहस्थके समस्त धर्मोंका सावधानीसे पालन होता था उन जीवन्मुक्तोंके शिरोमणिद्वारा ।

संसार-त्यागी याज्ञवल्क्य

महाराज जनकके गुरु, भरी ब्रह्मर्षिसभामें—'सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी इन गायोंको ले जाय !' इस घोषणा-को चुनौती देते एक सहस्र गायें ले जानेवाले महत्तम याज्ञवल्क्य—ब्राह्मणका जीवन त्यागका आदर्श स्थापित करनेके लिये है, यह निश्चय जिस दिन किया उन्होंने—दोनों पत्नियोंको कह दिया कि वे उनकी सम्पत्ति परस्पर बाँट लें ।

कुटीर भी त्याग करके, केवल लंगोटी लगाकर वनपथ लिया याज्ञवल्क्यने । ब्रह्मर्षियोंके परम सम्मान्य याज्ञवल्क्य, मिथिलानरेशके सुपूजित राजगुरु; किंतु भोग और यश क्या विरक्तको अपने स्वर्णिम जालमें कभी बाँध सके हैं ?

विरक्त-चूडामणि महाराज ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव—वे श्रीहरिके अवतार—सम्पूर्ण विभूतियाँ प्राणी जिनके प्रसादसे प्राप्त करता है, वे निखिल भुवनके नाथ—वे सप्तद्वीपवती पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे । समस्त नरपतिवृन्द सादर उनके पादपीठकी वन्दना करता था, यह उनका उत्कर्ष वर्णन तो नहीं होगा ।

बिखरे केश, धूलिधूसर आजानुबाहु, भव्य देह, न आभूषण, न वस्त्र, न चन्दन—आत्मलीन प्रतीत होते कमलदल दीर्घलोचन—उन्मत्तकी भाँति वनमें विचरण करते वे कर्मसंन्यासके साकार प्रतीक प्रभु ।

जैसे देखकर भी देखते नहीं, किसीकी बात सुनते नहीं—उन्मत्त, बधिर-मूककी चेष्टा—देहासक्तिकी चर्चा व्यर्थ-देहकी प्रतीति ही नहीं रह गयी थी वहाँ ।

कर्मयोगी राजा जनक

कर्मत्यागी महर्षि याज्ञवल्क्य

कर्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण

परम विरक्त श्रीऋषभदेव

मानवताका महत्त्व

(लेखक—डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्०ए०, डी०फिल० (आक्सन)

भारतीय संस्कृतिकी परम्पराके अनुसार मानवताका महत्त्व वर्णनातीत है।

हमारे वेदादि वाङ्मयमें बराबर 'मानवता जगदीश्वरका एक सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है' ऐसे विचार प्रकट किये गये हैं।

अथर्ववेद (६ । ५८ । ३) में अपनी मानवताके महत्त्वको समझनेवाले व्यक्तिके मुखसे कहलाया गया है—

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः।

अर्थात् सृष्टिके समस्त पदार्थोंमें मैं सबसे अधिक यशवाला हूँ। दूसरे शब्दोंमें, मनुष्यका स्थान सृष्टिके समस्त पदार्थोंसे ऊँचा है।

शतपथब्राह्मण (२ । ५ । १ । १) में तो यहाँतक कहा गया है—

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्।

अर्थात् सब प्राणियोंमें मनुष्य ही सृष्टिकर्ता परमेश्वरके अत्यन्त समीप है।

महाभारतमें यत्र-तत्र मनुष्यके उत्कृष्ट गुणोंके वर्णनमें 'आनृशंस्यम्' का उल्लेख आता है। इसका अभिप्राय वास्तवमें 'मानवताका समादर' ('आनृशंस्य' अर्थात् नृशंसन, मनुष्यके साथ अन्यायाचरणका अभाव) ही है।

इसी महान् आदर्शका दिग्दर्शन, वेदादि शास्त्रोंके अपने अध्ययनके आधारपर, हमने नीचेके कुछ संस्कृत-पद्योंमें किया है। आजकी परिस्थितिमें, जब कि संसार अपने महान् व्यामोहके कारण मानवताके महत्त्वको भूला हुआ है, इस दिग्दर्शनका महत्त्व स्पष्ट है—

उत्पाद्य सकलां सृष्टिमसंतुष्टः प्रजापतिः।
सृष्टवानात्मरूपेण मन्ये मानुष्यकं महत् ॥ १ ॥

अर्थात् समस्त सृष्टिको उत्पन्न करके प्रजापति (ब्रह्मा) को संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने, हमारे मतमें, अपने ही रूपमें, महान् मानवताकी सृष्टि की।

परात्मनः स्वरूपं तदानन्दरसनिर्भरम्।
निर्मलं शाश्वतं शान्तं प्रेमकारुण्यसुन्दरम् ॥ २ ॥
कुत्राप्यन्यत्र सुस्थानं न दृष्ट्वा खिन्नमानसम्।
स्वस्थं तिष्ठति यत्रैतन्मन्ये मानुष्यकं महत् ॥ ३ ॥

अर्थात् आनन्दरससे परिपूर्ण, निर्मल, शाश्वत, शान्त और प्रेम तथा करुणासे सुन्दर परमात्माका वह स्वरूप मानवतासे अन्यत्र कहीं भी अपने योग्य सुन्दर स्थानको न पाकर, खिन्न-मनस्क होकर, जहाँ आरामसे रह सकता है, हमारे मतमें, वह महान् मानवता ही है।

अभिप्राय यह कि परमात्माके उक्त परम पवित्र स्वरूपका साक्षात्कार मानव ही कर सकता है तथा मानवतामें ही वह स्वरूप मूर्तिमान् होकर दृष्टिगोचर हो रहा है।

इसी अर्थको नीचे स्पष्ट किया गया है—

केवलं तत्र पश्यन्ति महात्मानो मनीषिणः।
योगिनस्तत्त्ववेत्तारस्तस्मात् स्वान्तःस्थमव्ययम् ॥ ४ ॥
भास्वरं परमं तत्त्वं सर्वक्लेशविवर्जितम्।
तन्नूनं सुतरां पुण्यं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥ ५ ॥

अर्थात् उक्त कारणसे ही मनीषी महात्मागण तथा तत्त्ववेत्ता योगिजन अपने अन्तःकरणमें अवस्थित अव्यय, प्रकाशस्वरूप तथा सर्वक्लेशोंसे रहित उस परम तत्त्वको मानवतामें ही देखते हैं। इसलिये हमारे मतमें मानवता अत्यधिक पवित्र और महान् है।

विश्वस्मादुत्तरं तस्मात् सारवद् विश्वतोमुखम्।
विश्वभुग् विश्वद्रष्टृत्वपदे नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥
आश्चर्यमद्भुतं दिव्यगुणग्रामनिकेतनम्।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि मन्ये मानुष्यकं महत् ॥ ७ ॥

अर्थात् हमारे मतमें, महान् मानवताका महत्त्व इसलिये सबसे अधिक है। सारी सृष्टिकी वह सार है। उसकी दृष्टिके विस्तारकी सीमा नहीं है। वह विश्वका उपभोग करती है और सदा वह विश्व-द्रष्टाके पदपर अवस्थित है। वह स्वयं आश्चर्यरूप और अद्भुत है, दिव्य गुणोंका स्थान है; अर्थात् उसके विकासका क्षेत्र अनन्त है।

धन्यास्ते तत्त्वमेतद् येऽसंशयेन विजानते।
अन्तरायशतेऽव्यग्रा नात्मानमवजानते ॥ ८ ॥
किंच मानवमात्रस्य मानमातन्वते सदा।
नृषु सर्वेषु पश्यन्तो मन्ये मानुष्यकं महत् ॥ ९ ॥

अर्थात् जो इस तत्त्वको निस्संशयरूपसे जानते हैं, वे धन्य हैं। वे अनेकानेक विघ्नोंके आनेपर भी अपने आत्माकी

अवज्ञा नहीं करते हैं, अपनेमें हीन-भावना नहीं आने देते, किंतु वे सब मनुष्योंमें रहनेवाली महान् मानवताको ध्यान-में रखते हुए सदा प्रत्येक मनुष्यको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं।

नरनारायणौ नित्यं केवलं यत्र तिष्ठतः।
भ्रातृभावं समापन्नौ परमं सख्यमाश्रितौ ॥ १० ॥
देवानामपि सर्वेषां स्थितिर्यत्रैव लभ्यते।
धर्मस्य तदधिष्ठानं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥ ११ ॥

अर्थात् जिस मानवतामें ही भ्रातृभावको प्राप्त होकर अथवा अत्यन्त सखि-भावसे नर और नारायण दोनों एक साथ रहते हैं, समस्त देवताओंकी स्थितिका अनुभव जिसमें होता है तथा जो धर्मका भी अधिष्ठान है, हमारे मतमें वह मानवता महान् है।

अभिप्राय यह कि नर और नारायण अर्थात् मनुष्य और उसके जीवनके आदर्शभूत भगवान्का एकत्र योग मानवको छोड़कर और कहीं नहीं हो सकता। इसी प्रकार देवता और धर्म भी मनुष्यको छोड़कर और कहीं नहीं रह सकते।

ऋषयस्तत्त्वमर्मज्ञा मुनयो गतमत्सराः।
विक्रान्तयशसः शूराः सन्तश्चारित्र्यभूषणाः ॥ १२ ॥
स्वोत्कर्षं यदवाप्यैव प्राप्तुं शक्ता असंशयम्।
तत्पदं परमोत्कृष्टं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥ १३ ॥

अर्थात् पदार्थोंके मर्मको जाननेवाले ऋषिगण, मद और मात्सर्यसे रहित मुनिजन, पराक्रमशील, शूरवीर और चारित्र्यसे भूषित संतलोग, जिस स्थितिमें रहकर ही, अपने-अपने उत्कर्षको पा सकते हैं, हम उस मानवताको महान् और परम उत्कृष्ट मानते हैं।

अन्तमें वेदके शब्दोंमें हम यही चाहते हैं कि—

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।
(ऋग्० ६। ७५। १४)

अर्थात् मनुष्योंका प्रथम कर्तव्य है कि वे निश्छल भावसे मानवताका समादर करते हुए एक दूसरेकी रक्षा करें और उन्नतिमें सहायक हों।

मानवताका चिर-शत्रु—'अहंवाद'

(लेखक—श्रीश्रीकृष्णजी गुप्त)

'मानवको मानव न समझना' इससे अधिक मानवताका अहित और क्या हो सकता है? आज इस भावनाका बाहुल्य प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। क्या समाज, क्या राजनीति और क्या दैनिक-व्यवहार—कहीं भी यह नहीं लगता कि मानव मानवके प्रति यथार्थतः सहानुभूतिशील है। यों तो आज मानवताका राग हर वक्तृतामें अलापा जाता है और जन-कल्याणका प्रचार भी केन्द्रों तथा नयी-नयी योजनाओंके द्वारा हो रहा है; तथापि आज जिस संकीर्ण मनोवृत्तिका परिचय पग-पगपर मिलता है, उसे देखकर दुःख होता है। यद्यपि अस्तित्व बनाये रखनेकी प्रवृत्ति मानवमें जन्मजात है, तथापि सामाजिक विकासके कारण मानवमें उदात्त भावनाएँ विकसित होती रहीं और इसीलिये मनुष्य अन्य प्राणियोंसे अधिक उन्नति करता गया। 'मैं हूँ और मैं रहूँ' की भावनाके साथ-साथ सब मिलकर रहें—यह भी मानवीय स्वभाव बनता गया; किंतु आज लगता है कि केवल 'हम रहें'—'हम ही उन्नति करें' यह भावना निरन्तर पुष्ट होती जा रही है।

आज यदि सभी मनुष्यके साथ मनुष्योंका-सा व्यवहार करना आरम्भ कर दें तो जीवनकी बहुत-सी समस्याएँ अपने आप सुलझ जायँ। सबसे बड़ी समस्या यही है कि आज जो व्यवहार हम दूसरोंके साथ करते हैं, यदि वही व्यवहार हमारे साथ होता है तो वही अनुचित, असभ्य तथा अमानवीय लगता है। 'अहं' के गहरे आवरणके कारण आज सब अपनेको संगत तथा दूसरेको असंगत बताते हैं। अधिकतर देखा गया है कि जो लोग अधिक सम्भ्रान्त, धनी तथा ऊँचे पदोंपर नियुक्त हैं, वे 'अहं' के आवरणसे अधिक आच्छादित होते हैं। वे यह नहीं देखते कि हम न्याय कर रहे हैं या अन्याय कर रहे हैं, किसीका भाग तो अपहरण नहीं कर रहे हैं, किसीसे अनुचित लाभ तो नहीं उठा रहे हैं।

यह बात नहीं है कि 'अहंवादी' व्यक्ति अनम्र तथा अभद्र ही होते हैं। प्रायः ऐसे लोग अवसरवादी तथा अपने स्वार्थानुसार रूप धारण करनेवाले होते हैं। जिस व्यक्तिको अभी वे दुत्कार चुके हैं, यदि उसके कारण उनका कोई काम अटक जाय तो बड़ी शालीनतासे पूर्वकृत कार्यका निवारण करेंगे और अपना काम निकाल लेंगे। यहाँ 'मानव'की

अन्तःप्रकृतिका परिवर्तन होना आवश्यक है ।

यदि आज सभी पदाधिकारी, धनी तथा उच्च वर्गके लोग अपनेमें उदारता लायें, अपने अधीन व्यक्तियोंके प्रति न्याय, सहानुभूति तथा प्रेमका परिचय दें तो आज वर्ग-संघर्षकी बहुत-सी भावनाएँ मिट जायँगी और विद्रोह तथा वैमनस्य समाप्त हो जायगा ।

मानवता-प्रतीक वेद

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

भारतमें कभी मानवताका पूर्ण साम्राज्य था । यहाँ कभी सर्वतोभद्र, निर्दोष, निष्पाप और उदात्त चित्तके मनुष्य बसते थे । यहींसे विश्वमें मानवताका प्रचार-प्रसार भी हुआ था । यही कारण है कि देवता भी भारतके गुण गाते थे और भारत-भूमिमें जन्म लेनेकी इच्छा रखते थे । इसीलिये तो भारतकी अपनी समुद्घोषणा थी—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

इतना क्यों और कैसे हुआ ? इसका सदुत्तर यही है कि भारत पूर्ण प्रकृतिका देश है, कर्म-प्रधान भूमि है; यहाँ मानव-दोषहर, गुणाधान-कारक और हीनाङ्गपूर्ति-विधायक संस्कारोंका दौरदौरा है एवं वर्णाश्रमधर्म भारतकी बपौती है। विशेषतः इसी भारतभूमिको सृष्टिके आदिमें नीति-प्राण मानव-धर्मकी रूप-रेखा ईश्वरीय ज्ञान वेदोंद्वारा प्राप्त हुई है। इसका संक्षिप्त-सा उल्लेख इस प्रकार है—

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मेरे सब मित्र हों; परंतु यह कोई नहीं चाहता कि मैं सबका मित्र बनूँ । वेदमें इन्हीं दोनोंका समन्वय-सामञ्जस्य इस प्रकार किया गया है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥
(अथर्व० १९ । ६२ । १)

'परमात्मन् ! ऐसी कृपा कर कि मैं ब्राह्मणोंका प्रिय बनूँ, क्षत्रियोंका प्रिय बनूँ, वैश्योंका प्रिय बनूँ तथा शूद्रोंका प्रिय बनूँ । इसी प्रकार मैं ब्राह्मणोंको प्यार करूँ, क्षत्रियोंको प्यार करूँ, वैश्योंको प्यार करूँ एवं शूद्रोंको भी प्यार करूँ । उपलक्षणसे मैं सभीको प्यार करूँ ।'

मनके पापोंसे बचनेकी कैसी साधना है और उनसे दूर भागनेके लिये कैसी ईश्वर-प्रार्थना है—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वां कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
(अथर्व० ६ । ४५ । १)

'हे मेरे मनके पाप-समूह ! तुम मुझसे दूर भाग जाओ । मुझसे बुरी बातें मत करो; मैं तुमको चाहता ही नहीं, तब फिर मुझसे दूर क्यों नहीं होते ? अरे, तुम वनमें क्यों नहीं चले जाते । वृक्षोंमें ही वहाँ रहो । अरे, किसी तरह तो मेरा पीछा छोड़ो; क्योंकि मैं शरीर, इन्द्रिय और चित्तकी साधनामें संलग्न रहना चाहता हूँ ।' निष्पाप और अनिन्दित होकर मानव बननेकी कैसी उत्कट कामना है—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायु तं मे
चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे ।
प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो
मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥
(अथर्व० १९ । ५१ । १)

'हे परमेश्वर ! मैं अनिन्द्य बनूँ, मेरा आत्मा अनिन्द्य बने और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान भी अनिन्दित हों ।'

अगले वेदमन्त्रमें व्यष्टि-समष्टि-मूलक, सार्वभौम और सार्वजनीन मानवोचित सप्त मर्यादाओंका कैसा सुन्दर नामकरण, वर्गीकरण और मानव-साध्य आदर्श पाठ प्रदान किया गया है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥
(ऋ० १० । ५ । ६)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्य-पान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पाप-सहायक दुष्ट—इन्हींका नाम सप्त-मर्यादा है । इनमेंसे प्रत्येक मानव-जीवन-घातक है; यदि कोई एकके भी फंदेमें पड़ जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है; किंतु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निस्संदेह वह आदर्श मानव बनकर रहता है ।

मनुष्यको प्रबलतम पापोंसे बच सकनेका कैसा सरस, मधुर साहित्यिक उपदेश-निर्देश है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥
(ऋग्वेद ७ । १०४ । २२)

'हे मनुष्य ! तू साहसी बनकर गरुड़के समान मद (घमंड), गीधके समान लोभ, कोक (चकवे) के समान काम, श्वानके समान मत्सर, उलूकके समान मोह और भेड़ियेके समान क्रोधको समझकर मार भगा ।' रात-दिन घेरे रहनेवाले षड्-रिपुको मारकर भगानेका कितना अच्छा आलंकारिक हृदय-स्पर्शी उपदेश है !

इन्हीं वेदोक्त उपदेशोंका पुण्य प्रताप था कि कभी मानव-निर्माणकी दिशामें भारत विश्वगुरु था । इसीका यह परिणाम है कि आज भी संसार किसी-न-किसी रूपमें भारतीय सभ्यतासे आवृत है—

भारतस्य ऋग्वेदकालीना संस्कृतिरद्यापि सभ्याना-मस्माकं वातावरणस्यवस्तु । वयमद्यत्वेऽपि तया चतुर्दिक्षु समावृताः ।

M. Mon. Dolbos.

यह भी निर्विवाद बात है कि अनेक क्षेत्रोंमें भारतकी मानवता और भारतका नैतिक स्तर दूसरे देशोंसे आज भी उच्च है । यह भारत ही है, जहाँ आज भी ब्राह्मण षडङ्ग-सहित वेदोंका अभ्यास निष्कारण ही करते हैं ।

यह भी सत्य है कि वेदोंने मानव-कर्तव्यका पाठ पढ़ाकर विश्वको आर्यश्रेष्ठ बनाना चाहा था । उस समय आर्य-शब्द कर्तव्य-वाचक था अथवा दोनों एक दूसरेके पर्यायवाची शब्द थे—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यं समाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः ॥

ईश्वर भारतको बल दे कि वह उल्लिखित शास्त्रीय दृष्टिसे फिर विश्वको आर्य बनाकर अपने गुरुपदको स्पष्ट करे, जिससे मृतप्राय मानवता फिरसे पुष्ट हो सके ।

मानवताका सदुपदेश

(रचयिता—कविभूषण श्री'जगदीश' साहित्यरत्न)

खलता सज्जनता लहे, यों आदर 'जगदीश' ।
कैंची दबती पद तले, सूई चढ़ती शीश ॥ १ ॥
कष्ट उठानेसे मिले, पद ऊँचो 'जगदीश' ।
घिसा-घिसा निज गातको, चंदन चढ़ता शीश ॥ २ ॥
शुभकुल, सुगुण, सुगंधको, मत कर इतो घमंड ।
घनो घिसावे गात तव, शीश चढ़े श्रीखंड ॥ ३ ॥
सरल चले संसारमें, उच्च पद मिले अमीर ।
ज्यों शतरंजी खेलमें, पैदल बने वजीर ॥ ४ ॥
आनि बानि कुल-कानिमें, नहीं कंजके तूल ।
मीच कीचके बीच है, भूल न फूल गडूल ॥ ५ ॥
मानव है तो मान जा, कभी न मूँछ मरोड़ ।
पीछे अंतक-अश्वकी, लाग रही घुड़ दौड़ ॥ ६ ॥
तड़ तड़ कर तड़के मती, फूल्या रहे न फूल ।
विच में ही विलमायगा, फूल चड़ी रा फूल ॥ ७ ॥
कर चावे जितनी दवा, तन री होवे हान ।
घणा जतन सूं राखताँ, पड़े घनेरचा घान ॥ ८ ॥

गोमाताका अपमान करना मानवता नहीं, दानवता है

[काश्मीरनरेश महाराज श्रीप्रतापसिंहजीके जीवनकी एक सच्ची घटना]

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

स्वर्गीय काश्मीरनरेश महाराज श्रीप्रतापसिंहजी बड़े ही धर्मात्मा, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक राजा थे । आप कट्टर सनातन धर्मी, वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा और प्रजापालक थे। सैकड़ों ब्राह्मण नित्य आपके यहाँ वेदध्वनि, चण्डीपाठ, जप-अनुष्ठान आदि किया करते थे और क्या मजाल जो राज्यमें कोई गोहत्या कर सके और गोमाताकी ओर अंगुली उठाकर भी देख सके !

एक बार परम प्रतापी काश्मीरनरेश महाराज श्रीप्रतापसिंहजी कहीं जा रहे थे और साथमें बड़े-बड़े अधिकारी भी थे। किसीने देखा—रास्तेमें आगे एक गाय बैठी है। तुरंत कुछ कर्मचारी आगे बढ़े और उन्होंने गायको उठाकर खड़ी कर दिया एवं रास्तेसे हटा दिया। कर्मचारियोंके इस प्रकार दौड़-धूप करनेके कारण महाराजका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और महाराजने एक कर्मचारीको पास बुलाकर पूछा कि 'इस प्रकार एकदम दौड़-धूप करनेका कारण क्या था ?' आपको बताया गया कि 'महाराज! आपकी सवारी जिस रास्ते जाती, वह रास्ता साफ नहीं था, उसमें एक गाय रास्ता रोके बैठी थी। अब उस गायको हटाकर रास्ता साफ कर दिया गया है।'

महाराज प्रतापसिंहने जब यह सुना कि मेरे कारण गायको कष्ट पहुँचाया गया है, तब उनको बहुत ही दुःख हुआ। महाराजने क्षोभसे वहीं सवारी रुकवा दी। तुरंत गायको रास्तेमेंसे हटानेवाले कर्मचारियोंको बुलाकर उन्हें बड़ा ही उलाहना देते हुए कहा—

'तुमलोगोंने यह क्या घोर अनर्थ कर डाला ? क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि हम भारतके क्षत्रिय राजाओंके जीवनका एकमात्र उद्देश्य गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षा करना है और गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षा तथा सेवा करना ही मानवता है। तुमने

मुझ क्षत्रिय राजाके लिये परम पूजनीय गोमाताको उठाकर उसे कष्ट पहुँचाया तथा गोमाताका अपमान किया, यह मानवता नहीं दानवता है। भविष्यमें ऐसा कभी मत करना। यदि कोई ऐसा करेगा, उसे तुरंत नौकरीसे अलग कर दिया जायगा।' महाराजकी इस प्रकार अद्भुत गोभक्ति और मानवता देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये और जय-जयकार पुकार उठे।

वेदोक्त मानव-प्रार्थना

(लेखक—याज्ञिक सम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥

(मनु० १२ । ९७)

वेद हिंदूजातिका सबसे प्राचीन और सर्वमान्य धर्मग्रन्थ है। इसमें हिंदूधर्मके सभी अङ्गोंका विस्तृत विवेचन है। वेदको ईश्वरीय ज्ञान कहा गया है, जिसका प्रादुर्भाव मानवमात्रके कल्याणार्थ हुआ है। वेदोंमें देवता, मनुष्य, पशु आदि चेतन पदार्थोंका और नदी, पर्वत एवं वृक्ष आदि अचेतन पदार्थोंका भी वर्णन है तथा वेदोंमें उन घटनाओंका भी वर्णन मिलता है, जो विश्वमें हो चुकी हैं, जो हो रही हैं और जो होनेवाली हैं।

वेदोंमें मानव-समाजके हितार्थ सुन्दर-सुन्दर आदर्शपूर्ण उपदेश पाये जाते हैं, जिनके द्वारा ब्राह्मणादि वर्ण-चतुष्टय मानवताकी प्राप्ति करके देश, समाज और राष्ट्रका कल्याण कर सकते हैं। मानवको अपने जीवनमें संसारयात्रार्थ जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, उन सभी वस्तुओंका वेदोंमें अगाध भंडार है।

जो मानव परमेश्वरको अपना परम प्रिय, परम ध्येय और परम इष्ट मानकर भगवत्प्रार्थना करता है, वही भगवान्का परम प्रिय और भक्त बन सकता है। प्रभुका भक्त बननेपर ही परमात्मा अपने भक्तके सर्वविध योगक्षेमका भार स्वयं वहन करते हैं। परमात्मामें विश्वास और उनके प्रति स्वार्पण करनेवाले मानव भक्तको कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती। भक्तके इच्छानुसार भगवान् उसे सब कुछ प्रदान करते हैं। प्रभुभक्त सर्वदा निर्विकार, निष्काम और निश्चिन्त रहता है। अतः प्रभुभक्तकी परमात्मासे अपने लिये प्रथम तो कभी किसी वस्तुकी माँग ही नहीं होती और यदि कभी होती भी है तो वह अपने लिये नहीं, किंतु दूसरोंके लिये होती है। प्रभुभक्त मानवकी इस प्रकारकी विश्वकल्याणमयी 'माँग'को 'प्रार्थना' शब्दसे अभिहित किया गया है।

वेदोंमें मानवतासम्पन्न भगवद्भक्त मानवद्वारा की गयी विश्वकल्याणार्थ प्रार्थनाके सम्बन्धमें अनेकानेक वैदिक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनके स्वाध्याय और मननसे विश्वकल्याणकामी मानवके उच्च जीवन, उच्च विचार और उच्च मानवताका सुन्दर परिचय मिलता है। अब हम चारों वेदोंकी कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

ऋग्वेदकी सूक्तियाँ

यच्छा नः शर्म सप्रथः । (१ । २२ । १५)

'भगवन्! तुम हमें अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखोंको प्रदान करो।'

प्र ण आयूंषि तारिषत् । (१ । २५ । १२)

'हमारे लिये देवगण दीर्घायु प्रदान करें।'

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् । (१ । ८९ । २)

'हम देवताओंकी मैत्री प्राप्त करें।'

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । (१ । ८९ । ८)

'हे देवगण! हम कानोंसे कल्याणकारी उपदेश सुनें।'

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । (१ । ९० । ६)

'हमारे लिये ओषधियाँ (चावल, दाल, गेहूँ आदि खाद्य पदार्थ) मधुरतासे परिपूर्ण हों।'

माध्वीर्गावो भवन्तु नः । (१ । ९० । ८)

'हे प्रभो! हमारी इन्द्रियाँ (गौएँ) मधुरतापूर्ण बनी रहें।'

अप नः शोशुचदघम् । (१ । ९७ । ३)

'भगवन्! तुम्हारी कृपासे हमारे सारे पाप नष्ट हो जायँ।'

सुम्नमस्मे ते अस्तु । (१ । ११४ । १०)

'हे परमात्मन्! हमारे अंदर तुम्हारा महान् (कल्याणकारी) सुख प्रकट हो।'

भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि । (१ । १२३ । १३)

'हे प्रभो! हमलोगोंमें सुख और मङ्गलमय श्रेष्ठ संकल्प, ज्ञान और सत्कर्मको धारण कराओ।'

बृहद् वदेम विदथे सुवीराः । (२ । ११ । २१)

'हम अच्छे बल-वीर्यवाले हों और श्रेष्ठ पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण हों।'

अस्य प्रियासः सख्ये स्याम । (४ । १७ । ९)

'हम देवताओंसे प्रीतियुक्त मैत्री करें।'

स्वस्ति पन्थामनुचरेम। (५।५१।१५)

'हे प्रभो! हम कल्याण-मार्गके पथिक बनें।'

पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि।
(५।५१।१५)

'हम दानशील पुरुषसे, विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवेक-विचार-ज्ञानवान्से सत्सङ्ग करते रहें।'

यतेमहि स्वराज्ये। (५।६६।६)

'हम स्वराज्यके लिये सर्वदा सर्वथा प्रयत्नशील बने रहें।'

जीवा ज्योतिरशीमहि। (७।३२।२६)

'हम जीवगण प्रभुकी कल्याणमयी ज्योतिको प्रतिदिन प्राप्त करें।'

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
(१०।२५।१)

'हे परमेश्वर! हम सबको कल्याणकारक मन, कल्याणकारक बल और कल्याणकारक कर्म प्रदान करो।'

वयं स्याम पतयो रयीणाम्। (१०।१२१।१०)

'हम विविध प्रकारके ऐश्वर्योंके अधिपति हों।'

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः। (१०।१५१।५)

'हे श्रद्धादेवि! तुम हमें श्रद्धालु बनाओ।'

शुक्लयजुर्वेदकी सूक्तियाँ

अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्याः। (२।१०)

'हमारी कामनाएँ सच्ची—अमोघ हों।'

सं ज्योतिषाभूम। (२।२५)

'हम ब्रह्मज्ञानसे संयुक्त हों।'

अहं मनुष्येषु भूयासम्। (८।३८)

'मैं मनुष्योंमें अत्यन्त कान्तिमान्—तेजस्वी बनूँ।'

अगन्म ज्योतिरमृता अभूम। (८।५२)

'हम तुम्हारी ज्योतिको प्राप्तकर मृत्युके भयसे मुक्त हों।'

वयं राष्ट्रे जागृयाम। (९।२३)

'हम अपने राष्ट्र (राज्य) में सदा जाग्रत् (सावधान) रहें।'

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। (११।५)

'मरणधर्मरहित समस्त देवगण हमारी कीर्तिको सुनें।'

वयं सुमतौ स्याम। (११।२१)

'हमें सद्बुद्धि प्रदान करो।'

सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः। (१२।४४)

'यजमानकी कामनाएँ सफल हों।'

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। (१३।२७)

'हमारे लिये ओषधियाँ (गेहूँ, चावल आदि खाद्य पदार्थ) मधुरतासे परिपूर्ण हों।'

विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्। (१६।४८)

'इस ग्राममें सभी प्राणी रोगरहित और हृष्ट-पुष्ट हों।'

मयि धेहि रुचा रुचम्। (१८।४८)

'हे अग्निदेव! मुझको अपने तेजसे तेजस्वी बनाओ।'

पुनन्तु मा देवजनाः। (१९।३९)

'देवानुगामी मानव मुझे पवित्र करें।'

वयं स्याम पतयो रयीणाम्। (१९।४४)

'हम धनादि ऐश्वर्योंके अधिपति हों।'

मित्रं मे सहः। (२०।६)

'मेरे मित्र शत्रुओंके नाश करनेवाले हों।'

मे कामान् समर्धयन्तु। (२०।१२)

'देवगण मेरी कामनाओंको समृद्ध (पूर्ण) करें।'

वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। (२०।२३)

'मैं परमात्माकी महिमामयी ज्योतिको प्राप्त करूँ।'

विभून् कामान् व्यश्नवै। (२०।२३)

'मैं अनेक विशिष्ट कामनाओंको प्राप्त करूँ।'

सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः। (२०।५१)

'सर्वज्ञ प्रभु हमारे लिये सुखकारी हों।'

सुवीर्यस्य पतयः स्याम। (२०।५१)

'हम श्रेष्ठ धनके मालिक बनें।'

प्र ण आयूँषि तारिषत्। (२३।३२)

'देवगण हमें दीर्घायु प्रदान करें।'

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। (२५।२१)

'हे देवताओ! हम कानोंसे कल्याणकारी वचनोंको सुनें।'

व्यशेमहि देवहितं यदायुः। (२५।२१)

'हम परमेश्वरकी उपासनार्थ आयु व्यतीत करें।'

मे कामः समृध्यताम्। (२६।२)

'मेरी अभिलाषा समृद्धिको प्राप्त करे (पूर्ण हो)।'

उत्तिष्ठ महते सौभगाय। (२७।२)

'हम महान् ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हों।'

नरः स्वपत्यानि चक्रुः। (२७। २३)

'मनुष्य श्रेष्ठ (सुयोग्य) पुत्रोंकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंको करे।'

सर्वाः प्रदिशो जयेम। (२९। ३९)

'हम सब दिशाओंको जीत लें।'

मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमाम्। (३२। १६)

'मुझमें देवगण उत्तम लक्ष्मीकी स्थापना करें।'

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (३४। १)

'मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो।'

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (३४। ७)

'हम देवताओंकी कल्याणकारिणी बुद्धिको प्राप्त करें।'

वयं भगवन्तः स्याम। (३४। ३८)

'हम धनवान् बनें।'

अप नः शोशुचदघम्। (३५। ६)

'देवगण हमारे पापोंको भलीभाँति नष्ट कर दें।'

सत्या एषामाशिषः संनमन्ताम्। (३५। २०)

'इन दान-दाताओंके मनोरथ सत्य हों।'

स्योना पृथिवि नः। (३५। २१)

'हे पृथिवी! तुम हमारे लिये सुख देनेवाली हो।'

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (३६। १८)

'हम सबको मित्रताकी दृष्टिसे देखें।'

पश्येम शरदः शतम्। (३६। २४)

'हम सौ वर्ष पर्यन्त देखें।'

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। (३६। २४)

'हम सौ वर्षतक दीनतारहित होकर रहें।'

पुत्रान् पशून् मयि धेहि। (३७। २०)

'मेरे लिये पुत्रों और पशुओंको स्थापित करो।'

इहैव रातयः सन्तु। (३८। १३)

'हमें अपने ही स्थानमें सब प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त हों।'

ब्रह्मणस्तन्वं पाहि। (३८। १९)

'हे भगवन्! तुम ब्राह्मणके शरीरका पालन (रक्षण) करो।'

यशः श्रीः श्रयतां मयि। (३९। ४)

'मुझमें यश और लक्ष्मीका निवास हो।'

सामवेदकी सूक्तियाँ

भद्रा उत प्रशस्तयः। (पू० १। १२। ५)

'हमें कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हों।'

स वृषा वृषभो भुवत्। (पू० २। १। ५)

'धन देनेवाला इन्द्र हमें धन देनेवाला हो।'

प्र ण आयूंषि तारिषत्। (पू० २। ७। १०)

'प्रभो! हमारी आयुको बढ़ाओ अर्थात् हमें दीर्घायु प्रदान करो।'

अव ब्रह्मद्विषो जहि। (पू० २। ९। १)

'हे भगवन्! आप ब्राह्मणोंके शत्रुओंका नाश करें।'

वसु स्पार्हं तदा भर। (पू० २। १०। १)

'हमें अभिलषित धन दो।'

नृम्णं तनूषु धेहि नः। (पू० २। १२। ९)

'हमारे अङ्गोंमें बल प्रदान करो।'

वि द्विषो वि मृधो जहि। (पू० ३। ५। २)

'हमारे शत्रुओंका और हमारे हिंसकोंका नाश करो।'

जीवा ज्योतिरशीमहि। (पू० ३। ३। ७)

'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें।'

असमं चित्रं वृषणं रयिं दाः। (पू० ३। ९। ५)

'हमें अनेक प्रकारके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला धन दो।'

मदेम शतहिमाः सुवीराः। (पू० ४। ११। ८)

'हम सुन्दर पुत्रोंके सहित सैकड़ों हेमन्त-ऋतुपर्यन्त प्रसन्न रहें।'

कृधी नो यशसो जने। (पू० ५। २। ३)

'हमें अपने देशमें यशस्वी बनाओ।'

तुदस्वादेवयुं जनम्। (पू० ५। ३। ६)

'हे देव! तुम देवताओंको न चाहनेवाले लोगोंको नष्ट कर दो।'

अस्मे श्रवांसि धारय। (पू० ५। ४। ५)

'हमारे लिये अन्नोंको प्रदान करो।'

नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः।
(पू० ५। ९। २)

'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताओंको प्राप्त हों।'

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्। (पू० ६। ६। ९)

'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करने योग्य पूजनको स्वीकार करें।'

अहं प्रवदिता स्याम्। (पू० ६। ३। १०)

'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः। (उत्त० २। २। २)

'ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवालेसे दूर रहो।'

विश्वा अप द्विषो जहि। (उत्त० ३। १। १)

'हमारे समस्त शत्रुओंका नाश करो।'

रक्षा समस्य नो निदः। (उत्त० ३। २। ३)

'हमारे समस्त निन्दक शत्रुओंसे हमारी रक्षा करो।'

विश्वा वसून्या विश। (उत्त० ५।२।२)

'हमें बहुत प्रकारके धनोंको दो।'

भक्षीमहि प्रजा मिषम्। (उत्त० ९।१।८)

'हम पुत्रादि संतति-सुख और अन्न-सुखका भोग प्राप्त करें।'

अथर्ववेदकी सूक्तियाँ

सं श्रुतेन गमेमहि। (१।१।४)

'हम वेदादि शास्त्रोंसे सदा सम्पन्न रहें।'

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः। (१।१।६)

'हमें वर्षाद्वारा प्राप्त जल सुख दे।'

ज्योगेव दृशेम सूर्यम्। (१।३१।४)

'हम सूर्य भगवान्‌को बहुत दिनोंतक देखते रहें।'

प्र ण आयूंषि तारिषत्। (२।१।४)

'हे देव! तुम हमारी आयुको बढ़ाओ।'

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः। (२।२।६)

'हमें पुत्र-पौत्रादिके सहित धन प्रदान करो।'

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्। (२।३।१३)

'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रकी रक्षा रता है, उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालककी ्षा करें।'

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्।
(२।३।१३)

'विश्वेदेव तुम्हारी सौ वर्षकी आयु करें।'

रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्। (२।६।३४)

'यजमानको धन-धान्य, पशु आदिकी प्राप्ति हो।'

विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्। (२।६।३५)

'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है, तुम हमारी रक्षा करो।'

वयं स्याम पतयो रयीणाम्। (३।२।१०)

'हम (तुम्हारी कृपासे पुत्र-पौत्रादिसे युक्त होकर) धनके ालिक बनें।'

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः।
(३।१।५)

'मैं अपने पुरुषार्थसे सम्पूर्ण राष्ट्रको अपने वशमें करके र्वश्रेष्ठ बनूँ।'

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः। (५।३।५)

'हम शरीरसे नीरोग रहते हुए उत्तम वीर बनें।'

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (६।४७।२)

'हम विद्वानोंकी शुभ बुद्धिमें सदा स्थित रहें।'

वयं सर्वेषु यशसः स्याम। (६।५८।२)

'हमें समस्त जीवों (मनुष्यों) में यशस्वी बनें।'

तस्य ते भक्तिवांसः स्याम। (६।७९।३)

'हे प्रभो! हम तुम्हारे भक्त बनें।'

कामानस्मान् पूरय। (३।२।११)

'हे देवगण! तुम अभिलषित वस्तुओंसे हमें परिपूर्ण करो।'

शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः। (३।३।१२)

'हम स्वभिलषित पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जीवित रहें।'

धनदा अस्तु मह्यम्। (३।१५।१)

'हे इन्द्र! तुम हमारे लिये धनको देनेवाले हो।'

मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम। (३।१५।८)

'हे अग्ने! हम कभी भी हानिका अनुभव न करें।'

शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्। (६।७१।३)

'मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हों।'

मा नो द्विक्षत कश्चन। (१२।१।२४)

'हमसे कोई भी कभी शत्रुता करनेवाला न हो।'

मधुमतीं वाचमुदेयम्। (१६।२।२)

'मैं मधुर वाणी बोलूँ।'

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्। (१६।२।१)

'हमारी शक्तिशालिनी मीठी वाणी कभी भी दुष्ट स्वभाववाली न हो।'

मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युः। (१७।१।२९)

'मुझको पाप और मृत्यु कभी न व्यापे अर्थात् मुझपर पाप और मृत्युका कभी असर न हो।'

परैतु मृत्युरमृतं न एतु। (१८।३।६२)

'हमसे मृत्यु दूर रहे और हमें अमृत-पद प्राप्त हो।'

सर्वमेव शमस्तु नः। (१९।९।१४)

'हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो।'

शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु। (१९।९।१३)

'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और कभी किसी प्रकारका भय मुझे न हो।'

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (१९।१५।६)

'हमारे लिये सभी दिशाएँ कल्याणकारिणी हों।'

प्रियं मा कृणु देवेषु। (१९।६२।१)

'हे प्रभो! मुझे ब्रह्मज्ञानी देवसदृश विद्वानोंमें प्रिय बनाओ।'

मानवताका विकास और वेद

(लेखक—डा० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्०ए०, डी०लिट्०)

वेदत्रयी ज्ञान, कर्म और उपासना—तीन काण्डोंका मानव-जीवनके विकासके लिये निर्देश करती है। मन और बुद्धिके सहित ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानार्जनका साधन हैं, मन और बुद्धिके साथ कर्मेन्द्रियाँ कर्मका साधन हैं और इस संघातको लिये हुए आत्मा उपासनामें निरत होता है। उपासनाका अर्थ है आत्माका अपनी समस्त शक्तिको प्रभुके आगे समर्पित कर देना और उसके समीप बैठ जाना। यह समीपता भी सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्य चार प्रकारकी है।

ज्ञानके क्षेत्रमें वाणीकी प्रमुखता है। दूसरोंके मुखसे सुनकर हमें अनेक बातोंका ज्ञान होता है। वाणीका बना हुआ वाङ्मय ज्ञानार्जनका हेतु है, इसे सभी स्वाध्याय-प्रेमी समझते हैं। विद्यालयमें विद्यार्थियोंके सामने भाषण देनेवाला लेक्चरर या प्रोफेसर अपने वाणी-प्रयोगद्वारा ही ज्ञान-दान देनेमें समर्थ होता है। प्रसिद्ध वाग्मी अपने वाक्पाटवद्वारा श्रोताओंको मन्त्र-मुग्ध कर लेता है तथा जितनी देर श्रोता उसके वचनोंका श्रवण करते हैं, इतनी देरतक उनका मानसिक जगत् वाग्मीके मानसिक जगत्के साथ एक हो जाता है। वह जैसा चाहे उनके मनोंको मोड़ देता रहता है—क्षणभरमें हँसा दे, क्षणभरमें रुला दे, क्षणभरमें वीरत्वकी भावना भर दे और यदि चाहे तो क्षणभरमें भयभीत कर दे। यह क्रिया प्रभविष्णु मनकी क्रिया है और ज्ञानके क्षेत्रमें बहुमूल्य स्थान रखती है। इसीका समुचित विकसित रूप विचार-प्रेषणीयता अथवा मनःसंज्ञान(Clairvoyance) है और इसके भी ऊपर निखिल मानसोंकी ज्ञान-एकता है। फ्रांसके प्रसिद्ध दार्शनिक एस्पीनस (Espinus) ने इसे Sum-total of all minds अथवा universal mind कहा है।

कर्मका सीधा सम्बन्ध कर्मेन्द्रियोंके साथ है, परंतु मन उनका संचालक है। मन यदि कर्मेन्द्रियोंके साथ है, तब तो कार्यकी सिद्धि सम्भव है, अन्यथा नहीं। प्राण-शक्तिसे समवेत अनेक बलवान् पुरुष मनके साहसके साथ अपूर्व पौरुषके कार्य कर जाते हैं, परंतु मनके निर्बल और निरुत्साहित हो जानेपर बड़े-से-बड़े बलवान् व्यक्ति भी किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रह जाते हैं। कर्तृत्व-शक्ति वस्तुतः मनके ही अंदर है। कर्मकाण्डका सीधा सम्बन्ध इसीलिये मनके साथ है।

प्राणवत्ता उपासनाके समय पुलकित हो उठती है, रोम-रोम नाचने लगता है, अङ्ग-अङ्ग फड़कने लगता है और अंदर चित्त द्रवित हो जाता है। प्राण शरीरका राजा है। वह खिल उठा तो अन्तः-बाह्य—सब प्रसादसम्पन्न बन गया। उपासनाका सम्बन्ध इसीलिये प्राणके साथ है। हमारा दर्शन और श्रवण इसीसे निर्मल और शक्तिशाली बनता है। इसीसे वाणीको बल मिलता है और ज्ञान-धारा ऊर्जस्विनी होती है। अंदरकी समवेत ओज-शक्ति इसीके द्वारा शुद्ध होकर अपने रूपमें प्रतिष्ठित होती है। श्वास और प्रश्वास, ग्रहण और त्याग, आदान और प्रदान, जिन्हें जीवन-संरक्षणकी द्विविध साधक क्रियाएँ माना जाता है, इसी अवस्थामें अपना कार्य समुचित रूपसे करती हैं। मानवताका विकास इन्हीं तीनों काण्डोंका विकास है। यजुर्वेदके ३६ वें अध्यायके प्रथम मन्त्रमें ऋचाओंका सम्बन्ध वाणीसे, यजुःका सम्बन्ध मनसे और सामका सम्बन्ध प्राणसे स्थापित किया गया है और शरीरकी अन्तः-बाह्य—सभी शक्तियाँ इन्हीं तीनोंसे विकसित होती मानी गयी हैं—

ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये। चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो, मयि प्राणापानौ॥

विकासकी क्रियामें दोषोंका दूरीकरण भी अनिवार्य है। मानव चाहे जितनी सावधानी रखे, बाहर फैला हुआ प्रपञ्च और चतुर्दिक् व्याप्त वातावरण बराबर उसके ऊपर अपना आघात किया करते हैं। यह आघात उसके वशके बाहर है। सूर्यकी ऊष्मा, चन्द्रका शैत्य, अग्निकी दाहकता, वायुका मन्द अथवा तीव्र समीरण हमारे चाहने और न चाहनेकी चिन्ता नहीं करते। किसी अदृष्ट शक्तिके हाथमें बँधे हुए वे अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं। इन सबका प्रभाव मानवके ऊपर पड़ता है। चेतन-जगत्में मानव स्वयं अपनी क्रियाओंद्वारा दूसरोंको प्रभावित करता है। इस क्रिया और प्रतिक्रियामें मानव अपना सहज रूप खो बैठता है। जहाँ वह दूसरोंको घायल करता है, वहाँ स्वयं भी घायल होता है।

इन घावोंको भरना, न्यूनताओंकी पूर्ति करना मानवके लिये आवश्यक हो जाता है। ऊपर जिन तीन काण्डोंका वर्णन किया गया है, वे विकासके साथ घावोंके भरनेमें भी अनुपम सहायता देते हैं। परंतु सबसे बड़ा साहाय्य हमें परम पिता परमात्मासे मिलता है—जो न केवल हमारा, प्रत्युत समग्र जगत्का रक्षक है। उस परम स्वस्थ, परम स्वस्तिमय, परम शान्त, परिपूर्ण प्रभुके चरणोंमें जब हम सच्चे हृदयसे प्रार्थना करते हैं, तब अन्तस्तलके निगूढ़ प्रदेशसे, हृदयके अन्तरतम कोनेसे, आत्माकी गभीर गुहासे निकली हुई हमारी वह मर्मभरी, हृदयस्पर्शिनी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रभु भुवनपति होनेके साथ बृहस्पति भी हैं। यजुर्वेदके ३६ वें अध्यायके दूसरे मन्त्रमें ऐसी ही प्रार्थना आती है—भुवनपति भुवनोंका रक्षक है, तो बृहस्पति भुवनों एवं धामों—सभीका रक्षक है। वह सबसे बड़ा पालक है। उससे बढ़कर अन्य कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है। उसकी कृपा-दृष्टिके लवलेश मात्रसे मानवकी निखिल न्यूनता, अखिल अपूर्णता, भारी-से-भारी छिद्र और घाव पूर्ण हो जाते हैं—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णम्, बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।

दोषोंका दमन और सत्का संचार मानवको विकासकी ऊर्ध्व स्थितिपर आसीन कर देते हैं। इस स्थितिमें उसके हाथोंमें ऐश्वर्य और अन्तस्तलमें दैवीभाव विराजमान हो जाते हैं। उसका ज्ञान और कर्म एक दूसरेके प्रति अनुकूलता धारण कर लेते हैं। उसका हृदय स्फटिकके समान स्वच्छ, बुद्धि हीरक-ज्योतिके समान जगमगाती हुई और आनन्दमय कोषसे भरपूर हो जाती है। विकासकी यह स्थिति किसके लिये स्पृहणीय नहीं है?

वेदोंमें मानवोद्धारके उच्च आदेश

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी उपाध्याय शास्त्री, साहित्यरत्न)

वेद आर्य (हिंदु) जातिके प्राण हैं। वैदिक सभ्यताका प्रादुर्भाव आदिसृष्टिमें परमेश्वरने अपने अमृत-पुत्रोंके हृदयमें किया। जबतक संसारमें वेदका पठन-पाठन चलता रहा और सर्वसाधारण व्यक्ति वेदके आदेशोंका पालन करते रहे, यह देश देवताओंकी भूमि कहा जाता रहा है। संसारके लोग इसे 'स्वर्ग' कहते रहे हैं और यहाँके निवासी स्त्री-पुरुष देवी और देवताओंकी संज्ञासे उद्घोषित होते रहे हैं। आज संसारमें जब कि युद्धकी ज्वालाएँ भड़कनेको हैं, विश्व-मानव अशान्तिके कगारपर खड़ा है—ऐसे समयमें वेदके आदेशोंकी कितनी आवश्यकता है, इसे प्रत्येक वेदसे परिचित पुरुष अच्छी प्रकार समझ सकता है। अतएव वेदोंमें इस सम्बन्धमें जैसी ऊँची भावनाएँ तथा जो उत्तम आदेश है, उनमेंसे कुछ मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ।

ॐ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥
(अथर्व० ३।३०)

शब्दार्थ—सहृदयसम्—हृदयता, सहानुभूति। सांमनस्यम्—मनका उत्तमभाव। अविद्वेषम्—निर्वैरता। वः—तुम्हारे (मनुष्योंके) लिये। कृणोमि—करता हूँ। अन्यः अन्यम्—एक दूसरेके ऊपर ऐसी। अभिहर्यत—प्रीति करो। इव—जैसी। जातम् वत्सम्—तत्काल उत्पन्न बछड़ेके ऊपर। अघ्न्या—गौ करती है।

भावार्थ—परमपिता परमात्माने अपने पुत्र मनुष्यको आदेश दिया है कि वह परस्पर सहानुभूति, उदारता और निर्वैरता धारण करके जिस प्रकार गौ अपने तत्कालके उत्पन्न बछड़ेकी गर्भस्थ मलिनताको अपने मुखसे चाटकर उसे स्वस्थ और स्वच्छ बना देती है, उसी प्रकार मनुष्य भी एक दूसरेके कल्याण-साधनमें रत रहें।

मनुष्य परस्पर कैसे रहें?

ॐ ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः सम्मनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥
(अथर्व० ३।३०)

शब्दार्थ—ज्यायस्वन्तः—बड़ोंका सम्मान करनेवाले। चित्तिनः—विचारशील। संराधयन्तः—कार्य सिद्ध करनेवाले। सधुराः चरन्तः—एक धुरेके नीचे होकर चलनेवाले तुमलोग। मा वि यौष्ट—अलग मत होओ (आपसमें विरोध मत करो)। अन्यः अन्यस्मै—एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ।

वल्गु वदन्तः—मधुर भाषण करते हुए। एत—आगे बढ़ो (उन्नति करो)। वः—तुमको। सध्रीचीनान्—एक मार्गसे जानेवाले तथा। सम्मनसः—उदार मनवाले। कृणोमि—बनाता हूँ।

भावार्थ—उच्चशिखरारूढ़ राष्ट्रों एवं जातियोंके मानवोंको उचित है कि वे बड़ोंका सम्मान करें, सोच-विचारकर कार्य करें, कार्य-सिद्धिपर्यन्त अथक परिश्रम करनेवाले हों, अपने लक्ष्यके प्रति दत्तचित्त हों, परस्पर वैर-विरोधका भाव न रखें, प्रेमपूर्वक भाषण करें। सभी मानवोंको ऐसा ज्ञान दें कि जिससे सबके मन शुद्ध हों।

सब मानव बराबर हैं और भाई-भाई हैं

ॐ अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा
पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ३॥
(ऋग्० ५। ६०। ५)

शब्दार्थ—अज्येष्ठासः—जिनमें कोई बड़ा नहीं है और। अकनिष्ठासः—जिनमें कोई छोटा नहीं है, ऐसे। एते—ये सब। भ्रातरः—भाई-एक-जैसे हैं। ये सब सौभगाय—उत्तम ऐश्वर्यके लिये। सं वावृधुः—मिलकर उन्नतिका प्रयत्न करते हैं। इन सबका युवा पिता—तरुण पिता। स्वपा रुद्रः—उत्तम कर्म करनेवाला ईश्वर है। एषां—इनके लिये। सुदुघा—उत्तम प्रकारका दूध देनेवाली माता। पृश्निः—प्रकृति है। यह प्रकृति माता मरुद्भ्यः—न रोनेवाले जीवोंके लिये। सुदिना—उत्तम दिन प्रदान करती है।

भावार्थ—इस मन्त्रमें प्रभु परमेश्वर सब जीवोंकी समानता बताते हुए परस्पर मिलकर ही उन्नत होनेका आदर्श उपस्थित करते हैं; साथ ही यह भी कहते हैं कि जो अपनेको हीन मानकर दिन-रात रोनेमें ही समय व्यतीत नहीं करते, वे ही सुदिन देखते हैं।

दिव्य मनुष्य इस संसारमें कौन हैं? वे, जो सबमें समानता रखते हैं—

ॐ ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदो-
ऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो
मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ४॥
(ऋग्० ५। ५९। ६)

शब्दार्थ—ते—वे सब। अज्येष्ठाः—बड़े नहीं हैं। अकनिष्ठासः—छोटे भी नहीं हैं और अमध्यमासः—मध्यमें भी नहीं हैं; परंतु वे सब-के-सब उद्भिदः—उदयको प्राप्त करनेवाले हैं। इसलिये महसा—उत्साहके साथ। वि—विशेषरीतिसे। वावृधुः—बढ़नेका प्रयत्न करते हैं। जनुषा—जन्मसे। वे सुजातासः—उत्तम कुलके—कुलीन हैं और पृश्निमातरः—भूमिको माता माननेवाले अर्थात् जन्मभूमिके उपासक हैं। इसलिये ये दिवः मर्याः—दिव्य मनुष्य। नः अच्छा—हमारे पास भली प्रकार। आजिगातन—आयें।

भावार्थ—प्रभु परमेश्वरके अमृत-पुत्रोंमें न कोई बड़ा है, न छोटा और न मध्यम। इस प्रकारकी भावना रखनेवाले मनुष्य ही उत्तम और कुलीन कहे जा सकते हैं। जो मातृभूमिके सच्चे अर्थोंमें पुजारी हैं, वे ही दिव्य मनुष्य हैं। उनका स्वागत है।

प्रशंसित जीवन कौन-सा है?

ॐ उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥ ५॥
(ऋग्वेद १। ४। ६)

शब्दार्थ—दस्म—दुर्गुणों और पापोंको क्षीण करनेवाले पिता प्रभो! अरिः—हमारे शत्रु। कृष्टयः—मनुष्य। उत—भी। नः—हमें। सुभगान्—श्रेष्ठ और सौभाग्यशाली। वोचेयुः—कहें। इन्द्रस्य—तुझ परमैश्वर्यशाली भगवान्के। शर्मणि—कल्याणमें। इत्—ही। स्याम—हम रहें।

भावार्थ—वह मनुष्य धन्य है, जिसके चरित्रकी प्रशंसा उसके शत्रु भी करते हैं।

आदर्श मानव कैसे हो सकता है?

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ ६॥
(यजुर्वेद० २५। २१)

दिव्य गुणोंवाले—देव-पुरुष बननेकी इच्छावाले हम अपने कानोंसे भली बातें ही सुनें। पवित्र यज्ञिय जीवन बितानेकी इच्छावाले हम अपनी आँखोंसे भली वस्तुएँ ही देखें। परमात्माकी स्तुति-उपासना करनेवाले हम स्थिर अर्थात् दृढ़ और बलवान् अङ्गों और शरीरोंसे युक्त होकर जो देव-पुरुषों और दिव्यगुणोंके लिये हितकारिणी हो, ऐसी आयु प्राप्त करें।

निम्न षड्वृत्तियोंके नाशसे मनुष्य महामानव होता है

ॐ उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ ७ ॥
(ऋग्० ७ । १०४ । २२)

शब्दार्थ–सुपर्णयातुम्–गरुड़के समान चालचलन अर्थात् घमंड, गर्व, अहंकार । गृध्रयातुम्–गीधके समान व्यवहार अर्थात् लोभ—दूसरेके मांसपर (सम्पत्तिपर) स्वयं पुष्ट होनेकी इच्छा । कोकयातुम्–चकवेके समान अतिरिक्त काम-विकारवाला होना । श्वयातुं–कुत्तेके समान जीवन-यापन—(सर्वदा) आपसमें लड़ते रहना, दूसरोंके सामने दुम हिलाना । उलूकयातुम्–उल्लूके समान आचार, सर्वदा अन्धकारप्रिय होना, ज्ञानसे भागना । शुशुलूकयातुम्–भेड़ियेके समान क्रूरता करनेवाले यक्ष-राक्षस महामानवकी रचनामें बाधक हैं, इन्हें दृषदा इव–जैसे पत्थरसे दुष्ट पक्षियोंको मारते हैं, उसी प्रकार दृढ़ हृदय करके अर्थात् पाषाणवत् होकर । हे इन्द्र !-पुरुषार्थी जीव ! रक्षः प्रमृण–राक्षसोंको दूर भगा दो ।

भावार्थ–आदर्श मानव बननेकी इच्छावाले मनुष्यको काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर—इन छः मनोविकारोंपर सर्वदा विजय पाना चाहिये ।

मानवताका उच्चादर्श एकता है

ॐ सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥ ८ ॥
(अथर्व० ६ । ६४ । १)

शब्दार्थ–सं जानीध्वम्–उत्तम ज्ञानसे युक्त हो । सं पृच्यध्वम्–आपसमें मिलकर रहो । वः मनांसि–आपके मन । सं जानताम्–उत्तम संस्कारयुक्त हों । यथा–जिस प्रकार । पूर्वे सं जानानाः देवाः–पूर्व कालके ज्ञानी विद्वान् लोग । भागं उपासते-अपने-अपने कर्तव्य भागका पालन करते थे, उसी प्रकार तुम भी करो ।

भावार्थ–समस्त ज्ञानीजन मिल-जुलकर एकताके साथ रहें, तभी सब प्रकारकी उन्नति सम्भव है ।

ॐ सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रताः ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ ९ ॥
(अथर्व० ६ । ७४ । १)

शब्दार्थ–वः तन्वः–आपके शरीर । सं पृच्यन्ताम्–मिलकर रहें । मनांसि सं–मन मिलकर रहें । व्रताः–कर्म मिलकर होते रहें । अयम्–यह । ब्रह्मणः पतिः भगः–ज्ञानपालक ऐश्वर्ययुक्त प्रभु । वः सं सं अजीगमत्–आप सबको मिलाकर रखें ।

भावार्थ–राष्ट्र, समाजके निर्माण करनेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीर, मन और कर्मसे समाज और राष्ट्रमें समता—एकता स्थापित करें । किसी प्रकार भी परस्पर विरोध खड़ा न करें ।

ज्ञानी और शूर पुरुषोंकी एकतासे ही राष्ट्र और समाज उन्नति करते हैं

ॐ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥१०॥
(यजुर्वेद २० । २५)

शब्दार्थ–यत्र–जहाँ (जिस राष्ट्रमें) । ब्रह्म च–ज्ञानीलोग (और) क्षत्रं च–शूरवीर लोग । सम्यञ्चौ–मिल-जुलकर । सह–साथ-साथ । चरतः–परस्पर व्यवहार करते हैं । और यत्र–जहाँ । देवाः–व्यवहारकुशल ज्ञानीलोग । अग्निना–तेजके । सह–साथ रहते हैं या अग्रणी नेता बनकर रहते हैं । तम्–उस । लोकम्–देशको ही । पुण्यम्–पुण्यकारक और प्रज्ञेषम्–बुद्धिसे प्राप्तव्य समझा जाता है ।

भावार्थ–जिस राष्ट्रमें या समाजमें ज्ञानी और शूरवीर परस्पर मिलकर रहते हैं, वह राष्ट्र और वह समाज निश्चय ही पुण्यलोक अर्थात् स्वर्ग हो जाता है, जहाँ सब प्रकारका सुख-ऐश्वर्य विराजता है ।

हरिसे सच्चा स्नेह करो

करि हरि सौं सनेह मन साँचौ ।
निपट कपट कौ छाँडि, अटपटी इंद्रिय बस राखहि किन पाँचौ ?
सुमिरन कथा सदा सुखदायक, विषधर विषय विषम विष बाँचौ ।
सूरदास प्रभु हित कै सुमिरौ (जौ, तौ) आनँद करिकै नाँचौ ॥

—सूरदासजी

उपनिषद्में मानवता

(लेखक—श्रीरघुनाथजी काव्य-व्याकरणतीर्थ)

वर्तमान युगको बहुत-से लोग 'मानवताका युग' कहते हैं। पाश्चात्य मतका अनुसरण करनेवाले स्वाधीनता, विश्व-भ्रातृत्वकी स्थापना आदिके द्वारा मानवताको प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। वे मानवताको विचार-बुद्धि (Rationality)के द्वारा संस्थापित करना चाहते हैं। इसीके द्वारा सविचारवाद (Rationalism) का जन्म हुआ है। इस मतके साथ उपनिषदोंका मौलिक भेद है। ये बहिर्मुखी हैं और उपनिषद् अन्तर्मुखी हैं।

'उपनिषद्' शब्दके द्वारा ही इसकी उपयोगिता समझमें आ जाती है। निकटस्थ होना ही उपनिषद् है। तब प्रश्न होता है कि किसके निकटस्थ होना?—ब्रह्मके। उपनिषद् विचारप्रधान और ब्रह्मविद्याके परिपोषक हैं। इस मतसे त्रिगुणातीत पूर्णब्रह्ममें प्रतिष्ठित हुए बिना पूर्ण मानवत्व या मानवता नहीं प्राप्त हो सकती। इस लक्ष्यकी ओर जानेका प्रशस्त राजमार्ग है—शास्त्र-विधि। ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। आत्मशुद्धिके लिये पहले सगुण ब्रह्मकी उपासना प्रशस्त है। उपासनाका मूल उद्देश्य है देहात्मबोधको विलुप्त करना। इस विलुप्तिकी साधनाके लिये कतिपय विशेष गुणोंकी चर्चा या वृद्धि करना आवश्यक है। उनमें पहले ही दृष्टिको आकर्षित करती है—'अगृध्नता' (अलोलुपता)।

> ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
> (ईशोपनिषद् १)

जगत्के सब पदार्थोंमें ईश्वर परिव्याप्त है, अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। इसको जानकर, इसी कारण त्यागके द्वारा भोग करे। किसीके भी धनकी आकाङ्क्षा न करे। इसके लिये निर्लोभ होना पड़ेगा—दूसरेका अर्थ देखकर लोभ होता है। लोभके कारण उसकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारके असद् उपायोंका अवलम्बन किया जाता है या ईर्ष्यादि मानसिक विकारोंके द्वारा श्रेयपथसे च्युत होना पड़ता है। लोभसे पाप और पापसे नाश होता है। अतएव पहले निर्लोभी होना पड़ेगा। अब प्रश्न हो सकता है कि इसके लिये क्या करना चाहिये—कैसे चलना चाहिये?—त्यागके द्वारा भोग करना चाहिये। एकमात्र ब्रह्म सत्य है, और कुछ सत्य नहीं, अतएव काम्य भी नहीं है। परंतु देहधारणके लिये यदृच्छा-लाभमें संतुष्ट रहकर जीवन-यापन करना होगा। इस प्रकारकी जीवन-यात्राकी प्रणाली बनानी पड़ेगी, जिससे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो। सत्त्वगुणसे गुणातीत हुआ जा सकेगा। इसके लिये आवश्यकता है—

> अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
> अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं संतोष आर्जवम्॥
> (शारीरकोपनिषद् ४)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, संतोष और सरलता—इन गुणोंकी वृद्धि करनी होगी। इन गुणोंकी वृद्धि करनेके लिये आत्मबल चाहिये। यह बलवान्के लिये ही सम्भव है। दुर्बल व्यक्तिमें दृढ़ताके अभावके कारण मतकी या आचरणकी स्थिरता नहीं होती। इसी कारण उपनिषद् कहते हैं—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' सारे गुण एकबारगी दिखलायी नहीं देते। परंतु जिस किसी गुणका आश्रय लेकर मानवताकी प्राप्ति की जा सकती है, उसका यथेष्ट निदर्शन देखनेमें आता है। इस प्रसङ्गमें जबाला-सत्यकाम और गौतमके उपाख्यानकी बात ध्यानमें आती है।

सत्यकामने माता जबालासे पूछा—'मेरा गोत्र क्या है?' उत्तरमें माताने बतलाया कि 'अतिथियोंकी सेवा और लज्जाके कारण सत्यकामके पितासे गोत्र जाननेका अवसर न मिला। यौवनमें तुमको जब प्राप्त किया, उस समय तुम्हारे पिताका देहावसान हो जानेके कारण दुःखकी पीड़ासे गोत्र जानना सम्भव न हो सका। जब समय हुआ, तब बूढ़े लोग भी गत हो गये थे। इसलिये गोत्र न जान सकी। मैं जबाला हूँ और तुम सत्यकाम हो। अतएव अपना परिचय तुम जाबाल सत्यकाम देना।'

> सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति।
> (छान्दोग्य० ४।४।२)

सत्यकाम गौतमके पास जाकर सरल भावसे सत्य-सत्य बोल गया। गौतमने कहा, 'तुम ब्राह्मण अर्थात् पूर्ण

मानवताकी प्राप्तिके अधिकारी हो ।' सत्यकामका उपनयन किया गया । गायकी सेवामें नियुक्त करके गुरुने उससे कहा—जब गायें एक सहस्र हो जायँ, तब आना ।

तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति ।
(छान्दो० ४ । ४ । ५)

वह गुरुके आदेशको शिरोधार्य करके वन-वन गायें चराने लगा और समयानुसार संध्योपासन आदि करता रहा । ब्रह्मने अपने स्वरूपका वृषादिके द्वारा उपदेश किया, पर सत्यकाम इसमें दृढ़प्रतिज्ञ रहा कि 'यदि गुरुदेव ब्रह्मका उपदेश करेंगे तभी वह ग्राह्य होगा, अन्यथा ग्रहण करने योग्य नहीं ।'

शिष्य एक सहस्र गायें लेकर गुरुके आश्रममें लौटा । शिष्यको देखते ही वे समझ गये कि 'इसको परमकाम्य ब्रह्म-विद्या प्राप्त हो गयी है । इसका मानव-जन्म सार्थक हो गया है । इसे यथार्थ मानवता प्राप्त हो गयी है ।'

उपनिषद्में मानवताके अर्थमें ब्रह्मज्ञान ही लिया गया है । ब्रह्मज्ञान ही मानवता है । बहुतेरे यह सोचते हैं कि मानवताका विनाश नहीं होता । यहाँ हम यह कह सकते हैं कि वे ब्रह्मज्ञानका ही समर्थन करते हैं; क्योंकि ब्रह्म ही अविनाशी और अप्रतिहत है । मनुष्य-जीवनका उद्देश्य ही है मानवता अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति ! अन्यथा मानवता-विहीन मानव 'मानव'-पद-वाच्य ही नहीं है ।

स्व० कार्तिकचन्द्र रायकी स्वामिभक्ति

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी ब्रजेश, हिंदी-साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

प्रसिद्ध बंगाली कवि श्रीद्विजेन्द्रलाल रायके पिता श्रीकार्तिक-चन्द्र राय कृष्णनगरके महाराजाके दीवान थे । राज्यका सारा प्रबन्ध उन्हींके हाथोंमें था । राज्यकी अवस्था उस समय अच्छी नहीं थी, इसलिये महाराजासे उन्हें केवल सौ रुपया मासिक वेतन मिलता था, पर श्रीकार्तिकचन्द्र अपने कर्तव्यपालनमें इतने दृढ़ थे कि उनके सुप्रबन्धकी चर्चा नदियाके मजिस्ट्रेटों और प्रेसीडेंसी कमिश्नरके द्वारा ऊँचे हल्कोंमें पहुँची । बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियोंके प्रस्ताव उनके पास आने लगे । उनमें एक जगह तीन सौ रुपये मासिक तककी थी, परंतु कार्तिकचन्द्रजीने सधन्यवाद अस्वीकार कर दिया ।

इसके बाद एक जगहका प्रस्ताव उनके पास और भी आया, जिसके द्वारा उन्हें पाँच सौ रुपये मासिक वेतन मिल सकता था । लोगोंको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस जगहके लिये भी कार्तिकचन्द्रने यह कहकर अस्वीकृति भेज दी कि महाराजको उनकी सेवाओंकी बड़ी आवश्यकता है—चाहे वे उन्हें अधिक वेतन न दे सकें, किंतु उनपर वे बहुत मेहरबान हैं और बहुत भरोसा रखते हैं । उन्होंने यह भी लिखा कि महाराजकी सेवामें रहते हुए उन्हें एक जमाना गुजर गया है और अब इस छोटे-से वेतनमें निर्वाह करनेकी आदत उन्हें पड़ गयी है—यहाँतक कि जबतक सरकारी प्रस्ताव उनके पास नहीं आये थे, तबतक तो उनके ध्यानमें भी यह बात नहीं आयी थी कि उनका वर्तमान वेतन बहुत कम है । उन्होंने लिखा कि ऐसे समयमें, जब कि महाराजकी आवश्यकता बड़ी है, उन्हें ऊँचे वेतनके विचारसे छोड़कर चले जाना परले दर्जेकी नमकहरामी होगी ।

यह भला आदमी उस समयतक महाराजकी सेवा करता रहा, जबतक कि उसके हाथ-पाँव चलते रहे । अपने स्वामीके प्रति भक्तिभावका इससे अच्छा उदाहरण मिलना कठिन है । अच्छी तरह जीवन बितानेके इतने प्रलोभन ठुकरा देना कोई मामूली बात नहीं है ।

त्याग—विलक्षण बलिदान

पुरोहितका प्राणार्पण

बात अत्यन्त छोटी थी, पर बड़ी बन गयी; राणा प्रताप अपने लघुभाई शक्तिसिंहके साथ शिकार खेलने निकले थे। उनके साथ उनके पुरोहित तथा अन्यान्य वीर सरदार भी थे।

वनमें कोलाहल मच गया। पशु-पक्षी अपने प्राण ले भागे। तीक्ष्ण शरोंके आघातसे कितने पशु पृथ्वीपर लोट गये। सामने भागता एक मृग दीखा। दोनों बन्धुओंने एड़ लगायी और घोड़े दौड़ पड़े। कुछ ही देर बाद मृग धरतीपर गिरकर छटपटाने लगा।

संयोगकी बात थी। दोनों बन्धुओंने शर-संधान कर साथ ही अपने-अपने तीक्ष्ण शर छोड़े थे और दोनोंके ही शर एक ही साथ मृगके शरीरमें धँस गये थे।

'यह मृग मेरे शरसे घायल हुआ है।' सगर्व राणा प्रतापने कहा।

'नहीं, इसे तो मैंने मारा है।' शक्तिसिंहने प्रत्युत्तर दिया।

'असत्य! इसे सर्वप्रथम मेरा शर लगा है।' प्रतापने कहा।

'बिल्कुल नहीं, पहले मेरा तीर इसे लगा था।' शक्तिसिंहने बलपूर्वक कहा।

बात बढ़ी और निर्णयार्थ दोनों बन्धुओंने अपनी-अपनी तलवार निकाल ली। गये थे शिकार खेलने और 'प्रथम शर किसका लगा'—इसके निर्णयार्थ एक-दूसरेके प्राण लेनेपर तुल गये। तलवारोंका वार होने लगा। सरदार सब चकित थे। उनकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। पवित्र चित्तौड़-मेदिनीका एक नररत्न समाप्त हुआ चाहता था।

पुरोहित नहीं सह सके। दोनोंके बीच खड़े हो गये और दोनोंको समझाने लगे। पर वे सिंहद्वय अपनी आनपर मर-मिटनेके लिये तुल गये थे।

अचानक उनकी तलवारें रुकीं। वे दोनों सन्न रह गये। उन्होंने देखा, पुरोहितने अपनी तीक्ष्ण कटारको अपने वक्षके पार कर दिया था और रक्तसे लथपथ होकर धरतीपर तड़प रहे थे।

दोनों भाई पश्चात्ताप कर रहे थे, पर अपने प्राणार्पणकी सफलता देखकर पुरोहितने मुस्कराते हुए अपनी आँखें बंद कर लीं—सदाके लिये!

महान् पन्ना

पन्नाके एक पुत्र था चन्दन, किंतु स्वर्गीया रानी करुणावती और राणा साँगाके कनिष्ठ पुत्र उदयसिंहका भी लालन-पालन वही कर रही थी। चन्दन और उदयसिंह उसके दो नेत्र थे। अयोग्य विक्रमादित्यके राज्यसे पृथक् कर देनेपर उदयसिंह बनवीर दासीपुत्रकी संरक्षामें उत्तराधिकारी घोषित हुए थे। बनवीर मेवाड़पर निष्कण्टक राज्य करना चाहता था।

'कुटिल बनवीरने विक्रमादित्यकी हत्या कर दी है और इधर ही आ रहा है। नीरव निशीथमें बारी घबराता हुआ पन्नाके पास जाकर डरते-डरते बोला 'शायद वह राजकुमारको भी समाप्त कर देगा।'

'उदयको तुम टोकरीमें पत्तलोंके नीचे छिपाकर तुरत भाग जाओ।' अत्यन्त धैर्यसे पन्नाने निवेदन किया। 'वीरा नदीके तटपर मेरी प्रतीक्षा करना।'

निद्रित उदयको उसी प्रकार टोकरेमें पत्तलोंके नीचे छिपाकर बारी बाहर निकल गया। पन्नाका हृदय जोरोंसे धड़क रहा था। पर वह मौन तथा शान्त थी।

'कुमार कहाँ है?' दुष्ट बनवीरने पन्नासे पूछा। उसके हाथमें रक्तपिपासु नग्न तलवार थी।

पन्नाने अपने पुत्रकी ओर तर्जनी उठायी ही कि बनवीरकी तलवार उठी और बालकका सिर धड़से पृथक् हो गया। एक चीख भी न निकल सकी। पन्नाके मातृ-हृदयकी अवस्थाका चित्रण कैसे हो?

× × ×

पन्नाने अपने मृत बालकका अन्तिम संस्कार वीराके तटपर किया और उदयको लेकर मेवाड़से दूर चली गयी।

'अपने राजाकी रक्षा करो।' सर्वत्र निराश होकर पन्ना देवराके शासक आशाशाहके पास पहुँची और उदयको उनकी गोदमें डाल दिया।

× × ×

इतिहास साक्षी है, बनवीरके कुकर्मोंका उसे भरपूर फल मिला। उदयसिंह मेवाड़के सिंहासनपर आरूढ़ हुए।

वीर उदयसिंहने मातृ-तुल्य पन्नाके चरण-स्पर्श किये। पन्ना महान् थी—इसे प्रत्येक इतिहासकार सादर लिखते हैं।

पन्ना धाय

राणाके कुलपुरोहित

उपनिषदोंमें मानवताका उत्कृष्ट आदर्श

(लेखक—प्रो० श्रीगजाननजी शर्मा एम्० ए०)

भारतभूमिमें सर्वप्रथम मानवताके सर्वोच्च लक्ष्यकी उद्घोषणा हुई थी। यही वह भूमि है, जहाँ सर्वप्रथम सर्वात्मधर्मका साक्षात्कार किया गया। यही वह धर्मभूमि है, जहाँ सर्वप्रथम अहिंसारूपी परम धर्मको व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया और जहाँसे उच्च मानवीय संदेश बृहत्तर भारत— तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, लङ्का, मलयद्वीप, सुदूर भारतीय द्वीपसमूह और मध्य एशियातक पहुँचा था। यहाँ एक ऐसे समन्वयात्मक और सहिष्णु सनातनधर्मका प्रचार रहा है, जिसने शक, युइचि, यवन, हूण, आमीर, अफगान, मुगल, अंगरेज आदि कितनी ही जातियोंके सम्पर्कमें आकर उनको प्रभावित किया तथा उनकी धर्म-साधनाको अपने अङ्कमें सहर्ष स्थान दिया। इनमेंसे अनेक जातियाँ तो इस व्यापक धर्ममें इस प्रकार विलीन हो गयीं कि उनका कहीं अस्तित्व ही नहीं ज्ञात होता। इस महान् धर्मके महिमामय रूपका साक्षात्कार करनेके लिये हमें उपनिषदोंकी शरणमें जाना पड़ता है। उपनिषद् भारतीय तत्त्वज्ञानके अजस्र स्रोत हैं। प्रागैतिहासिक कालसे औपनिषद ज्ञान भारतीयोंका सर्वस्व रहा है। भारतीय महर्षियोंने तत्त्वज्ञानमें ही धर्मसाधना और आचार-मीमांसाका समन्वय किया है। इनका रूप इस प्रकार परस्पर मिला-जुला है कि इन्हें पाश्चात्त्य विश्लेषणात्मक बुद्धि सहज ही समझ नहीं पायी है। भारतीय तत्त्वज्ञान मानव-जीवनका परम उद्देश्य मुक्ति मानता है। धर्म उसका मार्ग है, किंतु धर्ममें भी 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' अभिन्न रूपसे संस्थित हैं। आचार प्रथम धर्म है। यहाँ दर्शन बुद्धिका ऊहापोह नहीं है, वरं मन्त्र-द्रष्टा, जीवनके परम-धर्म या सत्यको साक्षात् करनेवाले महर्षियोंके अनुभवका नवनीत है। अतः उपनिषदोंमें मानवके सर्वोच्च हितका वर्णन है। मानवमात्रके श्रेयतत्त्वका संनिवेश करके इन महात्माओंने अपने आचरण और उपदेशोंद्वारा मानवताका उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किया है। उन्होंने उस समय स्वतन्त्ररूपसे नैतिक गुणोंपर अपने विचार प्रकट नहीं किये; किंतु उन्होंने जीवन्मुक्त महात्माका जो आदर्श प्रस्तुत किया है, उसमें सभी उच्च कोटिके मानवीय गुण अपने उज्ज्वलतम रूपमें समाविष्ट हो गये हैं। आइये, हम इसपर संक्षेपमें विचार करें।

प्रायः यह माना जाता है कि उपनिषदोंमें इस लोककी, सांसारिक जीवनकी सर्वथा उपेक्षा की गयी है; किंतु उपनिषदोंके अध्ययनसे यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है। उपनिषदोंके ऋषि तो केवल शरीरको और इस संसारको ही सब कुछ माननेवाले मोहकी निन्दा करते हैं। हिंदुओंमें गौको बहुत पवित्र माना जाता है। उसे 'माता' विशेषणसे अभिहित करके उसमें पूज्य-बुद्धि की गयी है; किंतु उपनिषद् मानवको सृष्टिका सबसे सुन्दर और श्रेष्ठ प्राणी मानते हैं। देवताओंने अपने आश्रय-स्थानके लिये भी मानव-शरीरको ही स्वीकार किया था और कहा था—'पुरुषो वाव सुकृतम्।'—अर्थात् निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है।[1] देवताओंने गौको भी अपना आयतन बनाना स्वीकार नहीं किया। परमात्मा भी इसकी मूर्द्धा विदीर्ण करके इसमें अनुप्रविष्ट हो गये।[2] वह प्रभु नखसे शिखातक उसमें व्याप्त है। इस प्रकार मानव-शरीर देवोंका आयतन और भगवान्‌का मन्दिर है। यह शरीर बार-बार नहीं मिलता, अतः इस कर्मभूमिपर आकर अत्यन्त दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर अपने वास्तविक स्वरूपको पहचान लेना चाहिये। 'नर' की करनीसे 'नारायण' बन जाना चाहिये, अन्यथा बड़ा अनर्थ होगा।[3] यदि इस अलभ्य अवसरको पाकर मानवताके उत्कृष्ट आदर्शको प्राप्त नहीं किया तो फिर हाथ मलकर पछताना ही हाथ रहेगा। इस दृष्टिसे मानवको उद्बोधन दिया गया है। यहीं सत्यके ज्ञानद्वारा अमृतत्वकी उपलब्धि हो सकती है। कोई यदि मोह-दृष्टिके विरोध और जागृतिके संदेशको भी उपेक्षा या निन्दा कहे तो उसकी बुद्धिपर तरस आता है। संसार भी ब्रह्मरूप है।[4] उपनिषदोंमें अनेक सांसारिक वस्तुओंको ब्रह्मरूप मानकर उपासना करनेका विधान है। अतः इस संसारकी भी निन्दा नहीं की जा सकती। जहाँ संसारकी निन्दा है, वहाँ भी मोह-दृष्टिकी निन्दा है। संसारके प्रति एकान्त

१. ऐतरेयोपनिषद् (१ । २ । ३)।

२. स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। (ऐ० उ० १ । ३ । १२)

३. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। (केनोपनिषद् २ । ५)

४. सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छा० उ० ३ । १४ । १)

अनुराग प्रेय मार्ग है और ईश्वरके प्रति—मानवताके 'अभ्युदय और निःश्रेयस'के प्रति निष्ठा श्रेय है । मानवको श्रेय-मार्गका अवलम्बन करना चाहिये । श्रेय और प्रेय मिले-जुले मानवके सम्मुख आते हैं । प्रेय अपने साथ तात्कालिक सुख लिये रहता है, अतः मानवका उसके प्रति सहज आकर्षण हो जाता है और वह अशुभ मार्ग या कुपथका पथिक हो जाता है । मानवको बार-बार प्रयत्न करके पुरुषार्थके साथ वासनारूपी नदीको अशुभ मार्गकी ओर प्रवाहित होनेसे रोकना चाहिये और उसे शुभ मार्गपर नियोजित करना चाहिये । मनुष्यको अपने स्वार्थ और क्षणिक सुखके प्रलोभनमें फँसकर मानवताके उच्च लक्ष्यको नहीं भुलाना चाहिये—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥[1]

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥[2]

'श्रेय और प्रेय' के समान ही विद्या-अविद्याका विचार भी मानवताके उच्च ध्येयकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य है । साधारणतः श्रेय-मार्गकी ओर ले जानेवाली 'विद्या' है और प्रेय-मार्गकी ओर ले जानेवाली 'अविद्या' है । विद्या है—ज्ञान, अभेद, एकत्व; और अविद्या है—अविवेक, अज्ञान, भेद और द्वैतकी भावना । सभी प्रकारके भेद-प्रभेद, चाहे वे भौतिक हों चाहे आध्यात्मिक, अविद्याके कारण हैं । मानवमात्रमें भेद-बुद्धि अज्ञान है, मूर्खता है—फिर भेद स्त्री-पुरुषका भेद, देश-भेद, धर्म-भेद, साम्प्रदायिक भेद, वर्णभेद, प्रान्त-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद आदि ही क्यों न हो । भेद-बुद्धि अन्धकार है, असत् है, मृत्यु है । एक सार्वभौम मानवताका दर्शन प्रकाशका मार्ग है, सत्का पथ है और यही अमरत्व है । इसलिये उपनिषदोंके ऋषि परमात्मासे प्रार्थना करते हैं—

असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मामृतं गमय ।[3]

विश्वमें कहीं भी द्वैत है ही नहीं, अतः मानव-मानवमें भी किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं किया जा सकता । नाम-रूपात्मक भेद जो साधारणतः दृष्टिगोचर हैं, वे वाणीके विकारमात्र हैं । सभी भेद व्यावहारिक हैं—कहने भरके लिये हैं, अतः मिथ्या हैं । पारमार्थिक दृष्टिसे पूर्ण अद्वैत है, अभेद है । जो इस एक सार्वभौम अखण्ड मानवतामें भेद देखते हैं, उनकी दुर्गतिका वर्णन कितने स्पष्ट और तीखे शब्दोंमें ऋषियोंने किया है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥[1]

भेददर्शी अपने अज्ञान या भेदरूपी मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है । और भी कहा है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥[2]

अतएव मनुष्यका कल्याण इसीमें है कि वह विद्या और अविद्या—दोनोंको एक साथ जाने । अविद्याकी परख करके—सभी प्रकारकी भेद-बुद्धियोंकी परीक्षा करके उससे भेद या द्वैतरूपी मृत्युको पारकर विद्यासे, अभेद-ज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करे ।[3]

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्में एक सुन्दर उल्लेखनीय प्रसङ्ग है । देवासुर-संग्राममें राजा दिवोदासके पुत्र प्रतर्दनने जो युद्ध कौशल और पुरुषार्थ प्रदर्शित किया, उससे संतुष्ट होकर देवराज इन्द्रने उन्हें वर देना चाहा । तब प्रतर्दनने कहा—'देवराज ! आप स्वयं ही मेरे लिये ऐसा वर वरण कीजिये, जिसे आप मनुष्योंके लिये अत्यन्त कल्याणकारी मानते हों ।'[4] तब इन्द्रने आत्मा-रूपसे प्राणकी महिमा बतलायी, प्राण और प्रज्ञामें अभेदका प्रतिपादन किया । यही आत्मा है । वही आत्मा सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त है ।

ईशावास्योपनिषद् डंकेकी चोट मानवके श्रेष्ठ कर्तव्यकी घोषणा करता है । संसारमें जो भी कुछ है, वह ईश्वरके द्वारा आच्छादन करने योग्य है । कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है—

---

१. (कठ० उ० १ । २ । २)
२. (मुक्तिकोपनिषद् २ । ६)
३. (बृहदारण्यक उ० १ । ३ । २८)

---

१. (कठ० उ० २ । १ । १०)
२. (कठ० उ० १ । २ । ५)
३. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ (ईश० उ० ११)
४. स होवाच प्रतर्दनस्त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति । (कौ० ३ । १)

चाहे वह स्थावर हो चाहे जङ्गम—जिसमें सर्वव्यापी प्रभु न हो। जो कुछ भी है, वह उसीका रूप है और उसका मालिक भी वही है। हमें जो कुछ भी प्राप्त है, उसका त्याग-भावसे भोग करना चाहिये। उसमें ममत्व या मोह नहीं होना चाहिये। इसके साथ उपनिषद्की आज्ञा है कि किसी-की सम्पत्तिका लालच मत करो। किसीकी सम्पत्ति लेनेकी इच्छाका निषेध किया गया है।[1] दूसरोंकी सम्पत्तिको हड़पनेकी इच्छा ही सभी अनर्थोंकी जड़ है। कोई श्रमरूप धन हड़पना चाहता है, कोई रुपया-पैसा-रूप सम्पत्ति लूटना चाहता है, कोई अनोखे ढंगसे धर्म, सिद्धान्त आदि साधनाओंका अपहरण करना चाहता है। इस गृध्र-दृष्टिके कारण संसार नरक-कुण्ड बना जा रहा है। जबतक मनुष्य अपनी न्यायो-चित मार्गसे उपार्जित सम्पत्तिका त्याग-भावसे उपभोग करने और दूसरोंकी सम्पत्तिपर लालचभरी निगाह न डालनेका व्रत नहीं ले लेता, तबतक मानवतापर आघात होते रहेंगे—चाहे इन आघातों या आक्रमणोंको उपनिवेशोंके रक्षण, प्रजातन्त्रकी रक्षा, सर्वहाराका संरक्षण, देशभक्ति, मानव-सेवा आदि-आदि मधुर नाम क्यों न दिये जायँ। मानवके पतनका मूल कारण ऋषियोंने पहचाना है। यही आजके पीड़ित मानवको मुक्त करनेका स्थायी उपाय है।

उपनिषदोंमें इसी सिद्धान्तकी कई प्रकारसे पुनरुक्ति की गयी है। जो महापुरुष सर्वत्र परमात्माके या आत्माके दर्शन करता है, वही वास्तवमें देखता है; क्योंकि जो सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें ही देखता है और समस्त भूतोंमें भी आत्माको ही देखता है, वह किसीसे घृणा नहीं करता। कारण, घृणाके लिये अन्यकी सत्ता या भेद-दृष्टि होनी चाहिये। जिस समय ज्ञानीके लिये सभी प्राणी आत्मरूप ही हो जाते हैं, फिर उस एकत्व या अभेद देखनेवाले विद्वान्के लिये कैसा शोक और कैसा मोह। वह शोक और मोह कर ही कैसे सकता है।[3] जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब उसे किससे द्वेष हो और कैसे भय हो।[4] पूर्ण अद्वैतावस्थाको प्राप्त पुरुष सभी प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखता है। वह इसी लोकमें अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर डालता है।[1] उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। वह पाप-पुण्य, कर्म-अकर्मके बन्धनसे सर्वथा छूट जाता है। वह मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है। वह ज्ञानी निरञ्जन, सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है। उसके मनमें कोई कामना नहीं रहती। वह ब्रह्मरूप हो जाता है।[2] इस स्थितिमें वह आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम होकर आत्मरति और आत्मक्रीड बन जाता है।[3] जब उसके मनमें कोई कामना ही नहीं रहती, तब वह शरीरकी भी चिन्ता नहीं करता। उसका शरीर उसी प्रकार परित्यक्त पड़ा रहता है, जिस प्रकार सर्पकी केंचुली सर्पद्वारा परित्यक्त पड़ी रहती है।[4] ऐसे लोगोंके द्वारा सभी लोक-संग्रहके कार्य, मानव-जातिके लिये कल्याणकारी कार्य स्वाभाविकरूपसे सम्पादित होते रहते हैं। उनका चरित्र सर्वथा असंदिग्ध होता है। ये पूर्ण मानवता-की भव्य प्रतिमाके रूपमें जीवन्मुक्त विचरण करते हैं। इन्हें मानव-जातिके प्रकाश-स्तम्भ कहना चाहिये। इनके चरित्रके प्रकाशसे अज्ञानान्धकारमें भटकते हुए—संसार-सागरमें तृष्णाके झंझावातसे दिग्भ्रान्त सांसारिक प्राणी अपने श्रेय-मार्गका अनु-संधान करते हैं। उपनिषद् मनुष्योंको सदुपदेश देते हैं कि जब धर्म-अधर्मके विषयमें संशय उपस्थित हो, जहाँ कर्तव्या-कर्तव्यके प्रश्नपर बुद्धि किंकर्तव्यविमूढ हो जाय, जब धर्म-विचिकित्सा अथवा कर्म-विचिकित्साका प्रसङ्ग आ पड़े और हम कोई निर्णय न कर पायें, तब इन महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये। उस समय जैसा ये लोग आचरण किया करते हैं, उसी प्रकार हमें भी करना चाहिये; इसीमें हमारा कल्याण है।[5] इस स्थितिकी प्राप्ति आत्मज्ञान या अद्वैततत्त्वकी उपलब्धिसे ही होती है। यह मानवकी परम गति है, यह मानवकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परम लोक है, यही इसका परम आनन्द है। इस आनन्दकी मात्राके आश्रयसे ही अन्य प्राणी जीवित रहते हैं।[6]

इस सर्वोत्कृष्ट पूर्ण मानवके आदर्शके सम्मुख कौन-सा

---

१. ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥(ईशा० १)

२. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥(ईशा० ६)

३. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (ईशा० ७)

४. द्वितीयाद्वै भयं भवति। (बृहदारण्यक० १।४।२)

---

१. सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह। (मुण्डक० २।१।१०)

२. (मु० ३।१।३; कठ० २।३।१४-१५)

३. (बृह० ४।४।६-७)

४. (बृहदारण्यक० ४।४।७)

५. (तैत्तिरीय० १।११।४)

६. सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैन-मनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। (बृहदा० ४।३।३२)

आदर्श उपस्थित किया जा सकता है । इस आदर्शके सम्मुख विश्वबन्धुत्व, 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'Love your neighbour' (अपने पड़ोसीसे प्रेम करो), 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' आदि आदर्श—प्रेम, मैत्री, करुणा, सत्य, अहिंसा आदिके उपदेश उसी प्रकार फीके पड़ जाते हैं, जिस प्रकार सूर्यके सम्मुख दीपक । ये सभी आदर्श और उपदेश तो मीलके पत्थर हैं, मंज़िल नहीं; साधन हैं, साध्य नहीं; किंतु यह पूर्ण अद्वैतावस्था परम निष्ठा है, साध्य है। यह मानवताका सर्वोत्कृष्ट आदर्श है । यह है पूर्ण मानवका चित्र, जो उपनिषद् हमारे सामने रखते हैं ।

सच्ची मानवताका मार्ग

[श्रीमद्भगवद्गीताकी सदाचारबत्तीसी]

(लेखक—श्रीविश्वबन्धुजी)

भगवद्गीताके १२ वें अध्यायके सात श्लोकों (१३—१९) में भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति जिस परम भक्ति-तत्त्वका निरूपण किया है, उसे 'मानवताका मान', 'विश्व-योग' और 'विश्व-धर्म' कहा जा सकता है । इस प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस मार्गका दिग्दर्शन कराया है; वह वस्तुतः 'सच्ची मानवता' का मार्ग है । इसपर युग-युग और देश-देशके लोग चलते हुए मानव-जीवनकी परम सिद्धि-का लाभ कर सकते हैं । स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीताके इस उपदेशका उपसंहार करते हुए इसे धर्म्यामृत (गीता १२ । २०) अर्थात् आचरणकी दृष्टिसे साक्षात् अमृत कहा है । विचारकर देखा जाय तो यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि मानव-जीवनकी परम सिद्धि और उसकी परम सम्पत्ति उसके सदाचारमें रहती है । प्रत्येक मानव साक्षर और विद्वान् होना चाहिये । परंतु अभीतक ऐसा किसी देशमें भी हो नहीं पाया, यद्यपि इस ओर प्रयत्न सर्वत्र किया जा रहा है । यह भी सबको विदित है कि हो सकता है, साधन प्राप्त होनेपर भी कोई-कोई व्यक्ति साक्षर और विद्वान् न हो सके । मानव-जनताका अधिकांश अभीतक निपट निरक्षर ही चला आता है । इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक मानव धनवान् होना चाहिये, जिससे वह दीनभावसे मुक्त रहते हुए अपना जीवन-निर्वाह कर सके । परंतु कौन नहीं जानता कि अभीतक ऐसा सौभाग्य किसी भी देशको प्राप्त नहीं हो पाया कि उसकी जनताका एक-एक व्यक्ति अर्थतः अदीन पदको पहुँच गया हो । भगवान् श्रीकृष्ण सदाचारको अमृत-धर्म बताते हुए मानो स्पष्टरूपसे यह सुझा रहे हैं कि जहाँ विद्वान् और अर्थवान् आदि होनेमें मानव-जीवनकी शोभा है, वहाँ सदाचार साक्षात् मानव-जीवनका ही दूसरा नाम समझना चाहिये । कारण, मानव बलवान्, विद्वान् और अर्थवान् आदि हो, परंतु आचारवान् न हो, तो वह जीता भी मरा ही होता है । नहीं, वह मरेसे भी हीनतर होता है; क्योंकि जो मृतक हो चुका है, वह अब कोई अनर्थ नहीं कर सकता; किंतु जो आचारशून्य है, उसका श्वास-श्वास लोक-दुःखका कारण बना रहता है । इसके विपरीत, यदि मानव आचारवान् हो, परंतु बलवान्, विद्वान्, अर्थवान् आदि न भी हो, तो जगत्का व्यवहार ठीक चलता रहता है; क्योंकि वह किसीके मार्गमें काँटा बनकर उसे दुखता नहीं, वरं जहाँतक उसे सूझता है और उससे बन पड़ता है, वह सबका हित ही करता है । इसलिये यह तो अच्छी बात होगी ही कि सब लोग आचार-वान् भी हों और साथ ही बलवान्, विद्वान् और धनवान् भी हों; परंतु यह बात भी कदापि न भूलनी चाहिये कि आचारके अभावमें बल, विद्या और धन आसुरी माया बनकर मानव और मानवताका सत्यानाश करने लग जाते हैं ।

भक्ति और सदाचार

यह स्मरण रखने योग्य है कि भगवान् श्रीकृष्णने सदा-चारका यह उपदेश भक्तिके प्रसङ्गमें किया है । अर्जुनने पूछा है कि 'महाराज ! भगवान्के भक्त दो प्रकारके देखनेमें आते हैं । एक उसकी चैतन्य-स्वरूप अव्यक्त सत्ताके ऊपर अपने ध्यान-को केन्द्रित रखनेका अभ्यास करते हैं और दूसरे संसार-माया-के प्रपञ्चमें परम कारण बनकर ओत-प्रोत हुई उसकी व्यक्त सत्ताकी पूजामें तत्पर रहते हैं । आप विवेक करके मुझे समझायें कि भक्तोंके इन दोनों प्रकारोंमेंसे कौन-सा प्रकार बढ़िया होना चाहिये ?' भगवान् श्रीकृष्णने उत्तरमें कहा, 'हे अर्जुन ! दोनों ही प्रकार उत्तम हैं । दोनोंका तात्पर्य एक है, अर्थात्

जीते-जागते हुए ही परम शान्त पदका लाभ करना। फिर भी अव्यक्त-मननका मार्ग व्यक्त-पूजनके मार्गसे अधिक कठिन कहा जा सकता है। उसका अधिकारी सत्य-ज्ञानमें प्रतिष्ठित कोई-कोई धीर, मनस्वी ही हो पाता है। संसार-मार्गके यात्रीके लिये यही अच्छा है कि वह असंख्य जीव-जन्तुओंके जीवन-परिणाममें व्यक्त हो रही भगवत्-सत्ताकी पूजा करनेमें निरत रहे। उसे चाहिये कि अपना एक-एक कर्म उसी परम सत्ताका आदेश समझकर करता चला जाय और उसे उसी सत्ताके निमित्त समर्पण करता हुआ उसके फलके प्रति उदासीन भावको धारण करे। हे अर्जुन! जो यों करता है, वही ज्ञानयोगी, अभ्यास-योगी, ध्यान-योगी और कर्म-योगी होता है और वही भगवान्‌का सबसे प्रिय भक्त होता है।'

इस प्रकारसे उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने सद्भक्तिको अन्ततः सदाचारमें ही प्रतिष्ठित किया है। दूसरे शब्दोंमें, सदाचार ही सद्-भक्ति है। सदाचारी मानव मानो सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते और चलते-फिरते हुए, अर्थात् अपनी जीवन-चर्याकी सर्वतोमुखी भुगतान करते-कराते हुए भगवान्‌की भक्ति ही करता रहता है। उसकी एक-एक बात भगवान्‌को प्रियतम लगनेवाली स्तोत्र-पदावली बन जाती है। उसका एक-एक कर्म भगवान्‌को प्रियतम लगनेवाले यज्ञकी आहुतिका रूप धारण कर लेता है। उसका शरीर भगवान्‌का चलता-फिरता मन्दिर हो जाता है और स्वयं भगवान्‌का ही व्यक्त रूप बन जाता है।

सदाचार-बत्तीसी

भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखारविन्दद्वारा जिस सदाचारका सद्भक्तिकी पराकाष्ठाके रूपमें वर्णन किया है, वह मानव-जीवनकी परम साधना समझनी चाहिये। प्रत्येक सच्चे साधकका ध्यान उनके उक्त उपदेशमें प्रतिनिर्दिष्ट उस साधनाके बत्तीस अङ्गोंको अपने जीवनमें धारण करनेपर लगा रहना चाहिये। उन बत्तीस अङ्गोंका संक्षिप्त परिगणन निम्नलिखित प्रकारसे जानना चाहिये—

१. मन, वचन और कर्मद्वारा किसीकी हानि न करना और न होने देना चाहिये।

२. सबका हितैषी मित्र बनकर रहना चाहिये।

३. जो कोई भी दुखी देख पड़े, उसका दुःख दूर करनेके लिये उसके प्रति सहानुभूतिद्वारा द्रवित हो जाना चाहिये।

४. मैं भगवान्‌की सर्वसाधारण सत्तासे अलग स्वतन्त्र सत्तासे युक्त हूँ और अमुक सम्पत्तिपर मेरा ही अविभक्त स्वत्व है, ऐसी अहंता और ममताकी संकीर्ण भावनासे मुक्त रहना चाहिये।

५. दुःख और सुख—दोनों एक ही जीवन-पटके अंदर ताना-बाना बनकर ओत-प्रोत हो रहे हैं, यों समझते हुए और दोनों अवस्थाओंमें मनको अडोल रखते हुए दुःखकी कमी और सुखकी बढ़तीके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

६. जैसे मुझसे अज्ञान आदिके वशीभूत होकर कई प्रकारके अपराध हो जाते हैं, वैसे ही दूसरोंद्वारा भी होते हैं—यह जानते हुए दूसरोंद्वारा जब हमारे प्रति कोई अपराध बन गया हो, तब हमें क्षमाशील होना चाहिये, आपेसे बाहर होकर व्यर्थ सटपटाना नहीं चाहिये।

७. अपना कर्तव्य पूरा करते चले जाना चाहिये और फिर उसके फल-स्वरूप मिलनेवाले सुख अथवा दुःखके प्रति बेपरवा रहते हुए अभंग संतोष-वृत्तिको धारण किये रहना चाहिये।

८. निरन्तर कर्म करते रहना ही वास्तविक जीवन है, यों समझते हुए कुशलतापूर्वक कर्मात्मक जीवन-योगमें लगा रहना चाहिये।

९. सर्वत्र पाये जानेवाले कलह और अशान्तिके मूलमें व्यक्तिगत उच्छृङ्खलता रहती है, यों समझते हुए अपने जीवनमें संयम और मर्यादाको अधिक-से-अधिक मात्रामें प्रतिष्ठित करना चाहिये, अर्थात् अपनी आवश्यकताओंका यथासम्भव संकोच करते रहना चाहिये।

१०. प्रत्येक परिस्थितिका पर्यालोचन करते हुए जो अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य सुनिश्चितरूपसे प्रतीत हो, उसपर दृढ़ रहना चाहिये और संशयसे विक्षिप्त होकर लड़खड़ाना नहीं चाहिये।

११. हर्ष अर्थात् अभिमान और अहंकारके मदसे मुक्त रहना चाहिये।

१२. अमर्ष अर्थात् असहिष्णुतासे मुक्त रहना चाहिये।

१३. न स्वयं किसीसे डरना और न किसीको डराना ही चाहिये।

१४. प्रत्येक परिवर्तनशील परिस्थितिके अनुसार बरतते बरताते हुए उद्वेग अर्थात् घबराहटसे मुक्त रहना चाहिये।

१५. अपने कार्य अपने हाथसे करनेमें ही आत्मगौरव

समझते हुए, अपेक्षा-वृत्तिसे मुक्त, आत्मवश-जीवन व्यतीत करनेका अभ्यास करते रहना चाहिये।

१६. मन, वचन और कर्म अर्थात् लोक-व्यवहारमें शुद्ध, पवित्र रहना चाहिये।

१७. अभ्यास और बुद्धिके समुचित मेलके द्वारा अपनी दक्षता अर्थात् कर्मकुशलता और कर्मपरायणता बढ़ाते रहना चाहिये।

१८. कर्म कर चुकनेपर उसके फलके प्रति उदासीन-भाव अर्थात् बेपरवाहीको धारण करना चाहिये और प्रस्तुत दूसरे कर्तव्यके प्रति अपना सारा मनोयोग देना चाहिये।

१९. प्रतिकूल फलकी प्राप्ति होनेपर व्यथित न होकर चित्तकी शान्ति बनाये रखनी चाहिये।

२०. अपने द्वारा किये जानेवाले प्रत्येक कर्मको विश्व-कर्मका एक खण्डमात्र समझते हुए, जब वह हो चुके तो उस-परसे अपना सारा अधिकार अर्थात् स्वत्वका भाव हटाकर उसे भगवदर्पित अर्थात् विश्व-कर्ममें ही लीन कर देना चाहिये।

२१. हर्ष अर्थात् विशेषरूपसे अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिके लिये मानसिक भटकका त्याग कर देना चाहिये।

२२. द्वेष अर्थात् विशेषरूपसे प्रतिकूल परिस्थितिके निवारणके लिये मानसिक आतुरताका त्याग कर देना चाहिये।

२३. बीती हुई प्रतिकूल बातोंका स्मरण करके शोक करना छोड़ देना चाहिये।

२४. आगे आनेवाली अनुकूल बातोंकी पहलेसे आकाङ्क्षा करना अर्थात् मनमोदक पकाना छोड़ देना चाहिये।

२५. अनुकूल फलका उत्पादक होनेसे कोई शुभ हो सकेगा और प्रतिकूल फलका उत्पादक होनेसे कोई कर्म अशुभ हो सकेगा—ऐसा भेद-भाव मनमें न लाकर, देश और कालके अनुसार जो भी कर्म कर्तव्यके रूपमें उपस्थित हो, उसे करते जाना चाहिये। अर्थात् किसी भी कर्मको मीठा या कड़ुआ न समझना चाहिये।

२६. शत्रुके प्रति और मित्रके प्रति यथायोग्य व्यवहार करते हुए अपनी मानसिक समताको बनाये रखना चाहिये।

२७. मान और अपमानकी अर्थात् अनुकूल और प्रति-कूलकी प्राप्ति होनेपर अपनी मानसिक समताको बनाये रखना चाहिये।

२८. सर्दी और गरमीमें एवं सुख और दुःखमें अपनी मानसिक समताको बनाये रखना चाहिये।

२९. असङ्ग रहना अर्थात् क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील परिस्थितियोंकी किसी प्रकारकी भी स्थिर छापको मनपर नहीं पड़ने देना चाहिये।

३०. कोई निन्दा करे अथवा कोई स्तुति करे, इसकी चिन्ता कदापि न करते हुए अपने अंदरकी तुष्टिमात्रका ध्यान रखते हुए अपने जीवन-योगको निबाहते रहना चाहिये।

३१. मौन अर्थात् वाणीका संयम ठीक रखते हुए आवश्यकता मात्रकी पूर्तिके लिये उसका उचित प्रयोग करना चाहिये।

३२. प्रतिक्षण हो रहे उत्पादन और विनाशको देखते हुए अनिकेत-भावको धारण किये रहना अर्थात् सांसारिक अस्थिरताके साथ ही अपनी सांसारिक परिस्थितिको भी स्वभावतः अस्थिर ही समझना चाहिये और अस्वाभाविक स्थिरताके मोहसे अपने-आपको मुक्त रखना चाहिये।

मेरी सुधि लीजिये

मेरी सुधि लीजौ हो, ब्रजराज!
और नहीं जग मैं कोउ मेरौ, तुमहि सुधारन काज॥
गनिका, गीध, अजामिल तारे, सबरी औ गजराज।
सूर पतित पावन करि लीजै बाँह गहे की लाज॥

—सूरदासजी

एक निडर बालकका परोपकारी कार्य

(लेखक—श्रीसत्यनारायणजी चतुर्वेदी, एम० ए०, शास्त्री)

मुझे अपार हर्ष हो रहा है कि मैं एक ऐसे छात्रके कार्यके विषयमें लिखने जा रहा हूँ, जिसने अपनी जानकी परवा न कर हजारोंकी जान बचानेके लिये सहर्ष तैयार हो गया। यह दैवी प्रेरणा थी, जिससे वह अपने कर्तव्यके लिये अपनी जानतककी परवा न कर सका और अपने आपको सहर्ष जोखिममें डालकर दूसरोंकी जान बचानेके लिये सफल प्रयत्न किया। शायद भारतके अधिकांश लोग इस निर्भीक छात्रको न जानते हों।

लगभग तीन साल गुजर गये—अक्षयवर राय नामक छात्र गाजीपुर इंटर-कालेजमें पढ़ता था। वह ग्यारहवीं कक्षाका छात्र था। उसे प्रतिदिन अपने घरसे शहरमें पढ़नेके लिये आना पड़ता था। उसका घर शहरसे थोड़ी दूरीपर एक मील था। उसे स्कूल आते समय रेलवे-लाइन पार करनी पड़ती थी। एक दिन वह पढ़नेके लिये घरसे शहरके लिये आ रहा था। जब वह रेलवे-लाइनके नजदीक पहुँचा तो उसकी निगाह स्वाभाविकरूपसे रेलवे-लाइनकी तरफ चल गयी। उसने देखा कि रेलवेकी लाइन खराब हो गयी है, जिससे ट्रेन उलट सकती है और हजारों मनुष्य कालके गालमें जा सकते हैं।

रेलवे लाइनके खराब होनेके विषयमें सोच ही रहा था कि देखता है कि पैसेञ्जर ट्रेन आ रही है। वह तत्काल अपने शरीरसे कमीज निकालकर खतरेकी सम्भावनाका निर्देश करने लगा। ट्रेन-ड्राइवरने उसे ऐसा न करनेके लिये सीटीद्वारा चेतावनी दिया; लेकिन भारतमाँका यह लाड़ला सपूत, अध्यवसाय-नदका मगर-मच्छ हिमालयकी भाँति अपने कर्तव्य-पथपर अचल रहा। उस समय उसके मस्तिष्कमें परोपकारके सिवा कोई वस्तु दिखायी नहीं पड़ रही थी। लाचार होकर ड्राइवरको ट्रेन रोक देनी पड़ी। ट्रेन उससे थोड़ी दूरपर जा रुकी। ड्राइवर, गार्ड—दोनों व्यक्ति आवेशमें आकर उसके पास पहुँचे। वहाँ जानेपर उन्होंने देखा कि रेलवेकी लाइन खराब हो गयी है। यदि छात्रने ऐसा करके ट्रेनको रोक न दिया होता तो हजारोंकी जानें चली जातीं। ड्राइवर और गार्ड अपने उस कार्यके लिये बड़े लज्जित हुए और उससे क्षमा माँगी।
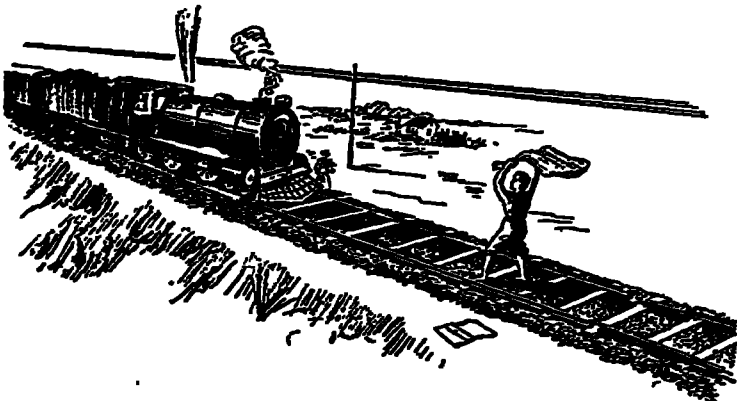
धन्य है वह छात्र, जिसने अपने आपको मौतके मुँह ढकेलकर हजारोंकी जानें बचायीं। उसके इस प्रकारके साहसी कार्यकी खबर शीघ्र ही बिजलीकी तरह सर्वत्र फैल गयी। छात्रके वीरतापूर्ण कार्यके लिये प्रधान मन्त्री पं० नेहरू और गृह-मन्त्री पं० पंतने उसे बधाईका तार भेजा और हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादने उसे स्वर्णपदक प्रदान किया। बम्बईके वर्तमान राज्यपालने, जो उस समय मद्रासके राज्यपाल थे, उसे दक्षिण भारतकी यात्राके लिये निमन्त्रित किया। उत्तर प्रदेशके प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'आज' ने अपने सम्पादकीय टिप्पणीमें उस छात्रकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भारतको ऐसा साहसी छात्र पैदा करनेपर गर्व है। छात्रोंको उसके आचरणसे शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये कि यदि दूसरोंकी भलाईके लिये प्राणोंकी बाजी लगानी पड़े तो उन्हें मौतका आलिङ्गन करनेमें रंचमात्र भी संकोच न करना चाहिये।

व्यापक मानवताका आदर्श

(लेखक—डाक्टर महम्मद हाफिज सय्यद, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, डी०लिट्०)

आज जगत्में हम अपने चतुर्दिक् दृष्टि डालें तो जहाँ कहीं जायँगे, वहीं वैमनस्य, प्रतिस्पर्धा, जलन और कलहको सिर उठाये देखेंगे। सभ्य कहलानेवाले पश्चिमी राष्ट्रोंमें एक राष्ट्र दूसरेको अविश्वासकी दृष्टिसे देखता है। बाहरसे तो वे कृत्रिम सद्भाव प्रदर्शित कर सकते हैं, किंतु भीतरसे एक दूसरेको असम्मान एवं घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि दूसरे उनके जीवन-पथके अनुयायी नहीं बन रहे हैं।

यह सच है कि आजकल कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं, जो अपने वर्ग या जातिके लोगोंमें सहयोग और मैत्रीके आदर्शकी प्रेरणा प्रदान करनेमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे यत्नशील रहती हैं, परंतु यह सहयोगकी भावना उतनी व्यापक नहीं होती। वे अपने छोटे समाजमें एक दूसरेके साथ काम करते हैं और सहानुभूति रखते हैं, पर अपने आदमियोंके सिवा दूसरोंके साथ काम करनेकी बात सोचते भी नहीं। वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा धर्म-सेवी लोग सामान्य मानवताकी पुकारकी उपेक्षा करते हैं—अपने कार्यक्षेत्रको अपने ही समाज या दलके लोगोंमें सीमित रखते हैं।

साम्यवाद और समाजवाद

मौतिक दृष्टिकोणसे अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है—व्यापक जीवनके आधारपर खड़ी मानव-जातिकी मौलिक एकता। किंतु साम्यवाद और समाजवाद इस तथ्यकी सर्वथा उपेक्षा करते हैं और समष्टिगत आत्माकी एकताके उस आधारको स्वीकार नहीं करते, जिसपर सभी खड़े हो सकते हैं। साम्यवाद एवं समाजवादका आदर्श वस्तुओंके बाह्य पक्षका, उनके मौतिक रूपका विवेचन करता है, जीवंत आध्यात्मिक स्वरूपका नहीं।

क्या इस जंजालसे निकलनेका कोई रास्ता है ? हाँ, यदि हम अपने दृष्टिकोणको बदलें और अन्तःप्रेक्षण करें तो विश्वके वैर-विरोध, लड़ाई-झगड़े, ईर्ष्या-द्वेष और युद्धके प्रश्नोंको हम हल कर सकेंगे।

सामान्य और सुप्रसिद्ध सत्यकी प्रायः उपेक्षा की जा रही है। इस जगत्में बहुतेरे लोग ऐसे हैं, जो व्यापक मानवताकी भावनाको निरर्थक समझते हैं। वे इस तथ्यको अङ्गीकार ही नहीं करते कि प्रधानरूपसे वे मानव-प्राणी हैं, तथा गौणरूपसे और सब कुछ। विशुद्ध भौतिक दृष्टिकोणके अनुसार केवल एक ही तत्त्व है, दो नहीं, जिससे सारे मानव-प्राणियोंकी सृष्टि हुई है। इस प्रकार हमारे पास यह विश्वास करनेके लिये कारण है कि मानवता एक है। शरीर-रचना-विज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, मनोविज्ञान भी व्यापक मानवताके आदर्शकी पुष्टि करते हैं। जन्म, विकास, जीवन और मृत्युके नियमोंको सभी मानते हैं। प्राच्य या पाश्चात्त्य—सभी दार्शनिकोंने व्यापक मानवतामें विश्वास किया है।

ऑगस्ट कोंत कहते हैं—

"Humanity is our highest concept, whatever the foundation of things may be in itself."

वस्तुओंका स्वगत आधार चाहे जो हो, मानवता हमारी सर्वोच्च भावना है।

जोज़ेफ़ मैज़िनी कहते हैं—

"The unity of the human race could be admitted as the consequence of the Unity of God. Generally speaking, you cannot, even if you would separate your life from that of humanity; you live in it, by it, and for it. As humanity is a single body, we are all of us as members of that body, bound to work for its development. Freemen and slaves, you are all brothers."

अर्थात् ईश्वरकी एकताके परिणामस्वरूप मानव-जातिकी एकता स्वीकार की जा सकती है। साधारणतः आप यदि चाहें तो भी अपने जीवनको मानव-जातिके जीवनसे पृथक् नहीं कर सकते। आप मानव-जातिके भीतर, उसके द्वारा और उसके लिये जीते हैं; क्योंकि मानव-जाति एक समाज है और हम सब उस समाजके सदस्य हैं; अतः हम उसके विकासके लिये काम करनेको बाध्य हैं। आप स्वतन्त्र हों अथवा दास, सभी भाई हैं।

भारतीय दर्शनकी प्रायः सभी विचारधाराएँ व्यापक मानवता और जीवनकी एकताको अकाट्यरूपसे प्रमाणित करती हैं।

सारे उपनिषद् इसको प्रमाणित करते हैं तथा निश्चित रूपसे घोषित करते हैं कि मनुष्य और उसका आध्यात्मिक स्वरूप ईश्वरसे पृथक् नहीं है। मानवताका आदर्श (Ideal of Humanity) नामक ग्रन्थमें श्रीअरविन्द कहते हैं—

"A spiritual religion of humanity is the hope of the future. By this we do not mean what is ordinarily called a universal religion, a system, a thing of creed and intellectual belief. Mankind has tried unity by that means; it has failed because there can be no universal religious system. The inner spirit is indeed one. What is really meant is the growing realization of the fact that there is a secret spirit, a divine reality in which we are all one and of which humanity is the highest vehicle on earth and that the human race and the human beings are the means by which it will progressively reveal itself here with the growing attempt to live out this knowledge and bring about a kingdom of this divine spirit upon earth. It means that oneness with our fellowmen will become the leading principle of all our life, not merely a principle of co-operation but a deeper brotherhood, a real and inner sense of unity and equality; the realization by the individual that only in the life of the fellowmen is his own life complete, the realization by the race that only on the free and full life of the individual can its own perfection and permanent happiness be founded."

अर्थात् मानवमात्रका अध्यात्मपर आधारित धर्म ही भविष्यकी आशाका दीपक है। इससे हमारा अभिप्राय उस तथाकथित विश्वधर्मसे नहीं है, जो एक बौद्धिक विश्वास तथा मतवादकी वस्तु एवं एक पद्धति है। उस प्रणालीसे मानवसमाजने एकताके लिये चेष्टा की है, परंतु उसे सफलता नहीं मिली है; क्योंकि कोई सार्वभौम धार्मिक पद्धति नहीं हो सकती। निस्संदेह भीतरी तत्त्व एक ही है। वस्तुतः हमारा अभिप्राय यह है कि इस तथ्यकी क्रमशः अधिकाधिक अनुभूति हो रही है कि एक गूढ़ तत्त्व है, एक दिव्य सत्य है, जिसकी दृष्टिसे हम सब एक हैं और जिस तत्त्वका पृथ्वीपर मानव-जाति ही सर्वोच्च स्थूल आधार है तथा मानव-जाति एवं मानव-प्राणी ही वे साधन हैं, जिनके द्वारा वह इस धरातलपर क्रमशः अभिव्यक्त होगा। उसके साथ-साथ इस बातकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेष्टा भी होगी कि उक्त तथ्यका लोगोंको केवल ज्ञान ही नहीं रहे, वरं पृथ्वीपर उस दिव्य तत्वका साम्राज्य भी स्थापित हो अर्थात् लोगोंके जीवनमें वह वस्तु उतर आये। अभिप्राय यह है कि अपने समकालीन लोगोंके साथ एकत्व हमारे निखिल जीवनका प्रमुख सिद्धान्त बन जायगा। वह सहयोगका निरा सिद्धान्त ही न होगा, अपितु गम्भीरतर भ्रातृत्व तथा एकत्व और समत्वकी एक यथार्थ एवं आभ्यन्तरीय भावना होगी। व्यक्तिको यह अनुभूति होगी कि उसके समकालीन लोगोंके जीवनमें ही उसका अपना जीवन पूर्ण होता है। जातिको यह अनुभूति होगी कि केवल व्यक्तिके पूर्ण और मुक्त जीवनके ऊपर ही उसकी पूर्णता और स्थायी सुख अवलम्बित हो सकता है।

यह स्पष्टरूपसे स्वीकार कर लेना चाहिये कि अबतक मानव-जातिके इतिहासमें भ्रातृत्वका भाव सार्वभौम होनेकी अपेक्षा एकपक्षीय ही रहा है और कुछ प्रमाणवाक्य, जो सार्वभौम-तत्त्वकी शिक्षा देते हैं, अधिकांशमें आचारसम्बन्धी व्यावहारिक मार्ग-प्रदर्शनके लिये सजीव प्रेरणा न होकर केवल पवित्र सिद्धान्तके ही रूपमें स्वीकार किये जाते हैं। अतएव प्रत्येक धर्मका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सत्यपर जोर दे और उसको व्यवहार्य बनानेका संस्कार पैदा करे; राहकी रुकावटोंको मिटा दे और पृथक् करनेवाली दीवालोंको धराशायी कर दे। परंतु भ्रातृत्वमें प्रवेश करनेकी शर्तके रूपमें यदि किसी धर्मविशेषको स्वीकार करनेके लिये बाध्य किया जाता है तो उससे उक्त उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा। यह बात दिखायी पड़नी चाहिये कि भ्रातृत्व एक नैसर्गिक तथ्य है। इसकी जड़ किसी एकमात्र सत्तामें है, जिसके हम सभी अंश हैं। कोई भी अपराध इसे मिटा नहीं सकता। ऊँची-से ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेनेपर भी इससे छुटकारा नहीं। इसमें सभीको स्थान है—नीच-से-नीचको भी, महान्-से-महान्को भी, तुच्छ-से-तुच्छ और उच्च-से-उच्चको भी, यह हमारा अदम्य जन्मसिद्ध अधिकार है, इसे कोई छीन नहीं सकता। जहाँ कहीं ईश्वर अन्तर्यामी है, वहाँ भ्रातृत्वकी स्थिति है।

जबतक मनुष्य अपनेको शरीररूपमें जानता है, आत्मा-

के रूपमें नहीं जानता, तबतक भ्रातृत्वकी अनुभूति नहीं होती; क्योंकि जो बाहर है, उसको निरन्तर अधिकारमें करने, ग्रहण करने तथा पहलेसे ही अधिकृत वस्तुमें मिला लेनेसे भौतिक वृद्धि होती है; सारी भौतिक वस्तुएँ ह्रासको प्राप्त होती हैं तथा व्यवहारमें लानेपर अन्तमें नष्ट हो जाती हैं; और चूँकि प्राप्य वस्तुएँ परिमाणमें सीमित होती हैं एवं आगे चलकर उनपर अधिकार जमानेवालोंकी संख्या विपुल हो जाती है; अतएव अधिकारके लिये संघर्ष पैदा होता है। वस्तुओंको ग्रहण करके उनपर अधिकार जमाये रखना भौतिक सफलताका हेतु है। परंतु जब मनुष्य अपनेको शरीर न समझकर आत्मा समझने लगता है, तब उसको ज्ञात होता है कि विभाजन और प्रदान विकास और शक्तिके हेतु हैं। आध्यात्मिक सम्पत्ति व्यवहारमें लानेपर बढ़ती है, नष्ट नहीं होती। जितना ही प्रदान करो, उतनी ही वह वृद्धिको प्राप्त होती है। जितना ही बाँटो, उतना ही वह पूर्ण अधिकृत एवं आत्मसात् होती जाती है। अतएव भ्रातृत्वकी जड़ अध्यात्ममें होनी चाहिये और उसका प्रसार होना चाहिये बुद्धि एवं भावनाओंके राज्यमें, जिससे अन्तमें जाकर भौतिक क्षेत्रमें भी वह व्याप्त हो जाय। बाहरसे राजकीय विधानके द्वारा इसका सृजन नहीं किया जा सकता; वह तो अन्तरसे फूट पड़नेवाला और आत्माका जय-स्रोत होना चाहिये।

अतीतकालके इतिहासके अध्ययनसे, उन लोगोंको भी, जो तर्कके द्वारा प्रभावित होनेके लिये तैयार नहीं होते, यह मानना पड़ता है कि भ्रातृत्व वस्तुतः एक प्रकृतिगत विधान है; क्योंकि कोई विधान अपनेको तभी पूर्णतया प्रमाणित कर सकता है, जब वह अपनी अवज्ञा करनेवालोंको ध्वंस करे तथा अपने साथ सामञ्जस्य रखनेवालोंकी सहायता करे। भ्रातृत्वकी उपेक्षा करके कितने ही राष्ट्र और राज्य, एकके बाद दूसरे विनाशको प्राप्त हो गये। जहाँ बलवान्, दुर्बलकी रक्षा न करके उसे सताता है, जहाँ धनी गरीबकी सहायता न करके उसका शोषण करता है, जहाँ विद्वान् अज्ञानीको शिक्षित न करके उससे घृणा करता है, वहाँ प्रकृति अपनी निर्दय लेखनीसे सभ्यताके ललाटपर लिख देती है—'अभिशप्त!' और कुछ ही समयमें वह सभ्यता लुप्त हो जाती है। भ्रातृत्वको व्यवहारमें उतारनेपर ही ऐसी सभ्यताका जन्म होगा, जो नष्ट नहीं होगी।

यह भी ध्यान देनेकी बात है कि प्रत्येक धर्मके प्रारम्भिक दिनोंमें भ्रातृत्वकी भावना प्रबल रही; परंतु ज्यों-ज्यों वह धर्म पुराना पड़ता गया, भ्रातृभावना क्रमशः विलीन होती गयी। भारतीय शास्त्रोंमें एक स्वर्णयुगका उल्लेख आता है, जिसमें सारा राष्ट्र एक परिवारके समान नियमबद्ध जीवन व्यतीत करता था, जहाँ सभी शिक्षित थे, सभी उद्योगी थे, सब लोग भाई-भाईके समान प्रेमसे रहते थे। भगवान् बुद्धके चतुर्दिक् जो शिष्य-समाज था, उसमें अति सुन्दर भ्रातृभावका साम्राज्य था। प्रारम्भिक-कालके ईसाइयोंकी सारी वस्तुएँ सभीके लिये होती थीं और प्रत्येक आदमी अपनी आवश्यकताके अनुसार उनका उपयोग करता था। अरबके पैगम्बरके सहचर भाई-भाईकी तरह रहते थे और पैगम्बर उनमें बड़े भाईके समान रहते थे। जान पड़ता है कि प्रत्येक धर्मकी प्रथम अभिव्यक्ति भ्रातृभावमें होती है और यह सहज ही, बिना किसी बल-प्रयोगके भीतरसे फूट निकलती है। जब कोई नया धर्म आत्माके बलपर अङ्गीकृत किया जाता है और विशुद्ध भक्ति-भावनासे उसका पालन होता है, तब वह स्वभावतः भ्रातृत्वके साँचेमें ढल जाता है; क्योंकि आत्मामें स्थायीरूपसे उत्साह बना नहीं रहता। लेकिन सदा ही स्वार्थकी भावनाका प्रवेश हुआ, सदा ही स्वर्णकी दीप्ति मन्द पड़ी। लोभ एवं डाह प्रारम्भिक उत्साहको कलङ्कित कर देते हैं। फिर भी मानवताके महान् प्रेमियों एवं महान् संतोंके मानस-क्षितिजपर समय-समयपर भ्रातृत्वके आधारपर अवलम्बित स्थायी सभ्यताके स्वप्न या आशाएँ समय-समयपर चमक उठी हैं। ऋषि-मुनियोंने इसकी ओर संकेत किया है, कवियोंने इसका गान किया है, दार्शनिकोंने इसकी रूप-रेखा प्रदर्शित की है, शहीद भी इसके लिये बलिदान हुए हैं; मानवताके वरिष्ठ बन्धुओं एवं संसारके धर्मगुरुओंकी महामण्डली इसकी स्थापना करेगी और जिसके पलनेमें सभी धर्म लालित होते हैं, वह प्रेमका तत्त्व मानव-जातिको परिपुष्ट करेगा।

राम रम रहा है

दुनियामें सबके अंदर एक राम रम रहा है।
एक सत्य चेतन सबमें दृढ़तासे जम रहा है॥

वेदोपनिषदीय महापुरुष-मीमांसा

(लेखक—डा० श्रीमुंशीरामजी शर्मा एम्० ए०, डी० लिट्०)

महापुरुष किसे कहते हैं ? उसमें क्या विशेषताएँ होती हैं ? उन विशेषताओंका व्यक्तित्व एवं सामाजिक मूल्य क्या है ? महापुरुषके सम्बन्धमें चिन्तन करते हुए इस प्रकारकी प्रश्नावली स्वभावतः एक जिज्ञासुके मानसमें उत्पन्न होने लगती है।

महापुरुषकी महत्ताका प्रमाण क्या है ? इस महत्ताको हमें किस कसौटीपर कसना चाहिये ? तत्त्व-चिन्तकोंने इन प्रश्नोंपर अनेक प्रकारसे विचार किया है। पाश्चात्य मनीषियोंने मानव-मस्तिष्कका विश्लेषण करते हुए उसमें तीन शक्तियोंकी प्रधानता स्वीकार की है। ये तीन शक्तियाँ हैं—Cognition, Will and Feeling अर्थात् ज्ञान, इच्छा और अनुभूति। न्यायदर्शनमें आत्माके छः चिह्न बतलाये गये हैं—ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख। पूर्वोक्त तीन शक्तियोंमें इन छः चिह्नोंका समावेश सुगमतासे हो सकता है। मानव-विकासमें इन तीन शक्तियोंका अत्यधिक महत्त्व है; जिस मनुष्यने अपनी इन तीन शक्तियोंका समुचित विकास किया है, वह वास्तवमें महापुरुष है। इस महापुरुषमें उच्चकोटिका ज्ञान होगा। सत्कार्य करनेकी उत्कट इच्छा और उसकी पूर्तिके लिये प्रचण्ड पराक्रम इस पुरुषकी विशेषता होगी। महापुरुष आर्तपरायण होता है। उसके अन्तर्गत व्यथित व्यक्तिके प्रति सहानुभूति एवं उसके सुख-दुःखकी विशेष अनुभूति पायी जाती है।

वेदने मानवके बाह्य एवं आन्तरिक मूल्यका विश्लेषण करते हुए उसके विकासकी पाँच कोटियाँ निर्धारित की हैं। द्विज-पावमानी वरदायिनी वेदमाताकी स्तुति करता हुआ ऋषि कहता है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। (अथर्व० १९। ७१। १)

विश्वमें ऐसे मानवोंकी संख्या बहुत अधिक है, जो सुखपूर्वक लंबी आयु भोगना चाहते हैं। इन्हें निश्चिन्त रहते हुए जीवन-यापन करना अच्छा लगता है। अपनेको जोखिममें डालना, जान-बूझकर स्वेच्छासे दुःखको वरण करना, दूसरेके दुःखको दूर करनेके लिये प्राणोंपर खेल जाना—इन व्यक्तियोंके वशके बाहरकी बात है। ये लंबी आयुके भूखे होते हैं। इन्हें अपने प्राणोंकी विशेष चिन्ता रहती है। उदर-दरीको भर लेना और साँस लेते रहना—बस, यही इनके जीवनकी विशेषता होती है।

दूसरी कोटि ऐसे मानवोंकी है, जिन्हें आयु और प्राणोंकी अपेक्षा पशु तथा द्रविण (धन) का विशेष चिन्ता होती है। पशु-पालनमें अपनी प्राण-रक्षाके साथ उस पशुके प्राणोंकी रक्षा भी आवश्यक होती है। पशुके पालनकी भावना मानवके ऊपर एक प्रकारके उत्तरदायित्वका भार रख देती है, जिसका निर्वाह करना उसके लिये अनिवार्य हो जाता है। धन कमानेमें भी अनेक आपत्तियों और विघ्नोंका सामना करना पड़ता है। व्यापारीवर्ग अपने घरमें सर्वदा सुखकी नींद नहीं सो सकता। घर-बार छोड़कर उसे विदेश-यात्रा करनी पड़ती है। लोकोक्ति है—घर छोड़ा तो आराम कहाँ ? शारीरिक सुख इस वर्गको धनके आधारपर मिल जाता है, पर निश्चिन्त जीवन कभी नहीं रह पाता। धनकी चिन्ता सर्वदा इसे सताया करती है। प्रथम कोटिके मानवोंकी अपेक्षा इस कोटिके मानवोंकी संख्या कम होती है।

तीसरी कोटिके मानव वे हैं, जिन्हें न अपने प्राणोंकी चिन्ता है और न धन पैदा करनेकी। इस कोटिके मानव कीर्तिके पिपासु होते हैं। कीर्तिकी कामना, यश-विस्तारकी भावना इनके जीवनमें प्रमुख होती है। यशःप्राप्तिके लिये ये मानव अपने प्राणोंको हथेलीपर रखे रहते हैं और धनको पानीकी तरह बहा देते हैं। इन्हें कीर्ति और सम्मान चाहिये। यशके पीछे इन्हें अपना सर्वस्व भी खोना पड़े तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। संस्कृतके एक सूक्तिकारने ऐसे ही प्राणियोंके लिये कहा है—

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

अर्थात् अधम व्यक्ति धनकी इच्छा करता है, मध्य कोटिका मानव धन और मान दोनों चाहता है। पर उत्तम मानव केवल मानकी आकाङ्क्षा करता है। इस सूक्तिकारने वेद-निर्दिष्ट मानव-विकासकी प्रथम कोटिपर विचार ही नहीं किया। द्वितीय कोटिको भी यह अधम श्रेणीमें रखता है और

सम्मानकी भूखी तीसरी कोटिको यह उत्तम स्थान देता है। पर वेद मानव-विकासको कीर्ति-कामनापर ही समाप्त नहीं कर देता। कीर्तिके पिपासु मानवोंसे भी बढ़कर वह ऐसे मानवोंकी कल्पना करता है, जिन्हें न तो आयुकी आकाङ्क्षा है, न धन कमानेकी चिन्ता है और न वे अपना यश ही चाहते हैं। इन्हें अपने जीवनमें केवल एक ही भूख लगती है—यह भूख है ज्ञानकी। ज्ञानके पीछे ये मतवाले बन जाते हैं। एक समस्याका हल ढूँढ़ लेना इन्हें पुत्र-प्राप्तिसे बढ़कर सुख देता है। इनके ज्ञानमें जितनी ही वृद्धि होती जाती है, उतना ही अधिक ये ज्ञानके पीछे पड़ते जाते हैं—यहाँतक कि ज्ञान ही इनका चिर-जीवन-सङ्गी बन जाता है। आर्य-संस्कृतिने ज्ञानी व्यक्तिको बहुत ऊँचा स्थान दिया है। मनुस्मृतिमें लिखा है कि ज्ञानी ब्राह्मणके सभामें पदार्पण करते ही राजाको सिंहासन छोड़कर खड़े हो जाना चाहिये। राजा एक वेदज्ञ ब्राह्मणकी बात स्वीकार करे, पर सैकड़ों कामी व्यक्तियोंकी मन्त्रणापर ध्यान न दे। रथारूढ़ राजाके मार्गमें यदि सामनेसे ब्रह्मचारी (ज्ञानमें विचरण करनेवाला) आ जाय तो राजा अपने रथको रोक दे और ब्रह्मचारीको निकल जानेके लिये मार्ग दे दे। इस प्रकारके अनेक कथन आर्य-संस्कृतिमें ज्ञानकी मान्यताका उल्लेख करते हैं। प्राचीन यूनानमें भी तत्त्वचिन्तकोंको सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो चुका है। एक स्थानपर वेदने ब्राह्म और क्षात्र दो शक्तियोंके समन्वय-पर भी बल दिया है।

पर वेद मानव-विकासको ज्ञानपर भी समाप्त नहीं करता; वह मानवको इसके भी ऊपर ले जाता है। वह मानवकी निर्बलताको पकड़ता है और उस निर्बलताका समूल नाश करके उसे शुद्ध आत्मतत्त्वपर प्रतिष्ठित करना चाहता है। मानवकी यह निर्बलता उसके जन्मसे ही प्रारम्भ हुई है। जन्मका अर्थ यहाँ आविर्भाव है। प्रकृति जब विकृतिकी ओर चलती है, तब उसका सर्वप्रथम विकार महत्तत्त्व होता है। इस महत्तत्त्वसे अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही आत्माकी सबसे बड़ी निर्बलता है। मानवको जिस प्रकार धनका अहंकार होता है, उसी प्रकार सम्मानका भी; और धन तथा मानके अहंकारकी भाँति ज्ञानका भी अहंकार हो सकता है। जबतक यह अहंकार चिपटा है, तब तक मानव अपने आत्मतत्त्वसे दूर रहता है। अपने स्वरूपमें अवस्थित होना तो तभी सम्भव है, जब अहंकारका नाश हो जाय। इसी हेतु वेद मानवद्वारा,अर्जित इन सभी शक्तियोंके समर्पणकी भावनाको ऊँचा स्थान देता है। अहंकार मानवको क्षीणता, ह्रास और अल्पताकी ओर ले जाता है। वेद उसे ब्रह्म अर्थात् बड़प्पनकी ओर ले जाना चाहता है। जो महान् है, वह अल्पतासे क्यों प्रेम करेगा?

वेदने इस प्रकार मानव-विकासकी पाँच कोटियाँ निर्धारित की हैं।

तैत्तिरीय-उपनिषद्‌के ऋषिने मानव-विकासको एक दूसरे क्रमसे समझानेका प्रयत्न किया है। इसने सर्वप्रथम मानव-आनन्दकी व्याख्या की है। मानव-आनन्द क्या है? ऋषिके शब्दोंमें मानव-आनन्दके लिये निम्नाङ्कित बातोंकी आवश्यकता है—

सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधु-युवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

अर्थात् मनुष्य-सम्बन्धी सुख प्राप्त करनेके लिये पुरुषको युवा, श्रेष्ठ युवा, पठित, सुदृढ़, अतिशय बलवान् और उच्चाकाङ्क्षायुक्त होना चाहिये। इसके अतिरिक्त धनसे पूर्ण यह समग्र वसुधा उसके अधिकारमें होनी चाहिये। इस प्रकार-की विशेषताओंसे युक्त मानवको आनन्द प्राप्त होता है। यदि इस आनन्दकी संख्या हम एक मान लें तो इसका सौगुना आनन्द संगीत-नृत्य-निपुण एक मनुष्य-गन्धर्वको प्राप्त होता है, जिसने वाणी, स्वर अथवा शब्दकी साधना की है तथा जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) है और अकामहत अर्थात् कामनाओंके वशीभूत नहीं है। मनुष्य-गन्धर्वद्वारा जो आनन्द प्राप्त किया जाता है, उसका सौगुना आनन्द वेदज्ञ, कामना-रहित एक देव-गन्धर्वको प्राप्त होता है। मानव और देवका अन्तर समझनेके लिये हमें एक साधारण अध्यापक और प्रोफेसरका अन्तर ध्यानमें रखना चाहिये। मानव-गन्धर्व भी कलाकार है और देव-गन्धर्व भी; परंतु एक साधारण कला-नैपुण्य रखता है तो दूसरा उसका विशेषज्ञ है। देवका अर्थ ही है चमकनेवाला, अपनी प्रतिभा-प्रदीप्तिसे चतुर्दिक् प्रकाशित होनेवाला। आधुनिक युगमें यदि मनहर बरवे आदि मानव-गन्धर्व हैं तो उदयशंकरको देव-गन्धर्व कहा जा सकता है। बलवान्‌से बलवान्, धनी, मानी, सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति नृत्यकलाका आनन्द लूटनेके लिये अपने ऐश्वर्यको पानीकी तरह बहा देता है। इसी हेतु मानव-गन्धर्व तथा देव-गन्धर्वके आनन्दको मानव-

आनन्दसे बढ़कर माना गया है। पर एक विशेषता गन्धर्वके साथ लगी हुई है, फिर वह चाहे मानव-कोटिका हो, चाहे देवकोटिका। यह विशेषता है—उसका श्रोत्रिय तथा अकामहत होना। यदि गन्धर्व श्रोत्रिय नहीं है, वेद-पाठसे वञ्चित है तथा कामनाओंके वशीभूत है तो उसे यह गौरवशाली पद प्राप्त नहीं हो सकता। जिसने नृत्य-कला अथवा संगीतको धन कमानेका साधन बना रखा है, जिसने लोभके ऊपर विजय प्राप्त नहीं की, जो वासनाओं-का शिकार बना हुआ है, वह केवल दर-दरका भिखारी बना घूमेगा; उसकी कलाका आदर सम्भ्रान्त सज्जनोंमें नहीं हो सकेगा। संगीत-कलाको उसके समुचित आसनपर समासीन करनेके लिये आवश्यक है कि वह वेदज्ञ तथा कामनारहित कलाकारके हाथमें हो।

तैत्तिरीय उपनिषद्का ऋषि स्वर-साधक, वाणीके अधिष्ठाता, गन्धर्वोंसे ऊपर पितरोंको स्थान देता है। ये पितर भी वेदज्ञ तथा कामनारहित हों। समाजमें पितर कौन है ? संस्कृतमें 'पितृ' पालक तथा रक्षकको कहते हैं। अतः समाजमें जिन व्यक्तियोंके ऊपर रक्षाका भार है, जो समाजकी सुरक्षा एवं सुव्यवस्थाका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिये हुए हैं, जो प्रजाके परित्राणके लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगा सकते हैं, वे ही पितर हैं। समाजमें यह कार्य क्षत्रियों, योद्धाओं तथा शूरवीरोंका है। परंतु जब शूरवीरता अवैदिक भाव धारण कर लेती है, अपना उद्देश्य अपने अंदर ही स्थापित कर लेती है तथा वह सकाम धनोपार्जनका साधन अथवा भाड़ेका टट्टू बन जाती है, तब वह भी अपने उचित आसनसे पद-च्युत हो जाती है। क्षात्र-शक्तिके सम्मानके लिये आवश्यक है कि वह वैदिक भावना, यज्ञिय अर्थात् कल्याणकारिणी भावना-से ओत-प्रोत हो। कामनाएँ, वासनाएँ, लालसाएँ उसका प्रयोग अपने स्वार्थसाधनके लिये न कर सकें। वह सांसारिक एषणाओंसे ऊपर उठी रहे। जन-कल्याणकारिणी, मानव-हित-साधिका, प्रजा-पालन-परायणताकी भावना ही उसका उद्देश्य तथा लक्ष्य बने। गन्धर्वोंके आनन्दसे सौगुना आनन्द ऐसे पितरोंका एक आनन्द कहा गया है।

उपनिषद्का ऋषि पितरोंसे भी बढ़कर देव-आनन्दको मानता है। रक्षण-शक्तिसे भी ऊपर उसने देव-शक्तिको स्वीकार किया है। यह देवशक्ति ब्रह्मशक्ति है। ऋषिने देवों, ब्राह्मणों अथवा ज्ञानियोंके तीन भेद किये हैं—आजानज देव, कर्मदेव तथा देव। आजानज देव तत्त्व-चिन्तनशील ज्ञानी हैं, जो कोरी सिद्धान्तवादिताके क्षेत्रमें रमण किया करते हैं, जिन्होंने केवल तात्त्विक सिद्धान्तोंका ही अध्ययन किया है, उनका परीक्षात्मक प्रयोग नहीं किया। साहित्य-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञानके सिद्धान्तोंको समझ लेना और उनको पढ़ा देना एक बात है; पर उनको क्रियात्मक-रूपमें प्रदर्शित कर देना दूसरी बात है। कोरे सिद्धान्तवादियों-को हम आजानज देव कहेंगे; पर जो अनुसंधान, परीक्षण तथा क्रियात्मक प्रयोगद्वारा उन सिद्धान्तोंको स्पष्ट करनेमें लगे हुए हैं, उन्हें हम कर्मदेव कहेंगे। सापेक्षताके सिद्धान्त (Theory of Relativity) अथवा अणु-विश्लेषक सिद्धान्तको पढ़कर विद्यार्थियोंके समक्ष प्रस्तुत करनेवाला प्रोफेसर आजानज देव है, तो ऑटो हैन अथवा सर सी० वी० रामन्के समान अपनी प्रयोगशालामें उसका परीक्षण करनेवाला विद्वान् कर्मदेव है। तीसरी कोटिमें शुद्ध देव आते हैं। ये कर्मदेवोंके अनुसंधान, परीक्षण तथा प्रयोगको संचालित करनेवाले हैं, उनके मार्ग-प्रदर्शक हैं, निरीक्षक हैं। इस प्रकार पितरोंके आनन्दका सौगुना आनन्द आजानज—सिद्धान्तवादी ज्ञानी ब्राह्मणों अथवा देवोंका एक आनन्द है; कोरे सिद्धान्तवादी देवोंके आनन्दका सौगुना आनन्द कर्मदेवोंका एक आनन्द है और कर्मदेवोंके आनन्दका भी सौगुना आनन्द शुद्ध देवकोटिमें पहुँचे हुए ब्राह्मणोंका एक आनन्द है।

ऋषिने ज्ञानी ब्राह्मणोंसे भी ऊपर पद इन्द्रको प्रदान किया है। देवोंके आनन्दका सौगुना आनन्द इस इन्द्रका एक आनन्द है। इन्द्रका अर्थ राजा है। पितर क्षत्रिय हैं, देव ब्राह्मण हैं, तो इन्द्र अपनी प्रजाके श्रेष्ठ भाग क्षत्रिय और ब्राह्मणका भी शासन करनेवाला है, उनके कार्य तथा शक्तियोंके विकास एवं प्रदर्शनके लिये समुचित क्षेत्र तैयार करनेवाला, विघ्न-बाधा-रहित वातावरणको उपस्थित करनेवाला और सब प्रकारसे उनकी सहायता करनेवाला है। इन्द्रको इसी कारण देवोंका स्वामी कहा गया है। ऑटो हैन देव है, तो उसके अणु-बमके सिद्ध प्रयोगको सिद्ध कोटितक पहुँचानेका श्रेय प्राप्त करने-वाला अमेरिकाका अधिपति इन्द्र है। ऋषिने आगे चलकर इन्द्रके आनन्दका सौगुना आनन्द बृहस्पतिके एक आनन्दको माना है। समाजमें यह बृहस्पति कौन हो सकता है ? पौराणिक अनुश्रुतिमें बृहस्पति इन्द्रके गुरु कहे गये हैं। अतः बृहस्पतिका स्थान समाजमें वही व्यक्ति ले सकता है, जिस-की मन्त्रणा प्राप्त करनेके लिये राजा भी लालायित हों। दण्डी संन्यासीका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये अनेक देशोंका विजयी

अलक्षेन्द्र सिन्धुतटपर बनी उसकी एक साधारण कुटियातक पैदल चलकर गया था। गांधीकी मन्त्रणा प्राप्त करनेके लिये अनेक राजपुरुष लालायित बने रहते थे। गुरु वशिष्ठ तथा महर्षि व्यास इसी कोटिके व्यक्ति थे। हाँ, एक बात रह गयी। जिस प्रकार वेदज्ञ तथा अकामहत (कामनारहित) होना कलाकारों अथवा पितरों (क्षत्रियों) के लिये आवश्यक था, उसी प्रकार वह ब्राह्मण, राजा तथा बृहस्पतिके लिये भी आवश्यक है। आर्य-संस्कृतिकी यह मूल बात मानव-विकासकी आधारशिला है। पाश्चात्त्य संस्कृति वेदज्ञता अथवा ज्ञान-प्राप्तिपर तो बल देती है, पर कामनाओंको वशीभूत करनेकी अपेक्षा वह उनकी लगाम ढीली छोड़ देना चाहती है। इच्छाएँ जितनी बढ़ सकें, उन्हें बढ़ने दो; उन्हें रोकनेसे, नियन्त्रण करनेसे मानव अपना विकास नहीं कर सकेगा। यह ऐसी बात है, जो आर्य-संस्कृतिके मूलाधारसे एकदम विपरीत है। अकामहत होकर ही वशिष्ठ, बृहस्पति, व्यास तथा गांधी राजगुरुका पद प्राप्त कर सके हैं। यदि ये सकाम होते तो राजा अन्य ज्ञानी ब्राह्मणोंकी भाँति इनको भी वेतन-भोगी बनाकर अपने शासनमें रख सकता था। ऐसे गुरुओंका पद पाश्चात्त्य-संस्कृतिमें कदाचित् ही कहीं प्राप्त हो। वेतनभोगी, शासन-व्यवस्थाके अन्तर्गत रहनेवाला ब्राह्मण भी कामनारहित हो सकता है, पर सांसारिकता कुछ-न-कुछ अनायास उसके साथ लग ही जाती है।

ऋषिने आगे चलकर मानव-विकासकी दो कोटियाँ और वर्णित की हैं। ये कोटियाँ प्रजापति और ब्रह्माकी हैं। प्रजापति वीतराग, विदेह, राजर्षि, चक्रवर्ती सम्राट्की संज्ञा है और ब्रह्म परमेश्वरमें लीन मुक्तात्माओंका नाम है। बृहस्पति निःस्पृह, उच्च कोटिका ज्ञानी महात्मा है; पर उसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध सांसारिकताके साथ है ही। राजाओंका गुरु होना स्वतः सांसारिकताके साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है। महात्मा गांधी भी इसका अपवाद नहीं थे। वे काँग्रेससे पृथक् थे; पर काँग्रेसकी चिन्ता, उसके ध्येयकी पूर्ति उनके मस्तिष्कमें विद्यमान रहती ही थी। इस प्रकारके राजगुरुओंकी अपेक्षा राजर्षि विदेह प्रजापतिका आसन निस्संदेह ऊँचा है। यह प्रजापतिका पद लीग आफ नेशन्सके अधिपतिके समान है, पर उस अधिपतिको वेदज्ञ और अकामहत होना चाहिये। राजर्षि जनकके समान इस अधिपतिको 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' रहना चाहिये। विदेहराजके पास बड़े-से-बड़े ज्ञानी भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जाते थे। प्रजापति वेदज्ञ और कामनारहित होकर एक ओर अपनी प्रजाका अनुरञ्जन और पालन करता है तो दूसरी ओर वह अध्यात्मविद्याकी निधि है, आत्मज्ञानी है। प्रजापतिसे ऊँचा पद वेदज्ञ, कामनारहित ब्रह्मलीन मुक्तात्माका है। मानव-विकासकी यही सीमा है। इससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं। आत्मा आनन्दसे ही आविर्भूत हुआ था। सांसारिकतामें पड़कर वह इस आनन्दसे वञ्चित होता गया, पर पुनः वेदज्ञ तथा कामना-रहित होकर उसने अपना विकास किया। ज्ञान और अनासक्तिने उसे मानव, गन्धर्व, पितर, देव, इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापतिकी कोटियोंमें क्रमशः ले जाकर उसकी सांसारिकताका नाश कर दिया और अन्तमें विकासकी सर्वोच्च कोटि ब्रह्मलीनता, परमानन्दमयता तक उसे पहुँचा दिया। आत्मा जहाँसे चला था, विकसित होकर पुनः वहीं जा मिला।

वेदके मन्त्रकी संगति औपनिषद ऋषिके अनुभवके साथ भलीभाँति बैठ जाती है। मन्त्रमें मानव-विकासकी पाँच कोटियाँ वर्णित हुई हैं—शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और सर्वस्व समर्पण करनेवाला ब्रह्मलीन आत्मा। शूद्र निश्चिन्त होकर जीवनयापन करना चाहता है। उसे ज्ञानी, शक्तिशाली अथवा धनी होनेकी चिन्ता नहीं होती। चिन्ता केवल एक बातकी है कि वह अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ बहुत दिनोंतक जीवित बना रहे। वैश्यको धनोपार्जनकी चिन्ता रहती है। उपनिषद्के मानव आनन्दसे ये दोनों कोटियाँ कुछ हीन ही ठहरती हैं। पर वैश्यकोटि ऐसी हो सकती है, जिसमें मानव-आनन्दका अनुभव हो सके। वैश्यसे उच्च कोटि कलाकारोंकी है। ये कलाकार वैश्य और क्षत्रिय (पितर) के मध्यमें पड़ते हैं। पर इनके भी दो विभाग हैं—मानव और देव। मानव कलाकार (गन्धर्व) वैश्यसे ऊपरकी विकसित अवस्थाको प्राप्त कर चुके होते हैं। इसके विपरीत देव-गन्धर्व, देव-गायक, ज्ञानी अथवा ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय-कोटिसे कुछ निम्नस्तरपर विराजमान हैं। इनके पश्चात् पितरोंकी, क्षत्रियोंकी विकसित अवस्था आती है। क्षत्रियोंके ऊपर भाव-प्रधान क्रान्तद्रष्टा कवि, विप्र अथवा ब्राह्मणोंका पद है। मन्त्रमें इस कोटिके पश्चात् ही ब्रह्मलीन आत्माओंकी अन्तिम कोटि वर्णित है; पर उपनिषद्के ऋषिने इन दोनोंके बीच इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापतिकी तीन कोटियाँ और मानी हैं। संक्षिप्त वर्णनके लिये, सूत्ररूपमें विकासका क्रम प्रदर्शित करनेके लिये, वेदमन्त्र अतीव उपयुक्त हैं; परंतु विस्तृत वर्णनके लिये, विकास-क्रमको और भी अधिक सुचारु रूपसे प्रकट

करनेके लिये, उपनिषद्के ऋषिका अनुभव लाभकारी है।

डार्विनका विकासवाद जहाँ समाप्त होता है, वहाँसे वैदिक विकासवादका प्रारम्भ होता है। इसके समझनेमें पाठकोंको अधिक कठिनाईका अनुभव नहीं होगा। डार्विनके विकासवादको विकासका नाम देना कदाचित् भ्रमात्मक भी है; पर ऊपर जिस वैदिक विकासवादकी स्थापना की गयी है, वह मानव-बुद्धिगम्य और ऋषियोंका अनुभूत ज्ञान है। डार्विनके विकासवादको स्वीकार करनेमें बुद्धिने बहुत आगा-पीछा किया है। डार्विनके विपक्षी कई विद्वानोंने उसके सिद्धान्तोंकी धज्जियाँ उड़ा दी हैं, पर वैदिक ऋषियोंद्वारा वर्णित विकासवाद तर्क, युक्ति और अनुभवकी कसौटीपर कसा जानेपर खरा एवं सत्य सिद्ध हो रहा है। वैदिक विकासवादकी सिद्धान्तधारा त्रिकालाबाधित है, वह देश और समय दोनोंकी परिधियोंसे अपरिच्छिन्न है।

वैदिक विकासवादके अनुसार महापुरुष वही है, जिसने अपना सर्वोच्च कोटिका विकास किया है। गीतामें योगिराज श्रीकृष्णने जब कहा था—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१५।१८)

—तो उनके इस कथनमें 'पुरुषोत्तम' शब्द उनके परम उच्च कोटिके विकासका ही सूचक था।

ऋग्वेदीय मन्त्र-द्रष्टा

(लेखक—ऋग्वेद भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

वेद-विज्ञाताओंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—नित्यतावादी, आर्षमतवादी और ऐतिहासिक। इसमें संदेह नहीं कि यास्काचार्यने वेदार्थ करनेके इन नौ पक्षोंको उद्धृत किया है—अध्यात्म, अधिदैवत, आख्यान-समय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, याज्ञिक और पूर्वयाज्ञिक। इन बारह निरुक्तकारोंके बारह प्रकारके मत भी लिखे हैं—औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूर्णि, और्णवाभ, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्ठीवि, क्रौष्टुकि और कात्थक्य; परंतु पूर्वोक्त तीन प्रधान मतवादोंमें सारे पक्ष और मत समाविष्ट हो जाते हैं। तीनोंमें पहला मत तो वेदको नित्य मानता है, दूसरा वेदकी ज्ञान-राशिको शाश्वत समझता है और तीसरा वेदको संसारका प्राचीनतम ग्रन्थ समझता है। पुराने और नये—जितने भी ऐतिहासिकोंने वेदके स्वाध्याय या शोधके कार्य किये हैं, उन सबका सुदृढ़ मत है कि ईजिप्शियन, मंगोलियन, ज़ोरॉस्ट्रियन, ग्रीक, रोमन, असीरियन, बैबीलोनियन, सुमेरियन, फिनिशियन, ट्यूटनिक, स्लावोनियन, वैंडिक, केल्टिक, मूसाई, यहूदी आदि जितने भी प्राचीन धर्म हैं, उनमेंसे एकका भी ग्रन्थ वेद—विशेषतः ऋग्वेदके समान प्राचीन नहीं है। इसलिये मानव-जातिके प्राचीनतम धर्म, आचार-विचार, त्याग, तप, कला, विज्ञान, इतिहास, राष्ट्र-संघटन और समाज-व्यवस्था आदिका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन ऋग्वेद ही है। यही कारण है कि संसारकी अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि प्रधान भाषाओंमें ऋग्वेदका अनुवाद हो चुका है और सारी वसुंधरामें ऐसे अनेक वैदिक संस्थान स्थापित हैं, जहाँ अबतक ऋग्वेदीय वाङ्मयपर अन्वेषण और गवेषणका कार्य चल रहा है। अनेक वेदाध्यायियोंने तो इस दिशामें अपना जीवन ही खपा डाला है। बड़े-बड़े चिन्तनशील पुरुष ऋग्वेदके विमल विज्ञानपर विमुग्ध हैं। पौरस्त्य मनीषी तो इसे धर्म-मूल समझते ही हैं—उनके मतसे तो चराचर-ज्ञानका आधार यह है ही; किंतु अधिकांश पाश्चात्त्य वेद-विद्यार्थी भी ऋग्वेदकी अलौकिकतापर आसक्त हैं।

हिंदू-जातिकी प्रख्यात पुस्तक मनुस्मृति (२ । ६) में कहा गया है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।' अर्थात् 'समस्त वेद धर्मका मूल है।' मनु महाराज एक दूसरे स्थलपर कहते हैं—'वेद न पढ़कर और यज्ञ न करके जो मनुष्य मुक्ति पानेकी चेष्टा करता है, वह नरक जाता है' (मनुस्मृति ६। ३७)। 'जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य) वेद न पढ़कर किसी भी शास्त्र या कार्यमें श्रम करता है, वह जीते-जी अपने वंशके साथ बहुत शीघ्र शूद्र हो जाता है, (मनु० २ । १६८)। मनुजीने वेदनिन्दकको ही नास्तिक कहा है, ईश्वर न माननेवालोंको नहीं (मनु० २।११)।

'The Bible in India' में जकोलियटने लिखा है—'धर्म-ग्रन्थोंमें एकमात्र वेद ही ऐसा है, जिसके विचार वर्तमान विज्ञानसे मिलते हैं; क्योंकि वेदमें विज्ञानानुसार सृष्टि-रचनाका प्रतिपादन किया गया है।' वाल साहबने 'Sex and Sex-worship' में कहा है—'संसारका प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थ ऋग्वेद है।' रैगोजिनका मत है—'ऋग्वेदका समाज बड़ी सादगी, सुन्दरता और निष्कपटताका था।' वाल्टेयरका अभिमत है—'केवल इसी ऋग्वेदकी देनके कारण पश्चिम पूर्वका सदा ऋणी रहेगा।' विख्यात वेदानुसंधित्सु मैक्समूलरने यह उद्गार प्रकट किया है—

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

अर्थात् जबतक इस जगतीतलपर पर्वत और नदियाँ रहेंगी, तबतक मानव-जातिमें ऋग्वेदकी महिमाका प्रचार रहेगा।

संस्कृत-साहित्यमें ऋग्वेदकी २१ संहिताएँ बतायी गयी हैं; परंतु इन दिनों केवल शाकलसंहिता ही प्राप्त और प्रकाशित है। सैकड़ों वर्षोंसे देश और विदेशमें इसीपर कार्य हुआ है और हो रहा है। इन दिनों ऋग्वेदका अर्थ या तात्पर्य यही संहिता है। इसमें सब १०४६७ मन्त्र हैं। चारों वेदोंकी ११३१ संहिताओंमें केवल साढ़े ग्यारह प्रकाशित हो सकी हैं, जिनमें यह सबसे बड़ी है। सामवेदकी कौथुम-संहितामें इसीके मन्त्र भरे पड़े हैं—केवल ७५ मन्त्र कौथुमके अपने हैं। अथर्ववेदकी शौनकसंहितामें भी शाकलके १२०० मन्त्र हैं। कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहितामें भी शाकलके बहुत मन्त्र हैं। अन्य प्राप्त संहिताओंमें भी इसके अनेकानेक मन्त्र हैं। इसीलिये कहा जाता है कि 'इसके सविधि स्वाध्याय-से प्रायः सारे वेदोंका स्वाध्याय हो जाता है।' परंतु इसके लिये पहले ब्राह्मण-ग्रन्थ, निरुक्त, प्रातिशाख्य, जैमिनीय मीमांसा, सायण-भाष्य आदिका अध्ययन आवश्यक है।

शाकलसंहितापर स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, हस्तामलक, वेङ्कट माधव, लक्ष्मण, धानुष्कयज्वा, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, रावण, मुद्गल, देवस्वामी, चतुर्वेदस्वामी आदिके भाष्य हैं; परंतु कुछ तो अप्रकाशित हैं और जो प्रकाशित भी हैं, वे अधूरे हैं। केवल सायणका भाष्य पूर्ण है। सम्पूर्ण शाकलसंहिताके स्वाध्याय, मनन-चिन्तन और अन्वेषणका आधार एकमात्र यही है। इसी सायणभाष्यके अवलम्बपर निखिल जगत्में ऋग्वेदके अनुवाद और शोधका कार्य चल रहा है। यह भाष्य परम्परा-प्राप्त अर्थका अनुधावन करनेवाला है, इसीलिये प्रामाणिक माना जाता है। सायण-भाष्य नहीं रहता तो विश्वमें ऋग्वेदका विशद विस्तार भी नहीं होता, इस ओर संसार अन्धकारमें ही रहता।

ऋग्वेदीय मन्त्रोंके द्रष्टा केवल साधारण या उद्भट साहित्यिक ही नहीं थे, वे तपोमूर्ति और सत्यसंध थे। आर्षमतवादी कहते हैं कि 'ईश्वरीय ज्ञान अनन्त और अगाध है। किसी-किसी सत्यकाम योगीको समाधि-दशामें इस वैदिक ज्ञान-राशिके अंशका साक्षात् हो जाता है। योगी या ऋषि अपनी अनुभूतिको जिन शब्दोंमें व्यक्त करता है, वे मन्त्र हैं। स्फूर्ति दैवी है, परंतु शब्द ऋषिके हैं।'

परंतु ऋग्वेदमें ही अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि 'ऋषि वह है, जिसने मन्त्रगत ज्ञानके साथ मन्त्रोंको भी समाधि-दशामें अपने निर्मल अन्तःकरणमें प्राप्त किया है।' मण्डल ३, सूक्त ४३, मन्त्र ५में उसे ही ऋषि कहा गया है, जो अतीन्द्रिय द्रष्टा है। (५।५४।७) और (८।६।५) में भी प्रायः यही बात है। (१०।८०।४) में कहा गया है कि 'सहस्र गायोंके सेवक ऋषिको अग्निदेव मन्त्र-द्रष्टा पुत्र देते हैं।' (१०।७१।३) में कहा गया है—'विद्वान् यज्ञके द्वारा वचन (भाषा) का मार्ग पाते हैं। ऋषियोंके अन्तःकरणमें जो वाक् (वेदवाणी) थी, उसको उन्होंने प्राप्त (प्रकट) किया। उसको उन्होंने सारे मनुष्योंको पढ़ाया। सातों छन्द उसी वैदिक भाषा (वाणी) में स्तुति करते हैं।' कात्यायनके 'सर्वानुक्रम-सूत्र' में कहा गया है—'द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः।' अर्थात् 'ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा और स्मर्ता हैं।' यास्कने निरुक्त (नैगमकाण्ड २।११) में लिखा है—'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श।' आशय यह है कि 'ऋषियोंने मन्त्रोंको देखा; इसलिये उनका नाम ऋषि पड़ा।' इन सबके अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि 'परमात्मासे ऋक्, ऋचा या मन्त्र प्रकट हुए।' (१०।९०।९) केवल मन्त्रगत ज्ञानराशिके प्रकटीकरणकी बात कहीं नहीं पायी जाती।

सभी स्तोता ऋषि 'मानव-हितैषी' कहे गये हैं (७।२९।४)। यद्यपि द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद (शौनक), तृतीयके विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव, पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भारद्वाज, सप्तमके वसिष्ठ, अष्टमके कण्व और

एकमतसे नवमके अङ्गिरा द्रष्टा कहे गये हैं और प्रथम तथा दशम मण्डलोंके द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं, तो भी इन ऋषियोंके पुत्र, पौत्र आदि तथा अन्यान्य ऋषि और इनके अपत्य और गोत्रज भी मन्त्र-द्रष्टा हैं। उक्त मण्डलोंमें उक्त ऋषि और उनके वंशधर ही प्रधान द्रष्टा हैं, इसलिये उनके ही नाम कहे गये हैं। पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिका एक साथ ही रहना सम्भव नहीं है; इसलिये सभी मन्त्र एक साथ ही नहीं प्रकट हुए। ऋग्वेदके दूसरे ही मन्त्रमें प्राचीन और नवीन ऋषियोंकी बात आयी है। (१।१७४।८) में नये ऋषिगणका उल्लेख है; (४।१९।११) में 'पूर्ववर्त्ती' और (४।२०।५) में 'नवीन' ऋषियोंके स्तवनका विवरण है। इसके आगेके २१ से २४ सूक्तोंके ग्यारहवें मन्त्रोंमें भी 'पूर्ववर्त्ती' ऋषियोंका उल्लेख है। (५।१०।७) में 'पुरातन' और 'आधुनिक' ऋषियोंकी स्तुति कही गयी है। (६।२१।५) में प्राचीन, मध्ययुगीन और नवीन—तीन प्रकारके ऋषियोंका कथन है। (६।४४।१३) में तो प्राचीन और नवीन स्तोत्रोंकी भी बात आयी है। (७।२२।९) में वसिष्ठ इन्द्रसे कहते हैं—'जितने प्राचीन ऋषि हो गये हैं और जितने नवीन हैं, सभी तुम्हारे लिये स्तोत्र उत्पन्न (अभिव्यक्त) करते हैं।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि ऋषियोंने विभिन्न समयोंमें विविध मन्त्र देखे। बहुत पीछे व्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्य आदिने मन्त्र-संकलन करके संहिताएँ बनायीं।

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा गृहस्थ थे—प्रायः सबके गोत्र और वंश चले हैं; तो भी वे जलमें कमलपत्रके समान गार्हस्थ्यके प्रपञ्च-पाखण्डसे निर्लिप्त थे। वे चेतन-तत्त्वके चिन्तक थे, जीवन्मुक्त थे। वे अरण्यानीमें पावन जीवन बिताते थे, वे एकान्त-शान्त स्थानमें ब्रह्म-द्रवकी साधनामें लीन रहते थे। वे चेतनगत प्राण थे और उनका बाह्य और आन्तर अध्यात्म-ज्योतिसे उद्भासित रहता था। वे स्थितप्रज्ञ थे और आत्मरसमें विभोर रहते थे। वे ईश्वरकी दिव्य विभूतियोंमें रमण करते थे। वे चेतनके भव्य भावोंकी अभिरामतामें निमग्न रहते थे। वे विशाल विश्वके प्रत्येक कणमें, प्रत्येक अणुमें, प्रकृतिकी प्रत्येक लयमें परम तत्त्वका विकास पाते थे, प्राञ्जल प्रकाश देखते थे, ललित नृत्य देखते थे, मनः-प्राण-परिप्लुतकारी संगीत सुनते थे। यही कारण है कि वे जड, चेतन—सबको आत्मवत् समझते थे, सबकी स्तुति और पूजन करते थे। वे सभी पदार्थोंको चेतनमय देखते थे—वे चेतनके साथ ही खाते-पीते, सोते-जागते और बोलते-बतलाते थे। वे वस्तुतः ऐसा ही अनुभव करते थे। वे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में अनुस्यूत रहते थे। वे अपनेमें सारी सृष्टिको और सारी सृष्टिमें अपनेको देखते थे। इसीलिये वे जड पदार्थोंसे भी बातें करते थे, उनका भी नमन करते थे, उनका भी यजन करते थे। जो वीर अपनी तलवारसे बातें नहीं करता, वह भी कोई वीर है? जो वैद्य अपनी ओषधियोंके आगे सिर नहीं झुकाता, वह भेषजका रहस्य क्या जाने। यदि आप भी परमात्माकी दिव्य विभूतियोंको जीवनमें ढाल लें—देवोंसे घिरे रहें तो आपका जीवन भी आनन्दमय, तेजोमय, सुगन्धमय और रसमय हो जाय तथा आप भी समदर्शी होकर प्रत्येक जड पदार्थको भी चेतन-प्लावित समझने लगें।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि सिद्धयोगी थे। वे त्रिकालदर्शी थे। वे 'वर्तमान और भविष्यकी अद्भुत घटनाओंको भी देखते थे' (१।२५।११)। वे महान् तपस्वी थे। कितने ही ऋषि वल्कल धारण करते थे (१०।१३६।२)। कितने ही 'लौकिक व्यवहार छोड़कर परमहंस बन जाते थे।' वे योगबलसे वायुपर चढ़ जाते थे। वायु भी उनकी वशवर्तितामें आबद्ध था (१०।१३६।३)। वे आकाशमें उड़ते और सारे पदार्थोंको देख लेते थे (१।१३६।४)। वे पूर्व और पश्चिम दोनों समुद्रोंमें निवास करते थे और चराचरके सारे ज्ञातव्य विषयोंको जानते थे। वे आत्मरसके उत्पादक और आनन्ददाता मित्र थे (१०।१३६।५-६)।

ऋषि सेवाका मर्म समझते थे; इसलिये वे 'सेवाव्रती' पर सदा प्रसन्न रहते थे (१।५३।१)। उनका मत था—सेवक यमपथसे नहीं जाते (१।३८।५)। वे पूजाका महत्त्व समझते थे; वे यह भी जानते थे कि देवता तपस्वीके ही मित्र होते हैं (४।३३।११); इसलिये वे अपूजकको महान् पापी समझते थे (२।१२।१०)। वे गृहागत अतिथिका यथेष्ट सम्मान करके उसे प्रचुर धन प्रदान करते थे (२।१३।४; ५।४।५)। वे समाजकी सुव्यवस्थाके लिये परस्पर सहायता करना आवश्यक समझते थे (१।२६।३)। उनका मत था कि दाता दीर्घ आयु प्राप्त करते और जरा-मरण-शून्य स्थानको जाते हैं (१।१२५।६)। विद्वान् ही समाजके मस्तिष्क होते हैं; इसलिये 'विद्वान् पुरुषको द्रव्य-दान देना' वे अत्यावश्यक

समझते थे (१ । १२७ । ४)। उनका निर्देश था—दाताके नामकी मृत्यु नहीं होती; दाता दरिद्र नहीं होते; उन्हें क्लेश, व्यथा और दुःख नहीं सताते, उन्हें स्वर्ग और मर्त्यलोकके सारे पदार्थ सुलभ हो जाते हैं (१० । १०७ । ८)। उनका अनुभव था—याचकको अवश्य धन देना चाहिये; क्योंकि जैसे रथ-चक्र नीचे-ऊपर घूमता रहता है, वैसे ही धन भी कभी किसीके पास रहता है और कभी दूसरेके पास चला जाता है। वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं है (१० । ११७ । ५)। ऋषिका स्पष्ट उद्घोष है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥
(१० । ११७ । ६)

अर्थात् 'जो स्वार्थी है, उसका अन्न-धन उत्पन्न करना वृथा है। मैं सच कहता हूँ, इस प्रकारका उत्पादन उत्पादकका वध करा देता है। जो न तो धनको धर्म-कार्यमें लगाता है, न अपने मित्र-हितैषीको देता है, जो स्वयं पेट पालनेवाला है, वह केवल साक्षात् पापी है।' और पापी सत्पथसे नहीं जाते (९ । ७३ । ६)। ऋषि कक्षीवान् कहते हैं—'जो धनी दूसरेका पालन नहीं करता, उसे मैं घृणित समझता हूँ (१ । १२० । १२)।' ऋषि देवलका सिद्धान्त है—देवता अदाताओंके हिंसक हैं (९ । १३ । ९)।

ऋषि हितैषी पुरुषका बड़ा सम्मान करते थे (१ । ६९ । २)। मन्त्रद्रष्टा इन्द्रके इसलिये उपासक थे कि इन्द्र मनुष्य-हितैषी थे (१ । ८४ । २०)। वे उसीको सच्चा आर्य-अपत्य समझते थे, जो मनुष्य-पालक है (४ । २ । १८)। वे 'पुण्यवान्की ही उन्नति सम्भव मानते थे' (२ । २३ । १०)। पुण्यवान् स्तोताको ही सन्मार्गकी प्राप्ति होती है (३ । ३ । १)।

ऋषियोंकी उत्कट उत्कण्ठा थी—'हमारी बुद्धि वेद-ज्ञान-समर्थ बने' (१ । ११२ । २४)। वे 'विद्वान् पुत्र' ही चाहते थे (१ । ७३ । ९)। वे ऐसा पुत्र चाहते थे, जो 'कानोंमें स्वर्ण और गलेमें मणि धारण करनेवाला हो' (१ । १२२ । १४)। वीर पुत्रमें उनकी बड़ी रुचि थी (१ । १२५ । ३; ९ । ९७ । २१ और २६)। वे उत्साही, जनप्रिय और विद्याध्ययनमें 'दक्ष पुत्र' की कामना करते थे (१ । १४१ । ११)। वे देवतासे 'बलवान्, हव्यवाहक, महान् यज्ञकारी और सत्यबल-विशिष्ट पुत्र' की याचना करते थे (४ । ११ । ४)। वे 'अपने कार्यसे पिता, पितामह आदिकी कीर्तिको प्रख्यात करनेवाले पुत्र' को बहुत पसंद करते थे (५ । २५ । ५)। वे अपने 'मानव-हितैषी पुत्र' की रक्षाकी इच्छा करते रहते थे (७ । १ । २१)।

वे आलसीसे घृणा करते थे (२ । ३० । ७)। निन्दक और दुर्बुद्धिको हेय समझते थे (१ । १२९ । ६; १ । १३१ । ७)। निन्दकसे कोसों दूर रहना चाहते थे (६ । ४५ । २७)। द्वेषीसे भी दूर रहना चाहते थे (२ । २९ । २ तथा २ । ३० । ६)। ब्राह्मण-द्वेषी और मांस-भक्षकको अपना शत्रु समझते थे (७ । १०४ । २)। पापियों और हिंसकोंसे त्राण पानेके लिये अग्निदेवसे प्रार्थना करते थे (८ । ४४ । ३०)। यही बात (१ । २९ । ७) में भी है। उनके देवता मन्त्रद्वेषियोंके संतापक और क्रोधीके हिंसक थे (२ । २३ । ४-५)। हव्यदाता और धार्मिकके हिंसकको ऋषि वध्य समझते थे (६ । ६२ । ३; ७ । २५ । ३)। परंतु वे उदार और दयालु इतने थे कि यदि राक्षस भी रोगी है तो उसका विनाश नहीं चाहते थे (३ । १५ । १)।

यज्ञ, दान और तप—धर्मके ये तीन प्रधान अङ्ग हैं और तीनोंके ही उपासक और साधक ऋषि थे। वे यज्ञको 'ऋत' वा सत्यात्मा मानते थे (९ । ७३ । ८-९)। उनकी अनुभूति थी कि 'प्रज्वलित तपसे यज्ञ (ऋत) और सत्यकी उत्पत्ति हुई है' (१० । १९० । १)। यज्ञका वाच्यार्थ है पूजन। मन, वचन और कर्मसे चराचरका पूजन, सेवन और आराधन यज्ञ है। इसी यज्ञसे सृष्टि-चक्र संचरणशील है। इसीलिये यज्ञको विश्वका उत्पत्ति-स्थान और श्रेष्ठ कर्म कहा गया है (शतपथब्राह्मण १ । ७ । ४ । ५)। ऐतरेय-ब्राह्मण (१ । ४ । ३) का मत है कि 'यज्ञ और मन्त्रोंके उच्चारणसे वायुमण्डलमें परिवर्तन हो जाता है और निखिल विश्वमें धर्मचक्र चलने लगता है।' जैमिनीय मीमांसा तो केवल यज्ञसे ही मुक्ति मानती है। भगवद्गीतामें सृष्टि-चक्रका संचालक यज्ञको माना गया है। ऋग्वेदके मतसे तो 'यज्ञ ही प्रथम या मुख्य धर्म है' (१० । ९० । १६)। अनेकानेक मन्त्रोंमें यज्ञको 'सत्यभूत' और 'सत्यरूप' कहा गया है (४ । २ । १६; ४ । ३ । ९; ९ । ६९ । ३; ९ । ७२ । ६; ९ । ९७ । ३२; १० । ६३ । ११)। यज्ञके द्वारा परस्पर हित होता है, समाजका सुचारु रूपसे संचालन होता है और जागतिक

समृद्धि होती है। यज्ञाग्निसे मेघ बनते हैं, वृष्टि होती है, अन्न उत्पन्न होता है और अन्ततः प्रजा सुखी होती है। यही नहीं, यज्ञमें आत्मशक्ति और मन्त्रशक्ति जागरित होती तथा दैवी स्फूर्ति प्राप्त होती है, जिससे याज्ञिक मोक्ष-मार्गमें आरूढ़ हो जाता है। फिर उसके मङ्गलभागी होनेमें क्या संदेह (२।३८।१)। जो यज्ञहीन है, वह सत्य-शून्य है। उसे नरकके सिवा अन्य स्थान कहाँ मिले (४।५।५)।

जैन-बौद्धोंमें अहिंसा, ईसाइयोंमें प्रेम, सिखोंमें भक्ति और मुसल्मानोंमें नमाजका जो महत्त्व है, उससे भी बढ़कर वैदिक धर्ममें यज्ञका महत्त्व है। अमोघ शक्ति और मुक्तिकी प्राप्तिका यह महान् साधन है। वैदिक वाङ्मय ही नहीं, भगवद्गीता भी यज्ञसे मोक्ष मानती है (४।३२)। यहाँ गांधीजीने भी अपने 'अनासक्ति-योग' में लिखा है—'यज्ञके विना मोक्ष नहीं होता।' इसीलिये आर्य ऋषि याज्ञिक शक्तिको उद्बुद्ध रखते थे। इसका सूक्ष्मतम रहस्य उन्हें सम्यक् ज्ञात था। इसीलिये उनके प्रति दैवी शक्ति ही नहीं, परमात्मशक्ति भी जागरूक रहती थी और इसीलिये आर्य-ऋषिको ज्योति वा आभ्यन्तर प्रकाश प्रदान किया गया था (२।११।१८)। कदाचित् इसीलिये उन्हें सारी पृथिवी भी दे दी गयी थी, ताकि वे इसे सुख-समृद्धिसे सम्पन्न रखें और अपने सुकर्मों और आदेशोंके द्वारा मानवोंको परमधामका मार्ग दिखाया करें (४।२६।२)।

आदर्श मानवताके लिये जिस सद्गुणावलीकी आवश्यकता होती है, उसमें गांधीजीके समान ही अनेक महापुरुषोंने सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यको प्राधान्य दिया है। इन तीनों सद्गुणोंके सम्बन्धमें ऋग्वेदीय मन्त्र-द्रष्टाओंका अभिमत देखिये। पहले ब्रह्मचर्यको लीजिये। ऋषि ब्रह्मचर्यको परम धन मानते थे। वे इस धनके परम उपासक थे, इसे वे तेजःपुञ्ज समझते थे और याज्ञिकके लिये अनिवार्य मानते थे। ऋषि कहते हैं—

> बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
> यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्॥
> (२।२३।१५)

अर्थात् 'हे यज्ञजात बृहस्पति! आर्यलोग जिस धनकी पूजा करते हैं, जो दीप्ति और यज्ञवाला धन लोगोंमें शोभा पाता है, जो धन अपने ओजसे प्रदीप्त है, वही विलक्षण तेजःशाली ब्रह्मचर्य-धन हमें दो।'

प्रत्येक धार्मिक और धर्म-कार्यके लिये वे ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक और अनिवार्य समझते थे। वे अब्रह्मचारीको यज्ञमें विघ्न जानते थे; इसलिये वे इन्द्रसे प्रार्थना करते थे कि 'हमारे यज्ञमें अब्रह्मचारी (शिश्नदेव) विघ्न न डालने पायें।'

ऋषियोंका अनुभव था कि हिंसककी बुद्धि भ्रष्ट होती है; इसलिये अहिंसा-पालन तो वे और भी आवश्यक समझते थे। ऋषि अगस्त्य मरुद्गणोंसे प्रार्थना करते हैं—'मरुतो! अहिंसक होकर हमें (मानवोंको) सुबुद्धि प्रदान करो।' (१।१६६।६)। ऋषि गृत्समद कहते हैं—'हम हिंसाशून्य होकर परम सुखमें निवास करें' (२।२७।१६)। ऋषि वसुश्रुतिकी कामना है—'इला, सरस्वती और मही नामकी तीनों देवियाँ हिंसा-शून्य होकर इस यज्ञमें आगमन करें' (५।५।८)। अत्रि ऋषिके अपत्य स्वस्ति कहते हैं—'वायु और इन्द्र! अहिंसक होकर सोमरसका सेवन करो।' (५।५१।६)। ऋषि अर्चनानाकी कामना है—'गृहमें हमें अहिंसक मित्रका सुख प्राप्त हो' (५।६४।३)। ऋषि वसिष्ठ कहते हैं—'इन्द्र! हम अहिंसक होकर ही तुम्हारी दया प्राप्त करते हैं' (७।२०।८)। ये ही ऋषि मरुतोंसे विनय करते हैं—'मरुतो! तुमलोग अहिंसक होकर इस यज्ञमें सोमरूप हव्य ग्रहण करो' (७।५९।६)। ऐसे कथन प्रभूत मात्रामें पाये जाते हैं, जिनसे जाना जाता है कि आदर्श मानवताके लिये वे अहिंसाको अनिवार्य नियम मानते थे।

सत्यके तो वे प्रबल पक्षपाती थे ही। उनका प्रधान धर्मानुष्ठान (यज्ञ) सत्यस्वरूप (ऋत) था। वे असत्य-पोषकको 'राक्षस' समझते थे (१०।८७।११)। उनके देवता सत्य-स्वभाव थे (८।९।१५)। कण्व-पुत्र प्रस्कण्व ऋषि उषासे याचना करते हैं—उषा! मुझे सत्य वाक् दो (१।४८।२)। शक्ति-पुत्र पराशरका अनुभव है—'सत्य मन्त्रद्वारा ही आकाश धृत है' (१।६७।३)। उक्थ्य-पुत्र दीर्घतमा ऋषिका विश्वास था—'सूर्य सत्यकी पूर्ति और असत्यका नाश करके संसारका भार वहन करते हैं' (१।१५२।३)। स्पष्ट है कि ऋषि सत्यको प्रकाश और असत्यको अन्धकार समझते थे। अगस्त्य ऋषिकी पत्नी लोपामुद्राका कहना है—'सत्य-

रक्षक ऋषि देवोंसे सच्ची बात कहते थे (१ । १७९ । २) । आगेके मन्त्रमें कहा गया है—'हम सत्यप्रतिज्ञ होकर स्तुति करते हैं' (१ । १८० । ७) । उनके इन्द्र-देव 'सत्यसंकल्प' थे (२ । १५ । १) । यही बात (२ । २२) के प्रथम तीन सूक्तोंके अन्तमें भी कही गयी है । २ । २४ । ७ में अङ्गिरा लोगोंको 'सत्यवादी' और 'सर्वज्ञाता' बताया गया है । वाक्-पुत्र प्रजापतिकी उक्ति है—'पुरातन सत्यवादी महर्षियोंने द्यावापृथिवीसे अपना अभिलषित अर्थ प्राप्त किया था' (३ । ५४ । ४) । ऋषि वामदेवका अनुभव है—'सत्यरहित और सत्य वचन-शून्य पापी नरक-स्थानको उत्पन्न करता है' (४ । ५ । ५) । यहीं ११वें मन्त्रमें वामदेव कहते हैं—'हम नमस्कारपूर्वक वा विनम्र होकर सत्य बोलते हैं ।' ४ । ११ । ३ में पुनः वामदेव कहते हैं—'सत्यकर्मा यजमानके लिये वीर्यशाली रूप और धन उत्पन्न हुए हैं ।' ५ । ४० । ७ में अत्रि ऋषिको 'सत्य-पालक' कहा गया है । ऋषि-वृन्द केवल 'सत्य-धारकों' को ही यज्ञमें बुलाते थे (५ । ५१ । २) । ६ । ५१ । १० में लिखा है—'वरुण, मित्र और अग्नि सत्यकर्मा स्तोताओंके एकान्त पक्षपाती हैं ।' ७ । १०४ । १२-१३ में वसिष्ठका उद्गार है—'विद्वान्‌को ज्ञात है कि सत्य और असत्य परस्पर प्रतिस्पर्द्धी हैं । इनमें जो सत्य और सरलतम है, सोमदेव उसीका पालन करते हैं और असत्यकी हिंसा करते हैं ।' 'सोमदेव पापी और मिथ्यावादीको नहीं छोड़ते, मार देते हैं । वे राक्षस और असत्यवादीको मार डालते हैं ।' १० । ३७ । २ में कहा गया है—'सत्य वह है, जिसका अवलम्बन करके आकाश और दिन वर्तमान है, सारा संसार और प्राणिवृन्द जिसपर आश्रित हैं, जिसके प्रभावसे प्रतिदिन जल प्रवाहित होता है और सूर्य उगते हैं ।' इन उद्धरणोंसे जाना जाता है कि वे सत्यके कितने अनन्य अनुरागी थे और असत्यको कितना जघन्य समझते थे । वे सत्य-चक्रके द्वारा ही विश्वचक्रका संचालन मानते थे । सत्यके द्वारा सूर्य अपनी किरणोंको सायंकाल एकत्र करते और सत्यके द्वारा ही प्रातःकाल किरणोंको विस्तृत करते हैं (८ । ७५ । ५) । मेध्य ऋषिका सिद्धान्त है—'देवताओंकी संख्या तैंतीस है और वे सत्यस्वरूप हैं (वालखिल्य-सूक्त ९ । २) । यमने यमीसे कहा है—'मैं सत्यवक्ता हूँ । मैंने कभी भी मिथ्या-कथन नहीं किया है' (१० । १० । ४) । ऐसे उद्धरण और भी दिये जा सकते हैं । मुख्य बात यह है कि मन्त्र-द्रष्टाओंका सर्वस्व सत्य था और सर्वाधिक घृणा उन्हें असत्यसे थी । फलतः आदर्श मानवताके लिये जिस सद्‌गुणावलीकी आवश्यकता है, वह उनमें चूडान्त रूपमें थी ।

वस्तुतः मन्त्रद्रष्टा ऋषि आदर्श मानव थे—उनमें अधिकांश तो महामानव थे । यदि उनके जीवनादर्श अपनाये जायँ तो मानवताके लोक और परलोक—दोनों सरस, सुखद और मधुर-मञ्जुल बन जायँ ।

यहाँ यह बात भी ध्यान देनेकी है कि आधुनिक उपन्यास-कहानियोंकी तरह क्रम-बद्ध सांसारिक प्रपञ्च-पाखण्डोंका वर्णन ऋषि नहीं करते थे । उनकी शैली भिन्न थी, उनके कथन और चिन्तनकी दिशा ही पृथक् थी । वे अध्यात्म-शक्तिमें रमण करते थे और छल-छद्मपूर्ण मानव-कथा लिखनेकी अपेक्षा परमात्मा और उनकी विभूतियोंकी आराधना करना और विभूति लिखना श्रेयस्कर समझते थे । यही कारण है कि उन्होंने न तो मानवेतिहास लिखा, न शृङ्गार-रसकी कविताएँ ही बनायीं । यों दैवी शक्तियोंका स्तवन करते-करते कुछ विषयोंका सूक्ष्मतम उल्लेख हो गया है । इन्हीं सूक्ष्मतम उल्लेखोंको लेकर संस्कृत-साहित्यमें विशद विस्तार किया गया है । कभी-कभी तो दो-एक मन्त्रोंको लेकर एक-एक पुस्तक रच डाली गयी है । शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेय-संहिताके ४० वें अध्यायके प्रथम दो मन्त्रोंको लेकर भगवद्गीताके ७०० श्लोक निर्मित हुए और गायत्री मन्त्रके २४ अक्षरोंमेंसे एक-एक अक्षरपर वाल्मीकि-रामायणके २४ हजार श्लोक रचे गये । वेद ऐसी ही मुक्ता-मणि-माला है ।*

[क्रमशः]

* सम्मान्य श्रीत्रिवेदीजीने इस लेखमें ऋग्वेदके समस्त ऋषियोंका परिचय कराया है । लेख बहुत बड़ा होनेसे उसका प्रारम्भिक अंशमात्र ही यहाँ दिया गया है ।—सम्पादक

श्रीरामचरितमानस मानवताका आदर्श

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़ा)

यद्यपि तुलसीदासजीने स्वान्तःसुखाय रघुनाथ-गाथाको भाषाके निबन्धमें लिखा, तो भी कृतिकारका आन्तरिक अभिप्राय यही रहा कि जनता आदर्श मानव (प्रभु श्रीरामचन्द्र अवतार-विग्रह) का चरित्र पढ़कर सदाचारमें प्रवृत्त हो। समाजमें अधिक पुरुषोंके सदाचारी होनेसे व्यक्तिको आन्तरिक समाधान होता है। यही स्वान्तःसुखका स्वरूप भी है, जैसा कहा है—'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'। रामचरितमानसमें गोस्वामीजीने विशेष स्पष्ट समझानेके लिये तीन स्थानोंपर मानवताके रक्षकोंका वर्णन किया है—बालकाण्डके आरम्भमें वन्दनामें, अरण्यकाण्डमें रामजी और नारदजीके संवादमें, उत्तरकाण्डमें रामजी और भरतजीके संवादमें। अधिक स्पष्टताके हेतु गौण पक्ष लेकर मानवताके घातकोंका वर्णन भी उन्होंने इन तीन प्रसंगोंपर कर दिया है। श्रीरामजीने जो कुछ जहाँ कहा है, वहाँ मानवताकी सुन्दर झलक आ जाती है। थोड़ेहीमें वे शब्द हृदयंगम होकर अपना अनुपम प्रभाव डालते हैं। अन्य जनोंके उद्गार उनके योग्यतानुसार ठीक ही हैं। गोस्वामीजीने जनताके समक्ष मानवताका सच्चा स्वरूप रखनेके अभिप्रायसे ग्रन्थकी रचना भाषामें की। अपने हेतुको पूरा करनेके लिये उन्होंने निराकरण-विधिसे अधिक काम लिया है। संसार 'जड़ चेतन गुन दोषमय' रचा गया है, इसमें संतजन हंस-समान स्वभावसे निराकरण कर सकते हैं। सामान्य जनताके लिये यह काम कठिन है। अतः गोस्वामीजीने जनताके कल्याणके लिये इस विधिका अनुसरण किया। जनता भली बातको पहचानकर ग्रहण कर सकेगी। जो भले हैं, वे 'भलो भलाइहि पै लहइ' और मूलतः जो नीच है, वह 'लहइ निचाइहि नीच'। इनके सिवा अन्य वचनोंमें भी मर्मकी बात प्रकट की गयी है। मानवताके रक्षकोंके उद्गार गम्भीर रहते हैं। शिवजी तपमें लगे हुए हैं। उनके पास प्रभु जाकर पार्वतीजीका पाणिग्रहण करनेको कहते हैं।

शिवजी कहते हैं—

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥

क्योंकि—

'तुम्ह सब भाँति परम हितकारी' हो।

देवगण कामको शिवजीके पास भेजना चाहते हैं। वह अपना मरण ध्रुव जानकर भी कहता है—

परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥

समाजसेवाके भावनावश कितना गम्भीर सिद्धान्त रखा है कामने! कामके मर जानेपर देवगण शिवजीके पास जाते हैं और विनय करते हुए कहते हैं—

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥

उदार पुरुष अनुशासन रखनेके हेतु यही व्यवहार करते हैं।

सब देव धरणीकी विपत्ति देख एकत्रित हो विचार करने लगे। उस समय शिवजीने सुझाया—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

सच्चे श्रद्धालुका यही विश्वास रहता है।

अयोध्याके नर-नारियोंके वर्णनमें कहा गया है—

पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता॥

मानवताके रक्षक सुन्दर, स्वस्थ और सरल व्यवहार करनेवाले होते हैं। वे अपने धर्मपर दृढ़ रहते हैं। वे परमात्माका सदा स्मरण रखते हैं। उनके ज्ञानका लोप कभी नहीं होता। फुलवारीमें श्रीरामजी और लक्ष्मणजी पहुँचे हैं। उसी समय सीताजी सहेलियोंको लेकर गौरी-पूजनके लिये आयीं। सीताजीको देख मनके क्षोभको दबाकर रामजी कहते हैं—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥

—आदि।

अपना ही नहीं, वे पूरे वंशका गौरव रखते हैं। दशरथजीके पास जनकजीके दूत पत्र लेकर आये हैं। दशरथजी गुरुजीको संदेश सुनाते और चलनेकी आज्ञा माँगते हैं। गुरुजी कहते हैं—

तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥

आदि।

मानवताके रक्षक सेवाधर्मका योग्य पालन करके देशकी स्थितिको उत्तम बना रखते हैं। गुरु (अनुभवी वृद्धजन), विप्र (विशेष रीतिसे व्यवहारद्वारा धर्मसिद्धान्तको प्रकट करनेवाले), धेनु (गौ) और सुर (क्रियाशील गुणवान् जन) ही देशकी प्रधान शक्तियाँ हैं। इनका यथोचित संरक्षण करनेसे देशकी स्थिति उत्तम रहती है। राजा-रानीकी देखा-देखी प्रजागण भी करने लगते हैं।

अयोध्याके नर-नारियोंका वर्णन इसी प्रकार किया गया है—

मनि गन पुर नर नारि सुजाती । सुचि अमोल सुंदर सब भाँती ॥

नर-नारियोंको मणिगणकी समता देकर सुन्दरताका वर्णन किया गया है। मानवताकी रक्षा करनेवालोंकी यही स्थिति होती है। वे सब भाँति सुन्दर रहते हैं। उनका अन्तःकरण पवित्र और बाहर व्यवहार भी निष्कपट होता है। वे निश्चिन्त रहकर स्वस्थ रहते हैं। दशरथजी सरल मनसे गुरुजीसे कहते हैं—

जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं । ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥

मानवताके रक्षक सदा गुरुकी सेवा करते हैं। दशरथजी कैकेयीको समझाकर कहते हैं—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहुँ बरु बचन न जाई ॥

अपने वंशके गौरवकी रक्षा करते हुए वे इतनी ऊँची बात कह देते हैं। सच्चे मानव अपनी बातको पूरा करते हैं, चाहे परिणाममें प्राण छूट जायँ। वे सिद्धान्तके सामने प्राणोंको तुच्छ मानते हैं। कैकेयी माँके वचन सुनकर रामजी सरल स्वभावसे कहते हैं—

तनय मातु पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥ आदि।

मानवताकी रक्षा करनेके लिये माता-पिताको संतुष्ट करना आवश्यक है। आज्ञाकारी पुत्र समाजमें अपने व्यवहारोंसे शान्तिकी वृद्धि करते हैं। और भी कहा—

धन्य जनमु जगती तल तासू । पितुहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥

जब प्रत्येक घरमें अनुकूल व्यवहारसे प्रत्येक पिताको प्रमोद होता है, तब सम्मिलित समाजको भी संतोष होता है। रामजी लक्ष्मणको वन जाते हुए समझाते हैं—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥

मानवताकी रक्षाके हेतु प्रत्येक नृप (शासक) को अपनी प्रजा (आश्रित शासितजनों) के दुःखोंका ध्यान रखना चाहिये। लोगोंके साथ सहानुभूति रखकर उनके कष्टोंको दूर करना चाहिये। रिश्वतके लोभसे लोगोंके कष्टोंको बढ़ाना महापाप है। पापका फल भोगना ही पड़ता है। वनमें कोल-किरात अयोध्यावासियोंसे विनय करते हैं—

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिं न बासन बसन चोराई ॥

कितनी सरलतासे अपने स्वाभाविक दोषको भी प्रकट कर देते हैं!

तथा—

सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ ॥

आदर्श मानवके दर्शनसे अन्यजनोंके स्वभावमें परिवर्तन हो जाता है। वनमें राजदरबार जुड़ा हुआ है। रामजी भरतजीके गुण सुनकर कहते हैं—

जे गुर पद अंबुज अनुरागी । ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी ॥

गुरुकी सेवा करनेवाला बड़ा भाग्यवान् होता है। आगे भरतको समझाते हैं—

गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें । चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें॥

गुरु, पिता, माता, स्वामीके शिक्षानुसार काम करनेसे कुमग (कुमार्ग) से जानेपर भी पैर गड्ढेमें नहीं पड़ता। वह सँभलकर पूरा काम कर लेता है।

रामजी सुग्रीवके साथ मित्रता करके कहते हैं—

निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र क दुख रज मेरु समाना॥ —आदि।

सच्चे मित्र इसी प्रकार सहानुभूति रखते हैं। वर्षाके वर्णनमें गोस्वामीजी कहते हैं—

कृषी निरावहिं चतुर किसाना । जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ॥

बुधजन मोह, मद और मानको छोड़कर चतुरतासे काम करते हुए समाजमें मानवताकी रक्षा करते हैं।

समुद्र विनयपूर्वक कहता है—

प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई । सो तेहि भाँति रहें सुख लहई ॥

प्रभुकी आज्ञा माननेसे मानवोंको सुख मिलता है।

प्रहस्त रावणके दरबारमें कहता है—

बचन परम हित सुनत कठोरे । सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥

परमहित कठोर बातको सुननेवाले या कहनेवाले मानवताके रक्षक बहुत थोड़े होते हैं। रामराज्यके वर्णनमें कहा गया है—

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप बिषमता खोई ॥

रामजीके आदर्श चरित्र और धर्मानुकूल शासनके प्रभावसे देशसे विषमता दूर हो गयी। सबमें मानवताके सुन्दर गुण आ गये। रामजी भरतजीको संतोंके लक्षण समझाते हुए कहते हैं—

सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥

संतजन शम, दम, नियम और नीतिका दृढ़तासे पालन करते हैं, सबसे प्रिय मधुर वचन कहते हैं। उनमें क्रोधकी मात्रा बहुत कम हो जाती है।

मानवताके घातकोंकी स्थिति दयनीय होती और उनके उद्गार थोथे रहते हैं। कामके वशमें पड़कर उनकी स्थिति यह हो गयी—

मदन अंध ब्याकुल सब लोका। निसि दिनु नहिं अवलोकहिं कोका॥
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भए बियोगी॥

रावण अपने साथियोंको आदेश दे रहा है—

सुनहु सकल रजनीचर जूथा। हमरे बैरी बिबुध बरूथा॥
ते सन्मुख नहिं करहिं लराई।

सो अब—

द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥

वे निशिचर भी—

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहुँ जिन्ह के धरम न दाया॥

इसलिये वे—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥

स्वयंवरका समाज जुड़ा हुआ है। रामजी धनुषभङ्ग कर चुके हैं, फिर भी कुछ नृप कोलाहल कर रहे हैं। उनसे कहा गया है—

बैनतेय बलि जिमि चह कागा। जिमि ससु चहै नाग अरि भागा॥
तस तुम्हार लालचु नरनाहा।

तुम योग्यताहीन होकर दुर्लभ वस्तुकी चाह कर रहे हो। देवगण सरस्वतीको अयोध्या जानेके लिये मना रहे हैं। सरस्वती निर्णय करती हैं—

ऊँच निवासु नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥

मानवताके घातक समाजमें ऊँचा पद पाकर भी अपनी मलिन वासनाओंको नहीं छोड़ सकते, अपनी त्रासदायक करतूतोंका परिचय देते रहते हैं। भरतजी वापस आ गये, तब उनको पिताके हेतु विलाप करते हुए देख वसिष्ठजीने समझाया—

सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी। जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥

तुम्हारे पिता सोच करने योग्य नहीं, वे मानव थे। परंतु जो मानवताके घातक माता, पिता, गुरु, भाई सबसे विरोध करते हैं, वे दुष्ट होते हैं—दूसरोंको धोखा देते हैं, अकारण क्रोध करते रहते हैं।

आकाशवाणी लक्ष्मणजीको समझाती है—

सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥

मानवताके घातक सदा सहसा काम करके—नहीं-नहीं, बिगाड़कर पीछे पछताते हैं। वे विवेकहीन होकर गर्वसे काम करना आरम्भ करते हैं।

अयोध्यावासियोंसे कोल-किरात अपनी दशाका वर्णन कर रहे हैं—

हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥
—आदि।

मानवताके घातकोंका पूरा चित्र खींच दिया है। शूर्पणखा रावणको समझा रही है—

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी॥
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥

इनका इन वस्तुओंकी चाह करना उतना ही अयोग्य है जितना आकाशसे दूध दुहनेकी चाह करना। मारीच रावणको आते हुए देख विचार करता है—

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥
—आदि।

घातकजन स्वार्थवश नम्रता दिखानेमें भी कसर नहीं रखते। उनका लोभ किसी तरह अपना काम निकालना रहता है। वर्षाका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी विचार करते हैं—

छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई। जस थोरेहुँ धन खल इतराई॥

दुष्टजन थोड़े धनके मदमें अमर्याद काम करने लग जाते हैं।

प्रहस्त रावणके दरबारमें अपनी सम्मति देते हुए कहते हैं—

प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥

मानवताके घातक अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं। अङ्गदजी श्रीमान् रावणको समझा रहे हैं—

कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥
सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥
तनु पोषक निंदक अघ खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥

जीते-जी मुर्देके समान वे दुष्ट जन्तु समाजमें बुराई फैलाते हैं। खल पुरुषके लक्षण समझाते हुए रामजी भरतजी-से कहते हैं—

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
—आदि।

खल पुरुषोंके लक्षण ऐसे ही होते हैं।

आदर्श नारी

सती पद्मिनी

'आप केवल रानीको दिखा दें, हम ससैन्य लौट जायँगे।' अलाउद्दीनने चित्तौड़के शासक रत्नसिंहको पत्र लिखा। चित्तौड़-दुर्ग यवन-शासकोंकी आँखोंका सदा काँटा बना रहा। वह रानी पद्मिनीके रूप-लावण्यकी ख्यातिसे अंधा होकर चित्तौड़पर चढ़ आया था। अधिक दिनोंतक दुर्गको घेरे रहनेपर भी उसे अपने कितने योद्धाओंके संहारके अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगा तो विवशतः उसने उपर्युक्त आशयका पत्र भेजा।

रत्नसिंह आगबबूला हो गये थे। 'यवनका यह साहस! हम या तो उसे यहीं समाप्त कर देंगे अथवा अपनी पवित्र मेदिनीमें स्वयं मिल जायँगे।'

किंतु चतुर रानीने उन्हें समझाया। यदि सरलतासे विपत्ति टल जाय तो अच्छा है। अन्ततः अलाउद्दीनको पत्र मिला—'रानीका दर्शन दर्पणमें सम्भव है। वे सामने नहीं आ सकेंगी।'

अलाउद्दीन तैयार हो गया। दर्पणमें उसने पद्मिनीको देखा और उन्मत्त हो गया। ऐसी रूपराशि उसने नहीं देखी थी। कुटिल यवननरेशने अपने साथ दुर्गके बाहर आये वीर रत्नसिंहको बंदी बना लिया।

'यदि रानी नहीं आयीं तो रत्नसिंहका मस्तक उतार लिया जायगा।' दुर्गमें उसने पत्र भिजवाया।

दुर्गमें खलबली मची। राजपूत शस्त्र-सज्ज होने लगे, पर रानीने वीर गोरा-बादलके परामर्शसे पत्रोत्तर दिया। 'मेरे कारण रक्तपात क्यों हो? अपनी सात सौ दासियोंके साथ पतिदेवका दर्शन कर आपके पास आ जाऊँगी। पतिदेवके पास कोई सैनिक या प्रहरी न रहे।'

अलाउद्दीन कामान्ध हो चुका था। भूत-भविष्य कुछ भी सोचनेकी शक्ति नहीं रह गयी थी। वह मुदित था।

'ऐं!' वह चकित रह गया। भयानक युद्ध छिड़ गया था और रत्नसिंह तो पहले ही निकल गये। दासियोंकी पालकीमें सशस्त्र वीर राजपूत बैठे थे और पालकी ढोनेवाले भी राजपूत योद्धा ही थे, रानीकी पालकीमें रत्नसिंहको बन्धन-मुक्त करनेके लिये औजारोंसहित लुहार बैठा था और रानी पद्मिनी, वे तो दुर्गमें अपने पतिकी मुक्तिके लिये परम शक्तिशाली दयामय परमेश्वरके सम्मुख कातर प्रार्थना कर रही थीं।

गोरा-बादलने वीरगति प्राप्त की, पर अलाउद्दीनको प्राण लेकर भागना पड़ा।

अलाउद्दीन अपनी दुर्गति नहीं भूल सका था। पुनः चित्तौड़पर आक्रमण कर बैठा। राजपूतोंकी तलवारें म्यानसे निकलीं तो यवन सैनिकोंकी लोथोंसे धरती पट गयी। पर उनकी संख्या पर्याप्त थी। रत्नसिंहने युद्धमें परम गति प्राप्त की।

अलाउद्दीनने दुर्गमें प्रवेश किया, पर वह चकित था। वह पद्मिनीको ढूँढ़ रहा था। मोमकी पुतली-सी रूप-लावण्यकी सजीव मूर्ति पद्मिनीको ढूँढ़ रहा था, पर वहाँ मिली उसे बुझती चिता-भस्मका विशाल ढेर। सहस्रों राजपूतनियोंके साथ कोमलाङ्गी पद्मिनी विशाल अग्निमें कूदकर अपने पतिके समीप चली गयी थीं।

वीराङ्गना लक्ष्मीबाई

'झाँसी मेरी है, मैं किसीको नहीं दूँगी।' मातृभूमिके अमित स्नेहसे ओतप्रोत यह दर्पपूर्ण वाक्य त्याग और बलिदानकी सजीव प्रतिमा और स्वतन्त्रताकी प्रज्वलित मूर्ति महारानी लक्ष्मीबाईका है।

ये मोरोपन्त ताम्बेकी अर्द्धाङ्गिनी सौभाग्यवती भागीरथीबाईकी कोखसे उत्पन्न हुई थीं। इनका बचपनका नाम मनूबाई थी। बाल्यकालमें ये विठूरमें नाना साहबके साथ खेलती थीं। बाजीराव पेशवाने नाना साहबके साथ इन्हें बाल्यकालमें ही अश्वारोहण एवं शस्त्र-संचालनमें दक्ष कर दिया था। ये जितनी रूपवती थीं, उतनी ही पराक्रमशालिनी भी थीं। झाँसी-नरेश श्रीगंगाधररावकी ये पत्नी हुईं। निःसंतान होनेके कारण इन्होंने दामोदर नामक बालकको गोद ले लिया था। दुर्भाग्यवश इनके पति परलोकवासी हुए। झाँसीको डलहौजीने अंग्रेजी-राज्यमें मिला लिया और दत्तकके निर्वाहार्थ थोड़ी-सी पेंशन नियत कर दी।

दत्तक दामोदरके यज्ञोपवीतके समय उसके नाम जमा सात लाख रुपयोंमेंसे अंग्रेज सरकारने एक लाख रुपया स्वीकार किया। रानीने सोत्साह उपनयन संस्कार करवाया। वे पवित्रतम आचरण करनेवाली हिंदू विधवा थीं। धर्ममें उनकी प्रगाढ़ प्रीति थी और थी स्वतन्त्रतामें निष्ठा! वे देशको चंद विदेशी व्यापारियोंके क्रूर करोंमें अवश और पराधीन देखकर सिहर रही थीं, नाना साहब, कुँवर सिंह, बाँदेका नवाब,

सती पद्मिनी

वीरांगना लक्ष्मीबाई

मनस्विनी अहल्याबाई

देवी शारदामणि

नारीके सर्वनाशका साधन
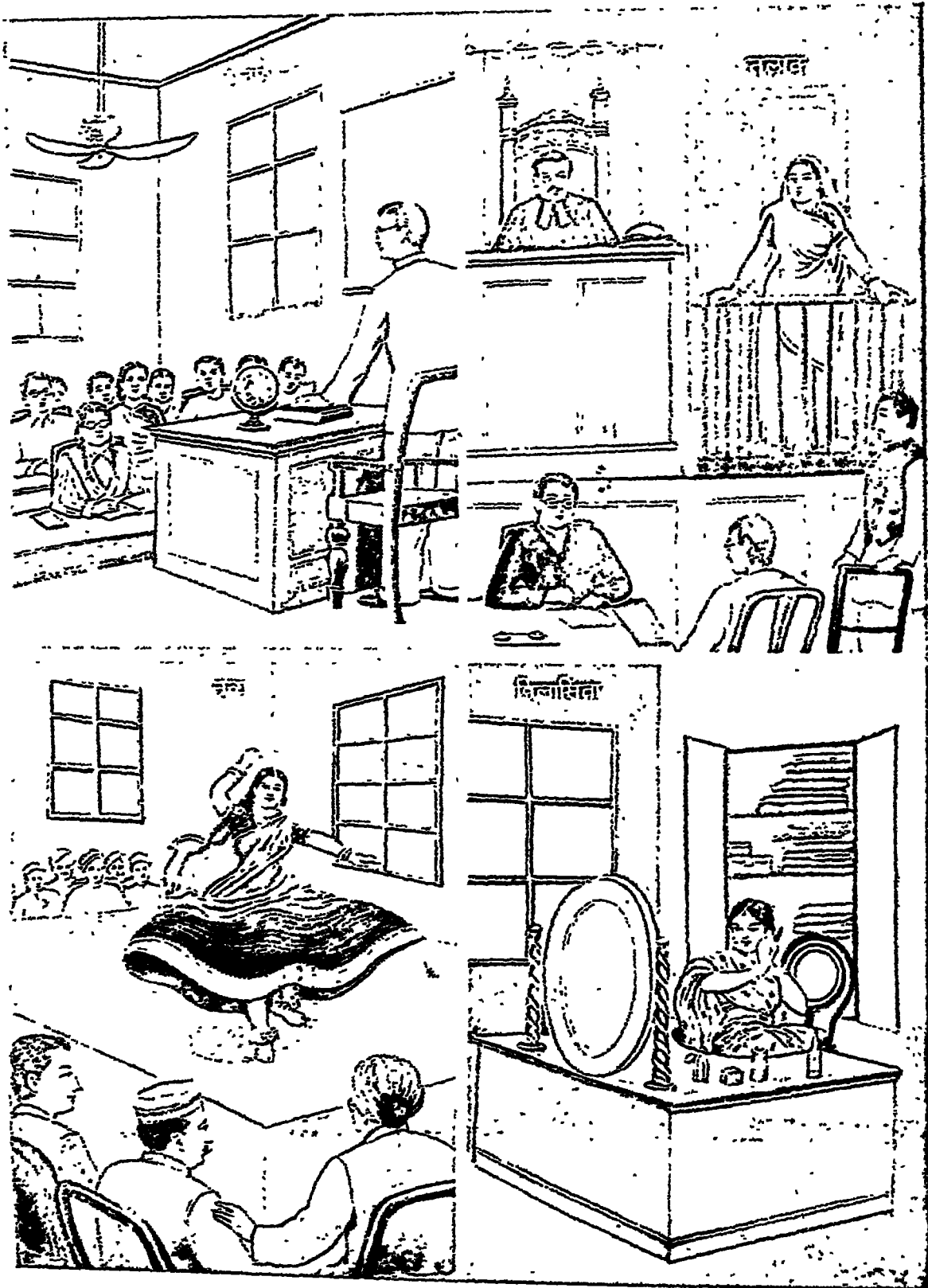
ताँत्या टोपे और अन्तिम मुगल-सम्राट् बहादुरशाह भी इसी पंक्तिमें थे।

दूसरी ओर लुटेरोंका वर्ग था, जो लूट-पाटकर अपना निर्वाहमात्र करना जानता था। ऐसे ही एक लुटेरे नत्थेखाँने झाँसी-दुर्गको घेरकर तीन लाख रुपये माँगे। झाँसीकी सम्पत्ति पहले ही अंग्रेजोंके हाथमें चली गयी थी, तथापि रानीने अपने बहुमूल्य आभूषण उक्त लुटेरेके हाथमें देकर अपनी रक्षा की; किंतु उस दुष्टने अंग्रेजोंको भड़काया। रानीपर विद्रोहका लाञ्छन लगा दिया। अंग्रेजोंने रानीके दमनकी योजना बनायी। नत्थेखाँ सदल उनके साथ था। अंग्रेजी सेना झाँसीके पास आ डटी। इस अवसरपर खानदेशके रहनेवाले सदाशिवनारायणने भी रानीके विरुद्ध अंग्रेजोंका साथ दिया।

'झाँसी मेरी है, इसे मैं किसीको नहीं दूँगी।' अंग्रेजोंको उत्तर दिया रानीने। और युद्ध छिड़ गया।

रानीने दुर्गपर गरगज, कड़क-बिजली, घनगर्ज और भवानीशंकर तोपें लगवा दीं। भयानक गोलाबारी आरम्भ हुई। महिषविमर्दिनीकी भाँति लक्ष्मीबाई अपने सैनिकोंको घूम-घूमकर प्रोत्साहित कर रही थीं। इसी बीच उन्हें ताँत्या टोपेकी पराजयका समाचार मिला। वे खिन्न हुईं, पर अपने प्राण रहते शत्रुको झाँसी-दुर्गमें प्रवेश एवं अपना अङ्ग-स्पर्श न होने देनेका उनका दृढ़ संकल्प था। वे रणकुशल सेनापतिकी भाँति सैन्य-संचालन करती रहीं। अंग्रेज चकित तो थे ही, सशंक भी हो गये थे।

अन्ततः अंग्रेजोंने कलंकित रणनीतिका आश्रय लिया। उन्होंने धोखेसे आक्रमण करना आरम्भ किया। उन्होंने विशाल दुर्गमें आग लगा दी। रानी अपने शरीरको विशाल गोले-बारूदकी अग्निमें भस्म कर देनेके लिये प्रस्तुत हो गयीं, किंतु अपने सरदारोंके समझानेसे वे दुर्गसे बाहर निकल गयीं। लेफ्टिनेंट वाकर उनका पीछा कर रहा था। पर वीर रानीने अपना पीछा करनेवालोंको तलवारके घाट उतार दिया और चौबीस घंटेतक घोड़ेकी पीठपर अविराम यात्रा करती हुई एक सौ दो मील दूर काल्पी पहुँचीं। काल्पीमें भी अंग्रेजी सेना विजयी हुई। रानी वहाँसे भी हट गयी।

महारानीकी सहायतासे नाना साहबने ग्वालियरपर अधिकार कर लिया। किंतु दिनकररावने, जो ग्वालियरका दीवान था, विश्वासघात किया। वह अंग्रेजोंसे मिल गया। कर्नल स्मिथने अपनी सेना एवं भारतीय जयचंदोंको लेकर रानीपर आक्रमण किया। रानीने अद्भुत पराक्रमका परिचय दिया। भयानक युद्ध हुआ। कितने अंग्रेज मारे गये, पर उनकी संख्या अधिक थी। अतएव उन्हें अपनी तलवारके घाट उतारती हुई महापराक्रमशालिनी रानी उनके व्यूहको तोड़कर बाहर निकल गयीं।

रानी अपने घोड़ेपर दौड़ती जा रही थीं, किंतु भाग्य उनके पक्षमें नहीं था। दो अंग्रेज सैनिक उनके पीछे पड़ गये थे। मार्गमें एक नाला पड़ा, जिसे उनका थका घोड़ा पार नहीं कर सका और दोनों अंग्रेजी सैनिक समीप आ गये। युद्ध हुआ। सैनिक परेशान थे, पर एकने पीछेसे सिरपर आघात किया, दूसरेने सामनेसे। रानी लहूलुहान हो गयीं, पर उस अवस्थामें भी उन्होंने दोनों सैनिकोंको समाप्त कर दिया। उनमें प्राण रहते किसी शत्रुने उन्हें स्पर्श नहीं किया। उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। स्वतन्त्रताकी देवी महारानी लक्ष्मीबाई भविष्यमें भी सदा स्वातन्त्र्य-प्रेमियोंका दीप-स्तम्भकी भाँति पथ-प्रदर्शन करती हुई अमर रहेंगी।

मनस्विनी अहल्याबाई

इंदौर-नरेश मल्हारराव होल्कर गुजरातके विद्रोहका दमन करनेके लिये पूना जा रहे थे। मार्गमें पाथरड़ीके शिव-मन्दिरमें विश्राम किया। वहाँ उन्होंने आनन्दराव अथवा मनकोजी सिन्धियाकी रूप, गुण, शील-सम्पन्न पुत्री अहल्याको देखा और मुग्ध हो गये। उन्हें वे अपने साथ इंदौर लाये और अपने पुत्र खंडेरावके साथ उसका विवाह कर दिया।

अहल्याबाई अत्यन्त धर्मपरायणा एवं भगवद्भक्त थीं। अहंकार तो इन्हें स्पर्श भी नहीं कर पाया था। एक पुत्र और कन्या होनेके बाद इनके पतिका शरीरान्त हो गया। सास-ससुरके आग्रहसे राज्य-रक्षाकी दृष्टिसे इन्होंने पतिके साथ सती होनेका विचार त्याग दिया। मल्हाररावने सम्पूर्ण राज्य-कार्य इन्हें सौंप दिया। जिस दक्षता एवं कर्तव्यपरायणतासे इन्होंने शासन सँभाला, उसकी मल्हाररावने १७६१ ई० में पानीपतके युद्धसे लौटकर बड़ी प्रशंसा की।

सन् १७६५ ई० में मल्हारराव परलोकवासी हुए। अहल्याका पुत्र मालेराव राज्य-सिंहासनपर बैठा; पर वह बड़ा दुराचारी था। जिन महिदेवोंकी उसकी माता पूजा करती, उन्हें वह कोड़े लगवाता। कुछ ही दिनों बाद वह अनाचारी शासक काल-कवलित हो गया। अब पुनः राज्य-संचालन अहल्याबाई ही करने लगीं।

माधवराव पेशवाका चाचा रघुनाथराव भी अत्यन्त कुटिल था। इंदौर हड़प लेनेके लिये रघुनाथराव क्षिप्रातक चढ़ आया; किंतु अहल्याबाईकी शासन-कुशलता एवं सैन्य-शक्ति तथा साहस देखकर वह चकित हो गया। अहल्याबाई-का अतिथि होकर वह वापस लौट गया। भीलोंके भयानक विद्रोहको तो रानीने अपनी वीरता एवं कूटनीतिसे कुछ ही देरमें शान्त कर दिया।

अहल्याबाई सत्यपरायणा, क्षमामयी, दयामयी, धर्ममयी एवं अति उदारस्वभावा थीं। भारतके प्रायः सभी तीर्थोंमें उनके बनवाये विशाल मन्दिर उनके कीर्ति-स्तम्भ हैं। प्रजाके करोंको वे दान-धर्मके अतिरिक्त प्रजा-पालनमें ही व्यय करती थीं। किसी युद्धमें सहायतार्थ रघुनाथरावने एक बार इनसे अर्थ-साहाय्य माँगा तो इन्होंने उत्तर दिया—'ब्राह्मणकी भाँति संकल्प ले जाइये। प्रजाका धन ऐसे तो नहीं दिया जा सकता।' रघुनाथराव लज्जित होकर रह गया।

वे शुभकार्यों एवं भगवच्चिन्तनमें अपना समय बिताती थीं। ये ईश्वरभक्त एवं निपुण शासक थीं। साठ वर्षकी आयुमें बारह सहस्र ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उनका आशीर्वाद प्राप्तकर इन्होंने परलोककी यात्रा की। अहल्याबाई धर्मकी देवी थीं और थीं हिंदू नारीके लिये प्रज्वलित आदर्श।

देवी शारदामणि

'मेरा सारा ईश्वर-प्रेम विदा हो जायगा, यदि मैं तुम्हें रोती देखूँगा।' जगदम्बाके अनन्य भक्त श्रीरामकृष्ण परमहंस-ने अत्यन्त प्यारसे अपनी धर्मपत्नी शारदादेवीसे कहा था और जनकनन्दिनीकी भाँति माँ शारदाने एक दिन अपने प्राणाधार पति श्रीरामकृष्णदेवके सम्मुख अपना हृदय-भाव उँडेल दिया था 'स्वामीके साथ वृक्षकी छाया भी मुझे अट्टालिकासे अधिक सुखद है।'

माँ शारदादेवी बंगालके बाँकुड़ा जिलेमें जयरामवाटी नामक गाँवके एक निर्धन किंतु सात्त्विक धर्मपरायण ब्राह्मण-के घर उत्पन्न हुई थीं। उनका छः वर्षकी आयुमें ही श्री-गदाधरजी (श्रीरामकृष्ण परमहंस) से विवाह हो गया था। तेरह वर्षकी आयुतक वे घरही पर रहीं। घरका सारा काम, यहाँतक गले-गलेतक पानीमें घुसकर गायके लिये घास भी वे स्वयं काट लाती थीं।

पतिगृहमें इन्होंने जब पदार्पण किया, तब श्रीरामकृष्णजी तो तोतापुरी महाराजसे दीक्षा ले चुके थे। श्रीरामकृष्णजीने बड़े प्रेमसे इन्हें घर-गृहस्थी एवं साधन-भजनकी छोटी-से-छोटी शिक्षाएँ दीं। अल्पकालमें ही ये परम त्याग एवं तपकी मूर्ति हो गयीं।

श्रीरामकृष्णजीके दक्षिणेश्वर चले जानेपर माँ जयराम-वाटी आ गयी थीं, पर इनका मन दुखी रहता। अतएव वे दक्षिणेश्वर चली आयीं। मार्गमें इन्हें तीव्र ज्वर हो आया। शरीर दुर्बल एवं रुग्ण हो गया। उस अवस्थामें उन्हें जगदम्बा कालीने प्रत्यक्ष दर्शन दिये। ये दक्षिणेश्वर पहुँचीं तो श्रीरामकृष्णजीने इनकी यथोचित सेवा-शुश्रूषा करके इन्हें स्वस्थ कर दिया।

माँ परमहंसदेवके साधनमें बाधा नहीं, अपितु सहायिका थीं। उनका स्वयंका जीवन साधनामय था। परमहंसजीने स्वयं कहा था 'वह (श्रीशारदादेवी) यदि इतनी भोली न होतीं, कामनाशून्य न होकर आत्मविस्मृतिसे यदि मुझे पकड़े रहती तो संयमका बाँध तोड़कर मुझमें देह-बुद्धि आती या नहीं कौन कह सकता है।'

तपस्वी पतिके साथ रहकर वे स्वयं साधन, भजन और जप-तपमें पारदर्शी हो गयी थीं। एक बार कामारपुकुरसे दक्षिणेश्वर जाते समय ये अपने साथियोंसे बिछुड़ गयीं। अँधेरी रातमें एक डाकू मिला। उसने इन्हें कालीके रूपमें देखा। इनके 'पिता' कहनेपर उसका इनके प्रति पुत्रीका भाव हो गया। वह डाकू कई मिठाई आदि लेकर पुत्रीके भावसे इनके पास आया भी था।

'तुम मुझे चाहती हो या भगवान्‌को ?' एक स्त्रीने असमंजसमें पड़कर अपने पतिका प्रश्न माँके सामने उपस्थित किया। माँने बड़े प्यारसे कहा 'क्यों बेटी! तुमने उत्तर क्यों नहीं दिया। तुम्हें कहना चाहिये था, मैं तुम्हींको चाहती हूँ ?' माँकी पतिदेवके चरणोंमें कितनी श्रद्धा, निष्ठा एवं प्रेम था, उपर्युक्त वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है।

ये पतिदेवको 'गुरुदेव' या 'ठाकुर' कहा करती थीं। सन् १८८६ ई० में (जब ये केवल ३३ वर्षकी थीं) श्रीराम-कृष्ण परमहंसने शरीर-त्याग किया तो ये आकुल हो गयीं। अन्तमें श्रीपरमहंसने इन्हें साक्षात् दर्शन देकर कहा—'तुम्हारा संसारमें रहना अभी आवश्यक है।'

अपने पुण्यमय पतिके आदेशानुसार इन्होंने जीवन-धारण किया तथा भक्तोंको शिक्षा-दीक्षा देते हुए

जगत्का हित-साधन करती रहीं। २१ जुलाई सन् १९२० में इन्होंने इस मर्त्य-धामको त्याग दिया और पतिलोकके लिये प्रयाण कर गयीं।

माँ शारदा देवीका जीवन तपका जीवन था—साधनाका जीवन था। आज भी उनका जीवन-चरित्र पढ़-सुनकर भक्त गद्गद होते एवं अपना जीवन निर्माण करते हैं।

नारीके सर्वनाशके साधन

सहशिक्षा

'ज्वलदग्निसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।'

अग्निके समीप घीका घड़ा रहे और उसका घी पिघले नहीं—कभी हो सकता है यह? युवक छात्र एवं तरुण शिक्षकोंका बराबरका साथ, उनके साथ बैठना-पढ़ना, मिलना-जुलना युवती कन्याओंका—अन्ततः वे पत्थरकी मूर्तियाँ तो नहीं हैं। उनके शरीरमें भी मांस-पिण्डका ही हृदय धड़कता है। उनके चित्तमें विकृति नहीं आवेगी, यह दुराशा क्यों करते हैं लोग? उनके शिक्षक एवं सहपाठियोंके चित्तमें ही विकृति आती है—किसका दोष है?

निरन्तर संग—मन वशमें रहे, यह आशा आजके छात्रोंसे—और उस उत्तेजक वातावरणमें। छेड़-छाड़-बोली-ठोली—पाँव फिसलनेकी पूरी भूमिका प्रस्तुत करके आजके समाजके विधायक संयमकी आशा करते हैं! अवाञ्छनीय घटनाएँ, औद्धत्यके समाचार—पापकी वृद्धि; किंतु सर्वनाशका साधन सहशिक्षा रहेगी तो सर्वनाशको रोका जा नहीं सकता।

तलाक

अब सरकारने विवाह-विच्छेदको कानूनका आशीर्वाद दे दिया है। किंतु जो नारी इस प्रकार तलाक प्राप्त करेगी—क्या होगा उसका? उसके पास धन होगा और रूप होगा तो इनके लुटेरे अवश्य आ जुटेंगे—वह रक्षा कर पायेगी उन भेड़ियोंके भूखे समूहसे अपनी? उसे भुलावा देना सरल नहीं है क्या? धन तथा रूपकी समाप्तिके पश्चात्—आपको कोई आश्रय दीखता है उसके लिये?

तलाक नारी ही तो नहीं दे सकती, पुरुष भी दे ही सकता है। रोग जब रूप छीन ले, शक्ति न रह जाय सेवाकी—पुरुष ऐसी नारीको छोड़ देना चाहे—आजके स्वार्थी युगमें यह स्वाभाविक नहीं लगता आपको? तलाकके लिये बहुत-से प्रतिबन्ध हैं; किंतु न्यायालयोंमें क्या सत्यका निर्णय हो पाता है? झूठे प्रमाण, झूठी साक्षी, मिथ्या आरोप—पुरुषका स्वार्थ इनका आश्रय नहीं लेगा, कोई आश्वासन है? ऐसी अवस्थामें तलाकके अधिकारने नारीकी रक्षा की या उसे विपत्तिके मुखमें डाला?

नृत्य

बचपनसे हमलोग जानते थे—वाराङ्गनाएँ नाचती हैं। भारतमें नृत्य तो वेश्याओंकी आजीविकाका साधन था और कलाका सम्मान भी इससे हो जाता था। किंतु पाश्चात्त्य सभ्यताका उपहार—अब सार्वजनिक मञ्चोंपर सम्पन्न, सुशिक्षित सभ्य परिवार अपनी बहू-बेटियोंको नचानेमें गर्वका अनुभव करने लगे हैं। अब एक सामान्य बात हो गयी है सबके सामने बहू-बेटियोंका नाचना!

नृत्य एक कला है—कोमल कला; किंतु वह शृंगार-कला है। कामके भावोंको उद्दीप्त करनेवाली कला। नृत्यकी भाव-भंगी, अङ्ग-संचालन—उत्तेजक ढंगसे उत्तेजक अङ्गोंका गतिदर्शन है वह। शत-शत लोक जिसकी कलापर मुग्ध होते हैं—उस कलाकारपर भी उसमें कुछ मुग्ध हों तो उनका दोष? और प्रशंसा कितना मीठा विष है? अपने प्रशंसकोंके प्रति किसीका रुझान नहीं होगा—कैसे अशक्य माना आपने? पतनका पथ प्रशस्त करके संयमकी आशा—आजकी समझदारी धन्य है!

फैसन

देशमें अर्थ-संकट है। विदेशी मुद्राकी कमी है। देश बड़े-बड़े ऋण ले रहा है। पाउडर, क्रीम, नेलपालिश, लिपस्टिक तथा दूसरी फैसनकी वस्तुओंका आयात एवं निर्माण एकदम बंद कर दिया जाय—कोई मर जायगा? कोई रोगी होगा?

ओठ रँगकर, नाइलोनकी पारदर्शी साड़ी तथा पारदर्शी ब्लाउज पहिनकर, अर्धनग्न, अङ्गोंका अधिकाधिक प्रदर्शन करते बाजारोंमें चलना। यह साज-सजावट लोगोंकी दृष्टि आकर्षित करनेके लिये ही तो? पतन तो इस रुचिमें ही हो गया और अनर्थको निमन्त्रण दे दिया गया! हाय! आर्य-नारीका यह पतन?

श्रीरामचरितमानस मानवताके उद्गमका दिव्य केन्द्र है

(लेखक—वैद्य पं० भैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी 'मानस-तत्त्वान्वेषी')

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अनादि[1] पुरुष तथा आदि-नायक हैं, जो मानव-जगत्के एकमात्र आदर्श हैं, मानवता अथवा नायकत्वकी प्रतिष्ठा एवं मर्यादा हैं। वे ऐसे नरश्रेष्ठ हैं, जिनके आदर्शोंपर नरत्व (मनुष्यत्व) उत्पन्न हुआ है। वे ऐसे नायकोत्तम हैं, जिन्होंने नायकत्वको जन्म दिया है। अतः वे ही नायकत्व और पुरुषत्वके आदर्श और आदि उदाहरण हैं।

श्रीराम एक साथ आदर्श सम्राट, आदर्श शासक, आदर्श राजा, आदर्श गृहस्थ, आदर्श स्वामी, आदर्श पति, आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श बन्धु, आदर्श मित्र और आदर्श भक्त हैं। भाव यह है कि जो जिस परिस्थितिमें हैं, वे तदनुसार अपना आदर्श स्थापित करनेमें मानसके नायक श्रीरामके आदर्शसे बहुत बड़ी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् हम राजा हों या प्रजा, स्वामी हों या सेवक, गुरु हों या शिष्य, पिता हों या पुत्र, भाई हों या बन्धु—चाहे जिस परिस्थितिमें हों, श्रीरामको अपना आदर्श बनाकर यथाशक्ति अपने कर्तव्यका निर्वाह करके मानव-जीवनको सफल बनाते हुए परम पदके अधिकारी बन सकते हैं। यथा—

पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥

रामचरित-मानसके निर्माणसे मानव-जगत्में उदार धार्मिक भावना, धार्मिक एकता, धार्मिक विश्वास, पारस्परिक प्रेम और सुख तथा शान्तिका अकथनीय प्रसार-प्रचार हुआ है। एवं मानव-जगत्के कल्याणका पथ भी प्रशस्त बन गया है।

नीति, मर्यादा, सदाचार, दुर्गुणों (अवगुणों) का त्याग एवं सद्गुणोंका ग्रहण, माता-पिताकी श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेमपूर्वक सेवा, संतोंका सेवन और सत्सङ्ग, प्राणिमात्रपर दया-भाव, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि षड्रिपुओंको जीतना, विषयोंसे विरक्त होना, भगवान्की शरणागति एवं प्रेमा-भक्ति आदि-आदिके सदुपदेशोंसे रामचरितमानस भरा पड़ा है, जिनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण अवश्यमेव शुद्ध हो जाता है।

श्रीरामचरितमानसका प्रणयन बड़ी ही अलौकिक रीतिसे हुआ है। दिव्य-शक्तियोंकी विशिष्ट आयोजनासे उसका महान् संघटन हुआ है। अतः वह सर्वाङ्गपूर्ण है। उसमें किसी भी प्रकारके दोषका आरोपण नहीं हो सकता, वह सर्वदोषविनिर्मुक्त है। मानसकी चौपाइयाँ, दोहे तथा छन्दादि, प्राणोंमें नित-नूतन प्रेरणा भरते हैं तथा उनके पठन-पाठन, स्वाध्याय, श्रवण-मननसे जीवनमें एक प्रकारके दिव्य रसका संचार होता है। देह-धर्म, आत्म (अन्तःकरण) धर्म, गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म और विश्व-धर्म या पूर्ण धर्मका मानसमें युक्तिपूर्वक बड़ा ही सुन्दर विवेचन हुआ है।

देह-धर्मसे आत्म-धर्म, गृह-धर्मसे कुल-धर्म, कुल-धर्मसे समाज-धर्म, समाज-धर्मसे लोक-धर्म और लोक-धर्मसे विश्व-धर्म (जिसमें धर्मका स्वरूप शुद्ध और अपने पूर्णरूपमें दिखलायी पड़ता है) का अङ्गाङ्गि-भेदपूर्वक सार-अलङ्कारद्वारा उत्कर्ष कथन किया गया है। पूर्ण धर्म अङ्गी है और शेष धर्म उसके अङ्ग हैं। पूर्ण धर्मका सम्बन्ध अखिल विश्वकी स्थिति-रक्षासे है, जो वस्तुतः पूर्ण पुरुष या मर्यादा-पुरुषोत्तममें ही रहता है तथा जिसकी वास्तविक अनुभूति उनके श्रद्धा-भक्तियुक्त सच्चे भक्तों[1]को ही हुआ करती है।

मानसमें जो सर्वतोभावेन आदर्श पुरुषका चित्रण है, वह आदर्श तथा उसका अनुकरण सामान्य मनुष्यकी शक्तिके बाहर भी नहीं है। किंच यदि सर्वथा अनुकरण कठिन भी है, तो भी जितना अनुकरण हो सकता है, उतना ही परम कल्याणकारी है। अतः श्रीरामचरितमानसका परिशीलन करना हो तो पहले उसका स्वरूप समझकर ही करना चाहिये। मानसके इस अलौकिक (दिव्य) प्रभावके कारण ही भारतवर्षके मानस-पटपर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम कण-कणमें व्याप्त हैं। लाखों वर्ष हुए जब भगवान् श्रीरामचन्द्र इस

---

१. राम अनादि अवधपति सोई॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्॥
(गीता १० । २-३)

१. आनहिं भगत भगत उर चंदन॥

अवनितलपर अवतरित हुए थे और मानवकी तरह इस धराधामपर रहे थे। उनका वह दिव्य मानव-जीवन मानवमात्रके लिये—विशेषतः आर्य-जातिके लिये परमोत्कृष्ट आदर्शके रूपमें प्रकट हुआ तथा आर्य-जातिने उसीके आधारपर उसी सनातन चिरशाश्वत सत्यकी भित्तिपर अपनी आदर्श आर्य-संस्कृतिकी स्थापना की—यथा 'रामवद् वर्तितव्यम्।'

रामचरितमानसने अपने दिव्य व्यापक सौन्दर्यसे सभी श्रेणियों और वर्गोंको अपनी ओर आकर्षित किया है। इसमें मानव-जीवनके सभी श्रेष्ठ साधनोंकी प्रमुख धाराओं और प्रवृत्तियोंका अभूतपूर्व एकीकरण (संघटन—सामञ्जस्य) हुआ है। गूढातिगूढ़ ज्ञान, विचार, योग-तत्त्व, मूर्तिमान् श्रद्धा तथा सुन्दर नीतिकी व्याख्या, आदर्शसे अनुप्राणित कर्तव्य, विवेक, सदाचारयुक्त पाण्डित्य, अनासक्ति, युद्ध, मिलाप (संधि), राज्य, भोग, त्याग, ग्रहण आदि सभीका मानसमें अपूर्व समन्वय हुआ है। विश्वकी विभिन्नताओंका यहाँ एकीकरण (समीकरण) पाया जाता है।

वर्तमान समयमें रामचरितमानस विश्वका प्रसिद्ध अपूर्व ग्रन्थ माना जाता है। एक ही दृष्टि रखकर यह ग्रन्थ समझने, सोचनेमें बहुत ही व्यक्तिगत बन जाता है। भक्ति, ज्ञान या कर्मकाण्ड ही इसमें है—यों कहना एकदेशीय दृष्टि है। इस प्रकारकी सीमित दृष्टि रखकर इस मानस-ग्रन्थका अनुशीलन करना इसको संकुचित बनाना है। मानस तो सबका है। सब कुछ इसमें है, जो सबके लिये उपादेय है। यह एक युग या समयविशेषमें बँधा हुआ नहीं है, यह सब कालके लिये है। अतः इसको पढ़ने, समझने और देखनेके लिये तथा इसकी महामहिमाकी अनुभूति एवं इसके सौन्दर्य तथा शक्तिके परिज्ञानके लिये परिपूर्ण दृष्टिकी आवश्यकता है।

मानसके अनुशीलनसे भक्ति ही नहीं, मानवताकी प्राप्ति होती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे इसी दृष्टिसे रचा है कि जिससे सबका उपकार हो सके। मानसके पठन-पाठनसे ज्ञान, भक्ति, कर्म या उपासनाका तत्त्व ही नहीं ज्ञात होता, बल्कि इसमें वर्णित श्रीरामचन्द्रजीके दिव्य मानवी गुणोंसे मानवताकी आदर्श शिक्षा प्राप्त होती है। सामग्रीसे कथाके महत्त्वका पता लगता है। श्रीरामके चरित्रके श्रवण, मनन, अनुकरणसे लोगोंकी उन्नति होती है तथा धर्म-पालन होता है। कारण, श्रीराम और धर्ममें कोई अन्तर नहीं है। श्रीराम धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। यथा—रामो विग्रहवान् धर्मः। जिसको धर्मका तत्त्व अवगत करना हो, उसे राम-तत्त्व जान लेना चाहिये।

यह केवल रामचरित ही नहीं है, इसे ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिसे ही नहीं लिखा गया है, किंतु यह—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

—बड़ी ही 'व्यापक दृष्टि' से लिखा गया है। यह अष्टादश ही नहीं, अनेक (उप) पुराणोंसे सम्मत है। 'यत्' का सम्बन्ध भी सबके साथ है। यथा 'यत् नानापुराणसम्मतम्, यत् निगमसम्मतम्, यत् आगम-सम्मतम्, तथा यत् रामायणे निगदितम्। यह चरितपरक ग्रन्थ है—केवल रामायण ग्रन्थ ही नहीं है। रामायणमें रामके ऐतिहासिक चरित्रोंका ही वर्णन होता है। वह 'वाल्मीकीय रामायण' है। यह मानस रामगाथा, रामसुयश, रघुपति-चरित्र, आदि सब कुछ है, पर 'रामायण' नहीं। स्वयं ग्रन्थकार गोस्वामीजीने मानसभरमें कहीं भी अपने ग्रन्थका नाम 'रामायण' नहीं कहा है। तो क्या कहा है ? 'रामचरितमानस' कहा है, यथा—

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥

स्वयं कवि जो नाम लिख गये हैं, उसके अतिरिक्त हम अन्य नाम कहें तो यह हमारा बुद्धिबाहुल्य ही होगा। जो नाम स्वयं तुलसीदासजी लिख गये हैं, हमें उसीको कहना चाहिये। एक ही कविवर ऐसे हैं (वाल्मीकिजी) कि जिन्होंने 'रामायण' लिखा है। यथा—

बंदौं मुनि पद कंज, रामायन जेहिं निरमयउ॥

अतः हम कोई नयी (अन्य) रामायण नहीं बना रहे हैं—यह पृथक् है, जिसने रामायणका निर्माण किया है, उससे हमें सम्मति तो लेनी ही पड़ेगी। अतः कहा 'यद्रामायणे निगदितम्।' सबके संकलनके बाद भी फिर 'क्वचिदन्यतोऽपि' क्या रह गया ? उत्तर अर्थात् 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' में केवल प्रमाण-ग्रन्थ ही नहीं बना रहा हूँ, किंतु प्रत्येक मनुष्य इसमें वर्णित श्रीरामके चरित्रको अपने जीवनमें कैसे ढाल सकता है, पशु या मनुष्य या राक्षसके साथ होनेसे सङ्ग-दोष, या सङ्ग-गुण कैसे प्राप्त होते हैं, प्राकृतिक दैनिक जीवन कैसे बिताना चाहिये, अन्यायीका उद्धार कैसे हो सकता है—इन सब बातोंका भी इसमें वर्णन करना है। अतः मैं

रघुनाथकी गाथा लिख रहा हूँ। कौन-सी भाषामें ? यहाँ कविने भाषाका स्पष्टीकरण नहीं किया, केवल 'भाषाबद्ध' कहा—भाषा-बद्ध यानी जो संस्कृतसे अनूदित है। जिस भाषाचे आभास हो सके, चाहे वह कोई भी भाषा हो। अर्थात् जो सर्वसाधारणकी समझमें आ सके, वह भाषा। अस्तु,

भारतके प्रत्येक प्रान्तमें रहनेवालोंको मानसकी दो-चार चौपाइयाँ बहुधा याद रहा करती हैं, जिन्हें वे समय-समयपर दोहराया करते हैं। यथा—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावइ साखा॥
का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुके पुनि का पछितानें॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥
—आदि-आदि।

छोटे बालकोंको भी यदि मानसकी प्रारम्भसे ही शिक्षा दी जाय तो इससे संयुक्त पर्याय शब्दोंका भी उन्हें बोध हो जाता है। यथा—

पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरषि नहाने निर्मल नीरा॥

यहाँ 'गोमती-तीरा' कहते तो ऐतिहासिकता तो आ जाती, पर 'गो' शब्दका पर्याय 'धेनु' शब्द होता है, गोमती-का दूसरा नामरूप 'धेनुमति' भी होता है—इसका पता न लगता। पुनः 'भाषा-बद्ध' क्यों किया ?

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

यहाँ कीर्तिकी गङ्गासे तुलना की गयी। गङ्गामें तैरना न जाननेवाले द्विज-पण्डित डूब जाते हैं और तैराक केवट (कोल-किरातादि) भी पार उतर जाते हैं। विद्याका कितना भी बल हो, तैरना न जाननेसे वहाँ डूबना ही पड़ेगा।

मानव एक सामाजिक प्राणी होते हुए भी अपने समाज, परिवार या जातिवालोंके ही उपकार या संरक्षण-शिक्षण-में रत रहता हो—ऐसी बात नहीं; वह तो 'सर्वभूतहिते रतः' रहता है। मानवताकी परिभाषाका कोई दो+दो=चारके समान अत्यन्त निश्चितरूपसे स्थूल तथ्योंका उदाहरण देकर तो निरूपण किया नहीं जा सकता। किंतु 'सर्वभूतहिते रतः' सबके प्रिय, सबके हितकारी रहना ही मानसकथित मानवता-का शुद्ध स्वरूप है। संक्षेपमें अब इसका एक अन्यतम उदाहरण देकर इस लेखका उपसंहार किया जा रहा है।

सीताहरणोपरान्त श्रीरामचन्द्रजी भ्राता लक्ष्मणके साथ विलाप करते चले जा रहे थे। इतनेमें ही अकसात्—

आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

तो अति शीघ्रतापूर्वक राघवेन्द्रने गृध्रराजको अपनी परम पावनी गोदमें उठा लिया। यथा—

राखौ गीध गोद करि लीन्हौ। (गीतावली)

एक कविने इस दृश्यका बड़ा ही करुणाजनक हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है। यथा—

दीन मलीन अधीन है अंग, बिहंग परयो छिति छिन्न दुखारी।
राघव दीन दयालु कृपालु को, देखि भई करुना बड़ि भारी॥
गीध को गोद में राखि कृपानिधि, नयनसरोजनि में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख, जटायुकी धूरि जटान सों झारी॥

इसके उपरान्त—

राम कहा तन राखहु ताता।

क्या कहा आपने ? मैं अपने इस छिन्न-भिन्न शरीरको रखूँ ? हाँ तभी तो गोदमें लिया है। यह सुनते ही—

मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता॥

क्या ?—

तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ, तुम्हहि कहाँ पुनि पैहौं॥
(गीतावली)

अच्छा ! अब एक शर्त कर लीजिये—'मैं जब कभी मरूँगा, उस समय सम्मुख आकर अपने अङ्कमें बैठा लोगे या नहीं ? प्रभुने कुछ उत्तर नहीं दिया। अतः हँसकर कहा। यहाँ मरणावस्थामें गीधराजको रोकर कुछ कहना था न कि हँसकर। इससे यह भाव जनाया कि आपको तो इस समय उल्टे यह कहना था—'जटायु ! अच्छा है, इस बेकार शरीर-को शीघ्र छोड़ दो। पुनः आत्मा तो अमर है। फिर आपका मेरे इस जीर्ण-शीर्ण शरीरपर मोह कैसे हुआ ? क्या आप यह चाहते हैं कि मैं इस गले-सड़े शरीरको रख लूँ और आमिष आहार किया करूँ। पर मैं आपकी चाल जान गया। आप

१. यहाँ तो मानवताकी पराकाष्ठा हो गयी। कारण, आजके युगमें, जब कि शिक्षा और सभ्यताकी दुहाई दी जाती है हम देखते हैं कि सभ्य और माने हुए नेता या शासक यदि कहीं दौरेपर जा रहे हों, रास्तेमें कहीं गाय या बैल दुखी पड़े प्यासके मारे छटपटा रहे हों तो देखकर भी अपनी कारसे उतरकर झाड़ पोंछकर पानी पिलाना तो दूर रहा, बेचारोंके उल्टे अपनी कारकी टक्कर और दे जायँगे, जिससे उसके शीघ्र ही प्राणतक निकल जायँ

मेरे द्वारा किये गये उपकारोंका बदला इस शरीर-दानसे चुका रहे हैं। अस्तु, जरा बताइये तो सही—

जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं नाथ देह केहि खाँगें ॥

इतना सुनते ही राघवेन्द्र सरकार रो पड़े। यह देखकर पूछा गीधपतिने—'आप रो क्यों रहे हैं?' 'जहाँ विवशता होती है, वहाँ रोता हूँ।' 'क्या आज विवशता है?' 'नहीं, पर मैं तुम्हारा कुछ भी बदला नहीं चुका सका।' गीधने कहा—'हरिरूपाकी-सी मुक्ति किसीको नहीं मिली। मैं तो आज गीधसे मनुष्य, भक्त, देवता—नहीं-नहीं, साक्षात् भगवान् बन रहा हूँ और फिर भी (ऐसी गति देकर भी) आप कहते हैं—बदला नहीं चुका सका।'' तो इसपर कहते हैं—'यदि मैं अपनी उदारतासे आज तुमको 'गति' देता, तब तो रोनेकी कोई बात ही नहीं थी। कारण, गति देनेके बाद तो मैं रोता नहीं।' 'तो फिर ऐसी (यह) 'गति' मुझको कौन दे रहा है?' इसके उत्तरमें—

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज ते गति पाई ॥

अर्थात् तुमको तुम्हारे ही कर्मने गति दी है।

अच्छा, तो फिर आपने अपना स्वरूप क्यों दिया?

उत्तर—मैं भगवान् हूँ, अतः—

न मे कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ॥
(गीता ४। १४)

फिर भी बिना किसी सम्बन्ध (नाते) के अकारण अपनी ओरसे मैं जैसे आर्त प्राणियोंकी प्राणपणसे सहायता (रक्षा) करता हूँ, वैसे ही तुमने भी मेरी वृत्ति (भगवद्वृत्ति) को अपनाया। एक बार 'पुत्रि' कहकर उस (सीता)के लिये प्राण (शरीर) त्याग दिया। जीव जब भगवद्वृत्तिमें आ जाता है, तब भगवद्रूप ही हो जाता है। अर्थात् स्वयं भगवान् बन जाता है।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। (श्रुति)

अतः आज गीधका प्रत्युपकार न कर सकनेसे भगवान्‌का भी मस्तक झुक गया। वे बोले—

पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

उपर्युक्त प्रमाणोंद्वारा यह सिद्ध हो गया कि यह श्रीरामचरितमानस ग्रन्थ-रत्न सर्वदा सबके लिये पठनीय, मननीय, अनुकरणीय तथा पूजनीय है, आबाल-वृद्ध सभी (मनुष्यमात्र) का समानभावसे उपकारी है। अतः अधिक-से-अधिक इसके (श्रीरामचरितमानसके) व्यापक प्रचार-प्रसारमें योग देना मनुष्यमात्रका पूर्ण कर्तव्य है। कारण यह है कि यह श्रीरामचरितमानस आदर्श, दिव्य, आदिनायक, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका नित्य दिव्य आदर्श मानव-चरित है तथा मानवताके उद्गमका दिव्य केन्द्र है।

'बोलो मर्यादापुरुषोत्तम राघवेन्द्र सरकारकी जय!'

मानवता गुरु है

(रचयिता—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

मानव लघु, मानवता गुरु है।
जिसमें हो मानवता ऐसा मानव देवोंसे भी गुरु है ॥
मानवताके महासिन्धुमें सच्ची मानवता दुर्लभ है।
हैं अगणित मानव पर उनमें सच्चा मानव अति दुर्लभ है ॥
मरते दम तक रावण मानवको लघु ही तो जान रहा था।
पर मरते-मरते वह मानवताकी गुरुता मान रहा था ॥
देवोंने भगवान् कहा पर कहा रामने मानव खुदको*।
यों पुरुषोत्तमने अपनेसे श्रेष्ठ बनाया अपने खुदको ॥
भगवत्ताकी कृति है मानव; कविसे उसकी कविता गुरु है।
भगवत्तासे भी मानवताकी सत्ता शायद कुछ गुरु है ॥
हैं भगवान् साध्य पर साधन मानवता शायद कुछ गुरु है।
भगवत्ताका पथ बतलानेवाला गुरु प्रभुसे कुछ गुरु है ॥

* देखिये वाल्मीकीय रामायण।

आदर्श त्याग और आदर्श मिलन

भरतके लिये रामका राज्य-त्याग

अयोध्याका महान् साम्राज्य—अमरावतीका ऐश्वर्य भी जिसकी समता न कर सके और वह क्या श्रीरामका स्वत्व नहीं था? महाराज दशरथको कोई अधिकार था श्रीरामको उस स्वत्वसे वञ्चित करनेका? श्रीरामने स्वयं राज्यका त्याग नहीं किया होता—क्या कर लेती कैकेयी रानी? कुमार लक्ष्मण धनुष चढ़ानेको प्रस्तुत ही थे, किंतु क्या धनुष चढ़ानेकी कोई आवश्यकता भी थी? भरत लौटकर प्रसन्न होते या संग्राम करते? महाराज दशरथने ही अपने मुखसे श्रीरामको वन जानेको कब कहा था?

स्वत्वकी चर्चा व्यर्थ। लक्ष्मणका रोष व्यर्थ। राज्य रामका सही; किंतु भरत रामके नहीं? रामके प्राणप्रिय भाई भरत। राज्य भरतको प्राप्त होगा—श्रीरामको तो अपने राज्य पानेकी अपेक्षा अधिक प्रसन्नता हुई। वे वन चले प्रसन्नमन।

श्रीरामके लिये भरतका राज्य-त्याग

माताने भरतके लिये राज्य माँगा था और पिताने दिया था। श्रीरामने सोल्लास स्वीकृति दी थी पिताके वरदानको। कुलगुरु, मन्त्रीगण, प्रजा-प्रधान—सबकी सम्मति थी कि भरत सिंहासन स्वीकार करें—कौसल्याका भी आदेश यही था। दूसरा कोई पथ किसीके पास रहा नहीं। भरतने सिंहासन स्वीकार कर लिया होता? श्रीराम प्रसन्न होते। भरतको दोष कोई दे नहीं सकता था।

कैकेयीका वरदान ठीक। पिताकी स्वीकृति ठीक। गुरु एवं मन्त्रियोंकी सम्मति ठीक; किंतु राज्य तो श्रीरामका—भरत उसे कैसे स्वीकार कर लें। भरत तो सेवक श्रीरामके और वे श्रीरामको लौटाने पहुँचे चित्रकूट।

सत्यप्रतिज्ञ श्रीराम लौट नहीं सकते। भरत सिंहासन स्वीकार नहीं कर सकते। भरत श्रीरामके सेवक—श्रीरामके प्रतिनिधि बनकर वे चौदह वर्ष राज्यका संचालन कर सकते हैं; किंतु राज्य श्रीरामका। सिंहासनपर स्थापित करनेके लिये श्रीरामकी चरणपादुका प्राप्त करके ही लौटे वे।

चित्रकूटमें श्रीराम-भरत-मिलन

अयोध्याका चक्रवर्ती राज्य मैदानकी गेंदके समान ठोकरें खा रहा है। जिसका वह स्वत्व था वह वल्कलधारी, जटामुकुटी बना वनमें आ बसा है। जिसे महाराज दशरथके वरदानने उसका स्वत्व सौंपा, वह उसे स्वीकार करनेको प्रस्तुत नहीं। वह स्वयं वल्कल पहिने, जटाओं-जैसे रूक्ष केश बिखेरे चित्रकूट आया है अपने वनवासी अग्रजको मनाने।

दूर्वादलश्याम श्रीअङ्ग, कमललोचन, आजानुबाहु, वल्कलवसन, जटामुकुट—परस्पर अङ्कमाल देकर मिलते ये दोनों बन्धु—यह अजस्र अश्रुप्रवाह, यह पुलकपूरित तन।

आप पहचान सकते हैं इन्हें—एक वेश, एक वर्ण, एक रूप होनेपर भी इन्हें आप पहचान सकते हैं। नित्य प्रसन्न श्रीमुख, श्रीवत्सवक्ष श्रीरामके नित्य चिह्न तो हैं ही; किंतु उनकी जटाएँ वटक्षीरसे मुकुट बन गयी हैं और खिन्नवदन, परमाकुल श्रीभरतजीके केशकलाप बिखरे हैं; किंतु आप नहीं पहचान सकते—दोनोंमें महान् त्यागी कौन?

अयोध्यामें श्रीराम-भरत-मिलन

वही नवदूर्वादलश्याम श्रीअङ्ग, वही कमललोचन, वही आजानुबाहु, वे ही वल्कलवसन—अजस्र अश्रुप्रवाह, पुलकपूरित शरीर; किंतु आज दोनों श्रीमुख परमाह्लाद-पूरित हैं।

आज वनकी पृष्ठभूमि नहीं, श्रीअवधकी नगरके बाह्य-भागकी विस्तीर्ण धरित्री है। दोनों महामानवोंके परम त्यागका यह पुण्य पर्यवसान; किंतु आज भी आप पहचान सकते हैं। श्रीवत्सपर ध्यान दिये बिना भी पहचान सकते हैं नन्दिग्रामके महातापसको। उनका तपःकृश काय आपको अपना परिचय स्वतः दे देगा।

आदर्श त्याग

रामका वनगमन

चित्रकूटमें पादुका-दान

चित्रकूट-मिलन

अयोध्या-मिलन

सेवाधर्म ही मानवता है

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

श्रीरामचरितमानसका अन्तिम शब्द 'मानवाः'* है और फलश्रुति यह है कि जो मानव भक्तिपूर्वक इस प्रेम-जलसे परिपूर्ण मानसमें गोते लगाते हैं, वे संसार-सूर्यकी घोर किरणोंके दाहसे बचे रहते हैं। यह शुभ कामना लोकसंग्रह-की दृष्टिसे है—परमार्थ-दृष्टिसे तो ग्रन्थके प्रारम्भमें स्वान्तःसुख-की अभिलाषा प्रकट हुई है।

इस महाकाव्यकी रचनाके कारण श्रीगोस्वामी तुलसी-दासजीको अनेक यातनाएँ झेलनी पड़ीं, नाना प्रकारके कष्ट सहने पड़े, अपमानित होना पड़ा; परंतु परोपकारपरायण महात्माजीने इन सबको बड़े धैर्यसे सहन किया और उत्साहके साथ मानवमात्रके कल्याणके कार्यको स्वान्तस्सुखाय सुसम्पन्न करके उसका प्रचार किया, जिससे आज भी लाखों मानव उन संत-शिरोमणिके अति मञ्जुल निबन्धसे सब प्रकारका लाभ उठा रहे हैं। लोकदृष्टिसे गोस्वामीजीके द्वारा की गयी मानवताकी परिभाषा है—'संत सहहिं दुख पर हित लागी।' उनकी मानव-सेवासे समस्त भारतवासी ऋणी हैं। वास्तवमें इस पवित्र ग्रन्थसे, साहित्य एवं भाषाका धर्म-प्रचार तथा देश-सेवा भी हो रही है, परंतु उनकी दृष्टिमें तो यह सब प्रभु-सेवा ही है। अतएव परमार्थ-दृष्टिसे गोस्वामीजीकी मानवताका पर्याय 'प्रभु-सेवा' ही है, जैसा कि ग्रन्थके आरम्भमें प्रकट किया गया है। 'स्वान्तस्सुखाय' ही रघुनाथ-गाथाकी रचनाका उद्देश्य है। 'स्वान्तस्सुखः' का पारमार्थिक अर्थ अन्तरात्मामें सुखवाला है (शाङ्करभाष्य गीता ५। २४)।

श्रीसीताजी, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नजीका भी ध्येय प्रभु-सेवा ही है—

(१) जानति कृपा सिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
(२) सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई॥
(मानस, उत्तर०)

श्रीहनुमान्‌जीको जो कपिराजकी आज्ञा मिली थी, उसका लक्ष्य प्रभु-सेवा ही है—

सेवहु जाइ कृपा आगारा। (मानस, उत्तर०)

सेवा-धर्म बड़ा गहन है और इसके आचरणसे मानवता सौभाग्य (सुहाग) से भरी रहती है!

श्रीरामचरितमानसमें भक्तशिरोमणि भरतजीने श्रीरामजीकी प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे सेवा करके जिस मानवताके आदर्शकी स्थापना की है, उसका समन्वय श्रीगीता-चार्यके उस उपदेशसे होता है, जिसे श्रीयोगेश्वरने अपने भक्त सखा अर्जुनको उस समय दिया था जब कि पार्थ अपने मानवता*के पथसे विचलित हो रहे थे; परंतु गुरुमुखसे उपदेश श्रवण करके—तुम्हारे वचनके अनुसार करूँगा† कहा और मानवताका अपूर्व परिचय दिया। श्रीभरतजी भी इसी बातको कोमल शब्दोंमें कहते हैं—

सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥

(२)

मानवताके लिये पहला उपदेश भगवान् श्रीकृष्णका यह है कि 'अर्जुन! तू 'निस्त्रैगुण्य'—असंसारी होकर 'निर्योगक्षेम' और 'आत्मवान्' हो जा।'(२। ४५)

भरतजीने अपने उत्तरमें इसी भगवद्वाक्यके आशयको प्रकट किया है, जब कि श्रीगुरुदेव—सचिव-मण्डल तथा श्रीमाता कौसल्यादेवीने स्वर्गवासी महाराज दशरथकी आज्ञा-का पालन करनेका प्रस्ताव भरतजीको सुनाया था।

भरतजी कहते हैं—

सोक समाज राज केहि लेखें। (निस्त्रैगुण्य)
लखन राम सिय पद बिनु देखें॥ (आत्मवान्)

एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

इन तीन वचनोंको सुनकर सब लोगोंने इसका अनुमोदन किया। वास्तवमें सब लोग भरतराज्यका स्वप्न देख रहे थे, जिसको भरतजीने मोह (निद्रा) का कारण बताया—'तुम्ह सुख चाहत मोह बस मोहि से अधम के राज।' और अपने संयम (धारणा—हित हमार सिय पति सेवकाई। ध्यान—लखन राम सिय पद बिनु देखें। समाधि—'आपन जानि न

* श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥
(उत्तर०)

* क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ। (गीता २। ३)
† करिष्ये वचनं तव। (गीता १८। ७३)

त्यागिहहिं मोहि रघुवीर भरोसे) के बलसे रामदर्शनकी लालसा सबके हृदयमें उत्पन्न करके विस्मृत रामके विषयसे (निशा) सबको जगा दिया। यथा—सोग वियोग विषम विष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥ इसीको श्रीगीतामें भगवान्ने भी कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(२ । ६९)

भरतजी आत्मवान् थे और उन्होंने सबको आत्मवान्—अर्थात् रामदर्शनके लिये लालायित कर दिया, जो भरतजीकी मानवताका पहला कर्त्तव्य है।

(३)

श्रीगीतामें मानवताके लिये दूसरा उपदेश है—'कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखना' (गीता ४ । १८) जो इस प्रकार देखता है वह मनुष्योंमें बुद्धिमान्, युक्त तथा सब प्रकारके कर्मका करनेवाला है। भरतजीने इस गूढ विषयको बड़े सुन्दर ढंगसे अपने द्वारा पवित्र चरित्रमें स्पष्ट किया है। भरतजी सयाने साधु हैं; चित्रकूटकी यात्रा करनेके पहले ही उन्होंने यह विचार किया कि यह सब राज्य, कोष, वाजि, गज, भंडार-सब रघुनाथजीका है। यदि मैं इनका उचित प्रबन्ध किये बिना ही अयोध्यासे जाता हूँ तो मेरे लिये अच्छा नहीं होगा। दूषण भले ही लोग दें, परंतु सेवक वही है जो स्वामीके हितका कार्य करता है; अतएव शुचि और विश्वासपात्र सेवकोंको बुलाकर उन्होंने सब प्रकारसे रक्षाका प्रबन्ध कर दिया।

जिस राज्यको शोक-समाज समझकर त्याग दिया, अकर्म समझा—यद्यपि उसका करना पिताकी आज्ञाके अनुसार कर्म ही था, उस अकर्ममें सेवाकी दृष्टिने कर्मत्व दिखाया—उसका उचित प्रबन्ध करना कर्म हुआ। स्वामी बनकर राज्य करना अकर्म हुआ। सेवक बनकर देखभाल करना कर्म है।

(४)

गीतामें तीसरा उपदेश, जो मानव-समाजको मिलता है, वह योगी होकर आत्माका उद्धार करना, सर्वभूतके हितमें रत—'सर्वभूतहिते रताः' होना तथा 'आत्मौपम्येन' सर्वत्र देखना है। इन कठिन वाक्योंको समझनेके लिये चार प्राचीन भावनाएँ अति उत्तम हैं—(१) सब सुखी, (२) सब निरामय, (३) कल्याणदर्शी तथा (४) दुःख-रहित हों। इन्हीं सब विषयोंका विचार करके भरतजीने चित्रकूटकी यात्रा की—(१) सब लोग श्रीरामदर्शन करने चलें और दर्शनसे सुखी हों। (२) सबको संशय है कि भरतका क्या मत है; क्योंकि उन्होंने इसको स्पष्ट कह दिया था—'लोग न कहिहि मोर मत नाहीं'। इस मोहको, जो सब व्याधिकी जड़ है, दूर करना भी भरतजीका कर्तव्य था, जिससे सब निरामय हों। (३) राज्य-तिलकका सामान भी ले चलें, जिससे सब राज्यतिलकका कल्याणमय उत्सव देखें। (४) और 'बहुरहिं राम अवध रजधानी' इस मन्तव्यको भी कह दिया, जिससे सबका वियोग-दुःख दूर हो।

(५)

मानवताकी शोभा—लोक-व्यवहार तथा परमार्थ-दृष्टिसे निष्काम कर्मके करनेमें ही है। इसीको गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' और 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' कहा है और भरतजीने इसका निर्वाह बड़े उत्साहके साथ कर दिखाया। प्रयागजी पहुँचकर उन्होंने तीर्थराजसे भिक्षा माँगी—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

चारों फलोंका त्याग संन्यास और रामपदमें 'रति'—योग है—इससे भरतजीने 'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि' के सिद्धान्तको कर दिखाया और राम-दर्शनके परम योग्य हुए। (९ । २८)

(६)

जिस भाग्यशाली भक्तके हृदयमें निष्कामभावसे भगवद्-दर्शनकी अभिलाषा होती है, वह सर्वत्र भगवान्को और सब कुछ भगवान्में ही देखता है। उससे प्रभु ओझल नहीं हैं और न श्रीकृष्ण उससे ओझल हैं (गीता ६ । ३०)। श्रीभरतलालकी ऐसी ही दशा हो गयी—जो सज्जन उनको श्रीरामजीका समाचार सुनाते, उनको भरतजीने राम-लक्ष्मणके समान देखा—

जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम लखन सम लेखे॥

और जडमें भी इसी तरहका आनन्द मिला था—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारस पायउ रंका॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

सब भावोंकी भी उन्हें श्रीराममें ही अनुभूति हुई। यथा—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥
—इत्यादि।

इस प्रकार यात्रामें भरतजीकी जड और चेतनमें राम-मय दृष्टि हो रही थी और आश्रमपर पहुँचकर उन्हें साक्षात्कार-का सौभाग्य भी प्राप्त हो गया। यथा—

बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

इस सुन्दर झाँकीको देखकर भरतजीकी दशा प्रेमसे विह्वल हो गयी। उनकी अति ललित लालसा थी—'देखें बिनु रघुबीर पद जिय की जरनि न जाय।' उसको भी अन्तर्यामी रामजीने अपने दर्शनके द्वारा पूरा कर दिया।

भरतजी यात्रामें—

जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहु चहुँ पासा॥

और बराबर प्रभुका ही स्मरण करते रहते थे—

चले जाहिं सुमिरत रघुनाथा॥

इसलिये भरतजीको दर्शन सुलभ हुआ। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णका ऐसा ही आश्वासन है—(गीता ८। १४)।

..........यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ..............॥

(७)

श्रीकृष्णकी सेवा जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे करता है, वह प्रकृतिके सब गुणोंको अतिक्रमण करके ब्रह्म होनेके योग्य होता है (गीता १४। २६)। यह अवस्था बड़ी दुर्लभ है। इस सेवा-तत्त्वको समझनेके लिये श्रीभरतजीका प्रेममय चरित्र अति उपयुक्त है। आश्रमपर भरतजी जब पहुँचे, तब प्रेममें मग्न होकर श्रीरामजी उनसे मिले। दोनों भाइयोंका हृदय परम प्रेमसे पूर्ण था। अतएव मन, बुद्धि, चित्त और अहंमितिकी सत्ताका विस्मरण था। अवसर पाकर कई बार सभाएँ हुई और उनमें श्रीरामजीने अपने श्रीमुखसे भरत-लालजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनकी महिमामें यह भी श्रीमुखसे आशीर्वादके रूपमें सुनायी दिया कि जो 'भरतजी-का नाम-स्मरण करेंगे, उनको लोकमें सुयश तथा परलोकमें सुख मिलेगा।' श्रीगुरुदेवजीने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया—'भरत भगति बस भइ मति मोरी।' जनकजी तथा सचिव और सभासद् भी प्रेमसे भरतजीकी प्रशंसा करने लगे, परंतु भरतजी-की अविचल भक्तिके ऊपर इनका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। प्रभुकी आज्ञा लेकर जब चित्रकूटकी पञ्चकोशी करने भरतजी गये, तब वहाँ ऋद्धि-सिद्धियोंने उनकी नाना प्रकारकी सेवा की; परंतु भरतलालकी मानवताने इनके ऐश्वर्यकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इसीलिये उन्होंने अपनी सेवामें तत्पर रहनेकी स्वतन्त्रताको नहीं खोया, न ज्ञानीकी तरह ब्रह्म बनकर अपनी सत्ताको; अपितु परम अकिंचन बनकर उनका अव्यभिचारी भक्तियोग सेवापरायण ही बना रहा। श्रीभरतकी मानवता तो प्रभुके गुणोंसे इतनी मुग्ध थी कि उन्होंने इन दोनों दशाओंको अन्तर्हित ही समझा और प्रभुकी सेवामें अपना एकमात्र कल्याण जाना। वास्तवमें ये गुण भक्तोंके हृदयको परमानन्दित और मोहित करते हैं। रामजीके लिये भरतजीके सुन्दर प्रेम-भरे वचन बड़े ही रमणीय अर्थको प्रकट करते हैं—

सरल सुसाहिबु सील निधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुन गाहकु अवगुन अघहारी॥
सकृत प्रनामु किहें अपनाए।

—इत्यादि।

जब प्रभुने यह निर्णय किया कि भरतजी अयोध्याजी जाकर प्रजा-पालन करें, तब भी भरतकी मानवताने पालन करनेके स्थानपर सेवा करनेकी ही अपनी इच्छा प्रभुके सामने रखकर अवलम्ब माँगा, जिसकी सेवा करके वे अवधि बिता सकें। प्रभुने संकोचमें पड़कर कृपा करके अपनी चरण-पादुका उन्हें दे दी, जिनको भरतजीने सादर सिरपर रख लिया और वैसा ही सुख पाया जैसा सीतारामजीके रहनेसे होता तथा उनको लेकर समाजसहित अयोध्याजी लौटे। भगवान्‌ने उनकी वह अभिलाषा भी पूर्ण कर दी, जिसे भरतजीने अयोध्यामें सबको कह सुनाया था।

जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥

यह भरतजीकी प्रेममयी मानवता है, जो प्रभुको अपने साथ लिये अयोध्याजीको वापस आयी। श्रीशंकरका कहना नितान्त सत्य है 'कहहु तु कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं'

प्रनतपालु पालिहि सब काहू। देउ दुहू दिसि ओर निबाहू॥
अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किएँ बिचारु न सोचु खरो सो॥

यह भरतजीकी अभिलाषा सत्य थी और पूर्ण हुई!

(८)

श्रीअयोध्याजी पहुँचनेपर भरतजीने श्रीगुरुदेवसे शिक्षा और आशीर्वाद पाकर श्रीरामजीकी चरण-पादुकाको राज-सिंहासनपर पधराया। वे प्रेमसे उनकी नित्य पूजा करते और

प्रभुकी आज्ञा लेकर राजकाजका सम्पादन सब प्रकारसे करने लगे। इस तरह राज्यकी सेवा करके चौदह वर्षको उन्होंने बड़े आनन्दसे व्यतीत किये। उनकी पूजाको देखकर सब लोग उनकी बड़ी सराहना करने लगे थे और कहने लगे थे—'सब बिधि भरत सराहन जोगू।'

(१) जिनका मूर्तिपूजामें विश्वास है, उनको भरतजीकी मानवता यह शिक्षा और आश्वासन देती है कि जिस विधिसे भरतजी पूजा करते रहे, उसीका अनुकरण करनेसे भगवान् प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं और अभिलषित फल भी देते हैं—इसमें सदा विश्वास रखना चाहिये। विधि यह है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

इस प्रकारसे—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।

और जब भरतजी प्रत्येक कार्यके लिये प्रभुसे आज्ञा चाहते थे, तब उस चरणपादुकासे मधुर शब्दोंमें भगवान्‌की परम संतोष देनेवाली वाणी सुनायी देती थी।

(२) श्रीभरतजीकी मानवता दूसरी शिक्षा यह देती है कि सेवकको विलासकी सामग्री छोड़कर सेवा करना उचित है। भरतजीने ऋषि-धर्मका पालन करके सेवकका उत्तम आदर्श स्थापित किया था, जिसकी सादगीको देखकर पाश्चात्य साम्यवाद फीका-सा दीखता है।

भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥

(३) शास्त्रोंके अनेक सिद्धान्तोंकी समन्वय-भूमि भी भरतलालकी मानवता है, जो सब विवादोंको मिटाकर यह सिद्ध करती है कि जिस प्रकारसे वेदान्तके ज्ञानसे महामोहका, योगसे कठिन क्लेशका, सांख्य-शास्त्रके पुरुषार्थसे त्रिविध संतापका और पूर्वमीमांसाके धर्मविधानसे पापका नाश होता है, उसी प्रकार प्रेमसे, सेवाधर्मके आचरणसे इन सारे अनर्थोंकी पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है और आनन्दकी प्राप्ति होती है। यथा—

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महामोह निसि दलन दिनेसू॥
पाप पुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥

(४) श्रीगीतामें भजन (सेवा) के लिये अन्तिम शिक्षा यह है कि जो अज्ञानसे रहित मानव श्रीकृष्णको इस प्रकारसे परमात्मा पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ है और सर्वभावसे उनकी सेवा करता है। यह गुह्यतम शास्त्र है, इसको जानकर वह बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है (गीता १५। १९-२०)।

भक्तशिरोमणि भरतजीकी सेवा इसी प्रकारकी थी।

भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा श्रीरामजी चरणपादुकामें विराजते हैं; यह अयोध्याका विशाल ऐश्वर्य-सम्पन्न राज्य प्रभुकी ही सम्पत्ति है; प्रजावर्ग, परिवार, पुरजन—सब रामजीकी ही प्यारी प्रजा हैं। इन सबकी सेवा प्रभु-सेवा ही है। अतएव वे अपनेको परम अकिंचन सेवक बनाकर प्रेमपूर्वक पूजन तथा राज-काज करते थे। यही उनकी मानवताका सुन्दर लक्ष्य है।

(५) श्रीरामजीके प्रेमकी मञ्जुल मूर्ति श्रीभरतलाल हैं और उनकी मानवता सेवाकी मङ्गल-मूर्ति है।

मनुष्य-शरीर धारण करके क्या किया ?

काजु कहा नरतनु धरि सार्‌यो।
पर-उपकार सार श्रुतिको जो, सो धोखेहु न बिचार्‌यो॥
द्वैत मूल, भय-सूल, सोक-फल, भवतरु टरै न टार्‌यो।
रामभजन-तीछन कुठार लै, सो नहिं काटि निवार्‌यो॥
संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि, निज आतमा न तार्‌यो।
जनम अनेक बिबेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‌यो॥
देखि आनकी सहज संपदा द्वेष-अनल मन जार्‌यो।
सम, दम, दया, दीन-पालन, सीतल हिय हरि न सँभार्‌यो॥
प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्‌यो।
तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहि गीध उधार्‌यो॥

—तुलसीदासजी

मानवताके विषयमें हिंदू-दृष्टि

(लेखक—श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त, एम्० ए०)

प्रारम्भमें मनुष्य अहंकारी लगता है। वह मनमानी करना चाहता है। वह अपनी भलाईकी खोज करता है, किंतु वह केवल अपनेको लेकर नहीं रह सकता। पालनेसे मरण-शय्यातक वह दूसरोंपर निर्भर करता है। यदि उसके चतुर्दिक् लोग कष्टमें हों तो वह सुखी नहीं होता। इस प्रकार संस्कृत स्वार्थ ही उसे सिखाता है कि वह दूसरोंकी भी देखभाल करे। जीवनके विस्तारके साथ मानवी सम्बन्धोंका उसका वृत्त बढ़ता चला जाता है। कालान्तरमें वह अनुभव करता है कि दूसरोंकी सहायता करनेमें आत्म-हितकी ही प्रेरणा नहीं है। मानवमें दूसरोंकी भलाई करनेकी एक निश्चित भावना है। यह परोपकारकी भावना है। यह अहंवृत्ति और परोपकारवृत्ति दोनों जन्मजात हैं। मनुष्यको अपना और दूसरोंका भला करनेमें आनन्दका अनुभव होता है। दूसरोंके कष्ट देख वह दुखी होता है और कभी-कभी दूसरोंके लिये स्वयं कष्ट सहता है। ऐसा क्यों होता है? एक आत्मा सबमें अवस्थित है, इस धारणासे ही इसका उत्तर मिलता है। एक मनुष्य दूसरेके प्रति इस हेतु संवेदनशील होता है कि दोनोंमें एक ही मूल, तात्त्विक पदार्थ है—आत्मा।

समस्त हिंदू-सम्प्रदाय आत्माकी सत्ता एवं अविनश्वरतामें विश्वास रखते हैं। यह आत्मा शरीर एवं मनसे सर्वथा भिन्न है। आत्मा प्रत्येक जीवमें विद्यमान है। यही संघटक तत्त्व है। आत्मा ही वह तत्त्व और आधार है, जो शरीर और मन दोनोंको धारण किये हुए है। आत्मा शुद्ध चेतन है, वह अप्राकृतिक है, जब कि शरीर एवं मन प्रकृतिके स्थूल एवं सूक्ष्म रूप हैं। ये रूप परिवर्तित होते रहते हैं। किंतु आत्मा अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत है। यह स्थायी तथ्य न केवल मानवता वरं प्राणिमात्रको एक-दूसरेसे सम्बद्ध रखता है।

सामान्यतः हिंदू या तो द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी। द्वैतवादी इस मान्यतापर चलते हैं कि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न है। जीवात्मा अणु है, जब कि परमात्मा विभु है। दोनोंके प्रकारमें नहीं, शक्तिमें अन्तर है। चैतन्य दोनोंका स्वरूप है। सभी जीवात्मा शुद्ध चेतन हैं, परंतु वे एक दूसरेसे पृथक् हैं। अद्वैतवादियोंके अनुसार केवल एक ही वस्तु—आत्मा सत् है। अनेकताका यह विश्व केवल आभास या भ्रम मात्र है, जो माया अथवा अज्ञानसे उत्पन्न होता है। ज्यों ही अज्ञानका परदा हटता है, एक अखण्ड आत्माका प्रकाश फैल जाता है। प्रकृति, जीव और ईश्वर एक अनिर्वचनीय तत्त्वमें विलीन हो जाते हैं। इसी अनिर्वचनीय तत्त्वको आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। द्वैतवादी भक्ति एवं प्रेमके लिये अपनेमें और ईश्वरमें, जीव और ह्रदयमें भेद मानता है। वह इस जीवनमें तथा जीवनके पश्चात् भी ईश्वरकी सेवामें आनन्दका अनुभव करता है। वह उसमें एक सम्बन्ध रखता है। अद्वैती या अभेदवादी समाधिमें शुद्ध ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण सम्बन्धों एवं सीमाओंको तोड़ देता है और चरम सत्ता—आत्मासे मिलकर एक हो जाता है। द्वैतवादी प्रत्येक दूसरे प्राणीको ईश्वरका सहचर या सखा मानकर व्यवहार करता है; अद्वैतवादी दूसरोंको अपना ही रूप मानता है। मानवताके प्रति यह आदर्श हिंदूदृष्टि है।

आत्मविद्याकी दृष्टिसे द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद एक प्रकारके एकेश्वरवादके रूपमें विकसित हो गया है, जिसे सर्वेश्वरवाद कहा जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु ईश्वर है या प्रत्येक वस्तु ईश्वरमें है। ईश्वर सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त है। जगत् ईश्वरका साकार रूप है। अतः सर्वेश्वरवादीके लिये प्रत्येक वस्तु या प्राणी पवित्र है। वह उसके लिये उपासनाका विषय है। यदि वह साकार या निराकार भावरूप ईश्वरपर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता तो वह स्थूल रूपमें हर जगह ईश्वरको देख या स्पर्श कर सकता है। उसके द्वारपर भीख माँगनेवाला, एक छटपटाता तकियेपर करवटें बदलता रोगी, दुरभिसंधिसे रातमें घूमनेवाला अपराधी भी उसका स्वामी, उसका ईश्वर है। नारायण उसे अवसर देने एवं उसकी सेवा ग्रहण करनेके लिये उसके पास आते हैं। यहाँ मानवता ईश्वरसे अभिन्न है। हिंदू-धर्ममें कुछ लोगोंकी यह दृष्टि है।

शास्त्रोंके आधारपर इन विचारोंका स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण धर्म-सम्प्रदाय ईश्वरके पितृत्व एवं मनुष्य-मनुष्यके परस्पर बन्धुत्वपर आधारित हैं; किंतु हिंदू-

धर्ममें बन्धुत्वका आधार केवल ईश्वरका पितृत्व ही नहीं है। कितने ही सगे बन्धु परस्पर लड़ते हैं; कभी-कभी तो आपसमें दूसरोंकी अपेक्षा भी अधिक लड़ते हैं। हमारे यहाँ यह बन्धुत्वकी धारणा चरम सत्ता—ईश्वर, आत्मा या ब्रह्म—के समस्त जगत्में व्याप्त होनेके सिद्धान्तपर आधारित है। उपनिषद्के अनुसार ईश्वर जगत्को उत्पन्न करके उसके कण-कणमें समा गया। वह जगत्से अभिन्न एवं एक है (सर्वेश्वरवाद)। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखानेके पूर्व कहते हैं—'मेरे शरीरमें समस्त जगत्को और जो भी तू देखना चाहता है, उसे देख ले।' (११ । ७)। 'जो पुरुष नष्ट होते हुए सर्वभूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित एवं समान भावसे स्थित देखता है, वही वस्तुतः देखता है।' (१३ । २७)। स्रष्टा केवल सृष्टिमें ही नहीं है, वह उससे परे भी है। 'मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।' (१० । ४२)। इसका अभिप्राय ही यह है कि ईश्वरका अधिकांश अव्यक्त है; वह इन्द्रियलब्ध जगत्के परे है। प्रत्येक वस्तुमें और उनके परे भी ईश्वरके होनेका अर्थ यह है कि प्रत्येक जीवमें, प्रत्येक पदार्थमें उसका पूर्ण अस्तित्व है। प्रत्येक अवयव या अंशमें अवयवी या अंशी पूर्णमात्रामें स्थित है। 'प्रत्येक वस्तुमें प्रत्येक अन्य वस्तुका सार है।' (योगसूत्र) पिण्डमें ब्रह्माण्ड है। 'त्रैलोक्यके सम्पूर्ण पदार्थ शरीरमें रहनेवाले मेरुके चतुर्दिक् स्थित हैं। इसे जानो एवं तदनुकूल आचारण करो।' (शिव-संहिता)। तात्पर्य यह है कि अखण्ड अवयवीको खण्डित करके ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह जहाँ भी है अवयवरूपमें पूर्ण और अविकल रूपमें है। इसी भावका द्योतक उपनिषद्का यह वाक्य है कि 'पूर्णसे पूर्णको निकालनेपर जो शेष रहता है, वह भी पूर्ण ही होता है।'

जब हिंदू-संस्कृतिका यह आधार है, तब एक हिंदूकी अन्य प्राणियोंके प्रति क्या दृष्टि होगी ? यदि वह द्वैतवादी या ईश्वरवादी है तो वह प्रत्येक सृष्ट पदार्थमें स्रष्टाका दर्शन करेगा। यदि वह अद्वैतवादी है तो दूसरोंमें भी अपनेको ही जानने—देखनेका अभ्यास करेगा। भागवतमें कपिल एवं देवहूतिकी कथा है। तपस्याके लिये गृहस्थ-जीवनका त्याग करते समय तरुण कपिल अनुरोध करनेपर अपनी माताको उपदेश देते हैं कि वह जिससे मिले, उसे प्रणाम (कदाचित् आन्तरिक दृष्टिसे) करे। तुलसीदास कहते हैं कि 'मैं प्रत्येक प्राणीको सीतारामके रूपमें देखता हूँ और उसे हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

भक्त प्रायः प्रपञ्चको भगवान्की लीला मानते हैं और इस ईश्वरीय लीलामें प्राणिमात्र उसके क्रीड़ा-सहचर हैं। अद्वैतवादी (शंकरके अनुयायी) के लिये केवल एक ही वस्तु सत् है। वह ब्रह्म है और ब्रह्मका आत्मासे अभेद है। जगत् मिथ्या है। 'तत्त्वमसि'—'तुम वही हो'। तुम आत्मा हो, दूसरा कोई नहीं है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है। कहा जाता है कि १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्रामके समय जब एक यूरोपीयने एक संन्यासीको विद्रोही समझकर गोली मार दी, तब उसने शान्तिपूर्वक कहा—'तुम मेरी ही आत्मा हो।' जब हिमालयमें एक संन्यासीको बाघ फाड़ने लगा, तब उसने कहा—'तुम वही हो।' यह है अद्वैतवादीकी दृष्टि। प्रत्येक आस्तिक या तो अद्वैतवादी है अथवा द्वैतवादी। हिंदुओंमें विशाल बहुमत ईश्वरवादियोंका है। अधिकांश नास्तिक आधुनिक शिक्षामें पले हुए हैं। वे भी अपने साथी मानवोंके प्रति अमैत्रीभाव नहीं रखते। कारण यह है कि प्रकृतिसे ही, स्वभावसे ही, हिंदू शान्तिप्रिय हैं; फिर जैन एवं बौद्ध धर्मोंने अहिंसापर इतना बल दिया है तथा हिंदू-धर्मने यमोंमें उसे प्रथम स्थान दिया है तथा अष्टाङ्गयोगका प्रथम अङ्ग स्वीकार किया है कि वह हिंदुओंके रक्तमें समा गयी है। आनुवंशिकताके नियमके अनुसार वह अहिंसक पूर्वजोंकी अनेक पीढ़ियोंसे होती हुई आयी है। जलवायु-सम्बन्धी तथा भौगोलिक परिस्थितियोंका भी इसमें पर्याप्त हाथ रहा है। अतः हिंदू सबका मित्र है। हिंदू-जाति एवं हिंदू-धर्मकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बतलानेके लिये नीचे शास्त्रोंसे कुछ वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

१—सबके साथ कदम मिलाकर चलो, सबके साथ प्रेमसे बोलो, किसीसे घृणा न करो; सब तुम्हारा मन जान लें। (ऋग्वेद १० । १९१ । २)

२—तुम्हारे विचारोंका दूसरोंके साथ सामञ्जस्य हो, तुम्हारा लाभ दूसरोंके समान हो, तुम्हारा मन दूसरोंके साथ हो, मनमें भेद-भाव न हो; जो तुम करो, दूसरोंके साथ मिलकर करो; तुम्हारे विचार एवं कार्य अलग न हों। (ऋक्० १० । १९१ । ३)

३—तुम्हारा प्रयोजन, हृदय एवं मन सबके लिये एक (समान) हो; क्योंकि तुम्हारा भी वही मानवरूप है। (ऋक्० १० । १९१ । ४)

४—समस्त जीव मुझे मित्ररूपमें देखें। मैं भी दूसरोंके

प्रति मित्र-जैसा आचरण करूँ और सबका विश्वास करूँ। किसीके प्रति मेरे मनमें घृणा या कपट न हो। (यजुर्वेद ३८। १८)

५—जो समस्त प्राणियोंको अपनेमें और अपनेको समस्त प्राणियोंमें देखता है, वह विनष्ट नहीं हो सकता। कोई उससे घृणा नहीं कर सकता, न वही किसीसे घृणा करता है। (यजु० ४०। ६)

६—जो समस्त प्राणियोंको आत्मरूप जानता है, वह अज्ञान एवं दुःखसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि वह एकको ही देखता है। (यजु०)

७—किसी प्राणीके प्रति असद् व्यवहार न करो। सबके प्रति उचित व्यवहार करनेमें सावधान रहो, जिससे तुम्हें पश्चात्ताप न करना पड़े। (अथर्व० ८। १। ७)

८—सभी दिशाओंमें मुझे मित्र प्राप्त हों। कहीं मेरे शत्रु न हों। (अथर्व० २९। १५। ६)

९—सम्पूर्ण धरती मेरी माता है। मैं उसका पुत्र हूँ अर्थात् सब मेरे भाई हैं। (अथर्व० १२। १। १२)

१०—सब सुखी एवं स्वस्थ हों, सब श्रेयको प्राप्त करें और किसीको दुःख न हो। (अथर्ववेद)

११—जगत्में जो कुछ है, सब ईश्वरद्वारा आवृत है। प्रत्येक वस्तुको अनासक्त भावसे ग्रहण करो। किसीके धनके प्रति लोभ न करो। (ईशोपनिषद् १)

१२—ईश सर्वत्र है। (मुण्डकोपनिषद् १। ६)

१३—नाम, रूप तथा अन्न—सब ब्रह्मसे ही उद्भूत होते हैं। (मुण्डक० १। ९)

१४—सब प्राणी आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही जीवित रहते हैं तथा अन्तमें सब पूर्णतया आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं। (तैत्तिरीय० ३। ६)

१५—दूधमें स्थित मक्खनकी भाँति आत्मा सर्वत्र है। (श्वेता० १। १६)

१६—उस ईश्वरको नमस्कार, जो अग्नि, जल, ओषधियों एवं वृक्षोंमें है तथा जो जगत्के सम्पूर्ण स्तरोंमें प्रविष्ट है। (श्वेता० २। १७)

१७—वह जीवमात्रमें स्थित है। (श्वेता० ३। २)

१८—सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण-वाला वह पुरुष सब ओरसे पृथ्वीको घेरे हुए है और नाभिसे दस अंगुल ऊपर (हृदयदेशमें) स्थित है। (श्वेता० ३। १४)

१९—जिसके हाथ, पैर, नयन, सिर, मुख तथा कान सर्वत्र हैं, वही सबको व्याप्त करके स्थित है। (गीता १३। १३)

२०—तब उसने अनेक रूपमें उत्पन्न होनेका संकल्प किया। (छान्दोग्य० ६। २। ३)

२१—सम्पूर्ण जगत् उसका अंश है। (छान्दोग्य०)

२२—वही सब प्राणियोंके भीतर और बाहर है। (छान्दोग्य०)

२३—दूसरोंका बुरा सोचना मानसिक पाप है, दूसरोंकी अनुपस्थितिमें उनकी बुराई करना वाणीका पाप है, दूसरोंके प्राण अथवा सम्पत्तिका अपहरण करना कायिक पाप है। (मनुसंहिता)

२४—चैतन्यके अनन्त सागरमें उठनेवाली तरङ्गोंके समान समस्त सचेतन प्राणी मेरे ही अंदर उद्भूत होते, खेलते और मुझीमें मिल जाते हैं। (अष्टावक्रसंहिता)

२५—जैसे झरनेसे फुहारें निकलती हैं, वैसे ही ब्रह्मसे अगणित जीव निकल चुके हैं, निकल रहे हैं और निकलते रहेंगे। (योगवाशिष्ठ)

२६—प्रत्येक प्राणीमें अविनश्वर विष्णुको अनुभव करना ही पराभक्ति है। यही सच्ची उपासना है। (बृहन्नारदीय पुराण)

२७—मैं उस परमेश्वरको नमस्कार करता हूँ, जो अलक्ष्य है, प्रकृतिसे अतीत है तथा प्रत्येक प्राणीके बाहर और भीतर स्थित है। (भागवत १। ८। १८)

२८—यह जानकर कि ईश्वर प्रत्येक प्राणीमें है, सबके प्रति आदर रखो और सबको प्रणाम करो। (भागवत ३। २९। ३४)

२९—जो अपनेको सब प्राणियोंमें और सब प्राणियोंको अपनेमें देखता है, वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। (मनुस्मृति १८। ९१)

मनुष्यका समाज एवं मानव-जातिसे क्या सम्बन्ध है, यह दिखानेके लिये हिंदू-शास्त्रोंसे बहुतेरे उद्धरण दिये जा सकते हैं। इस सम्बन्धका मूल इस तात्त्विक दृष्टिमें निहित है कि सम्पूर्ण जगत्में एक ही चिन्मय तत्त्व व्यापक है। ईश्वर सर्वत्र है। उसे आत्मा कहो, ईश्वर कहो, ब्रह्म कहो—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह वाचारम्भणमात्र नहीं है। विविध सम्प्रदायों

एवं दर्शनोंने इस 'परा विद्या' की प्राप्तिके लिये व्यावहारिक विधियाँ बतायी हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों तथा स्वभावोंको लेकर विविध मार्गोंका उद्भव हुआ; परंतु लक्ष्य एक ही है—मानव एवं जगत्में ईश्वरका साक्षात्कार। जब मनुके शब्दोंमें हम जान लेते हैं कि 'समस्त विश्व एक महान् परिवार है', तब यह सम्भव हो जाता है। वस्तुतः हिंदू वही है, जो जाति, धर्म, विचारधारा एवं सम्प्रदायके भेदको भुलाकर सबकी सेवा करता है। मनुष्यमात्र उसके आध्यात्मिक भाई-बहिन हैं। सर्वव्यापी परमात्माका प्रिय बननेके लिये मनुष्यको 'सब जीवोंके प्रति अहिंसक, मित्रभावापन्न तथा दयालु होना चाहिये।' 'उसे सबका भला करना चाहिये।' 'वह किसीको भयभीत या उद्वेजित नहीं करता।' 'वह शत्रु-मित्र, मान-अपमानमें समान भाव रखता है।' (गीता अध्याय १२)। सर्वशास्त्रमयी गीताका मूलमन्त्र ही समदर्शन है। सभी प्राणी समान हैं और यों समझकर ही सबके साथ समत्वका व्यवहार करना चाहिये। जिसने ऐसी दृष्टि प्राप्त की है, वही प्रज्ञावान् है। पण्डित वही है, जो विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी और कुत्तेमें समान भावसे ब्रह्मको देखता है (गीता ५। १८)। ऐसी दृष्टि नियमित आध्यात्मिक साधनसे, जो निम्न 'स्व' के आधार अहंभावको दूर कर देता है, प्राप्त होती है। जीवनका हिंदू-दृष्टिकोण भ्रातृत्वके एक ऐसे आदर्शकी स्थापना करता है, जो उससे कहीं व्यापक और गहरा है, जितना लोग सामान्यतः समझते हैं।

बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजाविषयक कतिपय भ्रान्तियोंको दूर करनेके लिये एक संक्षिप्त टिप्पणीकी आवश्यकता है; क्योंकि हिंदू-धर्मकी आलोचना करनेवाले अहिंदुओंको प्रायः इनके विषयमें भ्रान्त धारणा हो जाती है। (१) हिंदू ऐसे देवोंमें विश्वास रखते हैं, जो उस परमेश्वर या ब्रह्मकी ही, जो 'एकमद्वितीयम्' है, अभिव्यक्तियाँ हैं। सत् तत्त्व तो एक ही है, ऋषि उसे विविध नामोंसे पुकारते हैं (ऋग्वेद)। परमेश्वरके विविध गुणों एवं शक्तियोंकी भावना विविध देवोंके मूर्त रूपोंमें की गयी है। विविध स्वभावों एवं रुचियोंको ध्यानमें रखकर ही ऐसा किया गया है। भक्त भलीभाँति जानते हैं कि वे सब एक ही हैं। इसके लिये 'वैयक्तिक एकेश्वरवाद' शब्द अधिक उपयुक्त है।

हिंदूधर्म परतम सत्ता या परमेश्वरके तीन पक्षोंको मानता है—(१) साकार सगुण— सभी आकार और गुण उसीके हैं। (२) निराकार सगुण—उसका रूप नहीं है। पर गुण हैं। यह मत स्पिनोजाके अनन्त गुणों (*infinita attributa*) वाले मतसे मिलता-जुलता है। (३) निराकार-निर्गुण—उसका न आकार है न गुण। शैव, शाक्त, वैष्णव इत्यादि सभी द्वैतवादी प्रथम पक्षको मानते हैं। आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, संत-सम्प्रदायके अनुयायी दूसरे मतमें विश्वास रखते हैं। अद्वैत-वेदान्ती (शंकरानुयायी) तीसरे मतके प्रति निष्ठावान् हैं। सच पूछें तो संसारके सभी प्रधान धर्मोंको इन्हीं तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है।

मूर्तिपूजाका जन्म चाहे जैसे हुआ हो, मूर्ति सर्वव्यापक ईश्वरका प्रतीक है। मानव-भक्त अपनी सीमित शक्तिके कारण असीमको ग्रहण नहीं कर पाता। वह सीमित साधनसे असीम-तक पहुँचना चाहता है। यह प्रारम्भिक श्रेणी है, जो मानसिक क्षितिजके विस्तारके साथ-साथ उच्चतर अमूर्तकी धारणातक ले जाती है। निराकार निर्गुण सत्ता अन्तिम भूमिका है। इसलिये जीवनकी विभिन्न श्रेणियोंमें विभिन्न प्रकारके साधक पाये जाते हैं। कुछ शास्त्रोंके अनुसार मूर्तिपूजा चौथी श्रेणीके उपासकोंके लिये है। कोई भी धर्म बाह्य आवरणोंसे, जो विविध रूप ग्रहण करते हैं, मुक्त नहीं है। कैथलिक सम्प्रदायके गिरजोंमें संतों एवं देवदूतोंको विशेष स्थान प्राप्त है; ईसाई एवं मुसल्मान अन्य सब स्थानोंकी अपेक्षा गिरजाघरों एवं मस्जिदोंको विशेष महत्त्व देते हैं। एक दीनदार मुसल्मान नमाज़के लिये पश्चिमकी ओर मुँह करेगा, यद्यपि सभी दिशाएँ समानरूपसे पवित्र हैं। जैनोंमें २४ तीर्थंकर हैं तथा बौद्धोंके निकट उपासनाके लिये बुद्ध एवं बोधिसत्त्वकी मूर्तियाँ एवं अवशेष हैं। प्रत्येक धर्ममें मक़बरे एवं संतोंके तकिये उच्च सम्मानकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। जो निराकार ईश्वरमें विश्वास रखते हैं, उन्हें किसी आन्तरिक या बाह्य रूपकी पूजा नहीं करनी चाहिये; पर मानव-मन जैसा है, उसके अनुसार प्रारम्भमें वह उनको छोड़ नहीं सकता। प्रत्येक वस्तु ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति है। उपासक एक बिन्दुसे आरम्भ करता है, वह बिन्दु मूर्ति है। जगत्में जो अन्तर्हित है, उसे एक केन्द्रद्वारा व्यक्त करनेके लिये ही वह इस विधिका प्रयोग करता है।

बाबू टटकौड़ी घोषकी ईमानदारी

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी, 'व्रजेश' हिंदी-साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

बाबू टटकौड़ी घोष मुर्शिदाबाद जिलेके एक जमींदारकी सेवामें एक बहुत छोटी जगहपर थे। वे बहुत ईमानदार और कर्तव्यशील थे। इन गुणोंके कारण अपने स्वामीकी नजरोंमें वे बहुत चढ़ गये थे। कुछ समय बाद जमींदार महाशय बीमार पड़े और कलकत्तेके एक अस्पतालमें उनका देहान्त हो गया। उनका लड़का उस जायदादका उत्तराधिकारी बना, परंतु वह बहुत छोटा था और जायदादपर कर्ज बहुत था। इसलिये 'कोर्ट आफ वार्ड्स'ने जायदादको उस समयतक अपने प्रबन्धमें ले लेनेका निश्चय किया, जबतक लड़का बालिग न हो जाय। कलक्टरके हुक्मसे तहकीकात

शुरू हुई कि मृत जमींदारने अपने पीछे कितनी सम्पत्ति छोड़ी थी और सारी चल-अचल सम्पत्तिका तखमीना क्या है। एक अफसर यह तहकीकात करनेके लिये जमींदारके घरमें आकर ठहरा। उसके आनेका समाचार पाकर बाबू टटकौड़ी घोष उससे मिले। उन्होंने उसके सामने पचास हजार रुपयेके नोट, एक बहुमूल्य सोनेकी घड़ी और चैन रख दी और कहा कि 'इन चीजोंकी कोई चर्चा कहींपर कागजातमें नहीं है, न उन चीजोंके बारेमें जायदादका मैनेजर अथवा अन्य कोई घरेलू व्यक्ति ही जानता है। जमींदार साहबने वे चीजें गुप्तरूपसे उन्हें दी थीं और कहा था कि 'जब इनकी जरूरत होगी तब वह वापस ले लेंगे।'

कलक्टर साहेब घोषबाबूकी यह ईमानदारी देखकर दंग रह गये। बाबू टटकौड़ी घोष जवान थे, बहुत थोड़े पढ़े-लिखे थे और गरीबीमें ही अपने दिन काटते थे। इतना बड़ा खजाना उनके लिये कम न था। वे यदि चुपचाप बिना किसीको खबर दिये उसे हजम कर जाते, तब भी उनकी ईमानदारीपर संदेह करनेका अवसर किसीको न मिल पाता। इतने बड़े प्रलोभनका त्याग देखकर कलक्टरने उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखा और उनके साथ बड़े सम्मानका व्यवहार किया। इसके बाद एक डिप्टी मैजिस्ट्रेटको जायदादका प्रबन्धक नियुक्त किया गया और उसने इसपर विशेष ध्यान दिया कि बाबू टटकौड़ी घोष अपनी नौकरीपर बने रहें। इसके बाद जब उसकी नियुक्ति अन्यत्र कहींपर हो गयी, तब उन्हींको जायदादका प्रबन्धक बनाया गया।

सत्यकी महिमा

साँचे श्राप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँच हि साँचे जो चलै, ताको कहा नसाय॥
साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप॥

श्रीअरविन्द-प्रतिपादित मानव-धर्म—मानव-एकताका आदर्श

(लेखक—श्रीवेङ्कटरमण साहित्यरत्न)

मानव-जाति आज जिस पतनके कगारेपर खड़ी है,—और सम्पूर्ण आसुरिक सत्ताएँ उसी ओर मानवको ले जा रही हैं,—उसे देखते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वास्तवमें मानव—भगवान्‌की वर्तमानकालमें सर्वोत्कृष्ट सृष्टि विनाशको ही प्राप्त होगी या इसके भीतरसे भी लीलामय भगवान् मानवको उसके चरम सत्यकी ओर ले जा रहे हैं। प्रकृतिकी लीलापर भी पूर्ण विजय न पा सकनेवाली मानवता आज किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्थामें पड़ी है। यह सहज है कि जीवनका ऊपरी स्तर बदल दिया जाय पर यह परिवर्तन बहुत दूरतक प्रगतिमें सहायक नहीं होता। कठिनाइयों और विपत्तिसे भागनेका आज कोई मार्ग नहीं है। आवश्यकता है कि इस घन अन्धकारसे ही प्रकाशकी किरणें पैदा करनेका प्रयत्न हो। श्रीअरविन्दने इसी दिशाकी ओर अपना प्रकाश दिया है। जगत् एक व्यर्थकी रचना न होकर भगवान्‌के ही अनन्त रूपोंमें व्यक्त होनेका माध्यम है। व्यक्तिकी आत्मासे लेकर समाजकी आत्मातक भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। अतः जडसे जगदीश्वरकी ओर होनेवाला विकास कभी मानवको विनाशकी ओर नहीं ले जायगा।

समाजके प्रारम्भिक निर्माणसे आजके आणविक युगतक सृष्टिविकासकी परम्परा श्रीअरविन्दके विचारोंको पुष्ट करनेका साधन बनकर इस सत्यको भी अनावृत कर रही है कि भगवान् कभी भी अपने लीला-कन्दुकको विनाशके गर्तमें नहीं फेंक देंगे। सृष्टिके भविष्यमें अविश्वास करना—यह भी विज्ञानकी कुछ मारक सफलताओंके कारण भगवान्‌में अविश्वास करना है; अतः आज दिखायी दे रहा है कि भविष्यमें ही एक अध्यात्म-युगका प्रादुर्भाव होगा।

आज विश्वकी परिस्थितियोंपर यदि उपर्युक्त विश्वासके साथ विचार किया जाय तो दीख पड़ेगा कि आज वर्णाश्रम-व्यवस्थासे विश्वका समाज आगे बढ़ चुका है, प्रथाओंका पालन भी बंद हो रहा है और इस दुविधापूर्ण मनःस्थितिमें भी मानवता सोच रही है, सत्यकी खोजके लिये मनोविज्ञान और विज्ञानके चरण बढ़ा रही है, जीवनके सुखोंको बढ़ानेके साधन जुटाये जा रहे हैं, और लगता है ये सुख आनन्दकी प्रारम्भिक अवस्थाके द्योतक हैं। इस तरहसे कठिनाइयों और दुःखोंके बीच मानव-आत्माकी आनन्दकी खोज अध्यात्मयुगकी भूमिका तैयार कर रही है।

इस संक्रमणकालीन परिस्थितिमें मानवताके लिये आदर्श क्या है? भगवान्‌द्वारा सृष्टि-नियन्त्रणके लिये नियुक्त प्रकृति मानवताको किस ओर ले जानेका प्रयत्न कर रही है। इन विषयोंपर श्रीअरविन्दने इस रूपमें मार्गदर्शन किया है कि एकता और सामञ्जस्य ही मानवमें होनेवाली विकासवादी प्रक्रियाके परिणाम होंगे। सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन दोनोंमें ही यह साधना चलती रही है। इसीसे श्रीअरविन्दने सम्पूर्ण जीवनको योग बताया है। व्यक्ति जिस तरह अपनेमें सीमाबद्ध न रहकर परिवार, राष्ट्र और जातिके रूपमें विकास प्राप्त करता है, उसी तरह यह विकास भी अन्ताराष्ट्रवाद, राष्ट्रसंघ तथा अन्य रूपोंमें आगे बढ़ेगा; क्योंकि राष्ट्र ही व्यक्तिकी अन्तिम सीमा नहीं है। पर अन्ताराष्ट्रियताके द्वारा भी स्थायी शान्ति और सुखका साम्राज्य नहीं स्थापित हो सकता, यह बात आजकी स्थितिमें स्वयं सिद्ध है। श्रीअरविन्दका इस विषयमें कथन है कि आत्माकी एकताके आधारपर ही मानवता अपने वास्तविक एकताके आदर्शको पूरा कर सकती है। विश्वप्रकृति इसी ओर मानवताको ले जा रही है। अच्छा हो कि मानव विश्वप्रकृतिके कार्यमें सहयोग दे। अन्यथा प्रकृतिने यदि अपनी शक्ति प्रयुक्त की तो मानवको अहंके कारण ही विनाशका सामना करना पड़ सकता है। अतः आवश्यकता है—सामुदायिक प्रगतिके साथ ही हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखते हुए आगे बढ़ें। यही प्रकृतिकी इच्छा है।

विश्वैक्यके सत्यको पानेके लिये साम्राज्य-स्थापना, राष्ट्रमण्डलों और विश्वराज्यकी कल्पनाके रूपमें बहुत-से प्रयत्न हुए हैं, पर बाह्य स्तरपर ही। इनके अहितकर होनेके कारण तथा आत्मिक एकताके साथ इनका कम सम्पर्क होनेके कारण अधिक प्रगति नहीं हो सकी। व्यक्तिगत अहंसे राष्ट्रिय अहं तक ही इसका विकास हुआ है। अब आवश्यकता है कि मानवताके अन्तरमें स्थित चेतनाके आधारपर—समान कार्य, विचार और अनुभवके आधारपर—विश्वजीवन संगठित हो। श्रीअरविन्दके शब्दोंमें यही भावी मानवधर्म होगा। वेदमें भी कहा गया है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥
(ऋग्वेद १० । १९१)

और यह वर्तमान युग वेद-वाणीकी पूर्तिकी तैयारियोंका काल है । *आज जीवनमें जो विचित्रताएँ आ गयी हैं,* प्रत्येक क्षेत्रमें अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्धोंपर निर्भर रहना पड़ रहा है, इसके कारण राष्ट्रवादका कोई आधार ही नहीं रहा है । जाति, भाषा और धर्मगत विशेषताएँ एक दूसरेके प्रति सहिष्णुताका दृष्टिकोण अपना रही हैं । अभिनव मानव-धर्म वास्तवमें एक नये आधारपर—आत्माकी एकताके आधारपर मानवीय एकताका निर्माण करेगा । मानव-धर्मकी मूल चेतना सृष्टिमें सदा ही विद्यमान रही है । १८ वीं शताब्दीमें जब मानवतावाद और तर्कने मानवको स्वाभाविक रूपसे भावात्मक आकर्षण दिया, तभी यह आधुनिक युग मनमें प्रवेश कर गया था । समाजवाद और प्रजातन्त्र वास्तवमें मानवधर्मके प्रारम्भिक विकासके चिह्न हैं । आज जब कि तटस्थ देशोंसे भी तटस्थताकी भावना शेष हो रही है, विश्वके छोटे-से भागकी घटनाएँ भी पूरे विश्वपर प्रभाव डाल रही हैं, उस समय मानवीय गुणोंका विस्तार भी बढ़ गया है । राजनीति, अर्थ, श्रम और सामाजिक व्यवस्थामें विश्व प्रतिदिन सापेक्ष होता जा रहा है और सहानुभूतिका क्षेत्र भी विशालतर होता जा रहा है । *आज व्यवहारकी समानताको वास्तविकतामें बदलनेकी कल्पना सामने है ।* मानव-जीवनका मूल्य पहलेसे अधिक समझा जाने लगा है । स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्वकी बात सारे देश कर रहे हैं । भयंकर युद्धास्त्रोंके कारण युद्धमें किसी भी पक्षकी जीत होनेपर दोनों पक्षोंको समान हानि उठानी पड़ सकती है और हम कह सकते हैं कि जिस तरह अमेरिकाके एक वैज्ञानिकने सड़कोंपर कोलाहल कम करनेके लिये एक ऐसे तीव्र ध्वनिकारक यन्त्रका आविष्कार किया है, जिसके कारण कल्पनातीत शान्ति हो जाती है, उसी तरह भयंकर शस्त्रास्त्रोंके कारण युद्धकी सम्भावनाएँ कम ही हुई हैं । नहीं तो, आजकी संघर्षपूर्ण स्थितिका चतुर्थांश भी दो शताब्दी पूर्व होनेपर युद्ध छिड़ ही जाता । युद्धके ज्वालामुखीके विस्फोटके लिये आज भी विश्वमें अनेक स्थल हैं; पर वे भयंकरताएँ नहीं होतीं, जो दो शती पूर्व होती थीं ।

इसका अर्थ यह नहीं कि मानव-धर्म विकसित हो चुका है । आज भी भयंकर युद्ध-परीक्षण जारी है । वास्तवमें राष्ट्रवाद और अन्ताराष्ट्रियता शारीरिक एकताएँ हैं । पर श्रीअरविन्द-प्रतिपादित मानव-धर्म आत्माकी एकताके आधारपर खड़ा हो रहा है । उसकी अंशाभिव्यक्तियाँ आज विश्वमें होने लगी हैं, पर आदर्शको पूर्ण बनानेके लिये मानव-धर्मको पूर्ण बनाना होगा । मानवका अहंकार ही मानवताका सबसे बड़ा शत्रु है । श्रीअरविन्दके अनुसार मानव-धर्मका आदर्श मानवकी स्वाभाविक और स्वतन्त्र एकता है—जो घृणा, हिंसा और विद्वेषके लिये जाति और जातिमें, मानव और मानवमें कोई भी स्थान नहीं छोड़ेगा ।

मानव-जातिके आदर्शके लिये जो नया धर्म सामने आ रहा है, वह आत्माके स्वाभाविक संस्कारोंपर आधृत होगा । व्यक्तिगत इच्छाओंसे ऊपर उठनेका सिद्धान्त राष्ट्रिय और अन्ताराष्ट्रिय स्वार्थोंसे ऊपर उठनेका सिद्धान्त बन जायगा । मानव-धर्मके इस सत्-स्वरूपका, जो आत्मा और ईश्वरके उपादानोंसे निर्मित है, मानव-जीवनमें प्रवेश हो रहा है । मानवता इसी ओर विचारोंकी एकता, धर्मोंके सामञ्जस्य और साधारण समृद्धिमें समानताके डगोंसे बढ़ रही है । यह मानव-मनकी आन्तर चेतनाकी अभिव्यक्ति है, जो आत्माका आत्मासे मेल होनेके कारण प्रारम्भ हुई है । केवल बाह्य नहीं, आन्तर एवं प्रकृतिकी विचित्रताओंमें भी स्नेहमय सामञ्जस्य और एकताकी अभिव्यक्ति मानव-धर्मकी अभिव्यक्ति होगी । मूल आधारमें स्थित शक्ति भागवतशक्तिके बाह्य आकार—*एकताकी शक्तिके रूपमें उठ रही है, आत्माकी बाह्य अभिव्यक्तिका स्वरूप बन रही है ।* इसी आध्यात्मिक एकतापर आधारित मानव-धर्मके सम्बन्धमें श्रीअरविन्दने कहा है कि 'मानव-धर्म ही भविष्यकी आशा है; क्योंकि इसका अर्थ है विश्वमें स्थित आत्मशक्तिका क्रमशः साक्षात्कार और एक दिव्य यथार्थका बोध, जिसके अन्तर्गत समस्त विश्व है और सब कुछ एक है ।'

प्रकृतिके कार्योंके द्वारा भी भगवान् विश्वको आत्मसाक्षात्कारकी ओर ही ले जा रहे हैं । वे ही नेता हैं, वे ही जनता हैं; अतः विश्वके भविष्यके प्रति निराश होना भगवान्के प्रति निराश होना है । वास्तवमें वे ही पथ दिखा रहे हैं, इस कारण प्रगति भी निश्चित है । वैसे सृष्टि-नियमके अन्तर्गत

भगवान्ने हमें चुनावकी स्वतन्त्रता दे रखी है, पर अन्तमें भागवत-इच्छाके विरुद्ध कुछ हो ही नहीं सकता।

अतः आजकी मानवताको श्रीअरविन्द और माँका संदेश है कि 'आओ, हम भगवान्की ओर खड़े हों, उनकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला दें और ऋषिकी वाणीमें हम भगवान्से प्रार्थना कर सकें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

यही श्रीअरविन्द-प्रतिपादित मानव-जीवनका आदर्श है, जिसकी ओर मानवता जा रही है। यही मानव-धर्म है, जो जगत्में भगवान्की इच्छासे मानवताके रक्षार्थ और हितार्थ अभिव्यक्त हो रहा है।

मानवता और पञ्चशील

(लेखक—पं० श्रीरामदत्तजी शर्मा)

'वह मानवता क्या, दानवता जिसके आगे ठहरे!' भारतके राष्ट्रकवि श्रीगुप्तजीकी यह उक्ति 'मानवता' को एक चेतावनी है। आज संसारकी मानवता शान्ति चाहती है, सद्भावना चाहती है, प्रेम और सहिष्णुताकी माँग करती है। उसे राजनीतिक दावपेचों और युद्धके कराल बादलोंसे घृणा है; क्योंकि ये दानवताके चिह्न हैं। यदि मानवताके सम्मुख इनका अस्तित्व बना रहता है तो यह मानवताकी कायरता है। इसी कमीको दूरकर आदर्श मानवताकी स्थापनाका एक संदेश इस पवित्र भारतभूमिसे संसारके लिये प्रसारित हुआ है, जिसे आज सब 'पञ्चशील' कहकर पुकारते हैं।

भगवान् बुद्धदेवने अपने शिष्योंके जीवनको आदर्श बनानेके लिये 'पञ्चशील' की दीक्षा दी थी। आज वही सांस्कृतिक शब्द संसारमें शान्ति और सह-अस्तित्वका संदेश-वाहक पञ्चसूत्री सिद्धान्त है। पञ्चशीलके पाँच सिद्धान्त ये हैं—

१—सार्वभौमिकताका समादर।

२—अनाक्रमण।

३—अहस्तक्षेप।

४—पारस्परिक सहयोग और समानता।

५—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

गत २० वर्षोंसे मानवताकी रक्षा और युद्धोंकी समाप्तिके लिये सतत प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन्हीं प्रयत्नोंके परिणामस्वरूप १९२० ई० में 'राष्ट्रसंघ' (League of Nations) का जन्म हुआ। फिर द्वितीय महायुद्धके बाद २४ अक्टूबर १९४५ को 'संयुक्तराष्ट्रसंघ' (U. N. O.)की स्थापना हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघके अन्तर्गत मानवताकी सुरक्षा और शान्तिके लिये अनेक प्रयत्न हुए, 'मानव-अधिकारोंकी घोषणा' हुई; किंतु फिर भी स्थिति उलझी ही रही। इतने वर्षोंके अनुभव और अपने देशकी संस्कृति और परम्पराके आधारपर सन् १९५४ में पं० श्रीजवाहरलाल नेहरूने 'पञ्चशील' के इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन और घोषणा की, जिन्हें सर्वप्रथम चीनके श्रीचाउ-एन-लाईने स्वीकार किया। तदुपरान्त एशिया, अफ्रीकाके २९ देशोंने सुप्रसिद्ध बांडुंग-सम्मेलनमें इसे निर्विरोध स्वीकार किया। धीरे-धीरे यूगोस्लाविया, पोलैंड, रूस, एथोपिया, मिश्र आदिसे इसके आधारपर समझौते स्वीकार हुए। इस प्रकार मानवताके हितके लिये संसारके कई देशोंने इस महान् सिद्धान्तको अपनाया है।

पञ्चशीलका प्रथम शील या सिद्धान्त है—

'सार्वभौमिकताका समादर।' प्रत्येक देश अपनी भूमि और सार्वभौमिकताकी रक्षाके साथ दूसरोंकी भूमि और सार्वभौमिकताका उचित सम्मान करे। इससे आपसी विद्वेष और कलह दूर होंगे और मानवता शान्तिलाभ कर सकेगी। दूसरे शील—'पारस्परिक अनाक्रमण'की भावनासे ओतप्रोत होकर जब एक देश दूसरे देशपर आक्रमण ही नहीं करेगा, वरं समझौता और बातचीतद्वारा झगड़ोंको निपटानेका प्रयत्न करेगा, तब फिर मानवताको भय किस बातका रहेगा? 'अहस्तक्षेप' का तीसरा शील अपनाकर जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके आन्तरिक मामलोंमें अपनी टाँग नहीं अड़ायेगा, तब आपसी कलह और झगड़ोंके खड़े होनेकी सम्भावना ही नहीं रहेगी और इससे मानवताका समुचित उत्थान हो सकेगा। चौथा शील है—'पारस्परिक सहयोग और समानता'। जब प्रत्येक देश दूसरे देशको अपने समान समझकर उसके साथ हर प्रकारसे सहयोग रखेगा, तब इससे संसारका प्रत्येक देश उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ होगा और कोई भी मानव पिछड़ा नहीं रह सकेगा।

इससे मानवताको एक नया सम्बल और नया जीवन मिलेगा।

पञ्चशीलकी मालाका सुमेरु है—पाँचवाँ शील अर्थात् 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्वकी स्थापना।' जब चारों शीलोंका पालन करते हुए संसारभरके राष्ट्र शान्तिपूर्वक एक दूसरेके अस्तित्वको समझकर आगे बढ़ेंगे और यह समझने लगेंगे कि संसारमें सबका अपना अस्तित्व है—हमें 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्तको कार्यरूपमें परिणत करना है, तब वह समय दूर नहीं है, जब मानवता इस युद्ध-भय और कलहके दुःखद वातावरणसे मुक्ति पाकर विशुद्ध प्रेम और सहानुभूतिसे परिपूर्ण शान्ति और समृद्धिके खुले वातावरणमें सुखकी साँस ले सकेगी। मानवताकी रक्षा और पोषणके लिये 'पञ्चशील' एक बलदायक पेय है। भगवन्! वह समय शीघ्र आये, जब मानवता सुखी हो और सर्वत्र शान्ति हो।

मानवताके सोपान

(लेखक—जैनाचार्य श्रीहिमाचलान्तेवासी—मुमुक्षु भव्यानन्दविजयजी व्या० साहित्यरत्न)

मानव-जीवनमें निम्नलिखित गुणरूपी सोपानोंके प्रविष्ट होनेपर ही मानवता आ सकती है, उनके बिना मानवता पनप नहीं सकती। संक्षेपमें यहाँ उनके केवल नाममात्र ही दिये देता हूँ।

(१) अक्षुद्र—अतुच्छ हृदय [गम्भीर चित्तवाला हो, किंतु तुच्छ स्वभाववाला न हो]।

(२) स्वरूपवान्—पाँचों इन्द्रियाँ सम्पूर्ण और स्वच्छ हों, विकलाङ्ग न हों।

(३) प्रकृति सौम्य—स्वभावसे शान्त हो, क्रूर न हो।

(४) लोकप्रिय—दान, शील, न्याय, विनय और विवेक आदि उचित गुणोंसे युक्त हो।

(५) अक्रूर—अक्लिष्टचित्त—ईर्ष्या आदि दोष-रहित हो।

(६) भीरु—लोकनिन्दासे, पाप तथा अपयशसे डरनेवाला हो।

(७) अशठ—कपटी तथा असदाग्रही न हो।

(८) सदाक्षिण्य—प्रार्थनाभङ्गसे डरनेवाला, शरणागतका हित करनेवाला हो।

(९) लज्जालु—अकार्यवर्जक अर्थात् अकार्य करनेसे डरनेवाला हो।

(१०) दयालु—सबपर दया रखनेवाला हो।

(११) मध्यस्थ—जो राग-द्वेष-रहित अथवा सौम्य-दृष्टि, अपने या परायेका विचार किये बिना न्याय-मार्गमें सबका हित करनेवाला, यथार्थ तत्त्वके परिज्ञानसे एकके प्रति राग तथा दूसरेके प्रति द्वेष न रखनेवाला है, वही मनुष्य मध्यस्थ यानी तटस्थ माना जाता है।

(१२) गुणानुरागी—केवल गुणोंका ही पक्ष करनेवाला हो।

(१३) सत्कथा—सत्यवादी, अथवा धर्मसम्बन्धी कथा-वार्ताओंको ही प्रिय माननेवाला हो।

(१४) सुपक्षयुक्त—न्यायका ही पक्षपाती, अथवा सुशील, अनुकूल, सभ्य, सुपरिवारयुक्त हो।

(१५) सुदीर्घदर्शी—सब कार्योंमें लंबा विचार करके लाभ-हानि समझकर प्रवृत्त हो।

(१६) विशेष—तत्त्वके अभिप्रायको जाननेवाला, अर्थात् गुण और दोषका भेद समझनेवाला हो।

(१७) वृद्धानुगा—वृद्ध-सम्प्रदायके अनुसार चलनेवाला (आचारवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध—इन तीनों वृद्धोंकी शैलीसे प्रवृत्त) हो।

(१८) विनीत—गुणीजनोंका बहुमान करनेवाला हो।

(१९) कृतज्ञ—किये हुए उपकारको न भूलनेवाला हो।

(२०) परहितार्थकारी—निस्स्वार्थ हो, परायेका हित करनेवाला हो।

(२१) लब्धलक्ष्य—धर्मादि कृत्योंमें पूर्ण अभ्यास करनेवाले पुरुषोंके साथ परिचय रखनेवाला, यानी सब कार्योंमें सावधान हो।

उपर्युक्त इक्कीस गुणोंके द्वारा मानवता चमक जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं। इन्हें अपनाकर सब आत्मकल्याण करें—यही मङ्गल-कामना है।

मानवता और वर्णाश्रमधर्म

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मानवताका अभिप्राय है मनुष्यकी मनुष्यता । सर्वप्रथम इसपर विचार करना चाहिये कि मनुष्यकी उत्पत्ति किससे हुई। शास्त्रोंको देखनेसे मालूम होता है कि मनुसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति हुई और इस उत्पत्तिका मूल स्थान यह भारतवर्ष ही है। यहींसे सारी पृथ्वीपर मानव-सृष्टिका विस्तार हुआ । मानव-सृष्टिकी उत्पत्तिका मूल स्थान भारतवर्ष होनेके कारण वही मानवताका मूल उद्गमस्थान है । अतः श्रीमनुजीका आदेश है कि सारी पृथ्वीके लोग यहींसे शिक्षा लिया करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनु० २ । २०)

'इस देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणके समीप पृथ्वीके समस्त मानव अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें ।'

इसलिये हमलोगोंको मनुष्यताके पूर्ण आदर्श बननेके लिये मनुप्रोक्त धर्मोंके अनुसार ही अपना जीवन बनाना चाहिये; क्योंकि जितने भी स्मृतियोंके रचयिता महर्षि हुए हैं, उनमें मनु प्रधान हैं । अतः मनुने जो कुछ कहा है, वही मनुष्यका धर्म है ।

सृष्टिके संचालन, संरक्षण और समुत्थानके लिये श्रीमनुजीने वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था की थी । उस व्यवस्थाके बिगड़ जानेके कारण ही आज हमारा पतन हो रहा है । अतः उसकी रक्षाके लिये हमें मानवधर्मरूप भारतीय संस्कृतिको अपनाना चाहिये । भाषा, वेष, खान-पान और चरित्रसे ही मनुष्यके हृदयपर भले-बुरे संस्कार जमते हैं । संस्कार ही संस्कृति है । अतः इन चारोंके समूहको ही संस्कृति कहा जाता है ।

सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई और ब्रह्माजीसे वेद प्रकट हुए । वेदोंकी भाषा संस्कृत है । सृष्टिके आदिमें ब्रह्मादि देवताओंसे उत्पन्न होनेके कारण संस्कृत-भाषाका नाम 'देवभाषा' और संस्कृत-लिपिका नाम 'देवनागरी' हुआ। संस्कृत भाषामें अनेक विशेषताएँ हैं । संस्कृतमें साधारणतया धातुओंके १८० रूप बनते हैं । इतने रूप अंग्रेजी, फारसी आदि अन्य किसी भाषामें नहीं बनते । संस्कृतमें एकवचन, द्विवचन, बहुवचन—ये तीन वचन होते हैं, जहाँ कि अन्य भाषाओंमें एकवचन और बहुवचन ही होते हैं, द्विवचन नहीं। संस्कृतमें पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग—ये तीन लिङ्ग होते हैं, जब कि अन्य भाषाओंमें लिङ्गोंके कहीं एक और कहीं दो ही भेद माने गये हैं । सारांश, अन्य भाषाओंमें द्विवचन और नपुंसकलिङ्गका अलग भेद नहीं माना गया है । इसके सिवा भाषाका सौन्दर्य, लालित्य, व्याकरणकी पूर्णता और अलौकिकता आदि अनेक गुण इस संस्कृत-भाषामें हैं, जो अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसी देवभाषाका रूपान्तर हिंदी-भाषा है, जो आज भारतकी प्रधान भाषा है । हमारे धर्मके जितने भी मौलिक ग्रन्थ हैं, वे संस्कृतमें ही हैं । उनमेंसे कितने ही ग्रन्थोंका हिंदीमें भी अनुवाद हो चुका है । आयुर्वेद और ज्योतिष आदिके ग्रन्थ भी संस्कृतमें ही हैं । इसलिये संस्कृत और हिंदी-भाषा हमारे देशकी प्रधान सम्पत्ति हैं । अतः इनकी रक्षा करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये ।

हमारे देशका वेष शास्त्रोंमें यही पाया जाता है कि एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीयवस्त्र धारण करना । ये दोनों वस्त्र बिना सिलाये ही काममें लाये जाते रहे हैं । स्त्रीके लिये अधोवस्त्रसे साड़ी और उत्तरीयवस्त्रसे ओढ़नी समझनी चाहिये । एवं पुरुषके लिये अधोवस्त्रसे धोती और उत्तरीयवस्त्रसे चादर समझनी चाहिये । अभीतक विवाहके समय भी कन्याका पिता वर और कन्याके लिये उपर्युक्त चार वस्त्र ही प्रदान करता है । इन्हीं वस्त्रोंको पहनकर विवाह करनेकी शास्त्रोक्त पद्धति है । अतः यही आदर्श वेष है ।

इसी प्रकार हमारे देशका खान-पान पहले कन्द, मूल, फल, शाक, अन्न और दूध, दही, घी ही रहा । ये ही सात्त्विक पदार्थ हैं । इन्हींकी गीतामें प्रशंसा की गयी है । भगवान्‌ने कहा है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
(गीता १७ । ८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ।'

इस प्रकारके सात्त्विक पदार्थोंके भोजनसे बुद्धि सात्त्विक होती है, अन्तःकरण शुद्ध होता है और अध्यात्मविषयकी

स्मृति प्राप्त होती है, जिससे सम्पूर्ण बन्धनोंसे छुटकारा हो जाता है। छान्दोग्य-उपनिषद्के सातवें अध्यायके २६ खण्डके दूसरे मन्त्रमें कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

'आहार-शुद्धि होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है एवं स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो जाती है।'

अतः हमारा खान-पान सात्त्विक होना चाहिये, राजस और तामस नहीं। तामस भोजन तो राक्षसों और असुरोंका होता है, इसलिये वह त्याज्य है। तामस पदार्थोंमें भी मांस, मछली, अंडा आदिका भोजन तो बिल्कुल ही अमानुषिक कार्य है। मनुष्यका तो कर्तव्य है सब जीवोंका हित करना, न कि जीवोंको राक्षसोंकी भाँति मारकर खा डालना। विचार करना चाहिये कि वे जीव निर्बल और बुद्धिहीन हैं, हमलोग बलवान् और बुद्धिमान् हैं। क्या हमारा यह कर्तव्य है कि हम निर्बल और बुद्धिहीन प्राणियोंको खा जायँ? बल्कि उचित तो यह है और इसीमें मनुष्यता है कि हम निर्बल प्राणियोंकी सब प्रकारसे सहायता करें। इस प्रकार सब प्राणियोंका हित करनेवाले मनुष्य ही उन्नत होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं। भगवान्ने कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(गीता १२। ४ का उत्तरार्ध)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगे हुए मनुष्य मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी आया है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

इस प्रकार गीता-रामायण आदि शास्त्रोंसे भी यही बात सिद्ध होती है कि मनुष्यको प्राणिमात्रका हित करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि मांस, मछली आदिको खानेवाले मांसाहारी पशुओंकी दाढ़ें और नख छुरेके समान तीक्ष्ण होते हैं; किंतु मनुष्य और बंदरके दाँत और नख इतने सरल हैं कि वे कन्द, मूल, फल, शाक और अन्न खानेके ही योग्य हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारा भोजन कन्द, मूल, फल, शाक और अन्न आदि ही हैं, मांस आदि नहीं। तीसरी बात यह है कि पशुओंके रक्त, मांस, चर्बी, मज्जा आदि सभी दुर्गन्धयुक्त और अपवित्र होते हैं, जो मनुष्यके छूनेके योग्य भी नहीं होते; फिर वे क्या मनुष्यके खानेके योग्य हो सकते हैं? कदापि नहीं। चौथी बात यह है कि इनको खानेसे बुद्धि और विवेक नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं तथा इन्हें प्राप्त करनेमें प्राणियोंकी हिंसा होती है; अतः ये अत्यन्त तामस हैं। इसी प्रकार मदिरा भी अत्यन्त तामस पदार्थ है। इसके पानसे नशा होकर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे मनुष्यका पतन होता है। अतः मांस, मछली, अंडा, मदिरा—ये सभी मनुष्यके लिये अभक्ष्य तथा अपेय हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये, यहाँतक कि इन्हें छूना भी नहीं चाहिये; इसीमें उसकी मनुष्यता है।

अब चरित्रके विषयमें विचार किया जाता है। श्रीमनुजीने मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये प्रधान दस बातें बतलायी हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

(१) धृति—भारी कष्ट पड़नेपर भी धैर्यका त्याग न करना, (२) क्षमा—कोई अपराध कर दे तो उसका बदला लेनेकी इच्छा न रखकर अपराधको सहन कर लेना, (३) दम—मनको वशमें करके उसे अपने नियन्त्रणमें रखना, (४) अस्तेय—दूसरेके स्वत्वपर चोरी, जोरी, ठगी आदि किसी प्रकारसे भी अपना अधिकार नहीं जमाना, (५) शौच—सदाचार, सद्गुण आदिके द्वारा मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरको सब प्रकारसे पवित्र रखना, (६) इन्द्रिय-निग्रह—विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंको अपने अधीन रखना, (७) धी—बुद्धिको तीक्ष्ण और सात्त्विक बनाना,* (८) विद्या—जिससे परमात्माका यथार्थ अनुभव हो, ऐसा

* सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीतामें भगवान्ने इस प्रकार बतलाये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(गीता १८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

सात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना* (९) सत्य—जो बात जैसी सुनी, समझी और देखी गयी हो, उसको निष्कपट और विनय-भावसे ज्यों-की-त्यों यथार्थ कहना, उससे न अधिक कहना और न कम; एवं (१०) अक्रोध—मनके विपरीत घटनाके प्राप्त होनेपर उसे ईश्वरका विधान मानकर संतुष्ट रहना, किसीपर क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।

महर्षि पतञ्जलिजीने मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये जो यम-नियमोंके नामसे आदेश दिया है, वह भी इससे मिलता-जुलता-सा ही है। वे कहते हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० २ । ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं।'

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २ । ३२)

'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णने मानव-चरित्र-निर्माणके लिये उत्तम गुण और आचरणोंको लक्ष्यमें रखकर दैवी सम्पदाके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस प्रकार कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, * इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका अभ्यास तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कभी किंचिन्मात्र भी कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें लिपायमान न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंमें मानव-चरित्र-निर्माण-के हेतुभूत जिन आदर्शोंका बहुत विस्तारके साथ वर्णन पाया जाता है, उन सबको भगवान्ने गीतामें साररूपसे संक्षेपमें बतलाया है।

इस प्रकार भाषा, वेष, खान-पान और चरित्र—इन चारों-के समूहको ही संस्कृति कहते हैं। अतः मनुष्यको उपर्युक्त भारतीय संस्कृतिके आदर्श सद्गुण-सदाचारोंको अपने जीवनमें अच्छी प्रकार उतारना चाहिये। यही मनुष्यकी मनुष्यता है। इसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं, पशु ही है। नीतिमें बतलाया गया है—

* सात्त्विक ज्ञानके लक्षण भगवान्ने गीतामें इस प्रकार बतलाये हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(गीता १८ । २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सारे भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान।'

* सात्त्विक दानके लक्षण भगवान्ने गीतामें इस प्रकार बतलाये हैं—

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
(गीता १७ । २०)

'दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल और पात्रके प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।'

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥
(चाणक्य० १० । ७)

'जिनमें न विद्या है न तप है, न दान है न शील (सदाचार) है, न गुण है और न धर्म ही है, वे इस मनुष्यलोकमें पृथ्वीके भार बने हुए मनुष्यरूपमें पशु ही फिर रहे हैं ।'

इसलिये मनुष्यको मनुष्यताके अनुरूप आचरण करना चाहिये । निद्रा, आलस्य, प्रमाद, नास्तिकता, दुर्गुण, दुराचार, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा और शरीरके आरामकी इच्छा तथा विषयासक्ति—ये सब मनुष्यताको नष्ट करनेवाले हैं । निद्रा और आलस्यके कारण मनुष्य करनेयोग्य कर्मोंका त्याग कर देता है । प्रमादके कारण न करनेयोग्य कर्मोंको करने लगता है तथा नास्तिकताके कारण मनुष्य ईश्वर, धर्म, शास्त्र और परलोकको नहीं मानता, जिससे मनमाना आचरण करने लगता है । दुर्गुण-दुराचार और आसुरी सम्पदाको धारण करके पथभ्रष्ट हो जाता है । मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें फँसकर मनुष्य दम्भी और पाखण्डी बन जाता है तथा शरीरके आराम और भोगोंमें फँसकर न करनेयोग्य पापकर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है । इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको उपर्युक्त इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

सृष्टिके आदिमें मनु आदि महर्षियोंने संसारके परम हितके लिये वेदोंके आधारपर चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था करके जो समाजका संगठन किया है, वह हमलोगोंके शरीर, समाज, व्यापार और देशके लिये परम हितकर है । अतः हमलोगोंको अपने अधिकारके अनुसार उन धर्मोंका यथावत् पालन करना चाहिये । मनुप्रोक्त वर्णाश्रमधर्मका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार समझना चाहिये ।

ब्रह्मचर्याश्रम

माता-पिताको उचित है कि पाँच वर्षका हो जानेके बाद बालकको ऋषिकुल या गुरुकुलमें प्रेषित कर दें अथवा अपने घरपर ही रखकर दूसरोंसे या स्वयं विद्या पढ़ायें—कम-से-कम दस वर्ष उसे शिक्षा दें । चाणक्यनीतिमें कहा गया है—

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत् ॥
(चाणक्य० ३ । १८)

'पुत्रका पाँच वर्षतक लालन-पालन करे, उसके बाद दस वर्षतक उसपर शासन करे; किंतु जब वह सोलह वर्षका हो जाय, तब उसके साथ मित्रकी भाँति बर्ताव करे ।'

माता-पिताको उचित है कि वे बाल्यावस्थामें ही बालकको विद्याभ्यास करायें; क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते, वे बालकके साथ शत्रुताका व्यवहार करते हैं, इसलिये वे शत्रुतुल्य हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥
(चाणक्य० २ । ११)

'वह माता शत्रु और पिता वैरीके समान है, जिसने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी; क्योंकि बिना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता, जैसे हंसोंके बीच बगुला ।'

बालकका यह कर्तव्य है कि वह गुरुके यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमधर्मकी शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यथाधिकार यज्ञोपवीत-संस्कार * कराकर वेदाध्ययन करता हुआ विद्याका अभ्यास करे, शास्त्रोंका तथा अनेक प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान प्राप्त करे । भिक्षा लाकर उसे गुरुके समर्पित कर दे और गुरुका दिया हुआ भोजन स्वयं करे । यह श्रीमनुजीने कहा है—

* यज्ञोपवीत-संस्कारका काल श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥
(मनु० २ । ३६)

'ब्राह्मणका यज्ञोपवीत-संस्कार गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करे ।'

किंतु—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥
(मनु० २ । ३७)

'किंतु ब्रह्म-तेजकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये ।'

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदर्थममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥
(मनु० २ । ५१)

'जितनी आवश्यक हो, उतनी भिक्षा लाकर निष्कपट भावसे गुरुके समर्पण करे और फिर आचमन करके पवित्र हो पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे ।'

नित्यप्रति गुरुको नमस्कार करना, उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ब्रह्मचारीका उत्तम धर्म है । उसे तत्परताके साथ शिक्षा और विद्याके अध्ययनमें ही विशेषतया मन लगाना चाहिये । जो बालक बाल्यावस्थामें विद्या नहीं पढ़ता एवं शिक्षा ग्रहण नहीं करता तथा किसी कुत्सित क्रियाद्वारा वीर्य नष्ट कर देता है, उसे सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है । शिक्षा ग्रहण करना, विद्याका अभ्यास करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये तीनों उसके लिये इस लोक और परलोकमें बहुत ही लाभदायक हैं । ब्रह्मचर्यके बिना आयु, बल, बुद्धि, तेज, कीर्ति और यशका विनाश होता है और मरनेके बाद दुर्गति होती है । इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक शिक्षा और विद्या प्राप्त करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये । विद्याका अर्थ है नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान तथा शिक्षाका अर्थ है उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंको सीखकर उनको अपने जीवनमें लाना एवं ब्रह्मचर्यव्रतके पालनका अर्थ है सब प्रकारके मैथुनोंका* त्याग करना और ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना अर्थात् परमात्माके स्वरूपका मनन करना ।

ब्रह्मचारीको मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक यम-नियमोंका पालन करना चाहिये । इसके सिवा उसे श्रीमनुजीके बतलाये हुए विशेष नियमोंका भी पालन करना चाहिये । श्रीमनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥
(मनु० २ । १७६)

* शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन बतलाये गये हैं—
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसङ्ग करना ।'

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और दिव्य पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे ।'

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
(मनु० २ । १७७—१७९)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री और सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुओंका सेवन करना तथा प्राणियोंकी हिंसा करना एवं उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छातेका उपयोग करना तथा काम, क्रोध और लोभका आचरण करना एवं नाचना, गाना, बजाना तथा जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदि करना एवं झूठ बोलना और स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना तथा दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये ।'

यदि बालक घरपर रहकर विद्याका अभ्यास करे तो उसे माता, पिता और आचार्यको क्रमशः दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्निका रूप समझकर उनकी तन-मनसे सेवा करनी चाहिये । श्रीमनुजीने कहा है—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥
(मनु० २ । २३१)

'पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि है—ऐसा कहा गया है । यह तीनों अग्नियोंका समूह अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

इनकी सेवा करनेसे मनुष्य भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोकोंको जीत लेता है—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥
(मनु० २ । २३३)

'माताकी भक्तिसे मनुष्य इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यलोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ।'

इनकी सेवा बालकके लिये परम तप कही गयी है; क्योंकि यह परम धर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥
(मनु० २ । २२९)

'इन तीनोंकी सेवा बड़ा भारी तप कहा गया है; अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना मनुष्य अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।'

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥
(मनु० २ । २३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सारा कर्तव्य पूर्ण हो जाता है । यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।'

इन तीनोंमें गुरुकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व शास्त्रोंमें अधिक बताया गया है; क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥
(मनु० २ । २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समय जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी उनकी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता ।'

इसलिये बालकोंको नित्य माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार, उनकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये ।

गृहस्थाश्रम

समावर्तन-संस्कारके बाद जब बालक विद्याध्ययन करके आवे तो मार्गमें मिल जानेपर राजाको भी उचित है कि वह उसके लिये आदरपूर्वक मार्ग दे दे और घरपर आनेपर पिताको उचित है कि स्नातककी सत्कारपूर्वक मधुपर्क आदिसे पूजा करे ।

स्नातकको उचित है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार उत्तम गुण, लक्षण और आचरणसे युक्त कन्याके साथ विवाह करे* तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवा करते हुए शौचाचार-सदाचारसे रहकर अपना जीवन बिताये ।

गीता कहती है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(१७ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

इस 'शारीरिक तप' के अनुसार सदाचारका पालन करना चाहिये । माता, पिता आदि गुरुजनोंको नित्य नमस्कार करने और उनकी सेवा करनेका बड़ा भारी महत्त्व है ।

श्रीमनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥
(मनु० २ । १२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं ।'

गृहस्थ पुरुषको किस प्रकार जीवन बिताना चाहिये, इस विषयमें श्रीमनुजीने यों कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥
(मनु० ४ । ९२-९३)

'ब्राह्ममुहूर्तमें (सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व) जागना चाहिये और धर्म तथा अर्थका एवं उनके उपार्जनके हेतुभूत शरीरके क्लेशोंका तथा वेदके तत्त्वार्थरूप परब्रह्म परमात्माका बारंबार चिन्तन करना चाहिये । फिर शय्यासे उठकर शौचादि आवश्यक कार्य करके स्नानादिसे शुद्ध और सावधान होकर अपने नियतकालमें (सूर्योदयसे पूर्व) प्रातःसंध्या और (सूर्यास्तसे पूर्व) सायंसंध्या करके चिरकालतक गायत्रीका जप करता रहे ।'

---

* श्रीमनुजीने कहा है—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥
(मनु० ३ । ४)

'जब द्विज विधिपूर्वक व्रत-स्नान और समावर्तन कर चुके, तब गुरुजनोंकी आज्ञानुसार अपने वर्णकी उत्तम लक्षणोंवाली कन्यासे विवाह करे ।'

इस प्रकार गृहस्थको नित्यप्रति अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन, गायत्री-जप,* अग्न्याधान, गीता और वेदादि शास्त्रोंका स्वाध्याय और अतिथियोंकी सेवा† आदि गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका पालन भलीभाँति तत्परतापूर्वक अवश्यमेव करना चाहिये। गृहस्थाश्रममें रहते हुए नित्य पाँच प्रकारके पाप होते हैं, उनकी निवृत्तिके लिये पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना आवश्यक है। श्रीमनुजीने कहा है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
(मनु० ३।६८)

'गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जलका घड़ा—ये पाँच हिंसाके स्थान हैं; इनको काममें लानेवाला गृहस्थ पापसे बँधता है।'

अतः क्रमशः उन सबसे निस्तार पानेके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये नित्य पाँच महायज्ञ करनेका विधान किया है। वे पञ्चमहायज्ञ इस प्रकार हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
(मनु० ३।७०)

'वेद पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, श्राद्ध-तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ है और अतिथियोंका पूजन-सत्कार करना मनुष्य-यज्ञ है।'

जो द्विज इन पाँच महायज्ञोंको यथाशक्ति नहीं छोड़ता, वह घरमें रहता हुआ भी नित्य होनेवाले हिंसा-दोषोंसे लिप्त नहीं होता तथा जो देवता, अतिथि, सेवक, पितर और आत्मा—इन पाँचोंको अन्न नहीं देता, वह श्वास लेता हुआ भी मरे हुएके समान ही है।

यदि श्रौत या स्मार्त विधिके अनुसार नित्य अग्निहोत्र न हो सके तो बलिवैश्वदेव तो अवश्य ही करना चाहिये। बलिवैश्वदेव करनेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(गीता ३।१३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

गृहस्थको सत्य* और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करके आत्मकल्याणके लिये देवताओं, पितरों और यावन्मात्र प्राणियोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। सबको अन्न-जल देकर अन्न-जल ग्रहण करना मनुष्यके लिये कल्याणकारी है, इसलिये तर्पण और बलिवैश्वदेवका विधान किया गया है। तर्पणमें क्रमशः देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों और पितरोंको एवं यावन्मात्र प्राणियोंको जो जल दिया जाता है, उसका पहले सूर्यके द्वारा शोषण होता है, फिर वह वर्षाके रूपमें आकर सब प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है। बलिवैश्वदेवका

---

* श्रीमनुजी कहते हैं—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
(मनु० २।७९)

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) हजार बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केंचुलीसे।'

जप मानसिक किया जाय तो वह सर्वोत्तम है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २।८५)

'विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना तथा मानस जप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एकसे एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

† तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु० ३।१०१)

'आसन, बैठनेको जगह, जल और चौथी मीठी वाणी—इनकी सज्जनोंके घरमें कभी कमी नहीं होती।'

* श्रीमनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(मनु० ४।१३८)

'सदा सत्य बोले, प्रिय बोले; किंतु ऐसी बात न कहे जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो तथा जो प्रिय तो हो पर असत्य हो, उसे भी न कहे। यह सनातन धर्म है।'

तात्पर्य है सारे विश्वको बलि (भोजन) देना । जो अग्निमें आहुति दी जाती है, वह सूर्यको प्राप्त होकर और फिर सूर्यके द्वारा वर्षाके रूपमें आकर समस्त विश्वके प्राणियोंको प्राप्त हो जाती है । श्रीमनुजीने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
(मनु० ३ । ७६)

'वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे मेघद्वारा वर्षा होती है और वर्षा होनेसे अन्न पैदा होता है तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (एवं अन्नसे ही सब प्राणियोंकी तृप्ति और वृद्धि होती है) ।'

अतः बलिवैश्वदेव करना सारे विश्वको जीवनदान देना है; क्योंकि अन्नसे ही सब प्राणी जीते हैं—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
(गीता ३ । १४)

'सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं । अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होता है ।'

गृहस्थ इस प्रकार सदा अपने कर्तव्यकर्मोंके पालनमें लगा रहे और काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, दम्भ और नास्तिकता आदि दुर्गुणोंका परित्याग करके सदा मन-इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सदाचारमें स्थित रहे । श्रीमनुजीने बतलाया है—

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥
(मनु० ४ । १६३)

'नास्तिकता, वेद-निन्दा, देव-निन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और कटुताका त्याग करे ।'

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद् वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥
(मनु० ४ । १७७)

'हाथ और पैरोंकी चपलता न करे, नेत्रोंकी चपलता न करे, सदा सरल रहे; वाणीकी चपलता न करे और दूसरोंकी बुराई करनेमें कभी मन न लगावे ।'

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥
(मनु० ५ । १६९)

'विवाहित गृहस्थ पुरुष पूर्वोक्त विधिसे सदा पञ्चयज्ञोंको करता रहे, उनका कभी त्याग न करे और आयुके दूसरे भागपर्यन्त (पचास वर्षतक) गृहस्थाश्रममें वास करे ।'

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥
(मनु० ६ । ८९)

'इन सभी आश्रमोंमें वेद और स्मृतिके विधानके अनुसार चलनेवाला गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा जाता है; क्योंकि वही इन तीनों आश्रमोंका भरण-पोषण करता है ।'

वानप्रस्थाश्रम

जब गृहस्थ पुरुषकी पचास वर्षकी आयु पूरी हो जाय और वह यह देखे कि अब शरीरका चमड़ा ढीला पड़ गया है और केश पक गये हैं तथा पुत्रके भी पुत्र हो गया है, तब वह सम्पूर्ण ग्राम्य आहारोंका और समस्त सामग्रियोंका परित्याग करके तथा अपनी पत्नीका एवं गृहस्थीका सारा भार अपने पुत्रोंपर देकर वानप्रस्थ-आश्रममें जा सकता है । यदि स्त्रीकी साथ जानेकी इच्छा हो तो वह भी जा सकती है ।* किंतु वहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचर्यका पालन करें । तथा वानप्रस्थीको उचित है कि वह स्वतः मरे हुए मृग आदिका पवित्र चर्म या वस्त्र धारण करे एवं प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय स्नान करे तथा जटा, दाढ़ी आदि बालोंको और नखोंको सदा धारण किये रहे । एवं—

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥
(मनु० ६ । ७)

* मनुस्मृतिमें आया है—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥
(६ । १–३)

'जो उनके खाने योग्य पदार्थ हों, उनमेंसे ही बलिवैश्व करे और अपनी शक्तिके अनुसार भिक्षा दे तथा आश्रममें आये हुए अभ्यागतोंका जल, मूल, फलकी भिक्षासे सत्कार करे।'

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥
(मनु० ६।८)

'नित्य वेदादि शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगा रहे, इन्द्रियोंका दमन करे, सबमें मैत्रीभाव रखे, मनको वशमें रखे, सदा दान दे, पर प्रतिग्रह न ले और सब प्राणियोंपर दया रखे।'

वानप्रस्थी द्विज मन-इन्द्रियोंको वशमें करके यम-नियमोंका पालन करते हुए पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करता रहे और पूर्णिमा, अमावास्या तथा चान्द्रायण आदि व्रतोंका पालन करे और बिना बोये हुए अर्थात् अपने-आप पृथ्वी या जलमें उत्पन्न कन्द-मूल, फल-फूल, शाकसे एवं उनके रसोंसे अपना जीवन-निर्वाह करे। वह मधु-मांस आदिका कभी सेवन न करे। हलसे जोती हुई भूमिसे उत्पन्न धान आदिको काममें न लाये। श्रीमनुजीने कहा है—

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् स्नेहांश्च फलसम्भवान्॥
(मनु० ६।१३)

'पृथ्वी और जलमें उत्पन्न शाक और पवित्र वृक्षोंसे उत्पन्न फूल, मूल, फलोंका तथा फलोंके रसका भोजन करे।'

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥
(मनु० ६।१६)

'भूखा होनेपर भी उसको हलसे जोती हुई भूमिमें उत्पन्न तथा किसीके द्वारा छोड़े हुए अन्नको और गाँवोंमें उत्पन्न हुए मूल-फलोंको भी नहीं खाना चाहिये।'

अग्निपक्वाशनो वा स्यात् कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद् वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा॥
(मनु० ६।१७)

'अग्निसे पके हुए अन्नका भोजन करे अथवा समयपर स्वतः पके हुए फल आदि खाय अथवा अन्न एवं फलोंको पत्थरसे कूटकर या दाँतोंसे चबाकर खाय।'

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात् समानिचय एव वा॥
(मनु० ६।१८)

'एक ही दिनके लिये अथवा एक मासके लिये अथवा छः महीनोंके लिये या एक वर्षके निर्वाहके लिये अन्नका संचय करे।'

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद् वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः॥
(मनु० ६।२२)

'भूमिपर लेटे या दिनभर दोनों चरणोंके बलपर खड़ा रहे अथवा कभी आसनपर और कभी आसनसे उठकर अपना समय बितावे तथा तीनों काल स्नान करे।'

वानप्रस्थीको चाहिये कि वह अपने तपको क्रमशः बढ़ाता हुआ ग्रीष्मकालमें पञ्चाग्नि तपे अर्थात् दोपहरमें चारों ओर अग्नि जलाकर मस्तकपर सूर्यके धूपका सेवन करे। वर्षा ऋतुमें पहाड़की चोटीपर खुले मैदानमें बैठकर वर्षाको सहन करे और शीतकालमें गीले वस्त्र धारण करे* अथवा नदी, तालाब आदि जलाशयमें गलेसे नीचेतक जलमें रहे।

एवं वानप्रस्थोंको उचित है कि वह—

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन् देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः॥
(मनु० ६।२४)

'तीनों समय स्नान करके पितरों और देवताओंका तर्पण करे एवं अत्यन्त कठोर तपस्या करता हुआ अपने शरीरको सुखाये।'

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥
(मनु० ६।२६)

'सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका यत्न न करे, ब्रह्मचर्यका पालन करे, भूमिपर सोये, निवासस्थानमें ममता न करे और वृक्षकी जड़में निवास करे।'

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥
(मनु० ६।२७)

'(फल-मूल आदि न मिले तो) वनवासी विप्रको चाहिये कि तपस्वी ब्राह्मणोंसे अथवा अन्य वनवासी गृहस्थ

---

* ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः॥
(मनु० ६।२३)

द्विजोंसे अपनी प्राण-यात्रा-निर्वाहके योग्य भिक्षा माँग ले।'

> ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्।
> प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥
> (मनु० ६।२८)

'यदि वनमें रहकर भिक्षा न मिले तो वानप्रस्थीको चाहिये कि वह गाँवसे पत्तलके टुकड़े या ठीकरेमें अथवा हाथमें ही भीख लाकर आठ ग्रास भोजन करे।'

> एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
> विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥
> (मनु० ६।२९)

'वानप्रस्थी वनमें रहकर इन पूर्वोक्त तथा वानप्रस्थाश्रमके अन्य सब नियमोंका पालन करे और आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिये उपनिषद्की विभिन्न श्रुतियोंका अभ्यास करे।'

तदनन्तर वानप्रस्थी द्विज, जबतक शरीरपात न हो जाय, तबतक जल और वायुका भक्षण करके योगसाधन करे।

संन्यासाश्रम

इस प्रकार आयुके तीसरे भागको वनमें व्यतीत करके आयुके चतुर्थ भागमें विषयोंको त्यागकर संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले।* अभिप्राय यह कि पचहत्तर वर्षका हो जानेपर अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण कर्मोंका, धर्मपत्नीका और शिखा-सूत्रका त्याग करके तथा प्राणिमात्रको अभय-दान देकर संन्यास ग्रहण करे। श्रीमनुजी कहते हैं—

> यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
> तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥
> यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
> तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥
> (मनु० ६।३९-४०)

'जो ब्राह्मण सब प्राणियोंको अभयदान देकर और घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह ब्रह्मवादियोंके तेजोमय लोकोंको पाता है। जिस द्विजसे किसी प्राणीको थोड़ा-सा भी भय नहीं होता, उसे शरीर-त्यागके अनन्तर कहीं भी भय प्राप्त नहीं होता।'

संन्यासीका कर्तव्य है कि वह अकेला ही विचरण करे और चातुर्मास्यके अतिरिक्त तीन दिनसे अधिक कहीं एक जगह न ठहरे। दण्ड, कमण्डलु,* कन्था, कौपीन आदिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुका संग्रह न करे। परिग्रहके त्यागमें ही उसका परम गौरव है। वह कञ्चन और कामिनी-का कभी स्पर्श न करे; क्योंकि इनका सर्वथा त्याग ही उसका परम कर्तव्य है। वह शहरमें केवल भिक्षाके लिये ही जाय। श्रीमनुजीने कहा है—

> अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
> उपेक्षकोऽसंकसुको मुनिर्भावसमाहितः॥
> (मनु० ६।४३)

'संन्यासी अग्निरहित, गृहहीन, सबसे निःस्पृह, स्थिर-बुद्धि, मौनी और ब्रह्मभावमें समाधिस्थ होकर समय बिताये तथा केवल भिक्षाके लिये ही गाँवमें जाय।'

एवं भिक्षाके लिये 'नारायण हरि' की आवाज उच्चारण कर देनेपर भीतरसे कोई गृहस्थ भिक्षा लेकर न आये या ठहरनेके लिये न कहे तो वहाँ न ठहरे और दूसरे घरपर चला जाय तथा जहाँ दूसरा भिक्षु भिक्षाके लिये खड़ा हो, वहाँ भी न ठहरे।

> न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
> आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत्॥
> (मनु० ६।५१)

'जिस घरमें तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते और अन्य भिक्षुक विद्यमान हों, वहाँ भिक्षाके लिये न जाय।'

संन्यासीको आठ पहरमें एक बार ही दिनमें भोजन करना चाहिये—

> एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
> भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥
> (मनु० ६।५५)

'संन्यासी दिनमें एक बार भीख माँगे, विस्तारमें न लग

---

* वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥
(मनु० ६।३३)

* अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥
(मनु० ६।५३)

'संन्यासीका भिक्षापात्र धातुका न हो। पात्रमें छेद भी न हो। एवं जैसे यज्ञमें चमस शुद्ध होते हैं, वैसे ही इन पात्रोंकी जलसे शुद्धि मानी गयी है।'

जाय; क्योंकि भिक्षामें आसक्त हो जानेसे संन्यासी अन्यान्य विषयोंमें भी आसक्त हो जाता है।'

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्॥
(मनु० ६।५६)

'जब गृहस्थोंके घरमें रसोईका धुआँ बंद हो जाय, मूसलका काम पूरा हो जाय, अग्नि बुझ जाय और गृहस्थके भोजनके बाद जूठे सकोरे फेंक दिये जायँ, उस समय संन्यासी नित्य भिक्षाके लिये जाय।' क्योंकि अग्नि प्रज्वलित रहे तो गृहस्थ मनुष्य उस संन्यासीके उद्देश्यसे और अधिक भोजन बना सकता है। एवं संन्यासीको पाँच या सातसे अधिक गृहस्थोंके घर नहीं जाना चाहिये और उनसे जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष करना चाहिये—

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः॥
(मनु० ६।५७)

'भिक्षा न मिलनेपर दुखी न हो और मिल जानेपर हर्षित न हो। जितनेमें प्राणोंका निर्वाह हो सके, उतना ही अन्न माँगे तथा विषयोंके सङ्गसे रहित रहे।'

जहाँ अतिशय आदर-सत्कार-पूजा होते हों अथवा जहाँ अनादर होता हो, वहाँ संन्यासी भिक्षाके लिये न जाय; क्योंकि अत्यन्त सत्कारसे बन्धन हो जाता है।* संन्यासी एकान्तमें रहकर जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि अपने नित्यकर्मका पालन करे। बिना पूछे न बोले और अनुचित पूछनेपर भी न बोले, मूकके समान आचरण करे। दीपक और अग्निको प्रज्वलित न करे। कभी किसी भी प्राणीकी किसी प्रकार किंचित् मात्र भी कहीं हिंसा न करे। यम-नियमोंका कभी त्याग न करे। अपना जीवन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिमें ही लगाये; क्योंकि इनके करनेसे वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

संन्यासीके लिये मनुजीका आदेश है—

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥
(मनु० ६।४४–४९)

'मिट्टीका सकोरा आदि भिक्षाके पात्र, रहनेके लिये वृक्षकी जड़, जीर्ण (कौपीन-कन्था आदि) वस्त्र, अकेला रहना और सबमें समान दृष्टि रखना—ये सर्वसङ्ग-परित्यागी संन्यासीके लक्षण हैं। संन्यासी न तो मरनेकी इच्छा करे और न जीनेकी ही अभिलाषा करे; किंतु जैसे सेवक वेतन पानेके लिये नियत समयकी प्रतीक्षा करता है, वैसे ही संन्यासी मरणकालकी प्रतीक्षा करे। मार्गको देखकर पैर रखे, वस्त्रसे छानकर जल पीये, सत्यसे पवित्र वचन बोले और पवित्र मनसे सब कार्य करे। दूसरेके कटुवचन सह ले, परंतु किसीका अपमान न करे और इस क्षणभङ्गुर देहका आश्रय लेकर किसीके साथ वैर न करे। दूसरेके क्रोध करनेपर उसपर क्रोध न करे। कोई अपनी निन्दा करे, तो भी उससे मीठे वचन बोले और कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, मन और बुद्धि—इन सात द्वारोंसे गृहीत हुए विषयोंकी चर्चा न करे क्योंकि यह यतिके लिये असत्यभाषणके तुल्य है। वह सदा अध्यात्मचिन्तनके परायण रहे। पद्मासन, स्वस्तिकासन या सिद्धासनसे बैठे; सब विषयोंसे उदासीन रहे, मांसाहार कभी न करे और मोक्षसुखका अभिलाषी होकर केवल आत्म-सहायसे ही यानी अकेला ही इस संसारमें विचरण करे।'

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥
(मनु० ६।६०)

'इन्द्रियोंको वशमें करनेसे, राग-द्वेषके नाशसे और सम्पूर्ण प्राणियोंकी अहिंसासे संन्यासी अमृतत्व—मोक्ष पानेमें समर्थ हो जाता है।'

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥
(मनु० ६।८०)

* अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते॥
(मनु० ६।५८)

आपत्तिकालमें ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्यकी वृत्तिसे अपना निर्वाह कर सकता है। श्रीमनुजीने कहा है—

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद् भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्॥

(मनु० १०। ८१-८२)

'यदि ब्राह्मण अपनी जीविकासे जीवन-निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रियकी वृत्तिसे जीविका करे; क्योंकि यह उसके निकटका वर्ण है। एवं यदि ब्राह्मणवृत्ति और क्षत्रिय-वृत्ति—दोनोंसे भी ब्राह्मणको जीविका चलानेमें कठिनता हो तो वह खेती, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्यकी जीविकासे निर्वाह करे।'

किंतु ब्राह्मणको शूद्रकी वृत्तिका अवलम्बन आपत्तिकालमें भी नहीं करना चाहिये। श्रीमनुजीने ब्राह्मणके लिये ऋत आदिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(मनु० ४। ४-६)

'ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृतसे अपना जीवन बिताये, परंतु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति न करे। उञ्छ और शिलको 'ऋत' जानना चाहिये। बिना माँगे मिला हुआ 'अमृत' है। माँगी हुई भिक्षा 'मृत' कहलाती है तथा खेतीको 'प्रमृत' कहते हैं। वाणिज्यको 'सत्यानृत' कहते हैं, उससे भी जीविका चलायी जा सकती है; किंतु सेवाको श्ववृत्ति कहा गया है, इसलिये उसका त्याग कर देना चाहिये।'

क्षत्रियके धर्म

श्रीमनुजीने संक्षेपमें क्षत्रियके कर्तव्य-कर्म इस प्रकार बतलाये हैं—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

(मनु० १। ८९)

'प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें अनासक्ति—ये संक्षेपमें क्षत्रियके कर्म बताये गये हैं।'

भगवान्‌ने गीतामें क्षत्रियके कर्मोंका वर्णन यों किया है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'

यदि क्षत्रियका क्षत्रियके कर्मसे निर्वाह न हो तो आपत्तिकालमें वह वैश्यकी वृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करे। श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥

(मनु० १०। ९५)

'आपत्तिग्रस्त क्षत्रिय सभी पदार्थोंके क्रय-विक्रयरूप पूर्वोक्त वैश्यवृत्तिसे जीविका चला सकता है; किंतु आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणकी जीविकाकी अभिलाषा कभी न करे।'

वैश्यके धर्म

श्रीमनुजी कहते हैं—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(मनु० १। ९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार तथा ब्याज और खेती—ये सब कर्म वैश्यके लिये बताये गये हैं।'

गीतामें वैश्यका कर्म बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(गीता १८। ४४ का पूर्वार्ध)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।'

अतः इनमें खेती करना, पवित्र पदार्थोंका क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना, गौ, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशुओंका पालन करना एवं व्यापारमें या बिना व्यापार ब्याज लेना—ये वैश्य-की जीविकाके कर्म हैं। इनमेंसे केवल ब्याजपर निर्भर रहना

निन्दनीय है। यदि वैश्यका अपनी वैश्यवृत्तिसे काम न चले तो वह आपत्तिकालमें शिल्प आदिका काम कर सकता है अथवा शूद्रवृत्तिका अवलम्बन लेकर—सेवा करके भी निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥
(मनु० १०।९८)

'वैश्य अपने धर्मसे जीविका करनेमें असमर्थ हो तो वह न करनेयोग्य कर्मोंको छोड़कर शूद्रकी वृत्तिसे भी निर्वाह कर सकता है, परंतु समर्थ होनेपर शूद्रवृत्तिको छोड़ दे।'

उपर्युक्त तीनों वर्णोंके कर्मोंमें वेदाभ्यास ब्राह्मणके लिये और प्रजाका पालन क्षत्रियके लिये एवं व्यापार-कर्म वैश्यके लिये श्रेष्ठ है;* किंतु यज्ञ करना, दान देना और वेदाध्ययन—ये क्षत्रिय और वैश्यके लिये भी विहित हैं। इनका निष्काम-भावसे पालन करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो परमात्माको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(गीता १८।५-६)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म विवेकी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

शूद्रके धर्म

श्रीमनुस्मृतिमें आया है—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
(मनु० १।९१)

'प्रभुने शूद्रको एक ही कर्म करनेका आदेश दिया है कि वह इन चारों वर्णोंकी ईर्ष्यारहित होकर सेवा करे।'

गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।
(गीता १८।४४ उत्तरार्ध)

'सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

अतः शूद्रके लिये सब वर्णोंकी सेवा करना यह एक ही आजीविकाका कर्म है। आपत्तिकालमें वह शिल्पवृत्तिसे निर्वाह कर सकता है।

श्रीमनुजीने कहा है—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥
(मनु० १०।९९)

'जो शूद्र द्विजातियोंकी सेवा करनेमें असमर्थ हो और जिसके स्त्री-पुत्र क्षुधासे पीड़ित हों, वह कारीगरीसे जीविका चला सकता है।'

किंतु वह आपत्तिकालमें भी ब्राह्मणका कर्म कभी न करे।

इस प्रकार ऊपर चारों वर्णोंके धर्मोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। इनके सिवा वर्णधर्मकी अन्य बातें समूह-रूपसे गृहस्थाश्रम-धर्मके वर्णनमें पहले बतलायी जा चुकी हैं।

इस वर्ण-विभागके बिना तो किसी मनुष्यका भी कार्य नहीं चल सकता। पहले समूची पृथ्वीपर ही इसका प्रचार था। अब भी भारतवर्षमें तो यह प्रचलित है ही, भारत-वर्षके सिवा यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें भी यह प्रकारान्तर-से प्रचलित है। भेद इतना ही है कि यहाँ जन्म और कर्म दोनोंसे वर्ण माना जाता है और वहाँ केवल कर्मकी ही प्रधानता है। जैसे मौल्वी, पादरी, अध्यापक, व्याख्यानदाता आदि जो कार्य करते हैं, वह एक प्रकारसे ब्राह्मणका ही काम है। सैनिक, योद्धा, शासक, रक्षक और न्यायकर्ता आदि क्षत्रियका ही काम करते हैं। व्यापारी, किसान, पशु-रक्षक आदि वैश्यका ही काम करते हैं। एवं श्रमिक, सेवक, शिल्पी (कारीगर) आदि शूद्रका ही काम करते हैं। इस प्रकार ये चार विभाग विदेशोंमें भी हैं; पर हैं कर्मसे। इस विभागके बिना तो किसी भी देशका कार्य नहीं चल सकता। किंतु शास्त्रोंमें जन्म और कर्म दोनोंसे ही वर्ण-विभाग माना गया है और उसीमें सबका परम हित है। यदि जातिका

* वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥
(मनु० १०।८०)

ब्राह्मण है और उसके आचरण शूद्रके-से हैं तो वह ब्राह्मण वास्तवमें ब्राह्मण नहीं है। इसी प्रकार जातिका तो शूद्र है, किंतु आचरण ब्राह्मणके-जैसे हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है। महाभारतमें सर्परूपधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरने कहा है—

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥
(महा० वन० १८०। २५-२६)

'सर्प! यदि शूद्रमें उपर्युक्त सत्य आदि ब्राह्मणोचित लक्षण हैं और ब्राह्मणमें नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण विद्यमान हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणोंका अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये।'

महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नका उत्तर देते हुए भी यही कहा है—

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
(महा० वन० ३१३। १११)

'चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह शूद्रसे भी बढ़कर नीचा है। जो नित्य अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण कहा जाता है।'

आत्माके उद्धारमें तो आचरण प्रधान है और संसारकी सामाजिक और व्यावहारिक सुव्यवस्थामें जाति प्रधान है। उदाहरणके लिये यदि घरमें विवाह, यज्ञ या श्राद्ध आदि कराना है अथवा देव या पितृ-कर्ममें ब्राह्मण-भोजन कराना है तो उसमें जातिसे ब्राह्मणकी ही प्रधानता है; क्योंकि उसके लिये ब्राह्मणको ही बुलाना उचित है, शूद्रको नहीं।

अतः शास्त्रोंमें बतलाये हुए अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये, इसीमें सबका परम हित और कल्याण है। श्रीमनुजीने कहा है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥
(मनु० १०। ९७)

'अपना धर्म गुणरहित हो, तो भी श्रेष्ठ है और परधर्म अच्छी प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि परधर्मसे जीवन बितानेवाला मनुष्य तुरंत अपनी जातिसे पतित हो जाता है।'

गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(गीता ३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मकी अपेक्षा गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्मके पालनमें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

स्वधर्मपालनका महत्त्व और फल भगवान्‌ने यों बतलाया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको सुनो। जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा (सेवा) करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सबमें व्यापक हैं, यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं; अतः यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का है तथा मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णाश्रमोचित कर्म किये जाते हैं, वे सब भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ—ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि समस्त देवताओंके अन्य एवं प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५। २९)—इस प्रकार परम श्रद्धा-विश्वासके साथ

समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा जो समस्त जगत्‌का आदर-सत्कार और सेवा करता है अर्थात् समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेके लिये उनके हितमें रत हुआ उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थ-त्यागपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता है, वह मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

इन श्लोकोंमें 'नर' और 'मानव' शब्द देकर भगवान्‌ने यह व्यक्त किया है कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें क्यों न हो, अपने कर्मोंसे भगवान्‌की पूजा करके परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सभी मनुष्योंका समान अधिकार है। अपने अध्ययनाध्यापन आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने प्रजापालनादि कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने वाणिज्य, गोरक्षा आदि कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। यही बात आश्रमधर्मके सम्बन्धमें समझ लेनी चाहिये।

अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका, जो मानव-जीवनका चरम उद्देश्य और लक्ष्य है, यह बहुत ही सुगम मार्ग है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक अपने धर्मका पालन करना चाहिये, भारी आपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें बतलाया भी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये मरण-संकट उपस्थित होनेपर भी मनुष्यको चाहिये कि वह हँसते-हँसते मृत्युको स्वीकार कर ले, पर स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे। इसीमें मनुष्यका सब प्रकारसे कल्याण है।

संसारमें जन्म लेकर क्या किया ?

जगमें कहा कियो तुम आय ?
स्वान जैसो पेट भरि कै, सोयो जन्म गँवाय॥
पहर पिछले नाहिं जागो, कियो ना सुभ कर्म।
आन मारग जाय लागो, लियो ना गुरु-धर्म॥
जप न कीयो, तप न साधो, दियो ना तैं दान।
बहुत उरझो मोह-मदमें, आपु काया मान॥
देह घर है मौतका रे, आन काढ़ै तोय।
एक छिन नहिं रहन पावै, कहा कैसो होय॥
रैन दिन आराम ना, काटै जो तेरी आव।
चरनदास कहैं सुन सहजिया, करौ भजन उपाव॥

—सहजोबाई

मानवताके कुछ लक्षण

(संग्रहकर्ता—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

मानवतामें दान

'हे मानव ! तू इस संसारमें सौ हाथोंसे धन-संचय कर ! परंतु, उस धनको मानव-कल्याणकारी कामोंमें हजार हाथोंसे दान देता जा ! धनोपार्जनका यही महत्त्व है । दान दिया हुआ वही धन प्रारब्ध बनकर दूसरे जन्ममें मनुष्यको प्राप्त हुआ करता है । दानीको मानवता सहजहीमें प्राप्त हो जाती है ।' (अथर्ववेद ३ । २४ । ५)

मानवधर्ममें अधर्म नहीं

'लोग धर्मकी परवा न कर गुप्तरूपमें अन्याय, शोषण, रिश्वत और अनीतिके अदृश्य मार्गोंको अपनाकर धनोपार्जनमें जुटे रहते हैं । उन्हें अधर्मका भय नहीं है । उनको यह भी ज्ञान नहीं कि तुम्हारा यह अधर्म किसी दिन तुम्हारा ही नाश कर देगा । पापसे कमाया धन तुम्हारा कभी साथ न देगा । इस प्रकार लोग 'मानवधर्म' से दूर हो जाते हैं और 'दानवधर्म' में दीक्षित हो जाते हैं ।'

(मनुस्मृति ४ । १७२)

मानवताकी महिमा

'रामराज्य' में ही मानवताका पूर्ण विकास हुआ था । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने संसारमें मानवता लानेका सफल उद्योग किया था । फिर—मानवताके प्रकाशसे क्या हुआ, उसका वर्णन गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें इस प्रकार किया है—

बैर न कर काहू सन कोई । राम प्रताप बिषमता खोई ॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥
रोग मृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा । सब सुंदर सब निरुज सरीरा ॥

(गोस्वामी तुलसीदासजी)

रामराज्य-जैसी मानवता

'रामराज्यमें ही सच्ची मानवता (मर्यादा-अनुशासन-सेवा और त्याग) का वह रूप प्रकट हुआ था, जिसे अब कल्पना कहकर टाला जा रहा है । परंतु वह इतना यथार्थ और प्रभावशाली है कि उसे पुनः लानेके लिये मैंने अपने जीवनकी बाजी लगा दी है ।' (महात्मा गाँधी)

मानवता ही विनाश रोक सकती है

'तृतीय महाभारतद्वारा विश्वसंहारकी चिन्ता सबको है, परंतु इस साइंसवाले विनाशकारी वायुमण्डलद्वारा 'अमन और इनसाफ' का वायुमण्डल कैसे लाया जा सकता है ! साइंसने आजके आदमीको 'मानव न बनाकर दानव' बना दिया है । दानव दौड़ता है एक दूसरेको कच्चा खा जानेके लिये और मानव दौड़ता है अपना प्राण देकर भी दूसरेकी रक्षा करनेके लिये । संसारने अभी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को पहचाना ही नहीं है । पहचाननेके लिये—मानवीय धर्म लानेके लिये—आध्यात्मिक विद्याका सहारा लेना अनिवार्य है । नहीं तो, विश्वका महाप्रलय समझिये ।'

(महात्मा विनोबा भावे)

मानवताका दिवाला

'आजकी राजनीतिने मानवताका दिवाला निकाल दिया है । बड़े-बड़े अधिकार अधार्मिक लोगोंके हाथोंमें जा पहुँचे हैं । नये-नये कानून बनानेकी क्या आवश्यकता ? जब हमारे पुराने कानूनी ग्रन्थ मौजूद हैं ? आधुनिक विधानोंसे नहीं, प्राचीन विधानोंसे ही भारतमें मानव-धर्म प्रकट हो सकता है ।' (काका कालेलकर)

आध्यात्मिकतासे मानवता

'केवल साइंससे आदमी राक्षस बन जायगा और वह आपसमें ही कट मरेगा । अगर साइंसको आध्यात्मिकतासे मिलकर काम किया जायगा तो आदमी अवश्य मानवता प्राप्त कर सकता है, जैसा कि भारतकी प्राचीन संस्कृतिमें हुआ था ।' (पं० जवाहरलाल नेहरू)

मानवताका अभ्यास

'जो लोग केवल दैवी सम्प्रदायवालोंमें ही नहीं, आसुरी सम्प्रदायवालोंमें भी आत्माका दर्शन करते हैं, वे ही मानव-धर्मके अभ्यासी माने जा सकते हैं । इसी कारण महामानव श्रीराम भगवान्‌ने अनेक बार रावणकी प्रशंसा की थी । निन्दा, घृणा और ईर्ष्या त्यागनेसे ही मानवता प्रकट होती है ।'

(श्रीमाधवराव गोळवल्कर (गुरुजी)

मानवताकी उदारता

'स्वनामधन्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी इतने उदार और दानवीर थे कि एक बार टिकटके लिये भी पैसे पास न रहे । जो पत्र आते थे, उनका उत्तर सादा लिफाफामें रखकर और पता लिखकर मेजपर रखते जाते थे । एक दिन एक मित्र मिलने आये तो वस्तुस्थिति ताड़ गये । नौकरको पाँच

रुपयेका एक नोट दिया और टिकट मँगाये। मित्रने अपने हाथसे टिकट लगाये और नौकरद्वारा पोस्टआफिस भिजवा दिये। उसके बाद जब वे मित्र आते थे—भारतेन्दुजी उनकी जेबमें पाँचका नोट जबरदस्ती डाल देते थे। एक दिन मित्रने कहा—'इसका मतलब यह है कि मैं आया ही न करूँ!' तब बाबूसाहबने हँसकर उत्तर दिया—'आपने ऐसे समयमें वह पाँचका नोट मुझे कर्ज दिया था कि यदि मैं रोजाना एक पाँचका नोट आपको दूँ तो भी सालभर बाद मेरी मानवता मुझसे कहेगी कि 'अब भी तुझपर उक्त मित्रका पाँच रुपया कर्ज बाकी है!' (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र)

मानवताकी नम्रता

"एक दिन अमेरिकाके राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन घोड़ेपर चढ़कर शामको हवाखोरीके लिये बाहर निकले। एक जगह सड़कपर देखा कि कुछ मजदूर एक भारी लट्ठा छतपर चढ़ाना चाहते थे। यदि एक आदमी और हाथ लगाता तो लट्ठा आसानीसे चढ़ जाता। जमादार खड़ा-खड़ा उन मजदूरोंको साहस दे रहा था। राष्ट्रपतिने जमादारसे कहा—'तुम हाथ क्यों नहीं लगा देते?' जमादारने लाल-पीली आँखें निकालकर जवाब दिया—'मैं जमादार हूँ। मेरा काम है मजदूरोंसे काम लेना न कि खुद हाथ लगाना।'

'अच्छा, यह बात है!' कहकर राष्ट्रपति घोड़ेसे कूद पड़े और लट्ठेमें भरपूर शक्तिके साथ दोनों हाथ लगा दिये। लट्ठा ऊपर पहुँच गया। तब राष्ट्रपतिने जमादारसे कहा—"सलाम जमादार साहब! यदि फिर कभी किसी लट्ठेमें हाथ लगानेके लिये एक आदमीकी जरूरत पड़े तो मुझे बुला लेना। मेरा नाम 'जार्ज वाशिंगटन' है!" यह सुनते ही जमादार दौड़ा और राष्ट्रपतिके चरणोंपर गिरकर रोने लगा। जब उसने क्षमा माँगी, तब राष्ट्रपतिने कहा—'तुम गरूरका अभ्यास कर रहे हो और मैं नम्रतामें मानवताका दर्शन कर रहा हूँ। इस शर्तपर क्षमा किया कि भविष्यमें कभी मानवताका निरादर न होने पाये।'

मानवताकी सभ्यता

"फ्रांसका राजा हेनरी चतुर्थ, पेरिस नगरमें अपने एक अङ्गरक्षकके साथ कहीं जा रहा था। मार्गमें एक भिक्षुकने अपनी टोपी उतारकर राजाको सलाम किया। जवाबमें राजाने भी अपनी टोपी उतारकर उस भिखारीको सलाम किया। अङ्गरक्षकने कहा—'सम्राट्! एक भिखारीको आप इस प्रकार सलाम करें—क्या यह उचित है?' सम्राट्ने उत्तर दिया—'यदि मैं इस प्रकार सलाम न करता तो मेरी मानवता मुझसे कहती कि फ्रांसका बादशाह एक भिखारीके समान भी सभ्य नहीं?" (सम्राट् हेनरी चतुर्थ)

मानवताका निर्माण

'मानवताके निर्माणके लिये हमारी विचार-चेतनाको वह दिशा लेनी होगी, जहाँ अनुभव और प्रयोगका मूल्य प्रधान हो। जब तन-मन-बुद्धि और प्राणपर मानवताका नियन्त्रण हो जायगा तभी राष्ट्रका निर्माण हो सकेगा। अतः राष्ट्रनिर्माणके पहले मानवताका निर्माण आवश्यक है।'

(डा० ऐलेक्सी कारेल)

मानवताहीन मनुष्य

'मानवताहीन मनुष्यके लिये यह कभी नहीं कहा जा सकता कि वह अपना स्वामी है। वह सागरकी एक लहरकी तरह है या उड़ते हुए उस पंखकी तरह है जिसे हर झोंका इधरसे उधर उड़ा देता है।' (जॉन फास्टर)

इन्सानियत (मानवता) की हत्या

"परमात्माने जब आदमीको दुनियामें भेजा, तब उसके दोनों हाथोंमें एक-एक घड़ा थमा दिया था। एक घड़ेमें सत्य भरा था, जो मानवताका निर्माणकारी है। दूसरे घड़ेमें सुख भरा था, जो विषयवासनाका निर्माण करता है। परमात्माने कहा था, तुम जगत्में जा रहे हो, जहाँ शैतान (अज्ञान) और माया (अविद्या) का राज्य है। प्राण देकर भी सत्यकी रक्षा करना और सुखको सदैव खर्च करते रहना। यह मत भूलना कि तुम्हारे दाहिने हाथमें सत्यका घड़ा है और बायें हाथमें सुखका घड़ा है।

"थके-माँदे इन्सानको एक पेड़की छायामें बैठनेसे नींद आ गयी। शैतान तो आदमीको भुलानेकी ताकमें सदा सावधान रहता ही है। उसने दाएँ हाथका घड़ा बायें तरफ और बायें तरफका घड़ा दाहिनी ओर रख दिया।

"परिणाम यह हुआ कि दुनियामें आकर इन्सान सुखकी रक्षा जी-जानसे करने लगा। इस प्रकार कामिनी-काञ्चन-कीर्तिद्वारा 'दानवता' का प्रचार होने लगा। साथ ही वह सत्यको बेरहमीके साथ फेंकने लगा; अतः मानवताका नामोनिशान मिट गया। तबसे कोई ऐसा नेता पैदा नहीं हुआ जो आदमीसे कहता कि दानवता छोड़ और मानवता धारण कर। इसी कारण प्रलयके बादल आकाशमें गरज उठे हैं।"

(खलील जिब्रान)

ये मानव !

नर-राक्षस

ये मनुष्य-वेशधारी राक्षस—दो पैर, दो हाथ, दो कान, दो नेत्र, मुख-नासिकायुक्त यह बिना पूँछका जरायुज प्राणी—मनुष्यकी आकृति मात्र तो मनुष्य नहीं बना देती किसीको।

नन्हें बच्चोंको अकारण रुला देनेवाले, उन्हें पीड़ा देनेवाले, किसी भी उत्तेजनामें, शिशुओंको पीटने-सतानेवाले ये मनुष्य—ये तो नर-राक्षस हैं।

नर-राक्षस ही हैं ये भी, जो वृद्धोंको सताते हैं। अपंग, असहाय वृद्धोंका परिहास करते हैं। उन्हें धक्का देकर, उनकी लठिया या और कोई वस्तु छिपाकर—दूर हटाकर उनकी व्याकुलतामें रस लेते—प्रसन्न होते हैं।

स्नेहभाजन बालक और सम्मानके पात्र वृद्धोंको सतानेवाले—कौन कहता है कि वे मनुष्य हैं। मनुष्याकार राक्षस !

नर-पिशाच

जो नारियोंके सतीत्वका सम्मान न कर सके—धिक्कार उसकी मनुष्यताको। सतीके सतीत्वकी रक्षाके लिये प्राण दे सके—मनुष्य वही ठीक मनुष्य है, किंतु नारीका सतीत्व जिनका विनोद है—पिशाच हैं—वे नर-पिशाच।

जाति, धर्म, समाज—अरे कहीं पिशाचोंका भी कोई धर्म होता है। उनकी कैसी जाति और कैसा समाज। उनकी पैशाचिकता—मानवताके मस्तकका यह कलङ्क।

देशके विभाजनके समय पैशाचिकताने जो नग्न नृत्य किया; किंतु क्या शान्त हो गया वह पिशाच। आये दिन छेड़-छाड़ एवं अनाचारके जो समाचार आते हैं—हमारे अपने समाजमें पिशाचोंकी संख्या—सती नारियोंपर अत्याचार करनेवाले इन नर-पिशाचोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, यह क्या चिन्ताकी बात नहीं ?

नर-पशु

आप मनुष्य हैं या पशु ? कभी सोचा है आपने ?

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

सभी प्राणी भोजन करते हैं, सब निद्रा लेते हैं, सब शरीर-रक्षाके लिये सावधान रहते हैं—डरते हैं, संतानोत्पादनकी क्रिया भी सबमें है। मनुष्यमें केवल एक विशेषता है। यह विशेषता ही उसे मनुष्य बनाती है और वह है धर्म। धर्म न हो तो मनुष्य और पशुमें कोई अन्तर नहीं।

ईश्वरमें आस्था नहीं, परलोक-पुनर्जन्ममें विश्वास नहीं, धर्मकी स्वीकृति ढकोसला जान पड़ती है—आजके ये प्रगतिशील मनुष्य—भोजन, वस्त्र, रक्षा एवं कामके लिये व्यस्त ये प्राणी—आप मुझे क्षमा करें, शास्त्र-सत्पुरुष एवं विचार भी इन्हें नर-पशुसे अधिक कुछ स्वीकार करनेको प्रस्तुत नहीं।

नर-असुर

असुर अपने ही प्राणोंको तृप्त करनेमें व्यस्त—शरीरको ही सब कुछ माननेवाला प्राणी।

भोग-भोग-भोग, बस, इन्द्रियोंके भोग कैसे मिलें, कैसे मिलें—धनके लिये रात-दिन हाय-हाय और धन भोगोंके लिये—राग-रंगके लिये। एक बार अपने चारों ओर देख जाइये। आजका समाज, आजका समृद्ध वर्ग, आजके सुशिक्षित सम्पन्न—भोगप्राप्तिके लिये बुरा से-बुरा काम करनेको तैयार—भोगोंमें ही रचा-पचा यह मानव-समुदाय—इसे आप मानव-समुदाय कहते हैं ? यह असुरोंका—नर-असुरोंका समुदाय।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

ये मानव !

नर-पिशाच

नर-पशु

नर-असुर

नर-राक्षस
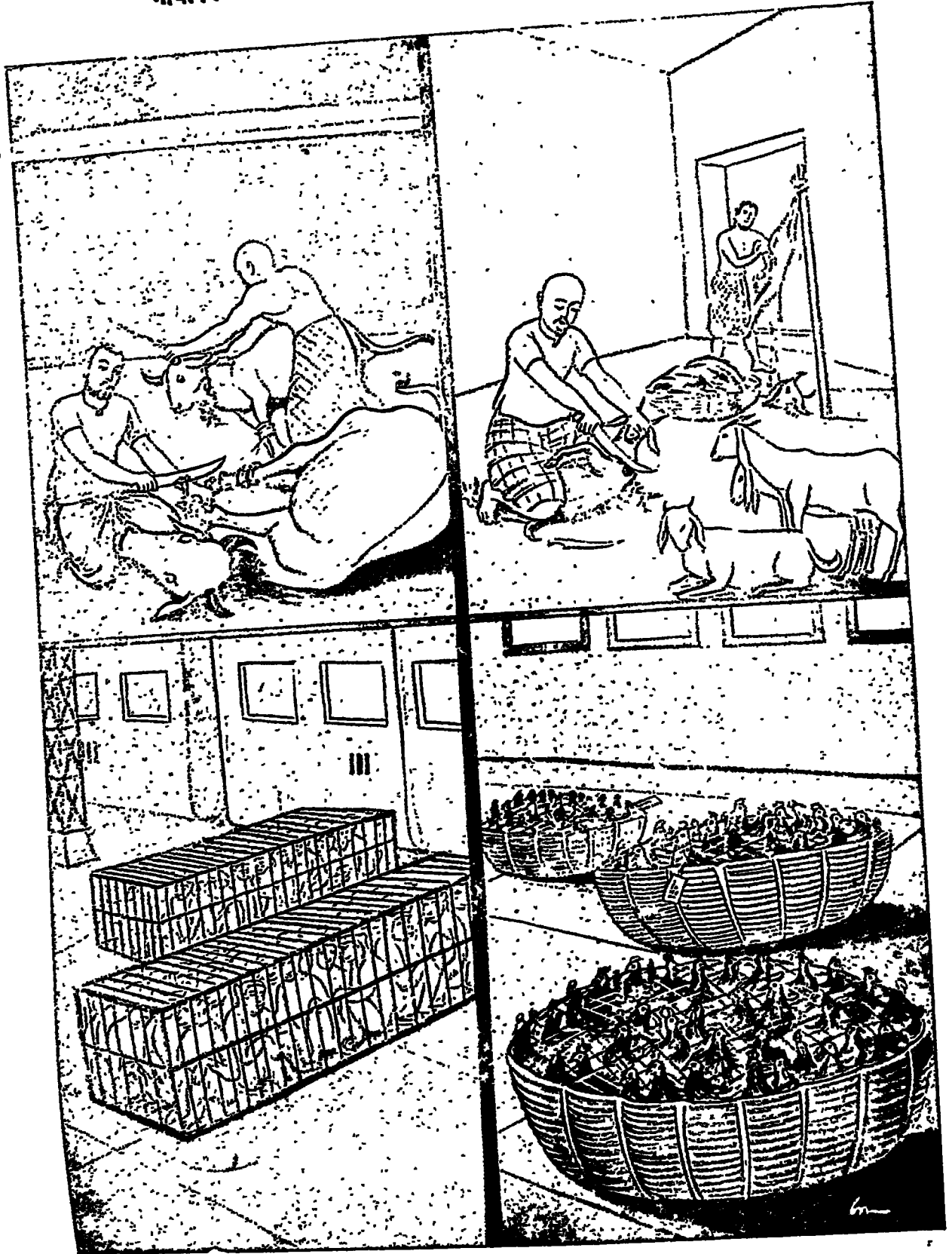
मानवकी निर्दयता

मानवकी निर्दयता

सामान्य वधशाला

अधिकांश नगरोंमें ये सामान्य वधशालाएँ किसी एक ओर बनी हैं। मानव अपनी इस पैशाचिकताके दर्शनसे स्वयं बचना चाहता है, किंतु उसकी जीभने उसे पिशाच जो बना रक्खा है। वधशालाएँ बंद हो जायँ—मांस कैसे मिलेगा उसे।

भेड़-बकरियोंके झुंड-के-झुंड आते हैं। उनका चीत्कार—उनका हृदय विदीर्ण करनेवाला आर्तनाद और कसाइयोंके छुरे, बराबर मांस कटनेकी खट्-खट्, मोरियोंसे बहता खून, चारों ओर फैले रक्ताक्त चमड़े, बिखरी हड्डियाँ, मँडराते-झपटते कौवे, चील तथा गीधोंके झुंड, भिनकती मक्खियोंका अपार समुदाय।

नरक न देखा हो तो कोई वधशाला देख लेनी चाहिये और ये नरक—ये हत्याकाण्ड मनुष्यने बना रखे हैं अपनी जीभकी तृप्तिके लिये। अपने पापी पेटके लिये। शानदार भवनोंमें विद्युत्से जगमगाते कक्षोंमें मेजोंपर वह मांस प्लेटोंमें सामने रखकर आजका मनुष्य मानवताकी चर्चा करना चाहता है! दुर्भाग्य!

विशेष वधशालाएँ

भगवान् श्रीराम एवं गोपाल श्रीकृष्णकी इस पवित्र भारत-भूमिपर विशेष वधशालाएँ भी हैं। भगवान् न करें आपको कलकत्ते या बम्बईकी वधशालाओंके समीपसे जाना पड़े!

गो-वध होता है वहाँ जिन्हें आप माता कहते हैं, जिनके दूधसे शरीर पला है, जिनके पुत्र हल खींचकर अन्न उत्पन्न करते हैं उन गायोंका, बैलोंका, बछड़े-बछड़ियोंका वध—सैकड़ोंकी संख्यामें नित्य होता है। वहाँका आर्तनाद—वहाँकी रक्तधारा .....।

वध जैसा वध नहीं। जीवित गाय बेंतोंसे भरपूर पीटी जाती हैं। पूरा शरीर सूज जानेपर उबलता जल डाल दिया जाता है उसके सर्वाङ्गपर और कई जगह तो जीवित दशामें ही उसकी खाल उधेड़ ली जाती है। यह इसलिये कि उसका चमड़ा सुकोमल रहे। आपको मुलायम चमड़ेके जूते, फीते, हैण्डबेग, मनीबेग आदि भी तो चाहिये! हाय! हाय!!

यमराजके नरक भी लज्जित हों ऐसी पैशाचिकता और वह मनुष्यके श्रृङ्गारको सम्पूर्ण करनेके लिये—इस चमड़ेके कोचपर बैठकर आरामसे मानवताकी चर्चा होती है! चमड़ेका निर्यात होता है, आँतोंका निर्यात होता है। गो-मांसका भी निर्यात होता है। हाय भारत!

ये पिंजड़ोंके बंदर

देखा होगा स्टेशनोंपर आपने बाँसके पिंजड़ोंमें बंद बंदरोंको एक-एक पिंजड़ेमें पंद्रह-बीसतक भी। वे परस्पर एक दूसरेको काटते हैं, झगड़ते हैं। ये बंदर विदेश भेजे जाते हैं। हमारी सरकारने इनके निर्यातकी आज्ञा दे रखी है, क्या होता है इन बंदरोंका? न पूछते तो अच्छा था। विदेशी वैज्ञानिक उनपर प्रयोग करते हैं। उन्हें रोगोंके इन्जेक्शन देकर रोगी बनाया जाता है और फिर उनपर दवाइयोंके प्रयोग होते हैं। होते रहते हैं यह प्रयोग जबतक घुल-घुलकर, पीड़ासे छटपटाकर बंदर मर न जाय। आवश्यक होनेपर जीवित दशामें ही उनपर चीरफाड़के भी प्रयोग होते हैं। पहुँचनेसे पूर्व ही भूख-प्याससे आधे जो मार्गमें मर जाते हैं, वे जीवित पहुँचनेवालोंसे अधिक भाग्यशाली कहलाने योग्य हैं।

सरकार योजनाओंको पूरा करना चाहती है। उसे विदेशी मुद्रा चाहिये। ये बाँध, ये सड़कें, ये विशाल उद्योग—भारतको औद्योगिक देशोंके समकक्ष पहुँचना है। उन्नति—प्रगति और उसके लिये धन चाहिये। बंदरोंके निर्यातसे धन मिलता है। मानवकी उन्नतिके लिये यह हत्याका धन .....।

ये मुर्गी-बत्तकें

देशमें अन्नकी कमी है। मुर्गी-पालन, बत्तक-पालन, मत्स्य-पालन—नाना प्रकारके हत्यामय उद्योगोंको—खूनके व्यापारोंको सरकार प्रोत्साहन दे रही है। अंडे, मछली, मुर्गी, बत्तक—अन्नका अभाव ये एक सीमातक दूर कर सकते हैं! टोकरोंमें भरी ये मुर्गियाँ और बत्तकें—इनका चीखना—किंतु मनुष्यके पेटकी आग यह तब देखे, जब मनुष्य मनुष्य हो। उसकी जीभ और उसका पेट—पिशाचके समान आज लपलपाती उसकी जीभ ..... !!

हिंदू-समाज और मनुष्यत्व

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

भारतवर्षमें बहुत-से लोग अक्षर-ज्ञानसे शून्य हैं। वे अत्यन्त दरिद्र हैं। बहुत-से लोग भरपेट भोजन भी नहीं पाते। उनका वेश मैला-कुचैला रहता है। उनकी झोंपड़ी-के छतमें हजारों छेद रहते हैं। उनकी तुलनामें पाश्चात्य देशके अधिकांश लोग पठन-पाठनमें समर्थ हैं। उनकी आर्थिक आय बहुत अधिक होती है। वेश-भूषा बहुत सुन्दर रहती है। अच्छे घरोंमें रहते हैं। विज्ञानके विविध आविष्कारोंकी सहायतासे उनके जीवनका स्तर बहुत ऊँचा हो गया है। तथापि विचारणीय विषय यह है कि मनुष्यत्वकी दृष्टिसे कौन बड़े हैं; क्योंकि मनुष्यत्व चरित्रके ऊपर निर्भर करता है और अत्यन्त दरिद्र आदमी भी मनुष्यत्वके हिसाबसे धनी व्यक्ति-की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है।

८ अप्रैल १९२१ ई० को मद्रासके समुद्र-तटपर महात्मा गांधीने एक वक्तृता दी थी। उसमें उन्होंने कहा था कि "सर टामस मनरोने जो मत प्रकट किया था, मैं आप-लोगोंको उसे स्वीकार करनेके लिये कहता हूँ और मैं भी उसका समर्थन करता हूँ कि 'भारतके साधारण लोग पृथ्वीके अन्य देशोंके साधारण लोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य हैं।'"

मनस्वी लेखक भूदेव मुखोपाध्याय (जिन्होंने अपने जीवनभरकी कमाई संस्कृत-शिक्षा तथा रोगियोंकी सेवामें दान कर दी थी) अपनी 'सामाजिक प्रबन्ध' नामक पुस्तक-में लिखते हैं कि एक बहुदर्शी अंग्रेजके साथ मेरी बात-चीत हुई। वे बोले कि 'यदि छोटा आदमी होकर जन्म लेना पड़े तो भारतका छोटा आदमी होना अच्छा है। अन्य सब समाजोंके लोग पशु-भावापन्न हैं, उनकी तुलनामें ये भारतीय लोग दिव्यभावापन्न हैं।' श्रीप्रमथनाथ बसुने अपनी 'राष्ट्रिय शिक्षा और आधुनिक प्रगति' (National Education and Modern Progress) नामक पुस्तकके ४१वें पृष्ठमें राजा राममोहन रायके निम्नलिखित मन्तव्यको उद्धृत किया है—'अपने देशके विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न अवस्थाके लोगोंका पर्यवेक्षण करनेपर हमारी यह धारणा हुई है कि जो किसान तथा ग्रामीण लोग नगरों तथा कचहरियोंसे दूर निवास करते हैं, वे लोग किसी भी देशके लोगोंकी अपेक्षा अधिक निर्दोष, संयत तथा उन्नतचरित्र हैं।'

जब पाश्चात्य देशोंके लोग भारतवासीकी अपेक्षा धनी और पठन-पाठनमें अधिक समर्थ हैं, तब यह क्यों कहा गया कि भारतके जन-साधारण अधिक सभ्य हैं? इसके उत्तरमें निम्नलिखित घटनाका उल्लेख किया जा सकता है—

एक उच्चशिक्षा-प्राप्त बंगाली इंगलैंडमें भ्रमणके लिये गये थे। इंगलैंडके निम्नस्तरके लोगोंमें धर्मभावना कैसी है, यह जाननेके लिये उन्होंने कोयलेकी खानके एक मजदूरसे पूछा—'तुम ईसाके बारेमें क्या जानते हो? मुझे बताओ।' उस मजदूरने समझा कि उस खानमें ईसा नाम-का कोई मजदूर काम करता है और भ्रमणकारी उसके बारेमें पूछता है। यह सोचकर वह मजदूर बोला—'उसका नम्बर क्या है, बताइये तो?' 'अर्थात् ईसा नामक मजदूर-को वह पहचानता नहीं है, उसका नम्बर जान लेनेपर शायद पहचान सके।'

भूदेव बाबूके परिचित बहुदर्शी अंग्रेजकी उक्तिके समर्थनमें हम न्यूयार्कके उच्च न्यायालयके न्यायाधीश जस्टिस वेज्ली हॉवर्ड लिखित (Is civilization worth having) नामक ग्रन्थसे निम्नलिखित अंश उद्धृत करते हैं। इसमें पाश्चात्य-समाजके निम्नस्तरके लोगोंके जीवनका एक सुन्दर चित्र खींचा गया है—

'आधुनिक नगरोंमें मनुष्य बड़े-बड़े बगीचे और पत्थरकी मूर्तियाँ बनाता है, पशुशालाएँ स्थापित करता है, अस्पताल खोलता है तथा गंदे और नमीसे भरे छोटे-छोटे तलघर भी बनवाता है; अँधेरे घर, अस्वास्थ्यप्रद आँगन पागल-खाने बनते हैं। छोटे गंदे घरोंमें बच्चोंका जन्म होता है, जो कभी नीला आकाश नहीं देख पाते और न निर्मल वायु सेवन कर पाते हैं। प्रसूत नारियाँ मृत्युकी शिकार होती हैं; उनको कभी हरे-भरे खेत देखने-को नहीं मिलते, निस्तब्ध वनोंमें भ्रमणका अवसर नहीं मिलता।

'और इसीका नाम है सभ्यता!

'मानवकी उन्नतिके साथ ही निम्नस्तरके जगत्की सृष्टि हुई है, जहाँ बालकोंको चोरी करके जीविका कमानेकी शिक्षा दी जाती है; बालिकाओंको रास्ते-रास्ते भटकनेकी शिक्षा दी जाती है—चोर, बदमाश, पाकट-मार तथा वेश्याओंकी निवासस्थली होते हैं । जो लोग अन्धकारमें भटकते हैं तथा पूर्वाकाशमें उपाजन्य आलोकके प्रकट होनेके पूर्व ही प्रेतात्माकी तरह अदृश्य हो जाते हैं, जो कभी कपड़े नहीं बदलते, जहाँ-तहाँ सो जाते हैं, सोनेकी कोठरीकी दुर्गन्धसे कष्ट पाते हैं तथा खटमल, पिस्सू आदिके काटनेसे व्याकुल रहते हैं, इन्हीं अभागोंके राज्यमें बच्चोंके गले दबाकर उनकी हत्या की जाती है, वृद्धोंकी कोई सेवा नहीं करता, रोगियोंकी शुश्रूषा नहीं करता, दुर्बलोंके ऊपर अत्याचार होता है, पागलोंको कष्ट दिया जाता है, तरुणोंको अपवित्र किया जाता है। इन सब जनाकीर्ण स्थानोंमें जब स्त्रियाँ जिस घरमें बच्चा जनती हैं, तब उसी घरमें उसके पास बैठकर ठग लोग जुआ खेलते हैं और आपसमें गाली बकते हैं। मरणासन्न मनुष्य मृत्युकी यन्त्रणाके ऊर्ध्वश्वास लेता है और उसके पास बैठकर चोर सिगरेट पीते हैं तथा मारपीट करते हैं, बच्चे खेलते हैं तथा तोतले शब्द बोलते हैं और उनके पास बैठकर वेश्याएँ शराब पीती हैं तथा प्रलाप करती हैं।'

(स्टेट्समैन १८ नवम्बर १९२८ से उद्धृत)

पढ़ने-लिखनेसे ही चरित्र उन्नत होगा, यह कहा नहीं जा सकता । सद्ग्रन्थोंके पढ़नेसे चरित्र उन्नत होता है। बुरी पुस्तकोंके पढ़नेसे चरित्र गिरता है। जो अशिक्षित हैं, वे भी यदि पवित्र लोगोंकी जीवनी सुनें तो उनके चरित्रकी उन्नति हो सकती है। हिंदू-समाजमें इसी प्रकारकी व्यवस्था थी। ऋषि-मुनि रामायण, महाभारत, पुराण आदिमें उच्च आदर्शकी जीवन-कथाएँ लिख गये हैं। नाटक और कथा-वार्ताके द्वारा वे ही आदर्श सर्वसाधारणमें प्रचारित होते थे, सबके चरित्रका विकास होता था, मनुष्यत्वकी उन्नति होती थी । कथा-वार्ता लोक-शिक्षाका एक श्रेष्ठ उपाय था। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्यायने इसका सुन्दर वर्णन किया है—

'गाँव-गाँवमें, नगर-नगरमें चौरीके ऊपर पीढ़ेपर बैठकर धुनी हुई रूई सामने रखकर, सुगन्धभरी जुहीकी माला सिरपर लपेटकर मोटे काले कथावाचकजी सीताके सतीत्व, अर्जुनकी वीरता, लक्ष्मणका सत्य व्रत, भीष्मकी जितेन्द्रियता, राक्षसीका प्रेम-प्रवाह, दधीचिका आत्मसमर्पण आदि विषयोंपर सुसंस्कृत व्याख्या सुन्दर कण्ठसे आलंकारिक भाषामें करते हुए आपामर सर्वसाधारणके सामने कथा कहते थे। इससे गाँवके हल चलानेवाले, रूई धुननेवाले, भरपेट रोटी खाने या न खानेवाले भी सहज ही शिक्षा प्राप्त कर लेते थे। वे सीख लेते थे कि 'धर्म नित्य है। धर्म दिव्य है, अपने ही सुखमें लगे रहना ठीक नहीं, जीवन परोपकारके लिये है; ईश्वर है और वह विश्वका सृजन, पालन और ध्वंस करता है; पाप-पुण्य हैं, पापके लिये दण्ड और पुण्यके लिये पुरस्कार मिलता है, यह जन्म अपने लिये नहीं है, दूसरोंके लिये है; अहिंसा परम धर्म है, लोकहित परम कर्तव्य है।' वह शिक्षा आज कहाँ है ? वे कथावाचक आज कहाँ हैं ? चले गये। क्यों ? नवयुवकोंकी कुरुचिके दोषसे। क्योंकि वे आज कथावाचक महाराजके मुखसे धर्म-कथा सुननेकी अपेक्षा दुश्चरित्रा स्त्रियोंका गाना सुनना या थियेटर (सिनेमा) देखना अधिक पसंद करते हैं । थोड़ी शिक्षा प्राप्त कर लेते, स्वधर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं; कदाचार, दुर्विचार तथा व्यर्थके वार्तालापमें रत युवकोंके दोषसे वह लोक-शिक्षाकी खान कथावाचक-वर्ग लुप्त हो गया।' (विविध प्रबन्ध, लोक-शिक्षा)।

हिंदूधर्ममें जिस प्रकार रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें उच्च आदर्शसे युक्त कथाएँ चित्ताकर्षक ढंगसे वर्णित हैं, वैसा अन्य धर्मके किसी ग्रन्थमें नहीं है तथा जन-साधारणमें इस प्रकार उच्च आदर्शका प्रचार करनेकी व्यवस्था भी नहीं है। इसी कारण हिंदू जनसाधारणका चरित्र अन्य देशोंके जनसाधारणकी अपेक्षा उन्नत था। इस विषयमें सर टामस् मनरो, महात्मा गांधी, राममोहन राय, भूदेव बाबूके परिचित अंग्रेज आदि सज्जनोंने भी अपनी सम्मति प्रकट की है । स्वभावतः मनुष्यकी भोगाकाङ्क्षा प्रबल होती है । चरित्रको उन्नत बनाना हो तो भोगाकाङ्क्षाको संयत करना पड़ेगा। बहुत लोगोंके पास वैसी संयम-शक्ति नहीं होती। इसी कारण समाजमें पुण्यकी अपेक्षा पापकर्म अधिक होते हैं। जब पापका बोझ अधिक बढ़ जाता है, तब समाज ध्वंस हो जाता है। सुमेर, मिश्र, बैबिलोनिया, असीरिया, ग्रीस, रोम आदिकी प्राचीन सभ्यताएँ इसी कारण ध्वंस हो गयीं। वैदिक समाजमें बहुत दिनोंतक जनसाधारणके चरित्रको बहुत ऊँचा रखा गया था, इसीसे यह संसारकी अन्य प्राचीन सभ्यताओंकी भाँति ध्वस्त नहीं हुआ । मेगास्थनिज, हुएनसांग आदि

विदेशी लोग प्राचीन हिंदुओंके उन्नत चरित्रके सम्बन्धमें सम्मति प्रदान कर गये हैं।

अन्य देशवासियोंकी अपेक्षा हिंदूलोग मनुष्यत्वके विषयमें अधिक उन्नत थे; कुछ ऐतिहासिक घटनाओंके द्वारा इसका समर्थन किया जाता है। ईसामसीहने यहूदियोंके धर्मग्रन्थ पुरातन बाइबिल (Old Testament) को अस्वीकार नहीं किया था, परंतु कुछ नयी बातें भी कही थीं। इसी अपराधके कारण यहूदियोंने उनको शूलीपर चढ़ा दिया। दूसरी ओर बुद्धदेवने वेदोंकी घोर निन्दा की थी; परंतु हिंदुओंने उनको उत्पीड़न करना तो दूर रहा, उल्टा यह प्रचार किया कि बुद्धदेव ईश्वरके अवतार हैं।

अरब लोगोंने एक हाथमें कुरान और दूसरेमें तलवार लेकर ईरानपर आक्रमण किया था। कुछ लोग ईरानसे भाग-कर जहाजसे भारतमें आये और उन्होंने यहाँके हिंदू राजासे पूछा—'क्या हमलोग आपके देशमें रहकर अपना धर्म पालन कर सकते हैं ?' हिंदू राजाने उनको रहनेकी सहर्ष सम्मति दी। ये ही लोग भारतमें 'पारसी' कहलाये।

जब पहले-पहल प्रोटेस्टैंट धर्मका प्रचार हुआ, तब रोमन कैथलिक लोगोंने अनेकों प्रोटेस्टैंट लोगोंकी हत्या कर डाली। पश्चात् जहाँ प्रोटेस्टेण्ट लोगोंकी संख्या अधिक हुई, वहाँ उन्होंने रोमन कैथलिक लोगोंकी हत्या की। हिंदू-भारतवर्षमें एक बार बौद्धधर्म प्रचलित हुआ, बौद्धधर्मका प्राबल्य हुआ, पश्चात् पुनः हिंदू-धर्मका प्रचार और पुन-रुत्थान हुआ। कौन धर्म श्रेष्ठ है, इसका साधारणतः तर्क और विचारके द्वारा निर्णय होता था। पाश्चात्य देशोंकी भाँति धर्मके नामपर नर-शोणितसे भारतवर्ष प्लावित नहीं हुआ।

कर्नल टॉड राजस्थानके इतिहासमें लिखते हैं कि 'एक ही समयमें दिल्लीके सिंहासनपर मुसल्मान बादशाह राज्य करते थे और चित्तौड़के सिंहासनपर हिंदूराजा राज्य करते थे। दिल्लीके सिंहासनके लिये आत्मीयजनोंमें प्रायः मार-काट और लड़ाई होती रहती थी। चित्तौड़का इतिहास स्वार्थत्यागी महान् चरित्रवान् पुरुषोंकी चरित्रगाथासे समुज्ज्वल है। चण्डने पिताके सुखके लिये स्वेच्छासे चित्तौड़के सिंहासनका अपना अधिकार त्याग दिया था। उसने भीष्मकी कथा सुनी थी, उसका अपना चरित्र भीष्मके द्वारा प्रभावित था।'

ऋषि कहते हैं कि हिंदूधर्मके सात पुण्यजनक अनुष्ठान पापके स्रोतको रोककर समाजकी रक्षा करते हैं—

> वेदैर्विप्रैश्च गोभिश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
> अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

अपौरुषेय वेद, ब्राह्मणादि वर्ण-विभाग, गोरक्षा, सती स्त्री, सत्यवादी, लोभहीन और दानशील पुरुष—इन सातोंने पृथ्वीको धारण कर रखा है। ये पुण्यजनक वस्तुएँ पापके प्रवाहको रोककर समाजको ध्वंस होनेसे बचाती हैं। सत्य-वादी, निर्लोभी तथा दानशील मनुष्यकी प्रशंसा सभी धर्मोंमें पायी जाती है। परंतु वेद, ब्राह्मण, गोसेवा तथा सती स्त्री—ये भारतकी ही विशेषताएँ हैं।

यहाँतक भारतके जनसाधारणके चरित्रके सम्बन्धमें जो लिखा गया, वह अतीतकालकी अवस्थाको लक्ष्यमें रखकर ही लिखा गया है। पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यताके प्रभावसे वह अवस्था क्रमशः परिवर्तित हो रही है। स्वाधीनताकी प्राप्तिके बाद यह परिवर्तन अति द्रुत गतिसे हो रहा है। हमारे राज-नीतिक नेताओंने यह निश्चय किया है कि अपने देशके जन-साधारणकी 'आर्थिक उन्नति' ही हमारे लिये सर्वप्रधान तथा सर्वप्रथम कर्तव्य है। पाश्चात्य देशोंकी आर्थिक अवस्था हमारी अपेक्षा उन्नत है, इसलिये वे लोग पाश्चात्य देशोंका अनुकरण करते हैं। पाश्चात्य देशोंमें अधिक कल-कारखाने हैं, अपने देशमें भी अधिक कल-कारखाने खोले जा रहे हैं। इस विषयमें विचारणीय यही है कि कल-कारखाने खोलनेपर बहुधा बेकारीकी समस्या बढ़ जाती है। कारखानेमें ५०० आदमी जितना कपड़ा तैयार कर सकते हैं, करघेमें उसी परिमाणका कपड़ा तैयार करनेमें दस हजार आदमियोंकी आवश्यकता होती है। अतएव जनसाधारणके कल्याणके लिये अधिक कारखाने न खोलकर करघेके द्वारा वस्त्र-उत्पादनमें सहायता करना तथा उत्साहित करना उत्तम है; क्योंकि ऐसा करनेसे अधिक लोगोंकी जीविकाका प्रश्न हल हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि कारखानेके मजदूरोंमें दुर्नीति फैलनेकी अधिक सम्भावना होती है। कुटीर-उद्योगमें काम करनेवाले श्रमिक अपने स्वजनोंके बीचमें रहते हैं, उनके लिये दुर्नीतिपूर्ण जीवन-यापनकी सम्भावना कम है। कारखानेके मजदूर बहुधा अपने गाँवसे दूर आत्मीय स्वजनोंसे रहित जन-समूहमें वास करते हैं, उनके लिये प्रलोभनमें पड़कर दुर्नीति-पूर्ण जीवन यापन करनेकी अधिक आशङ्का है। जान पड़ता है कि इन्हीं सब कारणोंसे मनुसंहितामें 'महायन्त्रप्रवर्तन' को उपपातक कहा है (मनु० ११। ६३)। कारखानोंके

मजदूर अधिक उपार्जन कर सकते हैं। परंतु मनुष्यत्वकी दृष्टिसे उनकी अधोगतिकी ही अधिक सम्भावना होती है। अतएव कारखाने खोलनेपर अधिक आग्रह प्रकट करना उचित नहीं।

हमारे राजनीतिक नेता केवल कल-कारखाने बढ़ानेसे ही संतुष्ट नहीं हैं। वे लोग सामाजिक व्यवस्थामें भी पाश्चात्त्य व्यवस्थाका अनुकरण करने लगे हैं और इसी कारण वे हिंदुओंकी ऋषिप्रणीत व्यवस्थाओंको ध्वंस करनेमें जुट गये हैं। वे समझते हैं कि पाश्चात्त्य समाजका अनुकरण करनेसे ही हमारी गणना सभ्यजातिमें हो पायेगी। उन्होंने जाति-विभागको मिटा देनेकी भी घोषणा की है। तलाक (विवाह-विच्छेद) का कानून बनाया है, कन्याओंके कम उम्रके विवाहोंपर रोक लगा दी है, गोहत्याका निषेध करनेमें अपनी अनिच्छा प्रकट की है। वैदिक सभ्यताके दीर्घ जीवनके कारण-स्वरूप चार विशेषताओंका हमने पहले उल्लेख किया है—(१) वेद, (२) ब्राह्मण, (३) गो-रक्षा, (४) सतीत्व। इन चारोंमेंसे तीनको 'राष्ट्रीय उन्नति'के नामपर ध्वंस करनेकी चेष्टा की जा रही है। जो लोग यह चेष्टा कर रहे हैं, वे यह नहीं समझ रहे हैं कि इन विशेषताओंने ही जनसाधारणके मनुष्यत्वको उन्नत कर रखा है। जिस पाश्चात्त्य समाजका अनुकरण करनेके लिये वे उद्यत हो रहे हैं, उस पाश्चात्त्य-समाजकी आज क्या दशा है ? वहाँ लोगोंने बहुत दिनों पहलेसे ही ईश्वरको सिंहासनसे उतारकर उनके स्थानमें विज्ञानको प्रतिष्ठित कर दिया है। सारा समाज उग्ररूपसे भोगोन्मुख होकर इहलोकको ही सर्वस्व मान रहा है। विज्ञानने पहले वायुयानकी सृष्टि करके बम-वर्षा करनेकी कुशलताका आविष्कार किया। पश्चात् ऐटम और हाइड्रोजन बमका आविष्कार किया है, जिससे आज सारी दुनिया संत्रस्त हो उठी है। रोम्याँ रोलाँ (Romain Roland) कहते हैं कि 'पाश्चात्त्य सभ्यता इस समय ज्वालामुखीके मुखपर अवस्थित है।' आइन-स्टाइन कहते हैं कि 'मनुष्य-जातिके निर्मूल होनेके लक्षण दिखलायी देते हैं।' जर्मन दार्शनिक स्पैंग्लर(Spangler) ने अपने Decline of the Weak नामक ग्रन्थमें सप्रमाण प्रतिपादन किया है कि 'मिश्र, ग्रीस, रोम आदि देशोंकी प्राचीन सभ्यता जिस प्रकार विनष्ट हुई है, पाश्चात्त्य सभ्यता भी उसी प्रकार विनाशोन्मुख है।' यदि हम पाश्चात्त्य सभ्यताका अनुकरण करते हैं, ऋषियोंकी कल्याणकारी व्यवस्थाओंको यदि कुसंस्कारपूर्ण तथा अनिष्टकारी मानकर त्यागते हैं, यदि सदाचारका पालन नहीं करते; जीवनसे यदि धर्मको निकाल देते हैं, इहलोककी उन्नतिको ही जीवनका सार मानते हैं, तो हम अधिक धनी हो सकेंगे कि नहीं—इसमें तो संदेह है; परंतु इस बातमें कोई संदेह नहीं कि हमारा मनुष्यत्व कम हो जायगा तथा पाश्चात्त्य सभ्यताकी भाँति हमलोग भी संकटापन्न अवस्थाको प्राप्त हो जायँगे। ऐसा न करके यदि ऋषि-प्रणीत वैदिक सभ्यताको हम पुनः प्रतिष्ठित कर सके तो पूर्ववत् मनुष्यत्वकी उन्नतिकी रक्षा कर सकेंगे तथा पारलौकिक कल्याणके साथ ऐहिक उन्नतिका सामञ्जस्य कर सकेंगे।

प्रभो ! अपने द्वारपर पड़ा रहने दीजिये

नाचत ही निसि-दिवस मर्‍यो।
तब ही तें न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्‍यो॥
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‍यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वाँग कर्‍यो॥
देव-दनुज, मुनि, नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‍यो।
मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हर्‍यो॥
थके नयन, पद, पानि, सुमति, बल, संग सकल बिछुर्‍यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव-भय बिकल डर्‍यो॥
जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसर्‍यो।
तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‍यो॥

—तुलसीदासजी

वर्ण-व्यवस्थासे मानवताका पोषण तथा संरक्षण

(लेखक—श्रीतारा पण्डित एम्०ए०)

अपने देशकी वर्णाश्रम-संस्था बहुत प्राचीन है। समाज-संघटन सुसम्बद्ध हो और प्रत्येक मानव अपने गुणोंका विकास कर सके, मानवकी वैयक्तिक उन्नति हो और उससे समाजकी समुन्नति हो—इस उच्च विचारपद्धतिके अनुसार ही वर्ण-संस्थाका जन्म हुआ। समूचे समाजके चार मुख्य वर्ग निर्माण किये गये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(गीता ४। १३)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'मनुष्यके गुण-कर्म-विभागानुसार मैंने ही चार वर्णोंकी सृष्टि की।' अथवा यह कहिये कि भगवान्‌ने प्रेरणा की और मनुष्योंने आपसमें समझ-बूझकर ये चार वर्ण निर्माण किये। प्रत्येक वर्णके कर्म नियत कर दिये गये और सब कोई यथाशक्ति अपने-अपने वर्ण-विभागके अनुसार समाजकी सेवा करने लगे। सबमें उच्च वर्ण ब्राह्मणका रहा और उसके ये स्वाभाविक कर्म रहे—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
(गीता १८। ४२)

—मनका शमन, इन्द्रियोंका दमन, आन्तर-बाह्य शुद्धि, धर्मके लिये कष्ट सहना और क्षमाभाव रखना, मन, इन्द्रिय और शरीरकी सरलता, आस्तिक-बुद्धि, शास्त्रोंका ज्ञान और परमात्म-तत्त्वका अनुभव।

ब्राह्मण-वर्गके सभी व्यक्ति उपरिनिर्दिष्ट सम्पूर्ण कर्मोंका सुव्यवस्थितरूपसे सम्पादन करने लगे। इससे कनिष्ठ वर्ग क्षत्रियका रहा और उसके स्वाभाविक कर्म थे—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
(गीता १८। ४३)

शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान और स्वामिभाव (निस्स्वार्थ होकर सबका हित-चिन्तन, शास्त्राज्ञानुसार शासन और प्रेमपूर्वक पुत्रवत् प्रजाका पालन)।

क्षत्रिय भी अपने स्वभावोचित कर्मोंका निष्ठाके साथ पालन करने लगे। इससे नीचेका वर्ग वैश्योंका रहा, उसके स्वाभाविक कर्म थे—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
(गीता १८। ४४)

—खेती, गो-पालन और सत्यव्यवहारके अनुरूप मालकी खरीद-और विक्री। सबसे कनिष्ठ वर्ण शूद्रोंका रहा, उसका स्वभावज कर्म था—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।
(गीता १८। ४४)

—अन्य सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्र वर्णका स्वाभाविक कर्म निश्चित हुआ।

प्रत्येक वर्णके सब लोग अपने-अपने स्वाभाविक कर्म निष्ठा और तत्परताके साथ करने लगे। इससे समाजके सभी मनुष्य उद्योगी बने। कारण, सब किसीका कर्म नियोजित था। समाजका प्रत्येक घटक इस प्रकार सुखपूर्वक रहने लगा और वर्ण-व्यवस्थासे सुमर्यादित आर्योंका समाज उच्च लक्षणोंसे युक्त होकर श्रेष्ठताको प्राप्त हुआ। सब कोई सचाई और ईमानदारीसे बरतने लगे। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था लाभकारिणी सिद्ध हुई। इससे समाजकी मानवताका आप ही पोषण और संरक्षण होने लगा। व्यावहारिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकारकी उन्नति अनायास ही हो चली।

परंतु वर्णाश्रम-व्यवस्था जब उन्नतिके अत्युच्च शिखरपर पहुँच गयी, उसके पश्चात् जनताकी विचार-पद्धति धीरे-धीरे बदलने लगी। जिसे देखिये, वही अपने नियत कर्मसे विरत होने लगा। 'मैं अमुक नियत कर्म ही क्यों करूँ ?' यह प्रश्न उसके सामने उपस्थित हुआ। वर्णाश्रम-व्यवस्था उसे संकुचित प्रतीत होने लगी। जो चाहें, हम करें—ऐसी स्वैर वृत्ति उसमें उत्पन्न हुई और वह स्वेच्छानुसार नाचने लगा। तत्कालीन मानव-समाजकी विचार-सरणिका, मानो अनुमोदन करनेके लिये ही मिश्र विवाह होने लगे। ये मिश्रवर्णी अब किस वर्णका अवलम्बन करें, यह नया प्रश्न उपस्थित हुआ और सब कोई स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होने

लगे। जिसके मनको जो भाता, वही कर्म वह करने लगता। परिणाम यह हुआ कि मानवकी उन्नतिके लिये जो वर्ण-संस्था भगवान्‌ने प्रतिष्ठित की थी, वह ध्वंसोन्मुख हुई और समाजका कोई नियन्त्रण व्यक्तियोंपर न रहा। कितने ही लोग बेकार हो गये। अब क्या करें—कौन-सा काम या धंधा करें, यह समझनेमें व्यक्ति असमर्थ हो गया। मानव इस प्रकार बेकार बैठा रहने लगा। धीरे-धीरे दुर्गुणोंने उसे धर दबाया। मानवकी सामाजिक उन्नति तो कुण्ठित हो ही गयी, उसकी आध्यात्मिक अवनति भी होने लगी।

वर्णाश्रम-व्यवस्था यदि सुस्थिर होती तो आज भी समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति होती देख पड़ती। इसलिये वर्ण-व्यवस्थाका बन्धन मानवके लिये, व्यक्ति और समाजके लिये आवश्यक था, आज भी है। मानवकी स्वैर मनः-सरिताको सुनियन्त्रित रखनेके लिये यदि वर्णाश्रम-व्यवस्थाका बाँध बाँधा जाता तो आध्यात्मिक और नैतिक कृषिके लिये भरपूर जल मिलता, उससे उपज भी बढ़ सकती थी। उसके अभावमें जहाँ जलकी आवश्यकता है, वहाँ जल दुष्प्राप्य, और जहाँ उसकी आवश्यकता नहीं, वहाँ उसकी बहुलता हो गयी। इससे दुर्गुणोंके खाल-खड्डोंमेंसे होकर यह नदी बहती रहेगी और कुविचारोंका जंगल ही उससे बढ़ता रहेगा। वर्णाश्रम-संस्थासे ही मानवताका पोषण और संरक्षण उत्तम रीतिसे हो सकता है, यही अपने समाजका सत्यानुभव है।

मानवके चित्त-विकासका साधन—पञ्च-महायज्ञ

(लेखक—डा० श्रीनृपेन्द्रनाथ राय चौधरी)

वैदिक धर्मकी साधना दो मार्गोंमें विभक्त है—एक है निवृत्तिमार्ग और दूसरा प्रवृत्तिमार्ग। जो साधक बालब्रह्मचारी हैं अथवा संसारत्यागी हैं—वे ही निवृत्तिमार्गके साधक हैं। ब्रह्माके मानसपुत्र सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार, (अर्थात् चतुस्सन), देवर्षि नारद तथा व्यास-पुत्र शुकदेवजी प्रभृति महात्मा निवृत्तिमार्गके साधकोंके आदर्शरूप हैं। मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि आदि सप्तर्षि तथा विदेहराज जनक और धर्मराज युधिष्ठिर आदि संसाराश्रमी लोग प्रवृत्तिमार्गके साधक हैं। शास्त्रोंमें संसाराश्रम या गृहस्थाश्रमको सर्वश्रेष्ठ आश्रम बतलाकर इसकी प्रशंसा की गयी है; क्योंकि अन्य आश्रमके लोग—जैसे ब्रह्मचारी और भिक्षु—जीविकाके लिये गृहस्थोंके ऊपर ही निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रममें रहकर जितना परोपकार किया जा सकता है, उतना दूसरे आश्रमोंमें नहीं किया जा सकता। परंतु संसाराश्रममें रहकर धर्माचरण करना बहुत सहज नहीं है। इच्छासे हो या अनिच्छासे, संसारयात्राके निर्वाहके लिये गृहस्थमात्रको प्रतिदिन किसी-न-किसी प्रकार जीवहत्याके पापसे लिप्त होना पड़ता है। जो लोग मत्स्य-मांस-भोजी हैं, उनकी तो बात ही क्या, जो निरामिष-भोजी हैं, वे भी इच्छा न होते हुए भी इस पापके भागी बने बिना नहीं रह सकते। गृहस्थी चलाते समय गृहस्थको ऐसे अनेक व्यवहार करने पड़ते हैं, जिनके कारण यदि हम कहें कि प्राणिहिंसाके पापसे पूर्णतया छुटकारा नहीं पाया जा सकता तो अत्युक्ति न होगी। गृहस्थोंके नित्य प्रयोजनकी वस्तुओंमें कण्डनी (धान कूटनेकी ऊखल), पेषणी (जाँता, चक्की, सिल-लोढ़ा), चुल्ली (चूल्हा), उदकुम्भी (कलसी) और मार्जनी (झाड़ू)—इन पाँचोंका व्यवहार करते समय जानमें या अनजानेमें चींटी तथा दूसरे नन्हे-नन्हे कीटाणुओंका प्राणनाश प्रायः अपरिहार्य हो जाता है। इन पाँच वस्तुओंके व्यवहारसे होनेवाली प्राणिहत्याको शास्त्रमें 'पञ्चसूना' नाम दिया गया है। गृहस्थमात्र इहलोकमें सुख-सम्पद् और परलोकमें स्वर्गवासकी कामना करते हैं; परंतु इस पञ्चसूनाके कारण उनके स्वर्गका मार्ग रुद्ध हो जाता है।

पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति।

तब उपाय क्या है?—उपाय है। शास्त्र कहते हैं—

पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति।

गृहस्थ यदि नित्य पञ्चयज्ञका अनुष्ठान करे तो पञ्चसूनाके पापसे निष्कृति पा सकता है। ये पञ्चयज्ञ हैं—

देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च।
नृयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्च पञ्चयज्ञाः प्रकीर्तिताः॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

शास्त्रोंमें कहीं-कहीं पञ्चयज्ञको 'पञ्च-महायज्ञ' के नामसे कहा गया है। ये पञ्च-महायज्ञ कैसे किये जायँ—इस सम्बन्धमें केशव काश्मीरीकृत गीताकी तत्त्वप्रकाशिका टीकासे एक

वचन उद्धृत किया जाता है, जो इस प्रकार है—

पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः ।
अमी पञ्चमहायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः ॥

अर्थात् प्रतिदिन होमके द्वारा देवयज्ञ, बलि या भोज्य वस्तुके द्वारा भूत (प्राणी)-यज्ञ, तर्पणके द्वारा पितृयज्ञ, अतिथि-सत्कारके द्वारा नृयज्ञ और शास्त्रीय ग्रन्थोंके अध्ययनके द्वारा ब्रह्मयज्ञ (अथवा ऋषियज्ञ) किया जाता है।

देवताके उद्देश्यसे शुद्ध वस्तुके त्याग या उत्सर्गको 'यज्ञ' कहते हैं। तैत्तिरीय श्रुतिमें कहा गया है—यज्ञो वै विष्णुः।

विष्णु भगवान् स्वयं यज्ञरूप हैं। विष्णुके वराह-अवतारका 'यज्ञ-वराह' या 'यज्ञमय वपु' के रूपमें उल्लेख किया गया है। यज्ञ मनुष्य और देवताके बीचमें संयोग-स्थापनाका सेतु है। इसी कारण गीतामें कहा गया है—'देवान्भावयतानेन' इत्यादि। अर्थात् 'तुमलोग यज्ञके द्वारा देवताओंको संवर्द्धित करो और देवतालोग वृष्टि आदिके द्वारा अन्न उत्पन्न करके तुमको संवर्द्धित करें। इस प्रकार परस्पर संवर्द्धनके द्वारा तुम परम कल्याणको प्राप्त कर सकोगे।' देवताओंके अनुग्रहसे प्राप्त वस्तु उनको निवेदन न करके जो स्वयं आत्मसात् करता है, उसको गीतामें 'स्तेन' या 'चोर' कहा गया है। और भी कहा गया है कि जो केवल अपने लिये रसोई बनाता है, दूसरे किसीको भाग नहीं देता, वह अन्न नहीं खाता प्रत्युत पाप-भक्षण करता है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। (३ । १३)

वेदमें आया है—अग्निमुखा वै देवाः। अर्थात् अग्निके मुखसे ही देवतालोग आहार ग्रहण करते हैं। अतएव श्रौतयज्ञ या वैदिक यज्ञमें देवताओंके उद्देश्यसे कुछ उत्सर्ग करना हो तो उसे अग्निमें ही आहुति देते हैं। स्मार्त्त या पौराणिक यज्ञमें नैवेद्य आदि यदि मन्त्रपूर्वक निवेदित किया जाय तो देवतालोग उसे ग्रहण करते हैं।

परंतु कहा जाता है कि श्रौत या स्मार्त—किसी भी प्रकारका यज्ञ हो, उसमें केवल त्रैवर्णिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य)—का ही अधिकार है, स्त्री-शूद्र आदिका अधिकार नहीं है। तो फिर क्या वे पञ्चसूनाके द्वारा किये गये पापोंसे मुक्त नहीं हो सकते? निश्चय ही किसी-किसी वैदिक यज्ञमें शूद्रका भी अधिकार है। शास्त्रोंमें इसका उल्लेख देखनेमें आता है। इस प्रबन्धमें मेरे विचारसे इस विषयकी आलोचनाका प्रयोजन नहीं।

सर्वोपनिषदोंके सार गीताके भीतर हम देखते हैं कि भगवान् कहते हैं—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि', 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।' 'सब यज्ञोंमें मैं ही जपरूप यज्ञ हूँ' 'मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ।' श्रीभगवान्‌की निजी उक्तिसे बढ़कर प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है? अतएव यदि हम यह कहें कि प्रतिदिन, कम-से-कम प्रातः और सायं, भगवान्‌का नामजप करनेपर पञ्चयज्ञके अन्तर्गत 'देवयज्ञ' भलीभाँति सम्पन्न हो जा सकता है, तो यह अशास्त्रीय न होगा। जो सर्वयज्ञोंके ईश्वर हैं, उनका नाम-जप या कीर्तन करनेपर केवल देवयज्ञका अनुष्ठान ही नहीं होता, बल्कि सर्वार्थ-सिद्धि होती है। भगवान्‌का नाम पुकारनेका नाम, प्राकृत नाम नहीं है। उस नाम और नामीमें अभेद है।

नाम, विग्रह, स्वरूप—तिने एक रूप।
तिने भेद नाहि तिन चिदानन्दरूप॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

नाम, विग्रह औ स्वरूप—तीनों एकरूप।
तीनों हैं अभिन्न, तीनों चिदानन्द रूप॥

जो लोग शास्त्रीय प्रमाण चाहते हैं, उनको पद्मपुराणका यह श्लोक याद करनेके लिये मैं कहूँगा—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

अर्थात् नाम और नामीकी अभिन्नताके कारण चैतन्य-रसविग्रह श्रीकृष्णके समान उनका नाम भी चिन्तामणिके समान ही पूर्ण, शुद्ध, नित्य और मुक्त है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि जिसकी जिह्वापर भगवान्‌का नाम रहता है, उसको सब प्रकारकी तपस्या, सभी यज्ञोंमें आहुति-प्रदान, समस्त तीर्थोंमें स्नान तथा सम्पूर्ण वेदाध्ययनका फल प्राप्त होता है। (३ । ३३ । ७)

अतएव आपामर जनसाधारणका जिसमें अबाध अधिकार है, उस श्रीभगवान्‌के नामका जप करके नित्य 'देवयज्ञ' सम्पादन करना ही वर्तमान युग और वर्तमान समाजके लिये विशेष कल्याणप्रद है।

पञ्चमहायज्ञका द्वितीय अङ्ग है—भूतयज्ञ। यह 'वैश्वदेव यज्ञ'के नामसे पुकारा जाता है। महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठ दीक्षितने इसके स्वरूपकी व्याख्या इस प्रकार की है—'विश्वं सर्वंजातीयं प्राणिजातं देवो देवता यस्मिन् तत् विश्वदेवं स्वार्थे तद्धिते वैश्वदेव नामकम्।' अर्थात् जिस यज्ञमें विश्वके समस्त

प्राणियोंको देवता समझा जाता है, उसका नाम है—"वैश्वदेव-यज्ञ।' आर्य ऋषियोंकी उदारता कितनी दूरतक विस्तृत थी, उनकी अनुभूति किस प्रकारकी दिव्यदृष्टिके ऊपर प्रतिष्ठित थी—इसका प्रकृष्ट प्रमाण यह वैश्वदेव-यज्ञ है। यह सत्य है कि वर्ण-विभागके कारण कर्म-विभाग है। अधिकार-भेद भी है। परंतु इसमें किसीके प्रति घृणा नहीं है, उपेक्षा नहीं है। मनुष्यकी तो बात ही क्या, इतर—पशु-पक्षी आदिके प्रति भी कर्तव्य-साधनका उपदेश उन्होंने दिया है भूतयज्ञ या विश्व-देव-बलिके विधानद्वारा। महाभारतके वनपर्वके द्वितीय अध्यायके ४९वें श्लोकमें कहा गया है कि 'प्रतिदिन प्रातः और संध्याकालमें गृहस्थ कुत्ते और पक्षियोंके आहारके लिये भूमिपर कुछ-कुछ अन्न रख दें।' हमारे समाजमें बहुत दिनोंसे एक शिष्टाचार प्रचलित है कि भोजनमें कुछ शेष छोड़ देते हैं। दूसरे प्राणियोंके आहारके लिये कम-से-कम एक मुट्ठीभर अन्न पत्तेपर रख देते हैं। यह भूत-यज्ञका अनुकल्प है। अवश्य ही जैनी लोग विश्वदेव-बलि या भूतयज्ञ अतिनिष्ठाके साथ सम्पादन करते हैं। परंतु इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'—यह मन्त्र जैन या बौद्ध लोगोंसे लिया गया है। यह तो अति पुरातन ऋषि-वाक्य है, पञ्च-महायज्ञ-का अविच्छेद्य अङ्ग है।

तृतीय है—पितृ-यज्ञ। उपनिषद्में आता है—'पितृदेवो भव, मातृदेवो भव' अर्थात् संतानके लिये माता-पिता देवता (भगवान्) के तुल्य ही पूज्य हैं। मातृ-पितृभक्तिके बहुत-से उपाख्यान पुराणों और इतिहासोंमें वर्णित हैं। 'पिता स्वर्गः पिता धर्मः' मन्त्रसे सब लोग परिचित हैं। मन्त्रमें केवल पिताका उल्लेख रहनेपर भी वह माताके लिये भी समान-रूपसे प्रयोज्य है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

धर्मके अवतार युधिष्ठिर कहते हैं कि 'माता पिताकी अपेक्षा भी गरीयसी है।' केवल पिता ही क्यों? माता स्वर्गसे भी बढ़कर है—'स्वर्गादपि गरीयसी।' 'नास्ति मातृसमो गुरुः।' बहुत लोगोंकी यह धारणा है कि पितृपक्षमें तिल-तर्पण, पिता-माताकी मृत्युतिथिपर वार्षिक श्राद्ध तथा विवाह, अन्नप्राशन आदि माङ्गलिक कार्योंमें नान्दीमुख श्राद्ध तथा गयामें पिण्डदान करनेसे माता-पिताके प्रति यथेष्ट कर्तव्य-पालन हो जाता है। अवश्य ही, जो लोग इन कर्तव्योंका पालन करते हैं, वे इस नास्तिकताके युगमें माता-पिताके लिये बहुत कुछ करते हैं—यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता; परंतु शास्त्रनिष्ठ सदाचारी लोग जानते हैं कि पितृ-यज्ञ नित्य ही करनेका विधान है। प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके या स्नानके समय परलोकगत माता-पिताका जलके द्वारा तर्पण करना पितृ-यज्ञका मुख्य अङ्ग है। निश्चय ही, इसके साथ-साथ यदि कोई पुरुष गरीबोंको धन, वस्त्र या अन्न दान करता है तो वह बहुत ही उत्तम है। सम्भव है, कुछ लोग कहें कि इस कर्म-व्यस्तताके युगमें नित्य तर्पणके लिये समय कहाँ है। यद्यपि समय तो श्रद्धा होनेपर मिल सकता है, तथापि जो लोग नित्य तर्पण करनेमें अशक्त हैं, वे तर्पणके सब मन्त्रोंको न पढ़कर केवल 'देवान् तर्पयामि, ऋषीन् तर्पयामि, पितॄन् तर्पयामि' अथवा 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत् तृप्यताम्'—इन वाक्योंका उच्चारण करके जल देंगे तो पितृ-यज्ञ सुसम्पन्न हो जायगा। 'तर्पण' शब्दमें त्याग (अर्पण) और तृप्तिका भाव निहित है। त्यागमें ही यथार्थ सुख है, भोगमें नहीं—यही शास्त्रकी वाणी है। भोगमें सुख है, यदि भोगकी वस्तु और पाँच आदमियोंमें बाँटकर भोगी जाय। जो लोग ऐसा करते हैं, शास्त्रमें उनको 'विघसाशी' अथवा अवशिष्ट भोजन करनेवाला कहा गया है। गीतामें भगवान्ने उनको 'यज्ञशिष्टाशिनः' अर्थात् यज्ञावशेष भोजन करनेवाले कहा है तथा यह भी कहा है कि जो यज्ञावशेष भोजन करते हैं (अर्थात् पाँच आदमियोंको खिलाकर पीछे स्वयं खाते हैं), वे सब प्रकारके पापसे मुक्त हो जाते हैं; इसके विपरीत जो केवल अपने भोजनके लिये ही पाक करते हैं, वे पाप ही भोजन करते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(गीता ३। १३)

आचार्य शंकर, रामानुज, मधुसूदन सरस्वती, श्रीधर स्वामी और विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति गीताके सुप्रसिद्ध टीकाकारोंने 'सर्वकिल्बिषैः' शब्दके द्वारा 'पञ्चसूना' कृत पापोंका ही संकेत किया गया है और यहाँ 'यज्ञ' शब्दके द्वारा पञ्च-महायज्ञका ही उल्लेख हुआ है—ऐसा अभिमत प्रकट किया है। ऋषियोंका हृदय कितना उदार था, उनकी अनुभूति कितनी गम्भीर थी—इसकी उपलब्धि तर्पणके मन्त्रोंका पाठ करनेसे सहज ही हो जाती है। हम केवल अपने माता-पिता आदि आत्मीय-बान्धवोंका ही तर्पण नहीं करते, अपितु देवताओं, असुरों, सर्पों, पक्षियों—यहाँ-तक कि स्थावर-योनिके वृक्षादि तकका तर्पण करते हैं। हमारी श्रद्धा और शुभेच्छा—'आप्यायन' सबके लिये, विश्वके

सब प्राणियोंके लिये है; देश-काल-पात्रकी क्षुद्र सीमामें वह आबद्ध नहीं है।

इसके बाद नृ-यज्ञ आता है। नृ-यज्ञका अर्थ है—अतिथि-सत्कार। 'सर्वत्राभ्यागतो गुरुः'—अतिथि गृहस्थके लिये देवताके समान, गुरुके समान पूज्य है। सब शास्त्रोंने अतिथि-सत्कारकी महिमा अति विस्तारपूर्वक वर्णित हुई है। इस बातको प्रायः सब लोग जानते हैं, यहाँ इसकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं; परंतु आजकल कालके प्रभावसे राष्ट्र और समाजका जो आमूल परिवर्तन हो गया है, उसमें आतिथ्यका स्थान अब नहीं रहा—यह कहना ही पड़ता है। पहले बहुतेरे सम्पन्न गृहस्थोंके घरोंमें पृथक् अतिथिशाला होती थी और समाजके उच्च स्तरके व्यक्ति भी आवश्यकता पड़नेपर अपरिचित विदेशी गृहस्थके घरमें अतिथिके रूपमें उपस्थित होनेमें संकोच नहीं करते थे। इस व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके युगमें कोई किसीका मुखापेक्षी होना पसंद नहीं करता। देशमें प्रायः सर्वत्र होटल, रेस्तोराँ और चायकी दूकानें हो गयी हैं। लोग इन सब जगहोंमें खाते हैं, किसीके घरमें जाकर आतिथ्य स्वीकार करना नहीं चाहते। गृहस्थके भी मनोभाव बदल गये हैं, अतिथिके आनेपर लोग प्रसन्न नहीं होते हैं। 'सपर्या' या पूजा करना तो दूर रहा, अतिथिको प्रायः 'अर्द्धचन्द्र' देकर विदा कर दिया जाता है, अथवा पुलिसके हाथ सौंप दिया जाता है। मुठिया भिक्षा देनेकी प्रथा भी प्रायः नष्ट होती जा रही है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि नृ-यज्ञ एक प्रकारसे समाप्त हो गया है। अवश्य ही पूजा-पार्वणादिमें तथाकथित 'दरिद्रनारायण-सेवा' या कंगालोंको भोजन कराया जाता है। यह किसी अंशमें नृ-यज्ञका अधिकार ग्रहण कर रहा है, यह कहा जा सकता है।

इसके बाद 'ब्रह्म-यज्ञ' आता है। 'ब्रह्म' शब्दका एक अर्थ है—वेद; अतएव 'ब्रह्म-यज्ञ' कहनेसे मुख्यतः वेद-पाठका बोध होता है। परंतु वेदमें सबका अधिकार नहीं है, इसके सिवा वेदका पठन-पाठन बहुत कम स्थानोंमें है। ब्रह्म-यज्ञका दूसरा नाम है—'ऋषि-यज्ञ'। ऋषियोंके द्वारा प्रणीत किसी शास्त्र-ग्रन्थका पाठ करनेसे ही 'ऋषि-यज्ञ' सम्पन्न हो जाता है। निष्ठावान् व्यक्तियोंमें बहुतेरे प्रतिदिन नियमपूर्वक गीता, चण्डी, भागवत आदि ग्रन्थोंके एक या अधिक अध्यायोंका पाठ करते हैं। इसके द्वारा उनका ऋषि-यज्ञ अनुष्ठित हो जाता है। इस प्रकारके पाठका फल कितना तृप्तिप्रद होता है, यह सभी पाठ करनेवाले जानते हैं। संस्कृत भाषासे अनभिज्ञताके कारण या अन्य किसी कारणसे जो स्वयं शास्त्रग्रन्थोंका पाठ करनेमें असमर्थ हैं, वे यदि उपयुक्त व्यक्तिके मुखसे पाठ-श्रवण करें तो उसके द्वारा भी उनका ऋषियज्ञ सम्पन्न हो जायगा। शास्त्रके अनुसार पठन और श्रवण दोनोंका ही समान फल होता है। श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रमें आता है—

> य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत्।
> नाशुभं प्राप्नुयात् किंचित् सोऽमुत्रेह च मानवः॥

अर्थात् जो मनुष्य विष्णुके सहस्रनामका नित्य श्रवण करता है अथवा कीर्तन (पाठ) करता है, वह कभी इहलोकमें या परलोकमें किसी प्रकारके अशुभको नहीं प्राप्त होता।

इन पाँच महायज्ञोंका यदि नित्य अनुष्ठान हो तो मनुष्यके चित्तका विकास होगा, आपसके विद्वेष और अविश्वासका भाव तिरोहित हो जायगा तथा जगत्‌में शाश्वती शान्तिकी प्रतिष्ठा होगी।

> नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

—इसके सिवा कल्याणका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

भगवत्प्रेमसे हीन मानवका स्वरूप

> जो पै रहनि राम सों नाहीं।
> तौ नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग माहीं॥
> काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबही के।
> मनुज देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह सिय-पी के॥
> सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
> बिनु हरि भजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई॥
> कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि सील सरूप सलोने।
> तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने॥

—तुलसीदासजी

मानवताकी परिधि

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह')

'सुनती हो, आज भगवान् हमारी कुटियापर स्वयं पधारे हैं।' कौस्तुभने अपनी पत्नी सुचेतासे कहा।

'क्या कहा? मैं आयी' सुचेता बोली। आँगनसे गायका दुहना छोड़ वह दौड़ आयी।

उन्होंने देखा कि एक सुन्दर बालक उनके कुटी-द्वार-पर पड़ा कराह रहा है। बालक अति क्षीणकाय है पर उसकी आँखोंमें चमक है। वह बहुत धीरे-धीरे केवल इतना ही बोल सका 'मुझे टी० बी० है। बाप गरीब है। मरनेके लिये यहाँ डालकर चला गया।'

कौस्तुभका मन भर आया। वह बोला 'भगवान्, मेरे बच्चेको कौन मार सकता है?' फिर पत्नीसे बोला—'तुम दूध उबालकर ठंढा करो और उसमें शहद, नागकेशर और दो बूँद दालचीनी डालकर ले आओ। मैं लालको बिछौनेपर लेटाता हूँ।'

एक छोटे टीलेपर पीपलके नीचे बाँसकी बनी कौस्तुभकी कुटिया बड़ी सुन्दर और स्वच्छ थी। उसमें आगे छान थी और दो कक्ष थे और पीछे लिपा-पुता आँगन था। आँगनमें छोटी गोशाला थी और एक ओर रसोई। बीचमें तुलसीचौरा था। छानके आगे थोड़ी दूरपर केले लगे थे। दोनों कक्षके बीच द्वार था। एकमें धानके पुआलसे दो शय्या तैयार की गयी थी, जिनपर गाढ़ेकी स्वच्छ चादरें बिछी थीं। रस्सीपर एक शाल टँगा था। कुटियामें तीन चित्र थे, प्रार्थना करते हुए ईसाका, छौनेको प्यार करते हरिणीका और सोते बालकका। गौका नाम श्यामा था। छोटी-सी वह गाय बड़ी अच्छी लगती थी। उसका सफेद बच्चा रोचन था। चमकती आँख, सतर्क कान, उछलता शरीर और गुच्छेदार पूँछ।

'बेटा वारीश! यह घर तेरा है; चल अपने बिछौनेपर लेट जा' कहते-कहते कौस्तुभने सम्हालकर दोनों हाथोंपर पाँच वर्षके बच्चेको उठा लिया और सुचेताके बिछौनेपर लिटा दिया। हवाका हल्का-सा झोंका आया और पीपलके पत्तोंमेंसे पहली सूरजकी किरणने कुटियामें प्रवेश किया। 'वीरन'को अपना नाम 'वारीश' सुनकर हर्ष हुआ। बिछौना कोमल था और उसपर लेटकर पहली बार सच्ची वत्सलता-का उसे अनुभव हुआ। रुँधे गलेसे कहने लगा 'पिताजी! मैं यहीं रहूँगा। मुझे छोड़ना मत।'

सुचेता सफ़ेद प्यालेमें दूध लायी। वारीशके शीशपर

हाथ फेर वह धीरे-धीरे दूध पिलाने लगी। कौस्तुभ एक ओर खड़ा आँसू बहा रहा था। वालकका एक हाथ सुचेताके गलेमें था। वह दूध पीकर सो गया और ईमामसीहके चित्रसे खिसककर माला उसके पास आ गिरी।

दस वर्ष पहले डाक्टर कौस्तुभ पूनाके टी० बी० सेनिटोरियमके सुपरिंटेंडेंट थे। सुचेता रूसी युवती थी और सेनिटोरियममें नर्स होकर आयी थी। गुण, स्वभाव और आचरणकी एकताके कारण दोनोंमें स्नेह हुआ और वे दोनों कालान्तरमें प्रणयसूत्रमें बँध गये। तबसे कौस्तुभ सेनिटोरियमसे इस्तीफ़ा देकर मैसूरमें कुटिया बनाकर रहने लगे थे। संतानहीन दम्पति जीवमात्रकी सेवा करते, मांस-मदिरासे दूर रहते और पवित्र जीवन व्यतीत करते। वे केवल असाध्य रोगोंका देशी इलाज करते थे और प्राकृतिक

चिकित्सकके रूपसे प्रख्यात थे। पर कुटियापर मरीज न देखते। नित्य चार घंटेके लिये मैसूरके सिविल अस्पतालमें काम करने जाते थे। जनताको उनके प्रति पूज्यभाव था, मरीजोंको उनकी चिकित्सामें आस्था थी और परमात्माकी उनपर ऐसी कृपा थी कि उनके इलाजमें कोई रोगी मरा न था। आज तो उनको वारीशको अपने पुत्रके रूपमें जीवन-दान देना था।

पुत्रवत् परिचर्या और अनुभवगम्य शुश्रूषासे वारीश दो वर्षमें ही पूर्ण स्वस्थ हो गया। इतना ही नहीं, उसके शरीरपर एक ऐसा आवरण छा गया कि घातक, संक्रामक और विषैले रोग उसपर असर ही नहीं कर सकते थे। अतः इस प्रकारके रोगियोंके बीच डाक्टरके साथ वह निर्भय विचरण करता था। वह तल्लीनतासे रोगियोंकी परिचर्या करता और उनके रोगोंको समझनेका प्रयास करता।

× × ×

वारीश पिताके साथ अस्पताल गया। वहाँ पूर्ण विक्षिप्तावस्थामें एक अधेड़ स्त्री आयी, कपड़े फाड़ती और बाल नोचती। वह कभी तो खूब हँसती, कभी रोती और कभी गाती थी—'बीर गया यमलोक मेरा दिल वीराना।' वह डाक्टर कौस्तुभके सामने लायी गयी और देखा उसने वारीशको। वह बालकसे लिपट गयी 'लाल लौट आया। मेरा बीरन, मेरा लाल। अब न जाना पूत, नहीं तो मैं मर जाऊँगी।' स्त्री बड़े जोरसे आँखें फाड़कर काँपी और काँपकर बेहोश हो गयी।

दो महीनेमें बीरनकी माँ ठीक थी। आज डाक्टर कौस्तुभ बड़े अनमने हैं। सुचेता तो बौखला गयी है। कभी बालकके मुँहपर हाथ फेरती है और कभी चित्रमें हिरनीको देख लेती है। उसका वारीश 'बीरन' बनकर अपनी असली माँके साथ जा रहा है। बीरन चला गया और सुचेता आँखें बंद किये प्रार्थना करती रह गयी।

दो महामानव कौस्तुभ और सुचेता अब भी मानवसेवामें तत्पर हैं। पर जहाँ-तहाँ उनके नेत्रोंमें आँसू छलछला आते हैं। अब तो अस्पताल दोनों जाने लगे हैं और प्रत्येक रोगीमें उनको अपने वारीशके दर्शन होते हैं। सच है, पर वे दोनों अपनी आत्माके सूनेपनको कैसे मिटायें?

जगकी पुष्पवाटिका

(रचयिता—श्री १०८ स्वामी भगवतिगिरिजी महाराज)

इस जगकी पुष्प-वाटिकामें,
कितने ही फूल खिले अब तक।
उन फूलोंकी लेकर सुगन्धि,
भौंरे मँडराये गुंजनमें॥

इन सौन्दर्य लताओंमें;
लग रही अनेकों कलियें हैं।
इन कलियोंका प्रेमिक है बस;
वह मानस हंस बगीचेमें॥

सरिता सब ओर बह रही हैं;
होकर मदमस्त तरंगोंमें।
निखरे आधार प्रभाका जब;
हरखायें भौंरे वन-वनमें॥

उल्लास हो रहा भौंरोंमें;
शृंगार निहार लताओंका।
चहुँदिसि झंकार भर रहे हैं;
भौंरे अनुराग वाटिकामें॥

नित नूतन पुष्प खिले हर दम;
लेकर अनुराग-राग उरमें।
राही होते हैं मस्त सभी;
जब देखे रंग लताओंमें॥

क्रीड़ाएँ लता कर रही हैं;
लेकर शृंगार बहारोंका।
हिय उरमें निरख छवी उनकी;
पावस किलकोर करे नभमें॥

अनुराग पुष्प तब खिलते हैं;
जब ज्योति प्रकाशित होती है।
मिट अंधकार जाता सारा;
बहती उज्ज्वल तरंग उरमें॥

मानवताका प्रतीक—सर्वोदयवाद

(लेखक—प्रो० श्रीराधाकृष्णजी शर्मा)

नामकी उत्पत्ति

सर्वोदयवाद गांधीवादका प्रतीक है। इसके प्रवर्त्तक विश्ववन्द्य महात्मा गांधी हैं। ये वर्तमान युगके सबसे महान् व्यक्ति रहे हैं। संसारके इतिहासमें ऐसा कोई पुरुष नहीं हुआ है, जो मानव-समाजका इतना प्रियपात्र रहा हो और जिसने समाजके विभिन्न अङ्गोंको इतना प्रभावित किया हो। वे मौलिक विचारक, नैतिक योद्धा, राजनीतिक गुरु, वैज्ञानिक धर्मसुधारक, आदर्श समाजसेवी, कुशल लेखक, सफल वक्ता और बेजोड़ जननायक थे। उनका जीवन सत्य और अहिंसाका प्रयोगक्षेत्र था और सच्चे अर्थमें वे अजातशत्रु थे।

गांधीजीके प्रारम्भिक जीवनपर दो विदेशियोंका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे विदेशी रूसके महात्मा टालस्टाय और इंगलैंडके दार्शनिक जॉन रस्किन हैं। ये दोनों ही उच्चकोटिके साहित्यकार भी थे। गांधीजीने इनके लेखोंको पढ़ा और मनन किया। रस्किनकी एक पुस्तक Unto the Last गांधीजीको बहुत पसंद आयी। उन्होंने सुकरात और रस्किनके विचारोंमें बहुत समता पायी। अन्य लोगोंके लाभके हेतु उन्होंने रस्किनकी पुस्तकका दूसरी भाषाओंमें अनुवाद कराया। अनुवाद करानेका प्रधान उद्देश्य यही था कि पुस्तक पढ़कर सभी लाभ उठायें—सबका कल्याण हो। अतः अनूदित पुस्तकका नाम उन्होंने 'सर्वोदय' रखा। गांधीजीके जीवनका भी प्रधान लक्ष्य था सबकी सेवा करना—मानवमात्रकी भलाई करना। अतः अपनी विशेषताके कारण अन्य वादोंकी तरह उनकी भी विचारधारा 'गांधीवाद'के नामसे प्रचलित हो चली। किंतु गांधीजीको यह नाम प्रिय नहीं था, क्योंकि वे इसे संकुचित समझते थे। वे अपने सर्वव्यापक सिद्धान्तके लिये 'सर्वोदय' नाम अधिक पसंद करते थे। धीरे-धीरे गांधीवादके लिये 'सर्वोदयका' ही व्यवहार किया जाने लगा। ३० जनवरी १९४८ ई० को गांधीजी शहीद हो गये। उनके मरनेके बाद उनके सिद्धान्तोंके लिये 'सर्वोदयवाद'का ही अधिक प्रयोग होने लगा। उनकी व्यापक विचारधाराको ठीक-ठीक व्यक्त करनेके लिये इसी शब्दको सर्वाधिक उचित और मान्य समझा गया। १९४८ ई० में ही इंदौरमें एक 'सर्वोदय सम्मेलन' हुआ, जिसमें 'सर्वोदय-समाज'की स्थापना घोषित की गयी। यह सर्वोदय-समाज कोई संगठन नहीं है, बल्कि एक बिरादरी है, जिसमें सभी प्रकारके लोग प्रेमभावसे मिलते और विचार-विनिमय करते हैं। सर्व-सेवा-संघ इसका संगठनात्मक पक्ष है।

सर्वोदयवादके सिद्धान्त

सर्वोदयवादकी विस्तृत छान-बीन करना हमारा उद्देश्य नहीं, बल्कि हम इसके प्रमुख तत्त्वोंपर ही प्रकाश डालकर संतोष करेंगे। अबतक हम कई वादोंको सुन चुके हैं—जैसे व्यक्तिवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद, उपयोगितावाद, आदर्शवाद, अधिनायकवाद आदि। इन वादोंमें कुछमें तो अच्छाई है, किंतु कुछ तो बहुत ही बुरे हैं। जिन वादोंमें कुछ अच्छाई भी है, वे भी मानवमात्रके कल्याणकी कल्पना नहीं करते। अतः इनके अन्तर्गत कुछ-न-कुछ लोग उपेक्षित रह जाते हैं। उपयोगितावादमें अधिक-से-अधिक लोगोंकी अधिक भलाईकी बात कही गयी है। सर्वोदयवाद इन सभी वादोंसे परे है। सर्वोदयका अर्थ है सबका उदय—प्राणिमात्रका कल्याण और प्रत्येकका पूर्ण विकास (The greatest good of all)। यही इसका लक्ष्य है और इसकी प्राप्तिके साधन हैं सत्य एवं अहिंसा। इस तरह इसके साध्य तथा साधन दोनों ही उच्च कोटिके हैं। इसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' तीनोंका सामञ्जस्य है। सत्य और अहिंसाका अर्थ बड़ा ही व्यापक है। सत्य या सत्याग्रहका अर्थ है अपनी आत्माकी पुकारको निर्भीक होकर सुनना और उसे अभिव्यक्त करना। इसके अन्तर्गत हृदय और मुख दोनोंकी वाणी एक होती है। अहिंसाका अर्थ यों तो हिंसा नहीं करना होता है; किंतु यह केवल नकारात्मक ही नहीं, सकारात्मक भी है। यह बाह्य आचरणका केवल स्थूल नियम ही नहीं, बल्कि एक स्थायी मनोवृत्ति एवं भावना भी है। यह बुराईके बदले बुराई न करना ही नहीं सिखलाती, बल्कि बुराईके बदले भलाई करना भी सिखलाती है, इसीलिये इसे वीरोंका अस्त्र कहा गया है। सत्याग्रही स्वयं तकलीफ झेलता है, किंतु दूसरोंको तकलीफ नहीं दे सकता; वह स्वयं मरता है, किंतु दूसरेको मारता नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सर्वोदयवादमें संघर्ष, शोषण तथा स्वार्थका सर्वथा अभाव

है । मार्क्सवादसे दो बातोंमें इसका बहुत बड़ा मतभेद है । मार्क्सवाद वर्ग-संघर्षको स्वीकार करता है तो सर्वोदयवाद वर्ग-सामञ्जस्यको । यह समाजके विभिन्न अङ्गोंमें सहयोग बनाये रखना चाहता है । दूसरे, मार्क्सवाद हिंसापर अवलम्बित है, किंतु सर्वोदयवादमें हिंसाका कोई स्थान नहीं । सर्वोदयवादमें बाह्यकी अपेक्षा आन्तरिक शुद्धिपर विशेष जोर दिया जाता है; यह बाहरी रूपके बदले हृदयका परिवर्तन चाहता है । यह कीचड़के लिये कीचड़ नहीं फेंकता, बल्कि कीचड़को स्वच्छ जलसे धोकर विरोधियोंकी मनोवृत्ति ही बदल डालनेका प्रयास करता है ।

संक्षेपमें सर्वोदयवादी समाजमें स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्वके सिद्धान्त लागू होंगे । रूप, रंग, जाति, लिङ्ग, धर्म, श्रम एवं धनके आधारपर कोई भेदभाव नहीं होगा । मानवमें दानवताकी प्रवृत्ति नष्ट होगी और मानवताकी भावना सबल होगी । मानव मानवको—व्यक्ति व्यक्तिको वास्तविक अर्थमें भाई समझेगा और परस्पर प्रेम करेगा । सभी दूसरेके अधिकार और अपने कर्तव्यका ध्यान रखेंगे । श्रीतुलसीदास-जीका कथन—'सब नर करहिं परस्पर प्रीती'—सार्थक सिद्ध होगा । सम्पूर्ण मानव-समाज एक जाति—एक राष्ट्र बन जायगा, जिसमें सार्वभौम भ्रातृत्वके भावकी प्रधानता रहेगी ।

सर्वोदयवादकी महत्ता

उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वोदयवाद केवल एक राजनीतिक विचारधारा ही नहीं है, बल्कि एक जीवनमार्ग है—जीवनशैली है । यह बतलाता है कि मनुष्यको इस संसारमें किस तरह रहना चाहिये ताकि वह सुख-शान्तिसे अपना जीवन-यापन कर सके । किंतु यह अभी समयसे आगे है, यद्यपि इसकी शरणमें गये बिना संसारके सामने अन्य कोई चारा भी नहीं है । आजकी स्थिति कितनी भीषण और भयंकर है । मानव आकाशमें उड़ता है, किंतु पृथ्वीपर चलना और रहना उसे नहीं आता । विज्ञानके समस्त साधनोंके होते हुए भी मनुष्यको सुख-शान्ति नहीं प्राप्त है । छीना-झपटी, खून-खतरा, भय-शङ्काका बाजार गरम है । शक्ति और सत्ता, पाप और पाखण्ड, प्रमाद और पीड़ाका साम्राज्य है । उद्भ्रान्त मानव शान्तिके लिये भूखा है और भटक रहा है, उसके दिल-दिमाग दुःख-दर्दकी कहानीसे परिपूर्ण हैं । एक कविने क्या ही ठीक लिखा है—

स्थूल देहकी विजय आज,
है जग का सफल बहिर्जीवन;
क्षीण किंतु आलोक प्राणका,
क्षीण किंतु मानवका मन ।

इस दुःखमय तथा भयावह स्थितिका कारण क्या है ? मानवकी तमोगुणी प्रकृतिका प्राबल्य—आसुरी प्रवृत्तिका विकास और भौतिकताकी प्रधानता । वर्तमान सभ्यता उस पुष्पके समान है, जो देखनेमें तो बड़ा आकर्षक है, किंतु सुगन्धरहित है । जबतक मनुष्यकी सत्त्वगुणी प्रकृतिका विकास नहीं होगा और उसकी सभ्यतामें अध्यात्मवादका समावेश नहीं होगा, तबतक इस सभ्यताका भविष्य अन्धकार-मय समझा जायगा । सृष्टिके प्रारम्भसे अनेक सभ्यताओंका उदय हुआ है; किंतु वही सभ्यता स्थायी सिद्ध हुई है, जिसमें अध्यात्मवाद—नैतिकताका पुट रहा है । वर्तमान जडवादी सभ्यताकी सारी बुराइयोंकी रामबाण औषध सर्वोदयवाद ही है । बिना इसका नियमित सेवन किये मानव-समाज पूर्णरूपेण स्वस्थ नहीं हो सकता—कदापि नहीं हो सकता । यही मानव-प्राणके आलोकको दिव्य और उसके मनको हरा-भरा कर सकता है ।

सर्वोदयवादकी सम्भावना

यों तो मनुष्य ही अपूर्ण है । अतः उसकी कृतियोंमें त्रुटिका होना स्वाभाविक ही है । इस दृष्टिसे सर्वोदयवादमें भी कुछ त्रुटि हो सकती है; किंतु इतना निर्विवाद कहा जा सकता है कि जहाँ अन्य वादोंमें एक मन त्रुटियाँ हैं, वहाँ सर्वोदयवादमें एक कण ही त्रुटि होनेकी सम्भावना है । कुछ लोग इसे आदर्शमात्र समझते हैं—जिसे व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता । पर यह उनका भ्रम है । पहले तो यह तर्क ही गलत है कि जो चीज अबतक सफल नहीं हो सकी, वह कभी भी सफल नहीं होगी । मध्ययुगमें जिसने पृथ्वीको गोल और सूर्यकी परिक्रमा करनेवाली बतलाया था, उसे मृत्युदण्ड मिला; किंतु आज वह सर्वमान्य सिद्धान्त है । इसका तात्पर्य यह है कि उस समय यूरोपमें सोचने और विचार करनेकी स्वतन्त्रता नहीं थी, किंतु आज ऐसी बात नहीं है । दूसरे, पहले सभी विचार आदर्शतुल्य ही होते हैं, धीरे-धीरे वे कार्यक्षेत्रमें उतरते हैं । कई प्रयास और असफलताओंके बाद ही तो वायुयान उड़ानेमें मानव सफल हुआ है । तीसरे, अतीत और वर्तमान दोनों ही युगोंमें धर्म

तथा नीतिके बाहर भी सत्य एवं अहिंसाके सफल प्रयोग हुए हैं। डेनियल, सुकरात, प्रह्लाद और मीराँबाई सच्चे तथा सफल सत्याग्रही रहे हैं, डेनियल तथा सुकरातने राजनीतिक क्षेत्रमें और प्रह्लाद तथा मीराँबाईने सामाजिक क्षेत्रमें सत्य और अहिंसाका प्रयोग किया था। अशोकने अपने शासन-कालमें इनका प्रयोग किया और वे मानवसमाजके प्रियपात्र बन गये। वर्तमान कालमें महात्मा गांधीने इन सिद्धान्तोंका विस्तृत पैमानेपर सभी क्षेत्रोंमें व्यवहार किया और पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की। इन्हींके प्रयाससे भारतका मस्तक ऊँचा हो सका है और शान्तिके लिये दुनियाकी दृष्टि इसकी ओर आकृष्ट है। चौथे, हिंसा और प्रचारके युगमें रहनेके कारण कुछ लोग इनके इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि वे इनसे ऊपर उठकर सत्य एवं अहिंसाकी बात ही नहीं सोच सकते हैं। किंतु उन्हें जानना चाहिये कि जब कोई वस्तु अपनी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है, तब उसके बाद उसका पतन ही होता है। हिंसा और असत्य भी अपनी चरम सीमापर पहुँच चुके हैं और अब इनकी अधोगति निश्चित है। अटलांटिक चार्टरकी घोषणामें एक बात यह भी कही गयी है कि 'विश्वके सभी राष्ट्रोंको भौतिक एवं आध्यात्मिक कारणोंसे पशुबलका प्रयोग त्यागना होगा' मध्ययुगमें धार्मिक असहिष्णुताकी प्रधानता थी और यूरोपका तीसवर्षीय युद्ध इसीका अन्तिम बुरा परिणाम था, जिसमें भीषण नर-संहार हुआ। अब मानवकी आँखें खुलीं, उसने असहिष्णुताको तिलाञ्जलि दे डाली और सहिष्णुताके युगका प्रादुर्भाव हुआ। १९वीं शताब्दीमें राष्ट्रियताका जोर रहा और उस समय धर्मके बदले राष्ट्रियताके नामपर खून-खतरे होने लगे। किंतु बीसवीं शताब्दीमें राष्ट्रियताकी भी महत्ता घटने लगी है और प्रथम महायुद्धके पश्चात् अन्ताराष्ट्रियताका विकास प्रारम्भ हुआ है। इसी तरह हिंसा एवं असत्य अपने अन्तिम दिन गिन रहे हैं और मानवसमाज सर्वोदयवादकी ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है। अभी मंजिल दूर है, रास्ता तय करना अभी बहुत बाकी है।

मानवसे

(रचयिता—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

प्रणव है धनुष, बाण ले आत्माका करो ब्रह्मके लक्ष्यका वेध मानव।
हो साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न पहले हृदय ब्रह्म-विज्ञानके योग्य कर लो।
गहो दैवी सम्पत्ति तज आसुरीको, गुरूपदिष्ट पथपर सदा ध्यान धर लो।
न बनना प्रमादी, मिलेगी सफलता, यह सिद्धान्त कहते चतुर्वेद मानव॥ १॥
यह संसार अद्भुत बना नाट्यशाला, बने पात्र जिसमें सभी आत्माके।
यह मायानटी मंचकी चालिका है, वह है किंतु आधीन परमात्माके।
यह आश्चर्य है, खेलमें भूल तूने किया प्रभुसे सम्बन्ध-विच्छेद मानव॥ २॥
जगत पाञ्चभौतिक खिलौना बना है, भटक जीव जिसमें सदा खेलता है।
कोई इसको दे करके भव-सिन्धु संज्ञा भँवरमें पड़ा कष्टको झेलता है।
बना करके श्रीगुरुचरण दीर्घ नौका तू तर जा उसे, मत करे खेद मानव॥ ३॥
हैं गीता व मानस सदृश ग्रन्थ अब भी, तथा उपनिषद् ज्ञान-भण्डार भी हैं।
हैं दर्शन सभी, दार्शनिक भी यहाँ हैं, तथा संत संसारसे पार भी हैं।
हैं साधन सभी प्राप्त, फिर तेरे मुखपर छलकते निराशाके क्यों स्वेद मानव॥ ४॥
जो है कर्मनिष्ठा तो निष्काम बन ले, उपासक है तो फिर कमा भक्ति-धन ले।
यह नर-तन मिला है तो दृढ़ साधनासे बने जिस तरह अपना कल्याण कर ले।
यह जनता सभी रूप भगवान की है, तू लख 'श्याम' उसको न कर भेद मानव॥ ५॥
प्रणव है धनुष, बाण ले आत्माका करो ब्रह्मके लक्ष्यका वेध मानव॥

आदर्श मानव-महिलाएँ

माता कौसल्या

श्रीकौसल्याजी जगन्माता हैं—जगदात्मा मर्यादा-पुरुषोत्तमने जिन्हें माताका गौरव दिया, जिनके वात्सल्यके लिये वे नित्य पूर्ण भी समुत्सुक बने, वे वात्सल्यमयी—उनका अपार-अतीन्द्रिय वात्सल्य क्या स्वप्नका भेद जानता है ?

'श्रीराम वन चले गये और उनके वियोगमें पिता परलोकवासी हो गये।' यह समाचार मिला भरतको ननसालसे। कैकेयीने यह सब अकाण्ड भरतको राज्य देनेके लिये किया—यह समाचार जब सुना भरतने—व्यथाका पार नहीं था। उन्हें कोई नहीं दीखता था, जो उन्हें आश्वासन दे, उनपर विश्वास करे।

माता कौसल्या—भरत आये और माताने उन्हें अङ्कमें भर लिया। अपनी अश्रुधारासे सींच दिया भरतको। भरत आये—उसे वैसे अपने राम मिल गये। सौत कैकेयीके पुत्र भरत; श्रीरामको जिनके निमित्त वन मिला वे भरत—माता कौसल्याके अन्तरको ये भाव छू पाते—छिः।

सच्ची जननी सुमित्रा

'शत्रुघ्न ! अपने नामको सार्थक कर ! तेरा अग्रज प्रभुके चरणोंमें अर्पित होकर धन्य हो गया। लक्ष्मणने मुझे गौरव दिया, अब तेरी बारी है। कपिके साथ जा और श्रीरामकी सेवामें जीवन देकर कृतार्थ बन !' माता सुमित्राका यह आदेश—उन-जैसी माताके पुत्रके समीप अविनय या अस्वीकृति फटकनेका साहस कहाँसे पाते।

संजीवनीके लिये द्रोणाचल ले जाते समय हनुमान्‌को राक्षस समझ भरतने बाण मार दिया था। गिरनेके दो क्षण पश्चात् श्रीमारुतिको होश आ गया। लंकायुद्धका उनसे समाचार मिला। लक्ष्मण मेघनादकी अमोघ शक्तिके आघातसे मूर्छित पड़े हैं, यह सुनते ही माता सुमित्रा बोल उठीं—'धन्य हो गया लक्ष्मण; किंतु श्रीराम शत्रुके देशमें एकाकी हो गये !' अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्नकी ओर देखा उन्होंने और आदेश दे दिया उन्हें लंका जानेका।

सार्थक जननी मदालसा

'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥

नारीका नारीत्व पुरुषको पाकर सफल होता है अर्थात् नारी माता बनकर सफल होती है। किंतु माता बनना ही नारीत्वकी सार्थकता नहीं है, नारीत्व पुरुषको मुक्त करके सार्थक होता है और वह सार्थकता धन्य जननी मदालसाका निसर्ग स्वत्व हो गया। अपने पुत्रको उसके शैशवमें, पालनेमें झुलाते समय वे लोरी देती हैं—अरे, तू नित्य शुद्ध है ! ज्ञानस्वरूप है ! समस्त कल्मषोंसे सदा पृथक् है ! इस विश्वप्रपञ्च-प्रवर्तिका मायासे तू सर्वथा अलिप्त है ! अतः इस संसारमें जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाली मायाका त्याग कर। इस मोह-निद्राको त्यागकर जाग्रत् हो।'

सच्ची धर्मपत्नी शैव्या

पत्नी इसलिये धर्मपत्नी नहीं कहलाती कि उसे आपने इस रूपमें धर्मानुसार ग्रहण किया है। वह धर्मपत्नी इसलिये है कि वह आपके धर्म-कृत्योंमें सहचरी है, आपके धर्मकी पोषिका है और आपके धर्मकी रक्षिका है।

विश्वामित्रने महाराज हरिश्चन्द्रसे उनका सम्पूर्ण राज्य दानमें माँग लिया और फिर भी उस दानकी साङ्गता चाही। महाराज स्त्री-पुत्रके साथ काशी आये।

जो एक दिन सम्राट् थे, आज वे कंगाल हैं। अयोध्याकी महारानी अपने नन्हे राजकुमार रोहिताश्वके साथ आज भरे बाजार खड़ी हैं। अब भी दक्षिणा शेष है ब्राह्मणकी। अर्धमूर्छितसे महाराज हरिश्चन्द्र; किंतु महारानी शैव्या धर्मपत्नी हैं न ! वे पतिके धर्मकी रक्षिका—वे कहती हैं,—'आप सत्यकी निश्चय रक्षा करें ! इस सेविकाको बेचकर दक्षिणा दें ब्राह्मणको। सत्यकी रक्षा ही परम कर्तव्य है।'

कौसल्याका भरतपर स्नेह

सुमित्राका शत्रुघ्नको आदेश

मदालसाकी पुत्रको लोरी

शैब्याका पतिको प्रबोध

दयालुताका धर्म-बौद्धमत

(लेखक—भूतपूर्व महात्रयशास्ता, माननीय जस्टिस यू चान थीन, सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीश, बर्मा संघराज्य)

राजकीय घरानेके राजकुमार सिद्धार्थ गौतमके भाग्यमें लिखा था कि वे या तो विश्व-विजेता होंगे या विश्वके उद्धारक। जब उन्होंने देखा कि सभी मनुष्योंको रोग, जरा, दुःख और मृत्युका भोग भोगना ही पड़ता है, तब उन्होंने अध्यात्मका मार्ग अपनाया। इनसे बचनेका एक मात्र उपाय उनके ध्यानमें यही आया।

अपनी महामानवताके वशीभूत होकर, मानवमात्रके प्रति करुणाकी भावना लेकर, एक नग्न परिव्राजकके रूपमें वे उस मार्गको ढूँढ़नेके लिये निकल पड़े। सुख-भोगका—यहाँ तक कि स्त्री और बच्चेका वह महान् त्याग व्यर्थ नहीं गया। उनको वह पथ प्राप्त हुआ और वे सर्वज्ञ हो गये, ज्ञान-सम्पन्न बुद्ध हो गये, अपनी स्त्री और पुत्रको ही नहीं, तत्कालीन एवं आगेके भी समस्त मनुष्योंको वह मार्ग और विधि बतलानेमें समर्थ हो गये, जिसको अपनाकर वे दुःखसे मुक्त हो सकें। निश्चय ही उसके बाद उनके न स्त्री रही न पुत्र; क्योंकि फिर तो सारा मानव-समाज ही उनका अपना प्रीति-भाजन बन गया।

अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि उनकी महान् शिक्षाका प्रत्येक पहलू मानवतासे परिव्याप्त है और आज वह शिक्षा मानवताकी एक व्यावहारिक एवं ग्राह्य साधना बन गयी है।

नम्रता और दृढ़तापूर्वक बुद्धने इस मार्गका उपदेश मानवमात्रको दिया। उन्होंने नम्रता किंतु दृढ़तापूर्वक दिखला दिया कि इस नरलोकमें, अनित्य स्वर्गादि उच्च लोकोंमें तथा निरय-लोकमें, रोग और शोकके अनन्त जीवन-प्रवाहमें मनुष्यका तुच्छ अभिमान और दावे मूर्खतापूर्ण हैं। उन्होंने दिखलाया कि मनुष्योंको कर्म और पुनर्जन्मके अटल विधानके द्वारा, उनके किये गये क्रूर-कर्मोंका बहुत भयानक परिणाम भोगना पड़ता है।

मेरा पुत्र, मेरा पुत्र मर नहीं सकता—

युगोंसे, सृष्टिके आदिसे नवयुवती माँका यह नैराश्यपूर्ण विलाप हमको सुनायी देता आ रहा है, बड़े-बड़े महलोंसे लेकर झोपड़ियों तकमें यह करुण ध्वनि सुनायी देती है। अपने हँसमुख और सुन्दर बच्चेकी लाश लेकर किसा गोतमी उस औषधकी खोजमें भटक रही थी, जो उसके बच्चेको पुनः हँसा दे। पागल-सी हुई किसा गोतमीके चूर-चूर हुए हृदयकी पीड़ाने उसकी उस बुद्धिको ही हर लिया था, जिससे वह जान पाती कि अब उसका बच्चा फिर नहीं हँसेगा। लोगोंने कहा—'वह मर गया है, समझती नहीं हो क्या बहिन? वह मर गया है, उसे श्मशानमें ले जाकर जला दो और शान्तिपूर्वक रहनेकी चेष्टा करो।'

उसने चिल्लाकर कहा—'यह मरा नहीं है।' तब लोगोंने उसे भगवान् बुद्धके पास भेजा। उसने दर्दभरे दिलसे प्रार्थना की—'यह सो रहा है। इसको जगा दीजिये; क्योंकि आप जगा सकते हैं।'

भगवान् बुद्धसे कम शक्ति-सम्पन्न पुरुष उसके जीवित शिशुकी प्रतिमूर्ति उसे प्रदान कर सकता था—एक ऐसा बालक, जो पुनः मर जाता; अथवा मातृवियोगकी व्यथाके साथ जिसे छोड़कर वह स्वयं मर जाती। पर यह सान्त्वना होती नगण्य; क्योंकि सृष्टिका कोई पदार्थ स्थायी नहीं है और पीछे आनेवाले लोगोंको भी उससे कोई सान्त्वना न मिलती।

भगवान् बुद्धने उसको मृदु शब्दोंमें कहा—'जाओ, कुछ सरसोंके दाने ले आओ, तभी मैं तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूँ।' यह सुनकर वह प्रसन्नतापूर्वक सरसों लानेके लिये दौड़ पड़ी; क्योंकि वह जानती थी कि सरसों प्रत्येक घरमें मिल सकती है। परंतु भगवान् बुद्धने उसे रोका—'किंतु सरसों उस घरकी होनी चाहिये, जिस घरका कभी मौतने मुँह न देखा हो।'

भगवान् बुद्धके भीतर जो प्रेमभरी दयाकी निधि उसने देखी, उसीसे उसका हृदय कुछ शान्त और आश्वस्त हो गया था। वह चल पड़ी और प्रत्येक घरके द्वारपर, जब वह सरसों माँगती तो लोग खुशीसे उसे दे देते; किंतु जब वह मौतका नाम लेती, तब लोगोंका हृदय काँप जाता। उदास होकर और आँखोंमें आँसू भरकर वे अपनी गाथा सुनाते। कोई कहता, 'मेरे पिता मर गये हैं।' कोई कहता, 'मेरी माँ मर गयी।' आगे दूसरे घरपर गयी तो किसीने कहा—'मेरी लड़की मर गयी।' दूसरा बोला—'मेरा बेटा मर गया।'

तब उसने जाना कि ऐसा कोई घर है ही नहीं, जिसमें

कोई न मरा हो। वह समझ गयी कि 'मौत सबको आती है। सब लोग जरूर मरेंगे और मेरा पुत्र, ओह! मेरा पुत्र मर गया।' धीरेसे वह श्मशान-घाटपर गयी और पुत्रकी अन्त्येष्टि करके चुपचाप भगवान् बुद्धके समीप लौट आयी।

तभी भगवान् बुद्धने उसे यथार्थ सान्त्वना प्रदान की, एकमात्र सान्त्वना, जो प्रज्ञावान्को प्रदान की जा सकती है। उन्होंने उसको बतलाया कि 'किस प्रकार अनेकों पूर्वजन्मोंमें उसको अपने प्रिय जनोंका वियोग सहना पड़ा है और यदि इस लोकमें उसको सुखद और दीर्घ जीवन भी प्राप्त हो तो भी उसे अनेक बार जन्म लेना पड़ेगा और पुनः-पुन अपने प्रियजनोंका वियोग सहना पड़ेगा।'

उन्होंने उसको वह मार्ग दिखलाया, जो मातृ-स्नेहसे भी उच्चतर है, जो जीव मात्रके प्रति प्रेममयी करुणाका मार्ग है और जो मार्ग सब प्रकारकी आशा, भय, अभिलाषा और इच्छा-द्वेषके जंजालको पीछे छोड़ जाता है।

वहाँ उन्होंने एक शाश्वत शिक्षा प्रदान की, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अहंको भूलकर उसके ऊपर उठ जाता है।

पापीको भी

शक्तिशालिनी पृथ्वीके समान महान् और विशाल, गङ्गाके समान अथाह और गम्भीर, प्रेममयी दयालुताके विचारोंकी सबके ऊपर—यहाँतक कि दुष्ट मनुष्यके ऊपर भी निर्बाध वृष्टि करनी चाहिये। यह शिक्षा भगवान्ने मोलिय फगुनको उस समय दी थी, जब लोगोंको कुछ भिक्षुणियोंकी निन्दा करते देख वे असंतुष्ट और क्रुद्ध होकर भगवान्के पास गये और वाद-विवाद प्रारम्भ कर दिया। भगवान् बुद्धने उनको काली नामकी एक दासीकी कथा सुनायी, जो एक दिन अपनी गृहस्वामिनी वेदेहिकाकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे देरसे सोकर उठी और जब गृहस्वामिनीने उसे डाँटना प्रारम्भ किया तो उसने अभद्रतापूर्वक उत्तर दिया। गृहस्वामिनी वेदेहिका दयालुता और शिष्टताके लिये प्रसिद्ध थी तथा नम्रता और शान्तिकी मूर्ति मानी जाती थी। कालीके मनमें एक नटखट विचार आया—'हो सकता है कि उसका कभी किसीने विरोध नहीं किया, इसीलिये वह गुणवती मानी जाती हो; हो सकता है उसके भीतर भी क्रोध छिपा हो।' कालीने उसे दो टूक जवाब दे दिया। निश्चय ही इसपर गृहस्वामिनी अप्रसन्न हो गयी और जब दासीने फिर उसे परीक्षाकी कसौटीपर कसा तो उसने दरवाजेकी छड़ उठाकर दासीके सिरपर दे मारी। काली लहूलुहान चेहरा लिये बाहर निकल पड़ी और गाँवमें जाकर निन्दा करने लगी। फिर क्या था, वेदेहिकाकी ख्यातिपर पानी फिर गया।

भगवान् बुद्धने सावधान किया—'वैसा व्यवहार मत करो।' उस अवसरपर उन्होंने अपने भिक्षुओंसे कहा कि 'यदि उनके सिरपर भी कोई डंडों और ढेलोंकी बौछार करे तो उन्हें सौम्य बने रहना चाहिये और आक्रमणकारियोंपर प्रेम-पूरित दयाके विचारोंकी वृष्टि करना चाहिये—यहाँतक कि यदि दुष्ट लोग हाथमें आरा लेकर उन्हें चीर डालें तो भी उन्हें प्रेममय दयाके विचारोंकी ही वृष्टि करनी चाहिये। बुराईके बदले भलाई करनेका एक यही मार्ग है। 'भ्रातृत्व'से तथा 'मानवता'से साधारण मनुष्य जो अभिप्राय लेता है, यह मार्ग उससे भी आगे जाता है। भगवान् बुद्धके ही शब्दोंमें—

'यदि डाकुओं और अत्याचारियोंके आरा लेकर अङ्ग-प्रत्यङ्गको चीर डालनेपर भी किसीके मनमें विकार आ जाता है तो वह मेरा सच्चा अनुगामी नहीं है। यहाँ तुम इस प्रकार शीलवान् बननेकी साधना करो—'हमारा मन विकृत नहीं होगा। हम कुवचन नहीं बोलेंगे। हम हृदयको ईर्ष्या-द्वेषसे शून्य रखकर, मनको सद्भावनासे पूर्ण रखकर सच्चिन्तनमें रत रहेंगे। सद्भावनापूर्ण विचारोंसे हम उस आततायीको परिप्लुत करते रहेंगे और उस मैत्रीभावनाको अपने विचारका विषय बनाये रहेंगे। हम सम्पूर्ण जगत्‌को वैर और विद्वेषसे शून्य, व्यापक, उन्नत और असीम सद्भावनापूर्ण विचारोंसे परिव्याप्त करते रहेंगे। निश्चय इसी प्रकार तुम्हें अपनेको साधना चाहिये।'

जो रोगीकी परिचर्या करता है, वह मेरी परिचर्या करता है।

एक मठमें जाकर भगवान् बुद्धने देखा कि एक बीमार भिक्षु मैले-कुचैले कपड़ोंमें चटाईपर पड़ा कराह रहा है और कोई उसकी देखभाल नहीं कर रहा है। उन्होंने पूछा कि ऐसा क्यों हो रहा है। दूसरे भिक्षुओंने उत्तर दिया कि वे अखण्ड रूपसे ध्यानकी साधना कर रहे हैं, जिससे संसारके चक्रसे निर्वाण मिले; इसलिये वे उस उच्च स्थितिको प्राप्त करनेके मार्गमें कोई बाधाको नहीं सह सकते, जहाँसे संसारके जंजालमें पड़े हुए लोगोंको वे भलीभाँति सहायता पहुँचा सकेंगे।

इसी अवसरपर भगवान् बुद्धने अनाचारके जालसे

जैसे स्वयं अन्धकारमें पड़े हुए अंधे भिखारी आपसमें लड़ा करते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक विषयोंको लेकर विवाद करना, संकीर्णता और मतान्धताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतएव हमें विवाद न करके एक दूसरेका आदर-सत्कार करना चाहिये'। यही कारण है कि बौद्धधर्म सहिष्णुताकी भावनासे भरा है। अतः बौद्धधर्म ही एक ऐसा विश्वधर्म माना जा सकता है, जिसका प्रचार शक्तिके द्वारा नहीं, वरं केवल उपदेशोंके बलपर हुआ है।

बादशाहोंका बादशाह

(लेखक—श्रीश्यामनन्दनजी शास्त्री)

तानपूरेपर तानसेनकी अँगुलियाँ थिरकीं और जादू-सा छाने लगा, फिर उसका मधु-धुला गला। आस-पासकी चेतन वस्तुएँ भी जड प्रतीत पड़ने लगीं, वह एँड़ियोंके बल नितम्बोंको स्थिरकर आँखें बंद किये राग अलाप रहा था। अकबरके शरीरमें रह-रहकर सिहरन छा जाती थी। श्रोता विस्मय-विमुग्ध थे।

संगीतका कार्यक्रम समाप्त हुआ तो मुगल-सम्राट्ने पूछा—'तानसेन! क्या तुमसे भी कोई अच्छा गा सकता है?'

'जी हाँ, जहाँपनाह!'—तानसेन बोला—'अपने गुरुकी तुलनामें, मैं उनके चरणोंकी धूल भी नहीं।'

'अच्छा!'—सम्राट्के विस्मयका ठिकाना न रहा—'हम एक दिन उनका भी सङ्गीत सुनना चाहते हैं।'

'पर वे किसीको सुनाते नहीं हजूरे आलम!'—चिन्तित हो तानसेनने कहा।

पर अकबरके हृदयमें तीव्र लालसा जाग चुकी थी। तानसेनने एक तदबीर सोची। फिर सम्राट्के साथ गुरु-महाराजकी निवासभूमिमें चला। सुरम्य उपवन, हरे पादपोंकी लम्बी सघन श्रेणी, उत्तर भागमें लता-वलयित सुषमा-सेवित पर्णकुटीर!—अकबर भेष बदलकर नंगे पाँवों साथ आया था। दरख्तोंकी आड़में छिपकर उसे बैठनेकी सलाह देते हुए तानसेनने पर्णकुटीरकी ओर अंगुलीसे निर्देश किया। स्वामी हरिदास समाधिस्थ थे।

सम्राट् वहीं छिपकर बैठा रहा। कान खड़े थे। तानसेन बाहर निकला और पास आकर स्वामीके पावन चरणोंपर माथा टेक दिया उसने।

'कौन तानसेन!'—स्वामी हरिदासकी आँखें खुल पड़ीं। अधरोंपर मन्दहास्य नर्तित हो उठा—'कहो, स्वस्थ-सानन्द हो न?'

'जी हाँ'—तानसेन श्रद्धानत खड़ा रहा।

'किस उद्देश्यसे आना हुआ?'—स्वामीने आगे पूछा।

'जी?'—वह बोला—'आपने यह जो राग विशेष बतलाया था न, मैं उसे भूल गया हूँ गुरुदेव!'

'कोई बात नहीं'—स्वामी हरिदास बोले—'मैं अभी बतला देता हूँ। पर पहले तुम ही गाओ, देखूँ कहाँ भूलते हो!'

तानसेनने तानपूरा उठा लिया और जान-बूझकर गलत राग अलापने लगा। स्वामी हरिदासने रोका और तानपूरा हाथोंमें ले लिया। फिर अंगुलियाँ फिरने लगीं। तारोंमें कम्पन छाना था कि चराचर झूमने लगा। संगीत मूर्त्त हो पवन-तरंगोंपर तैर रहा था।

तानसेन उठकर सम्राट्के पास आया। देखा—अकबर मूर्च्छित पड़ा है। पास ही स्वच्छ सरोवर था। पर्ण-पुटोंमें जल लाकर उसने छींटे मारे तो वह होशमें आने लगा जैसे किसी सुहावने सपनेसे जाग रहा हो।

'कहिये, आपने सुना जहाँपनाह?'—तानसेनने पूछा, पर अकबर टुकुर-टुकुर ताकता भर रहा।

'तुम ऐसा क्यों नहीं गा सकते तानसेन?'—सम्राट्ने कुछ ठहरकर पूछा।

'मैं बादशाहको खुश करनेके लिये गाता हूँ जहाँपनाह'—तानसेनने एक दीर्घनिःश्वास छोड़ी—'पर मेरे गुरुदेव उसे खुश करनेके लिये गाते हैं, जो बादशाहोंका बादशाह है।'

अकबरकी आँखें विस्मयसे फैल गयीं।

बौद्धधर्ममें मानवता

(लेखक—श्रीरासमोहन चक्रवर्ती एम्०ए०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

बौद्धधर्ममें साधककी रुचि और अधिकारभेदसे त्रिविध यान या साधनमार्ग प्रचलित हैं। जैसे—(१) श्रावक यान (२) प्रत्येक बुद्धयान तथा (३) बोधिसत्त्व यान। श्रावकयानका साधक अपने दुःखके नाशके लिये योग्य कल्याण-मित्र या गुरुसे साधन ग्रहण करके अर्हत् पदकी प्राप्तिकी चेष्टा करता है। उसकी साधनाका मुख्य लक्ष्य होता है बोधि या परमार्थ-ज्ञान प्राप्तकर दुःखोंसे निवृत्ति-सम्पादन करना। जो साधक गुरुके उपदेशके बिना ही अपनी निजी प्रतिभासे उत्पन्न ज्ञानके बलसे साधन-पथमें अग्रसर होकर बोधिकी प्राप्तिमें समर्थ होता है, वह प्रत्येक बुद्ध (पच्चेक बुद्ध) कहलाता है। इस श्रेणीके साधक सिद्धि प्राप्त करके भी दुःखद्वन्द्वमय संसारसे दूर रहकर निर्जनमें ध्यान-समाहित अवस्थामें विमुक्ति-रसके आस्वादनमें रत रहते हैं। जनसमाजमें लौटकर जनताको बोधिमार्गमें प्रवर्तित करनेके लिये बाह्य कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते। 'पच्चेक बुद्धा सयमेव बुज्झन्ति, परे न बोधेन्ति'—प्रत्येक बुद्ध स्वयं ही बोधि प्राप्त करते हैं, दूसरोंको बोधिका उपदेश देकर प्रबुद्ध नहीं करते। बोधिसत्त्व-यानके साधक केवल अपनी ही दुःख-निवृत्तिके लिये बुद्धत्वकी प्राप्ति नहीं करना चाहते। सब जीवोंके क्लेशनाशको उद्देश्य बनाकर वे तपस्या करते हैं। बुद्धत्व प्राप्त करके वह 'सत्त्वार्थ क्रिया' या सब जीवोंके हित-साधनमें अपनेको लगा देते हैं। बोधिसत्त्व-यानका अवलम्बन कर जो बुद्धत्व प्राप्त करते हैं, उनके सम्बन्धमें कहा गया है कि 'बुद्धा सयमेव बुज्झन्ति, परे च बोधेन्ति'। बुद्धलोग स्वयं भी बोधिकी प्राप्ति करते हैं और दूसरोंको भी बोधिका उपदेश देकर प्रबुद्ध करते हैं।

श्रावक और प्रत्येक बुद्धयान साधारणतः 'हीनयान' के नामसे और बोधिसत्त्व-यान 'महायान' के नामसे पुकारा जाता है। इन दोनोंके आध्यात्मिक दृष्टिकोणके भेदको स्पष्ट करनेके लिये श्रीमद्भागवतका एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है। भक्तराज प्रह्लाद भगवान् श्रीनृसिंहजीसे कहते हैं—

> प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
> मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
> नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
> नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥
> (श्रीमद्भा० ७।९।४४)

'हे देव! मुनिलोग प्रायः अपनी मुक्तिकी कामनासे मौनावलम्बन करके निर्जन प्रदेशमें विचरण किया करते हैं, उनको परोपकार करनेकी निष्ठा नहीं होती। इन सब दीनजनोंको छोड़कर मैं अकेला मुक्ति प्राप्त करना नहीं चाहता। इस संसारमें मनुष्य नाना प्रकारकी अवस्थाओंमें पड़कर केवल भ्रमता रहता है, इस प्रकारके विभ्रान्त लोगोंको तुम्हारे बिना और कोई आश्रयदाता नहीं।'

इस श्लोकमें कथित मुनिगण, जो अपनी मुक्तिकी कामनासे साधना करते हैं, परंतु परोपकार-रत नहीं होते, बौद्धशास्त्रोंमें इस प्रकारके साधकोंको ही श्रावक और प्रत्येक बुद्ध नामसे पुकारते हैं और जो लोग अकेले मुक्ति प्राप्त करना नहीं चाहते, परंतु सर्वप्राणियोंके दुःखनिवारणमें प्रयत्नशील हैं, बौद्धशास्त्रोंमें वे ही बोधिसत्त्व नामसे पुकारे जाते हैं। बुद्धत्वकी प्राप्तिके लिये बोधिसत्त्व निम्नलिखित संकल्प लेते हैं—

'बुद्धो बोध्येय्युं, मुत्तो मोचेय्युं, तिण्णो तरेय्युं'।

मैं बुद्ध होकर दूसरेको भी बोधिकी प्राप्तिमें सहायता करूँगा। स्वयं मुक्त होकर दूसरेको भी मुक्त करूँगा, स्वयं संसार-सागरसे उत्तीर्ण होकर दूसरेको भी उत्तीर्ण करूँगा।

बोधिसत्त्व और मानवताका आदर्श

भगवान् गौतम बुद्ध अपने बुद्धत्वकी प्राप्तिके पूर्व अनेकों जन्मोंमें 'बोधिसत्त्व' (भावी-बुद्ध) अवस्थामें थे। उन जन्मोंमें उन्होंने जीवोंके हित-सुख-सम्पादनके लिये नाना प्रकारके स्वार्थत्याग, यहाँतक कि अपने प्राणोंतककी बलि प्रदान कर दी थी। 'जातक' ग्रन्थमें वर्णित बुद्धके पूर्वजन्मोंके आख्यानोंसे बोधिसत्त्वके आदर्शका ऐसा परिचय प्राप्त होता है। बौद्धधर्मकी महायान-शाखामें बोधिसत्त्वके आदर्शके प्रति विशेष गुरुत्व प्रदान किया गया है तथा बोधिसत्त्व मानवताके आदर्शके रूपमें प्रतिष्ठित हुए हैं।

'बोधिचर्यावतार' ग्रन्थकी टीकामें आचार्य प्रज्ञाकरमति

'बोधिसत्त्व' शब्दका इस प्रकार अर्थ निर्धारण करते हैं—

'बोधौ ज्ञाने सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः'

(बोधिचर्यावतार-पञ्जिका पृ० ४२१)

बोधि अर्थात् परमार्थज्ञानकी प्राप्तिमें जिसका सत्त्व या अभिप्राय है, वही बोधिसत्त्व है। बोधिकारक धर्मोंमें 'महाकरुणा' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इसी कारण बोधिसत्त्वकी प्रथम चर्या या आचरणीय है—'महाकरुणा'।

(क) महाकरुणा

'आर्यगयशीर्ष' नामक महायान-सूत्रग्रन्थमें एक प्रश्न आता है—'हे मंजुश्री! बोधिसत्त्वोंकी चर्याका प्रारम्भ कैसे होता है? उसका अधिष्ठान अर्थात् आलम्बन क्या है?'

'मंजुश्रीराह—

महाकरुणारम्भा देवपुत्र बोधिसत्त्वानां
चर्या सत्त्वाधिष्ठानेति विस्तरः।

मंजुश्रीने उत्तर दिया—'हे देवपुत्र! बोधिसत्त्वोंकी चर्या महाकरुणासे आरम्भ होती है तथा दुःखार्त्त जीवोंको आलम्बन करके इस करुणाकी प्रवृत्ति होती है।'

'आर्यधर्मसंगीति' नामक महायान-ग्रन्थमें कहा है कि बोधिसत्त्वके लिये बहुत धर्मशिक्षाकी बात अनावश्यक है। बोधिसत्त्वको केवल एक धर्म स्वायत्त करना आवश्यक है। उसके हस्तगत होनेपर सारा बुद्धधर्म ही हस्तगत हो जाता है। जिस ओर महाकरुणाकी प्रवृत्ति होती है, उधर ही समस्त बुद्धधर्मकी प्रवृत्ति होती है। जैसे जीवितेन्द्रिय (प्राण) के रहनेपर अन्यान्य इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार 'महाकरुणा'के रहनेपर बोधिकारक अथवा बोधिपाक्षिक धर्मोंकी प्रवृत्ति होती है।'

(बोधिचर्यावतार-पञ्जिका पृ० ४८६-४८७)

समस्त जीवोंका हितसुख-सम्पादन ही बोधिसत्त्वका जीवन-व्रत है। जीवके दुःखसे ही वे दुःखित रहते हैं, जीवका सुख ही उनका सुख है। दूसरोंके दुःखके निवारणके पवित्र व्रतका उद्यापन करनेके लिये बोधिसत्त्व चरम आत्मत्याग करनेको सदा प्रस्तुत रहते हैं। महायान-शास्त्रमें लिखा है कि अवलोकितेश्वर और मंजुश्री अबतक बोधिसत्त्वके रूपमें अवस्थित हैं—सब जीवोंको निर्वाणके पथमें सहायता करनेके उद्देश्यसे। जबतक विश्वके क्षुद्रातिक्षुद्र प्राणीको दुःखसे मुक्ति नहीं मिल जाती, तबतक बोधिसत्त्व अपनी मुक्तिकी कामना नहीं करते। आचार्य शान्तिदेव (ईस्वी सातवीं शताब्दी) ने 'बोधिचर्यावतार' तथा 'शिक्षा-समुच्चय' नामक ग्रन्थमें बोधिसत्त्वके जीवनादर्श और साधनाका गम्भीर और उदात्त विवरण प्रदान किया है तथा बोधिसत्त्वके महामैत्री और महाकरुणाके आदर्शको मानवताके विकासके लिये बहुत ही आवश्यक बतलाया है। महामैत्री और महाकरुणाके सम्बन्धमें आचार्य शान्तिदेव कहते हैं—

कतमा बोधिसत्त्वानां महामैत्री? आह—यत्कायजीवितं च सर्वकुशलमूलं च सर्वसत्त्वानां निर्यातयन्ति, न च प्रतीकारं काङ्क्षन्ति। कतमा बोधिसत्त्वानां महाकरुणा? यत्पूर्वतरं सत्त्वानां बोधिमिच्छन्ति नात्मन इति। (शिक्षासमुच्चय ७)

'बोधिसत्त्वोंकी महामैत्री क्या है?—जिनमें यह महामैत्री उत्पन्न हो गयी है, वे अपने देह, अपने जीवन, अपने सर्व कुशलोंके मूलपर्यन्त, सब कुछ जीव-जगत्को दान कर देते हैं, तथापि उसके बदलेमें कुछ नहीं चाहते। बोधिसत्त्वोंकी महाकरुणा क्या है?—वे सर्वप्रथम जगत्के सब प्राणियोंके लिये बोधिकी आकाङ्क्षा करते हैं, अपने लिये नहीं।'

इन महाकारुणिक बोधिसत्त्वोंका सर्वस्व पर-कल्याणके लिये उत्सर्गीकृत होता है। बोधिसत्त्वका धर्म-जीवन, उनकी चरित्र-रक्षा स्वर्गके लिये या इन्द्रत्वकी प्राप्तिके लिये नहीं होती। अपना कोई भोग, कोई ऐश्वर्य, देहके वर्ण, रूप या सौन्दर्यकी प्राप्तिके लिये नहीं है, यशके लिये नहीं है। सारे जीवोंके हितके लिये, सुखके लिये, कल्याणके लिये ही उनका धर्म-जीवन, उनकी चरित्र-रक्षा होती है।

सब जीवोंके प्रति बोधिसत्त्वके प्रेमकी गम्भीरताको बतलाते हुए कहते हैं कि 'यथापि नाम श्रेष्ठिनो वा गृहपतेर्वा एकपुत्रके गुणवति मज्जागतं प्रेम, एवमेव महाकरुणा प्रतिलब्धस्य बोधिसत्त्वस्य सर्वसत्त्वेषु मज्जागतं प्रेमेति।'—

(शिक्षासमुच्चय १६)

एकमात्र गुणवान् पुत्रके ऊपर किसी श्रेष्ठी या गृहस्वामीका जैसा मज्जागत प्रेम होता है, महाकारुणिक बोधिसत्त्वका भी समस्त जीव-जगत्के ऊपर वैसा ही मज्जागत प्रेम है।

महाकरुणाके आवेशमें बोधिसत्त्व सब जीवोंके उद्धारका व्रत ग्रहण करते हैं; और यह जानकर भी कि इस व्रतका उद्यापन करनेमें उनको अत्यन्त दुःख और पीड़ा भोगनी पड़ेगी, यहाँतक कि प्राण-त्याग तक करना पड़ेगा, वे भयभीत

या विचलित नहीं होते और ग्रहण किये हुए व्रतको कभी नहीं छोड़ते। इसी कारण जब उनका देह छिन्न होने लगता है, तब भी वे सब प्राणियोंके ऊपर मैत्रीका विस्तार करते हैं और जो उनके देहको खण्ड-खण्ड करते हैं, उनके उद्धारके लिये भी वे शान्तभावसे सब अत्याचार सहन करते हैं। बोधिसत्त्व इस प्रकारका दृढ़ संकल्प लेते हैं—

'अहं च दुःखोपादानं उपाददामि। न निवर्त्ते, न पलायामि, नोत्त्रस्यामि, न संत्रस्यामि, न बिभेमि, न प्रत्युदावर्त्ते, न विषीदामि।

(शिक्षासमुच्चय १६)

'मैं सबके दुःखका भार ग्रहण करता हूँ, मैं कदापि इस कार्यसे निवृत्त न होऊँगा, न भागूँगा, न संत्रस्त होऊँगा, न डरूँगा, मैं कदापि इस पथसे न लौटूँगा, मैं खेद न करूँगा।'

'मया सर्वसत्त्वाः परिमोचयितव्याः। मया सर्वजगत् समुत्तारयितव्यम्। जाति-कान्तारात्, जरा-कान्तारात्, व्याधिकान्तारात् सर्वापत्तिकान्तारात्, सर्वापायकान्तारात्, अज्ञानसमुत्थितकान्तारात्, मया सर्वसत्त्वाः सर्वकान्तारेभ्यः परिमोचयितव्याः'

(शिक्षासमुच्चय १६)

'जगत्के सब प्राणियोंको मुक्त करना पड़ेगा, समस्त जगत्का उद्धार करना होगा। जन्म-मृत्युके अद्भुत पथसे, जरा-व्याधिके गहन वनसे, कलुषसे, विनाशसे, अज्ञानान्धकारके गहन गह्वरसे सब प्रकारके दुरूह, दुर्गम अरण्यसे सारे जीव-जगत्को हमें मुक्त करना होगा।'

कितने कालतक बोधिसत्त्व इस जीवोद्धारके व्रतका पालन करेंगे?

एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा।
भवेयमुपजीव्योऽहं यावत् सर्वे न निर्वृताः॥

(बोधिचर्यावतार ३। २१)

'अनन्त आकाशमें जितने जीवलोक हैं, उनमें जितने जीव हैं, जबतक वे सब जीव मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेते, तबतक मैं इसी प्रकार उनकी सेवा करता जाऊँगा।'

परान्तकोटिं स्थास्यामि सत्त्वस्यैकस्य कारणात्।

(शिक्षासमुच्चय २)

'एक प्राणीके लिये भी सृष्टिके अन्ततक कोटि-कोटि वर्षोंतक मैं इस जगत्में रहूँगा।'

परम कारुणिक बोधिसत्त्वगण अपनी मुक्तितकको तुच्छ मानकर कैसे इस रूपमें जीवोद्धार-व्रतका पालन करनेमें समर्थ होते हैं? उनकी इस अपूर्व शक्तिका स्रोत कहाँ है?— इस रहस्यको वे स्वयं ही प्रकट कर गये हैं—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

(बोधिचर्यावतार ८। १०८)

'जीव जब दुःख-बन्धनसे मुक्त होते हैं, तब उससे बोधिसत्त्वके हृदयमें जो आनन्दका समुद्र उमड़ पड़ता है, उतना ही तो पर्याप्त है। रसहीन शुष्क मोक्षसे क्या प्रयोजन?'

बोधिचित्त और बोधिचर्या
(मानवताकी साधना)

बौद्धशास्त्रमें कहा गया है कि बोधि या बुद्धत्व-प्राप्तिके निमित्त पहले बोधिचित्त पैदा करना पड़ेगा। 'सारे जगत्के सब प्राणियोंके सब दुःखोंको दूर करनेके लिये मैं बुद्ध बनूँगा' इस प्रकारके संकल्प तथा उन संकल्पोंके साधनके लिये प्राणपणसे प्रयास करना ही 'बोधिचित्त' कहलाता है। इस बोधिचित्तका सम्पादन करके बोधि या बुद्धत्वकी प्राप्तिके लिये जो चर्या या विशेष साधन-पद्धति अवलम्बन की जाती है, उसका नाम है—'बोधिचर्या।'

मनुष्य साधारणतः व्यक्तिगत स्वार्थचिन्तनमें मग्न रहता है। अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये दूसरेको दुःख पहुँचानेमें वह तनिक भी नहीं हिचकिचाता। अपने स्वार्थका त्याग करके परार्थ आत्मदानका संकल्प या प्रयास करना 'मानवताकी साधना' है। इस साधनामें जो मनुष्य जितना ही अग्रसर हो सकता है, वह उतना ही 'मनुष्य'—पद-वाच्य है। स्वार्थपूर्ण क्षुद्र जीवन-चेष्टाका परित्याग करके सब जीवोंके दुःखोंके निवारणार्थ जो बृहत्तर जीवन-यापनका संकल्प ग्रहण करना है, उसीको बौद्धशास्त्रमें 'बोधिचित्त-परिग्रह' कहा गया है। इससे जो साधक बोधिचित्त वरण करते हैं, उनको सारे जगत्के सब प्राणियोंके हित-सुख-विधानके लिये अपना सर्वस्व, अपना जीवन—यहाँतक कि अपने समस्त कुशल-कर्मोंके फल तकको दान कर देनेकी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। इसको साधारणतः मानवताकी साधनामें दीक्षा-ग्रहण करना भी कहा जा सकता है—

(क) बोधिचित्त—आचार्य शान्तिदेवने 'बोधिचित्त'की महिमाके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है—

भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः ।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ।
(बोधिचर्यावतार १ । ८)

जो लोग संसारके असंख्य दुःखोंसे उद्धार पाना चाहते हैं; जो जीवके दुःख-शोकको दूर करना चाहते हैं, उनके लिये यह 'बोधिचित्त' अनिवार्य है ।

बौद्धशास्त्रोंमें बोधिचित्तके द्विविध भेद स्वीकृत हुए हैं । जैसे, (१) बोधि–प्रणिधि-चित्त और (२) बोधि-प्रस्थान चित्त । 'सर्व जगत्के परित्राणके लिये मैं बुद्ध बनूँगा' इस प्रार्थना या संकल्पको उठते-बैठते, सोते-जागते, आहारमें, विहारमें सदा अन्तःकरणमें जगाते रहना ही 'बोधि-प्रणिधिचित्त' कहलाता है । बोधि-प्राप्तिके लिये केवल संकल्प मात्र नहीं, बल्कि जीव-सेवाके द्वारा उसकी प्राप्तिके लिये जो सक्रिय उद्योग या प्रचेष्टा होती है, उसे 'बोधि-प्रस्थान-चित्त' कहते हैं । बोधि–प्रणिधि-चित्तको गमन-कामी तथा बोधि-प्रस्थान-चित्तकी गमनकारीके साथ तुलना की जाती है ।

जो साधक क्षुद्र स्वार्थपूर्ण जीवन-यात्राका त्याग करके 'बोधि-चित्त-परिग्रह' या मानवताकी साधनामें दीक्षित होते हैं, आचार्य शान्तिदेव 'बोधिचर्यावतार' ग्रन्थमें उनकी महिमाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

संसारके कारागृहमें बद्ध हतभाग्य मानव बोधिचित्त वरण करते ही सुगत-गणके पुत्रकी संज्ञाको प्राप्त होते हैं और तत्काल वे मनुष्यलोक और देवलोकके लिये वन्दनीय हो जाते हैं । बोधिचित्त इस अपवित्र देहको जिन-रत्न-देहमें परिणत करता है । अतएव यह बोधिचित्तरूपी अन्तरभेदी रसौषधि, जो स्पर्श-मणिके समान लोहेको सोना बना देती है, उसको दृढ़तापूर्वक ग्रहण करो । मानव जिस क्षण अनन्त आकाश-व्यापी जीव-जगत्के सब प्रकारके दुःखोंको छुड़ानेके लिये समाहित चित्तसे बोधिचित्तको वरण करता है, उसी क्षणसे सुप्त, प्रमत्त, सर्वावस्थामें प्रतिक्षण बारंबार आकाशके समान अविच्छिन्न शून्यकी धारा बहती रहती है । जो बोधिचित्त वरण करते हैं, दूसरेके लिये वे जितनी चिन्ता करते हैं दूसरा कोई अपने लिये भी उतनी चिन्ता नहीं करता ।'
(बोधिचर्यावतार प्रथम परिच्छेद)

आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि संसारमें सभी दुःख दूर करना चाहते हैं तथा सभी सुख चाहते हैं । परंतु कैसे वह प्राप्त होगा, इसकी यथार्थ पद्धति उनको ज्ञात नहीं । इसीलिये दुःखसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करने जाकर वे दुःखके ही भीतर प्रवेश करते जाते हैं, सुखकी चेष्टामें मूढ़तावश अपने सुखको ही शत्रुके समान ध्वंस करते हैं । जगत्के सारे दुःखोंको दूर करनेके लिये, जगत्को सब सुखोंसे सुखी करनेके लिये हमलोगोंको इस बोधिचित्तका परिग्रह करना होगा, इसके सिवा शान्तिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

जगदानन्दबीजस्य जगद्दुःखौषधस्य च ।
चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्रमीयताम् ॥
(बोधिचर्यावतार १ । २६)

जगत्के सब जीवोंके सब प्रकारके आनन्दका हेतु, जगत्के सब जीवोंके सब प्रकारके दुःखोंकी महौषधि—इस बोधिचित्त-रत्नका जो पुण्य है, उसका परिमाण कोई कैसे बतला सकता है ?

(ख) बोधिचित्तकी प्रार्थना—जो साधक मानवताकी *साधनामें दीक्षित* होकर बोधिचित्तको वरण करते हैं, उनके विचार और चेष्टाएँ कैसी होती हैं, उनके हृदयकी अभिलाषा क्या होती है ?—इसका एक सुन्दर वर्णन बोधिचर्यावतारमें शान्तिदेवने किया है—

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च ।
तदुपस्थायकश्चैव यावद् रोगोऽपुनर्भवः ॥
क्षुत्पिपासाव्यथां हन्यामन्नपानप्रवर्षणैः ।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ॥
दरिद्राणां च सत्त्वानां निधिः स्यामहमक्षयः ।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ॥
(बोधिचर्यावतार ३ । ७–९)

जो आतुर हैं, रोगी हैं, मैं उनके लिये ओषधि और वैद्य बनूँ, जबतक रोग दूर नहीं हो जाय, मैं तबतक उनका परिचारक बनूँ । अन्न और पानी वितरण करके मैं प्राणियोंकी क्षुधा और पिपासाकी व्यथाको दूर करूँ । अकाल पड़नेपर मैं सबके भोजन-पानीका आश्रय-स्थान बनूँ । दरिद्र लोगोंके लिये मैं अक्षय धन-भण्डार बनूँ । यों नाना प्रकारकी सामग्रियोंको लेकर मैं उनके सामने उपस्थित रहूँ ।

अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम् ।
पारेप्सुनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ॥
दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम् ।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥
(बोधिचर्यावतार ३ । १७-१८)

मैं अनाथोंका नाथ, पथिकोंके लिये पथप्रदर्शक, पार जानेकी इच्छा करनेवालोंके लिये नौका और सेतु-स्वरूप बनूँ। दीप चाहनेवालोंके लिये दीपक, शय्या चाहनेवालोंके लिये शय्या तथा दास चाहनेवाले सब प्राणियोंके लिये दास बनूँ।

(ग) सत्त्वाराधना (जीव-सेवा)—जो बोधिचित्त प्राप्त करके धन्य हो चुके हैं, वे किस प्रकारके दृष्टिकोणसे जीव-जगत्की सेवा करते हैं ?—उनके विचारसे, उनके आराध्य बुद्ध और बोधिसत्त्व ही जीवरूपमें विराजमान हो रहे हैं और 'सत्त्वाराधना' या जीव-सेवा ही वस्तुतः बुद्ध और बोधिसत्त्वकी पूजा है—

दृश्यन्ते एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र ।
(शिक्षा-समुच्चय ७)

भगवान् बुद्ध और बोधिसत्त्व ही सब जीवोंके रूपमें विराजमान हो रहे हैं। इनका अनादर कैसे करें ?

बोधिचर्यावतार-ग्रन्थमें कहा गया है कि 'जीव-सेवाके बिना इन सच्चे बन्धुओं, असीम उपकार करनेवाले बुद्ध और बोधिसत्त्वोंका ऋण-परिशोध अन्य किस उपायसे हो सकता है ? जिन जीवोंके लिये बुद्ध और बोधिसत्त्व अपने देहका खण्ड-खण्ड करके दान कर देते हैं, जिनके उद्धारके लिये नरक तकमें चले जाते हैं, उन जीवोंके हितार्थ तुम जो कुछ करोगे, वही सार्थक होगा और वे जीव तुम्हारे लिये महान् अपकारी हों तो भी तुम सब प्रकारसे उनका कल्याण करो।'

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव ।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव॥
(बोधिचर्यावतार ६ । १२७)

यह सत्त्वाराधना या जीवसेवा ही तथागतकी यथार्थ आराधना है। यही परमार्थ या बुद्धत्व-प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन तथा यही जगत्के दुःखोंका नाश करनेवाला है। अतएव जीव-सेवा ही हमारा व्रत बने। साधकको सदा याद रखना चाहिये कि जीवोंको व्यथित करनेपर कभी बुद्ध और बोधिसत्त्वकी पूजा सार्थक नहीं हो सकती।

आदीप्तकायस्य यथा समन्तात्
न सर्वकामैरपि सौमनस्यम् ।
सत्त्वव्यथायामपि तद्वदेव
न प्रीत्युपायोऽस्ति दयामयानाम् ॥
(बोधिचर्यावतार ६ । १२३)

जिसका शरीर चारों ओरसे जल रहा है, उसको सब काम्य वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर भी जैसे मनमें प्रफुल्लता नहीं प्राप्त होती, उसी प्रकार जीवोंको व्यथित करनेपर किसी भी प्रकारसे दयामय बुद्ध और बोधिसत्त्वोंकी प्रीति नहीं प्राप्त हो सकती।

मानवताकी साधनामें आचार्य शान्तिदेव

आदर्श समाज और राष्ट्रका गठन करके किस प्रकार मनुष्य निर्विवाद सुख-शान्तिसे रह सकता है, किस प्रकार श्रेणी, सम्प्रदाय और जातिगत स्वार्थपरता और भेद-विषमताका त्याग करके संसारके सब लोग एक महा-मिलन-तीर्थमें एक साथ मिल सकते हैं—इस विषयमें विभिन्न देशोंके मानव-प्रेमी मनीषीगण प्राचीन कालसे आधुनिक युगतक नाना प्रकारसे विचार और प्रयत्न करते आ रहे हैं। इन समस्त विचारकोंमें महायानी बौद्धाचार्य शान्तिदेवका एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने सातवीं शताब्दी (ईसवी) के मध्यभागमें गुजरातके राजपरिवारमें जन्म ग्रहण किया था। कहा जाता है कि राज्याभिषेकके एक दिन पहले ही राजकुमार शान्तिदेवने तीव्र वैराग्यके कारण राज्य-ऐश्वर्य, भोग-विलासको तृणवत् परित्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण की। दीर्घकालतक साधनामें रत रहकर शान्तिदेवने सिद्धि प्राप्त की तथा अपने विचार और ज्ञानकी विवृत्तिके रूपमें संस्कृत-भाषामें 'बोधिचर्यावतार', 'शिक्षा-समुच्चय' और 'रत्नसमुच्चय' नामक तीन अमूल्य ग्रन्थोंका प्रणयन किया। प्रज्ञाकरमतिने बोधिचर्यावतारके ऊपर भाष्य-रचना की है। शान्तिदेवने अपने जीवनके अन्तिम दिन नालन्दा विश्वविद्यालयमें बिताये थे।

बोधिचर्यावतार मानवताकी साधनाका अपूर्व ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि नवमसे एकादश शताब्दीके भीतर-भीतर इस ग्रन्थका चीनी, तिब्बती और मंगोली भाषामें अनुवाद हो गया। आधुनिक कालमें भी अंग्रेजी, फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाओंमें इसके कतिपय अनुवाद हो गये हैं। अध्यापक लुई दे ला वाले पुसें (Prof. Louis de la Vallee Poussin) ने प्रज्ञाकरमतिके भाष्यके साथ बोधिचर्यावतारको बंगीय एशिया समिति (Asiatic Society of Bengal, Calcutta 1902–14) से प्रकाशित कराया है। शान्तिदेवके दूसरे ग्रन्थ 'शिक्षा-समुच्चय'को अध्यापक सेसिल बेंडाल (Prof. Cecil Bendal) ने सम्पादन करके सेंट पीटर्सबर्ग (१८९७—१९०२) से

प्रकाशित किया है। उन्होंने इसका एक अंग्रेजी अनुवाद भी पीछे प्रकाशित किया था। शान्तिदेवका 'रत्नसमुच्चय' अबतक प्रकाशमें नहीं आया। बोधिचर्यावतारमें मानवता-का स्वरूप-निदर्शन इस प्रकार किया है कि इतने वर्ष बीत जानेपर आज भी वह पाठकको उद्‌बुद्ध किये बिना नहीं रहता। आधुनिक सभ्यताके संकटकालमें, युग-समस्याके कण्टकित गहन पथमें उसकी वाणी हमको प्रकाश दिखला सकती है।

ग्रन्थकारने पहले ही कहा है कि संसारमें अशुभ या अन्यायका प्रभाव बहुत बढ़ गया है, इसकी शक्ति प्रबल हो गयी है। नाना प्रकारकी शुभ चेष्टाएँ भी संसारमें अवश्य हो रही हैं, परंतु इस भयंकर अन्यायको जीतनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। इसपर विजय प्राप्त कर सकती है केवल 'मैत्री'। स्वर्ग, मोक्ष या निर्वाण तो दूरकी बात है, इसके न रहनेपर संसार ही अचल हो जाता है।

(क) आध्यात्मिक साम्यवाद

आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि इस दुःखमय जगत्‌में यदि सुखोत्सवकी सृष्टि करनी हो तो इसको खण्ड-खण्ड करके अनेक देश, अनेक जाति या अनेक जनके रूपमें न देखकर एक अखण्ड पृथ्वी या प्राणिलोकके रूपमें ही देखना ठीक होगा। दुःखको मेरा दुःख, तेरा दुःख, जातिका दुःख, देशका दुःख—इस प्रकार विच्छिन्न रूपमें न देखकर एक अखण्ड दुःखरूपमें देखकर ही उसका प्रतीकार करना होगा। नहीं तो, संसारसे दुःख दूर नहीं होगा। मोहमुग्ध होकर हमलोग अपने-अपने खण्ड-खण्ड सुखोंके संचयकी चेष्टामें परस्पर एक दूसरेको दुःख देकर हम प्रत्येक घोर दुःखका संचय कर रहे हैं।

नाना प्रकारके अवयवोंसे युक्त होनेपर भी हमारा यह देह जैसे एक और अभिन्न है, यह जगत् भी उसी प्रकार एक, अभिन्न है। देश-जाति या व्यक्ति-विशेष उसके अवयवमात्र हैं। हाथ-पैर-सिर आदि नाना अङ्ग-भेदसे बहुरूप-विशिष्ट इस देहको जैसे हम एक मानकर पालते हैं, समान सुख-दुःखान्वित जीव-जगत्‌को भी उसी प्रकार एक मानकर पालन करना होगा। हाथ-पैरके सुख-दुःख जैसे हमारे लिये विभिन्न नहीं हैं, एक हैं, समस्त जगत्‌के सुख-दुःख भी उसी प्रकार विभिन्न नहीं हैं, एक हैं।

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः।
तथा जगद् भिन्नमभिन्नदुःखसुखात्मकं सर्वमिदं तथैव॥
(बोधिचर्या० ८। ९१)

हाथ-पैर आदि भेदसे शरीरमें विभिन्नता होनेपर भी शरीरको जैसे एक मानकर परिपालन किया जाता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् विभिन्न रूपमें प्रतीयमान होनेपर भी, इसको अपनेसे अभिन्न तथा अभिन्न सुख-दुःखात्मक समझकर इसका परिपालन करना होगा।

इस प्रकार जगत्‌को एक अखण्ड दृष्टिसे देखनेपर सर्वत्र समान सुख हो, सर्वत्र समान पुष्टि हो, इस ओर लक्ष्य होगा। देहके केवल किसी अङ्गविशेषको पुष्टि प्रदान करने-पर जैसे वह अनर्थका कारण जान पड़ता है, उसी प्रकार किसी देश-विशेष या व्यक्ति-विशेषकी उन्नति या पुष्टि होती हो तो उसको अनर्थका कारण समझकर उस पुष्टि या सम्पद्‌को सर्वत्र समानभावसे वितरण करनेकी चेष्टा करनी होगी। इसी प्रकार इस संसारमें 'सुखोत्सव'की पुष्टि होगी और उस सुखोत्सवमें सभी समान रूपसे भाग प्राप्त कर सकेंगे और किसीको भी वञ्चित नहीं होना पड़ेगा।

शान्तिदेवके मतसे, अपने-अपने सुखार्जनका त्याग करने-से ही इहलोक और परलोकमें 'सुखोत्सव'की सृष्टि होती है। लोग मोह-मुग्ध होकर एक दूसरेको दुःख देते हुए घोर दुःखसंचय कर रहे हैं। इस संसारमें जो उपद्रव, जो दुःख, जो भय है—वह सब इस 'मैं' को जकड़कर पकड़े रखनेके कारण है। अतएव इस 'मैं' को जकड़कर पकड़नेसे लाभ क्या है? अग्निका त्याग किये बिना जैसे दाह-त्याग सम्भव नहीं है, उसी प्रकार 'मैं' का त्याग किये बिना दुःखसे बचना भी सम्भव नहीं है।

'दे दूँगा तो खाऊँगा क्या?'—इस प्रकार अपने लिये चिन्ता करके मनुष्य पिशाच हो जाता है। 'मैं ही खा लूँगा तो दूँगा क्या'?—इस प्रकारकी चिन्ता करके दूसरोंकी सेवामें लगनेपर मनुष्य देवाधिदेव बन जाता है। अपने लिये दूसरोंका उत्पीडन करनेपर मनुष्य नरकादिमें जाकर दुःख भोगता है और दूसरोंके लिये अपनेको पीड़ित करके सर्व-सम्पद् प्राप्त करता है। इस संसारमें जो सुखी होते हैं, वे दूसरोंकी सुखाकाङ्क्षासे ही सुखी होते हैं। इस विषयमें और अधिक क्या कहें? स्वार्थरत साधारण मनुष्य और परार्थरत मुनियोंके बीच जो अन्तर है, उसे देखिये। 'अन्यके

दुःखके द्वारा अपना सुख'—इसका परिवर्तन किये विना अर्थात् 'अपने दुःखके द्वारा अन्यका सुख'—इस प्रकारकी चिन्तनधाराको ग्रहण किये विना बुद्धत्वकी सिद्धि तो दूरकी बात है, इस संसारमें ही सुख कहाँ मिलेगा ? परलोककी बात दूर रहे, परार्थबुद्धिके विना इस प्रत्यक्ष जगत्के कार्य भी नहीं बन सकते। (बोधिचर्यावतार अष्टम परिच्छेद)

आचार्य शान्तिदेवने चरित्रमें मानवताका विकास करनेके लिये दो प्रकारके ध्यानके ऊपर विशेष जोर दिया है, जैसे—(१) 'परात्म-समता-ध्यान अर्थात् अपनेको और दूसरेको समान या एक मानकर ध्यान करना; (२) परात्म-परिवर्तन ध्यान अर्थात् परको निज और निजको पर मानकर ध्यान करना। ये दो भावनाएँ जिसमें जितने परिमाणमें गहरी होती जायँगी, उसके जीवनमें उतने ही अधिक परिमाणमें मानवताका विकास होगा। इन दो प्रकारके ध्यानोंके विषयमें आगे 'ध्यान-पारमिता' नामक अनुच्छेदमें आलोचना की जायगी।

मानवताके विकासमें पारमिता साधना

बौद्ध साधक 'बोधिचित्त' ग्रहणके बाद 'पारमिता' साधनाको आवश्यक चर्याके रूपमें अवलम्बन करते हैं। बौद्ध-शास्त्रोंमें मानवताके पूर्ण विकासके लिये विशिष्ट साधन-प्रणाली उद्भावित हुई है। उसीका नाम है 'पारमिता साधना।' 'पारमिता' शब्दका अर्थ है जो पार चला गया है। अर्थात् सर्वापेक्षा उत्कर्षको प्राप्त हुआ है। सर्वोत्कृष्ट दान, सर्वोत्कृष्ट शील आदि दान-पारमिता, शील-पारमिता आदि नामसे अभिहित होती है। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध अपने पूर्व जन्मोंमें निम्नलिखित दस प्रकारके सद्गुणोंका सम्यक् विकास करते-करते गौतम सिद्धार्थ-जन्ममें दस पारमिताओंको पूर्ण करके सम्यक्-सम्बुद्ध हुए थे। पाली बौद्ध-शास्त्रमें दस पारमिताएँ (पारमी) हैं—(१) दान, (२) शील, (३) नैष्कर्म्य, (४) प्रज्ञा, (५) वीर्य, (६) क्षान्ति, (७) सत्य, (८) अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय), (९) मैत्री एवं (१०) उपेक्षा। 'जातक' ग्रन्थमें लिखा है कि बोधिसत्त्व गौतम ५५० जन्मोंकी साधनामें उन्नति करते-करते दस पारमिताओंको परिपूर्ण करके सम्यक् सम्बोधि-रूप लोकोत्तर सम्पत्तिको प्राप्त हुए थे। महायानके बौद्ध ग्रन्थोंमें दस पारमिताके स्थानमें षट् पारमिताका उल्लेख मिलता है। जैसे—(१) दान, (२) शील, (३) क्षान्ति, (४) वीर्य, (५) ध्यान और (६) प्रज्ञा। मानवताके सम्यक् विकासके लिये इन सब पारमिताओंकी साधना अत्यन्त आवश्यक है।

१. दान-पारमिता

मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है, दान करनेसे उसकी स्वार्थ-बुद्धि दूर होती है तथा आत्मविकास होता है। सब जीवोंके निमित्त सारी वस्तुओंका दान या त्याग करना और उसके साथ-साथ दानके फलका भी त्याग करना—'दान-पारमिता' की साधना है। 'रत्नमेघ' नामक महायान सूत्रमें कहा गया है—'दानं हि बोधिसत्त्वस्य बोधिः।' 'बोधिसत्त्वकी बोधि दानमें ही प्रतिष्ठित है।' 'जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता होगी, वह वस्तु बिना सोच किये, बिना फलाकाङ्क्षाका विचार किये उसको प्रदान करूँगा,'—बोधिसत्त्वको इस प्रकारका संकल्प लेना पड़ता है।

'अशोचन्न विप्रतिसारी अविपाकप्रतिकाङ्क्षी परित्यक्ष्यामि।'
(शिक्षासमुच्चय)

दान-पारमिता चित्तप्रधान है। केवल अत्यधिक वस्तुका दान दान-पारमिता नहीं है। चित्तशुद्धिके उत्कर्षके कारण दानका उत्कर्ष होता है—

फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु॥
(बोधिचर्यावतार ५। १०)

चित्तसे समस्त काम्य-वस्तुओंको सब लोगोंके लिये त्याग करना पड़ेगा। इस त्यागके फल स्वर्गादिको भी सबके लिये दान करना पड़ेगा। इस प्रकार क्रमशः त्यागका अभ्यास करनेपर जो मात्सर्यविहीन, निर्मल, निःसङ्ग चित्त उत्पन्न होता है, उसीको 'दान-पारमिता' कहते हैं। अतएव चित्त अर्थात् चित्तकी अवस्थाविशेष ही दान-पारमिता है।

दान-पारमिताके साधक बोधिसत्त्व इस प्रकार विचार करते हैं,—'निर्वाण प्राप्त करनेके लिये सर्वस्व त्याग करना पड़ता है। हमारा मन निर्वाण चाहता है, अतएव जब सब कुछ त्याग करके मुझे जाना है, तब उसे प्राणियोंको दान करना ही श्रेय है।' किस प्रकार अपनेको अकिञ्चन बनाकर दान-पारमिताकी साधना करनी होगी, इस सम्बन्धमें कहा गया है—

यथापि कुंभो सम्पन्नो यस्स कस्स चि अधोकतो।
वमते उदकं निस्सेसं न तत्थ परिरक्खति॥

तथेव याचके दिस्वा हीनमुक्कट्ठ मज्झिमे,
ददाहि दानं निस्सेसं कुंभो विय अधोकतो ॥
(बुद्धवंसो १९९-२००)

जलपूर्ण घड़ेको उलटनेपर जैसे सारी जलराशि नीचे ढुल जाती है, बिन्दुमात्र भी जल नहीं बचता, उसी प्रकार हीन, उत्कृष्ट या मध्यम जिस किसी—प्रकारके भी याचकको देखकर उलटे हुए घड़ेके समान अपने धनका निःशेष दान करना दान-पारमिताकी साधना है।

२. शील-पारमिता

आचार्य अश्वघोषने 'शील' शब्दकी इस प्रकार निरुक्ति की है— 'शीलनात् शीलमित्युक्तम्' (सौन्दरानन्द १३-२७) बार-बार आचरणमें आनेके कारण इसका 'शील' नाम है। शीलोक्त-अनुशासनोंका बार-बार अनुष्ठान करके उन्हें अभ्यस्त करना पड़ता है।

(क) पञ्चशील

(१) प्राणिहिंसासे विरति, (२) परधनके अपहरणसे विरति, (३) मिथ्या-भाषणसे विरति, (४) व्यभिचारसे विरति और (५) मादक-द्रव्यसेवनसे विरति। बौद्ध-शास्त्रमें यह 'पञ्चशील' नामसे प्रसिद्ध है। संसारके समस्त द्वन्द्व-संघर्ष, अशान्ति-उपद्रवकी उत्पत्तिका मूल कारण उपर्युक्त पाँच प्रकारके कर्म ही हैं। इन सब पाप-कर्मोंसे विरति हुए बिना मानवताका विकास नितान्त असम्भव है। इसी कारण बुद्धदेव, मानवताके विकासके लिये कल्याणप्रद मार्गके रूपमें 'पञ्चशील' सबके लिये अवश्य पालनीय है— यह निर्देश कर गये हैं। शील या सदाचारकी उपेक्षा करके कोई मनुष्य या समाज उन्नति प्राप्त नहीं कर सकता। इस विषयमें आचार्य अश्वघोषकी उक्ति ध्यान देने योग्य है—

शीलं हि कारणं सौम्य कान्तार इव दैशिकः।
मित्रं बन्धुश्च रक्षा च धनं च बलमेव च ॥
यतः शीलमतः सौम्य शीलं संस्कर्तुमर्हसि ॥
(सौन्दरानन्द १३ । १८)

कान्तारमें जिस प्रकार पथप्रदर्शक ही एकमात्र आश्रय होता है, उसी प्रकार जगत्‌में एकमात्र शीलका आश्रय लेकर चलना होगा। शील ही एकमात्र मित्र, बन्धु, रक्षा, धन और बल है। अतएव शीलकी विशुद्धि सम्पादन करनेके लिये चेष्टा करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकारके शीलव्रतको अतन्द्रित होकर पालन करना मानवताके साधकके लिये परम कर्तव्य है। शीलव्रतको पूर्ण करनेके लिये सब प्रकारका त्याग स्वीकार करना, यहाँ-तक कि प्राणविसर्जन तकके लिये प्रस्तुत रहना 'शील-पारमिता'की साधना है। बौद्धशास्त्रमें शील-पारमिताके दृष्टान्तके रूपमें कहा गया है—

यथापि चमरी बालं किस्मिञ्चि पटिलग्गितं।
उपेति मरणं तत्थ न विकोपेति बालधिं ॥
तथेव तं चतूसु भूमीसु सीलानि परिपूरय।
परिरक्ख सब्बदा सीलं चमरी विय बालधिं ॥
(बुद्धवंसो २०४ । ५)

जैसे चमरी मृग कण्टकादिमें पुच्छके फँस जानेपर वहाँ ही प्राण त्याग कर देता है, पर पुच्छस्थित केश-गुच्छको छिन्न-भिन्न नहीं करता; उसी प्रकार तुम चतुर्विध शीलभूमिमें स्थित होकर अर्थात् दण्डायमान, गमनशील, उपविष्ट और सुप्तावस्थामें सर्वदा ही अखण्ड भावसे शील-समूहकी रक्षा करो।

बौद्ध साधकको प्रतिदिन ध्यानमें बैठकर इस मन्त्रके द्वारा शीलानुस्मृतिकी भावना करनी पड़ती है—

अहो वत मे सीलानि अखंडानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञुप्पसत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तनिकानीति।

हमारे शील अखण्ड हों, छिद्ररहित हों, निर्मल हों, पाप-स्पर्शसे हीन हों, हमारी शील-साधना स्वेच्छा-प्रसूत हो, विज्ञजनके द्वारा अनुमोदित हो, हमारे शील तृष्णा या मिथ्यादृष्टिके द्वारा प्रभावित न हों तथा हमारी यह शील-साधना समाधिजनक हो।

(ख) चित्त-परिकर्म

चित्तसे ही पापकर्म या पुण्यकर्मका उद्भव होता है। चित्त जबतक विशुद्ध नहीं होता, तबतक पापकर्मसे यथार्थ विरति सम्भव नहीं है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि बाह्य कर्मोंसे विरत होकर भी लोग मन-ही-मन समस्त पापकर्मोंके प्रति अनुराग-पोषण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें शील-साधना व्यर्थ हो जाती है। अतएव शील-परिशुद्धिके लिये 'चित्त-परिकर्म' या चित्तशोधन आवश्यक है।

लब्धे विरतिचित्ते तु शील-पारमिता मता।
(बोधि० ५ । ११)

प्राणि-हिंसा आदि निषिद्ध कर्मोंसे चित्त जब विरति प्राप्त करता है, तभी शील-पारमिता-साधना सार्थक होती है। चित्त-शुद्धि श्रेष्ठ शीलका रूप धारण करती है।

आचारो बोधिसत्त्वानामप्रमेय उदाहृतः।
चित्तशोधनमाचारं नियतं तावदाचरेत्॥
(बोधि० ५। ९७)

मानवताके साधक बोधिसत्त्वोंके द्वारा आचरित शील या आचार असंख्य कहे गये हैं। चित्त-शुद्धिरूप आचारका पालन तो सबके पहले करे।

आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि बाहरके असंख्य दुष्ट जनोंमें कितनोंका वध करेंगे? एकमात्र अपने क्रोधचित्तको वध करते ही सारे शत्रु नष्ट हो जायँगे।

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी॥
बाह्या भावा मया तद्वच्छक्या वारयितुं नहि।
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः॥
(बोधि० ५। १७-१८)

समस्त पृथिवीको आच्छादन करनेके लिये चर्म कहाँसे प्राप्त हो सकता है? अपने पैरमें जूता पहन लेनेसे ही सारी पृथिवी चर्माच्छादित हो जाती है। इसी प्रकार प्रतिकूल बाह्य वस्तुओंको निवारण करना हमारे लिये सम्भव नहीं है। हम अपने चित्तको ही निवारण करेंगे, अन्योंको निवारण करनेकी क्या आवश्यकता है?

शील-पारमिता साधनाके लिये चित्तको सुसंयत करना होता है। काम-क्रोध-मोह आदि शत्रुओंके आक्रमणसे चित्त-नगरको सुरक्षित करनेके लिये दो उपाय निर्धारित हुए हैं— (१) 'स्मृति' और (२) 'संप्रजन्य'। विहित और प्रतिषिद्धके स्मरणको 'स्मृति' कहते हैं। स्मृतिके द्वारा सुरक्षित होनेपर मनुष्य कुमार्गमें पैर नहीं रखता। द्वारपालके समान मनःद्वारपर अवस्थित होकर स्मृति अकुशलको भीतर प्रवेश करनेकी अनुमति नहीं देती। शरीर और चित्तकी अवस्थाका सदा पर्यवेक्षण करते रहनेका नाम 'संप्रजन्य' है। स्मृति और संप्रजन्यकी साधनाके द्वारा चित्तके सुसंयत और समाहित होनेपर वस्तुतत्त्वका ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार शील-पारमिताकी साधनाके द्वारा जब चित्त परिशुद्ध हो जाता है, तभी सब सत्त्वोंके प्रति यथार्थ मैत्रीका भाव जाग्रत् होता है। इस अवस्थाके सम्बन्धमें आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—

ऋजु पश्येत्सदा सत्त्वांश्चक्षुषा संपिबन्निव।
एतानेव समाश्रित्य बुद्धत्वं मे भविष्यति॥
(बोधि० ५। ८०)

इनका अवलम्बन करके ही बुद्धत्वकी प्राप्ति होगी—ऐसा विचार करके सब जीवोंको सतत सरल दृष्टिसे देखो। तुम्हारी प्रेम-रसभरी दृष्टि देखकर जान पड़े कि तुम्हारे नेत्र मानो उनको पान कर रहे हैं।

वस्तुतः सब जीवोंके हित-सुखकी साधनामें सतत लगे रहना ही श्रेष्ठ शील है।

पारम्पर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत्॥
(बोधि० ५। १०१)

साक्षात् या परोक्ष भावमें जीवोंके लिये जो कल्याणप्रद है—वही करे, अन्यथा न करे। जीवोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समस्त कुशलमूलों (अलोभ, अद्वेष, अमोह) को बोधिमें परिणत करे।

३. क्षान्ति-पारमिता

संसारमें मानवता-विरोधी जितनी अशुभ शक्तियाँ हैं, उनमें क्रोध प्रधान है। क्रोधाग्निसे संसारमें दावानलकी सृष्टि न हो सके, इसके लिये मानवताके साधकको सब प्रकारसे प्रयत्न करके 'क्षान्ति' या क्षमाशीलताका अनुशीलन करना चाहिये। दूसरे तुम्हें चाहे जितनी गाली दें, तुम्हारे प्रति चाहे जो दुर्व्यवहार करें, तुम्हें उनके प्रति प्रतिहिंसाका भाव ग्रहण करनेसे विरत रहना पड़ेगा। केवल यही नहीं, उसके विरुद्ध कोई असद् इच्छा या प्रतिहिंसाका भाव भी पोषण नहीं करना होगा। इसीका नाम 'क्षान्ति' है। किस प्रकारसे दिन-प्रतिदिनके जीवनमें 'क्षान्ति' का अभ्यास करना होगा, इस सम्बन्धमें भगवान् तथागतने मौलीफाल्गुन नामक भिक्षुको उपलक्ष्य करके इस प्रकार उपदेश दिया था—

'यदि कोई तुम्हारे सामने ही तुम्हारी निन्दाकी कोई बात कहे, तथापि गृहीजन-उचित छन्द तथा गृहीजनोचित वितर्कका परित्याग करके अपनेको इस प्रकार शिक्षा देना—इससे हमारे चित्तमें विकारकी प्राप्ति नहीं होगी, हम कोई पाप-वाक्य उच्चारण न करेंगे, सर्वभूतोंके हितका चिन्तन

करते हुए, मैत्रीचित्तसे द्वेषरहित होकर अवस्थित रहेंगे।'

'यदि कोई तुम्हें हाथसे, ढेलेसे, डंडेसे अथवा शस्त्रसे चोट पहुँचावे, तो भी गृहीजनोचित छन्द, गृहीजनोचित वितर्कका त्याग करके इस प्रकार शिक्षा देना—'इससे हमारे चित्तमें विकार उत्पन्न न होगा, हम कोई पाप-वाक्य उच्चारण न करेंगे, सब जीवोंके कल्याणकी कामनासे मैत्रीचित्तमें द्वेष-रहित होकर अवस्थित रहेंगे।'

(मज्झिमनिकाय, २१)

बोधिसत्त्वको 'क्षान्ति-पारमिता' साधनाके लिये इस प्रकार संकल्प ग्रहण करना पड़ता है—

यथापि पठवी नाम सुचिम्पि असुचिम्पि च।
सब्बं सहति निक्खेपं न करोति पटिघं दयं॥
तथेव त्वम्पि सब्बेसं सम्मानावमाननक्खयो।
खन्ति पारमितं गन्त्वा सम्बोधिं पापुणिस्ससि॥

(बोधिवंसो २२३-२२४)

जैसे पृथिवीके ऊपर शुचि या अशुचि किसी प्रकारकी भी वस्तु डालनेसे पृथिवी उसके प्रति दया या क्रोध प्रकट नहीं करती, उसी प्रकार तुम भी सारे मानापमानको सहन करके 'क्षान्ति-पारमिता' की पूर्णता प्राप्त करके सम्बोधि लाभ कर सकोगे।

आचार्य शान्तिदेवके 'बोधिचर्यावतार' ग्रन्थके षष्ठ परिच्छेदमें क्षान्ति-पारमिताकी साधन-प्रणाली विशदरूपमें वर्णित हुई है। मानवताके साधक किस प्रकार क्रोध-द्वेष आदिपर विजय प्राप्त करके मैत्रीके पथपर अग्रसर हो सकते हैं—इसका कौशल बताया गया है।

न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात् क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद् विविधैर्नयैः॥

(बोधि० ६।२)

द्वेषके समान पाप नहीं है, क्षमाके समान तपस्या नहीं है, अतएव प्रयत्नपूर्वक तथा विविध उपायोंसे क्षमाशीलताका अभ्यास करे।

क्षान्ति तीन प्रकारकी होती है—(क) दुःखाधिवासना क्षान्ति, (ख) परापकारमर्षण क्षान्ति तथा (ग) धर्म-निध्यान क्षान्ति।

(क) दुःखाधिवासना क्षान्ति

जिस अवस्थामें अत्यन्त अनिष्टकी उत्पत्ति होनेपर भी दौर्मनस्य या मानसिक अशान्ति उत्पन्न नहीं होती, उसको 'दुःखाधिवासना क्षान्ति' कहते हैं। दौर्मनस्यके प्रतिपक्षरूपमें यत्नपूर्वक 'मुदिता' या प्रफुल्लताका अभ्यास किया जाता है। साधक इस प्रकार विचार करके दौर्मनस्यको दूर करे—'जिसकी हम बिल्कुल ही इच्छा नहीं करते, ऐसी परम अनिष्ट वस्तु भी हमको प्राप्त हो जाय तो भी हमारी मुदिता क्षुब्ध नहीं होनी चाहिये; क्योंकि प्रफुल्लता नष्ट करके दौर्मनस्यका आश्रय लेनेसे हमारे अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होगी, बल्कि जो कुशल है, वह भी नष्ट हो जायगा। यदि अनिष्ट-प्राप्ति तथा इष्ट व्याघातके रोकनेका उपाय हो तो दौर्मनस्यका आश्रय क्यों लिया जाय? उनको रोकनेकी चेष्टा करो, फिर सब ठीक हो जायगा और यदि रोकनेका उपाय न हो तो रोकने या व्यर्थ दौर्मनस्यका आश्रय लेनेसे क्या लाभ?

(ख) परापकारमर्षण क्षान्ति

दूसरोंके किये हुए अपकारको सहन करना तथा अपकारी-का अनिष्ट न करना—यही 'परापकार-मर्षण क्षान्ति' कहलाती है। कोई हमारा अपकार करे तो स्वभावतः ही उसके ऊपर हमें क्रोध आता है तथा बदला लेनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थितिमें क्रोधका दमन तथा दूसरोंका अनिष्ट-साधन करनेकी प्रवृत्तिपर विजय प्राप्त करनेके लिये किस प्रकारकी भावना करनी चाहिये, इसपर आचार्य शान्तिदेव कहते हैं—'जब कोई डंडेद्वारा हमपर आघात करता है, तब हम डंडेके ऊपर क्रुद्ध नहीं होते; जो डंडे चलाते हैं उन्हींके ऊपर क्रुद्ध होते हैं।'

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरम्॥

(बोधिचर्यावतार ६।४१)

मुख्य दण्ड आदिको छोड़कर यदि हम उनके प्रेरकके ऊपर क्रोध करते हैं, तो द्वेषके प्रति ही हमारा विद्वेष करना ठीक है; क्योंकि वह दण्डादिका प्रेरक भी द्वेषके द्वारा ही प्रेरित होता है।

मत्कर्मचोदिता एव जाता मय्यपकारिणः।
येन यास्यन्ति नरकान्मयैवामी हता ननु॥

(बोधि० ६।४७)

मैंने पहले इनका अपकार किया था, मेरे उसी पाप-कर्मके द्वारा प्रेरित होकर ही ये मेरे अपकारी बनकर जन्मे

हैं। अब इस दुष्कर्मके कारण ये नरकमें जायँगे अतएव देखा जाता है कि मैंने ही इनका सर्वनाश किया है।

(ग) धर्म-निध्यान-क्षान्ति

धर्म या पदार्थके स्वरूप-चिन्तनके द्वारा भी क्षान्ति या क्षमाशीलताका अनुशीलन किया जा सकता है। जब संसारके सभी पदार्थ क्षणिक और निस्सार हैं, तब किसके ऊपर क्रोध किया जाय, किससे द्वेष किया जाय? अतएव क्षमा ही जीवनका मूलमन्त्र है। मन अमूर्त है, अतएव कोई कभी उसपर आघात नहीं कर सकता। शरीरके प्रति आसक्तिवश ही मन देहके दुःखमें अपने दुःखकी कल्पना करके दुःखित होता है। धिक्कार, कर्कश-वाक्य, निन्दा आदि देहपर आघात नहीं करते, मनपर तो आघात कर ही नहीं सकते। तब हे मन! तुम क्यों दुखी होते हो? तुम शत्रुका अनिष्ट चाहते हो। यदि उसका अनिष्ट हो ही गया तो उससे तुम्हें क्या लाभ होगा? उससे तुम्हारी क्या तृप्ति होगी? फिर तुम्हारे चाहने मात्रसे ही क्या उसका अनिष्ट हो जायगा? और यदि दैवात् तुम्हारे चाहनेसे उसका अनिष्ट ही हो गया, तो क्या उसके दुखी होनेसे तुम्हें सुख होगा? इस प्रकारकी घटनाको यदि स्वार्थ-सिद्धि कहते हो, तो अनर्थ किसे कहोगे?

> एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशिकार्पितम्।
> यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु॥
> (बोधि० ६। ८९)

याद रक्खो, इस प्रकारका पर-अनिष्ट-चिन्तन ही वह भयङ्कर वंसी है, जिसे क्लेशरूपी वंसी लगानेवाले शिकारीने तुमको फँसानेके लिये फेंक रक्खा है। यदि तुम इसमें फँस गये तो यमदूत तुमको इससे खरीदकर कुम्भीपाक नरकमें पकावेंगे।

इस प्रकारके चिन्तनके द्वारा मन क्षान्तिका आश्रय ग्रहण करेगा, व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवनमें क्षान्तिके अनुशीलनके द्वारा परिवार, समाज और राष्ट्रमें वाद-विवाद, श्रेणी-संघर्ष तथा युद्ध-विग्रह शान्त हो जायँगे और जगत्में शान्ति प्रतिष्ठित होगी। इसी कारण भगवान् तथागतने कहा है—'खन्त्या भिय्यो न विज्जति'—(संयुत्त-निकाय १। २२२)। जगत्में 'क्षान्ति'की अपेक्षा श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है।

४. वीर्य-पारमिता

जगत्में सबके दुःखको अपने कंधोंपर उठाना पड़ेगा। अपना सर्वस्व, यहाँतक कि प्रयोजन होनेपर प्राण-दान करके भी परहित-व्रत-साधन करना होगा। वीर्यके बिना इस प्रकारके कठिन व्रतका सम्पादन करना सम्भव नहीं है। इसीसे कहा गया है—

> एवं क्षमो भजेद् वीर्यं वीर्ये बोधिर्यतः स्थिता।
> न हि वीर्यं विना पुण्यं यथा वायुं विना गतिः॥
> (बोधिचर्यावतार ७। १)

'इस प्रकार क्षमाशील होकर वीर्यका आश्रय लेना होगा; क्योंकि वीर्यमें ही बोधि अवस्थित है। वायुके बिना जैसे गति सम्भव नहीं, उसी प्रकार वीर्यके बिना पुण्य भी सम्भव नहीं है।'

'किं वीर्यं कुशलोत्साहः।' (७। २) 'वीर्य' किसे कहते हैं? कुशल-कर्ममें उत्साह ही 'वीर्य' कहलाता है। वीर्यका विरोधी है—आलस्य, कुत्सित विषयमें आसक्ति, विषाद या अनध्यवसाय तथा आत्मावमानना अर्थात् अपने प्रति अश्रद्धा और अविश्वास। वनचारी सिंह जैसे गमन, उपवेशन, भ्रमण और शयन सभी अवस्थाओंमें वीर्य प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार बोधिके साधकको भी सर्वदा वीर्यका आश्रय लेकर चलना होगा। वीर्य-पारमिताकी साधनाके निमित्त नीचे लिखे साधनोंको ग्रहण करना होगा। जैसे (क) अविषाद, (ख) बल-व्यूह, (ग) तत्परता और (घ) आत्मविधेयता।

(क) अविषाद

मानवताकी साधनामें सिद्धि प्राप्त करना अति दुष्कर है, यह मार्ग अत्यन्त विघ्नोंसे भरा हुआ तथा विषम दुःखप्रद है। इस प्रकारकी चिन्ता करते रहनेसे मन अवसन्न हो जाता है। वैसी अवस्थामें इस प्रकारकी भावनाके द्वारा मनके अवसादको दूर करना चाहिये—

> नैवावसादः कर्तव्यः कुतो मे बोधिरित्यतः।
> यस्मात् तथागतः सत्यं सत्यवादीदमुक्तवान्॥
> (बोधिचर्यावतार ७। १७)

मैं दीन हूँ, मुझे किस प्रकार बोधि या बुद्धत्वकी प्राप्ति होगी, इस प्रकारकी चिन्ता करके खेदयुक्त होना ठीक नहीं। तथागत सत्यवादी हैं, वे जब कहते हैं कि वीर्यके द्वारा बोधिकी प्राप्ति होगी, तो वह अवश्य ही होगी।

(ख) बल-व्यूह

साधन-समरमें विजय प्राप्त करनेके लिये साधकको एक चतुरङ्गिणी सेना संगठित करके उसकी सहायतासे

मानवताकी प्रतिद्वन्द्वी अशुभ शक्तियोंके साथ सतत संग्राम चलाते जाना आवश्यक है। बल-व्यूह चार प्रकारका होता है—(१) छन्द, (२) स्थाम, (३) रति, (४) मुक्ति। कुशलाभिलाषाको छन्द कहते हैं। अशुभ कर्मसे दुःख-प्राप्ति होती है तथा शुभ कर्मसे नाना प्रकारके मधुर फल उत्पन्न होते हैं, इसका विचार करते-करते कुशल कर्ममें 'छन्द' या अनुरागका संचार होता है। आरब्धकर्ममें दृढ़ता और ऐकान्तिक निष्ठाका नाम 'स्थाम' है। इस दृढ़ताकी वृद्धिके लिये साधकको आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धा जाग्रत् करनी पड़ती है।

मया हि सर्वं जेतव्यमहं जेयो न केनचित्।
मयैष मानो वोढव्यो जिनसिंहसुतो ह्यहम्॥
(बोधिचर्यावतार ७। ५५)

मैं जिन (बुद्ध) सिंहका पुत्र हूँ। मैं काम-क्रोधादि सब शत्रुओंको जीत लूँगा। मुझे कोई नहीं जीत सकेगा। अन्तःकरणमें इस प्रकारका 'मान' हमको ढोते चलना चाहिये।

सत्कार्यमें अत्यन्त अनुरागको 'रति' कहते हैं। यह बल-व्यूहका तृतीय साधन है। चतुर्थ साधन 'मुक्ति' या त्याग है। सामर्थ्यके बाहरकी बात हो तो आरब्ध कार्यको कुछ समयके लिये स्थगित करना, व्यर्थ उद्यम करके क्लिष्ट न होनेका नाम 'मुक्ति' (Relaxation) है।

(ग) तत्परता

साधनामें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये साधकको पद-पदपर विशेष सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। इसीका नाम 'तत्परता' या 'निपुणता' है।

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः।
स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात्तथा व्रती॥
(बोधि० ७। ७०)

राजाज्ञासे दण्डित पुरुष तैलपूर्ण पात्र हाथमें लेकर असिधारी राजपुरुषोंके द्वारा घिरकर 'बिन्दुमात्र भी तेल गिरनेसे प्राण चला जायगा'—इस भयसे जैसे अत्यन्त सावधानीसे चलता है, व्रतधारी साधकको भी ठीक उसी प्रकार सावधानतापूर्वक साधनपथमें चलना पड़ेगा।

(घ) आत्मविधेयता

आलस्य, जड़ता आदिके द्वारा कहीं साधनामें शिथिलता न आ जाय, केवल उत्साहवश साधन-पथमें जिससे सहज प्रगति हो, इस प्रकार आलस्यादिके द्वारा चित्तका वशीभूत न होनेवाला भाव ही 'आत्मविधेयता' या 'आत्मवशवर्तिता' कहलाता है।

यथैव तूलकं वायोर्गमनागमने वशम्।
तथोत्साहवशं यायादृद्धिश्चैवं समृध्यति॥
(बोधि० ७। ७५)

रूई जैसे वायुके झोंकेसे उसकी गतिके अनुसार गमनागमन करती है, तुम भी उसी प्रकार उत्साह या वीर्यके वशीभूत होकर साधनपथमें अग्रसर हो जाओ, इसीसे तुमको सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होगी।

५. ध्यान-पारमिता

वीर्य-पारमिताकी साधनाके द्वारा पूर्ण मानवताकी प्राप्तिमें उत्साहयुक्त होकर साधकको ध्यान-पारमिताकी साधनामें अग्रसर होना पड़ता है। विक्षिप्त-चित्त मनुष्य कदापि काम-क्रोधादि क्लेशोंको रोकनेमें समर्थ नहीं होता। इसके लिये भगवान् तथागतने दो प्रकारकी साधनाका उपदेश दिया है—(१) शमथ या समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रता, (२) विपश्यना अर्थात् समाधिज प्रज्ञा।

ध्यान (शमथ) और प्रज्ञा (विपश्यना) दोनोंके युगपद् अनुशीलनके द्वारा निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। इनमेंसे एकको छोड़कर दूसरेके द्वारा सिद्धि प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

नत्थि झानं अपञ्ञस्स
पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यं हि झानञ्च पञ्ञा च
स वे निब्बानसन्तिके॥
(धम्मपद ३७२)

प्रज्ञाहीन पुरुषको ध्यान नहीं हो सकता और जो ध्यानहीन है, उसको प्रज्ञा उत्पन्न नहीं हो सकती। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों ही हैं, वह साधक निर्वाणके समीप अवस्थित है।

चित्त-विक्षेपको दूर करनेके लिये बुद्धदेवने साधकको ध्यानाभ्यास करनेका विशेषरूपसे निर्देश किया है—

झाय भिक्खु मा च पामदो
मा ते कामगुणे भमस्सु चित्तं।

मा लोहगुलं गिली पमत्तो
मा कन्दी दुक्खमिदं ति डय्हमानो ॥
(धम्मपद—३७१)

हे भिक्षु ! ध्यानपरायण बनो, तुम्हारा प्रमाद दूर हो । तुम्हारा चित्त रूप-रसादि विषयोंमें विचरण न करे । प्रमत्तता-वश तुम विषयसुखरूप अग्निमय लोहके गोलेको निगलकर और दग्ध होकर क्रन्दन न करो कि 'हाय ! कैसा कष्ट है ।'

'ध्यान-पारमिता' के साधकको संसारके भोग-सुखोंकी तुच्छता, क्षुद्रता और कुत्सितताका विचार करके भोग-सुखके प्रति वैराग्ययुक्त होना चाहिये । भोग-सुखके लिये प्राणी जन्म-जन्मान्तर जिस परिमाणमें परिश्रम करते हैं तथा दुःख सहन करते हैं, उसकी तुलनामें अल्प परिश्रम और अल्प दुःख सहन करके वे बुद्धत्वकी प्राप्ति कर सकते हैं, इस प्रकार विचार करके वैराग्य उत्पन्न होनेपर साधकको निर्जन स्थानमें जाकर ध्यान-साधनामें प्रवृत्त होना चाहिये । आचार्य शान्तिदेवने 'बोधिचर्यावतार' के अष्टम परिच्छेदमें मानवताके विकासके लिये दो प्रकारके ध्यानपर विशेष जोर दिया है—(क) 'परात्म-समता ध्यान' अर्थात् परको और निजको समान या एक मानकर भावना करना, तथा (ख) 'परात्म-परिवर्तन ध्यान' अर्थात् परको निज तथा निजको पर मानकर भावना करना ।

(क) परात्म-समता-ध्यान

शान्तिदेव इस ध्यानकी प्रणालीका वर्णन करते हुए कहते हैं—

परात्मसमतामादौ भावयेदेवमादरात् ।
समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत् ॥
(बोधिचर्यावतार ८ । ९०)

पहले परम अभिनिवेशपूर्वक 'परात्म-समता'के विषयमें यह भाव-चिन्तन करना चाहिये कि मेरे सुख या दुःखसे मेरे मनमें जो भाव उत्पन्न होते हैं, दूसरोंके सुख या दुःख भी उनके मनमें उन्हीं भावोंकी उत्पत्ति करते हैं । अतएव जब सबके सुख-दुःख समान होते हैं, तब सबको अपने निजके समान ही पालन करना चाहिये ।

इस ध्यानके द्वारा जब साधकका चित्त भावित होता है, तब वह अति सहज ही तथा स्वभावतः ही परहितके लिये जिस किसी भी दुःखको वरण कर सकता है ।

एवं भावितसंतानाः परदुःखसमप्रियाः ।
अवीचिमवगाहन्ते हंसाः पद्मवनं यथा ॥
(बोधि० ८ । १०७)

इस प्रकार 'परात्म-समता' द्वारा जिनका चित्त भावित है, दूसरोंके दुःखके कारण अपना सुख भी जिनको दुःखवत् प्रतीत होता है, हंस जैसे सानन्द पद्मवनमें प्रवेश करता है, वे भी उसी प्रकार अन्योंके दुःख दूर करनेके कारण अवीचि-नरकमें भी प्रवेश कर सकते हैं ।

श्रीमद्भगवद्गीतोक्त ध्यानयोगमें भी परात्म-समता ध्यान-की महिमा इसी प्रकार वर्णित हुई है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

हे अर्जुन ! सुख हो या दुःख, जो पुरुष अपने समान सबको समझकर सर्वत्र समभावसे देखता है, वही योगी सर्व-श्रेष्ठ है, यही मेरा अभिमत है ।

(ख) परात्म-परिवर्तन-ध्यान

इस ध्यानका उद्देश्य है अपनेको पररूपमें समझकर स्वार्थबुद्धिका त्याग करना तथा परको अपना समझकर परार्थ-सेवामें अपनेको नियुक्त करना । इस ध्यानकालमें साधकको इस प्रकार भावना करनी पड़ती है ।

'अपने और पराये—दोनोंके दुःख दूर करनेके लिये मैं अपने इस 'मैं' को दूसरेको दान कर देता हूँ तथा दूसरोंको 'मैं' के समान ग्रहण करता हूँ । 'मैं दूसरेका हूँ'—हे मन ! यही तुम्हारा सिद्धान्त हो । सब जीवोंकी स्वार्थ-सिद्धिके सिवा तुम अब और कोई दूसरी चिन्ता न करना । यदि तुम यह कर्म (परात्म-परिवर्तन) पहले ही करते तो तुम्हारी ऐसी दशा नहीं होती । बुद्धत्व अवस्थाका सम्यक् सुख तुम्हें प्राप्त हो गया होता । अबतक जिस प्रकार तुमने अपनेमें 'मैं-पन' का आरोप किया था, अबसे उसी प्रकार दूसरोंमें 'मैं-पन' का आरोप करो, दूसरे लोगोंको तुम अब 'मैं' रूपमें समझो । तुम्हारे इस 'तुम' को सुखसे विच्युत करो । इसे परके दुःखका भार ग्रहण कराओ, निकृष्ट दासके समान इसको जन-सेवामें लगा दो । अपने इस 'तुम' के लिये दूसरोंका जो कुछ अपकार तुमने किया है, दूसरोंके उपकारके लिये आज उस सारी दुःख-विपत्तिको अपने इस 'तुम' के ऊपर निक्षेप करो । हे चित्त ! अतीतकालके दुःखोंकी राशि-

का चिन्तन करके मैंने तुम्हें दूसरेके हाथ बेंच दिया है। प्रमादवश यदि तुमको मैं जीवोंको न दे दूँ तो तुम ही मुझको यमदूतोंके सुपुर्द कर दोगे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इस प्रकार अनेकों बार उनके हाथमें मुझको समर्पण करके तुमने मुझको दीर्घकालतक दुःख दिया है। उस शत्रुताकी बात याद करके हे स्वार्थदास! मैं तुमको मार डालूँगा। यदि तुममें वस्तुतः अपनेमें प्रीति है तो अपनेमें प्रीति मत करना। यदि सचमुच अपनी रक्षा चाहते हो तो अपनी रक्षा न करना। जगत्‌के कल्याणके लिये इस देहको मैंने निरासक्त होकर दान कर दिया है, इसी कारण अनेक दोषोंसे युक्त होनेपर भी कर्मके यन्त्र या उपकरणके स्वरूपमें मैंने इसको धारण कर रखा है।'

आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि 'जो अपना और दूसरेका परित्राण तत्काल चाहता है, उसको इस परम गुह्य 'परात्म-परिवर्तन'-ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

६. प्रज्ञा-पारमिता

पूर्वोक्त दान, शील, क्षान्ति, वीर्य और ध्यान--ये पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिताकी केवल सेविका हैं। पञ्च पारमिताओंकी साधनाके द्वारा जब चित्त सम्यक् विशुद्ध या समाहित हो जाता है, तब प्रज्ञा या विपश्यनाका उदय होता है।

> इमं परिकरं सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ।
> तस्मादुत्पादयेत्प्रज्ञां दुःखनिवृत्तिकाङ्क्षया॥
> (बोधि० ९। १)

ये दान, शील आदि पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिताकी परिकर हैं। महामुनि बुद्धने कहा है कि ये केवल प्रज्ञाके लिये हैं। अतएव दुःख-निवृत्तिकी इच्छासे प्रज्ञाको उत्पन्न करे।

शमथ या विपश्यना—ये दो आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति या निर्वाण-प्राप्तिके मुख्य अङ्ग हैं। इनमें शमथ या समाधिके साधनकी प्रणाली 'ध्यान-पारमिता' में कही गयी है। यहाँ विपश्यना या समाधिसे उत्पन्न प्रज्ञाके स्वरूप और उसकी साधन-प्रणालीकी संक्षेपमें आलोचना की जायगी।

दान, शील आदि साधना प्रज्ञाके द्वारा जबतक विशुद्ध नहीं होतीं, तबतक पारमिताके रूपमें उनकी गणना नहीं हो सकती। प्रज्ञा-विशुद्ध दान-शीलादि साधना अविद्याके द्वारा प्रवर्तित क्लेश और आवरण-समूहको निर्मूल करके परमार्थ-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये हेतु बन जाती है। इसी कारण षट् पारमिताओंमें 'प्रज्ञा-पारमिता' का स्थान मुख्यतम है। 'आर्यशतसाहस्री प्रज्ञापारमिता' ग्रन्थमें भगवान् शाक्यमुनि अपने शिष्य सुभूतिसे कहते हैं—'हे सुभूति! जैसे सूर्यमण्डल चारों महाद्वीपोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारमिता ही पञ्च-पारमिताओंको समुज्ज्वल करती है। जैसे सप्तरत्नद्वारा समन्वित हुए बिना कोई भी राजा चक्रवर्तीपदको प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारमितासे विरहित होनेपर दान, शील आदि 'पारमिता' शब्दसे अभिहित नहीं हो सकते। जो जन्मसे ही अन्धे हैं, उनकी संख्या चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हो, बिना मार्ग-प्रदर्शकके वे सभी राह चलनेमें असमर्थ होते हैं। इसी प्रकार दृष्टि-शक्ति-विहीन पञ्च-पारमिताएँ प्रज्ञा-चक्षुकी सहायताके बिना बोधिमार्गमें प्रवेश करनेमें समर्थ नहीं होतीं। जैसे छोटी-छोटी नदियाँ महानदी गङ्गाका अनुगमन करके और उसके साथ मिलकर महासमुद्रमें प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार दान, शील आदि पञ्च-पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिताके द्वारा परिगृहीत होकर तथा उसका अनुगमन करके सर्वाकारज्ञताको प्राप्त होती हैं।

चित्तके सम्यक् स्थैर्यको 'शमथ' या समाधि कहते हैं। सम्यक् समाहित चित्तमें प्रज्ञालोक (विपश्यना)का प्रकाश होता है। शिक्षासमुच्चय ग्रन्थमें लिखा है—

'किं पुनरस्य शमथस्य माहात्म्यम्? यथाभूतज्ञान-जननशक्तिः। यस्मात् समाहितो यथाभूतं जानातीत्युक्त-वान् मुनिः।'

इस शमथ (समाधि)का माहात्म्य क्या है? यथाभूत ज्ञानोत्पादनके विषयमें सामर्थ्यकी प्राप्ति ही इसका माहात्म्य है; क्योंकि भगवान् शाक्यमुनिने कहा है कि जिस साधकका चित्त समाहित है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(क) शून्यता

प्रज्ञा-पारमिताकी साधनासे यथाभूत ज्ञान या परमार्थ तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसीको 'शून्यता' भी कहते हैं। यह शून्यता या शून्यवाद सर्वनास्तित्ववाद (Nihilism) नहीं है। यह बात शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकोंने स्पष्टरूपसे घोषित की है।

'न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थः, स शून्यताशब्दस्यार्थः।

अभावशब्दार्थञ्च शून्यतार्थमित्यध्यारोप्य भवान् अस्मान् उपालभते ।"
(नागार्जुनकृत मूल माध्यमिक कारिकापर चन्द्रकीर्ति-वृत्ति २४ । ७)

'अभाव' शब्दका जो अर्थ है, वही अर्थ शून्यताका नहीं है। अभाव शब्दका अर्थ 'शून्यता' शब्दके ऊपर आरोपित करके आप व्यर्थ हमको दोष देते हैं।

जो कुछ आपेक्षिक (Relative), अन्यसापेक्ष, अन्याश्रित परतन्त्र (Dependent) है। जिसकी उत्पत्ति, निरोध, अस्तित्व सब कुछ अन्यके ऊपर (अर्थात् उसके हेतु और प्रत्ययके ऊपर) निर्भर करता है, उस जगत्-प्रपञ्चका निरसन करना ही शून्यवादका उद्देश्य है। शून्यवादी कहते हैं कि प्रपञ्चातीतका वर्णन सम्भव नहीं है। जो सब प्रकारसे व्यावहारिक ज्ञानके अतीत है, वह वर्णनातीत है। शून्यवाद भावात्मक है। इसको स्पष्ट करनेके लिये प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं—

"द्रष्टव्योपशमं शिवलक्षणं सर्वकल्पनाजालरहितं ज्ञान-ज्ञेयनिवृत्तिस्वभावं शिवं परमार्थस्वभावम्। परमार्थमजरम-मरमप्रपञ्चं निर्वाणं शून्यतास्वभावं ते न पश्यन्ति मन्द-बुद्धितया अस्तित्वं नास्तित्वं चाभिनिविष्टाः सन्त इति।"
(मूल माध्यमिक ५ । ८)

परमार्थका स्वभाव होता है सब दृश्योंका प्रशमन, शिवस्वरूप, सर्वकल्याण-जालविरहित तथा ज्ञान-ज्ञेय-निवृत्ति स्वभाव-समन्वित शिवस्वरूप होना। परमार्थ अजर, अमर, प्रपञ्चातीत, शून्यतास्वभाववाला तथा निर्वाणरूप है। मन्द-बुद्धि तथा अस्तित्व—नास्तित्वादि मतवादमें अभिनिविष्ट होनेके कारण अज्ञजन इसको देख नहीं पाते।

(ख) शून्यवाद और ब्रह्मवाद

शून्यताके स्वरूपके सम्बन्धमें बुद्धदेव अपने शिष्य सुभूतिसे कहते हैं—'गम्भीरमिति सुभूते शून्यताया एतद्-धिवचनम्। शून्यताया एतदधिवचनं यदप्रमेयमिति। ये च सुभूते शून्याः, अक्षया अपि ते।' हे सुभूति! शून्यताका नाम गम्भीर है। शून्यताका नाम अप्रमेय है। अर्थात् शून्यता गम्भीर, दुरवगाह, अमेय, अज्ञेय, अतर्क्य और अनिर्वचनीय होती है। हे सुभूति! शून्य और अक्षय एक ही वस्तु है।

एक प्रकारसे 'शून्य' उपनिषदोंका 'नेति-नेति ब्रह्म' है। बृहदारण्यक-उपनिषद्में लिखा है—

'अथात आदेशो नेति नेति।'
(२ । ३ । ६)

ब्रह्मके विषयमें उपदेश यही है कि 'नेति-नेति'—'यह नहीं है, यह नहीं है।' ब्रह्म सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है 'न सत् न चासत्' (श्वेता० ४ । १८)। ब्रह्म धर्मसे भिन्न है, अधर्मसे भी भिन्न है, कृतसे पृथक् है, अकृतसे भी पृथक् है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
(कठ० १ । २ । १४)

अतएव ब्रह्म जब सब कार्य-धर्मोंसे विलक्षण है, तब वह शून्यके सिवा और क्या है? सविशेष दृष्टिसे देखनेपर जो 'पूर्ण' है, निर्विशेष दृष्टिसे वही 'शून्य' है। इसी कारण वेदान्तकेसरी श्रीशङ्कराचार्यने अपने सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार-संग्रह ग्रन्थमें कहा है—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत्।

जो शून्यवादियोंका शून्य है, वही ब्रह्मवादियोंका ब्रह्म है। अतएव उपनिषद्का निर्विशेष ब्रह्म ही बुद्धदेवकी परिभाषामें 'शून्य' है।

(ग) शून्यता और महाकरुणा

प्रज्ञा-पारमिताकी साधनासे शून्यता या 'यथाभूत' ज्ञान प्राप्त होनेपर बोधिसत्त्वके हृदयमें महाकरुणाका आविर्भाव होता है। जीव-जगत्को दुःखसागरमें निमज्जित देखकर महा-करुणाकी प्रेरणासे वे उनके उद्धारके लिये अपनेको नियोजित करते हैं।

अहो बतातिशोच्यत्वमेषां दुःखौघवर्तिनाम्।
ये नेक्षन्ते स्वदौःस्थित्यमेवमप्यतिदुःस्थिताः॥
(बोधि० ९ । १६०)

अहा! इस दुःखस्रोतमें निमग्न प्राणियोंकी अवस्था अति शोचनीय है; परंतु वे दुरवस्थापन्न होकर भी अपनी दुरवस्था नहीं देख पाते।

एवं दुःखाग्नितप्तानां शान्तिं कुर्यामहं कदा।
पुण्यमेघसमुद्भूतैः सुखोपकरणैः स्वकैः॥
(बोधि० ९ । १६२)

अपनी पुण्यराशिसे उत्पन्न सुखप्रद उपकरणोंके द्वारा इस प्रकार दुःखाग्निमें संतप्त प्राणियोंको कब मैं शान्ति प्रदान करूँगा?

इस प्रकार षट्-पारमिताकी साधना पूर्ण होनेपर बोधिसत्त्व बुद्धत्व प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं। बुद्धत्वमें महाप्रज्ञा और महाकरुणाका महामिलन संघटित होता है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप निर्वाण प्राप्त करके भी पूर्णप्रज्ञामें अधिष्ठित बुद्ध निखिल विश्वको अपनेसे अभिन्न मानकर करुणार्द्र-चित्तसे जीव-जगत्की सेवामें सतत निरत रहते हैं।

स्वप्राणानां जगत्प्राणैर्नदीनामिव सागरैः।
अनन्तैर्यो व्यतिकरस्तदेवानन्तजीवनम्॥

असीम समुद्रके साथ जैसे नदियोंका मिलन होता है, जगत्के अनन्त प्राणियोंके प्राणोंके साथ अपने प्राणका भी उसी प्रकार भेदरहित जो महामिलन है, उसीका नाम 'अनन्त जीवन' है।

इस अनन्त जीवनके अधिकारी, प्रज्ञा-घन तथा करुणा-घन बुद्ध ही मानवताके चरम आदर्शके रूपमें शाश्वत कालसे पूजनीय हैं।

मानवताकी महावाणी

अनन्त ज्ञान और अनन्त करुणामें प्रतिष्ठित होकर ढाई हजार वर्षपूर्व भगवान् गौतमबुद्ध मानवताके चरम आदर्शकी घोषणा करके जो महावाणी सुना गये हैं, आज इस महा-मलिन अति दुर्दिनमें, मानव-सभ्यताके संकटकालमें हम गम्भीर श्रद्धाके साथ अनुध्यान करते हैं—

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्ब भूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं॥

माता जैसे अपना प्राण देकर भी अपने पुत्रकी—अपने एकमात्र पुत्रकी रक्षा करती है, उसी प्रकार सब भूतोंके प्रति अपरिमेय मैत्रीपूर्ण मनोभावका पोषण करे।

मेत्तञ्च सब्बलोकस्मिं मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियञ्च असम्बाधं अवेरं असपत्तं॥

ऊपर-नीचे, चारों ओर सर्वजगत्के प्रति मैत्री, अपरिमेय मैत्रीपूर्ण मनोभाव, बाधारहित, विद्वेषरहित, प्रति-द्वन्द्विता-शून्य मनोभाव पोषण करे।

तिट्ठं चरं निसिन्नो वा
सयानो वा यावतस्स विगतमिद्धो।
एतं सतिं अधिट्ठेय्य
ब्रह्ममेतं विहारमिधमाहु॥

(मेत्तसुत्त ६—८, सुत्तनिपात)

दण्डायमान अवस्थामें, भ्रमणकालमें, उपवेशन अथवा शयनकालमें, जबतक जगा रहे, तबतक सब अवस्थाओंमें इस स्मृतिमें अधिष्ठित रहे। इहलोकमें यही 'ब्रह्मविहार' नामसे अभिहित होता है।

'सब्बे सत्ता अवेरा होन्तु अब्यापज्जा होन्तु, अनीघा होन्तु, सुखी अत्तानं परिहरन्तु, दुक्खा मुच्चन्तु, यथालद्धसम्पत्तितो मा विगच्छन्तु।'

'सारे जीव शत्रुरहित हों, विपद्-हीन हों, रोगरहित हों। सुखमें वास करें, दुःखसे मुक्त हों, यथालब्ध सम्पत्तिसे वञ्चित न हों।'

हिंसासे उन्मत्त, नित्य-निष्ठुर, द्वन्द्व-कलुषित इस पृथ्वीके वक्षःस्थलपर भगवान् तथागतकी यह अमृत वाणी शान्तिवारि-सिञ्चन करके महाशान्ति, महाक्षेम, महापुण्य और महाप्रेम-का प्रसार करे—सर्व बुद्ध और बोधिसत्त्वोंके निकट यही ऐकान्तिक प्रार्थना है।

'ॐ नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः।'

नर-जन्म बार-बार नहीं मिलता

नहिं अस जनम बारंबार।
पुरबलौं धौं पुन्य प्रगट्यौ, लह्यौ नर-अवतार॥
घटै पल-पल, बढ़ै छिन-छिन, जात लागि न बार।
धरनि पत्ता गिरि परे तैं फिरि न लागै डार॥
भय-उदधि जमलोक दरसै, निपट ही अँधियार।
सूर हरि कौ भजन करि-करि उतरि पल्ले पार॥

—सूरदासजी

जैन-धर्म और उसकी मानवता

(लेखक—श्रीगुलाबचन्द्रजी जैन बी०एस-सी० (पूर्वार्ध) 'विशारद')

जैनधर्म और मानवताका सम्बन्ध चोली और दामनका नहीं, बल्कि गुणी और गुणका है। जिस प्रकार गुणीसे गुण और गुणसे गुणी त्रिकालमें भी पृथक् नहीं हो सकता, उसी प्रकार जैन-धर्मसे मानवता और मानवतासे जैनधर्म पृथक् नहीं हो सकता। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि जैन-धर्म ही मानवता है और मानवता ही जैन-धर्म है।

'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं, जिस तरह जलका स्वभाव शीतल है, अग्निका उष्णपन है वैसे ही आत्माका ज्ञान, दर्शन, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन, ब्रह्मचर्य, धैर्य तथा अहिंसा आदि अनन्त सद्गुणरूप मानवताधर्म है।

जिस प्रकार वर्षा-ऋतुमें अखण्ड ज्योतिःस्वरूप सूर्य बादलोंके कारण प्रकाशहीन दीखता है, परंतु बादलोंके हटते ही वही प्रकाश, वही तेज दीख पड़ता है। उसी प्रकार अखण्ड ज्योतिःस्वरूप अनन्त गुणोंका पिण्ड यह आत्मा संसारी अवस्थामें कर्म-आवरणोंके कारण दीन-हीन दिखलायी पड़ता है; परंतु कर्मोंके हट जानेपर अपने असली रूपमें प्रकट हो जाता है।

जिस मार्गपर चलनेके कारण आत्मा अपने निर्विकारी रूपमें आ जाता है, उसीका नाम धर्म है। जैसा कि कहा है 'यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिस आचरणसे आत्मोन्नति और मुक्तिकी प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं। यह आचरण-धर्म दो मार्गोंमें विभक्त है—एक गृहस्थ-धर्म तथा दूसरा मुनि-धर्म। जैन-धर्मका मुनि-धर्म तो स्वर्ग-मुक्तिका कारण है ही, उसे तो एक ओर छोड़िये, किंतु गृहस्थ-धर्म भी इतना महान् और उपयोगी है कि उसके पालन करनेसे मानवमें मानवता स्वयं ही प्रकट हो जाती है।

जैनधर्मानुयायी गृहस्थकी मानवताको देखिये, वह कैसी भावना कर रहा है—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव॥

अर्थात् 'हे भगवन्! ऐसी कृपा हो कि मैं जीवमात्रसे मित्रता रखूँ, गुणी पुरुषोंको देखकर प्रसन्न होऊँ, दुखी जीवोंपर दयाभाव करूँ और दुष्ट व्यक्तियोंसे न प्रेम करूँ, न वैर करूँ। अर्थात् तटस्थताका व्यवहार करूँ। इसीलिये जैन-धर्मकी मानवता संसारमें प्रसिद्ध है।

एक बार 'हिंदुस्तान टाइम्स'के संचालक महात्मा श्रीगांधीजीके सुपुत्र श्रीदेवदासजी जब इंगलैंड गये, तब वहाँके प्रसिद्ध विचारशील लेखक जार्ज बर्नार्ड शासे मिले। बातचीतके सिलसिलेमें श्रीदेवदास गांधीने श्रीबर्नार्ड शासे पूछा कि आपको सबसे अच्छा धर्म कौन-सा लगता है? तब उन्होंने बतलाया कि 'जैन-धर्म'। श्रीदेवदासजीने इसका कारण पूछा तो श्रीबर्नार्ड शाने उत्तर दिया कि जैन-धर्ममें आत्माको पूर्ण शुद्ध करके परमात्मा बनानेका विधान है। अन्य धर्मोंमें परमात्मा केवल एकको ही माना है। उनके सिद्धान्तके अनुसार परमात्मा अन्य कोई नहीं बन सकता, वह चाहे कितनी ही तपस्या क्यों न करें। परंतु जैन-धर्म प्रत्येक सामान्य आत्माको साधनाद्वारा परमात्मा बननेका मार्ग बतलाता है।

दूसरे, जैन-धर्म विश्व-हितकर धर्म है। संसारके प्रचलित धर्मोंमें कोई धर्म तो केवल अपने धर्मानुयायियोंकी रक्षा करनेका उपदेश देता है और जो नर-नारी उस धर्मके अनुयायी नहीं हैं, उन्हें अपना शत्रु समझता है तथा उन्हें मार-काटकर नष्ट करनेका या बलपूर्वक उन्हें अपना धर्म मनवानेका उपदेश देता है। किसी धर्मने यदि दयाभावका क्षेत्र बढ़ाया है तो समस्त मनुष्योंकी रक्षा करनेका विधान बनाया है। इसके अलावा यदि कोई धर्म इससे और भी आगे बढ़ा है तो उसने मनुष्योंके सिवा कुछ काममें आनेवाले पशु-पक्षियोंकी रक्षाका विधान करा दिया है और काममें न आनेवाले बकरा, भैंसा, सूअर, मुर्गा आदिको अपने देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये भेंट करनेका उपदेश दिया है।

परंतु जैन-धर्म प्राणिमात्रपर दया करनेका उपदेश देता है। चाहे सर्प, सिंह, भेड़िया, बिच्छू आदि दुष्ट प्रकृतिका हो अथवा कबूतर, खरगोश, हिरन आदि भोली प्रकृतिका हो। हाथी, ऊँट, बड़े आकारवाला हो अथवा चींटी, मकोड़ा, मच्छर आदि छोटे आकारवाला हो, एक-इन्द्रिय हो या पाँच

इन्द्रिय-धारी हो, जलचर हो, नभचर हो या थलचर हो, समस्त जीवोंकी रक्षा करनेका उपदेश देता है। इसी कारण जैन-धर्म विश्वधर्म कहलानेका अधिकारी है। इस महान् श्रेयका मूल कारण अहिंसारूप मानवता ही है।

इसी 'अहिंसा परमो धर्मः' सिद्धान्तके कारण जैन-धर्मानुयायी आज विश्वमें मांस-भक्षणसे अछूते रहे हैं। जब कि विश्वके प्रायः सभी धर्मानुयायियोंमें मांस-भक्षण प्रचलित है।

जैन-धर्मका आचार-शास्त्र बहुत सुन्दर है। उसके समस्त नियम श्रेणीबद्ध सुनिश्चित हैं। उसकी शिक्षा सीधी त्याग और वैराग्यपूर्ण है। हर-एक गृहस्थको देव-पूजा, गुरु-भक्ति, शास्त्र पढ़ना, संयमका अभ्यास, तप करना तथा दान करना—ये छः कर्म नित्य करनेका तथा मद्य न पीना, मांस न खाना, शहद न खाना, हिंसा न करना, झूठ न बोलना, चोरी न करना, अपनी स्त्रीमें संतोष रखना तथा परिग्रह-प्रमाण अर्थात् संपत्तिकी मर्यादा करना आदि अष्ट मूल गुणोंका पालन करनेका उपदेश दिया है।

जैन-धर्मके ५ अणुव्रतोंको २५ दोष टालकर पालन करनेवाले गृहस्थपर दण्ड-विधानकी कोई भी धारा लागू नहीं हो सकती। कितना सुन्दर उपदेश है गृहस्थोंके लिये! कितनी सुन्दर मानवता है जैन-धर्मकी।

मानवताका सार

(रचयिता—पं० श्रीवीरेश्वरजी उपाध्याय)

देवनसे प्रतिशा कै मानव तन धारे जो,
सोई श्रीराम दानव-कुलको सँहारे हैं।
मानवता धर्म कर्म पालन दिखायो सबै,
राज तजि पिता वनमें जा सम्हारे हैं॥
को सक बखान राम मानवता मंजु यश,
मानो मानवतादर्श रामजी ही प्यारे हैं।
भाखत 'वीरेश' इसी भाँति प्रतिपालन ते,
मानवता-विकासमें विलम्ब ना हमारे हैं॥ १॥

काम-क्रोधादिक षट रिपुको निकारि डारौ,
मनसे न भूलौ कवौं ध्यान भगवानका।
रामके कृपा-भाजन तव ही बनोगे तुम,
तबही पुनि आशा है पूर्ण कल्यानका॥
नेकौ ना सुनैगो कोऊ भगवत्‌के कृपा बिन,
चाहे दिखावौ प्रेम सबसे जी जानका।
भाखत 'वीरेश' याते बनौ हरि दया-पात्र
होवै विकासहु मंजु मानवता ज्ञानका॥ २॥

(दोहा)

देवन दुर्लभ पायके, मानव तन संसार।
मानवता पाल्यो नहीं, ताको है धिक्कार॥
दया हिया पुनि हरि भजन, ना काहू अपकार।
पर हित रत जानौ सदा, मानवताका सार॥
मिथ्यावादी पाप ही, निशि दिन लागे प्यार।
मानवता नाशक सोई, जनम्यो जग ह्वै भार॥
समुझि हृदय याते करौ, मानवताका सार।
मानवताके उदयमें, नेक न लगिहै बार॥

सच्चे साधु

स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती

काशीके आदर्श संन्यासी संत विशुद्धानन्द सरस्वती वेदान्तके महान् पण्डित थे। सनातन-धर्मके संन्यास-सिद्धान्त-के रंगमें रँगा हुआ उनका समस्त जीवन आत्मप्रकाशसे समृद्ध था। वे औपनिषद आत्मशान्ति तथा निवृत्तिकी सजीव चेतनता थे। लोकख्याति और जनसम्पर्कसे पूर्ण तटस्थ रहकर काशीके अहल्याबाई घाटपर अपने पवित्र आश्रममें रहकर आजीवन आत्मसाक्षात्कारकी ही साधना करते रहे, काशीके बड़े-बड़े विद्वान्, ज्ञानी और ऐश्वर्यसम्पन्न धनी-मानी व्यक्ति उनके चरणोंके शरणागत होकर आत्मोत्थानका ज्ञान प्राप्त करनेमें अपने-आपको बड़े भाग्यशाली मानते थे।

आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें वे श्रद्धाको बहुत महत्त्व देते थे। एक समयकी बात है, वे अपने प्रिय शिष्य महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषणको 'छान्दोग्योपनिषद्' का एक अंश पढ़ा रहे थे। वे प्रयाणके समय दक्षिण मार्गकी गतिपर प्रकाश डाल रहे थे, भगवती भागीरथीकी कल-कल शान्तगतिसे वातावरणमें नीरवता थी, तर्कभूषण महोदयके लिये विषय रुचिकर नहीं था, वे कुछ उपरति-सी दिखला रहे थे। महाराज विशुद्धानन्दजीने उस समयके लिये पढ़ाना स्थगित कर दिया, कहा कि 'तुम्हारे मनमें संदेह है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ सत्यपर प्रतिष्ठित है या नहीं, इस संदेहने तुमको श्रद्धाहीन कर दिया है। जिसके मनमें श्रद्धा नहीं है उसके लिये इन बातोंका न सुनना ही अच्छा है और कहनेवालेके लिये भी यह विडम्बनामात्र है।' तर्कभूषण महोदयने स्वामीजीके चरणदेशमें विनत होकर अपने अज्ञानके लिये क्षमा माँगी। स्वामीजीके मुखसे उस समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन निकल पड़े कि 'आजकल ज्यों-ज्यों पाश्चात्त्य शिक्षाका प्रभाव बढ़ रहा है, त्यों-त्यों संस्कृत-शिक्षा-पद्धतिका प्रचुररूपमें ह्रास हो रहा है, अध्यात्मशास्त्रके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा होना इसीका परिणाम है।'

स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज उच्चकोटिके तपस्वी, मौन-साधक और योगी थे। उन्होंने अपने महाप्रयाणके बीस-बाईस साल पहलेसे ही सुषुम्नानाड़ीद्वारा योगप्रक्रियासे उत्क्रमण-मार्गका अनुसंधान आरम्भ किया था। वे अपने प्रयासमें सफल थे। उन्होंने कुछ दिनों पहले ही यह कह दिया था कि मैं अमुक अवसरपर महाप्रयाण करूँगा। अपने कथनके ही अनुसार आजसे साठ साल पहले उन्होंने नश्वर शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद कर अमृत-धामकी यात्रा की थी।

निस्संदेह स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती आदर्श-संन्यासी और परम विरक्त थे।

महर्षि रमण

महर्षि रमणने अपनी समकालीन मानवताका आत्मज्ञान-के प्रकाशमें पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने निष्पक्षभावसे मानव-मात्रको शरीर नहीं, शरीरी—आत्माका तत्त्व समझनेकी प्रेरणा दी। वे समस्त जगत्‌के थे और निस्संदेह समस्त जगत्‌की आत्मचेतना उनमें परिव्याप्त थी। उनका अरुणाचलस्थ रमणाश्रम सांसारिकताके मरुस्थलका मरूद्यान है। महर्षि रमणने अपनी खोज की, वे आत्माके मानवरूपके मौलिक व्याख्याकार थे, उन्होंने लोक-जीवनको आत्मप्रकाश दिया, मानवताके ऐतिहासिक विकासमें यह उनका महान् योग स्वीकार किया जा सकता है।

महर्षि रमणने मानवको आत्मानुसंधानका मार्ग बताया। उन्होंने कहा कि अपने आपको जानो, आत्मज्ञान ही परमोच्च ज्ञान है। आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद कुछ भी जाननेके लिये नहीं रह जाता है। 'उपदेशसार'में महर्षिकी वाणी है—

> भावशून्यसद्भावसुस्थितिः, भावना बलाद् भक्तिरुत्तमा।
> बन्धमुक्त्यतीतं परं सुखं विन्दतीह जीवस्तु दैविकः॥

महर्षि रमणने मानवको अपरिग्रह, आत्मज्ञान और भगवद्विश्वाससे सम्पन्न किया, वे स्वयं इनसे सम्पन्न थे, उनका समस्त जीवन आचरणप्रधान था। वे उच्च कोटिके अपरिग्रही थे। एक समयकी बात है, उनके पास केवल एक लँगोटी थी, उसीसे वे काम चलाते थे, वह फट गयी थी पर यह बात किसी प्रकार प्रकट न हो, इसलिये किसीसे उन्होंने आश्रममें सूई-डोरेकी भी माँग न की। वे जंगलमें गये; एक मोटे काँटेमें पतले काँटेसे छेदकर उन्होंने उससे सूईका काम लिया। फटी लँगोटीमेंसे तागा निकालकर उसको सी लिया और उसको बहुत दिनोंतक उपयोगमें लाते रहे। मानवमात्रको महर्षिने अपने इस तरहके जीवनसे अपरिग्रहकी शिक्षा दी। महर्षिने मानवताको कहीं अपमानित नहीं होने दिया, मानवके हितके अनुकूल ही उनका आचरण परम पवित्र था। वे अभय थे, केवल परमात्माके शासनमें उनका कर्तव्य निर्धारित होता रहता था। वे महान् भगवद्विश्वासी थे,

सच्चे साधुओंके आदर्श

स्वामी विशुद्धानन्द

श्रीरमण महर्षि

सच्चे नेताओंके आदर्श

लोकमान्य तिलक

महामना मालवीय
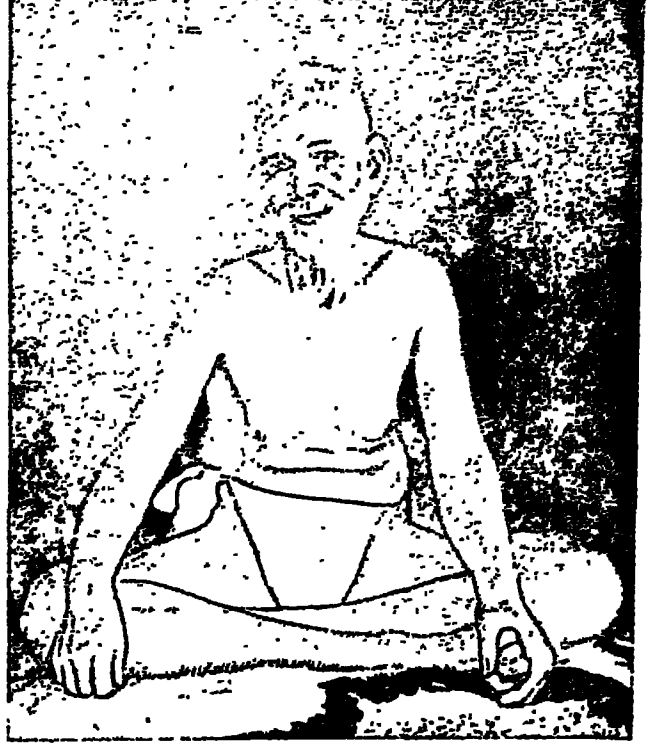
सच्चे साधुओं को बदनाम करनेवाले नकली लोग
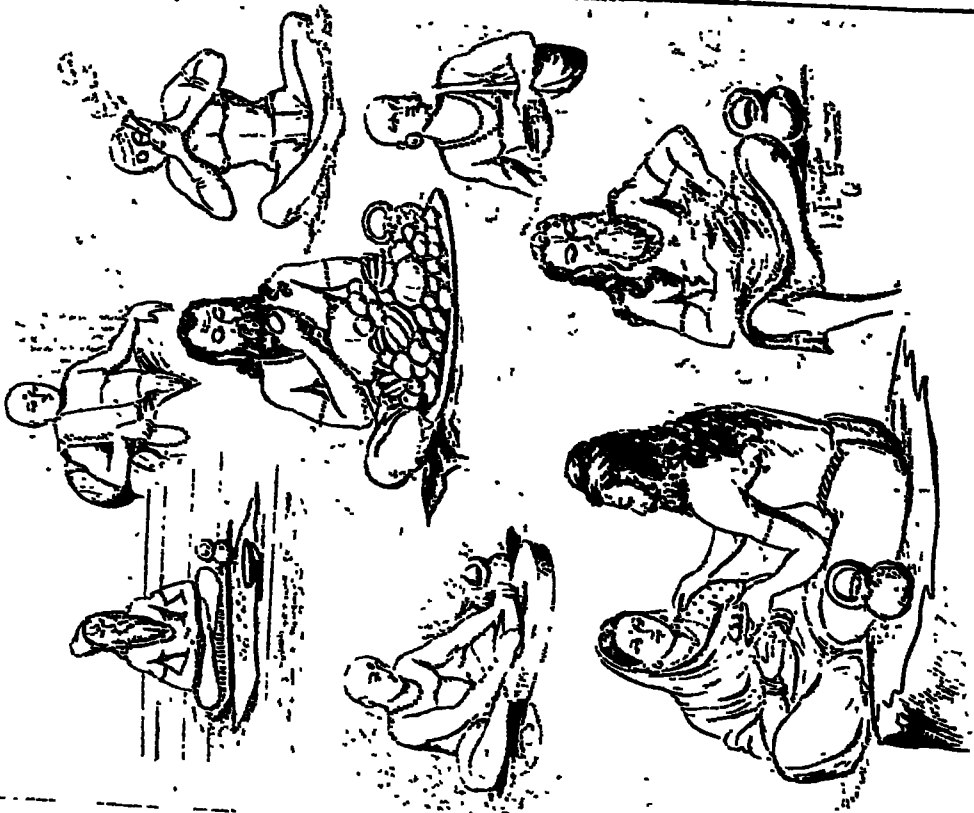
देशसेवक सच्चे नेताओं को बदनाम करनेवाले नकली लोग
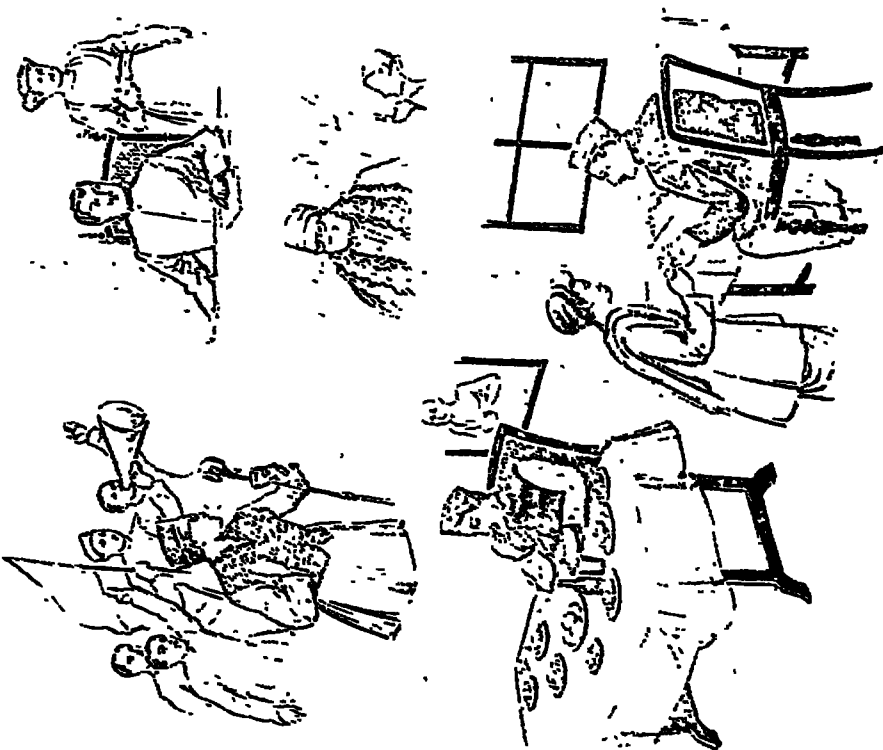
भगवान् अरुणाचलमें उनकी परम निष्ठा थी, एक समय मातृ-भूतेश्वर मन्दिरके लिये चंदा एकत्र करनेके लिये एक सज्जनने अहमदाबाद जानेकी आज्ञा माँगी, महर्षिने तत्काल कहा कि 'यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आपलोगोंका विश्वास भगवान्में नहीं दीख पड़ता । उन्होंने अरुणाचलकी ओर संकेत कर कहा कि इनकी कृपासे हमारी समस्त आवश्यकताएँ पूरी होती हैं । उन्होंने मानवताको भगवद्विश्वाससे समृद्ध किया ।

महर्षि रमणका जीवन आदर्श संतत्वसे सम्पन्न था । उन्होंने मानवताको आत्मीयताका पाठ पढ़ाया, समस्त चराचरमें परमतत्त्वकी अनुभूतिकी सीख दी । उन्होंने कहा कि ईश्वरसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है । केवल वे ही सत् हैं । रमण महर्षि वास्तवमें लोकगुरु थे, वे सच्चे संन्यासी थे । ये दो उदाहरण भारतके असंख्य सच्चे संन्यासियोंका स्वरूप लक्ष्य करानेके लिये हैं ।

सच्चे देशसेवक नेता

लोकमान्य तिलक

'लोकमान्य' शब्दका स्मरण करते ही भारतीय आदर्श स्वराज्यवादी नेता बालगङ्गाधर तिलकका पुण्य तपोमय जीवन मानस-पटपर अङ्कित हो उठता है । उन्होंने विदेशी दासताकी हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़े भारतीय मानवको उचित पथ-प्रदर्शनकर स्वराज्यका मर्म समझाया । वे परम आदर्श नेता थे । उनका समस्त जीवन स्वराज्यकी माँगका भाष्य कहा जा सकता है । तिलक महाराजने अपनी पिछली पीढ़ीके सुधारवादी नेताओंकी नीतिकी कड़ी आलोचना की और भारतको अंग्रेजी शासनसे मुक्त करना ही परम पवित्र राष्ट्रिय कर्तव्य समझा । 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—उनकी इस पुनीत घोषणासे तत्कालीन विलायती सरकार दहल उठी । यदि महात्मा गाँधीकी 'भारत छोड़ोकी माँग' भारतीय स्वतन्त्रताके संघर्षका उपसंहार है तो तिलक महाराजकी 'स्वराज्य'की घोषणा उसकी मूल प्रस्तावना है ।

वे जन्मजात नेता थे । उन्होंने केवल स्वराज्यके ही युद्धका बीजारोपण नहीं किया, देशके सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थानमें भी उनका मनोयोग सराहनीय है । महाराष्ट्रियोंमें गणेश-जन्मोत्सव और शिवाजी महाराजकी जयन्ती मनानेकी प्रथा प्रचलित की; उन्होंने सनातनधर्म, गोवधनिषेध-आन्दोलन, विद्यार्थियोंके देश-प्रेम तथा व्यायाम आदिकी शिक्षामें आस्था प्रकट कर संस्कृति और राष्ट्रियताके विकासमें महत्त्वपूर्ण योग दिया । उनका सबसे बड़ा मौलिक और अलौकिक कार्य था श्रीमद्भगवद्गीताका विचारपूर्ण भाष्य 'गीतारहस्य' प्रस्तुत करना । गीताके इस नवीन भाष्यसे भारतीय मानवकी सुप्त चेतनाने करवट बदली । उसने स्वराज्यके मार्गपर बढ़नेके लिये भागवत-प्रकाश प्राप्त किया तिलक महाराजके पुण्य तपसे । उन्होंने सिद्ध किया कि गीता कर्मसंन्यास नहीं—कर्मयोगका शास्त्र है । उनका 'गीता-रहस्य' स्वाधीनता और बन्धनमुक्तिका अमर वाङ्मय है । तिलक महाराजका कहना था कि गीताका कर्मयोग संसारको असार नहीं मानता है, प्रभुमय मानता है और निष्काम कर्माचरणका प्रतिपादन करता है । ज्ञान और भक्तिके सहारे परमात्माका पूर्ण योग होनेपर कर्मकी गति समाप्त नहीं होती है, वह तो निरन्तर चलती रहती है । उनका जीवन गीता-प्रतिपादित कर्मयोगका पर्याय था ।

लोकमान्य तिलक राष्ट्र-निर्माता थे । वे भूतकालीन गौरव और भविष्यके उत्थानके समन्वयसूत्र थे । एक राजनीतिक नेताके साथ-ही-साथ वे बहुत बड़े साहित्यकार भी थे । महामति गोखलेके शब्दोंमें उनकी तुलनामें कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं दीख पड़ता है जिसने स्वदेशके लिये इतने कष्ट और विघ्न सहे हों । अपने राष्ट्र, देश तथा धर्मके प्रति कर्तव्य-पालनके लिये तिलक महाराजका आदर्श नेतृत्वमय जीवन-चरित्र हमारा पथ-प्रदर्शक है ।

महामना मालवीयजी

पण्डित मदनमोहन मालवीय आदर्श मानवके विभिन्न आदर्श गुणोंके सजीव प्रतीक थे । वे आदर्श नेता, आदर्श हिंदू, आदर्श धर्माचारी, आदर्श गोसेवक, आदर्श शिक्षा-पण्डित और आदर्श साहित्यिक थे । वे रात-दिन लोकहित-चिन्तनमें लगे रहते थे । वे तपस्या और त्यागके धनी थे । काशीका हिंदूविश्वविद्यालय उनकी तपस्या और त्यागका अक्षर भौम-प्रतीक है । यदि यह कहा जाय कि मालवीयजी अपने समयके सबसे बड़े मानव-नेता थे तो यह कथन ऐतिहासिक औचित्यके सर्वथा अनुकूल है । वे भारतीय स्वराज्य-आन्दोलनके प्रमुख कर्णधारोंमेंसे एक थे । उनका व्यक्तित्व प्रेमपूर्ण था ।

मालवीयजी महाराजने आजीवन हिंदुत्वके समुत्थानकी चेष्टा की। उनके हिंदुत्वमें अद्भुत विनम्रता और उदारता-का दर्शन होता है। उन्होंने कहा था कि मैं जैसे हिंदुओंका कल्याण चाहता हूँ वैसे ही मुसल्मानोंका भी। कदाचित् मुझमें शक्ति होती कि मैं हृदय या कलेजा खोलकर अपने हिंदू और मुसल्मान भाइयोंको दिखला सकता कि मैं इन दोनों-का किस प्रकार एक समान हिताकाङ्क्षी हूँ। महात्मा गाँधीने कहा था 'मैं उनको सर्वश्रेष्ठ हिंदू मानता हूँ; जो आचारमें बड़े नियमित पर विचारमें उदार हैं। वे किसीसे द्वेष कर ही नहीं सकते। उनके विशाल हृदयमें शत्रु भी समा सकते हैं।'

महाराजकी धर्माचरणमें अविचल निष्ठा थी। महाराजके वचन हैं कि 'पृथ्वीमण्डलपर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है, वह धर्म है और वह सनातनधर्म है। अभी संसार सनातनधर्मके महत्त्वको नहीं समझता। मुझे आशा और दृढ़ विश्वास है कि थोड़े समयमें समस्त संसारको यह विदित हो जायगा कि यह सनातनधर्म कैसा है तथा किस प्रकार धर्मके मूलपर स्थित है।' वे आदर्श राष्ट्रवादी थे। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राममें असाधारण आहुति दी। वे डॉक्टर एनी बेसेंटके शब्दोंमें 'भारतीय एकताकी मूर्ति' थे। महाराजकी गोभक्ति सराहनीय थी। उनकी स्वीकृति है कि 'गौ मानव-जातिकी माताके समान उपकार करनेवाली है, मनुष्य उसके उपकारसे कभी उऋण नहीं हो सकता।'

काशीका हिंदू-विश्वविद्यालय केवल भारतको ही नहीं, समस्त शिक्षा-जगत्‌को बहुत बड़ी देन है, यह एक महान् हिंदू तपस्वीकी तपस्याकी पुण्यपताका है। महाराजके समस्त कार्य मानवतापरक थे, वे मानवताके पूजक थे। उन्होंने सदा मानवके कल्याणकी ही साधना की। निस्संदेह वे महामना थे, मानवता-तत्त्वके प्रकाशक तथा सच्चे नेता थे।

इन दो उदाहरणोंसे भारतके देशसेवक सच्चे नेताओंका स्वरूप समझा जा सकता है। ऐसे ही नेता यथार्थ नेता हैं।

असलीको बदनाम करनेवाले नकली स्वार्थी लोग

नकली साधु

जहाँसे सदाचारकी प्रेरणा समाजको सदासे प्राप्त होती रही, जहाँ हम श्रद्धासमन्वित पहुँचते हैं आत्मकल्याणकी आशा लिये, उस साधु-समाजमें आज विरक्त सच्चे संतों-महात्माओंका नाम बदनाम करनेवाले ये भेड़की खालमें भेड़ियोंकी तरह स्वार्थ-साधनके लोभी नकली लोग घुस आये हैं।

आज इन त्यागी कहे जानेवालोंके आश्रम—उन्हें कहा कुटी, आश्रम जाता है; किंतु वे राजसदन-जैसे विशाल हैं। जो सार्वजनिक मञ्चपर संसारकी असारताका उपदेश देते नहीं थकते, विषयोंको विषरूप बतानेकी अपार युक्तियाँ देते हैं। पर जिनका अर्थ-संग्रह बराबर बढ़ता ही जाता है।

'कामिनी और काञ्चन' मायाके ये दो विकट फंदे हैं। 'जो आत्मकल्याण चाहे—इनसे दूर रहे।' सत्य यही है और उपदेश भी इसीका दिया जाता है; किंतु नारियोंसे अलग ही रहना चाहिये, यह बात कहनेवाला सबसे अधिक रोषभाजन होता है इन साधु-नामधारियोंका। उसे शास्त्रार्थकी चुनौती हो नहीं—गालियाँ सुननी पड़ती हैं।

इन्द्रियोंका असंयम, त्यागका अभाव, आचारकी शिथिलता, भोगपरायणता और इतने सबपर साधु होनेका उद्दीप्त गर्व! समाजमें ही त्रुटि है। साधु भी इसी समाजसे आते हैं, किंतु समाजकी श्रद्धा जहाँ प्रेरणा पाती है, जहाँसे समाज आत्मसुधारके आदेशकी आशा करता है—प्रवञ्चना एवं पतन वहीं—कैसे सहन योग्य है यह स्थिति। पर आज त्यागी महात्मा भी कम नहीं हैं और वे जबतक रहेंगे, समाजका कल्याण करते ही रहेंगे।

नकली नेता

उज्ज्वल वस्त्र, स्वच्छ वेश-भूषा—जननेतृत्व जो करना ठहरा; सच्चे देशहितैषी त्यागी पुरुषोंमें हंसोंमें बगुलोंकी भाँति आ घुसे ये नकली लोग, और केवल पदलोलुपता, अर्थ-प्रियता तथा स्वार्थपरायणतामें ही लगे रहकर ये सच्चे देश-सेवक नेताओंको भी बदनाम कर रहे हैं।

मेरे परिचित एक उच्चाधिकारी कह रहे थे—'प्रायः सभी राजनीतिक दलोंके ऐसे नेता आते हैं झूठा दबाव देने। मिथ्या साक्षी देने।' परमिट प्राप्त करने—सम्बन्धियोंको दिलाने अथवा उसके लिये कुछ तै करके दौड़-धूप करनेकी बात कितनी साधारण हो गयी है—आप जानते हैं।

चुनावोंके समय जो आक्षेपके कीचड़ उछलते हैं, जो गंदी-दलबंदी होती है—अवाञ्छनीय कार्योंको जो प्रोत्साहन दिया जाता है।

ऐसे कृत्रिम जन-नेताओंसे समाजकी गंदगी कैसे स्वच्छ होगी इनके अपने ही हाथ कीचड़में जो भरे हैं ?

स्वार्थी अधिकारी

आये दिनकी घटना है—डाकुओंको अमुक-अमुक अधिकारियोंसे शस्त्र प्राप्त होते हैं, चोरोंका अमुक-अमुक कर्मचारी संरक्षण करते हैं, उन्हें सहायता देते हैं। चोरों एवं डाकुओंके साथ अनेक स्थानोंपर सरकारी कर्मचारी पकड़े गये हैं और पकड़े तो सदा ही बहुत थोड़े जा सकते हैं।

चोर-बाजारी चलती है—ऐसे स्वार्थी अधिकारियोंके सहयोग-संरक्षणसे और न्याय-विभागकी घूसखोरी—लगभग सभी विभागोंमें छोटेसे बड़ेतक बुरी दशा !

घूस, शराब, मांस, अनाचार—दौरोंके समय तो जैसे स्वत्व हो गया है अधिकारियोंका कि अधीनस्थ उनके आहार-विहारकी भरपूर व्यवस्था करें।

जब उच्चाधिकारी कुछ ले लेता है, नीचेवालोंको खुलकर खेलनेकी छुट्टी मिल ही गयी।

जो संरक्षक हैं, उनकी स्थिति—आज तो खेतकी बाड़ ही खेत चरने लगी है।

रोक उठे पद !

(रचयिता—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

ऊर्ध्वोन्मुख अधोमुख पथिक परिव्राट,
क्षण ठहर ! रोक उठे पद !
कहाँ ? किधर ? क्यों ?
सो चले।
गति अनवरुद्ध तेरे पदोंकी धन्य !
किसकी यह प्रेरणा ? कौन मन्त्रदाता ?
वासना अथवा विवेक ?
तू सम्राट,
परवश-पराधीन तुझको बनानेकी
करता तो नहीं है कोई तुझसे प्रवञ्चना ?
वासना विजयिनी यदि—
देख, हँस रहा है दैत्य !
विवश तू जायगा,
तुझे ले जायगा यह पद तेरा,
अन्ध तमस पूर्ण—
अधःपतनकी ओर !

'अन्ध नहीं वासना।
योग है प्राप्त उसे समुचित विवेकका।'
सत्य ?
देवता सजाते हैं स्वागताञ्जलि वहाँ
किंतु—
इस स्वर्गके स्वागतका महान व्यङ्ग—
'उठा लिया हमने इसे !
पुनः गिरेगा विवश !'
सचमुच तू प्रस्तुत है वञ्चित होनेको ?
होने दे प्रबुद्ध शुद्ध अपने विवेकको,
श्रद्धापूत भावना-सात्त्विक सहचरी-
आश्रय दे उसे !
अपनी मानवता, मानव सम्हाल ले !
दैत्य-देव दोनों प्रणत पदोंमें नित्य,
नर !
नारायणका सखा है तू !
तेरे पद तेरी मानवताके महान पद,
पद नारायणका तेरा नित्य स्वत्व !
कहाँ ? किधर ? क्षण ठहर !
रोक उठे पद !!

इस्लाम धर्ममें मानवता

(लेखक—श्रीसैयद कासिम अली, साहित्यालंकार)

ईश्वरीय नियम है कि जहाँ अनाचार-अत्याचारका वीभत्स आर्तनाद दानवताकी पराकाष्ठापर पहुँच जाता है, वहाँ फिर मानवताका वह स्तम्भ स्थापित होता है, जो संसारके लिये आदर्श प्रकट करता है। अरब देशमें भी आजसे डेढ़ हजार वर्ष पहले नारकीय कृत्य होते थे। लड़कियोंको जिंदा गाड़ देना, शराब पीना, दासोंकी परम्परा, मनुष्योंमें भेदभाव, लूट-खसोट, डाका-चोरी, लेन-देनमें मूलसे ब्याज कई गुना, पाप, छल, कपट, व्यभिचार आदि हजारों दुष्कर्म प्रचलित थे। ईश्वर और भक्तिका नाम नहीं था। मनमानी धींगामस्तीका साम्राज्य शक्तिमानोंके हाथमें था। ऐसे कठिन कालमें दानवता तथा पशुताको नष्ट करनेके लिये ईश्वरीय प्रेरणा हुई और हजरत मुहम्मदका जन्म सन् ६२५ ई० में अरब देशके मक्का शहरमें हुआ। उन्होंने शराबका पीना तथा छूना, ब्याज लेना, जना करना, ऊँच-नीचके भेदभावको पापकर्म कहकर इस्लाम अर्थात् शान्तिका उज्ज्वल पथ धर्मके रूपमें चलाकर मानवताका आदर्श स्थापित किया और मानवताके वशीभूत हो इस धर्मके निम्नलिखित उद्देश्य प्रकट किये।

१—ईमान—सत्यताको पालन करके, छल-कपट, पर-निन्दासे बचकर ईश्वरीय ध्यानमें पूर्णरूपसे मग्न रहना।

२—नमाज—उच्चरित्र, सदाचारी और पवित्र रहकर प्रतिदिन ५ बार प्रातः, दुपहर, अर्द्ध-संध्या, संध्या, अर्द्धरात्रिको ईश्वरोपासना करना तथा छोटे-बड़े-का भेदभाव मिटाकर एक पंक्तिमें सामूहिक ईश-वन्दना करना।

३—रोजा—सालभरमें एक मास बिना जल-फलके दिनभर व्रत रखना, जिससे मानसिक शुद्धि, संतोष और त्यागकी भावनाएँ उठें।

४—हज—सालभरमें संसारके सभी लोगोंका मक्का-शरीफ-की यात्रा करके विश्वभरके साथियोंके साथ ईश्वरोपासना करना, जिससे विश्वपरिचय मिले, संसारका ज्ञान बढ़े और सबके दुःखोंका परिचय प्राप्त हो।

५—जकात—आमदनीका चालीसवाँ भाग गरीबोंको दान करना, जिससे दीन-हीनोंकी समस्या हल हो जाय।

यह सिद्धान्त केवल मानवताके वास्तविक रूपको ही विकसित करता है। यही नहीं, अनुशासन, एक आदेश, अन्य धर्मोका सम्मान, स्त्री-सम्मान इस्लामके आचार्य, इस्लामी ग्रन्थ और इस्लामी जनतामें गौरवशाली हैं। प्रत्येक मुसल्मान प्रतिज्ञाबद्ध प्रार्थना करता है। दिनमें पाँच बार नमाजके बाद कहता है कि 'रब्बना अतैना फिद्दुनियाँ हसना-तब फिल आखिरते हसनातव किनाअजा' अर्थात् हे प्रभो! तू हमको मानवताकी प्रेरणा दे और अन्तकालमें भलाई, परहितकी शक्ति दे, जिससे नरकसे बचे रहें। कुरान-शरीफमें किसी अन्य धर्मवालोंका अपमान नहीं किया गया। एक सूरह काफिरून है जिसका अर्थ है कि जो लोग मूर्ति पूजते हैं, पूजने दो। उन्हें कष्ट न दो, तुम अपने और वे अपने सिद्धान्तोंपर रहो। इसी भाँति सूरह फलकमें—कुल आऊजो बिरब्बिल फलके मिन शर्रे मां खलाक़ा व मिन शर्रे गासे किन इज़ा वक़ा व मिन शर्रे हासिदेन इज़ा हसद अर्थात् मैं उस प्रभुसे क्षमा चाहता हूँ जो मानवताके विरुद्ध प्रचलित है। उस ईर्ष्यालु अंधेरी छानेवाली बुराई और पक्षपाती नीतिपर चलनेवालोंकी बुराईसे (क्षमा चाहता हूँ)। उपर्युक्त कुरानशरीफकी आयतें ही नहीं, सारे खलीफा, इमाम मानव-प्रेमी थे। पैगम्बर साहबने अपने उन शत्रुओंको, जिन्होंने उनके आत्मायजनका खून बहाया, जिन्होंने उनको हर भाँति कष्ट पहुँचाया, जिन्होंने उनके मर्को तथा उनके पवित्र ग्रन्थ तथा पवित्र स्थानोंको हानि पहुँचायी, सदा क्षमा करके ईश्वरसे उनको सन्मार्गमें चलानेकी प्रार्थना की। उन्होंने कई प्रसंगोंपर विभिन्न धर्म-वालोंको मस्जिदोंमें ईश्वर-प्रार्थनाकी आज्ञा देकर उदारता दिखायी है। क्रोध, मद, लोभ, मोह, स्वार्थको मिटानेवाले इस्लामके हजारों लाखों ऐतिहासिक उदाहरण मानवताकी महान् पताका फैला रहे हैं। आज जो भाषा, भेष, प्रान्तके स्वार्थी लोग पद, पैसा, पराक्रमको प्राप्त करनेके लिये मानवताका रक्त चूस रहे हैं, वे स्वार्थी संसारमें अपने अमर पथको भ्रष्ट करके कभी सुखी नहीं रह सकते। इस्लाम निन्दा, बुराई और स्वार्थ-भावनाको अहितकर बतलाता है और मानवताकी नींवपर खड़ा होकर संसारमें अद्वितीय आदर्श रखता है।

मानवताके स्वर्णकण

मानवताकी मञ्जु मूर्ति संत एकनाथ

(लेखक—श्रीरंगनाथ शिंदे, एम० ए०)

सुप्रसिद्ध महाराष्ट्र संत एकनाथ महान् ज्ञानी तथा भगवद्भक्त थे। वे सगुण-निर्गुण उभयविध साक्षात्कारसे सम्पन्न थे। गुरु-आज्ञाका पालन करनेके हेतु उन्होंने गृहस्थाश्रमको स्वीकार किया और उसे हर तरहसे आदर्श बनाया। उनकी स्थितप्रज्ञता एवं भागवतोत्तम स्थितिकी निदर्शक अनेक कथाएँ महाराष्ट्रके घर-घरमें प्रचलित हैं। इनमेंसे मानवताकी निदर्शक कुछ कथाएँ हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) गर्मीके दिन थे। वैशाख मास था, मध्याह्नका समय था, भगवान् भास्कर अपनी प्रचण्ड किरणोंसे अवनीतलको तप्त कर रहे थे, ऐसे समय संत एकनाथ स्नान-संध्यादिकी सामग्री लिये हुए नंगे पैरों नदीकी ओर चले जा रहे थे। मुखसे स्तोत्रादिका पाठ तथा भगवन्नाम-संकीर्तन चल रहा था, सहसा मार्गमें आपको एक बड़ा ही करुण दृश्य दिखायी दिया। एक अन्त्यज स्त्री पानी भरने जा रही थी, पैर जल रहे थे, इसलिये वह द्रुतगतिसे घरसे निकलकर नदीकी ओर चल दी। कुतूहलसे उसका बच्चा भी उसके पीछे हो लिया। इस बातका उस स्त्रीको पता न चला। बच्चा कुछ दूर तो माँ-माँ करकर दौड़ता गया; किंतु उस प्रचण्ड गर्मीमें भला वह किस प्रकार अपनी माताको पकड़ पाता? तप्त-बालुकामय मार्ग अपनी दाहकतामें अग्निकी स्पर्धा कर रहा था। बच्चा थोड़ी दूर चलकर गिर पड़ा और लगा तड़फड़ाने। मुँहसे उसके लार बह रही थी और नाकसे मैल, वह न तो आगे जा सकता था, न पीछे। महात्मा एकनाथका संत-हृदय इस दृश्यको देखकर द्रवित हो उठा। बिना किसी संकोचके उन्होंने उस दीनहीन अन्त्यज बालकको अपनी गोदमें उठा लिया। उसकी नाक तथा मुँह अपने अँगोछेसे साफ किये और अपने उत्तरीयसे ढँककर उसे अन्त्यजोंकी बस्तीमें ले गये। बालकका पिता यह दृश्य देखकर घरमेंसे दौड़ता हुआ बाहर आया। पीछेसे बालककी माता भी पानी लेकर आ पहुँची और संत एकनाथके रूपमें मूर्तिमती मानवताके दर्शन करके कृतार्थ हुई। संत एकनाथने बच्चेके विषयमें अधिक सावधानी रखनेकी प्रेमपूर्ण सूचना दी और भगवन्नामका स्मरण करते हुए गङ्गास्नानार्थ चल दिये। ध्यान रहे यह घटना उस समयकी है जब अन्त्यजोंकी छाया पड़नेपर भी ब्राह्मण स्नानद्वारा अपनी शुद्धि किया करते थे; किंतु मानवता इन सब बन्धनों तथा मर्यादाओंसे परे है।

(२) एक समय संत एकनाथ तीर्थयात्रा कर रहे थे। साथमें त्रिवेणीसे गङ्गाजलकी काँवर लेकर रामेश्वर भगवान्को चढ़ानेके हेतु लिये हुए थे। मार्ग आक्रमण करते-करते रामेश्वरके प्रायः समीप आ पहुँचे थे। काँवरके सहित संत एकनाथ मुँहसे भगवन्नामका घोष करते हुए आगे-आगे चले जा रहे थे। साथी लोग कुछ पिछड़ गये थे। इतनेमें संत एकनाथने देखा कि एक गधा प्याससे व्याकुल होकर तप्त-बालुकामें बुरी तरह तड़फ रहा है। भूतमात्रमें भगवान्-

के दर्शन करनेवाले महात्मा एकनाथका कोमल हृदय इस दृश्यसे द्रवित हो गया और निस्संकोच भावसे उन्होंने काँवरके

गङ्गाजलद्वारा उसकी तृप्ति की। पेटमें पानी पहुँचते ही गधेको नवजीवन प्राप्त हो गया और वह उठकर टी-भोंकी हर्षध्वनि करते हुए चल दिया। पीछेसे आ रहे एकनाथजीके साथियोंने यह सब दृश्य दूरसे ही देख लिया और वे जल गये। समीप आकर एकनाथजीसे कहा, 'यात्रा व्यर्थ गयी। कारण गधेका उच्छिष्ट गङ्गाजल रामेश्वर भगवान्को चढ़ानेके योग्य न रहा।' महात्मा एकनाथने धीर-गम्भीर भावसे कहा—'जिस कारण तुमलोग यात्राको निष्फल समझ रहे हो, उसी कारण वह अधिक सफल हुई है। चराचरमें, अणुरेणुमें व्याप्त भगवान् रामेश्वरने जरा जल्दीमें आकर रास्तेमें ही हमारी सेवा स्वीकार कर ली।' इन रहस्यभरे शब्दोंको सुनकर सब बड़े संतुष्ट तथा प्रसन्न हुए।

(३) श्रीसंत एकनाथकी साधुता, परोपकार तथा शान्ति इत्यादिमें प्रकट होनेवाली दैवी सम्पत्तिकी ख्याति सर्वत्र फैल रही थी, इस बातसे कुछ स्वार्थी तथा ईर्ष्यालु लोग जलने लगे। एक बार एक गरीब ब्राह्मण अपनी कन्याके विवाहके लिये धनकी याचना करते हुए वहाँ आ पहुँचा और पहले इन्हीं लोगोंके सम्पर्कमें आया। इन्होंने उससे कहा कि हम तुम्हें २००) रुपये इनाम देंगे, बशर्ते तुम एकनाथकी शान्ति भङ्ग करके उन्हें क्रोधापन्न कर सको। ब्राह्मणने इसे आसान बात समझकर इस चुनौतीको स्वीकार किया। महात्मा एकनाथके मकानमें पहुँचकर वह ब्राह्मण उसी अवस्थामें, कपड़े, जूते पहने अपने सामानके साथ सीधा एकनाथके पूजामन्दिरमें चला गया और उसी वेशमें जाकर एकनाथकी जंघापर उसने अपना आसन जमा दिया। कोई भी व्यक्ति एक अपरिचितके इस प्रकारके व्यवहारसे क्रोधित हो उठता। किंतु एकनाथ कोई साधारण व्यक्ति थोड़े ही थे! उन्होंने उस ब्राह्मणको प्रेमपूर्वक आलिंगन दिया और कहा 'आपका मेरे प्रति प्रेमभाव लोकविलक्षण है! सच्चा प्रेम किसी प्रकारकी मर्यादाको नहीं मानता! यही तो सच्चे प्रेमका लक्षण है!' इन शब्दोंके साथ महात्मा एकनाथने उस ब्राह्मणको रहनेकी तथा स्नानादिकी समुचित व्यवस्था की। उनके लिये वह अतिथिदेव था। ब्राह्मण इस शान्तिपूर्ण व्यवहारसे खिन्न हुआ; किंतु निराश न हुआ। उसने संत एकनाथको क्रोधाविष्ट करनेकी ठान ली और योग्य अवसरकी बाट जोहने लगा। उसने मनमें निश्चय कर लिया कि साधारण-सी बातोंद्वारा वह संत एकनाथकी शान्ति-भङ्ग नहीं कर सकता। इसलिये उसने एक अन्तिम रामबाण उपायकी योजना कर ली। भोजनका समय हुआ। ब्राह्मणदेवता आसनपर जा विराजे। एकनाथजीकी साध्वी एवं सुयोग्य पत्नी परोसगारी करने लगी। जैसे ही वह ब्राह्मणदेवताकी थालीमें चीजें परोसनेके लिये झुकीं, वैसे ही ब्राह्मणदेवता

उचककर उसकी पीठपर जा विराजे। पास ही बैठे हुए संत एकनाथने अपनी पत्नीसे कहा, 'सावधान! कहीं ब्राह्मण गिरकर चोट न खा ले!' पत्नीने कहा, 'मुझे मेरे पुत्र हरिपण्डितको पीठपर बैठालकर काम करनेका पूरा-पूरा अभ्यास है। आप निश्चिन्त रहें। मैं अपने इस बालकको भी गिरने नहीं दूँगी!' ये शब्द सुनकर ब्राह्मणदेवता लज्जित हुए तथा संत एकनाथके पैरोंपर गिरकर क्षमा-याचना करने लगे। साथ ही अपने असभ्य व्यवहारका सच्चा कारण भी बतलाया और इनामके रुपये खोनेके कारण दुःख भी प्रकट किया। एक-

नाथने यह सब सुनकर कहा—'आपने मुझसे यह सब पहले क्यों नहीं कहा? मेरे क्रोधसे यदि आपको लाभ होता, मैं अवश्य क्रोध प्रकट करता। उस ब्राह्मणकी कन्याके विवाहार्थ एकनाथजीने पर्याप्तरूपमें आर्थिक सहायता भी दी।

ओ, अशेष

(लेखक—प्रो० कृष्णनन्दनजी दीक्षित पीयूष, एम० ए०)

स्वप्नोंकी नौका यह पाती है नहीं पार,
फैला है चिर असीम अंधकार!
× × × ×
ओ, अशेष !
ओ, अशेष !!
मानवकी कल्पनाएँ,
मानवकी साधनाएँ,
मानवकी कामनाएँ,
जब भी साकार हुईं,
जन्मा है काल-पुरुष
जिसके ही फलस्वरूप,
गूँजा था विमल वेद,
शाश्वत संगीत एक–
'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की एक संयमित पुकार,
गीताकी वाणीमें,
रामकी कहानीमें,
सपने जो मूर्तिमान,
मानवके सपने थे,
धरतीके सपने थे,
रक्तोंके कीचड़में
खिलते ही रहे पुष्प
शुभ्र-पुष्प,
जिसमें संचित पराग
जिनका था पूर्ण-शेष,
जिनके कपोलोंपर,
चुम्बनके नहीं दाग
गूँजा वह महामन्त्र,
होकर सबसे स्वतन्त्र।
झंकृत कर तार-तार,
'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' का महामन्त्र,
जिसके समक्ष झुका राजमुकुट,
मानवको मिला स्नेह,
तभी मानवसे पशुता भी गयी हार,
किंतु, तभी मानवने देखा वह ज्योति-रेख
जिसकी आभासे,
ज्योतित था दूर गगन,
आभा वह तभी बढ़ी धरतीपर,
बन कर वह ज्योति-पुरुष,
काल-पुरुष,
यह न था दूसरा,
चार गजकी बिस्टी लपेटे वह मानव था,
गांधी था!
गांधीकी वाणीमें,
धरतीकी वाणी साकार हुई,
मानवता जीत गई,
पशुताकी नागिन थी बनी तभी विष-विहीन!
किंतु, तभी आभा वह हुई लीन,
विधवा कर धरतीको धोकर उसका सुहाग,
देकर बस एक दाग,
काला सा एक दाग,
इसी तरह कितने ही आये हैं, चले गए,
दो क्षण ही रहे, तभी छले गए,
अभी तक न हुआ कोई समाधान,
मानवके प्रश्नोंका समाधान !!
ओ, अशेष !
ओ, अशेष !!
खोलो फिर रुद्ध द्वार!
जिसका मिलता न पार,
जो अभेद, चिर अभेद,
दे दो नव ज्योति-किरण,
नई राह,
कर दो संकेत एक
अपनी इन आँखोंका निर्देशन,
ओ, अशेष !
ओ, अशेष !!
निर्विकल्प, निराकार,
प्रश्न अभी रहा शेष !
ओ, अशेष !
…………………।

भारतमें मानवताके ह्रासके कुछ कारण

(लेखक—कमाण्डर श्रीशुकदेवजी पाण्डे, मन्त्री, बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट)

भारतीय पुरातन संस्कृतिका परम लक्ष्य मानवका उस सर्वोत्तम ब्राह्मी स्थितिमें पहुँचना था कि जब वह यह अनुभव कर सके कि वही परम शुद्ध, निर्लेप, निष्काम कर्मयुक्त परम आत्मा है। यह संसारकी यात्राका परम निष्कर्ष था। मनुष्य दैवीसम्पत्तिके उपार्जन-हेतु आजीवन अथक परिश्रम करता था, जिससे वह द्वन्द्वोंसे—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरणसे—मुक्त हो। वह आत्मसंयम तथा सत्कर्मोंद्वारा अभय स्थितिकी प्राप्ति करता था। शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, निर्मल अन्तःकरण तथा इन्द्रियनिग्रहके द्वारा राग-द्वेष, मद-मोह, काम-क्रोध इत्यादि विकारोंसे रहित होकर ज्ञान तथा कर्मका यथार्थ फल प्राप्त करता था। वह यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सात्त्विक दान यथाशक्ति करता था। हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, प्राणिमात्रपर दया करना तथा परहितमें संलग्न रहना—वह अपना कर्तव्य समझता था। तृष्णाहीन, निर्लोभी, त्यागी, सहृदय, लज्जावान्, दूसरोंकी निन्दा न करनेवाले, तेज, क्षमा और धैर्यसे युक्त पवित्र मानव ही ब्राह्मी यथार्थ स्थितिको प्राप्त कर सकते थे। इन जीवन्मुक्त आत्माओंने भारतवर्षको ही नहीं, वरं सारे संसारको ऐसी अमूल्य निधियाँ दीं, ऐसे अमूल्य रत्न प्रदान किये, जिससे प्राणिमात्रको भौतिक तथा आध्यात्मिक सुख और शान्ति प्राप्त हो। समय-समयपर ऐसी महान् आत्माओंने जन्म लेकर संसारके दुःखोंका निवारण करनेका सफल प्रयत्न किया। इस शताब्दीमें भी, जब कि मानव-समाजमें भाई भाईके खूनका प्यासा है, जब स्वार्थसिद्धि ही उसका परम लक्ष्य है, महात्मा गांधीने सत्य, अहिंसा तथा बुरे कर्मों और विचारोंसे असहयोगका पाठ हमें पढ़ाया था और अधर्म, अनीतिका सामना करनेके लिये सत्याग्रह-जैसा अमोघ अस्त्र संसारको दिया था। अनेक देव-तुल्य महान् आत्मा श्रीशंकराचार्य, श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, महर्षि श्रीरमण-जैसी विभूतियोंने सुख-शान्तिके मार्गका पथ-प्रदर्शन किया, परंतु स्वार्थ—अर्थलोलुपताके तुमुल नादमें उनकी आवाज अब कानोंतक भले ही पहुँचे, हमारे अन्तःकरणतक नहीं पहुँच पाती। समाजका लक्ष्य बड़े वेगसे बदल रहा है। पश्चिमीय वैभवसे, उसकी बाहरी तड़क-भड़कसे अधिकांश शिक्षित भारतवासी चकाचौंध हो गये हैं। ऐसे चौंधियाये लोग यह मानते हैं कि सम्पन्न विदेशियोंकी तरह सुसज्जित विशाल भवनोंमें रहना, बड़ी-बड़ी मोटर-गाड़ियोंमें चढ़ना, उत्तम-से-उत्तम भोजन करना—चाहे वे खाद्य हों या अखाद्य, सब प्रकारके मनोरंजनकी सामग्रीका प्राप्त करना ही आधुनिक सभ्यताका परम लक्ष्य है। कैसे भी हो, धर्मसे या अधर्मसे, भोग प्राप्त होना चाहिये। आय बढ़े, हम खूब धनोपार्जन करें। हमारे आत्मज शीघ्रातिशीघ्र धन-धान्यसे पूरित हों। ऐसा आदर्श वाञ्छनीय हो सकता है, यदि मानव अपने परिश्रमसे तथा ईमानदारीसे धनोपार्जन करे और अपनी कमाईका एक अच्छा भाग परहितमें लगावे। पर अधिकांश लोगोंमें तो भावना यह है कि कैसे ही रुपया आये—चोरबाजारीसे, घूसखोरीसे, ठगीसे, धोखा देनेसे या अपनी सत्ताके दुरुपयोगसे और उसका उपयोग अधिकतर अपने ऐश या आरामके लिये ही हो। प्राणिमात्रका हित चाहनेवाले भारतवासी, जो नित्य यह प्रार्थना करते थे कि सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो, वे ही आज कैसे स्वार्थी, निर्दयी तथा कठोर हो गये! ऐसा घोर पतन कैसे हो रहा है? यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है।

विचारवान् प्रत्येक भारतवासीका यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह इस प्रश्नका उत्तर ढूँढ़े, स्थिति सुधारनेके साधन खोजे और भरसक साधनोंको कार्यान्वित कर समाजको आगे गिरनेसे बचावे।

सदियोंकी गुलामी होते हुए भी नौकरीपेशोंके कुछ लोगोंको छोड़कर पहली लड़ाईके पहलेतक जनतामें ईमानदारी थी। वह सचाईकी कीमत करती थी। अन्याय करनेसे वे दैवीकोपके भाजन होंगे, ऐसी लोगोंकी धारणा थी। जैसे-जैसे लड़ाई बढ़ती गयी, आवश्यक पदार्थोंकी कीमत बढ़ती गयी और लोगोंमें धन कमानेकी तृष्णा जाग्रत् हुई एवं धर्म-अधर्मका विचार तथा ईश्वरीय न्यायका डर जनताके हृदयसे उठने लगा। दूसरी लड़ाईमें जब कन्ट्रोलका युग आरम्भ हुआ, तब तो धनलिप्साने बुरी तरह आ घेरा। ईमानदारी-जैसी चीजका तो नामोनिशान भी उठने लगा। बड़े-बड़े कर्मचारी पराधीन भारत-सरकारके तथा उसके बाद स्वतन्त्र-भारतके कन्ट्रोल लगाने तथा परमिट देनेमें अपना

घर भरने लगे। पुलिसके कर्मचारी, पटवारी, पब्लिक वर्क्सके लोग, कचहरीके कुछ कर्मचारी, विशेषतः रेलके मालगोदामके बाबू तो सदासे ही अपनी नियमित दस्तूरी वसूल करते ही थे, पर अन्य विभाग घूसखोरीसे बहुत कुछ अंशमें मुक्त थे; परंतु दूसरी लड़ाईमें और उसके उपरान्त कन्ट्रोल, परमिट देनेकी प्रणाली तथा विभिन्न प्रकारके जो बन्धन माल बेचने, माल खरीदने, माल बनाने, माल मँगवानेमें लगाये गये और लगाये जा रहे हैं; भोजन-सामग्रीके यातायात तथा वितरणमें तथा उपभोगमें जो नियन्त्रण लगाये जाते हैं, उनके कारण धर्मच्युत तथा लोभी मनुष्योंके हाथमें मानो पारस-पत्थर लग गया और जिसकी जितनी तृष्णा हुई एवं जिसके हाथमें जितनी सत्ता हुई तथा गाँठ-साँठ करनेकी सुविधा हुई, उसीके अनुसार उसने सोना बनाया और आज भी वह बना रहा है !

स्वतन्त्रताके संग्राममें परम पूज्य बापू महात्मा गाँधीके नेतृत्वमें लाखों ज्ञात और अज्ञात स्त्री-पुरुषोंने, बालक-बालिकाओंने, युवकों और नवयुवतियोंने भारतमाताकी गुलामी-की बेड़ियोंके काटनेके लिये देशके निमित्त स्वतन्त्रताकी वेदीपर अपना सर्वस्व सानन्द स्वाहा कर दिया और अपने प्राण भी न्योछावर कर दिये। कठिन यातनाएँ सहीं, लाठी तथा गोलियों-का सामना किया, कारागारमें तथा अन्यत्र मदान्ध गोरों तथा उनके टुकड़ोंके गुलामोंद्वारा अकथनीय क्रूरता तथा अमानुषिक व्यवहार सहर्ष सहन किये, पर आततायियोंके अत्याचारोंका विरोध किया। पैशाचिक बलसे लोहा लिया तथा सभी यातनाओंको हँसते-हँसते झेल डाला। कभी न एक आह की, न कभी किसी प्रकारकी शिकायत ही की। महिलाओंने एक अपूर्व चरित्रबलका प्रमाण दिया और इस संघर्षमें सराहनीय सहयोग दिया तथा दमनमें लगे हुए अधिकारियोंके दाँत खट्टे कर दिये। बालकोंकी वानर-सेनाने भी निडर होकर आन्दोलनमें प्रशंसनीय भाग लिया और यह दिखलाया कि वास्तवमें वे शेर-बच्चे हैं, जो कि गीदड़ोंसे नहीं डराये जा सकते। जनताने स्वतन्त्रताके संग्राममें कर्तव्य-निष्ठा, कर्तव्यपरायणता, सहनशीलता, सहयोग तथा निष्काम कर्मका जो परिचय दिया, वह किसी भी देशके लिये गौरवकी बात थी। नेताओंने भी जो त्यागका आदर्श समाजके समक्ष रखा, वह भी अद्वितीय था। दलित तथा हरिजनोंके उत्थानार्थ समाजका तिरस्कार तथा बहिष्कार भी उन्होंने सहन किया। पूज्य बापूने भी जो अपने अनुयायियोंकी समय-समयपर अग्नि-परीक्षाएँ कीं, उनमें भी हमारे नेता तथा जनता खरी उतरी। बहुत-से धनियोंने भी अपनी थैलियाँ खोल दीं। उस समयकी त्याग तथा निःस्वार्थ कर्मकी गाथाएँ सदा हमें रोमाञ्चित करती रहेंगी और किसी भी देशका, जो जनता-जनार्दनके उत्थानमें संलग्न है, पथ प्रदर्शन करेंगी। जनताने स्वार्थ, अहंकार, क्रोधका त्याग कर, सत्य आचरणकर, विनय और पारस्परिक प्रेमसे ही अपने लक्ष्यकी प्राप्ति की। बापूने हमें सत्य, अहिंसा, असहयोग तथा सत्याग्रह-जैसे अमोघ अस्त्रोंकी देनके अतिरिक्त एक और अमूल्य मार्ग यह बतलाया था कि हम अपने विशुद्ध विचारोंके अनुसार ही कर्म करें। उन्होंने इस मौलिक सिद्धान्त-का अनुसरण किस प्रकार हो सकता है, अपने जीवनमें 'जैसा कहना वैसा करना' इस सिद्धान्तको ओतप्रोत कर भविष्यके लिये एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। भारतमें मानवकी मानवता ऊँचे शिखरकी ओर बड़े उत्साह और दृढ़तासे बढ़ रही थी और यह आशा थी कि फिर एक बार भारत संसारको अपने विशुद्ध आचरणसे, अपनी न्यायनिष्ठासे, अपने सत्य व्यवहारसे तथा अपनी सहृदयता और परहित-भावनासे वह मार्ग दिखा सकेगा जिससे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श प्राप्त करना सम्भव हो; परंतु स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् उल्टी ही गङ्गा बहने लगी और अब तो उसका वेग ऐसे बढ़ने लगा है कि यदि उसे रोका न जा सका तो पता नहीं, देशकी परिस्थिति कितनी शोचनीय हो जायगी !

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके उपरान्त देशको सुव्यवस्थित करनेका स्तुत्य भगीरथ प्रयत्न कुछ कालतक उसी निष्काम तथा त्यागकी भावनासे होता रहा, जिसके द्वारा देशको स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना देशको करना पड़ा और सफलतापूर्वक किया भी तथा अब भी किया जा रहा है; परंतु देशवासियोंमें वह जो स्वार्थ-त्याग एवं परहितकी भावना थी, बड़ा दुःख है कि अधिकांश कार्यकर्ताओंमें वह अब स्वार्थ तथा स्व-हितमें परिणत हो रही है। परमार्थपर स्वार्थ शनैः-शनैः पर बड़ी तेजीसे विजय पा रहा है। सत्ताधारियोंमें राज्य-लिप्सा बढ़ रही है। हुकूमतका नशा चढ़ने लगा है। शक्ति-संग्रहके लिये गुटबंदियोंका बाजार गरम है। न्याय-अन्याय तथा धर्म-अधर्मके प्रति उदासीनता होने लगी है। अपना पक्ष-समर्थन ही मुख्य धर्म माना जाने लगा है। अपने पक्ष-वालोंके दोष सब क्षम्य माने जाने लगे हैं। घोर-से-घोर अपराधी पार्टीकी जाँचमें निर्दोष घोषित किये जाने लगे हैं। कोई भी अपने पक्षके समर्थकोंको, मतदाताओंको सच्ची सुनाने-के लिये तैयार नहीं। सिरपर ताज बना रहे, मेरी कुर्सी

बरकरार रहे, यही मुख्य ध्येय जब रहने लगा तब न्यायकी आशा दुराशामात्र ही है, संघ-शक्तिका यह घोर दुरुपयोग है !

अवसरवादियोंने तो देश-सेवाकी कीमत रुपयोंमें तौलना आरम्भ कर दिया है। हम जेल गये, हमने लाठियाँ सहीं, इसके प्रत्युपकारमें हमें धन मिलना चाहिये। हमें जमीन मिलनी चाहिये। लड़ाईमें ऐसे लोग पीछे रहे ताकि जिसकी जीत हो उसका झंडा वे फहरा सकें। पर जीतके बाद उसका लाभ उठानेके लिये गला फाड़-फाड़कर अपनी सेवाओंकी चर्चा करनेके लिये वे सबसे आगे हैं। यह क्या देशका नैतिक पतन नहीं ? त्यागके त्यागसे देशका कितना अधःपतन हो रहा है और भविष्यमें क्या होगा, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। यदि अवसरवादियोंकी संख्या इसी वेगसे बढ़ती रही जैसी कि इस समय बढ़ रही है, तो देशका स्वरूप ही बदल जायगा। संयम-नियमकी घोर उपेक्षा करनेवाले ये अवसरवादी अधिकांश शिक्षित हैं तथा कुछ पदाधिकारी भी हैं। इनके इस प्रकारके आचरणसे जनतामें बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। वे जब देखते हैं कि बहुत-से लोग, जिनके प्रति उनका आदर था और जो जनताके प्रतिनिधि थे, खुले आम लूटमें भाग ले रहे हैं और साथ ही समाजमें सम्मान भी पा रहे हैं तो वे भी अपने क्षेत्रोंमें उनका अनुकरण क्यों नहीं करें ! यही कारण है कि आज बिना कर्मचारियोंको नजर किये दफ्तरोंमें कहीं भी सुनायी नहीं हो पाती। कोई काम बिना सिफारिश या बिना भेंट दिये होना या समयपर होना असम्भव होने लगा है ! भेंटकी मात्रा भेंट लेनेवालेकी सत्तापर निर्धारित होती है।

निजी क्षेत्रमें भी यही हाल है। किसी वस्तुका निर्यात बंद हुआ तो आवश्यक चीजें भी अप्राप्य हो जाती हैं, जबतक आप मनमाने दाम देनेको तैयार न हों। खाद्य सामग्रीमें तो मिलावटका कोई अन्त नहीं। बिना हिचकिचाहट ऐसी चीजें भी निडर होकर लोग खाद्यपदार्थोंमें मिलाने लगे हैं, जो स्वास्थ्यके लिये हानिकारक हैं। अनेक स्त्री-पुरुष मिलावटका भोजन करनेसे हताहत हुए हैं या भयंकर रोगोंसे ग्रस्त हुए हैं। शुद्ध घी तो वे ही सेवन कर सकते हैं जो स्वयं गाय या भैंस घर रख सकें। अधिकांश डाक्टर और वैद्य, जिनके हाथ आप अपना जीवन सौंपते हैं, वे भी अब आपके विश्वासके योग्य नहीं। पैसेके लोभसे वे भी ऐसा इलाज करते हैं जिससे वे अधिक-से-अधिक आपसे प्राप्ति कर सकें, चाहे आपको लाभ हो या न हो। कभी-कभी तो रोगीको मरणासन्न-अवस्थामें देखनेके लिये आनेमें भी समय न होनेके कारण असमर्थता प्रकट करते हैं जबतक आप उनकी पूरी पूजा न करें। दवा भी नकली बनने लगी है। इसीसे दवा बनानेवाले बढ़ रहे हैं। सबसे बड़ी दुर्भाग्यकी बात तो यह है कि अध्यापक, जिनपर देशके भविष्यके नागरिक हमारे होनहार बालक-बालिकाओंकी शिक्षा और चरित्रगठनका भार है, आज औरोंकी तरह सरस्वतीकी उपासना छोड़कर लक्ष्मीकी उपासनामें रत हैं ! हमारे विश्वविद्यालय राजनीतिक अखाड़े हो चले हैं, जिनमें बहुत-से छोटे-बड़े अध्यापक चुनाव- सत्ताको अपनानेके लिये अपना अधिकांश समय और बुद्धि लगाने लगे हैं और अपने विद्यार्थियोंके प्रेम तथा श्रद्धासे वञ्चित हो चले हैं। धन और सम्मान चाहनेवाले अध्यापकोंको निराश ही होना होगा। वे धन चाहेंगे तो उन्हें अपना सम्मान बेचकर ही प्राप्त हो सकता है।

किसी क्षेत्रमें जाइये, यही देखनेको मिलता है कि हम अपना उत्तरदायित्व भूल बैठे हैं। केवल एक ही लगनसे हम काम करते हैं और वह यह कि हमें धनकी प्राप्ति हो।

भारतकी जनताके धनका सरकारद्वारा भी कितना अपव्यय हो रहा है, इसका अनुमान तो उन विज्ञप्तियोंसे होता है जो ऑडिट कार्यालयसे निकलती रहती हैं। बड़े-बड़े जो काम देशमें उठाये गये हैं—जैसे दामोदरघाटी-योजना, हाउस फेब्रीकेटिंग फैक्ट्री, कृत्रिम खाद-फैक्ट्री इत्यादि, इनमें जो अपव्यय हुआ है, उससे तो यही स्वीकार करना होगा कि हमारे चरित्रमें बहुत बड़ी कमजोरियाँ हैं। हमारा औसत चरित्र अन्य स्वतन्त्र देशोंके औसत चरित्रसे बहुत नीचा है, अन्यथा जो त्रुटियाँ हमारे देशमें विभिन्न विभागोंमें देखी जाती हैं, वे न होतीं। देशवासियोंकी योग्यता तथा चरित्रपर ही देशकी सरकारका स्तर निर्भर होता है। देशमें कुछ बड़ी-बड़ी विभूतियोंके होते हुए भी यह सम्भव नहीं कि वे सारी जनतापर ऐसा प्रभाव डाल सकें कि वह अपने चरित्र-दोषोंको उनके प्रभावके द्वारा ही त्याग कर दें।

जबतक वे लोग, जो उनके निकट-सम्पर्कमें न आवें, उनका पूर्णतया अनुकरण न करें और जबतक देशमें ऐसे लोगोंकी संख्यामें वृद्धि न हो जो देशको अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओंसे आगे रखें, तबतक देशके नैतिक स्तरमें अन्तर होनेकी आशा करना कोरी विडम्बना ही है।

देशकी राजनीतिक दलबंदीके कारण भी नैतिकताका बड़ा ह्रास हो रहा है। बहुत-से दल अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके

लिये उचित-अनुचित, न्याय-अन्यायका विचारतक नहीं करते। देशमें अराजकता फैलाने तथा सत्ताधारी दलके प्रभुत्वको ठेस पहुँचानेके लिये प्रदर्शन, हड़ताल तथा भूख-हड़तालकी आयोजना करते हैं और विद्यार्थियोंको भड़काकर उन्हें आगे कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। कोई-कोई दल तो समाजके उच्छृङ्खल तथा धूर्त लोगोंको सम्मिलित कर उनके द्वारा लूट-खसोट तथा अन्याय-अत्याचार करानेमें भी नहीं झिझकते। दलोंके नेता बड़े-बड़े ऊँचे सिद्धान्तोंकी घोषणा करते हैं; परंतु उनके अनुयायियोंके चरित्र तथा कारनामे इतने घृणित होते हैं कि किसी और देशमें तो इनका नाम लेनेवाला, पानी देनेवाला भी न होता। परंतु हमारे देशकी भोली-भाली जनता न मालूम क्यों बार-बार इनके उकसानेमें आ जाती है ? इसका मुख्य कारण उसका अज्ञान तथा शिक्षाकी कमीके अतिरिक्त और क्या हो सकता है। बहुतोंको, उनमें या तो स्वयं सोचनेकी शक्ति नहीं है या वे सोचते ही नहीं। वे नारोंकी आवाजके साथ, चाहे कोई कैसे ही नारे किसी भी उद्देश्यसे क्यों न लगावे, हो लेते हैं। ढोंगियोंके बहकावेमें आ जाते हैं। वे उन्हें आश्वासन देते हैं कि वे उनके दुःख निवारण करेंगे। जो सरकार उनपर ज्यादती कर रही है, उसके विरुद्ध बिना आन्दोलन किये वह कुछ न करेगी। उन्हें सरकारने भी यह कहनेका अवसर दे दिया है कि किस प्रकार विरोधियोंकी लूट-मार, हड़ताल तथा रेल-तार-बिजलीको नुकसान पहुँचाने तथा बस, मोटरगाड़ियों, स्कूल-कालेजों एवं नगरपालिकाके सामानको नष्ट-भ्रष्ट करनेपर ही सरकारने विरोधियोंकी माँगोंको कानून तोड़नेवालोंके प्रति बिना कुछ कार्यवाही किये स्वीकार किया है। सरकारकी इस नीतिसे उन्हें प्रोत्साहन मिला है और मिलता जा रहा है। इस अराजकता तथा गुंडेशाहीसे भी मानवताको बड़ा धक्का पहुँच रहा है। देशमें उद्दण्डता फैल रही है और कानूनकी अवहेलना हो रही है। जिनपर जान और मालकी रक्षाका भार है, उनपर अविश्वास बढ़ रहा है। इससे समाजके लिये एक गम्भीर स्थिति कभी भी पैदा होनेकी आशंका है।

देशके नैतिक स्तरको उठानेके लिये यह आवश्यक है कि जिन नेताओंपर आज भी देशको गर्व है, वे जनताको यह अवसर न दें कि जनता यह आरोप लगावे कि वे कहते कुछ हैं और करते कुछ। उनके वक्तव्यमें राजनीतिक गन्ध दल-पक्षकी जितनी कम हो, उतना ही उनका प्रभाव देशको मान्य होगा। हमारा घोषित ध्येय यह है कि भारत जनहितकारी गणतन्त्र राज्य है, जो समाजके प्रत्येक व्यक्तिको समान सुविधाएँ देना चाहता है। इस घोषणाके उपरान्त यदि हम ऐसे कार्य करें, जो घोषणाके विपरीत हो तो समाजकी आस्था उन महानुभावोंके प्रति कम हो जायगी, जो देशके स्तम्भ माने जाते हैं और मानवताको एक बड़ा धक्का लगेगा। जब हमारा आदर्श समाजवादकी ओर देशको ले जाना है, तब हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम देशकी धनराशिको भरसक जनताके हितार्थ ही लगावें और एक ऐसा आर्थिक स्तर निश्चित करें कि जिसकी प्राप्तिके लिये जनता-जनार्दनमें उत्साह पैदा हो सके तथा वे सब लगनसे लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये तन-मनसे लग जायँ। आज यह उत्साह नहींके बराबर है और वर्तमान नीतिके कारण होना भी सम्भव नहीं। यह कहाँतक उचित है कि जब हमारे ग्राममें स्कूल नहीं, दवा-दारूका प्रबन्ध नहीं, सड़कें नहीं, स्वच्छ पानीकी व्यवस्था नहीं और उस समय सरकारी पदाधिकारियोंके लिये प्रत्येक मकानमें डेढ़ लाख, दो लाख रुपये खर्च किये जायँ। नयी प्रान्तीय राजधानियोंके बनानेके लिये करोड़ों रुपयेका व्यय हो। देशकी राजधानीमें जो सरकारी भवन बन रहे हैं, उनमें करोड़ों रुपये व्यय किये जायँ। शान-शौकमें, मोटरगाड़ियोंमें, मकानोंकी सजावटोंमें, तार-टेलीफोनोंमें मन्त्रियोंका खर्चा भारतमें करोड़ोंपर पहुँचता है। अपने देशमें ही उनकी जान-मालकी रक्षाके लिये, जब वे दौरोंपर जाते हैं, तब उनकी अगवानी तथा इंतजामके लिये पानीकी तरह रुपया बहाया जाता है। बाहरसे आनेवाले अतिथियोंके सत्कारमें इतना व्यय किया जाता है, जो भारत-सा गरीब देश, जो चारों ओर हाथ फैलाये देशको समृद्धशाली बनानेके लिये ऋण माँग रहा है, सहन नहीं कर सकता। गाँवोंमें ग्रामसुधारकी जो योजनाएँ चल रही हैं, वे और वेगसे चल सकतीं, यदि भारतकी सरकार अपने घोषित ध्येयपर चल सकती और जो अपव्यय हो रहा है उसे बचाती। जबतक करोड़ों गरीबोंके जीवनका स्तर ऊँचा नहीं किया जा सकेगा, तबतक जितना अधिक रुपया अधिकारियोंको ठाट-बाटसे रखने और उन्हें विशेष सुविधाएँ देनेमें व्यय होगा, उतना ही जनताका विश्वास सरकारके घोषित ध्येयपरसे कम होता जायगा। यह देशके भविष्यके लिये अहितकारी होगा। सरकारी कर्मचारियोंको सरकारी कामके लिये दी हुई सुविधाओंका, जो निजी काममें प्रयोग होता है, उसका असर भी जनतापर अच्छा नहीं पड़ता। जब बड़े-बड़े सम्मानित तथा पढ़े-लिखे लोग इस प्रकार जनताके धनका

दुरुपयोग करते हैं, तब छोटोंका तो कहना ही क्या। जिनका चरित्र जनताके लिये एक अनुकरणीय उदाहरण होना चाहिये था, वह उसके विपरीत है और देशमें मानवताके ह्रासके लिये उत्तरदायी है। 'कहना कुछ और करना कुछ'के कारण, और देशको जो यदा-कदा आश्वासन दिये जाते हैं, उनको भूल जानेके कारण, देशके बड़े नेता भी जनतापर वह प्रभाव डाल नहीं सकते हैं, जो उन्होंने स्वतन्त्रता-संग्रामके अवसरपर डाला था। इससे वे भी अब देशके नैतिक स्तरको गिरानेसे बचानेमें असमर्थ हैं, जैसी कि वर्तमान घटनाएँ जो देशमें हो रही हैं, उनसे स्पष्ट है। यह निश्चय ही है कि जबतक देशके नेता देशमें फिरसे निःस्वार्थ सेवाकी दुन्दुभी बजानेमें समर्थ न होंगे, तबतक देशका नैतिक स्तर उठ न सकेगा।

वर्तमान स्थितिको देखते हमारा भविष्य भी उज्ज्वल होनेकी अभी कोई आशा नहीं। हमारे भावी नागरिक, हमारे बालक और बालिकाएँ—ऐसे वातावरणमें पोषित हो रहे हैं, जिसमें उनपर न तो घर और समाजका नियन्त्रण है, न माता-पिता तथा अध्यापकोंका डर और न ईश्वरपर उनकी आस्था है। साधारण स्थितिके बालकोंको कहींपर भी नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा पानेका सुअवसर नहीं। वैदिक संस्कार पहले तो अब होते ही नहीं, जहाँपर होते हैं वहाँ केवल नाम या रूढ़िके कारण। बालकोंको तो सब तमाशा-सा लगता है। वैदिक मन्त्र वह समझता नहीं। उसे समझानेका भी कोई प्रयत्न नहीं होता। धार्मिक कृत्यको तो एक बहुत ही गौणस्थान मिलता है। मुख्य कार्य तो अतिथियोंका आदर-सत्कार तथा उनकी दावत और मनोरंजन होता है। सभी संस्कारोंमें ऐसा ही होता है, चाहे वह अक्षरारम्भ हो, चूडाकर्म, उपनयन या विवाह हो। जिन घरोंमें पूजापाठ होता है, उससे भी बालकको कोई शिक्षा-दीक्षा नहीं मिल पाती। वह देखता है कि देवपूजा होती है, पुष्प चढ़ाये जाते हैं, नैवेद्य बाँटा जाता है; पर पूजन-अर्चनमें जो मन्त्र पढ़े जाते हैं वे न तो बालक ही समझता है और न अधिकांश पूजा करनेवाले ही। मन्दिरोंमें भी आजकल किसी प्रकार कोई ईश्वरीय प्रेरणा उसे नहीं मिलती। भीड़भाड़में केवल जल्दीसे फूल चढ़ाने तथा भेट फेंकनेके अतिरिक्त कोई ऐसी बात नहीं होती, जिससे वह प्रभावित हो। भारतसरकार द्वारा शिक्षालयोंमें धार्मिक शिक्षा देनेका निषेध है और नैतिक शिक्षाका कोई आयोजन नहीं। उन्हें तो पाठ्यक्रमकी पुस्तकें पढ़ानेके लिये भी समयकी कमी है। जिन बालकोंके लिये शाश्वत धर्म, सदाचार, सद्व्यवहार, सद्विवेक और नीतिशास्त्रकी शिक्षाका कोई प्रबन्ध न हो, वे छात्र उच्छृङ्खल, उद्दण्ड, अविवेकी न हों तो क्या सच्चरित्र, सुशील और सहृदय होंगे? हमारे कुछ नवयुवक आज देशकी सम्पत्तिको नाश करनेमें नहीं सकुचाते। अपने गुरुजनों तथा अपने अभिभावकोंका अनादर करते हैं। विश्वविद्यालयके नियमोंका उल्लंघन करते हैं। संस्थाओंमें हड़ताल करते हैं। अपनी बहिनोंके प्रति दुर्व्यवहार करनेकी शिकायतें भी यदाकदा आती रहती हैं। ऐसे उद्दण्ड विद्यार्थियोंके प्रभावसे अन्य विद्यार्थी भी नियन्त्रण-विमुख हो जाते हैं और वे अनीतिका विरोध करनेके लिये अपनेको असमर्थ पाते हैं। धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा न होनेके कारण उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे उनका लोहा ले सकें, जो अनुचित व्यवहार कर रहे हों। स्वाभिमानकी कमीके कारण वे भेड़ियाधसानमें शामिल हो जाते हैं और हड़तालियोंकी बन आती है। यदि उन्हें नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा मिलती तो उनका एक व्यक्तित्व होता, उनमें चरित्रबल होता और वे डटकर बुराईका मुकाबला कर सकते, हड़तालियोंका विरोध करते। देश तथा संस्थाओंकी सम्पत्तिको नष्ट होनेसे बचाते। मानवताके पतनका मुख्य कारण नैतिक तथा धार्मिक शिक्षाका अभाव है।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके समय असहयोग आन्दोलनमें विदेशी राज्यके नियमोंको भंग करना जनताका कर्तव्य हो गया। हिंदुस्थानसे उनको निकालनेके प्रयत्नमें हमारे 'देश छोड़ो' के आन्दोलनके समय विदेशी सरकारके लिये राज्य करना असम्भव करनेके हेतु रेलकी पटरियाँ उखाड़ी गयीं, तार काटे गये तथा अन्य देशव्यापी हड़तालें हुईं। सम्पत्ति नष्ट की गयी। स्वतन्त्रताकी लड़ाईमें यह सब (अच्छा न होनेपर भी) क्षम्य माना गया, पर आज भी यदि हम ऐसा ही विद्रोह अपनी सरकारके प्रति करें, जिसको स्वयं हमने अपना मत देकर सिंहासनारूढ़ किया है तो यह हमारी भूल ही समझी जायगी। यदि हमारी मनोनीत सरकारसे हम असंतुष्ट हैं तो हम अपने बनाये हुए नियमोंके द्वारा उसका विरोध करें। विधान-सभाओंके सदस्योंको, जिन्हें हमने चुना है, आदेश दें कि वे सरकारको पदच्युत करें। जो अनीति सरकार कर रही है, उसका ब्यौरा निडर होकर जनताके समक्ष रखें, चाहे हमें बड़े-से-बड़े पदाधिकारीको रुष्ट ही क्यों न करना पड़े? यह तभी सम्भव हो सकता है जब हमारी मानवताका स्तर ऊँचा हो और हम निष्कामकर्ममें रत हो सकें।

यदि हम 'जी-हुजूरी' में लगे रहते हैं और जिस कामको हम देशके हितका नहीं समझते, उसका विरोध नहीं कर सकते, तो हम स्वार्थसिद्धिके कारण अपने वास्तविक धर्मसे विमुख होते हैं।

विद्यार्थियोंने भी असहयोग आन्दोलनके समय स्कूल-कालेजोंमें हड़ताल की और ध्वंसात्मक कार्योंमें भी कहीं-कहीं भाग लिया। कहीं-कहीं अपने अध्यापकों तथा अभिभावकोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया और उनका अनादर भी किया। यह उस समयकी परतन्त्रता-विरोधी क्रिया होनेके कारण क्षम्य माना गया। पर आज भी, जब देश स्वतन्त्र है और जब उनकी सरकार तथा गुरुजन भी इसी कार्यमें संलग्न हैं, तब देशके नवयुवक स्वस्थ, सुचरित्र, सुशील, सुशिक्षित, बलवान्, पराक्रमी और कर्मठ बनें। अपने हित और अधिकारोंकी रक्षाके लिये हड़ताल और अनशन करना कहाँतक उचित तथा क्षम्य है। वे परीक्षाओंसे उठकर चले जाते हैं। मनमाने उपद्रव करते हैं तथा कहीं-कहींपर तो अध्यापकों तथा निरीक्षकोंको मारपीट भी देते हैं। कुछ अध्यापकोंने, जो उनके डराने-धमकानेपर भी अपने कार्यमें लगे रहे, जानसे भी हाथ धोया। अपने गुरुजनोंकी रथी निकालना, पुतले बनाकर उन्हें अश्लीलसे-अश्लील गालियाँ देना, रोजका खेल-सा हो गया है। उस देशका, जिसके भावी नागरिकोंके ये कारनामे हों, सभ्य संसारमें आगे बढ़ना सम्भव नहीं। यदि मानवताको रसातलमें गिरनेसे बचाना है तो सरकारने अबतक जो उन्हें लंबी लगाम दी है, उसे खींचना पड़ेगा। सरकार तथा अभिभावकोंकी वर्तमान उदासीनता (तथा आचरण-हीनता) के कारण भी उद्दण्ड विद्यार्थियोंको प्रोत्साहन मिल रहा है!

जिस देशमें गुरु-शिष्यका अटूट सम्बन्ध अन्य देशोंके लिये एक उज्ज्वल उदाहरण था, जिस देशमें राजा और रंक 'आचार्यदेवो भव' मन्त्रको जपते थे, उस देशमें आज यदि विद्यार्थी यह माँग करें कि 'हमारे प्रधानाध्यक्षको तुरंत निकाल दिया जाय' इससे अधिक और क्या मानवताका पतन हो सकता है? *ऐसी उद्दण्डता तथा उच्छृङ्खलताको रोकना* प्रत्येक विचारवान् नागरिकका कर्तव्य है। हमें यह विचारना है कि क्यों विद्यार्थियोंमें नियन्त्रणकी कमी है? स्कूलोंमें जो शारीरिक दण्डका निषेध हुआ है, उसके कारण विद्यार्थी उद्दण्ड तो नहीं हुए। बचपनसे ही उन्हें बुरे कामोंसे कोई रोकनेवाला नहीं और शारीरिक दण्ड निषेध होनेके कारण अध्यापकका भय भी उनके मनसे निकल गया है। इस कारण वे मनमानी करने लगे हैं और अध्यापकके लिये अपनी इज्जत बचाना एक समस्या हो चली है। बड़े-बड़े सभ्य देशोंमें—जैसे इंगलैंड, स्काटलैंड, वेल्स,—पब्लिक स्कूलोंमें उद्दण्ड तथा धूर्त विद्यार्थियोंको कड़े-से-कड़ा शारीरिक दण्ड दिया जाता है। अभिभावक और लड़के कोई इसका विरोध नहीं करते वरं सहर्ष दण्ड स्वीकार करते हैं। लेखकको सन् १९५१ ई० में इंगलैंड, हैरो पब्लिक स्कूल, जिसमें हमारे प्रधान मन्त्री श्रीजवाहरलाल नेहरूने अध्ययन किया था, देखनेका अवसर मिला। एक कक्षामें जाकर अध्यापक महोदयकी सौजन्यतासे लड़कोंसे बातचीत करनेका अवसर मिला। लेखकने उन्हें बताया कि भारतमें विद्यार्थी शारीरिक दण्डका विरोध करते हैं और उन्हें आश्चर्य है कि वे उन्हें सहर्ष स्वीकार करते हैं। लेखकसे विद्यार्थियोंने कहा कि 'शारीरिक दण्ड उनके हितके लिये परम आवश्यक है। जब वे कोई धूर्तता करते हैं और कोई ऐसा काम करते हैं जिससे किसी व्यक्ति या समाजका अहित होता है, तब यदि उन्हें तुरंत शारीरिक दण्ड मिल जाता है तो वे फिर वैसा काम नहीं करते हैं।' उन्होंने कहा कि 'उनको अपने प्रधाना-ध्यापक तथा अध्यापकोंपर पूरा विश्वास है कि वे जो कुछ भी करेंगे उनके हितके लिये ही करेंगे।' जब हमारे देशके बालक भी ऐसा कहने योग्य फिरसे हो सकेंगे, तभी वे देशके सच्चे नागरिक बन सकेंगे। जिसका देशको गर्व होगा।

जिन बालकोंको न घरमें ताड़ना मिलती है, न शिक्षण-संस्थामें और जिनके चारों ओरका वातावरण शुद्ध नहीं होता तथा बुरी सोहबतकी कमी नहीं होती, वे किशोरावस्थामें उद्दण्ड, उच्छृङ्खल न हों तो बड़े भाग्यकी बात होगी। बहुत-से घरोंमें बालक माता-पिताओंसे गालियाँ खाते हैं, कभी-कभी घरमें झगड़ा या कुछ नुकसान हो जानेपर रोषसे पीटे भी जाते हैं, चाहे उनका दोष हो या नहीं। वे बालक यदि स्कूलमें उद्दण्डता करें, तो क्या वे अध्यापकके समझानेसे या केवल यह कहनेसे कि बालकसे ऐसी आशा नहीं की जाती थी, *अपने अपराधके लिये लज्जित हो जायँगे?* फिर उनको सुधारने-का क्या उपाय? बालक तो अध्यापकके सम्पर्कमें पाँच-छः घंटे आते हैं। फिर एक-एक स्कूलकी कक्षामें ३५ विद्यार्थी और स्कूलका घंटा ४५ मिनट तक सीमित। अध्यापकको कहाँ समय मिलता है कि वह समझा-बुझा सके! घरमें अधिकांश अभिभावक अपने काम-धंधोंमें या अपने सैर-

सपाटेमें इतने व्यस्त रहते हैं कि बालककी शिक्षा-दीक्षामें उदासीन हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें किस प्रकार बालकको उद्दण्ड होनेसे बचाया जाय? केवल यह नियम बनानेसे कि उन्हें शारीरिक दण्ड न दिया जाय, बालक सुधर जायँगे, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। जिनके हाथोंमें बालकोंकी शिक्षा है, उन्हें ऐसे उपाय निकालने हैं जो व्यवहारमें आ सकें, जिससे उच्छृङ्खलता दूर हो। बड़े-बड़े मंचोंसे बड़े-बड़े वक्तव्य देनेसे, जैसा कि आज कल होता है, काम न चलेगा। जो उपाय अन्यत्र काममें सफलतासे लाये जा रहे हैं, हमें अपनाना होगा, जब तक और कोई अच्छा उपाय हम ढूँढ़ न निकालें।

खेद है कि आजके सिनेमाका प्रभाव भी बालकोंपर बहुत ही बुरा पड़ रहा है। उनको शिक्षाप्रद चलचित्र देखनेको कम मिलते हैं। अधिकांश चलचित्रोंमें तो वे अश्लील नाच-गाने, अश्लील स्त्रियों और पुरुषोंके कारनामे, नामी डाकुओं तथा उद्दण्ड स्त्री-पुरुषोंके भीषण हत्याकाण्ड देखते हैं, जिनका उनपर बुरा प्रभाव पड़ता है। पाश्चात्त्य देशोंमें यह माना जाने लगा है कि सिनेमा तथा टेलीवीजन द्वारा बालक-बालिकाओंमें बड़ी दुश्चरित्रता तथा उद्दण्डता आ रही है और उनके ब्रह्मचर्यपर भी बड़ी ठेस लग रही है। यह आवश्यक है कि उनके अनुभवका हम लाभ उठावें और बुरे फिल्मोंके प्रदर्शनपर नियन्त्रण लगावें। हमारे भविष्यकी कुंजी हमारे हाथमें है। हमें नयी पीढ़ीको ठीक करना है, बूढ़ा तोता तो पढ़ना कठिन है, तब भी मानवताके ह्रासको बचाना सम्भव होगा।

मानवता तथा शिक्षा

(लेखक—श्री वाई० जगन्नाथम्, बी० ए०)

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने शिक्षाकी परिभाषा की है। उनकी दृष्टिमें शिक्षा वह पद्धति है, जो हमारी नैसर्गिक, आन्तरिक एवं अन्तर्हित शक्तियों एवं योग्यताओंको प्रकट करने तथा उनका अधिक-से-अधिक विकास करनेमें सहायक होती है। उनको यह बात सदा स्मरण थी कि शिक्षा संस्कृति-के अर्थमें भी नूतन ज्ञानकी देनेवाली या सृष्टि करनेवाली न होकर अन्तरात्मामें सोयी हुई ज्ञान-रश्मियोंको प्रबुद्ध करती है और हमें इस योग्य बनाती है कि हम उन्हें देखें, जानें और अपनी आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नतिके लिये उनका उपयोग कर सकें।

श्रीकृष्ण भगवान्ने, जो अद्वितीय, नित्य और सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं, गीतामें कहा है कि 'विश्वमें जितने भी विभिन्न दर्शन, विज्ञान तथा कलाएँ विद्यमान हैं, उनमें अध्यात्मविद्या मैं हूँ—वह विद्या, जो परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृतिका तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धोंका निरूपण करती है। जब वह अन्तर्यामीरूपसे मनुष्यकी आत्मामें निवास करता है, तब वह जीवरूपसे बद्ध होकर अपनी अखण्ड ज्ञानरूपता-को भूल जाता है। बाह्य दृष्टि प्राप्त कर वह अपनी ज्ञान-रश्मियोंका अनुसरण करता है और वे रश्मियाँ बाहर निकलकर पहले मन तथा इन्द्रियोंके साथ और पीछे स्थूल शरीरके आकारकी बनकर भौतिक बन जाती हैं। उन ज्ञान-रश्मियोंकी समष्टि, जो जीवात्माके द्विविध शरीरके रहस्यों और शक्तियोंके उद्घाटन-कार्यमें लक्षित होती हैं, हमारी प्राचीन संस्कृतिके अभिज्ञोंको 'विद्याओं' के नामसे परिज्ञात थी। इन दो प्रकारके विज्ञानोंमें, जो अन्तःकरणसे सम्बन्धित हैं, उन्हें उन्होंने 'मानस-विज्ञान' और जो बाह्यकरणोंसे सम्बन्ध रखते हैं, उन्हें उन्होंने 'भौतिक विज्ञान' कहा है।

इस प्रकार अब हम जान गये कि अध्यात्मविद्याके द्वारा हमें उस निर्विशेष सत्यका सम्पूर्ण बोध होता है; जब कि भौतिक विज्ञान सापेक्ष तथ्योंका निरूपण करता तथा मानसविज्ञान तथा भौतिकविज्ञान—इन दो वर्गोंमें विभक्त हो जाता है। विज्ञानके इन तीन वर्गोंसे हमारे प्राचीन ऋषि परिचित थे। भौतिक विज्ञान अथवा प्राकृतिक विज्ञानोंमें शरीर-विज्ञान, चक्षुर्विज्ञान तथा विद्युत्-आकर्षण, भैषज्य, संगीत, जडद्रव्य एवं गतिसम्बन्धी विज्ञानोंका अन्तर्भाव है; जब कि मानस-विज्ञानके भीतर केवल तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान ही नहीं आते, अपितु आयात-निर्यातपर लगनेवाले कर, जीवन तथा स्वास्थ्यके नियम, दण्ड-विधान, राजनीतिशास्त्र, समाज-विज्ञान एवं आदि-आदि विषय भी आ जाते हैं, जो नीति-शास्त्र तथा आचारशास्त्रके अन्तर्भूत हैं।

इन दो प्रकारके विज्ञानोंका बोध ही विश्व-बोध है, जिसका आधार आत्मविज्ञान या अध्यात्मविद्या है। यही विज्ञान

सच्ची संस्कृतिका आधार होता है। सच्ची संस्कृतिमें अर्थात् मनुष्यके मानसिक, शारीरिक और आत्मिक प्रशिक्षणसे होनेवाले स्वाभाविक संवेग, नैसर्गिक बोध और प्रातिभ ज्ञानके युगपत् विकासमें जड़ और चेतन-विषयक द्विविध ज्ञानका समावेश है; और हमारे प्राचीन ऋषियोंको इसकी पूरी जानकारी थी। उनको यह भी भलीभाँति ज्ञात था कि यदि कोई व्यक्ति अपनी संसार-यात्राके प्रति उदासीन रहता हुआ आध्यात्मिक तथा उपासनासम्बन्धी साधनोंमें हर समय निरत रहता है तो उसके लिये जीवन-निर्वाह होना कठिन हो जायगा; क्योंकि जीवनधारणके लिये वह कोई प्रयत्न नहीं करता। जहाँ शरीर-रक्षाकी अवहेलना हुई कि जीवनका बहुत शीघ्र अन्त हो जायगा और जीवनके समाप्त होनेपर परमात्माकी सेवा अथवा भक्ति नहीं हो सकती, जो मानव-जीवनका सर्वोच्च ध्येय है।

अस्तु, वे आध्यात्मिक साधनोंका अभ्यास करते हुए भी जीवन-व्यापारके प्रति विमुख नहीं रहते थे। उनका आचरण शरीरको केवल स्वस्थ ही नहीं रखता था, अपितु जीवनको एक निश्चित कार्यक्रमके अनुसार सक्रिय रखता हुआ मस्तिष्कको प्रदीप्त रखता था। (इस विज्ञानसे मेरा तात्पर्य आधुनिक न्युक्लियर कालीन विज्ञानसे नहीं है, जो आसुरी प्रवृत्तिका द्योतक है) यहाँपर शाश्वत विज्ञानसे अभिप्राय व्यावसायिक विषयों—जैसे उद्यान-विद्या, व्यापार, चित्रकारी, मूर्तिकला, संगीत आदि—से है, जिनको सुन्दर रूप देकर मनुष्य अपने नियमित जीवनके लिये मानव आदर्शोंपर चलते हुए उपयोग कर सकता है। ऐसा आचरण निश्चय ही जीवनके प्रति विशाल दृष्टि तो देता ही है, परंतु साथ ही जीवनकी परम्पराओंको जिनका आधार पार्थिव, मानसिक और सामाजिक वातावरणका व्यावहारिक ज्ञान है, मान्यता प्रदान करता है और मानव-जीवनकी ऊँची उड़ानमें स्वतन्त्र रूपसे श्वास लेनेकी शक्ति उत्पन्न करता है। ऐसे सौम्य वातावरणमें किया गया प्रत्येक कर्म ईश्वरकी सेवामें परिगणित हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवता ही हमारी पुरातन संस्कृतिका प्राण है और यद्यपि हमारे प्राचीन ऋषि और दिव्य मनुष्य सदा-सर्वदा परमात्मामें ही निवास करते थे और उनमेंसे कुछ जगत्के मिथ्यात्वमें विश्वास करते थे, तथापि वे मानव-मूल्योंका आदर करते थे और कभी भी शुद्ध विज्ञानके अध्ययनको नहीं छोड़ते थे; क्योंकि वे समझते थे कि यह अध्ययन केवल उन्हींके लिये ही नहीं अपितु मानवमात्रके लिये कल्याणकारी हो सकता है। शिक्षा ही समग्र मानवका मार्ग प्रदर्शन कर सकती है, ऐसा वे विश्वास करते थे; क्योंकि उनके विचारमें मन और शरीरका संयोजन आवश्यक है। इन दोनोंका वे अविभाजन स्वीकार करते थे। जो शिक्षा उन्होंने अपने शिष्योंको दी, वह नितान्त उदार थी। उनको यह बात विदित थी कि उदार शिक्षाका उद्देश्य आत्मज्ञान तथा विश्वज्ञानके आधारपर समस्त मानवमात्रका विकास करना है। उनकी धारणामें 'साधु' का अर्थ वही है, जो आधुनिक युगमें भद्र मनुष्यका है और सज्जन मनुष्यसे तात्पर्य उस व्यक्तिका है, जिसने आन्तरिक सम्पूर्णताका विकास कर लिया है और जिसके विचारोंमें संतुलन और लक्ष्यकी दृढ़ता है; और ये गुण निश्चय ही आध्यात्मिकतासे ही प्राप्त होते हैं।

आत्मसंयम और मनकी मुक्ति ही हमारी भारतीय संस्कृतिके आदर्श हैं। अति पुरातन कालसे हमारा सांस्कृतिक जीवन विदेशी संस्कृतियोंके विरोधी तत्त्वोंसे संघर्ष लेता आ रहा है, परंतु इसके होते हुए भी हमारी संस्कृतिने अपनी जीवनी-शक्तिको और अपने पूर्वगौरवको जीवित रखा। नये विचारोंको अपने अनुकूल बनाकर उन्हें अपनेमें सम्मिलित किया, जिससे उसकी सहनशील और दयालु प्रकृतिका बोध होता है। यह कैसे सम्भव हुआ, इसे समझनेके लिये अपने लोगोंके आध्यात्मिक स्वभावको जानना होगा, जिसे उन्होंने वैदिक और औपनिषदिक संस्कृतिके निर्माता ऋषि और मुनियोंसे प्राप्त किया था।

जो कुछ श्रीकृष्णभगवान्‌ने गीतामें हमारे लिये कहा है, उससे हमलोगोंने अत्यन्त सहिष्णुताका भाव सीखा। इसी बातको सभी उपनिषदोंने एकमतसे स्वीकार किया है कि विभिन्न मत-मतान्तरके लोगोंका कोई भी मार्ग क्यों न हो, वे उसी प्रेममयकी ओर ले जाते हैं और वह परमात्मा कभी अपने भक्तोंके प्रेमको अस्वीकार नहीं करता। इस प्रकारकी शिक्षाने लोगोंको 'जीओ और जीने दो'के सिद्धान्तका अभ्यास ही नहीं कराया, बल्कि अहिंसाके लिये मार्ग प्रशस्त किया।

इसके अतिरिक्त हमलोग उसी गीतासे यह भी सीखे कि 'इच्छा करना पाप है, आत्मसंयमसे इच्छा जीती जा सकती है। आत्मोत्सर्ग ही विश्वविधान है। इसके अभावमें कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। मनमें समभाव होना चाहिये, सब प्राणियोंको अपनेमें और अपनेको अन्य प्राणियोंमें देखकर समदृष्टिका विकास करना चाहिये। दूसरोंके सुख और

दुःखको अपना समझते हुए उनमें भाग लेना चाहिये और सबकी कल्याणकारिणी भावनासे ओत-प्रोत होना चाहिये। प्रत्येक जीव उसी महान् परमात्माके विराट् शरीरका अङ्ग है, इसलिये किसीके प्रति द्वेषभाव रखना अभीष्ट नहीं। वास्तविक एवं शुचि ज्ञान तो विषमतामें समता देखना है।'

उन्होंने केवल गीतासे ही ये बातें नहीं सीखीं, बल्कि ईशोपनिषद्से, जो कि गीता-सिद्धान्तका उद्गम है, सीखीं। इसी प्रकारसे अन्य उपनिषदोंका भी प्रभाव उनपर रहा। इससे यह बात समझी गयी कि जो वस्तु हम इस विशाल विश्वमें देखते हैं, वह परमात्मासे व्याप्त है; इसलिये सब कुछ उसी ईश्वरका है। हम सबको चाहिये कि हम सांसारिक पदार्थोंमें अनुरक्त न रहते हुए त्यागबुद्धिसे उनका उपभोग करें। विरक्त-भावसे हमें कर्मका त्याग करना चाहिये। हमारा यह धर्म है कि हम अपने शरीरके प्रति अहंता न रखकर अपनी आध्यात्मिक मृत्यु न होने दें और ईश्वरके प्रति अपनी भक्ति बराबर बनाये रखें। आत्मसंयमसे इच्छाओंका निरोध किया जा सकता है। हमें सभी प्राणियोंको अपनेमें और अपनेको उनमें देखते हुए सबसे प्रेम करना चाहिये।

इस प्रकारका मानवताका आदर्श और मानवताकी शिक्षा, जिनका वर्णन पहले हो चुका है, भारतीय संस्कृतिके मूल प्राण हैं। सामवेदके ऋषिकी गूढ़ वाणीमें यह सिद्धान्त प्रतिध्वनित हुआ था। एक सत्य-द्रष्टाने मानवहितोंके लिये सरस्वतीके तटपर प्रथम बार 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का गीत गाया। यह मन्त्र उच्च कोटिका है, जिसने आध्यात्मिक विचारधारामें क्रान्ति उत्पन्न कर दी और प्राचीन कालमें भी मानवकी महत्ताको बनाये रखा।

जीव परमात्माका अंश होनेके नाते मुक्तिका आकाङ्क्षी है। एक उपनिषद्ने कहा है कि वह अमृत-पुत्र है। अर्जुनको गीतासिद्धान्तका गुह्य ज्ञान देते हुए श्रीकृष्णने पूर्ण मुक्तिके लिये उपदेश किया था। यद्यपि अर्जुन उनके इच्छानुसार कर्म करनेको उद्यत थे तथापि श्रीकृष्णने उन्हें सतत कर्म करनेका उपदेश दिया था। हमलोग कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं। हम सब परस्पर भाई हैं। इसलिये त्याग तथा सहयोग-द्वारा लायी गयी सम्पूर्ण समन्वयात्मक अवस्थामें रहना चाहिये और किसी अन्यकी स्वतन्त्रताके अपहरणके लिये प्रयास नहीं करना चाहिये।

ऐसे शक्तिशाली आधारने, जिसका निर्माण मानवताके आदर्शों और पुरातन संस्कृतिके जीवनके प्रति विशाल दृष्टिके कारण हुआ था, विदेशी संस्कृतियोंसे कठोर संघर्ष ही नहीं किया, अपितु उनमें जो भी सुन्दर तत्त्व थे, उन्हें अपनेमें सम्मिलित कर लिया। हमारी संस्कृतिका प्रमुख स्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण और आत्मसंयम है, जिसके द्वारा मनकी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। हिंदू राजाओंके समयमें भी इसका समन्वयात्मक विकास देखनेमें आया था, जिसका कारण यह था कि लोग धार्मिक भावनासे ओत-प्रोत और सहिष्णु थे। दूसरोंको आत्मसात् करनेकी क्षमता उनमें विद्यमान थी। जो भी बाहरकी जातियाँ आयीं, सब हिंदुओंमें विलीन हो गयीं। भारतीय संस्कृतिकी महत्ता मुसल्मान-राज्यकालीन शासकोंतक अक्षुण्ण बनी रही। इसके फलस्वरूप मुसल्मानोंका एकेश्वरवाद और भ्रातृभावना, (वसुधैव कुटुम्बकम्) जो भारतीय संस्कृतिकी शिक्षाका भी हृदय है, दोनोंमें सामञ्जस्य स्थापित हुआ और दोनों विकसित हुए।

यह वह अवस्था थी, जब कि अंग्रेज पहले व्यापारीके रूपमें और फिर शासकके रूपमें भारतमें आये। यद्यपि उनका राष्ट्र स्वतन्त्रता-प्रिय है, तथापि उनकी मानसिक स्वतन्त्रता न तो आत्मसंयमपर और न किसी आध्यात्मिक दृष्टिपर ही अवलम्बित थी। भारतके शासकके रूपमें उन्होंने केवल अपने व्यापारिक हितको ही आगे रखा और इसके अतिरिक्त उन्होंने किसी अन्य तथ्यसे सम्बन्ध नहीं रखा। व्यापारकी उन्नति ही उनका प्रमुख उद्देश्य था। इस अभिप्रायसे उन्होंने इस प्रकारकी शिक्षा-प्रणालीका प्रचलन किया, जिससे इंगलिशके विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने उनकी मातृभूमिकी समृद्धिके लिये भारतके धनके शोषणमें उनका हृदयसे सहयोग दिया, जैसा कि हम जानते हैं। वे इस बातको पसंद नहीं करते थे कि भारतीय आध्यात्मिकवाद और भारतीय परम्परा जीवित रहे; इसलिये उन्होंने अपने देशके हितके लिये अपनी विभाजनद्वारा शासन करनेकी स्वार्थमूलक नीतिसे हमारे देशका विभाजन कर दिया। लार्ड मैकालेके शब्दोंमें उन्होंने भारतवासियोंमें अंग्रेजी विद्वानोंकी एक ऐसी श्रेणी निर्मित कर दी, जिसे अपने देशवासियोंसे कोई सहानुभूति न रही और जो थोड़े बहुत मनीषी विद्वान् हुए भी तो, उनमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण और जीवनके प्रति विशाल दृष्टिका अभाव था। न तो उनमें आत्मबलिदानकी भावना थी और न ''वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श, जो सभी अच्छाइयोंसे और जीवनके ध्रुव तारेसे भी ऊपर है। विश्व-

विद्यालयकी शिक्षा, जो छात्रोंको दी गयी थी, उसका मौलिक उद्देश्य 'बाबू वर्ग' की सृष्टि था और यथार्थतः उस हृदय-विदारक दृश्यका वर्णन करना कठिन है, जब हमारे वे नवयुवक विश्वविद्यालयोंसे निकलकर सरकारी नौकरीकी खोजमें भटकते फिरते हैं और बेकारीका सामना करते हुए क्रोध, निराशा, आत्मविश्वासाभाव और जीवनके प्रति उदासीनताकी अनुभूति करते हैं।

परंतु प्रसन्नताका विषय है कि अंग्रेज आजसे दस वर्ष पूर्व हमारे देशसे विदा हो चुके हैं और अब हमपर स्वशासन-का भार है। हमारी भारत सरकारके लिये यह स्वर्ण अवसर है कि शिक्षाकी इस हानिकारिणी प्रणालीको निर्मूल कर दे। हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि यह शिक्षा-प्रणाली शताब्दियोंसे प्रचलित रहनेके कारण हमारे हृदयोंमें घर कर चुकी है। इसने हमारे बच्चोंको जीवनके प्रति एक मिथ्यादृष्टि प्रदान की है और बेकारीको बढ़ाया है। यह नितान्त अनाध्यात्मिक है। इसने हमारे नवयुवकोंके हृदयोंमें जीवन-स्तरको ऊँचा उठानेके बहानेसे भोग-विलासकी भावना भर दी है। इसलिये तुरंत एक ऐसी पद्धति प्रचलित की जाय, जो हमारे देश और देशवासियोंके अनुकूल हो, जो आध्यात्मिक दृष्टि और आत्मसंयमके आधारपर मन तथा मस्तिष्कको मुक्ति दे सके और जो हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षासे मेल खाती हो। भारतीय साहित्य, कला और विज्ञानके साथ-साथ अध्यात्मविद्याका भी अध्ययन हो। भारतीय सार्वभौम ग्रन्थ गीता और उपनिषद्, जो मानवताका आदर्श सिखाते हैं, पढ़ाये जायँ। इनके अध्ययन-से हमारे नवयुवकोंके मन और मस्तिष्कमें जीवनके प्रति उदार दृष्टि उत्पन्न होगी और राष्ट्रिय जीवनके विकासमें ये सहायक होंगे।

निस्संदेह हमारी वर्तमान सरकारने प्रचलित शिक्षा-प्रणालीकी त्रुटियोंको ध्यानसे देखा है; क्योंकि इसमें राष्ट्रिय संस्कृतिको अंकुरित करनेवाले अवयव नहीं हैं। यहाँतक कि हमारे राष्ट्रपतिने भी इस राष्ट्रिय आदर्शोंसे सर्वथा मेल न खाने-वाली शिक्षा-प्रणालीके लिये कहा है कि यदि यह शिक्षा-प्रणाली समयानुसार बदली न गयी तो यह हमारे राष्ट्रिय अभ्युदय और कल्याणको क्षति पहुँचायेगी। इसलिये उचित शिक्षा-प्रणालीके प्रचलन करनेमें हमारी सरकारको किसी तरहकी टालमटोल नहीं करनी चाहिये। हमारे देश तथा कालके अनु-सार ही स्कूलों और कालेजोंमें उचित ढंगकी शिक्षा-पद्धतिका प्रचलन होना चाहिये। धर्मनिरपेक्ष सरकारकी भावनाकी किसी प्रकारसे कोई क्षति नहीं होगी, यदि गीता-जैसे सार्वभौम शास्त्र विद्यार्थियोंको पढ़ाये जायँ; क्योंकि वह साम्प्रदायिक विद्वेषोंसे अति दूर है। प्रमुख दार्शनिक एवं धर्मवेत्ता स्वामी विवेकानन्दजीने गीताको महत्त्व देते हुए कहा था, 'यदि कोई शास्त्र अद्वितीय और लोकोत्तर है तो वह केवल गीता है।' अंग्रेजोंके कालमें धर्मनिरपेक्षताके नामपर बहुत भारी विनाश हो चुका है। हम महात्मा गांधीके प्रति, जिन्होंने देशको स्वतन्त्रता दिलायी, श्रद्धा रखते हैं। उनके आध्यात्मिक जीवनकी दैनिक प्रार्थनाएँ और राम-नाम उनके लोकोत्तर दार्शनिक विचारको साम्प्रदायिकताके रंगमें नहीं रँगते, इसलिये हमारे विद्यार्थी इसकी शिक्षासे वञ्चित नहीं रखे जाने चाहिये; क्योंकि इससे हमारे धर्मनिरपेक्षताके आदर्शपर कोई आँच नहीं आती।

हम जानते हैं कि पाश्चात्य देश, उनमें भी अमेरिका और विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका, स्वतन्त्रताप्रिय देश हैं। इनमें आदर्श लोकतन्त्रात्मक राज्य-प्रणाली प्रचलित है, जहाँपर मनुष्य अपनी वैयक्तिक रुचि और विचारोंके साथ रहते हैं। किंतु मैं अति नम्रताके साथ कहता हूँ कि हमें पश्चिमके स्वतन्त्रताप्रिय देशोंकी शिक्षा-प्रणाली, इस कारणसे कि वह हमारे धर्मनिरपेक्षताके आदर्शके अनुकूल हो सकती है, नहीं चाहिये। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने शिक्षाके तीन क्षेत्रों—(प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक अध्ययन और मनुष्यके वातावरण और उसकी आन्तरिक प्रेरणाओं) को बतानेवाले मानव-शास्त्रको स्वीकार किया है। यद्यपि ये किसी रूपमें हमारे ऋषियोंद्वारा ग्रहण किये गये शरीर, मन तथा आत्मज्ञानविषयक विज्ञानके तीन विभागोंसे मिलते-जुलते हैं, परंतु उनकी धारणा भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे बहुत दोषपूर्ण है।

वे दृढ़ताके साथ कहते हैं कि शिक्षाका उद्देश्य यह होना चाहिये कि मनुष्य वैयक्तिकरूपमें किसी विशेष व्यवसाय, अथवा कलामें तथा स्वतन्त्र नागरिक बननेकी सामान्य कलामें पूर्ण दक्ष बने। किंतु व्यवहारमें पाश्चात्त्य लोकतन्त्रात्मक राज्योंमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य प्रायः प्रतिबन्धित और कभी-कभी तो नितान्त अकिंचित्कर रहता है। उनमें साम्राज्यवाद, एकाधिकार, पूँजीवाद और शोषणवाद प्रचुरतामें पाये जाते हैं। सब लोगोंके हितोंका प्रतिनिधित्व नहीं होता। धनी लोग निर्धनोंका राष्ट्रिय कल्याणके नाम-

पर शोषण करते हैं। प्रायः हम यह भी सुनते हैं कि पाश्चात्य लोकतन्त्रात्मक राज्य अपने विशेष हितोंको ध्यानमें रखते हुए प्रेसों, व्याख्यान-मञ्चों, सिनेमा और रेडियोका नियन्त्रण करते हैं। ऐसा क्यों है ? उनकी 'कथनी तथा करनी' में इतना बड़ा विरोध क्यों है ? इसका कारण यह है कि उनके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मनः-स्वातन्त्र्यकी धारणा जीवन तथा वस्तुओं-की आध्यात्मिक दृष्टि तथा आत्मसंयमपर, जो भारतीय संस्कृतिकी अमूल्य निधि हैं, आधारित नहीं है। वे त्याग, भ्रातृभाव, सहयोग और दूसरे मानव-सिद्धान्तोंकी भले ही डींग मारें, परंतु जैसे जिस क्षण उनका उनके स्वार्थके साथ संघर्ष आरम्भ होता है, उसी क्षण वे इन उपर्युक्त सिद्धान्तोंको तिलाञ्जलि दे देते हैं !

इसी कारण जिन देशोंमें एकदलीय राज्य हैं, वे पाश्चात्य लोकतन्त्रात्मक राज्योंको बुरा समझते हैं। उनके मतसे इन देशोंमें वे अपने लिये ऐसी सरकारका निर्माण करते हैं, जिसका आधार हिंसा और मानव-मस्तिष्कके कठोर अनुशासन हैं। व्यक्तिके पठन, कथन और श्रवणपर कड़ा नियन्त्रण रहता है और विरोधकों तथा आलोचना करनेवालोंको तलवारके घाट उतार दिया जाता है। उनके साम्यवादका प्रमुख अङ्ग बलपूर्वक पैदा किया हुआ भ्रातृभाव है। देशवासियोंकी शिक्षाका उद्देश्य और धार्मिक विश्वासोंका स्वरूप सरकार स्वयं निर्धारित करती है। किं-बहुना, जीवनकी वे सब वस्तुएँ, जो उसे मूल्यवान् बनाती हैं—जैसे सत्य, स्वतन्त्रता, मानवता, दया, न्याय, निष्पक्ष व्यवहार आदि—सरकारकी बलिवेदीपर होम कर दी जाती हैं। यह तो वैसी ही बात हुई जैसे कोई मनुष्य अपने-आपको समाप्त करके सम्पूर्ण विश्वको अधिकृत कर ले। अस्तु, यदि वे महापुरुष, जिन्हें मानवता प्रिय है, एकदलीय सरकारके इस अमानवीय व्यवहार और सामूहिक उन्मादको रोकनेका प्रयास करते हैं तो हमें इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

परंतु मैं दयालु पाठकोंसे प्रार्थना करूँगा कि मेरे इस उपर्युक्त कथनको वे एकदलीय सरकार और स्वतन्त्रताप्रिय देशोंके प्रति भ्रान्ति न समझें, बल्कि यह तो अपने देशकी शिक्षा-पद्धतिके सम्बन्धमें एक सुझाव है, जिसका आधार इन दोनों प्रकारकी सरकारोंकी सामाजिक व्यवस्थासे सम्बन्धित मध्यम मार्ग हो। बहुत पुरातनकालसे हम अपनी पैतृक संस्कृतिका अनुसरण करते आये हैं, जिसमें हमारे अपने पूर्वजोंकी जीवन-सरणि और उनकी परम्पराओंका पूरा पुट है। जो कुछ भी हो, हमें वर्तमान शिक्षाप्रणालीको, जो इस समय हमारे देशमें प्रचलित है, समाप्त करना है। हमें ऐसी सामाजिक व्यवस्थाको विकसित करना है, जो हमारी सांस्कृतिक परम्पराके अनुकूल हो। इसके दृढ़त्वके लिये हमें यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि हमें इसका आधार सहिष्णुता, विवेक, सहनशीलता, धैर्य आदि धार्मिक शक्तियोंको बनाना है। हमें यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि ये ही तत्त्व आध्यात्मिक आधारके निर्माता हैं और इन्होंने ही हमारी प्राचीन सभ्यताको अनुपम शक्ति और ओज प्रदान किया है। सभ्यताका यह आध्यात्मिक आधार ही उद्दण्डता, हिंसा, लोलुपता, ईर्ष्या एवं द्वेष आदिको, जो स्वार्थपरताको जन्म देते हैं, निर्मूल करता है।

शुद्ध विज्ञान तथा कलाएँ आत्मप्रभुत्वके विकासकी ओर प्रेरित करती हैं। इनके साथ मानव-आदर्शोंकी शिक्षा हमें अपने बच्चोंको देनी होगी। हम उनमें स्वाधीनताके विचार, अन्तर्दृष्टि और सार्वभौम दृष्टिको उत्पन्न करना चाहते हैं और चाहते हैं उनको स्वतन्त्र भारतका स्वतन्त्र नागरिक बनाना। यह बात तो तभी हो सकती है, जब स्वतन्त्र भारतका प्रत्येक नागरिक उच्चाट्टालिकासे टामस पेनके स्वरमें स्वर मिलाकर उद्घोषणा करे कि 'विश्व ही मेरा देश है, सारे मानव मेरे भाई हैं और भला करना ही मेरा धर्म है' और प्राचीन ग्रीसके सुकरातके साथ यह भी कि 'मैं अथेनियन नहीं हूँ, न ग्रीक हूँ, बल्कि विश्वका एक नागरिक हूँ।'

एक बात और है। वह यह कि शिक्षा विशेष और साधारण दो प्रकारकी होती है। साधारण शिक्षाके अन्तर्गत विद्यार्थी-के लिये वे सभी बातें आ जाती हैं, जो उसे एक उत्तरदायी मानव एवं नागरिक बनाती हैं और विशेष शिक्षासे तात्पर्य यह है कि वह विद्यार्थीको किसी विशेष व्यवसाय अथवा कार्यमें दक्ष बनाये। ये दोनों ही परस्पर पूरक हैं और इनको एक दूसरेसे विलग नहीं किया जा सकता। किंतु हमारे विद्यार्थी अभी इस प्रकारकी साधारण शिक्षासे परिचित नहीं हैं। यहाँतक कि हमारे लोक-प्रिय प्रधान मन्त्रीको भी आजकलके स्नातकों और उप-स्नातकोंकी भारतीय पैतृक संस्कृति और राष्ट्रिय सभ्यताके प्रति भ्रान्तिपूर्ण धारणा जानकर खेद प्रकट करना पड़ा है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा-सचिवालयके सचिवको यह आश्वासन देना पड़ा कि विश्वविद्यालयके स्तरपर पहले ही कुछ कार्य साधारण शिक्षाके कोर्सके सम्बन्धमें किया जा रहा है

और प्रथम उपाधिकी पाठ्य-पुस्तकोंमें प्राचीन साहित्य, समाज-विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञानका बोध करानेवाली पुस्तकें विवेकपूर्वक निर्धारित की गयी हैं। जब इस ज्ञानका विकास होगा, इसका प्रभाव परम्परागत विषयोंकी शिक्षापर पड़ेगा, तब यह सम्भव हो सकेगा कि हमारे महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंसे गम्भीर और सभ्य विद्यार्थी निकलें।

अस्तु, अब हमें यह स्पष्ट हो गया कि हमें शिक्षाका सुधार करना है। हमारे शिक्षा-शास्त्रियोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि विश्वविद्यालयोंको 'मानव-आदर्श' का प्रचार करना चाहिये। 'मानव-आदर्श' की शिक्षा इन परम्परागत एवं प्राचीन विषयोंकी शिक्षासे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। लार्ड वेव्हन हमें स्मरण रखनेके लिये कहते हैं कि 'वह भागवतीय शक्ति, जो हमें प्रेरित करती है, यदि न होती तो हमारी मानवता बड़ी दुर्दशापन्न होती। मानव प्राचीन साहित्य और विज्ञान-शास्त्रमें कोई विरोध नहीं है। मानव-आदर्शकी धारणा आत्मा एवं शरीर दोनोंको स्पर्श करती है और समग्र मानवमात्रके विकासपर बल देती है, जिसमें उसका कलात्मक, यन्त्रसम्बन्धी, औद्योगिक और व्यावसायिक आदि विशिष्ट ज्ञान सम्मिलित है। हमारे देशके एक प्रमुख विचारकने शिक्षाके सम्बन्धमें कहा है—'शिक्षा हमारे नवयुवकोंको आधुनिक विज्ञान और प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञानसे प्रदीप्त करे और व्यावहारिक ज्ञानका औद्योगीकरण करे, कलाओंका राष्ट्रियकरण करे एवं सामूहिक जीवनको सामाजिकता और मानव व्यक्तित्वको कर्मठता प्रदान करे।'

अस्तु, हमें यह आशा रखनी चाहिये कि भारत-सरकारके अधिकारी, जो हमारी शिक्षाका नियन्त्रण करते हैं, शीघ्र ही ऐसी योजनाका प्रचलन करेंगे, जो नवीन सामाजिक व्यवस्थाका सूत्रपात करे तथा जो मानवताके मूलभूत आदर्शोंपर प्रतिष्ठित हो। कठिनाईसे प्राप्त की गयी स्वतन्त्रताको वह योजना जीवित रख सकेगी और स्वतन्त्र भारतके स्वतन्त्रताप्रिय लोगोंको योजनाधिकारियोंके प्रति कृतज्ञ बना सकेगी।

बालककी ईमानदारी

हमारे देशका प्रत्येक बालक सच्चा और ईमानदार हो सकता है। एक सत्य घटना है। झालरापाटनमें बालक जगमोहनप्रसाद माथुर (अब बी० एस्-सी०, एन्० बी० बी० एस्० चतुर्थ वर्ष) अपने साथी बालकोंके सहित खेलता हुआ सड़क-सड़क आ रहा था। उसके आगे उज्जैनसे गयी हुई बरात श्रीलालचंदजी मोमियाके यहाँ बड़े ठाटबाटसे जा रही थी। सूर्यनारायण अस्ताचलको जा रहे थे। अचानक बालक जगमोहनकी दृष्टि सोनेके जड़ाऊ हारपर पड़ी, जो सड़कपर पड़ा हुआ था। तुरंत उसने उसे उठा लिया। अंदाज़ लगाया कि 'अभी हमारे आगे-आगे बरात गयी है—हो-न-हो, यह हार उन्हींका गिर गया है!' यह सोचकर, साथी बालकोंके मना करने और कई प्रकारके प्रलोभन देनेपर भी, बालक जगमोहन जल्दी-जल्दी लालचंदजीकी दूकानपर गया और जाकर उन्हें हार सौंपा। बरातकी धूम-धाममें बरातियों-को किसीको भी मालूम नहीं था कि हार गिर गया है। वास्तवमें वह दूल्हेके गलेमेंसे गिर गया था; परंतु स्वयं दूल्हेको भी ज्ञात नहीं हो पाया था। जब बालक जगमोहनने जाकर हार उनको दिया तो दूल्हेने अपना गला सँभाला। हार नदारद था। बालककी ईमानदारी देखकर सब बराती बहुत प्रसन्न हुए और बच्चेको केवल एक रुपया इनाम दिया। बालक इनाम पाकर प्रसन्न होता हुआ घर आया और इनामका एक रुपया घरवालोंको देकर सारा किस्सा उन्हें सुनाया। घरके सभी लोगोंने इनामके नामसे दिया हुआ रुपया स्वीकार करते हुए बालकको बहुत-बहुत शाबाशी दी और प्रेमके साथ उपदेश दिया कि 'सदा ऐसी ही ईमानदारी और सचाईसे रहना। परायी चीजको धूलके समान समझना।'

मैंने यह लघु घटना इसलिये लिखी है कि अन्य बालक भी सच्चे मानव बननेके हेतु इसका अनुसरण करें; और उनके माता-पिता तथा समस्त परिजन अपने बालकोंको भविष्यमें श्रेष्ठ मानव बनानेकी दृष्टिसे सदा ऐसी ही शिक्षाएँ देकर महामानवताका परिचय देते रहें।

—श्रीकृष्णगोपाल माथुर

आर्य-संस्कृतिका मानवताके प्रति शाश्वत संदेश

(लेखक—देवर्षि भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

विधाताकी इस सृष्टिमें 'मानव' एक अपूर्व रचना है। इसको उत्पन्न करके विधाताको भी आश्चर्य और प्रमोद हुआ। यह उपाख्यान पुराणोंमें बड़े विस्तार और परिष्कारके साथ समझाया गया है। कारण—यह मनुष्य-योनि जीव-रचनामें अन्यान्योंकी अपेक्षा सर्वाङ्गपूर्ण, अतएव दुर्लभ, किंतु कर्तव्योंमें सर्वसमर्थ सिद्ध हुई है। मन, बुद्धि, इन्द्रियादिके विषयमें यह मानव सर्वप्राणियोंसे श्रेष्ठ माना गया है। यह मानव अपनी शक्तिसे दिव्यलोक, सायुज्य मोक्षतक प्राप्त कर सकता है। यह अपनी 'मानवता' को शनैः-शनैः विकसित करता हुआ उत्तरोत्तर उन्नत होता चला जाता है। किंतु जैसे यह सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ और सुदुर्लभ वस्तु गिना गया है, वैसे ही इस लोकालयमें इस 'मानव' के प्रति कर्तव्यभार भी इतना है कि उसका निर्वाह करना कठिन ही नहीं, महाकठिन है। विकास करना तो दूरकी बात है, 'मानवता' का निर्वाह सम्पूर्ण जीवनकालमें यथावत् कर ले जाना भी बड़ी बात गिना जाता है। पैंड-पैंडपर उसके कठिन कर्तव्य और दृढ़ नियम आ अड़ते हैं। इसीलिये सच्ची 'मानवता' एक बड़ी चीज गिनी जाती है।

उसकी रक्षाके लिये प्रतिदिनके आचार-व्यवहार इतने संयत रखने पड़ते हैं कि थोड़ी-सी भूल भी वहाँ क्षन्तव्य नहीं। हाथ-पैर हिलानेसे पहले अपनी जबान भी बड़ी सतर्कतासे खोली जाती है। मानवताके आदिप्रवर्तक प्राचीन संस्कृत-शास्त्रोंमें ही यह कठिनता हो, सो नहीं। अन्यान्य साहित्योंमें भी 'इन्सानियत', 'आदमियत' बड़ी ऊँची गिनी जाती है। उस समाजके लोग भी आदमियत-का निर्वाह, उसको यथावत् निबाह देना कठिन मानते हैं। देखिये, बोलनेके लिये भी कैसी अच्छी शिक्षा दी गयी है, जिसमें उसकी उपपत्ति (दलील) भी साथ-ही-साथ समझायी गयी है। वे कहते हैं—

> कहे एक, जब सुन ले इन्सान दो।
> खुदाने जुबाँ एक दी, कान दो॥

सब कुछ समझकर कुछ बोलनेके लिये कैसी अच्छी सलाह या शिक्षा दी गयी है कि जब ईश्वरने बोलनेकी अपेक्षा सुननेके लिये दूने साधन दिये हैं, तब दूनी सतर्कतासे सब कुछ अच्छी तरह सुन-समझकर फिर कुछ बोलना चाहिये।

'मानवता' के आदिम पदाङ्क दिखलानेवाले प्राचीन आर्य माने जाते हैं। उन्होंने मानवताके निर्वाहके लिये बड़े सच्चे और अनुभूत नियम रचे और बड़ी हितकर शिक्षा दी है, जो मैं समझता हूँ इस (अङ्क) के लिये अतीव उपयुक्त होगी। महाभारत तथा अन्यान्य ग्रन्थोंसे छाँटे हुए कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

मानवके चरित्रके सम्बन्धमें

> प्रत्यहं समवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
> किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति॥
> न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
> दया भूतेषु मैत्री च दानं च मधुरा च वाक्॥
> प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा।
> आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥
> प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदाराभिमर्शनम्।
> त्रीणि पापानि कुशलो यत्नतः परिवर्जयेत्॥
> प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
> आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति॥
> भये वा यदि वा हर्षे समाप्ते यो विमर्शयेत्।
> कृत्यं न कुरुते वेगान्न स संतापमाप्नुयात्॥
> बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च।
> अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते॥
> क्षन्तव्यो मन्दबुद्धीनामपराधो मनीषिणा।
> नहि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषे क्वचित्॥
> गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
> दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
> किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
> इति संचिन्त्य मनसा प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा॥

'मानव प्रतिदिन अपने चरित्रका निरीक्षण करे कि मेरा चरित्र पशुओंके समान है या जो अच्छे पुरुष गिने जाते हैं, उनके समान है। तीनों लोकोंमें ऐसा वशीकरणका (अर्थात् दूसरोंका अपना बना लेनेका) मन्त्र दूसरा नहीं। वह है—प्राणिमात्रमें दया, मित्र-भावसे बर्ताव, आवश्यकता पड़नेपर

उसको धन आदि देना तथा मिष्टवाणीका व्यवहार। जैसे अपने प्राण हमको प्रिय हैं, वैसे और प्राणियोंको भी अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। यों साधु पुरुष अपने दृष्टान्तसे प्राणि-मात्रपर दया करते हैं।

'किसीका प्राण लेना, चोरी करना, दूसरेकी स्त्रीसे संसर्ग करना—ये तीनों ही पाप हैं। चतुर पुरुष वही है, जो इन तीनोंसे यत्नपूर्वक बचता रहे।

'किसीको मना करना (निराश लौटाना), देना, सुख और दुःख, प्रिय और अप्रिय, इन सबके विषयमें अच्छा मानव अपनी आत्माको प्रमाण समझ ले। अर्थात् जैसे खाली लौटनेपर हमको दुःख होता है, वैसा ही दूसरेको भी दुःख होता है।

'भयका काम हो अथवा हर्षका प्रसङ्ग हो, उसके समाप्त हो जानेपर जो कुछ विचार करता है, जल्दीसे कुछ काम नहीं कर बैठता, वह मानव कभी संतापको नहीं प्राप्त होता। अपने भाई-बन्धु, अपने मित्र, नौकर तथा स्त्रीजनोंका कोई अपराध संदिग्ध हो अर्थात् स्पष्ट सामने न आया हो तो फैसलेमें देरी करनी चाहिये। जल्दीसे इनके अपराधको निश्चित करके दण्डकी व्यवस्था न करे।

'समझदार मानवको चाहिये कि थोड़ी बुद्धिवाले लोगोंका अपराध क्षमा कर दे; क्योंकि किसी भी पुरुषमें पण्डिताई (चातुर्य) इतनी सुलभ नहीं, अर्थात् सब पुरुष बुद्धिमान् नहीं होते।

'अच्छी तरह प्रयुक्त यह गौ (अर्थात् वाणी), कामधेनु गौके समान सारे मनोरथोंको पूर्ण कर देती है। किंतु अनुचित ढंगसे प्रयोग की गयी यह गौ (वाणी) प्रयोग करनेवाले-का ही गोत्व अर्थात् बैलपन सूचित करती है। अर्थात् सबसे अच्छी तरह बोलना चाहिये। अन्यथा बोलनेवालेका ही बैल-(पशु)-पना गिना जायगा। इस कामको कर लेनेपर मेरा क्या होगा तथा इसे नहीं करूँगा तो क्या होगा? इस तरह अपने मनसे खूब विचारकर ही बुद्धिमान् मानव किसी कामको करे या न करे।'

आर्थिक उन्नति-प्राप्तिके लिये

काकतालीययोगेन यदनात्मवति क्षणम्।
करोति प्रणयं लक्ष्मीस्तदस्याः स्त्रीत्वचापलम्॥
उपभोक्तुं न जानाति श्रियं लब्ध्वापि मानवः।
आकण्ठजलमग्नोऽपि श्वा लिहत्येव जिह्वया॥
सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥
ईश्वराः पिशुनानेव बिभ्रतीति किमद्भुतम्।
प्रायो निधय एवाहीन् द्विजिह्वान् दधतेतमाम्॥
संतोषक्षतये पुंसामाकस्मिकधनागमः।
सरसां सेतुभेदाय वर्षौघः स च न स्थिरः॥
वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ॥
धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु भोजनवृत्तिषु।
अतृप्ता मानवाः सर्वे याता यास्यन्ति यान्ति च॥
यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रासं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे स्यात् तत्कार्यं भूतिमिच्छता॥
कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा नोपयुज्यते।
चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः॥

'यह एक काकतालीय अर्थात् आकस्मिक संयोग है कि आत्मज्ञानशून्य पुरुषके प्रति यह लक्ष्मी क्षणकालके लिये प्रीति करती है; यह उसकी स्त्रीत्व-जनित चपलता है। अर्थात् आत्मभाव-सम्पन्नोंके पास ही लक्ष्मी आती है। औरोंके पास वह थोड़े समयके लिये आती है और वह भी काकतालीय न्यायसे। काकतालीय न्याय यह है कि जैसे ही कौआ तालके वृक्षपर बैठा कि संयोगसे तालका फल भी गिरा। यह आक-स्मिक संयोग है, अन्यथा कौएके बोझसे तालका फल नहीं टूट सकता।

'कोई-कोई मनुष्य धन-सम्पत्ति पाकर भी उसका उपभोग करना नहीं जानते। गलेतक जलमें डूबा हुआ भी कुत्ता पानी जीभसे चाटकर ही पीता है। सब तरहकी शुद्धताओंमें धनके व्यवहारकी शुद्धता ही सच्ची शुद्धता है, मिट्टी और जलकी शुद्धता शुद्धता नहीं। धनीलोग प्रायः पिशुनों (चुगलखोरों) का पोषण करते हैं—यह आश्चर्यकी बात नहीं। प्रायः धनके टोकनों (पात्रों) पर दो जीभवाले साँप बैठे रहते हैं। अकस्मात् कहींसे धनकी प्राप्ति मानवके संतोषको भङ्ग कर देती है और वह स्थिर भी प्रायः नहीं होती। वर्षाकी आकस्मिक बाढ़ ताल-तालावोंके बाँधको तोड़ देती है और शीघ्र ही फिर सूख भी जाती है।

'जीविका-प्राप्तिके लिये अत्यधिक चेष्टा न करे। वह तो विधाताने ही निश्चित कर दी है। देखिये, गर्भसे प्राणीके उत्पन्न होते ही माताके स्तन दुग्ध-भारसे अपने-आप झरने लगते हैं।

धन, जीवनकी आशा, स्त्री-सुख, भोजन और जीविकाके विषयमें सभी मानव अतृप्त रहकर ही अबतक चले गये और चले जायँगे तथा चले जा रहे हैं। जितना ग्रास (कौर) निगला जा सके, निगलनेपर भी जो पचाया जा सके, पच जानेपर भी जिसका परिणाम अच्छा हो, वही कार्य करना चाहिये। (धन-संचय उतना ही करे, जिसका परिणाम हितकारक हो)। जिन उद्योग-कर्ताओंका निश्चय दृढ़ होता है, वे ही वन्दनीय हैं; ऊँचाई (बड़ाई) का कोई उपयोग नहीं। देखिये, पपीहा बेचारा क्या चीज है; किंतु उसके पानी भरनेवाला साक्षात् इन्द्र है (वह इन्द्रपर ही अपना भरोसा रखे हुए है, इसी तरह उद्यम करनेवालोंका निश्चय दृढ़ होना चाहिये)।'

नीतिके अनुसार कार्य करनेके लिये

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः॥
क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम्॥
न द्विषन्ति न याचन्ते परनिन्दां न कुर्वते।
अनाहूता न गच्छन्ति तेनाश्मानोऽपि देवताः॥
अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत्॥
यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
न कालः खड्गमादाय शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य फलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम्॥
व्यसनं प्राप्य यो मोहात् केवलं परिदेवयेत्।
क्रन्दनं वर्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति॥
प्रभूतवयसः पुंसो धियः पाकः प्रवर्तते।
जीर्णस्य चन्दनतरोरामोद उपचीयते॥
निजाशयवदाभाति पुंसां चित्ते पराशयः।
प्रतिमा मुखचन्द्रस्य कृपाणे याति दीर्घताम्॥
परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वे भवन्ति हि।
विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते॥

'हितकारी मनुष्य वही है, जो आपत्ति आनेपर, खोटे रास्ते जानेपर, कार्यके बीत जानेमें पश्चात्ताप होनेपर बिना पूछे ही कल्याणकारी वचन कहे। शत्रु और मित्रोंपर बराबर क्षमा करना यति-(त्यागी, तपस्वि-)योंका ही भूषण है। अपराधी प्राणियोंको क्षमा देना राजा (जो शासनकर्ता है) के लिये दूषण है। किसीसे द्वेष नहीं करते, कुछ माँगते नहीं, दूसरेकी निन्दा नहीं करते और बिना बुलाये कहीं जाते नहीं, इसीलिये पत्थर भी देवता बन जाते हैं (अर्थात् द्वेष करना, माँगना, परनिन्दादि कार्य कभी नहीं करने चाहिये)। अपना धननाश, मनका संताप, घरके दुश्चरित्र, अपनी ठगाई और अपमान (तिरस्कार) सब जगह प्रकाशित न करे। यदि एक ही कामसे सम्पूर्ण जगत्को वशीभूत करना चाहते हो तो दूसरेकी निन्दारूपी घास चरनेसे इस वाणीरूपी गौको निवारण कर लो (दूसरेकी निन्दा कभी न करो)।

'प्रतिदिन शोकके हजारों अवसर और भयके सैकड़ों कारण उपस्थित होते हैं; किंतु उनका असर मूर्खोंपर होता है, समझदारपर नहीं। यह काल (मृत्यु) तलवार लेकर किसीका सिर नहीं काटता। मृत्युका तो यही फल है कि उलटी बात दिखने लग जाय। (जब उल्टी समझ हो जाय, तब कालको समीप समझ ले।) दुःख एवं संकट पड़नेपर केवल जो विलाप (रुदन) करता है, वह अपने दुःखको ही बढ़ाता है, उससे पार नहीं पा सकता। (संकट पड़नेपर उपाय करना उचित है, केवल विलाप नहीं करना।) मनुष्यकी अवस्था पक जानेपर (वृद्धता या जवानी आ जानेपर) बुद्धिमें प्रौढता आती है। चन्दन जैसे-जैसे पुराना होता है, वैसे-वैसे उसकी सुगन्ध बढ़ती है।

'मनुष्योंको दूसरेका मनोभाव अपने चित्तके समान दिखता है (जैसा अपना भाव होता है, वैसा ही दूसरेका भी समझता है)। अपने मुखका प्रतिबिम्ब (छाया) तलवारमें लंबा दिखायी देता है। दूसरोंको उपदेश देते समय तो सभी बड़े शिष्ट (सभ्य, शरीफ) बन जाते हैं, पर अपना काम आ पड़नेपर उस शिष्टताको भूल जाते हैं।'

धार्मिक शिक्षा

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत्।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन न तत्कर्म समाचरेत्॥
अनेन मर्त्यदेहेन यल्लोकद्वयशर्मदम्।
विचिन्त्य तदनुष्ठेयं कर्म हेयं ततोऽन्यथा॥
क्षमातुल्यं तपो नास्ति न संतोषात्परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः॥
सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम्।
कायः परहिते यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥
आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ।
अङ्कमारुह्य सुप्तानां हन्तुः किं नाम पौरुषम् ॥
तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता ।
यावज्ज्वलति नाङ्गेषु स्वतः पञ्चेषुपावकः ॥
उपकारः परो धर्मः परार्थं कर्मनैपुणम् ।
पात्रे दानं परः कामः परो मोक्षो वितृष्णता ॥
वरं दारिद्र्यमन्यायप्रभवाद् विभवादिह ।
कृशताभिमता देहे पीनता न तु शोफतः ॥
कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
अकर्तव्यं न कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

'जिससे इस लोकमें अपकीर्ति हो, सर्वत्र दुर्दशा हो तथा स्वर्गसे भी जिसके कारण वञ्चित रहना पड़े, ऐसा कर्म (निन्दित काम) कभी न करे। इस मानवदेहसे ऐसा काम सोच-समझकर करे, जो इस लोक और परलोकमें भी सुख देनेवाला हो। इससे विपरीत काम कभी न करे। क्षमाके समान तपस्या नहीं, संतोषके समान सुख नहीं, तृष्णासे बढ़कर कोई व्याधि नहीं, दयासे बढ़कर कोई धर्म नहीं। जिसका हृदय दयासे और वाणी सत्यसे भूषित है तथा जिसका शरीर सदा दूसरोंके हितमें लगा रहता है, उसकी यह कलियुग क्या हानि कर सकता है। इन्द्रियोंको वशमें न करना (बल्कि इन्द्रियोंके वशीभूत हो जाना)—यह आपत्तियोंका मार्ग है और इन्द्रियोंको जीत लेना सम्पत्तिका पथ है। अब जिस मार्गसे जाना पसंद हो, उसीसे जाइये।

'जो दूसरेपर विश्वास करके निश्चिन्त हो रहे हैं, उनको ठगनेमें कौन-सी चतुराई है? गोदीमें सिर रखकर सोये हुएको मार देनेमें कौन-सी बहादुरी हुई? तभीतक बड़ाई, पण्डितपना, कुलीनता और समझदारी है, जबतक शरीरमें कामकी अग्नि न भड़के। कामसे अंधा होनेपर महत्त्व आदि कुछ नहीं रहते। मनुष्यको संयमी होना आवश्यक है। दूसरेकी भलाई करना परम धर्म, दूसरेके लिये काम करना निपुणता, योग्य पात्रके प्रति दान करना कामसिद्धि है तथा तृष्णाका त्याग करना श्रेष्ठ मोक्ष है [यों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थ सिद्ध करे]। अन्यायसे उपार्जित धन-वैभवकी अपेक्षा दरिद्रता ही अच्छी। अपने शरीरमें दुर्बलता ही सब पसंद करेंगे, किंतु रोगसे शरीरका मोटा होना कोई नहीं चाहेगा।

'चाहे प्राण कण्ठमें आ जायँ किंतु अपना असली कर्तव्य करना ही चाहिये; और चाहे प्राण गलेमें आ जायँ किंतु अकर्तव्य कभी न करे।'

मानवताकी खोज

(रचयिता—श्रीमहावीरप्रसादजी अग्रवाल)

मानवता कहो, कहाँ साथी!
तुम खोज रहे मानवताको, धन-माया-यौवनके वनमें।
तुम सोच रहे मानवताको, मानव-सौन्दर्य-प्रसाधनमें॥
मानवता कहाँ वहाँ साथी!
मत भूलो मानवता बँधती, मद-मान-श्रृङ्खला बन्धनमें।
मत भूलो मानवता हँसती, प्रासादोंके वातायनमें॥
मानवता नहीं यहाँ साथी!
रहती मानवता मानवमें, भोले-भाले भूले जनमें।
बसती मानवता मानसमें, निर्धन जनके गृह-आँगनमें॥
मानवता कहो यहाँ साथी!
वह विहँस रही मानवता है, चितचोरकी चारू चितवनमें।
वह बिखर रही मानवता है, मोहन शिशुके भोलेपनमें॥
मानवता यहाँ यहाँ साथी!
उठ रही महक मानवताकी, शबरीके झूठे बेरनमें।
उठ रही ललक मानवताकी, श्रीकृष्ण-सखाके तण्डुलमें॥
मानवता कहाँ? यहाँ साथी!

आदर्श महिला कुन्ती

मानवताकी महत्ता

दुःखका वरदान

महाभारत-युद्धकी महाविजय, युधिष्ठिर सिंहासनासीन हो चुके और तब श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका जाने लगे। उस समय देवी कुन्तीने उनकी स्तुति की। उनसे वरदान माँगा। क्या वरदान—आनन्द? स्वर्ग? सिद्धि? यश आदि? सो कुछ नहीं। उन्होंने माँगा दुःखका वरदान!

'जगद्गुरो! हमें सदा, पद-पदपर विपत्ति मिले! हमें आप बराबर संकटमें रखें!' यह वरदान देवी कुन्तीका—श्रीकृष्णको भी चौंका दे ऐसा वरदान, किंतु वे कहती हैं—'सुखमें तो आपकी स्मृति नहीं रहती। विपत्तिमें, दुःखमें आप बराबर स्मरण आते हैं और आपकी स्मृति तो मोक्ष-दायिनी है। हमें वह स्मृति ही प्रिय है। अतः आप उस स्मृतिको देनेवाली विपत्तिका ही वर दें!'

पर-दुःख-भञ्जन

दुर्योधन भले समझता रहे कि पाण्डव लाक्षागृहमें जल मरे; किंतु विदुरकी सहानुभूतिने उन्हें सावधान कर दिया था। वे गुप्त मार्गसे बच निकले थे और माता कुन्तीके साथ वन-वन भटकते छद्मवेशमें ही एकचक्रा नगरीमें एक ब्राह्मण-के अतिथि हुए थे।

बकासुर

उस भयानक नरभक्षीके अत्याचारसे त्रस्त नगरजनोंने उस राक्षससे समझौता किया। एक गाड़ी अन्न, दो भैंसे और एक पुरुष प्रतिदिन बारी-बारीसे नगरके परिवारोंसे राक्षसके पास जाते और राक्षस वह सब पेटमें पहुँचा देता था।

पाण्डव जिस घरमें ठहरे थे, उस परिवारकी बारी दूसरे ही दिन थी। गृहपति, गृहस्वामिनी, उनका पुत्र और पुत्रवधू—प्रत्येक चाहता था कि वह राक्षसका भोजन बने और शेष सदस्य सकुशल रहें। क्रन्दन मचा था परिवारमें। देवी कुन्तीने वह क्रन्दन सुना, उसका कारण जाना और उनका अभय स्वर आया—'आप सकुशल रहें। मेरा पुत्र जायगा राक्षसके पास।'

ब्राह्मण नहीं चाहते थे; किंतु कुन्तीदेवी दृढ़ रहीं। ब्राह्मणको स्वीकृति देनी पड़ी। दूसरेकी विपत्ति अपने सिर लेकर उन्होंने भीमसेनको राक्षसके समीप जानेकी आज्ञा दी। प्रचण्ड भीमसेन, किंतु वे उतने प्रचण्ड न भी होते, उनकी माताका त्याग ही उनकी रक्षा करनेको पर्याप्त था और राक्षसको तो मरना था ही।

वीर-माता

बारह वर्षका वनवास तथा एक वर्षका अज्ञातवास पाण्डवोंने पूर्ण कर दिया, किंतु दुर्योधन उनका स्वत्व देनेको प्रस्तुत नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंकी ओरसे शान्तिदूत बनकर आये। पाँच गाँवमात्र लेकर पाण्डव संतुष्ट हो जाते, किंतु दुर्योधनने तो कह दिया—'सुईकी नोक रखने जितनी भूमि भी युद्धके बिना नहीं दूँगा।'

जब लौटते समय माता कुन्तीके पास श्रीकृष्णचन्द्र पहुँचे, उन वीर-जननीने पुत्रोंके लिये संदेश दिया—'वह समय आ गया जिस दिनके लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है। माताके दूधकी लज्जा रखो!'

त्यागकी देवी

कुन्तीदेवीने पुत्रोंको युद्धके लिये प्रेरित किया था राज्य-सुखके लिये? वह तो कर्तव्यका संदेश था। युधिष्ठिर सम्राट् हुए, किंतु देवी कुन्ती राजमाताका ऐश्वर्य भोगनेवाली थीं? वे त्यागकी मूर्ति, वे नित्य तपस्विनी—धृतराष्ट्रने वनगमनका निश्चय किया। सौ-सौ पुत्र जिसके मारे जा चुके, वह किस सुखकी कामना करे। सम्मान और भोग उसे शान्ति दे पाते? वन ही उसको अभीष्ट हो सकता था। गान्धारीको पतिका अनुगमन करना ही था।

अन्धे जेठ, नेत्रपर सदा पट्टी रखनेवाली जिठानी वन जा रहे थे। देवी कुन्तीने पुत्रोंको कह दिया—'मेरा स्थान भी उनके ही समीप है। उनकी सेवा मेरा कर्तव्य है।'

वे राजमाता—सदा जिनका जीवन दुःखमें गया था, अब जब ऐश्वर्य उनके चरणोंमें सनाथ होने आया, उन्होंने मुख फेर लिया। अपनी जेठानी गान्धारीको कंधा पकड़ाया उन्होंने और जेठ धृतराष्ट्रके पीछे वनकी ओर चल पड़ीं।

आदर्श महिला कुन्ती

विपत्ति-भिक्षा | ब्राह्मणकी प्राणरक्षा
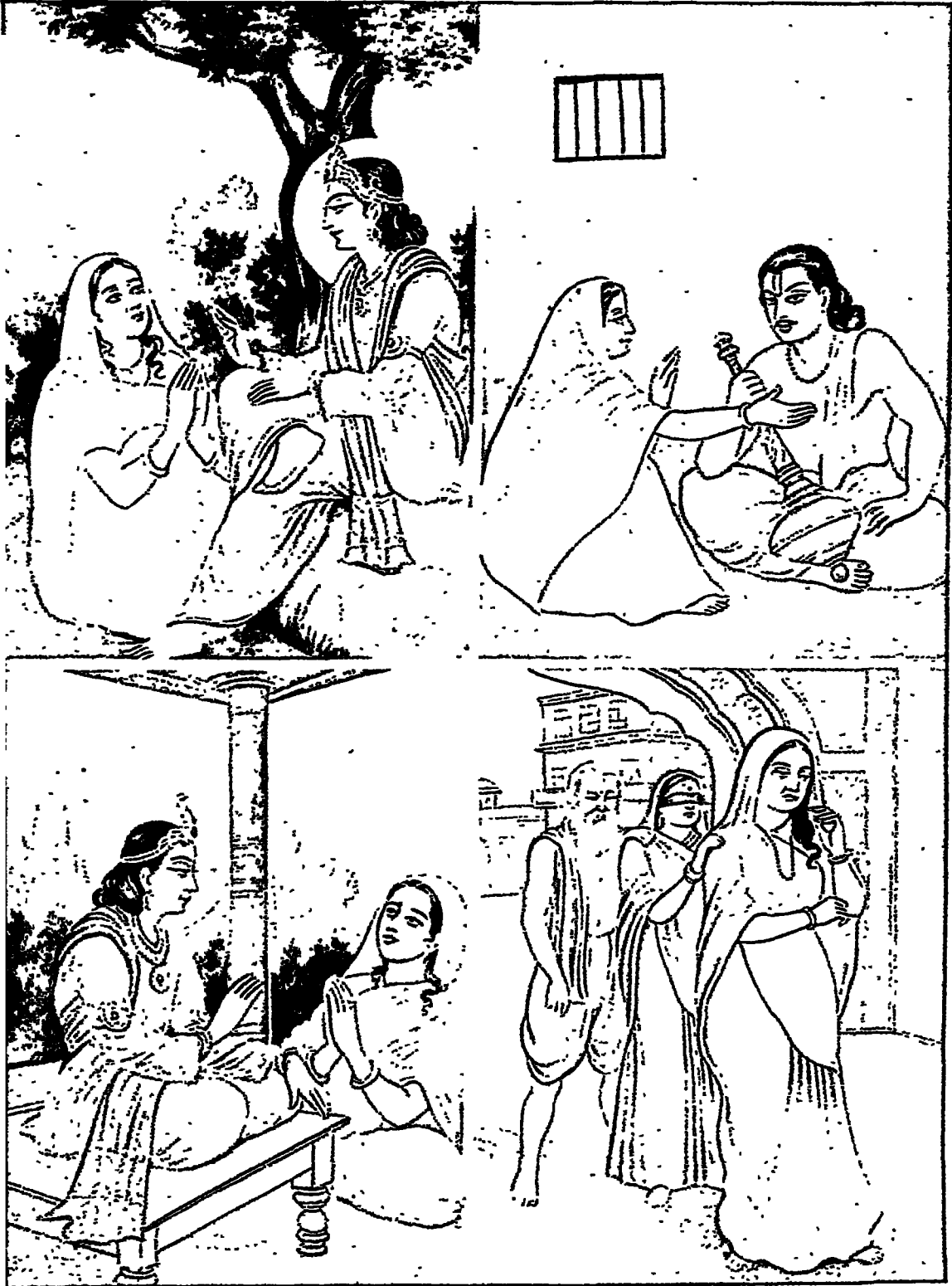
पुत्रोंको संदेश | जेठ-जेठानीके साथ वनगमन

मानव-गोष्ठी और गणतन्त्र

(लेखक—अध्यापक श्रीखगेन्द्रनाथ मित्र एम्० ए०)

आधुनिक सभ्य जगत्में 'गणतन्त्र' शब्दसे क्या अभिप्राय लिया जाता है ? -डेमॉक्रेसी (Democracy) कहनेसे सर्व-जनसम्मत अर्थ यह होता है 'जनसाधारणके लिये जनसाधारण-के द्वारा प्रतिष्ठित शासनतन्त्र।' मैं भी यही अर्थ ग्रहण करता हूँ, परंतु किसी भी देशमें शासन-कार्य किसी बृहत् मानव-गोष्ठीके द्वारा नहीं चलाया जा सकता। अतएव शासनकार्य केन्द्रीभूत होकर कुछ मुट्ठीभर लोगोंके द्वारा ही संचालित होता है। यह शासकवर्ग प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूपमें देशके शासन-सम्बन्धी सब प्रकारके महान् उत्तरदायित्वको वहन करता है और कोटि-कोटि जनता उस शासनको स्वीकार करके चलती है।

जन-साधारण इन मुट्ठीभर शासकोंकी मण्डलीका अपने-मेंसे चुनाव करता है, इसीसे इस शासनतन्त्रको 'गणतन्त्र' कहते हैं। यह कह सकते हैं कि इस चुनाव-पर्वके अतिरिक्त, बृहत् मानवगोष्ठीके साथ अन्य कोई सम्बन्ध इसका नहीं रहता। ऐसी भी कोई बात नहीं है कि इस चुनाव-प्रथाके द्वारा सदा अभिज्ञ और योग्य पुरुषोंका ही चुनाव होता हो। यह सत्य है कि ज्ञानी और गुणी मनुष्य शासनके कार्यमें अधिकृत हों तो शासन-शृङ्खला सर्वोत्तम हो सकती है; तथापि जन-बल, धन-बल तथा दलबंदी करनेकी योग्यता होनेके कारण बहुत बार अयोग्य व्यक्ति भी चुनावमें सफल होते देखे जाते हैं। किसी-किसी देशमें स्त्रियोंको मत-दानका अधिकार नहीं है तथा निर्दिष्ट आयुसे कम या अधिक आयुवालोंको भी चुनावमें मत देनेका अधिकार नहीं होता। ऐसी अवस्था-में गणतन्त्रको एक संकुचित अर्थमें ग्रहण करनेके सिवा कोई उपाय नहीं रह जाता। चुनावके द्वारा जो शासकदल संगठित होता है, उसमें अवश्य ही गण-संयोगकी व्यवस्था रहती है। अर्थात् निर्वाचित मण्डली, मन्त्रि-सभा या व्यवस्थापिका परिषद् युद्ध या ऐसी ही कोई विषम अवस्था उपस्थित होनेपर जनसाधारणकी इच्छा जान ले सकती है। इसीका नाम है गण-संयोग।

इस गणतन्त्रका अभ्युत्थान हुए बहुत दिन नहीं बीते हैं, परंतु आजकल जो शासक-मण्डलियाँ विभिन्न देशोंमें शासन चला रही हैं, वे प्रायः गणतन्त्रके अन्तर्गत हैं। इन सब राज्योंमें अब राजे-रजवाड़ोंके लिये स्थान नहीं है। महा-भारतमें हम देखते हैं कि राजा लोग एक मन्त्रणा-सभा गठन करके राजकार्य चलाते थे। उस मन्त्रिमण्डलमें दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वैश्य और दो शूद्र होते थे। राजाको लेकर ये नौ आदमी समस्त राज्यकार्यका संचालन करते थे। अवश्य ही उस समय देशके सर्वश्रेष्ठ पुरुषोंको ही इसमें मनोनीत किया जाता था। आधुनिक गणतन्त्र पाश्चात्त्य देशोंकी देन है, इसकी आयु दो-तीन शताब्दिसे अधिक पुरानी नहीं है। फ्रांसका जनविप्लव तथा अमेरिकाका स्वाधीनता-युद्ध अधिक दिन पहलेकी बात नहीं है। वर्तमान शताब्दीमें रूसने केवल राजतन्त्रका उन्मूलन करके क्रान्ति ही नहीं की है अपितु उसने एक 'कम्यूनिस्ट' मतवाद भी चलाया है। चीन भी आज इस मतवादमें दीक्षित है। भारतवर्ष भी महात्मा गांधीकी सहायतासे १९४७ ई० में ब्रिटिश शासनसे मुक्त होकर रिपब्लिक अर्थात् गणतन्त्रकी ध्वजा फहरा रहा है।

पृथिवीके अधिकांश देशोंमें जब इस प्रकारकी नीति चल रही है, तब इसके विरोधमें कुछ बोलना दुस्साहसका कार्य है; किंतु हम सभी समय पाश्चात्त्य देशोंका ही अनुकरण करते रहें, यह भी तो ठीक नहीं है। पाश्चात्त्य सभ्यताके साथ हमारी मौलिक संस्कृतिका मेल खाता है या नहीं, यह भी विचार करना पड़ेगा।

आधुनिक गणतन्त्र एक यन्त्रविशेष है। इसकी मूल भित्ति यह है कि विश्वके समस्त मानव, कम-से-कम समस्त जातियाँ, एक ही उपादानसे गठित हैं, अर्थात् सब लोगोंका स्वभाव या प्रकृति एक ही प्रकारकी है। परंतु ऐसी बात तो है नहीं। एक ही टकसालमें ढाले गये रुपयोंके समान सब लोग एक ही प्रकारके नहीं होते। किसीका स्वभाव सरल होता है, किसीका क्रूर। कोई शिक्षित होता है, तो कोई अशिक्षित और कुसंस्कारापन्न। भगवान्के विराट् कारखाने-में अनन्त प्रकारके साँचे रहते हैं। इसी कारण एक आदमी ठीक दूसरेके समान नहीं होता और भिन्नता केवल बाह्य आकृतिको लेकर ही नहीं होती, मानसिक जगत्में भी एक आदमी दूसरेके समान नहीं होता।

मनुष्यके साथ मनुष्यके इस पार्थक्यको स्वीकार करके ही मनुष्यकी प्रकृतिको सांख्यमतके अनुसार सत्त्व, रज और तम-रूप तीन उपादानोंमें विभक्त किया गया है। जिनमें सत्त्वगुण प्रधान होता है, वे निष्काम, भगवान्पर निर्भर करनेवाले

और निर्वैर होते हैं। रजोगुणकी अधिकतासे कर्मकी स्पृहा बलवती होती है तथा मनुष्य लोभ-मोह आदिके वशीभूत होता है—और तमोगुणके आधिक्यका फल अज्ञान है—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥

अतएव मनुष्यके अंदर जो यह तारतम्य है, इसे स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता। जो लोग अज्ञानी या अल्पशिक्षित हैं, उनका काम है श्रेष्ठ लोगोंका अनुकरण करना। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

'श्रेष्ठ लोग जो आचरण करते हैं अथवा जिस आदर्शको मानकर चलते हैं, वहाँ जनसाधारण उसीका अनुकरण करता है।'

गीतामें श्रीकृष्णभगवान् पुनः कहते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

अर्थात् अज्ञ, विषयासक्त लोगोंमें बुद्धिभेद पैदा न करे। ज्ञानी पुरुष अनासक्त भावसे कर्म करते जायँ तथा कर्मासक्त लोगोंको कर्ममें लगाते चलें।

आज कोई मनुष्य अपनेको मन्दबुद्धि स्वीकार करना नहीं चाहता। रास्तेमें काम करनेवाले मजदूर भी सोचते हैं कि वे वोटके बलसे अपनी माँग पूरी करा सकते हैं। कोई किसीको श्रेष्ठ नहीं मानता। ज्ञानी पुरुषोंसे परामर्श लेना भी आवश्यक नहीं समझता, वे स्वयं ही ठीक हैं। यही गणतन्त्रकी सांघातिक दुर्बलता है। श्रीभगवान् पुनः कहते हैं—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

अर्थात् जो अल्पज्ञ हैं, वे प्रकृतिके भीतर चलनेवाले गुणोंके खेलसे मोहग्रस्त होकर कर्ममें लगते हैं। उन अज्ञ-लोगोंके चित्तको विचलित करना ज्ञानी पुरुषका काम नहीं है।

ज्ञानी किस बातको लेकर श्रेष्ठ होते हैं? वे फलाकाङ्क्षा नहीं करते। उनमें कर्तृत्वाभिमान या अहंकार नहीं होता तथा वे सब कर्मोंको ईश्वरमें समर्पण करके निर्लिप्त रहते हैं। आजकलके विषयी लोग क्या इस बातको सुनेंगे?

गीत

जीवनमें नव प्राण भरो हे!
चलती चलती थकी मनुजता
क्षीण हुई मानवकी गुरुता
दुर्बल स्वयं हो गयी क्षमता
सीमाएँ बाँधे परवशता
एक बार फिरसे वसंत बन, मधुसे जग-उद्यान भरो हे!
जीवनमें नव प्राण भरो हे!
भरो कर्मके प्रति फिर आस्था
नूतन रचो समाज-व्यवस्था
करो संतुलित भावोंका क्रम
देकर सत्यं शिवं सुन्दरम्
अब तो मानवमें ही प्रभुका संचित निज अनुमान करो हे!
जीवनमें नव प्राण भरो हे!
परिवर्तन कब हुआ असम्भव
फिर फिर आता खोया वैभव
संयमका बल देता अनुभव
सुखद भविष्यत्का होता रव
युगका भवन बन सके जिसपर, निज छाती पाषाण करो हे!
जीवनमें नव प्राण भरो हे!

—शान्ति मेहरोत्रा

मानवता और लोकतन्त्र

(लेखक—श्रीकिरणदत्तजी माथुर, बी० ए०, एल्० एल्०, जी० डी०, साहित्य-विशारद)

'मानवता' मानवका वह गुण है, जिसके कारण उसकी 'मानव' संज्ञा है और लोकतन्त्र या 'मानवतन्त्र' वह साधन है, जो मानवको मानवता तक पहुँचानेमें सहायता करता है। तात्पर्य यह हुआ कि मानवता यदि गन्तव्यस्थान है; लक्ष्यस्थान है, तो लोकतन्त्र वहाँतक पहुँचनेका मार्ग है और इस प्रकार 'मानवता और लोकतन्त्र' दोनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मानवताके मार्ग लोकतन्त्रमें काँटे नहीं बिछे हुए होते, जिससे मानवको अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेमें कष्टका सामना करना पड़े। यदि मानवको यह प्रतीत होने लगे कि उसके मार्गमें काँटे बिछ गये हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि लोकतन्त्र वह यथार्थ लोकतन्त्र नहीं रहा; वरं उसके शरीरमें तो काँटे घुस गये हैं, जो केवल उसीको दुःख नहीं देते वरं पथिकोंको भी कष्ट प्रदान करते हैं।

ये काँटे उन मानवोंके हाथकी काँटेदार छड़ियोंसे चुभते हैं, जो नागरिकताकी शिक्षासे विहीन हैं तथा लोकतन्त्रके सुन्दर मार्गपर चलते हुए उसको अपनी कण्टकित छड़ियोंसे छलनी कर डालते हैं।

नागरिकताके लिये यह बहुत आवश्यक है कि अपने पड़ोसी अथवा अपने देशकी ही नहीं वरं समूची मानवताकी निरन्तर गति एवं सचेतनतासे निःस्वार्थभाव रखते हुए सेवा की जाय। मानवता समस्त मानव-जातिकी वस्तु है, अतः उसे प्राप्त करनेके हेतु ऐसे 'लोकतन्त्र' की आवश्यकता है, जिसके नागरिक केवल अच्छे माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी या ज्ञानवान् देशभक्त ही न हों, वरं मानवमात्रके सच्चे सहायक और अन्ताराष्ट्रिय शान्तिके सच्चे उपासक भी हों। <u>लोकतन्त्रका अच्छा नागरिक अन्याय और अमानवताके अतिरिक्त अन्य किसीको अपना विरोधी नहीं बनने देता।</u>

'मानवता'—मनुष्यताका ही पर्यायवाची शब्द है और इसका अर्थ केवल यही न समझना चाहिये कि लोकतन्त्रमें समस्त मानवोंका एक समूहके रूपमें ही स्वागत होता है, व्यक्तित्वका नहीं। लॉर्ड हॉल्डेनके शब्दोंमें—'व्यक्तित्व सृष्टिका केन्द्र-तत्त्व है।' अतः अपनी प्रतिभाकी उन्मुक्तताके हेतु हर-एकको अवसर मिलना चाहिये। मानवीय संस्थाओंका महत्त्व उसी सीमातक है, जबतक कि वे व्यक्तित्वके विकासमें सहायक होती हैं; परंतु जहाँ व्यक्ति और मानव-समाजके स्वार्थोंमें संघर्ष होता दिखायी दे, वहाँ मानवता इसीमें है कि देशके स्वार्थके लिये व्यक्तिगत स्वार्थको छोड़नेमें तथा सम्पूर्ण मानव-जातिके स्वार्थकी रक्षाके लिये देशका स्वार्थ छोड़नेमें आगा-पीछा न किया जाय।

मानवताकी रक्षाकी सबसे बड़ी गारंटी 'लोकतन्त्र'-जैसे राज्यके प्रकारमें ही निहित है, जो समाजकी सुव्यवस्थाका प्रतीक है। लोकतन्त्रकी पृष्ठभूमि लिंकनकी इस सर्वप्रिय परिभाषा—'प्रजाके लिये, प्रजाद्वारा, प्रजाके शासन' द्वारा स्पष्ट व्यक्त होती है। हार्नशाने कहा है—लोकतन्त्रात्मक राज्यका अर्थ यह है कि 'मानव-समाजको समष्टिरूपमें अन्तिम प्रभु-शक्ति प्राप्त रहती है और वह सभी बातोंमें अन्तिम नियन्त्रण रखता है। लोकतन्त्रमें एकका शासन न होनेसे समानता और बन्धुत्वकी भावना मुख्य होती है।

लोकतन्त्रके अतिरिक्त सरकारके अन्य विभिन्न रूपों—राजतन्त्र, निरङ्कुश शासन, कुलीनतन्त्र एवं अल्पतन्त्र आदि-का भी सम्यक् प्रयोग हुआ है; परंतु राजनीति-विशारदोंकी अधिक संख्या यही मानती है कि मानवताकी रक्षाके लिये सर्वोत्तम शासनपद्धति 'लोकतन्त्र' द्वारा ही स्थापित की जा सकती है। राजतन्त्रमें राजा और उसके सम्बन्धियोंका स्वार्थ प्रधान और मानवताका गौण होता है। कुलीनतन्त्रमें अपने-को उच्च कहनेवालोंका स्वार्थ प्रधान और अन्यान्यका गौण होता है। अल्पतन्त्रमें अपनेको राजनीति-विशारद समझनेवालों-का स्वार्थ प्रधान और मानव-समाजका गौण होता है। केवल लोकतन्त्र ही एक ऐसा शासन है, जिसमें सम्पूर्ण मानव-जातिके कल्याणका स्वार्थ ही प्रधान होता है। लोकतन्त्रके अतिरिक्त उपर्युक्त अन्य शासनोंमें 'संकुचित कल्याण' की भावना और स्वार्थप्रियता अधिक होनेके कारण 'दानवता' को परिपुष्ट होनेके अवसर बहुत मिलते हैं। प्रोफेसर 'स्मिथ' के कथनानुसार लोकतन्त्र एक धार्मिक सिद्धान्त भी है और लोकतन्त्रीय जीवन ही वास्तविक रूपमें धार्मिक जीवन है। इसीसे हमें विश्वास होता है कि लोकतन्त्र मानवताके प्रति हमारे उत्साहका वास्तविक प्रदर्शन है—स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्वको बढ़ानेवाला तथा सामञ्जस्य स्थापित करने-वाला है।

सिद्धान्तरूपमें लोकतन्त्रद्वारा 'दरिद्रतम' व्यक्तिको भी अपनी इच्छाओंके प्रदर्शनका उतना ही अधिकार मिलता है, जितना एक समृद्धतम व्यक्तिको। इसके विपरीत राजतन्त्रादि शासनोंमें जनताकी इच्छाएँ सरकारके आदेशोंद्वारा रौंद दी जाती हैं, जब कि 'लोकतन्त्रमें कोई भी यह अपवाद नहीं कर सकता कि उसे अपनी बात कहनेका अवसर नहीं मिला।' (ए० एल्० लॉवेल)। अन्य शासन-पद्धतियोंमें साधारणतया विशेषज्ञोंद्वारा ही शासन करनेकी व्यवस्था हो सकती है और वे विशेषज्ञ अपनी सीमित बुद्धिके अनुसार ही शासन चलाया करते हैं; पर सामान्य मानव-समाज क्या चाहता है, उसको क्या दुःख है—इसका ज्ञान उनकी पहुँचके बाहरकी बात होती है। लोकतन्त्रात्मक शासन इस प्रश्नका सर्वोत्तम ढंगसे समाधान करता है। उसमें समष्टिकी अवस्थाओं, आवश्यकताओं आदिके सूक्ष्म अध्ययनद्वारा ही राज्यकार्य चलता है।

लोकतन्त्र मानवताके लिये सबसे अधिक उपयोगी है, इसका स्पष्ट प्रमाण इस तथ्यमें है कि 'लोकतन्त्रमें धार्मिक स्वतन्त्रता'—एक गारंटी होती है। धार्मिक जीवन ही वास्तवमें मानवताका सच्चा सहायक होता है। धर्मके प्रभावसे ही मनुष्य बुरे कार्य करनेसे डरता है। धर्मका सिद्धान्त है—'मनुष्य जैसा करेगा, वैसा ही भरेगा' अतः धार्मिक जीवनद्वारा मानवकी आत्मा प्रशस्त होती चली जाती है। धर्मके द्वारा ही मनुष्य अहिंसा-जैसा उपदेश शीघ्र ग्रहण करता है और दूसरोंके धर्मकी आलोचना या ताड़ना मन, कर्म तथा वचन—तीनोंसे न करता हुआ सहज भ्रातृत्वके उच्चतम सिद्धान्तकी मन्दाकिनीसे अपनेको पवित्र कर, यथार्थ मानवताको प्राप्तकर मानव कहलानेका अधिकारी होता है। अन्य शासनोंमें यह बात नहीं होती। इतिहास इस बातका साक्षी है कि राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र आदिमें एक मनुष्य या कुछकी इच्छाकी सिद्धिके लिये समाजका रक्त पानीकी तरह बहा दिया गया है, अपनी इच्छाओंको व्यक्त करनेवालोंको कारागृहके सीखचोंमें चिड़ियाओं या वन्य पशुओंकी भाँति बंद कर दिया गया है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि राजा जिस धर्मको मानता था, प्रजापर भी वही धर्म शक्तिसे थोप दिया गया है। भला, जब मानवके पास न उसकी इच्छा रही, न उसका धर्म रहा, तो वह किस प्रकार मानवताकी ओर बढ़ सकता है। इससे तो उसपर प्रतिकूल ही प्रभाव पड़ता है और उसकी आत्मा दासतामें इतनी लघु हो जाती है कि वह स्वयं भी परिस्थितिवश हिंसक और वन्य-पशुतुल्य हो जाता है और 'मानव-संज्ञा' जो हम उसे देते हैं, उससे च्युत हो जाता है।

लोकतन्त्रके आलोचकोंके आक्षेप होते हैं कि 'व्यवहारमें लोकतन्त्र सर्वथा असफल सिद्ध हुआ है; क्योंकि यह केवल संख्याको महत्त्व देकर खोपड़ियाँ गिनता है। वह भीड़का शासन है, विचारशील अल्पमतके ज्ञान तथा विवेकका यह तिरस्कार करता है। सामान्य मतदाता शासनकी बातोंमें अभिरुचि नहीं रखते। लोगोंको शक्ति तथा पैसोंसे वोट देनेके लिये विवश किया जाता है, चुनाव आदिमें देशका धन पानीकी तरह बहाया जाता है, शिक्षित लोगोंकी अल्पसंख्या होनेसे यह मूर्खोंका शासन है।' आदि-आदि।

परंतु यदि उपर्युक्त आलोचनाओंका हम मूल्याङ्कन करने बैठें, तो ये सब केवल व्यंग-चित्र-सी दिखायी देंगी। यदि हम पूछें कि 'भाई! इससे अच्छी शासन-पद्धति फिर कौन-सी हो सकती है?' तो उत्तर नकारात्मक मिलता है। वास्तवमें वर्तमान युग 'लोकतन्त्र' के प्रयोगका युग है, अतः इस समय उसकी आलोचनाओंसे कोई सुव्यवस्थित परिणाम नहीं निकल सकता, जैसा श्री ए० एल० लॉवेलने कहा है—'यह सर्वथा अनुचित है कि किसी व्यक्तिको व्यवहारकी कसौटीपर उस समय चढ़ाया जाय जब कि वह लड़ रहा हो, या नशेकी या उत्तेजित स्थितिमें हो। लोकतन्त्रकी जाँच हम इस प्रकार असाधारण परिस्थितियोंमें घटनेवाली घटनाओंकी पृष्ठभूमिपर नहीं कर सकते।'

यह कहना कि साधारण मानवकी शासन-कार्यमें अभिरुचि नहीं होती है, तो इसका उत्तर भी यह है कि कभी-कभी उनकी रुचि इस ओर बढ़ भी सकती है, जब कि अन्य शासन-पद्धतियोंमें तो इसके लिये कोई स्थान ही नहीं।

बात वास्तवमें यह है कि 'अशिक्षितता' सारे दुर्गुणोंकी मूल है। शिक्षाके प्रसारके द्वारा हम मानवोंमें अपने शासनके प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर सकते हैं। शिक्षासे समृद्ध जनता जब 'मूर्खोंके प्रतिनिधियों' को जन-आन्दोलनसे बाहर करने लगेगी, तब लोकतन्त्रके आलोचकोंके मुखसे ये बोल नहीं निकलेंगे। हम अशिक्षित हैं तो हमें अशिक्षाके परिणामोंकी ओर जनताका ध्यान आकर्षित करना चाहिये और उनकी आलोचना करनी चाहिये। हमारी अशिक्षा, अपनी कमजोरियों, एवं कुरीतियोंके समर्थनके लिये या स्वार्थमयी इच्छाओंकी पूर्तिके लिये यदि हम लोकतन्त्रकी आलोचना करें तो यह हमारा कुतर्क और असमयकी आलोचना ही गिनी जायगी।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययनसे यही निष्कर्ष निकलता

है कि मानवताके लिये लोकतन्त्रात्मक शासनप्रणाली जितनी लाभप्रद एवं मानवताकी शिक्षा देनेवाली है, उसकी समकक्षतामें अन्यान्य पद्धतियाँ नहीं। आज हमारे भारत एवं श्रीनेहरूकी ओर जो संसार टकटकी लगाये देख रहा है, वह इसीलिये कि हमारे देशने मानवताकी सिद्धिके लिये 'लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली' को अपनाया है। आज हमारा भारत केवल भारतवासियोंके कल्याणके लिये शुभ कामनाएँ अर्पित नहीं करता, वरं वह सम्पूर्ण मानवताका शुभाकाङ्क्षी है। अणु बमोंके उत्पादन एवं प्रयोगका विरोध जो आज हमारा भारत कर रहा है, वह इस लोकतन्त्रात्मक शासनप्रणालीकी ही शिक्षाका परिणाम है। आज भी संसारके शान्ति-सम्मेलनोंमें भारतका आवाहन शान्तिदूतके रूपमें किया जाता है। वह इसीलिये कि हम पञ्चशील-जैसे शान्तिदायक सिद्धान्तोंके जन्मदाता एवं पोषक तथा मानवताके सच्चे पुजारी हैं और वह इसलिये कि हम लोकतन्त्रके हामी हैं और विश्व-बन्धुत्वकी भावनाओं-को साकार देखनेके अभिलाषी हैं।

ईश्वर-कृपाका प्रत्यक्ष उदाहरण

(लेखक—श्रीचन्दासिंहजी राठौर)

(१)

संसारके महान् पुरुषोंमें आधुनिक संयुक्त राष्ट्र अमेरिका-के राष्ट्र-पिता महात्मा जार्ज वाशिंगटनका स्थान उच्चकोटिपर है। उनका सार्वजनिक जीवन जितना विशाल था, वैयक्तिक जीवन उतना ही विशुद्ध था। सार्वजनिक जीवन जितना सफल था, वैयक्तिक जीवन उतना ही त्यागमय था। गीताके निष्काम कर्मवादके वे साक्षात् उदाहरण थे। इसका मूल कारण यह था कि उनमें ईश्वरभक्ति और उनकी अनुकम्पा-पर विश्वास अटल था। उनमें यह गुण अपने माता-पितासे आया था। एक बार उनकी अवस्था बड़ी विपन्न थी। दो वर्षसे बराबर उनकी सेना पीछे हटती चली जा रही थी। देशके शासकवर्ग उनसे रुष्ट हो गये थे और सेनामें उपयुक्त मात्रामें खाद्य-सामग्री नहीं भेजते थे। सिपाही भूखों मर रहे थे। अमेरिकाके कठोर शीतमें उन्हें नंगे बदन रहना पड़ता था। इन कारणोंसे उनके अनुशासनकी भित्ति कुछ-कुछ हिल रही थी। महात्मा तथा श्रीमती वाशिंगटन केवल अपने सौजन्य तथा सौम्यताके सहारे उनको रोके हुए थे। ऐसे अवसरपर एक दिन उनके एक सहयोगीने प्रश्न किया, 'सेनापते! क्या हमलोग वास्तवमें हार जायँगे?'

उन्होंने उत्तर दिया, 'कभी नहीं।'

सहयोगीने आश्चर्यसे उनके मुखमण्डलकी तरफ देखा। उसमें विश्वासकी स्फूर्ति थी और थी दृढ़ताकी निश्चलता। उसने कहा, 'सेनापते! किस बलपर आपका इतना असम्भव विश्वास स्थित है?'

उन्होंने कहा, 'एक संत मेरे लिये निरन्तर प्रार्थना करता रहता है।' सहयोगीने और अधिक आश्चर्यसे उनकी ओर देखा। 'संत,' उसने पूछा, 'कौन-सा संत?' 'मेरी माता', वाशिंगटनने विश्वासकी उसी दृढ़ताके साथ उत्तर दिया।

(२)

वे बहुधा शिविरसे बाहर निकलकर घोर जंगलमें चले

जाते और घंटों भगवान्‌की प्रार्थना किया करते थे। ऐसे अवसरोंपर उनके कपोल प्रेमाश्रुधारासे आर्द्र हो जाया करते थे। उन्हीं दिनों, जब जर्सी प्रान्तमें उनके सैन्यदलकी अवस्था अत्यन्त दयनीय हो रही थी कि एक दिन एक सिपाही

पागलकी भाँति शिविरमें चिल्लाने लगा, 'हम कभी न हारेंगे, हम कभी न हारेंगे !' अन्य सिपाहियोंने उससे पूछा, 'तू कैसे कहता है कि हम कभी न हारेंगे ? हम तो बराबर हारते चले जा रहे हैं।'

उसने कहा, 'मैंने अपनी आँखोंसे देखा है ! सेनापति एकान्त जंगलमें प्रार्थना करते थे। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा चल रही थी !' ऐसी थी उनके विश्वासकी दृढ़ता और समाजपर उसका प्रभाव !

(३)

उनके जीवनमें भगवत्कृपाकी आश्चर्यमयी घटनाएँ घटित हुई हैं, जिनमें कुछ तो इतनी अप्रत्याशित हैं कि ईश्वरकृपाके अतिरिक्त उन्हें अन्य कुछ कहा ही नहीं जा सकता !

स्वातन्त्र्य-संग्रामके आरम्भिक कालमें एक बार जब उन्हें युद्धकी गतिविधिका इतना अनुभव न था, वे विकटरूपसे अंग्रेजोंके चंगुलमें फँस गये ! बोस्टनके विजयसे उनकी सेना उल्लसित थी। उन्होंने सोचा कि लगे हाथ न्यूयार्क भी ले लें ! अंग्रेजोंने कोई बाधा न डाली। एक ओरसे वाशिंगटनकी सेना न्यूयार्कमें प्रवेश करने लगी तो दूसरी ओरसे अंग्रेजी सेना भागने लगी। जब वाशिंगटनने नगरपर अधिकार कर लिया, तब देखा कि यह उनकी विजय नहीं, पूर्ण पराजय हुई है !

वास्तविक बात यह थी। न्यूयार्क महाद्वीपपर नहीं स्थित है। वह लम्बद्वीप नामक एक द्वीपपर बसा है। न्यूयार्क और महाद्वीपके बीचमें हडसनकी खाड़ीमें विस्तृत जलराशि है। अंग्रेजोंने इस खाड़ीमें अपनी विशाल नौवाहिनी खड़ी कर दी और इस प्रकार वाशिंगटनको ससैन्य बंदी बना लिया। संसारकी कोई शक्ति उन्हें इस कारागारसे मुक्त नहीं कर सकती थी ! परंतु भगवच्छक्तिके सम्मुख मानवी शक्ति कौन-सी वस्तु है। एकाएक लम्बद्वीपके चतुर्दिक् घोर निहार छा जाता है। समुद्रका जल जमकर पत्थर हो जाता है। ऐसी दशा तीन दिन बराबर रही, जबतक अमरीकी राष्ट्रिय सेनाका अन्तिम जवान लम्बद्वीपके बाहर न निकल गया।

(४)

ऐसी ही या इससे भी अधिक आश्चर्यजनक ईश्वरकृपाका उदाहरण उनके डेलवियाके विजयमें मिलता है। दो वर्षकी सतत पराजयोंके कारण उनकी सेनाका आत्मविश्वास बिल्कुल घट गया था। जनता उनसे क्षुब्ध और अधीर हो गयी थी। प्रबन्धकवर्गका उनके ऊपरसे विश्वास शिथिल हो चला था।

डेलवियर नदीके उत्तरी तटपर अंग्रेजी फौजकी छावनी थी। उस दिन १७७६ की २५ दिसम्बरको संध्या थी। वाशिंगटन एकटक किसी भावनामें डूबे हुए अस्ताचलगामी सूर्यकी ओर देख रहे थे। अंग्रेजी शिविरसे नाच-गानकी ध्वनि आ रही थी। उनकी सेनामें विनोद कहाँ ? वहाँ न खानेको भोजन था, न पहननेको वस्त्र और न लड़नेके लिये अस्त्र। किसीके पास बन्दूक थी तो गोली नहीं; गोली थी तो बन्दूक नहीं। बहुतोंके पास सिवा फावड़े या रम्मेके कुछ न था ! इसी भूखी, शीत-त्रस्त, निःशस्त्र सेनाके दो सहस्र जवानोंपर अमेरिकाकी ही नहीं—विश्वकी स्वतन्त्रता अन्तरालमें झूल रही थी।

'हे भगवन्', वाशिंगटनने कातर स्वरमें पुकारा, 'यदि आज रातको मैं नदी पार कर सकता तो अंग्रेजोंको विनोद-लीन पाता।' भगवान् इन्द्रने गर्जन करके भगवान् विष्णुकी स्वीकृतिकी सूचना दी। आज डेलवियर नदीने कुल्याका रूप धारण किया था। उसमें विशालकाय हिमखण्ड अजस्र वेगसे बह रहे थे। मनुष्य क्या लोहेकी नाव भी उसमें चकनाचूर हो जाती। धीरे-धीरे डेलवियरकी धारा मन्द पड़ने लगी ! हिमखण्ड स्थिर होने लगे। यह क्या ! आधी रात होते-होते डेलवियर महानदी एक विशाल सड़कके रूपमें परिवर्तित हो गयी !

२६ दिसम्बर सन् १७७६ के प्रभातमें स्वतन्त्रताके पुजारियोंने निरंकुशताकी ऊसर भूमिमें उस विजय-बीजका वपन किया, जो आज विश्व-स्वातन्त्र्यके विशाल वटके रूपमें सम्पूर्ण मानवताको अपनी छायाका सुख दे रहा है। उनका सम्पूर्ण जीवन इस प्रकारकी घटनाओंसे भरा है। तोपों और बन्दूकोंकी अजस्र बौछारमें विशाल अश्वपर आरूढ़ उनका छः फीट ऊँचा शरीर बराबर नाचता रहता था। परंतु जीवनभरमें उन्हें केवल एक गोली लगी थी, जिससे उनके सोनेकी जंजीरवाली घड़ी जंजीर कट जानेके कारण

खो गयी थी। उस घटनाके अस्सी वर्ष पश्चात् वह मिली और आज संयुक्त राष्ट्रके संग्रहालयकी शोभा बढ़ा रही है!

(५)

हमारे पुराणोंमें वर्णित थोड़ी-सी अति प्राकृतताको भी आजकल कपोल-कल्पित (गल्प) कह देनेका फैशन-सा हो गया है, परंतु विश्वके इतिहासमें आजसे केवल ४२ वर्ष पूर्व एक ऐसी घटना घटी, जिसके सम्मुख सारी पौराणिक कहानियाँ प्राकृतताके निकटतर चली आती हैं।

सन् १९१६ में साम्बरतटके युद्धमें जर्मन-सेनाने मित्रसेनाको इस भीषण रूपसे कुचल दिया कि ३६ मीलकी लम्बाईमें केवल दो सहस्र योद्धा बच सके। बची हुई फ्रांसीसी सेनाको निश्चय हो गया कि अब जर्मन-सेना धड़धड़ाती हुई पेरिसतक चली जायगी। साम्बर और पेरिसके बीचमें कोई भी मित्रसेना जर्मनोंका सामना करनेके लिये शेष न थी। अपनी मातृभूमिकी राजधानीकी इस अनाथ परिस्थितिकी कल्पनासे फ्रांसीसियोंका हृदय विदीर्ण होने लगा।

जब भगवान्‌को कोई कृपा प्रकट करनी होती है तो वे उस कृपाके आश्रयका मन स्वयं अपनी ओर खींच लेते हैं।

(६)

जो लोग यह कहते हैं कि केवल भगवान्‌का स्मरण करनेसे स्थूल प्रकृतिमें कैसे परिवर्तन हो जायगा, वे यह नहीं जानते कि परिवर्तनकी क्रिया तो बहुत पहलेसे ही प्रारम्भ हो चुकी रहती है। प्रार्थना तो केवल भक्तके हृदयमें भगवदिच्छाकी प्रत्यावृत्तिमात्र होती है। जब कभी भी विपत्तिकालमें भगवान्‌की अनुकम्पा प्राप्त करनेकी अभिलाषा मनमें उत्पन्न हो, तब जान लेना चाहिये कि भगवान्‌की तरफसे विपत्ति-निवारणकी योजना बन रही है। ज्यों-ज्यों उनकी योजना प्रौढ़ होती है, त्यों-त्यों हमारी श्रद्धा और विश्वास भी तीव्रतर होता चलता है। अतः विपत्तिनिवारण हमारी प्रार्थनाका फल नहीं होता, बल्कि हमारी प्रार्थना ही सफलताका चिह्न होती है।

फ्रांसीसी सेनापतिके हृदयमें उस अन्धकारके समय भगवत्-कृपाकी ओर आकर्षण उत्पन्न हुआ। वह अपनी समस्त सेनाके साथ अजस्र अश्रुधारा बहाते हुए अत्यन्त दीनताके साथ प्रार्थना करने लगा। 'हे महात्मा माइकेल! तुम फ्रांसके अधिष्ठाता संत हो! तुमने सदा इसकी रक्षा की है। आज इस निराश्रित अवस्थामें इसकी रक्षा करो!'

सेना अपना व्यूह भूल गयी। योद्धा अपना तन-मन-भोजन-विश्राम सभी कुछ भूल गये। रातभर वे रोते-रोते प्रार्थना करते रहे! प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्यकी आभामें पश्चिम दिशामें आकाश धूलिधूसरित दिखायी पड़ने लगा। प्रातःकालकी हैरण्य आभामें एक विशाल घुड़सवार वाहिनीके

शिरस्त्राणोंके शिखर चमचमाते हुए दिखायी पड़ने लगे। इस आती हुई सेनाको जर्मनोंने भी देखा और फ्रांसीसियोंने भी!

जर्मन सेनापतिका दिल दहल गया। उसने सोचा कि मित्रसेनाने पीछे हटकर केवल जाल किया है। उनकी वास्तविक सेना पीछेसे आ रही है। फ्रांसीसियोंने तो यही सोचा कि महात्मा माइकेल अपने सवारोंके साथ आ रहे हैं। तीन दिनके पश्चात् मित्रोंकी नयी कुमक आ गयी और जर्मन-सेना फिर कभी भी साम्बर नदी पार न कर सकी।

इस घटनाको कोई पौराणिक गप्प नहीं कह सकता। इसके प्रत्यक्ष द्रष्टा अभी लाखोंकी संख्यामें जीवित हैं।

सब ईश्वरकी आँखोंके सामने !

मनुष्य ईश्वरकी सत्ता मान ले और यह समझ ले कि ईश्वर सर्वव्यापी, अन्तर्यामी है तो वह कभी छिपकर पाप नहीं कर सकता। मनमें भी पापकी भावना नहीं ला सकता, पर वह तो मानता है कि यहाँ कौन देखता है; किसको पता है कि मैं क्या कर रहा हूँ। बस, कानूनमें न फँसा, या कानूनमें फाँसनेवालोंको कौशलसे, कीमतसे फँसा लिया, तो फिर क्या डर है! चोर, डकैत, ठग, हत्यारे, व्यभिचारी, मिलावट करनेवाले, भ्रष्टाचारी, रिश्वतखोर—सब यही समझते हैं। पर ईश्वरकी आँख ऐसी विलक्षण है कि वह सदा, सर्वत्र सबके गुप्त-से-गुप्त कार्योंको देखती रहती है। ऐसा कोई है ही नहीं, जो उनकी सर्वत्र स्थित आँखोंसे बचकर कहीं कुछ भी कर सके। वे प्रत्येक जीवकी प्रत्येक शारीरिक या मानसिक क्रियाको, चेष्टाको, विचारको सतत देखती रहती है और ईश्वर उसके कर्मानुसार फलदानकी सदा व्यवस्था करता रहता है।

सब जग छाया, सदा समाया, नहीं कभी कुछ कहता है।
पर, बाहर-भीतर सब कुछको सदा देखता रहता है॥
उसकी आँखें नहीं देखतीं ऐसा कोई काम नहीं।
जब न जहाँ हो, जगमें ऐसा कोई वक्त मुकाम नहीं॥

परंतु ऐसा असुर-मानव कहता है—

आज मिला यह मुझको कल वह मेरा पूरा होगा काम।
यह धन मेरा है, फिर वह भी मेरा ही होगा धन धाम॥
इस रिपुको है मारा मैंने, कल लूँगा औरोंके प्रान।
मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगी, मैं ही सिद्ध सुखी बलवान॥
बुद्धिकुशल जन-नेता मैं हूँ, मेरे सदृश कौन स्वच्छन्द।

× × × × ×

इस चित्रमें देखिये—कोई हत्या कर रहा है, कोई डाका डाल रहा है, कोई व्यभिचार कर रहे हैं, कोई सेंध लगा रहा है, कोई रिश्वत ले-दे रहे हैं, कोई असलमें नकल चीजोंकी मिलावट कर रहे हैं और कोई हिंसा कर रहे हैं। सब अपने-अपने कार्यमें संलग्न हैं, मानो उन्हें कोई देख ही नहीं रहा है; परंतु ईश्वरकी आँखें सदा सावधानीसे सब ओरसे सबके सब कामोंको सदा देख रही हैं।

सब पाप भगवान्की आँखोंके सामने
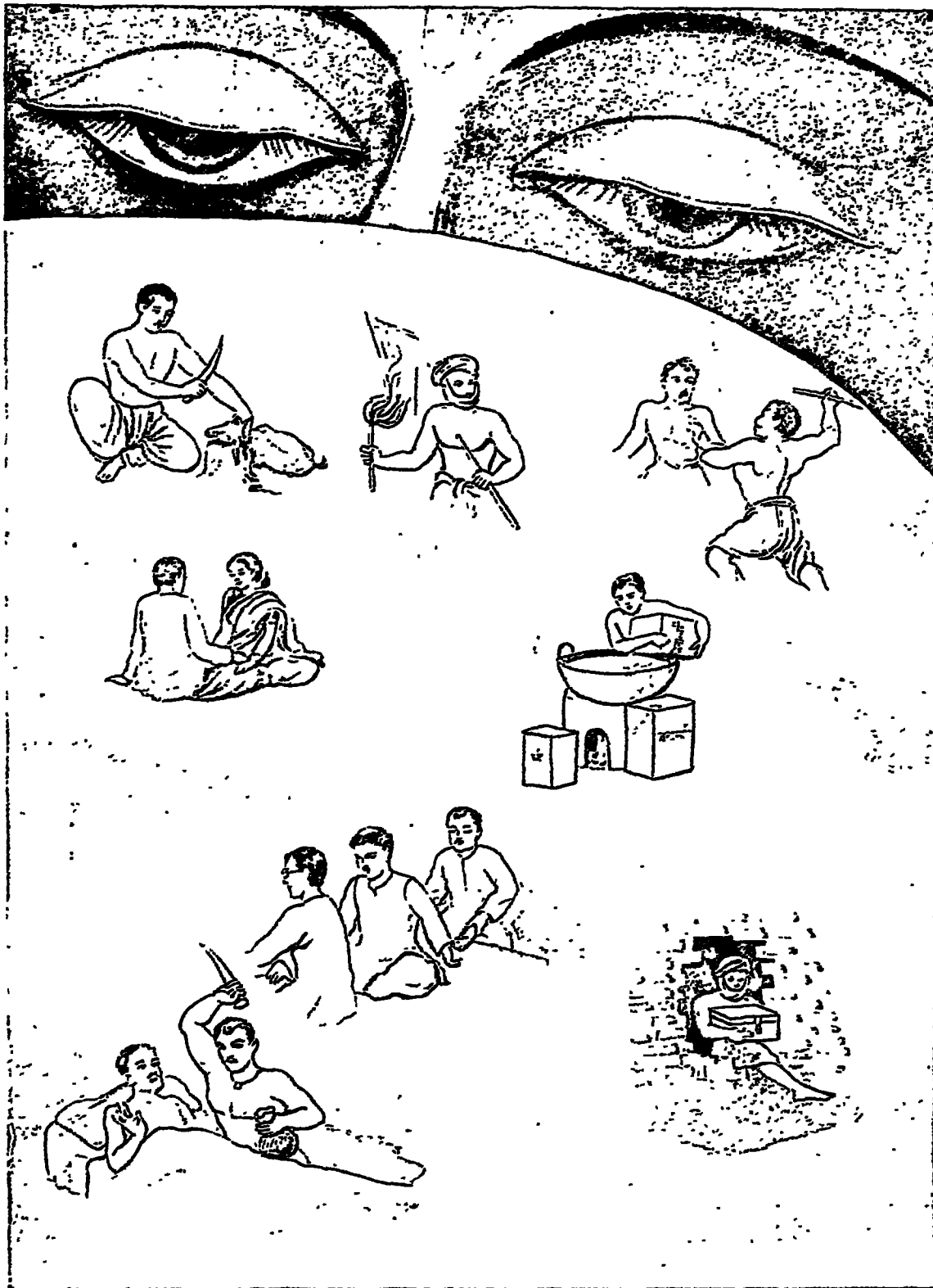
पापका परिणाम

पशुयोनि — वीमारी

दरिद्रता — नरक-यन्त्रणा

पापका परिणाम

पशु-योनि

वैसे ही पशुयोनि प्राप्त हुई—रजोगुण-तमोगुण-प्रधान पशुयोनि। क्षुधासे व्याकुल, आहारके लिये सतत चिन्तित, प्राण-रक्षाके लिये सदा सशङ्क पशु-पक्षी और यह भी तब जब जंगलका स्वतन्त्र जीवन प्राप्त हो जाय। कितनोंको यह सौभाग्य मिलता था ?

पालित पशु—सम्पूर्ण पराधीन जीवन और आपने देखा है सर्वाङ्ग गलित श्वानका शरीर ? क्षीण देह, जर्जर, हाँफते, निकलेसे पड़ते नेत्र और भारी भारसे लदी बैल या भैंसागाड़ीमें जुते बैल या भैंसे, दुपहरकी भीषण धूप, कहीं छाया-पानी नहीं, विश्राम नहीं, ऊपरसे पड़ती सड़ासड़ लाठियाँ। 'भजन विनु बैल विराने ह्वैहो।'

भारसे लदा दुर्बल टट्टू, खच्चर या गधा—चला जाता नहीं, पीठपर घावसे रक्त आता है, मुखसे फेन गिरता है और चलना है—डंडे पड़ते हैं ऊपरसे।

मनुष्य! यह तू है। तेरी यह दुर्गति है। तेरे पाप-कर्मोंने तुझे यहाँ पशुयोनिमें पटककर यह दुःख दिया है! यदि तू सम्हलता नहीं—कल तू होगा इसी स्थानपर।

नरक-यन्त्रणा

शरीर टुकड़े-टुकड़े काटा जाता है; अग्निमें या खौलते कड़ाहेमें भूना जाता है; किंतु न मूर्छा और न मृत्यु। देहके कटनेकी, भस्म होनेकी वेदना होती है— होती रहती है सहस्र-सहस्र वर्ष; किंतु नरकका देह तो 'यातना-देह' है—वह कटकर भी कटता नहीं। जलकर भी जलता नहीं। वह तो वेदनाके असीम भोगके लिये ही है।

पृथ्वीपर किसी देहमें एक सीमातक कष्ट मिलनेपर मृत्यु हो जाती है; किंतु पाप दारुण हों—दीर्घ-कालतक दण्डकी वेदना भोगनेके लिये ही तो यमलोक—नरककी स्थिति है।

हिंस्र पशु नोचते हैं, पर्वतसे गिराया जाता है—सर्वाङ्ग कपड़ेके समान सिया जाता है—सहस्र-सहस्र वर्ष यातनाका यह क्रम अविश्राम चलता है। क्रन्दन-चीत्कार-दारुण वेदना—नरकमें और क्या होगा!

पापमें प्रवृत्त मानव! क्या कर रहा है तू ? अपनेको नरकसे बचाना है तो पापके पथसे दूर रहना है तुझे।

रोग

इस लोकमें ही क्या कम दुःख हैं। ये रोग—ओषधियों-के अपार आविष्कार भी इन्हें रोक लेंगे ? मनुष्यके पापका परिणाम दुःख—पापका पथ मनुष्य जबतक न छोड़ दे—उसके बीज उत्पन्न तो होंगे ही।

यह हैजा और प्लेग, यह क्षय और कुष्ठ, महामारियोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। बेरी-बेरी, मस्तिष्क-शोथ, गर्दनतोड़ ज्वर, पीला बुखार, कैंसर—नये-नये रोग उत्पन्न होते जा रहे हैं। मनुष्य जब पापके नये-नये ढंग पकड़ता जा रहा है—पापकी वृद्धि होगी तो रोगकी वृद्धिको कौन रोक लेगा ?

ज्वर, खुजली, बवासीर, दमा, हनुस्तम्भ, धनुष्टंकार, नहरुआ और फोड़े—परम्परागत रोगोंकी संख्या ही कहाँ कम है। कौन-सा अङ्ग है जो रुग्ण न होता हो और रोग कोई हो पीड़ा तो वह देता ही है। मनुष्यके पापकर्मोंके फल हैं ये रोग। सुख चाहिये तो सत्कर्ममें लगना ही एक-मात्र मार्ग है।

दारिद्र्य

सब रोगोंका महारोग निर्धनता। प्राणप्रिय शिशु मरणा-सन्न है और ओषधिको दाम नहीं। घरमें कई-कई दिनका उपवास; किंतु भोजन कहाँसे आये—काम नहीं मिलता कहीं।

शरीरपर वस्त्र नहीं, पेटमें अन्न नहीं, रहनेको—सिर छिपानेको फूसकी भी छाया नहीं—दरिद्रताका अभिशाप। 'नहिं दरिद्रसम दुख जग माहीं' और यह बार-बार अकाल—अतिवृष्टि-अनावृष्टि, बाढ़ तथा टिड्डियाँ—पशुओं तथा पौधोंके रोग—दरिद्रता बढ़ती जा रही है, बेकारी बढ़ रही है। सरकारके सब प्रयत्नोंके होते बढ़ रही है यह विपत्ति!

पाप बढ़ रहा है। असंतोष बढ़ रहा है। असंयम बढ़ रहा है। तब सुख, शान्ति, समृद्धि तो बढ़ नहीं सकती। पापकी वृद्धिके साथ तो दुःख, रोग, दरिद्रता ही बढ़ेंगे।

मानवताका आदर्श

(लेखक—श्रीमहावीरप्रसादजी 'प्रेमी')

मानव-संस्कृति, सभ्यता और प्रगतिका इतिहास हमें यह बतलाता है कि पारस्परिक सहयोगकी भावनाके बिल्कुल साथ-साथ एक और भावना भी प्रायः मानवमें रही है। आज भी वह विद्यमान है और ऐसा लगता है कि जब-तक मानव-मानवके बीच भेद-भाव और अविश्वास बना रहेगा, तबतक किसी-न-किसी रूपमें वह भविष्यमें भी रहेगी। यह दूसरी भावना सहयोगके विपरीत असहयोग और युद्धकी या संघर्षकी भावना है। तो फिर मानवमें वस्तुतः सहयोग तथा संघर्ष, शान्ति और युद्ध एवं सामाजिक और असामाजिक दोनों ही भाव देखनेको मिलते हैं; परंतु इसपर भी हम मानवको एक सामाजिक प्राणी ही कहते हैं। ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि मानवकी मानवता उसके सहयोग, शान्ति और प्रेमभावमें ही संनिहित है। जिस सीमातक मानवमें इन भावोंका अभाव है और विपरीत भावोंका प्रभाव है, उस सीमातक उसमें मानवताके तत्त्वकी कमी और पशुताके तत्त्वका अस्तित्व है। अभी मानवमें मानवताका विकास नहीं हुआ। पशुसे वह अवश्य भिन्न एवं अधिक विकसित प्राणी है, किंतु मानवके विकास-की चरम सीमापर वह नहीं पहुँच पाया है। वह मार्ग अभी उसे तय करना है और उस मार्गकी दिशा है—यथार्थ मानवता, अहिंसा, सत्य और प्रेमपर आधारित सह-अस्तित्व या सहयोग और शान्तिकी भावना या सामाजिकता। और यतः मानव और उसकी सभ्यताकी प्रगति इसीमें है कि वह असहयोगसे सहयोग, युद्धसे शान्ति और असामाजिकतासे सामाजिकताकी ओर उत्तरोत्तर विकास करे, इसीलिये उसे सामाजिक प्राणी कहा गया है।

मानवको जीवन, समाज और शेष सृष्टिके प्रति न्यायो-चित दृष्टिकोण देनेमें सबसे बड़ा साधन सुशिक्षा ही है। समुचित शिक्षाके बिना जीवन एकाङ्गी, अपूर्ण, असंस्कृत रह जाता है। मानव अपनी विशेष शक्तियों, भावनाओंका, विकासकी सम्भावनाओंका ज्ञान सत्-शिक्षासे ही प्राप्त कर सकता है। इसके लिये वर्तमान शिक्षा-प्रणालीसे भिन्न कोई विशिष्ट प्रणाली अपनानी होगी तथा शिक्षाके कुछ निर्दिष्ट विषय होंगे। इन शिक्षण-संस्थाओंमें और सार्वजनिक समारोहोंमें सभी प्रकारके विभेदों, साम्प्रदायिकता और प्रादेशिक संकीर्णताको मिटाकर परस्पर सहयोग, भाईचारे, परस्पर सहानु-भूति एवं केवल एक ही मानवधर्म, विश्वधर्म और एक ही *मानववादका प्रचार-प्रसार करना होगा।* यदि हम चाहते हैं कि मानवकी शिक्षा और ज्ञान-विज्ञानका समाजके हितमें उपयोग हो तो हमें अपनी शिक्षा और ज्ञान-विज्ञानसे प्राप्त योग्यता या शक्तिपर सच्चे हृदयसे उत्पन्न होनेवाले *आत्म-संयमका अनुशासन तथा नियन्त्रण कायम करना* होगा। तभी हमारी शक्ति हमारे कल्याणका कारण बन सकेगी, *अन्यथा*—जैसा कि हमारे समाजका ढाँचा आज विकृत हो रहा है—वह हमारे विनाशका कारण होगी। इसलिये मानव और उसकी सभ्यता-संस्कृति या प्रगति-की सही दिशा वह नहीं है, जिसमें आज हम रह रहे हैं। हमारी प्रगतिकी सही दिशा यह है कि हम जीवन-का लक्ष्य आवश्यकताओंको बढ़ाने, उनको पूरा करनेके लिये प्रपञ्च-माया फैलाने, उनसे उत्पन्न जीवनकी पेचीद-गियों और संघर्षको बढ़ाने और फिर उसे रोकनेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंमें न देखें। मानवके मानसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंके सर्वोच्च विकासकी वह स्थिति है, जहाँ 'बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥' या *'वसुधैव कुटुम्बकम्'* के *साथ ही सुख, शान्ति और प्रेमका* उदय हो अथवा यों कहें कि 'सत्-चित्-आनन्द (सच्चिदा-नन्द)' की अनुभूति हो—यही हमारी प्रगतिकी सही दिशा है।

नैतिक विकास, मानसिक दृष्टिकोणमें परिवर्तन या आध्यात्मिक उन्नतिका अर्थ क्या है ? संक्षेपमें नैतिक विकास या आध्यात्मिक उन्नतिका अर्थ है—'मानवता' को एकता-का अनुभव। अर्थात् जिस तरह हमारे कुटुम्बमें एकको दुःख होनेसे हमें भी दुःख होता है, एकको सुख होनेसे हमें भी सुख होता है, उसी प्रकार मानव-समाजमें किसीको भी दुःख हो तो हमें भी दुःख हो, किसीको सुख हो तो हमें भी सुख हो। आजकल हमारी भावना एक परिवार-के अंदर ही सीमित है; पर उसकी सीमा परिवार न हो, समाज हो। इस एकताकी भावनाके विकासको ही हम नैतिक विकास या आध्यात्मिक उन्नति कहते हैं। इस एकता-की आवश्यकताका जब समस्त देशोंके लोग अनुभव करेंगे, तभी मानव-समाजमें राजनीतिक और आर्थिक शोषण-

का अन्त होगा। तभी लोग परिश्रमके महत्त्वको समझेंगे। तभी सुप्त मानवकी चेतना जगेगी अथवा यथार्थ जागृति उत्पन्न होगी और अन्याय एवं अत्याचारका सर्वथा अन्त होगा।

यही एकताकी भावना, जिसे हम आध्यात्मिक उन्नति कहते हैं, विश्व-संस्कृति या विश्वकी एकताकी ओर ले जायगी। तब किसी भी संस्कृतिके ऊँचे आदर्श और विचार समस्त 'मानवताके आदर्श' और विचार होंगे। विश्व-संस्कृतिका अर्थ है—संस्कृतिके ऐसे राजनीतिक आदर्श, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक आदर्श, जिनसे मानवताका जीवन सुखमय हो, विश्वमें शान्तिकी स्थापना हो, उन्हींको हम 'विश्व-संस्कृति' कहते हैं। शान्तिकी स्थापनाके लिये हमें सर्वप्रथम अपने आपमें सुधार लाना होगा, अपने विचारोंमें कुछ परिवर्तन करना होगा, अपने हृदयको सहानुभूतिपूर्ण, निर्मल, संतुलित, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल बनाना होगा। तभी हम धनलोलुपता, शोषण, भ्रष्टाचार, भौतिकवाद एवं उपनिवेशवाद-जैसे पैशाचिक विचारोंका अन्त कर सकेंगे।

निःशस्त्रीकरण शान्ति-स्थापनाके लिये आवश्यक है, उससे भी आवश्यक है नैतिक पुनःशस्त्रीकरण (नैतिकताको अपनाना)। इसके लिये मौखिक उपदेश ही पर्याप्त नहीं हो सकता, राष्ट्रके कर्णधारोंको अपने आचरणसे ऐसा उदाहरण लोगोंके सम्मुख प्रस्तुत करना होगा। ऐसा होनेसे निःशस्त्रीकरण आप-से-आप हो जायगा। सम्राट् अशोक—देश-विदेशकी विजय करनेवाला, अपनी तलवारके जोरपर बृहत्तर भारतको थर्रानेवाला अशोक आप-से-आप ही धर्मप्रतापी एवं प्रियदर्शी अशोक हो गया था, जिस क्षण उसने नैतिक बल प्राप्त किया।

आज आइंसटीन और रसेल-जैसे बड़े विचारकोंने हमारे सम्मुख दो विकल्प रखे हैं—एक सह-अस्तित्व और दूसरा अनस्तित्व। यह हमपर निर्भर करता है कि हम दोनोंमेंसे किसे अपनाना चाहते हैं। इन दो विकल्पोंके लिये दो अलग-अलग मार्ग हैं—'बुद्धं शरणं गच्छामि' और 'युद्धं शरणं गच्छामि।' निश्चय ही हम प्रथम विकल्पको अपनाना चाहेंगे और उसके लिये हमें पहला रास्ता ही अपनाना होगा; क्योंकि यही यथार्थमें 'मानवता'के आदर्शके अनुकूल, शान्तिका पथ और युग-धर्मकी माँग है।

सबको प्यार करो !

त्याग, दया, ममतासे पावन यह संसार करो।
　　सबको प्यार करो !!

बंधनमें उलझे अलियोंसे,
शूलोंपर हँसती कलियोंसे,
गंधभरी स्वप्निल गलियोंसे,

प्रकृति-नटीके प्रति निज मनमें मंजुल भाव भरो।
　　सबको प्यार करो !!

मानवके चिर पीड़ित मनको,
तनको, यौवनको, जीवनको,
जगकी व्यापकता, जन-जनको,

अपने विविध स्वरूप समझ कर अंगीकार करो !
　　सबको प्यार करो !!

उसको जो पगमें गति देता,
वर देता शापोंको लेता,
मूक भाग्यकी नौका खेता,

उसके चरणोंपर श्रद्धाके मनहर सुमन धरो !
　　सबको प्यार करो !!

—विद्यावती मिश्र

मानवतामें लोकतन्त्र और भारतीय राजतन्त्र

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भारतीय ज्योतिष-सिद्धान्तके अनुसार यह सृष्टि प्रायः दो अरब वर्ष पूर्व हुई थी। यों तो भारतीय सिद्धान्तानुसार सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतुकी तरह कल्प भी आते-जाते हैं और उस कल्पको भी सृष्टिकर्ता ब्रह्माका एक दिन माना जाता है। इस तरह तीस कल्प उनके तीस दिन (एक मास) ही हैं। इस विशाल कालकी परम्परामें भारतमें कभी लोकतन्त्र न आया हो, ऐसी बात नहीं हो सकती। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवालने अपनी पुस्तक 'Hindu Polity, (हिंदू-राजतन्त्र)में बड़े समारोहसे सिद्ध किया है कि पहले भारतमें लोकतन्त्रकी प्रथा थी। उनके मतानुसार गौतमबुद्धने बौद्धसंघके संघटनमें उसीका अनुसरण किया था। डॉक्टर भांडारकरने भी ऐसा ही माना है। सं० १६९९ की 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की एक हस्तलिखित प्रतिमें विक्रमादित्यको भी 'गणशतपरिवर्तैः' आदि श्लोकसे गणराष्ट्रका अध्यक्ष माना है '(कालिदास-ग्रन्थावली, भाग ३, पृष्ठ ११)। कुलतन्त्र, गणतन्त्र आदिका कौटल्यने भी अपने अर्थशास्त्रमें वर्णन किया है। डॉक्टर जायसवालने तो कौटल्यके तथा कतिपय वैदिक उद्धरणोंसे यहाँतक सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन भारतमें आज-जैसी लोकसभा तथा राज्यसभाएँ भी थीं। महाभारत-शान्तिपर्वमें भी गणतन्त्र, लोकतन्त्र आदिका उल्लेख है। शान्तिपर्व १७४। ४ में 'यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रम्' यह वचन स्पष्ट रूपसे आया है। महाभारत, वनपर्व (१५९। १ कुम्भकोणम् संस्करण)में भी लोकतन्त्रका उल्लेख है। पातञ्जल महाभाष्य (७। ३। ४५), 'जैन अनुयोगद्वारसूत्र', 'वात्स्यायनकामसूत्र' (१। २। २८), 'षड्दर्शनसमुच्चय', 'यशस्तिलकचम्पू' आदि ग्रन्थोंमें 'लोकायत' नामके एक मतका ही उल्लेख है। पण्डित गणपति शास्त्रीने कौटलीय अर्थशास्त्रके 'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी' (१। २।१०) इस सूत्रके 'लोकायत' शब्दकी टीकामें लिखा है—'ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतं लोकायतशास्त्रम्'। 'कल्याण' हिंदूसंस्कृति-अङ्कके 'आर्य-वाङ्मय' शीर्षक लेखमें श्रीभगवद्दत्तजी वेदालंकारने इस 'लोकायत-शास्त्र'पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है —'प्रतीत होता है कि यह लोकायत-शास्त्र शुद्ध राजनीति-विषयक शास्त्र था। —रकालमें यह नास्तिक-शास्त्र कहा जाने लगा।'

कुछ लोग 'महाभारत'के—

'न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥'
(शान्ति० ५९। १४)

—इस वचन तथा—

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः॥
(भागवत ११। १७। १०)

—आदि वचनोंसे वर्गहीन लोकतन्त्रकी स्थिति समझते हैं। पर जो हो, यह बहुत दिनतक चल नहीं सका। महाभारतमें स्थान-स्थानपर कुलतन्त्र तथा गणतन्त्र आदिकी कमजोरियाँ दिखलायी गयी हैं[1]। कौटल्यने भी इनके दोष दिखाये हैं[2]। मनुने तो इनका अन्न खाना भी पाप बतलाया है[3]।

मद्रास-प्रान्तके उत्तर मल्लूर ग्राममें एक शिलालेख मिला है, जिसमें ग्राम-सभाओंके निर्वाचनकी भी विधि बतलायी गयी है। उसके आधारपर कहा जाता है कि प्राचीन कालमें भारतमें आधुनिक ढंगकी निर्वाचन-प्रथा भी थी। ('सिद्धान्त' वर्ष ८। ३९)। बौद्ध संघोंमें भी मत देनेकी प्रथाका उल्लेख आया है। उनका विवरण बौद्ध-ग्रन्थोंमें मिलता है। उन दिनों मत देनेको छन्द कहते थे। जिस टिकटपर यह मत दिया जाता था, उसे शलाका कहा जाता था। इन्हें एक पेटीमें रखा जाता था। उन्हें कोई योग्य निष्पक्ष भिक्षु उठाता था (हिंदू-राजतन्त्र)। किंतु समय तथा धनके अपव्यय एवं बौद्धिक योग्यताके अनादरके कारण तथा अन्य कई दोषोंके कारण यह भी बहुत आकर्षक न बन सका और बुद्धिमानोंने इसकी भी उपेक्षा कर दी।

इतना ही नहीं, लोकतन्त्रकी आधुनिक राजनीतिज्ञोंने भी कटु आलोचना की है। संयुक्तराष्ट्र, अमेरिकाके राष्ट्रपति लिंकनने लोकतन्त्रकी परिभाषा की थी—'जनताके लिये जनताके द्वारा जनताका शासन'। पर प्रसिद्ध राजनीतिज्ञोंने

---

१. गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप॥
—इत्यादि (शान्तिपर्व १०७। १० से ३२ तक)

२. कौटलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण० १ अध्याय ११।

३. गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम्।
(मनु० ४। २०९)

'जनताद्वारा' शासनको सर्वथा व्यवहारसे परेकी बात बतलायी। 'स्फियर' नामक लंदनके प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रके ७ अप्रेल १९४५के अङ्कमें श्रीजॉन गोरने लिखा था कि "लोकतन्त्र राजनीतिज्ञों तथा नेताओंकी जबानपर सदा ही रहता है, पर बहुत दिनोंसे सचेष्ट रहकर भी मैं इसे नहीं समझ सका। ब्रिटेनके प्रतिनिधि-शासनमें भी 'जनताद्वारा शासन' सम्भव नहीं हो सका। 'प्रतिनिधि-शासन' तो एक चाल है, जिसके द्वारा चार करोड़ जनताका शासन कुछ व्यक्तियोंके हाथमें सौंप दिया जाता है। वास्तवमें सभी शासन थोड़ेसे ही व्यक्तियोंद्वारा होते हैं। किसी बातपर विचार करनेके लिये बीस आदमियोंको एक कमरेमें बैठा दीजिये, घंटे भर बाद ही उसमें दो या एक आदमी अग्रणी बन जायगा।"'चुनावोंमें निर्वाचकोंसे मत माँगा जाता है, सभाएँ होती हैं, विज्ञापन छपते हैं, नोटिसें बँटती हैं; परंतु निर्वाचककी इच्छा कुल दो-तीन उम्मेदवारोंतक ही, जिनके नाम उसके सामने रखे जाते हैं, सीमित रहती है। प्रायः उनमेंसे किसीसे भी उसका मत नहीं मिलता, पर विवश होकर उन्हींमेंसे किसी एकको उसे अपना प्रतिनिधि चुनना पड़ता है।'.....'हमारे राजनीतिक विकासमें अभी वह समय नहीं आया, जब लोकतन्त्र व्यवहारमें सफल हो सके। वह समय कभी आयेगा, इसमें भी संदेह है; क्योंकि जबतक मनुष्य शिक्षा तथा विकासद्वारा देव न बन जाय और वैज्ञानिक कोई ऐसी युक्ति न निकाल लें, जिसके द्वारा वर्तमान प्रतिनिधि-शासन-यन्त्रकी गति अति तीव्र हो सके, इसमें सफलताकी तनिक भी सम्भावना नहीं है। हमें छलछद्म छोड़कर सत्यको स्वीकार करना चाहिये। 'लोकतन्त्र' शब्दको त्यागकर हमें इस बातका प्रयत्न करना चाहिये कि शासन योग्यतम व्यक्तियोंके हाथमें रहे। लोकतन्त्र कहे जानेवाले राष्ट्रोंमें ब्रिटेन सबसे अधिक दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंक रहा है। शासन केवल इने-गिने लोगोंका ही है, पर डींग हाँकी जाती है 'लोकतन्त्र' की। निस्संदेह यह सर्वसाधारणको धोखा देना है।" यह अनुभव है, वहाँके एक विचारशील विद्वान्‌का, जहाँ दीर्घकालसे 'लोकतन्त्र' का प्रयोग चल रहा है।

कहते हैं कि 'लोकतन्त्र' को सबसे अधिक उत्तेजना देनेवाला फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो (Rousseau) हुआ है। पर उसने भी इसके दोषोंको छिपाया नहीं। उसने १७६२ में एक पुस्तक लिखी 'सोशल कन्ट्रैक्ट' (Social Contract)। उसमें वह लिखता है 'सच्चा लोकतन्त्र न तो कभी रहा है और न होगा। थोड़ेपर बहुत-से लोग शासन करें, यह सर्वथा असम्भव है; यह तो मनुष्य-स्वभावके ही प्रतिकूल है।' वही एक दूसरी जगह लिखता है कि 'ब्रिटेनकी प्रजा केवल निर्वाचन-कालमें ही स्वतन्त्र होती है, बादमें तो वह दास ही बन जाती है।' ब्रिटेनके भूतपूर्व प्रधान सचिव लायड जार्जने भी अपनी पुस्तक 'युद्धकी स्मृतियाँ' (War Memories) के तीसरे जिल्दमें लिखा है कि 'शासन 'डिक्टेट' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि ऐसा नहीं तो वह शासन ही नहीं है—जितने आदमी उतने ही दिमाग, जितने दिमाग उतनी ही बातें, जितनी बतकही उतनी ही गड़बड़ और जितनी गड़बड़ उतनी ही देर।'

एक दूसरे निष्पक्ष विद्वान्‌का कहना है कि "वस्तुतः 'जनतन्त्र' शब्द केवल जनताको धोखा देनेके लिये गढ़ा गया है। व्यवहारतः कोई एक दल या एक व्यक्ति ही, जो अपनेको जनताका प्रतिनिधि बतलाता है, शासन करता है।...... समानताका अर्थ है—'सब धान बाइस पसेरी'। इसके अनुसार एक महामहोपाध्याय, महातार्किक एवं एक महामूर्खके मतका एक ही मूल्य है। इस तरहकी समानता हो जानेपर जिस ओर बहुमत हो, वही ठीक है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक हजार मूर्खोंके मतके सामने पाँच बुद्धिमानोंके मतका कोई महत्त्व नहीं। यह कितना भयंकर सिद्धान्त है!" (सिद्धान्त वर्ष ७, अङ्क ४८)।

सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६—७३), स्वतन्त्रताका इतना बड़ा भक्त था कि सनकियोंको भी स्वतन्त्रता देना चाहता था। पर वह भी अपनी पुस्तक स्वतन्त्रता (Liberty) में लिखता है कि 'निर्वाचनमें सबको समानाधिकार नहीं मिलना चाहिये। मूर्खके मतसे विद्वान्‌के मतका मूल्य अधिक है, अतः एक पूर्ण शिक्षितको कम-से-कम चार, उससे कम शिक्षितको तीन, उससे कमको दो और अत्यन्त साधारण पठितको एक मत प्रदान करनेका अधिकार होना चाहिये। काशी हिंदू विश्वविद्यालयके राजनीतिके अध्यापक डाक्टर गणेशप्रसाद उनियाल, जिनकी स्वर्गीय नरेन्द्रदेवजीने भी बड़ी प्रशंसा की है, अपनी पुस्तक 'राजनीतिक विचारधारा' के पृष्ठ ४३३ पर लिखते हैं कि 'आधुनिक जनतन्त्रमें कई दल निर्वाचनमें कभी-कभी रुपया पानीकी तरह बहाते हैं। राजनीतिक दृष्टिसे पिछड़ी हुई जनताको कई प्रकारके प्रलोभन दिये जाते हैं। स्वभावतः यह प्रथा स्वतन्त्र निर्वाचन एवं जनतन्त्रके लिये घातक है। कुछ देशोंमें सरकारद्वारा निर्वाचन-व्यय तथा प्रचारपर नियन्त्रण रखा जाता है, पर यह

नियन्त्रण विशेष सफल नहीं प्रतीत होता ।' 'ऐसी परिस्थिति-में प्रतिनिधि-शासन सारहीन ही नहीं, वरं कभी-कभी अयोग्य व्यक्तियोंका सम्प्रदाय बन जाता है ।' (वही पृ० ४४२)। पर ये सब तो साधारण बातें हुईं। लोकतन्त्रमें जो सबसे बड़ा भयंकर दोष है, वह यह है कि कोई भी सुयोग्य सज्जन स्वयं चुनावके लिये खड़ा ही नहीं हो सकता; वह अपने मुँह अपनी प्रशंसा करे और स्वयं अपने लिये वोट माँगे तथा दूसरोंकी निन्दा करे, यह सम्भव नहीं।* जहाँ-तक सम्भव होता है, ऐसे लोग इन सभी पचड़ों, छल-प्रपञ्चों-से अलग ही रहना चाहते हैं। अधिकांश तो धूर्त तथा स्वार्थी ही अपना उल्लू सीधा करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और अपनी धूर्तता, ऊपरी विनय, कूटनीति, घूस आदिके द्वारा वे सफल भी होते देखे जाते हैं। कुछ न हुआ तो कुछ कालके लिये तो वे अपनी धाक जमा ही लेते हैं, अपना काम बना ही लेते हैं। ऐसी दशामें अत्यन्त स्पष्ट बात तो यह है कि लोकतन्त्र सज्जनोंका शासन कदापि नहीं रह जाता। सच्ची बात तो यह है कि इसमें भले लोगोंकी दुर्दशा ही होती है, वैसे उनका भाग्य।

ये सब लोकतन्त्रके ऐसे भयानक दोष हैं, जिनमें सुधारकी गुंजाइश नहीं। इसके अतिरिक्त भी इसमें बहुत-से भयानक दोष हैं। श्रीभगवद्दत्तजीने लोकायत-राजनीतिज्ञोंको नास्तिक होनेका जो अनुमान लगाया है, वह गलत नहीं है। अपने यहाँ बृहस्पति या चार्वाक नामके व्यक्तिको नास्तिकाचार्य बतलाया गया है। 'अर्थशास्त्र' उनके नामपर ही कोई ग्रन्थ था, जो 'बृहस्पतेरर्थाधिकारिकम्' (कामसूत्र) 'बार्हस्पत्यार्थशास्त्र' आदिके नामसे प्रसिद्ध है। जनतन्त्रमें वस्तुतः 'ईश्वरीय' वस्तु कोई नहीं रह जाती। मनुष्य-स्वभावकी यह दुर्बलता है कि वह प्रायः नयी वस्तु होने मात्रसे ही कभी-कभी अवाञ्छनीय तत्त्वोंका भी खूब स्वागत करने लगता है और पुरानी भली चीजका भी परित्याग कर देता है। इसी तरह चाहे जितना भी स्वागत किया जाय, पर अराजकता है, बड़े होने और फूलने-फलनेपर इसके फल कितने विषमय होंगे—यह विचारनेकी बात है।

जैसे किसी दर्जी, धोबीका काम भी बिना शिक्षा प्राप्त किये और बिना अनुभव किये अच्छेसे अच्छा डाक्टर या वकील भी नहीं कर सकता, उसी प्रकार शासनका और प्रजाको सुख पहुँचानेका कठिन कार्य भी (केवल वोट मात्र पड़ जानेसे) हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता। आज सरकारपर असफलता तथा देशमें अभाव तथा दुःखके विस्तारका जो आरोप किया जाता है, उसमें अन्यान्य कारणोंके साथ एक प्रधान कारण अनुभव-हीनता भी है। जिसने कभी शासन तथा राज्य-संचालनका पाठ ही न पढ़ा हो, वह शासक होकर बैठ जायगा तो 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥' की कहानी चरितार्थ होनेके अतिरिक्त और क्या होगा?

* इस विषयमें भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने सन् १९५२ के चुनावके समय जो अपना मत व्यक्त किया था, वह बहुत ही तर्कपूर्ण, स्पष्ट तथा मननीय है। मैं उसके एक अंशको यहाँ पाठकों-की सेवामें उपस्थित करता हूँ। विशेष जाननेके लिये उस अङ्कको ही देखना चाहिये। वहाँ उनके इस सम्बन्धमें दो लेख एक साथ प्रकाशित हैं।

"सच्ची बात यह है कि यह गणतन्त्रपद्धति ही सर्वथा दूषित है। जिस पद्धतिमें बुद्धि, ज्ञान, अनुभव, विद्या, आचरण, भाव, सद्गुण आदि सबकी उपेक्षा करके संख्याको प्रधानता दी जाती है, वहाँ परिणाममें उत्तम फल होना सम्भव ही नहीं है। एक भी वोट बढ़ जानेपर, चाहे वह कैसे ही दुराचारी, मूर्ख और सर्वथा अयोग्य व्यक्तिका ही क्यों न हो, सौ-सौ बुद्धिमान्, सदाचारी और अनुभवी पुरुष हार जा सकते हैं। इस पद्धति-के अनुसार··· समुचित व्यवस्था करनेमें जो धन-व्यय होगा,··· वह किसी भी राष्ट्रको कंगाल कर देनेमें कारण बन सकता है··· (भारतके एक चुनावमें एक अरबसे कहीं अधिक व्यय होता है।) कई उम्मीदवार अपनी जमीन, खेती तथा गहना तक बेचकर इस चुनावके जुएमें दाव लगाते हैं···। अपने ही मुँहसे अपने कल्पित भूत-भविष्य पुण्योंकी गाथा गायी जाती है···तथा प्रतिपक्षीमें बिना हुए ही भाँति-भाँतिके दोष दिखलाकर उनकी निन्दा की जाती है।···जहाँ···अपने मुँहसे अपनी सच्ची बड़ाई भी करना 'आत्महत्या'के समान बतलाया गया है, वहाँ अपने ही मुँह अपनी झूठी बड़ाइयोंके पुल बाँधना और दूसरोंकी—महान्-से-महान् गुरुजनोंकी झूठी निन्दा करना कितना बड़ा अपराध है—इस बातको प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है। परंतु यह पद्धति ही ऐसी है कि इसमें समझदार आदमी भी समझ खो बैठते हैं और सिद्धान्त मानकर प्रतिपक्षीकी बुराई कर बैठते हैं। जिस प्रकार द्वेष और स्वार्थके विष-बीजोंको लेकर यह पौधा लगाया जा रहा

('कल्याण' वर्ष २५ अङ्क १२ के 'वर्तमान गणतन्त्र तथा मतदाताओंका कर्तव्य' शीर्षक सम्पादकीय लेखका एक अंश)

है भयंकर ही वस्तु। विशेषकर भारत-जैसे देशके लिये तो वह और भी संकटकर तथा अनुपयुक्त दीखती है; क्योंकि यहाँके लोगोंका ईश्वर तथा अध्यात्मकी ओर अधिक झुकाव है। अराजकताके प्रभावसे पहले जब चारों ओर भय तथा उपद्रवोंका साम्राज्य हो गया था, तभी कृपालु परमेश्वरने विश्वके रक्षार्थ राजाकी सृष्टि की थी—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥
(मनु० ७। ३)

राजाको देवीभागवतमें 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः', (६। १०। २४) विष्णुका अंश तथा मनुस्मृति ७। ४; ५। ९६; शुक्रनीति १। ७१; वाल्मीकिरामायण ३। ४४। १२; मत्स्यपुराण २२६। ९; विष्णुधर्मोत्तर २। ७१; महाभारत, शान्तिपर्व ६८। ४०—४६; देवीभागवत ६। १०। २५–२७ इत्यादि स्थलोंमें उसे इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, कुबेर तथा चन्द्रमाके सारभूत अंशोंसे उत्पन्न बतलाया गया है।

'राजा' तथा 'राजतन्त्र' शब्द कैसे उत्पन्न हुआ, इसका इतिहास महाभारत, शान्तिपर्वके ५९ वें अध्यायमें है। उसे मनुस्मृतिके उपर्युक्त श्लोकका भाष्य ही समझना चाहिये। उसमें बतलाया गया है कि 'पहले संसारमें एक प्रकारसे लोकतन्त्र शासन था। कोई शासक, राजा, राज्य या दण्डविधान न था। पर कुछ दिनोंके बाद सब लोग पारस्परिक संरक्षणमें कष्टका अनुभव करने लगे, फिर उन सबपर मोह छा गया। वे कर्तव्यज्ञानसे शून्य तथा अधर्मरत हो गये। फिर उनपर लोभ, राग-द्वेष तथा काम-क्रोधका भूत सवार हो गया। उनमें अगम्यागमन, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य तथा दोषादोषका भी कोई विचार नहीं रह गया। सारा विश्व उपद्रुत, भयग्रस्त तथा वैदिक कर्मोंसे हीन हो गया। तब देवताओंने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की। उन्होंने दण्डनीतिका प्रणयन किया और भगवान् विष्णुने उन्हें एक शासक दिया। फिर भी कुछ गड़बड़ी रह जानेसे कुछ समय बाद उसीके कुलमें वे स्वयं 'पृथु' के रूपमें उत्पन्न हुए। पृथुने प्राणपणसे प्रजाका रञ्जन किया, अतः वे 'राजा' कहलाये—

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते॥
(शान्तिपर्व ५९। १२५)

बादमें 'राजा' शब्द 'प्रजारञ्जक' अर्थमें रहते हुए भी सभी नरेशोंका उपलक्षण बन गया। यह कथा भागवत ४। १६। १५; अग्निपुराण अ० १८; विष्णुपुराण १। १३; पद्मपुराण भूमिखण्ड, अध्याय २७; ब्रह्मपुराण अध्याय ४ तथा वायुपुराण अध्याय ५७ में भी आती है।

निश्चय ही इसीका विकृत रूप देश-विदेशोंमें गया और सर्वत्र राजाकी स्थापना हुई। कालान्तरमें कुछ दोष भी आये। फिर पीछे तो 'Sovereignty' (राजसत्ता) तथा Divine right (दैवी अधिकार) की खिल्ली उड़ायी जाने लगी और इनका नाम लेना भी लज्जाकी वस्तु हो गया। खिल्ली तो कभी-कभी पुरानी हो जानेपर उपयोगी वस्तुकी भी उड़ायी जाती है; पर यह मानना पड़ेगा कि इधर सर्वत्र ही राजसत्ताका भारी दुरुपयोग भी होने लगा था। पर स्वर्गीय डाक्टर आनन्दकुमारस्वामी (अमेरिका) ने अपनी Spiritual Authority and Temporal Power in the Indian Theory of Government (भारतीय शासन-सिद्धान्तमें धर्मशक्ति और राजशक्ति) नामक पुस्तकमें इन सभी उपहासोंका पूर्ण समाधान कर दिया है। वस्तुतः जहाँ राजा ईश्वरका अंश है, उसके प्रसादमें पद्मा श्री है, क्रोधमें मृत्यु (यम) है[1], वहीं वह प्रजाका पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु तथा सेवक भी है। यदि वह ऐसा नहीं है तो राजा ही नहीं है—

पिता माता गुरुर्भ्राता बन्धुर्वैश्रवणोपमः।
नित्यं सप्तगुणैरेषः युक्तो राजा न चान्यथा॥
(शुक्रनीतिसार १। ७८)

जितना नियन्त्रण राजापर है, उतना संसारके किसी भी अन्य प्राणीपर नहीं। उसका सारा समय सुनियन्त्रित है। 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' के अनुसार राजाके सोनेका समय कुल पौने तीन घंटेमात्र नियत है। अश्वनियामक जैसे अश्वका ध्यान रखता है, वैसे ही राजा अपने नियमों तथा कार्यक्रमोंका ध्यान रक्खे—सप्तनाडिका सुप्तिः। स्वनियमं कुर्यादप्रमादेन

१. मानसमें भी तुलसीदासजीने लिखा है—'साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला॥' तथा गीतामें भी भगवान्ने अपनेको 'नराणां च नराधिपम्' (१०। २०) बतलाया है।

१. यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ (मनु० ७। ११)

अश्वनियामक इव। (बार्हस्पत्यअर्थशास्त्र[1] १।६६—६८)। कौटल्य भी राजाका सोनेका समय कुल तीन ही घंटे मानता है। 'चतुर्थपञ्चमौ शयीत' (अर्थशास्त्र १ । १९ । २३) अर्थात् रात्रिके आठ भागोंमेंसे चौथे, पाँचवें भागमें सोये। 'शुक्र' के अनुसार भी उसे ८ मुहूर्त अर्थात् ३ घंटे सोना चाहिये— 'निद्रयाष्टमुहूर्तकम्' (शुक्रनीति १ । २८३)। अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, एवं विष्णुधर्मोत्तर (२ । १५७) का भी यही मत है। 'दशकुमारचरित' में भी राजकृत्य तथा दिनचर्या-वर्णनमें उसका सोनेका समय इतना ही दिखलाया है (उच्छ्वास ८)।

यदि राजा लुटेरा हो, रक्षा न करता हो, धर्मका लोप कर रहा हो तो उसपर बिना दया दिखाये मार डालनेका आदेश है—

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः संनह्य निर्घृणम्॥
(महा० अनुशासनपर्व ६१ । ३२)

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रजापीड़नके संतापसे उठी हुई अग्निकी ज्वाला राजाके ऐश्वर्य, प्राण तथा कुलको जलाये बिना शान्त नहीं होती—

प्रजापीडनसंतापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणांश्चादग्ध्वा विनिवर्तते॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ३४१)

कौटल्य कहता है कि सम्पूर्ण राजनीतिशास्त्रका तात्पर्य राजाके इन्द्रियजयमें है। यदि राजा जितेन्द्रिय नहीं, इन्द्रिय-तर्पण-परायण है, तो वह राजा चाहे सम्पूर्ण पृथ्वीका ही अधिपति क्यों न हो, तत्काल नष्ट हो जाता है—

कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः।
तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति॥
(अर्थशास्त्र, अधिकरण १, अध्याय ६, सूत्र ४-५)

तत्पश्चात् वह भोजवंशके राजा दाण्डक्य एवं मिथिलाके राजा करालके कामके कारण, जनमेजयके क्रोधके कारण तथा सौवीर देशके राजा अजबिन्दुके लोभके कारण नाश होनेका उदाहरण देता है। 'कामन्दक'ने भी अपने नीतिसारके आरम्भमें इन्हीं बातोंको लिखा है। उनका कथन है कि जो अपने मनको ही वशमें नहीं रख सकता, वह पृथ्वीको तथा दुष्टोंको भला, वशमें कैसे कर पायेगा? (१ । ३७)। अग्निपुराणोक्त राजनीतिमें भगवान् श्रीराम कहते हैं कि जितेन्द्रिय व्यक्ति ही प्रजाको वशमें रख सकता है। मनु भी कहते हैं—

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।
(मनु० ७ । ४७)

विदुरका कहना है कि जो ऐश्वर्योंका तो स्वामी है, पर इन्द्रियोंका स्वामी नहीं, दास है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्यसे भी भ्रष्ट हो जाता है—

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः॥
(महा० उद्योग० विदुर प्र० ३४ । ६३)

कात्यायनके अनुसार राजा अनाथोंका नाथ, गृहविहीनोंका गृह, पुत्रहीनोंका पुत्र तथा पितृहीनोंका पिता है—

अनाथस्य नृपो नाथस्त्वगृहस्य नृपो गृहम्।
अपुत्रस्य नृपः पुत्रो अपितुः पार्थिवः पिता॥
(कात्यायन-मत-संग्रह परिशिष्ट, १२)

ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों तथा अन्य विभिन्न शास्त्रोंमें राजाको पुरोहित तथा मन्त्रियोंके भी वशमें रहनेकी बात कही गयी है।[1] यदि वह ऐसा नहीं करता तो राजाके रूपमें छिपा हुआ दस्यु—डाकू है।[2] जो अपने मन्त्रियोंकी बात न सुनकर दूसरे देशके लोगोंकी बात सुनता है, उसका पृथ्वी परित्याग कर देती है (विदुर)। जिसके राज्यमें विद्वान् श्रोत्रिय भूखसे पीड़ित होता है, उसका राष्ट्र भी तुरंत भूखसे पीड़ित होने लगता है (मनु० ७ । १३४)। जिसके राज्यमें चारों ओर चोर-डाकू प्रजाको देखते-देखते लूट लेते हैं, वह राजा मरा ही है, जीता नहीं (मनु० ७ । १४३)। राजामें मद्य, द्यूत तथा आखेट-का व्यसन न हो (विष्णुधर्म० ६५ । ९)। वह कृपण, अनाथ, विधवा और वृद्धोंको वृत्ति दे। (वही ५४)। कौटल्यके अनुसार प्रजाके सुखमें ही राजाका सुख है, अपने सुखमें नहीं। आत्मप्रिय उसके लिये हितकर नहीं है, प्रजाका प्रियकार्य करना ही उसके लिये श्रेयस्कर है—

---

१. यह बार्हस्पत्य—अर्थशास्त्र पूर्वोक्त लोकायत—शास्त्रसे भिन्न है। यह देवगुरुकी रचना है—इसके लिये वायुपुराणमें इस शास्त्रके ज्ञाताको पङ्क्तिपावन बतलाया गया है—

बार्हस्पत्ये तथा शास्त्रे पारं यश्च द्विजो गतः।
सर्वे ते पावना विप्राः पङ्क्तीनां समुदाहृताः॥
(वायु० उपोद्घात पाद ७९ । ५९)

---

१. (बृहदारण्यक०)।

२. हिताहितं न शृणोति राजा मन्त्रिमुखाच्च यः।
स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः॥ (शुक्र०)

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥
(अर्थशास्त्र १।१९।३९)

वस्तुतः 'राजतन्त्र' का सिद्धान्त तो सर्वथा निर्दोष है, भले उसके पालनमें इधर प्रमाद हुआ हो और उपर्युक्त कथनानुसार ही राजाओंका अन्त भी होना ही था, पर लोकतन्त्र (जनतन्त्र) का तो सिद्धान्त ही त्रुटिपूर्ण, सदोष तथा अश्रेयस्कर है। इसके पालनमें तो और भी गड़बड़ी चलती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भारतीय सिद्धान्त निर्दोष होते हुए भी अव्यावहारिक है; क्योंकि राम, युधिष्ठिर, शिवि, रघु, दिलीप, पृथु, विक्रमादित्य आदिके राज्यमें प्रजा अत्यन्त सुखी थी। शिविने तो कपोतको बचानेके लिये अपना मांसतक दे डाला था। दिलीपने गोरक्षाके लिये अपनेको अर्पण कर दिया। भगवान् श्रीरामने प्रजाकी प्रसन्नता तथा लोकयात्राके ठीक-ठीक निर्वाहके लिये अपनी परम प्रिया पतिप्राणा पत्नी महारानी सीताका भी त्याग कर दिया। विक्रमादित्य आदि राजा प्रजाके कष्टका पता लगानेके लिये रातमें भी वेष बदलकर घूमते थे। अभी पिछले दिनोंतक मेवाड़के राणालोग अपनेको राजा न मानकर एकलिङ्ग महादेवका दीवान समझते हुए प्रजाका हित-चिन्तन करते थे। त्रिवांकुरके राजा लोग भी अपनेको सेवक तथा अपने कुलदेवको ही राजा मानते थे। फिर भी पूर्वकी परिस्थिति अत्यन्त श्लाघ्य थी। तथापि सचेष्ट होकर सुधार करनेपर ये दोष तुरंत दूर हो सकते हैं।

इधर जनतन्त्र-शासनकी सर्वत्र असफलता भी उसकी असमीचीनताको सिद्ध कर रही है। प्रायः ७-८ वर्ष पूर्व मिस्रमें क्रान्ति हुई और वहाँ सैनिक-शासन कायम हुआ। इसके बाद इधर तो इसकी परम्परा ही चल पड़ी है। पहले ईराकमें, फिर बर्मामें भी सैनिक-शासन हो गया। स्याममें भी सैनिक-शासन हो गया। हिंदेशियामें भी सैनिकों तथा सरकारका संघर्ष चल रहा था। अब वहाँ भी सैनिक शासन हो गया। लेबनानका भी जनतन्त्र नाम-मात्रको ही है, प्रत्यक्षरूपमें वहाँ भी सेनापति शेहाबका ही वास्तविक शासन है। अफगानिस्तान, सऊदी अरब, चीन, कोरिया, ताईवान तथा हिंदचीनमें जो शासन है, उन सबमें ही किसी-न-किसी व्यक्ति या वंशका एकाधिपत्य हो रहा है। फ्रांसमें भी देगालेको सैनिक तथा अन्य सभी अधिकार देकर वैसा ही किया गया है। इधर नेपालमें भी गणतन्त्र समाप्तकर सत्ता पुनः महाराजके हाथमें सौंप दी गयी है। अभी पिछले दिनों पाकिस्तान, बर्मा तथा सूडानमें भी फौजी शासन हो गया है, इन सारी घटनाओंसे लोकतन्त्रकी विफलता तथा अयोग्यता ही सिद्ध हो रही है। सच्ची बात तो यह है कि कामन्दकके शब्दोंमें शासन तथा दण्डनीतिके बिना लोकयात्राका निर्वाह ही नहीं—

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः॥
(अध्याय २।४३)

क्योंकि संसारमें सर्वथा सज्जन-वृत्तिके लोगोंकी न्यूनता ही रहती है, अधिकांश लोग उच्छृङ्खल ही रहते हैं। बिना शासनके तो ये भले लोगोंकी सम्पत्ति आदि तुरंत छीन लें। इधर 'लोकतन्त्र' शब्द ही 'शासन' का अभाव सूचित करता है। फौजी शासनकी आवश्यकता भी यही सिद्ध कर रही है।

विषय गहन तथा जटिल है। एक छोटेसे लेखमें इसका ठीक-ठीक विश्लेषण तथा उभय पक्षोंके दोष-गुणोंका प्रदर्शन सम्भव नहीं। इसके लिये तो समस्त राजनीति-शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन आवश्यक है। फिर आजकी हवा विचित्र है। इसमें 'राजतन्त्र' का नाम लेना भी अपराध तथा लज्जाकी वस्तु हो गया है। तथापि है यह अज्ञानका प्रचार ही। उचित राजतन्त्रके अभावमें आज बीसों वर्षोंसे सारे विश्व विशेषकर 'भारत' की भीषण दुर्दशा हो रही है और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। चोरी, लूट, हत्या, दीनता, दरिद्रता, भूखमरी यह सब अपने प्राचीन वर्णाश्रम आदि सिद्धान्तोंके अपहननका ही परिणाम है। राजधर्मका मूल है—वर्णधर्म-पालन। वर्णधर्मका पालन न होनेसे आज अन्न-वस्त्रका भीषण अभाव सामने है। सभीको नाममात्रकी, बेकार बनानेवाली शिक्षा देकर केवल शिक्षित होनेका गर्व उत्पन्न कराकर आलसी तथा बेकार बना दिया गया है। इसकी चिकित्सा अब साधारण मनुष्यके वशकी बात नहीं रही। उचित बात लोगोंके मस्तिष्कमें प्रचार करनेपर भी आती नहीं दीखती। इसीलिये सदाचार-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ भी जनतामें समादृत नहीं हो रही हैं। अब तो बस, एकमात्र नित्य, शाश्वत, अक्षय राजराजेश्वर कृपालु भगवान्‌की ही आशा है। भारतीय शास्त्र तो उनके ही विधान समझे जाते हैं।[1] और आज भी हम देखते हैं कि सारे फल तदनुसार ही होते जाते हैं। फिर विश्व उनका है, वे उसे ठीक ही कर रहे हैं,—हमें तो यही विश्वास है। इस समयकी सभी सांसारिक परिस्थितियाँ तथा आगे आता हुआ सन् १९६१ के अन्त ६२ के आरम्भमें होनेवाला नवग्रहोंका योग भी इसका ही संकेत है। उन मङ्गलमय महाराजाधिराजसे हमें नित्य मङ्गल तथा विश्व-कल्याणकी ही आशा है।

---

१. 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' (वाधूलस्मृति १।१८९; पंचदशी ६।७९)।

मानवकी मानवता

(लेखक—श्रीकानतासिंहजी 'धर्मभूषण', 'साहित्यालंकार')

मानवता ही मानवधर्म है, जिससे अपना तथा समाज, देश, संस्कृति आदिका कल्याण हो सकता है। जबतक प्राणी जगत्के भोगोंमें आसक्त होकर आसुरी वृत्तियोंसे घिरा रहता है, तबतक वह मानव नहीं, दानव है। नर ही नारायण बन सकता है। मानव-तन पाकर ही मनुष्य इस संसाररूपी सागरसे पार होकर आवागमनसे रहित हो सकता है। मनुष्यका कल्याण वासनारहित होनेपर ही होता है। निर्वासना प्राप्त होती है—योगसे। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्तवृत्तियोंका सब ओरसे हटकर एकमें केन्द्रित हो जाना ही चित्तकी वीतरागता है। राग रहते चित्तका निरोध नहीं होता। अतः साधकका धर्म है कि सेवाके द्वारा रागपर, और प्रेमके द्वारा द्वेषपर विजय प्राप्त करे।

इच्छा, वासना, कामना, लोभ, तृष्णा—सभी रागके अङ्ग हैं। योगदर्शनमें पाँच क्लेश बताये गये हैं, जिनमें प्रधान 'अविद्या' बतायी गयी है। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्—' अविद्याके नाशसे रागादिका नाश निश्चित है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> प्रबल अविद्या तम मिटि जाई।
> हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
> खल कामादि निकट नहिं जाहीं।
> बसइ भगति जाके उर माहीं॥

अतः मानवकी मानवता तभी है, जब वह अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक भगवान्की शरण ग्रहण करे। जबतक मनुष्य जगत्का दास होकर रहेगा और उसमें काम, धाम, नाम, चाम और दामकी वासना रहेगी, तबतक वह जगत्का ही है, जगत्पतिका नहीं। मानव-जीवनका लक्ष्य भगवत्-प्राप्ति है।

संसार सदाचार, सेवा, संयम, दया चाहता है; पर भगवान् हमसे भक्ति तथा प्रेम चाहते हैं। अतः हमें ऐसा जीवन बनाना है, जो जगत् तथा जगत्पति दोनोंके लिये प्रिय हो।

मानवता

(रचयिता—श्रीगयाप्रसादजी द्विवेदी 'प्रसाद')

मानव तन साधन धाम सकल फलदाता,
रच इसे हो गया धन्य लोकनिर्माता।
जब जब दानवकृत पाप प्रबल हो जाता,
आसुरी शक्ति-संताप सबल हो जाता॥
तब तब हरि मानव रूप अलौकिक धरते,
कर अनुपम आत्म-प्रकाश पाप-तम हरते।
सुर भी इससे नरदेह चाहते धरना,
कर कर्मयोग निरुपाधि अभय भव तरना॥
सचराचर इसका भोग्य यही है भोगी,
कर ब्रह्म-जीवका योग कहाता योगी।
इस तनसे उन्नति-शिखर चढ़ा जाता है,
जीवनपथ पर अविराम बढ़ा जाता है॥
नीचे सुर सहित सुरेश स-विधि आते हैं,
ऊँचे निज पुण्य-प्रसाद मनुज जाते हैं[1]।
इससे ही मानव जन्म धन्य सब विधि है,
स्रष्टाके सृष्टि-विधान-ज्ञानकी निधि है॥

पर वही मनुज है—जिसे धर्म प्यारा है,
करता जो स्वार्थ विहाय कर्म सारा है।
जो प्राणिमात्रसे अभय, पापसे डरता,
दम, दया, दान, उपकार हृदयमें धरता॥
जो अन्तर्बाह्य विशुद्ध-बुद्धि निर्मल है,
षट् रिपु-रण-विजयी वीर धीर अविचल है।
पर दुखसे होता दुखी सुखी पर सुखसे,
कहता न किसीसे कभी सुकृत निज मुखसे॥
सर्वस्व निछावर देश-जातिपर करता,
नर-जीवनका उद्देश्य सत्य अनुसरता।
मन-वचन-काय धृत-धर्म-कर्म-व्रत-बल है,
पैशुन्य पाप पाखण्ड रहित निश्छल है॥
ये मानव करते सफल सदा मानवता,
दानव गति है विपरीत इष्ट दानवता।
जो राम-सुधारस-रसिक विषय-विष त्यागी,
है मनुज शिरोमणि वही परम अनुरागी॥

१. ब्रह्मलोकतक (आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन—गीता)।

भारतकी आदर्श मानव-महिलाएँ

(लेखक—श्रीयुत के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें कुछ विशिष्ट महिलाएँ हो गयी हैं, जो साहित्यिक एवं आध्यात्मिक गगनकी देदीप्यमान तारिकाएँ हैं । ऋषि दीर्घतमाकी पौत्री और कक्षीवान्की पुत्री घोषा कुष्ठरोगसे पीड़ित थी, इस कारण उससे कोई विवाह नहीं करता था । अश्विनीकुमारोंने उसे इस व्याधिसे मुक्त किया, तब उसका विवाह हुआ । इसपर उसने अश्विनीकुमारोंका एक स्तवन किया है। गोधाने इन्द्रकी स्तुतिमें एक छन्द और दूसरे छन्दका आधा रचा है । विश्ववराने छः श्लोक रचे हैं । वह विवाहिता थी । दाम्पत्य-सुखके लिये उसने अग्निदेवसे प्रार्थना की है । अपलाको कोई चर्म-रोग हो गया था, जिससे उसके पतिने उसे निकाल दिया । उसने इन्द्रकी स्तुति की और उस रोगसे मुक्त हुई । अगस्त्य ऋषिकी भगिनीने ऋग्वेदका एक मन्त्र रचा । अगस्त्यकी पत्नी लोपामुद्राने रतिका स्तवन किया है, जिसमें अपने पतिसे पुनर्मिलनकी प्रार्थना की गयी है । बृहस्पतिकी कन्याके नामपर एक मन्त्र है, जिसमें उसने अपने यौवनके आकर्षणोंका वर्णन करके अपने पतिका आवाहन किया है । सरस्वतीने पतिके बन्धन छुड़ानेके लिये तप किया और उससे पुनर्मिलनके लिये एक मन्त्रद्वारा प्रार्थना की है ।

महर्षि वाल्मीकिकृत योगवासिष्ठमें (जिसे महारामायण भी कहते हैं) उत्पत्ति-प्रकरणके १७ से ६८ तकके अध्यायोंमें लीलाका उपाख्यान है । ३२००० श्लोक इस ग्रन्थमें हैं । यह आध्यात्मिक तथ्योंका एक महानिधि है । इस ग्रन्थमें वसिष्ठ श्रीरामचन्द्रको ब्रह्मविद्याके सनातन सत्य अवगत कराते हैं । अपनी भूखण्डकी यात्राओंमें जीवनकी क्षणभङ्गुरता, व्यर्थता और दुःखमयताका जो अनुभव हुआ, उससे रामको बड़ा विषाद हुआ है और वसिष्ठ उन्हें उपदेश कर रहे हैं । इसी प्रसङ्गसे रामका चित्त स्वस्थ और स्थिर करनेके लिये एक कथा लीलाकी कही गयी है । इसमें तथा अन्य कथाओंमें सबसे बड़ी शिक्षा जो दी गयी है, जीवन्मुक्तकी स्थितिके विषयमें है । जीवन्मुक्त शरीरमें रहता हुआ भी बन्धनमुक्त ही रहता है । आसक्ति और हर्ष या विषादसे मुक्त रहकर वह जीवनके सम्पूर्ण कर्म करता है । ब्रह्म अर्थात् चित् अपने क्रियात्मक रूपसे जगत् बनता है । ब्रह्म अपनेको अहं और इदं दोनों रूपमें मानकर जीव बनता है । जीव सूक्ष्मशरीर और इन्द्रियोंकी कल्पना करता और स्वयं अपने बाह्य जगत्का निर्माण करता है । यह सारा पसारा परिणामतः है चित्त ही । लीलावती राजा पद्मकी रानी थी । उसे अकस्मात् यह भय हुआ कि कहीं मुझसे पहले ही राजाकी मृत्यु न हो जाय । इसलिये उसने भगवती सरस्वतीसे यह प्रार्थना की कि वे उसके पतिको मृत्युसे दूर रखें और यदि उसकी मृत्यु हो भी तो उसका आत्मा उसके महलमें बना रहे । एकाएक एक दिन राजाकी मृत्यु हो गयी । लीलाने यह आकाशवाणी सुनी कि यदि तुम राजाके शरीरको फूलोंसे घेर लो तो उससे तुम्हारी फिर भेंट हो जायगी । लीला ध्यानमें निमग्न हो गयी, उसकी समाधि लग गयी । वह सूक्ष्म जगत्में भ्रमण करने लगी । उसने पतिको वहाँ राज करते देखा । लीलाने सरस्वतीसे प्रार्थना करके पूछा कि इस अनुभूतिका क्या अर्थ है । सरस्वतीने कहा, 'काल और आकाश मनकी सृष्टि हैं । मृत्युके पश्चात् जीव अपनी स्मृति और प्रवृत्तियोंके आधारपर किसी काल्पनिक जगत्की पुनः सृष्टि करता है ।' लीलाने इसका और प्रमाण चाहा । सरस्वतीने कहा, 'स्थूलशरीरकी जो तुम्हें प्रतीति हो रही है, उसे हटा दो । अपनी सब वासनाओंसे मुक्त हो जाओ । तब तुम अपने सूक्ष्मशरीरसे चाहे जहाँ घूम-फिर सकोगी और सबके अन्तःकरणोंमें प्रवेश कर सकोगी ।' तब दोनों अपने सूक्ष्मशरीरसे वसिष्ठ शर्मा नामक गृहस्थके घर गयीं । इन्होंने किसी राजाको आखेट करते देखकर स्वयं राजा बननेकी इच्छा की थी । ये मरे और दूसरे जीवनमें राजा बने । लीलाने इन्हें पहचान लिया । ये उसके पूर्वजन्मके पति थे । लीलाने फिर एक बार उन्हें देखना चाहा । सरस्वतीने कहा, 'अबतक तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं । तुम्हारे इस जीवनके पतिका शव तुम्हारे महलमें पड़ा है । जिस राजाको तुमने अपने पूर्वजन्मके रूपमें पति पहचाना था, वह एक आभास मात्र था । इनमेंसे तुम किसे देखना चाहती हो ?' तब लीलाको बोध हुआ और ऐसी सब वासनाओंसे वह मुक्त हो गयी ।

हमारी वासना-कामनाओं और चित्तकी वृत्तियोंसे ही देह और जगत्की सारी प्रतीतियाँ होती हैं । सरस्वती और लीला अपने सूक्ष्मशरीरसे अनेक लोकोंमें गयीं और अन्तमें उस

लोकमें आयीं, जहाँ लीलाने पद्मको राज्य करते हुए देखा था। दोनोंने देखा कि कोई राजा शत्रु होकर अपनी सेनाओंके साथ पद्मपर आक्रमण करने आ रहा है। पीछे सरस्वती और लीलासे पद्मकी भेंट हुई। पद्मने बतलाया, मेरा नाम विदूरथ है। उस युद्धमें विदूरथ धराशायी हुआ। उसकी रानी लीला उसे ढूँढ़ती हुई आयी। लीला इस दूसरी लीलाको देखकर आश्चर्य करने लगी। सरस्वतीने लीलाको बताया, 'इन मनःकल्पित सृष्टियोंसे भ्रान्त मत हो।' द्वितीय लीलाने सरस्वतीसे यह वर माँगा कि 'मैं इसी देहसे अपने पतिसे उनके दूसरे जन्ममें मिल सकूँ।' सरस्वतीने कहा, 'तथास्तु!' विदूरथका जीवात्मा पद्मके प्रासादमें गया और पद्मकी देहमें उसने प्रवेश किया। तब सरस्वती और लीला स्थूलशरीरसे विदूरथकी स्त्री लीलाके सामने प्रकट हुईं। यह दूसरी लीला अपने पूर्व शरीरमें थी ही। पद्म ऐसे उठ बैठे जैसे नींदसे जागे हों। पद्म दोनों लीलाओं-के साथ रहने लगे। भगवती सरस्वतीकी कृपासे तीनोंको जीवन्मुक्ति मिली और मृत्युके पश्चात् तीनों विदेह-मुक्त हुए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हम सब अपनी ही मनःकल्पित सृष्टिके शिकार हैं। यदि हमें ज्ञानकी प्राप्ति हो जाय और हम अपने वास्तविक आत्मरूपको पहचान लें तो जीवनके सम्पूर्ण मायिक दृश्यों और सुख-दुःखोंसे छूटकर आत्मज्ञानकी अविचल स्थितिमें समभावसे स्थित मुक्तात्मा रूपमें विचरण करेंगे।

फिर योगवासिष्ठके निर्वाण-प्रकरणमें ७७ से ११० तकके ३४ अध्यायों और १६५० श्लोकोंमें चूड़ालाकी कथा है। यह कथा भी वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रसे कहते हैं। रानी चूड़ाला और उसके पति राजा शिखिध्वज दोनों बहुत कालतक सब प्रकारके सुखोंसे सम्पन्न जीवन व्यतीत करते रहे। पीछे चूड़ालाका विवेक जाग्रत् हुआ, उसके मनमें विराग उत्पन्न हुआ और सनातन पुरुष परमात्माका उसे साक्षात्कार हुआ। चूड़ालाके सौन्दर्यमें नयी बहार आयी देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। चूड़ालाने उसे बताया कि यह प्रेमाकर्षण परमात्माके ज्ञान-का है। वसिष्ठजीने चूड़ालाको सिद्ध योगिनी कहा है (अ० ८०) राजाको तब जीवनसे निर्वेद हो गया। चूड़ालाने उसे समझाया। पर उसकी बात न मानकर राजा संसारको त्यागकर जंगलमें चला गया। चूड़ाला एक ब्राह्मण युवकका रूप धारणकर राजासे मिलने गयी। इस ब्राह्मणरूपधारीने राजासे कहा, 'मैं कुम्भ हूँ—नारदका पुत्र और ब्रह्माका पौत्र।' शिखिध्वजने उससे कहा: 'मैं राजा शिखिध्वज हूँ। अपने राज्यसे निर्विण्ण होकर तप करने मैं यहाँ चला आया। पर मुझे शान्ति नहीं मिली। मैं जिसे अमृत समझता था, मेरे लिये वह विष हो गया (अमृतं मे विषं स्थितम्)।' चूड़ालाने कहा, 'ब्रह्मासे मैंने यह प्रश्न किया था कि ज्ञान और कर्ममें कौन श्रेष्ठ है।' ब्रह्माने उत्तर दिया, 'ज्ञानसे मोक्ष होगा और कर्मका तबतक त्याग नहीं करना चाहिये, जबतक ज्ञानकी प्राप्ति न हो जाय।' शिखिध्वजने कहा—'मैंने सब कुछ त्याग दिया है।' चूड़ालाने पूछा, 'तुम्हारा राजत्व तो तुम्हारे जीवत्वका कोई चिर-सङ्गी नहीं था। यह तुम कैसे कह सकते हो कि उसे त्यागनेसे तुमने सब कुछ त्याग दिया? यहाँ जंगलमें भी तुम्हारे रहनेका एक स्थान है, खानेके लिये फल और पीनेके लिये पानी है। तब तुम कैसे कहते हो कि तुमने सब कुछ त्याग दिया है?' राजाने कहा कि, 'लो, मैं अपनी पर्ण-कुटी और जल इत्यादि सब कुछ त्याग दूँगा।' चूड़ालाने कहा, 'ये सब वस्तुएँ भी तुम्हारी नहीं हैं। तब 'सर्वत्याग' की बात तुम कैसे कह सकते हो? तुम्हारा शरीर तो तुम्हारे साथ बना ही हुआ है।' तब राजाने कहा, 'मैं अपनी यह मृगछाला, जपमाला और कुटी—नहीं-नहीं, अपना यह शरीर भी नष्ट किये देता हूँ।' यह कहकर उसने अपनी इन सब चीजोंमें आग लगा दी और वह एक पर्वतशिखरसे नीचे गिरकर अपना शरीर भी नष्ट करनेको तैयार हो गया। तब चूड़ालाने कहा, 'यह सब करनेकी क्या आवश्यकता है? तुम्हें उस वस्तुका त्याग करना चाहिये, जिसके कारण तुम्हें यह शरीर मिला है।' राजाने पूछा, 'तब सर्वत्याग क्या है?' चूड़ालाने उत्तर दिया, 'तुम यदि सर्वत्याग करना चाहते हो तो तुम्हें अपने मनको त्यागना होगा।' राजाने पूछा, 'मन क्या है? उसका त्याग कैसे किया जाता है?' चूड़ालाने कहा, 'मन है तुम्हारी सारी वासनाएँ। असङ्गके द्वारा तथा आत्माके सच्चे स्वरूपका विचार करनेसे तुम मनका नाश कर सकते हो।' सर्वत्यागका प्रकृत अर्थ अब राजाकी समझमें आया। तब चूड़ालाने राजाको जीवन्मुक्तिका उपदेश दिया। यह सारा संवाद उसने कुम्भके रूप और वेशमें किया और फिर अपना असली रूप धारण किया। चूड़ालाने राजासे तब विवाहित जीवनकी महिमा समझ लेने-का अनुरोध किया और अग्निको साक्षी रखकर उसके साथ फिरसे अपना विवाह कराया। चूड़ाला और शिखिध्वज सुखसमृद्ध देव-दम्पति हो गये। रातमें वे चूड़ाला और शिखिध्वजके रूपमें रहते। प्रातःकाल चूड़ाला फिर कुम्भ हो जाती। राजा अपना राजकाज भी अब देखने लगा।

राजाकी अनासक्ति और चित्तशुद्धिकी परीक्षा करनेके हेतु चूड़ालाने इन्द्रसे राजाकी भेंट करायी। इन्द्रने राजासे स्वर्गमें आकर वहाँका आनन्द-भोग करनेको कहा। पर राजाने उत्तर दिया, 'मेरे आनन्दमें यहाँ कोई कमी नहीं है।' इन्द्र तब अन्तर्धान हो गये। चूड़ाला और शिखिध्वज अपने राज्यमें लौट आये। राजाके नाते शिखिध्वज अपने सम्पूर्ण कर्तव्योंका पालन करने लगा, पर असङ्ग और जीवन्मुक्त रहकर। पीछे दोनों अपने शरीर छोड़कर विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए।

बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में मैत्रेयी और गार्गी वाचक्नवीकी कथा है। उससे पता लगता है कि उस युगकी भारतीय महिलाओंकी आध्यात्मिक दृष्टि कितनी सूक्ष्म और गम्भीर थी। याज्ञवल्क्य जब संन्यास लेनेकी सोचने लगे, तब उन्होंने अपनी सब धन-सम्पत्तिको मैत्रेयी और गार्गी—अपनी इन दो पत्नियोंमें बाँट देना चाहा। मैत्रेयीने उनसे प्रश्न किया—'आप धन-सम्पत्तिका त्याग क्यों कर रहे हैं और किस लिये संन्यासी होना चाहते हैं?' याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, 'धन-सम्पत्ति अमृतत्व नहीं प्राप्त करा सकती।' तब मैत्रेयीने कहा, 'यदि धन-सम्पत्तिसे अमृतत्व नहीं मिलता तो उसे लेकर मैं क्या करूँ? मुझे यह बताइये कि अमृतत्व कैसे प्राप्त होगा।' तब याज्ञवल्क्यने उसे परम अमृतत्वका उपदेश दिया।

एक दूसरे अवसरपर राजा जनकने सुवर्णमण्डित शृङ्गोंवाली एक सहस्र गौएँ ऐसे पुरुषको दान करनेका संकल्प किया, जो श्रेष्ठ आत्मविद्याका ज्ञाता हो। याज्ञवल्क्यने अपने शिष्यसे कहा—'इन गौओंको हाँककर मेरे घर पहुँचा दो।' बहुतसे विद्वान् जनककी उस सभामें उपस्थित थे। उन्होंने याज्ञवल्क्यकी इस हरकतपर आपत्ति की और वे उनसे ऐसे-ऐसे दार्शनिक प्रश्न करने लगे, जिनसे किसीकी भी बुद्धि चकरा जाती। इनमें विदुषी गार्गी भी थीं। उन्होंने यह प्रश्न किया कि महाभूतोंकी उत्पत्ति कहाँसे है? याज्ञवल्क्यने इसका उत्तर दे दिया। तब गार्गीने कहा—'मेरे दो प्रश्न और हैं जो किसी राजाके धनुषमें दो तीर-जैसे हैं। आप उनका उत्तर दीजिये। एक प्रश्न यह है कि, 'यह व्यक्त जगत् किस आधारपर टिका है?' याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, 'अव्यक्त आकाशपर।' 'आकाशका आधार क्या है?' गार्गीने पूछा। उत्तर मिला, 'अक्षर'। गार्गीने तब समवेत विद्वत्समाजसे कहा—'हम सबको याज्ञवल्क्यके सामने नतमस्तक होना चाहिये; क्योंकि ये ही मनुष्योंमें सर्वोत्तम ज्ञानी हैं।'

सुसंस्कृत, विदुषी और ज्ञानसम्पन्न महिलाओंकी परम्परा तबसे अबतक बराबर चली आयी है। श्रीमद्भागवतमें व्रज-गोपियों और ऋषिपत्नियोंकी जो कथाएँ आती हैं, उनसे यह पता लगता है कि पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें ही इस अलौकिक ज्ञानकी परम्परा अधिक सुन्दर रूपमें रहती आयी है।

इसके परवर्ती-कालमें आंडालका जीवन इसका अद्वितीय उदाहरण है। इसके भी पश्चात् 'गीतगोविन्द'के कर्ता जयदेवकी पत्नी पद्मावती, मीराँबाई, जनाबाई और सखूबाईके चरित्र इस बातके उत्तम उदाहरण हैं कि स्त्रीसमाजका अन्तःकरण भागवत-ज्ञानसे समुज्ज्वल और परिपूर्ण रहा है। श्रीरामकृष्ण परमहंसको दीक्षा देनेवाली संन्यासिनीका वर्णन उनके चरित्रमें आता है। सम्प्रति भी रमाबाई और आनन्दमयी माँके उदाहरण हमारे सामने हैं।

संत-महिलाओंकी यह समादरणीय परम्परा भारतमें सदा फूले-फले तथा सब देशों और सब कालोंमें मानव-जातिके सामने यह आदर्श बना रहे। पुरुष मानव सदासे विनाशका एक महान् साधक रहा है, पुरुष-संत भी कहीं-कहीं स्खलित हो गये हैं। पर संत-महिलाओंमें प्राणिमात्रके लिये करुणा और ईश्वरके प्रति भक्ति सदा अक्षुण्ण रही है!

मानव-शरीर भगवान्‌के काम न आया

काया हरि कैं काम न आई।
भाव-भक्ति जहँ हरि-जस सुनियत, तहाँ जात अलसाई॥
लोभातुर ह्वै काम मनोरथ, तहाँ सुनत उठि धाई।
चरन-कमल सुंदर जहँ हरि के, क्यौंहुँ न जात नवाई॥
जब लगि स्याम-अंग नहिं परसत, अंधे ज्यौं भरमाई।
सूरदास भगवंत-भजन तजि, बिषय परम बिष खाई॥

—सूरदासजी

मानव-मन और उसके चमत्कार

(लेखक—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट्-ला, विद्यावारिधि)

महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा गया है—नहि मानुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्। 'मानव-जीवनसे बढ़कर संसारमें अन्य कोई जीवन नहीं है। मनुष्यका मन भगवान्‌की विभूति है। गीताका वचन है—'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'—मैं (ईश्वर) इन्द्रियोंमें मन हूँ। मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण माना जाता है—मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। सुख और दुःखके सम्बन्धमें वेदव्यासजी विष्णुपुराणमें उपदेश देते हैं कि 'मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः।' सुख और दुःखकी भावना मनका ही परिणाम है। एक कवि कहता है—'मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।' गत महासमरके अवसरपर कही गयी महामना चर्चिलकी यह उक्ति सदा अमर रहेगी कि विजयी होनेकी भावना हमारे मनमें बनी रहेगी तो अन्तमें हमारी जीत अवश्य होगी और बार-बार हार होनेपर भी अन्तमें जर्मनोंपर उनकी जीत हुई। कविता-कामिनीके संग कारागारमें भी विहार करनेवाले कवि रिचर्ड लवलेस (Richard Lovelace) की कितनी मार्मिक वाणी है कि 'जिसका मन निर्मल और प्रशान्त है, उसके लिये न तो पाषाणकी दीवार कारागार है और न लोहेकी छड़ें पिंजरा हैं; वह तो उन्हें तीर्थस्थान समझता है।' वह वास्तवमें गीताके इस उपदेशका अनुयायी था—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।' अपने मनको आत्मस्थित करके और कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। मनकी ऐसी स्थिति हो जानेपर यह जीवन ही स्वर्ग बन जाता है। गीतामें श्रीकृष्णभगवान् कहते हैं कि 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः—' इस लोकमें ही उन्होंने सृष्टिको जीत लिया है, जिनका मन समभावमें स्थित है। जो मन इतना महान् है, उसकी विविध वृत्तियोंका संक्षेपतः वैज्ञानिक वर्णन करना और उनके विचित्र व्यापारोंकी झाँकी दिखलाना ही इस लघु लेखका लक्ष्य है।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स (Sir James Jeans) का मत है[1] कि 'विश्वकी रचना गणितप्रवण देवद्वारा हुई है, जिसने मानव-मनमें तथा भौतिक जगत्‌में गणितके नियम अङ्कित किये हैं। गीतामें स्पष्ट किया गया है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥' क्षर जगत् और अक्षर जीवात्मा दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उनका धारण-पोषण करता है और जो अविनाशी ईश्वर है। भगवान्‌ने जीवात्माको अपना ही अंश माना है—यथा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। भगवान्‌का अंश होनेमें ही पुरुषकी अगाध शक्तियोंका रहस्य निहित है। पुरुष और पुरुषोत्तमका सम्बन्ध विचित्र है। दोनों ही अनादि और सच्चिदानन्दरूप हैं; पर ज्ञान, कर्म और व्यापकताकी दृष्टिसे दोनोंमें अन्तर है। परमात्मा 'अक्षरादपि चोत्तमः'—जीवात्मासे उत्तम इसलिये प्रसिद्ध है कि 'वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है एवं उसकी सामर्थ्य अनन्त तथा असीम है। 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के उपदेष्टा पूजनीय श्रीशंकराचार्यने स्वानुभूतिका सार 'षट्पदी स्तोत्र' के इस श्लोकमें दे दिया है—सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥—अर्थात् 'हे नाथ! भेद दूर हो जानेपर भी मैं तेरा हूँ, तू मेरा नहीं है—जैसे समुद्रकी लहरें कही जाती हैं, परंतु लहरोंका समुद्र नहीं कहलाता।' जिस प्रकार तरङ्गोंकी शक्तिका आगार सागर है, उसी प्रकार मानव-मनकी सारी शक्तिका स्रोत ईश्वर है। ज्यों-ज्यों पुरुष परमेश्वर परायण होता जाता है, त्यों-त्यों उसका मन निर्मल होकर अधिकाधिक शक्तिशाली होता जाता है। इसीलिये 'पाण्डवानां धनंजयः', अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार उपदेश दिया है—तू 'मन्मना भव'— मुझमें अपना मन लगा।

'अनासक्तियोग' शीर्षक गीताके अनुवादमें महात्मा गांधीने जीवात्माको अंशरूपी ईश्वर और जीवमात्रको ईश्वरका अवतार कहा है[1]। ससीम होते हुए भी ईश्वरके तेजके अंशसे सम्भूत होनेके कारण मानवके मनमें अनेक शक्तियोंका भंडार है। नभोवाणी (रेडियो), आकाश-चित्र (टेलीविज़न), वायु-यान और कृत्रिम उपग्रह, जिनसे समस्त विश्व विस्मयविमुग्ध है—ये सब मानव-मनकी ही उपज

1. Joad's Guide to Philosophy, p. 148

१. अनासक्तियोग, पृष्ठ १०।

हैं। मनने मननद्वारा ही अनेक अद्भुत आविष्कार कर डाले हैं। वास्तवमें सृष्टिका सारा सौन्दर्य मनोभव है। भौतिक विज्ञानकी दृष्टिमें समस्त संसार परमाणुओंके अविराम चक्र-नृत्य (Circling atoms in their ceaseless dance) के सिवा कुछ नहीं है। शब्द, प्रकाश, गन्ध इत्यादि लहरियों (Vibrations) की लीलामात्र हैं। ये ही लहरियाँ मानव-मनके सम्पर्कमें आते ही सरस गान, रूप-लावण्य और सुगन्धमें परिवर्तित हो जाती हैं। मन ही विज्ञानके सूने संसारको रसीला और सुन्दर बनाता है। जर्मन तत्त्ववेत्ता कांट और हेगलने मनकी इन महानताका प्रतिपादन किया है।

तुलसीदासजीके भावपूर्ण शब्दोंमें 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी' पुरुष स्थूल, सूक्ष्म और कारण— त्रिविध शरीरोंसे समन्वित है। 'एकोऽहं बहु स्याम्'—वेदोक्तिके अनुसार पुरुष और प्रकृति भगवान्की लीला हैं। गीताके त्रयोदश अध्यायमें वे दोनों ही अनादि बतलाये गये हैं। महर्षि कपिलने 'सांख्य-शास्त्र' में मनको प्रकृतिका एक विकार माना है। गीताके 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पञ्चदश अध्यायमें कहा गया है कि प्रकृतिस्थ पाँचों इन्द्रियों और मनको अर्थात् सूक्ष्मदेहको मेरा सनातन अंश जीवात्मा अपनी ओर खींच लेता है और जब वह शरीर धारण करता है या छोड़ता है, तब वह उन्हें अपने साथ ले जाता है। इससे तीन परिणाम निकलते हैं—जैसे पारदर्शी शीशेमें सूर्यका बिम्ब या उसकी किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं, वैसे ही सूक्ष्मशरीरके द्वारा ही आत्माकी चेतनता स्थूलशरीरको प्राप्त होती है और उसके जाते ही वह पञ्चभूतोंका जड समुच्चयमात्र रह जाता है। दूसरा नतीजा यह निकलता है कि मनमें संग्रहीत जन्म-जन्मान्तरके संस्कार जीवात्माके साथ रहते हैं और उन्हींके कारण वह अपने प्रारब्ध और संचित कर्मोंका फल भोगता है। कठोपनिषद्में कहा गया है—आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। कर्मोंका फल भोगनेवाला जीवात्मा इन्द्रिय और मनसे युक्त मनीषियोंद्वारा कहा गया है। तीसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि परमात्मामें अवस्थित होनेके कारण समस्त जीव, मन और शरीर एकताके सूत्रमें जुड़ जाते हैं; क्योंकि 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९ । ४)—मुझ अव्यक्त (भगवान्) से यह समूचा जगत् परिपूर्ण है। ईश्वरके तेजांशसे ही मनोयन्त्रका वैसे ही संचालन होता है, जैसे आधुनिक यन्त्र बिजलीसे गतिमान् होते हैं और यह स्थूल-शरीर मशीनकी तरह मनद्वारा क्रियाशील होता है। इस प्रकार संसारकी अनेकतामें एकता प्रकट होती है। 'नेह नानास्ति किंचन' में यही रहस्य छिपा हुआ है।

'जेते जन, तेते मन' और 'जेते तन, तेते मन' की उक्तियाँ यथार्थ हैं। ऐसा न होता तो किसी एक पुरुषके दुखी होनेपर सभी पुरुष दुखी होते और एककी भूख मिटनेपर सभीको संतोष हो जाता। पर 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।' (गीता ७ । ७) अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें मणियोंके सदृश मुझ (ईश्वर) में गुँथा हुआ है—यह वचन जनोंमें, मनोंमें और तनोंमें एकत्वका भाव भरता है। इसी आधारपर मनका मन साक्षी माना जाता है और 'सौ सयानोंका एक मत' व्यक्त होता है। एक मनकी पहुँच दूसरे मनोंपर बिना किसी माध्यमके होनेके अनेक उदाहरण हैं। जनता-विमोहन (Mass hypnotism) का यही आधार है। इस सम्बन्धमें स्वामी विवेकानन्दका एक अनुभव नीचे दिया जाता है। उन्होंने सन् १९०० में अमेरिकाके एक नगरमें अपने भाषणमें जो विचित्र बातें कहीं, उनका अनुवाद अंग्रेजीसे हिंदीमें इस प्रकार है—

'भारतमें मैंने एक बार ऐसे महात्माके बारेमें सुना, जो प्रश्नका उत्तर प्रश्न सुननेसे पहले ही बता देता था। कुछ मित्रोंके साथ मैं उसके पास पहुँचा। हममेंसे प्रत्येकने अपना प्रश्न मनमें सोच रखा था और अपना-अपना प्रश्न कागजपर लिखकर जेबमें रख लिया था। ज्यों ही हम वहाँ पहुँचे, उसने हमारे प्रश्न और उनके उत्तर देना शुरू किया। फिर उसने कागजपर कुछ लिखा, उसे मोड़ा और उसके पीछे मुझे हस्ताक्षर करनेको कहा और उसे बिना पढ़े ही जेबमें रख लेनेका मुझे आदेश दिया। ऐसा ही उसने हममेंसे प्रत्येकके साथ किया। बादमें उसने हमारे भविष्यकी कुछ बातें बतलायीं, फिर उसने कहा कि 'अब किसी भी भाषाका कोई शब्द या वाक्य तुमलोग अपने मनमें सोच लो।' मैंने संस्कृतका एक लंबा वाक्य सोच लिया। वह संस्कृत बिल्कुल नहीं जानता था। उसने कहा कि 'अब अपनी जेबका कागज निकालो।' वही संस्कृतका वाक्य उस कागजपर लिखा था और नीचे यह नोट था कि जो कुछ इस कागजपर लिखा गया है, वही यह पुरुष सोचेगा। यह बात उसने कागजपर एक घंटे पहले ही लिख दी थी। फिर हममेंसे दूसरेको, जिसके पास उसी तरहका कागज था, कोई एक वाक्य सोचनेको कहा गया। उसने अरबीमें

कुरान-शरीफका एक फिकरा सोचा। अरबी भाषाका जानना तो उसके लिये और भी असम्भव था। किंतु मेरा मित्र क्या देखता है कि वही वाक्य कागजपर लिखा है। हममेंसे तीसरा था डाक्टर। उसने जर्मन भाषाकी डाक्टरी पुस्तकका वाक्य अपने मनमें सोचा। वही वाक्य उस कागजपर लिखा था। यह सोचकर कि कहीं पहले मैंने धोखा तो नहीं खाया, कई दिनों बाद मैं दूसरे मित्रोंको साथ लेकर फिर उसके पास गया। इस बार भी उसने वैसी ही आश्चर्यजनक सफलता पायी।'

अपनी इस अनुभूतिपर उसी व्याख्यानमें प्रकाश डालते हुए स्वामीजीने कहा कि 'यह सारा अद्भुत सामर्थ्य मनुष्यके मनमें अवस्थित है। प्रत्येक मन दूसरेसे संलग्न है और प्रत्येक मन चाहे जहाँ रहनेपर भी सम्पूर्ण विश्वके व्यापारमें प्रत्यक्ष भाग ले रहा है। मन एक अखण्ड वस्तु है और इस अखण्डताके कारण ही हम अपने विचारोंको एकदम सीधे, विना किसी माध्यमके आपसमें संक्रमित कर सकते हैं। गत सितम्बर मासमें रूसके सरकारी समाचारपत्र (IZESTIA) के आधारपर यह समाचार[1] प्रकाशित हुआ था कि रूसके वैज्ञानिकोंने मनके विचारकी लहरों (Vibrations) की खोज की है और यह निदर्शन (Demonstration) किया गया कि संचालकके मनमें विचार आते ही नर-यन्त्र (Rabot) ने ग्लासको मुट्ठीमें पकड़ लिया। स्वामी विवेकानन्दने किसी प्रसङ्गपर कहा था कि 'यदि गुफामें भी निर्मल मनमें कोई उच्च विचार उठे तो वह समस्त संसारमें लहरें उत्पन्न कर देता है और तदनुसार कार्य हो जाता है। सत्य है, संत सर्वकाल और देशका द्रष्टा होता है। कवीन्द्र रवीन्द्रने भी कहा है कि 'विश्वमन और मेरा मन एक है। मनके भीतर एक दिशा है, जो सर्व मानव-चित्तकी ओर जाती है और सत्यका विस्तार विश्वमनमें है, जहाँका प्रकाश आश्चर्यजनक है।'

जब दो पुरुष सम्पर्कमें आते हैं, तब एक दूसरेके मनके प्रभाव परस्पर आदान-प्रदानकी प्रक्रियामें प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रक्रियाको विचार-संक्रमण (Telepathy) कहते हैं। प्रत्येक देश और कालमें अनेक ऐसी घटनाएँ होती हैं कि सात समुद्रपार होते हुए भी प्रियजनके मनमें जो तीव्र भाव उठते हैं, उनका प्रभाव उसके परिवारपर तत्काल देखा जाता है। द्वितीय संसार-समरमें वायुयानसे आहत होकर प्रशान्त महासागरमें एक इकलौता पुत्र अपनी माताका स्मरण करता हुआ मरता है और लंदनमें स्थित उसकी माँके मनमें पुत्रके चिर-निद्रामें सो जानेका भाव उठता है। अनेक श्रद्धालु सज्जनोंके अनुभव हैं कि पावन स्थान या पूतात्मा संतके सम्पर्कसे उनके मनमें पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं। पॉल ब्रंटन नामक अंग्रेज साधकने अपनी पुस्तक 'गुप्त भारतकी खोज' (A Search into Secret India) में महर्षि रमणसे भेंट करनेके सम्बन्धमें लिखा है कि 'महर्षि मेरे मनके अन्तरतमको देखते हुए जान पड़ते हैं; उनकी रहस्यमयी दृष्टि मेरे विचारों और मेरी कामनाओंको वेध रही है और धीरे-धीरे मेरे अंदर महान् परिवर्तन हो रहा है। एवं मुझे ऐसा जान पड़ता है कि महर्षिने मेरे मनके साथ अपनेको जोड़ दिया है।' माता, पिता और गुरुकी शुभ कामनाओंका भी प्रभाव मानव-मनपर अद्भुत होता है। तन्त्रके ग्रन्थोंके अनुसार ज्ञान-चक्षु-सम्पन्न गुरु शक्ति-दीक्षाद्वारा शिष्यके मनमें अपनी शक्ति पहुँचाकर धर्मभाव जाग्रत् कर देता है। शाम्भवी दीक्षाद्वारा गुरु शिष्यके मनमें ज्ञान उदित कर देता है और बिना सिखाये ही वह आसन और प्राणायाम आदि क्रियाएँ अपने-आप करने लगता है।* स्वप्न, जिसे छान्दोग्य-उपनिषद्ने आत्मा और सूक्ष्म शरीरकी संधि कहा है, मानव-मनको भविष्य-भेदनकी शक्ति प्रदान करता है। प्रो० जे० बी० राइन (J. B. Rhine), जो अमेरिकाकी ड्यूक यूनिवर्सिटीमें अतीन्द्रिय मनोविज्ञान (Parapsychology) की प्रयोगशालाके संचालक हैं, अपनी पुस्तक 'मनकी पहुँच' (The Reach of the Mind) में लिखते हैं कि भविष्य घटनाओंवाले सत्य स्वप्न सिद्ध करते हैं कि मानवमें ऐसा तत्त्व है, जो दिक् और कालसे अबाधित है और वह अभौतिक या आध्यात्मिक तत्त्व है। प्रेसिडेंट अब्राहम लिंकनको सन् १८६५ के अप्रेलमें स्वप्न आया कि वे एक हत्यारेद्वारा मार दिये गये और उन्होंने यह बात अपने जीवनी-लेखक वार्ड लैमन (Ward Lamon) से कही। इस स्वप्नके कुछ दिनों बाद ही उनकी हत्या की गयी।

पूर्वलिखित विवेचनों और उदाहरणोंसे प्रकट होता है कि जिन प्रभावोंसे मानव-मनमें अनेक प्रक्रियाएँ होती हैं और विविध चमत्कार दिखलायी देते हैं, वे अगोचर या इन्द्रियातीत होते हैं। इसी प्रकारके प्रभाव मनुष्यके पूर्व-जन्मके संचित-संस्कार उसके मनमें उत्पन्न करते हैं। जन्म-जन्मान्तरके अनुभव सूक्ष्म

1. Hindustan Times (Delhi) D. 9—9—58.

* रामकृष्ण-चरितामृत (सरस्वती सीरीज), पृष्ठ ११५-११६।

शरीरमें संचित रहते हैं। पूर्व-जन्मकी स्मृतिकी घटनाएँ प्रायः समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित होती रहती हैं। श्रीकृष्णभगवान्‌ने कहा है—

> तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
> यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

हे अर्जुन! (ज्ञानवान् योगीके ही कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट) वह साधक पूर्वजन्मके बुद्धिसंस्कार प्राप्त करता है और फिर वह मोक्षके लिये आगे बढ़ता है। प्रतिभाशाली पुरुषोंके चमत्कारोंका स्रोत ये ही संस्कार हैं।

मनके अगोचर संस्कारोंके पश्चात् उसके गोचर अनुभवोंका कुछ वर्णन करना आवश्यक है। यहींसे वह विषय-वारिधि आरम्भ होता है, जिसके वीचि-विलासमें मानव-मन विमुग्ध और विमूढ़ हो जाता है। आत्मा रथी शरीर-रथमें बैठा हुआ झाँकता रहता है, जब चञ्चल मनको इन्द्रियरूपी घोड़े बरबस विषयोंकी ओर खींच ले जाते हैं। इन्द्रियजन्य अनुभवोंके प्रकरणमें मनके तल और अन्तस्तल—दो अंश हैं। इन्द्रियोंद्वारा ही मन बाह्य जगत्‌से सम्पर्क करता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जगत्‌के संदेश मनमें लाती हैं अर्थात् उसकी क्रियाओंका प्रत्यक्ष बोध प्रदान करती हैं और जगत्‌पर मनकी प्रतिक्रिया कर्मेन्द्रियोंद्वारा सम्पादित होती है। मस्तिष्क (Brain) मानव-मनका कार्यालय है, जिसमें आधुनिक विज्ञानके अनुसार तीन अरबके लगभग कोष (Cells) या क्लर्क काम करते हैं। जिस प्रकार ग्रामोफोनकी चूड़ी (Record) पर अङ्कित ध्वनिके संस्कार सर्वदा स्थिर रहते हैं, उसी प्रकार किसी इन्द्रियद्वारा जो संस्कार किसी कोषपर पड़ता है वह मनमें सदा बना रहता है। जिन अनुभवोंका बोध रहता है, वे मनके तलपर तैरते रहते हैं और जो विस्मृतिमें विलीन हो जाते हैं, वे भी अन्तस्तलकी गुफामें बने रहते हैं और तलपर आनेकी प्रतीक्षा उन्हें बनी रहती है। जैसे दमन-चक्र या सैनिक शासन (Martial Law) के समय कतिपय लोग छिप जाते हैं, वैसे ही कुछ अनुभव प्रच्छन्न रूप धारण कर लेते हैं। प्रो० मैक्डूगन (Mc Dougan) ने मानव-मनकी उपमा समुद्रमें बहती हुई हिम-शिलासे दी है, जिसका तल या सतह स्वल्प अंश है, पर विशाल भाग तलके नीचे रहता है। हमारे अनुभवोंका लघु अंश मनके चेतन-स्तरपर है, पर बृहदंश तो उसके अन्तस्तल या अबोधावस्थामें विलीन है। मनकी अनेक दबायी हुई कामनाएँ, भय, क्रोध, राग-द्वेष इत्यादिके आवेश (Emotions) इसी अन्तस्तलके तहखानेमें निवास करते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर सबोध तलपर प्रादुर्भूत होते हैं। वे ही मानसिक रोग या मानस-ग्रन्थियों (Mental Complexes) के मूल हैं। किंग्स कालेज लंदनके विख्यात मनोविज्ञान-विशारद प्रो० एवलिंग (F. Aveling) ने सन् १९३१ में 'मानसिक विश्लेषण' (Psycho-analysis) पर अपनी व्याख्यान-मालामें एक विचित्र घटनाका वर्णन किया। प्रथम महासमरमें जर्मनोंके वायुयानोंसे बमवर्षा होनेकी सूचना पाते ही जब अंग्रेज-सेना खाइयोंमें प्रविष्ट हुई, तब एक कप्तान भीतर जाते ही बेहोश हो गया। हिपनोटिज्मद्वारा उसके विलीन संस्कारोंका विश्लेषण करनेपर पता चला कि जब वह बारह वर्षका बालक था, तब घरके चिथड़े बेचनेके लिये एक कबाड़ीकी अँधेरी कोठरीमें पहुँचा। लौटते समय द्वारपर एक डरावना कुत्ता उसपर टूट पड़ा और भयके मारे वह संज्ञाहीन हो गया।

> यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्॥

'जिस प्रकार नये बर्तनपर लगा हुआ निशान टिक जाता है, उसी प्रकार बाल्यकालके संस्कार स्थायी हो जाते हैं।' वह बालक इस भयंकर अनुभवको भूल गया, पर उसके स्नायु-मण्डलपर उसका संस्कार जम गया। अन्धकारमय खाईका द्वार और बम-वर्षाकी भीति—वही समान परिस्थितिका पुनरावर्तन होनेपर उसकी नसोंमें वही पुरानी प्रतिक्रिया हुई। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञानवेत्ता डा० रिवर्स (Rivers) ने उसके मनमें साम्य-अवस्था (Mental Equilibrium) लानेका एकमात्र उपचार यह सम्पन्न किया कि उसे पूर्व परिस्थितिका ज्ञान कराया और वह स्वस्थ हो गया। गीताका वचन है—

> ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
> 'ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है।'

डा० फ्रॉयड (Freud) ने बाल्यकालके संचित संस्कारोंकी ओर ध्यान आकर्षित कर संसारकी सेवा की है। उसका मत है कि जो वासनाएँ नीतिके विरुद्ध या समाजके प्रतिकूल होती हैं, उनका दमन किया जाता है, अतः वे अज्ञात मन (Unconscious) में चली जाती हैं। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्वप्नविचार' (The Interpretation of Dreams) में लिखा है कि मनुष्यकी निरुद्ध वासनाएँ अज्ञात मनोजगत्‌से निकलकर स्वप्न-संसारमें अपनी संतुष्टिकी चेष्टा

करती हैं। वे वेष बदलकर घूमनेवाले चोर-डाकुओंकी तरह विचित्र रूपोंमें प्रकट होती हैं। स्वप्नकी अधिकतर इच्छाओं-को उसने काममूलक माना है। उसने अज्ञात मनोव्यापारके चमत्कारके कई दृष्टान्त अपने ग्रन्थ 'दैनिक जीवनके मनोरोग' (The Psycho-Palthology of Everyday Life) में दिये हैं—यथा वादेको भूल जाना, अचानक किसीके प्रति क्रोध या प्रेम होना, बीती वातका बहुत दिनों बाद सहसा स्मरण, पत्रका उत्तर या पता लिखना भूल जाना, कुछ-का-कुछ कह देना इत्यादि सारी क्रियाएँ अज्ञात मनके व्यापारोंके कारण होती हैं। एक बार किसी संस्थाका उद्घाटन करनेके लिये किसी ऐसे महानुभावको निमन्त्रित किया गया, जिनके चित्तमें उसके असफल हो जानेकी दृढ़ धारणा थी। व्याख्यान देते समय उनके मुखसे 'उद्घाटन' के स्थानमें 'मैं इस संस्थाको बंद करता हूँ' ये शब्द सहसा निकल पड़े। फ्रॉयडका निष्कर्ष है कि अज्ञात मनमें छिपी हुई धारणाने यह प्रभाव दिखलाया। उसने बालकका प्रारम्भिक जीवन बहुत महत्त्वका माना है; क्योंकि उस समयके वातावरण और उसके साथ किये गये व्यवहारोंकी अमिट छाप उसके मनपर बैठ जाती है एवं तत्कालीन अनुभवोंके अनुसार ही प्रायः उसके जीवन-प्रवाहकी गति निर्धारित होती है। वह काम-वासनाका परिष्कार (Sublimation) मानता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि। (गीता ७। ११) अर्थात् प्राणियोंमें धर्मके अनुकूल काम मैं हूँ।

आत्मबलसे मनोबल प्राप्त होता है। योगके अष्टाङ्गोंमें आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करनेके लिये पाँच यम—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह तथा पाँच नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरचिन्तन मुख्य माने गये हैं। आसन और प्राणायामद्वारा तन और मन दोनों ही विमल और सबल हो जाते हैं। प्रत्याहारके सफल होनेपर सब इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं। धारणासे चित्त निर्वात दीपककी तरह एकमात्र ध्येयमें अवस्थित रहता है। पातञ्जल योगसूत्र 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' की व्याख्या करते हुए व्यासजीने अपने भाष्यमें लिखा है कि 'नाभि-चक्र, हृदय-कमल, भ्रूमध्य, जिह्वाग्र इत्यादि स्थानोंमें चित्तका स्थिर होना धारणा है।' जिस स्थानमें साधक चित्तकी धारणा कर चुका है, उसमें ध्येयके ज्ञानकी एकतानता या एकाग्रता ध्यान कहलाती है। जब यह ध्यान इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि ध्याता, ध्येय और ध्यानकी त्रिपुटीका ज्ञान लुप्त हो जाता है, तब समाधि सम्पन्न होती है। धारणा, ध्यान और समाधिकी समष्टिको 'संयम' कहा जाता है। भोजदेवकृत 'राजमार्तण्ड' नामक योगसूत्र-वृत्तिमें इन तीनों अङ्गोंको 'तान्त्रिकी संज्ञा' कहा है। चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे ही जीवात्मा आत्मस्वरूपमें स्थित हो सकता है।

योगके अष्टाङ्गोंके उपर्युक्त वर्णनका तात्पर्य यह है कि आत्मा, मन और शरीरका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीताके ध्यानयोग नामक छठे अध्यायमें यह सम्बन्ध स्पष्ट रूपसे समझाया गया है। योगशास्त्रके 'विभूति' पादमें बतलाया गया है कि 'संयम' द्वारा योगी अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। मनोबल प्राप्त होनेपर साधक अनेक चमत्कार दिखा सकता है। शरीरके रूपमें संयम करनेसे योगी अन्तर्धान हो जाता है। बलोंमें संयम करनेसे हस्ती आदिका बल प्राप्त होता है। भीमके अतुल बलका यही रहस्य है। सूर्यमें संयम करनेसे भुवन-ज्ञान होता है—'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (योग० ३। २४)। व्यासदेव अपने भाष्यमें लिखते हैं कि इस प्रकार योगीको सब लोकोंका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। नाभि-चक्रमें संयम करनेसे शरीरस्थ सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। कण्ठकूपमें संयमसे भूख-प्यास निवृत्त हो जाती है। कपालके ब्रह्मरन्ध्रमें संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान नामक वायुओंमें संयम करनेसे योगी जल, कीचड़ और कण्टकोंपर यथेच्छ गमन कर सकता है और मृत्यु भी उसके वशमें हो जाती है। सिखगुरु अर्जुनदेवके कालमें मिट्टी खोदते समय समाधि लगाये एक साधु बैठे पाये गये। उन्होंने अमृतसरका जो वर्णन किया था, उससे विदित हुआ कि वे सैकड़ों बरसोंसे समाधिमग्न थे। आकाश और शरीरके सम्बन्धका संयम करनेसे रूईकी भाँति हल्का होकर योगी आकाशमें उड़ सकता है। तिब्बतमें—जहाँ मठोंमें योगाभ्यासका प्रचुर प्रचार है—योगी लामा अब भी उड़ते हुए देखे जाते हैं। यह लघिमा सिद्धि कहलाती है। अणिमा सिद्धिसे विशाल शरीर भी अणुके समान बनाया जा सकता है और महिमासे पर्वत आदिके समान होनेकी क्षमता आ जाती है। हनुमान्‌जीको ये सिद्धियाँ प्राप्त थीं। रामायणमें लिखा है—

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दुगुन कपि रूप देखावा॥

—और फिर लघु रूप धारणकर उड़ते हुए वे लङ्का पहुँच गये। संक्षेपतः यह कहना पर्याप्त है कि सांख्य-प्रवचन-

माध्यमें विज्ञान-भिक्षुने 'नास्ति योगसमं बलम्' में सागरको गागरमें भर दिया है। यह विचित्र बल अभ्यास और वैराग्य-से प्रत्येक मनुष्य प्राप्त कर सकता है। चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है।

मानवताका मूल आत्मबल और मनोबल है। इन बलोंद्वारा ही विश्वकी समस्त शक्तियोंका समन्वय होता है।

कविवर 'निराला' की निराली कवितासे यह लेख समाप्त किया जाता है—

चेतनका सुंदर इतिहास, अखिल मानव भावोंका सत्य।
विश्वके हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरोंसे अङ्कित हो नित्य॥
शक्तिके विद्युत् कण जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उनका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय॥

विज्ञान और मानव-मनकी अद्भुत शक्तियाँ

(लेखक—डा० एच्० वेदान्त शास्त्री एम्० ए०, डी० फिल०)

एक प्रसिद्ध अंग्रेज कविने एक बार कहा था कि 'मेरा मन मेरा एक राज्य है।' हाँ, मन अवश्य एक राज्य है। जैसे राजनीति-विज्ञान पार्थिव राज्यसे सम्बद्ध है, वैसे ही मनोविज्ञान मानस राज्यसे है। अति प्राचीन कालसे इस विशाल राज्यमें अनुसंधानका कार्य चल रहा है।

पाश्चात्त्य जगत्में मनोविज्ञान बड़ी तेजीके साथ आगे बढ़ा है। फ्रायडके विचारोंने तो एक नया रास्ता ही खोल दिया है। मनःशक्ति सचमुच ही कोई चीज है, केवल दार्शनिकोंका स्वप्न नहीं।

मनके तीन स्तर हैं—चेतन, सुप्तचेतन और अचेतन। हमारे पूर्वाचार्य इससे अनभिज्ञ नहीं थे। वात्स्यायनने यौन मनोविज्ञानके क्षेत्रमें किस प्रकार मनोवृत्तियाँ कार्य करती हैं, इसका निर्देश किया है।

न्याय और वैशेषिक-दर्शन जड प्रकृतिको ही विशेष रूपसे लेकर चले हैं, मनके विषयसे उनका सम्बन्ध बहुत कम है। मन देशकी दृष्टिसे आकारमें अणु-परिमाण है, इतना ही कहकर वे संतुष्ट हैं।

सांख्यदर्शन बहुत कुछ भौतिक प्रकृतिके परेकी सत्ताका विचार करता है। न्याय-वैशेषिकके मनके देशगत-सम्बन्धी परिमाण-निर्णयको वह नहीं मानता। मनको वह देशकी दृष्टिसे मध्यम-परिमाण मानता है। अतः न्याय और वैशेषिककी अपेक्षा इस शास्त्रके अनुसार मनकी शक्तिमत्ता अधिक है।

पर इस विषयमें सबका एक मत है कि मन सब इन्द्रियोंका राजा है और इस मनरूपी माध्यमके बिना कोई ज्ञानेन्द्रियाँ अपना काम नहीं कर सकतीं, अर्थात् किसी विषयकी प्रतीति जीवको नहीं करा सकतीं।

वेदान्त इन्द्रिय-सम्पर्कशून्य मनकी दो अवस्थाएँ मानता है—स्वप्नावस्था और सुषुप्ति-अवस्था। स्वप्नावस्थामें निद्रा अथवा निद्रा-जैसी किसी वृत्तिके कारण सारी इन्द्रियाँ सोयी हुई रहती हैं और मन सचेतन-रूपसे कार्य करता है। सुषुप्तिमें भी इन्द्रियाँ तो सुप्त रहती ही हैं, मन भी सुप्त चेतन-अवस्थामें रहता है।

वेदान्तका मुख्य उद्देश्य है—आत्मानुभूतिका अपरोक्ष ज्ञान, उस आत्माका, जो मनकी पकड़के बाहर है। 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।' अतः मनकी सूक्ष्म वृत्तियोंका अनुसंधान इसमें नहीं किया गया है; परंतु फिर भी इस बातपर जोर दिया गया है कि मनके द्वारसे ही ब्रह्मका अनुभव किया जाता है—मनसैवानुद्रष्टव्यः। इस प्रकार वेदान्तमें मनके दो पक्ष हैं—एक वह, जो आत्मानुभव करनेमें असमर्थ है और दूसरा वह, जो समर्थ है।

वेदान्तके अद्वैत-सिद्धान्तमें भी मनका बहुत बड़ा महत्त्व है। इस सिद्धान्तमें जगत् मिथ्या है, केवल स्वप्न-जगत्के तुल्य है। योगवासिष्ठ (उत्पत्ति०, ३। २५) में कहा गया है—'मनोमात्रमतो विश्वं यद् यज्जातं तदेव हि।'—विश्व केवल मन ही है; जो-जो कुछ उत्पन्न है, वह सब मन ही है। योगवासिष्ठमें तो नहीं, पर पतञ्जलिके योगसूत्रोंमें मनकी अद्भुत शक्तियाँ वर्णित हैं।

अन्य सभी दर्शनोंके समान योगदर्शनका भी उद्देश्य आत्माकी अपरोक्षानुभूति ही है। परंतु वह अनुभूति मनके द्वारा ही प्राप्त करनी है, अतएव योगसूत्रोंमें मनको विशेष महत्त्व दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायमें योगकी एक झलक दिखायी गयी है, पर मनःशक्तिके बारेमें उसमें विशेष कुछ नहीं कहा गया है। परंतु योगसूत्रोंमें प्रधानतया मनका ही निरूपण है, अतः मनकी सूक्ष्मताओंका

इसमें विवरण है। बृहदारण्यक-उपनिषद्के 'अनन्तं मनः' इस वचनसे प्रभावित होकर योगसूत्र यह निर्देश करते हैं कि मनकी असीम क्षमता है और परिमाणकी दृष्टिसे भी वह अनन्त है। इसकी क्षमता जो सीमित-सी प्रतीत होती है, इसका एकमात्र कारण यह है कि सत्त्व, रज और तम—इस गुणत्रयने इसे सीमित कर दिया है; क्योंकि मनमें ये तीनों ही गुण व्याप्त हैं। मन यदि पूर्णतया सत्त्वप्रधान हो, जिस अवस्थामें अन्य दो गुण नीचे दबे रहते हैं, तो मन सर्वशक्तिमान् हो सकता है—यह योगदर्शनका सिद्धान्त है।

पतञ्जलि केवल सिद्धान्तवादी नहीं, व्यावहारिक भी हैं और इसलिये उन्होंने अपने योगसूत्रोंके चार पादोंमें आगे लिखी हुई साध्य-साधनसम्बन्धी चार बातोंका निरूपण किया है—(१) समाधि अर्थात् योगकी स्थितिका स्वरूप, (२) साधना अर्थात् समाधिलाभ करनेके साधन और मार्ग, (३) विभूति अर्थात् विविध मनःशक्तियाँ, जो इस साधनासे संवर्द्धित होती हैं और (४) कैवल्य अर्थात् मुक्तिकी परमावस्था। विज्ञान और मनकी अद्भुत शक्तियोंके सम्बन्धमें द्वितीय और तृतीय पाद सबसे अधिक महत्त्वके हैं। इस विषयमें पतञ्जलि जो सूत्र लिख गये हैं, उनके आगे या उनसे अधिक और किसीने कुछ नहीं कहा है।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार मानवताके आदर्श और लक्षण

(लेखक—डा० एच्० वेदान्त शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल०)

मानवतासे मानव-प्रकृतिका वह अङ्ग, मानवका वह लक्षण अभिप्रेत है, जो अन्य प्राणियोंसे उसे पृथक् करता है। वह क्या है? विष्णुशर्माने यह प्रतिपादित किया है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन—सभी प्राणियोंमें समान हैं; धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध मानव-प्राणियोंसे ही है और जो पशुओंसे मानवकी विशिष्टता प्रकट करती है।

वह धर्म क्या है?

कणादका वचन है कि धर्म वह है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो। इसका मार्ग क्या है? धर्मकी ओर ले जानेवाले मार्गके ही सम्बन्धमें नहीं, धर्मके स्वरूपके सम्बन्धमें भी बहुत मतभेद है।

आर्योंके परम्परागत सनातन ज्ञाननिधि वेद हैं—वेदोंका कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों। कर्मकाण्डमें इहलौकिक जीवन तेजस्वी और सर्वाङ्ग-सुख-सम्पन्न बनाने तथा परलोकमें आनन्दमय जीवन-लाभ करनेके विधियुक्त कर्म बतलाये गये हैं। यह स्वर्ग-साधक कर्मका प्रतिपादक है। इसके विपरीत ज्ञानकाण्डका प्रतिपादक शांकर वेदान्त बौद्धमतसे प्रभावित होकर इस जगत्का अस्तित्व ही नहीं मानता और ब्रह्मके नामपर शून्यवत् किसी सत्ताका प्रतिपादन करता है। इस सत्ताके साथ एकीभूत होनेके लिये जो साधन आवश्यक होता है, वह है ज्ञान।

मनीषियोंकी एक तीसरी श्रेणी है, जो जगत्का अस्तित्व तथा सगुण-साकार ईश्वरकी सत्ता मानती है। भक्तिके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार होता है। पर इस भक्तिके अनेक प्रकार हैं। इनमें मतैक्य नहीं है। इससे भक्तिके अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं।

इन विविध मतोंमेंसे दो बातें प्रधानतया सामने आती हैं—

इहलोक, इसमें अभ्युदयका होना कञ्चन और कामिनीपर अवलम्बित है।

परलोक, अर्थात् निःश्रेयस् कनक और कान्ताके त्यागपर निर्भर है।

सभी धर्मग्रन्थ और सभी सम्प्रदायोंके मनीषी अपनी-अपनी साम्प्रदायिक पद्धतिका निर्देश करते हैं, पर मानवताका पथ गीताके सिवा अन्यत्र कहीं भी वैसा स्पष्ट नहीं दीख पड़ता।

केवल भगवद्गीताने ही मानवताका पथ निर्दिष्ट किया है। इसी पथको हम धर्म कह सकते हैं। यह सर्वसामान्य जनताके लिये है, चाहे किसीका धर्म-सम्प्रदाय कुछ भी हो और कोई कहीं भी रहता हो। गीता ही सारे जगत्में एकमात्र ग्रन्थ है, जो विश्वधर्मका प्रतिपादक है। विश्वधर्म ही मानवता है। मानवताके आदर्श और लक्षण किस प्रकार गीतामें बतलाये गये हैं, अब यह देखना चाहिये।

गीताने इस जगत्की उपेक्षा नहीं की है, जैसी कि योगाचारी और माध्यमिक बौद्धोंने की है, न परलोककी ही उपेक्षा की जैसी कि चार्वाकोंने की है। गीताने इन दोनोंका समन्वय साधा है और यही मानवताका बीज है।

मानवता क्या है, इसे स्पष्ट करनेके लिये गीताने १६ वें अध्यायमें मानवके दो भेद किये हैं—दैव और आसुर। आसुर मानवरूपमें रहता हुआ भी अमानव है और दैव मानवताकी निधिका पात्र है। दैव-मानव होनेके लिये नीचे दिये हुए लक्षणोंका अभ्यास आवश्यक है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
(गीता १६। १-३)

यह मोक्षकी साधन-सम्पत्ति है। (१६। ५)

मानवताके ये ही लक्षण हैं। इन्हींसे मानव-जीवन सुन्दर-सुखद होता है और यदि यह सुन्दर-सुखद है तो इसमें कहींसे भी नैराश्य, आलस्य और अकर्मण्यताको नहीं घुसने देना चाहिये। यह तेजस्वी, उत्साहपूर्ण, शुभेच्छासम्पन्न और कर्तव्यपरायण होना चाहिये। एक ही बातसे इसमें बचना है। वह है वासना—कामना।

इस पथपर राग-द्वेषवियुक्त होकर अपने कर्तव्यका पालन करना है। धन और स्त्रीका भी त्याग नहीं है, यदि वे धर्मके अविरुद्ध हों। (गीता ७। ११)

अतः मानवतासे सम्बन्धित जो जीवन है, वह फलाशारहित कर्ममय जीवन है। फल अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसे ईश्वरको ही समर्पित करना है—यह जानकर कि इहलोकके जीवनमें वही हमारा एकमात्र पथप्रदर्शक है।

गीतोक्त मानवता ही सच्चा धर्म है। इसमें निष्प्राण कर्मोंका कोई विधान नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण विविध धर्मोंको छोड़ एक भगवान्‌के ही चरणोंमें पूर्ण आत्मसमर्पण करनेका विधान है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(गीता १८। ६६)

यही इस भवाब्धिमें हमारी नौकाके केवट भगवान्‌का परम वचन है।

मानव-जाति और मानवका लक्ष्य

(लेखक—डाक्टर के० सी० वरदाचारी)

आज संसारकी दशा अवश्य ही दयनीय है एवं अपने भविष्यके सम्बन्धमें गम्भीरतासे विचार करनेवाले व्यक्तियोंको विदित हो जायगा कि कोई भी लक्षण उत्साहका वर्द्धक नहीं है। धर्मकी ग्लानि बड़ी तीव्र गतिसे बढ़ रही है और इस नवीन विपत्तिका प्रतीकार करनेके लिये धर्मकी शक्तियाँ एकत्र नहीं हो पायी हैं। वर्तमान परिस्थितिकी कठिनाई इसलिये भी बढ़ गयी कि धर्म और अधर्मका विवेचन करनेकी योग्यता धीरे-धीरे नष्ट हो चुकी है। धर्मकी परिभाषा करना कठिन है। प्राचीन समयमें धर्मका अर्थ था—उन कर्तव्योंका आचरण जिनको भगवान्‌ने अपनी अनन्त दयाके कारण प्रत्येक जीवके लिये उसके गुण-कर्मानुसार अथवा वर्ण और आश्रमके अनुसार निश्चित कर दिया है। आजकल बुद्धिवाद एवं साम्यवादके नामपर जो धर्म-सांकर्य चल पड़ा है, उसके कारणसे धर्म और आचारके मान-दण्डोंका त्याग आवश्यक हो गया है। कोई व्यक्ति उस स्तरतक नहीं उठ पाया है, जहाँ वह अपने आन्तरिक स्वभाव, जीवनकी परिस्थिति और जीवनके उद्देश्यके अनुसार अपने कर्तव्यको ढूँढ़ निकाले। हम अपनी लक्ष्य-प्राप्तिकी भावनाको भूल गये हैं और यह भी स्पष्ट नहीं है कि हमारे वर्तमान मनीषी और शासक हमें वह (भावना) दे भी सकते हैं अथवा नहीं। अतः धर्मके क्षेत्रमें महान् परिवर्तन हो गया है और अधर्मकी बहुत-सी बातें धर्मके रूपमें स्वीकार की जा रही हैं।

केवल मत-मतान्तरके अध्ययनसे धर्मका ज्ञान नहीं प्राप्त होता, यद्यपि यहाँ भी मानवके भाग्यकी समस्याका सयुक्तिक समाधान अत्यन्त सहायक होगा। संसारमें एकताकी प्रवृत्ति हो चुकी है—इसमें वैज्ञानिक, राजनीतिक और अर्थशास्त्रीय क्षेत्रोंकी अनेक घटनाएँ कारण हैं—मनुष्योंके प्राण बचानेका मोह भी एक कारण है। विज्ञानकी दृष्टिसे उन्नत तथा अनुन्नत जातियोंमें शासन और शासितके बीच, निर्धन और धनीके बीच विरोधकी मात्रा बढ़ने लगी है। यूरोप और अमेरिकाके प्रति एशियावालोंके विरोधने एवं अन्य राष्ट्रोंके प्रति अरबके विरोधने ऐसी समस्याएँ ला खड़ी की हैं, जो विश्वके स्तरपर पुनर्विचारकी अपेक्षा रखती हैं। यह सत्य है कि पूर्व और पश्चिम दोनोंमें ही अनेक गम्भीर विचारक हैं, जो

मानवीय स्तरपर इस समस्याका विश्लेषण करते हैं; किंतु अधिकांश व्यक्ति उसको अपने वैयक्तिक, जातीय और संकीर्ण स्वार्थके दृष्टिकोणसे देखते हैं। मनुष्यके हृदयमें दार्शनिक भावनाका पुनरुदय होना है; किंतु यह देखा गया है कि दार्शनिक और धार्मिक व्यक्ति भी आर्थिक तथा अन्य लौकिक विचारोंकी ही ओर झुके हुए हैं एवं संसारके मानवोंको विश्वैक्यका और जगत्के एवं उसके निवासी मानवोंके आध्यात्मिक झुकावका ज्ञान करानेमें संकोचका अनुभव करते हैं। क्या हमलोगोंको, जो ऋषियोंकी संतान हैं, भारतके दार्शनिक-संस्कारोंसे लज्जित होना चाहिये और क्या उन संस्कारोंका भौतिक लक्ष्योंकी प्राप्तिके लिये विनियोग करना चाहिये? यह प्रवृत्ति आजकल देशभरमें व्याप्त हो गयी है। कभी यहाँ अपने देवताओंका मानवकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये विनियोग किया जाता था। ऐसा नहीं था कि देवताओंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये मनुष्योंका विनियोग किया गया हो।

योग और यागकी प्रक्रियाओंमें प्राच्य विप्रोंद्वारा बुद्धिमत्तापूर्वक मानवका देवताके रूपमें अनुध्यान ही मानव-धर्म था, किंतु मानवके लोभने दैवी-सम्पत्तिके विकासको रोक दिया।

स्वर्गको और वहाँकी मन्दाकिनीको भूमिपर लाना एक बड़ा आश्चर्य था, किंतु इससे मानवकी न तो स्वर्गकी अभीप्सा और न अपवर्गकी अभीप्सा ही सफल हो सकी। आजके जगत्को धर्मकी आवश्यकता है, जिसका स्वरूप है मानवकी सर्वश्रेष्ठताका अन्वेषण। मनुष्यका कल्याण तबतक नहीं हो सकता, जबतक वह उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये जीवन-यापन प्रारम्भ न कर दे जो न केवल मानवसे अपितु मानव-जातिसे भी महत्तर है। अवश्य ही हम रक्षाके प्रयत्नसे उन्नतिको नहीं प्राप्त होते, अपितु उन्नतिके द्वारा हम आत्मरक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। केवल आत्मरक्षाके लिये प्रयत्नशील व्यक्ति समाजका भार बन जाता है। इसीलिये भारतके महर्षियोंने यह कहा था कि मनुष्यको अपने वास्तविक स्वरूप और लक्ष्यके प्रति जागरूक हो जाना चाहिये और अपने उद्योगसे तबतक विराम नहीं लेना चाहिये, जबतक लक्ष्यकी प्राप्ति न हो जाय। लक्ष्यकी सतत दूरगामिताको देखकर व्यग्र नहीं होना चाहिये; क्योंकि जिस व्यक्तिने उस मार्गपर अग्रसर होनेका निश्चय कर लिया है, उसका अध्यवसाय उचित ही है; और वह अनन्त तत्त्व उस व्यक्तिको सुरक्षा और आनन्द प्रदान करके अन्तहीन उस लक्ष्यतक पहुँचा देता है।

मनुष्यको अपने अस्तित्व, चैतन्य, ज्ञान और आनन्दके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। मनुष्य यह विचारकर अपने मिथ्याभिमानका पोषण कर लेता है कि ईश्वरको मनुष्यकी आवश्यकता है और यह मिथःसापेक्षता ही जीवनकी वास्तविकता है। अस्तु, आजकी दुरवस्थासे यह विदित होता है कि विश्वकी राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक समस्याओंका समाधान मानवकी शक्ति और योग्यतासे परे है।

आज सभी विघटक शक्तियाँ पूर्णतया सक्रिय हैं। अपनी इस वर्तमान दशाकी अपेक्षा महत्तर प्राप्यमें आस्था रखनेवाले व्यक्तियोंको उस परम सत्य (ईश्वर) से इन समस्याओंसे पार लगानेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि हमने मानवमें विश्वास खो दिया है, किंतु यह है कि हमने अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचनेके उसके आधुनिक साधनोंमें विश्वासको अवश्य ही खो दिया है। प्रभुने अपनी असीम दयाके कारण मनुष्योंको प्रत्यक्ष, अनुमितिजन्य और शब्दजन्य ज्ञान दिया, किंतु उन्होंने प्रभुका निषेध कर दिया, उसके अतीन्द्रिय सत्योंका प्रतिषेध कर दिया और उसके संदेशवाहकोंद्वारा प्रचारित नैतिक धर्मोंको भी अकिंचित्कर समझ लिया।

आज प्राचीन परम्पराओंके प्रति केवल वाचिक भक्तिका प्रदर्शन ही पर्याप्त प्रतीत होता है। आजका व्यक्ति आत्म-निर्भरताको प्राप्त करनेके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनीतिक उद्देश्यके लिये समायोजित संस्कृतियों और शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओंसे समावृत है। हमारे दूरदर्शी प्रधान मन्त्रीद्वारा समर्पित 'पञ्चशील' का सिद्धान्त महान् है और इसके लिये न केवल सर्वविध हिंसाका परित्याग ही अपेक्षित है, अपितु धर्मके विवेचनका धैर्य भी। किंतु अभीतक तो धर्मको जाननेके प्रयत्नका प्रारम्भ भी नहीं हुआ है। भारतमें हम परम्परागत मूल्योंका कोई विचार न करते हुए उनका प्रारम्भ अनास्था-पूर्वक करना चाहते हैं; क्योंकि उनके विषयमें अविमर्शपूर्वक कह दिया जाता है कि वे तो हमारे विगत सामाजिक विधानों और धार्मिक विश्वासोंसे सम्बद्ध हैं। प्रतीच्य आदर्शोंके ग्रहणकी कोई सीमा नहीं है; क्योंकि यह कहा जाता है कि धार्मिक विश्वास भोजन-वस्त्र, किंबहुना प्रत्येक वस्तुमें सर्व-

साधारण आदर्शोंके स्वीकरणके आधारपर ही विवेक आगे बढ़ता है। मानव-जातिके प्रति प्रेम रखनेवालोंके लिये ये बातें भले ही कोई अर्थ न रखती हों, किंतु हम मानवके आन्तरिक जीवनकी कतिपय मौलिक आवश्यकताओंपर एवं जन्म-मृत्युके विषयमें आश्चर्य आदिपर विचार करना छोड़ देते हैं। इन विषयोंपर प्रशिक्षणकी आवश्यकता है और उन्हींका हमारे जीवनके अधिकांशपर शासन है। वस्तुतः अचेतन मन हमारे जीवनपर शासन और उसपर नियमन करता है और अचेतन मनका प्रशिक्षण संदेहात्मक ज्ञान और शिल्पीय ज्ञानके उन वर्तमान प्रभेदोंकी अपेक्षा अधिक आवश्यक है, जो सबके लिये काम देनेका समर्थन करते हैं। यह बात नहीं है कि सबको काम देना महत्त्वकी बात नहीं है; किंतु परमावश्यक है मानवको उस जीवनके लिये शिक्षा देना, जो आपाततः मनोरम वर्तमान जीवनकी अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त है। वर्तमानकालीन शिक्षाके लिये यह कहना कि वह मानवपक्षीय है, दोषारोपण नहीं होगा; क्योंकि वस्तुतः वह यन्त्रपक्षीय है और है 'खादत मोदत' की भावनासे भावित। उससे मानवको समृद्धतर और पूर्णतर मानव बननेकी प्रेरणा नहीं मिलती। वर्तमान कालमें मानवकी और उसके ज्ञानकी पारस्परिक प्रतिक्रिया ऐसी नहीं हो रही है कि मानव सत्य तत्त्वका योग्य नागरिक बन सके।

पहले तो मन जीतो !

(रचयिता—श्रीविद्यावती मिश्र)

जगको जीत सकोगे पीछे पहले तो मन जीतो !
ज्योति कलश पहले हरता निज अंतसका अँधियाला,
अमृत बिखरानेवाला पीता है विषका प्याला,
कुविचारी रिपुपर जय पाता संयमका सेनानी,
क्रोधानल शीतल करती है शान्त सुकोमल वाणी,
यदि पावस बनना है तो सावनका यौवन जीतो !
पहले तो मन जीतो !!

तृष्णा सीमित करो खींच नैतिकताकी सीमाएँ,
वैभवकी लिप्सा न मुख्य कर दे दीनोंकी आहें,
दिव्य आत्म-चिन्तनके खरसे सजग करो पथ अपना,
मूर्त करो तुम 'शिवं, सुन्दरं, सत्यं'का शुचि सपना,
आकर्षित हो विश्व स्वयं यह भी आकर्षण जीतो !
पहले तो मन जीतो !!

मन जीतो, माया जीतो, मायाकी ममता जीतो,
मत औरोंको पहले अपनी ही दुर्बलता जीतो,
जीतो कल्मष, कलुष, कालिमा, कायरताको जीतो,
प्राप्य अप्राप्य विभेद विनाशिन भावुकताको जीतो,
मुक्ति प्राप्तिके पूर्व 'अहं' का दृढ़तर बन्धन जीतो !
पहले तो मन जीतो !!

विनाशकारी भविष्य

वस्तुतः जब भौतिकताका बोलबाला होता है, तब ईश्वर और धर्मसे विश्वास उठ जाता है और मनुष्य अहंमन्य कालनेमि-परायण होकर काम-क्रोध-लोभका दास हो जाता है और अपनी उन्नति एवं दूसरेके विनाशकी बात ही सोचता रहता है तथा भौतिक बलसे दूसरोंपर विजय प्राप्त करके गर्वोन्मत्त होकर छाती ऊँची करके अकड़ा रहता है। पर उस समय वह यह नहीं देख पाता कि 'विकराल कालके दोनों हाथोंके पंजोंमें वह जकड़ा हुआ है और पलक मारते-मारते ही काल उसे पीस डालेगा।'

इसी प्रकार विशाल तथा विलक्षण वैज्ञानिक आविष्कारोंके फलस्वरूप अनेकों इंजन, मोटरें, सबमेरिन् तथा बम और [illegible] उत्पन्न कर मनुष्य बड़े-बड़े विज्ञान-कल्पनामय कारखाने बनाता है; पर वह यह नहीं देख पाता कि इन सारे कारखानोंपर काल अपनी ज्वालामयी फूँक मार रहा है और जब चाहेगा, तब एक ही फूँकसे इन सबको फूँककर खाक कर देगा। कालनेमिपरायण आसुर-मानव यथार्थ विचार नहीं कर पाता; पर उसको अपने कामक्रोधलोभप्रेरित विनाशका फल तो भोगना ही पड़ता है। आसुर-मानवका विनाश अवश्यम्भावी है; क्योंकि उसका आसुरी भाव उसे भगवान्‌की ओर जानेसे सदा रोकता रहता है और मङ्गलमय भगवान् उसकी इस रुकावटको दूर किये बिना मानते नहीं। इसीमें उसका कल्याण है।

महाध्वंसका यह साज

हिरोशीमा-नागासाकीकी दुर्दशा

अभी पिछले ही दिनों जापानमें हिरोशिमा-नागासाकी नगरोंमें उन नगरोंके ध्वंसकी स्मृति मनायी गयी है। अबतक भी—आज एक दशाब्दीसे अधिक बीत जानेपर भी जापानके उन नगरोंके समीपवर्ती जन परमाणुविस्फोटके विषसे मुक्त नहीं हो सके हैं। चाहे जिस क्षण उनके शरीरमें शोणितवाहक रक्तकण नष्ट होने लगते हैं और तब एक ही उपाय होता है: समीपतम जो अस्पताल हो वहाँ वे जाकर रक्त चढ़वायें अपनी नसोंमें।

हिरोशिमा और नागासाकी—जापानके ये दो नगर गत द्वितीय महायुद्धकी समाप्तिके समय अमेरिकन विमानोंसे गिराये गये परमाणु बमोंके शिकार हुए। उस दारुण स्थितिकी कल्पना कर पाना भी कठिन है।

चींटियोंका एक समूह कहीं एकत्र हो और उसके ऊपर दहकता अङ्गार डाल दिया जाय—नगरके सहस्र-सहस्र मनुष्य: अबोध बालक, निरपराध महिलाएँ सब तड़पते भुन उठे। बड़े-बड़े पक्के मकान ढेर बन गये। वहाँ फौलाद पिघलकर बह गया—देहधारियोंकी क्या चर्चा।

बम गिरनेके केन्द्रस्थलसे जो क्वचित् दूर थे—झुलस गया उनका चमड़ा; गल ही गये वस्त्र और केश—किसी जीवित मनुष्यको जलती भट्ठीमें उठाकर फेंक दिया जाय और वह झुलसा, पागल छटपटाता भागे—कुछ पद भागकर गिर पड़े निष्प्राण—इसी प्रकार वे झुलसे भागे, मरकर गिरे।

यह पैशाचिक महानाश—मनुष्य थे वे जिन्होंने बम बनाये! मनुष्य थे वे, जिन्होंने उसके उपयोगकी अनुमति दी! मनुष्य ही थे वे जिन्होंने वे बम गिराये थे! हाय रे मनुष्य! हाय री मानवकी भोगलिप्सा!!

ये बम-परीक्षण

पीछे छूट गया हिरोशिमा! विस्मृत हो गया नागासाकी! उनपर गिरे परमाणु बम तो खिलौने थे—बच्चोंके खिलौने। अब बना लिया है मनुष्यने हाइड्रोजन बम! बना लिया है अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र! बटन दबाओ और सहस्रों मील दूर मनुष्योंका कोई महानगर—लक्ष-लक्ष मनुष्य भस्म।

परीक्षण चल रहे हैं अभी—अधिक विनाशक, अधिक लक्ष्यगामी तथा अधिक सस्ता अस्त्र पानेके परीक्षण! कम-से-कम मूल्यमें, कम-से-कम साधनमें, कम-से-कम परिश्रमसे, दूर-से-दूर बैठे अंगुलीके संकेतमात्रसे अधिक-से-अधिक नरसंहार कैसे कर दिया जा सकता है—इसके परीक्षण!

विश्वके वैज्ञानिक चिल्ला रहे हैं—'परीक्षणोंसे वायुमण्डल विषाक्त होता जा रहा है। परीक्षणोंसे रोग तथा अङ्गविकृति बढ़ेगी—जीवन संकटपूर्ण बनेगा। परीक्षण रोको!'

विश्वकी जनता चिल्ला रही है—'परीक्षण भयावह है। परीक्षणोंसे अनेक स्थानोंपर खौलता पानी बरसता है गगनसे। परीक्षण ही नष्ट कर देंगे पृथ्वीका जीवन!'

किंतु परीक्षण चल ही रहे हैं। केवल चर्चा चल रही है कि वे रुक सकते हैं क्या? मनुष्यकी यह लिप्सा। यह मनुज-दानवकी पैशाचिक कामना—प्रभु सद्बुद्धि दें मानवको! यह प्रार्थना ही तो की जा सकती है!

विनाशकारी भविष्य

कालके पंजोंमें

काल-ज्वालाकी फूँक
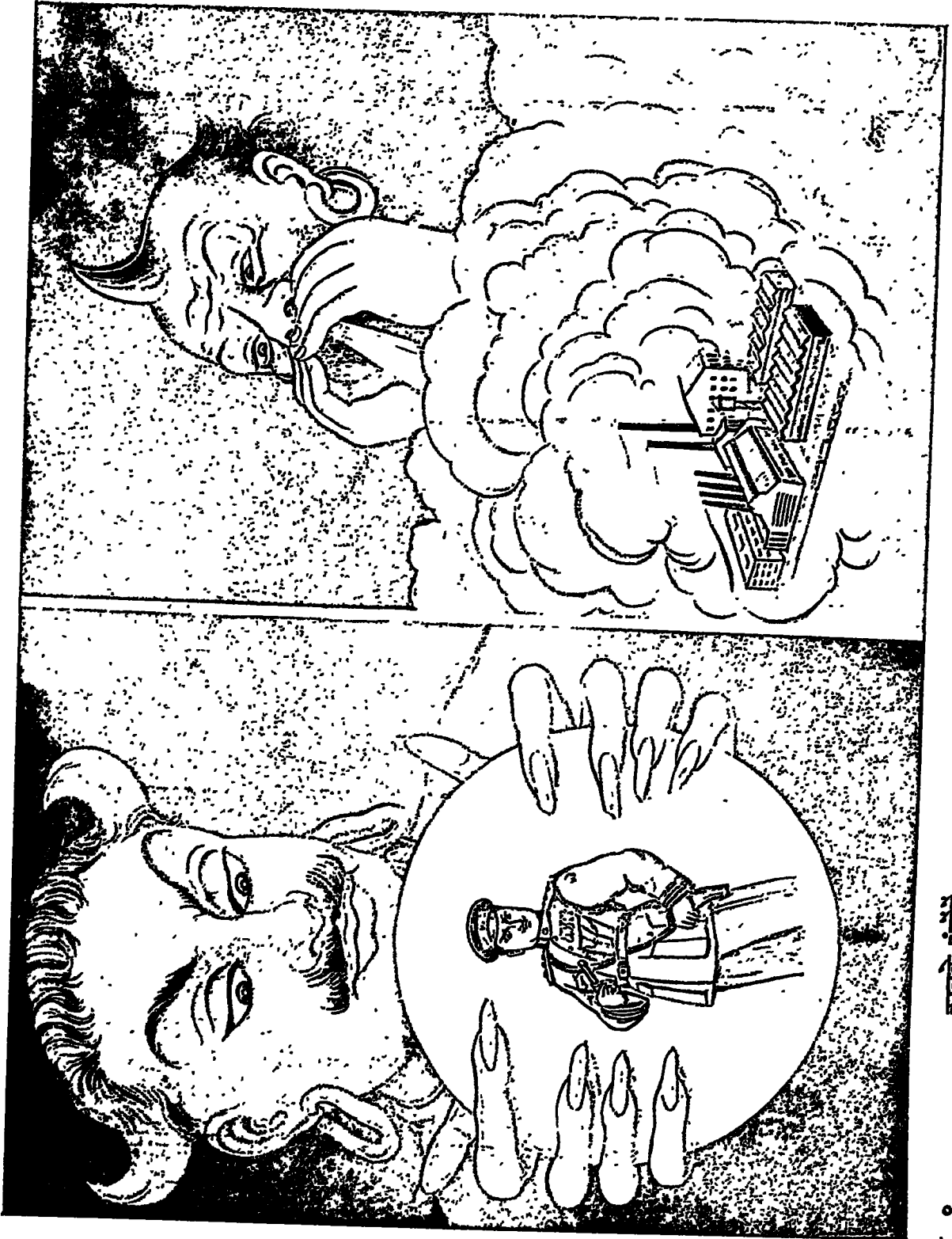
महाध्वंसका यह साज

हीरोशीया नागाशाकीकी दुर्दशा

ये बम-परिक्षण
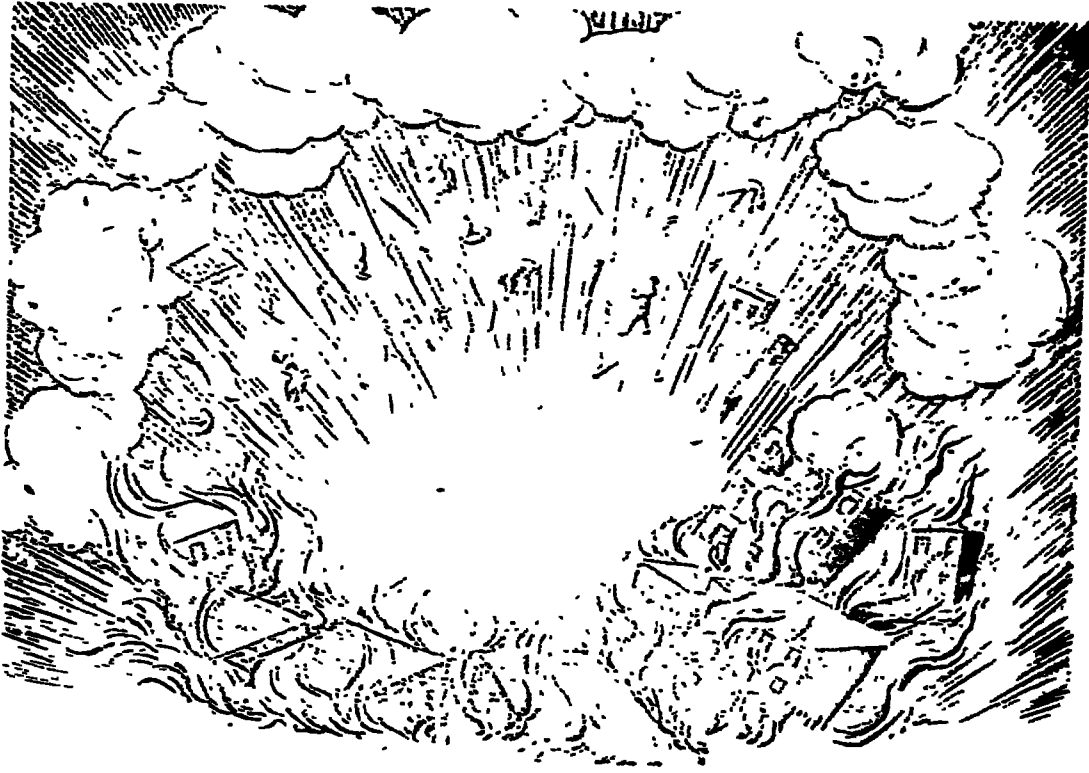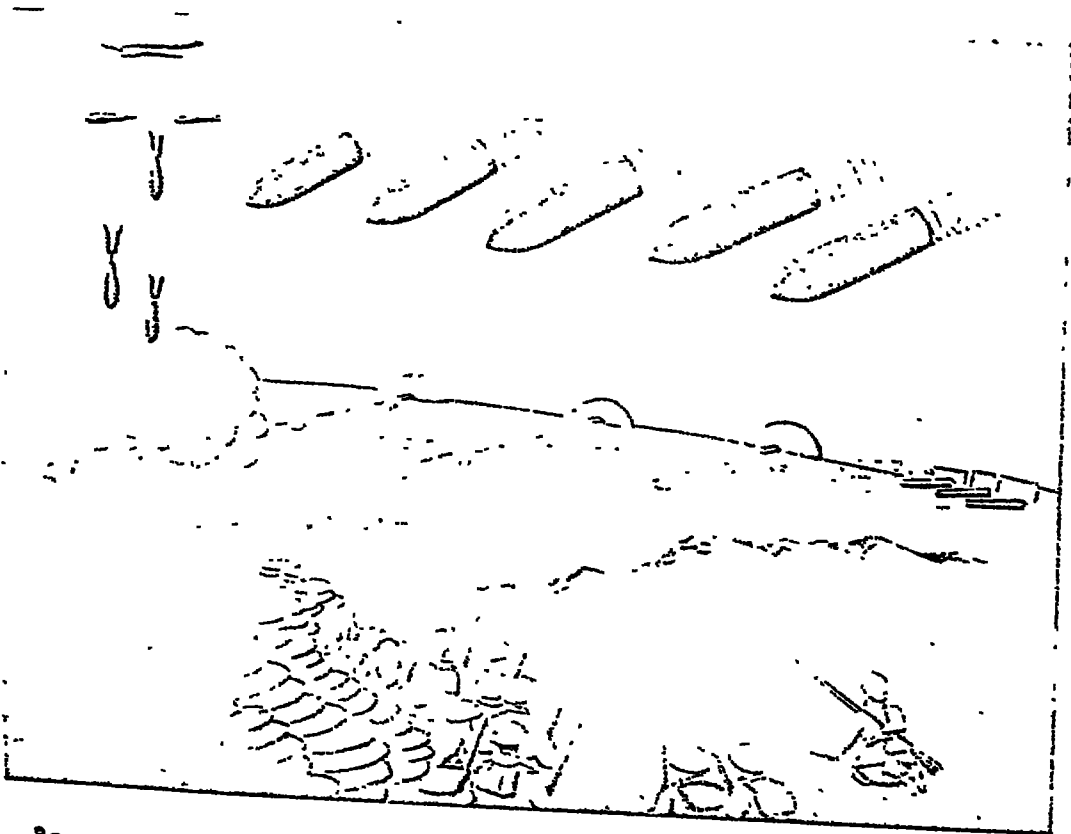
मानव और दानव

(लेखक—पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक, एम्० ए०)

नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ।

हमने नाना देखने फरिश्ते हैं। मगर दुश्वार है इन्सान होना ॥

सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव है। परंतु अतीतमें एक समय था, जब वह प्रायः पशु-समान ही था। दोनोंका स्तर एक-सा था। बड़े और दीर्घकालीन संघर्षके पश्चात् वह सर्वश्रेष्ठ बन सका। भीमकाय, बड़े भयंकर और अति बलशाली पशुओंसे संघर्ष था। उनमेंसे अधिकांश पशु-योनियाँ तो अब लुप्त हो गयी हैं। मानवकी विजयका कारण उसका शारीरिक बल उतना नहीं था, जितना उसकी बुद्धि थी। पशु तो अन्तःप्रेरणासे एक सीमित क्षेत्रमें ही काम करते हैं। उनमें जो परिवर्तन होता है, प्रकृतिके कारणसे होता है, न कि विचारबुद्धिसे। मानवको बुद्धिके अतिरिक्त शारीरिक रचना भी बड़ी अनुकूल मिली है। वह सीधा खड़ा हो सकता है, चलने-दौड़नेमें हाथोंका प्रयोग आवश्यक नहीं; उसका पंजा ऐसा है कि प्रत्येक अँगुलीसे अँगूठा मिल सकता है और खूब घूम सकता है। पशुओंके आयुध शारीरिक हैं—दाँत, पंजे, सींग; परंतु मानव दूरसे भी अस्त्रोंद्वारा प्रहार कर सकता है। वह अग्नि जला-बुझा सकता है और उसका उपयोग भी कर सकता है और अब धातुओंका भी उपयोग सीख गया। वह असलसे नकल अच्छी बनानेकी सदा चेष्टा करता है, स्वाभाविक असंतोष उसको उन्नतिकी ओर अग्रसर होनेकी प्रेरणा देता रहता है। जो है, उसमें सुधारकी चिन्ता सदा उसे लगी रहती है। यन्त्रोंका निर्माण और उनको अधिकाधिक उपयोगी बनानेका सतत प्रयत्न इसी प्रेरणासे होता है। एक और विशेषता भी है, जो पशुओंमें नहींके बराबर है; वह है—'जिज्ञासा'। प्रकृतिके रहस्योंकी खोज और उनको उपयोगमें लाकर जीवनको अधिक सुखमय बनानेकी प्रवृत्तिके मूलमें जिज्ञासा ही है। ज्ञान-विस्तारकी कोई सीमा मानवके लिये नहीं है। ज्ञान-वृद्धिके साथ उसकी पिपासा और श्रेय बराबर बढ़ते जाते हैं।

एक विशेष गुण मानवमें और है, वह है 'सौन्दर्यका ज्ञान'। सुन्दर और भद्दी वस्तुओंमें वह भेद करता है। इस विवेकसे ही वह कलाकार एवं कलाप्रेमी बना है। प्रकृतिके पदार्थोंकी नकल भी करता है, इसका गहरा प्रभाव उसकी रुचि और स्वभावपर पड़ता है। वह केवल उपयोगी वस्तुओंका निर्माण ही नहीं करता, उनको सुन्दर बनानेकी भी सतत चेष्टा करता है। ललित कलाओंके विकाससे कोमल वृत्तियाँ भी विकसित हुईं और स्वभावमें मृदुता आयी। इस प्रकार मानव-सभ्यताका इतिहास बड़ा रोचक है और युग-युगमें क्या प्रगति हुई, इसके प्रमाण अब भी मिलते हैं; क्योंकि आज भी बर्बर जातियाँ विद्यमान हैं और सभ्यताके जिस शिखरपर मानव पहुँचा है, वह प्रत्यक्ष ही है। अब तो चन्द्रमा और मङ्गल ग्रहोंपर पहुँचनेकी, आशान्वित होकर, युक्ति सोची जा रही है और इसमें सफल हो सकनेके प्रमाण भी मिल रहे हैं।

यदि कुछ शताब्दियों पूर्वका मानव आज फिर कहीं पृथ्वीपर आ सके तो संसारमें परिवर्तन देखकर आश्चर्यसे पागल हो जाय। परंतु प्रश्न तो यह है कि आश्चर्यजनक भौतिक उन्नतिके साथ मानवताका भी उसी गतिसे विकास हुआ है या उन्नति एकाङ्गी है? प्रकृतिके रहस्योंको जानकर उसके तत्त्वोंको उपयोगी बनाना ही उन्नति है अथवा मानव-स्वभावमें भी उसी गति एवं मात्रामें विकास हुआ है? यहाँ दो सच्ची घटनाएँ स्मरण करने योग्य हैं। एक नरभक्षी बर्बर मनुष्य शिकारके लिये जंगलमें दिनभर भटका। हाथ कुछ न लगा। हारा-थका खीझता अपने झोपड़ेपर लौटा तो सामने ही स्त्री मिली। विवाहिता तो उसे कह नहीं सकते; क्योंकि विवाहके आदर्शकी तो वहाँ कल्पना भी नहीं थी। नरभक्षीने उसीपर हाथ साफ करना आरम्भ कर दिया। उस असहायाने आपत्ति की तो बड़ा संक्षिप्त उत्तर इतना ही मिला कि 'भूख जो लगी है'। और उस पिशाचने अपनी क्षुधा उसीसे शान्त की। ऐसा तो शेर-चीता भी न करता। दूसरी घटना फ्रांसकी राजधानी पैरिसकी है। एक बहुत ऊँचा विशाल भवन बन रहा था। बाँस-बल्लीकी पाड़पर चढ़कर राज-मजूर काम कर रहे थे। अकस्मात् अधिक बोझ न सहनेके कारण पाड़ टूट गयी और उसपर बैठे आदमी गिरकर एकदम चकनाचूर हो गये। केवल दो पुरुष लटकते रह गये। परंतु उनका बोझ भी बहुत भारी था और वे भी गिरनेवाले ही थे कि एक

दूसरेसे इतना ही कह सका बच्चे'''। बस, सुनते ही उसी क्षण बिना किसी सोच-विचारके दूसरेने हाथ छोड़ दिये और नीचे गिरकर ढेर हो गया। यों पहला बचा लिया गया। उसकी प्राण-रक्षा हो गयी। पर-हितके लिये सहसा प्राणोत्सर्ग करनेवाले उस गरीब मजूरका न तो कोई नाम जानता है न कोई स्मारक है, न किसी कविने उसका गुणगान किया। और उसको एक क्षणके नाटकमें किसी बातके सोचने-समझनेका अवसर भी कहाँ था। यह मानवताके सर्वोत्कृष्ट रूपका उदाहरण है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप निर्णय कर ले कि स्त्रीभक्षी—केवल अपनी क्षुधा-निवृत्तिके लिये पैशाचिक कर्म करनेवाले राक्षस और निःस्वार्थ प्राणोत्सर्ग करनेवाले परम त्यागी मजूरके बीचमें उसका क्या स्थान है तो मानवताकी एक अचूक कसौटी यही जान पड़ती है कि व्यक्ति किस सीमातक अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंकी या समाजकी सेवा कर सकता है।

इस पृथ्वीतलपर महात्मा सदासे होते आये हैं, उनके चरणोंसे अङ्कित होकर धरा गौरवमयी होती रही है। उन सबमें एक प्रधान गुण अवश्य देखनेको मिलता है और वह है 'अपना सर्वस्व-दान समाजके लिये और परदुःख-कातरता।' मैथ्यू आर्नल्डने तो सभ्य पुरुष या सज्जनके लक्षण बड़े विस्तारसे बताये हैं। उन सबका समावेश इतनेमें हो जाता है कि 'समाजकी सहायतासे मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक उन्नति यथाशक्ति करना और परहितके उद्देश्यसे सहर्ष त्यागके लिये सदा प्रस्तुत रहना।' ऐसे सज्जनोंकी संख्या जिस समाज या देशमें अधिक है, उतना ही वह उन्नत है। सभी देश या समाज एक-से उन्नत नहीं हैं, न एक-से हो सकते हैं। परंतु भूमण्डलमें किसका क्या स्थान है, वह इसी बातसे निर्णय हो सकता है। एकाङ्गी उन्नति तो घातक भी सिद्ध हो सकती है। प्राचीन मिस्र, यूनान और रोम इसके उदाहरण हैं। रोम जब उन्नतिके शिखरपर था, तब वहाँके लोगोंका एक मनोरञ्जन था जीवित किस्तानों और कैदियोंको भूखे शेरोंसे मरवाकर तमाशा देखना। ऐसी बर्बरता लोकप्रिय थी और जिस व्यक्तिने इसका विरोध किया, उसको लोगोंने पत्थरोंसे मार-मारकर समाप्त कर दिया।

ज्ञान-वृद्धि तो बराबर हो रही है। अनुभवसे लाभ उठाना मानवको आता है। परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि भूतकालमें इतना ज्ञानका विस्तार न था, अतएव पूर्णमानवताका विकास नहीं हुआ था या कम था। आजके मानवका साधारण ज्ञान यूनानी मनीषी सुकरातके ज्ञानसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि मानवतामें भी वह यूनानी दार्शनिकसे अवश्य अधिक विकसित है। विकासमें ज्ञान सहायक हो सकता है और न भी हो; क्योंकि ज्ञान-शक्तिका विकास नैतिकतापर निर्भर नहीं है। शक्तिके सदुपयोगपर मानवता निर्भर है, न कि शक्ति-संचयपर। पैरिसका मजूर, जिसकी बात ऊपर कही गयी है, कोई विद्वान् नहीं था, परंतु मानवतामें न जाने कितने स्वार्थी विद्वानोंसे बढ़-चढ़कर निकला। मानवतामें मुख्य प्रश्न हृदयका है, बुद्धिका नहीं। बुद्धिसे मानवताके विकासमें सहायता मिलना जैसे सम्भव है, वैसे ही—उतना ही अनिश्चित भी है।

तो व्यक्तिके लिये अपनी कोमल वृत्तियोंका विकास सदा ही सम्भव रहा है और, जैसा कि ऊपर कहा गया है, ज्ञानशक्तिके अविकसित रहनेपर भी उसका विकास हो सकता है।

यह कहा जा सकता है कि समाजमें भी—केवल व्यक्तियोंमें ही नहीं—मानवताका बराबर विकास हो रहा है, केवल भौतिक ज्ञानका ही विस्तार नहीं हो रहा है, मानव जंगली जीवनसे बहुत आगे बढ़ आया है। दासप्रथा प्रायः निर्मूल हो गयी, अपराधियोंको कठोर दण्ड नहीं दिये जाते, धर्मविरोधियोंको जिंदा नहीं जलाया जाता, बलात् धर्म-परिवर्तन नहीं किया जाता, असभ्य जातियोंका नाश न कर अब उन्हें सभ्य बनाया जाता है, मत्स्य-न्यायका स्थान वैधानिक न्यायने लिया है, सार्वजनिक कई संस्थाएँ हैं, जो सभी आपद्ग्रस्त देशोंकी सहायता करती हैं, लड़ाईमें घायलोंके इलाजकी सुव्यवस्था होती है, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका सिद्धान्त प्रायः सभी देशोंमें मान्य है और ज्ञान-विस्तारमें एक देश दूसरोंकी सहायता करता रहता है।

ऐसी और बातें भी गिनायी जा सकती हैं तथा वास्तवमें उनसे मानवताका विकास हुआ है और बर्बरता बहुत अंशमें कम हुई है। व्यक्ति साधु बनना चाहे तो प्रत्येक अवस्था और कालमें बन सकता है; परंतु समाजके अङ्गरूपमें या किसी सुगठित दलके सदस्यरूपमें उसके स्वभाव, व्यक्तित्वपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। वह दलकी प्रेरणासे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। और मनुष्य समाजमें ही रहता है। एकान्तप्रिय स्वभावके तो

महात्मा ही होते हैं। इस प्रकार एक ओर समाज व्यक्तिको प्रकृत मानव बनानेमें सहायक हो सकता है तो दूसरी ओर विपरीत प्रभाव भी डाल सकता है। यह बात भी मान्य है कि प्रभावशाली व्यक्ति ही समाजको प्रेरणा देते हैं। कार्लाइलका कहना बहुत अंशमें ठीक है कि बड़े आदमियोंकी जीवनियाँ ही संसारका इतिहास हैं। मनुष्य शिकारी था और उसीसे अतीत कालमें भरण-पोषण होता था। बादमें शिकार आमोद-प्रमोदकी वस्तु बन गयी, परंतु शिकारका चाव अब भी उसके स्वभावमें दबा पड़ा है। हाथमें अस्त्र-शस्त्र आते ही चाहे जितना दुर्बल हो, परंतु किसीपर चलानेकी प्रेरणा होती है। यह स्वभावजन्य बात है, संस्कार है। दूसरेको कष्ट देकर जो एक प्रकारका पैशाचिक आनन्द होता है, वह पूर्णतया दयामें परिणत नहीं हुआ। दया, नीति, भय, स्वार्थ, समाज-व्यवस्थाके कारण भले ही मनुष्य अपनेको संयत रख सके, परंतु उसको पर-पीड़नमें कुछ-न-कुछ आनन्द आता है। अपनी शक्तिका अभिमान होता है। जो व्यक्तिकी दशा है, वही समाजकी भी है। परंतु एक बड़ा अन्तर है। व्यक्ति अपने आवेशको बुद्धि एवं तर्कसे संयत कर सकता है, यदि वह सावधान हो जाय तो। इसके विपरीत दलके आवेशमें आनेपर सामूहिक क्रिया प्रायः अनियन्त्रित हो जाती है। समूहमें प्रत्येक व्यक्तिका साहस बढ़ जाता है और दायित्व घट जाता है। परिणामका भय कम हो जाता है और फिर अत्याचारका औचित्य तर्कको तोड़-मरोड़कर स्थापित किया जाता है।

सभ्य कहलानेवाले दो देशोंमें जब युद्ध छिड़ जाता है, तब बर्बरता अपना पूरा रंग अब भी दिखाती है। विनाशकारी लीला ऐसी भयंकर होती है कि पहले युगोंमें ऐसी हो नहीं सकती थी। आणव-शक्तिका प्रयोग, जलमें घातक कीड़े डाल देना, विषैली गैसका प्रयोग—सब उचित मान लिया जाता है। ऐसी अवस्थामें यह कैसे मान लिया जाय कि मानवकी पाशविक वृत्ति चली गयी है या कम हो गयी है। कभी-कभी तो वह पशुओंसे भी भयंकर हो जाता है। ठीक ही कहा है कि आधि-व्याधि, प्रकृतिकी संहार-लीलाने कभी मानवका ऐसा नाश नहीं किया, जैसा मनुष्यने मनुष्यके प्रति अत्याचार किया है और करता है। विपरीत बुद्धिकी सहायतासे मानव राक्षस-पिशाचके स्तरपर पहुँच जाता है। उत्तेजित होनेपर संयत रहना सनूहने नहीं सीखा और जबतक व्यक्तिके लिये आवश्यक संयम समूह नहीं अपनाता, बर्बरता बनी रहेगी।

देवासुर-संग्राम सतत हो रहा है—समाजमें और व्यक्तिके अन्तरमें। तथा उस संघर्षके बिना उन्नति सम्भव नहीं। तमोगुण-रजोगुणका सर्वथा नाश तो हो नहीं सकता। रचनामें तीनों अनिवार्य हैं। तो यह आशा करना कि मानव रज-तमसे नितान्त स्वतन्त्र हो जायगा, असम्भव जान पड़ता है। प्रत्यक्ष बर्बरता यदि कम हुई है तो चालाकी, बेईमानी, ढोंगके रूपमें वह व्यापक हो गयी है। सीधी अँगुलीसे निकला तो वह घी नहीं। पिछले दो महायुद्धोंने वास्तविक स्थिति प्रत्यक्ष कर दी और उससे शिक्षा भी ग्रहण नहीं की गयी। जब किसी क्षण तीसरा महायुद्ध छिड़ जानेका भय बराबर बना हुआ है, तब यही मानना पड़ता है कि आदिकालमें मानव यदि पशुतुल्य था तो अब वह दानव होनेमें ही गर्व करता है।

मानवरूपमें प्रेत

भजन बिनु जीवत जैसैं प्रेत।
मलिन मंदमति डोलत घर-घर, उदर भरन के हेत॥
मुख कटु बचन, नित्त पर-निंदा, संगति-सुजस न लेत।
कबहूँ पाप करैं पावत धन, गाड़ि धूरि तिहि देत॥
गुरु-ब्राह्मन अरु संत-सुजन के, जात न कबहुँ निकेत।
सेवा नहिं भगवंत-चरन की, भवन नील कौ खेत॥
कथा नहीं, गुन-गीत सुजस हरि, सब काहू दुख देत।
ता की कहा कहौं सुनि सूरज, बूड़त कुटुँब समेत॥

—सूरदासजी

मानवताके अवतार

[ऐतिहासिक कथा]

(लेखक—श्रीचिमनलाल अ० व्यास)

सौराष्ट्रके एक छोटे-से गाँवमें एक चारण किसान रहता था। मूलतः चारण सरस्वतीके पुत्र कहलाते हैं; परंतु यह चारण बेचारा बिल्कुल ही पढ़ा-लिखा न था, अतएव उसके पास पूर्वजोंकी जो थोड़ी-बहुत जमीन थी, उसमें खेती करके अपना जीवन-निर्वाह करता था। परंतु हाय रे दुर्भाग्य! ठीक वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें उस बेचारे चारणके दो बैलोंमेंसे एक बैल मर गया। जोड़ी खण्डित हो गयी। एक तो गरीब था, दूसरे ठीक चौमासेके प्रारम्भमें ही बैलके मर जानेसे चारण शोकातुर हो गया। परंतु अभी वर्षा हुई न थी, इसी बीचमें उस चारण किसानने कुछ स्नेही मित्रों और सेठोंके पास जाकर पैसेके लिये माँग की और कहा—'भाई! मैं आपको आपका पैसा अगली फसलमें ब्याजके साथ वापस दे दूँगा।' किसानकी दर्द-भरी बातोंपर किसीने ध्यान नहीं दिया और जब किसीने उसको पैसा नहीं दिया, तब वह चारण निराश होकर घर लौट आया।

अपने पतिको घोर निराशामें पड़ा देखकर चारणी भी दुःखित हो गयी। वर्षासे घिरे हुए बादलोंकी ओर देखकर मानो प्रभुसे विनती करती हो इस प्रकार स्वगत बोलने लगी—'हे प्रभु! मेरा इस जगत्में तुम्हारे बिना कोई नहीं। तुम तो दीन-दयालु कहलाते हो। हे नाथ! क्या तुम मेरे ऊपर दया नहीं करोगे!'

मानो उस स्त्रीकी प्रार्थनाके उत्तरमें आकाशमें गरजनेके साथ-साथ एक बिजली कौंध गयी। समयके बीतते देर थोड़े ही लगती है। ग्रीष्मकी तपिश पूरी हो गयी थी, चौमासेका प्रारम्भ था। बिजलीकी कड़क-तड़कके साथ बादलोंके झुंड आकाशमें लटककर बरसने लगे और जहाँ-तहाँ किसानोंके मुख-मण्डलपर आनन्दका भाव झलकने लगा। अरे! जैसे चन्द्रके उदयसे चकोरी नाच उठती है, उसी प्रकार वर्षाके आगमनसे किसानका हृदय नाच उठा। भूखकी तड़पसे या त्रिविध तापसे संतप्त किसान दीन-दुखी होनेपर भी वर्षाके आगमनसे प्रफुल्लित हो जाता है। सारे किसान अपनी-अपनी खेतीके साधन और बैलोंको लेकर खेतोंमें जाने लगे। कोई खेत जोतने लगा, तो कोई जमीनमें बीज बोने लगा।

इस चारण किसानने भी अपनी खेतीके लिये उपयोगी साधन तैयार किये। पर हाय रे दुर्भाग्य! दूसरा बैल कहाँ? दूसरा बैल तो था नहीं।

तब वह चारणी घरसे बाहर द्वारपर आकर कहने लगी—'स्वामीनाथ! मैं भी एक सहनशील सोरठी किसानकी चरणसेविका पत्नी हूँ। हमारे पास भले ही दूसरा बैल न हो, इससे क्या होगा, दूसरे बैलकी जगह मैं जुत जाऊँगी; किंतु हमको बोवनीका समय व्यर्थ नष्ट नहीं होने देना चाहिये; क्योंकि बोना और घी तावना यदि समयपर न हो तो व्यर्थ हो जाता है।'

पत्नीकी बात सुनकर हताश चारणको भी कुछ हिम्मत आयी और वह आजतक जानको जोखिममें डालकर बचाये हुए एक बैलको और अपनी पत्नीको साथ लेकर खेतमें गया तथा जुएमें एक ओर बैलको और दूसरी ओर

अपनी जवान पत्नीको जोतकर हल चलाने लगा। जैसे मनुष्य मनचाहा भोजन करके परितृप्त हो जाता है, उसी प्रकार काफी वर्षा होनेके कारण धरतीमाता भी तृप्त हो गयी थी। ठीक मध्याह्नकाल था, भगवान् सूर्यनारायण भी आज पूर्णरूपसे तप रहे थे।

वह जवान किसान जल्दी-जल्दी बोवनी करनेकी उतावलीमें तावड़तोड़ हल चला रहा था, जिससे उसकी स्त्री थक गयी थी और उसके मुख-मण्डलपर थक जानेका चिह्न स्पष्ट दृग्गोचर हो रहा था। फिर भी वह किसान अपने काममें ही मशगूल था। उसी समय संयोगवश राजा देपाल दे उस चारणके खेतके पास होकर गुजरा और किसानके बैलके साथ दूसरी ओर बैलके बदले उसकी स्त्रीको जुता हुआ देखकर दयालु राजाका हृदय द्रवित हो उठा।

कवि और शास्त्रकार कहते हैं कि 'राजा कालस्य कारणम्' और 'यथा राजा तथा प्रजा'। सचमुच इस कहावतमें कितना सत्य छिपा हुआ है? राजा देपाल दे अपने साथके सिपाहियोंको दूर खड़ा रखकर एक आदमीको साथ लेकर उस किसानके पास जाकर कहने लगा—

'भाई! यह तेरा खेती करनेका क्या ढंग है? भले-मानस! बैलके साथ स्त्रीसे काम लेना क्या ठीक है? भाई! अभी-अभी इस बहिनको छोड़ दो। क्या तेरे हृदयमें इतनी अधिक निर्दयता आ गयी है कि इस बेचारी भोली-भाली स्त्रीको बैलके स्थानमें जोत रहा है? भाई! कुछ तो दिलमें दया रख।'

यह सुनकर किसान बोला—"देखा, देखा, पर बड़ा दयावान् न दीख पड़ा! सम्भवतः दया-मयाकी बातें तो बहुत सुनी हैं और दिलमें भी बड़ी दया है। परंतु यह मौसिम आ गया है, बोवनीका समय है। दूसरा बैल भी था जो थोड़े दिन पहले मर गया। घरमें पैसा है नहीं और गाँवमें भी कई जगह पैसेके लिये दौड़-धूप की; परंतु कहींसे छदाम भी न मिला। बिना पैसेके बैल कहाँ मिल सकता है? तो क्या बैलके बिना हम अपनी बोवनी रोक दें?' किसानकी यह दयाभरी बात सुनकर राजा कहने लगा—'भाई! तुझको सचमुच बैलकी अत्यन्त आवश्यकता है। मैं तुमको अभी बैल मँगाकर देता हूँ।'—इतना कहकर अपने साथके आदमीको तुरंत बैल लेकर आनेके लिये कहा। परंतु उस किसानने तनिक भी देखे या प्रतीक्षा किये बिना अपना काम यथावत् जारी रक्खा। यह देखकर राजा कहने लगा—'अरे भले आदमी! अभी बैल आ जायगा, क्या तुम तबतक धैर्य नहीं रख सकते? भाई! मुझे तुम्हारी स्त्रीपर बड़ी दया आ रही है। देखो तो बेचारी कितना अधिक थक गयी है!'

'अहा! इतने बड़े दयालुके लड़के मैंने नहीं देखे। यदि इतनी अधिक दया आ रही है तो जबतक बैल नहीं आ जाता, तबतक तुम अपनेको जुताकर इस स्त्रीको छुड़ा क्यों नहीं देते?'

राजा देपाल देने बिना कुछ रुखाई प्रकट किये किसान-की बात स्वीकार कर ली और किसानने बैलके साथ जुती स्त्रीको छुड़ाकर उसकी जगहपर राजाको जुएमें जोत लिया। इस प्रकार शुरू-शुरूमें जैसे ही एक-दो फेरा किया, कि राजाके मनुष्य बैल लेकर आ पहुँचे और किसानको बैल दे दिया गया। पहले तो किसानने समझा था कि बैलकी केवल बात-ही-बात है! परंतु अब जब थोड़े ही समयमें बैल आ गया तो वह शर्मिंदा हो गया और बैलको जुएमें जोतकर राजाको मुक्त कर दिया। इस उपकारके बदले वह किसान आभारका एक शब्द भी न बोल सका। देपाल दे राजा भी, मानो कुछ हुआ ही न हो, इस प्रकार, हँसते हुए अपने लोगोंको साथ लेकर वहाँसे चला गया। धीरे-धीरे दिन बीतते गये। खेतमें बोया हुआ ज्वार भली-भाँति उग गया। सारा खेत हरियालीसे भर गया। वहाँ एक आश्चर्य यह हुआ कि सारे खेतमें खूब सुव्यवस्थित रीतिसे ज्वार उग गया था; परंतु जिस जगह देपाल दे राजाको जुएमें जोता था, वहाँ एक पत्ती भी उगी न होनेके कारण किसान निराश हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि 'अरे! वह कोई अभागा आया था, वह जहाँ-जहाँ चला था, वहाँ-वहाँ कुछ भी नहीं उगा।'

इस प्रकार विचारते हुए कारण जाननेके लिये उत्सुक किसान वहाँ जमीन खोदकर देखने लगा, तो देखता क्या

है कि जहाँ-जहाँ देपाल दे राजा चला था, वहाँ-वहाँ हराईमें बोये ज्वारके बदले सच्चे मोती झलमला रहे हैं। इससे उस चारण किसानका आश्चर्य और बढ़ गया। पश्चात् उसने जमीन खोदकर सारे मोती इकट्ठे कर लिये और घर आकर अपनी स्त्रीको सारी बात कह सुनायी। फिर तो, पता लगानेपर जान पड़ा कि उनको बैल देनेवाला और उसकी स्त्रीके स्थानमें स्वयं जुएमें जुत जानेवाला और कोई नहीं, बल्कि राजा देपाल दे ही था।

इससे किसानको दुःख हुआ और वह अपनी स्त्रीसे कहने लगा—'देवि! मैं मूर्ख आदमी हूँ, मैंने कैसी भूल की है! मुझ अभागेने राजाको भी नहीं पहचाना और देवता-जैसे सुकुमार राजाको जुएमें जोत दिया। देवि! यह सच्चे मोती अपने नहीं हैं, मैं कल ही राजाके दरबारमें जाकर राजाके सुपुर्द कर आऊँगा।'

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही किसान खेतमेंसे प्राप्त मोतीकी पोटली बाँधकर सीधे राज-दरबारमें जा पहुँचा।

किसान अपढ़ तो था, पर जातिका चारण था। उसके मुँहसे सहसा एक दोहा निकल पड़ा—

जो जानत तुझ हाथ सांचा मोती नीपजे।
वपरावत दिन-रात देव तने देपाळ दे॥

हे देव-तुल्य राजा देपाल दे! मैं यदि पहलेसे ही यह जानता होता कि तुम्हारे चलनेसे सच्चा मोती गिरता है तो मैं तुमको रात-दिन काममें लगाये होता।

इतना कहकर चारण किसानने मोतीसे भरी पोटली राजाके सामने खोल दी। राजा देपाल दे और सारे दरबारी यह देखकर चकित हो गये। चारणने किस प्रकार मोती मिले थे, यह सारी कथा कह सुनायी। यह सुनकर राजा देपाल दे मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहने लगे—

'भाई! ऐसी दशामें तो ये मोती मेरे नहीं, बल्कि तुम्हारे ही कहलायँगे। इनपर मेरा तनिक भी अधिकार नहीं है; क्योंकि मैं तो अपनी इच्छासे ही तुम्हारे बैलकी जगह जुत गया था।' राजा देपाल देकी यह उदारता, निष्कपटता और निरभिमानिता देखकर उस चारण किसानके साथ सारे दरबारी गद्गद हो गये और मानवताके अवतारके समान इस पवित्र राजाके चरणोंमें सबका मस्तक झुक गया।

मानवताकी व्यर्थता

सुरराज-सो राज-समाजु, समृद्धि बिरंचि, धनाधिप-सो धनु भो।
पवमानु-सो, पावकु-सो, जमु, सोमु-सो, पूषनु-सो, भवभूषनु भो॥
करि जोग, समीरन साधि, समाधि कै धीर बड़ो, बसहू मनु भो।
सब जाय, सुभायँ कहै तुलसी, जो न जानकी-जीवनको जनु भो॥

कामु-से रूप, प्रताप दिनेसु-से, सोमु-से सील, गनेसु-से मानें।
हरिचंदु-से साँचे, बड़े बिधि-से, मघवा-से, महीप बिषै-सुख-साने॥
सुक-से मुनि, सारद-से बकता, चिरजीवन लोमस तें अधिकाने।
ऐसे भए तौ कहा 'तुलसी', जो पै राजिवलोचन रामु न जाने॥

झूमत द्वार अनेक मतंग, जँजीर-जरे, मद-अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति-चंचल, पौनके गौनहु तें बढ़ि जाते॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तौ कहा, तुलसी! जो पै जानकीनाथके रंग न राते॥

राज सुरेस पचासकको, बिधिके करको जो पटो लिखि पाए।
पूत सुपूत, पुनीत प्रिया, निज सुंदरताँ रतिको मदु नाएँ॥
संपति-सिद्धि सबै 'तुलसी' मन की मनसा चितवैं चितु लाएँ।
जानकीजीवनु जाने बिना जग ऐसेउ जीव न जीव कहाए॥

—तुलसीदासजी

प्राचीन भारतकी मानवता तथा आधुनिक भारतकी दानवता

(लेखक—श्रीराननिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

विश्वके इतिहाससे पता चलता है कि विश्वके अन्तर्गत सर्वप्रथम भारतमें ही सभ्यताका विकास हुआ। सभ्यताका अर्थ है सभामें—मनुष्योंके समाजमें बर्ताव करनेकी योग्यता। पशुओं और मनुष्योंमें समान रूपसे पाये जानेवाले धर्मोंके अतिरिक्त मनुष्योंमें जो विशेष धर्म-विवेक है, वही सभ्यताकी भित्ति है। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्राणिमात्रमें निर्विशेष रूपसे सृष्टिके आरम्भसे ही पाये जाते हैं। जंगली असभ्य मनुष्योंके जीवनमें और पशुओंके जीवनमें कोई अन्तर नहीं रहता। आज भी अफ्रिका आदि देशोंमें ऐसे जंगली मनुष्य पाये जाते हैं, जो पशुवत् जीवन-यापन करते हैं। उनकी भाषा विकसित नहीं है और न उनके कोई साहित्य है। हिंदू-शास्त्र और साहित्यमें सभ्यताका पर्यायवाची शब्द है—धर्म। अतः धर्म ही मानवता अथवा मनुष्यता है। नीतिकारने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

प्राचीन भारतमें धर्मका बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया गया था। मनुष्य-जीवनकी समस्याओंके जितने प्रकार सम्भव हो सकते हैं और उनके समाधानके जितने उपाय हो सकते हैं, उन सारे प्रश्नोंपर ऊहापोहके साथ सविस्तर प्रकाश डाला गया था। धर्मके अनेकानेक अङ्गों तथा उपाङ्गोंका वर्णन किया गया था। वैयक्तिक धर्म, पारिवारिक धर्म, सामाजिक धर्म तथा विश्वधर्मके रूपमें धर्मके अनेक प्रकार माने गये थे। नित्यके व्यवहारमें धर्मका मूर्तरूप 'यम-नियम' माना गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये कर्म-विभागके क्रमसे अलग-अलग धर्म बतलाये गये थे, जो स्वभावतः उनके जीवनकी सार्थकताके लिये और समाजके व्यापक हितके लिये परमावश्यक समझे जाते थे। दया, सरलता, परोपकारिता आदि व्यापक मानव-धर्म समझे जाते थे। शरीरको क्षणभङ्गुर समझना तथा लोकैषणा एवं वित्तैषणा आदि प्रेयको श्रेयस् (मोक्ष) के समक्ष अत्यन्त तुच्छ समझना भारतीय सभ्यताका मेरुदण्ड था। प्राचीन भारतमें सभी वर्णोंके लोग मानवधर्मके पालनमें किस प्रकार हँसते-हँसते अपनी लौकिक सुख-समृद्धिकी आहुति कर दिया करते थे, इसके सहस्रों ज्वलन्त उदाहरण भारतीय साहित्यमें भरे पड़े हैं। रामायण और महाभारत तो नीतिधर्मकी खान ही हैं। ऐसे ही कुछ उदाहरण प्रस्तुत लेखमें उद्धृत किये जायँगे। तदुपरान्त वर्तमान भारतमें विदेशीय सभ्यताके चिरसम्पर्कमें रहनेसे तथा विश्वमात्रमें धर्मके ह्रासके प्रवाहमें भारतीय जनता धर्मके मार्गसे कितनी दूर चली गयी है एवं मानवताके उच्च शृङ्गसे दानवताके अतल गर्तमें गिरकर भारतके प्राचीन गौरवको मटियामेट कर रही है—इसका भी दिग्दर्शन प्रस्तुत निबन्धमें कराना है।

शम, दम, तप, शौच, स्वाध्याय आदि व्यक्तिगत धर्म हैं। इनका अनुशीलन करनेवाले व्यक्तियोंको स्वयं लाभ होता है, उन्हें मानसिक शान्ति मिलती है। यों तो व्यक्ति और समाजमें अटूट सम्बन्ध है—व्यक्तिसमूहसे ही परिवार बनता है और परिवार-समूहसे समाजकी सृष्टि होती है। परिवारमें पिता-पुत्रका, माता-पुत्रका, भाई-भाईका, पति-पत्नीका सम्बन्ध सौहार्दपूर्वक मिठासके साथ निबाहनेमें प्रत्येक व्यक्तिको कुछ-न-कुछ त्याग करना पड़ता है। इसीको पारिवारिक धर्म कहते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे उच्च विचारवाले महापुरुष विश्वहितके लिये अपनी सुख-सुविधाका, लौकिक अभ्युदयका जो त्याग करते हैं, उसीको विश्वधर्म कहते हैं। हमारे यहाँ त्रेतायुगमें शङ्ख और लिखित दो भाई मुनि थे। दोनों बड़े विद्वान् और तपस्वी थे। दोनोंने अलग-अलग स्मृतियाँ रची हैं, जो उन दोनोंके नामसे शङ्ख-स्मृति और लिखित-स्मृतिके रूपमें प्रसिद्ध हैं। एक बार लिखितमुनिने भ्रमसे अपने भाईके बगीचेसे एक फल भूलसे तोड़कर खा लिया। बिना माँगे दूसरेकी वस्तु लेना चोरी है, इस विचारसे लिखितमुनि बहुत घबराये और भाईसे जाकर अपनी स्थिति बतलाकर दण्ड माँगा। शङ्खने उन्हें बहुत सान्त्वना दी और अज्ञानमें किये गये उस तुच्छ अपराधको चोरी नहीं समझनेके लिये लिखितसे बार-बार कहा। पर लिखितको संतोष नहीं हुआ। तब शङ्खने उन्हें कहा कि 'दण्ड देनेका काम राजाका है। दण्ड लेना हो तो राजाके पास जाओ।' लिखितमुनि जब राजाके पास गये और उन्होंने अपनी बात राजासे कह सुनायी, तब राजाने भी उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया। पर लिखितने नहीं माना और कहा कि 'दण्ड देना

आपका काम है, उपदेश देना आपका काम नहीं है।' तब राजा-ने दण्डविधानानुसार लिखितमुनिका एक हाथ कटवा दिया। यह थी हमारे प्राचीन भारतकी अस्तेय-धर्म (चोरी नहीं करने) की पराकाष्ठा।

ग्रीकयात्री फाहियानने चन्द्रगुप्त द्वितीयके शासनकालमें अपनी भारत-यात्राके प्रसङ्गमें लिखा है कि 'सड़कोंपर पड़े सोनें-जैसे मूल्यवान् पदार्थको भी कोई नहीं उठाता था। यदि उठाता भी था तो उसे उठाकर राजकोषमें जमा कर देता था। कालिदासने भी अपने महाकाव्य 'रघुवंश'में दिलीपकी सुन्दर राज्य-व्यवस्थाकी प्रशंसामें छठी शताब्दीमें लिखा था—'श्रुतौ तस्करता स्थिता' अर्थात् दिलीपके राज्यमें कोई चोरी नहीं करता था, 'चोरी' शब्द केवल शब्दकोषमें लिखा पाया जाता था। एक ओर तो प्राचीन भारतमें जहाँ गुप्तवंशीय राजाओं-के समयतक स्तेय (चोरी) का इतना अभाव था कि जनता-में कोई इसके मूर्तरूपका परिचय नहीं पाता था, वहाँ दूसरी ओर आज इस देशमें चोरी-डकैतीका बाजार इतना गरम है कि देशके कोने-कोनेसे नित्यप्रति बहुसंख्यक चोरी-डकैतियोंका समाचार प्रकाशित होता रहता है। बहुतेरी डकैतियोंमें गृहपतिकी तथा उसके पारिवारिक जनोंकी हत्या भी कर दी जाती है तथा जनसमुदाय आतङ्कित बना रहता है। धन और प्राणके नाश-का भय देशमें इतना व्यापक हो रहा है कि सुख-निद्रा दुर्लभ हो रही है। आततायी लोग रेलकी लाइनोंको विस्थापित करके रेलगाड़ियोंको उलटाते तथा सैकड़ों-सहस्रों यात्रियोंकी हत्या केवल इसलिये कर रहे हैं कि उनका थोड़ा-सा सामान एवं कुछ नगद और आभूषण उन्हें हाथ लग जायँ। दूसरेके चिर-उपार्जित धनको अपनानेके उद्देश्यसे नर-हत्या करना इस देशमें साधारण बात हो चली है; कागज-कलमके द्वारा तथा धोखेबाजीसे सभ्यताकी चोरी कितनी होती है, उसकी तो संख्या ही नहीं है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें मुख्य तो यही है कि भारतवासी लोग देहात्मवादी हो चले हैं, शरीरको नित्य समझकर शारीरिक सुखके लिये बड़े-से-बड़ा कुत्सित कर्म करनेमें भी नहीं हिचकते और तो और, देशके शासकवर्ग इसी गड़बड़-झालेमें पड़े हुए हैं, वे लोग ही अन्यायोपार्जित धनसे अपना ठाटबाट बढ़ाकर साधारण-जनके समक्ष घृणित उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं, सनातनधर्मका रूप ही उनकी दृष्टिसे ओझल हो गया है। वह रूप यों था—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् काम, भय, लोभ आदिके कारण तो धर्मका त्याग करना ही नहीं चाहिये, प्राणके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म और जीवात्मा नित्य हैं, मनुष्य-जीवनमें सुख-दुःख होते ही रहते हैं और जीवका जन्म लेना भी अनित्य है।

शरणागतवत्सलता भी व्यक्तिगत धर्म है। शिविकी कथा प्रसिद्ध है। शरणमें आये हुए कबूतरकी रक्षाके लिये तथा बाजरूप छली इन्द्रके तोषके लिये शिविने अपने शरीरका मांस काट-काटकर कबूतरकी रक्षा करना परम धर्म समझा था। आज इस देशमें शरणागत-वत्सलताकी चर्चा ही मिट रही है, बल्कि उसके स्थानमें विश्वासघातकी जड़ जमती जा रही है। पारिवारिक एवं सार्वजनिक जीवनमें पारस्परिक विश्वासका इतना अभाव होता जा रहा है कि दो-चार रुपयोंके लेन-देनमें भी रजिस्ट्री आफिसकी शरण लेना पड़ रहा है। इससे जनताके जीवनमें कुटिलता तथा उलझन बहुत जोरोंसे बढ़ रही है। भोलेभाले ग्रामीण लोग कुटिल लोगोंके विश्वासघातके शिकार बन रहे हैं। मानवरूपधारी इन विश्वासघाती कुटिल लोगोंके क्रिया-कलाप-से ही भारतीय न्यायालयोंमें सत्य और न्यायका गला घोंटने-का इतना बड़ा आडम्बर और घटाटोप रचा गया है, जिसका विस्तार दिनोंदिन हो रहा है। अन्यायका विस्तार करनेवाले भारतीय न्यायालयोंके वर्तमान रूप तथा कार्यपद्धतिमें जबतक आमूल परिवर्तन नहीं होगा, तबतक भारतमें सनातन-सदाचार पनपने नहीं पायेगा और ग्राम-पंचायत अथवा पंचायतकी सफलता स्वप्नमात्र रह जायगी। फिर ग्रामपंचायत-में भी वही मनोवृत्ति काम कर रही है। शिक्षित कहलानेवाले लोग प्राड्‌विवाक (वकील) के रूपमें उभयपक्षोंके असत्य आरोप तथा प्रत्यारोपका समर्थन जिस प्रकार इस देशमें निर्लज्जतापूर्वक आज कर रहे हैं, कदाचित् वैसा किसी अन्य देशके न्यायालयमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। भारतीयोंके चारित्रिक पतनका ऐसा नग्न रूप अन्यत्र नहीं दीख पड़ता, विदेशियोंद्वारा दिये गये कदाचारोंमें हमारा सबसे भयंकर दानवीय कदाचार यही है। पता नहीं, कब इस भयंकर रोगसे इस देशका त्राण होगा। स्वाधीनता-प्राप्तिके दस वर्ष बीत जाने-पर भी इस ओर देशसुधारकोंका ध्यान तनिक भी अबतक नहीं गया है। वरं यह रोग उत्तरोत्तर भीषण रूप धारण कर रहा है।

पारिवारिक धर्म

प्रत्येक परिवार एक छोटा-मोटा राज्य है।

जिस प्रकार राज्यके शासनका कुछ नियम होता है, वैसे ही परिवारके संचालनका भी नियम होता है। परिवारके भीतरकी संचालिका पत्नी और बाहरका संचालक पति हुआ करता है। पुत्र-पुत्रियाँ, पौत्र-पौत्रियाँ, परिचारक-परिचारिकाएँ आदि प्रजाके रूपमें रहते हैं। उदार तथा विचारवान् शासकके शासनमें प्रजा सुख-सम्पन्न रहा करती है और शासन-व्यवस्थापर बाहरसे कोई आघात पहुँचनेपर प्रजागण बड़ा-से-बड़ा त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं। वैसे ही सुव्यवस्थित परिवारमें सारे सदस्य एकमत रहकर परिवारके लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदयके लिये तत्पर रहते हैं। परिवारके यश तथा कीर्तिकी रक्षाके लिये वे लोग सदा दत्त-चित्त रहते हैं। प्राचीन भारतमें सुखी एवं यशस्वी परिवारोंके अनेकानेक ज्वलंत उदाहरण हैं। सर्वप्रथम महाराज दशरथके परिवारमें श्रीरामका चरित्र हमारे लिये सदा स्मरणीय और अनुकरणीय रहेगा। पिता-माताका वचन अटल रहे, इस हेतु कोसलके समृद्ध राज्यका त्याग करनेमें रामको तनिक भी व्यथा नहीं हुई। राज्यका त्याग करनेपर यदि रामको कोई दूसरी जीविकाके द्वारा जीवन-निर्वाहका अवसर दिया जाता तो राज्य-त्यागमें कोई विशेष महत्त्व न होता; क्योंकि व्यापार आदिके द्वारा भी लोग सुख-सम्पन्न जीवन-यापन किया करते हैं। वहाँ तो राज्यका त्याग और वनवास एक साथ उपस्थित थे। रामको जंगलमें कितना कष्ट हुआ, जिसे वे प्रसन्नतापूर्वक झेलते रहे—इसका सजीव वर्णन वाल्मीकि तथा रामचरितमानसकारने मार्मिक शब्दोंमें किया है। अतः यहाँ उसका संक्षेपमें ही संकेत किया गया है। मातृ-पितृभक्ति, अलोभ तथा संतोषका परमोत्कृष्ट उदाहरण रामचरितसे हमें मिलता है। इस प्रसङ्गमें महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजीका अतिसुन्दर श्लोक उद्धरणीय है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

पारिवारिक धर्मका दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण महाभारतमें हमें मिलता है। राजा शंतनुके पुत्र देवव्रत गङ्गाके गर्भसे उत्पन्न थे। धीवर-कुल-सम्भूता अपूर्व-लावण्यवती कन्या योजनगन्धाके रूपपर शंतनु मोहित हो गये। योजनगन्धाका जन्म अलौकिक रूपसे उपरिचर वसुसे मछलीके गर्भसे हुआ था। धीवर उसका केवल पोषक पिता था, कन्याका दूसरा सार्थक नाम मत्स्योदरी भी था। मत्स्योदरी सर्वतोभावेन एक अलौकिक गुण-विशिष्ट कन्या थी। जब राजा शंतनुने मत्स्योदरीके साथ विवाह करनेका प्रस्ताव धीवरसे किया, तब धीवरने मत्स्योदरीके विवाहके सम्बन्धमें अपनी प्रतिज्ञा राजासे कह सुनायी। प्रतिज्ञा यह थी कि उसी पुरुषके साथ मत्स्योदरीका विवाह होगा, जो उसके पुत्रको अपनी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी बनायेगा। राजा शंतनुको देवव्रत-जैसा महाप्रतापी पुत्र पहलेसे विद्यमान था। अतः धीवरने शंतनुके प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। शंतनु उदास रहने लगे। देवव्रतको इसका पता लगा। उन्होंने धीवरसे कहा कि 'मैं पिताका राज्य नहीं लूँगा, तुम्हारा दौहित्र ही राज्यका उत्तराधिकारी होगा।' इसपर धीवरने कहा कि 'तुम्हारा लड़का मेरे दौहित्रसे राज्य छीन ले सकता है।' उस समयतक देवव्रतका विवाह नहीं हुआ था। देवव्रतने धीवरके समक्ष प्रतिज्ञा की—'मैं आजीवन विवाह नहीं करूँगा।' तब धीवरने मत्स्योदरीका विवाह शंतनुसे कर दिया। देवव्रतकी उस महान् भीषण प्रतिज्ञाके कारण उस दिनसे उनका नाम भीष्म रखा गया। संसारमें भीष्मपितामहके नामसे वे प्रसिद्ध हुए। पिताके सौख्यके लिये ऐसा अलौकिक त्याग विश्वके इतिहासमें कदाचित् ही कहीं मिलेगा। यह है आर्योंकी पितृभक्ति। सनातनधर्ममें अपुत्र मनुष्यके लिये गति नहीं है, ऐसा लिखा है; किंतु भीष्म-जैसे महापुरुष अगतिक हों, यह कैसे हो सकता था। इसलिये शास्त्रकारोंने विधान कर दिया कि सनातनधर्मावलम्बी जो गृहस्थ प्रत्येक माघकी शुक्ला अष्टमीको (जिस दिन भीष्मने स्वेच्छासे शरीर-त्याग किया था) भीष्मपितामहके नामसे तर्पण (जलदान) नहीं करेंगे, उनके पितरोंको सालके भीतर जल-पिण्डादि प्राप्त नहीं होगा। उस दिनसे आजतक सनातनधर्मावलम्बी लोग नियमपूर्वक उक्त तिथिको भीष्मपितामहको जल दिया करते हैं, जिसका मन्त्र यों है—

भीष्मः शांतनवो वीरः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
आभिरद्भिरवाप्नोतु पुत्रपौत्रोचितक्रियाम्॥

ऐसे धर्मात्मा महापुरुषका भारत सदा ऋणी रहेगा। महाभारत-युद्धकी समाप्तिपर भीष्मने कौरव-पाण्डवोंको शान्तिपर्वमें नीतिधर्मका जो उपदेशामृत-पान कराया था, वह विश्व-कल्याणके लिये अक्षय निधि है।

दूसरी ओर वर्तमान भारतमें पिता-पुत्रका घृणित रोमाञ्चकारी दृश्य नित्यप्रति दृष्टिगोचर हो रहा है। साधारणतया प्रतिशत पचहत्तर परिवारोंमें पुत्रलोग माता-पितासे पृथक् रह रहे हैं। जिनके पास स्वल्प सम्पत्ति है, वे माता-पिताके भरण-पोषणका भी समुचित प्रबन्ध नहीं करते। वृद्ध माता-पिताका

जीवन प्रायः कष्टसे व्यतीत होता है। इतना ही नहीं, बहुतेरे लड़के और उनकी बहुएँ वृद्ध माता-पिता एवं सास-ससुरपर कभी-कभी दण्ड-प्रहार भी कर दिया करते हैं। अनेक स्थलोंमें पिता-पुत्रके बीच सम्पत्तिके लिये बृहद् मुकदमेबाजी भी चलती रहती है। गाँवोंकी दलबंदीमें पिता एक ओर, तो पुत्र दूसरे पक्षमें। ऐसे पिताके मरनेपर जब पुत्र श्राद्ध करने बैठते हैं, तब बड़ा ही उपहासास्पद प्रतीत होता है। जिसके प्रति श्रद्धा पहलेसे नहीं है, उसके प्रति मरनेपर क्षणमात्रमें कैसे श्रद्धा हो जायगी और बिना श्रद्धाके श्राद्ध कैसे हो सकता है। वर्तमान हिंदूसमाजमें शास्त्रोंका विचित्र मखौल उड़ाया जा रहा है। शास्त्रीय वचनोंको तोड़-मरोड़कर अपने सुविधानुसार लोग बरतते हैं। एक ही शास्त्रका एक भाग ठीक तो दूसरा भाग बेठीक! अन्यायसे धनोपार्जन करना सर्वथा त्याज्य है, पर आजकल अन्यायोपार्जित धनसे धर्म करना बुरा नहीं माना जा रहा है। ऐसे बक-धर्मीलोग समाजमें स्तुतिके पात्र माने जा रहे हैं। इसीलिये तो तीर्थोंका माहात्म्य न्यून हो गया है और अधिकतर तीर्थस्थान गुंडों तथा पापियोंके अड्डे हो रहे हैं। भारतके तीर्थ भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति-के उद्भव तथा विकासके स्थान थे। पर्वोंके अवसरपर वहाँ पारंगत विद्वान् एवं अनुभवी कर्मठलोग प्रवचन किया करते थे। उनके सङ्गसे गृहीलोग परमोपयोगी लाभ उठाते थे। स्वाधीन भारतके ऊपर यह भार है कि तीर्थोंका समुचित सुधार किया जाय।

सामाजिक धर्म

जाति तथा समाजके कल्याणके अनेकानेक चमत्कारपूर्ण उदाहरण भारतके प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यमें पाये जाते हैं। त्रेतायुगमें देवताओं तथा दानवोंद्वारा समुद्र-मन्थन किये जानेपर सर्वप्रथम समस्त सृष्टिको भस्मीभूत करनेवाले हालाहल विषका आविर्भाव हुआ। चारों ओर आतङ्क छा गया। व्यथित होकर सबने भगवान् शंकरसे त्राणकी भिक्षा माँगी। शंकरने विषका पान करके समस्त लोकको बचा लिया। इन्द्रके कोपके फलस्वरूप मूसलाधार वृष्टिसे जब समस्त व्रजवासीलोग जलमग्न होने लगे, तब भगवान् श्रीकृष्णने गोवर्धन-गिरिको उठा-कर उसके नीचे व्रजवासियोंकी रक्षा की। कालियदहमें चिर-कालसे निवास करते हुए कालियनागके विषसे दूषित हुए जलसे मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियोंको अपार क्षतिसे बचानेके हेतु भगवान् देवकीनन्दनने नागको वहाँसे भगाकर पाताल भेज दिया। महाभारतकी कथाके प्रसङ्गमें लाक्षागृहसे निकल भागनेके बाद एकचक्रा नगरीमें युधिष्ठिर आदि पाण्डव माता कुन्तीके साथ एक ब्राह्मणके घर अतिथि थे। नगरकी व्यवस्थाके अनुसार एक राक्षसको प्रतिदिन भोजनमें एक-एक मनुष्यको पारीसे गृहस्थोंको देना पड़ता था। उस दिन उसी ब्राह्मण-परिवारकी पारी थी। घरमें उदासी छायी हुई थी। समाचार जानकर कुन्तीने परिवारके सामने प्रस्ताव रखा कि 'हमारे पाँच लड़के हैं। आज इन्हींमेंसे एक राक्षसके भोजनार्थ जायगा।' ब्राह्मण-परिवारको, जिसमें एक ही लड़का वंश-प्ररोहरूपमें था, यह प्रस्ताव किसी प्रकार स्वीकृत हुआ। कुन्ती जानती थीं कि उसके बल-शाली लड़के साधारण नरभक्षी राक्षसोंके लिये अजेय थे। भीम राक्षसके पास भेजे गये और उसे मारकर उन्होंने उस जन-पदको निरापद कर दिया। युधिष्ठिरादि पाँचों भाइयोंके साथ द्रौपदीको बहत्तर-बहत्तर दिन पारक्रमसे वर्षमें रहना पड़ता था। एक भाईकी पारीमें यदि दूसरा भाई उसके घरमें किसी कारणसे चला जाय तो उसके लिये प्राणदण्ड अथवा बारह वर्ष वनवासकी व्यवस्था थी। युधिष्ठिरकी पारी चल रही थी। एक अँधेरी रातमें एक ब्राह्मणने चीत्कार किया कि उसकी गायको चोर बलात् लिये जा रहा है। भ्रमात् अर्जुनका धनुष युधिष्ठिरके घरमें रह गया था। ब्राह्मणका आर्त्तनाद सुनकर अर्जुन अपने योगक्षेमकी सारी सुधि भूलकर धनुषके लिये युधिष्ठिरके घरमें घुस गये और ब्राह्मणकी गौकी उन्होंने रक्षा की। पीछे जब उन्हें पारीके नियमका बोध हुआ, तब वे प्राणाघात करनेको उद्यत हो गये। युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वे १२ वर्षके वनवासके लिये घरसे चले गये। प्राचीन भारतके लोग अपने धर्मके पालनकी धुनमें महान्-से-महान् त्याग करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझते थे। जनताकी विपत्तिमें, विशेषतः गौ एवं ब्राह्मणकी विपत्तिमें सहायता करना क्षत्रियोंका परम धर्म था; ऐसी दशामें अर्जुन-जैसा धर्मात्मा वीर क्षत्रिय ब्राह्मणका आर्तनाद सुनकर अपने प्राण और सुखकी चिन्ता कैसे कर सकता था। दूसरी ओर आजके भारतवासी हैं। प्रतिशत ९० भारतवासी इन दिनों अपने कर्तव्यसे विमुख रह रहे हैं। थोड़े-से इने-गिने लोग जो कर्तव्यपरायण देख पड़ते हैं, उनमें भी अधिकांश लोग दण्डके भयसे कर्तव्यरत हैं। धर्मकी बुद्धिसे नहीं। छोटे-बड़े वेतन-भोगी कर्मचारी तथा अधिकारी लोग दिनोंदिन कर्तव्यसे विमुख होते जा रहे हैं। ज्यों-ज्यों वेतनभोगियोंकी संख्या एवं वेतनमें वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों जनताके काममें विलम्ब तथा उलझन बढ़ती जा रही है। स्वाधीनता-प्राप्तिके बादसे इस

अकर्मण्यताकी वृद्धि अत्यधिक द्रुतगतिसे हो चली है। न्यायालयके अधिपतिलोग जितना समय पहले अपने काममें लगाते थे, उसका आधा भी आज नहीं लगा रहे हैं। विदेशी शासनके कालमें हाकिम लोग प्रायः सारे मुकद्दमोंके कागजोंको अपने निवासस्थानपर पढ़कर निर्णय तैयार किया करते थे। अब विरले ही कोई-कोई हाकिम ऐसा करते हैं। छोटे किरानी आदि कर्मचारी नियत मासिक वेतन पानेसे अपनेको किसी कामके लिये उत्तरदायी नहीं समझते हैं। जबतक उन्हें मामूलीके रूपमें वेतनसे दूना, चारगुना, आठगुना, बीसगुना द्रव्य नहीं मिल जाता, तबतक वे अपनेको सर्वथा निरुत्तरदायी समझते हैं। इस निर्लज्जतापूर्ण धृष्टताका ताण्डव-नृत्य सारे सरकारी कार्यालयोंमें नित्य अबाध गतिसे चल रहा है। हाकिम लोगोंकी नाकके नीचे यह अवाञ्छनीय दृश्य प्रतिदिन देखनेको मिल रहा है। इस भ्रष्टाचारके प्रचारमें जनताकी अपेक्षा कर्मचारी लोग अत्यधिक दोषी हैं और सबसे अधिक दोषी हैं वे अधिकारीलोग, जिनका काम है कार्यालयोंमें सदाचारको अक्षुण्ण रखना, अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंको कर्तव्यनिष्ठ बनाये रखना, एवं जनताकी सुविधाओंका सतत ध्यान रखना। बहुतेरे अधिकारी अपने काममें अपटु एवं आलसी रहकर कर्मचारियोंके ऊपर ही सर्वथा अवलम्बित रहा करते हैं। ऐसे अकर्मण्य अधिकारी लोग ही कार्यालयोंमें अत्यन्त घृणित प्रचलित भ्रष्टाचारके पोषक हैं। कार्यालयोंके भ्रष्टाचारसे सारा समाज अपङ्ग हो रहा है। निम्नवर्गके कर्मचारी घूसके रुपयोंसे अपने सामाजिक जीवनमें, विवाह आदिके अवसरोंपर, अपनी बहू-बेटियोंके वस्त्राभूषणोंमें इतना बड़ा आडम्बर बढ़ाते चले जा रहे हैं कि समाजमें उनके समान लोग उनकी बराबरी प्राप्त करनेके लिये चोरी-डकैती आदिके द्वारा धनोपार्जनमें प्रवृत्त होने लगे हैं। कारखानों और राजकीय सेवाविभागोंमें हड़तालकी राहपर बार-बार कर्मचारियोंके वेतनमें वृद्धि होती चली जा रही है। पता नहीं, इस प्रवाहका अन्त कब, कैसे और कहाँ जाकर होगा। शासनके द्रुतगतिसे बढ़ते हुए खर्चकी पूर्तिके लिये जनताके ऊपर दिनोंदिन 'कर' का भयंकर भार बढ़ रहा है! अस्तु,

देशभक्ति-धर्म और विश्व-धर्म

मनुष्य स्वभावतः स्वतन्त्रता-प्रिय होता है। एक देशके निवासी दूसरे देशके अधीन नहीं रहना चाहते। इसके प्रतिकूल मनुष्यका यह भी स्वभाव है कि वे दूसरे मनुष्योंको अपनी अधीनतामें रखना चाहते हैं। मनुष्यकी इस द्विविध विरुद्ध प्रवृत्तिके कारण सृष्टिके आदिसे आजतक जन-जनका संघर्ष नहीं मिटा। मिटना तो क्या, दिनोंदिन इस ओर—एक देशके भीतर भिन्न-भिन्न समाजोंमें और देश-देशके बीच दुर्भाव बढ़ता जा रहा है। संसारके जितने भी छोटे-बड़े युद्ध आजतक हुए हैं, उनका मौलिक कारण मनुष्यका यही द्विविध स्वभाव है। संसारके इतिहासमें पराधीन देशोंके साथ विजेता देशोंने अधिकांशमें दुर्व्यवहार ही किया है। विजित देशवासियोंकी सभ्यता और साहित्यकी जड़पर कुठाराघात किया गया है। उनकी गाढ़ी कमाईका पैसा विजेता देशवासियोंने छल-बलसे हड़प लिया है। आज भी यह क्रम जारी है। परंतु भारतीय पुरातन इतिहाससे इस देशकी ऐसी प्रवृत्ति प्रमाणित नहीं होती है। कालिदासके रघुवंशमें राजा रघुके द्वारा विश्वविजयका वर्णन है। मध्य एशियाके कतिपय फारस, ईरान आदि देशोंपर रघुने विजय पायी थी। पराजितोंसे केवल अधीनतामात्र स्वीकार कराकर और अपना झंडा वहाँ गाड़कर छोड़ दिया गया था। न तत्काल उनका धन लूटा गया था और न आगे उनसे कर लेनेकी कोई व्यवस्था की गयी थी। संसारके इतिहासमें विजित-विजेताओंके सम्बन्धमें यह अनोखी बात है। सौभाग्यसे आज भी भारतके परराष्ट्र-सम्बन्धमें इस प्राचीन पद्धतिको अक्षुण्ण रखनेका संकेत दिन-प्रति-दिन मिलता रहता है।

संसारके युद्धोंमें कुछ देश तो अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाके हेतु विवश होकर लड़ते हैं और कुछ अग्रसर होकर दूसरे देशोंको पराजित करनेके लिये युद्धमें प्रवृत्त होते हैं। कुछ सैद्धान्तिक बातोंको लेकर भी अतीत कालमें लड़ाइयाँ लड़ी गयी हैं। रावणकी लङ्कापर रामने रावणके द्वारा अपहृत अपनी धर्मपत्नीके उद्धारके लिये तथा पापी राक्षस-कुलके संहारके लिये आक्रमण किया था। लङ्काको जीतकर श्रीरामने इसे अयोध्याका उपनिवेश नहीं बनाया, प्रत्युत रावणके सगे भाई विभीषणको उसका अधिकारी बनाया।

विधर्मी यवनोंसे भारतीय नरेशोंके युद्धमें राजस्थानके वीर राजपूतोंने जो रोमाञ्चकारी त्याग किया है, वह भारतके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित है। नववधुएँ अपने प्रियतमोंको सज-धजकर रणक्षेत्रमें भेजनेमें अपना गौरव समझती थीं। भारतके अन्तिम चक्रवर्ती नरेश पृथ्वीराजने युद्धक्षेत्रमें बन्दी

होकर प्राण-त्याग किया था। मेवाड़ाधिपति राणा प्रताप देश तथा धर्मकी रक्षाके लिये अन्तिम साँसतक मुगलोंसे लड़ते रहे। उनके साहुकार भामाशाहको भी धन्यवाद है, जिसने जीवनभरकी गाढ़ी कमाईके रुपये राणा प्रतापको बड़े गाढ़े समयमें देकर अनुपम सहायता पहुँचायी थी। इधर अंग्रेजोंके इस देशपर पदार्पणके पश्चात् भी उनकी असह्य कूटनीतिसे व्यथित होकर १८५७ में सारे देशमें जो विद्रोहाग्नि धधकी, उसमें उत्तरप्रदेश, पंजाब, बिहार आदिके कितने देशप्रेमी वीरोंने अपनी आहुति चढ़ा दी, जिनमें नाना फड़नवीस, ताँत्या टोपे, कुँवरसिंह आदि प्रमुख थे। इधर चालीस-पचास वर्ष पहले देशके क्रान्तिकारी युवकोंने जो त्याग दिखलाया, वह भारतके स्वतन्त्रता-संग्रामके इतिहासमें अमिट रहेगा।

देशभक्तिके नामपर सैकड़ों-सहस्रों नवयुवक (जिनमें बंगाली एवं पंजाबी प्रमुख थे) हँसते-हँसते फाँसीके तख्तेपर झूल जानेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझते थे। साथ-ही-साथ गांधीजीके पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती बहुतेरे देशभक्त नेता हुए हैं, जिनके त्याग और तपस्याकी गाथा भारतके इतिहासमें सदा अङ्कित रहेगी। पुराने नेताओंमेंसे महादेव गोविन्द राणाडे, फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल, विजयराघवाचार्य, गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक प्रभृति थे। गांधीजीके पार्श्ववर्ती नेताओंमें सर्वश्री पं० मदनमोहन मालवीय, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, सुभाषचन्द्र बसु, देशबन्धु चित्तरंजन दास, यतीन्द्रमोहन सेन, विधानचन्द्र राय, सीमान्त गांधी अब्दुलगफ्फार खाँ, हकीम अजमलखाँ, मौलाना मजहरुल हक, राजेन्द्रप्रसाद और हमारे कनिष्ठतम प्रिय नेता जवाहरलाल नेहरू प्रभृति थे और कतिपय अभी भी हैं। कूटनीतिज्ञ अंगरेजोंसे अपनी जन्मभूमिको मुक्ति दिलानेमें इन नेताओंने जो त्याग किया है वह सदा स्मरणीय रहेगा। इनकी क्रियाएँ प्रथम कोटिकी देशभक्ति और देशधर्ममें सदा परिगणित होती रहेंगी। महात्मा गांधी और इतर नेताओंकी विचारधारामें यह महान् अन्तर था कि गांधीजीकी लोकहितैषिणी दृष्टि व्यापक थी। वह भारतीय क्षेत्रतक सीमित नहीं थी। भारतीय स्वतन्त्रता उनके विचारानुसार विश्व-कल्याणके लिये साधनमात्र थी। उनके चिन्तनक्रममें संसारमें स्थायी सुख-शान्तिकी स्थापना तबतक सम्भव नहीं है, जबतक संसारके समस्त देशोंके लोग स्वतन्त्र नहीं हो जाते। गांधीजी भारतको स्वतन्त्र करनेके पश्चात् इतर पराधीन देशोंकी स्वतन्त्रताके लिये प्रयास करनेवाले थे; परंतु मनुष्यकी आयु सीमित है। अतः उनके जीवनका उद्देश्य उनके जीवनकालमें पूर्ण नहीं हो सका। सच तो यह है कि महापुरुषगण किसी नवीन विचारधाराका प्रचार इस आशासे करते हैं कि पीछेसे उनके अनुयायीगण उसके प्रचारका क्रम अक्षुण्ण रखेंगे। गांधीजीका प्रयास विश्वधर्मका अङ्ग था। हमें ज्ञात नहीं है कि वर्तमान कालमें संसारके किसी देशमें गांधीजीके समकक्ष क्रियाशील कोई अन्य महापुरुष विश्वधर्मावलम्बी हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघका उद्देश्य एकदेशीय है, इसका विश्वशान्तिका उद्देश्य देश-देशमें झगड़ा नहीं हो—इतनेही तक सीमित है, पराधीनोंको स्वतन्त्र करानेकी दिशामें इसका कुछ भी प्रयास नहीं है। गांधीजीके देहावसानके बाद भी विश्वशान्तिके लिये जितनी चर्चा हमारे पूज्य यशस्वी नेता श्रीजवाहरलालजी कर रहे हैं, उतनी शायद दूसरे देशके कोई प्रभावशाली पुरुष नहीं कर रहे हैं। हमारे लिये वर्तमान नैतिक पतनकी दशामें यह बड़े गौरवकी बात है।

उपसंहार

पूर्वजोंके द्वारा उपार्जित मानव-धर्मकी पुनरुन्नतिके लिये देशवासियोंको नवीन उत्साहके साथ अग्रसर होना चाहिये, कलिकालमें निम्नदिशामें मनुष्योंकी प्रवृत्ति सर्वथा अनायास होती रहती है। श्रेयस्कर कार्मोंमें सहसा उत्साह नहीं होता है। अच्छे-बुरे कार्मोंका स्थूल ज्ञान मनुष्यमात्रको होता रहता है। तभी तो चोर छिपकर चोरी करते हैं, व्यभिचारी छिपकर परस्त्रीके प्रति कुदृष्टि दौड़ाते हैं, घूसखोर कर्मचारी छिपकर घूस लेते हैं। समाजके प्रत्येक मनुष्यमें इतना नैतिक बल होना चाहिये कि वह क्षणिक हानिकी चिन्ता न करके भ्रष्टाचारोंका ढोल पीटनेमें हिचकिचाये नहीं। चोरको चोर कहनेमें भय नहीं खाय। स्वयं शुद्ध और सिद्ध होकर समाज-सुधारमें प्रवृत्त हो।

धर्मो विजयतेतराम्।

मानवता और भगवत्ता

(लेखक—आचार्य श्रीलौट्रूसिंहजी गौतम,एम्०ए०, एल्०टी०, पी-एच्०डी०, काव्यतीर्थ, इतिहासशिरोमणि)

अनादि कालसे इस गम्भीर विषयपर बड़ा ही वाद-विवाद होता आया है कि 'मानवता' और 'भगवत्ता' क्या हैं और इनका सम्बन्ध क्या है। इतिहास-शास्त्रने इसका कुछ उत्तर अपने ढंगसे दिया है। हमारे प्राचीन ऋषियों और महर्षियोंने इसका उत्तर दिया है और इसकी भलीभाँति मीमांसा भी की है। इतनी ऊँची बातें भौतिकवादी मनुष्यकी बुद्धि ग्रहण ही नहीं कर सकती। अतः इस लेखमें 'मानवता और भगवत्ता'-जैसे गहन विषयपर तर्क और दर्शनके प्रकाशमें थोड़ा विचार किया जायगा और यह दिखानेका प्रयत्न किया जायगा कि सारा विश्व इसी विषयके अज्ञानके कारण भयानक श्मशान बन रहा है—हमारी सारी भौतिक उन्नति, हमारे विज्ञानका चमत्कार दार्शनिक प्रकाशके बिना मानवको 'दानव' में परिणत कर रहा है। हमारा विज्ञान हमें नाशकी ओर ले जा रहा है। आज 'मानवता' की सेवाका दम्भ करनेवाला विज्ञान मानवताकी अदालतमें सचमुच अपराधीके रूपमें खड़ा है। वैज्ञानिकोंने थोड़ी-बहुत मानवताकी सेवा की है अवश्य; किंतु इतनी बड़ी शक्ति उसने अबोध मनुष्यके हाथमें दे दी है कि जिससे सारा संसार नरककी ज्वालासे जलने लगा है। इतना अलगाव, इतनी तनातनी, इतना भेद और इतना त्रास तो सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियोंके यूरोपीय महायुद्धोंमें भी नहीं दृष्टिगोचर था, जितना कि आज है। अस्तु, आइये, थोड़ा 'मानवता' का विश्लेषण करें। हाँ, मनुष्य सभ्यताकी कक्षामें उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ आज इस स्थानतक पहुँचा है कि वह प्रत्येक देशमें, प्रत्येक कालमें अवध्य है। मानव और पशुमें अनेक बातोंमें समता है; किंतु धार्मिकोंकी दृष्टिमें 'मानव' में धार्मिक भावोंका उदय होता है, उसमें 'सत्-असत्' का विचार होता है; वैज्ञानिकोंकी दृष्टिमें 'मानव'में बुद्धि होती है। उसमें "Rationality", तर्क-वितर्क करनेकी योग्यता होती है। मानव सभी प्राणियोंका सिरमौर है। वह जगत्की सृष्टिका शिरोमणि है। हमलोग जो सनातन तत्त्वोंमें विश्वास करते हैं तथा विकासवादी, जिनकी विकासमें आस्था है, मानवको 'भगवान्' का मन्दिर मानते हैं; सनातनधर्मी जगत् नर-देहको सर्वश्रेष्ठ मानता है; क्योंकि इसी शरीरमें ज्ञान होता है और इसी शरीरमें हमें मोक्ष प्राप्त होता है। 'मानव' की महत्तामें अब वाद-विवादको अवकाश नहीं है। हाँ, यह भी निश्चय है कि धार्मिक जगत्में 'मानव' के भीतर धर्म या ऋतका होना परमावश्यक है। शास्त्रोंने स्पष्ट कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

इन पंक्तियोंका लेखक इस विचारका समर्थन सभी मत-मतान्तरोंमें पाता है। ईसाइयोंके प्रवर्तक ईसाने कहा है—"Man was made in the image of God." मानव ईश्वरकी प्रतिमूर्ति है; जो गुण ईश्वरमें हैं, वे गुण किसी अंशमें 'मानव' में भी पाये जाते हैं। चाहे मानव असभ्यावस्थामें रह रहा हो या सभ्यावस्थामें, उसमें दैवी प्रकाशकी झलक रहती ही है।

मानव तथा ईश्वरमें क्या सम्बन्ध है? भगवत्तत्त्व और मानव-तत्त्व क्या हैं? यह सृष्टि क्यों बनायी गयी? क्या यह सब प्रपञ्च बच्चेका खेल है? इन दार्शनिक प्रश्नोंपर वाद-विवाद होता आया है, तर्क-प्रमाणोंद्वारा इनका समाधान नहीं हो सकता। ये सब वस्तुएँ आध्यात्मिक विज्ञानसे सम्बन्ध रखती हैं, स्वानुभूति ही इन सबमें प्रमाण है। मानवने अपनी बुद्धिसे इन्हें जाननेका प्रयत्न किया है; किंतु मानवी इन्द्रिय-मनसे उन्हें जानना सम्भव नहीं, क्योंकि वे सबसे परे हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(गीता ३। ४२)

सभी वेदोंने उस भगवत्तत्त्वके विषयमें 'नेति-नेति' कहा है, फिर भी उस तत्त्वको समझनेके लिये बुद्धिने यत्न किया है। तर्कशास्त्रने मानवी शक्तिका उपयोग किया है। श्रीउदयनाचार्यने 'ईश्वरसिद्धि' ग्रन्थमें उस चिन्तन 'तत्त्व' की स्थितिको सिद्ध करनेका बहुत सुन्दर और श्लाघ्य यत्न किया है। महर्षि पतञ्जलिने 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' आदि परिभाषाओंसे ईश्वरतत्त्वको समझानेका प्रयत्न किया है और विश्वके सभी दर्शनोंने उस परतत्त्वपर अपने-अपने दृष्टिकोणसे सुन्दर विचार किया है। हमारे यहाँ तो ब्रह्म, ईश्वर, जीवपर इतना विचार हुआ है कि वह विश्वकी अमूल्य सम्पत्ति है। वेदान्तने तो ब्रह्म, ईश्वर, जीवमें

केवल औपाधिक भेद माना है और भगवद्गीताने भी इस विचारपर अपनी मुहर लगा दी है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
(१३ । २२)

अर्थात् "यह आत्मा ही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, कर्मफल भोगनेके कारण भोक्ता, ब्रह्मादिका स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द होनेसे 'परमात्मा' कहा गया है।" इसे हमलोग विशुद्ध अद्वैतवाद कहते हैं। विशिष्टाद्वैतवादके प्रवर्तक स्वामी रामानुजाचार्यजी 'जीव' को भगवान्का अंश मानते हैं और भगवद्गीताके निम्न वाक्यसे अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
(गीता १५ । ७)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, वही त्रिगुणमयी मायामें स्थित हुई मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है।' अतः अधिकारीके भावानुसार 'जीव' भगवान्का सनातन अंश है, यह भी ठीक है। श्रीगीताका यहाँ भी समर्थन है। जो लोग ईश्वरको उपास्य मानते हैं, सेव्य मानते हैं और जीवात्माको सेवक मानते हैं, वे भी अपने दृष्टिकोणके अनुसार ठीक मानते हैं। भगवान्ने उनके लिये भी बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८ । ६१-६२)

आशय यह है कि भगवान्के शरण जाना सर्वश्रेष्ठ है—अभेदभावसे या अंशभावसे। अभेदभावसे और भगवान्की कृपासे ही इनके तत्त्वोंका ज्ञान भी होगा। विश्वके संतोंने उस सिद्धान्तको माना है जिसे भगवान् श्रीकृष्णने इन अक्षरोंमें कहा है—'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७ । १९)। और भी कहा गया है—'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः।' इसे गोस्वामीजीने अत्यन्त सुबोध भाषामें कहा है—

सीय राम मय सब जग जानी।

पर मायावश जीवको यह ज्ञान नहीं होता। यहाँपर 'ब्रह्म मायाके वशमें कैसे होता है? मायाका स्वरूप क्या है?' आदि दार्शनिक विषयोंकी मीमांसाका स्थान नहीं है और न समय है। सिद्धान्त इतना ही है कि परब्रह्म, अखण्डब्रह्माण्डनायक अपनी ही लीलासे अपना विस्तार करता है; उसकी विभूति, उसका अस्तित्व, उसके तत्त्व उसीकी कृपासे जाने जा सकते हैं। अतः भगवान्की वास्तविक पूजा उसीके विस्तृत रूप मानवकी सच्ची पूजा है; किंतु आज सारे विश्वमें मानवता 'राज्यसत्ता', 'शस्त्रसत्ता' तथा 'धनसत्ता'के नीचे दबी कराह रही है!

मानव मानवके प्रति कर्तव्यको भूल गया है, उसने अपने ही स्वार्थके लिये धन संचय करना प्रारम्भ किया है। धनकी मायामें पड़कर मनुष्य क्या-क्या पाप नहीं कर बैठता। प्रमादमें पड़ा हुआ मनुष्य मानवताके रुधिरसे सने जागतिक सुख भोग रहा है। तभी तो ईसाने कहा कि 'सूईके छेदसे ऊँटका निकल जाना भले ही सम्भव हो, परंतु पैसेवालेका स्वर्गके राज्यमें प्रवेश सम्भव नहीं।' आज पैसेके बलपर क्या नहीं हो सकता। परंतु इस सम्बन्धमें याद रखना चाहिये कि रावणकी सोनेकी लङ्का जलकर राख हो गयी!

यह सब जानते हुए भी प्रमत्त मानव धनकी राशि इकट्ठी करनेमें संलग्न है। इससे सारा संसार एक भीषण यम-यातनामें पड़ा हुआ दुखी है। कुछ लोग विश्रामजीवी बनकर अपनी बुद्धिके चमत्कारसे सारे जगत्में एक भयंकर भ्रान्ति ला रहे हैं। उन्होंने मानवता और भगवत्ता दोनोंका बहिष्कार किया है। धनके मदमें उन्होंने जीवनके अमृत-रसको फेंककर विषका प्याला पिया है। अब प्रश्न है—क्या मानवताकी मुक्ति सम्भव है? क्या राज्यसत्ता, शस्त्रसत्ता और धनसत्ताका भार फेंका जा सकता है? इसका 'उत्तर' स्वीकारात्मक रूपमें दिया जा सकता है, पर इस कार्यकी सफलताके लिये भौतिक धरातलसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक धरातलपर आना होगा। इन पंक्तियोंके लेखकके क्षुद्र मतमें मानवनिष्ठाकी स्थापना हो चुकी है; अब तो भारतको उसी आध्यात्मिक धरातलतक लानेकी आवश्यकता है, जिसके लिये वह जगत्में प्रसिद्ध है और जो उसका पवित्र कर्तव्य है। प्रथमतः हमें मानवमात्रका दृष्टिकोण विशाल करना होगा। हमारी मानवताका अधःपतन स्वार्थमयी भावना और संकुचित दृष्टिकोणके कारण हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीताकी सार्वभौमता और आध्यात्मिकता-से ही मानवताकी मुक्ति और रक्षा होगी। आज मानव

वज्रस्वार्थसे प्रेरित होकर मानवको खा रहा है। व्यक्तिगत स्वार्थ, जातिगत स्वार्थ, प्रान्तगत स्वार्थ, देशगत स्वार्थ जिसे स्वदेशप्रेम कहते हैं, आज सर्वत्र व्याप्त है। किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन-की नाईं सारा विश्व भाई-भतीजावाद जातिवाद-राष्ट्रवादके नशेमें चूर होकर भगवान्की और उसकी प्रतिमूर्ति मानवताकी उपेक्षा कर रहा है! आवश्यकता है हम मानवको भौतिक धरातलसे आध्यात्मिक धरातलपर लाकर उसे सत्यका दर्शन करायें। सत्यका सूर्य ही उसकी प्रमाद-निद्राका अन्त करेगा। इसके पश्चात् मानवको अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार अपने ईश्वरकी शरणमें जाकर अपने कर्तव्यका पालन करना होगा। मानवको अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते समय यह निश्चय करना होगा कि उसका हित समष्टिके हितमें निहित है; क्योंकि सारा समाज उसीका विस्तृत रूप है। इस प्रकार मानवका सबसे बड़ा कर्तव्य होगा—'लोकसंग्रह' के लिये अपना बलिदान करना; इसीको 'यज्ञमय जीवन' कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताका यही लक्ष्य है—

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।' ऐसा यज्ञमय जीवन बितानेवालेके लिये 'भगवत्तत्त्व' और 'मानवतत्त्व'में विशेष अन्तर नहीं है। स्वामी विवेकानन्दने मानवी सेवाको दैवी प्रकाशके उत्पादनका साधन माना है। श्रीअविनाश-दासने 'Year-Book of Education 1957' में एक बड़े ही मार्केकी बात लिखी है—'Vivekananda reaffirmed the necessity for realizing the Divine in man by dedicated service of the poor, the fallen, the weak in body and the weary in soul'. अर्थात् स्वामी विवेकानन्द-जीने पुनः घोषणा की कि यदि मनुष्य भगवत्प्राप्ति करना चाहे तो उसे निर्धन, पतित या निर्बलकाय और श्रान्तात्मा मनुष्यकी सेवाको ही अपनी लक्ष्य-प्राप्तिका साधन बनाना होगा।

विश्वके अनेक महान् पुरुषोंने 'नरसेवा नारायणसेवा है' इसी व्रतकी निष्ठासे अपना महान् लक्ष्य प्राप्त किया। इटलीके मैजिनी और भारतके महात्मा गांधीने इसी व्रतका अनुष्ठान किया था। पर इस व्रतके पीछे भगवद्भक्ति और भाव-शुद्धि, साधन-शुद्धि, आत्मत्याग आदि सद्गुणोंकी तथा चरित्रबल और तपस्याकी आवश्यकता है।

साधकमें इन गुणोंका समावेश तभी होगा, जब उन्हें 'एकात्मतत्त्व' में निष्ठा और विश्वास होगा 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' क्योंकि 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' ऐसी भावना बड़ी ही दुर्लभ है। किंतु इस ऊँची भावनाके बिना संसारमें शान्ति न होगी। अतः आज भारतको यह पवित्र कर्तव्य करना ही होगा।

अभी हालमें इन पंक्तियोंके लेखकने श्रीरघुनन्दन शर्माजी द्वारा लिखित 'वैदिक सम्पत्ति' नामक पुस्तक देखी, उसमें Havoorth History of the World के प्रथम भागके पेज ५६ पर की हुई 'गर्वोक्ति' उद्धृत है।

The modern European type of civilization is being spread over the whole world superseding or modifying the old local type. The world is becoming an enlarged Europe so far as the externals of life and the material side of civilization are concerned. अर्थात् 'यूरोपीय सभ्यताका प्रसार इतना अधिक सारे विश्वमें हो रहा है कि पुरानी सभ्यताका स्थान यूरोपीय सभ्यता ले रहा है। सारा विश्व विस्तृत यूरोप बन रहा है, जहाँतक उसके बाह्य जीवन तथा भौतिक पक्षसे सम्बन्ध है।' ऊपरकी गर्वोक्तिमें सत्यांश है; पर यह भी सत्य है कि इसी यूरोपीय सभ्यताके विस्तारसे सारा संसार हृदयहीन स्वार्थी बन रहा है। अतः भारतीय सभ्यताके प्रसार और प्रचारकी आवश्यकता है, जिसमें मनुष्य भेदसे अभेदकी ओर, अनेकतासे एकताकी ओर, द्वेष-कलह-घृणासे प्रेमकी ओर, शैतान-दानव-धनकी ओरसे भगवान्, मानव और शान्तिकी ओर बढ़े और भारत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनासे ओतप्रोत होकर जडवादग्रस्त जगत्को आध्यात्मिक धरातलपर लाकर विश्वमें आर्य-धर्मका स्थापन करे। और—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

महर्षियोंकी इस तपःपूत वाणीसे सारे संसारमें आध्यात्मिक जीवन जाग उठे। भगवान् भूतनाथ शंकर भारतको इतना बल दें कि वह अपने पवित्र कर्तव्यका सम्पादन कर सके। यही हमारी एकान्त प्रार्थना है। ॐ शम्।

आदर्श मैत्री

श्रीकृष्ण-गोपकुमार

परात्पर पुरुष श्रीकृष्ण—निखिल भुवननायक और समस्त देव-ऋषि-मुनीन्द्र-वन्द्य। यहाँ व्रजमें भी वे श्रीव्रजपतिके कुमार हैं। व्रज रक्षित है उनकी भुजाओंकी अभय छायामें। असुरोंसे व्रजको बचाया उन्होंने, कालियके विषसे कालिन्दीको पवित्र बनाया उन्होंने, इन्द्रकी प्रलयवृष्टिसे गोवर्धन धारण करके उन्होंने व्रजकी रक्षा न की होती, तो दावाग्निसे व्रजवासियोंको उनके अतिरिक्त कोई और बचा सकता था?

श्रीकृष्ण केवल व्रजराजकुमार ही तो नहीं हैं। व्रजके जीवन-सर्वस्व एवं व्रजवासी क्या यह नित्य-नित्य देखते नहीं कि धवलकेश, वलीपलितदेह, महान् तापस, वय एवं ज्ञान दोनोंमें परम श्रेष्ठ मुनिगण आते हैं और उनके इस नव-नीरद-श्याम युवराजके पदोंमें प्रणत होते, उसका स्तवन करते भावविह्वल हो उठते हैं!

और ये व्रजके गोपकुमार—सामान्य गोपबालक। ग्रामीण चरवाहे मात्र ही तो हैं ये। इनका वैशिष्ट्य—अवश्य इनकी सरलता, इनका सहज स्नेह सुरोंके लिये भी सुदुर्लभ है। इनकी सरलता और प्रीति ही तो है, जो श्रीकृष्णको इनके बीच खींच लायी है।

श्रीकृष्णका इनसे यह सख्य, यह मैत्री। श्यामसुन्दर इनके अपने हैं—सर्वथा अपने। गोपकुमारोंके साथ मल्लयुद्ध कर लेते हैं, खेल लेते हैं, लड़-झगड़ भी लेते हैं। रूठ लेते हैं और वे रूठते हैं तो मना लेते हैं। मिलकर भोजन करते हैं, मिलकर दौड़ते-कूदते हैं और खेलमें हारनेपर उन्हें ये त्रिभुवननाथ पीठपर बैठाकर ढो भी लेते हैं!

श्रीकृष्ण-सुदामा

मानवता मर जाती है जहाँ पद और प्रतिष्ठा, सम्पत्ति एवं सम्मान मनुष्यकी मैत्रीमें व्याघात बनते हैं। आज सहपाठियोंको कौन कहे, स्वजनोंको—अपने ग्रामीण, मलिन-वस्त्र पितातकको नवशिक्षित अपने सहयोगियों, परिचितोंमें स्वजन या पिता स्वीकार करनेमें झिझकते हैं।

श्रीकृष्ण द्वारिकाके नाथ। महाराजाधिराज उग्रसेन यादवसिंहासनकी शोभा हों; किंतु द्वारकेश श्रीकृष्ण ही तो और केवल द्वारकेश ही क्यों—इन्द्रादि लोकपाल उग्रसेनजीका सम्मान किसके प्रभावसे करते थे, यह भी क्या बतलाना पड़ेगा?

मणिजटित महाद्वार, स्फटिककी गगनचुम्बी भित्ति, जगमगाते स्वर्णकलशोंसे सज्जित भवनोंसे भरी-पूरी नगरी द्वारका और उसमें श्रीकृष्णचन्द्रका राजप्रासाद—उसकी शोभा, उसका वैभव कैसे कहा जाय?

उस राजमहलके सम्मुख एक दिन मुख्य द्वारपर आ खड़ा हुआ ब्राह्मण सुदामा—दरिद्रताकी साकार मूर्ति। शरीर हड्डियोंका ढाँचा, चमड़ेके ऊपर उठीं नसें, बिवाइयोंसे फटे पैर। केशोंने कभी तेलका दर्शन नहीं पाया। न जूता, न उत्तरीय। कमरमें मैला, शत-शत जीर्ण एक लिपटा चिथड़ा—मनुष्य इतना दरिद्र, इतना दुर्बल, इतना क्षीणकाय भी होता है, पहली बार द्वारकाके नागरिकोंने देखा था।

यादवश्रेष्ठ—द्वारकाके सम्मान्य नगरजन चकित-स्तम्भित देखते रह गये। एकान्त कक्षमें नहीं, अन्तरङ्ग स्वजनोंके सम्मुख नहीं, राजमहलके महाद्वारके सम्मुख, मुख्य राजपथपर, नागरिकोंकी भरी भीड़के मध्य अपने सदनसे सुदामाका नाम सुनकर श्रीकृष्ण अस्तव्यस्त दौड़ते आये और भर लिया उन्हें भुजाओंमें। उस कंगाल ब्राह्मणको हृदयसे लगाये कमललोचनके दृगोंसे अश्रुधारा झर रही थी। 'मित्र सुदामा!' गद्गद कण्ठ बोल नहीं पाता था।

आदर्श सखा—आदर्श गोसेवक

ग्वालबाल-सखा

सुदामा-सखा

गोसेवक श्रीकृष्ण

गोसेवक दिलीप

गो-सेवक

श्रीकृष्ण

'गोपाल' नाम ही है श्रीकृष्णका और उनकी स्तुति करते हुए कहा जाता है—

'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गो-ब्राह्मणहिताय च।'

कंसके अनुचरोंने—असुरोंने कहा था—देवताओंके यज्ञके लिये घृत देनेवाली गायोंको ही हम मार देंगे; किंतु उन्हें कहाँ पता था कि गायोंका परम रक्षक 'गोविन्द' तो गायोंके मध्य—व्रजमें ही आ चुका है।

श्रीकृष्णकी अवतारलीलाका प्रारम्भ हुआ व्रजसे—गायोंके झुंडके मध्य। वे गोपाल बनकर आये। गोसेवकोंके मध्य अवतीर्ण हुए।

गौ—निखिल देवतामयी लोकमाता। अपने दूधसे, पुत्रसे और मरनेपर अपने चमड़े-हड्डियोंसे भी सेवा करनेवाली, पवित्रताकी मूर्ति—गोबर और गोमूत्रतक जिसका उपयोगी है, ओषधि है, पावनकारी है। अभागा है वह देश, वह समाज, वह मानव जो कल्याण-वर्षिणी गौका समुचित सम्मान, सम्यक् रक्षण नहीं करता, उसकी हत्या करता है!

निखिल लोकपति श्रीकृष्ण तो गोपाल हैं ही। वे नित्य गो-सेवक। गायोंके पीछे वन-वन वे नंगे पैरों प्रतिदिन उन्हें चराने जाते थे। कमलकोमल चरण और कुश, कण्टक, कंकरिया वनपथमें न होंगी तो क्या राजपथमें होंगी; किंतु गाय तो आराध्य हैं और आराध्यका अनुगमन पादत्राण पहिनकर तो नहीं होता।

मयूरमुकुटी, वनमाली, पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण और उनके—'आगे गैयाँ पीछे ग्वाल'। श्रीकृष्ण अपने पीताम्बरसे पोंछ रहे हैं गायका शरीर। वे गौके शरीरको सहला रहे हैं। बछड़ेका मुख गोदमें लेकर पुचकार रहे हैं उसे। पुष्पगुच्छ, गुंजा, किसलय आदिसे गायोंका शृङ्गार कर रहे हैं। यमुनामें अपने करोंसे मलकर गायोंको स्नान करा रहे हैं। तृण एकत्र करके स्वयं खिला रहे हैं गायोंको। इस प्रकार गो-सेवाके उनके कार्य और उन कार्योंमें गोपालका उल्लास!

प्रातः साष्टाङ्ग प्रणिपात श्रीकृष्णका गोसमुदायके सम्मुख और सायंकाल गायोंके पैरोंसे उड़ी धूलिसे धूसरित अलकें, श्रीमुखकी उनकी छवि। मानवको गोसेवाका व्रत सिखलानेके लिये गोपालने जो आदर्श उपस्थित किया, सीख पाता उसे आजका मानव—धन्य हो जाता!

महाराज दिलीप

अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप और महारानी सुदक्षिणाने गोसेवाका व्रत लिया था। महर्षि वसिष्ठकी गौ नन्दिनीकी उनकी सेवा—गोसेवाका आदर्श सीखे कोई सम्राट्की गोसेवासे।

नन्दिनीकी गोशाला—गोशाला तो पूज्य मन्दिर है। रानी सुदक्षिणा तत्काल गोबर और गोमूत्र स्वच्छ कर देनेमें सदा तत्पर हैं! प्रातः वे नन्दिनीकी पूजा करतीं—अक्षत, चन्दन, पुष्प, माल्य, नीराजनसे उसकी पूजा और सायं नन्दिनीके समीप घृत-दीप स्थापित होता रात्रिभरके लिये। स्वयं महाराज रात्रिमें गोशालामें भूमिपर शयन करते।

नन्दिनी चले तो दिलीप चलें, वह बैठे तो बैठें और वह जल पी ले तो वे तृषा शान्त करें। उसके शरीरपरके मक्खी-मच्छर वस्त्रसे उड़ाते वे नित्य वनमें उसके अनुगामी और वह परीक्षाका दिन—गो-सेवक दिलीपकी परीक्षाका वह दिन—माया सिंह सही, दिलीपको क्या पता कि वह माया सिंह है। महाराजका हाथ तूणीरमें चिपक गया बाण निकालनेका प्रयत्न करते और सिंह दबाये बैठा था गौको।

'आप इस गौको छोड़ दें और मेरे शरीरसे अपनी क्षुधा शान्त कर लें।' दिलीपकी प्रार्थना—जिसपर बल न चले, प्रार्थना ही कर सकते थे उससे वे। सिंहके प्रलोभन व्यर्थ—दिलीप प्राणका मोह करें गोसेवाके सम्मुख? और आत्मदानकी यह पावन-प्रस्तुति कायापर नित्य विजयिनी तो है ही!

मानव-जातिका आध्यात्मिक लक्ष्य

(लेखक—अवकाशप्राप्त दर्शनाध्यापक श्रीशिवमोहनलालजी)

मानव और उसके सांसारिक जीवन-व्यापारके सम्बन्धमें वैज्ञानिकों, दार्शनिकों तथा दूसरे-दूसरे लोगोंने जो मत और मतवाद व्यक्त किये हैं, उनकी विभिन्नता देखकर मनुष्य घबरा जाता है और उसकी समझमें नहीं आता कि इनमें कौन-सा मत या मतवाद ठीक है। इन विभिन्न विचारोंका कोई ऐसा—सबके लिये समान—आधार नहीं है, जिसे मानकर मानवका व्यापक अध्ययन आगे किया जा सके। कुछ लोग प्रकृतिमें किसी पूर्व संकलित योजनाका अस्तित्व नहीं मानते, उसे केवल एक भ्रम कहकर उड़ा देते हैं। कुछ दूसरे लोगोंका यह कहना है कि तिर्यक्-गण अथवा मानव-प्रकृतिका उत्पन्न होना अन्ध प्रकृतिकी स्वतः प्रवृत्त निरुद्देश्य प्रवृत्तियोंका ही एक परिणाम है। ऐसा माननेकी अपेक्षा पूर्वसंकलित योजनाकी कल्पना अधिक ग्राह्य है। कुछ लोग मानव-व्यवहारमें स्वतन्त्र संकल्प-शक्तिका कर्मसूत्र नहीं स्वीकार करते, कुछ दूसरे उसे स्वीकार करते हैं। कोई मृत्युके पश्चात् भी जीवका रहना मानते हैं, कुछ दूसरे नहीं मानते। इस प्रकार अनेक मत-मतान्तर हैं। 'मनुष्य क्या है ?' इस प्रश्नके भी विविध उत्तर हैं। एक शताब्दीसे कुछ अधिक काल बीता, एक महान् पशु-प्रकृति-विज्ञानवेत्ताने इसका यह उत्तर दिया था कि मनुष्य दो हाथोंवाला एक स्तन्य-पायी पशु है। हालमें सेंट पॉलके डीन (प्रधान आचार्य) ने अपनी यह मान्यता व्यक्त की है कि मनुष्य परमेश्वरका शिशु है और परमेश्वरके दर्शनका आनन्द लेने तथा उसका सादृश्य लाभ करनेके लिये उसकी सृष्टि हुई है। इन दोनोंमेंसे कोई भी व्याख्या पूर्ण संतोष देनेवाली नहीं है। विज्ञानने मानवके बारेमें बहुत कुछ बताया है, परंतु वैज्ञानिकोंद्वारा उपस्थित मानवके इस चित्रमें बहुत-से अङ्ग अब भी अचित्रित हैं और सम्भवतः सदा ऐसे ही रहेंगे। विज्ञानने मानव-देहको भौतिक और रासायनिक विज्ञानोंके कुछ सर्वविदित नियमोंसे परिचालित एक यन्त्रमात्र बना डाला है। विज्ञानने प्रकृतिकी शक्तियोंपर मानवको प्रभुत्व प्रदान किया है। जीवनके प्रायः सभी व्यावहारिक अङ्गोंका, आश्चर्यजनक विवृत्तिके साथ इसने परीक्षण किया है और हरबे-हथियार, यन्त्र और अस्त्र-शस्त्र मनुष्यके हाथोंमें दे दिये हैं। पर मूलभूत कारणोंके सम्बन्धमें इसका मुँह बंद है; चरम प्रश्न जो बृहत् 'क्यों' है, उसके विषयमें इसने हमें अज्ञानी ही रख छोड़ा है।

पशु-जीवनके लिये जो-जो कुछ आवश्यक है, उसकी पूर्तिसे पशु संतुष्ट है और देवता अपनी गौरव-गरिमा और महिमासे संतुष्ट हैं। परंतु मनुष्यको तबतक स्थायी विश्रान्ति नहीं मिल सकती, जबतक वह किसी परम कल्याणको प्राप्त न कर ले। जीवोंमें वह सबसे श्रेष्ठ है, कारण वह सर्वाधिक असंतुष्ट है। अपनी सीमाओंसे सीमित और बद्ध रहनेमें उसका दम घुटता है। एकमात्र मानव ही ऐसा प्राणी है, जो किसी अतिदूरवर्ती लक्ष्यसे आकर्षित होता और उसके दिव्य उन्मादसे भर जाता है। जीवनके आधारभूत प्रेरक तत्त्वके नाते, जिस व्यक्तीभूत व्यष्टि जीवमें उस तत्त्वकी सम्भावनाएँ केन्द्रित हैं, वह व्यष्टि जीव है प्रधानतः मानव ही। मानव-संतान ही सर्वाधिक इस योग्य है कि ईश्वर उसमें निर्बाधरूपसे प्रकट हो। यह मानव है मनु, मनीषी—पुराकालीन ऋषियोंने जिसे मनोमय पुरुष कहा है। यह केवल जरायुज जातिका कोई श्रेष्ठ पशु ही नहीं, प्रत्युत जड पाशव शरीरको अधिष्ठान बनाये हुए कल्पक पुरुष है। जड प्रकृतिसे उद्भूत पशु-जीवन उसकी सत्ताकी केवल कनिष्ठ भूमिका है। विचार, प्रतीति-अनुभूति, संकल्प, बोधपूर्विका प्रेरणा अर्थात् कुल मिलाकर जिसे हम मानस कहते हैं, जो जड-प्रकृति और उसकी शक्तियोंपर अधिकार जमाने और उन्हें अपने प्रागतिक स्थित्यन्तर-साधनके विधानमें साधक बना लेनेका यत्न करता है, वह मनस्, मनुष्यका वह मानस-जीवन मानव-जीवनकी मध्य भूमिका है। पर इनसे एक श्रेष्ठ भूमिका भी है। मनुष्यका मन उसे ढूँढ़ता है, इसलिये कि पा जानेपर उसे अपनी मानसिक और कायिक सत्तामें अनुभूत कर सके। मनुष्य अपनी वर्तमान स्थितिमें अपने-आपको जो कुछ भी समझता या अनुभव करता है, उससे वह प्रत्यक्ष अनुभूति सर्वथा विलक्षण और श्रेष्ठ है। यही अनुभूति मानव-जीवके दिव्य जीवनका आधार है। जबतक हमारे जीवनकी भूमिकाएँ हमारे वर्तमान अहंभावात्मक मूल्याङ्कनसे बँधी हैं, तबतक इस पृथ्वीपर या इस जीवनमें परिच्छिन्नता, अज्ञान, जनन-मरण, दुःख और प्रमाद-उन्मादकी स्थितिको पार कर जाना सम्भव नहीं है। यदि जीवनका स्वरूप व्यष्टिगत ही हो, सार्वभौम जीवनका प्रतिनिधिरूप न हो, किसी महाशक्तिमान् जीवनात्मा-का श्वास-प्रश्वास न हो तो मानव-जीवनके लिये वह परिस्थिति

सम्भव ही नहीं है अथवा यदि सम्भव है तो किसी ऐसे निर्माणमें, जिसमें किसीका कोई अस्तित्व नहीं, मानव-जीवन विसर्जन कर देनेसे ही या किसी अन्य लोकमें जानेसे ही सम्भव हो सकती है। सामान्य मनुष्योंका मन अपनी चिर-परिचित भूतकालीन और वर्तमानकालीन बातोंमें इतना आसक्त होता है कि उसके लिये किसी ऐसे जीवनकी कल्पना करना बहुत आसान नहीं है, जिसमें मानवके मानवरूपमें बने रहते हुए भी, उसकी ये अटल-सी दीख पड़नेवाली परिस्थितियाँ मूलतः रूपान्तरित हुई हों। हमलोग अपने उच्चतर विकासके सम्बन्धमें बहुत कुछ डारविनके मतवादमें स्थान पाये हुए पुच्छ-हीन मूल वानरकी-सी स्थितिमें हैं। आदियुगके जंगलोंमें सहज प्रकृतिसे प्रेरित शाखामृगका जीवन बितानेवाले उस वानरके लिये यह कल्पना करना असम्भव था कि किसी दिन इस पृथ्वीपर कोई ऐसा पशु होगा जो अपने आन्तर और बाह्य जीवनके उपादानोंपर बुद्धि नाम्नी एक नयी शक्तिका प्रयोग करेगा और उससे वह अपने भौतिक जीवनकी परिस्थितियोंको बदल देगा। अपने लिये लोह-छड़, सीमेंट और मिट्टीसे मकान बनायेगा, प्रकृतिकी शक्तियोंका चतुराईके साथ उपयोग करेगा, समुद्रोंपर जहाज चलायेगा और पृथ्वीके ऊपर आकाशमें चतुर्दिक् स्पुटनिक घुमायेगा, आचरणके नियम शोधित और संवर्द्धित करेगा, अपनी मानसिक और आध्यात्मिक समुन्नतिकी ज्ञानमूलक पद्धतियाँ विकसित करेगा। उस वानर-मानसके लिये यदि ऐसी कल्पना करना सम्भव होता, तो भी यह सोचना उसके लिये कठिन होता कि किसी प्राकृत प्रगतिसे अथवा संकल्पशक्ति और प्रवृत्तिके दीर्घ-कालीन प्रयाससे हम स्वयं वैसा पशु बन सकेंगे। मनुष्यको चूँकि बुद्धि प्राप्त हो गयी है और इसके साथ ही जब वह अपनी कल्पनाशक्ति और अन्तर्ज्ञानका भी उपयोग करने लगा है, वह ऐसे अस्तित्वकी कल्पना कर सकता है, जो उसकी स्थितिसे श्रेष्ठ स्थिति है। साथ ही वह यह भी धारणा कर सकता है कि हम अपनी वर्तमान सत्तासे ऊपर उठकर उस सत्ताको प्राप्त हो सकते हैं। ईश्वर और स्वर्गका जो स्वप्न वह देखता है, वह यथार्थमें उसकी अपनी परिपूर्णताका ही स्वप्न है। पर जैसे उस पूर्वज वानरके लिये यह विश्वास करना कठिन होता है कि हमारे ही भीतर वह भविष्यकालीन मनुष्य है, वैसे ही वर्तमान मनुष्यके लिये यह मानना कठिन है कि उस परा स्थितिको प्राप्त होना हमारे मानव-जीवनका परम लक्ष्य है। उसकी कल्पना और धार्मिक शुभेच्छाओंके सामने वह लक्ष्य हो सकता है; पर उसकी बुद्धि जब अपना अधिकार जतलाती है, तब वह जड जगत्‌के भौतिक नियमों और उसके अनुसार होनेवाले प्रकृतिके सब कार्योंको अपने सामने रखता और इस लक्ष्यको उनसे विसंगत देखकर इसे केवल एक मनोहर-सा अन्धविश्वास कहकर उड़ा देता है। तब यह लक्ष्य असम्भवका केवल एक स्फूर्तिदायक स्वप्न-सा रह जाता है। ऐसी अवस्थामें जो कुछ सम्भव है, वह यही कि ज्ञान, सुख, शक्ति और कल्याण परिच्छिन्न, परिसीमित और अनिश्चित होकर रहें। परंतु स्वयं बुद्धितत्त्वमें ही किसी परा स्थितिके होनेका एक निश्चय अवश्य है। यदि हमारी बुद्धिमें मानव-जातिकी उन अन्य आकाङ्क्षाओंके सम्बन्धमें वैसा सहज निश्चय नहीं होता तो इसका कारण यह है कि उसमें वह मूलभूत प्रकाश प्रकट नहीं हो रहा है, जो उसके अपने सुनिश्चित कर्ममात्रमें अन्तर्निहित है।

जागतिक अस्तित्वका उपादान और निमित्त कारण परमेश्वर है, जो व्यष्टि और समष्टिके नाना रूपोंमें प्रकट होता हुआ उनमें निवास करता है। परिच्छिन्न अहंकार चैतन्यका केवल एक मध्यवर्ती रूप है, जो विकासकी एक विशिष्ट दिशामें आवश्यक होता है। समस्त भौतिक प्रकृतिकी समष्टिमें भागवत-चैतन्य ही प्रकट हो रहा है और जड जगत्‌में मानव-सत्ताका यही मूल आधार है।

अतः व्यक्तिगत आत्माकी मुक्ति सुनियोजित भागवत कर्मका मूलारम्भ है। यह भगवदीय कर्मकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। यही वह धुरी है, जिसपर अन्य सारा घटनाचक्र घूमता है। परंतु हमलोग अपने-आपको विश्वके इस वितानमें बिना मिटाये उस परमको प्राप्त कर सकते हैं। प्राचीन ऋषियोंकी धारणामें यह सम्भावना थी। इसे वे मानवकी ईश्वरीय भवितव्यता मानते थे। अर्वाचीन मनीषी इसकी कल्पना भी नहीं करते और करते भी हैं तो उसे स्वीकार नहीं करते या उसपर संदेह करते हैं।

मानव मानवता भूल गया
जब
मानवमें मानवता आयी

(लेखक—विप्र तिवारी)

[कुछ ऐसी सच्ची घटनाएँ हैं, जिनसे मानवताकी दोनों तस्वीरोंके दर्शन होते हैं, सुन्दर और असुन्दर]

(१)

उस दिन..........(मानव मानवता भूल गया)
लोहपथगामिनिः चलनेको प्रस्तुत थीः
स्वेदसे सरावोरः वीवी वच्चोंके साथः
क्षीण-काय मानव वढ़ा !

खिड़कीको छुआ ज्यों ही टूट पड़े वज्र-शब्द ।
'जगह नहीं ! जगह नहीं !! आगे वढ़ो और कहीं' ॥
दानवता हँस रही थीः मानवता मलीन थी ।
धक्केसे गिर पड़ाः विखरा सामान सव ॥
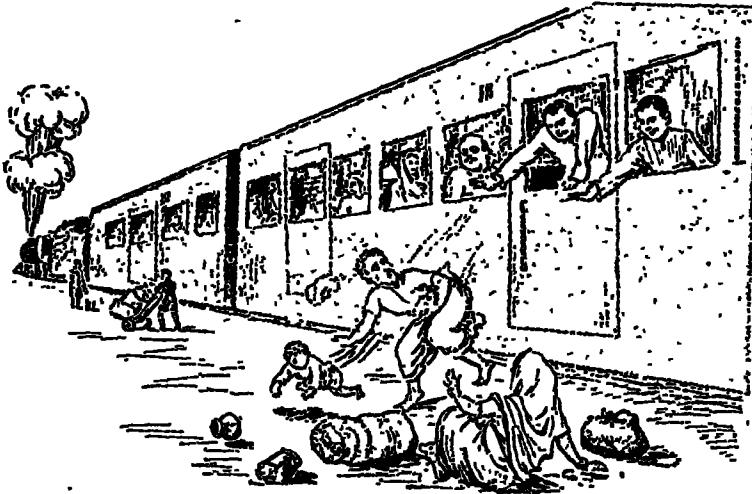
आँखोंका तारा गिराः वीवी टकरा गई ।
लोहपथगामिनि, रोती भामिनिको छोड़ ॥
आगे वढ़ी कृत्या !!

कहकहे लग रहे थे; दानवता नाचती थी।
पैरोंमें पड़ी हुई; सड़ी-सी विगड़ी हुई॥
मानवता रोती थी; फिर भी लोग चाव से।
मानव कहलाते हैं!

(२)

पानके इक्केपर चिड़ीकी काट थी।
वाजी लग रही थी वड़ी ठाठवाटकी॥
घोड़ा चावुककी मार खा करके विगड़ा।
चालक हैरान था टाँगा सँभलता नहीं॥
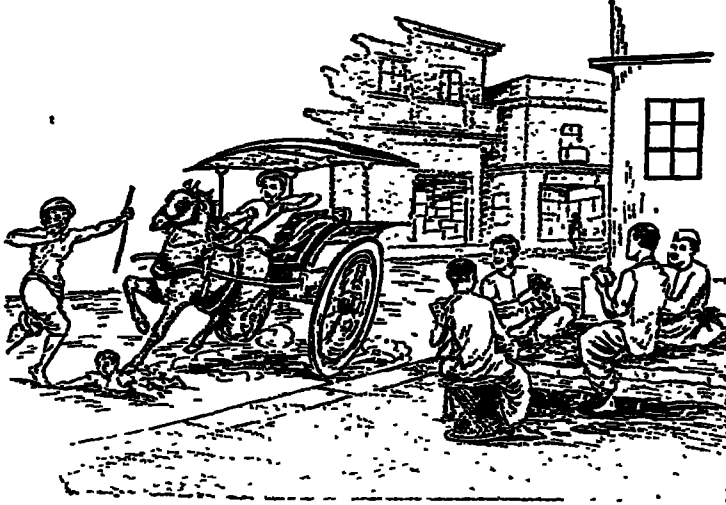
आ गया चपेटमें लाल उस गरीव का।
चेतना खो वैठा लहुलुहान था;
और आप मज़ेमें वाजी लगाते थे॥
मानवके पुतलेमें दानव जो वैठा था।
मानवता विलख कर अपना सिर पीट कर,
खड़ी खड़ी रोती थी।

और काली दानवता; ताशकी वाजी पर।
अठखेली कर रही थी; फिर भी आज मानव॥
मानव कहलाता है!

(१)

उस दिन·········(मानवमें मानवता आयी)

अग्निकी ज्वालाएँ, भैरव मुख खोल कर;
स्वाहा करनेको क्रूर आगेको बढ़ रही थीं।
बाल बच्चे मूक पशु घर फूस छप्पर सब॥
ज्वालाके मुखमें थे। चीत्कार—आर्तनाद।
गूँज रहे गूँज रहे; हरे! हा वह विषाद॥
मानवता जाग उठी; भूलकर विरोध वैर;
आगेको बढ़ गया जुट गया निर्भय हो!
ज्वालासे भिड़ गया!

लाया निकालकर शत्रु पड़ोसीके
बच्चोंको, धनको; और मूक पशुओंको;
धन्य धन्य कह उठे मानवता जीत गयी।
और चिर विरोध वह प्यारमें बदल गया
मानव कहलाया वह;
मानवता धन्य हुई!

(२)

गाँवका कहार रुग्ण कष्ट पा रहा था
अन्तिम श्वासोंपर केवल, खड़ा था पुतला;

उपचार चल रहा था, किंतु फल शून्य था।
तीन मील शहर दूर लाना था इंजेक्शन।
काली रात भूत-सी, भयानक भासती थी;
दामिनि दमकती थी; वारिद बरसते थे
पासकी नदीमें पानी पूरा वेगवान था;
कौन जाये पार? इधर 'हार' थी जीवन की
सहम गये चुप थे न साहस था शरीरमें !!
और वह कहार बड़ी पीड़ासे आकुल था,
मानवता जाग उठी करुणाके स्वरूपमें।
राम-कृष्ण-बुद्ध थे उसके रोम-रोममें;
आगेको बढ़ा वह युवक कटिबद्ध हो॥
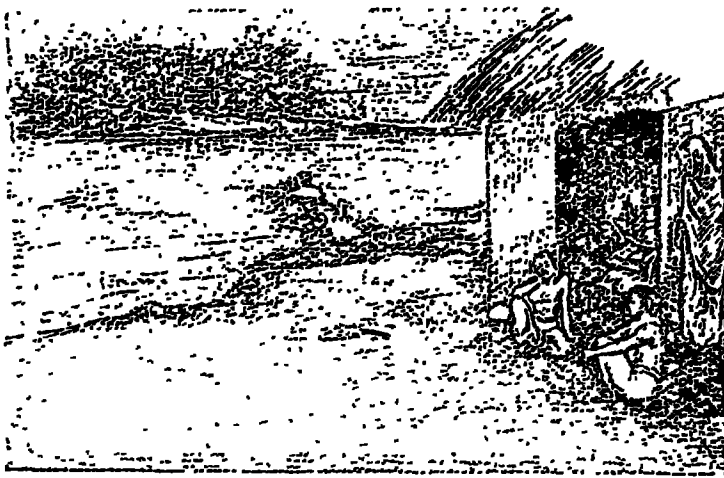
पार कर अँधेरेको चीरता पानी को;
धरतीके कलेजेपर दौड़ता वह वीरवर।
जीत हुई श्रमकी; जी उठा कहार॥
मानवता धन्य हुई; मानव कहलाया वह;
धन्य-धन्य युवक वह;
धन्य धन्य मानवता !

मानव-जीवनका उद्देश्य

(लेखक—प्रो० श्रीसीतारामजी बाहरी एम्०ए०, एम्० ओ० एल्०)

कुरानमें लिखा है कि मनुष्य इस सारे विश्वका राजा है; क्योंकि ईश्वरने उसपरही इसको ठीक-ठीक समझने और इसपर कल्याणमय राज्य स्थापित करनेकी जिम्मेदारी रखी है। बड़े-बड़े पहाड़ोंको कहा गया, तुम यह कर्तव्य सँभालो, वे डोल गये। बड़े-बड़े पशुओंको कहा गया, तुम यह कर्तव्य सँभालो; वे डर गये। किंतु मनुष्य, वह भोला-भाला प्राणी निधड़क होकर आगे बढ़ा और बोल उठा, 'हम सँभालेंगे।'

फरिश्तोंके परम गुरु अज़ाज़ीलको कहा गया—'इस आदमके आगे सिजदा करो।' उसने कहा—'हम नूरी हैं, यह खाकी है, इसके आगे हम सिर नहीं झुका सकते।'

अल्लाहने उसे शैतान बना दिया। उसी शैतानने आदम और हव्वाको बहकाकर बहिश्तसे निकलवा दिया।

कुरानके इस प्रसङ्गमें मानवताका महत्त्व पूरी तरह निखर आता है, यदि हम सभी प्रतीकोंको समझ सकें। मनुष्य भौतिकता और पशुत्वसे ऊँचा उठता हुआ पूर्ण मानव बननेका ध्येय रखता है। पूर्ण मानव ही देवाधिदेव बन सकता है। व्यक्तिके अंदरका चेतन जब विश्वात्माके चेतनको छू लेता है, वह विराट् हो जाता है, परमात्मरूप, सच्चिदानन्दरूप बन जाता है। तभी तो बाइबलने कहा है—"God created man in his own image' अर्थात् ईश्वरने मनुष्यको अपने ही रूपमें उत्पन्न किया है।

चौरासी लाख योनियोंका सिरमौर मनुष्यको माना गया है; क्योंकि मनुष्यका वास्तविक कर्तव्य और उद्देश्य सभी जीव-जन्तुओंसे उत्तम है।

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।

इन्द्रियग्राह्य सहज ज्ञान मनुष्यमें पशुओंके ऐसे ही ज्ञानसे बहुत निर्बल है। बतखका बच्चा बिना सिखाये अपने-आप पानीमें तैरने लगता है, किंतु मनुष्यका बच्चा बिना सिखाये न हमारी बोली सीख सकता है न ठीक तरहसे चल-फिर सकता है। वह एक सामाजिक प्राणी है; उसपर समाजकी, समूहकी, विश्वकी जिम्मेवारी है। व्यष्टिगत साधनोंसे बढ़कर उसे समष्टिगत साधनोंकी आवश्यकता है। वह 'पुरुष'* है, वह पुर एवं समाजमें रहता है—चींटियों और मक्खियोंकी तरह अचेतन नहीं चेतन अवस्थामें।

शारीरिक वासनाओं और अभावोंकी तृप्तिके लिये प्रकृतिने उसे विशेष शक्ति दे रखी है, किंतु वह अपने सहज इन्द्रिय-ज्ञानके साथ अपने विचारोंको जोड़कर प्रत्येक कार्यका कारण और परिणाम ढूँढ़ना चाहता है। मननकी ऐसी विशेषताके कारण ही इसे मानव, मनु अथवा 'man' कहते हैं। मनन और विवेकके कारण ही वह त्रुटियोंपर हँस सकता है।

मनुष्यकी अनुभूति प्रायः चेतन होती है और उसके संस्कार गम्भीर होते हैं। शारीरिक सुख-सुविधासे उसके ज्ञान-स्वरूप मानसकी तृप्ति नहीं हो सकती। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि व्यवहार तो पशुत्वकी कोटिके हैं। धर्म, कर्तव्य, संस्कृति, साहित्य और जीवनकी संगतिमें ही वास्तविक मानवताका विकास हो सकता है*। इन्हीं महान् औचित्यवाले आदर्शोंके कारण ही मनुष्य अपना सिर ऊँचा करके इस दृश्यमान जगत्में स्वतन्त्र विचरता है। उसके गौरवकी नींव पाप और पुण्य, झूठ और सचके विवेकमें निहित है। यह विवेक मानवको अपने पारिवारिक और सामाजिक वातावरणसे सीखना पड़ता है। भौतिक परिस्थितियोंका प्रभाव भी अवश्य पड़ता है। ये सभी परिस्थितियाँ देश-कालके कारण विभिन्न हुआ करती हैं, किंतु मौलिक मानवता प्रायः शुद्ध-बुद्ध रहा करती है। इसीलिये तो गांधीजी कहते थे—'हमें पापसे घृणा करनी चाहिये, पापीसे नहीं।'

सभीको 'सीयराममय' समझनेके लिये हमें प्रेमकी अमोघ शान्तिकी आवश्यकता बनी रहेगी। मनुष्य हिंसा-वृत्तिको छोड़कर जड-चेतनमें एक अनाम अज्ञात सत्ताकी ओर देखनेकी जो जिज्ञासा रखता है, इसके पीछे मनुष्यका प्रेम दहाड़ें मार रहा है, चाहे खीझभरे प्यारमें वह शस्त्र-अस्त्रकी खोज-खाज भी करता रहता है। तापस ऋषियों और द्रष्टा मनीषियोंके कंधोंपर खड़ा आजका मानव निर्दोष बालककी तरह अपार

---

* महाकवि गालिबने मनुष्यको विचारों और भावनाओंकी मलय माना है—

है आदमी बजाए खुद इक महशरे खयाल।
हम अंजुमन समझते हैं खलवत ही क्यों न हो॥

* साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
(भर्तृहरि)

प्रकृतिकी लीलाको समझनेकी प्रबल आकाङ्क्षा रखता है। प्रकृति महामायाके रूपमें उस मानवको अपने अनेक रहस्य धीरे-धीरे बताती जा रही है। अरबीमें मनुष्यकी पवित्र प्रेम-प्रवृत्तिके कारण उसका नाम 'इन्सान' रखा गया है*—उन्सके अर्थ प्रेम और सहानुभूति हैं। ज्ञान-विज्ञानको बटोरकर वह कञ्चनका साँप नहीं बनना चाहता, उसे तो सभीकी उन्नतिमें अपनी उन्नतिकी प्राप्ति करनी है; उसका कर्तव्य बहुत विशाल है।

उन्सका अर्थ है—भलीभाँति फैलना; पशुत्वसे निकलकर देवत्वकी ओर जाना, स्वार्थसे निकलकर परमार्थकी ओर जाना—'परोपकाराय सतां विभूतयः।' गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने विनय-पत्रिकामें कहा है—

१. काजु कहा नर तनु धरि सार्यो।
पर उपकार सार श्रुति को जो,
सो धोखेहु न बिचार्यो॥
२. लाभ कहा मानुष तन पाएँ।
काय बचन मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराएँ॥
गई न निज पर बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाएँ।
तुलसिदास यह अवसर बीतें कै पुनि के पछिताएँ॥

चीनके पुरातन कवि 'तुततुत' ने लिखा है—

'मृत्यु शोकका कारण नहीं हो सकती, संसारका उपकार किये बिना मर जानेवाला व्यक्ति शोकका कारण हो सकता है।' निष्काम और निःस्वार्थ होनेका ठीक अर्थ तो सत्य, अहिंसा ही हो सकता है†। सच्ची जीवन-कला सत्यकी अपार ज्योतिसे ही आलोकित है। व्यवहार-ज्ञानका सत्य तो देश-कालके अनुसार विभिन्न व्याख्या रखता है; किंतु यह जहाँ कहीं 'सुन्दरम्' का रूप धारण करता है, वहाँ आध्यात्मिक सत्यका आधार भी निखरने लगता है। किसी देशकी संस्कृतिका सौन्दर्य उस देशके नैतिक और आध्यात्मिक जीवनमें ही दिखायी दिया करता है, भौतिक उत्थानमें नहीं। संसार-भरके धार्मिक नेता किसी-न-किसी रूपमें यह उपदेश अवश्य कर गये हैं कि 'जो कुछ तुम पसंद नहीं करते, दूसरोंके लिये भी उसे वैसा ही समझो; सभीको आत्मवत् समझो।'

१. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
(ऋग्वेद)

२. कान्फुशियसने चीनी भाषामें 'शू' शब्दद्वारा सभीको आत्मवत् समझनेकी शिक्षा दी है।

3. All things therefore whatsoever ye would that men should do unto you even so do ye also unto them.

—बाइबल

४. रिचिबर खुद मपसंदी,
बिदीगरां मपसंद॥

—सअदी

सेवाद्वारा किसीके दिलको जीत लेना सबसे बड़ी विजय है—

मन जीतें जग जीत है।

—नानक

दिल बिदस्त आवर कि हजि अकबर अस्त।
किज हजारां कअबा यक दिल बिहतर अस्त॥
कअबा बुनगाहि खलीलि आज़र अस्त।
दिल गुज़र गाहि जलीलि अकबर अस्त॥

—मौलाना रूमी

'किसीके मनको जीत ले, यही हज और तीर्थयात्रा हैं; क्योंकि हजारों कअबा—तीर्थोंसे एक दिल बेहतर होता है। कअबा तो इब्राहीम खलील अल्लाह (प्रभु-मित्र) जो आज़रके पुत्र थे, उनका निवासस्थान था; किंतु दिल तो स्वयं परम सुन्दर ईश्वरका लीला-क्षेत्र है।'

इसी भावको मीर तक़ी मीरने यों प्रस्तुत किया है—

मत रंजा कर किसी को कि अमले तो पतक़ाद,
दिल ढाए कर जो कअबा बनाया तो क्या हुआ॥

सहानुभूति और अहिंसाकी इसी वृत्तिने बन्धुत्व, दया, न्याय, सहिष्णुता आदि गुणोंका विकास किया और मनुष्य दूसरे प्राणियोंसे विशिष्ट बन सका। इन गुणोंके सुन्दर आदर्शने मानवी सभ्यता और संस्कृतिकी सदैव रक्षा की है और उसे प्रकाशमय अध्यात्मकी ओर अग्रसर किया है।

इस सृष्टिकी उत्पत्ति मनुष्यके लिये की गयी अथवा सृष्टिके लिये मनुष्यकी उत्पत्ति हुई—यह ऐसा प्रश्न है, जिसका ठीक-ठीक जवाब नहीं दिया जा सकता। किंतु यह

---

* दर्दे दिलके वास्ते पैदा किया इन्सान को।
वरना ताअतके लिये कुछ कम न थे करोब्वियां॥

† मनु महाराजने कहा है—
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥
(मनुस्मृति)

सभी मानते हैं कि मनुष्यको कई मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक गुण विशेष मिले हैं, जिनका विकास धीरे-धीरे होता रहता है। यदि इस धरतीपरसे मनुष्यजाति बिलकुल चली जाय तो कौन यहाँके सौन्दर्यकी प्रशंसा कर सकेगा। कौन इस विस्तृत सामग्रीसे काव्यकी रचना कर सकेगा?

हमारी धरतीके-से प्राणी चाहे आकाशके किसी और नक्षत्रमें भी रहते हों, किंतु ऐसा भास होता है कि जिन तत्त्वों और गुणोंका भोग हमारी धरतीको प्राप्त है, वह किसी और स्थानपर सुलभ नहीं। हो सकता है कि हमारी इसी धरतीको अन्य नक्षत्रोंके प्राणी स्वर्गधाम ही मानते हों।

सेवा करनेका जो सौभाग्यशाली अवसर यहाँ प्राप्त है और जैसे शारीरिक और भौतिक साधन यहाँ उपलब्ध हैं, किसी और स्थानमें कदाचित् सम्भव नहीं। यही सेवा-सदन है, जहाँ मनुष्य जीनेकी कला सीखता है और शिक्षाके लिये जीता है। "Learn to live and live to learn." किंतु सच्चा ज्ञान वास्तवमें शुद्ध प्रेमका ही प्रकाशमात्र है।

आस्ट्रेलियाकी आदिम जातिमें एक सुन्दर कहानी प्रचलित है—आकाशगङ्गामें एक विशेष प्रकारका काला-सा भाग है, वही स्वर्गका द्वार है। जब कभी कोई तारा टूटता है, उसकी प्रकाशित रस्सीके द्वारा मृत हब्शी ऊपर चढ़ जाता है। जब वह ऊपरकी छतपर पहुँच जाता है, तब उस प्रकाशित रस्सीका सिरा नीचे फेंक देता है; फिर कोई और हब्शी स्वर्ग-धामको उसी रस्सीके द्वारा पहुँच जाता है।

उन लोगोंका विश्वास है कि उस स्वर्गमें जाकर सभी हब्शी गोरे हो जाते हैं।

दूसरोंकी भलाईकी भावना और कर्मशीलतासे कोई भी व्यक्ति पवित्र होकर प्रकाशपुञ्ज बन सकता है।

> जिन सेविया तिन पाइया माण।
> नानक जागे गुणी निधान॥
>
> —सुखमणी, गुरु अर्जुनदेव

संस्कृति, तप और त्यागके बिना सच्ची सेवा नहीं हो सकती। गुरु नानकदेव तो नम्रताको ही सभी गुणोंका सार मानते हैं—

> मिठत्त नीवीं नानका।
> गुण चंगि आइयां तत्त॥

कान्फ्युशियसने कहा है—नम्रता नैतिक संयमके निकट है, चरित्रकी सरलता सच्ची मानवताके निकट है।

तत्त्वज्ञानी कबीरने मानवका उद्देश्य हरिरूप हो जाना बताया है—

> हरि को भजे सो हरि का होय।

और वे अपनी रहस्यानुभूतिको व्यक्त करते हुए कहते हैं—

> 'जो कुछ करूँ सो पूजा'

इस भावको अंग्रेजीमें कहते हैं 'Work is worship'. अंग्रेज विद्वान् Calvin Coolidgeने अपने एक भाषणमें कहा था—

"It is only when men begin to worship that they begin to grow."

जब मनुष्य पूजा करने लगते हैं, तभी वे विकास पाने लगते हैं।

समवेतरूपसे मानव-जीवनका उद्देश्य है—'सत्यनिष्ठ' होना। यदि हम सच्चे मानव बन जायँ तो हम आत्मस्वरूपको—परमेश्वरको साक्षात् देख सकते हैं और परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं। इसी साधनाको मोक्ष-प्राप्तिकी साधना भी कह सकते हैं।

किसी जीवको दुःख देने, हिंसा करनेसे पहले हम अपने अन्तःकरणका गला घोंट देते हैं, अपने मानसके सत्यको मार डालना चाहते हैं। अतएव हिंसा झूठका ही दूसरा नाम है। सत्यकी पूजा परमात्माकी ही पूजा है। इस पूजा-भावनाकी सुगन्धसे ही प्रेम, त्याग, नम्रता, सहिष्णुता आदि अनेक गुण-पुष्प विकसित हो जाते हैं और मानव-जीवन वसन्तके समान सरल, सुन्दर और सुखद बन जाता है।

भगवान्‌की ओर प्रवृत्तिमें ही मानवताकी सार्थकता

(लेखक—श्रीजगदीशजी शुक्ल, साहित्यालंकार, काव्यतीर्थ)

मानवता अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। भगवान्‌की कृपाके बिना इसे पाना असम्भव ही है। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य संसारके तीन दुर्लभ पदार्थोंमें मानवताको ही प्रथम स्थान देते हैं—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् दैवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मानवता, मोक्षप्राप्तिकी इच्छा और महापुरुषोंका समाश्रय—ये तीन वस्तुएँ भगवत्कृपासे ही मिलती हैं, इसलिये दुर्लभ हैं। मानव-योनि ही कर्मयोनि है। इसलिये मानव-शरीरसे ही हम भगवान्‌को पा सकते हैं। देवताओंकी योनि भोगयोनि है, इसलिये देवता देव-शरीरसे मोक्ष नहीं पा सकते। तभी तो देवता भी मानव-योनिमें आनेके लिये लालायित रहते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि मानव-जीवनके द्वारा वह अपने परलोकको सँवारे।

दुर्लभं मानुषं जन्म प्रार्थ्यते त्रिदशैरपि।
तल्लब्ध्वा परलोकार्थं यत्नं कुर्याद् विचक्षणः॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अयोध्यावासियोंसे कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
(रामचरितमानस)

भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका ही यह परिणाम है कि हमें यह दुर्लभ मानव-जीवन सहज ही प्राप्त हो गया है। यदि भगवान् कृपा नहीं करते तो हम चौरासी लाख योनियोंमें ही भटकते रह जाते—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(रामचरितमानस)

तुलसीदासजी विनय-पत्रिकामें भी कहते हैं—

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों॥

श्रीसुन्दरदासजीके भी विचार सुन लीजिये—

सुंदर मनुषा देह यह, पायो रतन अमोल।
कौड़ी साटे न खोइए, मानि हमारो बोल॥
बार-बार नहिं पाइए, सुंदर मनुषा देह।
राम भजन सेवा सुकृत, यह सौदो करि लेह॥
सुंदर साँची कहतु है, मति आनै मन रोस।
जो तैं खोयो रतन यह, तौ तोही कौं दोस॥
सुंदर साँची कहतु है, जो मानै तो मानि।
यहै देह अति निंद्य है, यहै रतन की खानि॥

मानव-जीवनको भगवान्‌की ओर नहीं लगाकर, भोगकी ओर झुकाना अमृतको फेंककर विषका पान करना है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
(रामचरितमानस)

सच मानिये, हम भोगोंको नहीं भोगते, भोग ही हमें भोगकर सत्यानाशके भाड़में झोंक देते हैं।

भर्तृहरिने क्या खूब कहा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।

हमारी बुद्धिके स्वामी भगवान् हैं, इसलिये बुद्धिको भगवान्‌की सेवामें ही लगाना चाहिये। जो बुद्धि भोगकी दासी है, वह तो पक्की व्यभिचारिणी है। भगवान्‌की अनुचरी बुद्धिको भोगकी सहचरी बनाना बौद्धिक व्यभिचार है। इसलिये मानवमात्रको चाहिये कि वह अपने मनको और बुद्धिको भगवान्‌की सेवामें ही प्रवृत्त करे, भगवान्‌में ही लगावे।

भगवान्‌के दिये हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीवनको भोगमें लगाना भगवान्‌के साथ विश्वासघात करना है और कृतघ्नता करना है। जब हम देह-त्यागके बाद अपने जीवनके क्षण-क्षणका हिसाब भगवान्‌को देने लगेंगे, भगवान्‌को यह बतलाने लगेंगे कि हमने अपने शरीरको, इन्द्रियोंको, मनको, बुद्धिको और जीवनको कब और कितना किस पुण्य-कार्यमें लगाया, तब उस समय हम अपनी भोग-वृत्तिको कैसे छिपायेंगे ? कहाँ छिपायेंगे ? मानव भगवान्‌के दिये हुए

मानव-जीवनका दुरुपयोग करके उनको कौन-सा मुँह दिखलायेगा ? सच्ची बात तो यह है कि भोगोंकी ओरसे मन-को अभ्यास और वैराग्यके द्वारा खींचकर भगवान्की ओर प्रवृत्त करनेमें ही मानवताकी सार्थकता है। भोगमें तो कूकर और शूकर भी संलग्न हैं। फिर मानव-जीवन पानेका लाभ ही क्या हुआ ? भोगमें प्रवृत्त मानव तो पशुसे भी बदतर है। तुलसीदासजी कहते हैं—

तिन्ह तें खर सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवनु जानकि नाथ, जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥
(कवितावली)

जिस भगवान्ने हमें तन, मन और जीवन दिया, उस भगवान्को भूल जाना सबसे बड़ी कृतघ्नता, कुटिलता और दुष्टता है। महात्मा सूरदासजी कहते हैं—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नमक हरामी॥

साधारण जीवोंकी तरह मानव-जीवनका लक्ष्य केवल आहार-निद्रादि ही नहीं है, मानव-जीवनका तो परम और चरम लक्ष्य है—भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम-प्राप्ति। भगवान्को पाये बिना, भगवान्को अपनाये बिना हम चौरासी लाख योनियोंके चक्करसे कभी छूट नहीं सकते। सच्चा सुख और सच्चा विश्राम कभी नहीं पा सकते—

तब लगि कुसल न जीव कहुँ, सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ, सोक धाम तजि काम॥
(रामचरितमानस)

भगवान्के सिवा किसमें सामर्थ्य है जो हमारे दुःखोंको हरण कर सके ? चाहे कोई जप, योग, वैराग्य, बड़े-बड़े यज्ञानुष्ठान, दान, दया और इन्द्रियनिग्रह आदि करोड़ों उपाय करे। मुनि, सिद्ध, इन्द्र, गणेश और महेश-से देवताओंकी आराधना अनेकों जन्मोंतक करते-करते मर जाय, वेदों और शास्त्रोंका ज्ञानी बन जाय, युग-युगतक तपस्याकी आगमें तपता रहे, किंतु उसके दुःखोंका अन्त भगवान्के सिवा दूसरा कोई नहीं कर सकता—

जप, जोग, बिराग, महामख साधन, दान दया दम कोटि करै।
मुनि, सिद्ध, सुरेसु, गनेसु, महेसु से सेवत जन्म अनेक मरै॥
निगमागम, ग्यान, पुरान पढ़ै, तपसानल में जुग पुंज जरै।
मन सों पनु रोपि कहै तुलसी, रघुनाथ बिना दुख कौन हरै॥
(कवितावली)

जिन्हें भगवान्के चरणोंमें प्रेम नहीं है, वे तो अथाह संसार-सागरमें निरन्तर डूबते ही रहेंगे। उनके दुःखोंका अन्त नहीं हो सकता।

भवसिंधु अगाध परे नर ते पद पंकज प्रेम न जे करते।
अति दीन मलीन दुखी नित हो जिन्ह के पद पंकज प्रीति नहीं॥
(रामचरितमानस)

अपने दुःखोंका अन्त करनेके लिये, परम और चरम सुखको पानेके लिये और भगवान्के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये भी भगवान्से प्रेम करना ही मानवका चरम ध्येय है। भगवत्-प्रेमके बिना सुखका पाना वैसे ही असम्भव है, जैसे आकाश-कुसुमका चयन और वन्ध्या-पुत्रका संग्राम।

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
(रामचरितमानस)

भगवद्भक्तिको छोड़कर अन्यान्य उपायोंद्वारा जो सुख पाना चाहते हैं, वे महामूर्ख और बुद्धिके शत्रु हैं।

सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥
(रामचरितमानस)

सच पूछिये तो जीवका स्वार्थ भगवत्प्रेममें ही है। भगवान्से विमुख होकर ब्रह्माका पद पाना भी निन्दनीय ही है, अभिनन्दनीय नहीं।

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥
राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥
(रामचरितमानस)

जप, तप, यज्ञ, मनको रोकना, इन्द्रियोंको रोकना, व्रत, दान, वैराग्य, ज्ञान, योग और विज्ञान आदि सभी साधन हैं और इन सभी साधनोंका फल है भगवत्प्रेम। बिना इसके किसीका भी कल्याण हो नहीं सकता।

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥
(रामचरितमानस)

वेदों, शास्त्रों और पुराणोंके पढ़ने या सुननेका भी एकमात्र फल भगवान्‌में प्रेम होना ही है। सभी साधनोंका फल एक है और वह है भगवान्‌में प्रेम होना।

आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥
(रामचरितमानस)

संसारके बड़े-से-बड़े विचारक, दुनियाके बड़े-से-बड़े ज्ञानी और ब्रह्मवादी भी यही कहते हैं कि भगवत्-प्रेम ही मानव-जीवनका ध्येय है।

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम-पद-पंकज नेहा॥
(रामचरितमानस)

सारे धर्मानुष्ठानोंका फल भी भगवच्चर्चामें अनुराग होना ही है। यदि सारे धर्मानुष्ठानोंके बाद भी भगवत्कथामें अनुराग नहीं हुआ तो सारा-का-सारा धर्मानुष्ठान व्यर्थ हो गया।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
(श्रीमद्भागवत)

भगवद्भक्तिका सुख सभी सुखोंसे आला और निराला है। भगवद्भक्तिका सुख सभी सुखोंका सार है। राज्य-सुखसे ऊबे हुए कृष्णगढ़ाधीश महाराज श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

कहा भये नृपहू भये ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरि भगति को सकल सुखनको सार॥
—नागरीदास

मानवको मानव बनने देनेमें मनके विकार—काम, क्रोध, मद, लोभादि बहुत बड़े बाधक हैं। सच पूछिये तो इन मनोविकारोंको मिटाये बिना पण्डित भी पण्डित नहीं, गँवार है।

काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि मन में खान।
तब लगि मूरख पंडिता, दोनों एक समान॥
—तुलसीदास

मनोविकारोंको मिटाये बिना, इच्छाओं और वासनाओंका दमन किये बिना मानव सच्चा मानव बन नहीं सकता। परंतु हमारी अनन्त इच्छाओंका अन्त ही कहाँ है?

हजारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पै दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमान, लेकिन फिर भी कम निकले।
—ग़ालिब

सच्ची वीरता तो है अपनी वासनाओं और कामनाओंको मार डालनेमें, अपने 'अहं' को मिटा देनेमें। पारेका भस्म बना देनेमें, बदमाशका वध कर डालनेमें, शेर, सर्प या घड़ियालको मार डालनेमें भी कोई बहादुरी नहीं है।

न मारा आपको जो खाक हो अकसीर हो जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीर गर मारा तो क्या मारा॥
बड़े मूज़ीको मारा नफ्से अम्मारेको गर मारा।
नहंगो अज़दहा औ शेरे नर मारा तो क्या मारा॥
—ज़ौक

लोग जिहादका नारा लगाते हैं। किंतु मनुष्यका खून करना तो जिहाद नहीं है। ग़ाज़ी तो वह है, जो अपनी वासनाओंका खून करे।

जिहाद उसको नहीं कहते कि होवे खून इन्सांका।
करे जो कत्ल अपने नफ्से काफ़िरको वो ग़ाज़ी है॥
—अख्तर

भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुनको ललकारकर कहते हैं कि—'वीर अर्जुन! इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार डालो।'

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३। ४३)

किंतु इन मनोविकारोंको मिटाया जाय तो कैसे? यों तो इन्हें मिटानेके लिये—जप, तप, ध्यान, धारणा आदि अनेक साधन हैं, किंतु बिना भगवद्भक्तिके ये निर्मूल नहीं होते। वशिष्ठजी भगवान् श्रीरामजीसे कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥

हृदयमें भगवद्भक्तिका सूर्योदय होते ही हमारे मनोविकारोंका, हमारी कामनाओं और वासनाओंका अन्धकार देखते-ही-देखते छूमंतर हो जाता है। समस्त मानवीय दुर्गुण दूर हो जाते हैं और सभी सद्‌गुण अनायास ही हमारे हृदयमें उदय हो उठते हैं। फिर तो हमारे लिये समस्त संसार ही हरिमय हो जाता है और हमारी विरोध-वृत्ति बिना प्रयासके ही अनायास मिट जाती है। श्रीशंकरजी पार्वतीजीको समझाते हुए कहते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
(रामचरितमानस)

प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवाला यह चराचर संसार तो पानीके बबूलेकी तरह क्षणभङ्गुर है—नश्वर है। जगत्‌का स्वरूप

विविध है, किंतु उसके रोम-रोममें रमनेवाला राम एक ही है, वह अखण्ड है, अविनाशी है और अव्यय है। भिन्न-भिन्न सभी प्राणियोंमें एक-रस रहनेवाले इस व्यापक भगवान्‌की पहचान ही सात्त्विक ज्ञान है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(गीता १८। २०)

उपर्युक्त सात्त्विक ज्ञानके द्वारा जिसने इस घट-घट-व्यापी परमात्माको नहीं जाना, वह पुस्तकीय ज्ञानका अभिमान रखनेवाला पण्डितमानी महामूर्ख है, निरा घोंघा है। तुलसीदासजी कहते हैं—

ज्ञानीपने को गुमान करै, तुलसी के बिचार गँवार महा है।
जानकिजीवन जान न जान्यो, तो जान कहावत जान्यो कहा है॥
(कवितावली)

भगवद्भक्तके लिये जड प्रकृति भी आनन्दमयी बन जाती है। वायुमें मधु भर जाता है, वह मन्द-मन्द बहने लगती है। नदियाँ मधु रसको प्रवाहित करने लगती हैं—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

जब भगवान् आँखोंमें बस जाते हैं, तब आँखोंको जर्रे-जर्रेमें भगवान्-ही-भगवान् नज़र आने लगते हैं—

समाया है जबसे तू नजरों में मेरी।
जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है॥

सच्चा भक्त कहता है—

गुलशनमें सबा को जुस्तजू तेरी है।
बुलबुल की ज़बाँ पर गुफ्तगू तेरी है॥
हर रंग में जलवा है तेरी कुदरत का।
जिस फूलको सूँघता हूँ बू तेरी है॥
—दबीर

निर्विकार और विशुद्ध होकर भगवद्भक्त जब अणु-अणुमें, रेणु-रेणुमें अपने प्रभुको देखने लगता है, तब उसकी विरोध-वृत्ति इतनी निर्मूल हो जाती है कि वह कहता है—

अब मैं कासौं बैर करूँ ?

भक्तका हृदय विरोध-विरहित ही नहीं हो जाता, प्रेम-परिपूर्ण भी हो जाता है। वह कहता है—

करूँ मैं दुश्मनी किससे अगर दुश्मन भी हो अपना।
मुहब्बत ने नहीं दिल में जगह छोड़ी अदावत की।

इतना ही नहीं, सारी दुनियाकी पीड़ा उसकी अपनी पीड़ा बन जाती है। वह किसीके भी दुःखको देखकर तड़प उठता है—

खंजर चले किसी पै, तड़पते हैं हम अमीर।
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगरमें है॥
—अमीर

कानमें पीड़ा होती है, तो उसके दुःखसे आँखें रोती हैं। इस प्रकार हमारी इन्द्रियाँ भी एक दूसरेके दुःखसे दुखी होती हैं। मनुष्यका तो निर्माण ही पराई पीड़ाको महसूस करनेके लिये हुआ है—

दर्दे दिल के वास्ते पैदा किया इन्सान को।
—ज़ौक

आजकी निर्दयता और बढ़ती हुई स्वार्थपरताको देखकर गालिब साहब तो यह कहते हैं—

आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्साँ होना।

मनुष्य यदि निर्दय और करुणाहीन बन जाय तो वह पशु है। मनुष्यमें यदि मनुष्यता आ जाय तो वह मनुष्य होता है। निष्पाप मानव ही देवता है। मानव यदि प्राणिमात्रका प्रेमी और सेवक बन जाय तो वह है—परमात्मा। इस प्रकार मनुष्योंके मनुष्यरूपमें भी सैकड़ों प्रकार हैं—

जानवर, आदमी, फरिश्ता, खुदा।
आदमी की हैं सैकड़ों किस्में॥
—हाली

शिष्टाचार-विहीन और पुस्तकीय ज्ञानका अभिमान रखनेवाला आदमी भी आदमी नहीं, बैल है—

न हो जिसमें अदब और जो किताबोंसे लदा फिरता।
जफ़र उस आदमी को हम तसव्वुर बैल करते हैं॥
—जफ़र

जिस मनुष्यको दूसरेके लिये मुहब्बत और हमदर्दी नहीं है, वह मनुष्य देवता भी हो, तो भी मनुष्य नहीं कहला सकता। मनुष्यकी तो पहचान है मुहब्बत और हमदर्दी—

हो फ़रिश्ता भी तो नहीं इन्साँ।
दर्द थोड़ा बहुत न हो जिसमें॥
—हाली

सच पूछिये तो देवत्वसे मनुष्यत्वका स्थान ऊँचा और वाञ्छनीय है, किंतु इसके लिये कठोर साधनाकी जरूरत पड़ती है—

फरिश्ते से बेहतर है, इन्सान बनना।
मगर इसमें पड़ती है मिहनत जियादा॥

—हाली

मानवीय मुहब्बतके आगे आसमानको भी नतमस्तक होना पड़ता है। कई बार फरिश्ते आदमीके कदमोंमें सिर झुका चुके हैं—

इश्कके रुतबेके आगे आसमाँ भी पस्त है।
सर झुकाया है फरिश्तोंने बशरके सामने॥

—नसीक

यदि आप मनुष्य हैं तो अपने हृदयपर हाथ रखकर पूछिये तो अपने आपसे—

पराई आगमें पड़कर कभी दिलको जलाया है?
किसी बेकसकी खातिर जानपर सदमा उठाया है?
कभी आँसू बहाए हैं किसीकी बदनसीबीपर?
कभी दिल तेरा भर आया है मुफलिसकी गरीबीपर?
शरीके दर्द-दिल होकर किसीका दुख बँटाया है?
मुसीबतमें किसी आफतजदाके काम आया है?

भक्तका जीवन पूर्णतः निर्भय हो जाता है, उसके लिये मौत और जिंदगी दोनों ही बराबर हैं—

फना कैसी बका कैसी जब उसके आशना ठहरे।
कभी इस घरमें आ निकले कभी उस घरमें जा ठहरे॥

—अमीर

भगवद्भक्त भगवान्‌के नाते सबको अपना ही समझता है। उसके लिये पराया कोई रह ही नहीं जाता—

कुछ नहीं बाकी रही अपने परायेकी तमीज।
इस सराप बेखुदीमें कोई बेगाना नहीं॥

—नाशाद

भक्त तुलसीदासजीको सारा-का-सारा चराचर जगत् राममय दृष्टिगोचर हो रहा है। तभी तो वे दोनों हाथ जोड़कर विश्वरूप भगवान्‌की वन्दना कर रहे हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

वस्तुतः सच्चे विचारकोंके लिये सभी स्थावर और जंगम भगवान्‌के ही रूप हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त और किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है—

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५६)

सभी पदार्थोंका एक मूल कारण होता है। उस कारणके भी परम कारण भगवान् श्रीकृष्ण हैं। तब बतलाइये कि कौन-सी ऐसी वस्तु है जो भगवान्‌से भिन्न हो?

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५७)

संसारका प्रत्येक रूप भगवान्‌का रूप है और संसारका प्रत्येक नाम भगवान्‌का नाम है। जिस रूपमें भगवान्‌का रूप नहीं, उस रूपकी प्रतीति हो नहीं सकती और जिस नाममें भगवान्‌का नाम नहीं, उस नामका भान होना भी नितान्त ही असम्भव है। शब्दकोषका प्रत्येक शब्द भगवान्‌के अर्थका बोधक है—भगवान् शब्दका पर्यायवाचक है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वाक्य भी इसी सिद्धान्तके पोषक हैं।

सारा विश्व ही हरिमय है। इसलिये भगवत्प्रेमी सम्पूर्ण चराचर विश्वको स्वामी मानता है और अपने आपको इस स्वामीका सेवक। भगवान् श्रीरामचन्द्र भक्त हनुमान्‌से कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रामचरितमानस)

इसीलिये भगवद्भक्त अपना प्रभु मानकर सम्पूर्ण संसारकी सेवा करता है। भगवत्प्रेमी सेवकके लिये धनी और गरीबमें, सबल और निर्बलमें, सवर्ण और अवर्णमें, विद्वान् और मूर्खमें, स्त्री और पुरुषमें, स्वदेशी और विदेशीमें तथा दुष्ट और सज्जनमें भी कोई भेद नहीं रहता। वह कहीं वृक्षोंको सींचता चलता है, तो कहीं मछलियोंको आटेकी गोलियाँ खिलाता फिरता है। कहीं कोढ़ियोंकी सेवामें संलग्न

रहता है, तो कहीं चींटियोंको चीनी देता फिरता है। वह अपने व्यक्तिगत सुखका विश्व-सुखके लिये त्याग कर देता है।

भगवद्भक्त सेवककी सेवा सेवा नहीं होती, वह भगवत्पूजा होती है। सेवानन्द ही उसके लिये पूजानन्द, मोक्षानन्द, महानन्द, ब्रह्मानन्द या परमानन्द बन जाता है। यह अपने विश्वरूप भगवान्की सेवासे कभी ऊब नहीं सकता। भगवद्भक्त मानता है कि यह सम्पूर्ण संसार भगवान्का ही शरीर है। संसारका प्रत्येक प्राणी इसी विराट् शरीरका अंश है। इसलिये प्रत्येक प्राणी एक दूसरेसे सम्बद्ध है। सबके स्वार्थमें सबका स्वार्थ समाया हुआ है। किसी एक प्राणीकी भी कुछ बुराई होती है तो दूसरोंकी भी होती है। जैसे मानव-शरीरमें सिर, कण्ठ, हाथ, पैर आदि अवयव हैं। इनमें एककी हानिका प्रभाव दूसरेपर भी अवश्य ही पड़ता है। इसी प्रकार संसारका कोई भी प्राणी दुखी होगा तो दूसरा भी सुखी नहीं रह सकेगा। भगवान् दक्ष प्रजापतिको समझाते हुए कहते हैं—

यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥

(श्रीमद्भा० ४।७।५३)

इसलिये भक्त परमात्माका अङ्ग मानकर ही किसी भी व्यक्ति या समाजकी सेवा करता है। आजतक विश्वकी जैसी सेवा भक्तोंने की, वैसी सेवा कोई भी अभक्त सेवक नहीं कर सका और नहीं कर सकता।

भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है। मानवमात्रका यही तारक है, मानवमात्रका यही उद्धारक है।

महाराष्ट्र-संत रामदास

अपकारका बदला उपकारसे

संत रामदास एक बार भिक्षा माँगते हुए जा रहे थे। एक मकानके सामने जाकर खड़े हुए और 'जय जय रघुवीर समर्थकी' गर्जना की। मकानके अंदर गृहस्वामिनी चौका लगा रही थी। संत रामदासकी उक्त गर्जना सुनकर वह झपटकर बाहर आयी और हाथमेंका चूल्हा लीपनेका मिट्टीमें सना हुआ पोता उसने संत रामदासपर दे मारा और झल्लाकर कहा 'यह ले भिक्षा!' संतने सधन्यवाद इस विचित्र भिक्षाको स्वीकार किया और उस स्त्रीको आशीर्वाद देकर अपना रास्ता लिया। इस भिक्षाको लेकर आप सीधे नदीपर पहुँचे और उस पोतेको भलीभाँति धोकर साफ किया। फिर मठमें आकर सूखनेपर उसकी बत्तियाँ बनायीं और उन्हें घीमें भिगोकर भगवान्की आरतीमें उनका विनियोग किया। साथ ही भगवान्से यह प्रार्थना की कि 'इस बत्तीके प्रकाशके साथ ही यह वस्त्र देनेवाली बाईके हृदयका अन्धकार (अज्ञानान्धकार) भी दूर हो जाय!' फिर क्या था! सच्चे भक्तकी प्रार्थनाकी उपेक्षा भला भगवान् कब कर सकते हैं? उस स्त्रीका हृदय उक्त प्रार्थनाके साथ ही एक दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो उठा, जिसने उसकी समस्त असत्प्रवृत्तियोंको सदाके लिये दूर कर दिया। उसने अनन्यभावसे संतके पास जाकर कृत अपराधकी क्षमा-याचना की और वह भगवद्भक्तिकी अधिकारिणी हुई।

मानवता और कीर्तन-भक्ति

(लेखक—श्रीश्रीनिवासजी अय्यङ्गर)

भगवान्‌की सारी सृष्टिमें मानव-सृष्टि अद्भुत है। दूसरे प्राणियोंकी सारी सृष्टि कर्मोंका भोग भोगती है; केवल मानव-जाति पुण्यकर्म करके, भगवान्‌का गुणकीर्तन करके जीवनके लक्ष्यको प्राप्त कर सकती है। जीवनके लक्ष्यकी ओर बढ़ते हुए अपने जीवनको लोकोपयोगी बनाना ही मानवता है। उदाहरणार्थ, भगवद्भक्तिको लीजिये। बहुत लोग भगवान्‌की पूजा करते हैं, गुण-कीर्तन करते हैं; पर इसमें मानवताका पूरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। भगवान्‌का स्वयं भजन करनेके साथ-साथ लोगोंको भगवान्‌की ओर ले जाना चाहिये।

इस असार संसारमें मानव-जीवनको सुख-शान्तिका मार्ग दिखलानेके लिये अनेक महापुरुष अवतरित हुए हैं। उन्होंने भगवदाराधनाके मार्गको प्रशस्त किया है। भगवान्‌की आराधनाका एक सुन्दर मार्ग कीर्तन है। कीर्तनके द्वारा भगवत्कृपाके पात्र बनकर अनेक महापुरुष जीवन्मुक्त हो गये हैं। उन महापुरुषोंमें दक्षिण भारतके श्रीनम्माळ्वार, श्रीत्यागराजस्वामी और श्रीमुत्तुस्वामी दीक्षित बहुत प्रसिद्ध हैं। इन महापुरुषोंने अपने जीवनको भगवद्भक्तिमें ही बिताया। इनके द्वारा क्रमशः तामिळ, तेलुगु और संस्कृत भाषाओंमें रचे गये कीर्तनके पदोंका गान करनेसे भगवद्भक्ति अवश्य प्राप्त होती है। संक्षेपमें इनके जीवन-चरित्रपर यहाँ कुछ प्रकाश डाला जाता है।

श्रीनम्माळ्वार

श्रीनम्माळवारका जन्म कलियुगके आरम्भमें तिरुक्कुरुकूर-में हुआ था। पैदा होते समय उनकी आँखें बंद थीं, वे मौन थे। उन्होंने न तो रुदन किया और न माताका स्तन-पान किया। इससे उनके माता-पिता दुखी हुए तथा भगवान्‌के भरोसे उनको वे एक इमलीके पेड़के खोडरमें पलनेपर रखकर घर चले आये। ये १६ वर्षतक मौन होकर भगवान्‌के ध्यानमें संलग्न रहे।

उसी समय श्रीमधुरकवि आळ्वार अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए अयोध्यामें उपस्थित हुए। वहाँ रातमें दक्षिण दिशामें उनको एक दिव्य तेजोमय ज्योति दीख पड़ी। वे परीक्षा करनेके लिये दक्षिण दिशामें चल पड़े। रास्तेमें रातको बराबर उनको वह ज्योति दिखलायी देती रही। जब वे तिरुक्कुरुकूर पहुँचे, तब वह ज्योति अन्तर्धान हो गयी। वे उसी इमलीके पेड़के नीचे पहुँचे, जहाँ सोलह वर्षके श्रीनम्माळवार ध्यानमग्न पड़े थे। उनके जानेपर नम्माळवारकी आँखें खुलीं और मधुरकवि आळवारने उनको अपना गुरु माना।

श्रीनम्माळवारने ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेदके सारको लेकर तमिळमें पद-रचना की। आज भी उनकी पद-रचनाको गाकर तमिळदेश-वासी आत्मशान्ति प्राप्त कर जीवनको सफल बनाते हैं।

श्रीत्यागराजस्वामी

श्रीत्यागराजस्वामीका जन्म गत शताब्दीमें तंजोर जिलेके तिरुवारूर नामक स्थानमें हुआ था। वे वेद-वेदान्तमें पारंगत थे। ज्ञान, भक्ति और वैराग्यकी साधनासे सम्पन्न थे। संगीतकी ओर उनकी स्वाभाविक रुचि थी। उन्होंने प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्रीवेङ्कटरमण अय्यरसे संगीत-शास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की।

वे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके उपासक थे। काञ्चीपुरके एक महाभागवतने स्वामीजीको श्रीराम-मन्त्रका उपदेश देकर कहा था कि जो इस मन्त्रका ९६ कोटि जप कर लेता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। उस मन्त्रजापकी साधनासे अड़तीसवीं सालकी उम्रमें ही उनको श्रीरामचन्द्रजीके साक्षात् दर्शन हुए थे। उन्होंने भक्तिभावसे श्रीरामचन्द्रजीके पदोंकी रचना की और उनका गान करने लगे। सुनते हैं कि नारदजीने स्वयं अपनी 'स्वरार्णवम्' नामक संगीतकी पुस्तक प्रदान कर उनको भक्तिमय संगीत गान करनेकी प्रेरणा दी थी।

श्रीत्यागराजस्वामी सिद्ध पुरुष थे। तिरुपति जाते समय एक बार मार्गमें उन्होंने कीर्तनका गान करके एक मृत पुरुष-को जीवित कर दिया था। श्रीस्वामीजी सदा श्रीराम-नाममें रमण करते थे। तेलुगु और संस्कृत भाषामें रचित उनके संकीर्तनके पद भक्तिभावसे ओतप्रोत हैं। तबसे उन पदोंका गान करके कोटि-कोटि नर-नारियोंने शान्ति प्राप्त की है और भगवद्भक्तिकी धारामें अवगाहन करके परमपदको प्राप्त हो चुके हैं।

श्रीमुत्तुस्वामी दीक्षित

श्रीमुत्तुस्वामी दीक्षित तंजोर जिलेके उसी तिरुवारूर

गाँवमें सन् १७७५ ई० में उत्पन्न हुए थे। थोड़ी ही उम्रमें उन्होंने वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंमें प्रवीणता प्राप्त कर ली। वे भगवतीके भक्त थे और वीणा बजाकर उनका स्तुति-गान करते थे। उन्होंने पुण्य-तीर्थोंमें जाकर संस्कृतमें जगन्माताका स्तुति-कीर्तन करते हुए पद-रचना की थी। वे निरन्तर भगवतीके ध्यानमें रत रहकर उनकी आराधना करते रहते थे।

श्रीमुत्तुस्वामी दीक्षितने अपनी पत्नीके साथ काशी आदि तीर्थोंका भ्रमण किया। तिरुत्तणि तीर्थमें मयूरवाहन षण्मुख स्वामीकार्तिकेयने उनको दर्शन देकर कृतार्थ किया था। श्रीमुत्तुस्वामी सिद्ध पुरुष थे। सुनते हैं एक बार वे एट्टैयपुरमको जा रहे थे। बहुत दिनोंसे वर्षा न होनेके कारण रास्तेमें सब वृक्ष सूख गये थे। लोग जलके बिना तड़प रहे थे। श्रीदीक्षितजीने भगवतीका ध्यान करके आकाशकी ओर देखकर अमृतवर्षिणी रागमें महामायाका पद-गान किया और तुरंत आकाश मेघाच्छन्न हो गया तथा सुन्दर जल-वृष्टि हुई।

'मीनाक्षि मे मुदं देहि'—यह उनका अन्तिम पद-गान था, जिसको गाते हुए दीक्षितकी आत्मा ज्योतिरूपमें श्रीपरमेश्वरीके पदारविन्दमें लीन हो गयी।

मानव-जीवनकी सार्थकता

(लेखक—श्रीऋषिकेशजी त्रिवेदी)

जाय सो सुभटु समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय सो जती कहाय विषय बासना न छंडै॥
जाय धनिकु बिनु दान, जाय निर्धन बिनु धर्महि।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महि॥
सुत जाय मातु पितु भक्ति बिनु, तिय सो जाय जेहि पति न हित।
सब जाय दासु तुलसी कहै, जौं न राम पद नेहु नित॥
(कविता० उत्तर० ११६)

अर्थात् उस समर्थ वीर योद्धाका जीवन व्यर्थ है, जो संग्रामका अवसर पाकर युद्ध नहीं करता। उस संन्यासीका जीवन व्यर्थ है, जो संन्यासी कहलाकर वासनाओंको नहीं त्यागता। जो धनवान् होकर दान नहीं करता, जो निर्धन होकर धर्माचरण नहीं करता—इस प्रकारके निर्धन और धनी दोनोंके जीवन व्यर्थ हैं। जो पण्डित पुराण पढ़कर सुकर्ममें रत नहीं है, वह भी नष्ट है। जो पुत्र माता-पिताकी भक्तिसे रहित है, वह भी नष्ट है। जिसे पति प्यारा नहीं, वह स्त्री भी व्यर्थ है। और यदि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें नित्य नवीन प्रेम न हो तो इस मनुष्यजीवनमें सभी कुछ व्यर्थ है।

इस मानव-जीवनका परम लाभ यही है कि भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति हो। यदि भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति न हुई तो मनुष्यशरीर पाकर कुछ भी लाभ न हुआ। भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम करनेमें यदि कोई बाधा डालता हो तो उसे मानव-जीवनका परम शत्रु समझना चाहिये; क्योंकि यह मनुष्य-शरीर बड़े भाग्यसे प्राप्त होता है। यदि इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्तकर भगवान्‌के परम पावन नाममें प्रीति न की तो तुमने अपनेको धोखा ही दिया।

खेतमें डाले गये सभी बीज नहीं जमते, एक वाटिकामें लगाये गये सभी वृक्ष पल्लवित और फलित नहीं होते; परंतु धोखेसे भी एक बार लिया हुआ भगवान्‌का नाम व्यर्थ नहीं होता। इसलिये जिसे भगवान्‌का ऐसा बहुमूल्य नाम प्यारा न हो, उसे तो करोड़ों शत्रुओंके समान जानकर छोड़ देना चाहिये; क्योंकि जो मानव-जीवन चौरासी लक्ष योनियोंके पश्चात् प्राप्त हुआ है, उसे संसारी विषय अपनी ओर खींचकर महान् गर्तमें ले जायँगे। भगवान्‌के विरोधी चाहे माता-पिता, भाई-भतीजे, स्त्री-पुरुष, पुत्र, सेवक-गुरु, कोई भी निकटतम सम्बन्धी क्यों न हों, करोड़ों शत्रुओंके समान जानकर उन्हें त्याग देना ही उचित है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितन्हि, भए मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम कें मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो॥
(विनयपत्रिका १७४)

जिस समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीतासहित वनको चलने लगे, उस समय श्रीलक्ष्मणजीको ज्ञात हुआ कि श्रीरघुनाथजी वनको जा रहे हैं। वे दौड़ते हुए आये और भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े। साथमें ले चलनेके लिये बड़ी प्रार्थना

की। अन्तमें श्रीरामजीने कहा—'जाओ, मातासे विदा माँगकर शीघ्र वनको चलो।'

मुदित भए सुनि रघुवर बानी।
भयउ लाभ बड़, गइ बड़ि हानी॥

श्रीलक्ष्मणजीने जब श्रीरघुनाथजीकी ऐसी वाणी सुनी, तब वे बड़े प्रसन्न हुए; क्योंकि श्रीसीतारामजीके साथ रहनेका बड़ा लाभ प्राप्त हो रहा था तथा श्रीसीतारामजीका चौदह वर्षोंका वियोग—जो बड़ी भारी हानि थी—जो जाती रही। इसीलिये तो श्रीभरतलालजी श्रीलखनलालकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जीवन लाहु लखन भल पावा।
सब तजि राम चरन मन लावा॥

अथवा—

अहह! धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंद अनुरागी॥

श्रीरामजीके प्रेमके आगे उन्होंने माता-पिता, भाई-भवन, कुटुम्ब-परिवार—यहाँतक कि अपनी प्रिय भार्या उर्मिला तकको छोड़कर अपने जीवनको सार्थक किया।

तदनन्तर श्रीलक्ष्मणजी विदा माँगनेके लिये माता सुमित्राके पास गये और माताको राम-वन-गमनकी सारी बात कह सुनायी, जिसे सुनकर माताको दुःख तो अपार हुआ, परंतु अपने प्रिय पुत्रका कल्याण चाहनेवाली सच्ची माताने उन्हें रामभक्तिका ही उपदेश दिया। यदि माता मनमें यह किंचित् भी विचार रखती कि रघुनाथजीकी सेवामें जीवनका परम लाभ नहीं मिलेगा तो वे अपने प्रिय पुत्रका विछोह न करतीं और न साथ ही जानेको कहतीं, भले ही लक्ष्मणजी साथमें चले जाते; परंतु परम विदुषी एवं भक्त माता यह जानती है कि अयोध्यामें रहकर रामके विमुख सुख-ऐश्वर्य भोगनेमें मानव-जीवनकी सार्थकता नहीं है। इसलिये उन्होंने प्रसन्न मनसे कह दिया—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं।
अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं।
सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
राम प्रान प्रिय जीवन जी के।
स्वारथ रहित सखा सब ही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते।
सब मानिअहिं राम के नाते॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥

(रामचरित० अयोध्या०)

यही नहीं, अपनेको भी परम बड़भागिनी समझते हुए वे कहने लगीं।

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥

यदि कोई युवती संसारमें अपनेको पुत्रवती होनेका दावा करती है तो ऐसी स्त्री वही हो सकती है, जिसका पुत्र राम-भक्त हो। यदि कोई स्त्री रामके विमुख पुत्रसे अपना हित जानती है और उसे पैदा करती है तो ऐसी स्त्रीका बाँझ रहना ही उचित है। वह यदि पुत्र पैदा करती है तो वह मानव-पुत्र पैदा नहीं करती, वह तो पशुओंकी भाँति बिआती है। क्योंकि—

तिन्ह तें खर, सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
'तुलसी' जेहि राम सों नेहु नहीं, सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवनु, जानकिनाथ! जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥

(कवितावली)

जिस समय बालक ध्रुवको महारानी सुरुचिने राजा उत्तानपादकी गोदमें बैठे हुए देखा, तब बालकको कठोर वचन कहते हुए राजाकी गोदसे उतार दिया। उस समय बालक ध्रुव रोता हुआ अपनी माता सुनीतिके पास आया और कहने लगा, 'माताजी! क्या पिताजीकी गोदमें मेरे लिये स्थान नहीं है?' भक्त ध्रुवकी यह बात सुनकर माता सुनीतिने पुत्रसे कहा—

इहै कह्यो सुत! बेद चहूँ।
श्रीरघुबीर चरन चिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ॥
जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकर हूँ।
सुक सनकादि मुकुत बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥
जद्यपि परम चपल श्री संतत, थिर न रहति कतहूँ।
हरि पद पंकज पाइ अचल भइ, करम बचन मनहूँ॥

करुना सिंधु भगत चिंतामनि, सोभा सेवतहूँ।
और सकल सुर असुर ईस सब खाए उरग छहूँ॥
सुरुचि कह्यो सोइ सत्य तात! अति परुष बचन जबहूँ।
'तुलसिदास' रघुनाथ बिमुख नहिं मिटइ बिपति कबहूँ॥
(विनयपत्रिका ८६)

'बेटा! चारों वेदोंने यही कहा है कि श्रीरघुनाथजीके चरणोंके चिन्तनको छोड़कर और कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं है—जिनके चरणोंका सेवन करके ब्रह्मा और शिवजीने सिद्धि प्राप्त की है; शुक-सनकादि जीवन्मुक्त हुए विचर रहे हैं और वे अब भी भजन कर रहे हैं। यद्यपि श्रीलक्ष्मीजी बड़ी चञ्चला हैं—कहीं भी स्थिर नहीं रहतीं, वे भी श्रीहरिके चरणारविन्दको पाकर कर्म-वचन-मनसे वहीं अचल हो गयी हैं। वे चरण-कमल करुणाके समुद्र एवं भक्तके लिये चिन्तामणिरूप हैं। उनकी सेवामें ही शोभा है। जितने सब देवता और दैत्यराज हैं; सब-के-सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छः सर्पोंद्वारा डँसे हुए हैं। पुत्र! सुरुचिने जो कुछ कहा है वह कठोर वचन होनेपर भी सत्य है। तुलसीदासजी कहते हैं, श्रीरघुनाथजीके विमुख रहनेसे विपत्तियोंका नाश कभी नहीं होता।'

इस प्रकार माता सुनीतिने अपने पुत्रको भगवान्की सेवाका उपदेश देकर उसका स्थान संसारमें ध्रुव कर दिया और संसारको एक शुभ संदेश दिया कि मानव-जीवनकी सार्थकता यदि हो सकती है तो भगवान्के चरणोंमें प्रीति करनेसे ही हो सकती है।

जिस समय श्रीभरतलालजी अपने पिताजीका सोच कर रहे थे, उसी समय महर्षि वशिष्ठ बहुत-से ऋषियोंके साथ उनके पास आये। उन्हें देखकर भरतलालजी फूट-फूटकर रोने लगे। तब महर्षि वशिष्ठजीने भरतजीको समझाया और कहा कि 'राजा दशरथ सोचनेके योग्य नहीं हैं; क्योंकि—

सोचनीय सब ही बिधि सोई।
जो न छाड़ि छलु हरि जन होई॥

वही प्राणी सब प्रकारसे शोचनीय है, जो छल-कपट छोड़कर भगवान्का भक्त नहीं है। तुम्हारे पिता तो परम भागवत थे, उन्होंने तो—

जिअत राम बिधु बदनु निहारा।
राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

भारतके त्रिकालदर्शी ऋषियों, संतों और महात्माओंने मानव-जीवनकी सफलता और सार्थकता केवल भगवान्के चरणोंमें प्रेम करनेसे ही बतलायी है। प्रभुके नाम, रूप, लीला, धाममें प्रीति लगाना ही इस क्षणभङ्गुर जीवनका फल है। सीताराम-गुण-ग्राम-पुण्यारण्यमें विहार करनेवाले संत श्रीतुलसीदासजीने अपने जीवनके समस्त अनुभवको कलि-कुटिल जीवोंके निस्तारके लिये इस प्रकार व्यक्त किया है—

भलि भारत भूमि, भलें कुल जन्मु,
समाजु सरीरु भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम,
मारुत घाम सदा सहि कै॥
जो भजै भगवानु सयान सोई,
'तुलसी' हठ चातकु ज्यों गहि कै।
नतु और सबै बिष बीज बए,
हर हाटक कामदुहा नहि कै॥
(कवितावली, उत्तरकाण्ड ३३)

पवित्र भारत-भूमि, उत्तम कुलमें जन्म, उत्तम सङ्ग और उत्तम शरीर प्राप्त करके जो मनुष्य क्रोध और कठोर वचनोंको त्यागकर, वर्षा-शीत, वायु-धूपको सहता हुआ चातककी तरह हठपूर्वक सदा-सर्वदा भगवान्को भजता है, वही चतुर है। नहीं तो, और सब तो मानो सुवर्णके हलमें कामधेनुको जोतकर केवल विषका ही बीज बोते हैं!

अवसर बार बार नहिं आवै।
चाहे तौ करि लेइ भलाई जनम जनम सुख पावै॥
तन-मन-धनमें नहिं कछु अपना, छाँडि पलकमें जावै।
तन छूटे धन कौन कामका किरपन काह कहावै॥
सुमिरन भजन करौ साहेबका जातें जिउ सुख पावै।
कहै कबीर पग धरै पंथपर जमके जन न सतावै॥

—कबीर

विश्व तथा भारत किधर ?

क्या बढ़ रहा है ?	क्या घट रहा है ?	क्या बढ़ रहा है ?	क्या घट रहा है ?
१ काम	१ स्वार्थहीनता	३६ अभक्ष्य-भक्षण	३६ शुद्ध-सात्त्विक आहार
२ क्रोध	२ क्षमा	३७ रोग	३७ नीरोगता
३ लोभ	३ निर्लोभता	३८ महँगी	३८ वस्तुओंका सस्तापन
४ व्यभिचार	४ ब्रह्मचर्य	३९ फिजूलखर्ची	३९ मितव्ययिता
५ मनकी गुलामी	५ संयम	४० सफाई	४० शुद्धि
६ संग्रहवृत्ति	६ अपरिग्रह	४१ दलबंदी	४१ देशभक्ति
७ कर्तव्यभ्रष्टता	७ कर्तव्यपरायणता	४२ प्रान्तीय-द्वेष	४२ राष्ट्रियता
८ दुराचार	८ सदाचार	४३ भाषा-द्वेष	४३ एकभाषा-एकलिपि-प्रियता
९ अधर्म-रुचि	९ धर्मप्रेम	४४ नौकरी-वृत्ति	४४ परिश्रम-प्रियता
१० चोरी	१० गुप्तदान-गुप्तसेवा	४५ कर (टैक्स)	४५ बहीखातोंकी सचाई, धन
११ डकैती	११ परदुःख-कातरता	४६ कानून	४६ कानून माननेकी रुचि
१२ ठगी	१२ सेवावृत्ति	४७ यूनियन	४७ समन्वय
१३ विश्वासघात	१३ परोपकार-वृत्ति	४८ अस्पताल	४८ यथार्थ रोगीसेवा
१४ धूर्तता	१४ सरलता	४९ विद्यालय	४९ सच्ची विद्या
१५ चोरबाजारी-घूसखोरी	१५ संतोष	५० सिनेमा	५० शील
१६ बेईमानी	१६ ईमानदारी	५१ बिजली	५१ नेत्रज्योति
१७ असत्य	१७ सच्चाई	५२ मकान	५२ गृह-सुख
१८ अभिमान	१८ विनय-नम्रता	५३ रेडियो	५३ शास्त्राध्ययन
१९ स्वार्थपरता	१९ त्याग	५४ तार-टेलीफोन-डाकखाने	५४ आध्यात्मिकता
२० निर्दयता	२० दया	५५ सरकारी अधिकारियोंकी भले आदमियोंके साथ सख्ती	५५ अधिकारी-जनताका प्रेम
२१ दोष-दर्शनवृत्ति	२१ गुण-दर्शन-वृत्ति	५६ पशुता	५६ मानवता
२२ निर्लज्जता	२२ बुरे काममें लज्जा	५७ दानवता	५७ देवत्व
२३ द्वेष	२३ प्रेम	५८ रणसज्जा	५८ विश्वास
२४ उच्छृङ्खलता	२४ स्वतन्त्रता	५९ सड़क-पुल	५९ जातीय पेशेकी वृत्ति
२५ अपवित्रता	२५ शौच	६० शासनशिथिलता	६० परोपकार
२६ दम्भ	२६ सादगी	६१ विज्ञापनप्रियता	६१ दीनसेवा
२७ भय	२७ निर्भयता	६२ आतङ्क	६२ निश्चिन्तता
२८ चापलूसी	२८ स्पष्टवादिता	६३ आलस्य-प्रमाद	६३ कर्मशीलता
२९ वाचालता	२९ कथनानुसार आचरण	६४ आपसी फूट	६४ परस्पर-सहयोग
३० नास्तिकता	३० ईश्वर-विश्वास	६५ स्वामि-द्रोह	६५ स्वामिभक्ति
३१ विलासिता—फैशन	३१ तप	६६ अनुशासन-भंगरुचि	६६ नियमानुवर्तिता
३२ इन्द्रिय-सेवा	३२ इन्द्रियदमन	६७ देहात्मबोध	६७ विश्वात्मबोध
३३ क्रान्ति	३३ शान्ति	६८ विषमता	६८ समता
३४ माता-पिता, गुरुजनकी अवज्ञा	३४ गुरुजन-सम्मान-पूजन	६९ दुःख	६९ सुख
३५ गोवध—प्राणिहिंसा	३५ अहिंसा	७० विज्ञान	७० ज्ञान

मानवताकी माँग

(लेखक—श्रीसाँवलियाविहारीलालजी वर्मा एम्०ए०, बी०एल्०, एम्०एल्०सी०)

संसारकी सभ्यताके उषाकालमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने यह ज्ञान प्राप्त किया था कि सत्य और ऋत ही इस सृष्टिके आदि उपादान-कारण हैं। यह पृथ्वी सत्यपर ही स्थिर है। तभीसे सत्याचरणका भाव मानो इस देशके वातावरणमें फैल गया और भारतीय संस्कृतिकी आधारशिला सत्य और ऋत (आचार) बन गयी। परिणाम यह हुआ कि 'चरित्रबल' ही मानवताकी माँग हो गया और भारतने चरित्रबलको ही धर्मकी कसौटी समझा। उस कसौटीपर जो सफल उतरे, उन्हें भारत आदर और गौरवकी दृष्टिसे देखता आया, भले ही उनकी विचारधारा सर्वमान्य और सर्वप्रिय न हो। प्राचीन भारतके इतिहासके पन्ने हमें धर्मके विषयमें स्वतन्त्र विचार रखनेके कारण किसीको पीड़ित अथवा अनादृत होनेका उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते। भारत ही एकमात्र देश है, जहाँ ईश्वरको न माननेवाले महापुरुष भी चरित्रबलके कारण न केवल आदर और मर्यादाके भाजन हो सके वरं उन्हें समाजमें उच्चतर स्थान मिला और वे विशेषरूपसे आदृत हुए। ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास न रखनेपर भी चरित्रबलके कारण उनकी मान-मर्यादामें विरोध उपस्थित न हो सका। भगवान् बुद्धने स्पष्टरूपसे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार न की और न वेदोंका ही आदर किया; किंतु वे अपने युगके सर्वश्रेष्ठ आचारवान् पुरुष थे। जीवमात्रके प्रति उनकी समदृष्टि थी। सत्य और अहिंसा उनका मूलमन्त्र था। अतएव उनकी विशेष प्रतिष्ठा हुई। उनकी गणना विष्णुके नवम अवतारके रूपमें की गयी और आज भी जनतामें उनकी प्रतिष्ठा बनी हुई है।

मीमांसादर्शन निरीश्वरवादी कहा जाता है। इसके आचार्य जैमिनिका कथन है कि वेद स्वयं नित्य हैं। आपके मतानुसार विश्वमें कर्म ही सबसे प्रधान वस्तु है, आप ईश्वरको कर्मफलोंका दाता नहीं मानते; तथापि जैमिनिकी ही नहीं, किंतु अन्य आचारवान् मीमांसकोंकी भी प्रतिष्ठा और मर्यादा बनी रही।

लङ्काधिपति रावण ऋषि पुलस्त्यका नाती तथा कुबेरका भाई था, चारों वेदोंका पण्डित होनेके साथ-साथ भगवान् शंकरका परम भक्त भी था; किंतु आचारहीन होनेके कारण उसकी गणना राक्षसोंमें की गयी। सदाचारके कारण ही उसके भाई विभीषणको मर्यादापूर्ण स्थान मिला था। इस प्रकार प्राचीन भारतमें मानवताकी माँगका मूलाधार सत्य और ऋत था और मनुष्यकी मर्यादा और प्रतिष्ठाका मापदण्ड उसका चरित्रबल ही था।

मानवताकी दूसरी माँग 'सर्वजनसुखाय' की भावना थी, जो भारतमें आदिकालसे प्रबल रही है। भारतीय संस्कृतिकी इस आधार-शिलारूप भावनापर भारतीय जीवन और धर्मका भव्य भवन अडिग और अचल खड़ा हुआ है। इन उदार, उदात्त और सर्वोच्च अभिलाषाओंके कारण ही आर्य-संस्कृतिकी मौलिक महत्ता है। आर्य नर-नारीकी अभिलाषा केवल अपनेको ही नहीं, वरं सम्पूर्ण विश्वको सुखी और शान्त बनानेमें पूरी होती थी और प्रत्येक आर्य अपनी प्रार्थनामें चाहता था—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

अर्थात् सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब लोगोंका कल्याण हो, कोई दुःखका भागी न हो।

इस मानवताका मूलाधार हमें ऋग्वेदके उस मन्त्र (मण्डल १, सूक्त ८९, मन्त्र ८) से मिलता है, जहाँ ऋषि शान्तिकी प्रार्थना करता है—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ओम् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अर्थात् हे देवगण! हमलोग भगवान्का भजन करते हुए कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें। नेत्रोंसे कल्याण ही देखें। सुदृढ़ अङ्गोंसे और शरीरसे भगवान्की स्तुति करते हुए अपने जीवनको भगवान्के कार्य अर्थात् लोकहितमें लगावें। सब ओर फैले हुए सुयशवाले इन्द्र हमारे लिये कल्याणका पोषण करें। समस्त विश्वका ज्ञान रखनेवाले पूषा हमारे लिये कल्याणका पोषण करें। अरिष्टोंको मिटानेके लिये तार्क्ष्य और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति हमारे लिये कल्याणकी

पुष्टि करें । हे परमात्मन् ! हमारे विविध तापोंकी शान्ति हो ।

अतएव हमें प्राचीन प्रार्थना-मन्त्रोंमें केवल आत्मलाभके उद्गार ही नहीं, किंतु उनमें समाज एवं विश्वकी मङ्गल-कामनाके ही अधिकतर भाव मिलेंगे ।

इस 'सर्वजनसुखाय' की सद्भावना तो चरम सीमाको तब पहुँच जाती है, जब ऋषि दधीचिसदृश महान् तपस्वी जनकल्याणके लिये अपने जीवनका विसर्जन सहर्ष कर देता है । ऋषिने यह कहकर अपना शरीर जनकल्याणके लिये अर्पित कर दिया कि जब एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है, तब इसको पालकर क्या करना है । जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुखी प्राणियोंपर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यशका सम्पादन नहीं करता, वह जड-पौधोंसे भी गया-बीता है, बड़े-बड़े महात्माओंने इस अविनाशी धर्मकी उपासना की है । इसका स्वरूप, बस, इतना ही है कि मनुष्य किसी भी प्राणीके दुःखमें दुःखका अनुभव करे और सुखमें सुखका । जगत्में धन, जन, शरीर आदि पदार्थ क्षण-भङ्गुर हैं । कितने दुःखकी बात है कि यह मरणधर्मा मनुष्य इसके द्वारा दूसरोंका उपकार नहीं कर लेता ।

स्वयं मुक्त होकर यदि हम और किसीको मुक्त न कर सके तो अपनी मुक्तिकी सार्थकता कहाँ । यदि वस्तुतः एक ही आत्मा सत्य है तो क्या यह भी सत्य नहीं कि जबतक अन्यान्य जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर लें, तबतक वास्तवमें किसी भी आत्माको पूर्णत्व लाभ नहीं हुआ । भारतके महापुरुष इसकी घोषणा कर गये हैं कि विश्वकल्याण और आत्मकल्याण दोनों एक और अभिन्न हैं । इस प्रकार प्रज्ञावान् पूर्णकाम मानवके सम्मुख उसकी तपस्या और निष्ठापर मुग्ध होकर जब स्वर्गाधिपतिने वर माँगनेके लिये कहा, तब महामानव राजा रन्तिदेवके मुखसे सहसा निकल पड़ा—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥
कश्चास्य स्यादुपायोऽत्र येनाऽहं दुःखितात्मनाम् ।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा ॥

अर्थात् मुझे राज्यकी कामना नहीं है, स्वर्ग तथा मोक्ष-की भी मुझे चाह नहीं है; मैं चाहता हूँ दुःखसे संतप्त प्राणियोंका दुःखसे छुटकारा । दुखी मानवोंके अन्तःकरणमें पैठकर मैं उनके दुःखको भोग लूँ—इसका कौन-सा उपाय है ?

इस प्रकार मानव-कल्याणकी कामनाके सामने आये हुए ऐश्वर्य तथा मुक्तिको भी ठुकराना आर्य-संस्कृतिमें ही सम्भव था । यह है इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता । जबसे भारतने इस आदर्शको त्यागा, इसकी अवनति होती गयी ।

आज भारत यद्यपि स्वतन्त्र हो गया है, तथापि एक ओर तो बड़े वेगसे सत्य और ऋतसे वह दूर चला जा रहा है और दूसरी ओर स्वार्थभावना सर्वोपरि हो रही है । व्यक्तिके स्वार्थ-साधनमें समष्टिका हित बलिदान हो रहा है । यह बड़े ही खेदका विषय है ! अतः स्वार्थ-भावनासे एक-एक भारतीय जितना ऊपर उठेगा, उतना ही देशका अभ्युदय होगा और साथ ही जीवनकी परिधि विस्तृत होती जायगी । मनुष्यका हृदय जितना ही उदार और विशाल बनता जायगा, मानवताकी महिमा उसमें उत्तरोत्तर बिखरती जायगी । अतः देशके कर्ण-धारोंका कर्तव्य है कि पुस्तकों, भाषणों और चलचित्रोंद्वारा और विशेषकर अपने आदर्श चरित्रोंद्वारा देशके बच्चे-बच्चेमें, जो भारतके भावी नागरिक हैं, सत्य और ऋतकी महत्ता एवं 'सर्वजनसुखाय'की भावना भरें, जिससे उन्हें व्यक्तिगत हितको समाजके हित एवं देशके हितमें डुबो देनेकी प्रेरणा मिले; और तभी भारत अपनी प्राचीन गौरव-गरिमाको प्राप्त-कर संसारका पुनः पथ-प्रदर्शक बन सकेगा । आज यही मानवताकी माँग है ।

गर्व-अत्याचार मत करो

बंदा बहुत न फूलिये, खुदा खिवेगा नाहिं ।
जोर जुलम कीजै नहीं, मिरत लोक के माहिं ॥
मिरत लोक के माहिं, तजुरवा तुरत दिखावै ।
जो नर करै गुमान, सोइ जग खत्ता खावै ॥
कहै 'दीन-दरवेश' भूल मत गाफिल गंदा ।
मिरत लोक के माहिं, फूलिये बहुत न बंदा ॥

मानवता-पतन

घूसखोरी

न्यायालय तो पुराना अड्डा है घूसखोरीका और पुलिस भी परम्परा-पट्टु; किंतु स्टेशन, पोस्ट तथा नये-नये खुलनेवाले विभाग—उदाहरण देना व्यर्थ है। आपमेंसे कोई नहीं होगा जो 'कुछ भेंट' देनेको कभी विवश नहीं हुआ हो।

'आप अभी यहीं—इसी पदपर!' एक ईमानदार कर्मपटु एवं सच्चे कर्तव्यपरायण अधिकारीसे मैंने पूछा। उनके पीछेके बहुत उनके साथी दो-दो पद उन्नत कर चुके थे।

'मेरी अयोग्यता!' उनकी अयोग्यता यह है कि वे फर्जी 'कारवाई' नहीं कर पाते और 'लेते' नहीं तो उच्चाधिकारियोंको 'देकर' संतुष्ट करनेका साधन भी कहाँसे आवे। ऐसे वे अकेले नहीं हैं। कई तो ऐसे हमारे परिचितोंमें ही हैं।

'ऊपरकी आमदनी' बड़े गौरवसे पूछी-बतायी जाती है आज और यह 'ऊपरकी आमदनी' बढ़ानेका सतत प्रयत्न—मानवता कहाँ जाकर रोये? जो जितना बड़ा, उसका पेट भी उतना बड़ा हो गया।

चोरबाजारी

सरकारी अधिकारियोंको सबसे अधिक काम पड़ता है व्यापारियोंसे। व्यापारी उन्हें 'खिलाते' रहते हैं तो उससे अधिक अपने 'खाने' की व्यवस्था भी रखते ही हैं। पदार्थका अभाव आशीर्वाद है उनके लिये। जनताकी पीड़ा उनका वरदान है।

अभाव होगा, माँग बढ़ेगी, मनमाने दाम देकर आवश्यकता-पीड़ित लेनेको विवश होगा। लोग भूखों तड़पते हैं और अन्न गोदामोंमें सड़ता है। लोग जाड़ोंमें ठिठुरते हैं और कपड़ेकी गाँठें ऊँचे भावोंकी प्रतीक्षा करती हैं। सभी वस्तुओंकी ऐसी ही दशा है।

अपनी तिजोरी भरे—अपना बैंकका हिसाब बढ़ता रहे—और यह बढ़ता है लोगोंके अभाव, लोगोंकी कराह, दुखियोंकी पीड़ासे तो..........मानवताकी चर्चा, मरनेके पश्चात्‌की बात, सोचनेका अवकाश नोटोंकी सरसराहटमें मग्न व्यक्तिके पास कहाँ है? उसकी यह मोह-निद्रा—अपनेको पतनके गर्तमें ढकेलकर ही कोई तुष्ट हो तो!

मिलावट

रुपया! रुपया!! रुपया!!! उन्मत्त हो गया आजका मनुष्य और खो बैठा अपनी स्वरूपभूत मानवताको। वह नहीं देखता कि रुपया उसे कहाँ ले जा रहा है। उससे क्या करा रहा है यह रुपया। घीमें मिलावट, तेलमें मिलावट, आटे-चावल-दाल—सबमें मिलावट। जीरेमें घासके, कालीमिर्चमें पपीतेके बीज कहाँतक कोई गिनावे—चायमें जूते बनानेके चमड़ेकी खुरचन, लकड़ीका बुरादा और ओषधियोंतकमें मिलावट।

'भाई, टाइफाइडका रोगी है। साबूदाना शुद्ध तो है!' किंतु दूकानदारने विवशता प्रकट कर दी। थोक व्यापारी ही मिलावट करते हैं, वह क्या कर सकता है?

रोगी वेदनासे कराह रहा है—मरणासन्न है। डाक्टर चकित हैं कि उनका निदान ठीक, ओषधि ठीक ग्रहण की उन्होंने और रोगीका कष्ट घटता नहीं; किंतु ओषधि हो भी। वहाँ तो इन्जेक्शनमें, पाउडरमें—सभीमें मिलावट है।

न दया, न धर्म—मानवता गयी भाड़में। रह गया रुपया—केवल रुपया और रुपयेका यह मोह मनुष्यको आज कहाँ ले जा रहा है? दुःख, अशान्ति, रोग, कलह—घर-घरका यह रोना; किंतु पापका रुपया क्या घरमें सुख लानेवाला है?

झूठी गवाही

धर्मकी साक्षी, ईश्वरकी साक्षी, गीता या कुरानकी शपथ—शपथ दिलाना न्यायालयका कर्तव्य है सो वह दिलाता है; किंतु शपथ लेनेवाला गवाह—उसने तो मनमें शपथ कर ली है कि 'कचहरीमें सचसे काम नहीं चलता।' वकीलोंका यह समुदाय—वह यही तो सिखलानेके लिये है कि उसे क्या कहना है। सत्य—विदा हो गया है आज न्यायालयसे और गवाहोंका यह असत्य—न्यायालयके निर्णयका दोष भी क्या? लेकिन यह झूठी गवाही—यह पाप भी है—सोच पाता आजका मानव!

मानवताका पतन

घूसखोरी, चोरबाजारी, मिलावट, झूठी गवाही

मानवताका ह्रास

पशुता
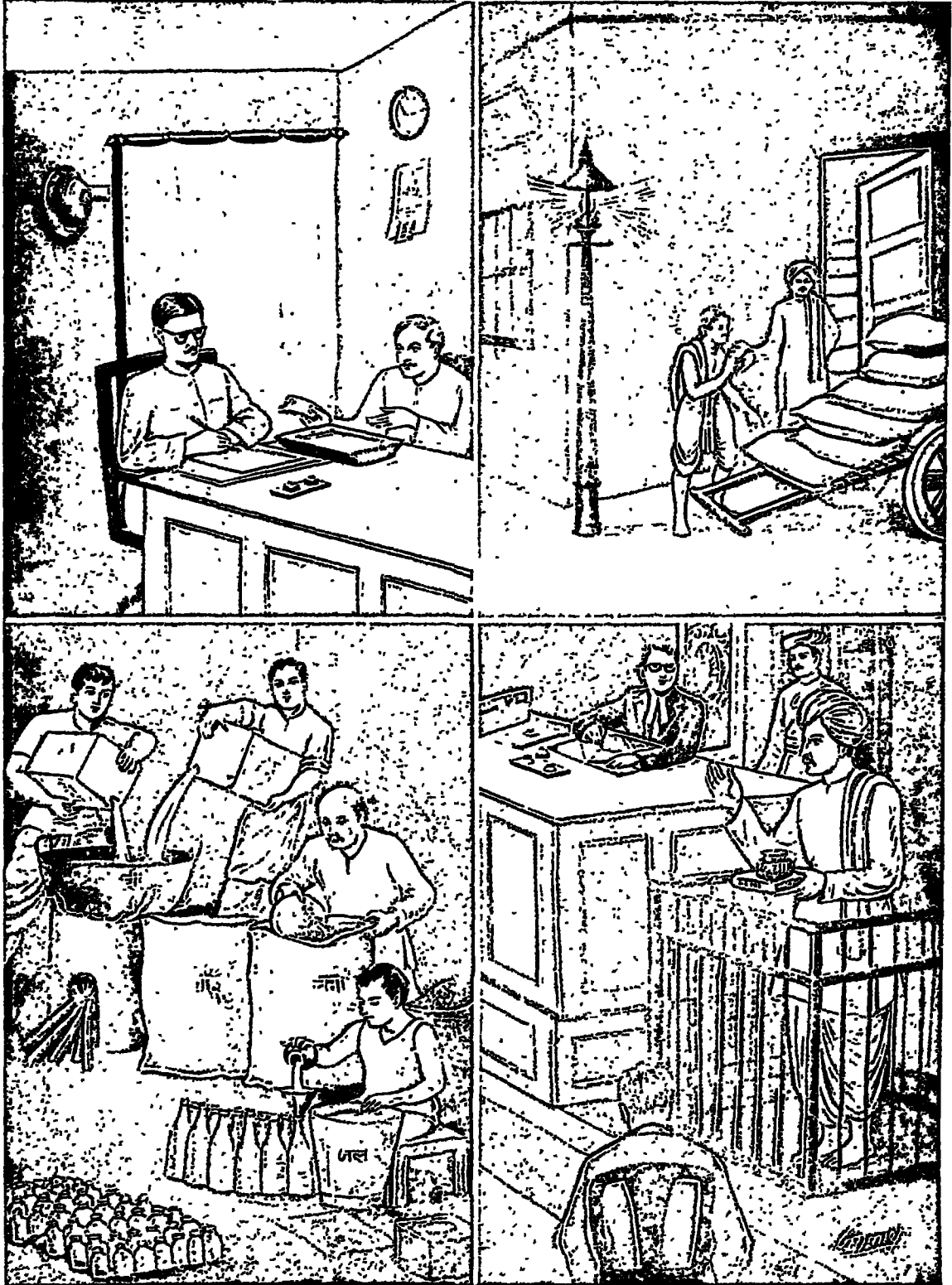
मानवताका ह्रास

मद्यपान

मद्यपान 'शराब शैतानका रक्त है' यह एक पाश्चात्य लोकोक्ति है और यह सर्वथा सत्य है कि शराब पीकर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, वह शैतान बन जाता है।

बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले पदार्थोंमें सर्वोपरि है शराब और आजकी सभ्यता—शराबके बिना आज सभ्यताका निर्वाह ही नहीं होता।

क्लबमें शराब, होटलमें शराब, घरमें शराब। पाश्चात्य सभ्यता जो है कि शराबके बिना कोई साधारण भोजन भी सम्पन्न नहीं हो सकता।

'आपकी दीर्घायुके लिये यह प्याला' इस प्रकार शुभकामना प्रकट करनेके लिये शराब पी जाती है और मद्य-निषेधको मूलनीति घोषित करनेवाले महात्मा गांधी जिस देशके राष्ट्रपिता—उस देशके राजनयिकोंके लिये भी यह सुरापान अनिवार्य है—शिष्टाचार माना जाता है यह।

आज मनुष्य सुरापी हो गया—होता ही जा रहा है!

अभक्ष्य-भक्षण

स्वास्थ्यविशेषज्ञ कहते रहें कि मांसाहारसे अनेक रोग होते हैं; किंतु आजके मानवकी जीभ मानती है? मांस, अंडा, मछली—और जाने क्या-क्या अल्लम-गल्लम।

जिह्वाकी तृप्ति

कछुए, मेंढक, घोंघे—पता नहीं क्या-क्या उदरमें भर लेता है आज मनुष्य। नाक-भौं सिकोड़ना व्यर्थ है। आजके बड़े-बड़े होटलोंका बावर्चीखाना देखा है कभी? और चर्बी—किसकी चर्बी उपयोगमें आ रही है, इससे कहाँ किसीको मतलब है।

मानवता—शुद्धाचार शुद्ध विचारकी पुकार; किंतु पुकारका क्या अर्थ है जब मनुष्यका आहार ही अपवित्र है। रक्त, मांस, मन-बुद्धिका निर्माण वायुसे तो होनेसे रहा। आहारसे ही तो उन्हें बनना है और आजका आहार ········ हाय!

उच्छिष्ट

'असभ्य—पिछड़े हुए लोग हैं वे, जो आजकी प्रगतिशील पार्टियोंमें योग नहीं दे पाते।' यह बात आपने भी सुनी होगी। आजकी प्रगतिशील पार्टियाँ—आहारकी प्लेटें एक-एक और सबके चम्मच पृथक्-पृथक्। चम्मचसे उठाइये और मुखमें डालिये। एक प्लेटमें सबके चम्मच—उच्छिष्ट-जूँठा—यही सब तो पिछड़ेपनेकी बातें हैं।

ज्वरके रोगीके मस्तकपर सहानुभूतिका हाथ रखते भय लगता होगा कि ज्वर न चढ़ बैठे, रख भी दिया तो साबुनसे हाथ धोना चाहिये; किंतु सबका यह जूँठा ················।

होटलोंमें तथा अन्य सार्वजनिक भोजनस्थानोंमेंसे अधिकांशमें ग्राहककी प्लेटका बचा भोजन उपयोग योग्य हो तो राशिमें चला जाता है।

स्वास्थ्यके नियम, सदाचारके नियम—लेकिन आजकी प्रगतिशीलता इधर देखने लगे तो प्रगति—मनुष्यकी यह तीव्रतम प्रगति पतनकी ओर है, यह दूसरी बात।

अपवित्र

आजका सुशिक्षित स्वच्छ तो समझ पाता है, लेकिन पवित्र क्या? पवित्रताका अर्थ उसकी समझसे बाहर है।

अपवित्र स्थानपर, अपवित्र लोगोंद्वारा प्रस्तुत अभक्ष्य—अपवित्र भोजन वह स्वयं अपवित्र दशामें नित्य ही तो करता है। स्वच्छ कमरा, उजला मेजपोश, चमकते काँटे चम्मच हों बस—वह स्वयं बिना हाथ धोये, जूता पहिने भोजन करेगा, अपवित्र भोजन करेगा, कुत्तोंके साथ बैठकर भोजन करेगा—करता ही है।

यह आहार उसके मनको अपवित्र करता है—ठीक; किंतु मनकी पवित्रताकी उसे चिन्ता भी हो।

मानवताका विकास और शक्तियाँ

(लेखक—प्रो० श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्०ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

मानव सृष्टिका शृङ्गार है। उसके अन्तर्गत परमात्माकी एक दिव्य ज्योति जल रही है, जो उसे निम्नस्तरसे ऊपर उठाकर सत्कर्मोंकी ओर प्रेरित करती है और जीवन-यात्रामें उसका पथ-प्रदर्शन करती है। इसी दिव्य ज्योतिका नाम 'विवेक' है। जब जीवनकी आँधी उठती है और तूफानी हवामें उत्ताल-तरङ्ग-माला-संकुल विश्वपयोधि लहराने लगता है, तब भवसागरके ज्वारमें एवं धूलि-कणोंके वातावरणमें यह प्रकाश क्षीण और मटमैला हो जाता है। मानव-जीवनमें यह प्रकाश जितना ही जाज्वल्यमान रहेगा, मानवता उतनी ही प्रचुरमात्रामें उसके अन्तर्गत वर्तमान रहेगी। जब जीवनके धूलिकणोंमें यह प्रकाश धूमिल हो जाता है, तब सत्त्वके ऊपर रजका एक आवरण छा जाता है और मानवताके ऊपर पशुताका अधिकार हो जाता है। जब मानवताका उदय होता है, तब स्वार्थ, भोग-वासना एवं अहंकारके ऊपर त्याग, कर्तव्य-निष्ठा तथा विवेककी विजय हो जाती है। जब पशुता झाँकने लगती है, तब मनुष्य कर्तव्य-निष्ठा और ज्ञानको भूलकर इन्द्रियोंका दास बन जाता है और भोग-वासनाकी ओर पागलकी तरह दौड़ने लगता है। पशुता मानवताको दुर्बल एवं मलिन बना देती है।

हमारा वैदिक साहित्य बलिदानकी भावनासे ओत-प्रोत है। मानवताके अन्तर्गत जो पशुता घुस गयी है, हमें उसका बलिदान करना है। बलिदानसे देवता प्रसन्न होते हैं और मनुष्यके अन्तःकरणमें एक आध्यात्मिक शक्ति आती है। मनुष्यके अंदर जो छिपा हुआ देवता है, वह पशुताका वध चाहता है और मानवताको ऊपर उठानेकी चेष्टा करता है। मनुष्यके अंदर जो पशु घुस गया है, वह जीवनका रस पीकर देवताके साथ संघर्ष करता है और मनुष्यको नीचे घसीटकर पतनके गर्तमें ढकेल देता है। हमें इसी पशुका बलिदान करना है।

हमारे कर्म स्वार्थ एवं भोग-वासनासे प्रेरित नहीं होने चाहिये, पर-सेवाकी भावना एवं कर्तव्य-निष्ठासे प्रेरित होने चाहिये। पशुओंका वध मत करो, क्योंकि उनके शरीर भी तो परमात्माके मन्दिर हैं; पर पशुताका वध करो, जो मानवताकी शत्रु है और उसे सदा नीचेकी ओर घसीटती है। जब आँधी उठती है और चारों ओर रजःकण फैल जाते हैं, तब हमारी दृष्टि संकुचित हो जाती है और हम दूरकी वस्तुएँ नहीं देख सकते। उसी प्रकार जब पशुताकी आँधी मानवताको आक्रान्त कर लेती है और सत्त्वपर रजकी प्रधानता हो जाती है, तब हमारी अन्तर्दृष्टि भी संकुचित हो जाती है और हमारे अन्तर्गत जो देवता वर्तमान हैं, हम उनके दर्शन नहीं कर पाते।

जीवन चित् और अचित् अथवा चैतन्य और जड पदार्थ अथवा शरीर और आत्मा, दोनोंका समन्वय है। आत्मा परमात्माका अंश या परमात्माकी रश्मि है। शरीरका निर्माण प्रकृतिके अवयवोंसे हुआ है। प्रकृतिमें आठ तत्त्व वर्तमान हैं, जिनमें पाँच तो स्थूलतत्त्व हैं, जिनका परीक्षण वैज्ञानिक प्रणालीसे सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र (Microscope) के द्वारा हो सकता है और जिनके परमाणुओंका, विद्युत्कणोंका एवं क्रिया-शक्तिका अध्ययन हम किसी भी प्रयोगशालामें कर सकते हैं। पर प्रकृतिके अन्तर्गत तीन सूक्ष्म तत्त्व भी वर्तमान हैं। पाँच स्थूल तत्त्वोंसे हमारा अन्नमयकोश या स्थूल-शरीर निर्मित हुआ है और तीन सूक्ष्म-तत्त्वोंसे प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनन्दमयकोश, सूक्ष्म-शरीर एवं कारण-शरीर निर्मित हुए हैं।

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
>
> (गीता ७।४)

भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच स्थूल तत्त्व हैं और ये भी उत्तरोत्तर स्थूलसे सूक्ष्म होते गये हैं तथा मन, बुद्धि, अहंकार—ये तीन सूक्ष्म-तत्त्व हैं। मृत्युके समय आत्मा अपने सूक्ष्म-शरीरके साथ स्थूल-शरीरका त्याग कर देता है और इसी सूक्ष्म-शरीरपर पूर्वजीवनके सारे कर्मोंके संस्कार अङ्कित रहते हैं। जब हम स्थूल शरीरसे कोई कर्म करते हैं, तब हमारे अन्तःकरणमें एक लहर उत्पन्न होती है और हमारे सभी कर्मोंका प्रतिबिम्ब हमारे सूक्ष्म-शरीरपर पड़ता है। यही प्रतिबिम्ब हमारे प्रारब्धका निर्माण करता है। पूर्वकर्मोंका चित्र जो हमारे सूक्ष्म-शरीरमें अन्तर्निहित रहता है, उसीसे हमारे संस्कार बनते हैं और पुनर्जन्ममें वही

चित्र सूक्ष्म-शरीरको अनुकूल योनि चुननेमें सहायता करते हैं। जब हम निर्लिप्त और अनासक्त होकर केवल विवेक और कर्तव्यकी प्रेरणासे कोई कर्म करते हैं, तब कर्म करनेपर भी हमारे हृदयमें कोई हलचल पैदा नहीं होती और न अन्तःकरणमें कोई तरङ्ग ही उत्पन्न होती है। ऐसे कर्मोंकी छाया सूक्ष्म-शरीरपर नहीं पड़ती और न वासनाको भोजन ही देती है। प्रत्येक योनिमें सूक्ष्म-शरीर संस्कारके रूपमें अपने पूर्वकर्मोंका प्रतिबिम्ब लिये हमारे साथ रहता है और संस्कार ही वासनाको जन्म देता है। जिसका सारा जीवन पाप एवं दुष्कर्मोंमें बीतता है, उसकी वासना भी दूषित एवं कलुषित हो जाती है और जिसका जीवन पवित्र तथा सदाचारी रहता है, उसकी वासना परिमार्जित रहती है। वासना ही प्रवृत्तिको जन्म देती है और मनुष्य अपनी प्रवृत्ति (Inclination) तथा रुचिके अनुसार सारा कार्य करता है। अनेक जन्मोंके कर्मोंका रस पीकर वासना बलवती हो गयी है और लाख चेष्टा करनेपर भी वह नहीं मरती। जब कभी वासना तथा विवेकमें संघर्ष होता है, तब वासना-सर्पिणी फुफकार मारने लगती है। वासनाके विराट् अन्धकारमें विवेकका टिमटिमाता हुआ दीपक मानवताका पथ-प्रदर्शन करता है। मानवताका अर्थ है वासनाके ऊपर विवेककी विजय और पशुताका अर्थ है विवेकके ऊपर वासनाकी विजय। हम अपने हृदयको टटोलें। यदि हम कर्तव्यकी प्रेरणासे—मानव-समाजके अभ्युत्थानके लिये भगवत्कैंकर्यकी भावनासे जीवनके सारे कर्म करते हैं तो हममें मानवताका समुचित विकास हो रहा है; पर यदि हमारे कर्म स्वार्थ तथा भोग-वासनासे प्रेरित हैं तो हमारे अन्तःकरणमें पशुताकी झाँकी हो रही है।

यह सारी सृष्टि सत्त्व, रज, तम प्रकृतिके इन तीन अवयवोंसे निर्मित है। जब तमकी प्रधानता रहती है, तब दानवताका राज्य रहता है। जब रजकी प्रधानता रहती है, तब पशुताकी झाँकी होती है और जब सत्त्वकी प्रधानता रहती है, तब मानवताका आलोक छाया रहता है। रज धूलकणकी तरह मानवताके प्रकाशको धूमिल और मटमैला बना देता है, पर तम तो अन्धकारकी तरह मानवताके स्वरूपको सर्वथा अन्तर्हित कर देता है। तमके आवरणमें ज्ञान-रश्मिका पूर्णतया अभाव हो जाता है। मानवता जब भोग-वासनाकी ओर झुक जाती है, तब उसका नाम हो जाता है—'पशुता'; और जब मानवता उलट जाती है, तब उसका नाम हो जाता है 'दानवता'। पशुता मानवताकी कमजोरी है और दानवता मानवताकी मौत। हमारे अन्तर्गत सदैव देवासुर-संग्राम हो रहा है। हमारे अन्तर्गत जो देवता है, वह हमें ऊपर उठानेकी चेष्टा करता है और एक अलौकिक दिव्य रश्मिसे हमें ओतप्रोत करना चाहता है। पर हमारे जीवनमें जो दानव घुस गया है, वह देवताके साथ संघर्ष करके हमें नीचेकी ओर घसीट रहा है। ऐसे समयमें हमें भगवान्‌की उस मोहिनी मूर्त्तिकी आवश्यकता है जो दानवोंको मदिरा पिलाकर सुला दे और देवताओंको अमृत पिलाकर अमर कर दे।

तिमिरमयी रजनीमें मानवता पिच्छल पथपर लाठी टेक-टेककर ऊपर चढ़नेकी चेष्टा कर रही है। दोनों ओर खाइयाँ हैं और अन्धकारमें पैर फिसलनेका डर है। ऐसे समयमें हमें ज्ञान-रश्मिकी आवश्यकता है। हमें महापुरुषोंके पद-चिह्नोंका अनुसरण करना होगा। मानवता सदैव स्वच्छ और पवित्र रहती है। पशुता और दानवता तो केवल बाहरसे आये हुए विकार हैं, जो वासनासे प्रेरित और आमन्त्रित होकर मानवताके अन्तर्गत घुस गये हैं और उसे दूषित तथा कलुषित बना रहे हैं। एक अंगरेज दार्शनिकने कहा है—

'Man is wholly good. The evil in him is only accidental and can be washed off'.

'जिस प्रकार सोनेके कटोरेमें कीचड़ लग जाय, तो वह कीचड़का कटोरा नहीं कहा जा सकता—कीचड़ तो एक मल है, जो धोया जा सकता है, उसी प्रकार यदि मानवताके अन्तर्गत कोई बुराई घुस गयी है तो मानवताका बहिष्कार नहीं होना चाहिये, केवल बुराईको दूर करनेकी चेष्टा होनी चाहिये।'

मानव-मस्तिष्कमें अनन्त शक्तियाँ सोयी हुई हैं। हमें इन शक्तियोंको जगाना है। अभी इन शक्तियोंका एक कण भी नहीं जग पाया है, जब कि मनुष्य दूर देशोंकी बातें सुनता है, दूर देशोंका दृश्य देखता है और ग्रह-लोकोंमें विचरण करनेकी चेष्टा करता है। परमात्मा यदि प्रकाशके पुञ्ज हैं तो जीवात्मा भी प्रकाशका एक कण है। मनुष्य अपनेको तुच्छ और असहाय न समझे। कविवर 'दिनकर' जीके शब्दोंमें—

तुम एक अनल-कण हो केवल,
छप्परतक जा सकते उड़कर,
अम्बरमें आग लगा सकते।

ज्वाला प्रचण्ड फैला सकती है
छोटी-सी चिनगारी भी।

जीवात्मा एक आगकी चिनगारीकी तरह है, जो राखके अंदर छिपी हुई रहती है और इसीलिये उसका प्रकाश चारों ओर फैल नहीं सकता। यदि अविद्याकी राखको दूर कर चिनगारीको फूँक-फूँककर प्रज्वलित कर दिया जाय तो चिनगारीमें भी उतनी ही शक्ति आ जाती है, जितनी आगके समूहमें है। मानवतासे यदि पशुता और दानवताको दूर कर दिया जाय और उसके अंदरका देवता जागरूक हो जाय तो फिर जीवात्मा परमात्माके समीप पहुँच जाता है। भोग-वासना मनुष्यको दुर्बल बना देती है और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेसे मनुष्य बलवान् और तेजस्वी हो जाता है।

एक बार कालेजकी एक अध्यापिकाने मुझे एक पत्र लिखा था और पूछा था कि 'इच्छाका दमन क्यों करना चाहिये? इच्छा तो शरीरकी माँग है। शरीरमें जिस वस्तुकी आवश्यकता होती है, वैसी ही इच्छा हो जाती है।' ठीक है; पर मानव तो स्थूल शरीरमात्र ही नहीं है, उसमें अन्तरात्मा भी है। मैं यह नहीं कहता कि शरीरकी माँगकी पूर्ति मत कीजिये—इन्द्रियोंको भोजन ही मत दीजिये; पर उतनी ही मात्रामें दीजिये जिससे कि वह आत्माके अभ्युत्थानमें बाधक न हो जाय। शरीरकी माँगके अतिरिक्त आत्माकी पुकार भी तो है। हमें याद रखना होगा कि इच्छाकी विकराल ज्वालामें आत्माकी पुकार दब नहीं जाय—भौतिक सुख आध्यात्मिक जीवनको कलङ्कित नहीं कर दे। यदि मानव स्थूल-शरीर मात्र होता तो भोग-लालसाकी पूर्ति ही उसका चरम लक्ष्य हो जाती। पर मनुष्य शरीर और आत्मा, दोनोंका समन्वय है। न हम शरीरको भूल सकते न आत्माको। प्रवृत्ति उस जल-धाराके समान है, जो तीव्र वेगसे ऊपरसे नीचेको गिरती है। यदि हम प्रवृत्तिकी धारामें अपने आपको बहते हुए छोड़ दें तो न जाने हम किस रसातलमें पहुँच जायँ। यदि हम प्रवृत्तिकी धाराको रोकनेकी चेष्टा करें तो वह वैध-मार्ग छोड़कर अवैध-मार्ग ग्रहण करेगी। प्रवृत्तिका हनन असम्भव है। प्रवृत्ति प्रकृतिका सूक्ष्मरूप है और प्रवृत्तिको कुचलनेकी चेष्टा प्रकृतिके साथ एक भीषण संग्राम है। मानवताके विकासमें प्रकृतिको प्रतिद्वन्द्वी बनाना तथा प्रकृतिके साथ संघर्ष करना अनुचित है; क्योंकि इससे मनुष्यकी विपुल शक्ति क्षीण हो जाती है। प्राकृतिक नियमको मानते हुए प्रकृतिको मित्र बनाकर प्रकृतिके ऊपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। प्रवृत्तिको न तो हमें समूल नष्ट करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और न प्रवृत्तिकी धारामें बहना ही चाहिये। इसे उसे परिमार्जित करना होगा। 'We cannot annihilate instincts, but we should sublimate them' प्रवृत्तिको परिमार्जित करनेके लिये अन्तःकरणको पवित्र करना होगा। परमात्माके साक्षात्कारसे प्रवृत्ति आप-से-आप निर्मल हो जाती है। केवल बाह्य चेष्टाओंसे हृदयकी आसक्ति नहीं मिटती।

माधव! मोह-फाँस क्यों टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय,
अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै।
घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कलप सत, औटत नास न पावै॥'
(विनय-पत्रिका)

इन्द्रियोंको भोजन न देनेसे आसक्ति नहीं मिटती। आसक्ति तो तब मिटती है, जब परमात्माकी झलक अन्तःकरणमें समा जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(गीता २। ५९)

परमात्माके साक्षात्कारसे मायाके सारे बन्धन शिथिल हो जाते हैं और मानवताका चरम विकास हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

मानव-मस्तिष्कमें असंख्य शक्तियाँ छिपी हुई हैं। रामायणमें एक दृष्टान्त आया है। जब भगवान् राम बाल-क्रीड़ा कर रहे थे, उस समय काकभुशुण्डिके मनमें एक संदेह उत्पन्न हुआ। उसने सोचा कि यह बालक भगवान्का अवतार कैसे हो सकता है? इतनेमें ही भगवान् रामने मुँह खोला और काकभुशुण्डि मुँहके अंदर चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वहाँ तो सूर्य हैं, चन्द्रमा हैं और सारा विश्व-ब्रह्माण्ड ही वहाँ वर्तमान है। यह कथा संकेत कर रही है कि मानव-मस्तिष्कमें सारे ब्रह्माण्डकी सारी शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। मानवताके पूर्ण विकासके लिये इन शक्तियोंका सदुपयोग आवश्यक है। प्राचीन कालमें योग-शास्त्रने मस्तिष्ककी शक्तियोंको जगाकर तथा तन्त्र-शास्त्रने कुण्डलिनी-शक्तिके द्वारा मानवताको अमरत्व प्रदान करनेकी चेष्टा की थी। आजके युगमें भी विज्ञान इन शक्तियोंको जगानेका प्रयास कर

रहा है। आजका मानव विज्ञानके द्वारा प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन कर रहा है और प्रकृतिके अन्तरालमें जो विराट् एवं विकराल शक्तियाँ छिपी हुई हैं, उनके ऊपर विजय प्राप्त करने तथा उन्हें गुलाम बनाकर उनसे कार्य लेनेका प्रयत्न कर रहा है। पाश्चात्त्य संसारने बाह्य प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेमें कुछ अंशतक सफलता तो प्राप्त कर ली है। पर अन्तः-प्रकृतिपर विजय प्राप्त नहीं कर सकनेके कारण उनके जीवनमें एक विराट् हाहाकार है, उत्कट भोगलिप्सा है तथा संयमका सर्वथा अभाव है। बाह्य प्रकृति अपनी दानवी शक्ति-को लेकर गुलामकी तरह उनके सारे कार्य करनेको प्रस्तुत है, पर उन्होंने अपनी अन्तःप्रकृतिपर—अपने-आपपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं की। मशीनोंने तथा वैज्ञानिक यन्त्रोंने सुख एवं विलासिताके सारे साधन उपस्थित कर दिये, पर प्रकृतिका विजेता मनुष्य अपनी इन्द्रियोंका गुलाम बना रहा। उसके हृदयमें संकुचित स्वार्थ तथा भोग-वासनाका ताण्डव-नृत्य होता रहा। मस्तिष्क बहुत ऊपर उठ गया, पर आध्यात्मिकता नीचे गिर गयी। लोगोंने सोचा था कि वैज्ञानिक आविष्कारों-से मानव-जीवन सुखी और सम्पन्न होगा; पर आज इन शक्तियोंसे शक्तिशाली बनकर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको हड़पना चाहता है। सर्वत्र अशान्ति और युद्धका वातावरण बना हुआ है। जिन्होंने सह-अस्तित्व एवं पञ्चशीलका पाठ नहीं पढ़ा है, जिन्होंने अपनी अन्तःप्रकृतिपर विजय प्राप्त नहीं की है, उनके हाथोंमें वैज्ञानिक आविष्कारोंको सौंपना बहुत खतर-नाक है। मानवताको पूर्ण विकसित करनेके लिये बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति दोनोंपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। प्रकृतिके अन्तरालमें जो एक विराट् दानवी शक्ति बँधी हुई है, उसपर एक रहस्यका आवरण पड़ा हुआ है। विज्ञान इस आवरणको हटा देता है और इस दानवी शक्तिको हमारे हाथोंमें सौंप देता है। अब यदि हम आत्मविजयी हुए तो मानव-कल्याणके लिये इस शक्तिका सदुपयोग कर सकते हैं और इस भूतलको ही स्वर्ग बना दे सकते हैं; पर यदि हम अपने स्वार्थके लिये इस दानवी शक्तिका प्रयोग करें तो नर-संहारके अतिरिक्त इसका कोई दूसरा परिणाम नहीं होगा और यह भूतल ही नरक बन जायगा। संयमके अभावमें वरदान भी अभिशापमें बदल जा सकता है। पाश्चात्त्य संसारने विज्ञान-के द्वारा इस दानवी शक्तिका पता तो लगाया, पर इसका सदुपयोग करना हमें नहीं सिखाया। भारतीय संस्कृति सदैव मानवताके पूर्ण विकासकी चेष्टा करती रही है। हमारे उप-निषद् हमें बतलाते हैं—

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा-मृतं गमय।

हमारी संस्कृति हमें असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमरत्वकी ओर जानेका संकेत करती है। शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक—तीनों विकास आवश्यक हैं। स्वस्थ, नीरोग शरीरके द्वारा हम मृत्युसे अमरत्व-की ओर जायँ, ज्ञान और विद्याके बलसे हम मस्तिष्ककी शक्तियोंको जगाकर अन्धकारसे प्रकाशकी ओर जायँ तथा संयम और ब्रह्मचर्यके द्वारा अपनी अन्तःप्रकृतिपर विजय प्राप्त करके हम असत्से सत्की ओर जायँ। पूर्ण मानवताके लिये शरीरका, मस्तिष्कका तथा चरित्रका समुचित विकास होना आवश्यक है। इनमेंसे एककी भी कमी रहनेसे मानवता अधूरी रह जायगी। हमें सम्पूर्ण शक्तियोंको बटोरकर मानव-जीवनको सुखी और मङ्गलमय बनाना है। अभी हम आपसमें लड़-झगड़कर अपनी शक्तियोंको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। एक राष्ट्र भोग-लिप्सा तथा स्वार्थके उन्मादमें दूसरे राष्ट्रको हड़पना चाहता है और इस प्रकार दोनोंकी सम्मिलित शक्तियाँ एक दूसरेसे टकराकर नष्ट हो जाती हैं। वैज्ञानिक करामातका प्रयोग मानवताके अभ्युत्थानके लिये नहीं, पर नर-संहारके लिये हो रहा है। आज जनता गरीबी, बीमारी तथा मूर्खताका शिकार बनी हुई है; पर इनकी ओर कौन देखे। भोजन और वस्त्रके बिना जनता रो रही है, इनके आँसू कौन पोंछे। मानवता त्रस्त और व्यथित है, इनकी व्यथा और वेदनाको कौन दूर करे। कवि गला फाड़-कर चिल्ला रहा है—

मैं नहीं यहाँ संदेश स्वर्गका लाया।
मैं भूतलको ही स्वर्ग बनाने आया॥

पर कविकी बात कौन सुनता है। एक व्यक्ति यदि भूल करता है तो वही दुःख पाता है; पर यदि राष्ट्रके कर्णधार भूल करते हैं तो सारा राष्ट्र ही डूब जाता है। हमें उचित है कि सारी वैज्ञानिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियोंको बटोरकर मानवताको निम्नस्तरसे उच्चस्तरपर ले आयें। हमें अपने सुख-भोगका पूरा अधिकार है; पर साथ ही हमारा सुख-भोग दूसरोंके सुख-भोगमें बाधक न हो जाय, हम अपनी भोग-वासनाके उन्मादमें दूसरोंका अनिष्ट न कर बैठें। हमें स्मरण रखना चाहिये कि 'कामिनी' और 'काञ्चन' की उलझनोंमें हम वैधमार्ग छोड़कर अवैधमार्ग नहीं ग्रहण करें। समाजके लिये यह आवश्यक है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

शक्तिकी महत्ता दूसरोंकी रक्षामें है, न कि दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें। मानव-जीवनकी सार्थकता त्याग और सेवाकी भावनामें है। हमें वीर बनना है, कायर नहीं। कर्तव्यकी पुकार-पर अपने जीवनको भी बलिदान कर देना चाहिये।

एक कथा आती है, एक पिताके तीन पुत्र थे। एक बार पिताने तीनों पुत्रोंको बुलाकर एक-एक सौ रुपये दिये। बड़े पुत्रने सोचा कि 'ये रुपये तो अब मेरे हैं, इन्हें मैं चाहे जिस तरह व्यय करूँ।' और उन्होंने राग-रंगमें वे रुपये खर्च कर डाले। दूसरे पुत्रने सोचा कि 'यदि ये रुपये मैं खर्च कर दूँ तो पिताजी जिस दिन हिसाब माँगेंगे, उस दिन मैं क्या हिसाब दूँगा।' अतः उन्होंने वे रुपये संदूकमें बंद कर दिये। तीसरे पुत्रने सोचा कि 'यदि पिताजीको ये रुपये संदूकमें रखना अभीष्ट होता तो रुपये हमें क्यों देते।' और उन्होंने उन रुपयोंको कारबार तथा व्यापारमें लगाया तथा एक सौका एक हजार बनाया। इसी प्रकार संसारमें तीन तरहके व्यक्ति हैं। जब हम संसारमें प्रवेश करते हैं, तब परमात्मा हमें मस्तिष्कके रूपमें एक अमूल्य सम्पत्ति दे देते हैं। संसारमें अधिकांश व्यक्ति तो बड़े पुत्रकी तरह इस अमूल्य सम्पत्तिको राग-रंगमें, ईर्ष्या-द्वेषमें, भोग-वासनाके उन्मादमें तथा पारस्परिक संघर्षमें नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। कुछ व्यक्ति इस अमूल्य सम्पत्तिसे न तो संसारका कल्याण करते हैं न संसारका अनिष्ट; पर द्वितीय पुत्रकी तरह इसका कोई उपयोग ही नहीं करते।

'दास कबीर जतनसे ओढ़ी,
ज्यों की त्यों रख दीन्ही चदरिया।'

संसारमें कुछ ही महापुरुष ऐसे हैं, जो मस्तिष्ककी शक्तियों-को जगाकर उनका सदुपयोग करते हैं और मानवताके कल्याण तथा सेवामें अपने आपको सौंप देते हैं।

मानवताके पूर्ण विकासके लिये भगवान्में विश्वास रखना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम विश्वास कर लें कि अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र हैं तो ऐसा कोई भी स्थल नहीं मिलेगा, जहाँ हम छिपकर कोई पाप कर सकें। अन्तर्यामी भगवान् तो हमारे अन्तःकरणमें भी वर्तमान हैं, अतः हमें अपने अन्तः-करणको स्वच्छ और पवित्र रखना चाहिये, गंदा और कलुषित नहीं। जीवात्मा परमात्माका अंश है और यह परमात्माका अंश प्रत्येक नर-नारीके—प्रत्येक प्राणीके शरीरमें वर्तमान है। अतः प्रत्येक नर-नारीका—प्रत्येक प्राणीका शरीर परमात्माका मन्दिर हुआ। अतः प्राणिमात्रकी सेवा परमात्माका कैंकर्य है; और किसीके साथ ईर्ष्या-द्वेष रखना, किसीका अनिष्ट सोचना परमात्माकी अवहेलना है। संसारके जितने प्राणी हैं, सभी परमात्माके साकार रूप हैं। सबमें परमात्माकी झलक देखना और सबके साथ स्नेह तथा सहानुभूति रखना हमारा कर्तव्य है।

हमें परमात्माके चरणोंपर अपने आपको समर्पित कर देना चाहिये। हमें समझना चाहिये कि हमारा जीवन 'भगवत्कैंकर्य' के लिये है, न कि भोग-वासनाकी पूर्तिके लिये। आत्मसमर्पणके बाद अपने शरीर और मनपर हमारा अधिकार नहीं रह जाता, भगवान्का अधिकार हो जाता है। फिर यदि हम अपने शरीर और मनको भगवान्से छीनकर दुष्कर्मोंमें लगायें तो हम आत्मा-पहारी समझे जायँगे।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।

'जो काम भगवान्को रुचे, उसे करनेका संकल्प और भगवान्की इच्छाके विरुद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग हमारा कर्तव्य है।' प्रपन्नों और भक्तोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैंकर्य है। यदि हम भगवत्कैंकर्यकी भावनासे जीवनके सारे कर्मोंको करें और फिर यह सोचें कि इन सारे कर्मोंको तो पुनः भगवान्हीको समर्पित कर देना है तो हमसे दुष्कर्म कभी नहीं हो सकेगा और सारे कर्म करते हुए भी हमारा हृदय आप-से-आप अनासक्त और निर्लिप्त हो जायगा।

मानवताके विकासके लिये हमें समय, शक्ति तथा द्रव्यका सदुपयोग करना आवश्यक है। समयका एक क्षण भी, शक्तिका एक कण भी तथा द्रव्यका एक अणु भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। जो अपने समय, शक्ति तथा द्रव्यका दुरुपयोग करते हैं, वे न तो अपना उत्थान कर सकते हैं, न समाजका। एक विदेशी दार्शनिकने कहा है—

'Time, energy and money should not be wasted. They can be utilized only for the uplift of man.'

गप्प तथा वाद-विवादोंमें, विलासितामें एवं पारस्परिक संघर्षोंमें हमारा बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है और निरर्थक तथा अनुचित कार्योंमें शक्ति भी बहुत क्षीण हो जाती है। हमें तामसी तथा शरीरको हानि पहुँचानेवाले पदार्थ तथा मादक द्रव्योंका सर्वथा बहिष्कार कर देना चाहिये। मानवताके विकासके लिये आहार, आचरण तथा अन्तः-करणकी शुद्धि आवश्यक है।

मानवताकी पूर्णता

(लेखक—डा० सूर्यदेवजी शर्मा साहित्यालंकार, सिद्धान्तवाचस्पति, एम्०ए०, एल्०टी०, डी०लिट्०)

अपने धर्मशास्त्रोंमें विद्याविहीन मनुष्यको पशुकी संज्ञा दी गयी है। वास्तवमें जो मनुष्य शिक्षित नहीं, उसको पशु-सदृश ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। शिक्षामें ही मानवताकी पूर्णता है, नहीं तो 'विद्याविहीनः पशुः' तो है ही। आजतक शिक्षाके भिन्न-भिन्न उद्देश्य और भिन्न-भिन्न आदर्श शिक्षा-शास्त्रियोंने बताये हैं। मानवका सर्वाङ्गीण विकास—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक विकास ही हमारी शिक्षाका ध्येय होना चाहिये—ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं; फिर क्या आर्थिक विकास एवं धनोपार्जन शिक्षाके उद्देश्यमें नहीं आते? यदि नहीं, तो 'अर्थकरी च विद्या' क्यों कहा जाता है? क्या विद्वान् सदा भूखों मरनेके लिये ही बना है? सरस्वतीका उपासक क्या लक्ष्मीसे सदा वञ्चित रहे? यदि ऐसा हो तो वेदोंमें 'स्याम पतयो रयीणाम्' (हम सम्पत्तिके स्वामी बनें)—ऐसा क्यों कहा गया है? वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। हमारी शिक्षा हमें सब प्रकारसे समृद्ध बनाये (जिसमें आर्थिक समृद्धता भी सम्मिलित है), हम सब प्रकारसे सुखी रहें—केवल सुखी और समृद्ध ही नहीं रहें, अपितु अपनी शिक्षाके द्वारा तेजस्वी, वर्चस्वी, पराक्रमशील, धीर, वीर, गम्भीर भी बनें, सच्चे मानव बनें। इस प्रकारकी हमारी शिक्षा होनी चाहिये। यही हमारी शिक्षाका वैदिक आदर्श है। यही मानवताकी पूर्णता है। इस सुन्दर आदर्शको एक मन्त्रमें कितने सुन्दर ढंगसे कहा गया है, सुनिये—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अर्थात् मानवका पूर्ण विकास करनेके लिये यह आवश्यक है कि उसकी शिक्षा पूर्ण हो। उस शिक्षाके 'पञ्चाङ्ग' का निर्देश इस मन्त्रमें संक्षेपमें किया गया है। प्राचीन वैदिक परम्परामें यह मन्त्र गुरु तथा शिष्य दोनों मिलकर पाठ प्रारम्भ करनेसे पूर्व तथा अन्तमें प्रतिदिन उच्चारण किया करते थे, जिससे मानवताको पूर्ण करनेवाली शिक्षाका उद्देश्य हर समय उनके सम्मुख रहता था। इस मन्त्रमें शिक्षाके पाँच उद्देश्य बतलाये गये हैं। हमारी शिक्षा कैसी हो, इसका विधान इस मन्त्रमें किया गया है, जिससे हम पूर्ण मानव बन सकें और पशुतासे ऊपर उठ सकें।

(१) सह नाववतु—अर्थात् हम दोनों एक दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ हों, मिलकर परस्पर रक्षा करें—अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, धर्मकी रक्षा करें, जातिकी और भाषाकी रक्षा करें, अपनी संस्कृतिकी रक्षा करें, किसी शत्रुसे पराजित न हों। पराजयकी भावना (Defeatist mentality) हमारे अंदर कभी न रहे। यह तभी सम्भव है, जब हम साथ-साथ रहकर रक्षा-कार्य (Defence) करें, परस्पर सहयोग करें, 'पञ्चशील' के सर्वोत्तम सिद्धान्त 'सह-अस्तित्व' का ध्यान रखें। 'संगच्छध्वम् संवदध्वम् सं वो मनांसि जानताम्' अर्थात् साथ-साथ चलें, साथ-साथ बोलें तथा हमारे मनोभाव समान हों। इसीलिये कहा गया है—"Unity is strength" (संघे शक्तिः)। हमारी शिक्षा हमें ऐक्यसूत्रमें बाँधनेवाली हो।

(२) सह नौ भुनक्तु—हम सब मिलकर संसारके ऐश्वर्यका भोग करें। हमारी शिक्षा ऐसी हो, जो भूखा रहनेके लिये हमें विवश न करे अर्थात् हमारी शिक्षा 'अर्थकरी' होनी चाहिये। उससे हमें धन (सात्त्विक धन) तथा ऐश्वर्यकी प्राप्ति होनी चाहिये। जो शिक्षा देशमें बेकारी बढ़ाती है (जैसा कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली करती है), जो शिक्षा मानवको आजीविका-अर्जनका साधन उपस्थित नहीं करती, वह मानवको पूर्ण नहीं बना सकती। वह व्यर्थ और निकम्मी है। अतः हमारी शिक्षामें धन-साधन-सम्पन्नताकी शक्ति होनी चाहिये, ताकि वेदके शब्दोंमें हम 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' का आदर्श अपने सम्मुख रख सकें।

(३) सह वीर्यं करवावहै—हम साथ-साथ मिलकर पराक्रम करें। साहस एवं वीरताके कार्य, महान् राष्ट्रिय कार्य करनेमें हमारी शिक्षा हमें समर्थ बनाये। यदि हमारी शिक्षा हमें सुस्त, आलसी, निकम्मा एवं कायर बनाती है तो वह शिक्षा किसी कामकी नहीं। जो शिक्षा मानसिक तथा बौद्धिक विकासके साथ हमारे हृदयमें साहसिक कार्य करनेकी प्रेरणा और स्फूर्ति उत्पन्न नहीं कर सकती, वह व्यर्थ है। राष्ट्रको उससे क्या लाभ ?

(४) तेजस्विनावधीतमस्तु—हमारा अध्ययन, हमारा ज्ञान, हमारी विद्या, हमारी शिक्षा हमें तेजस्वी, वर्चस्वी एवं यशस्वी बनानेवाली हो। हम संसारमें कभी किसीके दास, दीन, हीन, पराधीन न हों। हममें आत्म-अभिमान और

स्वराष्ट्रका अभिमान हो। देश-विदेशमें सर्वत्र हमारा सम्मान हो, हमारे राष्ट्रका सम्मान हो, हमें अन्ताराष्ट्रिय ख्याति प्राप्त हो। अपने तेजसे, बुद्धि-वैचित्र्यसे नवीन खोजों और आविष्कारोंसे हम संसारको जगमगा दें, जगत्‌को चमत्कृत कर दें, विश्वका वैभव बढ़ा दें। भगवान् मनुके शब्दोंमें हम संसारके गुरु बन सकें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

जब ऐसी शिक्षा प्राप्त होगी, तभी हम मानवताका कल्याण कर सकेंगे।

(५) मा विद्विषावहै—हम परस्पर द्वेष न करें, कभी परस्पर लड़ें नहीं, किंतु वेदके शब्दोंमें 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'—मित्रकी दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वको देखें—मानव तो मानव, पशु, पक्षियों और कीट-पतंगोंको भी हम अपना मित्र और सहयोगी ही समझें। 'अहिंसा परमो धर्मः' का यही गूढ़ तत्त्व है, जिससे समय-समयपर भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, सम्राट् अशोक, महाप्रभु चैतन्य, ऋषि दयानन्द, योगी अरविन्द आदि महापुरुषोंको प्रेरणा प्राप्त होती रही है। यही विश्वशान्तिरूपी भवनकी दृढ़ आधारशिला है।

इस प्रकार शिक्षाकी यह 'पञ्चाङ्गी योजना' ही मानवको पूर्ण विकासकी ओर अग्रसर करनेमें समर्थ होगी। इसीसे विश्वशान्ति सम्भव हो सकेगी। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। तथास्तु।

मानव और मानवता

(रचयिता—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

(१)

मनुसे पवित्र यह मानवीय सृष्टि हुई,
सबसे विलक्षण इसीमें भरा ज्ञान है।
शक्ति है इसीमें कृत्याकृत्यके विवेचनकी,
सत्यासत्य वस्तुकी इसीको पहचान है॥
युक्ति है इसीमें भुक्ति-मुक्ति साधनाकी 'मित्र'
संचित इसीमें रहा सदा स्वाभिमान है।
यद्यपि भरे हैं गुण इसमें अनेकों किंतु,
'मानवता' शेष गुण उनमें प्रधान है॥

(२)

सत्यता समेत यह गुण जिसमें है भरा,
उसको न जगमें कहीं भी रोक-टोक है।
व्यापता विषाद है न उसके हियेमें कभी,
रहता सदैव वह विश्वमें विशोक है॥
संस्कृति समस्त मान देती उसको है 'मित्र'
संतत सुलभ उसे हर एक लोक है।
'मानवता' हीन होके मानव कहाता जो कि,
वह तो दृगोंमें धूर्त धूल रहा झोंक है॥

(३)

'मानवता' ही से मिला ध्रुवको परमपद,
पाया प्रह्लादने प्रसाद प्रभु-प्यारका।
दानवेन्द्र बलिको सुलभ हुआ ऐसा फल,
द्वारपाल हरिको बनाया निज द्वारका॥
हो गये विपत्ति पारावार पार पाण्डुपुत्र,
भीष्मको न दुःख व्यापा विशिख प्रहारका।
राघव सभामें मान मिला त्यों विभीषणको,
ऊँचा बना जीवन समीरण-कुमारका॥

(४)

'मानवता' एक है कलित कमलाकी कला,
सम्पदा समस्त अन्य जिसके अधीन है।
इसके सहित एक दीन भी है महाधनी,
इससे रहित महाधनी धनहीन है॥
इसका सुसेवी अकुलीन है कुलीन 'मित्र'
इसका कुसेवी तो कुलीन अकुलीन है।
जिसके सदैव उर अन्तर बसी है यह,
उसका कलेवर निरन्तर नवीन है॥

(५)

यद्यपि नहीं है कोई सम्पदा सदन बीच,
तनमें न संचित विशेष बाहुबल है।
भोजन निशामें एक बार मिलता है सदा,
वासर बुभुक्षित बिता रहा विकल है॥
भूषण वसन हीन दीन दशामें है पड़ा,
चैन चित्त चिन्तित न पाता एक पल है।
मानव तथाऽपि भरा 'मानवता'से है जो कि,
जगमें उसीका 'मित्र' जीवन सफल है॥

(६)

'मानवता' भरे हुए मानवके आगे आके,
पुंजित प्रचुर पाप राशि फुँक जाती है।
चलता अराति यदि उसके हनन हेतु,
गति उसकी भी मन्द होके रुक जाती है॥
टोली दस्यु दुष्टोंकी दृगोंसे अवलोक उसे,
भयसे वनोंमें धूक तुल्य लुक जाती है।
बन जाता वही जब देशका पुजारी तब,
उसके समक्ष सारी सृष्टि झुक जाती है॥

(७)

सत्यता पवित्रता चरित्रता विवेक क्षमा,
सभ्यता सुशीलता सुमति शान्ति समता।
धीरता गभीरता उदारता गुरुत्व त्रपा,
मृदुता मनोज्ञता मधुरता सरसता॥
वीरता विनम्रता अदैन्य शम दम दया,
पर-उपकारिता सरलता विमलता।
जिसमें सुअंग मिलें 'मानवता' के ये 'मित्र'
उसमें समझ लो कि भरी है 'मानवता'॥

(८)

शरणशरण्यता अभीति नय नीति प्रीति,
तप तुष्टि त्याग याग धर्म जो अभंग हैं।
अभ्यागत अतिथि सुजन सतकार सेवा,
माननीय मान दान जितने सुढंग हैं॥
द्वेष दम्भ दुरित असूया रहितत्व तथा,
ईश कथा भरे जो भी पावन प्रसंग हैं।
मोह-मद-मत्सर-प्रलोभ-क्षति स्वाभिमान,
ये भी 'मित्र' 'मानवता' ही के शुभ अंग हैं॥

(९)

'मानवता' मण्डित विमल मन मानवमें,
भाग्यसे कहीं जो हरि-भक्ति जग जाती है।
तब तो सहस्रों गुणा गुण, बढ़ी 'मानवता'
मानवको जगमें समुन्नत बनाती है॥
धीरे-धीरे अपने निवासभूत मानवको,
करके प्रयत्न साधुसंगति सुझाती है।
उसका सुजीवन सफल करनेके हेतु,
नित्य नये उसमें विकास उपजाती है॥

(१०)

'मानवता' मदसे मलीन मन मानवके,
हृदय सरोरुहको खोल खिला देती है।
अज्ञता विवश हो कुपथ गत हुआ जो कि,
विज्ञ बना उसको सुपथ मिला देती है॥
मृत बना जाता जो विषयविष पीके उसे,
ब्रह्मानन्द-रसका पियूष पिला देती है।
विमल विरक्ति अनासक्ति उपजाके 'मित्र'
भ्रान्ति भरे भवसे विमुक्ति दिला देती है॥

(११)

जगमें जना है कोई कोमल कलित काय,
सुमन सुगन्ध सदा जिसे भरमाती है।
कोई है सुदृढ़ तनु महाबाहु वीरबली,
जिसकी विशाल कड़ी वज्र तुल्य छाती है॥
कोई यों अनूप रूपराशि उपजा है जिसे,
संसृति समस्त अवलोक सुख पाती है।
मानव वही है किंतु जिसके हियेसे 'मित्र'
'मानवता' मानवी विभूति नहीं जाती है॥

(१२)

भोग भोगता है सारे स्वर्गके सदन बीच,
शासन सुलभ विश्व भरका विशाल है।
नवनिधि और ऋद्धि सिद्धियाँ बसी हैं गेह,
उन्नत अतीव भूरि भाग्य भरा भाल है॥
सुन्दर शरीर मिला ऐसा आधि व्याधि हीन,
जिसका हुआ न कभी बाँका एक बाल है।
मानव विहीन यदि 'मानवता' से है 'मित्र'
मानव नहीं है वह दानव कराल है॥

मानवताके पूर्ण आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने मनुष्यके रूपमें प्रकट होकर, मनुष्यको क्या करना चाहिये, इसके लिये अपना बहुत ही सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। भगवान् श्रीरामके चरित्र, गुण और उपदेश अक्षरशः काममें लाने योग्य हैं। श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं और वे जिस-जिस बातको प्रमाणित कर देते हैं, उसके अनुसार ही सब लोग चलते हैं*—इस बातको भगवान् श्रीरामने अपने अवतारकालके जीवनमें चरितार्थ करके दिखा दिया। भगवान् श्रीरामके स्वरूप, गुण, प्रभाव और आचरणोंका वर्णन करते हुए महर्षि मार्कण्डेयजीने महाराज युधिष्ठिरसे कहा है—'भगवान् श्रीराम समस्त धर्मोंके पारंगत विद्वान् और बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। सम्पूर्ण प्रजाका उनमें अनुराग था। वे सभी विद्याओंमें प्रवीण और जितेन्द्रिय थे। उनका अद्भुत रूप देखकर शत्रुओंके भी नेत्र और मन लुभा जाते थे। वे दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ, साधुओंके संरक्षक, धर्मात्मा, धैर्यवान्, दुर्धर्ष, विजयी तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाले थे।†

भगवान् श्रीराम माता-पिता-गुरुजनोंके सेवक, शरणागतरक्षक एवं दया, प्रेम, क्षमा, समता, संतोष, शान्ति आदि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण थे। उनका चरित्र बड़ा ही अद्भुत और अलौकिक है, जिसका वर्णन विस्तारसे वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत मानस आदिमें भरा हुआ है। संक्षेपमें श्रीपद्मपुराण, पातालखण्डके पहलेसे ६९ वें अध्यायतक और महाभारत वनपर्वके २७७ वेंसे २९१-वें अध्यायतकमें भी श्रीरामचरित्रका बहुत ही सुन्दर वर्णन है। इन ग्रन्थोंमें भगवान् श्रीरामके चरित्रके विषयमें कई कथाभेद भी प्राप्त हैं; किंतु इसके लिये विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि ये सभी बातें ठीक हैं। बहुत-से त्रेतायुग हो चुके हैं, उनमें बहुत बार भगवान् श्रीरामके अवतार हो चुके हैं। इस कारण तथा कल्पभेदके कारण भी चरित्रोंमें कुछ भिन्नताएँ मिलती हैं। हमलोगोंको सभी चरित्रोंको ऐतिहासिक यथार्थ घटनाएँ समझकर उनका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान् श्रीरामके गुण और आचरण परम आदर्श हैं। उनके प्रत्येक आचरणमें नीति और धर्ममय शिक्षा भरी हुई है। हमें उनपर ध्यान देकर उनको अपने आचरणमें लाना चाहिये।

भगवान् श्रीरामका अपने भाइयोंके साथ बहुत ही प्रेमपूर्ण भ्रातृत्वका व्यवहार था। विशेषकर श्रीभरतके प्रति तो भगवान्का बहुत ही उत्तम प्रेमका बर्ताव था। श्रीभरद्वाजजीने भरतसे कहा है—

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥
तुम्ह तो भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

श्रीलक्ष्मणके साथ भी भगवान्का बहुत ही नीतियुक्त और प्रेमपूर्ण व्यवहार था। श्रीलक्ष्मणने जब यह सुना कि भगवान् रामको वनवास दिया जा रहा है, तब वे बड़े ही रोषमें भर गये और श्रीरामसे बोले—'रघुनन्दन! आप मेरी सहायतासे राज्यको अपने अधिकारमें कर लें। जब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करूँगा, तब उस समय ऐसा कौन है जो आपसे बढ़कर पौरुष दिखानेका साहस कर सके। यदि नगरके लोग विरोधमें खड़े होंगे तो मैं अपने तीखे बाणोंसे सारी अयोध्याको मनुष्योंसे सूनी कर दूँगा। जो-जो भरतका पक्ष लेंगे, उन सबको मैं मार डालूँगा। राजा किस बलपर आपको न्यायतः प्राप्त यह राज्य कैकेयीको देना चाहते हैं? यदि पिताजी कैकेयीके प्रोत्साहन देनेपर उसपर संतुष्ट हो हमारे साथ ऐसा शत्रुका-सा बर्ताव करें तथा यदि गुरु भी अभिमानमें आकर कार्य-अकार्यका विचार न करके कुमार्गपर चलें तो उन्हें भी दण्ड देना चाहिये।'

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(महा० भीष्म० २७। २१)

† पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम्।
जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम्॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम्॥
(महा० वन० २७७। १०—१२)

इतना ही नहीं, आगे वे और भी कहते हैं—'आप जो राज्याभिषेक न होनेमें दैवकी प्रेरणा मानते हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। दैवका आश्रय तो वही लेता है, जो कायर होता है। समर्थ पुरुष दैवका आश्रय नहीं लेते। आज संसारके लोग देखेंगे कि दैवकी शक्ति बड़ी है या पुरुष-का पुरुषार्थ। लोग आज मेरे पुरुषार्थसे दैवको परास्त होता देखेंगे। तीनों लोकोंके प्राणी मिलकर भी आज आपके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर पिताजीकी तो बात ही क्या है। आप अपना राज्याभिषेक होने दीजिये। मैं अकेला ही समस्त विरोधी राजाओंका बलपूर्वक निवारण करनेमें समर्थ हूँ। मेरी ये भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं, यह धनुष आभूषणके लिये नहीं है, यह तलवार केवल बँधी रहनेके लिये नहीं है और ये बाण खंभे बनानेके लिये नहीं हैं। ये सब शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हैं। जिस किसी उपायसे यह सारी पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये।'

श्रीलक्ष्मणजीके वीरताभरे वचन सुनकर भगवान् श्रीराम-ने उन्हें प्रेमसे समझाते हुए कहा—'लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो। तुम्हारा पराक्रम भी मुझे अज्ञात नहीं है; किंतु मनुष्यको ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे केवल अर्थ और कामकी ही सिद्धि हो, धर्म और मोक्षका समावेश न हो। जिससे धर्मकी सिद्धि हो, वही कार्य करना उचित है। महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही वृद्ध भी हैं। अतः वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामनावश भी यदि किसी बातके लिये आज्ञा दें तो धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये। इसलिये मैं पिताकी इस प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता। मुझे तो तुम माता-पिताकी आज्ञामें ही स्थित समझो। यही सत्पुरुषोंका मार्ग है।' इस प्रकार भगवान् श्रीरामने बड़े ही प्रेम और शान्तिपूर्ण ढंगसे उन्हें समझाया। तब श्रीलक्ष्मणने सोचा कि इनकी इच्छा वन जानेकी ही है, अतः उन्होंने साथ चलनेका आग्रह किया और अनुनय-विनय करके साथ चले गये।

(वा० रामा० अयोध्या० सर्ग २१ से २३)

श्रीशत्रुघ्नके साथ भी भगवान् श्रीरामका बहुत ही प्रेमका बर्ताव रहा। जब श्रीभरत भगवान् श्रीरामको वनसे लौटा लाने-के लिये गये, तब श्रीशत्रुघ्न भी उनके साथ गये। श्रीवाल्मीकि-जी कहते हैं—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० अयोध्या० ९९। ४०)

'श्रीभरतके साथ श्रीशत्रुघ्न भी रोते हुए गये और उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। भगवान् श्रीराम उन दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगे।'

जब पादुका देकर भगवान् श्रीराम श्रीभरतको लौटा रहे हैं, उस समय श्रीशत्रुघ्नके मनमें माता कैकेयीके प्रति कुछ रोषका भाव जानकर वात्सल्यके कारण श्रीशत्रुघ्नको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।

(वा० रा० अयोध्या० ११२। २७-२८)

'रघुनन्दन शत्रुघ्न! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीके प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना।' इतना कहते-कहते भगवान्की आँखें प्रेमा-श्रुओंसे भर गयीं। इससे पता लगता है कि श्रीरामका श्रीशत्रुघ्नके प्रति भी कितना प्रेम था।

जब परम धाम जानेका समय आया, तब पता लगते ही श्रीशत्रुघ्न अपने पुत्रोंको मधुपुरी (मथुरा) का राज्य सौंप-कर दौड़े हुए श्रीरामके पास आये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहने लगे—'रघुनन्दन! मैं दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ। अतः आप कृपा करके मुझे न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें; क्योंकि विशेषकर मुझ-जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये।'

इसपर भगवान् श्रीरामने उनके संतोषके लिये उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

(वा० रा० उत्तर० १०८। ७—१६)

भगवान् श्रीराम बाल्यावस्थासे ही अपने तीनों भाइयोंके साथ अत्यधिक प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमें भी कभी उनको दुखी नहीं होने देते थे—यहाँतक कि अपनी जीतमें भी उन्हें प्रसन्न करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुच-कार-पुचकारकर दाँव दिया करते थे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
(विनय० १००)

श्रीभरतने तो स्वयं इसे स्वीकार किया है—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

जब भगवान् श्रीरामने अपने राज्याभिषेककी बात सुनी, तब उन्हें प्रसन्नताके स्थानमें पश्चात्ताप हुआ और वे कहने लगे—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

भगवान् श्रीरामको भाइयोंको छोड़कर अपना राज्याभिषेक भी पसंद नहीं आया। कैसा अनूठा भ्रातृ-प्रेम है!

भगवान् श्रीरामकी वीरता और पराक्रम भी अद्भुत और अलौकिक थे। उन्होंने ताड़का, सुबाहु, विराध, खर, दूषण, त्रिशिरा और रावण आदि राक्षसोंका विनाश करनेमें बड़ा ही पराक्रम दिखाया था। इसके सिवा, जब वे विवाह करके मिथिलापुरीसे अयोध्या लौट रहे थे, तब मार्गमें श्रीपरशुरामजी फरसा और भयंकर धनुष-बाण लिये आये और उनसे बोले—'राम! सुना जाता है तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है। तुमने जो धनुष तोड़ा है, वह तुम्हारा कार्य भी अद्भुत और अचिन्त्य है। मैं एक दूसरा विशाल और भयंकर धनुष लाया हूँ। यदि तुम इसके ऊपर बाण चढ़ाओ तो मैं तुम्हारा पराक्रम समझूँ। तुम्हारा बल समझकर फिर मैं तुमसे द्वन्द्व-युद्ध करूँगा।' भगवान् श्रीराम पिता श्रीदशरथजीके गौरवका विचार करके संकोचवश कुछ बोल नहीं रहे थे, किंतु परशुरामजीकी ललकार सुनकर मौन न रह सके। उन्होंने कहा—'भृगुनन्दन! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ, तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ मानकर मेरे तेजका तिरस्कार कर रहे हैं! अब मेरा पराक्रम देखिये।' यों कहकर उन्होंने परशुरामजीके हाथसे वैष्णव धनुष ले लिया और तुरंत उसपर बाणका संधान कर दिया। उस बाणसे परशुरामजीके तपोबलसे प्राप्त हुए पुण्यलोक नष्ट हो गये। यह दृश्य अपनी आँखों देखकर परशुरामजी महेन्द्रपर्वतपर चले गये। (वा० रा० बाल० सर्ग ७४ से ७६)

वन-गमनके समय माता कैकेयीने श्रीरामसे सारी घटनाका विवरण बतलाते हुए कहा—'राजा इस धर्मसंकटमें पड़ गये हैं कि एक ओर तो उनका तुम्हारे प्रति स्नेह है और दूसरी ओर अपनी की हुई प्रतिज्ञा है। अतः यदि तुम कर सको तो राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके इनको इस कठिन क्लेशसे बचाओ।' इसका भगवान् श्रीराम कितनी सरलतासे उत्तर देते हैं—'इसमें तो मेरा सब प्रकारसे हित-ही-हित भरा है। वनमें जानेके लिये पिताजीकी आज्ञा और आपकी सम्मति है तथा वनमें जानेसे मुनियोंके दर्शन और प्राणप्यारे भाई भरतको राज्यकी प्राप्ति हो, ऐसे अवसरपर भी मैं वनमें न जाऊँ तो मैं मूर्खोंमें सबसे बढ़कर पहली श्रेणीका मूर्ख समझा जाऊँगा। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के वचन हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

यहाँ श्रीरामका कितना उच्चकोटिका स्वार्थत्यागपूर्ण सेवा, प्रेम और विनययुक्त आदर्श व्यवहार है। इतना ही नहीं, उन्होंने यहाँतक कह दिया—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
(वा० रा० अयोध्या० १८। २८-२९)

'मैं महाराज पिताजीकी आज्ञासे तो आगमें भी प्रवेश कर सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये श्रीरामके मनमें कितना उत्साह, साहस और दृढ़ता है!

यद्यपि महाराज दशरथजीने वन-गमनके लिये अपने मुखसे श्रीरामको कुछ नहीं कहा था, फिर भी वे रानी कैकेयीके माँगनेपर वरदानमें श्रीभरतको राजगद्दी और श्रीरामको चौदह वर्षका वनवास देना स्वीकार कर चुके थे। इसी कारण भगवान् श्रीराम माता कैकेयीकी बात मानकर, माता कौसल्याके मना करनेपर भी बड़ी प्रसन्नताके साथ वन चले गये।

वन जाते समय उनसे माता कौसल्याने कहा—'पिताने तुमको वन जानेकी आज्ञा दी है अवश्य; किंतु गौरवकी दृष्टिसे जैसे राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तुम्हें मना करती हूँ, इसलिये तुम वनमें मत जाओ।' यही नहीं, उन्होंने तो यहाँतक कह दिया—'यदि तुम मुझे छोड़कर वनमें चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राणोंका त्याग कर दूँगी।'

इसके उत्तरमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—'माता ! मैं आपको सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ; मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है; अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥
(वा० रा० अयोध्या० २१ । ३०)

'इसके सिवा हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं कि जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए मृत्युको प्राप्त हो गये। एवं जमदग्निनन्दन परशुरामजीने तो पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपनी माताका भी वध कर दिया था। अतः मैं भी पिताजीकी आज्ञाका ही पालन करूँगा।'

माता कौसल्या धर्मशास्त्रके अनुसार 'पितासे भी माताकी आज्ञा अधिक माननीय है' इसलिये तो श्रीरामको यदि केवल पिताकी ही आज्ञा हो तो वन न जानेके लिये कह रही हैं; किंतु यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी—दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेके लिये सम्मति दे देती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

माता कौसल्याके साथ भगवान् श्रीरामके उपर्युक्त व्यवहारमें नीति, धर्म, स्वार्थ-त्याग और पितृ-आज्ञा-पालनकी दृढ़ताका कितना अनुपम भाव भरा है !

माता कैकेयीने जब वन-गमनके समय भगवान् श्रीराम और श्रीलक्ष्मणको वल्कल वस्त्र पहननेके लिये दिये, तब उन्होंने उनको बड़ी प्रसन्नतापूर्वक धारण किया। तथा जब कैकेयीने सीताको वल्कल-वस्त्र पहननेके लिये दिये, तब सीता लज्जित-सी होकर श्रीरामसे बोलीं—'नाथ ! वनवासी मुनिलोग चीर कैसे पहना करते हैं ?' सीता चीर पहनना नहीं जानती थीं, अतः भगवान् श्रीरामने वस्त्रोंको अपने हाथमें ले लिया और आपत्तिका समय समझकर, लज्जारहित हो सीताको वल्कल-वस्त्र पहना दिया। यह दृश्य देखकर प्रजाके लोग दुखी हो रोने लगे। गुरु वसिष्ठजीके भी नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने कैकेयीको फटकारते हुए कहा—'मूर्खा कैकेयी! यह तू धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन कर रही है। तूने अकेले रामके ही वनवासका वर माँगा है। वर माँगते समय तूने सीताकी कोई चर्चा नहीं की है। इसलिये यह राजकुमारी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर ही रामके साथ वनको जाय।' यह बात सुनकर राजा दशरथने कैकेयीसे कहा—'गुरुजी ठीक कहते हैं। सीता तो वनमें जानेके ही योग्य नहीं है। मैंने इसे किसी भी रूपमें वन भेजनेकी प्रतिज्ञा नहीं की है; किंतु यदि यह जाती है तो यह अपने चीर-वस्त्र उतारकर वस्त्राभूषणोंके साथ सुखपूर्वक जा सकती है।' (वा० रा० अयोध्या० सर्ग ३७)

यहाँ भगवान् श्रीरामने आवश्यकताके समय लज्जा न करके कर्तव्य-पालन करनेका बड़ा सुन्दर आदर्श व्यवहार किया है।

जब श्रीभरतने ननिहालसे लौटकर इस बातको जाना कि माता कैकेयीने भगवान् श्रीरामको वनवास देकर बड़ा अनर्थ किया है और इसी कारण पिताजीकी मृत्यु हो गयी है, तब दुःखित हो उन्होंने माता कैकेयीसे कहा—'श्रीरामचन्द्रजी बड़े ही धर्मात्मा हैं; गुरुजनोंके साथ कैसा वर्ताव करना चाहिये, इसे वे अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये उनका जैसा अपनी माताके प्रति वर्ताव था, वैसा ही उत्तम व्यवहार वे तेरे साथ भी करते थे। उन महापुरुष श्रीरामचन्द्रजीको तूने चीर और वल्कल पहनाकर वनमें भेज दिया। तूने राज्यके लोभमें पड़कर बड़ा ही अनर्थ कर डाला। तेरा विचार बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कदापि पूर्ण नहीं करूँगा।' इस प्रकार उन्होंने उस समय मातासे बहुत-सी कठोर बातें कहीं (वा० रा० अयोध्या० सर्ग ७३-७४)। श्रीभरतके इस कथनसे भगवान् श्रीरामके सद्व्यवहारके सम्बन्धमें उनकी कितनी आस्था व्यक्त होती है। इन वचनोंको सुनकर तो कैकेयीका मन भी बदल गया। वे जब श्रीभरतके साथ वनमें श्रीरामके पास गयीं, तब उन्होंने अपने अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की—'राम ! मायासे मुग्धचित्त हो जानेके कारण मुझ कुबुद्धिने तुम्हारे राज्याभिषेकमें विघ्न डाल दिया। तुम मेरी इस कुटिलताको क्षमा करो; क्योंकि साधुजन सर्वदा क्षमाशील ही होते हैं।' इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—'महाभागे ! तुमने जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। मेरी प्रेरणासे ही देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये तुम्हारे मुखसे वे शब्द निकले थे। इसमें तुम्हारा क्या दोष है। तुम जाओ, रात-दिन निरन्तर हृदयमें मेरा ही चिन्तन करनेसे तुम सर्वत्र स्नेहरहित होकर मेरी भक्तिद्वारा शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी।' (अध्यात्मरामा० अयोध्या० सर्ग ९)

भगवान् श्रीराम कैकेयीके अपराधको अपराध ही नहीं

मानते और उसे मुक्तिका वर दे देते हैं। कितना उत्तम क्षमाभाव है!

यही नहीं, जब श्रीराम वनको जाने लगे, उस समय जबतक उनके रथकी धूलि दिखायी देती रही, तबतक श्रीदशरथजी उनकी ओर ही देखते रहे। जब धूलिका दिखायी देना बंद हो गया, तब वे अत्यन्त शोकार्त होकर गिर पड़े। उस समय उन्हें सहारा देनेके लिये रानी कौसल्या उनकी दाहिनी बाँहके पास और कैकेयी उनकी बायीं ओर जा पहुँचीं। कैकेयीको देखते ही राजाने कहा—'कैकेयी! तेरे विचार पापपूर्ण हैं। मैं तुझे देखना नहीं चाहता। तूने अर्थलोलुप होकर धर्मको त्यागा है, अतएव मैं तेरा परित्याग करता हूँ। तेरा पुत्र भरत भी यदि निष्कण्टक राज्यको पाकर प्रसन्न हो तो वह मेरे लिये श्राद्धमें जो पिण्ड या जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो।' (वा० रा० अयोध्या० ४२। ६—९) किंतु जब रावण-वधके अनन्तर श्रीदशरथजी विमानपर स्थित हुए वहाँ श्रीरामके पास आये और उन्होंने कैकेयीको बातोंको स्मरण करके दुःख प्रकट किया एवं श्रीरामको अयोध्यामें जाकर भरतसे मिलने और राज्यपर प्रतिष्ठित होनेके लिये कहा, तब श्रीरामने उनसे हाथ जोड़कर यही प्रार्थना की—'धर्मज्ञ! आप कैकेयी और भरतपर प्रसन्न हों। प्रभो! आपने जो कैकेयीसे कहा था कि 'मैं पुत्रके सहित तेरा त्याग करता हूँ,' आपका यह घोर शाप पुत्रसहित कैकेयीको स्पर्श न करे* अर्थात् उसे आप लौटा लें।'

माता कौसल्याके महलमें जब श्रीलक्ष्मणने माता कैकेयीके विषयमें आक्षेपपूर्ण वचन कहे, तब भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति।
माता नः सा यथा न स्याद् सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥
(वा० रा० अयोध्या० २२। ६—८)

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेक (की सम्भावना) के कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे मेरे ऊपर किसी तरहका संदेह न हो, वही काम करो। उसके मनमें संदेहके कारण उत्पन्न हुए दुःखको मैं एक मुहूर्तके लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मैंने कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओं या पिताजीका कभी थोड़ा भी अप्रिय कार्य किया हो, ऐसा याद नहीं पड़ता।'

अपने प्रति कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली माता कैकेयीके प्रति भी भगवान् श्रीरामका कितना सम्मान और पूज्य भाव है!

वनमें जाते समय भगवान् श्रीरामने सीता और लक्ष्मणको अपने आरामके लिये साथ नहीं लिया, बल्कि उन्होंने तो उनसे घरपर रहकर माता-पिताकी सेवा करनेके लिये ही कहा।

जब भगवान् श्रीरामने वनके भयंकर कष्ट दिखाकर सीताको अयोध्या रहनेका संकेत किया, तब सीताने कहा—"बाल्यावस्थामें एक ज्यौतिष-शास्त्रविशारद विप्रवरने मुझे देखकर यह कहा था कि 'तू अपने पतिके साथ वनमें रहेगी।' तो उन ब्राह्मण महोदयका वचन सत्य हो, मैं अवश्य आपके साथ वनमें चलूँगी। तथा एक बात यह भी है कि आपने बहुत-से ब्राह्मणोंके मुखसे बहुत-सी रामायणें सुनी हैं, इनमेंसे किसीमें भी क्या सीताके बिना रामजी वनको गये हैं? अतः मैं सर्वथा आपके मार्गमें सहायक होकर आपके साथ चलूँगी। यदि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मैं अभी आपके सामने ही अपने प्राण छोड़ दूँगी।" (अ० रा० अयोध्या० सर्ग ४)

जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने, तब सीताजीने उन्हें यहाँतक कह दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

इस प्रकार कहती हुई जब वे भगवान्‌के मुखसे वियोगकी बात सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, तब उनकी यह दशा देखकर श्रीरामने हृदयमें जान लिया कि इनको हठपूर्वक रखा जायगा तो ये प्राणोंको नहीं रखेंगी। यह सोचकर वे उनको उनके संतोष और सुखके लिये ही वनमें अपने साथ ले गये।

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणके विषयमें भी समझना चाहिये। श्रीलक्ष्मणसे भगवान् श्रीरामने कहा—'भैया! भरत और

---

* कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता कैकयी त्वया।
स शापः कैकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो॥
(वा० रा० युद्ध० ११९। २४-२५)

शत्रुघ्न घरपर नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मनमें मेरे लिये दुःख है। इस अवस्थामें मैं तुमको साथ लेकर वनमें जाऊँ तो अयोध्या सब प्रकारसे अनाथ हो जायगी। गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार—सभीपर दुःसह दुःख आ पड़ेगा। अतः तुम यहीं रहकर माता-पिताकी सेवा करो और सबका संतोष करते रहो; क्योंकि जिसके राज्यमें प्रजा दुखी रहती है, वह राजा अवश्य नरकका अधिकारी होता है।' भगवान्‌के इन नीति और धर्मसे युक्त वचनोंको सुनकर श्रीलक्ष्मण बोले—'स्वामिन्! आपने जो कुछ मुझे कहा है, वह ठीक है; इसमें मुझे आपका कोई दोष नहीं दीखता; मेरी कायरता ही इसमें हेतु है; किंतु मैं तो आपके स्नेहमें पला हुआ हूँ, मेरे तो सब कुछ केवल आप ही हैं। धर्म और नीतिका उपदेश तो उनको देना चाहिये, जो संसारमें कीर्ति, ऐश्वर्य और सद्गति चाहता हो; किंतु जो मन, वचन और कर्मसे चरणोंमें ही प्रेम रखता हो, क्या वह भी त्यागने योग्य है?'

(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

इस प्रकार श्रीलक्ष्मणने वनमें साथ चलनेके लिये श्रद्धा-प्रेमपूर्वक बहुत ही आग्रह किया और कहा—'मैं आपकी सेवा करनेके लिये आपके पीछे-पीछे चलूँगा। आप इसके लिये आज्ञा दीजिये। प्रभो! आप मुझपर कृपा कीजिये, नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा।'

(अ० रा० अयोध्या० ४। ५०-५२)

इसपर भगवान्‌ने यह समझकर कि मेरे वियोगमें लक्ष्मण प्राण नहीं रखेगा, उसके सुख और संतोषके लिये उसे माता सुमित्रासे आज्ञा लेकर साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

भगवान् श्रीरामको भाइयोंके सुख-संतोषके लिये ही राज्य आदि अभीष्ट था, अपने लिये नहीं। जब श्रीभरत मन्त्री, गुरुजन, माताओं और सेनाके सहित चित्रकूट गये, तब श्रीभरतके सेनासहित चित्रकूट आनेका समाचार सुनकर श्रीलक्ष्मण क्षुब्ध होकर श्रीभरतके प्रति न कहने योग्य शब्द कह बैठे। तब श्रीरामने श्रीभरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥

(वा० रा० अयोध्या० ९७। ५-६)

'लक्ष्मण! मैं सच्चाईसे अपने आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण! मैं राज्यको भी भाइयोंकी भोग्य-सामग्री समझकर उनके सुखके लिये ही चाहता हूँ।'

यह बात आगे जाकर श्रीभरत और श्रीरामके परस्पर वार्तालाप और व्यवहारसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। जब श्रीभरतने बड़े ही विनयसे भगवान् श्रीरामसे अयोध्या चलने और राजतिलक करानेकी प्रार्थना की, तब वहाँ श्रीभरतके प्रेममय वचनोंको सुनकर गुरु वसिष्ठजीके हृदयमें प्रेम उमड़ आया और उन्होंने कहा—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥

इसपर श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न बड़े ही प्रसन्न हुए—

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥

और श्रीभरत प्रेममग्न हुए बोल उठे—

कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥
अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान॥

इसपर भगवान् श्रीराम भरतसे अपना असमञ्जस प्रकट करते हुए कहते हैं—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।

इस प्रकार भगवान् श्रीरामने भरतके ऊपर ही सब भार छोड़ दिया। अपने प्रेमी भ्राता भरतके प्रति कैसा उत्तम, सरलतापूर्ण बर्ताव है। श्रीभरतने अपनी बात विनयपूर्वक फिर भी निवेदन की—

तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥
सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥
नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥

परंतु साथ ही यह भी कह देते हैं—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

इसके उत्तरमें अन्तमें भगवान् रामने गुरुजनोंको आदर देते हुए यही कहा—

मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि कुल पालक होहू॥
... ...

सो बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी॥
... ...

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सुहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

भगवान्के प्रेमपूर्ण वचन सुनकर श्रीभरत बड़े संतुष्ट हुए। श्रीभरतने सोचा—जब मेरे ऊपर सब भार दे दिया, तब मेरा यह कर्तव्य नहीं कि मैं भगवान् श्रीरामको संकोचमें डालूँ। अतएव उन्होंने कहा—

अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥

किंतु इसी प्रकरणमें अध्यात्मरामायण और वाल्मीकीय रामायणमें श्रीभरतके कुछ विशेष आग्रह करनेकी बात मिलती है। अयोध्या चलनेके लिये विशेष आग्रह करते हुए उन्होंने यह बात कही कि 'यदि पिताजीने कामी, मूढबुद्धि, स्त्रीके वशीभूत, भ्रान्तचित्त और उन्मत्त होनेके कारण ऐसी आज्ञा दे दी, तो भी बुद्धिमान् पुरुषको उसका आदर नहीं करना चाहिये।'

इसपर भगवान् श्रीरामने पिताजीपर ऐसा दोष नहीं लगानेका संकेत करते हुए कहा—'पिताजीने स्त्रीवश, कामवश अथवा मूढबुद्धि होकर ऐसा नहीं कहा। उन सत्यवादीने अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार ही वर दिये हैं। और मैं भी उनसे सत्य प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि मैं ऐसा ही करूँगा। अतः मैं रघुवंशमें जन्म लेकर अपना वचन कैसे पलट सकता हूँ।'

(अ० रा० अयोध्या० ९। ३३—३६)

यह सुनकर श्रीभरतने कहा—'जबतक श्रीराम मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं अनशन करके यहीं इनके सामने धरना दूँगा।' यों कह वे कुशका आसन बिछाकर उसपर बैठ गये। तब श्रीरामने उनको समझाया कि क्षत्रियके लिये इस प्रकार धरना देना शास्त्रविरुद्ध है। भगवान्के द्वारा समझाये जानेपर श्रीभरतने उनकी बात मान ली और चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये भगवान्के चरणोंसे स्पर्श की हुई पादुकाएँ लेकर वे नन्दिग्राममें लौट आये और मुनिवेषमें नियम-व्रत धारण करके भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार राज्यकार्यको सम्हालने लगे।

(वा० रा० अयोध्या० १११ से ११५)

भगवान् श्रीराम चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर भक्त विभीषणके अनुरोध करनेपर भी वहाँ नहीं रुके। वायुयान द्वारा अयोध्या पधारकर उन्होंने भरतके संतोषके लिये ही राज्यतिलक स्वीकार किया, अपने सुखके लिये नहीं। यह बात भगवान्के उस वचनसे और भी पुष्ट हो जाती है, जो उन्होंने श्रीभरतका हाल जानने और उनको संदेश देनेके लिये अयोध्या भेजते समय श्रीहनुमान्‌से कहा है— 'वानरश्रेष्ठ! मेरे आनेकी बात सुनकर भरतकी जैसी मुखमुद्रा हो, उसपर ध्यान रखना और फिर वहाँका सब हाल मुझे सुनाना। उसके मुखके वर्ण, दृष्टि तथा बातचीतसे भरतके सारे भावोंको भलीभाँति समझनेका प्रयत्न करना। यदि श्रीमान् रघुनन्दन भरत कैकेयीके साथ स्वयं राज्य चाहता हो तो वह प्रसन्नतासे सारी पृथ्वीका शासन करे।'*

किंतु श्रीभरतका तो भगवान् श्रीरामके प्रति दूसरा ही भाव था। वे तो भगवान्के प्रेममें निमग्न उनके अत्यन्त श्रद्धासम्पन्न परम भक्त थे। वे इस पृथ्वीलोकके तुच्छ राज्यको क्यों चाहने लगे। वे तो भगवान्के विरहमें व्याकुल हो रहे थे। उनकी प्रेम और विरहकी अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
... ...

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

श्रीहनुमान् वहाँ आकर क्या देखते हैं—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

* एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति॥
ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत्।
प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः॥

(वा० रा० युद्ध० १२५। १४, १५, १७)

जब भगवान् श्रीराम पुष्पक-विमानमें स्थित हुए अयोध्या पहुँचे और उन्होंने श्रीभरतको जटा, वल्कल एवं कौपीन धारण किये अपनी ओर पैदल ही आते देखा, तब वे कहने लगे—'अहो! देखो तो सही, प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा और हितैषी मेरा भाई भरत मुझे निकट आया सुनकर हर्षमें भरे हुए वृद्ध मन्त्रियों और महर्षि वसिष्ठजीको साथ लेकर मुझसे मिलनेके लिये आ रहा है।' निकट आनेपर तो भगवान्का हृदय विरहसे कातर हो उठा और वे 'भैया! भैया भरत! तुम कहाँ हो?' इस प्रकार कहते हुए तथा बारम्बार भाई! भाई! भाई! की रट लगाते हुए तुरंत ही विमानसे उतर पड़े *। भगवान्को भूमिपर उतरे देख श्रीभरत हर्षके आँसू बहाते हुए उनके सामने दण्डकी भाँति धरतीपर गिर पड़े। यह देख श्रीरामने उनको हर्षपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर छातीसे लगा लिया।

(पद्म० पाताल० २)

अपने अतिशय प्रेमी भक्त भाई भरतके प्रति कैसा उच्च कोटिका प्रेम-व्यवहार है! जो भगवान्को जिस प्रकार भजता है, भगवान् भी उसे उसी प्रकार भजते हैं। † सीताजी भगवान्के विरहमें व्याकुल होती हैं तो भगवान् भी उनके वियोग-विरहमें व्याकुल हो जाते हैं। सीताजीका भगवान् श्रीरामके प्रति अनन्य प्रेम था। भगवान् श्रीरामने स्वयं उनके प्रेमकी प्रशंसा की है। श्रीहनुमान् सीताजीसे श्रीरामका संदेश सुनाते हुए कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥
... ...
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

भगवान्का सीताके प्रति कितना उच्च कोटिका प्रेम है।

प्रेमी भक्तोंके साथ प्रेम-व्यवहारका दर्शन उनके चरित्रमें जगह-जगह होता है। जब वे वनमें मुनियोंकी हड्डियोंको देखते हैं, तब राक्षसोंके मारनेकी प्रतिज्ञा कर लेते हैं और सब मुनियोंके आश्रमोंपर जा-जाकर उन्हें सुख देते हैं—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

श्रीसुतीक्ष्ण मुनिका भी भगवान्के प्रति बहुत उत्कट प्रेम था। जब उन्होंने सुना कि भगवान् उनके आश्रममें आ रहे हैं, तब उन्हें बड़ी ही प्रसन्नता हुई और वे अनेक मनोरथ करते हुए शीघ्रतासे दौड़ पड़े। उस समय उनकी बड़ी विचित्र दशा हो गयी। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

उनके प्रेमको देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। तब मुनि सुतीक्ष्णजी हृदयमें भगवान्के दर्शन पाकर रास्तेमें ही स्थिर होकर बैठ गये। उनका शरीर रोमाञ्चसे कटहलके फलके समान हो गया। तब भगवान् श्रीराम उनके निकट आ गये। मुनिने स्तुति की। अन्तमें भगवान्ने उन्हें प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुणों और ज्ञानके निधान हो जानेका वरदान दिया।

अपनेमें प्रेम करनेवालेके साथ भगवान्का कितना प्रेम-भरा व्यवहार है।

इसी तरह उनका भक्तिमती शबरीके साथ जो आदर्श प्रेमका बर्ताव है, वह भी बहुत ही प्रशंसनीय है। शबरी भीलनी थी, निम्न जातिकी थी; किंतु भगवान्ने उसके प्रेमके कारण उसके लाये हुए बेर खाये और उसे नवधा भक्तिका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

इससे हमें, अपने प्रेमियोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह बात सीखनी चाहिये।

श्रीहनुमान्जीके साथ भी भगवान् बड़ा ही प्रेमका व्यवहार करते हैं। श्रीहनुमान्जीके श्रद्धा, भक्ति, विनय और प्रेमयुक्त वचन सुनकर अन्तमें भगवान् कहते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

श्रीहनुमान्जीके साथ जो उनकी बातचीत हुई, उसमें भगवान् श्रीरामकी विनय, निरभिमानता, कुशलता और प्रेम भरा हुआ है; हमलोगोंको उससे विनय और निरभिमानताकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

---

* यानादवततारासु विरहक्लिन्नमानसः।
भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्वदन्मुहुः॥
(पद्म० पाताल० २। २८)

† ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(महा० भीष्म० २८। ११)

इतना ही नहीं, श्रीहनुमान्‌जीके प्रति तो भगवान्‌ने यहाँतक कह डाला कि 'हम तुम्हारे उपकारको कभी भुला नहीं सकते और तुम्हारे उपकारका बदला भी नहीं चुकाना चाहते; क्योंकि प्रत्युपकारका अवसर तो तब आये, जब तुमपर कोई विपत्ति पड़े। ऐसा मैं नहीं चाहता—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा० उत्तर० ४० । २३-२४)

'हनुमान्! तुम्हारे एक-एक उपकारके बदले मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी इस विषयमें शेष उपकारोंके लिये तो हम तुम्हारे ऋणी ही बने रहेंगे। तुम्हारे द्वारा किये हुए उपकार मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—उनका बदला चुकानेका मुझे कभी अवसर ही न मिले; क्योंकि आपत्तियाँ आनेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारोंका पात्र होता है।'

भगवान् श्रीरामका कृतज्ञताका भाव भी कितना महान् आदर्श था! सखा सुग्रीवके साथ उनका जो मैत्री और प्रेमका व्यवहार है, उससे हमें मैत्री और प्रेमका व्यवहार सीखना चाहिये। मित्रके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषयमें भगवान्‌ने वहाँ बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है। केवल उपदेश ही नहीं दिया है, स्वयं वैसा ही उनके साथ आचरण-बर्ताव करके दिखा दिया है। जब भगवान्‌ने सुग्रीवके दुःखकी बात सुनी, तब उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
....
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

भगवान् श्रीरामका बाली-जैसे पापीके साथ भी बड़ा ही उदारताका व्यवहार है। उसके नीतियुक्त वचन सुनकर उन्होंने पहले ही नीतियुक्त ही उत्तर दिया, किंतु जब उसने श्रद्धा-प्रेमयुक्त रहस्यमय तात्त्विक वचन कहे, तब तो भगवान्‌ने उसके साथ अपार दया और प्रेमका व्यवहार किया। दोनों ही व्यवहार अलौकिक हैं। भगवान्‌ने बाली-जैसे पापीको भी मुक्ति दे दी, कैसा उदारतापूर्ण विरद है!

शरणागत विभीषणके साथ भी श्रीरामका बहुत ही त्यागपूर्ण प्रेमका व्यवहार है। जब विभीषण भगवान्‌की शरणमें आये, तब सुग्रीव आदिने उनपर शङ्का की और उनको बाँधकर रखनेकी सम्मति दी। भगवान्‌ने सुग्रीवकी उक्त सम्मतिकी प्रशंसा करते हुए उसे समझाकर भक्त विभीषणके प्रति अपने निम्नाङ्कित अभयदानव्रतका ही पालन किया—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० युद्ध० १८ । ३३)

"जो एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर शरण देनेके लिये याचना करता है, उसको मैं सब भूतोंसे अभय-दान दे देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

इतना ही नहीं, लङ्काका राज्य विभीषणको देकर भी भगवान् अपनी ओरसे कुछ नहीं दिया समझकर संकोच ही करते रहे—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

इसी प्रकार अपने प्रति उपकार करनेवालेके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—यह शिक्षा हमें, भगवान्‌ने जटायुके साथ जो व्यवहार किया, उससे लेनी चाहिये। भगवान् श्रीरामका जटायुके साथ जो कृतज्ञता, दया और प्रेमसे भरा हुआ व्यवहार है, वह बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

भगवान् श्रीरामको देखकर जटायुने अपनेको महाराज दशरथका मित्र बतलाकर परिचय दिया और सीताके लिये दक्षिण दिशाकी ओर संकेत किया। यह जानकर भगवान् श्रीरामने पिताका मित्र होनेके नाते जटायुको पिताके तुल्य आदर देते हुए उनका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार किया—

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम्।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः॥

(महा० वन० २७९ । २४)

श्रीजटायुके साथ कैसा कृतज्ञता और दयालुताका व्यवहार है!

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥

अविरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

भगवान् श्रीरामका अपने सेवकोंके साथ भी त्यागका कितना उत्तम व्यवहार है। लङ्कासे वापस अयोध्या आनेपर गुरु वसिष्ठजीके सम्मुख अपने सेवकोंकी बड़ाई करते हुए भगवान् श्रीरामने कहा—'इनकी ही सहायतासे युद्धमें हमारी विजय हुई है।'

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

भगवान् श्रीरामका गुरुजनोंके साथ भी बहुत ही उत्तम व्यवहार था। जब श्रीराम पिता दशरथजी और गुरु वसिष्ठजीकी आज्ञासे श्रीविश्वामित्रजीके साथ गये, तब वहाँ वे उनकी बहुत सेवा किया करते—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

तथा लङ्का-विजयके पश्चात् जब भगवान् अयोध्यामें आये, तब बंदरोंको बुलाकर उन्हें गुरुजीके चरणोंमें वन्दना करनेको कहा और उन्हें बतलाया कि गुरुजीकी कृपासे ही रणमें राक्षस मारे गये—

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। मुनि पद लागहु सकल सिखाए॥
गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे॥

भगवान् श्रीराममें आस्तिक भाव भी बहुत उच्चकोटिका था। उनकी यज्ञ, दान, श्राद्ध आदिमें बड़ी आस्था थी। जब श्रीभरत चित्रकूट आये और उनसे श्रीरामने पिताजीकी मृत्युका समाचार सुना, तब उन्होंने विधिपूर्वक पिताजीको पिण्डदान आदि किया। उस समय जाबालि नामक मुनिने श्राद्धपर आक्षेप करते हुए कुछ नास्तिकताकी बातें कहीं। तब तो उन्होंने मुनिको बहुत फटकारा।

(वा० रा० अयोध्या० सर्ग १०३, १०८, १०९)

भगवान् श्रीरामका प्रजाजनोंके साथ भी बहुत ही स्वार्थ-त्याग और प्रेमयुक्त आदर्श व्यवहार था। जब भगवान् श्रीराम वनमें जाने लगे, तब प्रजा बहुत ही व्याकुल हो गयी और बहुत-से लोग भगवान्‌के साथ जाने लगे। भगवान्‌ने उनको बहुत समझाया, किंतु वे लौटे नहीं। तब भगवान् तमसा-तीरपर उनको रात्रिमें सोते हुए छोड़कर ही आगे बढ़ गये।

चौदह वर्ष बीतनेपर जब भगवान् अयोध्यामें आये, तब यह देखकर कि समस्त प्रजाजन मुझसे मिलनेके लिये आतुर हो रहे हैं, उन्होंने अनेक रूप धारण कर लिये और सबसे एक साथ प्रेमपूर्वक मिले—

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
... ...
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

इतना ही नहीं, जब राज्य करते उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये और भगवान् श्रीरामने अपने दूतोंद्वारा यह बात सुनी कि सीताको लङ्कासे वापस लाकर रखनेमें लोग उनकी निन्दा करते हैं, तब भगवान्‌ने अन्य सब मित्रोंसे भी इसके विषयमें पूछा। उन सबने भी इस बातको ठीक बतलाया। तब प्रजाजनोंके संतोष-के लिये भगवान् श्रीरामने निर्दोष होनेपर भी सीताका सदाके लिये त्याग कर दिया (वा० रा० उत्तर० ४३, ४५)। उनको वनमें छोड़ आनेके लिये पहले श्रीभरतको और फिर श्रीशत्रुघ्नको कहा तो वे दोनों यह बात सुनते ही मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े*।

तदनन्तर भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणको अपनी शपथ दिलाते हुए कहा—'तुम मेरी इस बातका प्रतीकार न करना।' तब लक्ष्मणने दुःखित हृदयसे सीताको वाल्मीकि मुनिके आश्रमके निकट छोड़ दिया एवं रोते और विलाप करते हुए लौट आये। वे मनमें यह विचारकर बहुत शोका-कुल हो रहे थे कि भगवान् श्रीरामने लोकापवादके कारण निर्दोष सीताको छोड़ दिया। तब सुमन्त्रने श्रीलक्ष्मणको धैर्य बँधाया।

(वा० रा० उत्तर० सर्ग ४५, ४६, ५०, ५१)

भगवान् श्रीरामने प्रजाके संतोषके लिये ही अपनी प्रियतमा सीताका भी सदाके लिये परित्याग कर दिया। इस प्रकार स्वार्थ-त्यागपूर्वक प्रजा-पालनके कारण ही उनके राज्यकी महिमा वर्णन करते हुए उनके बर्तावको अनुकरणीय बताया गया है। आज भी कहीं किसी कार्यकी उत्तम व्यवस्था होती है

---

* इति वाक्यं समाकर्ण्य रामस्य भरतोऽपतत्।
मूर्च्छितः सन् क्षितौ देहे कम्पयुक्तः सबाष्पकः॥
(पद्म० पाताल० ५६। ६४)

तथा—

इति वाक्यं समाकर्ण्य रामस्य किल शत्रुहा।
सवेपथुः पपातोर्व्यां दुःखितः परदारणः॥
(पद्म० पाताल० ५८। ७-८)

तो उसके लिये यह लोकोक्ति कही जाती है कि यहाँ तो 'राम-राज्य' है। भगवान् श्रीरामके राज्यका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजीने बतलाया है—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काऊ कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥
राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकहिं फनीस सारदा॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

श्रीरामके इस प्रजापालनके बर्तावको देखकर हमें भी अपने आश्रित जनोंके साथ वैसा ही उत्तम बर्ताव करना चाहिये।

इस प्रकार ऊपर यह दिग्दर्शन कराया गया कि भगवान् श्रीराम समस्त सद्गुणों तथा सदाचरणोंसे परिपूर्ण थे। अतः हम जो भी कार्य करें, हमें वहाँ यह सोचना चाहिये कि ऐसे अवसरपर भगवान् श्रीराम किस प्रकार उत्तम व्यवहार किया करते थे। यों उनके व्यवहारोंको स्मरण करनेसे हमें दो लाभ होते हैं—एक तो भगवान्के स्वरूपकी स्मृति बनी रहती है और दूसरे उनके-जैसा सुन्दर और उत्तम आदर्श व्यवहार करनेकी शिक्षा मिलती है। ये दोनों ही मानव-जीवनके चरम उद्देश्य हैं। इसलिये हमें भगवान् श्रीरामकी प्रत्येक क्रियामें जो आदर्श व्यवहार, महान् गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य भरा हुआ है, उसे लक्ष्यमें रखकर उनका नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए ही अपने सम्पूर्ण शास्त्र-विहित कर्तव्य कर्मोंका निष्काम भावसे आचरण करना चाहिये।

मानवता

(लेखक—श्रीमदनविहारीलालजी)

'बड़ें भाग मानुष तनु पावा'

—चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करनेके बाद मनुष्य होना ही बड़े भाग्यकी बात है और इस मनुष्य-जीवनमें दो ऐसे स्थान हैं—जिनका मर्म अत्यन्त ही गूढ़ है—एक है, जब मनुष्य 'मानव' होता है; और दूसरा है, जब वह मानवताको पार कर 'महात्मा' बन जाता है।

मनुष्य होनेके प्रायः कई जन्मोंके बाद श्रवण, मनन, निदिध्यासन अथवा सत्संगद्वारा मनुष्यको अपने लक्ष्यका आभास और तत्पश्चात् उसकी प्राप्तिमें अभिरुचि होती है। इस अभिरुचिके होनेपर विवेक जाग्रत् होता है। वह सत्-असत्, नित्य-अनित्य, लोक-परलोकका विवेचन करने लगता है। ऐसा करते-करते वैराग्य उत्पन्न होता है; अनित्यसे मुँह मोड़कर, असत्से फिरकर नित्य तथा सत्की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। वैराग्य उस क्षणिक त्याग-भावनाका नाम नहीं है, जो कभी मनुष्यको असफलता अथवा किसीकी मृत्यु आदि घटनाके अवसरपर होती है। यहाँ वैराग्यसे वह त्याग अभिप्रेत है, जो ज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है। उसके चरित्रमें विशेषताएँ आने लगती हैं। अपने चरित्रका वह नव-निर्माण करता है। उसमें शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधानका विशेष स्थान होने लगता है। षट्-सम्पत्तिका प्रादुर्भाव होता है। अपने मनको वशमें रखना, इन्द्रियों तथा शरीरपर नियन्त्रण करना, सबसे सहानुभूति रखना तथा विरोधी भावों अथवा विचारोंवाले मनुष्योंसे विशेष सहानुभूति करना, सर्दी-गरमी सहन करना, किसी भी प्रतिकूल परिस्थितिमें अपने लक्ष्यसे विचलित न होना, आत्मविश्वास तथा गुरुदेव और ईश्वरमें दृढ़ विश्वास रखना, अपने लक्ष्यमें एकाग्रता तथा अनन्यता बरतना—उसके चरित्रका अङ्ग बन जाता है। ऐसा होनेपर वह मुमुक्षु बन जाता है और उसका जीवन प्रेममय हो जाता है। यह मुमुक्षुत्व या प्रेम सब साधनोंका प्राण है। ऐसा होनेपर मनुष्य 'मानव' बननेके योग्य होता है और उस महान् ऋषिसंघमें प्रवेश करता है, जिसका उल्लेख उपनिषदोंमें जगह-जगह आया है। यही 'मानवता' का श्रीगणेश है। यह एक साधनयुक्त जीवन है, जिसमें साधनोंके अनेक स्तर हैं। इस मानव-जीवनकी यात्रामें पाँच मंजिलें हैं, जिनमें आखिरी मंजिलपर पहुँचनेपर मानवका साधनयुक्त जीवन पूर्णता प्राप्त कर लेता है और साधक जीवन्मुक्त महात्मा हो जाता है।

मानव-जीवनके प्रारम्भ होनेके बाद जिन-जिन सद्गुणों-

का विकास जिन-जिन अवस्थाओंसे अभीष्ट है, उनको पूर्ण रूपसे प्राप्त करनेके बाद ही दूसरी मंजिल प्राप्त होती है। हरएक मंजिलमें कुछ विशेष शक्तियोंका उभार होता है और कुछ बन्धनोंको तोड़ा जाता है।

पहली मंजिलके बन्धन हैं—(१) संशय, (२) अन्ध-विश्वास, (३) अपनेको अन्य जीवोंसे पृथक् समझना। पुनर्जन्म, कर्मके सिद्धान्त, विकासकी महान् योजना आदि प्राकृतिक तथ्योंमें लेशमात्र भी संदेह नहीं होना चाहिये। इन तथ्योंमें केवल विश्वास या तर्कद्वारा प्राप्त ज्ञान ही नहीं होना चाहिये, बल्कि ये तथ्य अनुभवगम्य होने चाहिये। इस मंजिलको प्राप्त करनेपर जाग्रत् अवस्थामें भुवर्लोकका अनुभव प्राप्त करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है।

पहली मंजिलके बन्धनोंको तोड़नेके बाद मानव दूसरी मंजिलपर पहुँचता है, जहाँ उसको जाग्रत् अवस्थामें मानसिक लोकमें कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। लोक-कल्याण-विषयक कार्य करनेकी उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है और उसी अनुपातसे निःस्वार्थताका भाव भी उसमें और अधिक आ जाता है। अब उसे सिद्धियाँ प्राप्त करायी जाती हैं। इस मंजिलवालेको एक बहुत बड़े खतरेसे बचना है, वह है 'गर्व'। इसके बाद तीसरी मंजिलमें प्रवेश होता है।

तीसरी मंजिल प्राप्त करनेपर दो बन्धनोंको तोड़ना है—(१) कामराग तथा (२) पतिघ। कामरागवाले बन्धन तोड़नेसे अभिप्राय है उस अवस्थाको प्राप्त कर लेना, जिसमें किसी प्रकारकी वासना सता न सके। 'पतिघ' जो पाली शब्द है, उसके बन्धन तोड़नेसे तात्पर्य है—ऐसी स्थितिको प्राप्त करना, जिसमें आप द्वन्द्वातीत हों। सुख-दुःख, हानि-लाभ, हार-जीत, मित्र-शत्रु सबमें समत्वकी अनुभूति कर सके। इस अवस्थाको 'हंस' अवस्था भी कहते हैं। कारण यह है कि अब 'जीव' अपनेको 'आत्मा' स्वरूपमें भलीभाँति पहचान लेता है और कहता है 'अहं सः' अथवा 'सोऽहम्' (मैं वही हूँ)। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर स्वेच्छापूर्वक जाग्रत् अवस्थामें मानसिक लोकके अरूप खण्डमें कार्य करनेकी क्षमता प्राप्त हो जाती है।

इसके बाद है—चौथी मंजिल, जिसमें मानव-जीवन-सम्बन्धी पाँच बन्धनोंको तोड़ना है। वे हैं (१) रूप-राग, (२) अरूप-राग, (३) मान, (४) चञ्चलता, (५) अविद्या। इन बन्धनोंका वास्तविक मर्म कोई पहुँचा हुआ व्यक्ति ही बता सकता है। इस अन्तिम बन्धन अविद्याको पार करनेपर आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसे कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। इसे 'परमहंस' अवस्था भी कहते हैं।

इस परमहंस अवस्थाको पार करनेपर पाँचवीं मंजिल जीवन-मुक्त अवस्था या महात्मा पदकी है। यही है—मानवता-को पार कर जाना। 'मानवता' की सीमा पार होनेपर मानव 'दिव्य' बन जाता है। उसके अपना कुछ नहीं होता। वह उस महान् ईश्वरीय विधानका अङ्ग हो जाता है। इस अवस्थामें जिन-जिन शक्तियोंका उभार होता है उन्हें सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं सर्व-व्यापकता ही तो कह सकते हैं। यह होता है मनुष्यके मानवताकी सीमा पार करनेपर। यह मनुष्यको ही प्राप्त होता है। तभी तो कहा है—'बड़े भाग मानुष तनु पावा।' वह और भी बड़भागी है, जो इस साधनयुक्त जीवनमें लगा है। धन्य है वह मनुष्य, धन्य है वह साधना और धन्य है मानवता!

सच्चे मानवके लक्षण

जो नर दुखमें दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा, नहिं अस्तुति जाके, लोभ-मोह-अभिमाना।
हरष सोकतें रहै नियारो, नाहिं मान-अपमाना॥
आसा-ममता सकल त्यागिकै, जगतें रहै निरासा।
काम-क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेइ घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही, तिन यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंदमें ज्यों पानी सँग पानी॥

—नानकदेव

सर्वकल्याणप्रद श्रीहनुमदष्टक
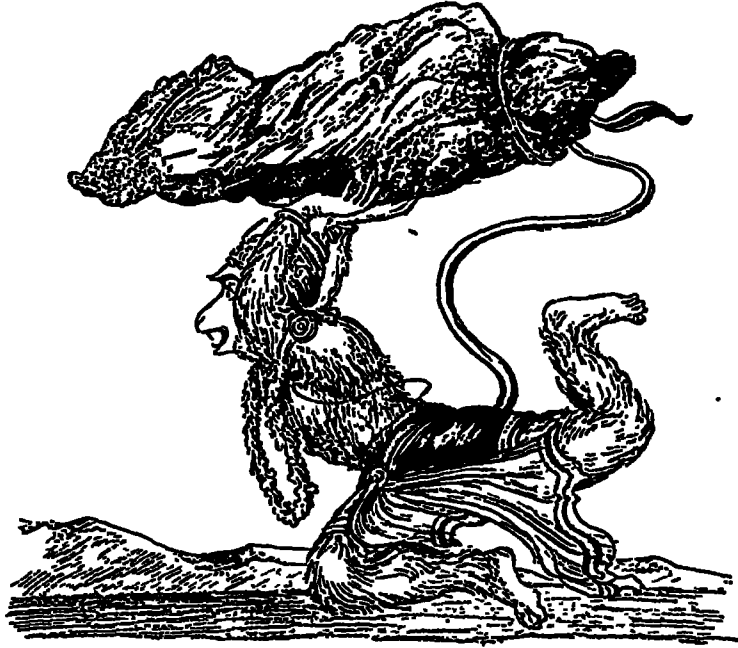
सं सं सं सिद्धिनाथं प्रणतभयहरं वायुपुत्रं वलिष्ठम् ।
वन्देऽहं दिव्यरूपं विकसितवदनं गर्जमानं कपीन्द्रम् ॥
तं तं तं लोकनाथं तपनमुखधरं श्रीत्रिनेत्रस्वरूपम् ।
रं रं रं रामदूतं रणमुखरमणं रावणच्छेदनार्थम् ॥ १ ॥

वँ वँ वँ बालरूपं हृदयगिरिचरं सूर्यबिम्बं ग्रसन्तम् ।
मं मं मं मन्त्रनाथं कपिकुलतिलकं मर्दनं शाकिनीनाम् ॥
पं पं पं पद्मनाभं प्रणतपरवरं चाञ्जनायाः सुपुत्रम् ।
हुँ हुँ हुँ कारबीजं ह्यसुरभयहरं नौम्यहं वायुपुत्रम् ॥ २ ॥

डँ डँ डँ डाकिनीनां प्रमदबलहरं योगिनीवृन्दरूपम् ।
क्षं क्षं क्षं क्षिप्रवेगं तरितवननिधिं जानकीदर्शनार्थम् ॥
छं छं छं छविनान्तं छलभयहरणं मर्दनं वर्वराणाम् ।
किं किं किं कालदंष्ट्रं प्लवगबलवरं नौम्यहं रामदूतम् ॥ ३ ॥

वूँ वूँ वूँ वुद्धिरूपं त्रिभुवनरमणं प्राणिनां प्राणरक्षम् ।
ह्रीं ह्रीं ह्रीं शब्दतत्त्वं जगदघहरणं दैत्यसंहाररूपम् ॥
देवानां शान्तिरूपं सकलगुणनिधिं पापिनां पावनं त्वम् ।
त्वं त्वं त्वं वेदतत्त्वं द्रुहिणगिरिहरं चाञ्जनेयं भजेऽहम् ॥ ४ ॥

क्रँ क्रँ क्रँ क्रोशयन्तं समरभुवि महाक्रव्यभक्षीकुलानाम् ।
ह्राँ ह्राँ ह्राँ ह्रासयन्तं भगणग्रहयुतं स्वेन रूपेण तं खम् ॥
श्रीं श्रीं श्रीं साधुरूपं पवनवरसुतं वानराणामधीशम् ।
क्लीं क्लीं क्लीं ज्ञानरूपं दुरितशतहरं भावयेऽहं कपीशम् ॥ ५ ॥

वँ वँ वँ वर्वराणां क्षयकरणपरं ज्ञानगम्यं कपीशम् ।
अँ अँ अँ आञ्जनेयं गुणिगणनमितं गोपिकासूनुतुष्टम् ॥
नादेनाकम्पयन्तं खचरवरबलं लक्ष्मणप्राणदानम् ।
खँ खँ खँ खड्गहस्तं दशमुखदमनं नौम्यहं वायुपुत्रम् ॥ ६ ॥

ॐ ॐ ॐ काररूपं त्रिभुवनपठितं मन्त्रतन्त्रस्वरूपम् ।
तं तं तं कोपि तत्त्वं दिनकरतिलकं प्रीतिपात्रं पवित्रम् ॥
थं थं थं स्थाणुरूपं प्रमथगणनुतं राक्षसान् भीपयन्तम् ।
दं दं दं दण्डयन्तं नृपविमुखनरान् नौम्यहं तं कपीशम् ॥ ७ ॥

धं धं धं धावमानं धरणिधरधरं भूधराकाररूपम् ।
राकाचारान् ग्रसन्तं रविकुलसुखदं रावणं रावयन्तम् ॥
नं नं नं नाममात्रान्नरकलुषहरं नारसंघट्टनादम् ।
नादेनापूरयन्तं गिरिवरविवरान् नौम्यहं तं कपीन्द्रम् ॥ ८ ॥

हं हं हं हा क सीते ! त्वमिति धरणिं जायते संहरन्तम् ।
कं कं कं कालरूपं दशमुखतनयस्याङ्गनां भर्त्सयन्तम् ॥
गं गं गं गीयमानं सुरनरमुनिभिर्वेदवेदान्तगम्यम् ।
वन्देऽहं कामरूपं भवभयहरणं पावमानं वरेण्यम् ॥ ९ ॥

संग्रामे शत्रुमध्ये जलनिधिविषये व्याघ्रसिंहादिपाते ।
राजद्वारे च नीतौ गिरिवरविवरे पत्तने वा वने वा ॥
भूतप्रेतेषु सर्वग्रहगणदुरिते शाकिनीवीरकष्टे ।
यस्त्वेतत्पावमाने पठति यदि नरश्चाष्टकं तं न दुःखम् ॥१०॥

॥ इति श्रीहनुमदष्टकं समाप्तम् ॥

(प्रेषक—श्रीशिवचैतन्यजी)

धर्मनिष्ठा

धर्मपुत्र युधिष्ठिर

'तुम्हें अभी कौरवोंसे युद्ध करना है। नकुल या सहदेव क्या सहायता करेंगे तुम्हारी ? प्रचण्ड पराक्रमी भीमसेन या अप्रतिम अजस्र अर्जुनका जीवन तुम क्यों नहीं माँगते।' यक्षने युधिष्ठिरसे पूछा।

द्यूत-सभामें पराजित पाण्डव वनमें भटक रहे थे। प्यास-से व्याकुल जलकी खोजमें वे एक-एक करके इस सरोवरपर आये थे। कोई यक्ष कहता था—'मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर जल ग्रहण करना, अन्यथा मरोगे।' किसीने यक्षकी बातपर ध्यान नहीं दिया। सब मृत पड़े थे सरोवर-तटपर। अन्तमें युधिष्ठिर आये। यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देकर उसे संतुष्ट किया। यक्षने एक भाईको जीवित कर देना स्वीकार किया तो उन्होंने नकुल या सहदेवको जीवित करनेकी बात कही।

'आगे जो प्रारब्ध-विधान होगा हो रहेगा, किंतु मेरी दो माताएँ हैं, उनमें माता कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ। मेरी दूसरी माता माद्रीके वंशकी भी रक्षा हो, इसके लिये आप नकुल या सहदेवमेंसे एकको जीवित करें।'

उत्तीर्ण हो गये धर्मपरीक्षामें धर्मपुत्र। यक्षके रूपमें तो स्वयं उनके पिता धर्म थे। युधिष्ठिरके सभी भाइयोंको जीवन तो मिलना ही था।

धर्मराज युधिष्ठिर

'यह श्वान मेरे साथ है और मैं सहचरका त्याग नहीं कर सकता। इसे भी बैठाइये विमानमें।' युधिष्ठिरका आग्रह सुनकर हँस पड़े देवराज इन्द्र—'भला स्वर्गमें कहीं कुत्ता जा सकता है।'

'इसका त्याग करके तो मैं जानेको प्रस्तुत नहीं!' युधिष्ठिर अविचल अपने निश्चयपर—'अपने आधे पुण्य मैं इसे अर्पित करता हूँ।'

राज्य त्यागकर हिमालयमें अवधूत बने आ गये। रानी द्रौपदी तथा क्रमशः चारों भाई मार्गमें गिर गये और उनकी ओर मुड़कर देखातक नहीं—लेकिन श्वान आश्रित है—आश्रितका त्याग कैसे कर दें धर्मराज।

श्वानवेशधारी धर्म अपने अंश इस मानव धर्मराजसे कितने उत्फुल्ल हुए—कहना पड़ेगा!

धर्मनिष्ठ कर्ण

'कल ही चक्रवर्ती-पदपर तुम्हारा अभिषेक हो। युधिष्ठिर तुम्हारे पीछे खड़े होकर तुम्हारे ऊपर छत्र धारण करेंगे और भीमसेन तथा अर्जुन चामर करेंगे। नकुल-सहदेव तथा मैं भी तुम्हारी आज्ञाका अनुवर्तन करूँगा। तुम कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र—मेरे साथ चलो और अपना स्वत्व प्राप्त करो!' पाण्डवोंके संधिदूत बनकर श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आये और जब असफल लौटने लगे, तब उन्होंने कर्णको कुछ दूरतक अपने रथपर बैठा लिया और यह बातें बड़े प्रभावपूर्ण ढंगसे कहीं।

'मधुसूदन! मैं जानता हूँ कि मैं देवी कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र हूँ और यह भी जानता हूँ कि धर्मपुत्र युधिष्ठिर यह जानते ही मेरे पैरोंके पास आ बैठेंगे।' महामनस्वी कर्ण कह रहे थे—'किंतु जनार्दन! मेरा अनुरोध है कि आप युधिष्ठिरसे यह बात न कहें। दुर्योधनने मेरा तब सम्मान किया, जब कोई मेरा नहीं था। उसने मुझे अपनाया, राज्य दिया और मेरे भरोसे ही वह युद्ध करनेको उद्यत है। मैं उसको छोड़ नहीं सकता। कर्ण विश्वासघात नहीं कर सकता पुरुषोत्तम!'

उदार-मानस शल्य

'आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ पथमें?' मद्राधिपति शल्य चौंके उस समय जब हस्तिनापुर पहुँचनेपर दुर्योधन उनकी सेवामें उपस्थित होकर यह प्रश्न कर बैठा।

माद्रीके सगे भाई, नकुल-सहदेवके मामा शल्य विख्यात शूर थे। दो अक्षौहिणी सेनाके साथ मद्रदेशसे वे पाण्डवोंकी सहायता करने चले थे। मार्गमें स्थान-स्थानपर उन्हें विश्राम-शिविर मिले और उन शिविरोंपर नियुक्त सेवकोंने शल्यका उनकी सेनाके साथ भली प्रकार सत्कार किया। शल्य समझते थे—यह व्यवस्था युधिष्ठिरने की है। लेकिन पाण्डव निश्चिन्त थे कि मामाजी तो अपने पक्षमें आवेंगे ही।

'सेवकने तो कर्तव्यका पालन किया।' दुर्योधनने वह सब व्यवस्था की थी, यह उसने सूचित कर दिया और फलतः शल्यने अनिच्छापूर्वक अपना कर्तव्य माना कौरव-पक्षसे युद्ध करना। वे पाण्डव-पक्षमें जाते तो दोनों ओरकी सेनाका संख्या-बल समान हो जाता, किंतु……।

त्याग

युधिष्ठिर और यक्ष

युधिष्ठिर और कुत्ता

श्रीकृष्ण और कर्ण

दुर्योधन और शल्य

सच्चे मानवकी दृष्टि

[जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

वेद कहता है—

'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'

अर्थात्—

'ईश का आवास यह सारा जगत!'

उपनिषद् (कठ० २।५।९-१०) कहता है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च॥

'सब भूतोंके भीतर रहनेवाला आत्मा एक है। लट्टू हरे-पीले हैं, लाल-नीले हैं, इससे क्या? प्रकाशका 'ट्रांसमिटर' तो एक ही है। गुब्बारे रंग-बिरंगे हैं, हवा सबके भीतर एक ही भरी है।'

भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींपि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

'आकाश हो, वायु हो, अग्नि हो, जल हो, पृथ्वी हो; चन्द्रमा हो, सूर्य हो, ग्रह हों, तारे हों, कोई भी जीव हो, दसों दिशाएँ हों, वृक्ष हों, नदी हों, सागर हों—सभी तो हरिके शरीर हैं। सबको अनन्य भावसे प्रणाम करना चाहिये।'

गीता कहती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

'विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण हो, गौ हो, हाथी हो, कुत्ता हो, चाण्डाल हो—ज्ञानीलोग सबमें समदृष्टि रखते हैं।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

'जो मुझ (ईश्वर) को सर्वत्र देखता है और सबको मुझ (ईश्वर) में देखता है, न तो वह मेरी (ईश्वरकी) दृष्टिसे ओझल होता है और न मैं (ईश्वर) उसकी दृष्टिसे ओझल होता हूँ।'

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

'जो सभी नाशवान् प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरका समभावसे दर्शन करता है, उसीका देखना देखना है।'

× × ×

मतलब?

प्रकृतिके कण-कणमें, प्रत्येक जीवमें, प्राणिमात्रमें—एकमात्र प्रभुका निवास है। प्रभु घट-घटवासी हैं। विश्वका एक भी कोना ऐसा नहीं, एक भी क्षुद्रतम कण ऐसा नहीं, कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जहाँ वे विराजमान न हों। तभी तो कबीर कहते हैं—

सब घट मोरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
वा घट की बलिहारियाँ जा घट परगट होय॥

नरसी भगत कहते हैं—

अखिल ब्रह्मांडमां एक तू श्रीहरि
जूजवे रूपे अनन्त भासे।
देहमां देव तुं तेजमां तत्व तुं
शून्य मां शब्द थइ वेद वासे॥
पवन तुं, पाणी तुं, भूमि तुं भूधरा
वृक्ष थई फूली रह्यो आकाशे।
विविध रचना करी अनेक रस लेवाने
शिव थकी जीव थयो ए ज आशे॥

भिन्न-भिन्न रूपोंमें, भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें एकमात्र प्रभुकी लीलाका ही तो विकास हो रहा है। पञ्चतत्त्वोंको लीजिये चाहे पञ्चतन्मात्राओंको; इन्द्रियोंको लीजिये चाहे मनको; बुद्धिको लीजिये चाहे अहंकारको—सर्वत्र वे ही तो बैठे क्रीड़ा कर रहे हैं। सारे ब्रह्माण्डमें उन्हींकी तो एकमात्र सत्ता है।

एकै पवन एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।
एकहि खाक गढ़े सब भांडे एक हि सिरजनहारा॥

सभी तत्त्वदर्शी घूम-फिरकर इसी तथ्यपर पहुँचे हैं—

'कृष्णेर मूर्ति करे सर्वत्र झलमल,
सेइ देखे जाँर आँखि हय निर्मल!'

'प्रकृतिके कण-कणमें श्रीकृष्णकी ही मूर्ति तो झलमला रही है। पर उसका दर्शन केवल उसीको होता है, जिसकी दृष्टि निर्मल होती है।'

गोपियोंने पायी थी यह दृष्टि। तभी तो उनका रोम-रोम पुकारता था—

जित देखौं तित स्याममयी है।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा स्याम गगन घन घटा छयी है।
सब रंगनमें स्याम भरो है लोग कहत यह बात नयी है॥
हौं बौरी कै लोगन ही की स्याम पुतरिया बदलि गयी है।
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, अलख ब्रह्म छबि स्याममयी है॥

सब कुछ तो श्याम है। कुंजवन श्याम है, यमुना श्यामा है, आकाशमें घिरी घटाएँ श्याम है। सभी रंगोंमें एक ही रंग भरा पड़ा है और वह रंग है—श्याम। अक्षर श्याम है, ब्रह्मकी सारी छवि श्याम हो रही है—

जित देखौं तित तोय।
काँकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोय।

यह दृष्टि आयी कि सबमें आत्मदर्शन होने लगता है। कंकड़ और पत्थरमें भी दर्पणकी भाँति अपना चेहरा दीखने लगता है।

'दिलके आइने में है तस्वीरे यार
जब जरा गर्दन झुकायी, देख ली!'

भक्त इसी मस्तीमें डूबकर पुकारता है—

'निगह अपनी हकीकत आशना मालूम होती है,
नजर जिस शय पै पड़ती है खुदा मालूम होती है!'

यह दृष्टि आते ही रोम-रोम पुकारने लगता है—

'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है,
कि हर शय में जल्वा तेरा हूबहू है!
मैं सुनता हूँ हर वक्त तेरी कहानी,
तेरा जिक्र विरदे बवां कूबकू है!!'

आँखोंमें यह रंग भरा नहीं, नाकपर यह चश्मा चढ़ा नहीं कि दृष्टिकोण ही बदल जाता है।

फिर तो—

जिस सिम्त नजर कर देखे हैं,
उस दिलबर की फुलवारी है,
कहीं सब्जी की हरियाली है,
कहीं फूलों की गिलकारी है!

मनुष्य इस आनन्दमें विभोर हो उठता है। कहने लगता है—

'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल!!'

× × ×

माना, वेद और पुराण, भागवत और गीता, महाभारत और रामायण, संत और महात्मा सभी पुकार-पुकारकर कहते हैं कि ईश्वर प्रकृतिके कण-कणमें व्याप्त है, प्रभु घट-घटवासी हैं, सर्वत्र उसके दर्शन करने चाहिये—

पर सवाल तो यह है कि ये दर्शन किये कैसे जायँ, दृष्टि इतनी निर्मल बने कैसे कि पापी और पुण्यात्मामें, भले और बुरेमें, ऊँच और नीचमें, छोटे और बड़ेमें हम भगवद्दर्शन करने लगें?

सचमुच बड़ा टेढ़ा सवाल है यह।

'गीता-प्रवचनमें' दसवें अध्यायकी व्याख्या करते हुए विनोबाने इसका उत्तर दिया है—

'यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आँखोंपर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमें बंद हुई-सी जान पड़ती है। इस सृष्टिरूपी पुस्तकमें सुन्दर वर्णोंमें परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है। परंतु वह हमें दिखायी नहीं देता। ईश्वरका दर्शन होनेमें एक बड़ा विघ्न है। वह यह कि मामूली सरल नजदीकका ईश्वर-स्वरूप मनुष्यकी समझमें नहीं आता और दूरका प्रखर रूप उसे हजम नहीं होता। ईश्वर यदि अपनी सारी सामर्थ्यके साथ सामने आकर खड़ा हो जाय तो वह हमें पच नहीं सकता। यदि माताके सौम्यरूपमें आकर हो जाय तो वह जँचता नहीं। पेड़ा-बर्फी पचता नहीं—और मामूली दूध रुचता नहीं। ये लक्षण हैं—पामरताके, दुर्भाग्यके, मरणके! ऐसी यह रुग्णा मनःस्थिति परमेश्वरके दर्शनमें बड़ा भारी विघ्न है। इस मनःस्थितिको हटानेकी बड़ी भारी जरूरत है।'

विनोबा कहते हैं—

'बच्चोंको वर्णमाला दो तरहसे सिखायी जाती है। एक

तरकीव है पहले बड़े-बड़े अक्षर लिखकर बतानेकी। फिर इन्हीं अक्षरोंको छोटा लिख-लिखकर बताया जाता है। वही 'क' और 'ग' परंतु पहले ये बड़े थे, अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई।

'दूसरी विधि यह कि पहले सीधे-सादे सरल अक्षर सिखाये जायँ और बादमें जटिल संयुक्ताक्षर। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना-सीखना चाहिये।

'पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोंमें प्रकटित परमेश्वर तुरंत आँखोंमें समा जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझमें आ गया तो एक जल-बिन्दुमें, मिट्टीके एक कणमें वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमें आ जायगा। बड़े 'क' और छोटे 'क' में कोई फर्क नहीं, जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें। यह एक पद्धति हुई।

'दूसरी पद्धति यह है कि सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देख लें, फिर उसके जटिल रूपको। राममें प्रकटित परमेश्वरी आविर्भाव तुरंत मनपर अङ्कित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झंझटका परमेश्वर है। परंतु रावण? वह मानों संयुक्ताक्षर है। पहले रामरूपी सरल अक्षरको सीख लो, जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेमभाव है। ऐसा राम सरल परमेश्वर है। वह तुरंत पकड़में आ जायगा। रावणमें रहनेवाले परमेश्वरको समझनेमें जरा देर लगेगी। पहले सरल, फिर संयुक्ताक्षर। सज्जनोंमें पहले परमात्माको देखकर अन्तमें दुर्जनोंमें भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिये। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी बूँदमें है। रामके अंदरका परमेश्वर ही रावणमें है।

'जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें भी। जो सरलमें है, वही कठिनमें भी। इन दो विधियोंसे हमें यह संसाररूपी ग्रन्थ पढ़ना-सीखना है।

'सारी सृष्टिमें विविध रूपोंमें—पवित्र नदियोंके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें, गम्भीर सागरके रूपमें, दिलेर सिंहके रूपमें, मधुर कोयलके रूपमें, सुन्दर मोरके रूपमें, स्वच्छ एकान्त-प्रिय सर्पके रूपमें, पंख फड़फड़ानेवाले कौवेके रूपमें, दौड़-धूप करनेवाली ज्वालाओंके रूपमें, प्रशान्त तारोंके रूपमें—सर्वत्र परमात्मा समाया हुआ है। आँखोंको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और संयुक्ताक्षर सीखने चाहिये। संयुक्ताक्षर न सीख लेंगे, तबतक प्रगति नहीं हो सकती। संयुक्ताक्षर पद-पदपर आयेंगे। दुर्जनोंमें स्थित परमात्माको देखना भी सीखना चाहिये। राम समझमें आता है, परंतु रावण भी समझमें आना चाहिये। प्रह्लाद जँचता है, परंतु हिरण्यकशिपु भी जँचना चाहिये।

'आगसे जल जानेपर पाँव सूज जाता है, परंतु सूजनपर सेंक करनेसे वह ठीक हो जाता है। दोनों जगह तेज एक ही, पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न हैं। राम और रावणमें आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखायी दिया, तो भी वह है एक ही परमेश्वरका।'

विनोबाने अन्तमें निष्कर्ष यों निकाला है—

'स्थूल और सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर और संयुक्ताक्षर सब सीखो और अन्तमें यह अनुभव करो कि परमेश्वरके सिवा एक भी स्थान नहीं है। अणु-रेणुमें भी वही है। चींटीसे लेकर सारे ब्रह्माण्डतक सर्वत्र परमात्मा ही व्याप्त है। सबकी एक-सी चिन्ता रखनेवाला कृपालु, ज्ञानमूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुन्दर परमात्मा हमारे चारों ओर सर्वत्र खड़ा है।'

× × ×

तो, यह तो समझमें आया कि प्रभु सर्वत्र खड़े हैं, घट-घटमें व्याप्त हैं। पर टेढ़ी खीर यही है कि सबमें उनके दर्शन हों कैसे?

माता-पितामें, गुरुमें, बालकमें, परमेश्वरका वात्सल्य और सारल्य स्पष्ट शब्दोंमें लिखा हुआ है। यहाँसे फिर आगे बढ़ें। धीरे-धीरे दुष्टमें भी जब हम परमेश्वरका दर्शन करने लगें, तब कहीं हमारी साधना पूरी होगी। एक दिन पदयात्रामें मैंने विनोबासे पूछ ही तो लिया—

'बाबा! आपने गुरु, माता, पिता, बालक आदिमें हरि-दर्शन करना सरल अक्षर बताया है, दुर्जन और दुष्टमें हरि-दर्शन करना संयुक्ताक्षर। सरल अक्षर तो थोड़ा-बहुत समझमें भी आता है, पर संयुक्ताक्षर तो समझमें ही नहीं आता। दुष्टोंमें हरि-दर्शन करना तो बहुत कठिन लगता है।' विनोबा बोले—'सो तो है। मैं मानता हूँ कि यह कठिन है। मूर्तिको नारायण मानना कठिन नहीं, कारण, उसमें न राग-द्वेष होता है, न क्रोध। पर मनुष्यको और मुख्यतः दुष्ट मनुष्यको नारायण मानना कठिन होता है; क्योंकि यह नारायण कभी क्रोध करता है, कभी मत्सर।

यह कभी कोई रूप धारण कर लेता है, कभी कोई । लेकिन हमें तो इसमें भी नारायणका दर्शन करना ही है । जब वह क्रोध करे तो हम समझें कि इस समय नारायणका क्रोधरूप प्रकट हो रहा है । जब मत्सर करे तो समझें कि इस समय नारायणका मत्सररूप प्रकट हो रहा है । वह कंजूसी प्रकट करे तो हम समझें कि इस प्रकार नारायणका कंजूसरूप प्रकट हो रहा है । ऐसे जो-जो रूप दीखे, उसीमें हम अपनी यह वृत्ति बना लें कि नारायण इस समय इस रूपमें प्रकट हो रहा है !'

× × × ×

यहीं मुझे भोजपुरीकी एक कहानी याद आती है ![1]

बंगाली बाबू मिजाजके हसोड़, स्वभावके मिलनसार।

एक मछुआइनके मुखसे—साँझ होखेपर आइल, अबहीं-ले रउआँ कुछ खरीदलीं ना—(संध्या होनेको आयी, अब-तक आपने कुछ खरीदा ही नहीं) सुनकर उन्हें वैराग्य हो जाता है । घर-बार छोड़ पहुँचे एक साधुके चरणोंमें ।

बंगाली !

जी गुरुदेव !

हमार उपदेश दिलमें उतर गइल ! (हमारा उपदेश हृदयमें उतर गया !)

जी गुरुदेव !

कह त, का समझले बाड़ ! (बताओ तो क्या समझे हो !)

यह शरीरमें हमरा साथे जे इसवर बाड़न, ऊहे सबमें बाड़न, आ सबके नचा रहल बाड़न । दुनियाँमें जे कुछ हो रहल बा, सब उनके लीला ह । (इस शरीरमें हमारे साथ जो ईश्वर हैं, वही सबमें हैं और सबको नचा रहे हैं । दुनियामें जो कुछ हो रहा है, सब उनकी लीला है ।)

'तब, एहसे का समझल !' (तब इससे क्या समझे !)

एहसे गुरुदेव ईह समझलीं कि केहूसे इरखा चाहे बैर-विरोध ना करेके चाहीं । केहू प खिसिआइल बेजाय बा । केहूके ना धोखा देवे, आ ना केहूसे कपटके बेवहार करे । सब पे दया, सबसे प्रेम आ सचाईके बेवहार करे । (इससे गुरुदेव ! यही समझा कि किसीसे ईर्ष्या या वैर-विरोध नहीं करना चाहिये । किसीपर क्रोध करना अनुचित है । किसीको न धोखा देना, न किसीसे कपटका व्यवहार करना, सबपर दया करना, सबके साथ सचाई और प्रेमका व्यवहार करना ।)

बंगाली, समझ ले त बाड़, लेकिन अब एकर अभ्यास कइल बाकी बा । ग्यान जब बेवहारमें बनल रहे, तब समझे के चाहीं, जीव जाग गइल । देख, छव महीना कहला मोताबिक अभ्यास कर । ओकरा बाद हम तोहार परिच्छा लेब । पास होइब त आगे बताइब ! (बंगाली ! समझ तो गये हो, परंतु अब इसका अभ्यास करना बाकी है । ज्ञान जब व्यवहारमें बना रहे, तब समझना चाहिये कि जीव जाग गया है । देखो ! छः महीने कहनेके अनुसार अभ्यास करो । उसके बाद हम तुम्हारी परीक्षा लेंगे । पास हो जाओगे तो आगेके लिये बतायेंगे ।)

जइसन आग्यां गुरुदेव (जैसी आज्ञा—गुरुदेव) कहकर बंगाली बाबू चल दिये ।

× × ×

पेड़ और लता, पशु और पक्षी, साँप और बिच्छू, फूल और तितली, स्त्री और पुरुष जो दीख पड़ता, उसे बंगाली बाबू साष्टाङ्ग दण्डवत् करते । जिसे देखते धरतीपर माथा टेक देते ।

'उसका नक्से पा जहाँ देखा वहीं सर रख दिया ।'

छः मास ऐसी साधनाके बाद फिर गुरुदेवके चरणोंमें हाजिर ।

'छव महीना बीत गइल !' (छः महीने बीत गये !)

'जी गुरुदेव !'

'दुनियाँ कइसन बुझाइल ! (दुनियाँ कैसी लगी !)

'ना नीमन, ना ज़बून । (न अच्छी, न बुरी)

'ई कइसे मानीं ! कुछ न कुछ बुझइले होई ।' (यह कैसे मानें, कुछ न कुछ तो लगी ही होगी ।)

'सब जीवमें इसवरे बाड़न त केकराके नीमन कहीं, केकराके ज़बून (सब जीवोंमें जब ईश्वर ही है, तब किसको अच्छा कहें, किसको बुरा कहें ।)

'अइसन ! (ऐसा !)

सब उनके रूप ह । सब उनके लीला ह । हम के हईं नीमन-ज़बून देखेवाला । हम त उन कर दास हईं । उन कर लीला ऊ जानस । हम त सब केहूके सरधासे परनाम करीला।

[1] दु राही वृन्दावनविहारी, भोजपुरी, वर्ष १, अंक १ ।

(सब उनके रूप हैं। सब उनकी लीला है। हम कौन हैं अच्छा-बुरा देखनेवाले? हम तो उनके दास हैं। उनकी लीला वे जानें। हम तो सभीको श्रद्धाके साथ प्रणाम करते हैं।)

अच्छा, त ई कहलासे ना होई। हम परिच्छा लेब। देख तू अपना गाँवें चल जा, आ तिवरियासे भीख माँग ले आव। (अच्छा, तो यह कहनेसे नहीं होगा। हम परीक्षा लेंगे। देखो, तुम अपने गाँव चले जाओ और तिवारीसे भीख माँगकर ले आओ।)

और इतना सुनना था कि बंगाली बाबू आ गये जमीनपर! बोले—'गुरुदेव! अइसन हुकुम मत दीहल जाय। तिवारी हमार कट्टर दुश्मन, जिनिगी भर हमराके उजाड़ेके फिकिरमें रहल। अब ओकरा दुआरी प ओकरासे भीख माँगें जाईं! ई हमरासे कइसे होई?' (गुरुदेव! ऐसी आज्ञा न दी जाय। तिवारी हमारा कट्टर दुश्मन है, जिंदगीभर हमको उजाड़नेके फिक्रमें रहा है। अब उसके दरवाजेपर उससे भीख माँगने जायँ, यह हमसे कैसे होगा?)

गुरुदेव बिगड़े। 'ई ना होई, त तें पाखंडी हवस। ग्यानी बनेके ढोंग रचले बाड़स। तोरा अइसन ढोंगी खातिर इहाँ जगह नइखे। अबहीं एहि जा से निकल जा। फेन हमरा भीरी मत अइहे। (यह नहीं होगा, तो तुम ढोंगी हो। ज्ञानी बननेका ढोंग रचा है। तुम्हारे-जैसे ढोंगीके लिये यहाँ जगह नहीं है। अभी निकल जाओ यहाँसे। फिर हमारे पास न आना।)

डाँट सुनते बंगाली बाबूकी आँखें डबडबा आयीं। पैरोंपर लोटकर कहने लगे—छमा कइल जाय। तिवारीके नामे सुनत हमार ग्यान हेरा गइल। हम जे कुछ बोल्लीं अपना होसमें ना बोल्लीं। हम अबहीं जा रहल बानी, आ भीख लेके आवतानी। आसिरबाद दीहल जाय! (क्षमा किया जाय। तिवारीका नाम सुनते ही मेरा ज्ञान चला गया था। मैंने जो कुछ कहा, अपने होशमें नहीं कहा। मैं अभी जा रहा हूँ और भीख लेकर आता हूँ। आशीर्वाद दिया जाय।)

× × ×

बंगाली बाबूके मुँहसे 'रामजी, अपना हाथसे कुछ भीख दे देल जाय!' (रामजी! अपने हाथसे कुछ भीख दे दी जाय।) सुनते ही तिवारीका वैर धूलमें लोटने लगा। प्रेमके आँसुओंमें द्वेष बह गया और वह भी बंगाली बाबूके साथ चल पड़ा 'चल हमहूँ तोहरा साथे चलतानी।' (चलो, हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं।)

× × ×

ठीक ही कहा है तुलसी बाबाने—

उमा जे राम चरनरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

जहाँ सबमें ही 'प्रभुके दर्शन होने लगते हैं, फिर कहाँ ठहरता है काम, कहाँ ठहरता है क्रोध, कहाँ ठहरता है मद, कहाँ ठहरता है मत्सर? कहाँ ठहरता है राग और कहाँ ठहरता है द्वेष?

× × ×

पर, बड़ी कठोर साधना है यह।

बड़े-बड़े भी जब-तब इसके शिकार होते रहते हैं।

तोतापुरी और रामकृष्ण परमहंस एक बार वेदान्तकी चर्चा कर रहे थे।

तभी बगीचेका एक नौकर आया चिलमके लिये धूनीमेंसे आग लेने।

तोतापुरी उसपर बिगड़कर चिमटेका प्रहार करने ही जा रहे थे कि रामकृष्ण परमहंस हँस पड़े—छिः छिः, कैसी शर्मकी बात है यह!

तोताराम चौंके तो परमहंसदेव बोले 'मैं आपके ब्रह्मज्ञानकी गम्भीरता देख रहा था। आप अभी कह रहे थे कि ब्रह्म ही सत्य है और सारा जगत् उसीका रूप है, पर क्षणभरमें आप सब भूल गये और उस आदमीको मारने दौड़ पड़े।'

तोतारामने अपनी गलती महसूस की; 'सचमुच मैं तमोगुणके वशीभूत हो गया। क्रोध वस्तुतः महान् शत्रु है। अब उसे कभी अपने पास न फटकने दूँगा।'

× × ×

साधना यह कठोर है सही, पर और चारा भी क्या है?

इस साधनाके बिना न इहलोक बन सकता है, न परलोक।

मानवताकी पहली सीढ़ी है यह

स्त्री और पुरुष, फिर वे किसी जाति, धर्म, वर्ण, कुलके क्यों न हों, सब उसी ईश्वरकी ज्योतिसे जगमगा रहे हैं।

पशु और पक्षी, कीट और पतंग, चींटीसे-हाथीतक सभी उसी प्रकाशसे आलोकित हैं।

प्रकृतिके कण-कणमें सर्वत्र उसीका नूर समाया है।

इस तत्त्वकी अनुभूति जबतक हम नहीं करते, तबतक हम पाशविक क्रीड़ाओंमें ही आनन्द मनाते रहेंगे, मानवता हमें छू न जायगी। हमारी सारी क्रियाएँ काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि विकारोंसे ही सनी रहेंगी।

मानवताकी ओर हम केवल तभी अग्रसर हो सकेंगे, जब हम इस तथ्यको मान लेंगे कि घट-घटमें ईश्वरीय सत्ता ही प्रकाशमान हो रही है और यह अनुभूति आयी नहीं कि जीवन अलौकिक बनते देर नहीं। मानवता धन्य हो उठेगी उस दिन, जिस दिन हम ऐसा अनुभव करेंगे।

रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—

"नरेन्द्र मेरा मजाक उड़ाता हुआ कहता था—'हाँ-हाँ, सब कुछ ईश्वर हो गया है। बर्तन भी ईश्वर है, प्याला भी ईश्वर है!' पर मेरा तो यही हाल हो गया था। कालीकी पूजा छूट गयी। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि सब कुछ शुद्ध आत्मा है। पूजाके बर्तन, पूजा, सुगंध, दरवाजेका चौखटा सब कुछ शुद्ध आत्मा। मनुष्य, पशु और सभी प्राणी सभी शुद्ध आत्मा हैं और पागलकी तरह मैं चारों दिशाओंमें उसीकी पूजा करने लगता!"

× × ×

फिर तो वही हाल होगा कि—

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।
नदियोंमें तू है, पहाड़ोंमें तू है॥
सागरोंमें तू है, औ झीलोंमें तू है।
पेड़ोंमें तू है, औ पत्तोंमें तू है॥
भीतर भी तू है, बाहर भी तू है।
नेकोंमें तू है, बदोंमें भी तू है॥
अच्छोंमें तू है, बुरोंमें भी तू है।
बूढ़ोंमें तू है, औ बच्चोंमें तू है॥
छोटोंमें तू है, बड़ोंमें भी तू है।
पंडितमें तू है, औ भंगीमें तू है॥
हाथीमें तू है, औ चींटीमें तू है।
गायोंमें तू है, बछड़ोंमें तू है॥
शेरोंमें तू है, औ बकरीमें तू है।
ज्ञानीमें तू है, औ मूरखमें तू है॥
पशुओंमें तू है, औ चिड़ियोंमें तू है।
राजामें तू है, औ रंकोंमें तू है॥
डाकूमें तू है, औ चोरोंमें तू है।
सज्जनमें तू है, औ दुष्टोंमें तू है॥
सतियोंमें तू है, असतियोंमें तू है।
कीड़ोंमें तू है, मकोड़ोंमें तू है॥
जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है॥

प्रभु वह दिन शीघ्र लायें, जब हम ऐसी अनुभूति कर सकें।

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

मानव-मानव

तुम मानव-मानव प्रिय तुलसी!
माँ मानवताके क्रोड़ पली
सभ्यता धर्म-धृति सह हुलसी!

यह मर्त्य मर्त्य है, मानवने
मानव तुमसे संज्ञा पाई।
प्रभुको माया मर्यादित कर
वसुधापर कृतज्ञता लाई।
जनताकी सीमामें चौदह
सत-तप-मह-लोक विभा विलसी।

तुम चेतक अमर-व्रती चातक
चितवनमें मूर्ति अमूर्ति लसी।
जड़ स्वाति-तृपामें चेतनता
पूरित कर दी अमरित कलसी।
नरता-सरसी—हिय विकसी री!
हुलसी-विलसी मधु भर कलसी!

—भवानीशङ्कर षड़ङ्गी, एम्० ए०, बी० टी०, रिसर्च-स्कालर

मानवताके परम आदर्श श्रीराम और श्रीकृष्ण

(लेखक—डा० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)

श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप

श्रीभगवान् अन्तर्यामी रूपसे विश्वमें सर्वत्र व्याप्त हैं। विश्व अत्यन्त महान् है; इसमें अनेकानेक ब्रह्माण्डोंके उदय, विभव और विलय होते रहते हैं। गुणत्रयात्मक विश्व श्रीभगवान्की लीलाविभूति कहलाता है। इसके गुणत्रय विलासमें जब धर्मका अपकर्ष तथा अधर्मका उत्कर्ष हो जाता है, तब श्रीभगवान् यहाँ धर्मतत्त्व स्थापित करनेके लिये अवतीर्ण होते हैं। अवतारोंमें श्रीराम और श्रीकृष्ण प्रधान हैं, जिन्होंने अपने आदर्श सच्चरित्रोंके द्वारा वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय और अन्ताराष्ट्रिय मानवीय मर्यादाकी स्थापना करके मानवताको समुन्नत बननेकी प्रेरणा दी।

भारतीय संस्कृति

मनुकी संतानको मानव कहते हैं। मानव-समूहका पर्याय है मानवता; एवं मनुप्रदिष्ट मानवोचित गुणोंको भी मानवता कहा जाता है। मनुजीकी अभिलाषा थी कि भारतके ब्राह्मणसे विश्वके मानव अपने-अपने चरित्रको सीखें[1]। यहाँके दो ब्रह्मर्षियों—वाल्मीकि और व्यासने क्रमशः श्रीराम और श्रीकृष्णके चरित्रोंको अपनी काव्य-कलाके द्वारा संसारके सम्मुख प्रस्तुत किया। अतः न केवल भारतकी, अपितु विश्वकी समस्त मानवता ही इन दोनों महान् कलाकारोंकी चिर-ऋणी रहेगी। वाल्मीकि और व्यास भी स्वयं एक अन्य उदात्त-मना व्यक्तिके चिर-कृतज्ञ हैं। उन दोनोंको अपना-अपना काव्य लिखनेकी जिन महापुरुषने प्रेरणा दी, वे हैं—देवर्षि नारद। नारदजीने ही वाल्मीकिसे रामायण लिखवायी और उन्होंने ही व्याससे भागवतकी रचना करायी। भारतीय मानवताकी संस्कृतिके दो ही मुख्य आधार हैं—रामायण और भागवत। नारदजीकी प्रेरणासे ही इन दोनों ग्रन्थ-रत्नोंका निर्माण हुआ था; अतएव यह कहना असंगत न होगा कि नारदीय संस्कृति ही भारतके मानवकी संस्कृति है और मनुजीकी इच्छाके अनुसार नारदीय संस्कृति ही विश्वकी मानवताका आदर्श है।

मानवके छः मौलिक गुण

प्रत्येक मानवके मनमें छः मौलिक अभिलाषाएँ स्वभावसे रहती हैं—

१—मैं जानकार बनूँ।	(ज्ञान)
२—मैं बलवान् और सुन्दर बनूँ।	(श्री)
३—मैं प्रभावशाली बनूँ।	(ऐश्वर्य)
४—मैं अच्छा काम करूँ।	(धर्म)
५—मैं आवश्यकतानुसार कुछ त्याग कर सकूँ	(वैराग्य)
६—मेरा नाम हो।	(यश)

आदर्शकी आवश्यकता

अपने जीवनको उन्नत बनानेके लिये मानव अपने सम्मुख कोई-न-कोई आदर्श रखा करता है। जो शूर-वीर बनना चाहता है, वह हनुमान्जीका आदर्श अपने सामने रखता है; सत्यवादी मानव महाराज हरिश्चन्द्रका ध्यान रखता है; प्रयत्नशील मानव महाराज भगीरथका अनुकरण करता है; इसी प्रकार सदाचारिणी नारी श्रीसीता और सती सावित्रीके पद-चिह्नोंपर चलती है—इत्यादि। श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें ललित लीलाएँ करके श्रीभगवान् मानवताके सम्मुख परमोदार आदर्श स्थापित किया करते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णमें मानवताको सभी प्रकारके परमोत्तम आदर्शकी झाँकी मिल जाती है।

मानवमात्रके आदर्श श्रीराम और श्रीकृष्ण

षड्-गुण-सम्पन्न भगवान्की लीलाएँ मानवमात्रके मनको मोहित करनेवाली होती हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जीवमें भी वे छहों गुण होते हैं, जो भगवान्में होते हैं। अन्तर इतना है कि जीवके षड्गुण बद्धावस्थामें तिरोहित-से रहते हैं और मुक्तावस्थामें भी वे सातिशय रहते हैं; किंतु भगवदीय षड्गुण नित्य-सिद्ध, परिपूर्ण और निरतिशय होते हैं। उदाहरणके लिये 'ज्ञान' की चर्चा करें तो हम देखेंगे कि वनस्पतिसे लेकर बृहस्पतितक ज्ञानकी अनेकानेक भूमिकाएँ हैं। वनस्पतिमें ज्ञान निम्न कोटिका होता है और बृहस्पतिमें उच्च कोटिका; किंतु बृहस्पतिका भी ज्ञान सातिशय है अर्थात् बृहस्पतिका ज्ञान त्रिगुणात्मक जगत्में अत्युच्च

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

कोटिका होनेपर भी भगवदीय ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त न्यून है। यही कारण है कि भगवान् छोटे-से-छोटे जीवसे लेकर बड़े-से-बड़े जीवतकके लिये ज्ञानमें आदर्श हैं। जो बात ज्ञानके लिये लागू है, वही अन्य गुणोंके लिये भी समझनी चाहिये।

श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों ही मानवताके लिये गुण-षट्कमें आदर्श हैं; किंतु विस्तार-भयसे श्रीरामके केवल ऐश्वर्य, धर्म और वैराग्यका एवं श्रीकृष्णके केवल ज्ञान, यश और श्री-का दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

श्रीरामका ऐश्वर्य

श्रीराम पृथ्वीके चक्रवर्ती सम्राट् थे। साम्राज्य-प्राप्ति लौकिक दृष्टिसे मानवका सर्वोत्तम सुख है[1]। उसपर यदि प्रजामें सर्वत्र सुख-सम्पत्ति विराजमान हो तो सुवर्णमें सुगन्धका योग हो जाता है। रामराज्यमें प्रजा स्वस्थ और दीर्घायु थी, धन और धान्यकी प्रचुरता थी, सर्वत्र सुख और शान्ति विराजमान थे। प्राचीन भारतके नरेश कह सकते थे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(उपनिषद्)

अर्थात् 'मेरे राज्यमें न कोई चोर है, न कोई कृपण है और न कोई मदिरा-पान करता है। मेरे राज्यमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो हवन न करता हो और ऐसा भी कोई नहीं है, जो विद्वान् न हो। मेरे राज्यमें एक भी व्यभिचारी पुरुष नहीं है, फिर व्यभिचारिणी स्त्री तो हो ही कैसे।' यह श्रुति-सम्मत राजनीति है। श्रीरामकी नीति भी ऐसी ही थी। अतएव उनके राज्यमें सर्प और रोगका भय नहीं था, अकालमृत्यु नहीं होती थी, सर्वत्र प्रसन्नता छायी रहती थी, प्रजामें परस्पर वैमनस्य नहीं था। वृक्षोंपर फल-फूल लदे रहते थे, वर्षा इच्छानुसार होती थी, वायु सुखस्पर्श था, अपने-अपने व्यापार-व्यवसायमें सब सुखी थे[2]। इसी कारणसे 'राम-राज्य'का अर्थ सुखमय राज्य हो गया है।

१. तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

२. न पर्यदेवन्विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्॥
नित्यपुष्पा नित्यफलास्तरवः स्कन्धविस्तृताः।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः॥
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः॥
(वा० रा० ६।१२८।९८—१००, १०२-१०३)

श्रीरामकी धर्मपरायणता

श्रीराम मूर्तिमान् धर्म थे। वेदोक्त 'सत्यं वद, धर्मं चर, पितृदेवो भव, मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' आदि विधियाँ ही धर्म हैं; और श्रीरामने उस धर्मका अक्षरशः पालन किया। राम आदर्श सत्यवादी थे। उनके सम्बन्धमें यह उक्ति सुप्रसिद्ध है—'रामो द्विर्नाभिभाषते।' देव-दुर्लभ परम-मुदित और स्फीत कोसलके विशाल राज्यको उन्होंने पिताजीके आदेशका पालन करनेके लिये प्रसन्नतापूर्वक चौदह वर्षके लिये त्याग दिया। उन दिनों उन्होंने नगर-निवास किया ही नहीं। सुग्रीवके राज्याभिषेकके समय लक्ष्मणजीको ही किष्किन्धामें भेजा, स्वयं नहीं गये। इसी प्रकार विभीषणके राज्याभिषेक-के समय लङ्कामें भी उन्हें ही भेजा था। शरणागतकी रक्षा वे प्राण-पणसे करते थे। विभीषणकी शरणागति और श्रीराम-द्वारा विभीषणका परित्राण सुप्रसिद्ध हैं। शरणमें आ जानेपर वे अपराधीको भी अभय कर देते थे, औरोंकी तो चर्चा ही क्या। जो केवल एक बार भी उनके पाद-पद्ममें यह निवेदन कर देता कि मैं आपकी शरणमें आया हूँ, उसे वे अवश्य निर्भय कर दिया करते थे[1]। शची-नन्दन जयन्त वेष-परिवर्तन करके श्रीरामके बलकी परीक्षा लेने गया था। सीताजीके चरण-कमलमें उसने चञ्चु-प्रहार किया, तब श्रीरामने उसको एक तिनकेसे त्रस्त कर दिया और उस घोर अपराधीके त्राहि-त्राहि करनेपर उसे जीवन-दान भी दे दिया। ऐसे थे उदारचरित राम! शूर्पणखाके नाक-कान कटवानेके प्रसङ्गपर कुछ लोग उनपर अनौचित्यका आरोप किया करते हैं; किंतु वह आरोप ही अनुचित है, रामका कृत्य नहीं। ब्राह्मण-महिला (शूर्पणखा) का क्षत्रिय (राम) के प्रति विवाह-विषयक प्रस्ताव अवैध था। ऐसा विवाह

१. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० ६।१८।३३)

प्रतिलोम कहलाता था और दण्डनीय था। यदि स्त्री प्रस्ताविका है तो नाक-कान काटना और यदि पुरुष प्रस्तावक है तो मृत्युदण्ड—यह उन दिनोंका राजनियम था। अतः श्रीरामचन्द्रजीने प्रतिलोम-विवाह-विषयक प्रस्ताव करनेवाली लङ्केश-भगिनीको जो दण्ड दिया, वह न्याय-संगत ही था, धर्मानुकूल ही था। इसी प्रकार उनके अन्यान्य सभी चरित्र धर्ममय, अतएव आदर्श थे।

श्रीरामका वैराग्य

रागका अर्थ है आसक्ति और अराग किंवा वैराग्यका अर्थ है अनासक्ति। मनुष्य जहाँ रहता है, उस आवासके प्रति, उस नगरके प्रति और वहाँकी जनताके प्रति उसका राग होना स्वाभाविक है, साधारणतया होता ही है। किंतु यदि रागकी मात्रा इतनी अधिक हो कि वह कर्तव्यमें बाधक हो तो वह हेय कोटिमें आ जाता है। श्रीरामका अयोध्याके प्रति, अपने परिवारके प्रति जो राग था, वह समर्याद था। वह उनके वन-गमनके समय स्वल्पांशमें भी कर्तव्य-पालनमें बाधक नहीं बना। उनका मुख-कमल वनवासका आदेश सुनकर भी म्लान नहीं हुआ। यह महान् गुण रामके आदर्श वैराग्यका परिचायक है। राम चाहते तो बालीको मारकर स्वयं किष्किन्धाका राज्य ले सकते थे, रावणको मारकर स्वयं लङ्काधिपति बन सकते थे, अथवा सुग्रीव और विभीषणके साथ द्वैराज्य-शासनमें ही सम्मिलित हो जाते; किंतु मूर्तिमान् वैराग्यको ये विकल्प रुचिकर नहीं थे। इसी प्रकार सीता-परित्याग और लक्ष्मण-परित्याग भी उनके आदर्श धर्मनिष्ठ वैराग्यके उदात्त परिचायक हैं।

श्रीकृष्णका लोकोत्तर ज्ञान

श्रीकृष्णने सभी संसारोपयोगी विषयोंका उच्चतम कोटिका ज्ञान उपार्जन किया था—गो-दोहन, गो-वत्स-चारण, रथ-चालन, गिरि-धारण, नाग-वशीकरण, दुरित-निकन्दन, वंशी-वादन, नृत्य, मल्ल-लीला, रास-रचना आदि कलाओंमें वे बाल्य-कालमें ही कुशल हो गये थे। उपनयनके अनन्तर उन्होंने अपने अग्रज श्रीबलभद्रजीके साथ उज्जयिनीमें गुरु-कुलमें धनुर्विद्या, न्याय-विधान, धर्म-रहस्य, दर्शन-शास्त्र, समस्त राजनीति एवं सम्पूर्ण कलाएँ सीखी थीं[2]। घोर आङ्गिरससे उन्होंने ब्रह्मविद्याका उपदेश भी लिया था। श्रीकृष्णके सुदर्शन-प्रयोगका चमत्कार तो विश्व-विश्रुत है ही, उनके धनुष्प्रयोगका वैदग्ध्य भी वीर-पुंगव-विस्मापक है। महाराज बृहत्सेनने अपनी राजकुमारी लक्ष्मणाजीके स्वयंवरमें मत्स्य-वेधका पण रखा था। कृत्रिम मत्स्य इस प्रकार ढक दिया गया था कि वह चारों दिशाओंसे दिखायी नहीं देता था। नीचे रखे जलमें पड़ते हुए प्रतिबिम्बको देखकर ऊपर टँगी हुई मछलीको बाण चलाकर वेधना था। धनुर्बाण वहीं रखे थे। अनेक राजाओंसे तो उस धनुषपर प्रत्यञ्चा ही न चढ़ सकी। जरासंध, शिशुपाल, दुर्योधन और कर्ण-जैसे धनुर्धरोंने प्रत्यञ्चा तो चढ़ा ली, परंतु वे लक्ष्यका पता न लगा सके। अर्जुनने भी अपनी दक्षताका प्रदर्शन किया, किंतु उनका बाण भी मत्स्य-को स्पर्श करता हुआ निकल गया। तत्पश्चात् श्रीकृष्णने धनुषपर अनायास प्रत्यञ्चा चढ़ाकर, बाणका संधान करके, केवल एक बार जलमें मछलीकी छाया देखकर, लक्ष्यका वेध कर दिया। ऐसा था उनका अस्त्र-संचालन-ज्ञान। ऐसे शतशः उदाहरण दिये जा सकते हैं।

एक बार अर्जुन एक ब्राह्मणकी संतानकी खोजमें अपनी मन्त्र-विद्याके प्रभावसे यम, इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, सोम, वायु और वरुण देवताओंकी पुरियोंमें तथा रसातल और नाकपृष्ठतक घूम आये; किंतु बालकका पता कहीं न चला[1]। इसपर गर्वप्रहारी श्रीकृष्ण अपने रथपर बिठाकर अर्जुन-को महाकालपुर लिवा ले गये[2] और भूमा पुरुषसे विप्र-संतान ले आये। ऐसा था उनका लोकोत्तर ज्ञान।

श्रीकृष्णकी ब्रह्म-ज्ञान-चर्चा तो सर्वत्र है ही। उन्होंने समस्त उपनिषद्रूपी कामधेनुओंको दुहकर अर्जुनके लिये जो अमृत प्रस्तुत किया था, उसने अर्जुनके अनन्तर

१. प्रातिलोम्ये वधः पुंसां नार्याः कर्णादिकर्तनम्॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यवहाराध्यायः २४। २८६)

२. अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः।
काश्यं सांदीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम्॥
सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम्॥
अहोरात्रैश्चतुष्षष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः।
(श्रीमद्भा० १०। ४५। ३१, ३४, ३६)

१. एवं व्रपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः।
ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः॥
(श्रीमद्भा० १०। ८९। ४३)

२. इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः।
दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्॥
(श्रीमद्भा० १०। ८९। ४७)

अगणित जीवोंको जीवन-दान दिया है, दे रहा है और भविष्यमें भी देता रहेगा।

श्रीकृष्णका विमल यश

सुकृतका फल होता है यश। श्रीकृष्णने जो लोकोपकारी कृत्य किये, उनसे भारतकी प्रजाका परम हित हुआ। अनाचार और दुराचारका समूल उन्मूलन करके उन्होंने सर्वत्र धर्मकी ध्वजा फहरा दी। जहाँ कोई अभद्रता देखी, वहीं उसका ध्वंस करके भद्रताका संस्थापन किया। उनके बाल्यकालीन पराक्रमोंने भी सद्वर्गका मन मोह लिया था; तभी तो गोपियाँ कहा करती थीं कि 'हे प्रभो! आपका चरित्र पापका अपनोदक है, श्रवणमात्रसे कल्याणकारी है, कुशल कवि आपकी ललित लीलाओंपर कवितामयी रचना करते हैं; उनका गान करनेवाले व्यक्ति वास्तवमें बड़े पुण्यात्मा हैं'[1]। श्रीकृष्णके पतित-पावन गुणोंका श्रवण करके न केवल गोपियाँ ही अपितु विप्र-पत्नियाँ भी उनके दर्शनकी लालसा किया करती थीं—

श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः॥
(श्रीमद्भा० १०। २३। १८)

जरासंधके कारागारमें पड़े हुए राजन्य-वर्गने पर-दुःख-कातर, सर्व-भूत-हित-रत श्रीकृष्णकी विमल कीर्तिका श्रवण करके उनके पास यह संदेश देकर एक दूत भेजा था कि 'प्रभो! कृपया आइये और हमारा संकट दूर कीजिये।' करुणामय पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूयको सफल बनानेके उद्देश्यसे रिपु-चक्रका शमन कराया और भीमसेनके द्वारा महाबली जरासंधका वध कराकर बीस हजार क्षत्रियोंका उद्धार कर दिया। उन्हीं क्षत्रियोंने श्रीकृष्ण भगवान्‌के प्रति स्तवाञ्जलि समर्पित करते हुए निम्नाङ्कित श्लोक भी कहा था, जो भक्त-जनतामें अद्यावधि मन्त्रवत् प्रचलित है—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० १०। ७३। १६)

संसार श्रीकृष्णके शौर्य, सौन्दर्य और शीलका आराधक था; किंतु जगत्‌की अप्रतिम आराधना प्राप्त करके भी वे पूर्णतया सदय, शिष्ट और विनम्र थे। राजसूयमें श्रेष्ठ पूजा प्राप्त करनेवाले श्रीकृष्णने अपने लिये क्या काम लिया? अभ्यागतोंके चरणोंका प्रक्षालन! इससे अधिक नम्रताका आदर्श और क्या हो सकता है? ऐसे ही उदात्ततम आदर्शोंके कारण श्रीकृष्णका विमल यश विश्वमें विश्रुत है।

श्रीकृष्णकी श्रीसम्पन्नता

श्रीका प्रकरणानुकूल अर्थ है शारीरिक सम्पत्ति अर्थात् बल और सौन्दर्य। द्रढिष्ठ और बलिष्ठ बनना संसारके सर्वोच्च सुखोंमेंसे एक है। प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें बलवान् बननेकी अभिलाषा नैसर्गिक है और वह अपने सम्मुख किसी-न-किसी बलवान् व्यक्तिका आदर्श रखता है। श्रीकृष्ण इस दिशामें सभीके आदर्श हैं। गायका दूध और मक्खन तथा अन्य सात्त्विक भोजनके द्वारा श्रीकृष्णने अपने शरीरमें स्थायी बलका संचय किया था, जिसके द्वारा उन्होंने कुवलयापीड, कंस और शाल्व-जैसे दुर्दान्त जीवोंको पराजित किया। चाणूर अपने युगका एक प्रमुख मल्ल था। कंसकी आज्ञासे उसने श्रीकृष्णसे मल्लयुद्ध करते समय उनके वक्षःस्थलपर, पूरा बल लगाकर, दोनों घूसोंसे प्रहार किया था; परंतु श्रीकृष्णके बलका परिचय इस बातसे मिलता है कि वे चाणूरके प्रहारसे उसी प्रकार तनिक भी विचलित न हुए, जिस प्रकार कोई गजराज पुष्पमालाओंके लगनेसे विचलित नहीं होता।[1] परंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि श्रीकृष्णने अपने ऐसे लोकोत्तर बलका प्रयोग धार्मिकोंकी रक्षाके ही लिये किया। बलकी सफलता इसीमें है कि उससे केवल धर्मात्माओंका परित्राण हो और उत्पथगामी असाधुओंका विनाश हो।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण बलके निधान थे उसी प्रकार वे सौन्दर्यके भी परमोत्तम निधि थे। वे त्रैलोक्य-सुन्दर, त्रिभुवन-मनोमोहन थे। जरासंधके कारागारमें पड़े हुए राजाओंने जब श्रीकृष्णकी कमनीय मूर्तिका सर्वप्रथम दर्शन किया, उस समय उनकी बड़ी अद्भुत दशा हो गयी। वे मानो अपने चक्षुष्पुटोंद्वारा श्रीकृष्णकी मधुरिमाका पान कर रहे थे, नासापुटोंद्वारा उसको आत्मसात् कर रहे थे और अपनी भुजाओंद्वारा उनका आलिङ्गन कर रहे थे[2]। श्रीकृष्णके

---

१. तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ९)

१. स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ।
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यताडयत्॥
नाचलत् तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः।
(श्रीमद्भा० १०। ४४। २१-२२)

२. पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया॥
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रिलष्यन्त इव बाहुभिः।
(श्रीमद्भा० १०। ७३। ५-६)

माधुर्यका प्रभाव न केवल स्त्री-पुरुषोंपर ही था, अपितु पशु-पक्षियोंपर और वनस्पति-जगत्पर भी था। श्रीकृष्णका लोकाभिराम रूप न केवल गोपों और गोपियोंके ही नेत्रोंमें आनन्दका संचार किया करता था, अपितु देवर्षि नारद-जैसे वीतराग महात्माओंके भी हृदयको उनके दर्शनसे परम तृप्ति हुआ करती थी[1]। किसीका रूप सुन्दर क्यों होता है ? पुण्याचरणसे। रूप परम सम्पत्ति है और बड़े भाग्यसे ही यह मिलता है। कामी, क्रोधी, ईर्ष्या-द्वेष-परायण, लोभ-मोह-निरत व्यक्तियोंको सु-रूप नहीं मिलता; किसी जन्मान्तरके पुण्य-प्रभावसे मिलता भी है तो मनोविकारोंके कारण विकृत हो जाता है। जिनके मनमें शम और विनय है, जो धर्म-निरत और सर्वत्र समबुद्धि हैं, जो सद्विचारसम्पन्न हैं, वे रूपवान् होते हैं; और यदि किसी कर्मान्तरके प्रभावसे उन्हें रूप नहीं मिलता, तो भी उनमें एक प्रकारका सात्त्विक आकर्षण होता है। श्रीकृष्ण परम श्रीसम्पन्न थे, क्योंकि वे सद्गुण-निकर थे। अतएव सौन्दर्याभिलाषी मानवको सदा सात्त्विक-गुणावलीके उपार्जनमें प्रयत्नशील होना चाहिये।

सार

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि मानवमात्रमें ज्ञान, श्री, ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्य और यशके अङ्कुर प्रसुप्त पड़े रहते हैं। जो व्यक्ति इन गुणोंको जितनी मात्रामें प्रबुद्ध कर सकेगा, वह उतना ही अधिक आत्मविकासमें सफल होगा। आत्मविकास ही मानव-जीवनका ध्येय है। सभी लोग जाने-अनजाने आत्मविकासमें लगे हुए हैं। जिन व्यक्तियोंको आत्मविकासके शास्त्रसम्मत पथका परिचय मिल जाता है, वे शीघ्र और सुगमतापूर्वक लक्ष्यकी प्राप्ति कर लेते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण पूर्णतया षड्गुणसम्पन्न होनेके कारण मानवताके आदर्श रहे हैं और रहेंगे। मानव अपने अन्तस्तलमें जिस तत्त्वका अभिलाषी है, उसे वह तत्त्व श्रीराम और श्रीकृष्णमें अखण्डरूपमें मिल जाता है।

प्रार्थना

(मदिरा छन्द)

(१)

राम ! परात्पर देव ! हमें वरदान सदा कृपया यह दो—
भारत देश ! सदा विजयी बन, उन्नत-मस्तक हो—कह दो ॥
गौरवसे परिपूर्ण बने फिर देश सुखी धनसे, जनसे।
विश्रुत हो, बलवत्तम हो तनसे, परिशुद्ध सदा मनसे ॥

(२)

कृष्ण ! प्रभो ! अब मानवता फिर दिव्य बने, गुण-संयुत हो।
शासन नीति-समुज्ज्वल हो, अविलंब प्रजाजन श्रीयुत हो ॥
ज्ञान बढ़े, यश-कीर्ति बढ़े, निज-धर्म-परायणता फिर हो।
नाथ ! विराग-विभूषित भक्तजनीय-हृदालयमध्य रहो ॥

मनुष्य-शरीरसे क्या लाभ ?

लाभ कहा मानुस तन पाये।
भजे न मृदुल कमल-दल-लोचन, दुख-मोचन हरि हरखि न ध्याये ॥
तन-मन-धन अरपन ना कीन्हों, प्रान प्रानपति गुननि न गाये।
जोवन, धन, कलधौत-धाम सब, मिथ्या आयु गँवाय गँवाये ॥
गुरुजन-गरव, विमुख-रँग-राते, डोलत सुख संपति विसराये।
ललितकिसोरी मिटै ताप ना, बिनु दृढ़ चिंतामनि उर लाये ॥

—ललितकिशोरी

---

१. अथो मुनि [illegible] । मुकुन्दसंदर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥ (श्रीमद्भा० १० । ७१ । १८)

अब्राहम लिंकन—मानवताकी प्रतिमूर्ति

(लेखक—श्रीइन्द्रचन्दजी अग्रवाल)

नीरव रात्रि थी। स्तब्ध रात्रिके सन्नाटेमें प्रकृति सायँ-सायँ करती प्रतीत होती थी। अमेरिकामें गृह-युद्ध चल रहा था। युद्ध-क्षेत्रमें सैनिक विश्राम कर रहे थे। किंतु वह पहरा दे रहा था। उसे पहरेका ही कार्य सौंपा गया था। वह था एक युवा सैनिक। नाम उसका स्कॉट था। दिन-भर चलनेके कारण वह थक गया था। निद्रा-देवी बार-बार उसपर अपना अधिकार जमानेका प्रयत्न कर रही थीं। आखिर उससे न रहा गया। एक स्थानपर बंदूक रखकर वह सो गया। कितनी भयंकर थी वह भूल! शत्रु मोर्चेपर थे, वह पहरेपर रखा गया था, किंतु इस संकटके समय वह सो रहा था!

संयोगवश पहरेका निरीक्षक भी उसी समय घूमता-घूमता उधर आ निकला। उसने युवकको सोते हुए देखा। क्षणभर वह ठिठका। दूसरे ही क्षण युवककी बंदूक उसके हाथमें थी। तब उसने युवकको जगाया। युवक एकाएक हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ। सामने निरीक्षकको देखकर भी वह अविचलित रहा। निरीक्षकने प्रश्न किया—'स्कॉट, तू सो रहा था?' और युवक चुप। उसका मस्तक नत हो गया। निरीक्षक क्रोधित होकर चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही युवक फौजी अदालतके न्यायाधीशके सम्मुख उपस्थित था। न्यायाधीशने उसे मृत्युकी सजा सुना दी। युवक मौन रहा। उसका अपराध जो था! शीघ्र ही जंगलकी आगकी भाँति युवकके मृत्यु-दण्डकी सूचना समस्त सेनामें फैल गयी।

अमेरिकाके राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अपने व्यक्तिगत-कक्षमें जनरल ग्रान्टके साथ बैठे युद्धके सम्बन्धमें वार्तालाप कर रहे थे। तभी उन्हें युवकके मृत्यु-दण्डकी सूचना प्राप्त हुई। लिंकनका दयालु हृदय इस समाचारसे पिघल गया। उन्होंने उस युवकसे भेंट करनी चाही। आज्ञानुसार युवक उनके समक्ष उपस्थित किया गया। लिंकनने देखा—एक साहसी, सच्चरित्र, देशके लिये उत्सर्ग हो जानेवाला वीर युवक उनके सम्मुख खड़ा था। मनमें करुणाका उदय हुआ। उन्होंने युवकसे प्रश्न किया—

'क्या तुम्हारा ही नाम विलियम स्कॉट है?'

'हाँ, श्रीमान्!'—युवकने तत्परतासे उत्तर दिया।

'पहरेपर तुम्हारे सो जानेका कारण?'

'श्रीमन्, ह्वाइट नामका मेरा एक मित्र है। मैंने उसकी मातासे प्रतिज्ञा की थी कि मैं उसकी देखभाल करूँगा। वह इधर कुछ दिनोंसे बीमार था। जब वह सेनामें लौटकर आया तब भी बीमारीके कारण वह अशक्त था। घटनाके एक दिन पूर्व मैंने अपने सामानके अतिरिक्त उसका सामान भी पीठपर लादकर मार्च किया था। कैम्पमें पहुँचनेपर हम सब बुरी तरह थक चुके थे। ह्वाइटमें तो पहरा देनेकी शक्ति ही शेष नहीं रह गयी थी। अतः मैंने उसके पहरेका उत्तरदायित्व भी अपने सिरपर ले लिया। थका तो था ही, शीघ्र ही मुझे नींद आ गयी।'

'क्या तुम्हें ज्ञात है कि तुम्हें मृत्यु-दण्ड दिया गया है?'

'हाँ, श्रीमन्! मुझे मृत्युका भय नहीं है, किंतु दुःख इस बातका है कि मैं मातृभूमिके किसी काम न आ सका। मैंने सोचा था रणस्थलोंमें वीरोंकी भाँति मातृभूमिपर अपने प्राणोंको न्योछावर करूँगा, किंतु अब मुझे कुत्तेकी मौत मरना पड़ेगा।'

युवकका यह उत्तर सुनकर अब्राहम लिंकनका दयालु हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने युवकसे प्रश्न किया—

'क्या तुम्हारे माता-पिताको तुम्हारी मृत्युकी सूचना प्राप्त हो चुकी है?'

'नहीं, श्रीमन् ! मेरी माँ विधवा है। मुझे छोड़कर उनका कोई सहारा नहीं। मैंने अपने मृत्यु-दण्डकी सूचना उन्हें इसीलिये नहीं दी कि यह सुननेपर उनका हृदय टूक-टूक हो जाता, उनका अन्तिम सहारा टूट जाता।'

यह कहकर नवयुवकने लिंकनके हाथमें एक चित्र दिया। लिंकनने देखा—यह उसकी बूढ़ी माँका चित्र था, जिसे वह माँके प्रति अपनी असीम श्रद्धाके कारण हर समय अपने साथ रखता था। युवककी मातृ-भक्ति, साहस और अविचलता देखकर लिंकनसे रहा न गया। वे बोल उठे—

'शोक न करो, स्कॉट! तुम कुत्तोंकी मौत न मारे जाओगे। देशको अभी तुम-जैसे वीरोंकी अत्यन्त आवश्यकता है।'
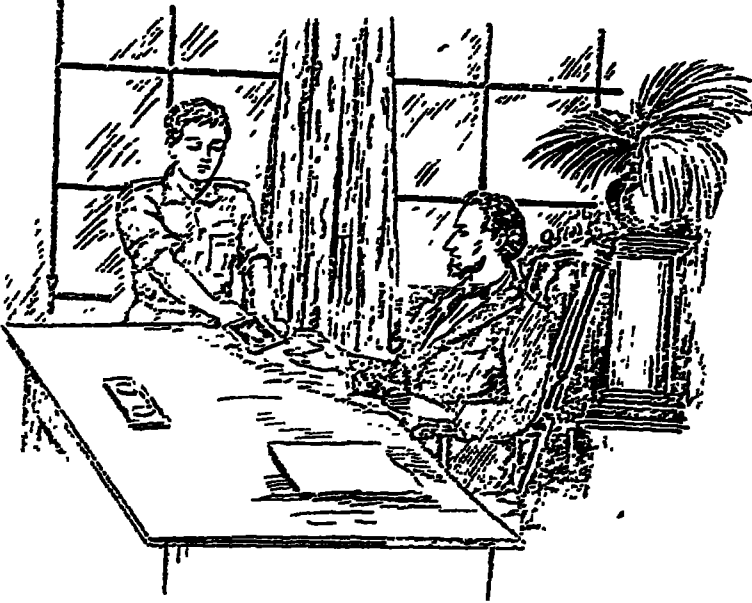
यह कहकर लिंकनने रण-क्षेत्रमें आज्ञा-पत्र भेजा— 'स्कॉटका अपराध क्षमा किया जाय।'

युवक यह देखकर अप्रत्याशित आनन्दसे झूम उठा। एक बार पुनः उसके अन्तस्तलमें मातृ-भूमिपर मर मिटनेकी लालसा प्रदीप्त हो उठी। उसने राष्ट्रपतिको फौजी सलाम किया और कृतज्ञ होकर उनसे विदा ली। दूसरे दिन समाचार प्राप्त हुआ—विलियम स्कॉटने रण-भूमिमें शत्रुके छक्के छुड़ाते हुए वीरगति प्राप्त की!

धन्य है उस वीर और मातृभक्त युवकका साहस, जिसने देशकी बलिवेदीपर अपनेको बलिदान कर दिया और धन्य है लिंकनकी उदारता, जिसके कारण युवकको मातृभूमिपर उत्सर्ग होनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। वस्तुतः अब्राहम लिंकन मानवताकी प्रतिमूर्ति थे।

प्रभुसे!

लखहु प्रभु जीवन केरि ढिठाई।
निज निंदा मेटन हित तुम महँ प्रेरक शक्ति लगाई॥
बुरो भलो सब करत बुद्धि-बस मनहु की रुचि पाई।
कहैं सबै हरि करत जीव को दोस नहीं कछु भाई॥
दैव करम संयोग आदि बहु सब्दन लेत सहाई।
अपने दोस और पर थापत लखहु नाथ चतुराई॥
शास्त्रनहू कछु प्रेरकता कहि उलटो दियो भुलाई।
सब मैं मिल्यौ सबन सों न्यारो कैसे यह न बुझाई॥
मिल्यौ कहैं तो पाप पुन्य दोउ एकहि सम ह्वै जाई।
जुदो कहैं किमि तुम बिनु दूजो सत्ता नाहिं लखाई॥
कर्ता बुधि-दायक जग-स्वामी करुनासिंधु कन्हाई।
'हरीचंद' तारहु इन कहँ मति इनकी लखौ खुटाई॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

रेखाएँ

(रचयिता—श्रीरामकृष्णदास कपूर, एम० एस्-सी०, एल्०टी०, एफ्०आर०एच्०एस्०)

प्रिय मानव, तुम ऐसी रेखाओंका सृजन करना
जिनसे बहे कोमल सुखमय प्रीतिका झरना
जिन रेखाओंसे अमृत बरसे
मानवताका शृंगार प्यार सरसे
जो रेखाएँ मुसकाएँ
जिनको लख मनुज हुलसाएँ, सुख पायें, दुख बिसरायें
मानव, तुमने देखी हैं रेखाएँ मुखपृष्ठपर मानवके
वह रेखाएँ जो उसकी अन्तिम घड़ियाँ गिन-गिन
मृत्युके ताने-बाने बिन-बिन
एक दर्दीला दृश्य उपजाती हैं
मुखपृष्ठपर उभर-उभर कर आती हैं
वह रेखाएँ किसने नहीं देखीं, मानव !
पर कितनोंने समझीं, मानव !
वह दृश्य कैसा होता है !
अशान्तिका, भ्रान्तिका, जिज्ञासाका, निराशाका
चिन्ताका, ममताका, मोहका, विछोहका
उसके मुखपर किस तेजीसे आता है, जाता है, रेखाएँ बन
उसको कैसे-कैसे दुःखकी याद दिलाता है, रेखाएँ बन
घृणाके स्वर उपजाता है, रेखाएँ बन
पश्चात्ताप करवाता है, रेखाएँ बन,
क्षमा-याचना करनेको वह आतुर हो जाता है, स्मरण करनेको जीवनभरकी कृतियाँ
एक ही क्षणमें व्यग्र हो जाता है, अवलोकन करनेको जीवनभरकी कृतियाँ
जब बिलकुल ही असमर्थ है, वह कुछ भी करनेको
क्योंकि वह तो अब तत्पर है केवल मरनेको, जीवन-घट भरनेको—
कैसे दुःखद चित्र कैसे दुःखद स्मरण उसपर आघात करते हैं
'शान्तिसे मत मर' 'और देख ठहर' कह प्रतिघात करते हैं
वह पश्चात्ताप प्रार्थना करना चाहता है
वह क्षमा-याचना करना चाहता है
परंतु यह रेखाचित्र नहीं करने देते उसको यह भी,
वह आते हैं, तड़पाते हैं, उड़ जाते हैं
फिर और नये आ जाते हैं तड़पानेको, जतलानेको .
'मुगति नहीं वह पा सकता' दुनियाको रेखा बन दिखलानेको बतलानेको
वह हताश हो पछाड़ खा गर्दन टेढ़ी कर पड़ जाता है, रो जाता है
मुखपृष्ठपर उन स्मरणोंकी रेखाएँ रख सो जाता है
क्या सोना है यह !
जीवनोपरान्त रोना है यह !
तो मानव, तुमने देखे हैं ऐसे चित्र घने
जो भुजाएँ न बने—जीवन भर चाहे जीवन खोकर
और मानव, तुमने देखी हैं वह शान्त मुद्राकी रेखाएँ कहीं कहीं
जो अङ्कित हो जाती हैं मुखपृष्ठपर किसी-किसीके केवल किसी-किसीके ही—
उसको सुख देती हैं—तुमको भी
तमको खो देती हैं—दुःखको भी
उसकी आभा भली
उसकी शोभा भली
मृत्यु हँसती हो जैसे उसके मुखमण्डलपर
उसको पा हर्षित होती हो, गर्वित होती हो उसके मुखमण्डलपर
मृत्यु अखंड शान्तिकी रेखा बन जैसे कहती हो
मृत्यु अनन्त आनन्दकी रेखा बन जैसे कहती हो
'मानव, तूने प्यार किया मुझसे हँसकर, सबसे खिलकर
जीवनभर हसकर सबसे मिल-जुलकर
तेरे दिलपर चोट पड़ी तूने सहलाया
तुझपर आघात हुआ तूने क्षमा किया सहर्ष बिसराया
तूने जन-जनसे प्यार किया
वन विजनसे प्यार किया
आह्लादोंसे प्यार किया
अवसादोंसे प्यार किया
झोपड़ियोंसे प्यार किया
हँसती खिलती पंखुड़ियोंसे प्यार किया
फूलोंसे तो सब करते हैं प्यार
तूने काँटोंसे भी प्यार किया
तूने बुझते हुए दीप जलाये
तूने पूजाके थाल सजाये
करनेको पूजा भूखोंकी रोटीसे
ढकनेको लज्जा नंगोंकी लंगोटीसे

मैं आज तुझे हँस मिलती हूँ
मैं आज तुझे पा खिलती हूँ
मैं आलिङ्गन करती हूँ तेरा
तू प्यारा मानवका प्यारा मेरा
वैसे मुझतक आये कितने पापी क्रूर कुटिल कुत्सित रेखाओंवाले
वैसे मैंने पाये कितने काली-काली पीली-नीली ज़हरीली रेखाओंवाले
मैं उनको वापिस कर देती हूँ फिर—
करनेको अशान्त रेखाएँ शान्त स्थिर
तो मुझतक कितने मानव आते हैं !
रोते बहुत, हँसते किंचित् ही आते हैं !!
आते जो हँसते-हँसते खिलते-खिलते
सो जाती हैं मेरी गोदीमें हँसते खिलते
और मैं 'मौत' उनका जीवन पानेकी उत्सुक हो जाती हूँ
'मानव' बन जानेको विचलित हो जाती हूँ
वह हैं मानव, अमर मानव
सुस्मित, सुखमय, रेखाओंवाले 'मानव'
तो मानव, तुम ऐसी ही रेखाओंका सृजन करना
जिससे बहे कोमल प्रीतिका झरना
जिन जिन रेखाओंसे अमृत बरसे
जीवन सरसे—प्यारे मानव !

केवल धनसे क्या मिल सकता है, क्या नहीं ?

मानव नाम मिल सकता है	मानवता नहीं
आराम ,,	राम ,,
भोग-सुख ,,	शान्ति ,,
इन्द्रियतृप्ति ,,	आनन्द ,,
बिजली ,,	अन्तःप्रकाश ,,
स्वर्णरत्न ,,	अभय ,,
वासना ,,	आत्मतृप्ति ,,
अभिमान ,,	विनय ,,
सम्मान ,,	श्रद्धा ,,
सौन्दर्य-प्रसाधन ,,	सौन्दर्य ,,
पुस्तक ,,	विद्या ,,
चित्र ,,	चरित्र ,,
मृत्यु ,,	अमरता ,,
रोटी ,,	भूख ,,
ओषधि ,,	आयु ,,
आसक्ति ,,	शक्ति ,,
पलँग ,,	नींद ,,
चश्मा ,,	आँख ,,
मास्टर ,,	सद्गुरु ,,
डाक्टर ,,	स्वास्थ्य ,,
संगी ,,	मित्र ,,
कामिनी ,,	धर्मपत्नी ,,
लड़का ,,	पुत्र ,,
नौकर ,,	सेवक ,,

पतनके स्थान

सिनेमा

सिनेमासे शिक्षा भी प्राप्त हो सकती है, इसे हम अस्वीकार नहीं करते। पाठशालाओंमें बच्चोंके लिये तथा ग्रामोंमें ग्रामवासियोंके लिये सरकारकी ओरसे जो स्वास्थ्य, स्वच्छता-निर्माण तथा शिक्षासम्बन्धी फिल्में दिखलायी जाती हैं—हमारे फिल्म-निर्माताओंके सम्मुख भी यदि ऐसे ही सदुद्देश्य होते ·····।

किंतु आज सिनेमा-गृहोंमें जाकर लोग क्या देखते हैं? हत्या, चोरी, पाकेटमारी, धोखादेहीके विभिन्न उपाय। कामोत्तेजक नाना प्रकारकी अभिनेत्री-अभिनेताओंकी अङ्ग-चेष्टाएँ, वासनोत्तेजक गायन सुनते हैं वे।

छींटके कपड़ोंकी बुश-शर्ट पहने, बाल सँवारे, पाउडर पोते सिनेमाके गीत गुनगुनाते या अलापते आजके युवक ही नहीं, अबोध बालकतक, और अनेक प्रकारके आधुनिक प्रसाधन अपनाये, अंग-प्रदर्शनको प्रधानता देनेवाले वस्त्र पहिने आजकी कालेज-कन्याएँ—सिनेमा किस तीव्र गतिसे मनुष्यकी मानवताको पतनकी ओर ले जा रहा है यह कोई देख सकता है!

आजके युवकोंकी उच्छृङ्खलता, लड़कियोंका मनमाना व्यवहार तथा आये दिन होनेवाली अवाञ्छनीय घटनाएँ—इनके मूलमें सिनेमाकी कितनी प्रेरणा है, आजके कर्णधार इसे देखकर भी देख नहीं पाते! विनाशका भयङ्कर साधन है आजका सिनेमा!

क्लब

पाश्चात्त्य सभ्यताने दिये क्लब। क्लब अर्थात् अनियन्त्रित मनोरञ्जनके स्थान और आधुनिक शिक्षामें पला आजका भारतीय सम्पत्तिशाली वर्ग क्लबोंके पीछे दौड़ पड़ा है!

क्या होता है इन क्लबोंमें? केवल कुछ व्यायाम इनके उपयोगी कहे जा सकते हैं और वह भी यदि बहुत अधिक सुधार हो उनका। हाकी, फुटबॉल, तैराकी, घुड़दौड़ तथा विमान-संचालनके क्लबतक किसी प्रकार कुशल; किंतु ऐसे हैं कितने क्लब?

क्लबमें चलता है प्रमाद—ताश, शतरञ्ज तथा ऐसे ही समय नष्ट करनेके अन्य खेल। क्लबमें चलता है जुआ-ताशसे या अन्य प्रकारसे। क्लबमें चलती है—शराबकी बोतलें। क्लबमें चलता है मनोरञ्जनके नामपर स्त्री-पुरुषोंका परस्पर उच्छृङ्खल मिलन, नृत्य, तथा अन्य आमोदके नामका अनाचार। मानवताके पतनको और कुछ चाहिये?

घुड़दौड़

पाश्चात्त्य सभ्यताने ही दिया 'रेस'। एक-एक घुड़दौड़ सैकड़ोंको दिवालिया बना देती है। घोड़ोंपर लम्बी-लम्बी रकमें दावमें लगायी जाती हैं। 'रेस' के टिकट बिकते हैं खुले बाजार। घुड़दौड़—द्यूतका यह आधुनिकतम सभ्य कहा जानेवाला स्वरूप और द्यूत मनुष्यके विवेकका परम शत्रु है, यह भी क्या किसीको समझाना पड़ेगा? पत्नीके आभूषण बेचकर, कर्ज लेकर भी जब घुड़दौड़का पूरा नहीं पड़ता—चोरी प्रारम्भ होती है। 'हारा जुआरी शराबखाने' बहुत प्रसिद्ध लोकोक्ति है।

जुआ

घुड़दौड़को तो जैसा जुआ माना ही नहीं जाता और वह ऐसा जुआ है जो अभी देशके गिने-चुने स्थानमें बहुत थोड़े लोगोंद्वारा खेला जाता है; किंतु देशके लगभग सभी नगरोंमें, बड़े कस्बोंतकमें जो जुआ खेलनेके अड्डे हैं—मानवताके पतनके ही अड्डे हैं वे। एक बार जुएमें सम्मिलित होनेवाला अपनी मानवता ही दावपर लगाता है—धर्मराजने द्रौपदीको लगा दिया था जूएपर! काश, इसे हम हृदयंगम कर पाते!

मानवता-पतनके स्थान

व्यर्थजगतचर्चा
आलस्य
प्रमाद
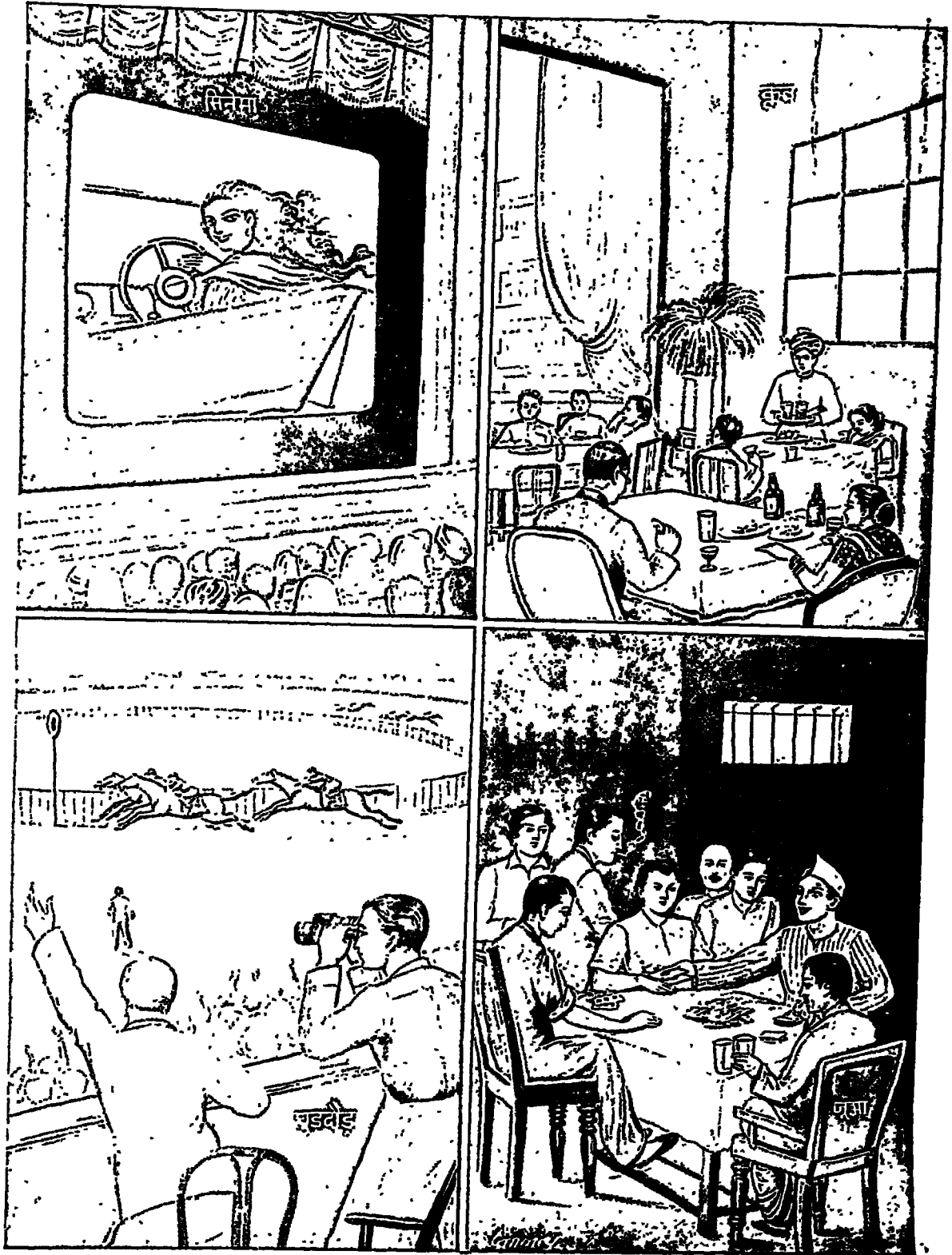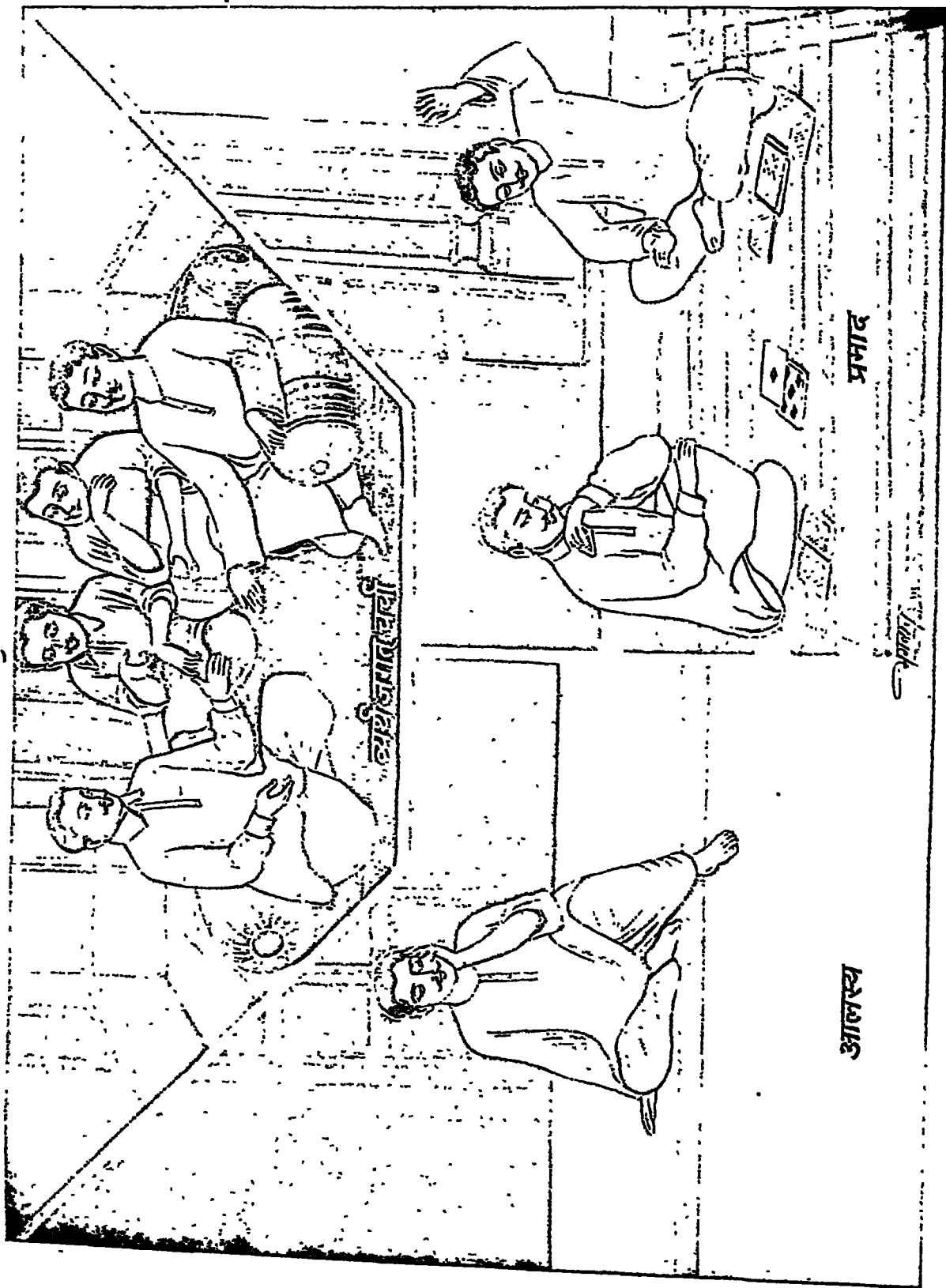
मानवताका दुरुपयोग

मानव-जीवनका एक-एक क्षण अमूल्य है। जीवनके प्रत्येक क्षणको सत्कार्यमें लगाना ही मानव-जीवनका सदुपयोग करना है। इसे आलस्यमें, प्रमादमें और व्यर्थ-चर्चामें खो देना जीवनका दुरुपयोग है एवं बहुत बड़ी हानि है। आलस्य कहते हैं—कर्तव्यपर डटे न रहकर व्यर्थ ही समय खोनेको। आलस्य मनुष्यका बहुत बड़ा शत्रु है। आलसी मनुष्यके जीवनमें श्री, धृति, कीर्ति, भजन, सत्प्रवृत्ति, सेवाभावना, विभूति आदि गुण-पदार्थ नहीं ठहर सकते। आलसी मनुष्यसे तो पशु भी अच्छे हैं, जो आहारादिके लिये तो परिश्रम या उद्यम करते हैं। आलसी मनुष्यका जीवन सड़-सड़कर मरने-जैसा सदा दुखी रहता है।

शरीर क्षणभङ्गुर है, पता नहीं, किस क्षण मृत्यु हो जाय। इसलिये आलस्यका परित्याग करके जो मनुष्य जीवनके असली लक्ष्य भगवत्-प्राप्तिकी साधनामें प्रवृत्त होता है, वही सच्चा मानव है। पर इस साधनाकी बात तो दूर रही; आलसी मनुष्य तो छोटे-छोटे स्वार्थ-साधनके कामसे भी जी चुराता है और 'अभी क्या है, पीछे कर लेंगे' 'आज ही क्या है, कल कर लेंगे' 'अभी तो जीवनके बहुत दिन हैं, पीछे देखा जायगा'—यों समय टालता रहता है। हाथसे अवसर निकल जाता है। फिर पछतानेसे कोई लाभ नहीं होता।

का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥

इसीसे कबीर साहबने कहा है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब्ब।
पलमें परलै होयगी बहुरि करैगा कब्ब॥

प्रमाद कहते हैं—कर्तव्यके त्यागको तथा अकर्तव्यके ग्रहणको। प्रमादी मनुष्य ही व्यर्थ ताश-चौपड़ खेलकर, न करने योग्य व्यर्थके कार्योंमें प्रवृत्त होकर जीवनको नष्ट करता रहता है। प्रमादको ही मृत्यु कहते हैं।

मनुष्य-जीवनमें जो कुछ करना योग्य है, उसे बड़ी सावधानीके साथ तत्परतासे करना चाहिये और जो न करने योग्य है—उसकी ओर भूलकर भी मन नहीं चलाना चाहिये। प्रमादी मनुष्यका जीवन आलसीकी अपेक्षा भी अधिक दुखी होता है। आलसी मनुष्य तो कर्तव्य-कर्म न करके लाभसे ही वञ्चित रहता है, परंतु प्रमाद तो विपरीत कर्ममें प्रवृत्त करवाकर मनुष्यको भीषण दुःखोंमें डाल देता है। प्रमादी केवल लाभ और हितसे ही वञ्चित नहीं होता, महान् हानि तथा दुःखको प्राप्त होता है। यह जीवनका महान् दुरुपयोग है।

इसी प्रकार व्यर्थ जगत्-चर्चा भी जीवनका बड़ा दुरुपयोग है। जो समय सत्कार्यमें, भगवद्भजनमें, सेवामें, कर्तव्य-पालनमें, गरीब भाई-बहिनोंके हितमें, जीवनके उत्थानके कार्योंमें, सत्-चर्चामें, सत्सङ्गमें, स्वाध्यायमें लगाकर जीवनका सदुपयोग करना चाहिये था, उसे व्यर्थ जगत्की चर्चामें खो देना महान् मूर्खता है। व्यर्थ चर्चामें लाभ तो होता ही नहीं, समय नष्ट होता है, सहज ही मिथ्या भाषण तथा पर-निन्दा होती है, विवाद होता है, व्यर्थकी तथा गंदी बातें भी होती हैं। इन सबसे कुसंस्कार उत्पन्न होते हैं, जो जीवनकी अधोगतिमें कारण बनते हैं। अतः आलस्य, प्रमाद, व्यर्थ-चर्चामें बचकर तत्पर, कर्तव्यपरायण और सत्-चर्चामें जीवन बिताकर मानव-जीवनका सदुपयोग करना चाहिये।

मानवताके आदर्श भगवान् श्रीकृष्ण

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

सहस्रों वर्षोंसे श्रीकृष्ण अखिल भारतवर्षमें मानवताके पूर्णतम आदर्श तथा ईश्वरके पूर्णावताररूपमें पूजे जाते रहे हैं। उनमें मानवता भगवत्ताके शिखरपर पहुँची है और भगवान् मानवके रूपमें उतरे हैं। अपने अत्यन्त व्यावहारिक एवं महिमामय जीवनमें ही उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि वस्तुतः मानवता और भगवत्ताके बीच कोई ऐसी दरार या खाई नहीं है, जो पाटी न जा सके। उन्होंने हमें यह सिखाया है कि भगवत्ता मानवताकी अपरिसीम और शाश्वती पूर्णता है और मानवता देश और कालकी सीमामें भगवत्ताके क्रमिक आत्मप्रकाश एवं आत्माभिव्यक्तिकी अन्यतम भूमिका है। समस्त स्त्री-पुरुषोंके हृदयोंमें भगवत्ताके क्रियाशील बोधको जगाना तथा उनके अंदर अपने चरित्रको उन्नत, अपने दृष्टिविन्दुको विशुद्ध तथा अपनी भावनाओं, इच्छाओं, विचारों, वचनों और क्रियाओंको निर्मल एवं उदात्त बनाने तथा अपने प्रेम और मैत्रीको सार्वभौम रूप देनेके लिये अनवरत व्यवस्थित प्रयत्न करके इस भगवत्ताका साक्षात्कार करनेकी आकाङ्क्षाको जाग्रत् करना श्रीकृष्णके पार्थिव जीवनका पवित्र उद्देश्य रहा, ऐसा प्रतीत होता है। श्रीकृष्णका जीवन और उनके उपदेश हमारी मानवगत गौरव-बुद्धिको सर्वोच्च आध्यात्मिक स्तरपर पहुँचा देते हैं, मानव-जातिकी स्वरूपगत एकताकी भावनासे हमें अनुप्राणित करते हैं और हमारे अंदर भगवत्पूजाके भावसे मानवमात्र एवं जीवमात्रके साथ प्रेम करने और उनकी सेवा करने तथा उनके साथ भीतर-ही-भीतर आध्यात्मिक एकताका अनुभव करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं।

(२)

अपने असाधारण जीवनके प्रारम्भिक कालमें—अपनी वृन्दावन-लीलामें श्रीकृष्ण एक आदर्श क्रीडाप्रिय बालक—सौन्दर्य और माधुर्य, आनन्द एवं प्रेमकी मूर्तिके रूपमें हमारे सामने आते हैं। वे अपनी कमनीयता और माधुर्यसे सबका मन हर लेते हैं और अपने चारों ओर सबको आनन्द प्रदान करते हैं। जहाँ रहकर उन्होंने बाल-विनोद किये, उस सम्पूर्ण भूप्रदेशमें उन्होंने आनन्द और प्रेमका वायुमण्डल उत्पन्न कर दिया। अपनी क्रीड़ामें सहयोग देनेवाले सभी बालक-बालिकाओंके वे आकर्षणके केन्द्र थे। उनका वियोग उन सखाओं एवं सहचरियोंके लिये असह्य होता था। वे आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श सखा, आदर्श प्रेमी, आदर्श क्रीडा-सहचर, आदर्श वेणुवादक थे। अपनी कुमारावस्था और किशोरावस्थामें बाल्योचित एवं कैशोरोचित गुणोंमें वे अनुत्तम थे। उनके ये सब गुण ऐश्वर्यके प्रकाशसे आलोकित थे।

परंतु इस मनोहर एवं कोमल हृदयके सुन्दर बालकमें उस सुकुमार वयमें भी अलौकिक शारीरिक बल और मनोबलका विकास हुआ। वे अपनी सामर्थ्य और साहसका परिचय उन दुष्टों और आततायियोंसे भिड़ने और उनके साथ निपटनेमें देते थे, जो आये दिन व्रजवासियोंके शान्तिमय एवं आनन्दमय वातावरणको दूषित करनेकी दुश्चेष्टा करते थे। शीघ्र ही वे उन समाजद्रोहियोंके लिये, जिनका सुधार असम्भव था, एक विभीषिका बन गये। इन अशुभ शक्तियोंका सामना करते समय ही उनका अतिमानुष पराक्रम कभी-कभी प्रकट हो जाया करता था। परंतु वे जो कुछ भी करते थे, क्रीडाकी भावनासे ही करते थे। अपने सखाओं एवं सहचरों, प्रेमियों तथा प्रशंसकोंको वे सदा ही स्नेही और क्रीडाशील कुमारके रूपमें दृष्टिगोचर होते थे और अपनी माताके सामने वे सर्वदा एक निर्दोष और भोले-भाले शिशुके रूपमें प्रकट रहते थे। समय-समयपर होनेवाले उनके पराक्रम और साहसपूर्ण महिमामय कार्य उनके माता-पिताकी बुद्धिमें कभी महत्त्वपूर्ण न हो सके।

भोले-भाले ग्रामीण लोगोंके मध्य व्यतीत हुए उनके इस बाल्यकालमें सामाजिक एवं धार्मिक सुधारकी वृत्ति भी उनके अंदर बहुधा जाग उठती थी। उन्होंने अपने पुत्र-वत्सल माता-पिता एवं अन्य गुरुजनोंसे कतिपय प्राचीन परम्परागत क्रिया-कलापों एवं समारोहोंको बंद करके उनके स्थानपर नयी प्रथाओंको चालू करनेकी प्रेमपूर्ण सलाह दी, जो उनकी अपेक्षा व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिसे अधिक कामकी एवं उत्कर्षापादक थीं। उन्होंने धीरे-धीरे और प्रायः अलक्षित रूपसे उन बहुसंख्यक तेजस्वी एवं ऐश्वर्यशाली वैदिक देवताओंका महत्त्व कम कर दिया, जो आपाततः मानव आराधकों और अद्वितीय परमेश्वरके बीचमें एक मध्यवर्तीका

स्थान ग्रहण करके उनसे पूजा प्राप्त करते थे और उसके बदलेमें उन्हें जगत्का संचालन करनेवाली शक्तियोंके शाश्वत बन्धनमें जकड़े रहते थे। ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण उन अद्वितीय परमेश्वरको—समस्त ईश्वरों, मानवों एवं जीवमात्रके परम महेश्वरको नीचे उतारकर सामान्य मानवीय ज्ञानके सम्मुख ले आये और जगत्को उन परतम पुरुषोत्तम और नीचातिनीच मानव उपासकोंके बीच परम अव्यवहित एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेका मार्ग दिखला गये। इस प्रारम्भिक बाल्यकालमें ही तथा सरलतम एवं परम निष्कपट स्त्री-पुरुषों एवं बालक-बालिकाओंके मध्यमें रहकर ही श्रीकृष्ण-ने अपने प्रेम एवं भक्तिमय धर्मकी नींव डाली, जिसका उन्होंने जीवनभर अपने सम्पूर्ण बहुविध कार्य-कलापोंको करते हुए प्रचार किया। अपनी लीलामय पद्धतिसे ही वे एक आपाततः क्रान्तिकारी धर्मगुरु बन गये और उन्होंने जगत्को यह शिक्षा दी कि भगवान्के प्रति विशुद्ध एवं सरल मानवोचित प्रेमकी तीव्र साधनाके द्वारा तथा किसी प्रकारके लंबे-चौड़े क्रिया-कलापों, नियमित योग-साधनाओं तथा उच्च कुल एवं विद्या आदि अधिकारोंके बिना ही कोई भी पुरुष अथवा नारी उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरके साथ आनन्दमय योग स्थापित कर सकती है। उन्होंने लोगोंको यह शिक्षा दी कि भगवान् उनसे हृदयके विशुद्ध एवं विजातीयभाव-शून्य प्रेमके सिवा कुछ नहीं चाहते और उनका हृदय स्वयं हमारे प्रति प्रेमसे लबा-लब भरा है। निम्न जातियोंके साधारण मनुष्योंकी धार्मिक उन्नतिके लिये उन्होंने विद्वान् ब्राह्मण पुरोहितोंके माध्यमकी आवश्यकताको बहुत कम कर दिया।

(३)

महाभारत और विविध पुराण, जिनमें श्रीकृष्णका चरित्र वर्णित है, इस बातके साक्षी हैं कि वे लंबी आयु-तक इस भूमण्डलमें विराजमान रहे तथा उनके बहुसंख्यक पुत्र और पौत्र हुए। वे अपने युगके एक आदर्श गृहस्थ थे। परंतु उनके शरीर अथवा मनमें कभी कोई वार्धक्यका चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वे नित्य युवा, नित्य नवीन, नित्य क्रीडाप्रिय, नित्य आह्लादमय, नित्य कार्यक्षम और नित्य अनासक्त थे। जीवनभर उन्होंने लाखों-करोड़ों मनुष्यों-के हितसे सम्बन्ध रखनेवाली विविध प्रकारकी जटिल-से-जटिल गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न किया; परंतु ऐसा लगता है कि वे सर्वदा सब प्रकारकी समस्याओंसे ऊपर उठे रहते थे, उनका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उनके चित्तकी शान्ति और स्थिरता कभी भङ्ग नहीं होती थी और उनका क्रीडात्मक भाव सदा अक्षुण्ण बना रहता था। उन्हें कभी थकान एवं क्लान्तिका बोध नहीं होता था। वे कभी भयभीत एवं निरुत्साह नहीं होते थे। वे असफलताओंके सामने कभी झुकते नहीं थे और सफलताओंपर कभी फूलते न थे। जटिल-से-जटिल प्रापञ्चिक व्यवहारोंके साथ मानो वे सदा खिलवाड़ किया करते थे तथा अपनी आभ्यन्तर चेतनाको शाश्वत निर्वृति एवं शान्तिके आनन्दमय राज्यमें स्थिर रखते थे। जीवनकी इस अद्भुत कलाका निदर्शन उनके महत्त्वपूर्ण चरित्रमें हमें प्राप्त होता है। योगके इस नवीन आदर्शकी शिक्षा उन्होंने अपने उदाहरणके द्वारा लोगोंको दी। योग-साधनको उन्होंने गिरि-गह्वरों और गहन वनप्रान्तरोंके विविक्त वातावरणसे निकालकर प्रचण्ड क्रियाशीलताके खुले मैदानों-में, कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रोंमें यहाँतक कि घोर रणभूमिमें प्रतिष्ठित किया। उन्होंने जगत्को दिखला दिया कि लोग किस प्रकार समाज और जातिकी क्रियात्मक सेवा करते हुए भी योगी बन सकते हैं, इस कर्मयोगके साधनसे मनुष्य अपने पार्थिव जीवनके अन्ततक तरुणों-जैसी स्फूर्ति एवं क्रीडात्मक भावको बनाये रह सकता है और प्रापञ्चिक जीवनमें अत्यन्त श्रमावह कार्य करते रहनेपर भी अन्तःकरणमें पूर्ण शान्ति, स्थिरता, उदासीनता एवं निर्भयता-का अनुभव कर सकता है। जैसा कि श्रीकृष्णने गीतामें हमें बताया है, इस योगकी कुंजी है—मनको अहंकारसे तथा अहंके द्वारा प्रेरित इच्छाओं और अभीप्साओंसे मुक्त कर देना एवं ईश्वरके द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्योंका, उन्हींके रचे हुए प्रपञ्च-में रहते हुए उन्हींकी दी हुई शक्तियों और साधनों-से उन्हींके प्रति प्रेम एवं भक्तिके भावसे तथा उन्हींसे उत्पन्न हुए जीवोंके प्रति सहानुभूति एवं बन्धुत्वकी भावनासे पालन करना और सम्पूर्ण कर्मफलको उन्हींकी इच्छापर छोड़ देना है। प्रेम और दयासे प्रेरित होकर मानव-बन्धुओं एवं भगवान्की सृष्टिके इतर जीवोंकी शरीर और मनसे की गयी क्रियात्मक सेवाका योगके साथ कोई विरोध नहीं है; प्रत्युत अहंकार एवं अहंके द्वारा प्रेरित इच्छाएँ और अभीप्साएँ ही अशान्ति और बन्धन, भय और दुःखका मूल हैं और वे ही योग-मार्गके कण्टक हैं। श्रीकृष्ण कर्ममय जीवनके बीच एक आदर्श महायोगी थे।

(४)

महाभारत एवं पुराणोंमें जो श्रीकृष्णका वर्णन मिलता है,

उसके अनुसार वे एक आदर्श योगी, आदर्श वीर, आदर्श आध्यात्मिक नेता, आदर्श दार्शनिक, आदर्श राष्ट्रनिर्माता, आदर्श शान्तिप्रेमी, आदर्श योद्धा, विश्वजनीन प्रेम एवं दयाके मूर्तिमान् आदर्श, अत्याचारियों, मनुष्यद्रोहियों एवं हृदयहीन सैनिक-शक्तियोंके आदर्श निग्रहीता, मानवजातिकी एकता एवं बन्धुत्वके आदर्श समर्थक तथा मानव-समाजके अंदर अनैक्य एवं अव्यवस्थाका पोषण करनेवाली विद्रोही शक्तियोंके आदर्श उच्छेदक थे। उनमें असाधारण शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक दिव्य शक्तियाँ थीं; जो बहुधा अतिमानुष प्रतीत होती थीं; तथा उनका व्यावहारिक जीवन सभी वर्गोंके लोगोंके प्रति एक दिव्य कर्तव्यबुद्धि तथा नैतिक दायित्वकी भावनासे प्रेरित था।

आध्यात्मिक दृष्टिसे वे सभी वर्गोंके लोगों—मानव-जातिके सभी विभागोंको भगवान्के विविध आत्मप्रकाशोंके रूपमें देखते थे और उनके मनमें उन सबके प्रति आदर-बुद्धि थी। नैतिक दृष्टिसे वे ऐसा अनुभव करते थे कि अपनी शक्ति एवं साधनोंके अनुरूप भिन्न-भिन्न वर्गोंके लोगोंकी उनकी आवश्यकताओंके अनुसार यथायोग्य सेवा करना उनका कर्तव्य है। उनकी असाधारण योग्यता एवं सामर्थ्यके कारण उनके कार्यक्षेत्रकी सीमामें धीरे-धीरे समूचा भारतवर्ष आ गया, यद्यपि उनमें न तो आत्मोत्कर्षकी भावना थी, न राजा या सम्राट् बननेकी आकाङ्क्षा थी और न देशमें सैनिक राजनीतिक अथवा आध्यात्मिक ऐकाधिपत्य या अधिनायकत्व प्राप्त करनेकी ही मनमें कोई अभिसंधि थी। ऊँच और नीच, धनी और निर्धन, सबल और निर्बल, भले और बुरे, शासक और शासित—सभी प्रकारके लोगोंके साथ अपने सब प्रकारके व्यवहारोंमें वे जीवमात्रकी शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिका तथा उनमें मानवके प्रति गौरव-बुद्धि एवं उत्तरदायित्वकी क्रियाशील भावना जाग्रत् करनेका उद्देश्य लिये हुए अपनेको उन सबका सेवक मानते थे, ऐसा प्रतीत होता था। विभिन्न स्थितियों, विभिन्न मनोवृत्तियों तथा नीति-अनीतिके विषयमें विभिन्न भावना रखनेवाले लोगोंके प्रति वे स्वभावतः विभिन्न रीतिका व्यवहार करते थे। यद्यपि उनकी किसीके प्रति शत्रुभावना नहीं थी, फिर भी देशके अधिकांश स्वायत्त शासक, सामरिक बलका प्रयोग करनेवाले अधिकांश साहसी वीर तथा बहुत-से उच्च जातिके विचक्षण पुरुष जो निर्बल, अज्ञानी एवं निम्न वर्गके सर्व-साधारण लोगोंपर प्रभुत्व जमाकर अपना उल्लू सीधा कर रहे थे—इन्हें अपना सबका शत्रु मानते थे और इनके उद्देश्यमें बाधा डालनेकी चेष्टा करते थे। ये उनके लिये एक विभीषिका बन गये, जब कि इस विशाल देशके सभी भागोंमें रहनेवाले पीड़ित, निगृहीत एवं निम्नातिनिम्न वर्गके स्त्री-पुरुष इन्हें अपना उद्धारक एवं हृदयवल्लभ मानते थे।

(५)

श्रीकृष्णके पार्थिव जीवनकी सर्वविदित आकाङ्क्षा मानव-जगत्में प्रेमका साम्राज्य स्थापित करने, मनुष्योंमें परस्पर भेदकी मात्राको कम-से-कम कर देने और सामान्य मानवी बुद्धिको आध्यात्मिक स्तरपर ले आनेकी थी। उनका यह निश्चय था कि विभिन्न व्यक्तियों तथा मानव-जातिके विभिन्न वर्गोंके बीच बाह्य भेद तो सदा अनिवार्य रूपसे रहेंगे; क्योंकि सृष्टिकी रचना ही वैषम्यको लेकर हुई है। जिस प्रकार लोगोंके शारीरिक सामर्थ्य, मनोगत स्वभाव तथा मेधाशक्तिमें समानता और पूर्ण सादृश्यकी आशा कदापि नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सब प्रकारके लोगोंमें अर्थ, शक्ति, विद्या, सम्मान, अधिकार एवं प्रतिष्ठाको लेकर भी समानताकी आशा नहीं की जा सकती। आर्थिक साम्य एक स्वप्न-मात्र है, उससे अधिक कुछ नहीं; और मानवीय मनसे ममत्व-बुद्धि भी सर्वथा दूर नहीं की जा सकती। बाह्य भेदोंका रहना तो अनिवार्य है, परंतु एकमात्र प्रेम-शक्ति ही इन सारी विषमताओंपर पूर्ण विजय प्राप्तकर इन्हें पचा सकती है। प्रेमके नेत्रोंसे देखनेपर सभी बाह्य भेद तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। प्रेम सारी विषमताओंको समरूप बना देता है तथा उन सबके साथ बन्धुत्वका भाव उत्पन्न कर देता है, जो निम्न कोटिके हैं, उच्च कोटिके हैं, देखनेमें प्रतिद्वन्द्वी हैं और आपाततः शत्रु हैं। प्रेम सारे द्वेष, सारे भय, सारे दर्प एवं सारे विषादपर विजय पा लेता है।

प्रेमका आत्माभिव्यञ्जन स्वाभाविक ढंगसे सेवा और त्यागके रूपमें होता है। उसे ग्रहण करनेकी अपेक्षा देनेमें, दूसरोंसे सेवा लेनेकी अपेक्षा उनके लिये उपयोगी बननेमें, दूसरोंका सुख छीनकर सुखोपभोग करनेकी अपेक्षा उन्हें सुखी बनानेके लिये कष्ट और अभावका त्रास सहन करनेमें अधिक प्रसन्नता होती है। जिसके हृदयमें प्रेम है, उसके लिये ऐसे समयमें, जब दूसरे लोग कष्ट पा रहे हों, धन बटोरना जघन्य अपराध और पाप है। जिस समाजकी रचना प्रेमके सिद्धान्तपर हुई है, उसमें अर्थ एवं सुख-सुविधामय जीवनके साधनोंका

उचित विभाजन स्वभावतः होता है। ऐसे समाजमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपनी शक्ति और सामर्थ्यभर अपने साथियोंके सुख एवं कल्याणमें अपने आन्तरिक संतोष, अपनी व्यावहारिक आत्मसिद्धि-चरितार्थताके लिये योगदान करता है। श्रीकृष्ण-का ध्येय था भारतमें ऐसी उदात्त एवं सुसंस्कृत सामाजिक व्यवस्थाका प्रतिष्ठापन। उन्होंने समाजके सभी स्तरोंके लोगोंको वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवनके क्रियाशील मूल सिद्धान्तके रूपमें विश्व-प्रेमके इस आदर्शसे अनुप्राणित करने और फलतः मनुष्य-जातिमें सच्ची समता, बन्धुत्व तथा एकताकी प्रतिष्ठा करनेका क्रियात्मक प्रयत्न किया। उनके विविध सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक—यहाँतक कि सामरिक क्रिया-कलाप भी अन्ततोगत्वा इस आदर्शकी चरितार्थताके उद्देश्यसे होते थे।

(६)

श्रीकृष्ण प्रेमके साकार विग्रह थे और अपने व्यावहारिक जीवनमें वे शक्ति, अध्यवसाय एवं उपाय-चातुरीके भी मूर्तिमान् स्वरूप थे। उनका यह दृढ़ निश्चय था कि प्रेममें ही उन सभी पेचीली गुत्थियोंको सुलझानेका रहस्य छिपा हुआ है, जो मनुष्य-जातिको विरोधी दलोंमें विभक्त करके मानवीय प्रकृतिको विभिन्न प्रकारसे अधोगामिनी बना देती हैं। वे सभी वर्गोंके लोगोंके मनों और हृदयोंमें विश्वप्रेमके मन्त्रको फूँकने और इस महान् आदर्शकी चरितार्थताके मार्गमें आने-वाली समस्त विघ्न-बाधाओंको दूर करनेपर कटिबद्ध थे। उन्होंने देखा कि उन साधारण, निष्कपट, सीधा-सादा जीवन बितानेवाले नर-नारियोंके मनों और हृदयोंको मानव-जीवनके इस उच्चतम आदर्शसे अनुप्राणित करना कहीं अधिक सुकर है, जो बहुधा बड़े अधिक बलशाली एवं अधिक चतुर लोगोंकी निर्दयता एवं स्वार्थपरायणताके शिकार होते हैं, जब कि उन बड़े, अधिक शक्तिशाली एवं अधिक बुद्धिमान् लोगोंके सुधार न चाहनेवाले और चतुराईका मुलम्मा चढ़ाये हुए मनोंमें इस आदर्शको फूँकना अनन्तगुना अधिक दुस्साध्य है, जो पार्थिव शक्ति एवं सम्पत्तिके पुजारी और स्वार्थमूलक कामनाओं और अभीप्साओंके दास हैं तथा जो अपनी अतिशायिनी बुद्धि, सामरिक बल एवं संघटन-शक्तिके जोरसे नयी-नयी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याएँ खड़ी करके मानव-मानवमें, जाति-जातिमें तथा वर्ग-वर्गमें रहनेवाले बाह्य भेदोंसे लाभ उठाकर तथा उन्हें तूल देकर व्यवस्थित ढंगसे अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

मानव-समाजके नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तरको ऊपर उठानेके अपने उत्साहपूर्ण प्रयत्नमें लगे रहकर उन्होंने अनुभव किया कि बाह्य दृष्टिसे राज्योंपर शासन और सर्व-साधारणके पार्थिव भाग्यचक्रका संचालन करनेवाले लोग उन साधारण लोगोंकी अपेक्षा, जिनपर वे शासन करते हैं, मानवतासे बहुत अधिक गिरे हुए हैं। जैसा कि कदाचित् सभी युगोंमें होता है, उस युगमें श्रीकृष्णके लिये यह एक बड़ी पहेली बन गयी कि शासकों तथा जननायकोंको मानव कैसे बनाया जाय। उन्होंने अनुभव किया कि प्रेम मानव-प्रकृतिमें अनुस्यूत है, वह मानव-आत्माका स्वरूपभूत गुण है, वह प्रत्येक सामान्य नर-नारी एवं बालककी अन्तरतम प्रकृतिमें निहित ईश्वरीय तत्त्व है। जहाँ प्रेमपर घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा और शत्रुता अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं, जहाँ अस्तित्व एवं प्रभुत्वके लिये संघर्ष तथा सबसे बलवान् और सबसे चतुरकी प्राणरक्षा वैयक्तिक एवं जातिगत जीवनके नियम बन जाते हैं, जहाँ सेवा और उत्सर्गका भाव आत्मोत्कर्षकी भावना तथा स्वार्थपूर्ण बुद्धि एवं स्वार्थप्रेरित कामनाओंकी अपेक्षा गौण हो जाता है, वहाँ श्रीकृष्णके मतसे मनुष्य-जाति मनुष्यतासे गिर जाती है। जब मनुष्यके पारस्परिक सम्बन्धोंमें पशु-जगत्के नियमोंको प्रधानता दे दी जाती है, तब मनुष्य अपना स्वरूप खो बैठता है और अपनेको गिराकर पशुकी श्रेणीमें ले आता है। पार्थिव सफलतापर फूले हुए तथा उसके नशेमें चूर धनिक एवं सत्ताधारी वर्ग और विशेषकर एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या एवं शत्रुताका भाव रखनेवाले समरप्रिय नरेश मानव-जातिको मानवतासे गिरानेमें हेतु होते हैं।

(७)

अपने विश्वप्रेमके सिद्धान्त (और मानवजातिकी निस्स्वार्थ सेवामें उसके क्रियात्मक प्रयोग) को तथा व्यावहारिक जीवनमें योगकी शिक्षाको सभी देशों एवं युगोंके तथा सभी वर्गोंके सदाशय लोगोंके हृदय एवं बुद्धिके लिये रुचिकर एवं आकर्षक बनानेके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने अतिशय बुद्धि-गम्य, असाम्प्रदायिक तथा स्वमताग्रहशून्य ढंगसे उसका स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादन किया और उसे सुदृढ़ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक आधारपर प्रतिष्ठापित किया। मनुष्यके मनमें लौकिक प्रवृत्तियों, कामनाओं एवं आसक्तियोंकी आपाततः प्रधानता रहनेपर भी भगवत्कृपासे उसमें पारमार्थिक कल्याण एवं सुखकी आकाङ्क्षा अत्यन्त गहरी जड़ पकड़े हुए है। पार्थिव भोगोंके प्रति उसका सम्पूर्ण राग रहते हुए भी प्रत्येक

मनुष्य यत्किंचित् पुण्यका अर्जन करना चाहता है, जिससे वह मृत्युके बाद शाश्वत शान्ति एवं आनन्दका उपभोग कर सके। इसलिये प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह कितना ही संसारासक्त क्यों न हो, किसी-न-किसी मतवादको अवश्य स्वीकार करता है और किसी-न-किसी धार्मिक आचारको अपनाता है।

एक महान् धर्माचार्यके रूपमें श्रीकृष्णने बतलाया कि सर्वोच्च आध्यात्मिक महत्त्व रखनेवाले सच्चे धर्मका स्वरूप इतना ही नहीं है कि किसी धार्मिक विधि-विधानमें विश्वास-मात्र किया जाय अथवा कतिपय शास्त्रोक्त नियमों एवं आचारोंका पालन किया जाय अथवा कतिपय क्रियाकलापों एवं विधियोंका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान किया जाय अथवा किन्हीं विशेष प्रकारकी भावनाओं एवं मनोगत भावोंका आश्रय लिया जाय अथवा सम्पूर्ण जागतिक व्यवहारोंका त्याग करके गिरिगह्वरों एवं वनोंमें किन्हीं निर्दिष्ट योग-साधनोंका अभ्यास किया जाय। इन सब बातोंसे सच्चे एवं सार्वभौम धर्मकी ओर बढ़नेमें ठोस सहायता अवश्य प्राप्त हो सकती है—यदि किसी मतवाद या आचारके प्रति अनुचित एवं अनन्य रागके कारण हमारे मनमें दुराग्रह एवं धर्मान्धता न आ गयी हो और फलतः हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण न हो गया हो।

उनकी शिक्षाके अनुसार यथार्थ धर्मका स्वरूप यह है कि जीवन और जगत्के प्रति हमारी दृष्टि सर्वथा चिन्मय और सार्वभौम बन जाय; जीव और जगत्के सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी अनुभूति हो और समस्त विचार, भावनाएँ एवं क्रियाएँ उक्त दृष्टिकोणके अनुसार नियन्त्रित हों। भगवान् अपनी अपरिच्छिन्न सत्ता, अपना असीम ज्ञान और विवेक, अपना अनन्त प्रेम और सौजन्य, अपना अपरिसीम सौन्दर्य और आनन्द, अपनी अनन्त शक्ति और प्रभाव इस गौरवमय विश्वमें अनन्त प्रकारके रूपोंमें व्यक्त कर रहे हैं। वे विश्वात्मा हैं और इस विश्वके सम्पूर्ण भाव-पदार्थोंमें आत्म-प्रकाश कर रहे हैं। वे प्रत्येक मानव-देहमें एवं प्रत्येक सजीव प्राणीमें निवास करनेवाले आत्मा हैं। हम सब भगवान्में हैं और भगवान् हम सबमें हैं। हम सब भगवान्के अंदर जुड़े हुए हैं—एक हैं और यही सच्ची एकता है। हमारे सारे भेद अवास्तविक हैं, प्रातिभासिक हैं और विभिन्न रूपोंमें उनका लीलामय आत्मप्रकाश ही इन सबका कारण है। सच्चे धर्मकी साधनाका स्वरूप है—इस आध्यात्मिक दृष्टिकोणका अभ्यास करना, अपने आत्मामें तथा जगत्के समस्त भूतोंमें परमात्माको देखनेकी लगनके साथ चेष्टा करना, सम्पूर्ण घटनाओंमें उनकी लीलाका दर्शन करना तथा उनके सभी स्वरूपोंमें उनके साथ प्रेम करना, उनकी सेवा करना और उनकी उपासना करना।

(८)

साधारण जनताके तथा विशेषकर लोकनायकों तथा प्रजा-शासकोंके मनोंमें क्रियाशील भगवदनुभूति जाग्रत् किये बिना मानव-समाजमें प्रेम-राज्यकी सुदृढ़ स्थापना सम्भव नहीं और उसके बिना मानव-जातिके विभिन्न भागोंमें न तो सच्ची शान्तिके दर्शन हो सकते हैं और न सच्ची एकता और बन्धुत्व ही प्रकट हो सकते हैं, न संकल्पपूर्वक तथा बिना विचारे—आवेशमें आकर किये गये संग्राम ही बंद हो सकते हैं और न एक दूसरेसे स्वार्थ सिद्ध करने तथा एक दूसरेको सतानेके हिंसापूर्ण अथवा सौम्य प्रयत्न ही बंद होंगे। जनतामें भीतरसे आध्यात्मिक जागृति हुए बिना स्वाधीनता, न्याय, एकता, समानता एवं बन्धुत्व आदि सदा चतुर एवं स्वार्थी गुटोंके थोथे नारे अथवा दलगत घोषमात्र बने रहते हैं। सम्पूर्ण राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओंका—जो सदा जनताके क्षुद्र पार्थिव हितोंके भेद तथा संघर्षसे तथा उनकी संकीर्ण, पूर्वाग्रहयुक्त एवं नीच मनोवृत्तिसे उत्पन्न होती हैं—समाधान यही है कि जनताके नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तरको ऊँचा उठाया जाय तथा लोगोंके अंदर भगवद्विषयक अनुभूति जाग्रत् की जाय, जो उन सबकी आभ्यन्तर स्वरूपभूत प्रकृतिमें निहित है।

श्रीकृष्ण सदा वही बात लोगोंसे कहते थे, जिसे वे स्वयं अनुभव करते तथा जिसका वे आचरण करते थे; और वे दूसरोंसे जो कुछ कहते थे, उसकी गहरी अनुभूति उन्हें होती थी और उसका अपने जीवनमें तत्परतापूर्वक आचरण करते थे। अतः उनके उपदेशोंमें अदम्य बल होता था। वे स्वयं भगवदनुभूतिसे पूर्ण रहते थे; वे सदा ब्रह्मभावमें स्थित रहते थे; वे जीवमात्रको एक अद्वितीय परमात्माके ही बाहरसे भिन्न प्रतीत होनेवाले स्वरूप मानकर उनसे प्रेम एवं उनकी सेवा करते थे; वे अपने प्रबुद्ध नेत्रोंसे उन्हीं अद्वितीय परमात्माको जीवमात्रके आत्मारूपसे प्रकाशित देखते थे और विश्वकी सभी घटनाओंमें उन्हीं एककी लीलाका आनन्द लेते थे; उनका मनुष्य मात्रकी स्वरूपगत पवित्रता और सौन्दर्य,

सौजन्य एवं सौहार्दमें अमर विश्वास था—चाहे वे बाहरसे कितने ही भ्रष्टचरित्र क्यों न दीखते हों; उनके चित्तकी शान्ति, निर्वृति और उल्लासमें किसी भी कारणसे क्षोभ नहीं हो पाता था। यद्यपि अनेकों लोग ऐसे थे जो देखनेमें उनके तथा उनके जीवनोद्देश्यके विरोधी प्रतीत होते थे और कइयोंके साथ उन्हें भी बाह्य परिस्थितिसे बाध्य होकर आपाततः शत्रु-का-सा व्यवहार करना पड़ता था, फिर भी उनका सबके प्रति गाढ़ एकात्मभाव था; उनका प्रेम और सहानुभूति सबके प्रति अतिशय क्रियात्मक थे, संवेदनात्मक अथवा निरे भावुकतापूर्ण नहीं थे। सबके लिये उनके उपदेशोंका भी यही सार था। वे अपनी गम्भीर एवं लीलामय शैलीसे भी सभी वर्गोंके नर-नारियोंके चित्तमें इस प्रकारके भगवद्भावको जाग्रत् करने तथा आध्यात्मिक भावको विकसित करनेके लिये सब प्रकारके शक्य उपायोंका आश्रय लेते थे। अपने मित्रों, अनुमोदकों तथा अनुयायियोंके प्रेमपूर्ण सहयोगसे उन्होंने मनुष्यों-मनुष्यों, समुदायों-समुदायों, जातियों-जातियों, गोत्रों-गोत्रों तथा वर्णों-वर्णोंके बीच तथा शासक-शासितों, बलियों एवं निर्बलोंके बीच सब प्रकारकी मनुष्यकृत सीमाओंको मिटाने तथा उनके बीच प्रेम और सौहार्दका मधुर सम्बन्ध स्थापित करनेका अथक प्रयत्न किया था।

मानवता

(रचयिता—श्रीग० ना० बोधनकरजी)

[दोहा]

विश्व-मुकुरमें ईशका, मानवता प्रतिबिम्ब।
मानवतामय मनुज ही, ईश-मूर्ति-प्रतिबिम्ब॥
मानवता अनमोल है, आर्यधर्मका सार।
मानव मानवता बिना, दानव अधम असार॥
मानवता हित हरि स्वयं, धरते नर-अवतार।
रखते धर्म, अधर्म हर, हरते भू-दुख भार॥
धर्मरूप ऋत सत्य हैं,[1] अखिल विश्व-आधार।
मानवता बन कर किया, नर वसुदेवागार[2]॥
मानवता पय-सिन्धुका, त्याग विमल मधु क्षीर।
दया प्रेम द्दग दिव्य दो, नरके प्राज्ञ सुधीर॥
मानवता नरका सुकर, स्वर्गधाम-सोपान।
मानवतामृत मर्त्यको, करता नित यश दान॥
मानवता हरिचंद बन, बेचे प्रिया सुपूत।
व्रत असिधारा सत्यका, निभा, किया कुल पूत॥
मानवता नररूप धर, प्रकटी बन रघुनाथ।
तज सिंहासन धर्मवर, रखते दीनानाथ॥
मानवता यदुनाथकी, सुहृद सुदामा दीन।
पूजा, दी निजपाद-रति, किया आत्म-पद-लीन॥
मानवता ईसा भई, ईश-पुत्र साकार।
क्षमा शांति सत्कर्म रति, विश्वप्रेम-आगार॥
मानवता भू पर बनी, एकनाथ हरिदास।
सुरसरि-जल रामेशका, दे खर[3] मेटी प्यास॥

मानवता शिवराजकी, पर-तिय मात प्रमान।
देश-धर्म-गो-संतजन, माने प्राण समान॥
मानवता मनमोहनी, मोहनदास महान।
सत्य-अहिंसा-दुन्दुभी, खरसे भरी जहान॥
मानवता परमेशकी, मानव-मंडन देन।
आत्मशत्रु मानव उसे, अपमानत दिन रैन॥
मानव संख्या बढ़ रही, जगमें नित्य विशेष।
क्षण-क्षण मानवता घटै, कर सब सुख निःशेष॥
मानव मानवता बिना, सौरभ विरहित कंज।
कान्त सुधाकर-कान्ति बिन, सोह न तारक-पुंज॥
दारुण दानवता-दलित, मानवता है आज।
हिंसा ममता लोभ मद, नचत नग्न कुसमाज॥
विश्वविजय-व्यामोहसे, हो विज्ञानी भ्रस्त।
करते अणुबम आदिसे सब जगको संत्रस्त॥
मानवता गुणसे रहित मानव असुर समान।
सबका अनभल कर रहा आज उसे हित जान॥
मानवता बलके धनी नहीं आत्मबल-हीन।
मानवतासे रहित, ज्यों सुंदर तन असुहीन॥
मानव मानव बन, बने भव-जलनिधिका सेतु।
अग जगका मंगल करे हो शुचि सुखमें हेतु॥
भौतिक-वैभव-भ्रान्त अति, शाश्वत-सुख-पथ-भ्रष्ट।
प्रभु! मत होने दो उसे, करो सत्य हित-निष्ठ॥

---

[1] ऋग्वेद। [2] श्रीमद्भागवत। [3] संतशिरोमणि श्रीएकनाथ श्रीरामेश्वरको चढ़ानेके लिये काँवड़में गङ्गाजल ले जा रहे थे। मार्गमें उन्होंने एक तृषाकुलित गदहेको देखा तो उसे वह सारा गङ्गाजल पिला दिया।

ऋग्वेद और राजन्य

(लेखक—पं० श्रीसनगोविन्दजी त्रिवेदी)

ऋग्वेदमें सुदास, दिवोदास, पृथुश्रवा, शर्यात, सुश्रवा, मान्धाता, स्वनय, तृक्षि, भरतगण, शंतनु, इक्ष्वाकु, नहुष, ययाति, दुष्यन्त-भरत, पक्थ, पुरूरवा, यदु, तुर्वसु, ऋजिश्वान, तुग्र, कुत्स, पुरुकुत्स, पुरुमित्र, अन्तक, त्रसदस्यु, नहुष, पृथि, पृथु, आयु, श्रुतरथ, मनु, अनु, द्रुह्यु, पेदु, सोमक, अभ्यावर्ती, अतङ्ग, कशु, वेन, वश, राम आदि आदि राजाओंका उल्लेख पाया जाता है। इनका सूक्ष्मतम विवरण जो उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि ये विजेता, प्रतापी, प्रजावत्सल, दानी और धर्मनिष्ठ थे। ये विजय-यात्रा किया करते थे (१०। ३८-६)। ये प्रजाके हितके लिये संनद्ध रहते थे (१। ७०-२)। बड़े-बड़े राज्योंके अधिपति थे (९। ११०। २)। ये अमात्योंके साथ गजारूढ़ होकर यात्रा करते थे (४। ४। १)। इनके राजद्वारोंपर वेत्र-धारी द्वारपाल रहते थे (२। १२। ९)। दरबारोंमें 'सत्यासे हँसानेवाले' विदूषक थे (१। १४१। ७; ९। ११२। ४)। इनके निष्क नामके सोनेके सिक्के चलते थे (१। १२६। २)। प्रजाके मतसे राज्य-व्यवस्था चलती थी (१०। १३३। ६)। समस्त कर्मचारी वेतन पाते थे (८। ५५। ११; ९। ९७। ३८; ३। १०३। १)।

इन्हीं ऋग्वेदीय राजाओंके संक्षिप्त विवरणोंका विशद व्याख्यान रामायण, महाभारत, पुराणों और संस्कृत-साहित्यके अनेकानेक ग्रन्थोंमें किया गया है। परंतु जो लोग वेदोंको नित्य मानते हैं, वे वेदोंमें आये नामोंको ऐतिहासिक और भौगोलिक न मानकर यौगिक अर्थमें लेते हैं। वे तो वसिष्ठ, भरद्वाज और विश्वामित्र तकका अस्तित्व नहीं मानते और वसिष्ठका अर्थ प्राण, भरद्वाजका अर्थ मन और विश्वामित्रका अर्थ कान करते हैं। वैदिक शब्दकोष 'निघण्टु' के टीकाकार यास्कने भी अपने 'निरुक्त' में यौगिक अर्थ किये हैं। तुलसीदासजीकी रामायणकी चौपाइयोंके जो आजकल तरह-तरहके अर्थ किये जाते हैं, वैसे ही यास्कने भी एक-एक शब्दके अनेकानेक अर्थ किये हैं। यास्कने 'इन्द्र' शब्द-की व्युत्पत्ति पंद्रह प्रकारसे की है और इन्द्र-वृत्रासुर-युद्धतक-का अस्तित्व उड़ा दिया है। उनका मत है कि वेदोंमें इन्द्र-वृत्र-युद्धके बहाने वैज्ञानिक वर्षाका वर्णन है। वे वृत्रका अर्थ मेघ और इन्द्रका विद्युत् करते हैं। अश्विनीकुमारके चार अर्थ यास्कने किये हैं—स्वर्ग-मर्त्यलोक, दिन-रात, सूर्य-चन्द्र और दो धर्मात्मा।

परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक ऋषियोंके ध्यानमें ये सभी परस्पर-विरुद्ध अर्थ रहे हैं। किसी भी लेखक या ग्रन्थ-कर्ताका एक लक्ष्य या एक उद्देश्य रहता है, जिसे ध्यानमें रखकर वह रचना करने बैठता है। एक ही उद्देश्य और एक ही व्याख्याको लेकर बादरायणने ब्रह्मसूत्रकी रचना की होगी—चाहे वे अद्वैतवादी हों, विशिष्टाद्वैतवादी हों, विशुद्धाद्वैतवादी हों, द्वैतवादी हों या द्वैताद्वैतवादी हों। यह नहीं कहा जा सकता कि सरल और सात्त्विक ऋषियोंको संसारको भ्रममें डालनेके लिये अनेक व्याख्याएँ अभीष्ट रही होंगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऋषियोंने हजारों वैदिक शब्दोंको श्लेषालंकारका जामा पहनाया होगा।

बात यह है कि यास्कके पहले वेदार्थ करनेका एक क्रम था, एक परम्परा थी। यास्कके समय यह परम्परा टूट गयी थी। यही कारण है कि वेदार्थ करनेमें मनमानी खींचा-तानी की जाने लगी। तो भी यास्कने भी निरुक्तके पाँच-छः स्थानोंमें 'तत्रेतिहासमाचक्षते' लिखकर वेदमें इतिहास माना है। उन्होंने शंतनु, देवापि, इपितसेन आदिका उल्लेख महाभारतके इतिहासके अनुसार ही किया है। (निरुक्त २। ४) उन्होंने पिजवन-पुत्र सुदास और कुशिक-नन्दन विश्वामित्रका भी विवरण दिया है। उन्होंने 'संतपन्ति मान्' मन्त्रकी व्याख्यामें स्पष्ट ही त्रित ऋषिका इतिहास लिखकर स्वीकार किया है कि 'इतिहाससे युक्त वेद है।' परम्परा-प्राप्त अर्थके अनुसार ऋग्वेदके प्राचीन भाष्यकार स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव, आनन्दतीर्थ तथा सायणाचार्यने मन्त्रोंका इतिहासपरक अर्थ किया है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदिने भी वेदमें इतिहास माना है। ऋग्वेदीय मन्त्रोंमें यमी, उर्वशी, शुनः-शेप, दाशराज-युद्ध आदिका स्पष्टतः ऐतिहासिक विवरण है। आश्चर्य है कि साम्प्रदायिक आग्रहके कारण संसारकी महती आर्यजातिका महान् इतिहास उसके आदि-ग्रन्थोंसे ही उड़ा दिया जाता है। निष्पक्ष होकर कोई स्वाध्याय करे तो उसे संहितामन्त्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदोंमें दर्पणकी तरह

सैकड़ों इतिहास मिलेंगे। प्रस्तुत लेखमें सायणके अनुसार ही सारे इतिहास उद्धृत हैं।

हाँ, तो उपर्युक्त राजन्यवर्गका मन्त्रोल्लिखित इतिहास सुनिये। इनमें सर्वाधिक उल्लेख सुदासका है। ये सूर्यवंशी राजा दिवोदास या पिजवनके पुत्र थे। दाशराज्ञ-युद्धके विजयी दलके नायक ये ही थे। इनके पक्षमें इन्द्र और वसिष्ठवंशधर भी थे। ये महादानी थे। लड़ाईके समय अश्विनीकुमारोंने इनके लिये सामग्रीका वहन किया था (१। ४७। ६)। इन्द्र इनके परम हितैषी थे। अंह्ग नामके असुरका सारा धन छीनकर इन्द्रने इन्हें दे दिया था (१। ६३। ७)। अश्विद्वयने भी सुदासको 'उत्कृष्ट धन' दिया था (१। ११२। १९)। इनके याजक अङ्गिरा, मेधातिथि आदि थे (३। ५३। ७)। एक बार विश्वामित्रने भी सुदासका यज्ञ कराया था। इससे इन्द्रने प्रसन्न होकर कुशिक-गोत्रके ऋषियोंके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार किया था (३। ५३। ९)। चन्द्रवंशी राजा तुर्वशसे एक बार सुदासका सामना हो गया। सुदासकी ओरसे इन्द्रने तुर्वशका वध कर डाला (७। १८। ६)। एक बार चयमानके पुत्र कवि तथा दुष्टमानस और मतिमन्द नामके शत्रुओंने परुष्णी (रावी) नदीके दोनों तटोंको गिरा दिया था। इसपर क्रुद्ध होकर सुदासने कविको मार डाला (वहीं मन्त्र ८)। सुदासके लिये इन्द्रने सभी शत्रुओंको वशीभूत कर डाला था (९)। दो प्रदेशोंके इक्कीस मनुष्योंका वध करके सुदास यशस्वी हुए थे। सुदासके सहायक मरुद्गण थे, इसलिये सुदास शत्रुओंको कुशाकी तरह काट डालते थे (मन्त्र ११)। इन्द्रकी सहायतासे सुदासकी वीर-वाहिनी सेनाने (दाशराज्ञयुद्धमें) ६६०६६ शत्रुओंका वध किया था (१४)। तृत्सु लोगोंसे इन्द्रने सुदासको युद्धमें प्राप्त सारा धन दिला दिया (१५)। जो युद्ध-क्षेत्रमें नहीं मारे जा सके, वे सारे सुदासशत्रु भाग गये (१६)। अन्तमें सुदास इतने शक्तिशाली हो गये कि उन्हें बकरेसे सिंहको मरवाने और सुईसे काठ कटवाने तककी सामर्थ्य मिल गयी (१७)। इन्द्रने देववान् राजाके पौत्र और पिजवनके पुत्र सुदाससे वसिष्ठको दो सौ गायें दो रथोंके साथ दिला दीं (२२)। जिन सुदासका यश द्यावा-पृथिवीके बीच व्याप्त है और जो दाताओंमें मूर्द्धन्य सुदास श्रेष्ठ व्यक्तिको धन-दान करते हैं, उनकी स्तुति सातों लोक करते हैं (२४)। सुदासका बल अविनाशी और अशिथिल था (२५)। दशम मण्डलका १३३वाँ सूक्त इन्हीं सुदासकी आविष्कृति है।

यह भी कहा गया है कि वसिष्ठपुत्रोंके मन्त्र-बलसे इन्द्रने दाशराज्ञयुद्धमें सुदासकी रक्षा की थी (७। ३३। ३)। इस महासमरमें वरुणने भी दस 'यज्ञ-हीन' राजाओंसे सुदास-की रक्षा की थी (७। ८३। ६–८)। ऐतिहासिकोंके मत-से ये दसों चन्द्रवंशी राजा थे। दसवें मण्डलके १३३ वें सूक्त-से ज्ञात होता है कि सुदास इन्द्रके अनन्य भक्त थे। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गीता और भागवतमें जो स्थान श्रीकृष्णको प्राप्त है, वही स्थान इन्द्रको वैदिक संहिताओंमें प्राप्त था। पाण्डवोंकी ओर कृष्ण थे और सुदासकी ओर इन्द्र। इन्द्रके ही कारण सुदासके शत्रुओंका विध्वंस हुआ।

सुदासके प्रख्यातनामा पिता दिवोदास (पिजवन) के बारेमें भी प्रभूत उल्लेख है। ये महान् अतिथिसेवक थे (१।५१। ६)। शम्बरासुरके डरके मारे एक बार दिवोदास जलमें छिपे हुए थे। इन्द्र और अश्विद्वयने शम्बरका वध करके दिवोदासको बचाया था (१। ११२। १४)। इन्द्र-ने शम्बरके नब्बे नगरोंको भूमिसात् किया था और नगरोंका सारा धन अतिथिवत्सल दिवोदासको दे दिया था (१। १३०। ७)। इन्द्रने अतिथि-सेवक राजर्षि दिवोदासके निवासके लिये सौ नगर भी दिये थे (४। २६। ३)। यहाँ दिवोदासका विशेषण 'राजर्षि' आया है। राजाओंमें जो ब्रह्मज्ञानी होते थे, उन्हें राजर्षिकी पदवी दी जाती थी। दिवोदासको जो सौ नगर दिये गये थे, वे पाषाण-निर्मित थे (४। ३०। २०)। दिवोदास प्रसिद्ध सोमाभिषवकारी और याज्ञिक थे (६। १६। ५)। यह बात कई मन्त्रोंमें आयी है कि दिवोदासका सबसे बड़ा शत्रु शम्बर था (६। १८। १३)। एक मन्त्रमें स्पष्ट कहा गया है कि सुदासके पिता पिजवन या दिवोदास हैं। सुदासकी ही तरह इनकी भी सेवा करनी चाहिये (७। १८। २५)। एक स्थानपर दिवोदासको 'सत्यकर्मा' कहा गया है। इसी मन्त्रसे विदित होता है कि 'तुर्वश' और 'यदु' (चन्द्रवंशी) भी दिवोदासके शत्रु थे (९। ६१। २)। कहा नहीं जा सकता कि वाराणसीके निर्माता धन्वन्तरिके अवतार तथा महान् आयुर्वेद-के प्रवर्तक काशिराज ये ही दिवोदास थे या ये दूसरे थे।

मनुका विवरण भी कम नहीं पाया जाता। कहा गया है कि अग्निदेवने मनुको स्वर्गकी कथा सुनायी थी (१।३१।४)। मनुको समस्त प्रजाका पितृभूत कहा गया है (१। ८०। १६)। अश्विनीकुमारोंने 'मनुको गमन-मार्ग दिखाया था' और 'मनुकी रक्षा की थी' (१। ११२। १६–१८)

इन्द्रने मनु (सावर्णि वा सांवरणि) के लिये अभिषुत सोमका पान किया था (वालखिल्यसूक्त ३ । १) । विवस्वान् मनुके लिये भी इन्द्रने सोमका पान किया था (वहीं ४ । १) । राजर्षि मनुका रक्षक सोम था (९ । ९२ । ५) । ये मनु सूर्यवंशी थे और इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था (१० । ६१ । १८—२१) । विवस्वान् मनुके रक्षक देवता थे (१० । ६३ । १) । मनुकी पुत्री पर्शु थी, जिसके बीस पुत्र थे (१० । ८६ । २३) । इन्हीं मनुकी संतान मानव वा मनुष्य हैं ।

कृतयुगमें मान्धाता आदर्श राजा थे । इनकी उदारता, विशालहृदयता, दानशीलता, प्रजावत्सलता और आस्तिकताका वर्णन अनेक पुराणोंमें है । ये राजर्षि थे । क्षेत्रपतिके कार्यमें अश्विनीकुमारोंने इनकी रक्षा की थी (१ । ११२ । १३) । ये युवनाश्वके पुत्र थे । इनके बहुत शत्रु थे । इनके लिये सर्वापेक्षा अधिक दस्युओंका हनन अग्निदेवने किया था (८ । ३९ । ८) । इन्हीं मान्धाताकी गवेषणा है दशम मण्डलका १३४ वाँ सूक्त । ये भी सूर्यवंशी राजा थे, याज्ञिक और इन्द्रके अनन्य भक्त थे । ये अनेक ग्रन्थोंमें सत्ययुगके अलंकार कहे गये हैं । ये पृथ्वीको जीतकर स्वर्ग जीतने भी गये थे ।

क्षत्रिय-जातिके मूल पुरुष इक्ष्वाकु माने गये हैं । इनके पिता विवस्वान् मनु थे और माता श्रद्धा थीं । इनके दो पुत्र थे—विकुक्षि और निमि । विकुक्षिके वंशमें श्रीराम हुए और निमिके वंशमें सीताजी । इक्ष्वाकु अयोध्यामें रहते थे—यही उनकी राजधानी थी । परंतु इनका राज्य सारी धरित्रीपर माना जाता है । यह श्लोक अतीव प्रसिद्ध है—'इक्ष्वाकूणामियं भूमिः ।' अर्थात् यह समस्त पृथिवी इक्ष्वाकुके वंशधरोंकी है । इक्ष्वाकु रक्षाकार्यमें नियुक्त थे—सबके रक्षक थे (१० । ६० । ४) । विवस्वान् मनुके दस पुत्रोंमें इक्ष्वाकु सर्वप्रसिद्ध थे ।

दाशराज्ञ-युद्धमें तृत्सु-भरतगण सुदासके पक्षमें थे । इन दोनोंका उल्लेख एक साथ भी मिलता है । इनके पुरोहित वसिष्ठ थे (७ । ३३ । ६) । एक स्थान (७ । १८ । १३) पर कहा गया है कि 'इन्द्रने अनुके पुत्रका गृह तृत्सुको दे दिया था ।' इसके आगेके पंद्रहवें मन्त्रमें कहा गया है कि 'तृत्सुलोग दाशराज्ञ-युद्धमें सुदासकी विजय हो जानेके बाद कुछ वस्तुएँ लेकर पलायन कर रहे थे । परंतु बाधा प्राप्त होनेपर उन्होंने सब वस्तुएँ सुदासको दे दी थीं ।' उन्नीसवें मन्त्रमें कहा गया है कि युद्धके अनन्तर तृत्सुओंने इन्द्रको संतुष्ट किया था । ३ । ३३ । ११-१२ से जाना जाता है कि भरतवंशधरोंने विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलज) को पार किया था । ३ । ५३ । २४ में तो इतनी दूरतक कहा गया है कि 'वसिष्ठके साथ भरतवंशीय पार्थक्य जानते हैं, एकता नहीं जानते अर्थात् शिष्टोंके साथ उनकी संगति नहीं है ।' ३ । २३ । २ में लिखा है कि 'भरतके पुत्र देवश्रवा और देववातने अरणि-मन्थनके द्वारा अग्निको उत्पन्न किया था ।' कदाचित् ये भरत चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्तके पुत्र भरत नहीं थे । ६ । १६ । ४ में दुष्यन्त-पुत्र भरतका भी उल्लेख है । भरतने अग्निकी स्तुति की थी और यज्ञ भी किया था । यह कहना कठिन है कि किन भरतके नामपर इस देशका नाम भारत पड़ा ।

वेन ऋषि और वेन राजा—दोनोंके नाम पाये जाते हैं । ८ । ९ । १० में वेन पृथीके पिता बताये गये हैं । १० । १४८ । ५ में वे पृथुके पिता कहे गये हैं । १० । ९३ । १४ में पृथु-पुत्र ताम्वने कहा है—'देवोंके प्रशंसायुक्त स्तोत्रका पाठ मैंने दुःशीम, पृथवान्, वेन और बली राम आदि धनाढ्य राजाओंके पास किया है ।' ये चारों ही सूर्यवंशी राजा थे ।

राजा पृथुने सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे । कहा जाता है कि इन्हींके नामके अनुसार धरित्रीका पृथ्वी नाम पड़ा । इन्हींके वंशधर राजा अभ्यवर्ती (चयमान-पुत्र) ने भरद्वाजको बीस गौओंका दान दिया था (६ । २८ । ८) ।

१ । ११२ । १५ में वेनके पुत्रका नाम पृथि कहा गया है । नहीं कहा जा सकता कि पृथि, पृथी, पृथु और पृथवान् एक ही व्यक्तिके नाम हैं, या वे विविध व्यक्ति हैं ही ।

पृथुश्रवाराजाके इष्टदेव अश्विनीकुमार थे । इन्होंने पृथुश्रवाके शत्रुओंका वध कर डाला था (१ । ११६ । २१) । पृथुश्रवा महादानी थे । इन्होंने वश ऋषिको ७० हजार घोड़े, २ हजार ऊँट, १ हजार काली घोड़ियाँ और १० हजार 'शुभ्र' गायें दानमें दी थीं—एक सोनेका रथ भी दिया था । इन्हें कन्या-पुत्र या कानीन कहा गया है (८ । ४६ । २१—२४) । पृथुश्रवाके दानाध्यक्ष थे अश्व्य, अक्ष, नहुष और सुकृत्व (वहींका २७ वाँ मन्त्र) । २८ वें मन्त्रमें कहा गया है कि 'उचथ्य और वपु नामके राजाओंसे भी अधिक साम्राज्य पृथुश्रवा करते हैं ।' इन्होंने ६० हजार गायोंका भी दान दिया था (२९) । पृथुश्रवाने अपनी राजकुमारीका विवाह भी वशके साथ किया था (३३) ।

सुश्रवा राजासे लड़नेके लिये एक बार बीस नरपति अपने ६० हजार ९९ अनुचरोंके साथ आये थे। परंतु इन्द्रने सबका संहार कर डाला। साथ ही कुत्स, अतिथिग्व और आयु राजाओंको महान् युवक राजा सुश्रवाके अधीन कर दिया था (१।५३।९-१०)।

राजर्षि शार्यात महान् याज्ञिक थे। शार्यातका सोमरस इन्द्रके लिये विशेष रुचिकर होता था (१।५१।१२)। इनके सहायक अश्विद्वय भी थे (१।११२।१७)।

भीष्मके पिता और चन्द्रवंशी राजा शंतनु याज्ञिक और धर्मगतप्राण थे। ऋष्टिषेणके पुत्र देवापि इनके पुरोहित थे। इनका दान भी प्रसिद्ध था। इन्होंने ९० हजार आहुतियाँ दी थीं। इन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ था (१०।९८।७ और ११)।

प्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा पुरूरवापर अग्निदेवकी बड़ी कृपा थी (१।३१।४)। दशम मण्डलके ९५ वें सूक्तके ७ मन्त्रोंके द्रष्टा ये ही माने जाते हैं। सूक्तमें कुल १८ मन्त्र हैं और सबमें पुरूरवा और उर्वशी अप्सराका कथोपकथन है। दोनोंका प्रेमालाप पढ़ने योग्य है। पुरूरवाकी माता इला धर्मोपदेशिका थीं (१।३१।११)। ये प्रथम चन्द्रवंशी राजा थे। इन्होंने १०० अश्वमेध यज्ञ किये थे।

पुरूरवा और उर्वशीके पुत्र आयु थे। इनका जन्म च्यवन ऋषिके आश्रममें हुआ था। इनके शत्रुओंका वध इन्द्रने किया था (२।१४।७)। शुष्ण असुरसे इन्द्रने इनकी रक्षा की थी (६।१८।१३ और वालखिल्यसूक्त ५।२)।

आयुके पुत्रका नाम नहुष था। ये पुरूरवाके पौत्र थे (१।३१।११)। नहुषके वंशधर सोमयज्ञके बड़े प्रेमी थे (९।९१।२)। नहुषकी प्रजा सुखी थी (८।६।२४)। नहुषके पुत्र ययाति थे। इन्होंने शुक्राचार्यकी कन्या देवयानी और देवयानीकी परिचारिका शर्मिष्ठासे विवाह किया था। मनु, अङ्गिरा आदिके साथ ययातिका प्रथम उल्लेख १।३१।१७ में है। ययातिकी पत्नी देवयानीके दो पुत्र थे—यदु और तुर्वसु। परंतु ऋग्वेदमें तुर्वसुके स्थानपर कहीं-कहीं तुर्वश नाम भी आया है। इन दोनोंने ययातिका कहना नहीं माना; इसलिये ययातिने इनको अभिषिक्त नहीं किया। परंतु मन्त्रमें कहा गया है कि 'ययातिके शापसे अनभिषिक्त प्रसिद्ध राजा यदु और तुर्वशको शचीपति विद्वान् इन्द्रने अभिषेक-योग्य बनाया था' (४।३०।१७)। ऋषि गयने अपनी स्तुतिमें कहा है—जो देवता नहुष-पुत्र ययाति राजाके यज्ञमें उपविष्ट होते हैं, वे धन आदिके द्वारा हमें सम्मान-युक्त करें (१०।६३।१)। इससे विदित होता है कि ययातिके ऊपर देवताओंकी विशिष्ट कृपा रहती थी। ययाति भी यज्ञके बड़े प्रेमी थे। इसीलिये ये अग्निदेवका बहुत स्तोत्र करते थे (१०।८०।६)।

ययातिके पुत्र यदु और तुर्वशपर इन्द्र प्रसन्न रहते थे (१।५४।६)। इन्द्र इनका पालन और कल्याण करते थे (१।१७४।९)। किसी दूर देशमें गये यदु और तुर्वशको इन्द्र ले आये थे (६।४५।१)। यदु और तुर्वशके रक्षक इन्द्र थे (८।४।७)। अश्विद्वय भी इनके रक्षक थे (८।१०।५)। एक मन्त्रमें कथित है—'इन्द्र! तुमने यदु और तुर्वश नामके राजाओंके प्रसिद्ध कर्मको सच्चा समझा है' (८।४५।२७)। परंतु ये चन्द्रवंशी राजा (यदु और तुर्वश आदि) सूर्यवंशी राजा दिवोदासके शत्रु थे (९।६१।२)। इन्हें वशमें रखनेकी प्रार्थना इन्द्रसे की गयी है (७।१९।८)।

ययातिकी शर्मिष्ठा पत्नीसे तीन पुत्र थे—द्रुह्यु, अनु और पूरु। इनमें पूरु सर्वाधिक पितृ-भक्त थे। ऋषि इन्द्र और अग्निसे प्रार्थना करते हैं—'यदि तुमलोग तुर्वश, द्रुह्युओं, अनुओं और पूरुओं (तुर्वश आदिके वंशजों) के बीच रहते हो तो हे अभीष्ट दातृद्वय! उन सब स्थानोंसे आकर अभिषुत सोम पान करो' (१।१०८।८)। एक बार भृगुओं (भृगुवंशियों) और द्रुह्युओं (द्रुह्युवंशजों) ने तुर्वशको सुदाससे मिला दिया और, जैसा कि पहले कहा गया है, इन्द्रने तुर्वशका वध कर डाला (७।१८।६)। 'अनु और द्रुह्युकी गायोंको चाहनेवाले ६६०६६ सम्बन्धियोंको सेवाभिलाषी सुदासके लिये मारा गया था' (७।१८।१४)। एक स्थानपर कहा गया है—'अश्विद्वय, द्रुह्यु, अनु, तुर्वश और यदुके यहाँसे मेरे प्रगाथ ऋषिके पास आओ' (८।१०।५)। इन उक्तियोंसे यह भी जाना जाता है कि सूर्यवंशियों और चन्द्रवंशियोंमें शत्रुता थी। दोनोंमें युद्ध होते रहते थे। ऐतिहासिक कहते हैं कि दाशराज्ञयुद्धमें सुदासके विरुद्ध दस चन्द्रवंशी राजा थे। इन्द्र, सुदास, वसिष्ठ और तृत्सु-भरत आदि तथा इनके अनुगामियोंके द्वारा इन दसों राजाओं और इनके सम्बन्धियोंका विनाश हुआ था।

अश्विद्वयने पुरुकुत्सकी रक्षा की थी (१।११२।७)

पुरुकुत्स दुर्गहके पुत्र थे। एक बार ये बंदी बना दिये गये थे। उस समय महीपालक सप्तर्षि हुए थे। सप्तर्षियोंने यज्ञ करके उनकी स्त्रीसे त्रसदस्यु नामके पुत्रको पाया। ये महाप्रतापी थे (४ । ४२ । ८)। इन दोनों पिता-पुत्रके रक्षक इन्द्र थे (७ । १९ । ३)।

राजा त्रसदस्यु महान् सम्पत्तिशाली थे। ये दानी भी विख्यात थे (४ । ३८ । १)। ये राजर्षि भी थे। ये स्वयं कहते हैं—'मैं सम्पूर्ण मनुष्योंका अधीश हूँ। जैसे समस्त देवता मेरे हैं, वैसे ही सारी प्रजा भी मेरी है' (४ । ४२ । १)। त्रसदस्युकी माता इन्द्र और वरुणकी भक्ता थी। इसलिये उन्हें 'अर्द्धदेव राजा' त्रसदस्यु मिला था। (वहीं ९)। त्रसदस्यु गिरिक्षित गोत्रके थे। इन्होंने संवरण ऋषिको दस शुभ्र अश्व दान दिये थे (५ । ३३ । ८)। इनके पुत्र कुरुश्रवण राजा भी श्रेष्ठ दाता थे (१० । ३३ । ४)।

सिन्धु-निवासी राजा स्वनयने दस हजार सोम-यज्ञ किये थे। इन्होंने कक्षीवान् ऋषिको १०० बैल, १०० घोड़े, १०० मुहरें, १०६० गायें और १० रथ दिये थे (१ । १२६ । २–३)।

त्रसदस्यु, ऋजिश्वा आदिके साथ पकथका नाम आया है (वालखिल्यसूक्त १ । १०)। दूसरे मन्त्रमें अश्विद्वयको पकथ राजाका रक्षक बताया गया है (८ । २२ । १०)। ऐतिहासिकोंका मत है कि पकथका राज्य अफगानिस्तानमें था। 'पकथ' शब्दका ही तद्भव है 'पख्त,' 'पख्त'से पख्तून बना और इससे 'पठान' शब्द निकला। पकथ राजाके साथ ही मन्त्रमें अध्रिगु और बभ्रु राजाओंका भी उल्लेख है।

राजा ऋजिश्वानकी रक्षा इन्द्रने उस समय की, जब उन्हें चोर मारने जा रहे थे (१ । ५१ । ५)। इन राजाने वंगृद नामक असुरके सौ नगरोंपर घेरा डाला था। पश्चात् इन्द्रने सब उद्भिन्न कर डाला था (१ । ५३ । ८)।

इन्द्रने अतिथिग्व राजाके शत्रु करञ्ज और पर्णय नामके असुरोंका विनाश किया था (१ । ५३ । ८ और २ । १४ । ७)। इनका भी शत्रु शम्बरासुर था। उसके निहत होनेपर इन्हें भी धन प्राप्त हुआ था (६ । १८ । १३)। ये और इनके पुत्र इन्द्रोत बड़े दानपरायण थे (८ । ५७ । १६)।

तुग्र राजर्षि थे। उन्होंने शत्रु-विजयके लिये अपने पुत्र भुज्युको सेनाके साथ नौकाद्वारा समुद्रस्थित द्वीपमें भेजा था। मध्य समुद्रमें भुज्यु डूबने लगे थे। वहाँसे अश्विद्वयने सौ डाँड़ोंवाली नौकासे भुज्युको बचाकर उन्हें उनके निवास-स्थानपर पहुँचाया था। भुज्युकी रक्षाके लिये सब चार नावें भेजी गयी थीं। इस कथाका उल्लेख अनेक मन्त्रोंमें है (१ । ११२ । ६, वहीं २०; १ । ११६ । ३–५; ८ । ६३ । १४)।

राजा पुरुमित्र धर्म-प्राण थे। उनकी राजकुमारी 'शुन्ध्युव' का विवाह विमद ऋषिके साथ हुआ था (१ । ११७ । २० और १० । ३९ । ७)।

अन्तक राजर्षि थे। उन्हें एक बार असुरोंने कुएँमें फेंक दिया था। अश्विद्वयने अन्तकका उद्धार किया था (१ । ११२ । ६)।

एक बार दुर्गम्य पर्वतपर शत्रुओंने राजा जाहुषको घेर लिया था। वहाँ पहुँचकर अश्विद्वयने राजाको बचाया था (१ । ११६ । २० और १ । ११७ । १६)।

दानी श्रुतरथ राजाने ऋषि प्रभुवसुको दो लाख घोड़े और ३०० गायें दी थीं। ये 'नित्य तरुण' थे। प्रजावत्सलताके कारण इनकी समस्त प्रजा इन्हें सेव्य और प्रणम्य मानती थी (५ । ३६ । ६)।

राजर्षि पेदुको अश्विद्वयने जो श्वेत अश्व दिया था, वह सदा विजय-श्री प्राप्त करता था (१ । ११६ । ६)।

सहदेवके पुत्र राजा सोमकने ऋषि वामदेवको अश्वोंका दान दिया था। ये शतायु थे (४ । १५ । ७–९)।

चयमानके पुत्र राजा अभ्यवर्तीके शत्रु थे वरशिख असुरके वंशधर। हरियूपीया नदीके पास इन्द्रने इन सबका वध कर डाला था (६ । २७ । ५ और ७)।

प्लयोग-पुत्र राजर्षि असंगपर लक्ष्मीकी बड़ी कृपा थी। ये यदुवंशी थे। इन्होंने १० हजार गायोंका दान किया था (८ । १ । ३०–३३)।

चेदिवंशीय कशु नामके राजाने ऋषि ब्रह्मातिथिको सौ ऊँट और १० हजार गायें दी थीं। प्रजा इनपर भक्ति रखती थी। इनका मार्ग विकट था। उससे कोई नहीं जा सकता था (८ । ५ । ३७–३९)।

वरु राजा गोमतीतट-वासी थे, सोमयागके प्रेमी और मानव-हितैषी थे (८ । २४ । २८–३०)। ये सुषामाके पुत्र थे। इनका गोत्र उक्ष था। विश्वमना ऋषिको इन्होंने सुन्दर रथका दान दिया था (८ । २५ । २२–२४)।

१० । ९३ । २४ में वली राम राजाका नाम कई राजाओंके नामोंके साथ आया है । १५ वें मन्त्रमें कहा गया है कि-"इन राजाओंसे ताम्र, पार्थ्य और मायव आदि ऋषियों-ने शीघ्र ही ७७ गायें माँगीं ।"

कुत्स राजर्षि थे । इनके शत्रुओंका नाश करके इन्द्रने इनकी रक्षा की थी (१ । ३३ । १४ और ८ । २४ । २५)। आयु नामक नरपतिके साथ कुत्सका उल्लेख है (वालखिल्य-सूक्त ५ । १) । नहीं कहा जा सकता कि दोनोंका क्या सम्बन्ध था । एक कुत्स ऋषिकी विवृति भी पायी जाती है । ये कूपमें गिर पड़े थे । इन्द्रने इनका उद्धार किया था (१ । १०६ । ६) ।

कक्षीवान् नामके ऋषिके अतिरिक्त कक्षीवान् प्रख्यात महीपाल भी थे । कुछ वृद्ध हो जानेपर इन्होंने वृचया नाम-की स्त्रीसे विवाह किया था । इसी मन्त्रमें वृषणश्व महीपका भी उल्लेख है (१ । ५१ । १३) ।

तरन्त नामके भूपति बड़े धार्मिक थे और उनकी स्त्री शशीयसी परम दानशीला थी । उसने श्यावाश्व ऋषिको अश्व, गौ और सौ भेड़ोंका दान दिया था । वह श्रेष्ठ स्त्री गिनी जाती थी । वह उपेक्षित, तृष्णार्त और करुणा-विगलित-को जानती थी और सबको यथावश्यक धन-दान करती थी । उसने अपनेको देवार्पण कर डाला था (५ । ६१ । ५–७)।

यदुवंशी परशुके पुत्र नृपाल तिरिन्दिर भी धर्म-प्राण और दानशील थे । इन्होंने ३०० घोड़े और १ हजार गायें दान दी थीं । इन्होंने यदुओंको सोनेसे लदे चार ऊँट दिये थे (८ । ६ । ४६–४८) ।

अग्निवेशके पुत्र शत्रि नामके राजर्षि प्रथितयशा भूपाल थे । उनके समान राजा कम थे (५ । ३४ । ९) ।

नृपाल दुर्योणिका विकट शत्रु था कुयवाच नामका असुर । इन्द्रने उसको निहत किया था (१ । १७४ । ७)।

रुशम देशके राजा ऋणंचय प्रख्यात भूप थे । उन्होंने बभ्रु ऋषिको बुलाया था । बभ्रुको अलंकार-आच्छादनादिसे सुसज्जित गृह तथा ४ हजार गायें दान दी गयी थीं । बभ्रुको एक स्वर्ण-कलश भी मिला था (५ । ३० । १२–१५) । पता नहीं, यह रुशम देश कहाँ था । मन्त्रोंसे ज्ञात होता है कि इस देशका मार्ग दुर्गम्य था ।

त्रिवृष्ण महीपतिके पुत्र त्र्यरुण भी राजर्षि थे । उन्होंने शकटयुक्त दो वृषभ और १० हजार मुहरोंका दान दिया था । एक बार पुनः त्र्यरुणने १०० मुहरें, २० गायें और रथयुक्त घोड़े दान दिये थे (५ । २७ । १-२) ।

भरतवंशीय राजर्षि अश्वमेधके यहाँसे तो बिना धन पाये कोई याचक नहीं लौटता था । किसीके भी माँगने भरकी देर रहती थी (५ । २७ । ४-५) । इनके पुत्र भी उदार थे (८ । ५७ । १५) ।

शान्त नामके नृप धर्मप्राण और दाता थे । उन्होंने स्वर्णयुक्त १० रथों और सुन्दर घोड़ोंका दान भरद्वाजको किया था । ऋषिकी सहायताके लिये कुछ पुरुष भी दिये थे (६ । ६३ । ९) ।

सैकड़ों और हजारों अश्वोंका दान करनेवाले राजा पुरु-पन्था भी बड़े प्रसिद्ध थे (वहींका १० मन्त्र) ।

१ । १२२ । १३ में इष्टाश्व और इष्टरश्मि राजाओं-के नाम आये हैं; परंतु पारसी विद्वानोंका मत है कि ये दोनों पारसी राजा थे । वे कहते हैं—'इष्टरश्मि हमारा गुश्तहम है और इष्टाश्व वीश्तास्प है ।' पता नहीं, तथ्य क्या है ।

इसके आगे १५वें मन्त्रमें मशर्शार और अयवस राजाओंके नाम भी आये हैं ।

रातहव्य विशिष्ट महीपाल थे । ये और इनके मनुष्य अनन्य यज्ञ-प्रेमी थे (१ । १५३ । ३) । रातहव्यकी स्तुति-से मित्र और वरुण बड़े प्रसन्न रहते थे (५ । ६६ । ३) ।

वृषभ प्रसिद्ध भूप थे । इन्द्रद्वारा प्रदत्त रथपर बैठकर दस दिनोंतक इन्होंने शत्रुओंसे युद्ध किया था । इन्द्रने इनकी रक्षा की थी । वेतसु राजाके लिये इन्द्रने तुग्रासुरको मारा था । इन्द्रने तुजि राजाकी समृद्धि भी बढ़ायी थी (६ । २६ । ४)।

दभीति राजाके लिये इन्द्रने चुमुरिका वध किया था । राजा पिठीनसको तो राज्य ही प्रदान किया था (वहींका मन्त्र ६) ।

आप्त्यके पुत्र त्रित राजर्षि थे (८ । १२ । १६) । त्रित माता-पिताके अनन्य सेवक थे । इन्होंने अपने पिताके युद्धास्त्रोंसे 'त्रिशिरा' का वध किया । त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका नाम त्रिशिरा था (१० । ८ । ७–९) । इस नामके ऋषि भी थे ।

नृपति बिभिन्दुके लिये कहा गया है—'तुम दाता हो । तुमने मुझे (प्रियमेध) को चालीस हजार धन दिया है । अनन्तर आठ हजार दान दिया है (८ । २ । ४१) ।

रुशम, श्यावक और कृप नामक राजर्षि यज्ञ-विधाता थे। इन्द्र इनके रक्षक थे (८। ३। १२)। इन राजर्षियों-का सोमरस इन्द्रको विशेष रुचिकर था (८। ४। २)।

राजा चित्र विख्यात भूप थे। वे सरस्वती-तटवासी राजाओंको १० हजार धन देकर प्रसन्न रखते थे (८। २१। १८)।

श्रुतर्वा ख्यातनामा पृथ्वीपाल थे। ये ऋक्षके पुत्र और शत्रु-गर्व-ध्वंसक थे। इन्होंने गोपवन नामके ऋषिको चार अश्व दिये थे, जो अनुपम थे। ऋषि कहते हैं—'हे परुष्णी! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि सबसे बली इन श्रुतर्वा राजासे अधिक अश्वोंका दान कोई भी नहीं कर सकता (८। ६३। १३—१५)।

उचथ्य और वपु राजा यशस्वी थे (८। ४६। २८)।

ऋषि अवत्सार कहते हैं—ध्वस्र और पुरुषन्ति राजाओं-से मैंने ३० हजार वस्त्रोंका दान पाया है (९। ५८। ४)।

असमाति राजाका राज्य अतीव उज्ज्वल था। महान् लोग उसकी प्रशंसा करते थे। वे भजेरथ वंशमें थे। वे अतीव सुन्दर थे। वे शिष्ट-पालक थे। उनसे याचना करनेपर मनोरथ सिद्ध होता था। उनके सम्मुख सभी हार जाते थे (१०। ६०। १—३)।

यही ऋग्वेदीय राजन्यवर्गका विवरण है। खोज-ढूँढ़ करनेपर कुछ अन्य राजाओंका विवरण भी पाया जा सकता है।

यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि ये उपरिलिखित सारे नाम मन्त्रोंमें ही नहीं हैं। कुछ नाम और उनके विवरण सायण-भाष्यसे भी लिये गये हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद-संहितापर एक-मात्र यही भाष्य प्रकाशित है और आर्य-परम्पराका अनुधावन करनेके कारण यही प्रामाणिक भी है। सायणके मतसे उन वेदमन्त्रोंका तात्पर्य इन परोक्ष नामों और इनकी कथाओं-से ही है।

इन राजाओंका शासन-चक्र कैसे चलता था, इस सम्बन्ध-में भी अन्यान्य विषयोंकी ही तरह सूक्ष्मरूपसे उल्लेख है। जैसे उपर्युक्त राजाओंके अत्यन्त सूक्ष्म विवरणोंको लेकर वैदिक साहित्यके अन्यान्य ग्रन्थों तथा रामायण, महा-भारत, पुराण आदिमें विस्तृत विवरण और कथाएँ लिखी गयी हैं, उसी तरह शासन-चक्रके सम्बन्धमें भी वैदिक वाङ्मय और संस्कृत-साहित्यके दूसरे ग्रन्थोंमें विशद वर्णन पाये जाते हैं। ऋग्वेदका ध्येय विश्व-प्रपञ्चकी विवृति देना तो है नहीं, केवल प्रसंगतः कुछ विषयोंका उल्लेख आ गया है।

बात यह है कि यज्ञमें इन्द्र, अग्नि, अश्विनीकुमार आदि-के आवाहनके समय इनकी कीर्ति और प्रभावशालिताकी प्रशंसा करनेकी परम्परा थी और इसी परम्परामें अनेक विषय प्रकाशमें आ गये हैं। घरेलू और सामाजिक विषय ही नहीं आये हैं, प्रत्युत क्षुद्रसे महान् तक और अणुसे आकाश तकके विषय, अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें हो सही, आ गये हैं। अनेक स्थलोंपर तो प्रकाश और अन्धकारवाले—दोनों ही पहलू आ गये हैं। पीछे सूक्ष्मसे स्थूल रूप देनेवालोंने नमक-मिर्च मिलाने-में भी कसर नहीं रखी।

हाँ, तो शासन-चक्रके सम्बन्धमें ऋग्वेदके दशम मण्डल-के दो सूक्तोंमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है, जिससे तत्कालीन परिस्थितिकी झाँकी मिल जाती है। मन्त्रोंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि प्रजा (विशः) अपने शासक (राष्ट्रपति) का चुनाव करती थी। मन्त्र ये हैं—

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥
(१०। १७३। १)

अर्थात् 'राजन्! तुम्हें राष्ट्रपति बनाया गया। तुम इस देशके प्रभु हो। अटल, अविचल और स्थिर होकर रहो। प्रजा तुम्हें चाहे। तुम्हारा राष्ट्र नष्ट न होने पावे।'

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥
(१०। १७३। २)

अर्थात् 'राजन्! तुम यहीं पर्वतके समान अविचल होकर रहो। राज्यच्युत न होना। इन्द्रके समान निश्चल होकर यहाँ रहो। यहाँ राष्ट्रको धारण करो।'

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥
(१०। १७३। ५)

अर्थात् 'वरुण राष्ट्रको अविचल करें। बृहस्पति राष्ट्रको स्थिर करें। इन्द्र राष्ट्रको सुदृढ़ करें और अग्निदेव राष्ट्रको निश्चल रूपसे धारण करें।'

इसी सूक्तके तीसरे मन्त्रमें कहा गया है कि 'इन्द्रने इस नवाभिषिक्त राजाको आश्रय दिया है और बृहस्पतिने आशीर्वाद दिया है।'

चतुर्थ मन्त्रका कहना है—जैसे आकाश, पृथ्वी, समस्त पर्वत और सारा विश्व स्थिर है, वैसे ही यह राजा भी प्रजाके बीच अविचल रहे।

षष्ठ मन्त्रमें बताया गया है—राजन्! इन्द्रने तुम्हारी प्रजाको एकायत्त और कर-प्रदानोन्मुख बनाया है।

इन मन्त्रोंसे ज्ञात होता है कि प्रजा राष्ट्रका स्थैर्य चाहती थी, शासकका निर्वाचन करती थी और राज्य-संचालनके लिये कर देती थी।

इसके आगे १७४वें सूक्तके दूसरे मन्त्रमें कहा गया है—'जो विपक्षी हैं, जो हमारे हिंसक हैं, जो सेना लेकर युद्ध करने आते हैं और जो हमसे द्वेष करते हैं, राजन्! उनको अभिभूत करो।'

अन्ततः पाँचवें मन्त्रमें राजा कहता है—'मेरे शत्रु नहीं हैं। मैंने शत्रुओंका नाश कर डाला है। मैं राज्यका प्रभु हूँ और विपक्ष-निवारणमें समर्थ हुआ हूँ। मैं सारे प्राणियों और मन्त्री आदिका अधीश्वर हुआ हूँ।'

ये राजन्य समितिमें एकत्र होकर अपनी योजनाएँ बनाते थे (१०।९७।६)।

ये मन्त्र अपनी व्याख्या स्वयं करते हैं, अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। ऋग्वेदके ऐतरेय ब्राह्मणमें आठ प्रकारके राज्योंका विवरण है। वैदिक-साहित्यके अन्य ग्रन्थोंमें राज्य-शासनके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण विवरण है। परंतु वह सब एक स्वतन्त्र लेखका विषय है।

मनुष्य-पशु

(लेखक—वैद्यभूषण पं० श्रीठाकुरदत्तजी शर्मा वैद्य)

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

'आहार (खान-पान), निद्रा (सोना-जागना), भय (डर) और मैथुन (संतानोत्पत्ति)—ये चारों मनुष्यों और पशुओंमें एक-समान हैं। मनुष्योंमें धर्म ही एक बड़ी विशेषता है; इसलिये धर्मसे हीन मनुष्य पशुके ही समान हैं।'

इस श्लोकके पहले चरणपर ही मैं कुछ विचार प्रकट करना चाहता हूँ। 'आहार', 'निद्रा', 'भय' और 'मैथुन' मनुष्यों और पशुओंमें समान कहे गये हैं। इसका भाव यदि यह हो कि इनमें सुख-दुःख समान होता है, तब तो दूसरी बात है, पर यदि इससे कविका प्रयोजन यह हो कि 'ये चारों बातें मनुष्योंमें भी हैं और पशुओंमें भी। इसलिये दोनोंमें समानता है।' तो मैं तो यह नहीं मान सकता कि इन बातोंमें मनुष्य और पशु समान होते हैं। इन बातोंमें प्रायः मनुष्य पशुओंसे बहुत नीचे और गिरे हुए हैं। इनका व्याख्यासहित वर्णन करनेके लिये तो इस पत्रके सौ पृष्ठ भर जायँगे। यहाँ तो मैं केवल दिग्दर्शन करा देना चाहता हूँ। अब एक-एक बातको लीजिये—

आहार

खाने-पीनेमें प्रायः मनुष्य पशुओंसे बहुत गिरे हुए हैं। पशु केवल वे ही पदार्थ खाते-पीते हैं, जो प्रकृतिने उनके लिये नियत किये हैं। उन्हें जंगलमें छोड़ दीजिये, जहाँ नाना प्रकारके फल-मूल, पत्र और वनस्पतियाँ आदि पदार्थ होते हैं, पशु खायेगा वही, जो उसका अपना आहार है और पीयेगा भी वही, जो उसे पीना चाहिये। अब इस मनुष्यको भी देखिये, जिसको परमात्माने स्वतन्त्र उत्पन्न किया है और विशेष बुद्धि प्रदान की है कि वह अपना खान-पान स्वयं चुन ले; परंतु इसने कैसा गजब कर रखा है। फल, शाक, अन्न, जल, दूध, मक्खन आदि त्यागकर इसने हर प्रकारके जीवोंके मांस खाने शुरू कर दिये हैं—यहाँतक कि चूहे, बिल्ली, साँप, मछलियाँ, पशु, पक्षी—किसीको भी इसने नहीं छोड़ा। एक व्यक्ति हँसीमें कहा करता था कि उड़नेवाले पदार्थोंमें पतंगको और जलचरोंमें नौकाको उसने छोड़ रखा है और भूचर पशुओंमें तो उससे कोई भी नहीं बचा है।

इस मनुष्यको अब पेय वस्तुओंमें सब प्रकारकी मदिराएँ चाहिये। खाद्य-पदार्थोंका विस्तारसे वर्णन करें तो आप हैरान हो जायँगे कि विदेशोंमें खाने-पीनेके कैसे-कैसे पाशविक पदार्थ बन रहे हैं। फिर हम यह कैसे कहें कि मनुष्य 'आहार' के विषयमें पशुके बराबर है!

निद्रा

'निद्रा' में भी प्रायः मनुष्य पशुओंसे गिरे हुए देखे

जाते हैं। पशु तो अपने नियत समयपर ही स्वल्प नींद लेते हैं; परंतु हमारी वर्तमान सभ्यताका हाल यह है कि रात-की-रात भोग-विलासोंमें बीत जाती है और लोग बहुत दिन चढ़ेतक भी नहीं उठते। कहाँ तो हमारे वे आचार्य जो ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जानेका आदेश करते हैं और सूरज-चढ़ेतक सोनेवालेकी बुद्धिमें तथा उसके नेत्रोंकी ज्योतिमें विकार बतलाते हैं और कहाँ हम हैं, जो इसके विपरीत आचरण करते रहते हैं!

एक बार मैं बम्बई गया था। एक सेठने चिकित्सा-सम्बन्धी परामर्श लेनेके लिये अपना एक आदमी भेजकर मुझसे समय माँगा। मैंने कह दिया—'कल प्रातः ९ बजे चल सकूँगा।' नौकरने उत्तर दिया—'सेठजी तो ११ बजेतक भी उठते ही नहीं।' कहाँतक वर्णन करें। यही जान पड़ता है कि निद्राके सेवनमें भी मनुष्य प्रायः पशुओंसे गिरे हुए हैं।

भय

ठीक है, भय पशुओंको भी होता है और मनुष्योंको भी; परंतु विचारपूर्वक देखनेपर पता लगता है कि पशुओंको जो भय होता है, वह प्राकृतिक है; किंतु मनुष्य प्रायः ऐसे भय भी रखते हैं, जिनका वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं होता। भूत, प्रेत, चुडैल, डाकिनी, शाकिनी, पिशाचिनी इत्यादि इसके पीछे लगे ही रहते हैं। कभी गंडों और यन्त्रों (तावीजों) की खोजमें फिरते रहते हैं कि उनका भ्रम दूर हो जाय। कितने प्रकारकी मिथ्या सम्भावनाओंकी कल्पनासे रात-दिन वह भयभीत रहता है। उसने अपने ऊपर इतने भय ओढ़ रखे हैं कि उसका जीवन दुःख और चिन्ताओंमें ही कटता है। अब पशुके भयकी बात लीजिये। पशुको भय दिखानेपर वह डरेगा अवश्य, परंतु उसे फिर भूल जायगा। भयके दूर होते ही पशु पूर्ववत् प्रसन्न हो जाता है। किंतु मनुष्यको जहाँ भय आया कि वह उसका पीछा नहीं छोड़ता। इसीसे हम यह कहते हैं कि इस अंशमें भी मनुष्य पशुसे गिरा हुआ है।

मैथुन

इसकी तो कुछ न पूछें। इसको अधिक न खोलना ही ठीक है। पशु अपने समयपर ही संतानोत्पत्ति करते हैं, किंतु प्रायः मनुष्य संतानोत्पत्तिके किसी बन्धन या सीमामें नहीं रहते। मनुष्य इस विषयमें इतना उच्छृङ्खल है कि अपने आचार, स्वास्थ्य और आयुको इसके पीछे खो बैठता है। इसपर हम अधिक लिखना नहीं चाहते। प्रत्येक मनुष्य अपने हृदयपर हाथ रखकर निष्कपटभावसे यह विचार करे कि वह पशुओंके समान है या उनसे कहीं गिरा हुआ है।

कविका कथन है कि मनुष्यमें मानवता 'धर्म' से ही है; परंतु यदि उपर्युक्त बातोंमें हम पतित हैं तो फिर 'धर्म' कैसे आ सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

जबतक हमारे सब व्यवहार 'युक्त' नहीं होते, तबतक हम धर्मकी मर्यादाका पालन कर ही नहीं सकते। अतएव मनुष्य-को पहले अपने नित्यकर्म ठीक करने चाहिये। यही मानवता है। इसके बिना सब पाशविकता है।

संतके लक्षण

इतने गुन जामें सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत॥
हरि कौ भजन साधुकी सेवा, सर्व भूतपर दाया।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, बिष सम देखै माया॥
सहनशील, आसय उदार अति, धीरजसहित बिवेकी।
सत्य बचन सब कौं सुखदायक गहि अनन्य व्रत एकी॥
इन्द्रीजित, अभिमान न जाके करै जगत कौं पावन।
भगवतरसिक तासु की संगति तीनहु ताप नसावन॥

—भगवत रसिकजी

मानव-पशु पशुसे भी निकृष्ट है

(लेखक—श्री एन्० कनकराज ऐयर एम्० ए०)

ईश्वरीय सृष्टिमें मानव विकासके शिखरपर आरूढ़ है। उसके पश्चात् वानर-जातिका स्थान है। वन्य पशु, जो वस्तुतः वानरसे कहीं बुरे हैं, और भी निम्न कोटिमें रखे जाते हैं। वानर-योनिमें मानसिक शक्तिका किंचित् विकास पाया जाता है। सिंह, बाघ तथा लकड़बग्घा तथा इस प्रकारके अन्य पशु दूसरोंको मारकर जीवन धारण करते हैं। उनमें विचारकी शक्ति नहीं होती। यदि उन्हें सोचनेका अवसर मिलता भी है तो वे अगले आहारकी बात एवं उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाय, इतना ही सोचते हैं।

पशुकी प्रकृति पाशविक है। पशु जंगलोंका निवासी है। जब भी उसे आहारकी आवश्यकता प्रतीत होती है, तब-तब उसे उसकी खोजमें चक्कर लगाना पड़ता है। इसीलिये उसने अपनेमें हिंसाकी वृत्ति विकसित कर ली है। उसकी भूखकी परिधिमें जो प्राणी आ जाता है, उसके प्रति निर्दयता उसका स्वभाव है। समय पाकर बाघ मनुष्यभक्षी हो जाता है। यदि वह किसी ऐसे निर्जन वनमें रहता है, जहाँ मनुष्यका मांस प्राप्त होनेकी सम्भावना ही नहीं होती, तो वह अपनी मर्यादाके अंदर ही रहता है। जब कभी वह मनुष्यको देख लेता है और उसके रक्तका स्वाद पा जाता है, तब वह अभ्यस्त मानवभक्षी बन जाता है।

सिंह और बाघ आजकल पालतू बना लिये जाते हैं और उनसे सर्कसमें आश्चर्यजनक खेल दिखानेका काम लिया जाता है। जंगलका सबसे बड़ा जीव हाथी तो घरेलू जानवर ही बन गया है और मनुष्यके लिये अत्यन्त सेवोपयोगी हो गया है। इसलिये कि हाथी शाकाहारी है, वन्य-पशुका घोर स्वभाव उससे प्रायः लुप्त-सा हो गया है। अपनी आँखोंके आगे मरते हुए पशुकी मज्जा लेनेके लिये सिंह कभी किसीको नहीं मारेगा। वह तभी मारता है, जब मारनेकी अनिवार्य आवश्यकता उसके सामने उपस्थित होती है। अपनी भूख मिटानेके लिये प्रत्येक वन्य-पशु अपनेसे छोटे पशुको मारनेका प्राकृतिक नियम पालन करता है। कोई भी पशु, जब वह भूखा नहीं होता, किसी प्राणीको नहीं मारता। जब भूखकी तृप्ति हो जाती है, तब वन्य-पशु बहुधा सो जाता है और अपने पास आनेवाले किसी प्राणीको नहीं मारता। सिंह तो सिंह ही है, वह वनका राजा है। वह कभी किसी छोटे खरहे या लोमड़ीका शिकार नहीं करेगा। मांसभक्षी पशुओंमें मारना एक शारीरिक आवश्यकता है, शिकारका खेल या आनन्द नहीं—यहाँ तक कि बाघ भी, जो सिंहसे अधिक क्रूर होता है, किसी अन्य जीवको केवल मारनेके लिये नहीं मारता।

वन्य-पशुओंमें भेड़िया सबसे भूखा प्राणी माना जाता है। वह अपनी भूखके लिये प्रसिद्ध है। इसके संस्कृत नाम वृकमें एक विशेष ध्वनि है। भीमसेनको वृकोदर नाम इसीलिये दिया गया था कि वे अत्यधिक परिमाणमें भोज्य-सामग्री चट कर जाते थे, फिर भी उनका पेट फूलता नहीं था। भेड़िया चाहे जितना मांस खा जायगा, फिर भी उसका पेट देखकर परिणामका पता नहीं चलेगा। किंतु भेड़ियेकी भूख भी प्रकृति शान्त कर देती है। भेड़ियोंका झुंड मनुष्योंके एक लघु समूहपर आक्रमण करके घंटे भरमें ही उसे सफाचट कर जा सकता है। किंतु भेड़िया भी किसी बड़ी सेनाकी सहायतासे युद्ध नहीं करता।

मनुष्य जो अपने जीवनकी प्राकृतिक अवस्थासे नीचे उतर गया है और यह अनुभव करता है कि हिंसा एक वीरोचित क्रीड़ा है, सम्पूर्ण विश्वके प्रति घोषणा करता है कि खरहे, हिरन इत्यादि निरीह पशु शिकारके लिये हैं। पशु-जगत् एवं मानव-प्रकृतिके लिये संतापकी बात यह है कि इस प्रकारकी पुरुषोचित क्रीड़ाकी प्रशंसा संसारकी प्रत्येक भाषाके काव्यमें मिलती है। जब कोई मनुष्य विनाशके अस्त्रोंके साथ किसी वनमें प्रवेश करता है, तब वह अपने कार्यके परिणामका कोई विचार नहीं करता। वह अपने सफल शिकारपर शेखी बघारता है—उस शिकारपर, जिसके द्वारा उसने अनेक सरल पशुओंका अस्तित्व इस संसारसे मिटा दिया! एक दर्जनसे अधिक पशुओंको एक ही दिन मौतके घाट उतार देनेपर उसे अत्यधिक प्रसन्नता होती है। एक शिकारी पशु नहीं, मनुष्य है, जो हत्याकी प्रेरणाका अनुभव करता है!

मानव-समाजमें इससे भी बुरा एक पशु वर्तमान है। यह मानव-पशु मार्ग एवं साधन ढूँढ़-ढूँढ़कर दिन-रात अनेक प्रकारके निर्दय कर्म एवं क्रूर हत्याएँ करता है। वह शस्त्रके सहारे जीवित बैल-बछड़ेकी खाल उधेड़ता है और उस अभागे पशुकी

घोर वेदनाओंको देखकर आनन्दका अनुभव करता है। मानवरूपमें इससे भी भयंकर पशुओंने जालियाँवालाका कत्लेआम (हत्याकाण्ड) तथा नोआखालीकी निर्दयताएँ की हैं। एक हत्यारेको समाजके लिये महान् संकट समझा जाता है, परंतु मानव-समाजके प्रति ऐसे अक्षमाम्य अपराध करनेवालोंको बेदाग छोड़ दिया जाता है। हत्यारोंमें भी हत्यासे आनन्द लेनेवाले बहुत थोड़े होंगे। समाजको चाहिये कि इस प्रकार पैशाचिक आनन्द अनुभव करनेवाले अपराधीको समाजके लिये सबसे भयंकर प्राणी घोषित करे और उसे जीवनभर एक एकान्त पिंजड़ेमें बंद रखे।

विज्ञानकी प्रगतिने मानवताकी बड़ी सेवा की है। अणुशक्तिसे सचमुच मानवताका बड़ा हित हो सकता है। किंतु अणु-बमका ढेर लग रहा है तथा आये दिन आणविक शक्तिके परीक्षण द्वारा हत्यारा मनुष्य जत्र-तत्र दुष्ट शक्तियोंको एक ऐसे समाजपर बिखेरता रहता है जो उसके इस कार्यकी पृष्ठभूमिमें स्थित निर्दयता तथा हत्याकारी मानसिक बलसे सर्वथा अपरिचित है। मानव-समाजके लिये इस समय यह सबसे बड़ा संकट है।

वैज्ञानिकोंपर एक विशेष उत्तरदायित्व है। प्रकृतिमें विराट शक्तिका जो भंडार है, उसकी गहराईमें प्रवेश करनेके लिये उनका स्वागत है; किंतु समस्त संसारके प्रत्येक राज्यके कानूनको स्पष्टरूपसे यह घोषणा कर देनी चाहिये कि जो मानव-समाजपर प्रकृतिकी दुष्ट शक्तियोंको उन्मुक्त करेंगे, वे विश्व-जनताके न्यायालयमें सर्वाधिक दण्डके पात्र होंगे। यदि मानव-जातिको हमारे इस ग्रहपर जीना है तो उसे नष्ट करनेवाली अणुशक्तिका निरोध होना ही चाहिये। युद्धोन्मुख राष्ट्रोंको इस पाशविक स्वभावपर नियन्त्रण रखने और अपनी सीमामें ही रहनेकी शिक्षा देनी ही होगी।

मानवताका समुद्धारक एक सरल सुगम शास्त्रीय परम्परागत नैसर्गिक उपाय

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

मानवताका वास आचारमें है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम वर्णोचित एवं आश्रमोचित आचार-धर्मसे ही वर्णाश्रम कहलाता है, अपने आचारसे भटककर तो पतित हो जाता है। संध्याहीन द्विज शूद्र समझ लिया जाता है तथा द्विज-कर्मसे बहिष्कृत हो जाता है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

ऐसी दशामें मानव मानवतासे पतित होकर मानव कैसे रह सकता है। इसीलिये कहा जाता है—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।

इतने कथनका तात्पर्य यही है कि मानवताके समुद्धारके लिये हम आचार-विचारपर ध्यान दें—

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो पुरुषः प्रेत्य चेह च॥[1]

आचारके लाभोंपर पूर्वजोंने इस प्रकार प्रकाश डाला है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल्लभते कीर्तिं पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् भवेत्।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतवर्षाणि जीवति[2]॥

(मनु०)

आचारमें भक्ष्याभक्ष्यका ध्यान रखना परम आवश्यक माना गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥[3]

(मनु०)

आहार—खाद्यान्न भी निर्दोष, पवित्र एवं सात्त्विक होना चाहिये। इसीसे मानवका मन बनता है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः[4]।

(छान्दोग्य० ६।५।१)

---

१. श्रुति-स्मृतिप्रोक्त आचार प्रथम धर्म है। अतः द्विजोंको आचार-तत्पर रहते हुए आत्मवान् बनना चाहिये।

२. सदाचारके पालन करनेसे आयु एवं लक्ष्मीकी वृद्धि होती है। लोक और परलोकमें मनुष्यको यश प्राप्त होता है। चाहे मनुष्यमें दूसरी कोई भी अच्छी बात न हो, केवल अनसूया, श्रद्धा और आचार-बलसे वह सौ वर्षकी आयु प्राप्त कर सकता है।

३. वेदोंके न पढ़नेसे, आचारका त्याग करनेसे, आलसी बननेसे एवं खराब अन्नके खानेसे मनुष्य अल्पायु होता है।

४. खाया हुआ अन्न तीन भागोंमें विभक्त होता है। स्थूल असार भागसे मल बनता है, मध्यम भाग (रस) से मांस बनता है और सूक्ष्म भागसे मनकी पुष्टि होती है।

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति । एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥[1]

(छा० ६ । ६ । १-२)

खाद्यान्नसे मन अवश्य बनता है; परंतु खाद्यान्न सात्त्विक हो तभी उससे सात्त्विक मानवोचित मन बनता है और ऐसे सात्त्विक मनसे ही मानव उच्चताको प्राप्त होता है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः ।[2]

यही कारण है कि आर्य-शास्त्रोंमें खाद्यान्न और आहार-शुद्धिपर अत्यधिक बल दिया गया है। इसका एक अन्यतम कारण यह भी है कि आहार-शुद्धिके पर्याप्त उदात्त लाभ भी हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।[3]

सात्त्विक आहारका एक अतिरिक्त लाभ यह भी है कि उससे मस्तिष्क—मनस्तत्त्व राजस-तामस बुद्धि-नाशक दोषोंसे असम्पृक्त रहता है, इसका फल यह होता है कि मानवमें मानवता विकासोन्मुख रहती है। अमानवीय तत्त्व उसमें पनपने नहीं पाते तथा Intelligent Glands भी विकासोन्मुख रहती हैं और ये मानवता-समुद्धारक कार्योंमें समधिक सहायक होती हैं। अतः यही आहार-शुद्धिका एकान्त उदात्त फल है।

मानवता

(लेखक—श्रीनत्थुरामजी गुप्त)

मानवताके विषयमें अपने विचार व्यक्त करनेसे पहले मेरे मनमें यह प्रश्न उठता है कि 'मानवता' क्या वस्तु है। और जब मेरी बुद्धि मानवताका अनुसंधान करती है, तब यह निर्णय देती है कि अकैतव प्रेम ही मानवता है। तब प्रश्न होता है कि सच्चा प्रेम क्या है। एक जगह कहा गया है—

कैतवरहितं प्रेम न हि तिष्ठति मानुषे लोके ।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥

वास्तवमें प्रेममें व्यवधान सहनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। तब इसका अन्तिम समाधान यही निकलता है कि सच्चा प्रेम तो अपनी आत्माके सिवा किसी दूसरी वस्तु या व्यक्तिमें हो ही नहीं सकता, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्यने अपनी प्यारी पत्नी मैत्रेयीको संन्यास ग्रहण करते समय समझाया था—'आत्माके लिये ही सर्वप्रिय है, न कि सबके लिये आत्मा।' आत्माको ही देखना, सुनना, मनन करना और निदिध्यासन करना चाहिये (बृ० उ० ६ । ५ । ६)। अर्थात् सच्चा प्रेम अपने आत्माके सिवा लोक-परलोकमें किसी वस्तु या परिस्थितिसे हो नहीं सकता। यदि सच्चा प्रेम अपने आत्मासे हो गया तो आत्मा प्रकट हुए बिना नहीं रहता। भगवान् तो गीतामें कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६ । ३०)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(गीता ६ । ३१)

और फिर कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

(गीता ६ । ४६)

अर्थात् भगवान्‌को भी तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे श्रेष्ठ योगी ही जँचते हैं; तभी तो अपने सखा अर्जुनसे वे कहते हैं—इसलिये तुम योगी बनो। और योगी बननेके लिये घर-बार छोड़कर कहीं अन्यत्र जानेको नहीं कहते हैं। इसका सार यही निकलता है कि आत्मज्ञान ही मानवता है। परंतु बड़े मजेकी बात तो यह है कि हम दिन-रात विषयोंसे तो प्यार करते हैं, किंतु विषयीको भुला बैठे हैं। कितना मोटा पर्दा हमारी बुद्धिपर पड़ा हुआ है। राम ही जाने। फलतः यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसा विषयी

१. दधिके मथनेपर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घी बनता है। उसी प्रकार अन्नके सूक्ष्म अंशसे मन बनता है।

२. सत्त्वगुणी लोग ऊर्ध्वलोकोंको जाते हैं।

३. आहार-शुद्धिसे सत्त्व-शुद्धि, सत्त्व-शुद्धिसे ध्रुवस्मृति और स्मृति शुद्धिसे सम्पूर्ण अविद्याकी ग्रन्थियोंका नाश हो जाता है।

कौन है ? इसका सरल उत्तर यही है कि 'मैं' ही विषयी हूँ, मेरी ही बुद्धिपर पर्दा पड़ा हुआ है और वह मेरा ही डाला हुआ है। मैं जिस दिन चाहूँगा, पर्दा उठा लूँगा। मुझको ही विषयोंकी निरन्तर चाह लगी हुई है। जितना ही विषयोंको भोगता हूँ, उतनी ही अतृप्ति बढ़ती जाती है, जैसे अग्निमें घृताहुति डालनेसे अग्नि। क्या यही मानवता है ? आज दुनियाभरमें जीवनस्तरमें (Standard of living) को ऊँचा करनेकी माँग हो रही है, सृष्टि-दृष्टिवादको बढ़ावा दिया जा रहा है और इसीको आजके मानवने सभ्यताका युग मान लिया है। भारत भी इस आधुनिक सभ्यतासे अछूता नहीं रहा। जो 'भा-रत' था, वह 'तम-रत' होता जा रहा है। योगयन्त्रकी जगह यन्त्र-योगका पुजारी बनता जा रहा है। पञ्चवर्षीय योजनाकी स्थापनाके नामपर भारतीयोंका खून चूसा जा रहा है। पेटके लिये रोटी नहीं, तन ढकनेको वस्त्र नहीं। एक, दो नहीं लाखोंकी संख्यामें लोग वृत्तिहीन हैं। रुपयेका कोई मूल्य नहीं। रुपयेका १॥-२ सेर अन्न भी प्राप्य नहीं। घूस और चोरीका बाजार गरम है। बड़ी-से-बड़ी रिश्वत खानेवाले भी उच्च पदाधिकारी बने हुए हैं। भगवान् तो अपनी ही मायासे मोहित होकर जीव बने हुए हैं। पर जीव अपनी मायासे मोहित होकर नर-पशु बन गया। जिस भारतको मानवताका उद्गमस्थान माना जाता है, उस भारतकी आज यह दुर्दशा ! इसी भारतमें बड़े-बड़े महामानव आये और अपने आचरणोंसे भारतीय आदर्शको स्थिर कर गये; किंतु दुःख होता है हमलोगोंकी मायाकी निद्रा भंग न हुई।

अब यह प्रश्न उठता है कि यह वास्तवमें क्या बला है, जिसने बड़े-बड़े मायावियोंको भी नचा रखा है। इसके भेदको बाबा आदम (ब्रह्माजी) को भी खोजनेके लिये एक हजार दिव्य वर्षोंतक तपस्या करनी पड़ी। तब कहीं भगवान्ने प्रसन्न होकर उन्हें अपना वह लोक दिखाया जो सबसे परे है, जिससे परे और दूसरा लोक नहीं; वहाँ कालकी दाल भी नहीं गलती और न माया ही कदम रख सकती है। फिर मायाके बाल-बच्चोंका तो कहना ही क्या है (देखिये भागवत २। २। ९—१३)। अन्तमें श्रीमद्भागवतके दो-एक मन्त्र देकर अपनी लेखनीको विश्राम देता हूँ।

मायाकी परखके रूपमें—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥
(श्रीमद्भा० २। ९। ३३)

और इसकी विधिके रूपमें—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥
(श्रीमद्भा० २। ९। ३५)

इन मन्त्रोंपर फिर कभी अपने विचार व्यक्त करनेकी चेष्टा करूँगा। इस समय तो केवल अपना मूल-मन्त्र ही दे देना चाहता हूँ—

स्वरूपकी विस्मृति ही माया है।
स्वरूपकी स्मृति ही मानवता है।
स्वरूपावस्थिति ही भगवत्ता है।

और आधुनिक सभ्यतावालोंसे उन्हींकी भाषामें कहता हूँ—

Man is God on earth subject to death.
God is man in heaven free from death.
go know is to remember.

बोध कब होता है ?—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजं ह्यनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥

हरि-नाममें आलस्य क्यों ?

हरिके नामको आलस क्यों रे काल फिरत सर साँधें।
हीरा बहुत जवाहर संचे कहा भयो हस्ती दर बाँधें॥
बेर कुबेर कछू नहीं जानत चढ़ो फिरत नित काँधें।
कह हरिदास कछू न चलत जब आवत अंतकी आँधें॥

—श्रीहरिदासजी

मानवता

(लेखक—श्रीअनन्त शंकर कोल्हटकर, बी० ए०)

मनुते इति मानवः। जो विचार कर सकता है, वह है मानव। और मानवता है—विचारयुक्त सुविचार-समर्थित, सौहार्दपूर्ण आचरण।

यत्किंचित् विचारसे मानव समझ सकता है कि जैसे वह स्वयं अपना सुख ही चाहता है, दुःख कदापि नहीं, वैसे ही सृष्टिका प्रत्येक जीव चाहता है। अतः मानवका प्रथम धर्म—मानवताका पहला तकाजा यह है कि मन-वाणी-शरीरसे किसी भी प्राणीको कभी किंचिदपि दुःख न दिया जाय और सभीको हर तरहसे सुखी बनानेका प्रयत्न किया जाय।

मनुष्यने विचारकी दृष्टिसे परिस्थितिको जैसा समझा हो, प्रसङ्ग आनेपर उसे ठीक वैसा ही प्रकट करना, अपनी वाणीसे दूसरेकी बुद्धिकी प्रतारणा न करना—इसीका नाम सत्य कथन है, यह मानवका दूसरा धर्म है। परंतु केवल सत्य कथनसे सत्यकी पूर्णता नहीं होती। मानव सोच-समझकर जो करनेका निश्चय करे, वही करे। अर्थात् सत्यपालन—अपना वचन सत्य करना—यही सत्यका वास्तविक अर्थ है। सम्पूर्ण लोक-व्यवहार इसीके आधारपर चलता और टिक सकता है। अतः सत्यसंधत्व मानवका परम धर्म है।

मैं नहीं चाहता कि मेरी किसी वस्तुको कोई दूसरा ले ले; अतः मेरा भी यही कर्तव्य हुआ कि मैं भी किसीकी कोई वस्तु न लूँ। यह 'अस्तेय' मानवका तीसरा धर्म है। 'स्तेय' दो प्रकारका है—(१) 'अप्रदेयस्य आदानम्।' न देने योग्य वस्तुको लेना—जैसे क्षुधितका अन्न। और (२) 'प्रदेयस्य निरोधनम्।'—देने योग्य वस्तुको न देना—जैसे क्षुधितको अन्न। आत्मौपम्य-बुद्धिसे—परोपकारकी भावनासे—ईश-पूजाके हेतु, यथा—

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम्॥

यथासम्भव अपना सब कुछ दे देना और दूसरोंसे कुछ भी न लेना सच्चा अस्तेय है।

मानवसे कम बुद्धिवाले पशु-पक्षी भी गंदे रहना पसंद नहीं करते, अपनी बुद्धि-शक्तिके अनुसार सभी स्वच्छ रहते हैं। सुतरां सुबुद्ध मानवका पवित्र रहना अवश्यकर्तव्य है। अतः उसका चौथा धर्म है—मन, वाणी, शरीरसे वह सदा पवित्र रहे, कभी उन्हें अपवित्र न होने दे।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
... ...
इन्द्रियाणि हयानाहुः... ... ... ॥
(कठोपनिषद् १। ३। ३-४)

जैसे रथमें घोड़े हैं, वैसे ही हमारे शरीरमें इन्द्रियाँ हैं। सारथिके नियन्त्रणमें न रहनेवाले घोड़े जैसे रथी और सारथि दोनोंको गड्ढेमें डाल देते हैं, वैसे ही उच्छृङ्खल इन्द्रियाँ मानवको पापपङ्कमें फँसा देती हैं। अपनी सब इन्द्रियोंको (मन, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियोंको) स्वाधीन रखकर उनको सदा सत्कर्मप्रवृत्त रखना मानवका पाँचवाँ धर्म है।

इन पाँचोंमें मानवता संनिहित है। इनको जाननेवाला माननेवाला और पानेवाला है मानव। अन्यथा 'साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

सच्चा मानव

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

'परम धाम'के नाम-पटसे सुशोभित—श्रृङ्गारित भगवान्‌के विभूति-भव्य प्रासादका विलक्षण द्वार बंद था।

द्वारके समीप ही—न, न, उससे लगी ही एक वस्तु रखी थी, जिसने निम्न आत्म-परिचय-चिट लगा रखी थी।

"मेरा नाम 'परम स्वतन्त्रता' है। मुझे प्राप्त करके ही 'परम धाम'में प्रवेश और भगवान्‌से भेंट सम्भव है। सभी मुझे पा सकते हैं। किसीके लिये भी न मैं कम पड़ती हूँ और न तो प्रयास करनेपर अलभ्य ही हूँ।"

स्वतन्त्रताके लिये कौन दीवाना नहीं है! साधारण-साधारण स्वतन्त्रताओंके लिये लोग मरे-मिटते हैं। यहाँ तो सम्मुख थी 'परम स्वतन्त्रता'—'आमके आम, गुठलियोंके दाम'वाली कहावत चरितार्थ करती हुई, 'परम धाम'में प्रवेश तथा भगवान्‌से भेंट आदिके दुहरे-तिहरे आकर्षण रखती। दुनिया पिल पड़ी उसे हस्तगत करनेके लिये। सभी परस्पर धक्का-मुक्की करते, एक-दूसरेको रौंदते-खदेड़ते, दाबते-कुचलते तथा तरह-तरहकी तिकड़में लड़ाते आगे बढ़ चले—सबसे पहले उसे स्वयं ही प्राप्त करनेके लिये। 'पीछे कौन जाने क्या हो' 'जो पहले मारे, सो मीरी' आदि तथ्योक्तियोंसे सुपरिचित जो थे वे सब। अतः क्रम-नियम सब ताकपर उठाकर रख दिये गये। मानवताको भी नकली दाढ़ी-मूँछकी तरह उतारकर कोने-कचोनेमें डाल दिया गया, जैसे वह अभिनयमरके ही लिये आवश्यक वस्तु हो। परिणाम यह निकला कि एक विचित्र आपाधापी पड़ गयी। भयंकर गुल-गपाड़ा मच गया। ईर्ष्या, द्वेष, कलह एवं रक्तपातसे समूचा वातावरण व्याप्त हो गया और यह वातावरण-कोने-कचोनेमें पड़ी मानवताके कलेजेको कचोटने लगा।

पर मजा यह था कि इतनी सब हाय-तौबा होते हुए भी 'परम स्वतन्त्रता' हाथ किसीके नहीं लग रही थी। जो गिर-पड़कर अथवा अन्योंके छल-कौशलका शिकार होकर पिछड़ जाते थे, उन बेचारोंकी तो बात ही क्या; परंतु जो येन-केन प्रकारेण उसतक पहुँच भी जाते थे, उन्हें वह अपने हाथ नहीं लगाने देती थी और इस तरह उन्हें भी विफल-मनोरथ ही रहना पड़ता था। सुबहसे सब जुटे थे इस प्रयासमें, शाम होनेको आ गयी; लेकिन कोई भी तो कामयाब नहीं हुआ। आखिर लौट चले सब—'परम स्वतन्त्रताको एक काल्पनिक—ऐन्द्रजालिक वस्तु समझकर उसकी चर्चा भरका रस लेते।

इस सब शोर-गुलसे तनिक हटकर दीन-हीन-सा लगता, दुबला-पतला एक व्यक्ति और भी था वहाँ, जो पहलेसे ही उस जगह नहीं था, अन्योंके लिये स्थान छोड़ते, उन्हें अवसर प्रदान करते यहाँ आ लगा था—सबसे पिछैतीमें पड़ गया था। वह शान्तिपूर्वक किंतु सोत्साह अपने अवसरकी प्रतीक्षा कर रहा था। लौटते हुए जनसमूहमेंसे लहीम-शहीम पहलवानोंके भीम दलने उसपर ठहाका मारकर करारा व्यंग-प्रहार किया—

'अरे वाह रे खपच्ची! हमारे दाँव तो खाली गये, उस्ताद; लेकिन तू जरूर हथियायेगा 'परम स्वतन्त्रता'को। मुँह आइनेमें तो देख रखा है न?'

बुद्धि-गर्विष्ठोंकी मण्डली भी चुटकी भरनेसे नहीं चूकी! बोली—

"अस्खाह! आपको देखिये। आप हैं बुद्धि-वारिधि। 'परम स्वतन्त्रता' को वरकर ही टलेंगे यहाँसे। तनिक खयाल रखियेगा श्रीमन्! कहीं चौड़ेमें ही न लुट जाइयेगा!'

उस चुप-चाप शान्त खड़े हुए व्यक्तिने इन दोनोंकी सुनकर माथेमें बल तो एक भी नहीं डाला; हाँ, किंचित् मुसकराकर उत्तर अवश्य दे दिया उनके ही लहजेमें, पर स्वरको अपूर्व स्नेह-स्निग्धतासे पूर्ण करके पहलवानोंसे उसने कहा—

'मैं खपच्ची ही सही; लेकिन हाथी हिले जा रहे हैं, खपच्ची जमा हुआ है—यह बात क्या कम है? हाथी विश्वास रखें, खपच्ची जमा ही रहेगा; क्योंकि वह किसीको हटाकर खड़ा नहीं हुआ है और न तो किसीकी राहका काँटा बना है।..........अभी भी नहीं बन रहा।'

बुद्धि-सम्राटोंको उसने उत्तर दिया—

'लुटनेकी चिन्ता बुद्धि-सम्राट् करें। बुद्धि-कंगालको इससे क्या लेना-देना! वह तो दिलकी दौलतसे मालामाल है—उस दौलतसे, जो जितनी लुटती है, बढ़ती जाती है।'

पहलवान आँख दिखाते, बुद्धिमान् मुँह बिराते और जन-साधारण उपेक्षाकी उछटती-सी दृष्टि उसपर डालते हुए लौटे चले जा रहे थे। सहसा यह लौटती दुनिया दंग रह

गयी !—आश्चर्य-भूकम्पसे लौट गयी !!'·······यह देखकर कि 'परम स्वतन्त्रता' स्वयं अपनी जगहसे चलकर उस—सबकी दृष्टिमें उपहासास्पद व्यक्तिके चरणोंमें लोट रही थी और कह रही थी—

'मुझपर निज-प्राप्ति-कर फेरकर मुझे कृतार्थ करें ।'

और लजाता-सकुचाता-सा, विनय-विनम्रताकी प्रतिमा बना हुआ कह रहा था वह अटक-अटककर—

'मैं-मैं ? मेरा अवसर आ गया ?'

'हाँ, क्यों न आता ?' कृतार्थ—पुलकसे पुलकते, निहाल हुई-सी परम स्वतन्त्रता उत्तर दे रही थी—'तुम सच्चे मानव जो हो । औरोंको अपूर्व आत्मीयतासे भरकर अवसर लेते रहने देना, अपने अवसर भी उन्हें ही प्रदान करते रहना और फिर भी कभी-न-कभी आनेवाली अपनी बारीकी हताश न होकर धैर्यपूर्वक सोत्साह प्रतीक्षा करना ही तो यथार्थ मानवता है । और जो यथार्थ मानवताका धनी है, 'परम स्वतन्त्रता' उसकी चरण-चेरी है, 'परम धाम' उसके लिये हस्त-कमलवत् है और भगवान् हैं स्वयं उसके अपने रूप !'

देखते-देखते सबको सकतेके आलममें छोड़कर वह सच्चा मानव परम स्वतन्त्रताको प्राप्तकर परम धाममें प्रवेश कर गया, भगवान्‌से भेंट करके उनमें समाकर कृतकृत्य हो गया । यह सब करते-करते भी, जन-जनको 'परम स्वतन्त्रता'-प्राप्तिका सक्रिय पाठ पढ़ा, उन्हें जीवन-कृतार्थके पथपर सहज आत्म-भावसे अग्रसर कर वह अपनी यथार्थ मानवताको और चरितार्थ करता गया ।

दुनियाकी आँखोंमें अब प्रेम और कृतज्ञताके आँसू थे और अधरोंपर थी गौरव-गरिमा-पूर्ण मुसकान । किसी समयका उपहासास्पद श्रद्धाका पात्र बन गया था युग-युगतक और लोक-लोकमें पूजा जानेके लिये—हाँ, युग-युगतक और लोक-लोकमें; क्योंकि सच्चा मानव आखिर सच्चा मानव है । देश-कालकी सीमासे आबद्ध नहीं रहता उसका जीवन-साफल्य ।

दानवताके दहकते दावानलमें मानवताके दर्शन

(लेखक—श्रीहरिहरप्रसादजी अठघरा)

घटना कई वर्ष पुरानी है । मैं उस समय कलकत्ते किसी कार्यवश गया हुआ था और दिनभर शहरमें आवश्यक कार्यवश घूम-घामकर कार्य करनेके बाद कुछ बाजारसे सामान खरीद करता रहा और इसी उधेड़-बुनमें कुछ खरीदे हुए सामानमेंसे कुछ चीजें चितपुररोड तथा हरीसनरोडके जंकशनपरकी एक दूकानमें छूट गयीं । उसी जंकशनपर विपरीत कोनेपर अनेक पेशावरी मुसल्मानोंकी फलकी भी दूकानें थीं (अभी भी हैं), जिनके यहाँसे मैं बराबर फल इत्यादि भी लिया करता था । संयोगसे डेरे आनेपर जब देखा कि कुछ सामान दूकानदारके यहाँ ही छूट गया है तो फौरन उसे लेनेके लिये ट्रामसे लौट पड़ा । समय करीब साढ़े तीन-चार अपराह्न था । दूकानमें पहुँचकर मैंने छूटे हुए सामानकी तलाश दूकानमें की तो भद्र सज्जनने मुझको सामान देते हुए कहा—'बाबू ! जल्दी भागो, हम दूकान बंद करते हैं । यहाँ दंगा हो गया है ।' और मुझको तुरंत दूकानसे बाहर निकालकर लोहेका कौलैप्सिबल गेट (दरवाजा) एकदम बंद कर लिया । देखते-देखते जो दंगा मछुआ बाजार स्ट्रीटमें शुरू हुआ था, वह बढ़कर सिंदुरियापट्टीमें आ गया और मैं निरालम्ब होकर बिना असली रहस्य समझे उस काबुली फलवालेकी दूकानमें घुस पड़ा । काबुली फलवाला, जो काफी बलिष्ठ और तेजभरे चेहरेवाला था, मुझे देखकर तुरंत गोदमें उठाकर अंदर ले गया तथा एक लोहेकी कुरसी देकर अंदर बैठा दिया । बोला—'बाबू ! चुपचाप बैठे रहो, हिंदू-मुसल्मानका दंगा हो गया है, परंतु तुम शान्त रहो । मेरे जिंदा रहते तुमपर आँच नहीं आयगी ।' अब मैंने जाना कि परिस्थिति क्या है और अन्तर्मनसे परम पिता परमात्माका ध्यान-चिन्तन करने लगा । बीस-पचीस मिनट बाद दो-तीन काबुलियोंने मुझे बीचमें करके, एक ट्राम, जो उस दिन आखिरी ट्राम साबित हुई थी और जो बीडन-स्कायरकी ओर जा रही थी—उसमें मुझे गेंदकी तरह उठाकर ट्रामकी खिड़कीसे अंदर पहुँचा दिया । इस भाग-दौड़में मेरी टोपी कहीं गिर गयी, कुरता फट गया, परंतु ईश्वरकी अनुकम्पा तथा उन काबुलियोंकी मानवतासे मैं सकुशल ट्राममें था । अब ट्राम आगे बढ़ रही थी और जो दृश्य अपनी आँखोंसे हरीसनरोडके चौराहे तथा मछुआबाजारका देखा, उसकी तो याद आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं । खैर, राम-राम करते-करते हमलोगोंकी ट्राम बीडन स्ट्रीट चौराहेपर पहुँची । मैंने उसे रोकनेके लिये बहुत घंटी दी, परंतु उसमें प्रायः सारे यात्री शोभाबाजारके थे और भयवश ट्राम वहाँ नहीं रुककर आगे बढ़ गयी । परंतु उधर उस समय कोई गोलमाल नहीं थी, हमलोग आगे जाकर उतरे और अपने-अपने डेरेपर सकुशल पहुँच गये ।

रात्रिमें ज्ञात हुआ कि मेरे ट्राममें चले आनेके उपरान्त उसी चौराहेपर अनेक निरीह व्यक्तियोंको उस दंगेमें प्राणोंसे हाथ धोने पड़े ।

सत्य अपने पथपर सतत अग्रसर

(लेखक—श्रीरिचर्ड हिटवेल, वेअर हर्ट्स, इंग्लैंड)

एक महान् उपदेशकके ये शब्द हैं कि 'ईश्वरके मुखसे जो शब्द निकला, उस पवित्र शब्दमेंसे ईश्वरको अधिकाधिक प्रकाश और सत्य सतत प्रकट करना है।' यह कथन सत्य है। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि उसके द्वारा प्रकटित सत्य अपने पथपर सतत आगे बढ़ रहा है। बाइबलके शब्दोंमें यह कहना सच है कि उसका यह सत्य युग-युग टिका रहता है; कारण, 'सनातनसे सनातनतक तू ईश्वर है।' उसकी वाणी व्यर्थ नहीं जाती। वह अन्यथा हो ही कैसे सकता है।

'कारण, वर्षा जैसे नीचे आती है तथा स्वर्गसे हिम आता है और लौटकर नहीं जाते, किंतु भूमिको सिंचित करते हैं और उससे उपज कराते तथा अङ्कुर उत्पन्न करते हैं, वैसा ही मेरा शब्द होगा, जो मेरे मुखसे निकलता है; वह मेरे पास खाली नहीं लौटेगा, किंतु मैं जो चाहूँ उसे पूर्ण करेगा और उस पदार्थके रूपमें फूले-फलेगा, जिसके उद्देश्यसे मैंने उसे भेजा है।'

क्या यही बात उस शब्दके बारेमें भी लागू नहीं है, जिसपर हमारा आध्यात्मिक, वास्तविक जीवन टिका हुआ है? जब हम अपने चारों ओर देखते हैं, तब क्या कभी हमें उसमें विफलता, निराशा, निस्सारता और करुणरसताके दर्शन हो सकते हैं? मनुष्यका स्व-निश्चित साधन सदा विफल होता है, यह स्पष्ट है। जिधर देखते हैं, उधर यही दीख पड़ता है। पर इसके विपरीत ईश्वरका मार्ग है, ईश्वरीय सत्य, ईश्वरीय अभिप्राय है। यदि ऐसी बात न होती तो वास्तविकता कुछ न रहती, कोई ईश्वर न होता, कोई सत्य और कोई उद्देश्य न होता। पर वह वस्तुतत्त्व स्थिर है, जिसका सभी शास्त्र प्रतिपादन करते हैं, हमारी मानवीय व्याख्याएँ उसके सम्बन्धमें चाहे जैसी भी हों।

हम सबके अनुभवगत भयानक और तमसाच्छन्न शीतकालमें, जब हमारा उत्साह अंदरसे और बाहरसे मन्द हो जाता है, तब हम वैसा सोच सकते हैं; पर जब वसन्तका आगम होता है, पक्षियोंके कलरव सुन पड़ते और फूल खिलने लगते हैं, जीवन सर्वत्र ही नवीन और मधुर होकर उत्साहसे भर जाता है, तब क्या हम ऐसा सोच सकते हैं?

शीतके बाद वसन्त। यही जीवनका नियम है जो वर्ष-प्रतिवर्ष अचूक रूपसे हमारे सामने प्रत्यक्ष हुआ करता है।

ईश्वर यदि चाहता तो इस विषयमें अन्यथा संकल्प कर सकता था। पर उसने ऐसा नहीं किया और इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समस्त सर्गके हृदयमें एक सद्भावना अनुस्यूत है। शीतकालको अपनी कठोर कर्कशताके साथ किसी मूलभूत सत्यकी गहराईमें घुसकर वसन्तकालके आनेसे पहले अपना काम कर लेना पड़ता है।

हमारे आध्यात्मिक जीवनमें वसन्तका आगम एक छोटा-सा नवसस्योत्सव ही है। पर एक नवीन और महत्तर नवजीवनोत्सव आनेवाला है जब हम स्वानुभवसे उसके लिये तैयार हों। और फिर इससे भी अधिक प्रगाढ़ आश्चर्यसे भरा महोत्सव आनेको है जब मानवजाति उसके लिये तैयार हो। वही भगवान्के प्राकट्यका महादिवस होगा।

ऐसे आगम और प्राकट्यकी ओर संकेत करनेवाले कुछ चिह्न दीख रहे हैं। उदाहरणार्थ, चर्च-संस्थाका जब पहले-पहल महदारम्भ हुआ, तब उसके सामने जो आशामय भविष्य था उसके इतने समीप हमलोग आज आ गये हैं, जितने इससे पहले कभी नहीं थे। मानो कोई चक्र घूमकर उसी बिन्दुपर पहुँच रहा है, जहाँसे उसका परिक्रमण आरम्भ हुआ था। वास्तवतः जो रूप और दृश्य दीख पड़ते हैं, उनके रहते हुए भी उन प्रबोधशील जीवोंकी संख्या भी बढ़ रही है, जो पुरातन-नवीन संदेशको मानकर चलना चाहते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि पुरातन संदेशमें उसके आरम्भकालमें जो ताजगी, जो नवीनता थी, वह आज फिरसे अनुभूत होने लगी है; 'सुसमाचार' का वह पुरातन सदुपदेश आज नवीन रूपमें सामने आ रहा है। ईसा आज उतने ही हमारे इस युगके हैं, जितने आजसे दो हजार वर्ष पूर्वके ऐतिहासिक युगमें थे। उनकी भूतकालीन वाणी आज अभीकी-सी जान पड़ेगी; क्योंकि उसे हम अपने वर्तमान अनुभवों और भविष्यसम्बन्धी भावनाओंके मध्यमें ही बिना किसी अन्तरायके सुन सकेंगे। उनकी वाणी, उसी भाषामें, जिसे हम जानते हैं, उन्हीं सनातन मूल्योंको अभिव्यक्त करेगी।

जहाँ वे प्रवेश करते हैं, कालके परदे पीछे हट जाते हैं; क्योंकि सनातनको वे कालके भीतर ले आते हैं और सब

काल उनके द्वारा प्रकट होनेवाले दिव्य ज्योतिर्मय केन्द्रके चतुर्दिक् एकत्र हो जाते हैं। और सभी युगोंके, वास्तवमें जागे हुए जीव, जो उनके उन्मुख होकर उनके पास आते हैं, उनपर, दिव्य मधुर प्रकाशमें जगमगाते हुए, ईसामसीहको प्रकट कर देते हैं—वे ही ईसामसीह, जो कल थे, आज हैं और सदा रहेंगे। कालकी परिधिसे बाहर निकलकर वे ईश्वरीय साम्राज्यके वर्तमानमें आ जाते हैं—वहाँ हमारा स्वागत करने, हम सबमें परस्पर भ्रातृभाव और एकत्व स्थापित करने, वहाँ भी जहाँ सब युग मिलते हैं। इसी प्रकार हम उनके अंदर सब युगोंके भगवत्कृपापात्र और ईसामसीहको प्राप्त जीवोंसे मिलें और उनके साथ भ्रातृभाव स्थापित करें।

भूतकालमें जो बात सत्य थी, वह आज भी उतनी ही सत्य है। सनातन मूल्य शान्तिके साथ स्थिर और सुरक्षित रहते हैं। यदि यह बात ऐसी ही है तो हमारे लिये निराशाका कोई कारण नहीं। हमें ईश्वरके साथ 'हाँ' कहना होगा, चाहे सारा जगत् चिल्लाकर 'ना' कहे। हमें जगत्के दुःखमय रूपोंसे अभिभूत न होकर अपने विश्वासके बलपर, अलखकी ओर झाँकते हुए, आगे बढ़े चलना होगा। मनुष्य यदि विफल हुआ है तो होने दो; पर ईश्वर कभी विफल नहीं हो सकता। इस समय जब कि जड़वादका पर्वत टूटकर ढहता दीख पड़ता है, हम ईसाके उन शब्दोंकी ओर ध्यान दें, जो ऐसे समयके लिये कहे गये हैं—'जब ऐसी बातें होने लगें, तब अपनी आँखें ऊपर उठा लो; कारण, तुम्हारी मुक्ति समीप आ रही है।'

जड़वादके काले परदेका गिरना बहुत कष्टदायक है। फिर भी इन दिनों बहुत-से श्रद्धालु लोग जो संघटित चर्च-संस्थासे अलग हो गये, यह निश्चितरूपसे कोई अशुभ लक्षण नहीं है। अथवा हम जो देखते हैं कि युवक-समाज प्रायः सब-का-सब मानो एकमत होकर चर्चसे विमुख हो रहा है तो यह भी सर्वथा दुश्चिह्न नहीं है, न इसमें दुःख करनेकी ही कोई बात है। इसका अंशतः यह कारण हो सकता है कि इन युवकोंमें अधिक गहरी सचाई तथा ऋजुता विशेषरूपसे हो और ऐसा होना तो स्वयं एक अच्छी बात है। इनकी तरुण बुद्धि, बिना किसी मध्यस्थके सीधे सत्यको ढूँढ़ रही है। ये सब बातोंको प्रमाणित करनेपर तुले हैं और सम्भवतः आधुनिक गतिसे वे यह कर भी लेंगे। पर ऐसा करनेमें उनकी भी परीक्षा और जाँच होगी और जो अनुभवके बाद अनुभव उन्हें प्राप्त होते जायँगे, उन्हें झटके भी खूब लगेंगे।

युवकोंका आदर्शवाद कलकी दुनियाके उद्धारका साधन होगा। परंतु सांसारिक भोगासक्तिको उच्छृङ्खलता तथा नैतिक मूल्योंकी अवहेलना जो अपने चारों ओर देखते हैं, उन्हें देखकर हृदय खेद और विषादसे भर जाता है। कारण, यह तो सुलगते हुए ज्वालामुखीके मुखके चारों ओर जमकर उन्मादपूर्ण नृत्य करना है। पता नहीं, ज्वालामुखी कब फूट पड़े और आग उगलने लगे। इन बातोंको देखकर सचमुच ही बड़ा दुःख होता है।

सामान्यरूपसे चर्चकी एक अपूर्ण परिभाषा यह है कि यह धर्मकी रक्षा करनेवाली संस्था है। यह किसी अन्य परिभाषामें अच्छी हो, यह बात नहीं; पर यदि यह चर्चकी वर्तमान अवस्थाके सम्बन्धमें सर्वथा सत्य हो तो इसके लिये हमें कृतज्ञ होना चाहिये। पर क्या यह सच्ची बात नहीं है कि चर्च-संस्था इस समय एक स्थिर धर्मकी अर्थात् उसके बँधे-बँधाये सूत्रों, सिद्धान्तों और विधियोंकी रक्षा करती है? परंतु ईसामसीहका चर्च ईसामसीहका नहीं रह जाता, यदि उसमें प्राण नहीं होते और यही कारण है जो बहुत-से लोग चर्चसे निकल गये; क्योंकि उसके वातावरणमें उनका दम घुटता था।

तथापि चर्चमें संत भी हैं, उसके व्याख्यानमञ्चोंसे महापुरुषोंकी भविष्य-वाणियाँ निकलती हैं। ऐसे लक्षण भी दीख पड़ते हैं कि जो बात किसी समय पहले थी, उसका पुनः आरम्भ हो रहा है। उदाहरणार्थ, इस समय जो प्रार्थनाद्वारा चिकित्साका कार्य-क्रम चल रहा है, उससे यह स्पष्ट है। इसीके कारण हम ईश्वरकी स्तुति करते हैं। पर इन सब बातोंमें हम चर्चके लिये एक आवाज सुनते हैं कि, 'अपने आपको धो डालो, अपने आपको स्वच्छ करो। ईसाके सम्मुख होओ, वह तुम्हारे ऊपर दया करेगा; अपने ईश्वरका आश्रय लो, वह तुमपर क्षमा-ही-क्षमा उडेल देगा।'

आज फिर नये तौरपर चर्चको यह निमन्त्रण दिया जा रहा है कि अपने परमपतिके स्वागतके लिये वधू बनकर तैयार हो जाओ और फिर एक बार आत्माकी शक्तिसे सम्पन्न सैनिक-रूप चर्च बनो।

तब आबाल-वृद्ध-वनिता सब तुमसे मुँह नहीं फेरेंगे,

बल्कि उत्सुक पदक्षेपके साथ तुम्हारे पास आयेंगे; क्योंकि एक ज्योति जगमगाने लगी है, जिसे सबने देखा है और वह वाणी सुनी है, जिसे वे जानते हैं कि सत्य है तथा जो उस सत्यको समर्थन करती है, जिसे वे ढूँढ रहे थे और जिसे अपने हृदयोंके अंदर वे अनुभव कर रहे हैं कि उसे वे सदासे सचमुच ही ढूँढ़ते रहे हैं।

मानव-धर्म महान् !!

(रचयिता—श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु')

(१)

मथी गई सागरकी लहरें, निकले रत्न महान !
देख हलाहलके उस घटको काँप उठे भगवान !
हँसते-हँसते पान कर गये उसको शंभु सुजान !
साधक ! सावधान; यह ही है मानव-धर्म महान !!

(२)

अवधपुरीमें बजी बधाई, राजतिलकका गान—
अकस्मात् रुक गया, रामने किया विपिन-प्रस्थान !
'धिक् जीवन !!'—कहकर दशरथ भी चढ़े स्वर्ग-सोपान !
साधक ! सावधान; यह ही है मानव-धर्म महान !!

(३)

हेम तुलापर कब तुल पाया सतियोंका ईमान ?
सती पद्मिनी राख हो गई, दुर्ग मिला सुनसान !
हुआ पराजित तुच्छ विजेता वह दिल्ली सुल्तान !
साधक ! सावधान; यह ही है मानव-धर्म महान !!

(४)

शीर्ष-बिन्दुपर पहुँच चुका था अकबरका अभिमान !
इसीलिये तो प्रगट हुए थे राणामें भगवान !
हल्दीघाटीमें वीरोंने किया विषम विष-पान !
साधक ! सावधान; यह ही है मानव-धर्म महान !!

(५)

उस संध्यामें प्रगट हुआ जब मानवमें शैतान !
गोली खाकर गिरा भूमिपर वह सच्चा इन्सान !
कोटि-कोटि-शत वृद्ध हुए थे तब उसपर कुर्बान !
साधक ! सावधान; यह ही है मानव-धर्म महान !!

साम्यवादी नैतिकताका औदार्य

[लेखक—रूसी विद्वान् श्री सी० नेस्तेरेन्को एम्० एस्०-सी० (दर्शनशास्त्र)]

साम्यवादी नैतिकता अत्यन्त उच्च कोटिकी है; इसमें सच्ची उदारता एवं यथार्थ मानव-सम्बन्धोंको अभिव्यञ्जना मिली है। मूलतः वर्गविशेषसे सम्बद्ध होनेके कारण यही सारी श्रमजीवि-जनताकी भी नैतिकता है; क्योंकि मध्यवित्तीय लोगोंके साथ अपनी लड़ाईमें श्रमजीवी वर्ग केवल अपने वर्गके स्वार्थका ही नहीं, वरं सारी जनताकी आकाङ्क्षाओंका समर्थन करता है और सब प्रकारके शोषणसे श्रमजीवि-जनताकी मुक्तिके महान् आदर्शकी उपासना करता है। श्रमजीवियोंकी नैतिकता पुरातन जगत्के विनाशका एक अस्त्र है। यह साम्यवादी संघर्षके पवित्र सिद्धान्तपर आधारित है।

लेनिनने बतलाया था 'हम कहते हैं कि शोषकोंके जीर्ण समाजका विनाश तथा सारी श्रमजीवि-जनताका एकत्र होकर एक अभिनव साम्यवादी समाजकी सृष्टि करनेका ही नाम नैतिकता है।'

श्रमजीवी वर्गकी विजयके साथ-साथ साम्यवादियोंकी नैतिकताका स्वरूप भी बदलता है। वह जीर्णोत्पादनकी नैतिकताके स्थानपर नूतन जन-सृष्टिकी नैतिकता बन जाती है। वह प्रत्यक्षतःसमाजवादी संघर्षके स्वार्थोंकी-साधिका बन जाती है।

समाजवादी समाजमें सामाजिक निर्माणका एक अङ्ग होनेके कारण नैतिकताका निर्धारण जन-जीवनकी आर्थिक दशाओंके द्वारा तथा समाजके आर्थिक आधारके ऊपर होता है। दूसरी ओर साम्यवादी नैतिकता आर्थिक आधारको तथा आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धोंके सारे ढाँचेको क्रियात्मक रूपसे प्रभावित करती है। यह समाजवादी समाजके विकास तथा उसकी नींवको ठोस बनानेमें सब प्रकार सहायता करती है।

साम्यवादी नैतिकता उद्घोषित करती है कि जनताकी सम्पत्तिकी रक्षा करना तथा उसे बढ़ाना और समाज एवं देशकी समृद्धि और महत्ताके लिये सक्रिय होना ही परम नैतिक कर्तव्य है। कोटि-कोटि सोवियत जनताने समाजके लिये काम करनेमें निस्स्वार्थताका परिचय दिया है। श्रमिकोंकी वीरताके कारण फासिस्ट आक्रमणके दुःखद परिणामोंका स्वल्प कालमें ही अन्त हो गया है। युद्धोत्तर कालमें दस हजारसे अधिक बड़े-बड़े राजकीय उद्योगोंको या तो फिरसे चालू किया गया है या नया जन्म दिया गया है। इस कार्यके लिये जनताका प्रयत्न अभिनन्दनीय है।

तीन सौ पचपन लाख हेक्टर * परती जमीनको आबाद करनेमें लाखों सोवियत देश-भक्तोंने अपूर्व धैर्य और साहसका परिचय दिया है और बहुत दिनोंसे परती पड़ी तथा बेजोती हुई जमीनको खेतीके योग्य बनानेका राष्ट्रव्यापी कार्य करके सोवियतके इतिहासमें एक सुनहला अध्याय जोड़ दिया है।

समाजवादी राज्यके नागरिक सार्वजनीन स्वार्थों और लक्ष्योंके द्वारा परस्पर आबद्ध हैं। अतएव स्वभावतः उनकी सफलताएँ सर्वसाधारणके कल्याणके लिये किये जानेवाले कार्योंसे जुड़ी रहती हैं। समाजके प्रत्येक सदस्यको समाजकी सामूहिक सहायता और समर्थन प्राप्त है। दूसरी ओर समाज अपने सदस्योंकी ठोस एकताके ऊपर निर्भर करता है। जितनी ही अधिक दृढ़तापूर्वक तथा सफलतापूर्वक समूह एवं उसके सारे सदस्य काम करते हैं, राष्ट्र उतना ही अधिक समृद्ध और शक्तिसम्पन्न बनता है; और देश जितना ही सम्पन्न बनता है, उतना ही अधिक समाजके सदस्य सुख-समृद्धिका भोग करते हैं। सोवियत जनताका समूहवाद आर्थिक स्थिति और संस्कृतिके विकासके उद्देश्यसे किये जानेवाले प्रयत्नोंमें तथा श्रम-दानमें अपने आपको अभिव्यक्त करता है।

देशकी सफलताको सोवियत जनता अपनी निजी सफलता समझती है और उसकी कठिनाई और विपत्तिको अपनी निजी कठिनाई और विपत्ति मानती है।

सोवियत जनताकी नैतिकताका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वरूप उनकी सामाजिक और वैयक्तिक स्वार्थकी एकतामें अभिव्यक्त होता है।

समाजवादी समाजमें सार्वजनिक और वैयक्तिक स्वार्थोंका एक संतुलित मिश्रण होता है, जिसमें वैयक्तिक स्वार्थ सार्वजनिक स्वार्थके आश्रित रहता है। जनताके कल्याणको ठुकरानेकी तो बात दूर रही, समाजवाद उसकी सतत उन्नतिके विचारमें ही लीन रहता है और ज्यों-ज्यों सार्वजनिक सम्पत्ति

* १ हेक्टर=२·४७१ एकड़।

बढ़ती जाती है तथा भौतिक एवं सांस्कृतिक वरदानकी अभिवृद्धि होती है, श्रमिक जनताकी वैयक्तिक आवश्यकताओंकी पूर्ति उतनी ही अधिक पूर्ण होती जाती है।

सोवियत मातृभूमिके लिये निस्स्वार्थ प्रेम अङ्कुरित करनेमें सहायता करनेके उद्देश्यसे साम्यवादी नीति सारी श्रमजीवि-जनताके लिये, विश्वकी समस्त जनताकी एकताके लिये अत्यन्त आदरकी भावना पैदा करती है।

औदार्य-सिक्त समाजवादी नैतिकता मनुष्यके प्रति सम्मान, उसकी सँभाल, उसके उत्कर्ष, उसके गौरवकी उपेक्षाके विरुद्ध संघर्ष तथा पुरातन सामाजिक बन्धनोंसे उसकी मुक्तिकी माँग करती है। मनुष्यकी समस्त बौद्धिक और शारीरिक योग्यताओंके सर्वाङ्गीण निर्मुक्त विकासकी आवश्यकताको लेकर वह आगे बढ़ती है।

श्रमजीवी नैतिकताके आदर्श और सिद्धान्त केवल जनताके सामाजिक सम्बन्धोंका ही निरूपण नहीं करते, वरं प्रतिदिनके जीवनमें, समाजके बाहर भी उनके आचरणका निर्णय करते हैं।

साम्यवादी नैतिकता अपने साथियों और सम्बन्धियोंमें, परिवारमें पति-पत्नी एवं पिता-पुत्र आदिके बीच दृढ़ता, सत्यसंधता और परस्पर सुख-दुःखकी चिन्ताको प्रोत्साहित करती है एवं उनका समर्थन करती है। साथ ही वह अहंकार, दम्भ, अतीत कालकी जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियोंको बनाये रखनेकी चेष्टा, प्राचीन सामन्तवादी परम्पराओं और स्त्रियोंके लिये अपमानजनक प्रथाओंकी, जिनसे लोगोंमें अविश्वास उत्पन्न होता है, निन्दा करती है।

साम्यवादकी ओर समाजके क्रमिक परिवर्तनके युगमें, समाजवादी नैतिकताका तथा जनताके साम्यवादी आचारके रूपका विकास होता है। साम्यवादी नैतिकता अपने-आप, अकारण ही नहीं उत्पन्न होती; यह श्रमिकोंकी सफलता और सामाजिक प्रयत्नका परिणाम है।

मानवोंके परस्पर सम्बन्धोंके विषयमें कुछ निरीक्षण

(लेखक—प्राध्यापक श्रीराल्फ टी० टेम्पलिन, सेंट्रल स्टेटकालेज विल्बरफोर्स, ओहिओ)

(१) किसी प्रकारके भी मानव-सम्बन्ध बहुत अच्छे, बहुत बुरे या इन दोनोंके बीचमें कुछ भी हो सकते हैं। जब हम उन्हें देख पाते हैं, तब उनका प्रकृतरूपसे विचार करते हैं। अच्छे सम्बन्धोंकी ओर सामान्यतः सबका ध्यान नहीं जाता। पर खराब सम्बन्ध सामने आते हैं, तब उनकी चर्चा होती है।

(२) इसके विपरीत सम्बन्ध जब बहुत खराब होते हैं, तब उन्हें दुरुस्त करानेके लिये लोक-क्षोभ अपना दबाव डालता है। यह लोकक्षोभ जगद्व्यापी भी हो सकता है, जैसे उन्नीसवीं शताब्दीमें गुलामीकी प्रथा उठा देनेके विरुद्ध हुआ था अथवा इस शताब्दीमें काले-गोरेके भेदसे बस्तियों आदिके अलगावके विरुद्ध हुआ है।

(३) ऐसे सम्बन्ध संस्कृतिके आत्मव्याघात हैं और इनसे उत्पन्न लोकक्षोभसे संकटकी अवस्था सामने आती है। ऐसी त्रुटियोंको समय रहते सुधार लेना ही ठीक होता है, अन्यथा बुराइयोंकी वृद्धि होती है। इस काममें दीर्घसूत्रता भगवान्को प्रिय नहीं है।

(४) मानवोंके परस्पर सम्बन्धोंमें सुधारके लिये होनेवाले प्रत्येक संघर्षके दो पहलू होते हैं—विधिमुख और निषेधमुख। रंगभेदमूलक बस्तियोंके अलगाव तथा अन्य भेदोंका अन्त करनेके लिये जो जागतिक संघर्ष चल रहा है, उसका विधिमुख पहलू यह है कि जगत्के सब लोगोंमें समत्व स्थापित हो और सबके एक ही जागतिक विधानके अधीन सार्वभौम लोकतन्त्र अस्तित्वमें आ जाय।

(५) इस विधिमुख पहलूकी ओर ध्यान देनेके लिये इस समय, जब कि इसका अति विशाल परिमाणपर विरोध ही चल रहा है, इसके निषेधमुखपक्षकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे गुलामीकी प्रथाके विरोधका विधिमुखपक्ष गुलामीका अन्त करनेसे ही बन सकता था, वैसे ही इन पार्थक्यों तथा इन पार्थक्योंपर अवलम्बित विषमताओंका अन्त ही बीसवीं शताब्दीके 'स्वतन्त्र जगत्'के बचे रहनेके लिये कम-से-कम आवश्यक उपाय है।

(६) यह विधिमुख पहलू निषेधमुख-सा लगेगा। कारण, यह जगत् इस समय जैसा है और जिस प्रकार इसने यातायातकी सब अड़चनोंपर यान्त्रिक विजयोंके द्वारा मानव-सम्बन्धों और व्यवहारोंको एक दूसरेके अति समीप ला रखा है, साथ

ही अन्य प्रकारकी यान्त्रिक विजयोंसे सम्पूर्ण विनाशको भी अत्यन्त निकट कर दिया है, उसमें ऐसे ही महान् साहसकी आवश्यकता है, जिसका जोड़ आजतकके किसी युद्धके इतिहासमें भी न मिले। यह साहस है सर्वथा ईमानदार और 'मानव' होनेका। आधुनिक पाश्चात्त्य जगत्में ऐसे मानव थोड़े हैं, जो इस कसौटीपर खरे उतरें। कारण, हमलोग सदा इस घातक आत्मप्रवञ्चनामें रहते हैं कि बड़प्पन अहंमन्यतासे ही सम्भव है और समाजका साफल्य वैयक्तिक स्वार्थ-साधनपर ही निर्भर है।

(७) मानव-सम्बन्ध देखनेमें तो लगते हैं बाह्य, पर हैं आन्तर। इस बातको स्पष्ट करना कठिन है; क्योंकि समझानेमें पाश्चात्त्य भाषाकी वैसी ही अड़चनें हैं और समझनेमें नैतिक अड़चनें भी। 'वायोलेन्स' (चोट करना) शब्द ही लीजिये। इस शब्दसे हम उस प्रत्यक्ष आघात प्रत्याघातका ही अर्थ लेते हैं, जो संघर्षका तरीका है। फिर भी यह स्पष्ट है कि यह घात-प्रतिघात न तो उसका अपना आरम्भ है, न कारण ही। यदि हम इसके वास्तविक अर्थको, इसके मूलगत कारणरूप आधारको समझना चाहें तो हमारे पास कोई ठीक शब्द नहीं है; पर भारतका शब्द है हिंसा, जिसका अर्थ है मनुष्यकी वह मनोवृत्ति जो किसीको किसी भी प्राणीसे दूर कर दे। यही बात 'Non violence' शब्दकी है। हम इसका अर्थ इतना ही लेते हैं कि इसमें घात-प्रत्याघातकी शैलीका त्याग है। पर यदि हम इस बाह्य व्यवहारके उस असली रूपका पता लगाना चाहें, जहाँ इसकी जड़ें हैं तो हमारी पाश्चात्त्य भाषाएँ काम नहीं देतीं। इसके लिये भारतीय भावोंका शब्द है 'अहिंसा'। इसका अर्थ है सब प्राणियोंके साथ व्यक्तिका एकीभाव और तादात्म्य। भाषाकी अपूर्णताके रहते भी, हम लोग अच्छी तरहसे यह जानते हैं कि बाह्यतः जो कुछ है, समस्याका रूप धारण किये हुए वह खण्डित-सा ही दीख पड़ता है और अपना अर्थ व्यक्त कर देनेमें असमर्थ है, जबतक उसे समझनेके लिये और बहुत कुछ नहीं कहा जाता। और यह जो कुछ भी कहा जाता है, वह निषेधकी ही भाषामें होता है। यह इस बातका द्योतक है कि हम व्यक्तिशः, समष्टिशः या अपनी संस्कृतिके नाते भी अपने अंदर अपने ही साथ शान्त और सुसंगत नहीं हैं। 'अहिंसा' शब्द केवल किसी वस्तुके अभावका सूचक नहीं, प्रत्युत एक सत्ताका सूचक है। वह सत्ता है व्यक्तिकी अखण्डता, समाजकी अखण्डता, प्राचीन हिंदुओंकी सांस्कृतिक भाषामें जिसे 'समत्व'की स्थिति कहा है और जिसे ब्रेकर ब्राउनवेल 'एकीभूत मानव-समाज' कहते हैं।

(८) मानव-मानवके बीच होनेवाले असद् व्यवहारका मूल आन्तर (मनोगत) मानव अङ्गच्छेद है। समाज-मनोविज्ञानके वेत्ताओंकी यह मान्यता है कि वे सब सांस्कृतिक, आदर्श जो मानवोंके व्यवहार निर्धारित करते हैं, 'अन्तःकृत' होते हैं। व्यवहारमें वे व्यक्तिगत होकर व्यक्त होते हैं। यह व्यवहार-क्रम अंदरसे बाहरकी ओर हो या बाहरसे अंदरकी ओर, बात एक ही है। इस विषयमें कोई भी कुछ भी कहकर अपना वैयक्तिक उत्तरदायित्व अपनेसे हटा नहीं सकता। ईसाने इस नैतिक उत्तरदायित्वकी पुष्टि की है। वे कहते हैं, कोई यदि अपने मनमें किसीका तिरस्कार करता है तो (इसका अर्थ यह हुआ कि) उसने उसे मार डाला; कोई यदि विषयभोगकी दृष्टिसे किसीका ध्यान करता है तो उसने व्यभिचारका अपराध कर डाला और कोई केवल इस विचारसे कि हम औरोंसे श्रेष्ठ हैं—यहाँतक कि द्वारपर खड़े भिखारीसे भी जो अपनेको श्रेष्ठ समझता है, उसने वह गहरी खाई खन दी, जो तरनेकी इच्छा करनेवालोंको अपने विकराल गर्त्तसे पार नहीं होने देना चाहती; उसने अपने आपको सदाके लिये विच्छिन्न कर लिया। (ल्युक १६—२६) राज या समाज, अच्छा या बुरा, जिसके लिये जो कुछ है, वह उसके अंदर है; फिर बाहर भी, क्योंकि अंदर है; और तब फिर और भी अधिक विस्तारसे अंदर है, क्योंकि बाहर भी है और इस प्रकार अपने मानव मनःकेन्द्रसे इसके प्रत्येक केन्द्रीय विस्तारके साथ अधिकाधिक विस्तृत और जडीभूत होता जाता है। यदि हम इस मौलिक मूलगत कारणरूप विच्छेद-भावनाको 'अहंमन्यता' कहें (क्योंकि इसका स्वभाव 'अहं' का महत्त्व बेहिसाब बढ़ाना है) तो हम 'साम्राज्य-लिप्सा' के सामाजिक रूपोंका ठीक तरहसे विचार कर सकेंगे। यदि हम इस 'साम्राज्य-लिप्सा' या 'साम्राज्यवाद' शब्दका व्यापक परिमाणपर प्रयोग करें—ठीक उसी अर्थमें, जो इसका संकुचित राजनीतिक अर्थ है, तो हम देख सकेंगे कि जब लोग व्यक्ति, वर्ग, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा, उपकारभावना अथवा अन्य किसी भी नाते, किसी भी कारणसे अथवा सांस्कृतिक श्रेष्ठताके बहाने यह कहते हैं कि अमुक लोग अपना प्रबन्ध आप नहीं कर सकते और

उनका तथा उनके मामलोंका प्रबन्ध अपने हाथमें लेना चाहते हैं, तब यही कहना चाहिये कि ये लोग साम्राज्यलिप्सु या साम्राज्यवादी हैं। अथवा जब कभी कोई अपने अन्तरकी किसी गहराईमें अपनी हीनताका अनुभव करनेके कारण दूसरोंको नीचा दिखाकर अपने आपको ऊँचा करना चाहते हैं, तब यह भी उनकी साम्राज्यपरता ही है। साम्राज्यवाद सदा ही मूलतः मनोगत होता है और सामान्यतः उसमें ये दो बातें मिली रहती हैं—(१) 'अचेतन' मानसके अंदर छिपी हुई हीनताकी प्रतिक्रिया और (२) दूसरोंपर अपना प्रभाव जमानेवाला 'अव्यापारेषु व्यापार'। इससे यह स्पष्ट होता है कि साम्राज्यवादकी क्रिया अपने मानवकेन्द्रसे आरम्भ होकर राष्ट्रिय, जातीय, वर्गीय, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, विशुद्ध सांस्थानिक अथवा मानसिक क्षेत्रोंमें विविध रूप धारण करती है। विविध अङ्गोंके ऐसे-ऐसे विचित्र सम्मिश्रणोंके रूपोंमें भी यह क्रिया चलती है कि यह जल्दी समझमें नहीं आता कि यहाँ श्रेष्ठताका कौन-सा बहाना काम कर रहा है और इसकी अभिलाषा और यत्नका विषय क्या है। यूरोपसे जो-जो कुछ बाहर चला, जिसमें 'धर्म' भी शामिल है, वह सब आरम्भसे ही 'श्रेष्ठ' रहा और उसके जो प्रतिरूप जगत्के अन्य भागोंमें थे, वे सब 'हीन'! यह पश्चिमकी व्याधि है, जिसकी जड़ें बहुत गहराईमें जमी हुई हैं। परंतु यह पश्चिमका लड़कपन था, जो अबतक चला, किंतु आगे नहीं चलेगा; क्योंकि अब वह अकस्मात् उत्तरदायित्वके बालिग जगत्की स्थितिमें पहुँच गया है।

(९) मानवोंका मूलगत समुचित परस्पर सम्बन्ध अन्तःस्थ (मनोगत) मानव-एकत्व है। यह भी सर्वथा सत्य है कि मानवोंके परस्पर सत्सम्बन्ध आपाततः बाह्य होनेपर भी मूलतः आन्तर वृत्तियों और आचार-विचारोंपर निर्भर हैं। 'भगवान्का राज्य तुम्हारे अंदर है', तुम सबमें है, विश्वमें व्यापक है; पर आदिमें, अन्तमें और सनातन रूपसे तुम्हारे अंदर है। अन्यथा उसका कोई अस्तित्व नहीं हो सकता।

अतः मानव-समाजकी एकता मुख्य बात है; सदा सर्वत्र मुख्य नियामक होने योग्य जहाँ यह एकत्व नियन्तृत्व धारण करेगा, वहाँ कोई छिन्नता न होगी, कोई संकीर्णता न होगी, कोई अतिरिक्तता न होगी।

जो संसार हम अपने लिये बनाते हैं, उसमें हम सदा सुखपूर्वक रहते हैं। विशेषतः मनसे तो उसमें रमते ही हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसने इस बातको समझानेके लिये विचित्र-सी एक कथा कही है।

एक धीवर स्त्री कहीं जा रही थी। रातका समय था। रास्तेमें बड़े जोरका अंधड़ आया तो वहाँ एक मालीके घर उसने आश्रय लिया। रातभर ओसारेमें रहनेकी जगह उसे मिल गयी। पास ही वह कोठरी थी, जिसमें माली अपने फूल रखता था। वहाँ उसे नींदकी एक झपकी भी नहीं लगी। कारण ढूँढनेपर उसे पता लगा कि बगलकी कोठरीसे फूलोंकी जो सुगन्ध आ रही है, उसीसे नींद नहीं लग रही है। तब उसने मछलियोंकी अपनी खाली टोकरीपर पानी छिड़का और उसे अपनी नाकके पास लाकर रखा। थोड़ी ही देरमें उसे गहरी नींद लग गयी।

यह कथा कहकर परमहंसदेव कहते हैं, 'जो लोग ईश्वरसे प्रेम करते हैं, वे किसी अन्य विषयकी चर्चा नहीं कर सकते।' इसी प्रकार हम भी यह कह सकते हैं कि जो लोग मानव-समाजसे प्रेम करते हैं, वे एकीभूत मानव-समाजके सिवा अन्य किसी बातके लिये नहीं जी सकते। धर्मकी थोथी बातसे परमहंसको बड़ी चिढ़ थी और किसी प्रकारका दम्भ उन्हें सह्य नहीं था।

सामान्य लोग धर्मकी बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं, पर आचरण तृणके बराबर भी नहीं करते। बुद्धिमान् मनुष्य बोलता कम है, पर उसका सारा जीवन धर्मका ही आचरण होता है। हम जो चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें, वह स्वयं हमें दूसरोंके प्रति करना चाहिये।

मनुष्य मैदानमें खड़ा होकर कहता है, 'वृक्ष कितना बड़ा है और तृण कितना छोटा।' पर जब वह पर्वतपर आरोहण करके वहाँसे देखता है तो वृक्ष और तृण सब एक दूसरेसे अभिन्न होकर एक ही विशाल हरियालीके रूपमें दीख पड़ते हैं। ऐसी ही सांसारिकोंकी दृष्टि है; उच्च-नीच श्रेणी और मान-प्रतिष्ठाके कितने-कितने भेद हैं—कोई राजा है, कोई मोची, कोई पिता है, कोई पुत्र इत्यादि; पर जब दृष्टि खुल जाती है, तब सब समान और एक ही दिखायी देते हैं।

मानव-मानवता

(रचयिता—श्रीथानसिंहजी शर्मा 'सुभाष')

तू भी मानव कहलाता है, अब भी मानव कहलाता है।
धिक् तेरी इस मानवतापर, जो मनमें नहीं लजाता है ॥
अपनी मानवताके अतीतका कर ले सम्यक् दिग्दर्शन ।
फिर देख हुआ है आदिकालसे उसमें कितना परिवर्तन ॥
तू उस महान् मनुकी संतति, जिसके देवोत्तम गुण अपार ।
परिव्याप्त अखिल भूमें, पहुँचे उस ओर क्षितिजके आर-पार ॥
लालायित था देवत्व स्वयं इसके पानेके लिये नित्य ।
अवतरित यहाँ होते थे सुर, ज्योतित था दिव्यादित्य सत्य ॥
थे 'धृति क्षमा अस्तेय शौच' के तेरे सुन्दरतम विधान ।
तूने संस्तुतिको, संस्कृतिके थे किये अपरिमित गुण प्रदान ॥
'वसुधैव कुटुम्बम्' का था तेरा अति उदात्त आदर्शमान ।
समता, ऋजुता, बन्धुत्व भावमय सर्वोपरि अध्यात्म ज्ञान ॥
हा हन्त ! हो गया सर्वनाश वह तेरा रूप विलीन हुआ ।
जगतीका सर्वोत्तम प्राणी अब सब प्रकारसे दीन हुआ ॥
तेरे इन कुटिल कुचक्रोंका इतिहास रहस्य बताता है ॥ तू भी० ॥

तू आते ही आपत्ति तनिक-सी हो जाता ऐसा अधीर ।
सारे साहसको भूल बहाता पागल-सा बन अश्रु नीर ॥
श्रीहीन हुआ, उभरीं मुखपर चिन्ताओंकी रेखा अपार ।
हो गयी हिमाचल-सी दृढ़ता एक झटकेमें ही क्षार-क्षार ॥
था रहा विश्व-विख्यात कभी तू क्षमाशील अतिशय उदार ।
कटुता न कहीं थी, सरल सुखद व्यवहार सभीके प्रति अपार ॥
पर आज ! हुआ यदि कुछ भी तो तेरे विरुद्ध यहाँ एक बार ।
क्रोधाभिभूत हो दुर्वासा-सम, तत्क्षण होता दुर्निवार ॥
इन्द्रिय-निग्रहकी तो था तू, साकार कभी प्रतिमा महान ।
इन्द्रादि देव इसलिये सतत थे तव चरणोंमें विनत मान ॥
वे भोगी थे, तू था योगी कर्तव्य-निरत गत-मोह-राग ।
परिवर्तन आज हुआ कितना, है भड़क उठी वासना-आग ॥
हो-काम-विवस तू भ्रमित क्षुभित होता है जैसे क्षुद्र स्वान ।
पामर पशुओंकी भाँति तुझे अनुजा, तनुजातक का न ध्यान ॥
रसना-रस-त्रस, अभक्ष्य-भक्षण, कानोंसे झूठे कीर्ति-गान ।
प्रिय हुए, अहर्निशि पानेको करता प्रयत्न रे ! बन अजान ॥
इतनेपर भी ओ धूर्त ! शील-संयमके गाने गाता है ॥ तू भी० ॥

चोरी करना है बहुत बुरा, सर्वत्र यही करता प्रचार ।
पर देख निकाले हैं तूने, निज चोरीके कितने प्रकार ॥
दीनोंके मुँहसे ग्रास चुरा होता वैभवका नग्न नृत्य ।
चोरीके धनसे ही तेरे चलते रहते हैं सभी कृत्य ॥
साहित्य, धर्म या राजनीति, सामाजिक-सेवा, शिक्षा-पथ ।
कोई भी क्षेत्र नहीं ऐसा जो चोरीसे, छलसे निवृत्त ॥
स्नान, ध्यान, जप, तप, पूजा, मन्दिर-दर्शन, श्रीहरिकीर्तन ।
इन आवरणोंको धर्म समझना, है तेरा शुचिता दर्शन ॥
पर तेरे घटमें भरे हुए हैं काम, क्रोध, मद-मल अपार ।
पाखंड, कपट, विद्वेष, दंभका ढोता रहता सदा भार ॥
तू है ऊपरसे स्वच्छ साधु पर तेरा अन्तरतम मलीन ।
है ढोंग प्रदर्शन-मात्र, वस्तुतः तू तो सब साधना-हीन ॥
धीका पावन वरदान दिया था, इसीलिये विभुने अनन्त ।
रह सदाचारमें निरत, सतत निश्चय ही होगा शीलवन्त ॥
दुर्भाग्य ! किया तूने इसका कैसा अनुचित विषमय प्रयोग ।
तेरे इन आविष्कारोंसे हा ! हुए चकित भय-भीत लोग ॥
कर महानाशका सृजन, बनाये संहारक परमाणु बम्ब ।
भौतिकताका होता प्रसार अध्यात्मवाद है निरवलम्ब ॥
निर्माण त्याग, विध्वंसकके साधन असीम अपनाता है ॥ तू भी० ॥

विद्या देती थी विनय, कि जिससे जन होता था नित्य पात्र ।
कर्तव्यपरायणता होती थी जीवनकी बस लक्ष्य मात्र ॥
पर आज, सोचता है तू तो हो 'अर्थकरी विद्या' नितान्त ।
तेरे अन्तरका पुरुष-पुरातन सचमुच ही हो गया भ्रान्त ॥
विज्ञान, ज्ञानका ज्ञाता बन, कहलाता पंडित महामान ।
व्यतिक्रम यह कैसा कर्मोंका करता, जैसे अतिशय अजान ॥
था सत्य एक जीवन व्यापक, सबको इसका रहता विचार ।
नहिं किया किसीने असत् तत्त्वका भूल कभी भी तो प्रचार ॥
सब हुआ आज विपरीत कि मानव है असत्यसे ओतप्रोत ।
जीवन-सरिताके प्रबल प्रवाहक रुद्ध हुए हैं सरस स्रोत ॥
जो जितना ही आचरणोंमें कर सके महा मिथ्या प्रयोग ।
है वह उतना ही सफल, उसीको कहते पंडित, विज्ञ लोग ॥
पहले रहते निर्द्वन्द्व, एकरस व्याप्त, नहीं किंचित् विकार ।
थे क्षमाशील, बहु सभ्य, सदाशय, भूतमात्र प्रति अति उदार ॥
जन-जन समान, नहिं वर्ण, वर्गका रहा कहीं भी भेद-भाव ।
पर आज हुआ है कुछ ऐसा जीवनमें व्यापक कटु अभाव ॥
जिसके कारण है बुद्धि भ्रष्ट, नहिं सहनशीलता रही शेष ।
दिखलाता रहता है प्रतिदिन, निज दानवताका अशिव वेष ॥
मृत-प्राय हुई मानवता पर तू झूठें गर्व दिखाता है ।
तू भी मानव कहलाता है, अब भी मानव कहलाता है ॥
धिक् तेरी इस मानवतापर जो मनमें नहीं लजाता है ॥

गुरु-भक्ति

श्रीकृष्ण-सुदामा

श्रीकृष्ण इस किशोरवयमें राजकुमार नहीं, युवराज नहीं, सम्राट् भी नहीं, साम्राज्यके संस्थापक हैं। दिगन्तविजयी कंस उनके करोंके एक झटकेमें ध्वस्त हो गया और उग्रसेन— मथुरेश उग्रसेनको प्रणाम न करें तो इन्द्र भी देवराज न रह सकें; यह श्रीकृष्णका प्रचण्ड प्रताप। यहाँ उज्जयिनीके सिंहासनपर भी उनके बुआके पुत्र हैं। उनकी बुआ हैं यहाँकी राजमाता। वे यहाँ भी सर्वथा अपरिचित देशमें नहीं हैं।

श्रीकृष्णका यह ब्रह्मचारी-वेश और उनके साथ समवेश-धारी ब्राह्मण-कुमार—दरिद्र ब्राह्मणकुमार सुदामा। कोई विशेषता नहीं, कोई सम्मानाधिक्य नहीं, ब्राह्मणकुमारके साथ उसीके समान श्रीकृष्ण भी गुरुसेवाके लिये समिधाएँ वहन करते हैं। गुरुकी हवन-क्रियाके लिये जंगलसे लकड़ी लाते हैं।

किंतु महर्षि सान्दीपनिका आश्रम— किसी महर्षिका गुरुकुल तो साम्यका आश्रम है। श्रीकृष्ण कोई हों, कैसे भी हों, कितने भी ऐश्वर्यशाली हों; और कितना भी दरिद्र हो सुदामा—महर्षिके चरणोंमें दोनों छात्र हैं। मानव-मानवके मध्य किसी भेदका प्रवेश गुरुकुलकी सीमामें—सम्भव कैसे है यह।

एकलव्य

आचार्य द्रोण—कुरुकुलके राजकुमारोंके शस्त्र-शिक्षक, उनका भी क्या वश था? राजकुमारोंके साथ एक भीलके लड़केको वे कैसे बैठनेकी अनुमति देते। एकलव्य जब उनके समीप शस्त्र-शिक्षा लेने आया था, तब उन्होंने अस्वीकार कर दिया था।

एकलव्यकी निष्ठा—सच्ची लगन सदा सफल होती है। उसने वनमें आचार्य द्रोणकी मृत्तिका-मूर्ति बनाकर उसीको गुरु माना और अभ्यास प्रारम्भ कर दिया। उसका अभ्यास—उसका नैपुण्य अन्ततः चकित कर गया एक दिन आखेटके लिये वनमें निकले आचार्य द्रोणके सर्वश्रेष्ठ शिष्य अर्जुनको भी।

अर्जुनकी ईर्ष्यासे प्रेरित आचार्य एकलव्यके पास पहुँचे। जिनकी मूर्ति पूजता था एकलव्य, वे जब स्वयं उसके यहाँ पधारे। गुरुदक्षिणामें उन्होंने उसके दाहिने हाथका अँगूठा माँगा। किस लालसासे एकलव्यने शस्त्राभ्यास किया था! उस समस्त अभिलाषापर पानी फिर रहा था; किंतु धन्य एकलव्य! उसने बिना हिचके अँगूठा काटा और बढ़ा दिया आचार्य द्रोणके सम्मुख।

आरुणि

न पुस्तकें, न फीस—छात्रावास-शुल्क भी नहीं। उन दिनों छात्र गुरुगृहमें रहते थे। निवास, भोजन, वस्त्र तथा अध्ययनका सारा दायित्व गुरुदेवपर। शिष्य सनाथ था गुरुसेवा करके।

तीव्र वर्षा देखकर महर्षि धौम्यने अपने शिष्य आरुणिको धानके खेतकी मेंड़ ठीक करने भेजा। खेतकी मेंड़ एक स्थानपर टूटी थी और जलका वेग बाँधनेको रखी मिट्टी बहा ले जाता था। निष्फल लौट जाय आरुणि? वह स्वयं टूटी मेंड़के स्थानपर लेट गया जलका वेग रोककर। शरीर शीतल हुआ, अकड़ा, वेदनाका पार नहीं; किंतु आरुणि उठ जाय! गुरुदेवके खेतका जल बह जाने दे! यह नहीं हुआ।

गुरुदेवके यहाँ रात्रिमें भी आरुणि नहीं पहुँचा तो वे चिन्तित हुए। ढूँढ़ने निकले और उनकी पुकारपर आरुणि उठा। उसकी गुरुभक्तिसे प्रसन्न गुरुके आशीर्वादने उसी दिन उसे महर्षि उद्दालक बना दिया।

उपमन्यु

महर्षि धौम्यने अपने दूसरे शिष्य उपमन्युका आहार रोक दिया। उसकी लायी हुई सारी भिक्षा वे रख लेते। उसे दूसरी बार भिक्षा लानेसे भी रोक दिया गया। वह गौओंका दूध पीने लगा तो वह भी वर्जित और बछड़ोंके मुखसे गिरे फेनपर रहने लगा तो वह भी निषिद्ध हो गया। क्षुधासे पीड़ित होकर आकके पत्ते खा लिये उसने। नेत्र-ज्योति चली गयी। कुएँमें—जलरहित कूपमें गिर पड़ा।

महर्षि उसे ढूँढ़ते कूपपर पहुँचे। उनके आदेशसे उप-मन्युने स्तुति की और देववैद्य अश्विनीकुमार प्रकट हुए। उनका आग्रह; किंतु गुरुको निवेदित किये बिना उनका दिया मालपुआ उपमन्यु कैसे खा ले! देववैद्य एवं गुरुदेव दोनों द्रवित हो उठे। उपमन्युकी दृष्टि ही नहीं, तत्काल समस्त विद्याएँ प्राप्त हो गयीं उसे!

गुरु-सेवक

श्रीकृष्ण-सुदामा

एकलव्य

आरुणि

उपमन्यु
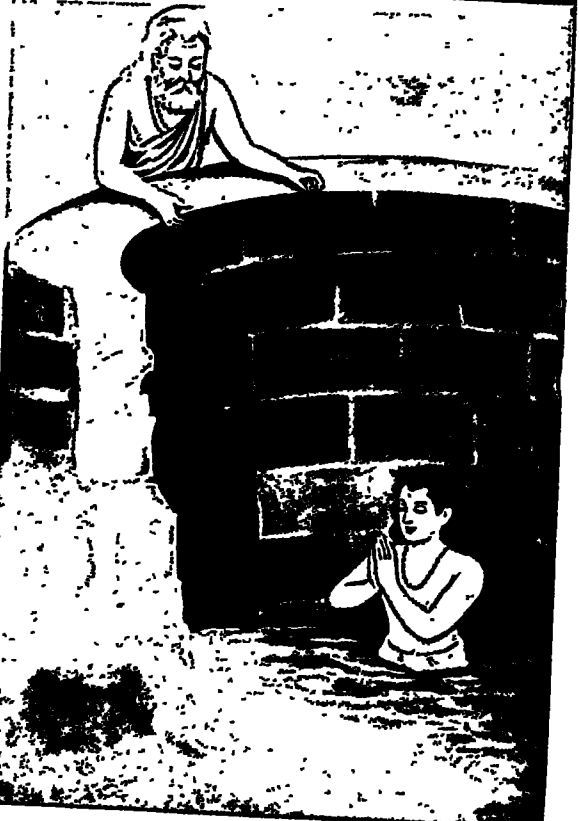
मानवता और उसका भविष्य

(लेखक—डॉ० हरिदास चौधुरी, अध्यक्ष, दक्षिण एशिया विभाग, अमेरिकन 'एकैडमी ऑव् एशियन स्टडीज,' सैनफ्रांसिस्को तथा अध्यक्ष 'कल्चरल इंटेग्रेशन फेलोशिप', कैलीफोर्निया)

मानवता आज इतिहासके चौरस्तेपर खड़ी है। मानव अपने विकासकी बड़ी भयावह स्थितिसे गुजर रहा है और उसे एक गम्भीर निर्णय करना है। एक गलत कदम और गलत निर्णयसे उसका सर्वनाश हो सकता है। सावधानी, विवेक तथा अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्धोंमें भावनागत प्रौढता ग्रहण करके असीम सर्जनात्मक सिद्धियोंके लिये भूमिका तैयार की जा सकती है। एक ओर जहाँ आज मानवीय स्थितिमें ऐसे विस्फोटक तत्त्व उपस्थित हैं, जो जरा-सी भूलके कारण विश्व-व्यापी ज्वालाके रूपमें भभक उठ सकते हैं, तो दूसरी ओर मानव प्रकृतिकी ऐसी स्पष्ट सम्भावनाएँ भी हैं, जो अपनी श्रेयस्करी सिद्धिमें प्रस्फुटित होकर स्थायी शान्ति, समृद्धि एवं प्रगतिके एक नवीन युगका निर्माण कर सकती हैं। जीवनमें तो सदैव ही द्वन्द्व रहा है, परस्परविरोधी तत्त्व रहे हैं; परंतु आज मानव-जीवनके अन्तर्निहित, प्रच्छन्न विरोधी तत्त्व भयानक रूपमें सतहके ऊपर आ गये हैं। जब भौतिक जगत्के गहन-तम रहस्योंपर अधिकार करके मानव चन्द्रलोक तथा अन्त-रिक्षको विजय करनेकी योजना बना रहा है, तब अपने ही ग्रहलोकसे उसके सर्वनाशकी सम्भावनाओंका भयानक विस्तार हो गया है। बड़े-बड़े राष्ट्र एक ओर शान्तिकी लंबी-चौड़ी बातें करते हैं और दूसरी ओर पागलकी तरह युद्धकी तैयारीमें लगे हुए हैं। केवल तैयारीमें ही भयानक रूपसे संहारात्मक ऐसी शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो रहा है, जो अपने विकिरणशील अंशोंसे मानवके चतुर्दिक्के वातावरणको—इस बहुमूल्य वायु, जल तथा मिट्टीको विषाक्त कर रही हैं।

मानवका आत्म-विरोध

इस भयानक अवस्थासे निकलनेका मार्ग क्या है? मानव-सभ्यताके वर्तमान संकटपर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है? हमारे युगकी इस निर्दय चुनौतीका उत्तर किस प्रकार दिया जा सकता है? सामान्य मानव-बुद्धि तो यही बताती है कि एक ही मार्ग है—संसारके समस्त राष्ट्रों एवं जातियोंके बीच ऐक्य, प्रेम एवं विधायक सहयोगका मार्ग। मानव-स्थितिकी गम्भीरताका उचित बोध ही विश्व-व्यापी ऐक्य एवं सहयोगकी भावनाके लिये पर्याप्त होना चाहिये। तब अवरोध क्या है? इस कथनमें जितना भी विरोधाभास दीखे, पर सत्य यह है कि आज मानव अपने ही विरोधमें आप खड़ा है। जीवनके सरलतम सत्योंको भी जटिल बना देनेका अद्भुत कौशल उसमें है। यद्यपि उसमें देवत्वके प्रति सच्ची निष्ठा है; किंतु असुरके प्रति भी उसका अप्रतिहत आ-कर्षण है। जीवन एवं प्रेमके प्रति निष्ठा होते हुए भी अन्धकार एवं मृत्युके प्रति उसका दुर्निवार आकर्षण है।

अन्तश्चेतनामें परिवर्तनकी आवश्यकता

आइये, हम मानवताके भावी विकास-सम्बन्धी कुछ मुख्य-मुख्य विचारोंकी समीक्षा कर लें। राजनीतिज्ञोंमें यह सोचनेकी वृत्ति है कि किसी उपयुक्त राजनीतिक विचारधारा-का विश्वद्वारा ग्रहण हो जानेपर ही मानव-जातिकी आशा निर्भर है। कुछका विश्वास है कि लोकतन्त्र ही वह उपयुक्त विचारधारा है और संसारके समस्त राष्ट्रोंको अपनी ही मुक्ति-के लिये, उसे स्वीकार कर लेना चाहिये; कुछ दूसरे समझते हैं कि साम्यवाद ही वह विचारधारा है, जो मानव-समाजको उसके रोगोंसे मुक्त कर सकती है। इस प्रकारकी मनोवृत्ति ही, जो यह विश्वास करती है कि संसारके सभी देशोंपर एक विचारधारा थोपी जानी चाहिये, अन्ताराष्ट्रिय शान्तिके लिये सबसे अधिक घातक है। कोई राजनीतिक विचारधारा किसी देश-विशेषमें वहाँ किसी समय प्राप्त सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परि-स्थितिके प्रकाशमें ही उपयुक्त या अनुपयुक्त मानी जा सकती है। विश्वशान्तिकी मौलिक आवश्यकता इतनी ही है कि प्रत्येक देशको अपनी मौलिक आवश्यकताओं और समस्याओं-के प्रकाशमें किसी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक प्रणालीकी स्थापनाके लिये पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। फिर किसी 'वाद' की अपेक्षा मानवीय तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। किसी देशमें स्थापित सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ चाहे कितनी विलक्षण क्यों न हों, अन्ततोगत्वा व्यक्तियोंद्वारा ही वे चलायी जाती हैं। इसलिये मानव-चेतनाकी अन्तःप्रकृतिमें परिवर्तन हुए बिना, केवल सामाजिक एवं राजनीतिक यन्त्रमें परिवर्तन होनेसे, मनुष्यकी समस्या नहीं सुलझ सकती। यही कारण है कि यूनाइटेड नेशन्स आरगैनिजेशन (संयुक्त राष्ट्र-

संघटन) भी अपने उद्देश्यकी पूर्तिमें तबतक असमर्थ ही रहेगा जबतक कि विभिन्न सदस्य राष्ट्रोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले प्रमुख व्यक्तियोंका वास्तविक हृदय-परिवर्तन न हो। संयुक्त राष्ट्र-संघटन विश्वशान्तिका प्रभावशाली साधन तभी बन सकता है, जब इसके विभिन्न सदस्य राष्ट्रवाद या अपने देश-प्रेमके सिद्धान्तसे प्रेरित न हों और अपने राष्ट्रिय स्वार्थोंके ऊपर उठकर अन्ताराष्ट्रिय शान्ति एवं श्रेयको प्रधानता दें।

सांस्कृतिक अनुशासनकी सीमा

दर्शन, धर्म, नीति तथा योग ऐसे विविध सांस्कृतिक अनुशासन हैं, जो मानव-स्वभावका निर्माण करते तथा मनुष्यकी अन्तःप्रकृतिमें श्रेयस्कर परिवर्तन लानेकी चेष्टा करते हैं; किंतु दुर्भाग्यवश ऐसे सांस्कृतिक अनुशासनोंमें भी सूक्ष्म मानव-विरोधी तत्त्व तथा विनाशक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। विभिन्न एवं परस्पर-विरोधी दर्शन-प्रणालियाँ अन्तिम या परम सत्यके नामपर बौद्धिक प्रवञ्चना तथा घृणापूर्ण विरोधकी भावनाको बढ़ाती हैं। यह अनुभव कर लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि कोई भी दर्शन-प्रणाली परम सत्यका, जो अनिर्वचनीय तथा प्रज्ञासे परे है, प्रतिनिधित्व नहीं करती। विभिन्न दार्शनिक प्रणालियाँ एक ही सत्यका साक्षात् करनेके विभिन्न मार्ग हैं; वे एक ही प्रश्नोत्तर सत्यको स्पर्श करनेके विभिन्न अपर्याप्त बौद्धिक प्रयत्नमात्र हैं। फिर यह भी दुर्भाग्यकी ही बात है कि विश्वभ्रातृत्वके नामपर विभिन्न धर्म तथा मत संकुचित सम्प्रदायवाद, सांस्कृतिक प्रान्तीयता तथा परस्पर घृणा एवं विद्वेषके उन्मादका प्रचार करते हैं। प्रायः यह समझा जाता है कि मानवताकी आशा समस्त विश्वद्वारा एक ही धर्म ग्रहण कर लेनेमें है। ईसाई सोचते हैं कि विश्वके उद्धारका वह धर्म ख्रीस्टीय मत है। कुछ बौद्ध-नेता सोचते हैं कि यह विश्वोद्धारक धर्म बौद्ध-मत है। कुछ मुसल्मान-उपदेशकोंका विचार है कि संसारका रक्षक धर्म इस्लाम है। इस प्रकारकी विचार-सरणिसे ही विश्व-शान्ति खतरेमें पड़ी हुई है और ईश्वरके नामपर, मानवीय स्वतन्त्रताके मूलपर ही आघात करती है। जैसा कि आधुनिक भारतके रामकृष्ण, गांधी एवं अरविन्द-जैसे प्रवक्ताओंने स्पष्ट निर्देश किया है, यह अनुभव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि विश्वके सभी धर्म एक ही लक्ष्य अर्थात् ईश्वरसिद्धि, आत्मसिद्धिकी ओर ले जानेवाले विविध मार्ग हैं। अपने जीवनमें असीमकी सिद्धिकी और स्वतन्त्रतापूर्वक प्रगति करनेके मानवीय अधिकारके बिना धर्म एक रिक्त पदार्थ है।

व्यापक आध्यात्मिक दृष्टिकोणरूपी परिपूर्ण योग

विश्वके सभी महान् धर्मोंमें, विविध परिमाणमें दो गहन सत्योंपर बल दिया गया है—(१) सार्वदेशिक प्रेमकी नैतिक धारणा और (२) आत्मसाक्षात्कारकी आध्यात्मिक धारणा। नीति या सदाचार-शास्त्रकी शिक्षा है—'अपने पड़ोसीको अपने ही समान प्यार करो।' योग कहता है—'अपनेको जानो' (आत्मानं विद्धि)। आत्मज्ञानसे हीन नैतिक मानवका पड़ोसीके प्रति प्रेम आक्रामक, अत्याचारमूलक तथा अधिकार-प्रधान स्व या अहंकारके प्रसारका सूक्ष्म रूप बन जा सकता है। इसी प्रकार योगीका आत्मज्ञान उत्तरदायित्व और भ्रातृभावनासे च्युत होकर मानवताकी सामाजिक प्रगति एवं भौतिक क्षेमके प्रति निष्क्रिय, ऐकान्तिक एवं उदासीन हो जा सकता है—ऐसी अवस्था, जो जीवनके रणक्षेत्र तथा मानवीय उत्तरदायित्वके क्षेत्रसे पलायनका एक सूक्ष्मरूप है। संयुक्त आधारपर मानव जातिकी सृजनात्मक सिद्धिके लिये आज जिस बातकी तुरंत आवश्यकता है वह है, परिपूर्ण योगका ही एक प्रकार—स्फूर्तिमान् सृजनात्मक संसार तथा जीवनको स्वीकार करनेवाला योग। सत्य व्याख्या करनेपर वेदान्त अखण्ड या परिपूर्ण योगके तार्किक आधारको उपस्थित करता है। नीति कहती है—'अपने पड़ोसीको अपने समान प्यार करो।' इसलिये कि वेदान्तके अनुसार एक अखण्ड सत्ता (ब्रह्म) समस्त जीवित प्राणियोंके हृदयमें निवास करती है, एक प्रबुद्ध व्यक्तिमें समस्त जीवित सृष्टिके प्रति उत्तरदायित्वकी भावना, अपने देशके सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक उत्थानके उत्तरदायित्वकी भावना, दीन-दुखियों तथा पद-दलितोंके भौतिक कल्याणके उत्तरदायित्वकी भावना एवं मानवताके सामूहिक क्षेमके प्रति उत्तरदायित्वकी भावना होनी ही चाहिये। इस उत्तरदायित्वको वह निस्स्वार्थरूपमें तभी पूर्ण कर सकता है, जब योगाभ्याससे प्राप्त आध्यात्मिक आत्मानुभवद्वारा उसने अपनी नैतिक चेतनाको पूर्णतातक पहुँचा दिया हो। योग कहता है—'अपनेको जान।' इसलिये कि वेदान्तके अनुसार आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, योगी जीवनभर पर्वत-गुफा या वन-कुटीरमें ध्यानस्थ हो बैठा नहीं रह सकता। उसे सर्वशक्तिमती सत्ताकी इच्छाका एक क्रियाशील यन्त्र बनना पड़ेगा। सामाजिक न्याय तथा समता,

राजनीतिक स्वाधीनता, सार्वदेशिक मुक्ति, अन्ताराष्ट्रिय शान्ति, जीवन-यापनकी भौतिक स्थितियोंमें सुधार इत्यादि दैवी इच्छाकी विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। एक योगी, जो ईश्वरमें सक्रिय रूपसे मिलकर एक हो चुका है, इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये ईमानदारीके साथ प्रयत्न किये विना नहीं रह सकता। अखण्ड-योग पूर्व एवं पश्चिम दोनोंके सर्वोच्च सांस्कृतिक मूल्योंको संयुक्तरूपमें प्रकाशित करता है। यह गत्यात्मक प्रेम तथा मानवतावादकी नैतिक धारणा और रहस्यवाद एवं पूर्ण आत्म-सिद्धिकी आध्यात्मिक धारणाको मिलाकर एक कर देता है। यह मानवताके कल्याणके प्रति आत्मार्पणकी नैतिक भावना तथा ईश्वरके प्रति आत्मार्पणकी क्रियात्मक एवं आध्यात्मिक भावनाके बीच सामञ्जस्य स्थापित करता है। इस प्रकार पूर्ण योग, अखण्ड योग एक साथ ही नैतिक एवं आध्यात्मिक दोनों है; यह निरतिशय नैतिक मूल्योंके आधारपर जगत् एवं जीवनकी स्वीकृति है।

पूर्ण योग अनेक योग-प्रणालियोंमेंसे एक नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि कर्म ही योगप्राप्तिका अर्थात् ईश्वर या आत्माके साथ मिलनका एकमात्र साधन या एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। यह स्वीकार करता है कि कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि योगकी विभिन्न पारम्परिक प्रणालियाँ, जो विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रकारोंको व्यक्त करती हैं, आत्मैक्य या ईश्वर-सिद्धिकी विविध वैध प्रणालियाँ हैं। पूर्णयोगका तात्पर्य यह है कि अपने विशिष्ट मानसिक गठनके अनुकूल व्यक्ति चाहे जिस योग-प्रणालीका अनुसरण करे, किंतु वह आत्मज्ञान अथवा जीवन-निषेधकारी ब्रह्म-मधुका पान करके निष्क्रिय न बन जाय। ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिकाधिक अन्तःस्थ हो आत्मा या सर्वोच्च ब्रह्मसत्तासे ऐक्यका सम्पादन करता जाता है, त्यों-त्यों उसका अधिकाधिक कर्तव्य होता जाता है कि मानवताके सामूहिक कल्याणके लिये तथा मानव-विकासमें व्यक्त ईश्वरीय इच्छाकी पूर्तिके लिये सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विविध कार्योंमें अपनेको लगाये रहे। यह एक सर्वग्राही, स्फूर्त आध्यात्मिक आदर्श है—ऐसा आदर्श जो मानव-प्रकृतिमें प्रच्छन्न या प्रसुप्त सृजनात्मक शक्तियोंको मुक्त करेगा और मानव-ऐक्य तथा विश्व-शान्तिके मार्गके समस्त अवरोधोंको दूर करेगा।

व्यर्थ अभिमान छोड़ दे

मूरख ! छाँड़ि वृथा अभिमान।
औसर बीति चल्यौ है तेरौ, दो दिन कौ मेहमान ॥
भूप अनेक भये पृथ्वीपर रूप तेज बलवान।
कौन बच्यौ या काल ब्याल ते मिटि गये नाम-निसान ॥
धवल धाम, धन, गज, रथ, सेना, नारी चंद्र समान।
अंत समै सबही कौं तजि कै, जाय बसे समसान ॥
तजि सतसंग भ्रमत बिषयनमें जा बिधि मरकट स्वान।
छिन भरि बैठि न सुमिरन कीन्हों, जासों होय कल्यान ॥
रे मन मूढ़, अनत जनि भटकै, मेरो कह्यो अब मान।
नारायन ब्रजराज-कुँवर सौं बेगहि कर पहिचान ॥

—नारायण स्वामी

मानवता और अष्टावक्र

(लेखक—श्रीबलरामजी शास्त्री एम्० ए०, आचार्य, साहित्यरत्न)

राजा जनकके मनमें ज्ञान प्राप्त करनेकी कामना हुई। राजा जनक तो ज्ञानी थे ही, किंतु उन्हें किसी गुरुसे ज्ञानकी उपलब्धि नहीं हुई थी। 'ज्ञानी राजा' जनक 'ज्ञानी गुरु' की खोजमें चकराने लगे, किंतु वे थे प्रख्यात राजा। उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने सर्वत्र यह डंका पिटवा दिया कि जो कोई मुझे 'ज्ञान' का उपदेश देगा, उसे मनमाना धन प्राप्त होगा और यदि वह ज्ञानी ज्ञानका उपदेश न दे सकेगा तो वह जनकके बंदीगृहमें बंद होकर रहेगा। हाँ, उसे बंदीगृहकी यातना नहीं भुगतनी पड़ेगी, प्रत्युत सुखके सभी साधन उसे बंदीगृहमें ही प्राप्त होंगे। जनककी तथोक्त घोषणाको सुन-सुनकर बहुतेरे ज्ञानी जनककी सभामें पहुँचे, परंतु ज्ञानी जनकको 'समुचित ज्ञान' का उपदेश न कर सके; फलतः बहुतोंको जनकके बंदीगृहमें सुखभोगके लिये जाना पड़ा।

एक बार अष्टावक्रके पिता भी ज्ञान देनेके लोभमें या धन प्राप्त करनेके चक्करमें जनककी सभामें पहुँचे। उन्हें भी हार मानकर जनकके बंदीगृहमें बंद होना पड़ा। जब यह समाचार अष्टावक्रजीको अवगत हुआ, तब वे भी जनककी सभामें पहुँचे। राजदरबारमें सुन्दर-सुन्दर शरीरवाले दरबारी लोग सुन्दर-सुन्दर आभूषणोंसे सुसज्जित थे, राजा जनक स्वयं राजसी ठाट-बाटसे राजसभामें विराजमान थे। उसी समय अष्टावक्र महाराज पहुँचे। ऋषिकुमार 'अष्टावक्र' जीके अङ्ग आठ स्थानोंपर टेढ़े थे। मानवकी यह दुर्बलता है कि वह ब्रह्माके विधानमें भी अपनी टाँग अड़ाता है। अष्टावक्रके शरीरको टेढ़ा-मेढ़ा देखकर सभासदोंको हँसी आ गयी। सबकी हँसीसे सभामें ठहाकेकी आवाज गूँज गयी। जहाँ 'ज्ञान' की चर्चाके लिये सभा जुड़ी हो, वहाँ शरीरकी बनावट देखकर 'हँसना' मानवकी 'मानवता' नहीं, प्रत्युत 'दुर्बलता' कही जायगी। ऋषिकुमार अष्टावक्र सभासदोंके अनुचित व्यवहारसे विचलित नहीं हुए। ज्ञानियोंके लिये मान, अपमान सब समान ही होता है। अष्टावक्र आये थे ज्ञानकी चर्चा करने और विजय प्राप्त करने। अष्टावक्रने सभासदोंकी हँसीका उत्तर और अधिक ठहाकेकी हँसीसे दिया। अष्टावक्रको उतना जोरसे हँसते देख राजा जनकने ऋषिकुमारसे पूछा—'महाराज! आप क्यों हँस रहे हैं?'

अष्टावक्रने कहा—'राजन्! यह प्रश्न तो मुझे ही करना चाहिये था।'

राजा जनकने पूछा—'क्यों?'

अष्टावक्रने कहा—'आपलोग मेरे पहुँचते ही हँसे थे।' उत्तरमें राजा जनकने कहा कि 'आपके टेढ़े-मेढ़े शरीरको देखकर हमलोगोंको हँसी आ गयी, आपको दुःख नहीं मानना चाहिये।'

ऋषिकुमारने कहा—"दुःखकी बात क्या है? हाँ, मुझे तो आपलोगोंके आन्तरिक शरीरके ऊपर हँसी आयी। आप लोगोंके सुन्दर शरीरके भीतर कितनी 'कलुषता' भरी पड़ी है, उसे देखकर मुझे इतनी जोरकी हँसी आयी। भला, मिथिला-नरेश, जिनकी सभामें 'ज्ञान' की चर्चा होती है, ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जिन नरेशने डंका पिटवाया है, उनके सभासद् तथा स्वयं वे भी शरीरके रूप, रंग, बनावटके प्रेमी हैं। उनके यहाँ 'ज्ञान' की बात कहाँ, नश्वर शरीरकी 'महत्ता' है।" अष्टावक्रके इस कथनसे राजा जनक चुप हो गये और सभासदोंको काटो तो खून नहीं। सब मौन हो गये। सभी स्तब्ध रह गये।

× × × ×

राजा जनकके अन्तःपुरमें ऋषिकुमारकी खूब सेवा-शुश्रूषा हुई। स्नान-ध्यानके बाद उन्हें भोजन कराया गया। शयन करनेके बाद राजा जनक भी शयन करने गये; किंतु उन्हें नींद कहाँ? बालक अष्टावक्रकी टेढ़ी बात उनके मस्तिष्कमें झंझावात उत्पन्न कर रही थी। 'राजा जनकके यहाँ ज्ञानकी नहीं, नश्वर शरीरके रूप, रंग, बनावटकी महत्ता है' यह वाक्य उन्हें बेचैन किये हुए था। राजा जनक उठे और अष्टावक्रके पास पहुँचे। राजा जनकने हाथ जोड़कर कहा—"ऋषिकुमार! मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि आप मुझे 'ज्ञान' प्रदान कर सकते हैं।" राजा जनकने पुनः कहा—"ब्रह्मचारिन्! शीघ्रतासे मुझे 'ज्ञान' प्रदान कीजिये। मेरा चित्त उद्विग्न हो रहा है।" ऋषिकुमारने पुनः हँसकर कहा—"राजन्! बिना कुछ गुरुदक्षिणा दिये ही 'ज्ञान' प्राप्त करना चाहते हो? जिस 'ज्ञान' की उपलब्धि जंगलोंकी खाक

सहस्रों वर्षोंतक छाननेपर कहीं होती है, उसे एक राजा सहजमें ही प्राप्त करना चाहता है ?''

राजा जनकने अनुनयके साथ कहा—''ऋषिकुमार ! मेरा खजाना आप ले लें और मुझे 'ज्ञान' का उपदेश करें।'' ऋषिकुमारने पुनः हँसकर कहा—'राजन् ! कोष क्या आपका है ? कोष तो प्रजाका है तथा वह कोष राज्यके अधीन है।' राजा यह तर्क सुनकर लज्जित हो गये और पुनः राजाने कहा—'अच्छा महाराज ! राज्य ही आप ले लें।' अष्टावक्रने पुनः उत्तर दिया—'राजन् ! राज्य भी अनित्य है।' राजा जनकने पुनः अनुरोध किया—'यह मेरा शरीर ले लीजिये।' ऋषिकुमारने पुनः कहा—'शरीर तो मनके अधीन है।' राजा जनकने कहा—'तो आप मन ही ले लीजिये।' अष्टावक्र स्वीकृति देते हुए बोले—'हाँ, मन ले सकता हूँ। मन मुझे संकल्प कर दीजिये'। राजा जनकने वैसा ही किया।

अष्टावक्रने कहा—'राजन् ! एक सप्ताह पश्चात् पुनः आऊँगा तब आपकी मनोकामना पूर्ण होगी।' यह कहकर अष्टावक्रजी अपने पिताको लेकर घर पहुँचा आये और जाते समय राजासे कहते गये कि 'आप यह समझ लें कि आपने अपना मन मुझे संकल्प कर दिया है।' राजा जनक प्रतिज्ञाबद्ध हो गये और उनकी दशा विचित्र हो गयी। चलते-फिरते उन्हें यही ध्यान रहता कि मन तो संकल्प हो गया है। इस चिन्तामें उनके मनकी सब क्रियाएँ शान्त हो गयीं। समयानुसार ऋषिकुमार लौटे, आते ही उन्होंने जनकसे कुशल पूछी। राजा जनकने कहा—'ब्रह्मचारिन् ! मेरी कुशलता आपके अधीन है, मन तो आपका हो चुका है। आपको मन देकर मैं जडवत् हो गया हूँ; किंतु मुझे इसीमें परम शान्ति मिल रही है और इस शान्तिसे कुशल है।' अष्टावक्रने कहा—''राजन् ! इस जडताको तुम समझ लो कि वह चेतनता ('आत्मज्ञान') अथवा स्मृतिके समीपकी जडता है और अब तुम्हें वहाँतक पहुँचनेमें विलम्ब नहीं। तुम ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य हो गये।'' अष्टावक्र कहते गये।

''राजन् ! सांसारिक विषय मनके अधीन हैं, आत्माके अधीन नहीं। मन ही देही है, आत्मा विदेह है। मन जबतक शरीरकी ओर लगा रहता है, तबतक मनकी गति आत्माकी ओर नहीं हो पाती। मानव जब मनको ज्ञानके अधीन कर देता है, तब आत्माकी ओर उसकी गति बढ़ने लगती है। शनैः-शनैः प्राण कोशोंके बन्धनसे मुक्त होकर जीव सत्-चित्-आनन्द बन जाता है। जीवकी यही परमोन्नति है।'' ऋषिकुमार कहते गये—''यह शरीर पञ्चकोशोंका बना थोथा होता है। अन्नसे इसकी उत्पत्ति होती है, इसीलिये इसे 'अन्नमय कोश' भी कहते हैं। इसके भीतर 'प्राणमय कोश' है, वह अधिक व्यापक और सशक्त होता है। उसके भीतर 'मनोमय कोश' होता है, वह प्राणमय कोशसे भी व्यापक और सशक्त होता है। हाँ, वही मनोमय कोश स्थूल शरीरको यत्र-तत्र संचालित करता रहता है। मनोमयके बाद 'विज्ञानमय कोश' है। यह मनोमय कोशसे भी प्रबल और सशक्त होता है। जब मानवका मन ज्ञानके अधीन हो जाता है, तब उसका इधर-उधर भटकना समाप्त हो जाता है। विज्ञानमय कोशके बाद 'आनन्दमय कोश' है। आनन्दमय कोशमें प्रवेश करते ही शरीरको सुख-दुःखके झंझटोंसे छुटकारा मिल जाता है। निद्रित अवस्थामें जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थाके सुख-दुःख समाप्त हो जाते हैं, वही स्थिति आनन्दमय कोशकी है। इसके ऊपर है सर्वव्यापक 'आत्मा'। शरीरपर विशुद्ध ज्ञानकी सत्ता स्थापित होनेपर 'आत्माकी' प्राप्ति होती है। मनको शुद्ध ज्ञानके अधीनस्थ करके—शरीरपर ज्ञानकी सत्ता स्थापित करके सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतमकी ओर अग्रसर होना ही जीवकी 'परमोन्नति' है। राजा जनक ! आपने मुझे अपना मन संकल्प कर दिया था, अतः मनके साथ इस 'ज्ञान'को वापस कर रहा हूँ। आप मेरे आदेशसे ज्ञानके अधीन होकर इस राज्यका संचालन कीजिये। समस्त जीवोंमें अपने आत्माका अनुभव कीजिये। सबसे परे होकर रहिये।'' इतना कहकर अष्टावक्र उठकर चलने लगे। राजा जनकने आग्रहके साथ कहा—'ऋषिकुमार ! मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया, आप यहीं रहें।' अष्टावक्रने हँसते हुए कहा—'राजन् ! क्या अपने सुख-वैभवमें मुझे बाँधना चाहते हैं ?' राजा जनक नतमस्तक हो गये। अष्टावक्र अपने गन्तव्य स्थानपर चले गये। अष्टावक्रकी 'महान् मानवता'से अनेकों ज्ञानी बंदीगृहसे मुक्त हो गये—एक मानवने कई मानवोंका उद्धार किया।

मानवपर ग्रहोंका प्रभाव और फलित ज्यौतिष

(लेखक—डॉ० एच्० वेदान्तशाली, एम्०ए०, डी०फिल०)

आकाशमें केन्द्रस्थानीय सूर्य है। ग्रहोंका एक मण्डल इसकी परिक्रमा किया करता है। इन ग्रहोंके, कम-से-कम इनमेंसे कुछ ग्रहोंके उपग्रह भी हैं। ये उपग्रह अपने-अपने ग्रहकी परिक्रमा करते हैं।

पाश्चात्य ज्यौतिषमें इन ग्रहोंकी गणना इस प्रकार की गयी है—(१) मार्स (मङ्गल), (२) पृथिवी, (३) मर्करी (बुध), (४) जुपिटर (बृहस्पति), (५) वेनस (शुक्र), (६) सैटर्न (शनि), (७) युरेनस या हर्शल, (८) नेपच्यून और (९) प्लूटो। नेपच्यून और प्लूटोका आविष्कार सन् १९३० में हुआ है। कहते हैं एक और ग्रहका पता लग रहा है।

पृथ्वीसमेत सब ग्रह सूर्यके चारों ओर घूमते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि सूर्यका तथा अन्य सभी ग्रहोंका कुछ प्रभाव इस पृथ्वी-ग्रहपर पड़ता होगा।

सूर्यका प्रभाव सबसे प्रचण्ड है। सूर्यके साथ पृथ्वीका जैसा सम्बन्ध है, सभी जानते हैं।

चन्द्र स्वयं ग्रह नहीं, उपग्रह है; यही एकमात्र उपग्रह है, जो पृथ्वीकी परिक्रमा करता है। अतः यह भी स्वाभाविक है कि चन्द्रका भी कुछ प्रभाव पृथ्वीपर पड़ता होगा। सचमुच ही चन्द्रका भी प्रभाव पड़ता है और सूर्यके बाद इसीका सबसे अधिक प्रभाव है।

अब ग्रहोंको देखें। सभी ग्रह सौर मण्डलमें हैं। सब ग्रहोंका एक दूसरेपर भी प्रभाव पड़ता ही होगा। परंतु प्रभावका तारतम्य होता है समय और स्थानकी दूरीसे तथा पड़नेवाले प्रभावकी मात्रासे भी। समय और स्थानकी जितनी समीपता होगी, प्रभावकी प्रतीति भी उतनी ही अधिक होगी। मार्स (मङ्गल-ग्रह) पृथ्वीका सबसे निकटस्थ पड़ोसी है। इससे यह समझा जाता है कि पृथ्वीपर उसका प्रभाव अन्य ग्रहोंके प्रभावकी अपेक्षा अधिक प्रकट है। मङ्गल ग्रहके इस प्रभावके यथार्थ स्वरूपके सम्बन्धमें अनुसंधान भी बराबर हो रहा है। प्लूटो और नेपच्यूनको पृथ्वीपरसे केवल इस आँखसे नहीं देख सकते। अतः इनका प्रभाव पृथ्वीपर नहींके बराबर है। युरेनस (हर्शल) को इस आँखसे, बिना यन्त्रकी सहायताके देख सकते हैं। अतः इसका प्रभाव पृथ्वीपर अवश्य पड़ता है—पर इतना कम कि उसकी कोई गिनती नहीं। अन्य ग्रह सूर्यसे ढँक जानेके कारण जब दीखने बंद हो जाते हैं, तब उनका भी प्रभाव कम हो जाता है। यही बात चन्द्रके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। पर जब कोई आवरण उनपर नहीं होता, तब उनका विशेष प्रभाव पड़ता है। अवश्य ही किसी ग्रहका यह प्रभाव उस ग्रहकी स्थिति जब जहाँ हो, उसके हिसाबसे घटता-बढ़ता रहता है।

सूर्य और चन्द्रका प्रभाव मानव-शरीरपर स्पष्ट ही दृष्टि-गोचर होता है और इससे दूसरे ग्रहोंके प्रभावका भी अनुमान होता है। पर केवल मानव-शरीरपर ही यह प्रभाव पड़ता हो, यह बात नहीं। मानवकी भवितव्यताका निर्माण भी इन ग्रहोंके प्रभावसे होता है। जिस शास्त्रमें इस प्रभावके कार्योंका विचार किया जाता है, उसे फलित ज्यौतिष कहते हैं।

प्राच्य फलितमें उन्हीं ग्रह-नक्षत्रादिका विचार किया जाता है, जो मानवकी भवितव्यतासे सम्बन्ध रखते हैं। ये ग्रह-नक्षत्रादि हैं—(१) पृथ्वी; किसीके जन्मकालमें पूर्व-क्षितिजपर दीख पड़नेवाले नक्षत्र-पुञ्जके साथ पृथ्वीका जैसा स्थिति-सम्बन्ध होता है, पृथ्वीकी उस स्थितिको लग्न कहते हैं; क्योंकि फलित ज्यौतिषमें यह सबसे प्रबल योग माना जाता है। (२) सूर्य; मानवके कर्म, तेज, उत्साह और यशके सम्बन्धमें जन्मकालीन सूर्यकी स्थितिका बहुत बड़ा विचार है। (३) चन्द्र; चन्द्रकी समान रेखामें जो तारका-पुञ्ज दीख पड़ता है, उसे राशि कहते हैं; लग्नके बाद राशिका ही विचार मुख्य है। (४) मङ्गल, (५) बुध, (६) बृहस्पति, (७) शुक्र, (८) शनि, (९) राहु, ग्रहगतिका छेदक छायारूप ऊर्ध्वबिन्दु (दैत्यका सिर), (१०) केतु, गतिछेदक बिन्दुका निम्न भाग (दैत्यका धड़)। (११) सत्ताईस नक्षत्र जो चन्द्रमाके परिक्रमण-पथमें पड़ते हैं।

इस प्रकार पाँच ग्रह, एक उपग्रह, सूर्य, दो गति-छेदक बिन्दु, पृथ्वी और २७ नक्षत्रोंका हिंदू फलित ज्यौतिष-शास्त्रमें प्रधान कार्यभाग है और पृथ्वीपर जन्म होनेकी स्थितिके अनुसार वे उसका भविष्य बतलाते हैं। सामान्यतः यह अनिवार्य होता है। पर हमारे पूर्वाचार्य इतना ही जानकर चुप नहीं बैठे। उन्होंने इस सम्बन्धमें उन रत्नों और जड़ी-बूटियोंकी भी खोज की, जिनसे ग्रह-नक्षत्रादिकोंसे पड़नेवाले अनिष्ट प्रभावोंको हटाया जा सके। विवाहके पूर्व कुण्डली मिला लेनेका भी यही हेतु है।

क्यों मानव ! तू भूपर आया

(रचयिता—श्रीसुरेन्द्रकुमारजी 'एम० ए०, 'साहित्यरत्न' 'शिष्य')

क्यों मानव ! तू भूपर आया ?
पशु, पक्षी, कीट, देव, दानवमय ब्रह्मसृष्टिसे जग छाया ॥
फिर भी मानव, तू क्यों आया ? ॥

चौरासी लक्ष योनि प्राणीमें कमी एक दिखलाती थी ।
हर योनि कर्मपथ विमुख रही, भोगोंमें सुख-दुख पाती थी ।
निज मूल लक्ष्यसे मिलनेको वह भटक-भटक अकुलाती थी ।
यह जीव पुनः हो ब्रह्मलीन उद्देश्य-पूर्ति-हित नर काया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥१॥

मनु-संतति मानवको वेदोंने यही ज्ञान समझाया था ।
स्मृतियोंद्वारा यह भाव हमारे ऋषि-महर्षिने पाया था ।
ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, काव्यमें यही धर्म दर्शाया था ।
यह कर्ममार्ग अवलम्बन पा मानवविकास था सरसाया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥२॥

संदेश भूलकर नर फिर जब निज जन्म लक्ष्यसे विमुख हुआ ।
मायाके चक्करमें पड़कर कामादिकके आधीन हुआ ।
आसुरी भाव प्रावल्य हुआ, नर पशुतामें लवलीन हुआ ।
मानवताकी रक्षाको तब भगवान स्वयं भूपर आया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥३॥

नर-प्रतिनिधि अर्जुन. मनमें जब मायाका भूत समाया था ।
निज कर्मक्षेत्र नाशक विषाद आवरण बुद्धिपर छाया था ।
तब स्वयं परम प्रभुने नरको गीताका ज्ञान सुनाया था ।
है अजर-अमर आत्मा सबका, है वस्त्र समान बनी काया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥४॥

जो शत्रु-मित्रको सम देखे, निन्दा-स्तुतिमें समभाव रहे ।
मानापमान परवाह नहीं, सुख-दुखका जिसे न ज्ञान रहे ।
जो परसेवा-संलग्न, जिसे सब जगमें प्रभुका ध्यान रहे ।
इस भाँति प्रशस्थित जो है, उसने सचमुच प्रभुको पाया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥५॥

यह था मानवताका विकास, पर वे विचार अब ध्वस्त हुए ।
आध्यात्मिकताको भुला आज नर भौतिकतामें मस्त हुए ।
शारीरिक सुख सर्वस्व आज आत्मिक दैवीगुण अस्त हुए ।
हिंसा-हिंसा सर्वत्र देख यह शक्ति-द्वन्द्व नर थर्राया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥६॥

मानवपर आज अपर मानवको लेशमात्र विश्वास नहीं ।
मानव मानवसे शंकित है, है प्रेम भावका वास नहीं ।
नर भले कहे उत्थान इसे, मैं कहता इसे विकास नहीं ।
मेरे मतसे तो आज वस्तुतः घोर पतनका युग आया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥७॥

है एक ओर एटम बम-मय भूचाल ज्वाल बरसाता जो ।
दूसरी ओर हाइड्रोजन बम नित नये रोग फैलाता जो ।
राकेटसे अस्त्र चलें अब तो देशोंके देश जलाता जो ।
मानवका सर्वनाश सम्मुख सिरपर सबके अब घहराया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥८॥

'सर्वे भवन्तु सुखिनः' वाणीका घोष न आज सुनाता है ।
'कामये आर्त्तिनाशनम्' सर्व प्राणीका कौन मनाता है ।
'जय केवल हम' गाते हैं सब, 'जय जगत' कौन अब गाता है ।
परमार्थ भाव है याद नहीं, बस स्वार्थ-स्वार्थ सबने गाया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ॥९॥

अब ईसा, बुद्ध, गाँधीकी वाणी है नरको कुछ याद नहीं ।
'वसुधैव कुटुम्ब' कहाँ मानें, भाई-भाईमें प्यार नहीं ।
मानवसेवा व्रत भूल गया, जीवनका कुछ सिद्धान्त नहीं ।
मानव था चला कहाँ जानेको, कहाँ आज वह है आया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ।१०।

अब सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यका जीवनमें कुछ मान नहीं ।
नर सदाचारको भूल गया, 'परदार मातृवत्' भाव नहीं ।
'परद्रव्य लोष्ठवत्' भाव नहीं, सर्वात्मभावका ज्ञान नहीं ।
हर क्षण अशान्तिमय बीत रहा, क्या कमी चित्तमें शरमाया ।
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ।११।

यदि तेरे पैदा होनेसे जगका न रंच कल्याण हुआ ।
यदि तेरे पैदा होनेसे न समाज लेश उत्थान हुआ ।
यदि तेरे पैदा होनेसे सचमुच न सर्व हित ज्ञान हुआ ।
तो 'शिष्य' करे बस एक प्रश्न क्यों मानव तू भूपर आया ?
क्यों मानव, तू भूपर आया ? ।१२।

भगवान्‌के लिये बलिदान

दानवोंके मध्य प्रह्लाद

'मार दो इसे ! जैसे मरे—मार दो !' हिरण्यकशिपुने आज्ञा दे दी अपने ही पुत्र प्रह्लादके वधकी । वह जल उठा—उसका परम शत्रु विष्णु; और प्रह्लाद किसी प्रकार उसका स्मरण-भजन छोड़ता नहीं । तब वह मरे ।

निसर्ग-क्रूर दैत्य—हत्यामें उन्हें आनन्द मिलता है । वेदनासे तड़फड़ाते प्राणी, छिन्न-सिर तड़पता शव उनको हर्षित करता है । दैत्येश्वरका आदेश—खड्ग, त्रिशूल, तोमर, भाला, गदा—जो जिसके पास था, उसे ही लिये वह टूट पड़ा ।

पाँच वर्षके बालक प्रह्लाद—एकाकी, शस्त्रहीन, शान्त । शतशः दैत्योंका एक साथ प्रहार—किंतु प्रह्लाद और भय ? शस्त्र स्वतः छिन्न-भिन्न हो गये, यह उस परम रक्षककी लीला; किंतु अपनेपर सर्वात्मना अर्पित स्वभक्तोंकी रक्षामें वह प्रमाद कर कैसे सकता है ?

विषपान करती मीराँ

मीराँ मानती नहीं । उसका कीर्तन-भजन, मेवाड़के राजकुलकी मर्यादा लज्छित होती है इससे । तब मीराँका जीवन—राणाने विषका प्याला भेज दिया है मीराँके समीप ।

'यह चरणामृत है !' राणाका संदेश; किंतु लानेवाली कहती है—'रानीजी, हलाहल विष है यह !'

'भगवच्चरणामृत और विष ! चरणामृत तो नित्य अमृत है । विष ही हो—नश्वर शरीरको नष्ट करनेके अतिरिक्त और क्या कर लेगा ? चरणामृत कहकर जो आया—मीराँ त्याग दे उसे ?' मीराँने ओठोंसे लगा लिया प्याला ! चरणामृत तो वह हो गया—मीराँके गिरिधर-गोपाल उसे अमृत बना चुके । मीराँके लिये विष कैसे रह सकता है वह ।

विषपान करते सुकरात

महान् दार्शनिक सुकरात अपने भगवत्सम्बन्धी विलक्षण विचारोंके लिये बंदी बनाये गये और विषका प्याला दिया गया उन्हें ।

'सनातन सत्य एक शारीरिक जीवनसे महान् है' हँसे वे महापुरुष—'विष केवल शरीर नष्ट कर सकता है ।'

सत्यके लिये—परमात्माके लिये सुकरातका बलिदान !

मन्सूर शूलीपर चढ़े

'काफिर है मन्सूर ! कुफ्र बकता है वह !' संकीर्ण विचार, ग्रन्थके शब्दोंमें सीमित बुद्धि मुल्ला क्या समझें मन्सूरकी मस्ती । उस सर्वव्यापकसे एकात्मप्राप्त फकीरकी परावाणी 'अनलहक़' भारतीय वाणीका—श्रुतिका उद्‌घोष 'अहं ब्रह्मास्मि' समझमें आता नहीं था और उन अज्ञानियोंके रोषने मन्सूरके शरीरको शूलीपर चढ़ा दिया । देहातीत तत्त्वज्ञानी मन्सूर—शूलीसे भी उनका उद्‌घोष उठा—'अनलहक़ !'

भगवान्‌के लिये बलिदान

प्रह्लाद मीराँ

सुकरात मनसूर
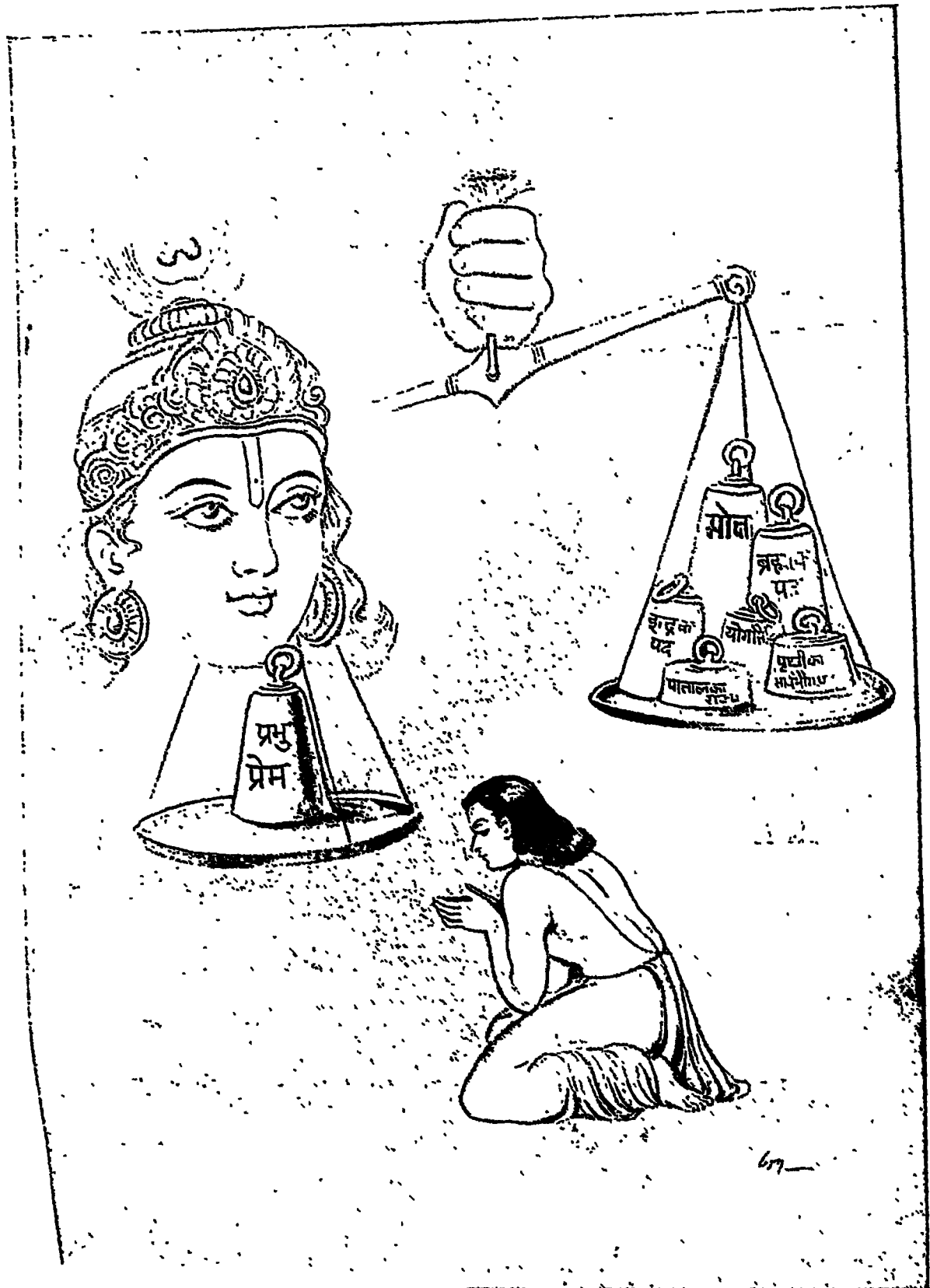
प्रभु-प्रेमकी सर्वश्रेष्ठता

प्रभु-प्रेमकी सर्वश्रेष्ठता

[मानव-जीवनका परम फल और परम लाभ]

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः । प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ६ । ११ । २५-२६)

भक्तहृदय वृत्रासुरने मरते समय श्रीभगवान्से प्रार्थना की—'हे सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर इन्द्रपद, ब्रह्माका पद, सार्वभौम—सारी पृथ्वीका एकछत्र राज्य, पाताल-का एकाधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ और अपुनर्भव—मोक्ष भी नहीं चाहता । जैसे पक्षियोंके विना पाँख उगे बच्चे अपनी माँ चिड़ियाकी बाट देखते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ गैयाका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी प्रियतमा पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये छटपटाती रहती है, वैसे ही कमलनयन ! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है ।'

उपर्युक्त वाक्य भगवत्प्रेमीके हृदयकी त्यागमयी अभिलाषाके स्वरूपको व्यक्त करते हैं । भगवत्प्रेमी सर्वथा निष्काम होता है । प्रेममें किसी भी स्व-सुखकी कामनाको स्थान नहीं है । प्रेमी देना जानता है, लेना जानता ही नहीं । प्रेमास्पदके सुखके लिये उसका सहज जीवन है, उसके जीवनका प्रत्येक कार्य, प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक विचार और प्रत्येक कल्पना है । प्रेमास्पद प्रभुको सुखी बनानेवाली सेवा ही उसके जीवनका स्व-भाव है । उसको छोड़कर वह संसार-के—इहलोक, परलोकके बड़े-से-बड़े भोगकी तो बात ही क्या, पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ भी, देनेपर भी स्वीकार नहीं करता—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

भगवान् (श्रीकपिलदेव) कहते हैं—'मेरे प्रेमी भक्त—मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य (भगवान्के नित्यधाममें निवास), सार्ष्टि (भगवान्के समान ऐश्वर्य-भोग), सामीप्य (भगवान्के समीप रहना), सारूप्य (भगवान्के समान रूप प्राप्त करना) और एकत्व (भगवान्में मिल जाना—ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त हो जाना)—ये (पाँच प्रकारकी दुर्लभ मुक्तियाँ) दिये जानेपर भी नहीं लेते ।'

भगवत्प्रेमियोंकी पवित्र प्रेमाग्निमें भोग-मोक्षकी सारी कामनाएँ, संसारकी सारी आसक्तियाँ और ममताएँ सर्वथा जलकर भस्म हो जाती हैं। उनके द्वारा सर्वस्वका त्याग सहज स्वाभाविक होता है । अपने प्राणप्रियतम प्रभुको समस्त आचार अर्पण करके वे केवल नित्य-निरन्तर उनके मधुर स्मरणको ही अपना जीवन बना लेते हैं । उनका वह पवित्र प्रेम सदा बढ़ता रहता है; क्योंकि वह न कामनापूर्तिके लिये होता है न गुणजनित होता है । उसका तार कभी टूटता ही नहीं, सूक्ष्मतररूपसे नित्य-निरन्तर उसकी अनुभूति होती रहती है और वह प्रतिक्षण नित्य-नूतन मधुररूपसे बढ़ता ही रहता है । उसका न वाणीसे प्रकाश हो सकता है न किसी चेष्टासे ही दूसरेको बताया जा सकता है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'

(नारदभक्तिसूत्र)

इस पवित्र प्रेममें इन्द्रिय-तृप्ति, वासनासिद्धि, भोग-लालसा आदिको स्थान नहीं रहता । बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ सभी नित्य-निरन्तर परम प्रियतम प्रभुके साथ सम्बन्धित रहते हैं । मिलन और वियोग दोनों ही नित्य-नवीन रस-वृद्धिमें हेतु होते हैं । ऐसा प्रेमी केवल प्रेमकी ही चर्चा करता है, प्रेमकी चर्चा सुनता है, प्रेमका ही मनन करता है, प्रेममें ही संतुष्ट रहता और प्रेममें ही नित्य रमण करता है । वह लवमात्रके लिये भी किसी भगवत्प्रेमीका सङ्ग प्राप्त कर लेता है तो उसके सामने मोक्षतकको तुच्छ समझता है । श्रीमद्भागवतमें आया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(१ । १८ । १३)

'भगवदासक्त प्रेमी भक्तके लवमात्रके सङ्गसे स्वर्ग और अपुनर्भव मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है ।'

इस परम पवित्र भुक्ति-मुक्ति-त्यागसे विभूषित उज्ज्वलतम प्रेमकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति व्रजगोपियोंमें हुई । उनमें श्रीकृष्ण-

सुख-लालसाके अतिरिक्त और कुछ था नहीं। अपनी कोई चिन्ता उन्हें कभी नहीं हुई। ये सब गोपाङ्गनाएँ श्रीराधारानी-की कायव्यूहरूपा हैं और उन्हींके सुख-सम्पादनार्थ अपना जीवन अर्पण करके प्रेमका परम पवित्र आदर्श व्यक्त कर रही हैं। इनमें श्रीराधारानीकी सखियोंमें आठ प्रधान हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, सुदेवी, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा और रङ्गदेवी। इनमें प्रत्येककी अनुगता आठ-आठ किंकरियाँ हैं तथा अनेक मञ्जरीगण हैं। ये सभी श्रीराधा-माधवकी प्रीतिसाधनामें ही नित्य संलग्न रहती हैं। इन सबकी आधार-रूपा हैं श्रीराधिकाजी। प्रेमभक्तिका चरमस्वरूप श्रीराधा-भाव है। इस भावका यथार्थ स्वरूप श्रीराधिकाके अतिरिक्त समस्त विश्वके दर्शनमें कहीं नहीं मिलता। श्रीराधा शङ्का, संकोच, संशय, सम्भ्रम आदिसे सर्वथा शून्य परम आत्मनिवेदनकी पराकाष्ठा हैं। रति, प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और भाव—इस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ परम त्यागमय पवित्र प्रेम अन्तमें जिस स्वरूपको प्राप्त होता है, उसे 'महाभाव' कहा गया है। इस महाभावके उदय होनेपर क्षणभर भी प्रियतमका वियोग नहीं होता। श्रीराधा इसी महाभावकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। वे महाभाव-स्वरूपा हैं। श्रीकृष्णकी समस्त प्रेयसीगणोंमें वे सर्वश्रेष्ठ हैं। नित्य-नव परम सौन्दर्य, नित्य-नव माधुर्य, नित्यनव असमोर्ध्व लीलाचातुर्य-की विपुल नित्यवर्धनशील दिव्य सम्पत्तिसे समलंकृत प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधाके प्रेमके आलम्बन हैं और श्रीराधा इस मधुररसकी श्रेष्ठतम आश्रय हैं। ये श्रीराधा कभी प्रियतमके संयोग-सुखका अनुभव करती हैं और कभी वियोग-वेदनाकी। इनका मिलन-सुख और वियोग-व्यथा—दोनों ही अतुलनीय तथा अनुपमेय हैं। श्रीरूपगोस्वामी महोदय वियोगकी एक झाँकीके दर्शन इस प्रकार कराते हैं—

> अश्रूणामतिवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरं
> ज्योत्स्नीस्यन्दिविधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्बिभ्रती।
> कण्ठान्तस्त्रुटदक्षराद्य पुलकैर्लब्धा कदम्बाकृतिं
> राधा वेणुधर प्रवातकदलीतुल्या क्वचिद् वर्तते॥

श्रीराधिकाकी एक सखी श्यामसुन्दरसे कहती है—'वेणुधर! तुम्हारे अदर्शनसे राधाकी दशा आज कैसी हो रही है। उनके नेत्रोंसे जलकी इतनी अधिक वर्षा हो रही है कि उससे यमुनाजीका जल बढ़कर दूना हो गया है। उनके शरीरसे इस प्रकार पसीना झर रहा है, जैसे चाँदनी रात्रिमें चन्द्रकान्तमणि पसीज कर रस बहाने लगती है। उनके शरीरका वर्ण भी उसी मणिके सदृश पीला पड़ गया है। उनके कण्ठकी वाणी रुक-रुककर निकलती है तथा उसका स्वर भङ्ग हो गया है। उनका सर्वाङ्ग कदम्बके केशरकी भाँति पुलकित हो रहा है। भयंकर आँधी-पानीमें जैसे केलेका वृक्ष काँपकर भूमिपर गिर जाता है, वैसे ही उनकी अङ्ग-लता भूमिपर गिर पड़ी है।'

ये सब महान् भाव-तरङ्गें श्रीराधाके महाभाव-सागरको प्रकट दिखला रही हैं।

वस्तुतः श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपाङ्गनासमूह एवं उनकी मधुरतम लीलाओंमें कोई भेद नहीं है। रस-स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर ही अनन्त-अनन्त रसोंके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन करते हैं। वे स्वयं ही आस्वाद्य, आस्वादक और आस्वाद बने हैं। तथापि श्रीराधा-माधवका मधुरातिमधुर लीला-रस-प्रवाह अनादि-अनन्तरूपसे चलता रहता है। श्रीकृष्ण और श्रीराधाका कभी विछोह न होनेपर भी वियोगलीला होती है; पर उस वियोगलीलामें भी संयोगकी अनुभूति होती है और संयोगमें भी वियोगका भान होता है। ये सब रस-समुद्रकी तरङ्गें हैं। प्रेमका स्वभाव श्रीराधाके अंदर पूर्णरूपमें प्रकट है। इसलिये वे अपनेमें रूप-गुणका सर्वथा अभाव मानती हैं। श्रीकृष्णको नित्य अपने सांनिध्यमें ही देखकर सोचती हैं कि मेरे मोहमें प्राणनाथ यथार्थ सुखसे वञ्चित हो रहे हैं। अच्छा हो, मुझे छोड़कर ये अन्यत्र चले जायँ तथा सुख-सम्पादन करें। पर श्रीकृष्ण कभी इनसे पृथक् नहीं होते। इस प्रकार प्रेमका प्रवाह चलता रहता है। परम त्याग, परम प्रेम और परम आनन्द—प्रेमकी इस पावन त्रिवेणीका प्रवाह अनवरत बहता ही रहता है।

एक विचित्र बात तब होती है, जब श्रीकृष्ण मथुरा पधार जाते हैं, श्रीराधा तथा समस्त गोपीमण्डल एवं सारा व्रज उनके वियोगसे अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। यद्यपि श्रीश्यामसुन्दर माधुर्यरूपमें नित्य श्रीराधाके समीप ही रहते हैं, पर लोगोंकी दृष्टिमें वे चले जाते हैं। मथुरासे संदेश देकर वे श्रीउद्धवजीको व्रजमें भेजते हैं।

श्याम-सखा श्रीउद्धवजी व्रजमें आकर नन्दबाबा एवं यशोदा मैयाको सान्त्वना देते हैं, फिर गोपाङ्गना-समूहमें जाते हैं, वहाँ बड़ा ही सुन्दर प्रेमका प्रवाह बहता है और उसमें उद्धवका समस्त चित्तप्रदेश आप्लावित हो जाता है। तदनन्तर वे श्रीराधिकाजीसे एकान्तमें बात करते हैं। श्रीराधाकी बड़ी ही

विचित्र स्थिति है। वे जब उद्धवजीसे श्रीश्यामसुन्दरका मथुरासे भेजा हुआ संदेश सुनती हैं, तब पहले तो चकित-सी होकर मानो संदेहमें पड़ी हुई-सी कुछ सोचती हैं। फिर कहने लगती हैं—

'उद्धव! तुम मुझको यह किसका कैसा संदेश सुना रहे हो? तुम झूठ-मूठ मुझे क्यों भुलावेमें डाल रहे हो? मेरे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर तो यहीं हैं। वे कब परदेश गये? कब मथुरा गये? वे तो सदा मेरे पास ही रहते हैं। मुझे देखे बिना एक क्षण भी उनसे नहीं रहा जाता, मुझे न पाकर वे क्षणभरमें व्याकुल हो जाते हैं, वे मुझे छोड़कर कैसे चले जाते? फिर मैं तो उन्हींके जिलाये जी रही हूँ, वे ही मेरे प्राणोंके प्राण हैं। वे मुझे छोड़कर चले गये होते तो मेरे शरीरमें ये प्राण कैसे रह सकते?

उद्धव! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा संदेश?
भुला रहे क्यों मिथ्या कहकर? प्रियतम कहाँ गये परदेश?
देखे बिना मुझे पलभर भी कभी नहीं वे रह पाते।
क्षणभरमें व्याकुल हो जाते, कैसे छोड़ चले जाते?
मैं भी उनसे हो जीवित हूँ, वे ही हैं प्राणोंके प्राण।
छोड़ चले जाते तो कैसे तनमें रह पाते ये प्राण?

इतनेमें ही श्रीकृष्ण खड़े दिखलायी दिये—तब श्रीराधा बोलीं—'अरे देखो, उधर देखो, वे नन्दकिशोर कदम्बके मूलमें खड़े कैसी निर्निमेष दृष्टिसे मेरी ओर देख रहे हैं और मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। देखो तो, मेरे मुखको कमल समझकर प्राणप्रियतमके नेत्र-भ्रमर मतवाले होकर मधुर रस पान कर रहे हैं।'

देखो—वह देखो, कैसे मृदु-मृदु मुसकाते नंदकिशोर।
खड़े कदम्ब-मूल, अपलक वे झाँक रहे हैं मेरी ओर॥
देखो, कैसे मत्त हो रहे, मेरे मुखको पङ्कज मान।
प्राणप्रियतमके दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रस-पान॥

'देखो, भौंहें चलाकर और आँखें मटकाकर वे मेरे प्राणधाम मुझसे इशारा कर रहे हैं तथा अत्यन्त आतुर होकर मुझको एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं। उद्धव! तुम भौंचक-से होकर कदम्बकी ओर कैसे देख रहे हो? क्या तुम्हें श्यामसुन्दर नहीं दिखायी देते, अथवा क्या तुम उन्हें देखकर प्रेममें डूब गये हो?'

भ्रकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे वे संकेत।
अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राणनिकेत॥
कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर?
क्या तुम नहीं देख पाते? या देख हो रहे प्रेम-विभोर?

श्रीराधिकाजी यों कह ही रही थीं कि उन्हें श्यामसुन्दरके दर्शन होने बंद हो गये; तब वे अकुला उठीं और बोलीं—

'हैं, यह सहसा क्या हो गया? श्यामसुन्दर कहाँ छिप गये? हाय! वे आनन्दनिधान मनमोहन मुझे क्यों नहीं दिखायी दे रहे हैं? वे लीलामय क्या आज पुनः आँखमिचौनी खेलने लगे? अथवा मैंने उनको तुम्हें दिखा दिया, इससे क्या उन्हें लाज आ गयी और वे कहीं छिप गये?'

हैं, यह क्या? सहसा वे कैसे, कहाँ हो गये अन्तर्धान?
हाय, क्यों नहीं दीख रहे मुझको मनमोहन मोदनिधान॥
आँख-मिचौनी लगे खेलने क्या वे लीलामय फिर आज?
दिखा दिया मैंने तुमको, क्या इससे उन्हें आ गयी लाज?

'नहीं, नहीं! तब क्या वे सचमुच ही मुझे छोड़कर चले गये? हाय! क्या वे मुझसे मुख मोड़कर मुझे अपरिमित अभागिनी बनाकर चले गये? हाय उद्धव! तुम सच कहते हो, तुम सत्य संदेश सुनाते हो! वे चले गये! हा! वे मेरे लिये रोना शेष छोड़कर चले गये!

नहीं, नहीं! तब क्या वे चले गये सचमुच ही मुझको छोड़?
मुझे बनाकर अमित अभागिनि हाय गये मुझसे मुख मोड़!
सच कहते हो उद्धव! तुम, हो सत्य सुनाते तुम संदेश?
चले गये हा! चले गये वे छोड़ गये रोना अवशेष॥

'पर ऐसा कैसे होता? जो पल-पलमें मुझे अपलक नेत्रोंसे देखा करते; जो मुझे सुखमय देखनेके लिये बड़े सुखसे—मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ, सुख-दुःख—सब सहते; मेरा दुःख जिनके लिये घोर दुःख और मेरा सुख ही जिनका आत्यन्तिक सुख था, वे मुझे दुःख देकर, कैसे अपने जीवन-सुखको खो देते? अतएव वे गये नहीं हैं। यहीं छिपे होंगे।'

प्रतिपल जो अपलक नयनोंसे मुझे देखते ही रहते।
सुखमय मुझे देखनेको जो सभी द्वन्द्व सुखसे सहते॥
मेरा दुःख दुःख अति उनका, मेरा सुख ही अतिशय सुख।
वे कैसे मुझको दुख देकर खो देते निज जीवन-सुख॥

इतना कहते-कहते ही राधाका भाव बदला। उनके मुखपर हँसी छा गयी और उल्लसित होकर वे कहने लगीं—'हाँ ठीक, वे चले गये। मुझे परम सुख देनेके

लिये ही वे मथुरामें जाकर बसे हैं। मैं इसका रहस्य समझ गयी। मैं सुखी हो गयी मुझे सुख देनेवाले प्रियतमके इस कार्यको देखकर! मुझे वे सब पुरानी बातें याद आ गयीं, जो मुझमें-उनमें हुआ करती थीं। उनके जानेका कारण मैं जान गयी। वे मुझे सुखी बनानेके लिये ही गये हैं। इसीसे देखो, मैं कैसी प्रफुल्लित हो रही हूँ—मेरा अङ्ग-अङ्ग आनन्दसे किस प्रकार रोमाञ्चित हो रहा है!'

मुझे परम सुख देनेको ही गये मधुपुरीमें बस श्याम।
समझ गयी, मैं सुखी हो गयी, निरख सुखद प्रियतमका काम॥
याद आ गयी मुझको सारी मेरी-उनकी बीती बात।
जान गयी कारण, इससे हो रही प्रफुल्लित पुलकित-गात।

''बताऊँ, क्या बात है? मुझमें न तो कोई सद्गुण था न कोई रूप-माधुरी ही। मैं दोषोंकी खान थी। पर मोहवश होनेके कारण मनमोहन श्यामसुन्दरको मुझमें सौन्दर्य दिखलायी देता और वे मुझे अपना सर्वस्व—तन-मन-धन देकर मुझपर न्योछावर हुए रहते! वे बुद्धिमान् होकर मोहवश मुझे 'मेरी प्राणेश्वरी', 'मेरी हृदयेश्वरी' कहते-कहते कभी थकते ही नहीं। मुझे इससे बड़ी लज्जा आती, बड़ा संकोच होता। मैं बार-बार उन्हें समझाया करती—'प्रियतम! तुम इस भ्रमको छोड़ दो।' पर मेरी बात मानना तो दूर रहा, वे तुरंत मुझे हृदयसे लगा लेते, मेरे कण्ठहार बन जाते, मैं उन्हें अपने गलेसे लिपटा हुआ पाती! मैं गुणसे, सौन्दर्यसे रहित थी; प्रेमधनसे दरिद्र थी, कला-चतुरतासे हीन थी; मूर्खा, बहुत बोलनेवाली, झूठे ही मान-मदसे मतवाली, मन्दमति तथा मलिन स्वभावकी थी। मुझसे बहुत-बहुत अधिक सुन्दरी, सद्गुण-शीलवती, सुन्दर रूपकी भंडार अनेकों सुयोग्य सखियाँ थीं, जो प्रियतमको अत्यन्त सुख देनेमें समर्थ थीं। मैं उनके नाम बता-बताकर प्रियतमको उनसे स्नेह करनेके लिये कहती; परंतु वे कभी भूलकर भी उनकी ओर नहीं ताकते और सबसे अधिक—अधिक क्यों, वे प्रियतम सारा ही प्यार सब ओरसे, सब प्रकारसे, अनन्यरूपसे केवल मुझको ही देते। इस प्रकार प्रियतमका बढ़ा हुआ व्यामोह देखकर मुझे बड़ा संताप होता और मैं देवतासे मनाया करती कि 'हे प्रभो! आप उनके इस मोहको शीघ्र हर लें।' मेरा बड़ा सौभाग्य है कि देवताने मेरी करुण पुकार सुन ली। मेरे प्राणनाथ मोहनका मोह आखिर मिट गया और अब वे मथुरामें अपार आनन्द प्राप्त कर रहे होंगे। मेरे प्राणाराम वे किसी नगरनिवासिनी चतुर सुन्दरीको प्राप्त करके अनुपम सुख भोग रहे होंगे। मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। आज मैं परम सुखवती हो गयी। आज मेरे भाग्य खुल गये, जो मुझको आनन्द-मङ्गलमय, जीवनको सजानेवाला, सुखकी खानरूप श्यामसुन्दर-का यह संदेश सुननेको मिला।''

सद्गुणहीन, रूप-सुषमासे रहित, दोषकी मैं थी खान।
मोहविवश मोहनको होता मुझमें सुन्दरताका भान॥
न्योछावर रहते मुझपर सर्वस्व स-मुद कर मुझको दान।
कहते, थकते नहीं कभी 'प्राणेश्वरि!' 'हृदयेश्वरि!' मतिमान॥

'प्रियतम! छोड़ो इस भ्रमको तुम'—बार-बार मैं समझाती।
नहीं मानते, उर भरते, मैं कण्ठहार उनको पाती॥
गुण-सुन्दरता-रहित, प्रेमधन-दीन, कला-चतुराई-हीन।
मूर्खा, मुखरा, मान-मद-भरी मिथ्या, मैं मतिमन्द मलीन॥

मुझसे कहीं अधिकतर सुन्दर सद्गुण-शील-सुरूप-निधान।
सखी अनेक योग्य, प्रियतमको कर सकती अतिशय सुख-दान॥
प्रियतम कभी भूलकर भी, पर, नहीं ताकते उनकी ओर।
सर्वाधिक क्यों प्यार मुझे देते अनन्य प्रियतम सब ओर॥

रहता अति संताप मुझे प्रियतमका देख बढ़ा व्यामोह।
देव मनाया करती मैं, 'प्रभु! हर लें सत्वर उनका मोह॥'

× × ×

मेरा अति सौभाग्य, देवने सुन ली मेरी करुण पुकार।
मिटा मोह मोहनका, अब वे प्राप्त कर रहे मोद अपार॥

पाकर सुन्दर चतुरा किसी नागरीको वे प्राणाराम।
भोग रहे होंगे अनुपम सुख, पूर्ण हुआ मेरा मन काम॥
परम सुखवती आज हुई मैं खुले भाग्य मेरे हैं आज।
सुना श्याम-संदेश सुखाकर मुद-मङ्गलमय जीवन-साज॥

यह कहते-कहते ही पुनः भावमें परिवर्तन हो गया। वे दृढ़तापूर्वक बोलीं—''नहीं-नहीं, प्रियतमसे ऐसा काम कभी हो ही नहीं सकता। मुझसे कभी पृथक् होना उनके लिये सम्भव ही नहीं। मेरा और उनका ऐसा सुन्दर, प्रिय और अनन्य—अनोखा सम्बन्ध है, जो कभी मिट ही नहीं सकता। मुझे छोड़कर 'वे' और उनको छोड़कर 'मैं' कभी रह ही नहीं सकते। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है। वे मैं हूँ, मैं वे हैं। दोनों एक तत्त्व हैं। दोनों सब प्रकारसे एक-रूप ही हैं।''

नहीं, नहीं ! ऐसा हो सकता नहीं कभी प्रियतमसे काम।
मेरा-उनका अमिट अनोखा प्रिय अनन्य सम्बन्ध ललाम ॥
मुझे छोड़ 'वे' उन्हें छोड़ 'मैं' रह सकते हैं नहीं कभी।
'वे मैं', 'मैं वे'—एक तत्त्व हैं—एकरूप हैं भाँति सभी ॥

राधा यों कह ही रही थीं कि उन्हें श्यामसुन्दर सहसा दिखायी दिये। वे बोल उठीं—'अरे, अरे उद्धव! देखो, वे सुजान फिर प्रकट हो गये हैं। कैसा मनोहर रूप है, कैसी सुन्दर प्रेमपूर्ण दृष्टि है। अधरोंपर मृदु मुसकान खेल रही है। ललित त्रिभङ्ग मूर्ति है। घुँघराले कुटिल केश हैं, सिरपर मोर-मुकुट तथा कानोंमें कमनीय कुण्डल झलमला रहे हैं। मुरलीधरने अधरोंपर मुरली धर रखी है और उससे मधुर तान छेड़ रहे हैं।'

अरे-अरे उद्धव! देखो, वे पुनः प्रकट हो गये सुजान।
प्रेमभरी चितवन सुन्दर, छायी अधरोंपर मृदु मुसुकान ॥
ललित त्रिभङ्ग, कुटिल कुन्तल, सिर मोर-मुकुट, कल कुण्डल कान।
धर मुरली मुरलीधर अधरोंपर हैं छेड़ रहे मधु तान ॥

यों कहकर राधा समाधिमग्न-सी एकटक देखती निस्तब्ध हो गयीं। इस प्रकार प्रेम-सुधा-समुद्र श्रीराधामें विविध विचित्र तरङ्गोंको उछलते देखकर उद्धव अत्यन्त विमुग्ध हो गये। उनके सारे अङ्ग सहसा विवश हो गये। उनको अपने शरीरकी सुधि नहीं रही। उनके हृदयमें नयी-नयी उत्पन्न हुई शुभ प्रेम-नदीमें अकस्मात् बाढ़ आ गयी। कहीं ओर-छोर नहीं रहा। वे आनन्दमग्न होकर भूमिपर लोटने लगे और उनका सारा शरीर शुभ राधा-चरण-स्पर्श-प्राप्त व्रजधूलिसे धूसरित हो गया।

प्रेम-सुधा-सागर राधामें उठतीं विविध विचित्र तरङ्ग।
देख विमुग्ध हुए उद्धव अति, बरबस विवश हुए सब अङ्ग ॥
उदित नवीन प्रेम-सरिता शुभ बढ़ी अचानक, ओर न छोर।
भू-लुण्ठित, तन धूलि धूसरित शुचि, उद्धव आनन्दविभोर ॥

× × ×

इस प्रकार अभिन्नस्वरूपा होनेपर भी श्रीराधारानी अपनेको प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखसे वञ्चित करके उनका सुख चाहती हैं। उनका सारा श्रीकृष्णानुराग, श्रीकृष्णसेवन श्रीकृष्णसुखके लिये ही है। वे जब यह सोचती हैं कि श्रीकृष्णको मुझसे वह सुख नहीं मिलता, जो अन्यत्र मिल सकता है तो वे देवताको मनाती हैं कि श्रीकृष्ण मुझको छोड़कर अन्यत्र सुख प्राप्त करें।

उनकी सखी गोपियाँ भी श्रीराधा-श्यामसुन्दरके सुख-सम्पादनमें ही नित्य लगी रहती हैं। वे कभी श्यामसुन्दरसे मिलती भी हैं तो उनके रसास्वादनकी वृद्धिके लिये ही, स्वसुखके लिये नहीं। इसी प्रकार जिनमें नवप्रीतिभावका प्रस्फुटन हुआ है, तुलसी-मञ्जरीकी भाँति अथवा नवोद्गत पल्लवके अग्रभागके सदृश जो नवीन रसभावयुक्त हैं, वे मञ्जरीगण भी नित्य-निरन्तर श्रीश्यामा-श्याम-युगलके सुखसम्पादन अथवा प्रीतिवहनमें ही अपनेको कृतार्थ मानती हैं। उनमें तनिक भी निज सुख-भोगका न तो प्रलोभन है, न दूसरेका सुख-सौभाग्य देखकर ईर्ष्याजनित जलन है।

एक बार श्रीराधिकाजीने मणिमञ्जरीके प्रेम-भावका आदर्श देखनेके लिये एक सखीको उनके पास भेजकर उसीकी ओरसे यह कहलवाया—'सखी! श्रीललिता, विशाखा आदि श्रीराधा-माधवकी सेवामें सखीभावसे तो रहती ही हैं। कभी-कभी वे नायिकाके रूपमें भी श्यामसुन्दरके समीप पधारती हैं। तुम भी इसी प्रकार श्रीकृष्णके समीप जाकर उन्हें सुख प्रदान करो और स्वयं उनसे सुख प्राप्त करो। श्रीकृष्ण-मिलनके समान सुखकी कहीं तुलना तो दूर रही, तीनों लोकों और तीनों कालोंमें उसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। तुम्हारा रूप-गुण, सौन्दर्य-माधुर्य, चातुर्य—सभी विलक्षण है; अतएव तुम इस परमानन्दसे वञ्चित क्यों रहती हो? श्यामसुन्दरके समीप जाकर उनका प्रत्यक्ष सेवानन्द प्राप्त करो।' इस बातको सुनकर मणिमञ्जरीने उक्त सखीसे कहा—'बहिन! कल्याणमयी श्रीराधा श्रीश्यामसुन्दरके साथ मिलकर जो सुख प्राप्त करती हैं, वही मेरे लिये मेरे अपने मिलनसे अनन्त-गुना अधिक सुख है। मैं अपने लिये दूसरे किसी सुखकी कभी कल्पना ही नहीं कर सकती। तुम मुझे क्यों भुलाती हो? मुझे तो तुम भी यही वरदान दो कि मैं श्रीराधा-माधवके मिलन-सुखको ही नित्य-निरन्तर अपना परम सुख मानूँ और उसी पवित्र कार्यमें अपने जीवनका एक-एक क्षण लगाकर अनिर्वचनीय और अचिन्त्य सुख प्राप्त करती रहूँ।' यही प्रेमकी महिमा है।

इसीसे इस पवित्र सर्वत्यागमय प्रेमकी तुलनामें इन्द्रका पद, ब्रह्माका पद, सार्वभौम राज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि एवं मोक्षपर्यन्त सभी नगण्य हैं; क्योंकि उन सभीमें स्व-सुख-कामनाका किसी-न-किसी अंशमें अस्तित्व है। पूर्ण त्याग नहीं है। इस पूर्ण त्यागको ही परम आदर्श माननेवाला

मानव त्यागके मार्गमें अग्रसर होकर परम प्रेम और परमानन्दको प्राप्त करके धन्य होता है !

घर, पड़ोस, गाँव, देश, विश्व, विश्वात्मा और सबके मूल स्वरूप सर्वाधार, सर्वमय, सर्वातीत भगवान्‌के लिये जितना-जितना ही त्याग होता है, उतना-उतना ही भोगासक्ति, प्राणि-पदार्थोंकी ममता, विषयकामना, मिथ्या अहंकारका नाश होकर दिव्य प्रेम प्राप्त होता है और उतना-उतना ही दिव्य मधुर अनन्त आनन्द बढ़ता है। इसीसे भक्तोंने प्रेमको पुरुषार्थ-चतुष्टयके मोक्षसे भी उच्चतम पञ्चम पुरुषार्थ बताया है।

मानवके लिये—इसीसे परम कर्तव्य है—सर्वत्याग—त्यागका अनिवार्य फल है—त्यागमय अनन्यप्रेम

और

त्यागमय प्रेमका ही परिणाम है—विशुद्धतम दिव्य आनन्द !

मानवपर ग्रहोंका प्रभाव और ज्यौतिष-शास्त्र

(लेखक—पं० श्रीमदनगोपालजी शर्मा शास्त्री, ज्यौतिषाचार्य, ज्यौतिषरत्न)

भगवान् वेदपुरुषकी कृपासे प्राप्त ज्यौतिष अनादिकालसे वेदाङ्गकी गणनामें चला आ रहा है, संसारकी अठारह विद्याओंमें ज्यौतिष-शास्त्रका एक प्रमुख स्थान है।

'द्युति' धातुसे 'द्युतेरिसन्नादेश्च जः' पाणिनिके इस उणादि-सूत्रद्वारा 'जकार' का आदेश होकर 'ज्योतिः' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ स्वयं प्रकाशित ग्रह-नक्षत्रादि माना जाता है, उन्हीं सूर्यादि ग्रहों और अश्विन्यादि नक्षत्रोंके गणित और फलितका सम्यक् वर्णन जिस शास्त्रमें हो, उसे ही 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' पाणिनि (४।३।८७) के इस सूत्रसे अण् प्रत्यय हो जानेपर 'ज्यौतिष-शास्त्र' कहते हैं।

ज्यौतिष-शास्त्रका अन्य नाम ज्योतिःशास्त्र भी है, जिसका अर्थ प्रकाश देनेवाला या प्रकाशके सम्बन्धमें बतलानेवाला शास्त्र होता है। अर्थात् जिस शास्त्रसे संसारका मर्म, जीवन-मरणका रहस्य और मानवके सुख-दुःखादिके सम्बन्धमें पूर्ण प्रकाश मिले वही ज्यौतिष-शास्त्र है।

ज्यौतिष-शास्त्रकी व्युत्पत्ति

'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्' इस प्रकार भी की गयी है। अर्थात् सूर्यादि ग्रहों और कालका बोध करानेवाले शास्त्रको ज्यौतिष-शास्त्र कहा जाता है। इसमें प्रधानतया ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदि ज्योतिर्मय पदार्थोंके स्वरूप, संचार, परिभ्रमण, काल, ग्रहण और स्थिति प्रभृति समस्त घटनाओं-का निरूपण एवं ग्रह-नक्षत्रोंकी गति, विधि, स्थिति और संचारानुसार शुभाशुभ फलोंका विवेचन किया जाता है।

कुछ ज्योतिर्विदोंका यह भी अभिमत है कि नभोमण्डल-में स्थित ज्योतिः-सम्बन्धी विविध-विषयक विद्याको भी 'ज्योतिर्विद्या' कहते हैं। जिस शास्त्रमें इस विद्याका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हो, वही ज्यौतिष-शास्त्र कहलाता है। एतदर्थ इस लक्षण और पूर्वोक्त ज्यौतिष-शास्त्रके व्युत्पत्त्यर्थमें केवल इतना ही अन्तर है कि प्रथममें गणित और फलित दोनों प्रकारके विज्ञानोंका उचित समन्वय किया गया है, परंतु दूसरेमें खगोल-ज्ञानपर ही दृष्टि रखी गयी है।

जिस प्रकार भगवान् वेदपुरुषका अपने अन्यान्य अङ्गो-पाङ्गोंके साथ उपकार्योपकारक-भावरूप सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार ज्यौतिषके साथ भी वेदपुरुषका उपकार्योपकारक-भाव-रूप सम्बन्ध है। ऋग्वेदीय चरण-व्यूहके परिशिष्ट तथा नारद, लोमश, भृगु, वराह, रावण और कश्यपके नामोंसे प्रचलित संहिताओंमें ज्यौतिष-विषयका हृदयग्राही और सर्वाङ्गीण वर्णन मिलता है। फलितके ग्रन्थोंमें दार्शनिक पञ्चभूत परिणामस्वरूप अतिसूक्ष्म फलादेशका सूक्ष्म दृष्टिसे विवेचन किया गया है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें सूर्य-सिद्धान्तका गणित विषय और फलितमें वेदाङ्ग-ज्यौतिषके तत्सम ग्रन्थ भारतवर्षके बिना और कहीं प्राप्त नहीं हो सकते। इन ग्रन्थोंमें वर्णित फलादेश अक्षरशः सत्य और प्रभावशाली हैं।

ज्यौतिषके उपासक एवं इस शास्त्रके प्रवर्तक सूर्य, पितामह, व्यास, वसिष्ठ आदि महर्षियोंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें ज्यौतिषका संसारके कल्याणार्थ सम्यक्रूपसे विवेचन किया है—जिन ग्रन्थोंकी युक्तियाँ एवं प्रमाण तथा गणितकी शैली तथा क्रिया आजपर्यन्त सर्व-जगत्को मान्य है। ज्योतिर्विज्ञानकी अविच्छिन्न परम्परा वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, ब्रह्मा, सूर्य,

लोमश, भृगु, वराह, वेदाङ्ग-ज्यौतिष, पराशर और जातक तक-के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्योंमें हमें मिलती है, जिसका उपयोग हमारे धार्मिक और नित्यके व्यावहारिक कार्योंमें अनादिकालसे निरन्तर होता आ रहा है।

ग्रह-चार-प्रणालीके अनुसार गगनगामी ग्रहों और नक्षत्रों-का स्वतन्त्र और संयुक्त प्रभाव समष्टिरूपमें भूगोलके प्रत्येक राष्ट्रपर और व्यष्टिरूपमें प्राणि-मात्रपर निश्चितरूपसे पड़ता है। इन ग्रहोंमें प्रमुख सूर्य है और चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि और पृथिवी—ये सभी ग्रह इस ग्रह-मालाके सदस्य हैं।

सूर्यमें उत्पादन, संरक्षण, नाश एवं आकर्षणकी शक्तियाँ तथा प्रकाश, उष्णता, वर्षा और रंग आदिकी शक्तियाँ भी निहित हैं। सूर्य अपनी सम्पूर्ण शक्तिराशिमेंसे प्रत्येक सदस्य (ग्रह) को आवश्यकतानुसार शक्ति प्रदान करता रहता है।

वैदिकधर्मावलम्बी लोगोंकी दृष्टिसे सूर्य ईश्वरीय विभूति है; क्योंकि वे इसे स्वयं प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप ब्रह्माण्ड-नायक साक्षात् परब्रह्मकी प्रतिमूर्ति मानते हैं। वास्तवमें रवि-किरणोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण संसारका जीवन स्थिर है। वेदमें भी भगवान् सूर्यके विषयमें लिखा है—

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
(यजु० ७ । ४२)

'पूजनीय रश्मियोंका आश्चर्यजनक समूह तथा मित्र, वरुण और अग्निको प्रकाश प्रदान करनेवाला 'सूर्य' ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको अपनी रश्मियोंसे व्याप्त कर रहा है। यह समस्त स्थावर और जङ्गम जगत्का आत्मा है।' इसी विश्वासपर सूर्यकी उपासना नित्यप्रति अनादिकालसे होती आ रही है। जैसे—'पश्येम शरदः शतम्' 'भृग्मी रविवपास्यते लोके' इत्यादि। शास्त्रीय शोध जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे सूर्यका प्रभाव भी प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होता गया; क्योंकि इसमें परमेश्वरके विभूतिमत्त्वका प्रभाव प्रतिक्षण तत्त्व-वेत्ताओंको दृष्टिगोचर होने लग गया था।

सूर्य आकर्षणशक्तिका केन्द्र-स्थान है। वही आकर्षण-शक्ति ग्रहों और पृथ्वीमें होनेके कारण वे एक दूसरेको आकर्षित करते हुए अपनी आकर्षण-विकर्षणशक्तिसे व्योमकक्षामें नित्य भ्रमण करते हैं। इसी नियमसे विश्व बद्ध है। पृथ्वीके क्षेत्रफल या आकारकी अपेक्षा ग्रहोंका क्षेत्रफल कई गुना अधिक है, इसलिये ग्रहोंमें पृथ्वीसे अधिक आकर्षण-शक्तिका विद्यमान होना स्वाभाविक ही है।

पृथ्वी और ग्रहोंमें परस्पर आकर्षण-शक्तिका सम्बन्ध होनेसे उनकी क्रिया और प्रतिक्रियाका प्रभाव भूपिण्डके अवयव होनेके कारण मानवकी देहपर आजन्म पड़ता है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं। दूसरी दृष्टिसे 'वर्त्मा पुन-र्जन्मनाम्', 'तदंशका ज्योतिष्मन्तो ग्रहा वै देवाश्च', 'देवाधीनं जगत् सर्वम्' इति तथा 'ग्रहास्ते देवतांशकाः' इत्यादि प्रमाणोंसे यह सम्पूर्ण संसार ही ग्रहाधीन बतलाया गया है।

विज्ञानके अनुसार भी यह सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तुकी आन्तरिक रचना सौर-मण्डलके तत्सम है। उन्होंने परमाणुओंके सम्बन्धमें अन्वेषण करते हुए बताया है कि प्रत्येक पदार्थकी सूक्ष्म रचनाका आधार परमाणु है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि परमाणुकी 'ईंटों' को जोड़कर पदार्थका विशाल भवन निर्माण होता है और यह परमाणु सौर-जगत्के समान आकार-प्रकारवाला है। इसके मध्यमें एक धनविद्युत्का विन्दु है, जिसे केन्द्र कहते हैं। इसका व्यास एक इंचके दस लाखवें भागका भी दस लाखवाँ भाग बताया गया है। परमाणुके जीवनका सार इसी केन्द्रमें निहित है। इस केन्द्रके चारों ओर अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विद्युत्-कण चक्कर लगाते रहते हैं और यह केन्द्रवाले धनविद्युत्-कणके साथ मिलनेका उपक्रम करते रहते हैं। इस प्रकारके अनन्त परमाणुओंके समाहारका एक स्वरूप हमारा शरीर है। भारतीय दर्शनमें भी 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त प्राचीनकालसे ही प्रचलित है। तात्पर्य यह कि वास्तविक सौर-जगत्में सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहोंके भ्रमण करनेमें जो नियम कार्य किया करते हैं, वे सभी नियम प्राणिमात्रके शरीरमें स्थित सौर जगत्के ग्रहोंके भ्रमण करनेमें भी कार्य करते हैं। अतः आकाशस्थित ग्रह शरीर-स्थित ग्रहोंके प्रतीक हैं। अनेक प्रकारके ऊहापोहके अनन्तर यही निष्कर्ष निकलता है कि आकाश-स्थित ग्रहोंमें पृथ्वीके चराचर वस्तुओं और प्राणियोंपर अपनी शुभाशुभ शक्ति प्रकट करनेकी पूर्ण क्षमता है और वे अपनी शुभ और अशुभ स्थिति-के अनुसार नित्यप्रति सुख-दुःखकी लहरें निर्माण किया करते हैं। इसी तरह विज्ञानसम्मत भी यह है कि प्रकाश अथवा विद्युत्-लहरोंकी भाँति गुरुत्वाकर्षणकी लहरें भी ग्रहोंके द्वारा तरङ्गित हुआ करती हैं। इन लहरोंके सम्बन्धमें दूरीका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वे सूर्य-चन्द्र आदि अनेकानेक ग्रहोंकी गतियोंपर प्रभाव डाला करती हैं। इसीलिये हमारे आचार्योंने स्पष्ट घोषणा की है—

ग्रहाधीनं जगत् सर्वं ग्रहाधीना नरावराः ।
सृष्टिरक्षणसंहाराः सर्वे चापि ग्रहानुगाः ॥

पृथ्वी, ग्रह, समुद्र, चन्द्रमण्डल, विद्युत्, उष्णता आदि-से सूर्यका होना प्रत्यक्ष है। वैसे ही उन पदार्थोंसे निर्मित मानवका शरीर भी है । प्रत्येक शरीरकी उत्पत्ति (गर्भाधानादि)के अवसरपर अथवा जन्मके समय सूर्य एवं अन्य ग्रहों—चन्द्र, भौम, बुधादिका भी पृथ्वीके साथ सम्बन्ध रहता है तथा ग्रह-चार-प्रणालीके अनुसार उस प्रदेश या उस प्रकृति-के शरीरपर उनका प्रभाव पड़ता रहता है। ग्रह-मण्डलकी स्थितिका देश-विशेषपर प्रभाव-विशेष और देहगत उपादानों-की विभिन्नताके कारण प्रत्येक शरीरका ग्रहोंके साथ सम्बन्धित होना भी निश्चित है। तदनुसार फल भी मिलता है। प्रत्येक ग्रहके साथ पृथ्वी और उसपर रहनेवाले वस्तु-विशेषोंका जो महान् आकर्षण-विकर्षण चलता है, उसके प्रभावसे कोई बच नहीं सकता। इसीलिये संसारके परिवर्तनोंमें, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंमें, सुख-दुःखके निमित्तोंमें यह महान् शक्ति भी एक कारण है—इस सत्यको कदापि अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

शुक्रशोणितजीवसंयोगे खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ।

वीर्य, रक्त और जीवके संयोगसे जो जन्तु उत्पन्न होता है, उसे ही 'गर्भ' कहते हैं। स्त्री-पुरुषके समागमके समय जीव इस प्रकार अवतरित होता है, जिस प्रकार आतसी शीशेके लेंसमें सूर्यकी किरणें आकर तिनकेको अथवा रूईको जला डालती हैं, तभी सूर्यकी किरणोंका ज्ञान होता है, केवल आँखोंसे सूर्यकी किरणें नहीं देखी जा सकतीं, इसी तरह स्त्री-पुरुषके बीच संयोगके समय जीव भी मिल जाता है। पूर्वजन्मके कर्मोंके कारण मनसे स्पर्श हुआ जीव इसमें अवतरित होता है। वहाँ पुरुष और स्त्री तो सुख-प्राप्तिके लिये मिलते हैं, किंतु जीव कर्मोंसे बँधा रहता है। कर्म-बन्धन-वश ही वह जीव उस समय वहाँ पहुँचता है, तभी गर्भ रहता है, प्राणीकी उत्पत्ति होती है । सम्भोग ही जीवके मेल होनेपर उत्पत्तिका कारण बनता है। फिर ग्रहोंके रूप, रंग, गुण, धर्म, स्वभाव, लक्षण और प्रभाव एक दूसरेसे भिन्न हैं । अतः ग्रह अपने गुण-धर्म-स्वभावानुसार ही माताके गर्भस्थ शिशु-पिण्डपर भी अपना पूर्ण प्रभाव रखते हैं। यथा—

कललघनाङ्कुरास्थिचर्माङ्गजचेतनताः
सितकुजजीवरविचन्द्रार्किबुधापरतः ।
उदयपचन्द्रसूर्यनाथाः कर्मशो गदिता
वदन्ति शुभाशुभं च मासाधिपतेः सदृशम् ॥
(होरा०)

तात्पर्य यह कि माताके उदरमें जब गर्भ रह जाता है, तब प्रथम मासमें रज और वीर्यका द्रव्यरूपमें सम्मिश्रण होता है, दूसरे महीनेमें रज-वीर्य जमकर पिण्डके समान हो जाता है। तीसरे महीनेमें अङ्कुर (मुख, हाथ, पैर) निकल आते हैं । चौथे महीनेमें हड्डियाँ पैदा होती हैं । पाँचवें महीनेमें चर्म (खाल) उत्पन्न होती है, छठे महीनेमें रोम बाल निकल आते हैं और सातवें महीनेमें चेतना (सिर, हाथ, पैर हिलना) उत्पन्न होती है। उक्त सातों महीनोंमें प्रत्येक महीनेपर शुक्रादि सप्त ग्रहों-का क्रमशः प्रभाव गर्भ-स्थित बालकपर पड़ता है, जैसा कि नीचे अङ्कित किया जाता है—

१—महीनेमें शुक्रका,
२—महीनेमें मङ्गलका,
३—महीनेमें गुरुका,
४—महीनेमें सूर्यका,
५—महीनेमें चन्द्रका,
६—महीनेमें शनिका,
७—महीनेमें बुधका तथा—

८—महीनेमें आधान-लग्नेशका। 'असनोद्वेगप्रसवाः—अर्थात् आठवें महीनेमें गर्भस्थ बालक नालके द्वारा माताकी खायी हुई वस्तुओंका ही रस पान करता है। अतः आठवें महीनेमें आधान-लग्नेशका ही प्रभाव गर्भस्थ बालकपर पड़ता है । नवें महीनेमें बालक गर्भमें चलता-फिरता है और दसवें मासमें जन्म लेता है। नवम-दशम महीनोंपर चन्द्र और सूर्यका प्रभाव पड़नेपर ही पृथ्वीपर बालकका जन्म होता है, जिसके कारण प्राणिमात्रमें भिन्न-भिन्न रूप, रंग, गुण, धर्म, स्वभाव और लक्षण दिखलायी पड़ते हैं। एतदर्थ जिन ग्रहोंकी शुभाशुभ स्थितिका प्रभाव माताके गर्भस्थ शिशु-पिण्डपर पड़ता है और वह बालकके रूपमें जब जन्म लेता ही है, तब यह भी निश्चित है कि उन्हीं गगनगामी ग्रहोंका स्वतन्त्र और संयुक्त प्रभाव मानवकी देहपर आजन्म पड़ता है, यह भी सिद्ध है।
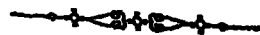
(२)

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गम्भीर विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी कोई अचिन्त्य शक्ति अवश्य है, जो इस विश्वका समय-समयपर नियन्त्रण करती है और जिसे लोग अदृष्ट, दैव आदि विभिन्न नामोंसे अभिहित करते हैं। श्रीमद्भागवतमें स्वायम्भुव मनुने ध्रुवको समझाते हुए कहा है कि 'मनुष्यकी उत्पत्ति तथा विनाशका कारण दैव ही है—

विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥

(४ । ११ । २४)

संसारके सुख-दुःखका कारण क्या है, इसपर मतभेद है। भागवतमें ही साक्षात् धर्मने परीक्षित्‌से कहा था कि हम सुख-दुःखके कारणको ठीक-ठीक नहीं जानते। योग-दर्शनके अनुयायी योगी तो अपनेको ही सुख-दुःखका कारण मानते हैं[१]। दैवज्ञ—ज्योतिषी लोग दैवको—ग्रह आदिको सुख-दुःखका कारण मानते हैं। इसी प्रकार मीमांसक कर्मको तथा लौकायतिक लोग स्वभावको ही जीवके सुख-दुःखका कारण मानते हैं—

केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥

(श्रीमद्भा० १ । १७ । १९)

विकल्पं भेदं वसत आच्छादयन्ति ये आत्मानमेवात्मनः प्रभुं सुखदुःखप्रदमाहुः······यद्वा विकल्पैः कुतर्कैः प्रावृता नास्तिकाः। एवं हि ते वदन्ति······अन्ये दैवज्ञा दैवं ग्रहादिरूपां देवताम्। परे तु मीमांसकाः कर्म। अपरे लौकायतिकाः स्वभावम्। (उपर्युक्त श्लोककी श्रीधरी व्याख्या)।

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहितामें ज्योतिषरत्नमूर्धन्य श्रीवराहमिहिराचार्य लिखते हैं कि कपिल प्रधान—प्रकृतिको विश्वका कारण मानते हैं; कणाद आकाशादि पञ्चभूत, आत्मा, मन, काल तथा दिशाओं एवं गुण-कर्म आदिको विश्व तथा इसके दुःख-सुखका कारण मानते हैं; पौराणिकलोग कालको ही विश्वका कारण मानते हैं, लौकायतिक स्वभावको तथा मीमांसक कर्मको ही विश्वका कारण मानते हैं—

कपिलः प्रधानमाह द्रव्यादीन् कणभुगस्य विश्वस्य।
कालं कारणमेके स्वभावमपरे जगुः कर्म ॥

(बृहत्संहिता १ । ७)

काणादा द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यान् षट्पदार्थान् विश्वस्य कारणमाहुः। पौराणिकाः कालं कारणमाहुः। लौकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः—यथा च तद्वाक्यम्—कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च। माधुर्यमिक्षोः कटुतां च निम्बे स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥

मीमांसकाः कर्म पुंसां शुभाशुभानां सर्वजन्तूनां सृष्टि-संहारकारणमाहुः। (उपर्युक्त श्लोककी भट्टोत्पली टीका)

महाभारत शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २३२ में भी प्रायः यही बात—

केचित्पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥

(श्लोक १९)

इन शब्दोंमें कही गयी है—

'कर्मेदं प्रधानमिति मीमांसकाः, दैवम्-आदित्याद्या ग्रहा एव सदसत्फलदातार इति दैवज्ञाः' (उपर्युक्त श्लोककी नीलकण्ठी टीका)। ठीक यही वचन वायुपुराणके अध्याय ९, श्लोक ६० में ज्यों-का-त्यों आया है। अन्तमें समन्वयवादी विद्वान् विवेचकोंने इन सभीको समुच्चयरूपसे कारण मान लिया—

पौरुषं कर्म दैवं च फलवृत्तिः स्वभावतः।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन ॥

(महा० शा० २३२ । २०)

अन्यत्र भी संयुक्त काल, कर्म तथा दैवकी प्रशंसामें कहा गया है—

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा किल संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥

वस्तुतः ग्रहोंके संचारका आधार प्राणीके कर्म ही हैं। तथापि उनका प्रभाव तो स्पष्ट ही दीखता है। ग्रहोंके राजा सूर्य हैं[२]। इनसे ही दिन-रात, सायं-प्रातः-मध्याह्न, ग्रीष्म-वर्षा-शीत आदि, दिन, मास एवं ऋतुओंका परिवर्तन होता है। इनसे और भी कई अगणित प्रभाव-

१. आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ (गीता ६ । ५)

२. जयति जगतः प्रसूतिर्विश्वात्मा सहजभूषणं नभसः।
द्रुतकनकसदृशदशशतमयूखमालार्चितः सविता ॥
(बृहत्संहिता १ । १)

शाली परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमाका समुद्रके ज्वार-भाटा, कई पुष्पों तथा ओषधियोंके विकास तथा नारी-जगत्के भी पुष्पादि-स्रावपर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार कई ग्रहोंके एकत्र हो जानेसे भयंकर तूफान, बाढ़, भूकम्प आदिका सृजन होता है। इन ग्रहोंके व्यष्टि तथा समष्टिपर प्रभाव डालनेकी बात प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत्ने एक कण्ठसे स्वीकार की है[1]।

भारतीय ज्यौतिषके अनुसार सूर्यमण्डलके विकृत होनेपर नगर, वृक्ष तथा पर्वत-शिखरोंको ढहानेवाला प्रचण्ड वायु—झंझावात चलता है, ऋतुएँ विपरीत हो जाती हैं, दिशाओंमें दाह होता है एवं निर्घात तथा भूकम्पादि उत्पात होते हैं। सूर्यमण्डलमें जिन-जिन देशोंमें केतुका दर्शन होता है, वहाँ-वहाँ राजाओंपर संकट आता है। वही सूर्य यदि निर्मल हो, शुद्ध मण्डलयुक्त हो, उसकी किरणें स्वच्छ, स्पष्ट तथा विस्तीर्ण हों, सूर्यमें कोई विकार न हो तो विश्वके लिये बड़ा ही कल्याणकारी होता है—

अमलवपुरवक्रमण्डलः स्फुटविमलामलदीर्घदीधितिः।
अविकृततनुवर्णचिह्नभृज्जगति करोति शिवं दिवाकरः॥
(वाराहीसंहिता ३। ४०)

इसी प्रकार चन्द्रमा जब ज्येष्ठा, मूल आदि नक्षत्रोंमें आता है, तब जगत्की हानि होती है। यदि चन्द्रमाका शृङ्ग गुरुसे भिड़ जाय तो सिन्धु, सौवीर, द्रविड़ तथा पर्वतीय देशोंमें संताप होता है (बृहत्-सं० ४। २२)। सूर्य-चन्द्रमाका यदि एक ही मासमें ग्रहण हो तो धन तथा वर्षाका नाश होता है (नारदसंहिता २। १३। ९)। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रहोंका संसारपर परिणाम बतलाया गया है। ग्रहोंके संचारसे ही वृष्टि, सस्ती-मँहगी, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, देशों तथा व्यक्तियोंका उत्थान एवं पतन होता है, शान्ति तथा युद्ध होते हैं। एक 'सिफती सिरोज' नामकी फारसी-पुस्तकमें तो यहाँतक बतलाया गया है कि अमुक मासके अमुक पक्षकी अमुक तिथियोंको अमुक ढंगका व्यक्ति अमुक स्वप्न ही देख सकता है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके जाग्रत्पर ही नहीं, स्वप्नकालपर भी ग्रहोंका भारी प्रभाव पड़ता है। यह तो हुई समष्टिकी बात। व्यष्टिपर भी ग्रहोंका अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। ज्यौतिष-तत्त्व, बृहज्जातक तथा जातकतत्त्वके अनुसार सूर्यका प्रभाव आत्मापर, चन्द्रमाका मनपर, मङ्गलका जीवपर, बुधका वाणीपर, बृहस्पतिका ज्ञान एवं सुखपर, शुक्रका वीर्यादि रसोंपर तथा शनिका क्लेश आदिपर प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त सूर्यका पिता, प्रताप, पवित्रता, क्षेत्र, पराक्रम, शक्ति, सम्पत्ति, रुचि आदिपर भी प्रभाव पड़ता है। चन्द्रमासे माता, यश, मानसिक प्रसन्नता, बुद्धि, राजकृपा आदिका विचार करना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रहोंके भी अन्यान्य प्रभाव होते हैं (जातकतत्त्व, पृष्ठ २२)। सारावलीकी उक्ति है कि ये कारक ग्रह यदि उच्च, त्रिकोण आदिके होकर केन्द्रमें पड़ जायँ तो नीच कुलका आदमी भी बहुत उन्नत हो जाता है और विशाल वंश या राजकुलका व्यक्ति तो राजा ही हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेहकी बात नहीं है—

नीचकुले सम्भूतः कारकविहगैः प्रधानतां याति।
क्षितिपतिवंशसमुत्थो भवति नरेन्द्रो न संदेहः॥
(६। ५)

इसी ग्रन्थमें विस्तारसे ग्रहोंका तत्तद्वस्तुओंपर आधिपत्य बतलाया गया है।[2] इसीलिये तत्तद्ग्रहोंको शान्तिके लिये तत्तद्वस्तुओंके दान आदिका भी विधान है। फिर प्राणीके जन्मके समय कौन ग्रह किस राशिमें है, इसका विस्तृत फल सभी जातक-ग्रन्थोंमें बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रह जातकके तन-धन-सहजादि भावोंमें भी पड़कर फल-वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं। साथ ही उनके तात्कालिक संचारका भी गोचर आदिके द्वारा प्रभाव बतलाया जाता है। क्लेश-शान्तिके लिये भी ग्रहोंकी आराधना की जाती है। 'बृहत्पाराशर-होराशास्त्र' में दशान्तर्दशाके आधारपर ग्रहोंके शान्त्यर्थ उनके अधिदेवताओंकी आराधना-

1. To the former belong the predicting of natural effects, as the change of weather, winds, storms, hurricanes, thunders, floods, earthquakes and soforth. Judiciary or judicial astrology is that which pretend to foretell moral events, as they are directed by the stars. (Encyclopaedia Brittanica)

२. अपि कुसुमभोज्यमणिरजतशङ्खलवणोदकेषु वस्त्राणाम्।
भूषणनारीघृततिलतैलकनिद्राप्रभुश्चन्द्रः॥
रक्तोत्पलताम्रसुवर्णरुधिरपारदमनःशिलाधानाम्।
क्षितिनृपतिपतनमूर्च्छापैत्तिकचौरप्रभुर्भौमः॥—इत्यादि।
(सारावली, अध्याय ७)

का बड़ा ही सुन्दर प्रकार बतलाया गया है। याज्ञवल्क्यने कहा है कि ब्रह्माने ग्रहोंको वरदान दिया था कि जो तुम्हारी पूजा करें, तुम उनकी इष्टलाभादिसे वृद्धि करना। सभी मनुष्यों, विशेषकर राजाओंका उत्थान-पतन ग्रहोंके ही अधीन है, स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वकी उत्पत्ति तथा विनाश भी ग्रहोंके ही अधीन है, अतः ग्रह पूज्यतम हैं—

ब्रह्मणैषां वरो दत्तः पूजिताः पूजयिष्यथ ।
ग्रहाधीना नरेन्द्राणामुच्छ्रायाः पतनानि च ॥
भावाभावौ च जगतस्तस्मात्पूज्यतमा ग्रहाः ।

(१ । ३०८)

(जगतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य भावाभावौ उत्पत्तिनिरोधौ ग्रहाधीनौ (मिताक्षरा) अग्निपुराण, अध्याय १६४में भी ठीक ये ही वचन आये हैं। विष्णुधर्ममें तथा मत्स्यपुराणमें यह प्रकार बड़े विस्तारसे निरूपित हुआ है। वहीं यह भी कहा गया है कि ग्रह भगवद्भक्तोंको कष्ट नहीं देते—'भक्ताश्च ये मधुरिपोर्मनुजेषु तेषु'। श्रीपतिजातकपद्धतिमें तो सभी धर्मात्माओंके ही ग्रहकोपसे मुक्त रहनेकी बात कही गयी है—

देवब्राह्मणवन्दनाद् गुरुवचः सम्पादनात् प्रत्यहं
साधूनामपि भाषणाच्छ्रुतिशिरः श्रेयःकथाकर्णनात्।
होमादध्वरदर्शनाच्छुचिमनो भावाज्जपाद्दानतो
नो कुर्वन्ति कदाचिदेव पुरुषस्यैवं ग्रहाः पीडनम् ॥

बृहत्पाराशर-होराशास्त्रमें तो ग्रहोंको भगवान्का दशावतार ही बतलाया गया है। इसमें पराशरजी कहते हैं कि भगवान् श्रीराम सूर्यके, श्रीकृष्ण चन्द्रमाके, नृसिंह मङ्गलके, बुद्ध बुधके, वामन बृहस्पतिके, परशुराम शुक्रके, कूर्म शनैश्चरके तथा वाराह राहुके और मीन केतुके अंशोंसे ही अवतीर्ण होते हैं और ये ग्रह वस्तुतः धर्मस्थापनार्थ, देव-विप्र-रक्षणार्थ एवं दैत्यों तथा पापियोंके प्रशमनार्थ ही संचरित होते हैं—

दैत्यानां बलनाशाय देवानां बलवृद्धये।
धर्मसंस्थापनार्थाय ग्रहाज्जाताः शुभाः क्रमात् ॥

(१ । २ । ४)

सुतरां इस तरह सिद्ध है कि ग्रहोंसे मानव-जगत्का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पर उनका संचार स्वच्छन्द नहीं होता। दुर्भिक्ष-सुभिक्ष, राष्ट्रभङ्ग-राष्ट्रोत्थान आदिके कारण ग्रह हैं अवश्य; पर वे संचरित होते हैं व्यष्टि-समष्टिके कर्मानुसार ही। पुराणोंमें इस सम्बन्धमें बड़े ही रम्य तथा सरस प्रसङ्ग हैं और इसपर बहुत कुछ लिखना रह जाता है। पर यह विषय इतना विस्तृत है कि उसका यहाँ पूरा निरूपण सम्भव नहीं; जिज्ञासुओंको मूल ग्रन्थोंको ही देखकर अपनी ज्ञानपिपासा मिटानी चाहिये।

मानव-जन्म भजन बिना व्यर्थ

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहै ॥
या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं।
तीननि मैं तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहै ॥
कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहै।
जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं ॥
घर के कहत सवारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं।
जिन पुत्रनिहि बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी-देव मनैहैं ॥
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहै ॥
नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु बृथा सु-जनम गँवैहै ॥

मानवता और यज्ञ

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

मनुसे उत्पन्न 'मानव'* कहलाते हैं—'मनोर्जातास्तु मानवाः' । मानवमें रहनेवाले दया, दान, शील, सौजन्य, क्षमा आदिके समवायरूप लोकोपकारक धर्मको 'मानवता' कहते हैं । इसके विपरीत धर्म (तत्त्व) को 'पशुता' कहते हैं ।

'अयं मानवः' यह व्यवहार किस वस्तुको देखकर किया जाता है, इस विषयपर विभिन्न विचार उपस्थित हो सकते हैं । जैसे उदाहरणतः कुछ लोग 'आकृतिग्रहणा जातिः' (व्याकरण-महाभाष्य) इस सिद्धान्तसे मनुष्यके आकार-प्रकारको देखकर उद्बुद्ध होनेवाली जो मनुष्यत्व जाति है, उसीको मनुष्य-शब्दका प्रयोजक धर्म कहते हैं; किंतु व्यवहारमें जब कोई किसी मनुष्यको देखकर कहता है कि 'यह मनुष्य है' तो यहाँपर मनुष्यत्व-जाति मनुष्य-शब्दके प्रयोगका हेतु नहीं है, बल्कि मनुष्यमें रहनेवाला वह एक असाधारण धर्म है, जिसे 'मानवता' कहते हैं । जो सत्यवाक्य हो, दृढ़व्रत हो, निर्भय हो, धर्मज्ञ हो, धर्मतत्पर हो तथा कृतज्ञ हो, ऐसे महापुरुषमें रहनेवाले धर्म-विशेषको 'मानवता' कहते हैं, न कि समस्त पामरपामरमें रहनेवाले आकृत्या व्यङ्ग्य मनुष्यत्व जातिमें रहनेवाले धर्मको । जिस प्रकार 'रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि' इत्यादि वाक्योंमें द्वितीय कमलका ही लक्षण या सौरभादि समुचित गुणोंसे विशिष्ट कमल अर्थ किया जाता है, ठीक उसी प्रकार किसी मनुष्य-विशेषके लिये 'मानवोऽयम्' यह व्यवहार किया जाता है । यहाँ मनुष्य शब्दका लोक और शास्त्र उभयसम्मत अनन्त उज्ज्वल गुणविशिष्ट मनुष्य, यही अर्थ किया जाता है । मानव-सम्बन्धी इन्हीं उज्ज्वल गुणोंको 'मानवता' शब्दसे पुकारा जाता है ।

मानवता-गुण-विशिष्ट मानवमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, जिससे उसमें त्याग, तप, सत्य, सदाचार, परोपकार और अहिंसादि शम-दम—ये गुण स्वभावतः पाये जाते हैं । मानवता-गुण-विशिष्ट व्यक्ति सर्वदा सिद्धसंकल्प, सर्वसुहृद्, समदर्शी और सर्वहितैषी होता है । वह आत्मा और परमात्मामें भेद नहीं समझता । वह धर्मके बलपर सदा निर्भय रहता है और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुसार प्राणिमात्रको अपना समझकर उनपर दया और प्रेमभाव रखता है । वह अपने प्रत्येक कार्यमें लोकोपकारकी सद्भावनाका ध्यान रखता हुआ प्राणिमात्रके लिये 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की कामना करता है ।

कलियुग तमःप्रधान युग है, इसमें पापका स्रोत प्रबल-रूपसे प्रवाहित रहता है । इस पापरूपी प्रवाहमें प्रवाहित होकर मानव अपने वास्तविक धर्म-कर्मसे विमुख हो गया है, जिससे उसकी मानवताका भी ह्रास होता जा रहा है । मानवताके ह्राससे मानव अपने आदर्शोंसे च्युत होकर संसारकी दृष्टिमें भी गिर जाता है ।

प्राचीनकालमें मानव अपनी मानवताकी सर्वात्मना रक्षा करते थे । वे मानवताको अपना परम धन और परम धर्म समझते थे । वे मानवताके बलपर अपना और संसारका कल्याण करते थे । आजके मानव मानवताको खोकर दूसरोंका तो क्या, अपना कल्याण करनेमें भी सर्वथा असमर्थ पाये जाते हैं । मानवताके ह्राससे देश और समाजकी बहुत बड़ी क्षति होती है । अतः मानवताकी रक्षा और उसका परिज्ञान प्रत्येक मानवको होना ही चाहिये; क्योंकि मानवता ही मानव और अमानवका परिचय कराती है । मानवताके अज्ञानसे मनुष्य भूलकर कभी अमानवको 'मानव' मान ले तो उसका अनिष्ट होना दुर्निवार है, जिससे वह विभिन्न प्रकारकी आपत्ति, धोखे और कष्टका शिकार बन सकता है । अतः मानवमात्रको मानवताका ज्ञान होना परमावश्यक है; क्योंकि मानवता ही मानवको स्वाभिमानकी प्रेरणा देती है, जिससे वह अपने सम्मानपूर्ण जीवनके लिये प्रेरित होकर स्वतन्त्रताकी प्राप्ति और परतन्त्रताकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न करता है ।

मानव-जीवनमें मानवताकी विशेष आवश्यकता है । संसारमें जिन महापुरुषोंने यश-कीर्तिकी प्राप्ति की है और जो आज भी कर रहे हैं, वह केवल मानवताके बलपर । मानवताके बिना हमारा ज्ञान-विज्ञान, धर्माधर्म, विशिष्ट पाण्डित्य और परोपदेश आदि सभी व्यर्थ हैं । अतः मानवताके रक्षण और पालनपर मानवमात्रको विशेष ध्यान देना चाहिये ।

आज 'स्वराज्य-प्राप्ति' अर्थात् देशके स्वतन्त्र होनेके बाद भी हमारे देशमें जो अनेक प्रकारके अनर्थ हो रहे हैं, वे

* मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः ।
(अमरकोश, मनुष्यवर्ग १)

एकमात्र मानवताके ह्राससे। प्राचीन ऋषि-महर्षियों, विद्वानों तथा आधुनिक विज्ञानवादियोंका कथन है कि 'मानवकी सर्वविध उन्नतिका एकमात्र साधन उसकी मानवता है।'

संसारकी सभी वस्तुएँ आधेय और आधारपर निर्भर रहा करती हैं। अतः आधेयका आधारके बिना काम नहीं चल सकता और आधारका आधेयके बिना काम नहीं चल सकता। ठीक यही व्यवस्था मानवकी भी है। मानव आधेय है और उसकी मानवता आधार है। मानवतारूप आधारके बिना आधेय अर्थात् मानवकी रक्षा कथमपि नहीं हो सकती। अतः धार्मिक, आर्थिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक—सभी दृष्टियोंसे मानवको सर्वात्मना अपनी मानवताकी रक्षा करनी चाहिये।

जिस प्रकार मानवके लिये अपने जीवनमें मानवताका रक्षण और पालन आवश्यक है, उसी प्रकार उसके लिये यज्ञका रक्षण और पालन भी परमावश्यक है। यज्ञके बिना मानवकी और मानवमें रहनेवाली मानवताकी रक्षा कथमपि नहीं हो सकती। अतः मानवको अपने जीवनके सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञ-धर्मको अपनाना चाहिये। मानवका और यज्ञका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टिके प्रारम्भकालसे ही चला आ रहा है। वस्तुतः देखा जाय तो मानव-जातिके जीवनका प्रारम्भ ही यज्ञसे होता है। इस विषयका स्पष्टीकरण गीतामें भी किया गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(३। १०-११)

'प्रजापति (ब्रह्मा) ने सृष्टि-रचनाके समय यज्ञके साथ मानव-जातिको उत्पन्न करके उनसे कहा—इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिये मनोऽभिलषित फलको देनेवाला होगा। तुम इस यज्ञके द्वारा देवताओंको संतुष्ट करो और देवता तुमलोगोंको यज्ञ-फल-प्रदानके द्वारा संतुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर तुम दोनों अत्यन्त कल्याण-पदको प्राप्त करो।'

पद्मपुराणमें भी आया है—

यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥
(सृष्टिखण्ड ३। १२३)

'हे महाभाग! ब्रह्माजीने यज्ञ-कर्मके लिये ही यज्ञके श्रेष्ठ साधन चातुर्वर्ण्यके रूपमें मानवकी रचना की।'

शुक्लयजुर्वेद (३१। ९) में आता है कि सर्वप्रथम उत्पन्न भगवत्स्वरूप उस यज्ञसे इन्द्रादि देवताओं, सृष्टि-साधनयोग्य प्रजापति आदि साध्यों और मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने[1] यज्ञ-भगवान्का यजन किया—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

शतपथब्राह्मण (११। १। ८। ३) में भी लिखा है कि प्रजापतिने अपनी प्रतिमा (चित्र) के रूपमें सर्वप्रथम यज्ञको उत्पन्न किया। अतः यज्ञ साक्षात् भगवान्का स्वरूप है—

अथैनमात्मनः प्रतिमामसृजत यद् यज्ञम्, तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येनं प्रतिमामसृजत॥

यज्ञके सम्बन्धमें कहा गया है कि यज्ञ[2] ही समस्त भुवनोंका केन्द्र है और वही पृथ्वीको[3] धारण किये हुए है। यज्ञ ही साक्षात् भगवान्का स्वरूप है, जो विष्णु[4], राम, कृष्ण, यज्ञपुरुष, प्रजापति, सविता, अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि नामोंसे उच्चरित होते हैं—

यज्ञो वै विष्णुः। (शतपथ ब्रा० १। १। १। २)
यज्ञो वै विष्णुः। (तैत्तिरीय सं० १। ७। ४)
विष्णुर्वै यज्ञः। (ऐतरेय ब्रा० १। १५)
पुरुषो वै यज्ञः। (शतपथ ब्रा० १। २। ४। ३। २)
यज्ञः प्रजापतिः। (शतपथ ब्रा० १०। ६। ३। ९)
यज्ञ एव सविता। (गोपथ ब्रा० पू० १। ३३)
अग्निर्वै यज्ञः। (ताण्ड्य ब्राह्मण १२। ५। २)
इन्द्रो वै यज्ञः। (मै० शा० ४। ३। ७)
यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः। (शतपथ ब्रा० १।१।१।२।२)
यज्ञो हि भगवान् विष्णुः। (विष्णुधर्मोत्तर पु० १६२।२)
भगवान् यज्ञपुरुषः। (श्रीमद्भा० ४। १४। १८)
प्रभो यज्ञपुमांस्त्वमेव। (पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ३। ४६)
साक्षात्स यज्ञपुरुषः। (श्रीमद्भा० २। ७। ११)

---

१. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। (शु० य० ३१। १६)
२. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। (शु० यजुर्वेद २३। ११)
यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। (अथर्ववेद ९। १०। १४)
३. यज्ञाः पृथिवीं धारयन्ति। (अथर्ववेद)
४. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। (ऋग्वेद १। १६४। २२)

यज्ञः सर्वगतो हरिः। (श्रीमद्भा० ८।१।१८)
अहं क्रतुरहं यज्ञः। (गीता ९।१६)
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। (गीता ९।२४)
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्। (गीता ३।१५)
.... क्रतुधर्मश्च यन्मयः।
स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः॥
(श्रीमद्भा० १०।२३।४७-४८)

वेदयज्ञमयं रूपमाश्रित्य जगतः स्थितौ।
स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परमात्मा प्रजापतिः॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, ३।३०)

कर्ममीमांसाके प्रवृत्त होनेपर मानव-देह धारण करते ही द्विज ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारके ऋणोंसे ऋणी बन जाता है। श्रीमद्भागवत (१०।८४।३९) में आया है—

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥

तैत्तिरीयसंहिता (३।१०।५) में भी आता है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।

'द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण इन तीन प्रकारके ऋणोंसे ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे और संततिके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्ति होती है।'

भगवान् मनुने भी 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य' (६।३५)—इत्यादि वाक्योंद्वारा उपर्युक्त ऋणत्रयके अपाकरणको ही मनुष्यका प्रधान कर्म बतलाया है। ऋणत्रयमें 'देव-ऋण' का भी उल्लेख है। देव-ऋणसे मुक्त होनेके लिये उपर्युक्त तैत्तिरीय श्रुतिने स्पष्ट बतला दिया है कि यज्ञोंके द्वारा ही देव-ऋणसे मुक्ति होती है। वह यज्ञादि कर्म अत्यन्त पावन तथा अनुपेक्षणीय है, जैसा कि अनेक मत-मतान्तरोंका निरास करते हुए गीताके परमाचार्य स्वयं भगवान्ने सिद्धान्त किया है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

इतना ही नहीं, जगत्-कल्याणकी मीमांसा तथा कर्तव्य-सत्पथका निश्चय करते हुए भगवान्ने स्पष्ट कहा है—यज्ञिय कर्मोंके अतिरिक्त समस्त कर्म लोक-बन्धनके लिये ही हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
(गीता ३।९)

इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति-ग्रन्थोंमें तथा उपनिषदोंमें यज्ञको मानवका प्रधान धर्म कहा गया है। अतः प्रत्येक द्विजको यज्ञ करते रहना चाहिये। जो लोग यज्ञके वास्तविक रहस्य और महत्त्वको न समझकर यज्ञके प्रति श्रद्धा नहीं रखते अथवा यज्ञ नहीं करते, वे नष्ट हो जाते हैं। इस विषयमें शास्त्रोंकी आज्ञा है—

नास्त्ययज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दते शुभम्।
अयज्ञो न च पूतात्मा नश्यति च्छिन्नपर्णवत्॥

'यज्ञ न करनेवाले पुरुष पारलौकिक सुखोंसे तो वञ्चित रहते ही हैं, वे ऐहिक कल्याणोंकी भी प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः यज्ञहीन प्राणी आत्मपवित्रताके अभावसे छिन्न-भिन्न पत्तोंकी तरह नष्ट हो जाते हैं।'

गीता (४।३१) में भी कहा है—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।

'हे अर्जुन! यज्ञ न करनेवालेको यह मृत्युलोक भी प्राप्त नहीं हो सकता, फिर दिव्यलोक (परलोक) की तो बात ही क्या है।'

अथर्ववेद (१२।२।३७) भी कहता है—

अयज्ञियो हतवर्चा भवति।

'यज्ञहीन (यज्ञ न करनेवाले) पुरुषका तेज नष्ट हो जाता है।'

कालिकापुराण (३१।४०) के 'सर्वं यज्ञमयं जगत्' के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। इस यज्ञमय जगत्में होनेवाले समस्त कर्म यज्ञमय हैं, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र होते रहते हैं। जैसे उदाहरणतः संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, देवपूजन, अतिथिसत्कार, व्रत, जप, तप, कथाश्रवण, तीर्थयात्रा, अध्ययनाध्यापन, खान-पान, शयन-जागरण आदि नित्य और उपनयन-विवाहादि संस्कार नैमित्तिक एवं पुत्रेष्टि, राज्यप्राप्ति आदि काम्य-कर्म—ये सभी व्यवहार यज्ञस्वरूप ही हैं। इतना ही नहीं, जीवन-मरणतकको यज्ञका स्वरूप दिया गया है। गीता (४।२८) में भी भगवान्ने द्रव्य-

* 'ब्राह्मण' यह पद द्विजातिमात्रका उपलक्षण है।

यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ आदिका उल्लेख करके इन सभीको यज्ञका ही रूप दिया है।

पुत्रवत्सला भगवती श्रुति कहती है—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति। योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति।

(छान्दोग्योपनिषद् ५।७-८)

'गौतम! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समिधा है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अँगारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं; उसी अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं, उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है।

'गौतम! स्त्री ही अग्नि है, उपस्थ ही समिधा है; पुरुष जो उपमन्त्रण (रहःसंलाप) करता है, वह धूम है; योनि ज्वाला है; प्रसङ्ग अँगारे हैं और उससे जो सुख प्रतीत होता है, वह चिनगारियाँ हैं। उसी अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं। उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है।'

गीतामें भी भगवान्‌के—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२७)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

(९।३४)

—इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है कि संसारके समस्त पदार्थ यज्ञस्वरूप हैं और उन समस्त यज्ञोंके आश्रयभूत परब्रह्म परमात्मा ही हैं *।

इस प्रकार जब सांसारिक सभी चलाचल वस्तुएँ यज्ञ ही हैं, तब उन सभी यज्ञोंका अनुष्ठान सविधि और सनियम करना चाहिये, जिससे वे यज्ञ मानवमात्रके लिये कल्याणकारी बनें। जो लोग यज्ञोंके प्रति श्रद्धा नहीं रखते, वे विविध अनर्थोंके शिकार बनते हैं और ऐसे लोगोंके लिये ही 'नास्ति यज्ञसमो रिपुः' कहा गया है।

इस संसारमें प्राणिमात्रकी यह स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती है कि मैं जीवनपर्यन्त सुखी रहूँ और मुझे इस लोकमें धन-धान्य, पत्नी-पुत्र, गृह-उपवन आदि परम ऐश्वर्यप्रद भोगपदार्थ प्राप्त हों और शरीर-त्यागके अनन्तर मुझे परलोकमें सहृदय हृदयके द्वारा परिज्ञात अनिर्वचनीय परमपुरुषार्थस्वरूप स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति हो। किंतु पूर्व पुण्यपुञ्जके प्रभावके बिना कोई भी शरीरधारी मानव ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख-विशेषकी प्राप्ति कथमपि नहीं कर सकता, यह शास्त्रोंका अटल और परम सिद्धान्त है। वह पुण्य धर्मका ही दूसरा नाम है, जो कि सत्कर्मानुष्ठानद्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

भगवती श्रुति कहती है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशोपनिषद् २)

'शास्त्रविहित मुक्तिप्रद निष्काम यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मोंको करते हुए ही जीव इस जगत्‌में सौ वर्षपर्यन्त जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकार किये जानेवाले कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इससे पृथक् और कोई मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके।'

यह श्रुति मानवोंको सत्कर्मकी ओर विशेषरूपसे प्रेरित करती है।

गीता माता भी कहती है—

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

(६।४०)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(३।२०)

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

(५।२)

इन प्रमाणोंद्वारा इस कर्ममय संसारमें समस्त मनुष्योंको कर्मठ बनानेके लिये गीता भी माताकी तरह अपने यज्ञप्रेमी पुत्रोंको कल्याणार्थ उपदेश करती है। अतएव—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(गीता ३।१४)

* मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। (गीता ७।७)
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (गीता १०।८)

इस प्रमाणसे सिद्ध है कि व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी कार्य यज्ञादि उत्तम क्रिया-कलापके ऊपर ही निर्भर हैं।

अत्यन्त प्रबल वेगशाली विषय-जालस्वरूप भयंकर सर्पसे ग्रसित इस कराल कलिकालमें यज्ञ ही ऐसा अपूर्व पदार्थ है, जिसको प्राप्तकर अनादिकालसे तीक्ष्ण विषय-विष-वासनाओंसे व्याप्त अन्तःकरणवाले और क्लेशकर्मविपाक-स्वरूप नाना प्रकारकी कष्टप्रद वासनाओंसे दग्ध होनेवाले एवं त्रिविध तापोंसे तप्त होनेवाले मानव स्वदुःखनिवृत्त्यर्थ अभिलाषा करते हैं; किंतु अविद्यासे ग्रसित होनेके कारण घोर कष्टोंसे मुक्त होनेमें असमर्थ होते हुए भी वे यज्ञद्वारा दुस्तर संसार-सागरको भलीभाँति पार कर जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् (१। २। ७) में यज्ञको संसार-सागरसे पार (मुक्ति) होनेके लिये 'प्लव' अर्थात् 'नौका' कहा है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः।

अधिक क्या, जगन्नियन्ता परमेश्वर भी यज्ञस्वरूपसे ही पूर्ण प्रकाशमान होता हुआ यज्ञपरायण पुरुषोंसे पूजित होकर 'यज्ञपुरुष' पदसे व्यवहृत होता है—'यज्ञो वै पुरुषः।' (शतपथ ब्राह्मण)। उस यज्ञ-शब्दकी यौगिक व्युत्पत्ति कल्पवृक्षकी तरह समस्त अभीष्टको परिपूर्ण करनेके लिये पूर्ण समर्थ है, तथा किसी सर्वातिशायी विलक्षण अर्थका प्रतिपादन करनेवाली एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है।

'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (३। ३। ९०) —इस पाणिनीय धातुपाठके अनुसार यज् धातुसे 'नङ्' प्रत्यय करनेपर 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न होता है। वह यज्ञ विष्णु आदि देवताओंके पूजन, ऋषि-महर्षि एवं सज्जन पुरुषोंके सत्सङ्ग और सुवर्ण-रजत आदि उत्तम द्रव्योंके प्रदानद्वारा सम्पादित होता है; उस महामहिमशाली धार्मिक यज्ञका अनुष्ठान कर्तव्यरूपसे यज्ञाधिकारी मानवको अवश्य करना चाहिये। जैसा कि ऊपर कहा गया है,यज्ञोंमें इन्द्रादि देवताओंका पूजन तथा देव-सदृश ऋषि-मुनि एवं श्रेष्ठ मानवोंके सत्सङ्गका लाभ और विविध वस्तुओंका दान होता है। अतः यज्ञोंमें होनेवाले उक्त तीन प्रकारके सत्कार्योंसे मानवोंके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीनों ताप अनायास ही समूल नष्ट हो जाते हैं—यह ध्रुव है।

पूर्वकालके प्राणी यज्ञके वास्तविक तत्त्वको भलीभाँति जानते थे और उनके हृदयमें यज्ञके प्रति श्रद्धा-भक्तिका अस्तित्व था। अतएव वे समय समयपर यज्ञादि धार्मिक कार्य करते रहते थे, जिससे उनका तथा संसारका कल्याण होता रहता था। उस समय हमारा यह पवित्र भारतवर्ष अनेक सुख-समृद्धियोंसे परिपूर्ण था। समस्त प्राणी सर्वदा सर्वप्रकारसे सुखी रहते थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अकालमृत्यु, महामारी प्रभृति रोग-शोकादिका तो लोग नाम भी नहीं जानते थे। किंतु आजके प्राणी समयके हेर-फेरसे यज्ञके महत्त्वको भूलकर यज्ञ करना तक त्याग चुके हैं। इसीलिये देवगण भी हमसे असंतुष्ट हैं। देवताओंकी असंतुष्टतासे ही आज सारा संसार अनेकानेक कष्टोंसे पीड़ित है। सर्वत्र भूकम्प, अकाल, बाढ़, महामारी आदि किसी-न-किसी प्रकारकी विपत्ति सर्वदा अपनी स्थिति जमाये रहती है। ऐसी भीषण परिस्थितिमें संसारके सर्वविध कल्याणार्थ यदि कोई सीधा-सादा सरल मार्ग है तो वह है यज्ञ। यज्ञ ही एक ऐसा अमोघ साधन है, जिसके अनुष्ठानसे देवगणकी संतुष्टि होती है और देवगणकी संतुष्टिसे मानव पुत्र-पौत्रादि एवं धन-धान्यादि सभी प्रकारके ऐहलौकिक सुखोंको प्राप्त करता है और मरनेके बाद स्वर्गलोककी प्राप्ति करता है।

इस पवित्र भारत-भूमिमें जबतक यज्ञोंका उचित सम्मान था, तबतक इसकी मर्यादा तथा सुख सराहनीय था। प्राणी-प्राणीमें सद्भावना थी। सर्वत्र कल्याण-ही-कल्याण दृष्टिगोचर होता था। जबसे नवयुगने अपनी महिमाके प्रचुर प्रसारका प्रारम्भ किया, तभीसे यज्ञादि कर्ममें शिथिलता आने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सुखके बदले दुःख, मर्यादाके बदले अकीर्ति, पारस्परिक प्रेमके बदले ईर्ष्या तथा द्वेष, द्रव्यके बदले दरिद्रताका नग्न नृत्य एवं नाना प्रकारके अकल्याण ही दृष्टिपथ हो रहे हैं। राजा, रङ्क, फकीर—सभी सुख-लेशकी आकाङ्क्षामात्रमें ही सफल होते दिखायी दे रहे हैं। अतः सुस्पष्ट है कि उपर्युक्त दुःख-राशि एवं संसारके समस्त दुःखसमूहको आमूल-चूल नष्ट-भ्रष्ट करनेवाला केवल यज्ञ ही ऐसा अव्यर्थ साधन है जिसके द्वारा मानव सर्वतोभावेन सुखी और संतुष्ट हो सकता है।

पहले किसी समय इसी पुण्य भारत-भूमिमें सभी त्रैवर्णिक श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपने श्रौत-स्मार्त यज्ञोंका अनुष्ठान किया करते थे। उस समय कोई भी द्विज ऐसा नहीं था, जो वेदोंका स्वाध्याय अथवा वेदोक्त कर्म—

अग्न्याधान (अग्निहोत्र) न करता हो । इस समय सैकड़ों-हजारोंमें भी ढूँढ़नेसे यथाविधि अग्निहोत्र करनेवाला कोई 'अग्निहोत्री' नहीं दिखलायी देता । सैकड़ों-हजारोंमें भी कोई सोमपान करनेवाला 'सोमयाजी' नहीं दिखलायी देता।

वर्तमान कराल कलिकालके भयंकर प्रभावसे अत्यल्प संख्यामें गिने-चुने याज्ञिक दिखलायी देते हैं । आज तो वेदके एक अक्षरको भी न जाननेवाले अपनेको 'महावैदिक' और 'यज्ञ' शब्दार्थतकको न जाननेवाले अपनेको 'महायाज्ञिक' बतलानेवाले अधिक मिलते हैं । दर्श-पूर्णमासकी भी प्रक्रियाको न जाननेवाले अपनेको 'अश्वमेधयाजी' कहनेका दुस्साहस करते हैं ।

अस्तु, अन्तमें मेरी भूतभावन श्रीविश्वनाथजीके चरणोंमें प्रार्थना है कि यह देश पुनः अपनी प्राचीन उन्नतिके लिये अग्रसर हो, घर-घरमें त्रेताग्नियाँ प्रज्वलित हों, सब लोग पुनः अपने मुख्य धर्म यज्ञादिपर आरूढ़ हों, देवगण तृप्त हों, तृप्त देवगण मानवमात्रको अभीष्ट फल प्रदान करें । भारतीय आर्यजातिमें परस्पर प्रेमाधिक्य हो तथा यह भूमण्डल-मूर्द्धन्य पवित्र भारत-भूमि एवं आर्यजाति पुनः 'सत्यमेव जयते नानृतम्' के अवलम्बसे विश्वविजयी बने ।

हमने लेख-विस्तारके भयसे ज्ञानपूर्वक यज्ञशब्दके विभिन्न अर्थ, यज्ञके लक्षण, यज्ञके भेद और यज्ञके अधिकारी आदि विषयोंकी चर्चा इस लेखमें नहीं की है । अतः विशेष जिज्ञासुओंको हमारी रचित 'यज्ञ-मीमांसा' तथा 'यज्ञ-माहात्म्य' पुस्तकें देखनी चाहिये । यदि हमारे 'मानवता और यज्ञ' इस लघु लेखको पढ़कर कल्याणके कल्याणकामी पाठकवर्ग मानवता और यज्ञके प्रति श्रद्धान्वित हो गये तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा ।

॥ ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मानवता और यज्ञ

(लेखक—स्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी)

मानवताका विकास यज्ञके द्वारा ही हुआ है । यद्यपि आज हम नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारोंकी चकाचौंधमें अपने पूर्वजोंकी देनको भूलते जा रहे हैं, तथापि जब कभी हम उन पूर्वजोंकी मानवहितकारिणी प्रतिभापर विचार करते हैं, तब हमारा हृदय आभारसे दब जाता है । मानवताके पुजारी ऋषि-मुनियोंने जो कुछ किया, प्राणिमात्रके हितके लिये किया । पर आज जो कुछ भी हो रहा है, प्राणिमात्रके संहारके लिये हो रहा है !

आजका प्रबुद्ध वैज्ञानिक जगत् अग्निको विनाजक द्रव्य (डिस्ट्रिब्यूटर) मानता है । इनका कहना है कि अग्निमें पड़कर कोई भी पदार्थ जलता नहीं, अपितु सूक्ष्म होकर कई मार्गोंमें विभक्त हो जाता है। ठीक इसी मान्यताको आजसे कई हजार वर्षों पूर्व हमारे ऋषियोंने मूर्तिमती करके दिखलाया था ।

ऋषियोंकी मान्यता थी कि स्थूलसे सूक्ष्ममें अधिक शक्ति होती है । इन्हीं विचारोंपर भारतीय दर्शनोंका जन्म हुआ है । प्रकृतिका भी यही नियम है । पृथ्वी स्थूल होनेके कारण एक बीजको एक बारमें बीससे सौ गुनातक बना देती है । इधर जल पृथ्वीसे सूक्ष्म होनेके कारण एकको हजारगुनातक बना देता है । परंतु ये दोनों तत्त्व संयोगज हैं, अतः इनमें परस्परापेक्षत्व अपेक्षित है । अग्नि-तत्त्व इन दोनोंसे सूक्ष्म होनेके कारण एक पदार्थको लाखों अंशोंमें विभक्त कर देता है । इस रहस्यको ऋषियोंने पूर्णतया समझ लिया था । इतना ही नहीं, उन लोगोंने तो यह भी निश्चित कर लिया था कि अग्निमें पड़कर कौन द्रव्य किन-किन रूपोंमें विभक्त होते हैं और उनकी गति क्या होती है तथा विभक्त होकर विकसित हुए उन परमाणुओंकी शक्तियोंका उपयोग कैसे किया जा सकता है । सम्भवतः इसी ज्ञानने यज्ञ-युगको जन्म दिया होगा ।

यज्ञसूत्र तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ और पुराणोंमें यज्ञके लिये जो भिन्न-भिन्न विधान और पृथक्-पृथक् सामग्रियोंके वर्णन आये हैं, उनसे यह निश्चित होता है कि ऋषिलोग अग्निमें विभिन्न द्रव्योंकी आहुति देकर अपने अभिलषित पदार्थको प्राप्त कर लेते थे । कुछ समय बाद तो यह कार्य इतना सुगम हो गया था कि समाज-कल्याण तथा व्यक्ति-कल्याण भी यज्ञद्वारा पूर्ण होने लगा ।

जब कभी देश, धर्म और समाजपर कोई आपत्ति आयी, उसी समय उसके निवारणार्थ उपयोगी द्रव्योंद्वारा यज्ञ करके आयी हुई आपत्तिको दूर कर दिया गया । इसी प्रकार

किसी व्यक्तिको यदि कोई रोग या मानसिक कष्ट हुआ, बस, उसी समय यज्ञद्वारा उसे स्वस्थ बना दिया गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे यज्ञद्वारा प्रजनन, मृत्यु और प्रकृतिपर भी अधिकार प्राप्त कर लिया गया था। उस समय इसी बलपर ऋषियोंने यह घोषणा कर दी थी—

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
लोकोऽयं क्षोभरहितः ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥

—इस घोषणामें कितनी मानवता निहित है, इसे पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

अब रही बात अग्निद्वारा शक्ति प्राप्त करनेकी क्रियापर विचार करनेकी। पूर्वमीमांसा तथा उसे उपबृंहण करनेवाले ग्रन्थोंको देखनेसे पता चलता है कि ऋषियोंको सभी पदार्थोंके परमाणुओंका पूर्ण ज्ञान हो गया था तथा उनके संयोग और वियोगद्वारा होनेवाले कार्योंका भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। इसीलिये यज्ञोंमें विभिन्न द्रव्योंके विधि-निषेधकी सूची निश्चित कर दी गयी थी।

ऋषियोंकी मान्यता थी कि प्रत्येक द्रव्यके सूक्ष्म अणु साठ भागोंमें बँट सकते हैं और उनके साठवें भागको वे शुद्ध परमाणु मानते थे तथा इनपर उनका पूर्ण अधिकार था। इन परमाणुओंपर पूर्ण अधिकारके ही फल भारतीय दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंके समूह थे। विश्वामित्र प्रभृति ऋषि तो इन्हीं परमाणुओंके संयोगद्वारा स्थूल सृष्टिका निर्माण करनेमें सफल हो गये थे। अस्तु!

ऊपर बतलाया गया है कि अग्निमें पड़नेके बाद कोई भी द्रव्य जलता नहीं, अपितु कई भागोंमें विभक्त हो जाता है और इसका पूर्ण ज्ञान ऋषियोंको प्राप्त था। वे लोग यह भी समझ गये थे कि अग्निद्वारा सूक्ष्म किये गये परमाणु पृथ्वीके आकर्षणसे मुक्त हो जाते हैं। कारण, आकर्षण स्वजातीय द्रव्यके संयोगसे ही होता है। अग्निद्वारा विभक्त परमाणु पृथ्वीकी स्थूलतासे तथा उसकी तन्मात्रासे भी मुक्त हो जाते हैं। इसीलिये उन्हें ऊपर उठनेसे पृथ्वी रोक नहीं पाती। उपर्युक्त कारणसे ही उन्हें वायु और अभ्र भी रोक नहीं पाते। अतः वे परमाणु निर्बाध होकर सूर्यकी किरणोंके सहारेसे सूर्यमण्डलकी ओर बड़ी तीव्र गतिसे चलने लगते हैं। फिर तो कुछ ही कालमें वे सूर्यमण्डलमें पहुँच जाते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि अग्नि सूर्यका प्रतिनिधि है और सूर्य अग्निसे लाखों गुना अधिक उष्ण एवं शक्तिशाली है। अतः अग्निद्वारा विभक्त परमाणु सूर्यमें पहुँचनेपर फिर हजारों अंशोंमें विभक्त हो जाते हैं। इसके बाद अति सूक्ष्म होनेके कारण फिर वे सूर्य-किरणोंके दबावसे नीचेकी ओर चल पड़ते हैं और पृथ्वीपर आकर जल, औषध आदि विभिन्न पदार्थोंपर गिर जाते हैं। फिर इन्हींके द्वारा शक्ति और सृष्टिका विकास होता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए मानवताके आदिम पुजारी ऋषियोंने कहा था—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

यहाँ 'वृष्टि' शब्द उन्हीं परमाणुओंकी वृष्टिके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसी क्रमसे ऋषिलोग जब जिस वस्तुकी आवश्यकता समझते थे, उसे शीघ्र ही बरसा देते थे। बस, इसी प्रकार वे लोग जनताके लिये सुख, शान्ति और समृद्धिकी अभिवृद्धि किया करते थे। आज यज्ञकी उपादेयताको न समझनेके कारण हम उसे भले ही तुच्छ समझें या भूल जायँ, किंतु एक दिन इसीने मानवताका उत्थान किया था और अब भी यदि उसका सविधि प्रयोग करें तो आज भी वह हमें दीर्घजीवी और सुखी बना सकता है।

भक्तिहीन जीवन

भगति बिन हैं सब लोग निखट्टू।
आपसमें लड़िबे भिड़िबे कौं, जैसे जंगी टट्टू॥
नित उनकी मति भ्रमत रहत है, जैसे लोलुप लट्टू।
नागरिया जगमें वे उछरत जिहि बिधि नटके बट्टू॥

—नागरीदासजी

कामायनीमें मानवताका स्वरूप

(लेखक—श्रीगोविन्दजी एम्०ए०)

यदि हम भारतीय साहित्यकी ओर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि वह विशेषरूपसे जीवनके शिव-पक्षकी ओर ही उन्मुख रहा है। क्या वेद, क्या उपनिषद्, क्या रामायण, क्या महाभारत, क्या पुराण, क्या भागवत—सभी ग्रन्थोंमें 'शिवम्' की अजस्र-धारा प्रवाहित होती रहती है। जैनधर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों, बौद्धधर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों, संस्कृतके महाकाव्यों, खण्ड-काव्यों, नाटकों, निबन्धों इत्यादिमें 'शिवम्' की पुण्य-सलिला भागीरथी जीवनको परिमार्जित करती हुई, भारतीय संस्कृतिकी धाराको हृदयंगम करती हुई अदम्य वेगसे निरन्तर बहती रहती है। सिद्धों एवं नाथपंथियोंका साधनामूलक साहित्य हो या संतोंका ज्ञानमूलक साहित्य, सूफियोंका प्रेममूलक साहित्य हो या भक्तोंका भक्तिमूलक साहित्य, आधुनिक कालका व्यक्तिपरक साहित्य हो या समाजपरक साहित्य—सभीमें जीवनका ऐसा कल्याणकारी तत्त्व छिपा है, जो निरन्तर मानवताको विकासकी ओर ले जा रहा है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो समग्र भारतीय साहित्य ही जीवन एवं मानवताके विकासकी जीती-जागती कहानी है।

प्रसादजीद्वारा रचित 'कामायनी' हिंदी-साहित्यका ऐसा महाकाव्य है, जो भारतीय साहित्यमें एक ज्योतिःस्तम्भ-की तरह खड़ा होकर मानवताके स्वरूप तथा उसके विकासकी कहानीको दुहरा रहा है और चिरकालतक दुहराता रहेगा। कामायनीकी कथा उस आदिपुरुष मनु और आदिनारी श्रद्धाकी कहानी है, जिससे मानव-सृष्टिका विकास हुआ है। मनु और श्रद्धाका उल्लेख अनेक पौराणिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थोंमें आया है। ऋग्वेद, छान्दोग्यो-पनिषद्, शतपथ ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थोंमें मनु और श्रद्धासे सम्बन्धित अनेक कथाएँ बिखरी पड़ी हैं। प्रसादजीने अपने महाकाव्यकी कथाका आधार शतपथ ब्राह्मणके मनु और श्रद्धाको ही बनाया है। उन्होंने आदिपुरुष मनुको ऐतिहा-सिक पुरुष माना है और उन्हींसे मानवताका विकास भी। 'कामायनी'के आमुखमें वे लिखते हैं—'आर्य-साहित्यमें मानवोंके आदिपुरुष मनुका इतिहास वेदोंसे लेकर पुराण और इतिहासोंमें बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनुके सहयोगसे मानवताके विकासकी कथाको, रूपकके आवरणमें, चाहे पिछले कालमें मान लेनेका वैसा ही प्रयत्न हुआ हो, जैसा कि सभी वैदिक इतिहासोंके साथ निरुक्तके द्वारा किया गया, फिर भी मन्वन्तर अर्थात् मानवताके नवयुग-के प्रवर्तकके रूपमें मनुकी कथा आर्योंकी अनुश्रुतिमें दृढ़तासे मानी गयी है; इसलिये वैवस्वत मनुको ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।'

प्रसादजीने कामायनीकी कथाको ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर प्रतिष्ठित किया है, किंतु घटनाओंकी प्राचीनता तथा अतिरञ्जनाके कारण ऐतिहासिकताके साथ-साथ उसमें रूपकका भी समावेश हो गया है। प्रमुख पात्र ऐतिहासिक ही नहीं वरं मानव-वृत्तियोंके प्रतीकरूपमें भी दिखाये गये हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रसादजीने कामायनी-के माध्यमसे इतिहासके मर्ममें मानव-वृत्तियोंके विकासकी भी चेष्टा की है और उसमें पूर्णरूपसे सफलीभूत हुए हैं। 'आमुख'में उन्होंने लिखा है—'मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थकी भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मनके दोनों पक्ष—हृदय तथा मस्तिष्कका सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ासे भी सरलतासे लग जाता है।'

कामायनी महाकाव्यका नायक मनु नहीं, बल्कि श्रद्धा उसकी नायिका है। श्रद्धा कामगोत्रकी बालिका है, इसीलिये श्रद्धानामके साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। प्रसादजीने नायिकाके नामपर ही अपने काव्यका नाम 'कामायनी' रखा है। नायिका श्रद्धा ऐसी नारी है, जिसमें नारीत्व अपने चरम उत्कर्षके साथ पुरुष (मनु) को अपनी सीमासे बाँधकर सुरक्षित रखे है और अपने माधुर्य तथा स्नेहसे उसे आशा एवं कर्मके जीवनकी ओर अग्रसर करती है। आदर्श नारी श्रद्धाके कथनोंद्वारा ही प्रसादजीने मानवताके स्वरूपको उपस्थित किया है और उसके विकासका संदेश दिया है।

महाप्रलयके पश्चात् मनु चिन्ता, शोक एवं निराशाके सागरमें डूबे हुए हैं। उन्हें अपने विगत विलासमय जीवनपर अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हो रही है। जीवनकी निस्सारता एवं क्षणभङ्गुरताको सोचकर तथा इस विशाल सृष्टिमें अपनेको असहाय तथा एकाकी पाकर उन्हें अपने जीवनके

प्रति वितृष्णा होती जा रही है। वे कर्ममय जीवनसे विमुख होनेकी बात सोचते हैं। तभी अचानक उनकी श्रद्धासे भेंट होती है। मनुको क्लान्त, हताश एवं चिन्तित देखकर उन्हें मानवोचित कर्म करनेका संदेश देती हुई श्रद्धा कहती है—

दुःखके डरसे तुम अज्ञात जटिलताओंका कर अनुमान।
कामसे झिझक रहे हो आज, भविष्यत्से बनकर अनजान॥
कर रही लीलामय आनन्द, महा चिति सजग हुई-सी व्यक्त।
विश्वका उन्मीलन अभिराम, इसीमें सब होते अनुरक्त॥
काम मङ्गलसे मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छाका है परिणाम।
तिरस्कृतकर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भवधाम॥
× × × ×
जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत्की ज्वालाओंका मूल।
ईशका वह रहस्य वरदान, कभी मत जाओ इसको भूल॥

मनुके मनमें निराशा अत्यन्त गाढ़ी होती जा रही है। उनको अपना जीवन निरुपाय दिखायी दे रहा है। इस एकाकी जीवनमें उन्हें कहीं भी सफलता दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। वे निष्क्रिय, निष्पन्द, अगतिशील बनकर मूर्तिवत् बैठे हैं। श्रद्धा मानवताके विकासके निमित्त अपनेको समर्पित करती हुई उनसे कहती है—

एक तुम, यह विस्तृत भूखण्ड, प्रकृति-वैभव से भरा अमन्द।
कर्मका भोग, भोगका कर्म, यही जडका चेतन आनन्द॥
× × × ×
डरो मत, अरे अमृत-संतान, अग्रसर है मङ्गलमय वृद्धि।
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र, खिंची आयेगी सकल समृद्धि॥
चेतनाका सुन्दर इतिहास, अखिल मानव भावोंका सत्य।
विश्वके हृदय-पटलपर दिव्य अक्षरोंसे अङ्कित हो नित्य॥
विधाताकी कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतलपर पूर्ण।
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुञ्ज, और ज्वालामुखियाँ हो चूर्ण॥
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प कुचलती रहे खड़ी सानन्द।
आजसे मानवताकी कीर्ति, अनिल-भू-जलमें रहे न बंद॥
× × ×
विश्वकी दुर्बलता बल बने, पराजयका बढ़ता व्यापार।
हँसाता रहे उसे सविलास, शक्तिका क्रीडामय संचार॥
शक्तिके विद्युत्कण, जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय॥

श्रद्धाके आगमनके पूर्व मनु निराश, उद्भ्रान्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। श्रद्धाने अपने समर्पण तथा मानवताके विकासका संदेश देकर उन्हें जीवनके नये मोड़पर ला दिया। उसका अगाध विश्वास, सेवा, दया, स्नेह, ममता इत्यादि पाकर उनका जीवन आशा एवं उत्साहसे भर गया और उनके गतिहीन जीवनमें गति आ गयी। वे श्रद्धाके साथ गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए कर्म करनेकी ओर प्रवृत्त हुए। किंतु इसी बीच एक घटना घटित हुई। श्रद्धाने कर्म करनेका जो उपदेश दिया था, उसका उन्होंने भ्रान्त अर्थ लगाया और हिंसापूर्ण कार्योंकी ओर प्रवृत्त हुए। असुर पुरोहित किलाताकुलिकी प्रेरणासे हिंसापूर्ण यज्ञ करने तथा जीवोंका वध करने लगे। मनुके अमानवीय कार्यसे क्षुब्ध होकर श्रद्धा मन-ही-मन सोचती है—

यह विराग सम्बन्ध हृदयका, कैसी यह मानवता!
प्राणीको प्राणीके प्रति, बस, बची रही निर्ममता!
जीवनका संतोष अन्यका रोदन बन हँसता क्यों?
एक-एक विश्राम प्रगतिको परिकर-सा कसता क्यों?

फिर वह मनुसे कहती है—

ये प्राणी जो बचे हुए हैं, इस अचला जगतीके।
उनके कुछ अधिकार नहीं, क्या वे सब ही हैं फीके?
मनु! क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल नव मानवता?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो, हंत! बची क्या शवता॥

स्वार्थकी भावनाके कारण मनु परमार्थ एवं पर-सुखको भूल जाते हैं। उन्हें केवल अपना ही सुख दिखायी देता है जीवनकी सार्थकता उन्हें केवल स्वार्थ-साधन तथा आत्म सुखमें ही प्राप्त होती है। अपने सुख एवं स्वार्थमें वे इतने अं हो रहे हैं कि उन्हें अन्यका हित तथा अहित—कुछ भी दिखला नहीं पड़ता। विलासकी मात्रा भी उनके जीवनमें अधि होती जा रही है। विलासमय जीवनके कारण देवपदसे भ्र होनेपर भी विलासकी कुरूपताका ज्ञान उन्हें नहीं होता इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही वे जीवनकी सफलता समझते हैं। श्रद्धा वे कहते हैं—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी, श्रद्धे! वह भी कुछ है।
दो दिनके इस जीवनका तो वही चरम सब कुछ है॥
इन्द्रियकी अभिलाषा जितनी, सतत सफलता पाये।
जहाँ हृदयकी तृप्ति विलासिनि, मधुर-मधुर कुछ गाये॥

मनुकी ये स्वार्थपरक बातें श्रद्धाके मनमें तीर-सी लगती हैं। वह अत्यन्त विह्वल होकर सविनय मनुसे कहती है—

अपनेमें सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा ॥
औरोंको हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ ।
अपने सुखको विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ ॥
रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ यह यज्ञ-पुरुषका जो है ।
संसृति-सेवा भाग हमारा, उसे विकसनेको है ॥
सुखको सीमित कर अपनेमें, केवल दुख छोड़ोगे ।
इतर प्राणियोंकी पीड़ा लख, अपना मुँह मोड़ोगे ॥
× × ×
सुख अपने संतोषके लिये, संग्रह मूल नहीं है ।
उसमें एक प्रदर्शन जिसको देखें अन्य वही है ॥
निर्जनमें क्या एक अकेले तुम्हें प्रमोद मिलेगा ।
नहीं इसीसे अन्य हृदयका कोई सुमन खिलेगा ॥
सुख समीर पाकर, चाहे हो वह एकान्त तुम्हारा ।
बढ़ती है सीमा संसृतिकी बन मानवता-धारा ॥

किंतु मनु श्रद्धाकी बातोंपर तनिक भी ध्यान नहीं देते । अब उनका अहं भी विद्रोह कर उठता है । श्रद्धा एक पुत्रको जन्म देती है । उसका मातृत्व प्रस्फुटित हो उठता है और वह अपने पुत्रकी ओर कुछ अधिक ध्यान देने लगती है । मनु एकमात्र अपना ही अधिकार श्रद्धापर चाहते हैं । श्रद्धाको अपनी ओरसे उदासीन समझकर (यद्यपि वास्तविकता यह नहीं है) वे चुपकेसे भगकर सारस्वत नगर चले जाते हैं और वहाँकी रानी इड़ाके सहयोगसे नये साम्राज्यका निर्माण करते हैं । वे केवल साम्राज्यसे संतोष नहीं करते, बल्कि इड़ापर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं । इड़ा भी उनकी स्वार्थपूर्ण भावनाकी ओर संकेत करती है, किंतु वे कुछ समझते नहीं । परिणाम यह होता है कि प्रजा विद्रोह कर बैठती है । संघर्षमें वे आहत होकर मूर्च्छित हो जाते हैं । इस विप्लवका भयंकर स्वप्न देखकर श्रद्धा अपने पुत्र मानवको लेकर मनुको खोजने निकल पड़ती है । वह उस स्थानपर पहुँचती है, जहाँ मनु घायल होकर अचेत अवस्थामें पड़े हैं और इड़ा उनकी परिचर्या कर रही है । श्रद्धाको देखकर मनु ग्लानिसे भर जाते हैं और एक रातको बिना किसीसे कुछ कहे वहाँसे भाग निकलते हैं । श्रद्धा इड़ा और मानवका परिणय-सम्बन्ध स्थापितकर सारस्वत प्रदेशमें राज्य करनेके लिये छोड़कर फिर मनुको खोजने चल देती है । मनु उसे एक गुफामें साधना करते मिलते हैं । वहाँसे वह उन्हें लेकर तथा अपने स्नेहका सम्बल देकर कैलासकी ओर चल देती है । मार्गमें मनुको तीन बिन्दु इच्छा, ज्ञान और कर्मके दिखायी पड़ते हैं । मनुके पूछनेपर श्रद्धा उनका रहस्य समझाती है । उसके हँसते ही तीनों बिन्दु एकाकार हो जाते हैं और फिर चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द छा जाता है । मनु इस आनन्दका दर्शन करते हैं । इड़ा तथा मानव भी अपनी प्रजासहित इस आनन्द-लोकमें विचरते दृष्टिगोचर होते हैं । मनु अपने कुटुम्बियों तथा प्रजाको आनन्द-लोकमें देखकर गद्गद हो जाते हैं और उनमें मानवताका वास्तविक रूप तेजोमय हो उठता है । उनके मुखसे बरबस निकल पड़ता है—

मनुने कुछ-कुछ मुसक्याकर कैलास ओर दिखलाया ।
बोले देखो कि यहाँपर, कोई भी नहीं पराया ॥
हम अन्य न और कुटुम्बी, हम, केवल एक हमीं हैं ।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ कमी नहीं है ॥
शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है ।
जीवन-वसुधा समतल है, समरस है, जो कि जहाँ है ॥
× × ×
अपने सुख-दुखसे पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर ।
चितिका विराट वपु मङ्गल, यह सत्य सतत चिर-सुन्दर ॥
सबकी सेवा न पराई वह अपनी सुख-संसृति है ।
अपना ही अणु-अणु कण-कण, द्वयता ही तो विस्मृति है ॥
× × ×
सब भेदभाव भुलवाकर, दुख सुखको दृश्य बनाता ।
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ !' यह विश्व नीड बन जाता ॥

परमेश्वर समझेंगे अति प्यारा

दुःख पराया जिसका सुख हो वह है बड़ा अभागी ।
अपना सुख दे पर-दुख हरता मानव वही सुभागी ॥
निज सुख दान करो सबको, दुख सबका ले लो सारा ।
परम पिता परमेश्वर तुमको समझेंगे अति प्यारा ॥

मानव-निर्माणकी योजना

(प्लानिंग ऐंड डिवेलपमेंट बोर्ड ऑफ ऑल राजस्थान, दिनाङ्क १२ अगस्त १९५८ की बैठकमें बोर्ड-सदस्य महाराज श्रीशिवदानसिंहजी शिवरती, उदयपुरद्वारा पेश किया गया एक सुझाव)

हमारी पञ्चवर्षीय योजना गत सात वर्षोंसे चालू है और इस अवधिमें कई विभिन्न क्षेत्रोंमें राष्ट्र-निर्माणके लघु या विशाल पैमानेके कार्य सम्पादन हो चुके हैं तथा हो रहे हैं।

परंतु मेरी मतिके अनुसार ये सब होते हुए भी एक बुनियादी खामी रहती चली आ रही है, जिसकी पूर्तिके बिना यह सारा काम अधूरा-सा रहेगा। मेरा मतलब यह कि जबतक हरेक व्यक्ति 'मानवताका मूल्याङ्कन' करना प्रारम्भ नहीं करेगा, तबतक इस सारे परिश्रमकी बुनियाद नहीं सुधर पायेगी।

मानवताका अर्थ है—दूसरेकी उन्नतिको अपनी ही मानकर वैसा ही महत्त्व देना तथा यह दृढ़ निश्चय हो जाना कि समाजके हितमें ही मेरा सच्चा स्वार्थ निहित है। तभी सही मानवका निर्माण होगा और वे ही मानव राष्ट्र-निर्माणकी मजबूत नींव रख सकेंगे; अन्यथा आज बनाया, कल गिर गया—यह ताँता चलता ही रहेगा।

क्योंकि ईंट, पत्थर, सीमेंट, इस्पात-जैसी केवल जड वस्तुओंसे ही देशका निर्माण सम्भव हो तो उसी समय हाइड्रोजन, एटम तथा उसी तरहकी अन्य जड वस्तुओंसे उसका विनाश भी असम्भव नहीं है। ऐसी प्रगति तो जडतासे जडताकी ओर ही ले जानेवाली है।

आज इस केवल भौतिकवादी मशीन-युगकी तरक्कीका परिणाम हम देखते हैं कि बावजूद सारी चेष्टाओंके जन-जीवन अहर्निश भय, अविश्वास तथा द्वेषका शिकार बना जा रहा है। देशमें जातीय, प्रान्तीय, दलगत, भाषा-सम्बन्धी, साम्प्रदायिक एवं व्यक्तिवादी-जैसी परस्पर द्वेषोत्पादिनी विचारधाराएँ उत्तरोत्तर पनपती जा रही हैं।

हमारे न चाहते हुए भी इस नितान्त भौतिक कल्याणकारी समाज बनानेकी दौड़-धूपके पीछे एक भारी प्रतिक्रिया मनुष्यकी विचार-शैलीको प्रभावित करती जा रही है—वह है जरूरतसे ज्यादा पैसेको महत्त्व देना; क्योंकि जब प्रत्यक्ष देखनेको मिलता है कि राज्य केवल अर्थको ही निर्माणका मूल साधन मानकर अनेक कर तथा कर्ज दिन-प्रतिदिन वसूल कर रहा है, तब स्वाभाविक ही सर्वसाधारणमें भी आवश्यकतासे अधिक पैसेका आकर्षण घर कर जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी विभिन्न परिस्थिति तथा प्रकृतिके अनुसार या तो सामूहिक रूपसे सरकारपर हड़ताल, तोड़फोड़, ऐजीटेशन-जैसा दबाव डालकर अपना अर्थसिद्धिका प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं अथवा चोरी, डकैती, रिश्वतखोरी, स्मग्लिंग, कालाबाजारी, नकली उत्पादन आदि अनर्थपूर्ण व्यवसायोंद्वारा चाहते हैं कि मैं या हम ही क्यों न ये सारे कल्याणकारी सुख अपने लिये येन-केन प्रकारेण बटोर लें।

इसका परिणाम यह होता है कि जैसे भारत-साधुसमाज, अछूतोद्धार, पिछड़ी जातियोंके कल्याणकी योजना, भारत-सेवक-समाज, रेसक्यू-भवन, ग्रामोन्नति आदि समाज-कल्याणकारी प्रवृत्तियोंमें भी सेवाभावी लोगोंकी जगह विशेषतर पद, धन तथा अर्थपूजकोंका बोलबाला रहने लग जाता है।

हाँ, यह सत्य है कि सभी लोग त्यागी, वैरागी या अनासक्त नहीं होते; परंतु वर्तमानमें तो यह अर्थासक्ति अपनी मर्यादाको पूरे तौरसे अतिक्रमण कर गयी है। इसका कारण यह है कि जब सभी वासनाओंकी पूर्तियाँ अर्थद्वारा ही होती नजर आती हैं, तब पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, राष्ट्र-राष्ट्रियता, गुरु-शिष्य, दया-धर्म, कर्तव्य, मान, व्यवहार—सभीमें स्वाभाविकतया स्नेह, अपनत्वको तिलाञ्जलि दी जाकर सारे सम्बन्ध द्रव्यकी टकसालपर परखे जाने लगे हैं।

अतः वास्तविक शान्ति तो मनुष्यको तभी मिलेगी, जब वह यह समझ जायगा कि दूसरोंको सुखी बनानेमें किया हुआ उसका त्याग विशेष लाभकारी होगा और तभी वह भी स्वयं सच्चे अर्थमें सुखी हो सकेगा।

ऐसी भावना उत्पन्न किये बिना, चाहे आप हिमालयके शिखरपर चढ़ जाइये, दक्षिण ध्रुवके सभी धनको खोद लाइये, शीघ्रगामी विमान, राकेट या स्पुत्निकद्वारा चन्द्रादि ग्रहोंमें पहुँच जाइये, सम्मेलन-पर-सम्मेलन—यहाँतक कि 'शिखर-सम्मेलन' भी कर डालिये, पैक्ट कीजिये, अनाप-शनाप धन बटोरिये, पदाधिकार प्राप्त कीजिये; परंतु इस तरहसे जितनी भी भौतिक समृद्धि बढ़ती जायगी, वह नीरस होगी तथा

घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा और नये-नये युद्धोंकी जन्मदात्री बनती रहेगी ।

इसलिये इन सबका निगूढ रहस्य यह है कि हमें इन उत्पादन-कार्योंकी क्षमताके साथ-साथ 'मानवता-उत्पादन' की क्षमताके कार्योंकी योजना क्रियान्वित करनी होगी, जो सारी दूसरी योजनाओंकी यथार्थ सफलताकी कुंजी है ।

अतः इस मानवता-संचार या दूसरे शब्दोंमें नैतिक उत्थान (Moral uplift)-योजनाकी रूपरेखाको तैयार कर हमें एक परिषद्का गठन करना होगा । परंतु ऐसा करनेमें यह सावधानी रखनी होगी कि इसमें ऐसे तत्त्व न हों, जो धर्म, साधुता या सेवा-संगठनके बहाने किसी राजनीतिक अर्थसिद्धिका खेल खेलना चाहते हों ।

अतः इस चयनके लिये यह बोर्ड एक द्विसदस्यीय, एक संयोजकवाली सब-कमेटीका निर्माण करे ।

इस सब-कमेटीका यह कार्य होगा कि वह ऐसे वीतराग महान् आत्माओं—जैसे श्रीविनोबाजी, सर्व-सेवा-संघ तथा सर्वोदयमें निष्ठावान् सज्जन और श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पूज्य स्वामीजी श्रीशरणानन्दजी आदि-जैसी हस्तियोंसे, सम्पर्क स्थापित करे, जिन्होंने सभी आकाङ्क्षाओं एवं प्रलोभनोंसे ऊपर उठकर जनताके नैतिक उत्थानके हेतु सारा जीवन लगा दिया है; और उन महानुभावोंका भी सहयोग प्राप्त करे, जो श्रीमहात्मा गांधीजीके सम्पर्कमें रहे हैं अथवा जिन्होंने उनकी कृतियाँ पढ़कर उन्हें अपने जीवनमें उतारा है ।

ऐसे आदर्श महापुरुषोंका परामर्श लेकर एक स्कीम ड्राफ्ट की जाय और उस स्कीममें ऐसी कई योजनाओंका संकलन हो, जिनको क्रियान्वित करनेसे अमानवीयता, जिसने उग्र रूपसे हमारे अंदर डेरा जमा लिया है और कुत्सित वृत्ति, जिसको कहीं-कहीं तो 'चतुराई' या 'राजनीतिज्ञता' की उपाधि मिल गयी है, मिटायी जा सके ।

उपर्युक्त उपाय प्रवचनों, पुस्तिकाओं, उपदेशों, ग्रन्थों, गायनों, चलचित्रों और इसी तरहके अन्य कई साधनोंसे ग्राम, नगर, खेड़े, सरकारी अर्ध-सरकारी तथा सार्वजनिक स्वायत्त-संस्थाओं, मठ, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा—सारांश, जीवनके सभी क्षेत्रोंमें प्रचारित किये जायँ । विशेषकर इन साधनोंका पाठशालाओं तथा कालेजोंमें प्रयोग किया जाना चाहिये, जहाँ भारतकी भावी पीढ़ी निवास करती है, जिनको इन योजनाओंको आगे बढ़ाना है—विशेषकर जहाँ आज कहीं-कहीं तो दुर्भाग्यवश विद्यार्थी तथा विद्यार्थिनियोंमें उच्छृङ्खलता चरम सीमासे आगे बढ़ गयी है ।

इस कारण इन संस्थाओंके पाठ्यक्रममें नैतिक सुधारका कार्यक्रम तैयार किया जाय और वैसा ही वातावरण निर्माण हो । तभी राजस्थान अपने अतीत गौरवपर पुनः आसीन होकर साथी प्रदेशोंके लिये एक महान् आदर्श उपस्थित कर सकेगा ।

अतः मेरी विनम्र प्रार्थना है कि उपर्युक्त सुझाव सर्वसम्मतिसे स्वीकार किये जायँ, जिससे यथार्थ मानवताका संचार होकर राजस्थानकी यह पञ्चवर्षीय योजना अन्य निर्माण-योजनाओंके साथ-साथ मानव-निर्माण योजनाओंको कार्यान्वित कर सके, जिसके मूर्त होनेसे शेष सभी योजनाएँ अपनेको सुरक्षित पायेंगी । (यह सुझाव राजस्थानके नामसे दिया गया है । पर यह देशके सभी राज्योंके लिये उपयोगी तथा आवश्यक है ।)

वही सब कुछ है

सो जननी, सो पिता, सोइ भाइ, सो भामिनि, सो सुतु, सो हितु मेरो ।
सोइ सगो, सो सखा, सोइ सेवकु, सो गुरु, सो सुरु, साहेबु, चेरो ॥
सो 'तुलसी' प्रिय प्रान समान, कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो ।
जो तजि देह को गेह को नेहु, सनेह सों राम को होइ सबेरो ॥

संतोंकी कसौटीपर मानवता

(लेखक—श्रीरामलालजी)

संतोंकी दृष्टिमें मानवके प्रति मानवका धर्म—सदाचार-प्राणित कर्तव्य मानवताकी एक संज्ञा अथवा विशेषता है। संतोंका जीवन सार्वजनिक हितका प्रकाशक होता है, इसलिये उनकी कसौटीपर खरी उतरनेवाली मानवता असंदिग्ध रूपसे सार्वजनिक हित अथवा विश्वकल्याणकी माङ्गलिक प्रतीक स्वीकार की जा सकती है। सार्वजनिक हित ही उनकी दृष्टिमें सर्वात्मबोध है। सर्वात्मबोधका मूलाधार संतोंने परमेश्वरकी प्राप्तिमें स्थिर किया है। सर्वान्तर्यामी तत्त्वकी खोज मानवताकी पर्याय-भूमि हो गयी है। मानवका सर्वप्रथम कर्तव्य ईश्वरकी प्राप्ति है। इसके बाद उसे अन्य कार्यमें प्रवृत्त होना चाहिये। संत सुन्दरदासकी एक स्थलपर उक्ति है—

सुंदर और कछू नहीं एक बिना भगवंत।
तासौं पतिव्रत राखियं, टेरि कहैं सब संत॥

मानवता सत्यबोधके प्रवेश-द्वारपर आदिकालसे स्थिर होकर अध्यात्म-मानव—अन्तर्मानवको परमेश्वरकी प्राप्तिकी प्रेरणा देती चली आ रही है, यह निर्विवाद है। जीवात्मा परमात्माकी खोजमें निरन्तर संलग्न है। संत-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने तो केवल हरिगुणगानको ही मानवता—मानवधर्मकी संज्ञा प्रदान की है। उनकी स्वीकृति है—

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा।
गावत नर पावहिं भव थाहा॥

संतोंकी दृष्टिमें पर-पीड़ाका निवारण मानवता है; महाभागवत नरसी मेहताने इसको 'वैष्णव-धर्म' स्वीकार किया है, उनकी वैष्णवताकी स्पष्ट घोषणा है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए,
जे पीड़ पराई जाणे रे।

दूसरेकी पीड़ाको समझना और उसके निवारणमें तत्पर रहना संतोंकी खरी-निष्पक्ष कसौटीपर मानवता है। चीनी संत मेनसियसकी विज्ञप्ति है कि प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें सहानुभूति, शालीनता, मृदुता और न्यायपरता रहती है; जिसमें इन सद्गुणोंका अभाव होता है, वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। प्रेम मानवका हृदय है, सदाचार उसका पथ है। संत कबीरका कथन है—

जिहि घट प्रीति न प्रेमरस, फुनि रसना नहिं राम।
ते नर इहि संसार में उपजि खपे बेकाम॥

मानवमें प्रीतिरसका विकास होनेपर ही सहानुभूतिका उदय होता है। संत-जीवन अपनानेपर ही मानवमें सर्वात्म-प्रियताकी भावना दृढ़ होती है; उसके लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि वह अपने जीवनको ईश्वरमुखी कर दे। ईश्वरमुखी हो जाना ही मानव-जीवनका परम साफल्य है; संतोंने इस सिद्धान्तको पूरी मान्यता दी है। सूरदासने ईश्वरार्पित जीवन अपनानेके लिये मनको समझाया है—

रे मन! गोबिंद के ह्वै रहियै।
यहि संसार अपार बिरत ह्वै जम की त्रास न सहियै॥
सुख दुख कीरति भाग आपने, आइ परैं सो गहियै।
'सूरदास' भगवंत भजन करि अंत बार कछु लहियै॥

मानव-जीवनका परम श्रेय संतोंकी दृष्टिमें भगवान्‌का भजन है। संतोंकी कसौटीपर वह कभी नहीं खरा उतर सकता है, जो परमात्मा—परम सत्यसे अपने जीवनको ज्योतित नहीं करता है। यह नितान्त सत्य है कि वह वास्तविक सुख-शान्तिका रसास्वादन नहीं कर सकता। भजनके द्वारा शाश्वत शान्ति प्राप्तकर संत सदा सुखी रहते हैं। सुन्दरदासने जगत्‌को सावधान किया है—

संत सुखी, दुखमय संसारा।
संत भजन करि सदा सुखारे, जगत दुखी गृह के ब्यवहारा॥
संतन के हरिनाम सकल निधि, नाम सजीवनि, नाम अधारा।
× × × ×
'सुंदरदास' संत हरि सनमुख, जगत बिमुख पचि मर गँवारा॥

भगवान्‌का भजन जगत्‌के प्राणियोंके लिये परमावश्यक पुण्यकर्म है; इसके आश्रयमें मानवका जीवन भगवान्‌के शरणागत होकर आत्मचिन्तनद्वारा सत्पदार्थका ज्ञान प्राप्त करता है, सत्‌का साक्षात्कार करके वह सर्वात्महितमें तत्पर होता है। सर्वात्मबोध उसे मुक्ति अथवा चिरन्तन शान्ति प्रदान करनेका अमोघ अस्त्र है।

निस्संदेह भगवान्‌के भजन—नाम-संकीर्तनसे जीवात्मा भगवान्‌के चरणमें समर्पित होता है; हरिनाम-संकीर्तन समस्त

प्राणियोंका परम धर्म है। असमके मध्यकालीन संत महात्मा शंकरदेवकी सीख है—

परम निर्मल धर्म हरिनाम-कीर्तन त समस्त प्राणगीर अधिकार।
एतेके से हरिनाम समस्त धर्मेर राजा एहि सार शास्त्रर विचार॥

परमेश्वरकी परम प्रेममयी कृपासे ही प्राणी उनका नाम-संकीर्तन करके उनके चरणोंमें अपना जीवन समर्पित कर देता है। समर्पित जीवनमें निश्चिन्तता और निर्भयता आती है—यह संत-मत है। पाश्चात्त्य संत अस्सीसाईके फ्रांसिसका निर्णय है कि प्राणीको अपनी समस्त चिन्ताएँ परमेश्वरके चरणोंमें चढ़ा देनी चाहिये, वे अपने शरणागतका पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं।

समर्पित जीवन आत्मसाक्षात्कारका सोपान है। मानव-जीवनमें अभिव्यक्त ईश्वरीय इच्छा ही वास्तविक जीवन है—स्वास्थ्य है। अन्तर्जगत्‌का सारा रहस्य मानवकी दृष्टिमें उस समय ज्योतित हो उठता है अथवा प्रकाशित हो जाता है, जब उसके चिन्तन और मननमें परमेश्वरकी ही इच्छाका आधिपत्य स्थापित होता है। मानव आत्मविवेक प्राप्त करता है, आत्मा और दृश्य जगत्‌की अनश्वरता और नश्वरताका उसे यथाक्रम ज्ञान हो जाता है, उसकी समझमें यह बात आ जाती है—

नित्यमात्मस्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम्।
(अपरोक्षानुभूति ५)

—आत्माकी नित्यताके परिज्ञानसे मानव सद्वस्तु-तत्त्वका—परमात्माके योगका रसास्वादन करता है। उसे सद्ज्ञान मिलता है। परमात्मा शक्ति हैं तो मानव उनकी शक्तिसे प्राणित अथवा सजीव है; परमात्मा सम्पूर्ण ज्ञान हैं तो मानव उनके ज्ञानसे ज्ञानी है; परमात्मा परम तत्त्व हैं तो मानव उनके तत्त्वसे आकृतिमान् और निर्मित है; परमात्मा प्रेम हैं तो मानव उनका प्रेमी है; परमात्मा जीवन हैं तो मानव उनके जीवनसे जीवित है; परमात्मा परम सत्य हैं तो मानव उनके सत्यके प्रकाशमें सत्स्वरूप है। मानव इस परम सत्-ज्ञानके प्रकाशमें सर्वात्मबोध पाता है, समस्त प्राणिमात्रमें उसे परमात्माकी व्याप्तिका ज्ञान होने लगता है, उसके मनमें समताकी भावना जागने लगती है और वह सर्वकल्याणके चिन्तनमें लग जाता है। संत दादूका मत है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरवैरी सब जीव सों, 'दादू' यह मत सार॥

रहज रुरुइ.६—रुरुता वास्तविक मानवताका पथ प्रदस्त

करती है। जिस मनुष्यमें समदृष्टिका विवेक जागता है, वह समस्त प्राणिमात्रमें अपनत्वका दर्शन करता है। संत तुकारामका स्पष्टीकरण है—

धर्म भूताची ते दया, संत कारण ऐसिया।
नव्हे माझें मत, साक्षी करूनि सांगे संत॥

इसका आशय यह है कि 'प्राणिमात्रपर दया करना धर्म है। यह संतका लक्षण है। यह मेरा ही मत नहीं है, साक्षी करके संत ऐसा कहते हैं।' समदृष्टिवाला मानव तो जीवित ही मुक्त है। सांसारिक प्रपञ्चसे समदृष्टि मानवताके उज्ज्वलतम प्रतीकोंमें-से एक है। समताकी भावनासे प्राणीमें नैसर्गिक मानवताका अवतरण होता है, उसके लिये शाश्वत शान्तिका दरवाजा खुल जाता है। महात्मा शंकरदेवकी मानवता कहती है—

माई मुखे बोला राम, हृदय धरा रूप।
एतेके मुकुति पइबा, कहिलो स्वरूप॥

संतोंकी कसौटीपर भगवन्मय जीवन ही मानवता है। सर्वस्व भले ही जाय, पर भगवान्‌को कभी न छोड़नेकी ही सीख संतोंने दी है। वृन्दावनके परम रसिक संत स्वामी हरिदासकी चेतावनी है—

जौ लौं जीवै तौ लौं हरि भजि, रे मन। और बात सब बादि।

सार बात यह है कि 'समस्त लौकिक आश्रयका त्याग करके भगवान्‌के ही शरणागत होना चाहिये।' यही मानवता है, ऐसा करनेवाला ही मानव है। रसिक वैष्णव चण्डीदासकी उक्ति है—

सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाई।
'सबके ऊपर मनुष्य सत्य है, उसके परे कोई नहीं है।'

इसका यह आशय है कि भगवत्तत्त्वकी सर्वोत्कृष्ट अनुभूति मानवताके ही धरातलपर हो सकती है। भगवद्भक्ति ही वास्तविक मामवता है। संतोंकी कसौटीपर इस भक्तिमूल मानवताकी वकालत पाश्चात्त्य संत टामस ए० कैम्पीने की है—'जो प्रभुको प्राप्त कर लेता है, वह संसारका सर्वोत्कृष्ट धन और वैभव पा जाता है। जो प्रभुको खो देता है, वह सब कुछ खो देता है। प्रभुमें अवस्थित होना ही (मानवकी) सच्ची भक्ति है। प्रभुकी भक्ति-प्राप्ति ही वास्तविक मानवता है।' संतोंकी कड़ी कसौटीपर राजस्थानकी साकार भक्ति-मन्दाकिनी राजरानी मीराँकी सार्वजनिक चेतावनी है—

नहिं ऐसो जनम बार बार ।
का जानूँ कछु पुन्य प्रकटे मानुसा अवतार ॥
बढ़त छिन छिन घटत पल पल, जात न लागे बार ।
विरछ के ज्यों पात टूटै, बहुरि न लागै डार ॥
भवसागर अति जोर कहिए, अनँत ऊँडी धार ।
रामनामका बाँध बेड़ा उतर परले पार ॥
× × × ×
साधु संत महंत ग्यानी चलत करत पुकार ।
दासी 'मीराँ' लाल गिरधर जीवणा दिन चार ॥

संसार नश्वर है, इसके प्राणियों एवं पदार्थोंमें अनासक्त रहकर परमेश्वरकी प्रेमप्राप्तिमें प्रयत्नशील रहना मानव-धर्म—मानवता है। निरे—केवल संसारसे आसक्ति मानवको दानव बना देती है, संसारको परमेश्वरमय समझकर उसमें रमनेवाली वृत्ति मानवको देवतासे भी बड़ा बनानेमें सहायक होती है। ऐसा मानव सदा अपने स्वरूपका अनुसंधान करता रहता है और सब लोगोंमें रहकर भी उनसे अलग ही रहता है। स्वरूपपर दृष्टि पड़ते ही उसकी सांसारिक चिन्ताएँ 'नौ दो ग्यारह' हो जाती हैं, उसमें अध्यात्म निरूपणके प्रति ममता पैदा होती है, वह भगवान्‌का हो जाता है। सारी सृष्टिमें उसे भगवान्‌का दर्शन होने लगता है; उसके समस्त कर्म भगवान्‌की पूजा और प्रसन्नताके उपकरण बन जाते हैं। संत-वाणी साक्षी है, संत नामदेवका कथन है—

माई रे, इन नैननि हरि देखौ ।
हरिकी भगति साधकी संगति, सोई दिन धनि लेखौ ॥
चरन सोइ जे नचत प्रेम सूँ, कर जो करै नित पूजा ।
सीस सोइ जो नवै साध कूँ, रसना अवर न दूजा ॥
यह संसार हाटका लेखा, सब कोइ बनिजहिं आया ।
जिन जस लादा, तिन तस पाया, मूरख मूल गँवाया ॥
आतमराम देह धरि आया, तामें हरि कूँ देखौ ।
कहत 'नामदेव' बलि बलि जैहों, हरि भजि और न लेखौ ॥

संतोंका संदेश है कि यह शरीर अनित्य है, धन स्थिर नहीं है, मृत्यु सिरपर नाचती है; इसलिये अनवरत परमेश्वरमय जीवनका ही वरण करना मानवताका प्राणधन है। मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। बार-बार नर-देहकी प्राप्ति नहीं होती। मानव-जीवन भगवद्भावसे ही संयमित और मर्यादित रहता है। मानवकी पहिचानके सम्बन्धमें संत कबीरका स्पष्ट निर्देश है—

हद चलै सो मानवा, बेहद चलै सो साध ।
हद बेहद दोनों तजै, ताका मता अगाध ॥

'हद' में मानवके चलते रहनेका आशय यह है कि वह परमेश्वरके चरणोंमें आत्मसमर्पण करे। 'बेहद'का आशय संतके मनमें भगवत्प्रेमकी अतिशयता है। निवृत्तिका वरण करना संतके 'बेहद' जीवनका परिचायक है, प्रवृत्तिका संयमित पथ मानव-जीवन है, निवृत्ति-प्रवृत्तिसे अतीत जीवन किसी विरले आत्मतत्त्वज्ञके भाग्यमें पड़ता है। जर्मन संत जेकब ब्यूहका कथन है कि जिस पुस्तकमें सारे रहस्य भरे पड़े हैं, वह मानव ही है; वह समस्त प्राणियोंके प्राणदेवता परमेश्वरका ज्ञान-साहित्य है, वह ईश्वरकी उपमाका प्रतीक है। यह नितान्त असंदिग्ध है कि पवित्र हृदयवाले मानवमें, जिसकी भावनाएँ प्रेमसे मधुर रहती हैं, जिसके विचार स्वार्थके वातावरणसे दूर रहते हैं, परमेश्वर निवास करते हैं और उसे अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपसे स्निग्ध करते रहते हैं।

यह निश्चित है कि मानवताके लिये परम कल्याणमय मार्ग यही है कि वह भगवत्प्रकाशसे सदा सम्पन्न रहे। आत्मज्ञान, सर्वहित, सर्वात्मबोध, शान्ति-प्राप्तिसे वास्तविक भगवद्भजनकी योग्यता पाकर मानवका परमात्माके प्रेम-सागरमें निमग्न हो जाना संतोंकी कसौटीपर मानवताका निष्कण्टक पथ है। संत समर्थ रामदासने मनको सीख दी है—

मना सज्जना भक्तिपंथेचि जावें। तरी श्रीहरी पाविजे तो स्वभावें।
जनीं निंद्य तें सर्व सोडूनि द्यावें। जनी वंद्य तें सर्वभावें करावें॥

हे मन! तुम भक्तिमार्ग स्वीकार करो, इससे सुगमतापूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति होगी। जन-समाजमें जो निन्दनीय है उसका त्याग करो, वन्दनीयका ग्रहण करो। प्रत्येक मानवके लिये भगवद्भक्तिका वरण ही संतोंकी कसौटीपर निष्पक्ष मानवता है।

मध्ययुगीन संतोंका मानवतावादी दृष्टिकोण

(लेखक—डॉ० श्रीत्रिलोकीनारायणजी दीक्षित, एम्०ए०, पी०एच्०डी०, डी०लिट्०)

साहित्य और समाज एक दूसरेसे अभिन्न हैं। दोनों अन्योन्याश्रित और मानवके हितैषी हैं। साहित्य समाजका उन्नायक है। वह समाजका दर्पण है। समाजकी विकासशील एवं पतनोन्मुख प्रवृत्तियोंका सही-सही विवरण यदि कहीं मिल सकता है तो साहित्यमें ही। साहित्यका सबसे बड़ा, सबसे विशाल और सबसे प्रथम प्रयोजन है मनुष्य। मनुष्य या समाजको लेकर, उसकी समस्याओंको ग्रहण करके ही साहित्यकी रचना की जाती है। जो साहित्य कल्पनालोककी सुकुमारियोंको लेकर रचा जाता है, उसकी जीवनके लिये क्या उपयोगिता हो सकती है। साहित्य वही है, जिसमें मानव-जीवन या समाजके हितकी भावना संनिहित हो। प्राचीन संस्कृतका (चाहे वह वेद हो या उपनिषद्) सबसे बड़ा प्रयोजन मनुष्य है। मनुष्य कल्याण-पथपर अग्रसर हो, वह उन्नति करे, उसे सब पुरुषार्थ प्राप्त हों—यही इसका लक्ष्य या प्रयोजन था। इस साहित्यमें आदि-अनादि ब्रह्मसे बारंबार निवेदन किया गया है कि 'हे परमपिता! धरतीपर अन्न और दूधकी प्रचुरता करो, जिससे मानव पुष्ट, सुखी और बलवान् हो; वह स्वस्थ होकर धर्ममें अनुरक्त हो।' उपनिषदोंमें भी इसी मानवतावादी दृष्टिकोणकी प्रधानता है। उदाहरणार्थ—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

संस्कृत-साहित्यकी समस्त मानवतावादी भावना निचुड़कर निम्नलिखित दो पंक्तियोंमें समाविष्ट हो गयी है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

अर्थात् समस्त समाज सुखी हो, सभी व्यक्ति स्वस्थ और रोगरहित हों। सबको कल्याण प्राप्त हो। संसारमें कोई दुखी न हो।

मध्ययुगीन सगुण भक्त गोस्वामी तुलसीदासजीका साहित्य मानवतावादी भावनाओंसे ओतप्रोत है। उनके काव्यमें 'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥' तथा 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।' आदि अनेक वचन हैं, जिनके द्वारा उनकी मानवतावादी भावना प्रत्यक्ष होती है। काव्यादर्श निर्धारित करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥' अर्थात् साहित्य वही है, जो सुरसरिके समान सबको सुखदायक हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक साहित्यसे लेकर आजतक साहित्य कहाँतक मानवतावादी दृष्टि या लक्ष्यको लेकर अग्रसर हुआ है। भारतीय साहित्य मानवताके उत्थानमें सदैवसे प्रयत्नशील रहा है। यह प्रवृत्ति १३वीं शताब्दीसे लेकर १८वीं शताब्दीके मध्यतक आविर्भूत संत कवियोंमें बड़ी प्रबल थी। संतोंका आविर्भाव उस युगमें हुआ जब कि देश उत्तर-पश्चिमसे होनेवाले आक्रमणोंसे अत्यधिक पीड़ित था। हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति, भारतीय सभ्यता और भारतीय साहित्यके लिये यह समय संकटसे पूर्ण था। विनाश, विभ्रम, विच्छेद और विभङ्गका बोलबाला था। मानव-समाज प्रतिकार, प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसाकी होलीसे दग्ध होकर विनाशके गर्तकी ओर अग्रसर था। समाज इतना पतित और भ्रष्ट हो गया था कि भूत-पिशाच-पूजाके साथ नरबलि और पशुबलिकी प्रथा प्रचलित हो गयी थी। देशका सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन विनष्टप्राय था। ऐसे समयमें युगप्रवर्तक रामानन्दका आशीर्वाद ग्रहण करके संत कवि कबीरदास मानवके सामाजिक और धार्मिक जीवनको समुन्नत बनानेके लिये आगे बढ़े। कबीरने इस दिशामें वह परम्परा स्थापित की, जिसका अनुसरण एक-से-एक प्रतिभाशाली साधक एवं कवियोंने किया। कबीरने स्पष्ट और तीव्र स्वरमें दोषोंमें अनुरक्त जनताकी कटु आलोचना की। मानवको विनाश, शोषण और दमनके चक्रसे उन्मुक्त करने, असमानताके अभिशापसे बचाने और उसे मानवोचित अधिकार देनेके लिये संत कवि कबीरने मानव-समाजको जीवनका सही और सच्चा मार्ग दिखानेका यत्न किया। कबीर जनताके सच्चे हितैषी थे। निम्नलिखित साखीमें जनताके हितकी भावना कितनी घनीभूत हो उठी है—

कबिरा खड़ा बजारमें चाहत सबकी खैर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर॥

सर्वहितकी भावनाका विकास ही मानवतावादकी चरम सीमा है। इस भावनाका विकास या जन्म तभी सम्भव हो सकता है, जब समदृष्टि व्यापकरूपसे हृदयमें स्थान कर ले। कबीर बड़ी विनम्रताके साथ स्वीकार करते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, जगमें बुरा न कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

इस प्रकारकी भावनाके विकासके साथ जीवनकी दिशा 'स्व' से हटकर 'पर' में केन्द्रीभूत हो जाती है। तभी मनुष्य मानवतावादी हो भी सकता है। कबीर दूसरेके दुःखको देखकर दुखी हो उठते हैं। संसार मायामें अनुरक्त है, त्रिविध तापोंसे पीड़ित है, कालके मुखका चबेना बना हुआ है, फिर भी वह मिथ्या सुखमें भूला हुआ है। ऐसे व्यक्तियोंकी मङ्गलकामना करनेवाला कबीर रुदन कर उठता है—

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै॥
(सं० बा० सं० भाग, पृ० १६)

कबीरकी उपदेशात्मक बानियोंमें मानवतावादी भावना भरी पड़ी है। वे मानवको पूर्ण विकसित दशामें देखना चाहते थे। इसीलिये उसके हीन पक्षोंकी आलोचना करके उसे इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे छुटकारा दिलानेके लिये वे सदैव लालायित एवं उत्सुक रहा करते थे। कभी वे काँटा बोनेवालेके मार्गमें फूल बोनेका[1] उपदेश देते हैं तो कभी 'दुर्बलको पीड़ित न करनेके लिये निवेदन करते हैं'।[2] कबीर दूसरेको ठगनेकी अपेक्षा अपनेको ठगानेमें अधिक विश्वास करते हैं। कारण, दूसरेको कष्ट न हो।[3] शीतल बानी विश्वमैत्रीका प्रथम स्तर है।[4] इस संसारमें कोई पराया नहीं है। सब एक ही आत्माके अंश हैं। फिर किससे वैर और किससे मित्रता की जाय? कबीरकी मानवताका आधार है—दया, क्षमा और विश्वबन्धुत्व।[5]

कबीरके समान संत दादू भी मानवतावादी हैं। उनकी मानवतावादी भावनाका प्रसार पशु-पक्षियोंतक हुआ है।[6] अहंताको मिटाकर रामनाममें लगना चाहिये, शीघ्र जग जाना चाहिये; क्योंकि मानव-जीवनका सुअवसर बीता चला जा रहा है। दादूकी निम्नलिखित पीयूषवर्षिणी साखीमें मानवताको विकसित करनेवाले कितने सुन्दर भाव व्यक्त हुए हैं[7]—

किस सौं वैरी है रह्या, दूजा कोई नाहिं।
जिसके अँग थैं ऊपज्या, सोई है सब माहिं॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ९५)

दादूदयालकी साखीमें व्यक्त यह भाव गोस्वामी तुलसीदासके 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध' से कोई अन्तर नहीं रखता है।

हिंदीके संत कवियोंमें कबीरदास और मलूकदास श्रेष्ठ मानवतावादी हैं।

मलूककी विचारधारामें दयाको प्रथम स्थान दिया गया है।[8] दयासे विहीन मानव न मानव है, न पीर न पैगम्बर, वरं काफिर है—

---

१. जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।
तोहि फूलको फूल है, वाको है तिरसूल॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ४४)

२. दुरबलको न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीवकी साँससे, लोह भसम है जाय॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ४४)

३. कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख होत है, और ठगे दुख होय॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ४४)

४. ऐसी बानी बोलिए, मनका आपा खोय।
औरनको सीतल करै, आपहुँ सीतल होय॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ४५)

५. जगमें बैरी कोइ नहीं, जो मन सीतल होय।
या आपाको डारि दे, दया करै सब कोय॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ४५)

६. हरि भजि साफल जीवना, पर उपगार समाइ।
दादू मरणा तहँ भला, जहँ पसु पंखी खाय॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ७८)

७. आप पर सब दूरि करि, रामनाम रस लागि।
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ७९)

८. कुंजर चींटी पसु नर सबमें साहब एक।
काटै गला खुदायका, करै सूरमा लेख॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० १०३)

मलूका सोई बीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ९९)

मलूककी मानवतावादी भावनाका प्रसार जड, चेतन एवं वनस्पति-जगत्‌में समानरूपसे हुआ है। वे कहते हैं—

हरी डार ना तोड़िये लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहैं, अपना-सा जिव जान॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० १०४)

प्रस्तुत साखीकी अन्तिम पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। कविका कथन है जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जानता है, वही विज्ञ है, वही पण्डित है, वही तत्त्वज्ञ है। जिसने परमात्माको पहचान लिया है, वही श्रेष्ठ है, वही पूज्य है।[1]

कबीर और मलूकके समान संत धरनीदासको भी अपनेसे पृथक् और भिन्न कोई नहीं दिखायी देता। जब कोई गैर या बेगाना है ही नहीं, तब फिर किसे आशिषसे शीतल और किसे अभिशापसे संतप्त किया जाय[2]। मारवाड़वाले दरिया साहबके मतसे शरीरको तप आदिके द्वारा कष्ट देना बड़ा अन्याय और मानवताविरोधी भावना है[3]। दूलनदासके अनुसार वही बड़ा है, जो गरीबों और क्षुधासे पीड़ितोंको भोजन देता है[4]। पलटू साहब संसारकी अनीति[5] एवं कपट-व्यवहारको[6] देखकर अत्यधिक दुखी हैं। पलटूका मानवतावादी दृष्टिकोण ही उन्हें इस दुःखसे पीड़ित कर देता है।

सब मनुष्य एक ही कलाकारकी कृतियाँ हैं। फिर अन्तर और भेदकी दृष्टि निस्सार है। एक ही ब्रह्म या आत्मा सर्वत्र रम रहा है। मानवतावादी भावनासे अनुप्राणित होकर ही संतोंने अद्वैत ब्रह्मकी इस एक सत्ताकी स्थापना की और भेदको मिटानेका उपदेश दिया था।

संक्षेपमें संत कवि बड़े ही उदार और मानवतावादी थे।

दया

दया दिलमें राखिये, तूँ क्यों निरदय होय। साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय॥
दया सबहि पर कीजिये, तू क्यों निरदय होय। जाकी बुद्धी ब्रह्म में सो क्यों खूनी होय॥
अंकुर भखै सो मानवा, माँस भखै सो स्वान। जीवित जिउ मुरदा करै सो राक्षस परमान॥
मांस-अहारी राक्षसा, यह निश्चै कर जान। ताका संग न कीजिये होय भक्ति में हान॥
जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहाँ पाप। जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ क्षमा तहँ आप॥
—कबीर

१. सब पानीकी चूपरी, एक दया जग सार। जिन्ह पर आतम चीन्हिया, तेही उतरे पार॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० १)

२. धरनी काहि असीसिये, (औ) दीजै काहि सराप। दूजा कतहुँ न देखिये, सब घट आपै आप॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० ११६)

३. दरिया सो सूरा नहीं, (जिन) देह करी चकचूर। मनको जीति खड़ा रहै, मैं बलिहारी सूर॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० १३०)

४. दूलन छोटे वै बड़े, मुसलमान का हिंदु। भूखे देवैं मौरियाँ, सेवैं गुरु गोबिंदु॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० १३९)

५. पलटू मैं रोवन लगा, जरी जगतकी रीति। जहँ देखौ तहँ कपट है, का सों कीजै प्रीति॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० २२२)

६. मुँह मीठो भीतर कपट, तहाँ न मेरो बास। काहू से दिल ना मिलै, (तो) पलटू फिरै उदास॥
(सं० बा० सं० भाग १, पृ० २२२)

मानवताका संरक्षण करनेवाली दैवी-सम्पदा	मानवताका विनाश करनेवाली आसुरी-सम्पदा
फल—भगवत्प्राप्ति या मोक्ष	फल—बन्धन—नरक और बुरी योनिकी प्राप्ति
अभय	दम्भ
अन्तःकरणकी शुद्धि	दर्प
ज्ञान-ध्यानमें स्थिति	अभिमान
दान	क्रोध
दम	परुषता
यज्ञ	अज्ञान
स्वाध्याय	शौचविहीनता
तप	आचारविहीनता
आर्जव	असत्य
अहिंसा	काम
सत्य	उग्रकर्म
अक्रोध	मन्दकर्म
त्याग	मद
शान्ति	मान
अपैशुन	मोह
दया	दुराग्रह
निर्लोभता	अशुचि-व्रत
मृदुता	चिन्ता
लज्जा	आशा
अचपलता	भोगलिप्सा
तेज	शत्रुता
क्षमा	अनेक-चित्तता
धृति	धनाभिमान
शौच	अहङ्कार
अद्रोह	द्वेष
मानका अभाव	वैर
	क्रूरता
	परदोषदर्शन
	आसक्ति
	ममता

गोलियोंका कोई असर नहीं

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे अंत चले उठि रीते ॥

सारे विश्वमें स्वर्ग-पाताल सर्वत्र आतङ्क फैला देनेवाले सहस्रबाहु, रावण, हिरण्यकशिपु सभी कालके गालमें चले गये ! फिर आजके इन अल्पशक्ति, अल्पायु लोगोंकी तो गिनती ही क्या है ? ये सदा सबपर गोली ताने ही रहते हैं—समझते हैं हम सभीको अपनी गोलीका शिकार बना लेंगे । परंतु दुर्दान्त कालपर इनकी गोलियोंका कोई असर नहीं होता, वह सदा अपना पंजा फैलाये रहता है और समय आते ही दबोचकर काम तमाम कर देता है । सारी योजना, व्यवस्था, सारी शक्ति-सामर्थ्य सर्वथा असफल हो जाती है इसके सामने । आजका सैनिक-सज्जापूर्ण विज्ञान-दर्पधारी असुर-मानव विश्व-विध्वंसकारी शस्त्रोंको हाथमें लिये कालको भी निशाना बनानेकी डींग हाँक रहा है; पर कालकी क्रूर दृष्टि लगी है उसकी ओर । बचनेवाले देखेंगे कि असुर-मानव अपने सारे मनोरथों-सहित ध्वंस हो गया ।

काल फिरे सिर ऊपरे हाथों धरी कमान ।
कबीर गहु हरिनामको छाँड सकल अभिमान ॥

गरब हिमाकत मैं भरयौ करयौ न नेक विचार ।
सब कछु पल मैं गल गयौ सोयो पाँव पसार ॥
काहू वै समुझ्यौ न कछु रह्यौ तान बंदूक ।
काल पलकमैं खा गयो बंद रही संदूक ॥

युद्ध और शान्ति

युद्ध—तुमने इन सब मेरे कामकी चीजोंको तिजूरीमें क्यों बंद कर रखा है? ये सब तो मेरे जीवनकी सफलताके लिये आवश्यक सामग्री हैं। मेरे जीवनकी सफलतासे ही जगत्में सुख होगा। अतएव तुरंत इसकी ताली मुझे दे दो। अणु-शक्तिसे बम बनेंगे, विज्ञानसे शीघ्रातिशीघ्र अधिक-से-अधिक मानव-संहारका उपाय सोचा जायगा। स्वर्ण तो सब कामोंके लिये आवश्यक है। पेट्रोलसे वायुयान जाकर बम बरसायेंगे। लड़ाईके सामान ढोनेमें सहायता मिलेगी। दवा—बमसे झुलसे हुए अपने पक्षके लोगोंके काम आयेगी। अन्नसे सैनिकोंका पेट भरेगा। तेलसे जीवनमें स्नेह दिया जायगा। निकिल, अभ्रक, कोयला, मेंगनीज आदि चीजोंकी मेरे जीवनके सहायक-साधनके रूपमें अनिवार्य आवश्यकता है। अतएव इन सबके भंडारकी चाभी मेरे सुपुर्द कर दो।

शान्ति—भाई! तुमने तो जगत्के प्राणियोंके, मानव-सभ्यताके नाशका बीड़ा उठाया है। ये सब चीजें तुम्हें मिल जायँगी तो तुम अत्यन्त प्रबल होकर शीघ्र सबका नाश करोगे। यह सब सामान तो मानवताकी रक्षा या मनुष्यके मङ्गलके लिये है। इसीसे मैंने इसको सुरक्षित रख छोड़ा है। तुम्हें देना तो इन उपयोगी वस्तुओंका सर्वथा दुरुपयोग करना है!

युद्ध और शान्ति
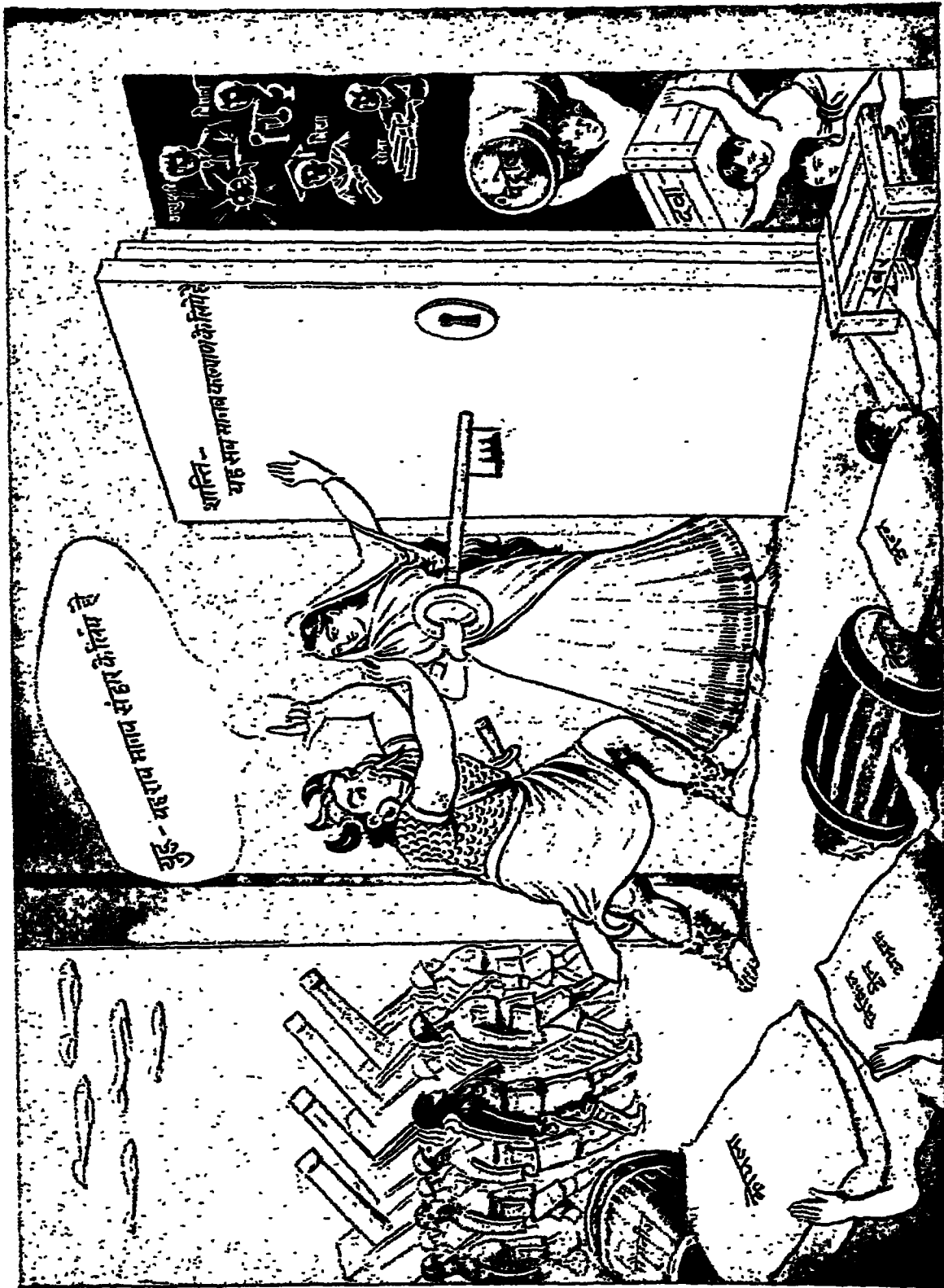
संतोंका मानवतावाद

(लेखक—श्रीमती डॉ० सावित्री शुक्ल एम्० ए०, एल्०एल्०, पी-एच्०डी०)

संतोंके मानवतावादपर विचार करनेके पूर्व मानवतावादकी स्पष्ट व्याख्या कर लेना आवश्यक है। 'मानवतावाद' शब्दका प्रयोग सर्वप्रथम सोलहवीं शताब्दीमें हुआ। परंतु इतिहासके पृष्ठोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि सोफिस्ट सर्वप्रथम मानवतावादी थे। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि एक दूसरेके प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार संस्कृति एवं सभ्यताके लिये ही नहीं, अपितु जीवनके लिये बहुत ही आवश्यक तत्त्व है। ग्रीक दार्शनिकों एवं विचारकोंने सॉक्रेटीज़का उल्लेख किया है। सॉक्रेटीज़ने यह आवश्यक माना है कि मनुष्यके लिये सर्वप्रथम अपनेको समझना या जानना आवश्यक है; कारण कि आत्मविश्लेषणके बिना हम दूसरेके दुःख-कष्टको नहीं समझ सकते। जिस बातसे हमें कष्ट होता है, वही दूसरेके लिये भी कष्टदायक हो सकती है। जो हमारी वेदनाका आधार है, वही दूसरेके लिये भी करुणा बन सकती है। अतः हमें पहले अपने-आपको समझना चाहिये। इस प्रकार मानवतावादकी प्रथम सीढ़ी है आत्म-विश्लेषण, आत्मचिन्तन, आत्मविवेचन। इसी प्रकार अन्य दार्शनिकों एवं विचारकोंने मानवतावादके विषयमें अपने विचारोंको प्रकट किया है; परंतु सोफिस्टोंकी विचारधारा सबके चिन्तनका स्रोत है।

भारतीय दर्शनके इतिहासमें मानवतावादके चिन्तन और विश्लेषणका सर्वोत्तम समय था—उपनिषत्-काल। भारतीय दार्शनिकोंने भी आत्मज्ञान और आत्मविश्लेषणपर बहुत जोर दिया। आत्मज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करना मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य समझा जाता था।

इस प्रकार आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े दार्शनिकोंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की और अपने विचारोंके प्रसारके लिये अथक परिश्रम किया। सम्राटों और शासकोंके दरबारमें विद्वान् एवं ज्ञानी पुरुष ज्ञान-प्राप्तिकी चर्चाके लिये तदनुसार वातावरणका प्रसार करके मानवतावादका उपदेश दिया करते थे। उनके चिन्तन और चर्चाका विषय होता था ज्ञान एवं 'मानवतावादी विचार।'

इसमें संदेह नहीं है कि वह मानवतावादी दृष्टिकोण, जिसका प्रचार भारतीय दार्शनिकोंने समय-समयपर किया था, एक बड़े भारी कल्याणकारी वातावरणके प्रसारमें अत्यधिक सहायक हुआ। इस विचारधाराने एक ऐसे वातावरणकी सृष्टि की, जहाँ मानव-हृदयसे मानवके प्रति सहानुभूतिका स्रोत प्रस्फुटित हो उठा और एक दूसरेको समझनेमें सहायता पहुँची। मानवतावादके प्रचारमें उपनिषत्-साहित्य एवं तत्कालीन दार्शनिकोंने बड़ी सहायता प्रदान की। इस दृष्टिसे उपनिषत्-काल मानवतावादके प्रचारके लिये सबसे उत्तम समय माना जाता है।

मानवकी शाश्वत सुख-विषयक लालसा उसके अमृतत्वमें ही संनिहित रहती है। मानवके सुखका लक्ष्य या उद्देश्य शारीरिक सुख या भौतिक सम्पत्तिकी प्राप्ति ही नहीं होता, वरं इसके अतिरिक्त कुछ और भी है, जो मानवको अपनी ओर आकर्षित करनेकी क्षमता रखता है और वह है 'सत्य' और उसकी प्राप्ति। भौतिक सम्पत्ति और भौतिक सुखके आनन्दसे मानवका चित्त कभी-न-कभी उचट जाता है; परंतु 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के सांनिध्य और नैकट्यमें रहकर मानवका मन कभी भी विकृत नहीं होता। वास्तवमें मानव-जीवनका चरम उद्देश्य या लक्ष्य है—चिर-सत्यकी प्राप्ति करना। मानवके आत्माकी उन्नति तभी हो सकती है, जब उसका समस्त जीवोंपर समान स्नेह हो और जब सांसारिक वस्तुओंमें आसक्ति न हो। भारतीय दार्शनिकोंने बारंबार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।' का उपदेश दिया है। हमारी चिन्तनधारा सदैवसे इस बातपर जोर देती रही है कि दूसरेको 'आत्मवत्' समझना चाहिये। दूसरेके कष्टों, व्यथाओं और दुःखोंको अपनी अनुभूति बनाना चाहिये। इस उदार दृष्टिकोणने भारतीय जीवनके समस्त कलुषोंको धोकर उसे निर्मलता प्रदान करनेका प्रयत्न किया। कहना न होगा कि इस दृष्टिने भारतीय जीवनमें दिव्यताका संचार किया और उसे उदात्त बनानेमें अपूर्व योग प्रदान किया।

मानवतावादका आधारभूत या मूल सिद्धान्त है समस्त प्राणियोंको 'आत्मा' से भिन्न न समझना, समस्त जीवोंमें दया-भावका समानरूपसे प्रसार करना, सबकी दुःख-विषयक अनुभूतिको आत्मानुभूति बनाना। इसका प्रमुख कारण यह है कि सबका मूल तथा रचयिता एक ही है। एक ही अंशीके

सब अंश हैं, फिर मानव-मानवके बीच यह विरोध कैसा । न कोई बड़ा है न कोई छोटा, न कोई उच्च है न कोई नीच । एक ही ईश्वरने सबको जन्म दिया है । सब समान हैं । केवल कर्मसे ही मनुष्य कुछ भी बन सकता है ।

संत कवियोंने भी जाति-पाँतिको निस्सार बताया है । संत दादूका कथन है—

जे पहुँचे, ते कहि गये, तिनकी एकै बात ।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जात ॥

संत कबीरके मतानुसार—

जाति न पूछो साध की, पूछो उसका ग्यान ।
मोल करो तलवारका, पड़ी रहन दो म्यान ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय मानवतावादकी पृष्ठभूमि आध्यात्मिकता ही है । यही कारण था कि विदेशियोंके भीषण आक्रमणोंसे भी भारतीय योगियोंकी शान्ति भङ्ग नहीं हुई । उनके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि बिना किसी विघ्न-बाधाके चलते रहे । वे बाह्य संसारको छोड़कर ध्यानावस्थित हो आभ्यन्तरिक साधनामें संलग्न रहे । आत्माकी स्वतन्त्रताके आगे देशकी स्वतन्त्रताका महत्त्व उनके मनमें न बैठ सका ।

मध्य-युगमें जब कि उत्तर-पश्चिमसे अनवरत आक्रमण हो रहे थे, जब कि भारतीय धर्म, साहित्य एवं संस्कृति अत्यधिक संकटपूर्ण परिस्थितियोंमें साँस ले रहे थे और जब कि निराशा-तिमिर भारतीय जनताको विनाशके गर्तकी ओर उत्तरोत्तर अग्रसर कर रहा था, उसी समय संत कवियोंने अपनी मधुर वाणीसे जीवोंकी समता और एकताका संदेश दिया ।

युग-प्रवर्तक रामानन्दसे प्रेरित और अनुप्राणित होकर संत कबीरदासने मानवतावादी विचारधाराका प्रचार एवं प्रसार करनेका प्रयत्न किया । इतना ही नहीं, उन्होंने भारतीय चिन्तनधारामें एक नवीन परिच्छेद प्रारम्भ किया, जिसके द्वारा समानताकी भावनाको प्रसार मिला । कबीरदासने एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया, जिसपर उनके अनन्तर आविर्भूत अन्य संत नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, चरणदास आदिने चलकर समताका उपदेश भारतीय जनताको समय-समयपर सुनाया । इनकी प्रेरणासे हिंदीके ज्ञानाश्रयी भक्त कवियोंकी एक शाखा चल पड़ी । ये संत सभी जातियोंके थे, इनकी मूल भावना थी— 'हरिको भजे सो हरिका होई ।' इन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें ललकार कर कहा कि 'सभी एक ही ब्रह्मकी कृतियाँ हैं । सभी एक ही कुम्हारकी रचना हैं, भेद-भाव तो मनका मैल है, संतोंने स्पष्ट रीतिसे कहा—

साधो ! मनका मल त्यागो ।

तथा—

ऊँच नीच सब गोरख धंधे
सब हैं उस अल्लाहके बंदे ।

हिंदीके निर्गुण संत कवियोंका लक्ष्य बड़ा ही व्यापक था । इन्होंने जीवोंके निस्तारके लिये उच्च आदर्शोंके उपदेश दिये । मानवको कल्याणकारी पथपर अग्रसर करना ही इनका सबसे बड़ा लक्ष्य था । इन संतोंके हृदयमें व्यथितके हेतु सहानुभूति एवं समवेदनाकी भावना थी । वे संसारको सुखी और प्रसन्न देखना चाहते थे । इसी कारण संत कवियोंने मानवकी आर्थिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक—सभी दशाओंको सुधारनेकी चेष्टा की । ये संत मानवताको सदा ही श्रृङ्खलाओंसे उन्मुक्त देखना चाहते थे और भविष्यमें एक स्वस्थ एवं आशापूर्ण दृष्टिकोणके आकाङ्क्षी थे । यह मानवतावादी दृष्टिकोण संतोंके साहित्यमें ओतप्रोत है । एक भी ऐसा संत नहीं है, जिसका दृष्टिकोण मानवतावादी न रहा हो । मानवके आध्यात्मिक और लौकिक जीवनको सुखी बनानेके हेतु इन संत कवियोंने बारंबार सन्मार्ग एवं कल्याणकारी पक्षकी ओर जनताका ध्यान आकर्षित किया । इन्होंने पारमार्थिक सत्ताकी एकता निरूपित करके यह प्रतिपादित किया कि मानव-मानवमें ही नहीं, जीवमात्रमें भेद नहीं है । सब प्राणी एक ही कलाकारकी कृतियाँ हैं । माया—भ्रम अथवा अज्ञानके कारण हम सत्यको नहीं देख पाते । सत्य ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही सत्य है । उसमें द्वैत नहीं है । वह पूर्णतया अद्वैत, अनाम, अजात, अमर और अनन्त है । संसारका कोई भी कार्य उसकी इच्छाके बिना सम्पादित नहीं होता । वह सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है । उस ब्रह्मको लेकर जो भेदभाव चलते हैं, वे निरी मूढ़ताके द्योतक हैं । अज्ञानका विसर्जन करके, मूढ़ताका परित्याग करके प्रेम, सद्भावना और सहृदयताका प्रसार न केवल व्यक्तिगत जीवनके लिये वरदान है, वरं समाजके उत्थान और विकासके लिये भी नितान्त आवश्यक और उपयोगी है । सद्भावनाके प्रसारसे मनुष्यके जीवनमें औदार्य, स्नेह, करुणा, प्रेम, त्याग तथा विश्वबन्धुत्वकी भावनाओंका स्वतः विकास हो जाता है, जो मानवके लिये नितान्त आवश्यक है ।

मानवतावाद संतोंकी सबसे बड़ी विशेषता है । कबीर-जैसे उदार संत कवि संसारमें प्राणिमात्रको सुखी देखनेके

आकाङ्क्षी थे। मानवतावादकी पराकाष्ठा मलूकदासके साथियोंमें उपलब्ध होती है। संत संसारभरके दुःख-कष्ट और दारिद्र्यको अपने सिरपर इसलिये ले लेना चाहता है कि संसारका भार हलका हो जाय। मलूकदासने स्वतः कहा है—

> जे दुखिया संसारमें, खोवो तिनका दुक्ख।
> दलिद्दर सौंपि मलूकको, लोगन दीजै सुक्ख॥

मानवतावादसे ही प्रेरित होकर इन संत कवियोंने संसारको भाँति-भाँतिके कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करनेका प्रयत्न किया। मानवतावाद-विषयक अपने विचारोंके प्रसारके लिये संतोंने सप्त महाव्रतोंका उपदेश दिया, जिनसे मानवका व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन समुन्नत बनता है। ये सप्त महाव्रत हैं—१–सत्य, २–अहिंसा, ३–ब्रह्मचर्य, ४–अस्वाद, ५–अस्तेय, ६–अपरिग्रह, ७–अभय।

सत्य ही ज्ञान है, ब्रह्म है और संसारकी वास्तविक गति है। संतोंने सत्यके प्रति बड़ी श्रद्धा प्रकट की है। कबीरने कहा था—

> साँच बराबर तप नहीं, झूँठ बराबर पाप।
> जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥

'अहिंसा' मानवतावादकी प्राणशक्ति है। निर्गुण संत कवियोंकी अहिंसा-भावना बड़ी व्यापक है। कबीरदास तो यहाँतक कहते हैं—

> घट घट माहीं साँई रमता,
> कटुक बचन मत बोल रे।

हिंदू एवं मुस्लिम संस्कृतियोंके उग्र संघर्षकालमें, जब राज्य-प्राप्तिके लिये रुधिरकी सरिताएँ बहायी जा रही थीं, अहिंसाका उपदेश देकर संत कवियोंने निरीह जनताका मार्ग प्रशस्त किया।

इसी प्रकार संत कवियोंने ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह तथा अभयका भी महत्त्व बताया है। कारण कि ये गुण या व्रत औदार्य, विनयशीलता और व्यापक भावनाओंका सर्जन करते हैं। ये ज्ञानी संत-महात्मा नैतिक मानवतावादकी ओर ही अधिक ध्यान देते थे।

निर्गुण संत कवियोंने मानवतावादकी ओर अधिक-से-अधिक ध्यान दिया है। प्रेम, अहिंसा, सत्य, शान्ति, त्याग, क्षमा, दया, सहनशीलता ही मानवतावादके गुण हैं। इसपर संत कवियोंने समय-समयपर प्रकाश डाला है।

मानव-जीवन कैसा हो

> मानव! मानवता धारण कर, तभी सफल होगा जीवन।
> मोहावृत हो विषय-भोग-रत मत हो, व्यर्थ न खो जीवन॥
> मानवताका रूप एक ही—ईश-समर्पित हो जीवन।
> तन-मन-मति-रति हों प्रभुमें ही प्रभु-सेवामय हो जीवन॥
>
> सब जीवोंमें प्रभु-दर्शन हो, प्रभु-चिन्तनमय हो जीवन।
> राग-रोषसे रहित, सहित संतोष मधुरतम हो जीवन॥
> परनिन्दा, परदोष-कथन चिन्तनसे विरहित हो जीवन।
> पर-सुख संरक्षक, भक्षक पर-दुःख निरन्तर हो जीवन॥
>
> आशा-तृष्णा त्यागी, अति प्रभु-पद-अनुरागी हो जीवन।
> प्रभुगत चित्त, परायण प्रभुके पूर्ण निवेदित हो जीवन॥
> जग-जगमय प्रभुके दर्शन कर शान्ति-विरतिमय हो जीवन।
> प्रभुमें ओतप्रोत सर्वदा, सुखी निरतिशय हो जीवन॥

दिव्य-प्रेमके अवतार श्रीचैतन्य महाप्रभु

(लेखक—श्रद्धेय आचार्य अनन्त श्रीभक्तिविलासतीर्थजी महाराज)

चतुर्दिक् मरकत-मणिके समान हरित धानके खेतोंसे घिरा हुआ, गङ्गा और जलंगी नदीके तटपर स्थित, दौड़-धूपमें रत उन्मत्त भीड़-भाड़से दूर, श्रीचैतन्यदेवकी पवित्र जन्मभूमि श्रीमायापुर कलकत्तेसे अनतिदूर बङ्गदेशके मध्यमें ध्यान और पूजाके मौन वातावरणके बीच अवस्थित है। दिव्य प्रेमके अवतार श्रीचैतन्यदेव, १८ फरवरी, १४८६ ई० (फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा) को सूर्यास्तके उपरान्त चन्द्रग्रहणके कालमें विश्वके लिये दिव्य शान्ति और प्रेमका संदेश लेकर अपनी अतर्क्य शक्तिके द्वारा लोकचक्षुके सम्मुख आविर्भूत हुए थे।

श्रीनवद्वीपका राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अपना निजी इतिहास है। किसी समय वह नदिया नामक एक जनसंकुल नगरका मुख्य भाग था। १६वीं शताब्दीमें रचित *श्रीचैतन्य महाप्रभुकी जीवनीमें* लिखा है कि नवद्वीप एक घना बसा हुआ नगर एवं विद्याका केन्द्र था, जहाँ भारतके कोने-कोनेसे विद्यार्थी और विद्वान् लोग विद्याध्ययनके लिये जाते थे। वस्तुतः प्राचीन नवद्वीपमें भारतीय संस्कृति और शिक्षाका पुनरुद्धार और विकास होने लगा था। परंतु उस नगरके शिक्षितवर्गके जीवनमें एक भारी त्रुटि यह थी कि उनकी शिक्षामें ईश्वरके लिये कोई स्थान न था। १५ वीं शताब्दीके बंगालके धार्मिक जीवनमें पण्डितोंमें बुद्धिगत नास्तिकवाद तथा सर्वसाधारणमें भूत-प्रेतकी पूजा तथा ह्रासोन्मुख बौद्धधर्मके छोटे-छोटे देवी-देवताओंकी अन्धविश्वासयुक्त पूजा प्रचलित थी। शिक्षितवर्ग प्रायः संशयवादी और बहुदेववादी था। बुद्धिजन्य अहंकारके साथ-साथ भौतिक समृद्धिने नवद्वीपको नास्तिकवादका अखाड़ा बना दिया था। उस समय नवद्वीप एक मुसल्मान शासकके अधीन था, जो बड़ा ही अत्याचारी था।

श्रीवृन्दावनदासके द्वारा लिखित श्रीचैतन्यभागवत नामक ग्रन्थ श्रीचैतन्यके प्रारम्भिक जीवनका बड़ा सुन्दर वर्णन करता है और बहुत ही प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। श्रीवृन्दावनदास १५०७ ई० में पैदा हुए थे और श्रीचैतन्य-भागवतकी रचना श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तर्धान (१५३३ ई०) के कुछ ही दिनों बाद की गयी थी। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीकृत श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ, जिसमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनके द्वितीय और तृतीय मार्गोंका वर्णन है, उनके जीवनके अत्यन्त मनोहर युगकी अति दार्शनिक और शिक्षापूर्ण व्याख्या करता है। कवि कर्णपूरने १५७२ ई० में चैतन्यचन्द्रोदय नाटक लिखा। श्रीचैतन्यके जीवनकी अत्यन्त प्रामाणिक घटनाओंके लिये चैतन्यचन्द्रोदय नाटक, श्रीचैतन्यभागवत तथा श्रीचैतन्यचरितामृत प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं।

उनकी सुदीर्घ स्वर्णवत् दीप्त आकृति थी, छः फुटसे भी ऊँचा शरीर था और जानुपर्यन्त लंबी भुजाएँ थीं, नवजलधरकी-सी गम्भीर और गूँजती हुई वाणी थी, नुकीली नाक थी, पूर्ण चन्द्रको भी लज्जित करनेवाली मुखाकृति थी। भक्तोंके लिये वे वात्सल्यकी मूर्ति थे, तथा श्रीकृष्णको अनन्यभावसे भजते थे। सबके साथ समानरूपसे प्रेम करनेवाले थे, आत्मजयी और मानव-जातिके परम हितकारी थे; क्योंकि वे भागवत-प्रेमके अतिरिक्त और किसी पुरुषार्थकी शिक्षा नहीं देते थे। वे चन्दन-काष्ठके कङ्कण धारण करके कृष्ण-प्रेममें उन्मत्त हो नृत्य करते थे। श्रीचैतन्य-चरितामृतके द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभुका यही स्वरूप हमको देखनेके लिये मिलता है।

बाल्यावस्थामें वे निमाई पण्डितके नामसे पुकारे जाते थे। वे अपूर्व प्रतिभाशाली छात्र थे। व्याकरण-शास्त्रके वे सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। न्याय, दर्शन और अलंकार-शास्त्रमें पारंगत थे। भारतके सब पण्डितोंको पराजित करके नवद्वीपमें आये हुए केशव काश्मीरीको जब उन्होंने परास्त कर दिया, तब विश्वमें उनके अगाध ज्ञान, प्रखर प्रतिभा तथा महान् पाण्डित्यका डंका पिट गया।

पंद्रहवें या सोलहवें वर्षकी आयुमें पिताका श्राद्धकर्म करनेके उद्देश्यसे अपनी छात्रमण्डलीके साथ उन्होंने गयाकी यात्रा की। वहाँ उनकी माधवेन्द्रपुरीके शिष्य तथा भक्त वैष्णव-संन्यासी श्रीईश्वरपुरीजीसे भेंट हुई। उनसे उन्होंने मन्त्र-दीक्षा ली और वे नवद्वीपको लौट गये। उनकी धार्मिक वृत्ति इतनी प्रबल हो उठी कि नदियाके लोग इस परिवर्तनको देखकर चकित हो गये। वे अब शास्त्रार्थी नैयायिक, वाद-विवाद करनेवाले स्मार्त और समालोचक अलंकार-शास्त्री न रहे। उनकी विशुद्ध प्रेम-भक्ति बलवती होती गयी और वे

भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये अत्यन्त ही अधीर और व्याकुल हो उठे। नाम-मन्त्रके आकर्षक प्रभावसे वे इतने विह्वल हो जाते कि कभी उन्मत्त होकर हँसते, कभी रोते, कभी नाचते और कभी गाने लगते। गयासे लौटनेके बाद उनपर पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि पाण्डित्यकी शिक्षाके स्थानमें उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी। उन्होंने अपने शिष्योंके दृष्टिकोणको बदलनेकी चेष्टा की और उनको ऐसी शिक्षाके महत्त्वको हृदयंगम करने योग्य बनाया, जिससे मनुष्य भगवान्‌के साक्षात्कारके योग्य बनता है।

सारे जनसमाजके लिये, उन्होंने पहले निष्ठापूर्वक धर्माचरण करने तथा प्रेम और भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णका नाम-जप करनेका सहज संदेश दिया। केवल श्रीकृष्णका नाम-जप करनेसे सारे पाप दूर हो जा सकते हैं तथा आध्यात्मिक एवं दैवी गुणोंका विकास हो सकता है। उनकी शिक्षाके तत्त्व सार्वभौम सिद्धान्तके ऊपर आधारित हैं। वे जाति-पाँतिसे परे, भगवन्निष्ठाको महत्त्व देते हैं। इसीका यह परिणाम था कि उनके विरोधी· पंडे-पुरोहितों तथा कट्टर पण्डितों और छात्रोंने उनके भक्ति-प्रचारका हिंसात्मक प्रतिरोध किया।

श्रीचैतन्यके संकीर्तनको बंद करनेके लिये हिंदू-जनताने शहरके मुसल्मान कलक्टरके यहाँ नालिश कर दी। काजी श्रीवास पण्डितके घर गया, उसने उनका मृदङ्ग तोड़ डाला और उनके विरुद्ध निषेधाज्ञा जारी कर दी, साथ ही यह भी घोषित कर दिया कि 'जो श्रीचैतन्यके अद्भुत धर्मके अनुसार शोर करते पाये जायँगे, 'ऐसे लोगोंको दण्डरूपमें इस्लाम धर्म ग्रहण करनेके लिये बाध्य किया जायगा।' श्रीचैतन्यने उस संकीर्तन-निषेधकी आज्ञाको स्वीकार नहीं किया। उन्होंने नगरकी सड़कोंपर श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तनकी चौदह मण्डलियोंका एक जुलूस निकाला और कलक्टरसे बात करके उसके विचार बदल दिये। निषेधाज्ञा हटा ली गयी। यह प्रतिरोध सह्य नहीं हो सकता था; इसलिये उन्होंने मानव-जातिके महान् कल्याणको हेतु बनाकर, तपके द्वारा त्याग करके अपने विरोधियोंका सहयोग और सहानुभूति प्राप्त करनेका संकल्प किया। कट्टर लोग धर्मसम्बन्धी रूढ़ियोंसे चिपके रहनेके कारण इस विकासोन्मुख प्रेम-धर्मको समझ न सके। वे एक दिन शचीमाता और श्रीविष्णुप्रियाको वियोगाग्निकी ज्वालामें जलते छोड़कर वर्दवान जिलेमें स्थित कटवाकी ओर चल पड़े और वहाँ केशव भारतीसे संन्यासकी दीक्षा लेकर उन्होंने अपना नाम 'श्रीकृष्णचैतन्य' रखा।

माघ मासमें—अपने जीवनके चौबीसवें वर्षमें संन्यास लेनेके बाद उन्होंने जगन्नाथपुरीके लिये प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर वे सीधे श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें गये, दिव्य, अप्राकृत श्रीविग्रहके दर्शन किये और दर्शन करते ही भावावेशमें मूर्च्छित हो गये। पुरीमें वे श्रीनवद्वीप-निवासी विशारद पण्डितके पुत्र पण्डित सार्वभौम भट्टाचार्यके घर कुछ कालतक रहे। ये उस समयके न्याय और शांकर-वेदान्तके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे और वहाँके हिंदू-नरेश श्रीप्रतापरुद्रके आश्रयमें रहनेके लिये उत्कल प्रदेशमें चले आये थे। श्रीमहाप्रभुका इनके साथ शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें उन्होंने आचार्य शंकरके केवलाद्वैत-मतका खण्डन किया।

वहाँ उन्होंने सिद्ध किया कि आचार्य शंकरका यह सिद्धान्त कि ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है, वह अनिर्देश्य, अचिन्त्य और जीवके साथ अभिन्नस्वरूप है; असत्य और भ्रान्त है तथा श्रुति-प्रमाणके विरुद्ध है। निःसंदेह ब्रह्ममें प्राकृतिक गुण नहीं हैं; परंतु निश्चय ही वह अप्राकृतिक गुणोंसे युक्त है तथा अनन्त कल्याण-गुणगणोंकी राशि है। ब्रह्म और जीवके एकत्वमें कोई सत्यता नहीं। जीव मायाशक्तिके वशीभूत है, परंतु ईश्वर माया-शक्तिके अधिपति हैं और जीवोंके भी नियन्ता हैं, सुतरां वे ही वह मूल-कारण हैं, जिससे जगत्‌की उत्पत्ति होती है तथा जिसने जगत्‌को धारण कर रखा है। जीव ब्रह्मकी एकताका समर्थन न प्रत्यक्ष, न अनुमान और न आगम-प्रमाणके द्वारा होता है। श्रुति स्वतःप्रमाण है और सब प्रमाणोंका मूल है; इसकी प्रामाणिकताके लिये श्रुतिके सिवा अन्य किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। यह सर्वसम्मत है कि श्रुतिका प्रामाण्य निर्विवाद और सर्वोपरि है।

'जन्म और मृत्युरूप बन्धनोंसे छूटना ही जीवनका लक्ष्य है'—यह निर्विशेष ब्रह्मवादियोंका कथन ठीक नहीं है। वस्तुतः दुःखका अत्यन्ताभाव और सुखकी आत्यन्तिक प्राप्ति ही मनुष्यका चरम लक्ष्य है, और उसकी प्राप्ति भक्ति-समवेत यथार्थ परमात्म-ज्ञानके द्वारा हो सकती है।

श्रीचैतन्यके मतसे, भगवद्भक्तिके द्वारा कर्मफलकी आसक्तिसे मुक्त होना ही वेदोंका परम उपदेश है और इसीका नाम नैष्कर्म्य है।

तथाकथित सफल कर्मोंके व्यामोहमें चूर रहनेको

हम सभ्यता कहते हैं, परंतु इसके भीतरके वास्तविक तात्पर्यको हम नहीं देखते। कर्मका यथार्थ लक्ष्य भोग नहीं हैं, क्योंकि वह क्षणिक और भ्रमजनक होता है, बल्कि अन्तश्चेतनाको प्रबुद्ध करना तथा तत्त्व-जिज्ञासा ही यथार्थ लक्ष्य है।

ज्ञानके विषयमें श्रीचैतन्यके विचार स्पष्ट, गम्भीर और विशुद्ध हैं। श्रीमद्भागवत भारतीय वाङ्मयका एक प्रमुख ग्रन्थ है; उसमें ब्रह्मसूत्रोंकी श्रेष्ठ, यथार्थ और अत्यन्त निरपेक्ष व्याख्या की गयी है। ज्ञान एक और सर्वव्यापी है; एक ही अद्वैत चिन्मय तत्त्वके विभिन्न रूपोंको ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं।

दार्शनिक ज्ञान भक्तिका गौण परिणाम होता है। अविद्याशक्ति, क्षेत्रज्ञशक्ति (जीवशक्ति) तथा विष्णुशक्ति (स्वरूपाशक्ति)को लेकर ही उस अद्वय तत्त्वके तीन स्वरूप— ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—माने गये हैं और इन तीनों स्वरूपोंका साक्षात्कार ही यथार्थ तत्त्वज्ञान है। भक्तिके द्वारा ही भगवान्‌के स्वरूपकी ठीक-ठीक अनुभूति और प्राप्ति होती है। ज्ञान अनुभूतिकी अपेक्षा परोक्ष होता है। भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-साथ अनुभूति भी होती है।

श्रीचैतन्यने भारतमें दूर-दूरतक भ्रमण किया और अपने निर्भ्रान्त तत्त्वज्ञानके प्रति बहुसंख्यक लोगोंका विश्वास उत्पन्न किया। १५१२ ई० में वे दक्षिण भारतकी यात्रामें निकले। संकीर्ण सुखवाद मनुष्यके लिये गौरवकी वस्तु नहीं है। अमर जीवनपर—शारीरिक और मानसिक आनन्दपर नहीं, बल्कि अक्षय अलौकिक आनन्दपर ही मानवका जन्मसिद्ध अधिकार है। उनके इन उपदेशोंमें साधारण नवीनता देखकर लोग मुग्ध रह जाते थे। सहस्रोंकी संख्यामें लोग उनको घेरे रहते थे। उनके स्वरूपका अलौकिक सौन्दर्य सबको आकर्षित कर लेता था। वे सारी सृष्टिको आकर्षित करनेवाले आध्यात्मिक केन्द्र, श्रीकृष्णके प्रेमावतार थे। कोव्वूरमें गोदावरीके तटपर उनका राय रामानन्दसे समागम हुआ। वे उन दिनों राजा प्रतापरुद्रके साम्राज्यके दक्षिण प्रान्तके सूबेदार थे। उनसे बहुत देरतक शास्त्रचर्चा हुई, जो गौडीय वैष्णवधर्मका मूलाधार है। वहाँ उन्होंने प्रेम-धर्मके मूलभूत आध्यात्मिक तत्त्वोंकी व्याख्या की।

इसमें संदेह नहीं कि समाज ही साधन-भूमि है, परंतु उसके सामने एक समाजातीत लक्ष्य होना चाहिये; नहीं तो, वह उपयोगिताके सिद्धान्तों और व्यर्थके रीति-रिवाजोंमें फँस जायगा और मनुष्य निरन्तर बढ़ते रहनेवाले जीवनके जंजालोंसे निकल न सकेगा। राय रामानन्दके द्वारा प्रदर्शित भगवद्विग्रहकी सेवा और उपासनाके पाँच उत्कृष्ट तत्त्वोंको, जो प्रेमाभक्तिके अङ्ग हैं, श्रीचैतन्यने स्वीकार किया है। वे हैं—(१) वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेसे भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, (२) भगवान्‌के लिये समस्त स्वार्थोंका त्याग, (३) भगवत्प्रेमके द्वारा सर्वधर्मत्याग, (४) ज्ञानात्मिका भक्ति और (५) स्वाभाविक और अखण्डरूपसे मनका श्रीकृष्णमें लगाना। श्रीकृष्णके प्रीत्यर्थ उनमें आसक्ति ही भक्ति है, यह ज्ञान, कर्म, वैराग्यकी इच्छासे सर्वथा शून्य होती है तथा पूर्णतः अनभिलषितायुक्त होती है। शुद्धा भक्तिमें भक्त सारी कामनाएँ, सारे विधि-विधान, सारे ज्ञान और कर्मका त्याग कर देता है और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे श्रीकृष्णमें आसक्त रहता है। श्रीकृष्ण-प्रेम मनुष्यके अन्तस्तलमें अवस्थित रहता है। श्रीचैतन्यका उपदेश वहाँसे प्रारम्भ होता है, जहाँ गीता समाप्त होती है।

अचिन्त्यभेदाभेद

श्रीचैतन्यने भक्ति और प्रेममूलक धर्मका उपदेश किया है, जो शिक्षित-अशिक्षित—सबको समानरूपसे आकर्षित करता है। उनका दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद'के नामसे प्रख्यात है, जो पूर्ण और सर्वथा ईश्वरवादी सिद्धान्त है और प्रस्थानत्रयके द्वारा समर्थित आर्षप्रमाणपर आधारित है। वे पूर्ववर्ती ईश्वरवादी चारों सिद्धान्तों—श्रीरामानुजके विशिष्टाद्वैत, श्रीमध्वके शुद्धद्वैत, श्रीनिम्बार्कके द्वैताद्वैत और श्रीविष्णुस्वामीके शुद्धाद्वैतको स्वीकार करते हैं। दार्शनिक और धार्मिक जगत्‌में दूसरे सिद्धान्तोंके प्रति इस प्रकारका श्रद्धा और आदरका भाव एक अपूर्व बात है; क्योंकि प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त अपनेको ठीक सिद्ध करनेके लिये दूसरे सिद्धान्तोंको भ्रमपूर्ण सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके मतसे भारतीय वाङ्मयका प्रमुख ग्रन्थ श्रीमद्भागवत सारे आध्यात्मिक ज्ञानका स्रोत है। श्रीवेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रोंमें वैदिक और औपनिषद प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म ही सम्पूर्ण वेदोंका एकमात्र प्रतिपाद्य है। सूत्रोंकी यथार्थरूपमें व्याख्या करना कठिन है, यद्यपि उनके पहले और पश्चात् शंकर, रामानुज, मध्वादिने अपने-अपने ढंगसे उनकी व्याख्या की है। ब्रह्मसूत्रोंकी विभिन्न व्याख्यासे भारतमें विभिन्न मतवादोंका उदय हुआ है। संसारके सब

प्रकारके दार्शनिक विचारोंका, उनके आपेक्षिक गुण-दोषके प्रकाशमें, यथार्थ समन्वय हमको भागवतमें प्राप्त होता है, जो ब्रह्मसूत्रकी, प्रकारान्तरसे श्रुतियोंकी अत्यन्त श्रेष्ठ, सत्य और निष्पक्ष व्याख्या है। श्रीचैतन्यके मतसे श्रीमद्भागवत हमको तीन महान् सत्योंकी शिक्षा देता है—सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन, जिनकी विवेचना वेदान्तदर्शनमें होती है। श्रीकृष्ण सम्बन्ध-तत्त्व हैं और भक्ति अभिधेय है, अर्थात् सम्बन्ध-तत्त्वकी सेवाका साधन है, तथा श्रीकृष्ण-प्रेम प्रयोजन-तत्त्व है। चिन्मय तत्त्वका सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ रूप श्रीकृष्ण हैं, जो अपरिच्छिन्न एवं विश्वातीत होते हुए भी अपने शाश्वत धाम श्रीवृन्दावनमें गोप-गोपियों, वृक्ष-लताओं, नदियों, सखाओं तथा अन्य परिकरोंके साथ क्रीडा करनेके लिये अपनी अचिन्त्य और अतर्क्य शक्तिके द्वारा अनेक परिच्छिन्न साकार रूप धारण करते हैं। वे परिच्छिन्न साकार रूपोंमें अवस्थित होकर भी भगवत्तत्त्वकी अभिव्यक्तिके रूपमें अपरिच्छिन्न और शुद्ध चेतन हैं। अतर्क्य-शक्ति-सम्पन्न होनेके कारण वे सम्पूर्ण विरोधोंसे परे हैं। भगवत्सम्बन्धी हमारी धारणाके अनुसार परस्परविरोधी गुणों और भावोंका समावेश भी उनमें हो सकता है। इसी प्रकार उनका शरीर भी तत्त्वतः उनसे पृथक् नहीं है। उनमें देह-देहीका भेद नहीं है।

श्रीचैतन्यने दर्शनशास्त्रको शुष्क तर्कवादसे तथा धर्मको निरर्थक विधि-विधानके जालसे मुक्त कर दिया। भक्ति एक तर्कातीत अनुभव है, जिसमें भक्त और भगवान् दिव्य शरीरमें एक दूसरेके समीप पहुँचते हैं। यही उस अन्तिम सत्यको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है, जो बुद्धिके लिये नितान्त अगम्य है।

श्रीचैतन्यके जीवनमें हम भारतीय विचार और संस्कृतिकी पराकाष्ठा पाते हैं।

भगवत्प्रेम स्वयं ही साध्य है तथा यह सत्यकी प्राप्तिका साधन भी है और इहलोकमें भगवान्‌का नाम सर्वोच्च आश्वासन है।

वे इस मृत्युलोकमें ४८ वर्ष जीवित रहे, जिनमें २४ वर्ष नवद्वीपमें बीते और शेष २४ वर्ष त्यागी, संन्यासी और धर्मोपदेशकके रूपमें बीते। इन २४ वर्षोंमें उनके ६ वर्ष तीर्थ-यात्रामें और ६ वर्ष भक्तिमार्गके प्रचारमें बीते तथा शेष १२ वर्ष स्वरूपदामोदर तथा राय रामानन्दके साथ अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी वियोग-व्यथा तथा दिव्योन्मादमें व्यतीत हुए।

जानकीनाथपर बलिहारी

जानकी-जीवनकी बलि जैहौं।
चित कहै रामसीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-बिमुख न पैहौं।
मन समेत या तनके बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं॥
नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥

—तुलसीदासजी

सती नारी

सावित्री

पिताने बुद्धिमानी की और वयःप्राप्ता कन्याको अपने अनुकूल वर चुन लेनेकी स्वतन्त्रता दी। उसे रथसे भ्रमणकी सुविधा दी। कन्याके विवेकपर उनका विश्वास उचित था। उनकी कन्याने नहीं देखा धन, नहीं देखी प्रतिष्ठा। उसने देखा गुण, संयम और सदाचार। उसने राज्यभ्रष्ट, वनवासी, नेत्रहीन श्वशुरके गुणवान, सदाचारी, धर्मात्मा कुमार सत्यवान्को चुना।

हृदयसे वरण कर लिया सो कर लिया। देवर्षि नारदने सूचित कर दिया कि सत्यवान् अल्पायु हैं; किंतु अब तो उन्हें सावित्री हृदय दे चुकी। आर्य-कन्या एक बार ही तो हृदय देती है। विवश पिताने विवाह कर दिया। राजकुमारी आभूषणोंसे लदी पतिकी कुटियामें वनमें आयी और आते ही उसने एक-एक करके आभूषण उतार दिये सासके सम्मुख। पतिकुल वनवास कर रहा है, दरिद्र-दशामें है, वल्कल वस्त्र पहनता है, वह पिताके धनका प्रदर्शन करे—उसका सुख भोगे—सासके स्नेहाग्रहको भी इस सम्बन्धमें उसने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया।

इतना सद्गुण, इतना त्याग, इतना पातिव्रत्य—यमराज वहाँ विफल हो गये, आगे चलकर तो अद्भुत बात क्या हुई?

सीता

सर्वथा शुद्ध मन-वचन-काय नित्य निष्कलङ्क भगवती जानकी—किंतु मर्यादापुरुषोत्तम कुछ चाहते हैं—लोकरुचि संदेहप्रिय है और उसे संदेहको स्थान नहीं देना चाहिये। न क्षोभ, न खेद और न विषाद—भयका तो हेतु ही नहीं था। प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश किया श्रीजनकनन्दिनीने।

अग्निकी ज्वालाएँ—वे उन्हें अधिक उज्ज्वल, अधिक तेजोमयी ही कर सकती थीं। अग्निदेव उनकी पवित्रताके साक्षी बने—और कर भी क्या सकते थे वे? उनकी दाहिका शक्ति सत्य एवं सतीत्वके सम्मुख तो सदा कुण्ठित रही है।

गान्धारी

राजकुमारी गान्धारी सर्वाङ्गसुन्दरी कमललोचना। उनका विवाह हो गया नेत्रहीन धृतराष्ट्रके साथ। प्रचण्ड-पराक्रम भीष्मपितामह—जिन्होंने संग्राममें भगवान् परशुराम-को पराजय दे दी, उनका अनुरोध—गान्धारीके पिता विवश थे।

'पति—नारीके आराध्य, मेरे प्रभु नेत्रहीन हैं!' गान्धारी-ने सुना और तत्काल निश्चय किया—'संसारको वे देख नहीं सकते तो गान्धारी भी नहीं देखेगी। जो सुख उन्हें प्राप्त नहीं, मुझे भी वह नहीं चाहिये!' उसी क्षण उन धन्या गान्धार (वर्तमान कन्दहार-अफगानिस्तान) की राजकुमारी-ने अपने नेत्रोंपर पट्टी बाँध ली और वह पट्टी जीवनभर बँधी रही।

जौहर

भारतीय ललनाका लोकोत्तर त्याग एवं सतीत्व त्रेता-द्वापरकी कथामात्र नहीं है। वह तो अभी गत वर्षोंकी बात है। कुछ शताब्दियाँ मात्र बीती हैं। देशका कण-कण—विशेषतः राजस्थानका पवित्र रजःकण उनके बलिदानकी एक-एक गाथा है।

शत्रु—विधर्मी शत्रु प्रबल है। उसकी सेना दुर्ग घेरे पड़ी है। आत्मसमर्पण राजपूतके कोषका शब्द नहीं है। दुर्गमें अन्न-जलका अभाव होता जा रहा है। पुरुषके तारुण्यने 'केसरिया' अपनाया और क्षत्राणियोंने ही नहीं, दासियोंतकने जौहर-का स्वागत किया।

दुर्गके भीतर या उद्यानमें धधकती विशाल चिता और उसमें हँसती, आभरणसज्ज कोमलाङ्गी ललनाएँ कूद-कूदकर आत्माहुति देती जा रही हैं!

किस विशेष घटनाका नाम लें—भारतकी भुवन-पावनी धराने स्थान-स्थानपर ऐसे 'जौहर'की भस्म धारण कर रखी है।

सती-सावित्री

सती सीता

सती गान्धारी

सतियोंका जौहर

सत्यमूर्ति सुकरात और मानवता

(लेखक—श्रीकेशवदेवजी आचार्य)

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥
(भर्तृहरि-नीतिशतक)

'संसारके नीति-निपुण पुरुष चाहे निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी चाहे प्राप्त होती हो या जाती हो; आज ही मृत्यु होती हो या युगोंका जीवन प्राप्त होता हो, विवेकी पुरुष न्याय्यपथसे, सत्यपथसे तनिक भी विचलित नहीं होते।'

सुकरातका जीवन सत्यान्वेषण, सत्यके प्रचार, सत्यके लिये सर्वस्व-त्याग और सत्यके लिये हर प्रकारके कष्ट सहनका मूर्तरूप था। सुकरातका जन्म ईसासे ४६९ वर्ष पूर्व यूनानके एथेन्स नामक नगरमें हुआ था। इनके पिता मूर्तिकार थे और माता प्रसूति-परिचारिका (नर्स) थीं।

यूनानके इतिहासमें यह वह समय था जब कि एथेन्स नगर साहित्य, राजनीति, कविता, इतिहास, शिल्पकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदिमें अपने वैभवके चरम शिखरपर था और इस समय एथेन्समें इन विषयोंके ऐसे उच्च कोटिके विद्वान् थे, जो आज भी अपने विषयोंमें जगद्गुरु माने जाते हैं। सुकरातका इनमेंसे अनेकोंके साथ सम्पर्क रहा था और इन सबके ज्ञान और सद्गुणोंकी तुलना करनेपर पता चलता है कि सुकरातका स्थान इन सबमें ऊँचा है।

सुकरात बचपनसे ही सत्यप्रेमी और सत्यनिष्ठ थे। जिस बातको ये सत्य और न्याय्य समझते थे, उसके कहने और करनेमें लेशमात्र भी संकोच या भय नहीं करते थे। पृथ्वीकी कोई भी शक्ति प्रलोभन या भय देकर, जिसे ये सत्य या न्याय्य समझते थे, उससे इन्हें लेशमात्र भी विचलित करनेमें समर्थ न हो सकी।

सुकरात अत्यन्त अक्रोधी और क्षमाशील पुरुष थे। एक दिन उनकी पत्नीने क्रोधमें भरकर गंदे पानीसे भरा एक बर्तन लाकर उनके सिरपर उड़ेल दिया। सुकरात हँस पड़े और बोले—आजतक तो मैंने सुन रखा था कि 'जो गरजता, वह बरसता नहीं;' परंतु आज विपरीत बात हो गयी—जो गरजा, वह बरसा भी। स्त्री बेचारी चुप हो गयी।

ईसा-पूर्व ४०६ में दस सेनापति एक अपराधमें विचारार्थ संसद्में उपस्थित किये गये और यह निर्णय हुआ कि व्यवस्थापिका सभा (सेनेट) यह निश्चय करे कि उनपर किस प्रकार अभियोग चलाया जाय। व्यवस्थापिका सभाने यह प्रस्ताव पारित किया कि एथेन्सनिवासी अभियोगको और बचाव-पक्षको सुनकर मत देकर निर्णय करें कि उन्हें दण्ड दिया जाय या छोड़ा जाय। यह प्रस्ताव बहुत ही अन्यायपूर्ण और विधिविरुद्ध था। सामान्यरूपमें अभियोग चलाकर न्यायाधीशके द्वारा जिसका निर्णय होना चाहिये था, उसका निर्णय सामान्य जनमतसे कराना अन्याय था। दूसरे, एथेन्सके कानूनके अनुसार प्रत्येक मनुष्यके लिये व्यक्तिगत अपराधके अनुसार पृथक्-पृथक् निर्णय होना चाहिये था, न कि सामूहिकरूपमें एक साथ। जिस दिन इस अभियोगपर मत लिया जानेवाला था, उस दिन सुकरात व्यवस्थापिका सभाके प्रधान थे। जनसाधारण अभियुक्तोंके प्रति क्रुद्ध थे। अनेक सदस्योंने इस प्रस्तावको विधिविरुद्ध जानकर इसपर मतदानका विरोध करना चाहा, किंतु उन्हें धमकी देकर चुप कर दिया गया। सुकरातको भी पदच्युत करने, बंदी बनाने और मृत्यु-दण्ड देनेकी धमकी दी गयी। किंतु उन्होंने इन सबकी लेशमात्र भी परवा न करते हुए उस प्रस्तावको मतके लिये नहीं रखा। दूसरे दिन दूसरा व्यक्ति प्रधान हुआ। उसने जनसाधारणकी धमकीके भयसे उस प्रस्तावपर मत लिये और मृत्यु-दण्डके पक्षमें मतदान होनेसे उन सेनापतियोंको मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। इस घटनाका उल्लेख करते हुए अपने ऊपर अभियोगके समय सुकरातने कहा—'न्याय और विधिकी रक्षाके लिये मैंने हर प्रकारके संकटका सामना करना और जेल एवं मृत्युके भयसे आपके अन्यायपूर्ण प्रस्तावमें भागीदार न होना अपना कर्तव्य समझा।'

इस घटनाके दो वर्ष बाद ईसा-पूर्व ४०४ में गणतन्त्रका अन्त हो गया और तीस व्यक्तियोंके अल्पजनतन्त्रका शासन हुआ। इस शासनका प्रधान था क्रिटियस नामक एक व्यक्ति। क्रिटियस और उसके मित्रोंका वह शासन भय और आतङ्कपूर्ण था। राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों और व्यक्तिगत शत्रुओंकी हत्या की जाती थी। इसी प्रकार प्रतिष्ठित

नागरिकों और धनी व्यक्तियोंकी धनके लिये हत्या करायी जाती थी। अनेक निर्दोष व्यक्तियोंको झूठे अपराधोंमें फँसाकर उनका वध किया जाता था। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने सुकरात और चार अन्य व्यक्तियोंको परिषद्-भवनमें बुलवाया और कुछ व्यक्तियोंको वध करनेके लिये बंदी बनाकर लानेकी आज्ञा दी। इस आज्ञाके उल्लङ्घन करनेका अर्थ था मृत्यु। दूसरे चार व्यक्ति आज्ञाका उल्लङ्घन न कर सके और उन व्यक्तियोंको पकड़ लाया गया। परंतु सुकरात मृत्युकी परवा न करके आज्ञाका उल्लङ्घन करके अपने घरपर चले गये। इन्होंने क्रिटियस और उसके साथियोंके शासनकी और राजनीतिक हत्याओंकी सिंहके समान गर्जना करते हुए अत्यन्त कठोर शब्दोंमें निन्दा की। यदि उस शासनका शीघ्र ही अन्त न हो गया होता तो तभी सुकरातकी हत्या कर दी गयी होती। अतः इस घटनाका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है—'मैंने केवल शब्दोंसे ही नहीं, अपितु अपने कर्मोंसे यह प्रकट किया है कि मैंने मृत्युको तिनकेके बराबर भी नहीं समझा, किंतु मैंने अनुचित कर्म न करनेकी पूरी सावधानी रखी है।'

सुकरातसे पहले यूनानके दार्शनिक विश्वके मूल तत्त्वोंका चिन्तन करते हुए इस निष्कर्षपर पहुँचे थे कि वे मूल तत्त्व वायु, अग्नि और जल हैं। उन्होंने इन प्रश्नोंका समाधान ढूँढ़नेका प्रयास किया था कि 'विश्वके पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? किस प्रकार अस्तित्व धारण करते हैं? क्यों अस्तित्व रखते हैं?' परंतु ईसासे पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें इन समाधानोंसे एथेन्सवासी संतुष्ट न थे। इस समय एथेन्सवासी न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, कल्याणकारी और उपयोगी आदि विषयोंकी अवैज्ञानिक विवेचना करने लगे थे। इस समय ऐसे शुष्क तार्किक (Sophists) प्रकट हो गये थे, जो धन लेकर इन विषयोंकी शिक्षा दिया करते थे, किंतु जिन्हें इन विषयोंका कोई स्पष्ट या गम्भीर ज्ञान न था। सुकरातने यूनान देशके सात प्राचीन संतोंके 'आत्माको जानो' (Know thyself)-जैसे सूत्र-वचनोंका अध्ययन किया था और इनका उनपर प्रभाव था। अतः इन्होंने बचपनसे मानवताका अध्ययन करना प्रारम्भ किया। इन्होंने पवित्रता-अपवित्रता, श्रेष्ठता-नीचता, न्याय-अन्याय, संयम-असंयम, साहस-कायरता, राज्यशासन-राजनीति और आत्मा, देवता एवं परमात्मा-सम्बन्धी अनुसंधान तर्क और युक्तिके द्वारा प्रारम्भ किया *।

* यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। (मनु० १२। १०६)

सुकरातको बचपनमें ही चेरीफोन नामक एक व्यक्तिके द्वारा यह पता चला था कि देवता (Oracle of Delphi) ने उसे कहा है कि वह (सुकरात) विश्वका सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी है। स्वयं सुकरातका ईश्वरके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा उन्हें बचपनसे ईश्वरकी दिव्य वाणी सुनायी दिया करती थी और प्रायः प्रत्येक कर्मके अवसरपर उसके करने या न करनेके दिव्य संकेत मिला करते थे। अपने विषयमें उस दिव्य वाणीको सुनकर उन्हें ईश्वरकी ओरसे इस वाणीकी परीक्षा करनेका आदेश मिला। इस आदेशके अनुसार वे अपने समयके प्रसिद्ध कवियों, कलाकारों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकोंसे मिले और उनसे बातचीत करके यह अनुभव किया कि इनका ज्ञान थोथा है। उन्होंने अनुभव किया कि 'मैं भी अज्ञानी हूँ और ये भी अज्ञानी हैं, किंतु मुझमें और इनमें इतना अन्तर है कि ये अज्ञानी होते हुए अपने-आपको ज्ञानी माननेका मिथ्या अभिमान रखते हैं और मैं अपने-आपको अज्ञानी मानता हूँ और सदा सच्चे ज्ञानकी खोजमें लगा रहता हूँ। केवल इतने ही अंशमें मैं इनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी हूँ। देववाणीके मुझे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी कहनेका यही अभिप्राय हो सकता है।' *

जिन व्यक्तियोंसे सुकरातने बातें कीं और जिनके अज्ञानका इन्होंने भंडाफोड़ किया, उनमेंसे अनेक ऐसे थे, जिन्होंने अज्ञानताको स्वीकार करके इनसे बहुत कुछ सीखा; किंतु अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे, जिन्हें अपनी लोकप्रतिष्ठाका अभिमान था और जिन्हें अपनी अज्ञानताके प्रकट होनेपर भीषण मर्मवेदना हुई। इस कारण ये सुकरातके विरोधी बन गये और इन्होंने उनपर दो अभियोग लगाये। प्रथम यह कि इन्होंने एथेन्सके देवताओंमें अविश्वास किया है और नवीन देवताओंको माना है। दूसरा यह कि इन्होंने नवयुवकोंको पथ-भ्रष्ट किया है।

* सुकरातका अपने-आपको दूसरोंके समान अज्ञानी कहना वस्तुतः इनकी नम्रता थी। दूसरोंके अज्ञानको वही प्रकट कर सकता है, जो उनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी हो। इसके अतिरिक्त, दूसरे व्यक्ति एक-एक विषयके पण्डित थे, किंतु ये अनेक विषयोंके ज्ञाता थे। इसके अतिरिक्त, इनका अपने-आपको अज्ञानी कहना ईश्वरके अनन्त ज्ञानकी तुलनामें है। इन्होंने कहा है कि पूर्ण ज्ञानी केवल ईश्वर ही है, मनुष्य अल्पज्ञ ही होता है। मेरे-जैसा व्यक्ति भी, जो कि विश्वका सबसे अधिक ज्ञानी माना जाता है—जब अल्पज्ञ है, तब मनुष्यमात्र ही अल्पज्ञ होता है।

सुकरात देवताओंके अस्तित्वमें सच्चे हृदयसे विश्वास करते थे और इसी कारण इन्होंने अपने विषयमें सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी होनेकी देववाणीकी परीक्षा करना प्रारम्भ किया। परंतु देवताओंका जो अनीतिकतापूर्ण रूप ग्रीक पुराणोंमें भरा पड़ा था और जिसे एथेन्सवासी जनसाधारण मानते थे, उसे ये नहीं मानते थे। ये उसमें सुधार करना चाहते थे। देवताओंके सम्बन्धमें इनकी भावना बहुत ऊँची थी और ये जीवनभर तथा मरनेके अनन्तर परलोकमें भी उनके साथ सदा रहनेकी अभीप्सा करते रहे। इनका ईश्वरमें भी पूरा विश्वास था। ये उसे शिव, कल्याणकारी मानते थे। इनका जो ईश्वर सदा श्रेष्ठ ही कर्म करता है, नीच पाप-कर्म नहीं करता, वह और केवल वही पूर्ण ज्ञानी, सच्चा ज्ञानी (सर्वज्ञ) है। मनुष्य अल्पज्ञ है। सुकरातकी मान्यता थी कि मानव-जीवनका लक्ष्य है ईश्वरके सदृश होना और मानव-आत्मा ईश्वरका अनुसंधान और उसकी आज्ञाका पालन करता हुआ उसके सदृश हो जाता है। अतः ईश्वरकी आज्ञा सर्वोपरि है और उसका पालन करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। सुकरात अपने कर्मोंको ईश्वरकी आज्ञासे, उसकी सेवाके रूपमें किया करते थे। उन्होंने उसके आज्ञा-पालनमें अपनी आहुति दे दी। अतः सुकरातपर लगाया गया देवताओंमें अविश्वास-का दोष सर्वथा अनुचित था।

नवयुवकोंको पथभ्रष्ट करनेके अभियोगका उत्तर देते हुए सुकरातने कहा कि 'जब मैंने सुना कि देवता (Oracle of Delphi) ने मेरे विषयमें कहा है कि मैं विश्वका सबसे बड़ा ज्ञानी हूँ, तब ईश्वरके आदेशसे मैंने इस कथनकी परीक्षा करना अपना कर्तव्य समझा। मैंने अनेक राजनीतिज्ञ, कवि, कलाकार और दूसरे व्यक्तियोंसे, जिनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध था कि वे ज्ञानी हैं, बातचीत की। मेरी बात-चीतसे उनका अज्ञान प्रकट हुआ। नवयुवकोंको मेरी बातें अच्छी लगीं और उन्होंने भी परस्पर और दूसरे उन व्यक्तियोंसे, जो अपने आपको ज्ञानी मानते थे, वे ही प्रश्न करने आरम्भ किये, जो मैं किया करता था। मेरे और नवयुवकोंके इस आचरणसे वे लोग, जो अज्ञानी होते हुए भी अपने-आपको ज्ञानी माननेका अभिमान रखते थे, मेरे शत्रु बन गये और कहने लगे कि मैंने नवयुवकोंको पथ-भ्रष्ट किया है। किंतु मैं तो ज्ञानका प्रेमी (Philosopher)* और सत्यकी खोज करनेवाला हूँ। अतः मैं सच्चे ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये जिस किसीको भी ज्ञानी सुनता हूँ, उससे कुछ सीखनेके लिये बातचीत करता हूँ। यदि सत्यको खोजना और ज्ञान प्राप्त करनेके लिये किसी ज्ञानी माने जाने व्यक्तिसे बातचीत करना अपराध है, तो मैं इसे स्वीकार करता हूँ।

यदि आप मुझे यह कहते हैं, 'सुकरात! इस समय हम तुम्हें छोड़ रहे हैं; किंतु शर्त यह है कि तुम ज्ञानसे अपने प्रेमको और सत्यकी इस खोजको बंद कर दो। यदि तुम फिर कभी यही कार्य करते पाये गये तो तुम्हें मृत्यु-दण्ड मिलेगा।' तो मैं यह उत्तर दूँगा—"एथेन्स-निवासियो! मैं आपका बहुत आदर करता हूँ और आपसे प्रेम करता हूँ; किंतु मैं आपका आज्ञा-पालन न करके ईश्वरकी आज्ञाका पालन करूँगा। मेरा यह दृढ़ विश्वास और सुनिश्चित अनुभव है कि मुझे यह कार्य ईश्वरने दिया है, आपने नहीं। अतः जबतक मेरे शरीरमें थोड़ी-सी भी शक्ति है और एक भी साँस शेष रहेगा, तबतक मैं अपने ज्ञान-प्रेमको और आपको उपदेश देनेके कार्य और आपमेंसे जिस किसीसे भी मिलकर उसे इस सत्यकी घोषणा करनेका कार्य बंद नहीं करूँगा। जब भी कभी मुझे आपमेंसे कोई मिलेगा, तब मैं उसे यह कहता रहूँगा—जैसा कि मैं अभीतक कहता रहा हूँ। 'मेरे आदरणीय मित्र! तुम जो धन, यश, मान, पद, प्रतिष्ठाके इतना अधिक पीछे पड़े रहते हो, क्या तुम्हें इसपर लज्जा नहीं आती? तुम ज्ञान एवं सत्यको प्राप्त करने और अपनी आत्माको पवित्र बनानेकी चिन्ता क्यों नहीं करते?' मेरी यह धारणा है कि एथेन्सवासियोंके लिये इससे अधिक सौभाग्यकी बात नहीं हो सकती कि मैं यहाँ रहता हुआ ईश्वरकी और आपकी सेवा करता हूँ। कारण, मेरा सम्पूर्ण जीवन चारों ओर घूम-घूमकर आप सबको यह शिक्षा देनेमें बीतता है कि आपका सर्वप्रथम और मुख्यतम कर्तव्य है—अपने आत्माको पवित्र बनाओ और जबतक यह न हो जाय तबतक शरीर, धन आदि-की चिन्ता न करो। मैं आपको सदा यह कहता रहा हूँ कि सद्गुण धनसे नहीं आता; अपितु धन और प्रत्येक श्रेष्ठ पदार्थ, जो मनुष्योंके पास है, चाहे व्यक्तिगत हो या

* ग्रीक भाषामें फिलासफी (Philosophy) शब्दका अर्थ है 'ज्ञानका प्रेम' (Love of Wisdom) और फिलासफरका ज्ञानका प्रेमी (Lover of Wisdom)।

सार्वजनिक, सद्गुणसे आता है। यदि मैं अपने इस कथनसे नवयुवकोंको भ्रष्ट करता हूँ तो बहुत बड़ा अपराधी हूँ। परंतु यदि कोई यह कहता है कि मैं इससे भिन्न कहता हूँ तो वह झूठ बोलता है। इसलिये मैं कहता हूँ कि चाहे आप मुझे छोड़िये या न छोड़िये, यह निश्चय रखिये कि मैं अपनी जीवन-प्रणालीमें, कार्य-प्रणालीमें परिवर्त्तन नहीं कर सकता, चाहे मुझे इसके लिये अनेक बार क्यों न मरना पड़े।''—इन शब्दोंके साथ उन्होंने ईश्वर और न्यायाधीशोंके ऊपर निर्णय छोड़ दिया।

इस अवसरपर २२० के विरुद्ध २८१ मतोंसे उन्हें मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। एथेन्सके विधानके अनुसार उन्हें अपने लिये दूसरे दण्डके सुझाव देनेका अधिकार था। उन्होंने कहा—'मैंने कभी भी सुखका जीवन व्यतीत करनेका विचार नहीं किया। मैंने उन सब वस्तुओंकी उपेक्षा की है, जिनको अधिकतर मनुष्य महत्त्व देते हैं—जैसे धन, पारिवारिक सुख, सैनिक नेतृत्व, रोचक वक्तृत्व, राजनीतिक पद, क्लब, दलनिर्माण आदि। इनके बदले मैंने आपमेंसे प्रत्येकके पास जा-जाकर यह समझानेका प्रयास किया है कि बाहरी पदार्थोंकी चिन्ता करनेकी अपेक्षा अपने-आपको पवित्र, ज्ञानी और पूर्ण बनाओ और इस प्रकारकी शिक्षा देते हुए मैंने किसीसे पैसा नहीं लिया। यह मैंने एथेन्सवासियोंकी श्रेष्ठतम सेवा की है। ऐसे जीवनके लिये मुझे वही पुरस्कार मिलना चाहिये, जो मेरे उपयुक्त हो। मेरे-जैसे निर्धन व्यक्तिको जो जनताकी सेवामें अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति लगाता रहता है और जिसे आपको शिक्षा देनेके लिये अवकाशकी आवश्यकता है, कोई श्रेष्ठ वस्तु मिलनी चाहिये। वह है ऑलिम्पिक खेलके विजयीके समान पुरस्कार। ऑलिम्पिकका विजयी तो केवल आपाततः ही आपको प्रसन्न करता जान पड़ता है, किंतु मैं आपको सच्चा सुख देता हूँ। मैंने जीवनमें कभी भी कोई अनुचित कर्म नहीं किया। अतः सच्चे रूपमें मैं यही सुझाव रख सकता हूँ कि ऑलिम्पिकके विजयीके समान मेरा आदर-सत्कार किया जाय।

'यदि मैं धनी होता तो मैं दण्डरूपमें पर्याप्त धन दे सकता था; किंतु मैंने जिन एथेन्सवासियोंकी रात-दिन सेवा की है, उनसे एक पैसा भी कभी नहीं लिया। अतः मैं एक मिनासे* अधिक नहीं दे सकता। मेरे मित्र प्लेटो आदिने कहा है कि मैं ३० मिनाका सुझाव रखूँ और वे इसके देनेका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं छूटनेपर अपने सत्यान्वेषणके कार्यको बंद कर दूँगा। यदि आप इस शर्तपर इसे स्वीकार करते हों तो मैं इसे अस्वीकार करता हूँ।' आजीवन कारावास और देश-निर्वासनके सुझावोंको भी इन्होंने अस्वीकार कर दिया।

इन्हें अपने स्त्री और बच्चोंको बुलवाकर न्यायाधीशोंके सामने मृत्युदण्डसे बचनेके लिये दयाकी प्रार्थना करानेका अधिकार था, किंतु ऐसा करानेमें इन्होंने अपना और एथेन्सवासियोंका अपमान समझा। वे अपने द्वारा किसी ऐसी परम्परामें सहायता नहीं करना चाहते थे, जिससे न्यायाधीशोंकी दयाकी भावनाओंको उत्तेजनाका अवसर मिले और उनके निष्पक्ष निर्णयमें बाधा पहुँचे।

अन्तमें न्यायाधीशोंने मृत्युदण्ड ही निर्धारित किया। सुकरातने अन्तमें कहा, 'अब मेरा विदा होकर मरनेका और आपके जीवित रहनेका समय आ गया है। जीवन अच्छा है या मरण, इसे केवल ईश्वर ही जान सकता है।'

अन्तिम रूपमें मृत्युदण्ड निर्धारित हो जानेपर इन्हें जेलमें भेज दिया गया और इनके पैरोंमें बेड़ियाँ डाल दी गयीं। परंतु उस समय एक धार्मिक उत्सवके आ जानेके कारण इन्हें २१ दिनोंतक फाँसी न दी जा सकी। एक दिन प्रातःकाल इनका शिष्य क्रीटो इनके पास पहुँचा। सुकरात उस समय सो रहे थे। वह उनके उठनेकी प्रतीक्षा करता रहा। उठनेपर क्रीटोने कहा कि 'इतने भीषण संकटके अवसरपर भी आप इतने सुखपूर्वक सोये हैं—यह आश्चर्यकी बात है। वैसे तो सम्पूर्ण जीवनभर मैं आपको प्रसन्नचित्त देखा करता था; किंतु अब जब कि मैं देखता हूँ कि आप कितनी सरलता और शान्तिके साथ इस संकटको सहन कर रहे हैं और प्रसन्न हैं, तब मुझे बहुत आश्चर्य होता है।' सुकरातने उत्तर दया कि 'इस आयुमें यदि मरनेके कारण मुझे क्रोध आता तो मेरे लिये बहुत मूर्खताकी बात होती।' क्रीटोने उनसे प्रार्थना की कि 'मैंने आपके लिये जेलसे बाहर थिसिलीमें पहुँचनेका प्रबन्ध कर दिया है। आप वहाँ चलें। वहाँ आप मेरे मित्रोंके पास सुखपूर्वक रहेंगे। वहाँ आपको कोई कष्ट न होगा और आपका बहुत स्वागत होगा।' सुकरातने कहा कि 'हमें केवल यही सोचना चाहिये कि हम उचित कार्य कर रहे हैं या अनुचित। मैं अब भी

* तत्कालीन चाँदीका सिक्का।

वही हूँ, जो पहले था। विचार करनेपर जो सत्यतम जान पड़ता है, मैं केवल उसे ही सुन सकता हूँ, अन्य कुछ नहीं। इस दुर्घटनाके कारण मैं अपने पहले विचारोंको नहीं बदल सकता। मेरा छिपकर यहाँसे भागना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, यह अनुचित कार्य है; अतः मैं इसे अस्वीकार करता हूँ।'

मृत्युके दिन इनके कुछ शिष्य इनके पास पहुँचे। उस समय ये बिस्तरपर बैठे थे। पैरोंमेंसे तभी बेड़ियाँ खोली गयी थीं और दर्द हो रहा था। उन्होंने हाथसे पैरोंको मलते हुए विनोदमें कहा—'देखो, जिसे मनुष्य सुख कहते हैं, वह कैसा विचित्र पदार्थ है! उसका दुःखके साथ, जो कि उसका विरोधी जान पड़ता है, कैसा विचित्र सम्बन्ध है! ये दोनों मनुष्यके पास एक साथ नहीं आते; परंतु यदि मनुष्य एकके लिये प्रयास करता है और उसे प्राप्त कर लेता है तो उसे दूसरेको भी अवश्य लेना पड़ता है। यदि ईसप इन्हें देख लेता तो इस प्रकारकी कथाका निर्णय कर देता—एक बार इनमें परस्परमें झगड़ा हुआ। झगड़ा करते हुए ये ईश्वरके पास पहुँचे। जब वह इनके झगड़ेको न निपटा सका तो उसने एक सिरेपर सुखको और दूसरे सिरेपर दुःखको जोड़ दिया। इसलिये जब मनुष्यके पास इनमेंसे एक आता है तो दूसरेका आना भी निश्चित है। यही मेरे साथ भी है। अभी मेरे पैरोंमें बेड़ीका दुःख था और अब बेड़ी हटनेसे और मलनेसे सुख आ गया है।' इसके अनन्तर दिनभर आत्मा, मृत्यु और परलोक-विषयक बातें होती रहीं। सुकरातने कहा—'मृत्युका अर्थ है आत्मा और शरीरका पृथक्-पृथक् हो जाना। आत्मा शरीरके मरनेपर मरता नहीं। उसका अस्तित्व रहता है, वह अमर है।

'जो व्यक्ति पेटू, भोगी, कामी, शराबी होते हैं, वे सम्भवतः ऐसे पशुओंकी योनिमें जाते हैं, जैसे गधा! जो अन्यायी, अत्याचारी, डकैत हैं, वे ऐसी योनियोंमें जाते हैं जैसे भेड़िया, बाज़, चील। जिन्होंने न्याय, संयमका अभ्यास किया है, किंतु सत्य और ज्ञानकी खोजके लिये प्रयास नहीं किया, वे ऐसी मृदु और सामूहिक जीवनवाले जीवोंकी योनियोंमें जाते हैं—जैसे मधुमक्खी, चींटियाँ, भिड़, अथवा वे ऐसे मनुष्योंमें जन्म लेते हैं, जहाँ वे अच्छे नागरिक बन सकें।

'परंतु सत्यान्वेषी, ज्ञानप्रेमी व्यक्ति (Philosopher) खाने, पीने, वस्त्र, जूते, अलंकार आदिकी चिन्ता नहीं करता। वह इन्हें उतना ही स्वीकार करता है, जितना इनका स्वीकार करना नितान्त आवश्यक होता है। वह इनसे घृणा करता है। वह सद्गुणके लिये प्रयास करता है। ज्ञान ही सद्गुण है, सद्गुण ज्ञान है; अज्ञान दुर्गुण है और दुर्गुण अज्ञान है। तर्क और युक्तिके द्वारा आत्माके सामने सच्चा सत्य प्रकट होता है। और आत्मा सर्वोत्तमरूपमें तभी तर्क कर सकता है जब कि चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके व्यापार और सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उसपर प्रभाव नहीं डालते। जिस समय आत्मा, जहाँतक उसके लिये सम्भव है, अपने-आपको समस्त शारीरिक संस्पर्शों और संवेदनोंसे मुक्त कर लेता है और इस प्रकार अपनेको शरीरसे पृथक् करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तभी वह सत्यके लिये सच्चे रूपमें प्रयत्न कर सकता है। शरीरको आत्मासे मुक्त करनेपर ही हम शुद्ध ज्ञानको प्राप्त कर सकते हैं और तभी आत्मा पदार्थोंको, जैसे कि वे वस्तुतः हैं वैसे यथार्थ रूपमें देखता है। यही आत्माका विशुद्धीकरण है। जो ऐसा करता है, वही सच्चा सत्यप्रेमी, ज्ञानप्रेमी, दार्शनिक (फिलासफर) है। वह जीवन रहते हुए उस शुद्ध ज्ञानके समीप पहुँच जाता है और ईश्वरकी इच्छासे शरीर छूटनेपर उस शुद्ध ज्ञानको प्राप्त करता है और उस लोकमें पहुँच जाता है, जो शुद्ध और ज्योतिर्मय है; जहाँ वह भ्रम, अज्ञान, भय, कामनाओं और हर प्रकारके दोषोंसे मुक्त होकर सत्यमें स्थित रहता है; जहाँ देवता और सच्चे ज्ञानी मनुष्य निवास करते हैं और जहाँ श्रेष्ठ, शिव, कल्याणकारी, सच्चा ज्ञानी, सर्वज्ञ ईश्वर निवास करता है, वहाँ उसका आत्मा शरीरके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हुआ रहता है। यदि ईश्वरकी वैसी इच्छा हुई तो मेरा आत्मा भी शीघ्र वहीं जायगा।'

इस प्रकारकी बातचीत होते-होते सूर्यास्तका समय आ पहुँचा। सुकरातने स्नान किया। उनके सामने विषका प्याला आ पहुँचा। सुकरातने कहा, 'हे देवताओ! मेरी प्रार्थना है कि यहाँसे आगेकी मेरी यात्रा कल्याणकारी हो।' यह कहकर उन्होंने प्यालेको मुँहसे लगाया और पूर्ण शान्ति एवं प्रसन्नताके साथ विष-पान कर लिया। उनके पास बैठे व्यक्ति रो पड़े। सुकरात स्वयं शान्त और प्रसन्न रहे और उन्होंने उन्हें शान्त रहनेका आदेश दिया। वे थोड़ा-सा टहलकर लेट गये। उनका मुँह वस्त्रसे ढक दिया गया और कुछ समयमें उनका शरीर चेतना-शून्य हो गया और आत्मा शरीरको छोड़कर अपने चिर-अभीप्सित लोकको चला गया।

सुकरातने या किसी भी महापुरुषने सत्यके पूरे स्वरूपका दर्शन किया है या उसे प्रकट किया है, यह कह सकना कठिन

है। सुकरातने नीति, राजनीति, दर्शन, तर्क, अध्यात्म-जैसे किसी विषयके व्यवस्थित शास्त्रकी रचना भी नहीं की; किंतु इनका सम्पूर्ण जीवन इन विषयोंके गहरे सत्यकी खोजमें बीता और इन्होंने अपने तर्कके द्वारा अपने समयके विद्वानोंकी पण्डितम्मन्या बुद्धियोंपरसे अज्ञानतिमिरका आवरण हटाकर उन्हें गहरे सत्यकी खोजमें प्रवृत्त किया। सुकरातके तुरंत पीछे जो व्यवस्थित शास्त्रोंके निर्माता प्लेटो और अरस्तू-जैसे विद्वान् हुए हैं, उनके जनक सुकरात ही थे। यूरोपमें जो आज साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदिमें इतनी अधिक खोज और प्रगति दिखायी देती है, इसके प्रवर्तक सत्यमूर्ति सुकरात ही हैं। इनमें सच्चे वीर सैनिकका साहस और निर्भयता थी, सच्चे देशभक्तका देशप्रेम और बलिदान था, सच्चे कर्मयोगीकी निष्कामता, निःस्वार्थता और निर्भयता थी, सच्चे दार्शनिककी खोज थी, सच्चे महात्माके समान मन, वचन और कर्ममें एकता और त्याग था, सच्चे ऋषिकी अध्यात्म-जिज्ञासा और सूक्ष्म दृष्टि थी, सच्चे ईश्वरभक्तका ईश्वराज्ञा-पालन और आज्ञा-पालनमें पूर्ण आत्म-समर्पण और सर्वस्व-हवन करनेकी प्रचण्ड अग्नि थी। दूसरे शब्दोंमें ज्योतिर्मय सत्य ही मूर्तिमान् होकर अपने समयकी आवश्यकताके अनुसार सुकरातका चोला पहनकर प्रकट हुआ था और जरा-सी अपनी झलक दिखाकर आँख-मिचौनी-जैसा खेल खेलता हुआ विषपानका अभिनय करके पर्देके पीछे छिप गया। जिस प्रकार प्रभातमें अपनी सहस्रों ज्योतिर्मय किरणोंको फिर फैलानेके लिये सहस्रांशु स्वल्पकालके लिये अन्धकारावरणमें अपने-आपको छिपा लेता है, इसी प्रकार असंख्य नवीन रूपोंमें फिर प्रकट होनेके लिये उस ज्योतिर्मय सत्यने दुष्टता, अन्याय, अत्याचार, दम्भ, मिथ्याचार, स्वार्थलोलुपता आदि सूत्रोंके ताने-बानेसे बुने अज्ञानान्धकाररूप पर्देके पीछे अपने-आपको स्वल्प कालके लिये छिपा लिया। एक कुशल योद्धाके समान, सामनेके युद्धमें विलम्बसे विजय होती देख जरा ओटमें होकर उसने युद्ध करना पसंद किया और इस प्रकार छिपकर आक्रमण करके अज्ञानरूप शत्रुकी सेनापर विजय प्राप्त की।

संत ज्ञानदेव और मानवता

(लेखक—श्री मा० पां० बखिरट, एम्०ए०)

मानव-समाजमें मानवता जाग उठे और उसका विकास तथा अभिवृद्धि हो, इसीलिये संतोंके अवतार हुआ करते हैं। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने गुरु श्रीनिवृत्तिनाथकी आज्ञासे ज्ञानेश्वरीकी रचना की। इस ग्रन्थके पूर्ण होनेपर उन्होंने श्रीगुरुसे जो प्रसाद माँगा, वह इस प्रकार है—'दुष्ट जनोंकी कुटिलता नष्ट हो। सत्कर्ममें उनकी प्रीति बढ़े। समस्त प्राणियोंमें परस्पर मैत्री-भाव उत्पन्न हो। पापरूपी अन्धकार दूर हो और स्वधर्मरूपी सूर्यसे विश्व आलोकित हो। प्राणिमात्रकी जो-जो इच्छा हो, वह पूर्ण हो।' इस प्रसाद-याचनामें मानवताके महान् मूल समाये हुए हैं। इन मूलोंके उदय होनेपर मानव-हृदयकी कुवासनाएँ दूर होंगी और उसमें सदिच्छाओंका निवास होगा। स्वधर्मरूपी सूर्यका प्रकाश होनेपर मनुष्य और क्या करेगा? अपने जीवन-विकासके लिये जो-जो बातें आवश्यक हैं, उन्हींकी वह इच्छा करेगा। इस दृष्टिसे स्वधर्म-भूमिकापर आरूढ़ होनेवालेकी सब इच्छाएँ पूर्ण हों, यही श्रीज्ञानेश्वर महाराजके कथनका अभिप्राय है।

मनुष्य केवल जीये, इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं। जीना आवश्यक है, यह सत्य है। 'भूखे भजन न होइ गोपाला' इस उक्तिमें बहुत कुछ तथ्यांश है। इसे स्वीकार करते हुए भी यह समझना होगा कि केवल पेट भरनेमें मानव-जीवनकी सफलता नहीं है। उदरम्भर मानवसमाज और पशुओंका झुंड, इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। पेटकी ज्वाला बुझनेपर भी अन्तरात्मा भूखा ही रह सकता है। अन्तरात्माकी भूखको शान्त करनेमें ही मानवकी मानवता है। अतः मनुष्यका केवल जीना बेकार है, अच्छी तरह जीना उसे सीखना होगा। अच्छा जीवन और बुरा जीवन, दोनोंको जानकर अच्छेका ही निर्माण करना होगा। जीवनमें महान् मूल्योंको पोसना होगा। इन मूल्योंपर ही व्यक्ति और समाजका जीवन प्रतिष्ठित करना होगा।

जीवनमें अनेक प्रकारके मूल्य हैं—शारीरिक, आर्थिक, क्रीड़ाविषयक, बौद्धिक, कलाविषयक, नैतिक और धार्मिक। सभी मानव-समाजकी सुस्थिति और उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। शेषोक्त दो अर्थात् नैतिक और धार्मिक मूल्य सबसे श्रेष्ठ मूल्य हैं। पूर्वोक्त पाँच मूल्य साधनरूप हैं और शेषोक्त दो साध्यरूप।

नैतिक मूल्योंके विकासका अर्थ है अच्छे गुणोंका विकास। ज्ञानदेवने ज्ञानेश्वरीका पञ्चमांश इन्हीं गुणोंके विकासके वर्णनमें लिखा है। सद्गुणोंके ये वर्णन अत्यन्त हृदयवेधक हैं। ये इस योग्य हैं कि प्रत्येक मनुष्य इन्हें आत्मसात् कर ले। कुछ विशिष्ट वर्णन आगे लिखे अनुसार हैं—

अहिंसा—जगत् सुखी हो, इस भावनासे शरीर, वाणी और मनको वैसा बनाना अहिंसाका स्वरूप है (ज्ञा० १६-११४); मनकी जो भावना होती है, वही वाणीसे, दृष्टिसे, कर-चरणोंसे बाहर निकल पड़ती है; इसलिये ज्ञानेश्वरीके तेरहवें अध्यायमें अहिंसायुक्त पुरुषका चलना, बोलना, देखना कैसा होता है—इसका सरस वर्णन किया गया है। ऐसे महान् पुरुषोंका चलना बहुत सँभलकर होता है। किसी जीव-जीवाणुपर किंचित् भी आघात न हो, इसलिये दयामय अन्तःकरणसे वे धरतीपर धीमा पैर रखते चलते हैं। इस चालसे मानो उनकी कृपाका ही पथ निर्माण होता है, सब दिशाएँ स्नेहसे परिपूर्ण हो जाती हैं। स्नेहमूर्त्ति माता अपने शिशुकी ओर जिस प्रेमभरी दृष्टिसे देखती है, वैसा ही ओत-प्रोत प्रेम उनकी दृष्टिमें सदा रहता है। पहले प्रेम पसीजता है, पीछे मुखसे वाणी; पहले कृपा, पीछे मुखसे शब्द बाहर निकलते हैं। ये शब्द सत्य तो होते ही हैं; साथ ही मृदु, परिमित और रसमय, मानो अमृतके ही कल्लोल होते हैं। चन्द्रबिम्बसे स्रवित होनेवाली धाराएँ दीख नहीं पड़तीं, पर चकोरके शावकको तृप्त करती हैं; उसी प्रकार वे जिस ओर देखते हैं, उस ओर प्राणिमात्रके लिये सुखकी सृष्टि होती है। उनके हाथ सिद्धोंके कृतार्थ मनोरथोंके समान निर्व्यापार होते हैं। वे यदि हाथ उठाते भी हैं तो उन्हें जोड़कर वन्दन करनेके लिये, अभय देनेके लिये अथवा आर्तोंका दुःख हरण करनेके लिये। (ज्ञा० अ० १३)

तेज—सती अपने प्राणनाथके लिये अग्नि-प्रवेश करनेका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर भी विचलित नहीं होती; उसी प्रकार अपने स्वामीके लिये समस्त विषयोंको हटाकर किसी भी बीहड़ मार्गसे जाना पड़े तो जाना, विधि-निषेध अथवा महासिद्धियोंका मोह भी छोड़कर अन्तःकरणका ईश्वरकी ओर आप ही धावमान होना आध्यात्मिक तेज है।

क्षमा—शरीरपर असंख्य रोमावलियाँ हैं, पर शरीरको उनकी सुध भी नहीं रहती; उसी प्रकार सब कुछ सहते हुए भी जरा भी अभिमानका न होना ही क्षमा है।

धृति—इन्द्रियाँ बेकाबू हो गयीं, भीतर छिपी हुई पुरानी आधि-व्याधियाँ उमड़ पड़ीं अथवा प्रियजनोंका एकाएक वियोग और अप्रियका संयोग हुआ, अनिष्ट आपत्तियोंका पहाड़-सा ही टूट पड़ा, तब भी अगस्तिके समान छाती ठोककर खड़े रहना; आकाशमें धूएँकी कारिखका बादल-सा उठे और वायु उसे अपने एक झोंकेके साथ निगल जाय, उसी प्रकार चित्त चञ्चल होनेके प्रसङ्गमें धीरज न छोड़कर दृढ़ताके साथ स्थिर रहनेको धृति कहते हैं।

शुचिता—शुचिता कैसी है, जैसे सुवर्ण-कलशमें गङ्गाजल भरा हो। शरीरसे निष्काम कर्म हो और जीव विवेकका सहारा लिये सारा व्यवहार करे, ये शुचिताके ही चिह्न हैं।

अद्रोह—जिस प्रकार गङ्गा नदीका जल तटवर्ती वृक्षोंको सींचता, लोगोंके दैन्य-दुःख दूर करता हुआ समुद्रकी ओर जाता है, अथवा सूर्य जगत्का अन्धकार दूर करता, प्रकाशके मन्दिर खोलता हुआ ब्रह्माण्डकी परिक्रमा करता है, उसी प्रकार अद्रोहको धारण किये हुए पुरुष बद्धोंको मुक्त करता, डूबे हुओंको उबारता, आर्त्तोंके संकट हरण करता विचरता है।

अमानिता—गङ्गाको शंकरने अपने मस्तकपर धारण कर लिया, इससे गङ्गा जैसे लज्जित होती हैं, वैसे लोगोंके द्वारा मान दिये जानेपर उसी प्रकार संकोच होना अमानिता है।

नैतिक मूल्योंका विकास उपर्युक्त गुणोंका विकास करनेसे होगा। पर ये मूल्य धार्मिक मूल्योंपर अधिष्ठित होते हैं। भगवद्भक्ति समस्त गुणोंका मुकुट-मणि है, वैसे ही सब मूल्योंका उद्गम-स्थान और स्फूर्तिका अधिष्ठान है। भक्ति सबसे श्रेष्ठ धार्मिक मूल्य है और समाजमें मानवताको बढ़ानेवाली समर्थ प्रेरक शक्ति है। अतः ज्ञानेश्वर महाराजने इसका महत्त्व बखाना और यह बतलाया कि भक्तिहीन जीवन धारण करने योग्य ही नहीं। मोटे भुट्टे हैं, पर उनमें दाने नहीं; सुन्दर नगर है, पर वीरान तो उससे क्या काम। शरीरके सब अङ्ग हैं, पर उसमें जीव नहीं तो वह बेकार है। उसी प्रकार वैभव, कुल-गौरव—सब कुछ हो, पर भक्ति न हो तो ऐसे जीवनको धिक्कार है। नीमके वृक्षमें निमोरियोंकी बहार आये तो वह अन्तमें कौओंके लिये दावत होगी; वैसे ही भक्तिहीन मनुष्य चाहे जितना फूले-फले, वह पाप ही बटोरेगा। खप्परमें षडरस भोजन परोसकर बाहर चौराहेपर रख दें तो वह कुत्तेके ही काम आयेगा; वैसे ही भक्तिहीन मनुष्यका जीना संसार-दुःखके लिये थाल परोसकर रखने-जैसा ही है। (ज्ञानेश्वरी अ० ९)

ज्ञानेश्वर महाराजने भक्तिको पञ्चम पुरुषार्थ माना है। मानव-मानवमें परस्पर मैत्रीका वातावरण निर्माण करना है तो सदाचारके साथ-साथ सुदृढ़ ईश्वरनिष्ठाका होना आवश्यक है। ईश्वरविषयक प्रेम उत्पन्न होनेपर मानवमात्रके लिये सौहार्द और कारुण्य उत्पन्न होगा। प्रेमा-भक्तिसे सम्पन्न भक्तका वर्णन ज्ञानेश्वर महाराजने स्थान-स्थानपर किया है। अस्ताचलको चले सूर्यके पीछे-पीछे जैसे उसकी किरणें जाती हैं, अथवा वर्षाकालमें जैसे नदियोंका जल बराबर बढ़ता ही जाता है, वैसे ही जिनकी श्रद्धा नित्य नवीन भजनमें रँगती है; सागरमें मिल जानेपर भी गङ्गामें पीछेसे उसके प्रवाह आकर जिस प्रकार मिलते ही रहते हैं, उसी प्रकार जिनके प्रेममें बाढ़ बराबर आती ही रहती है, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसमेत जो अपनी मनोवृत्ति मुझे अर्पितकर अहोरात्र मेरी उपासना करते हैं, ऐसे, मुझे सर्वस्व अर्पण करनेवाले जो मेरे भक्त हैं, वे ही परम योगयुक्त हैं। (ज्ञानेश्वरी अ० १२)

'जो सर्वाङ्गसे और सर्वत्र मुझे ही प्रणाम करते हैं, दान-पुण्य सब मेरे ही लिये करते हैं, मेरा ही जिन्होंने अध्ययन किया है, मेरे ही कारण जो भीतर-भीतर तृप्त हैं, जिनका जीना ही मेरे लिये होता है, हम श्रीहरिके हैं— इस गौरवका ही जिन्हें अहंकार होता है, मेरे लोभसे ही लोभी, मेरी कामना-से ही सकाम, मेरे प्रेमसे ही प्रेमी, मेरे भुलानेसे ही भूले हुए जो होते हैं, वे मरनेसे पहले ही मुझमें मिले हुए रहते हैं। तब मृत्युके पश्चात् अन्यत्र कहाँ जायँगे ?' (ज्ञानेश्वरी अ० ९)

इस प्रकार नैतिक गुणोंका विकास और ईश्वरनिष्ठा, इन्हीं दो बातोंपर ज्ञानदेवका अत्यन्त आग्रह है। इन्हीं दोपर मानवताकी रचना खड़ी की जा सकती है। अभीकी जागतिक संक्रमणावस्थामें तो इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। विज्ञान चाहे कितनी भी प्रगति किये हुए हो, मानवी मूल्योंके विषयमें वह कुछ भी नहीं बतला सकता। इसके लिये तो समाजको धर्म और नीतिका संवर्धन करनेवाले संतोंकी सीखकी ओर ही मुख करना होगा।

भगवान् स्वामिनारायण और मानवता

(लेखक—शास्त्री श्रीहरिबलदासजी)

श्रीस्वामिनारायण महाप्रभु (सहजानन्द स्वामी), जिनका पूर्वाश्रमका नाम हरिकृष्ण तथा घनश्याम था, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें तप करनेके उद्देश्यसे घर-कुटुम्बका त्याग करके अयोध्यासे हिमालयकी ओर चल निकले। हिमालयकी तलहटीमें तथा उसके आगे पुलहाश्रममें दो-तीन वर्ष अति उग्र तपस्या करके वहाँसे दक्षिण दिशामें भ्रमणार्थ चले। आसाम, बंगाल और उत्कलमें क्रमशः कामाक्षी, कपिलाश्रम तथा जगन्नाथपुरी आदि तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए जब दक्षिण भारतमें वेङ्कटाद्रिसे सेतुबन्ध रामेश्वरकी ओर जा रहे थे, तब मार्गमें उनको सेवकराम नामक एक साधु मिला। वह साधु अयोध्याके किसी मठका निवासी था और यात्रामें अपने साधु-संघसे किसी कारण अलग हो गया था। वह हरिकृष्णको (जिनका पुलहाश्रमके तपस्वियोंने 'नीलकण्ठ ब्रह्मचारी' नाम रखा था) देखकर पहचान गया और नाना प्रकारसे घर-कुटुम्बका स्मरण दिलाकर वैराग्य-च्युत करनेकी चेष्टा करने लगा। ब्रह्मचारी नीलकण्ठको उसका सङ्ग खलने लगा और वे उसका सङ्ग छोड़नेका विचार करने लगे। अचानक मार्गमें वह साधु बीमार पड़ गया; और मार्गमें कोई उसकी सेवा करनेवाला न था, इसलिये अपनेको असहाय पाकर वह रोने लगा। ब्रह्मचारी नीलकण्ठने उसको सान्त्वना दी और जबतक वह स्वस्थ न हो गया, तबतक वे उसकी सेवा करते रहे। वह साधु अयोध्याका मालदार मठाधीश था और उसके पास एक सहस्र सुवर्ण-मुद्राएँ थीं। परंतु ब्रह्मचारी नीलकण्ठ उसके द्रव्यसे उसके लिये पथ्य और औषध तथा अन्न-पान आदिकी व्यवस्था करते थे और अपने लिये गाँवमें जाकर भिक्षा माँग लाते थे। दो महीनेतक उसकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहनेपर जब वह चंगा हो गया, तब ब्रह्मचारी नीलकण्ठ उसका सङ्ग छोड़कर चल दिये और दक्षिण भारतके वेङ्कटाद्रि, काञ्ची, रामेश्वरम् आदि तीर्थोंमें स्नान करके परिभ्रमण करते हुए पश्चिम दिशामें नासिक-पञ्चवटी होते माँगरोलके पास लोजापुरके बाहर किसी तालाबके किनारे स्नान करके ध्यानावस्थ जा बैठे। वहाँ इनका श्रीमुक्तानन्द स्वामीके साथ समागम हुआ और उनके द्वारा उनके गुरु श्रीरामानन्द स्वामीका साक्षात्कार हुआ। ब्रह्मचारी नीलकण्ठके अन्तःकरणमें अपूर्व श्रीकृष्ण-भक्ति और समाधिनिष्ठा देखकर रामानन्द स्वामीके मनमें

उनके प्रति परम प्रीति उत्पन्न हुई । पश्चात् श्रीरामानन्द स्वामीने महादीक्षा प्रदान करके उनका नाम सहजानन्द (नारायण मुनि) रखा । तभीसे वे संसारमें स्वामिनारायणके नामसे प्रख्यात हुए ।

उपर्युक्त सेवकराम साधुके प्रसङ्गमें श्रीस्वामिनारायण महाप्रभुकी मानवताका एक दृष्टान्त ऊपर दिया जा चुका है । संत-महात्माओंके जीवनमें इस प्रकारके अनेक दृष्टान्त देखनेमें आते हैं । एकाध दृष्टान्त उदाहरणार्थ यहाँ दिये जाते हैं ।

एक बार श्रीस्वामिनारायण अपने भक्त-पार्षदोंके साथ सालंगपुरमें भक्तप्रवर जीवा खाचरके दरबारमें पधारे । उस दिन अत्यधिक आँधी-पानी हुआ था । कई मकान अतिवृष्टि-से गिर गये थे । महाप्रभु अपने भक्तोंको धर्म-भक्तिका उपदेश देकर लेटे हुए थे, इतनेमें एक ब्राह्मण अपने घरके गिरने और गाय-भैंसके दब जानेसे सहायताके लिये चिल्लाने लगा । परंतु दुर्दिनके कारण कोई भी आदमी उसकी सहायताके लिये न निकला । केवल महाप्रभु स्वामिनारायण उसकी पुकार सुनकर तुरंत वहाँ जा पहुँचे और उसके घरकी धरनको अपने कंधेपर रखकर छप्परको ऊँचा करके पशुओंको बचाया । सवेरा हुआ और वृष्टि कम हुई । लोगोंने आकर देखा कि महाप्रभु सारी रात अपने कंधेपर धरन रखे ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा कर रहे हैं । सभी अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो, लज्जासे अवनत-सिर हो गये ।

एक बार श्रीस्वामिनारायण गढडा गाँवमें विराजते थे । स्वामीजी उस गाँवमें जाकर प्रायः निवास किया करते थे; क्योंकि वहाँके मालिक उत्तम राजा उनके शिष्य थे और गाँवके बहुत-से लोगोंकी महाप्रभुके प्रति असाधारण प्रीति थी । उस गाँवमें जैनी लोग भी रहते थे । एक दिन अचानक ऐसा हुआ कि किसी सत्सङ्गी भक्तने भूलसे एक जैनीके अधिकारकी भूमिमें थूक दिया । जैनी लोगोंमें यह बात फैल गयी और वे लोग हड़तालकी तैयारी करने लगे । यह खबर श्रीस्वामीजीके पास पहुँची । स्वामीजी तुरंत जैनी लोगोंके पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करके अपने आदमीके किये हुए अपराधको अपना ही अपराध मानकर क्षमा माँगने लगे । जैनीलोग पानी-पानी हो गये । उस गाँवमें जैनियोंकी संख्या बहुत अधिक नहीं थी और वे शक्तिशाली भी न थे । तथापि महाप्रभुने इस प्रकारका आचरण करके मानवताकी महान् शिक्षा दी । दूसरे धर्मवालोंके साथ कैसा वर्ताव करना चाहिये, इसका यह एक उज्ज्वल आदर्श है ।

महाप्रभुके अनन्य भक्त स्वामी मुक्तानन्द कुछ छोटी उम्रके विद्यार्थी साधुओंके साथ एक गाँवमें रहते थे । साधु-लोग सामान्यतः दिनमें एक बार भोजन करते हैं । एक दिन स्वामी मुक्तानन्द बाहर गये हुए थे । विद्यार्थी साधु सायं-कालसे भूखे थे, अतएव सवेरे बाजरेकी ठंडी रोटी खा रहे थे । इतनेमें मुक्तानन्द स्वामी वहाँ जा पहुँचे । उनको देखते ही डरके मारे उनके हाथोंसे रोटियाँ गिर पड़ीं । यह देखकर स्वामीजीके मनमें आया कि 'साधुको तो शान्तिकी मूर्ति होना चाहिये; उसका स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि दुखी मनुष्यके हृदयमें भी शान्ति पैदा कर दे । परंतु इन विद्यार्थियोंको मुझे देखकर बाघकी अपेक्षा भी भय अधिक हो रहा है ! फिर मैं कैसा साधु हूँ ?' इस प्रकार वे स्वयं दुखी होकर रसोईके स्थानमें गये और उन साधुओंसे कहने लगे—'संतो ! मुझे आज बहुत भूख लगी है; कुछ ठंडा भोजन हो तो मुझे दो कि कुछ शान्ति मिले ।' यह सुनकर उन सबका संकोच जाता रहा और सबने साथ बैठकर भोजन किया । यह समाचार महाप्रभुने सुना तो वे मुक्तानन्द स्वामीकी साधुता, मानवता, दयालुता और बुद्धिमानीकी प्रशंसा करने लगे । इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीस्वामिनारायणके हृदयमें उच्च-कोटिकी मानवता थी ।

यही नहीं, महाप्रभुके शिष्योंमें भी मानवताका अपूर्व उदाहरण मिलता है । एक बार महाप्रभुके शिष्य मयारामभट्ट-के यहाँ एक भक्त स्त्री अपने पैरका कड़ा बंधक रखने गयी । भट्टजीने उसका कड़ा लेकर उसे रुपये दे दिये । कुछ दिनोंके बाद भट्टजीने देखा कि एक ही चाँदीका कड़ा बंधक रखे हुए गहनोंमें पड़ा है तो उनको संदेह हुआ कि बाईने दो कड़े बंधक रखे होंगे । अतएव उन्होंने हूबहू एक दूसरा वैसा ही कड़ा बनवा लिया । कुछ महीनोंके बाद वह स्त्री रुपये लेकर भट्टजीके यहाँ आयी; भट्टजीने रुपये लेकर दोनों कड़े उस स्त्रीको वापस दिये । परंतु उस बाईने कहा कि 'मेरा तो एक ही कड़ा है ।' भट्टजी बोले—'नहीं, तू भूलती होगी, दोनों कड़े तेरे ही हैं । एक कड़ा नहीं होता ।' परंतु वह स्त्री शपथ खाने लगी कि मेरा एक ही कड़ा था; तब कहीं भट्ट-जीको विश्वास हुआ । इस प्रकार मानवताकी रक्षा करनेकी शिक्षा स्वामीजीने अपने शिष्योंको दी थी ।

सौराष्ट्रमें लोया गाँवके कोली जातिके एक भक्त महाप्रभु श्रीस्वामिनारायणके शिष्य थे। उनका नाम था घेला। नीच कुलमें उत्पन्न होनेपर भी वे मानवताके प्रतीक थे। संवत् १८६९ की बात है, गुजरातमें महान् दुष्काल पड़ा। अन्नके अभावसे बहुत-से लोग मर गये। शेष लोग किसी प्रकार जीवन बचानेके लिये दूसरे प्रान्तोंमें मजदूरी करने निकल पड़े। घेला भक्त भी सौराष्ट्रसे सूरतकी ओर चले। जाते-जाते मार्गमें उनको एक सोनेका हार दीख पड़ा। उनकी स्त्री पीछे-पीछे आ रही थी। घेला भक्तके मनमें तो उस हारको लेनेका संकल्प भी न हुआ; पर उनके मनमें यह विचार उठा कि पीछे पत्नी आ रही है, वह कदाचित् दुष्कालरूपी आपत्काल और स्त्री-स्वभावके वश उसे लेनेका संकल्प करे तो यह ठीक न होगा। यह सोचकर उस भक्तने चलते-चलते सुवर्णके हारको पैरसे धूल इकट्ठी करके ढक दिया। उनकी पत्नी दूरसे ही यह तमाशा देख रही थी। पास जाकर पतिसे उस विषयमें पूछ-ताछ करनेपर उसके पतिने कहा—'तेरे मनमें परद्रव्य लेनेका संकल्प न हो, इसलिये मैंने इस स्वर्णके हारको मिट्टीसे ढक दिया।' यह सुनकर पत्नीने कहा—'स्वामी! परधन तो विष्ठाके समान माना गया है; आपने उसको अपने पैरसे स्पर्श किया है, इसलिये अपना पैर धोकर शुद्ध करें।' आगे जाकर एक वृक्षके नीचे दोनों विश्राम करनेके लिये बैठे। इतनेमें एक घोड़ेपर सवार होकर कोई भलेमानस वहाँ आ पहुँचे और उनसे पूछा कि, 'क्या तुमलोगोंने रास्तेमें कोई सोनेका हार देखा है?' घेला भक्तने कहा—'हाँ, मैंने उसे धूलसे ढक दिया है।' उस भलेमानसके आग्रह करनेपर भक्तने जाकर उस स्थानको दिखला दिया। अपनी खोयी वस्तु पाकर वे भलेमानस बहुत प्रसन्न हुए और साथ ही भक्तकी ईमानदारीपर चकित हो उठे। उन्होंने पूछा कि, 'तुम कौन हो, कहाँ जा रहे हो?' जब भक्तने अपनी कथा कह सुनायी, तब उन्होंने फिर पूछा—'ऐसे संकटमें पड़कर भी रास्तेमें पड़े हुए सोनेके हारको तुमने क्यों नहीं उठाया?' भक्तने उत्तर दिया कि 'हमारे गुरु श्रीस्वामिनारायण महाप्रभुकी यह आज्ञा है कि परायी वस्तुपर कभी जी न ललचाओ। चाहे कैसा ही संकट क्यों न हो, परायी वस्तुको स्पर्श न करो।'

धन्य है गरीब भक्तकी इस मानवताको! समाजमें इस प्रकारकी मानवताकी वृद्धि हो तो कहीं दुःख देखनेको भी न मिले। महाप्रभु श्रीस्वामिनारायणकी कृपासे सौराष्ट्रमें विशेषरूपसे इस प्रकारकी मानवताका प्रसार हुआ। श्रीमहाप्रभुके भक्तोंके विषयमें इस प्रकारकी मानवताकी अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं।

मानवता-धर्म

एक डाक्टरके एक किशोर पुत्रकी मृत्यु हो गयी। उसकी अन्त्येष्टि-क्रियाके लिये न रुककर डाक्टर कुछ बहुत आतुर गरीब रोगियोंको सँभालनेके लिये अपने दवाखाने चले गये। वहाँ कुछ समय अधिक लग गया। इधर बन्धु-बान्धव तथा सगे-सम्बन्धी बाट देख रहे थे। लोगोंके पूछनेपर डाक्टरने कहा—'मेरा पुत्र तो मर ही गया। उसके वापस लौटनेकी तो कोई सम्भावना ही नहीं, परंतु जिनका जीवन बचाया जा सकता है तथा बचानेमें मैं सहायक हो सकता हूँ—यह जानते हुए भी, यदि मैं उन्हें अपनी सेवा समर्पण न करूँ तो मानवता-धर्मसे गिर जाता हूँ; इसीसे, यह जानते हुए भी कि सगे-सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवोंको मेरी बाट देखनेमें कष्ट होगा, मैंने गम्भीर स्थितिमें पड़े रोगियोंकी सेवाको विशेष महत्त्व दिया। मुझे बड़ी देर हो गयी, इसके लिये मैं सबसे क्षमायाचना चाहता हूँ।

—'मानवता'

मानवता-नाशिनी विष-बेल

(लेखक—श्रीपूर्णचन्द्रजी ऐडवोकेट)

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥
(अथर्व० ७।१२०।२)

भावार्थ—(या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी—घरकी लक्ष्मी होकर भी (पतयालूः) नीचे—दुराचारमें गिरनेवाली तथा (अजुष्टा) प्रेमसे रहित होकर (मा) मुझसे (अभिचस्कन्द) ऐसे चिपटी हुई है (वन्दन इव) जैसे वन्दन नामक विषवेल (वृक्षम्) वृक्षको चिपट जाती है और उसपर छाकर वृक्षको सुखा डालती है और उसको बढ़ने नहीं देती। (सवितः) सबके प्रेरक राजन्—(न्यायकारिन्)! (ताम्) उस ऐसी नागिनके समान लक्ष्मीको भी (इतः अन्यत्र) यहाँसे दूसरे स्थानपर (अस्मत्) हमसे पृथक् (धाः) रख। और (हिरण्यहस्तः) सुवर्णादि धनोंसे साध्य तू (नः) हमें (वसु) उत्तम धन (रराणः) प्रदान करता रह।

संसारमें (पूर्वकर्मवश) कभी-कभी पापियोंको, बेईमानी करनेवालोंको फलता-फूलता देखकर बड़ा भ्रम होता है। ईमानदारोंको निरुत्साह और बेईमानी न करनेवालोंको बेईमानीके लिये प्रोत्साहन मिलता है। जब लोग देखते हैं कि बेईमानी करनेवालोंका स्वागत हो रहा है, उनको मान और प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है; धार्मिक संस्थावाले उनके यहाँ धन माँगते हुए आते हैं और धन लेकर धन्यवाद देते हुए चले जाते हैं; चोरबाजारीवालोंको किसी विशेष अनुदानके आधारपर अभिनन्दनपत्र भी कभी-कभी मिल जाते हैं; परंतु यह बाहरकी टीपटाप और दिखावा वास्तविक रूपमें आगामी हानिका संदेश है। कभी-कभी देखा गया है कि वृक्षोंपर हरे रंगवाली और हरे पत्तोंवाली बेल फैली रहती है और उनकी सुन्दरताको बढ़ाती रहती है; परंतु उसी बेलमें विषका बीज होता है, जो वृक्षकी जड़को खोखली करता रहता है। एक दिन उसी हरी-भरी बेलके कारण वृक्ष नष्ट हो जाता है और गिर जाता है। कभी-कभी मकानोंमें अंदर दीमक लगी हुई रहती है, परंतु बाहरसे उनकी रूपरेखा वैसी ही बनी रहती है और उस अंदरकी दीमकके कारण मकान देखते-देखते गिर जाते हैं और अपने साथ रहनेवालोंको भी मिटा देते हैं। इस वेदमन्त्रमें पापकी कमायी हुई लक्ष्मीको विष-बेलसे उपमा देकर चेतावनी दी गयी है कि धन और दौलतके कारण बाहरके दिखावेको देखकर किसीको भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये। जिसका अन्तमें भला हो, उसीका भला समझना चाहिये। बाहरकी परिस्थितिको देखकर परिणाम निकालना बुद्धिमानी नहीं। समाजमें जिस प्रकारका मनोविज्ञान व्यक्तियोंके लिये प्रचलित होगा, उसीका प्रभाव व्यक्तियोंके निर्माणपर पड़ता है। यदि समाजवाले बेईमानी करनेवालोंको आदर देकर प्रोत्साहित न करें तो बेईमानी करनेवालोंको इतना आकर्षण बेईमानीके लिये न रहे।

चोरबाजारी और बेईमानीवालोंको जब उनकी बाहरी दिखावटके कारण आदर मिलने लगता है, तब बेईमानीकी प्रथा प्रचलित हो जाती है। कहावत प्रसिद्ध है—'खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है।' इसी प्रकार एकको देखकर दूसरा बिगड़ता जाता है और इसीका नाम आदत, फैशन, रिवाज या प्रथा पड़ जाता है। साधारणतया मनुष्योंकी दृष्टि कुछ ही दूरतक सीमित रहती है। ऋषि और पशुमें यही अन्तर है। ऋषि दूरतककी देखता है। वह वर्तमानका निर्णय करनेमें भूतकालके इतिहास और भविष्यके परिणामको दृष्टिमें रखता है और तब अपने वर्तमानके सम्बन्धमें निर्णय करता है। जो मनुष्य केवल पशुओंके समान अपने नाकके सामनेकी वस्तु ही देखते हैं, वे भ्रममें पड़ जाते हैं। उनको विष और वास्तविक शुद्ध ओषधिमें भेद प्रतीत नहीं होता। इस वेदमन्त्रमें पापकी कमायी हुई लक्ष्मीको विष-बेलसे उपमा देकर संसारका बड़ा उपकार किया गया है। जिस प्रकार बेल वृक्षसे चिपट कर उसके अंदरका सार चूसती रहती है और उसे भीतरसे खोखला करती और ऊपरसे मोटा और रोचक बनाये रखती है। यही दशा बुरी आदतवाले, विषयोंमें फँसे हुए, पापमें वृत्ति रखनेवाले धनवान् पुरुषोंकी है। वे पापसे पैसा कमाकर, अपनी मिथ्या शान बनाकर, जीवनभर पापकी वासना लेकर इधर-उधर मुँह उठाये भटकते फिरते हैं। उनको इस प्रकार बनावटी सुखका जीवन व्यतीत करते देखकर साधारण निर्धन व्यक्तियोंको अपने सम्बन्धमें एक तिरस्कारकी-सी भावना मनमें आती है और वे कभी-कभी यह सोचने लगते हैं कि क्यों नहीं हम भी बेईमानीसे धन कमाकर शान बढ़ायें और सुखका जीवन व्यतीत करें। जब

इस प्रकारकी भावना किसीके अंदर आये तो उसको इस वेद-मन्त्रको एक बार नहीं, बार-बार पढ़ना चाहिये। यह मन्त्र एक सुन्दर बलकारक इंजेक्शन अर्थात् ओषधिके रूपमें उसको दिखावे तो वह फैशनकी बीमारीसे सुरक्षित रखेगा। उसका जीवन साधारणरूपसे सुखमय होगा तथा अन्तमें वह गम्भीर और शान्त-स्वभावसे ईश्वरको याद करके यह कह सकेगा कि 'अन्त भलेका भला' तथा संसारके प्रलोभनोंसे, विषयोंसे, कुटेवोंसे और बुरी आदतोंसे बचा रहेगा। यह मन्त्र ओषधि है, विचार है, इसका विनियोग आचारके निर्माणके लिये है और व्यवहारको पवित्र बनानेके लिये है। यह काव्यमयी भाषामें है। इसका सम्बन्ध केवल मस्तिष्कसे नहीं, इसका प्रभाव सीधा हृदयतक पहुँचता है।

मानवताकी मूर्ति—गांधीजी

(लेखक—श्री श्रीनाथसिंहजी)

हिंदी-भाषा और साहित्यके प्रचार-कार्यमें मुझे महात्मा गांधीका सहयोगी होने और उनके निकट सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह सन् १९३६-३७ की बात है। उसके पहले उन्हें बहुत दूरसे देखा करता था और उनकी बातें सुना करता था। उस समय वे मुझे बहुत ही उच्चासनपर आसीन देवतासे प्रतीत होते थे। मैं अपनेको लाखों श्रद्धालु दर्शकोंकी भीड़में खोया हुआ पाता था। उस दूरीसे गांधीजी बहुत ही कठोर, कट्टर और हठी प्रतीत होते थे और लगता था कि वे कोरे आदर्शवादी हैं। तथापि उनमें मैं एक विचित्र आकर्षण पाता था और उनकी ओर खिंचा जा रहा था।

सन् १९३६ में प्रथम बार उनके चरणोंके निकट बैठनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस वर्ष वे हिंदी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति हुए थे और संयोगकी बात, मैं उसका प्रबन्ध-मन्त्री चुन लिया गया था। सम्मेलनकी स्थायी समितिकी बैठक उन्होंने वर्धामें बुलवायी और श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडनके साथ मुझे वहाँ जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

तब गांधीजी मगनवाड़ीमें रहते थे। इसके अंदर कई एकड़ भूमि थी, जिसमें संतरोंके बाग फलसे लदे खड़े थे। इन्हीं बागोंके बीचमें होकर गांधीजीके निवासपर पहुँचना था; परंतु जब मैंने देखा कि गांधीजी उस बागका एक भी संतरा नहीं खाते, तब मुझे लगा कि उनकी कठोरताके नीचे कितनी करुणा है। उनका तर्क था कि यह बाग उन्होंने श्रीजमनालाल बजाजसे जनताके सेवकके रूपमें प्राप्त किया है; तब इस बागकी उपजसे जो प्राप्त हो, वह जनताके हितमें ही व्यय होना चाहिये। वे प्रतिवर्ष बागके फल कुँजड़ोंके हाथ बेच देते थे और उनसे जो आय होती थी, उसे बहुत सावधानीके साथ व्यय करते थे।

मैंने गांधीजीसे प्रश्न किया—'समाचारपत्रोंमें मैं पढ़ता रहा हूँ कि आप संतरे बहुत खाते हैं। परंतु यहाँ मैं जबसे आया हूँ, एक भी संतरा आपको खाते नहीं देखा। यह क्या बात है?'

गांधीजी बोले—'जमनालालजीने यह बाग मुझे फल खानेके लिये नहीं दिया।'

'सो तो ठीक है,' मैंने कहा। 'परंतु आप खरीदकर तो खा सकते हैं।'

'खरीदकर!' गांधीजीने मेरी ओर आश्चर्यसे कहा—'मेरे पास पैसा कहाँ है?'

इसके पहले मैंने गांधीजी और टंडनजीकी बात सुनी थी। टंडनजीने कहा था—'भारत सरकार ग्रामसुधारके कार्यमें एक करोड़ रुपया खर्च करने जा रही है।' और गांधीजीने गम्भीर होकर उत्तर दिया था—'एक करोड़ तो नहीं; पर हाँ, ८० लाख मैं भी फूँक दूँगा।' मैंने इस बातचीतकी ओर संकेत करते हुए कहा—'पैसोंकी आपको कहाँ कमी है।' गांधीजी और गम्भीर हो गये—'जनतासे क्या इसीलिये माँग-माँगकर धन जोड़ा है कि उसे खा जाऊँ।' मुझे इसपर चुप हो जाना चाहिये था। परंतु मैंने फिर भी कहा—'परंतु संतरे आप खाते तो हैं। मैंने इस बारेमें समाचारपत्रोंमें बहुत बार पढ़ा है।' गांधीजी मुस्कराये—'हाँ, यात्राके दिनोंमें खाता हूँ। जहाँ जाता हूँ लोग प्रेमवश जहाँ खाने-पीनेकी अन्य चीजें देते हैं, वहाँ संतरे भी देते हैं। उस समय उन्हें न खाऊँ तो क्या करूँ? यह कैसे हो सकता है कि उन्हें फेंक दूँ।'

उन्हीं दिनोंकी बात है। एक बार मगनवाड़ीमें स्थायी समितिकी बैठक जारी थी। गांधीजीने हमलोगोंसे कहा—'बजाज-

थाड़ीमें बढ़िया स्वादिष्ट खाना तैयार होता है। परंतु वहाँ जाने-आनेके लिये काफी समय चाहिये। इसलिये आज चाहो तो यहीं रूखा-सूखा खा लो।' हमलोग तैयार हो गये। गांधीजी उसी समय मीटिंग छोड़कर उठे। घड़ीके साथ उनकी कमरसे भंडारघरकी ताली भी बँधी थी। उन्होंने अपने हाथसे ताला खोला। तराजू उठाया। प्रतिमनुष्य तीन छटाक गेहूँ और दो छटाक चना तौलकर आश्रमकी कन्याओंको दिया। कुछ गुड़, आलू, घी आदि भी दिया। गांधीजीकी ओर हम सबने आश्चर्यसे देखते हुए कहा—'यदि हम जानते कि आपको यह कष्ट करना पड़ेगा तो बजाजवाड़ी चले जाते।' गांधीजी बोले—'मैं आश्रमका भंडारी भी हूँ न। यह तो रोज ही करना पड़ता है। यह सही है कि कोई मुझसे जवाब तलब करनेवाला नहीं है। परंतु जब जनताने मेरा इस हदतक विश्वास किया है, तब मुझको भी तो चाहिये कि उसका विश्वासपात्र बना रहूँ।'

और उस दिन जब खाने बैठे, तब मैंने देखा कि दो प्रकारकी रोटियाँ परोसी जा रही हैं। अतिथियोंकी थालीमें दूसरे प्रकारकी और आश्रमवासियोंकी थालीमें दूसरे प्रकारकी। मैंने माता कस्तूरबासे दूसरे प्रकारकी रोटी माँगी। उन्होंने मृदुहास्यके साथ कहा, 'नहीं, वह रोटी आपको नहीं मिल सकती।'

'क्यों भला ?' मैंने पूछा। वे बोलीं, 'वे बासी रोटियाँ हैं। बापूकी आज्ञा है कि बासी रोटियाँ खराब न की जायँ। उन्हें आश्रमवासी खायँ।'

गांधीजी कहा करते थे कि भारत इतना गरीब देश है कि यहाँ बहुतेरे लोगोंको भरपेट भोजन नहीं मिलता और यहाँ जो अन्न बरबाद करता है, वह मानो गरीबोंको और भूखा रखनेका अपराध करता है। इतना अधिक ध्यान वे अपने देशवासियोंका रखते थे कि उनके कष्टको स्वेच्छापूर्वक अपनाये रहते थे। मानवताका इससे बड़ा उदाहरण और क्या मिल सकता है। इस अवसरपर मुझे एक और घटनाका स्मरण आता है।

एक बार हाईकोर्टके एक जज गांधीजीसे मिलने आये। गांधीजी अपनी कुटीमें थे। यह एक छोटी-सी कोठरी थी—इतनी छोटी कि बीचमें खड़े होकर आप हाथ फैलायें तो दोनों ओरकी दीवालें छू जायँ। इस कोठरीमें गांधीजी एक चटाईपर बैठे थे। सामने दूसरी चटाई पड़ी थी। उसपर जज साहब बैठे। गांधीजीने एक ताड़का पंखा उनकी ओर बढ़ाया। गरमीके दिन थे और ऊपर खपरैल थी। जज साहबने पहला प्रश्न यही किया—'इतनी छोटी कोठरीमें आप कैसे रहते हैं ?' गांधीजी बोले—'इसे सौभाग्य कहिये कि मैं इस कोठरीमें रह रहा हूँ। हमारे देशमें बहुतेरे आदमी ऐसे हैं, जिन्हें रहनेके लिये ऐसी कोठरी भी नहीं है। यदि मैं ऐसी कोठरीमें न रहूँ तो उस दुःखका अनुभव कैसे कर सकता हूँ, जो हमारे देशवासियोंको है।' गांधीजी बहुत ही गम्भीर हो गये और जज साहब भी गहरे सोचमें पड़ गये।

क्रमशः मैंने देखा कि गांधीजी कठोर नहीं हैं, कट्टर नहीं हैं, हठी नहीं हैं। वे प्रेम, दया, करुणा, न्याय, क्षमा आदि मानवीय गुणोंसे ओतप्रोत हैं और उनमें जो कठोरता, कट्टरता या हठीपन झलकता है, वह इन्हीं गुणोंकी पराकाष्ठा है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये मैं एक छोटी-सी घटनाका उल्लेख करना चाहता हूँ। जेठकी दोपहरी थी। मैं सेवा-ग्राममें गांधीजीकी सभाएँ आदिके लिये बने पक्के कमरेके बरामदेमें खड़ा था। दूरपर आश्रमका कुँआ था, धूप बड़ी तेज थी। मैंने देखा कि माता कस्तूरबा एक डोल लिये हुए कुएँपर पहुँचीं। उन्होंने रस्सीमें डोल बाँधा और उसे कुएँमें लटकाया; यह देखकर मैं दौड़कर कुएँपर गया, बोला—'माताजी ! लाइये, आपकी बाल्टी मैं खींच दूँ।'

'नहीं-नहीं !' वे बोलीं—'दूर ही रहो। बापू जानेंगे तो बहुत नाराज होंगे।'

'क्यों भला ? क्या दूसरोंका छुआ पानी वे नहीं पीते ?'

'नहीं-नहीं।' वे फिर बोलीं—'वे कहते हैं कि जब सब किसानोंकी स्त्रियाँ कुएँसे पानी खींचकर लाती हैं, तब तुम क्यों नहीं ला सकती हो ?'

वृद्धा किसान महिलाओंको दूर-दूरसे पानी खींचकर लाते देखते थे, तब गांधीजीको कष्ट होता था। परंतु उतना ही कष्ट जब वे कस्तूरबाको पानीके लिये उठाते देखते थे तब उन्हें संतोष होता था, क्योंकि इस प्रकार मानो वे कष्टमें पड़े किसानोंके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते थे। गांधीजी अपने लिये कोई ऐसा सुख नहीं चाहते थे, जो भारतके करोड़ों निवासियोंको प्राप्त न हो। इसीलिये उन्होंने एकादश व्रतोंको अपनाया था। उनकी प्रातः और सायंकालीन प्रार्थनाओंमें जो लोग उपस्थित होते थे, उन्हें अवश्य इन एकादश व्रतोंका स्मरण होगा। ये एकादश व्रत आश्रम-भजनावलीमें इस प्रकार संगृहीत हैं—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।
शरीर-श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन॥

सर्व-धर्म-समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।
विनम्र-व्रत निष्ठासे ये एकादश सेव्य हैं॥

लेखका अकारण कलेवर न बढ़े, इसलिये उनके इन ग्यारहों व्रतोंपर अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत करनेकी इच्छा-का संवरण कर रहा हूँ। यहाँ इतना ही लिख देना पर्याप्त समझता हूँ कि इन व्रतोंका कड़ाईके साथ पालन करनेके कारण ही गांधीजीके लघु शरीरमें मानवताका सर्वतोमुखी विकास दृष्टिगोचर होता था। उनकी अहिंसा वीरकी अहिंसा थी। उनका सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और असंग्रह उनके जीवनकी दीर्घ साधनाका परिणाम था। वे महान् साधक पुरुष थे और उनकी महानता दैनिक जीवनकी छोटी-छोटी बातोंमें भी प्रकट होती थी। शरीर-श्रममें उनका विश्वास था; भोजन वे स्वादके लिये नहीं, शरीरको जीवित रखने और उससे काम लेनेके लिये करते थे; मृत्युतकका उन्हें भय नहीं था। सब धर्मोंको वे परमात्माके निकट पहुँचनेके अलग-अलग मार्ग समझते थे। अपने लिये अपने मनके धर्मपर चलनेकी जैसी स्वतन्त्रता वे चाहते थे, वैसी ही स्वतन्त्रता दूसरोंको भी देनेके लिये तैयार थे। चर्खा उनकी स्वदेशी भावनाका प्रतीक था, छुआछूतकी भावनासे वे बहुत ऊपर थे और इसके साथ ही वे अत्यन्त विनम्र थे। अभिमानका उनमें लेश भी न था। जिस समय भारतको दिल्लीमें स्वराज्य प्राप्त होनेका समारोह हो रहा था, वे नोआखालीके मार्गपर थे। जिन दिनों भारत-विभाजनके कारण भीषण मार-काट मच गयी थी, उन्होंने अपने प्राणोंकी आहुति दी कि जिससे पारस्परिक द्वेष और घृणाकी अग्नि बुझे। उन्होंने अपने जीवनादर्शसे भारतको अहिंसाके पथपर चलाकर संसारको यह दिखा दिया कि मानवजातिका कल्याण 'आटम-बम'के निर्माण और उसके प्रयोगसे नहीं, सत्य, अहिंसा, प्रेम और क्षमाके सतत विकाससे ही सम्भव है। यही कारण है कि हिंसासे आवेष्टित, युद्धजर्जरित संसार आजके भारतको नेतृत्वके लिये आह्वान कर रहा है—आजका भारत, जिसे हम गांधीजी-का भारत कह सकते हैं; गांधीजी, जो मानवताकी मूर्ति थे।

मानवताकी मूर्ति—गांधीजी

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

साधारण शक्तिवाले अतिमानवके क्रियाकलापोंसे आकर्षित होकर मनुष्य चाहता है—हम भी वैसे ही हो जायँ। यह स्पृहा स्वाभाविक है। कारण यह है कि गुण-दोषसे युक्त रचनाके एक भागकी, जिसे हम 'विकृति' नामसे पुकारते हैं, निर्मात्री प्रकृति है। इस विकृति-समूहसे ही सांसारिकता-का क्रमशः विकास होता रहता है। यह तमोमय है। और दूसरे भागका निर्माता 'पुरुष' है। वह दूसरा भाग प्राकृत अथवा सत्य है। यह सांसारिकतासे मनुष्यको ऊपर उठाता है। यह सत्यमय है। विकृतिसे विकसित होकर जब मनुष्य प्राकृत या सत्यके ग्रहण करनेकी स्थितिमें आ जाता है, उस समय वह विकृतिकी धाराको त्यागकर प्राकृत धाराको ही ग्रहण करने लगता है। उस कालमें उसका चेतन मन, जो प्राकृत धारासे धुलकर निर्विकार हुआ रहता है, शरीरके प्रत्येक अवयव-इन्द्रिय, यन्त्रसमूह एवं सूक्ष्म अणुतकको प्रभावित कर डालता है। ऐसी दशामें मनुष्य निश्चित रूपसे उच्च आदर्शोंकी आकांक्षा करने लगता है; क्योंकि बिना उच्च आदर्शके वह एक पग भी अग्रसर नहीं हो सकता। चेतनके लिये गतिरोध ही मरण जो है। वह जिसका अंश है, पुनः उसीमें उसे लीन होने जाना है। अपने अंशको विशुद्ध रूपमें ही 'पुरुष' अपनेमें लीन करेगा, इसलिये अपनी सत्य-धारासे निर्माणकालके विकारोंको वह धो डालना चाहता है। उसी सत्य-धारासे प्रभावित होकर हम सदा उच्च-से-उच्चतर आदर्शों-से अपनेको पूर्ण बनानेकी चेष्टा किया करते हैं। इसी 'पुरुष' की प्रेरणासे समय-समयपर विकार-लिप्त मनुष्य-समुदायको सत्य-धाराकी ओर प्रेरित करनेवाले लोकोत्तर महामानवका अवतरण होता रहता है और उसके आदर्शोंको ग्रहणकर हम भी उस चिरंतन सत्यके निर्माता 'पुरुष'में लीन होनेकी चेष्टामें रत रहते हैं। ऐसी दशामें भगवान् बुद्ध और ईसाकी कोटिके युगप्रवर्तक बापूके आदर्शोंको ग्रहण करनेके यदि हम इच्छुक हों तो यह हमारी परम्पराके सर्वथा अनुरूप ही होगा।

बापू इतने महान् थे कि उनकी महत्ताका मापदण्ड हो ही नहीं सकता; फिर भी उनके युगसे हमारा जीवन विकास पाता रहा है। मनुष्य होनेके नाते वे भी विकृत धारासे बह-कर प्राकृत धारामें पहुँचे थे। अपने जीवनके दीर्घकालकी अवधिमें विकृत समूहको पारकर प्राकृत समूहमें पहुँचना

और फिर चिरंतन पुरुषमें लीन हो जाना—यही तो उनके प्रति प्रधान आकर्षणका केन्द्र है। बापू आज हमसे तिरोहित हैं; किंतु उनके सतत जागरूक रखनेवाले चरण-चिह्न विकृत धारासे प्राकृत धाराकी ओर ले चलनेके लिये प्रकाशपुञ्ज बिखेर रहे हैं।

जिसे हम आदर्श मानते हैं और जिसका पदानुसरण करते हैं, उस व्यक्तिके प्रत्येक कार्यपर हम एक सतर्क दृष्टि भी डालते रहते हैं। यह दृष्टि आलोचककी न होकर जिज्ञासुकी होती है। उनके कार्योंके आलोचक सदा भ्रममें ही रहे हैं और उन्हें परखनेमें उन्होंने भूलें की हैं। वस्तुतः बापूके 'संघर्ष' और 'कर्म'मय जीवनकी समष्टि रूपसे व्याख्या करनेसे ही भ्रम फैलता है। व्यक्ति, समूह या राष्ट्रसे संघर्ष न करके संसारमें फैले हुए अनाचारोंके प्रति सचेतकके रूपमें वे अपनी तीव्र भावना व्यक्त करते थे और उसी अभिव्यक्तिको संसारके अधिकांश व्यक्ति संघर्षका नाम दे डालते थे। दक्षिण अफ्रीका और भारतमें मुख्यतः गोरोंके अनाचारोंका ही उन्होंने सक्रिय विरोध किया; किंतु गोरोंके सद्गुणोंके सबसे प्रबल समर्थक वे ही थे; केवल धर्म, राजनीति एवं सामाजिक अनाचारोंके प्रति ही उनकी विरोधी भावना रही हो—ऐसी बात न थी। अपितु उनका मानस-क्षितिज ऐसा विशाल था कि संसारके बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे असत् कृत्योंके वे तीव्र आलोचक थे और सत्कार्योंके सक्रिय समर्थक। उनकी प्रेरणासे सामूहिक और व्यक्तिगत रूपसे इतने व्यक्ति महान् बने हैं कि उनकी संख्या निर्धारित करना कठिन है। जहाँ उनके भाषणों, प्रवचनों, पत्र-प्रतिनिधियोंके सम्मुख दिये गये वक्तव्यों एवं स्वसम्पादित साप्ताहिक पत्रोंके लेखोंने संसारको सत्प्रेरणा देकर रामराज्य-युगके प्रति अभिमुख किया, वहाँ व्यक्तिगत रूपसे सम्पर्कमें आये हुए मनुष्योंको भी उन्होंने अपने सदुपदेशों और पत्रव्यवहारसे एकाएक ऐसा ऊँचा उठा दिया कि आज उन व्यक्तियोंमेंसे अधिकांशके व्यक्तित्वके सम्मुख संसार नतमस्तक है।

बुद्धने एशिया-खण्डमें 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' की जो ज्योति जलायी और ईसाने सागर-पार अपने आचरणके द्वारा तमसावृत जनसमूहपर जो प्रकाश फैलाया, उसीकी उद्धरणी युगकी नाड़ी पहचानकर बापूने की। प्राचीन ऋषि-परम्पराका विरोध न करके हीन आयु, क्षीण बल और लघु शरीरका ध्यान रखते हुए उन्होंने मानवमात्रके लिये उपासनाका लाघव-मार्ग पकड़ा और बढ़ते हुए नास्तिक संसारके सम्मुख सुगम आस्तिक पथ प्रशस्त किया। उनकी सामूहिक प्रार्थनाने कोटि-कोटि मानव-समूहको जो बल और प्रेरणा दी, वह वर्णनातीत है। उनकी प्रार्थनामें ईश्वर और उनके घरका बँटवारा न हो सका। यदि बापू चाहते तो व्यक्तिगत प्रार्थना कर लिया करते; लेकिन उन्होंने अपने आचरणके द्वारा सर्वनाशके गर्तमें जाते हुए मानव-समूहको उबार लिया। उन्होंने उपासनाकी ऐसी सामूहिक प्रणाली चलायी, जिसमें हिंदू, मुसल्मान तथा ईसाई आदि जातियोंकी उपासनाके समयके धार्मिक प्रार्थनासूत्र ग्रथित थे। उन्हें अपनी 'आश्रम-भजनावलि'में सम्मिलितकर उन्होंने ऐसा रूप दे डाला कि आज इस उपासना-प्रणालीपर संसार चकित है।

मानवमात्रको पूर्ण एवं संयत विकाररहित बनाने और ऊपर उठानेवाले कृष्णार्जुनके कथोपकथनरूपमें बताये गये दार्शनिक तत्त्वका पारायण उनकी प्रार्थनामें होता था। प्रार्थनाकी गति ऐसी होती थी कि उस समयके वातावरणमें उच्चरित सामूहिक प्रार्थनापरक वाक्य पूर्ण बोधगम्य होकर अन्तःकरणको छूने लगते थे। ऐसे वातावरणमें रहकर कोई भी अधम आत्मा कुछ कालमें अपनी मलिनता धो सकता था। प्रार्थनाका कार्यक्रम बापू कभी भी बंद नहीं करते थे। सतत अभ्यास करते रहनेसे व्यक्ति अवश्य सफलीभूत होता है। बापू कहा करते थे—'जहाँ सर्वदा मन दौड़ता रहेगा, अन्तमें शरीर भी वहाँतक अवश्य ही घसिटकर पहुँचेगा।' स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद जब साम्प्रदायिक कलहकी कालिमामें यह विशाल भू-भाग डूब गया था, दिल्लीमें बापूने सामूहिक प्रार्थनासे ही प्रकाश बिखेरकर लोगोंको उबारा था।

बापू देहको कष्ट पहुँचाकर, भयानक तितिक्षा सहकर काल-यापन करनेवाले साधु या संन्यासी न थे। 'संन्यास' शब्दको वे व्यापक अर्थमें लेते थे। किस वस्तुको त्यागनेसे वस्तुतः लाभ है और न त्यागनेसे हानि है, इसे वे भलीभाँति समझते थे। वे अपनी सदसद्विवेचनी बुद्धिद्वारा—अनुभवों, ऐतिहासिक प्रमाणों एवं अग्रज मनीषियोंके और अपने तर्कोंद्वारा किसी कार्यको कसौटीपर कस लेते, तब उसे प्रयोगमें लाते थे। वे अपनी शारीरिक आवश्यकताओंके अनुसार खाट, चौकी, चटाई—सभीका उपयोग करते थे। उनका जीवन राजयोगियोंके सदृश था। विडम्बना और दिखावटको नमस्कार करते हुए 'उचित' का ग्रहण वे सर्वदा करते रहे। मसनद, पीकदान, चम्मच-सरीखे शारीरिक सुखके सभी

उपकरणोंका वे प्रयोग करते थे। प्रोफेसर भंसाली-जैसे त्यागी-को भी उन्होंने साधारण जीवन व्यतीत करनेवाला बना डाला और उनके द्वारा समाजका और विशेषतः आश्रमका जो उपकार हुआ, वह प्रत्यक्ष है।

एक बार सम्भवतः सन् ३० के सत्याग्रह-आन्दोलनके समय बिहारके तत्कालीन प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता स्वामी सहजानन्द सरस्वतीने बापूसे पत्रद्वारा पूछा—'हम जेलमें हैं। यहाँके अधिकारी हमारे साथ हमारा दण्ड नहीं रहने देते। ऐसी दशामें हम क्या करें? क्या हमारा संन्यास-आश्रमका धर्म नष्ट नहीं होगा?' बापू भी जेलमें ही थे। उन्होंने लिख भेजा—'दण्ड त्याग दीजिये। ऐसे आपत्कालमें संन्यास भ्रष्ट होनेका भय नहीं है।' कहनेका आशय यह कि देश, काल, पात्र और परिस्थितिको विचारकर वे कार्य करनेके पूरे अभ्यस्त थे। उनके जीवन-दर्शनके सिद्धान्त समन्वयात्मक थे। पूर्व और पश्चिमकी जीवन-प्रणालियोंमेंसे और इस देशके विभिन्न आश्रम-धर्म, संस्कृति, चाल-ढाल—सभीके सार तत्त्वको लेकर उन्होंने जो चर्या गठित की, वह सर्वसाधारण—गृहस्थ, ग्रामीण, वित्तवान् एवं हीन वित्तवाले—सभीके लिये सुलभ हो गयी। बापू अपने-आपमें एक प्रयोगशाला ही थे। जीवनकी विभिन्न दिशाओंमें वे ऐसे-ऐसे प्रयोग करते रहते थे, जो राष्ट्रके असंख्य प्राणियोंपर सच्चे उतर सकें।

स्नान, भोजन, शरीरशुद्धि, नींद तथा नानाविध शारीरिक क्रियाकलापोंके समन्वयात्मक प्रभावका प्रत्यक्षीकरण उनके नीरोग, दर्शनीय, स्वस्थ शरीरमें होता था। चित्तकी समस्त वृत्तियोंका निरोध ही योग कहा गया है। प्राचीन ऋषि-परम्परामें अधिकांशतः दैवी शक्तिकी प्राप्तिके निमित्त, सांसारिकतासे मनको मोड़कर अध्यात्मकी ओर प्रवृत्त होना ही एकमात्र सांस्कृतिक परम्परा बन गयी थी। उस परम्परासे उस युगमें भले ही अधिक लाभ होता हो; किंतु इस युगमें तो इसके द्वारा प्राणियोंके लिये उतनी सिद्धि संचित करना जरा कठिन-सा हो रहा है। सृष्टिकी सार्थकता और निरर्थकताको व्यावहारिक दृष्टिकोणकी तुलापर परखनेसे पहली परम्परा दुरूह भासित होने लगती है। इस परम्पराको बापूने अपनी सामाजिक परम्परामें ढालकर अपने आचरणके द्वारा ऐसा रूप दे डाला, कि अस्त-व्यस्त होती हुई भारतीय प्राचीन संस्कृति उनके द्वारा सम्पादित होकर पुनः व्यावहारिक रूपमें मुखरित हो उठी। बापूकी जीवनचर्या पुकार-पुकारकर यही कह रही है कि संसारसे विरत होनेकी आवश्यकता नहीं, अपितु उसमें विशेष रस लेनेमें ही लाभ है। तभी हम फिरसे संसारके आध्यात्मिक गुरु-पदपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं।

भगवान् बुद्धके जीवनमें, संसारके कष्टोंको देखकर जिस प्रकार त्यागकी भावनाओंका उदय हुआ था और जरा-व्याधि, दुःख-दारिद्र्य एवं नानाविध क्लेशोंके चंगुलमें सांसारिक प्राणियोंको विलोक वे उद्बोधित हो उठे थे, ठीक बापूके जीवनमें भी अनेकानेक घटनाओंके फलस्वरूप इसी प्रकारकी मनोदशा हो चुकी थी। उनकी जीवनचर्यामें अत्यन्त सादगी, निम्नस्तरकी आर्थिक व्यवस्थाकी स्वीकृति तथा उपयोगकी वस्तुओंकी संख्याओंको घटाकर अल्प वस्तुओंके द्वारा जीवन-निर्वाहकी ओर जो प्रवृत्ति देखी जाती थी, वह उनके जीवनके दीर्घकालिक अनुभवोंसे तप-तपाकर बने हुए सिद्धान्तके रूपमें उठी थी। अपने आचरणके द्वारा प्रारम्भमें बापू व्यक्तिको और उसके पश्चात् समूहको सत्-शिक्षा देते थे। बुद्धने अपने युगके अनुरूप कार्य किया था और सर्वोपरि सत्ताको शून्यवादके रूपमें समझकर अपने आचरण और प्रयोगोंके द्वारा उसे पाली-पल्लियोंकी या ग्रामोंकी भाषामें—अर्थात् सर्वसाधारणकी बोलचालकी भाषामें उस ज्ञानका वितरण करके एशियाखण्डके अज्ञानान्धकारको प्रकाशमें परिवर्तित कर दिया। परम भागवत बापूने अपनी आती-जाती साँसोंमें 'सोऽहं' या अजपा जपके स्थानपर उस परम सत्य-तत्त्वको ही रामके रूपमें पहचानकर प्रबल विश्वासके साथ उसे जन-जीवनमें उतार दिया। सात लाखसे ऊपरकी संख्यामें बसे भारतीय गाँवोंके उत्थानका प्रयोगात्मक ढंग सिखाकर वे अपने युगके अनुसार बुद्धसे भी आगे बढ़कर सत्य, अहिंसा, सेवा और आत्म-सम्मानका—जो मानवको पशुओंसे भिन्न करनेवाले तत्त्व हैं—आचरण और प्रचार करके एशियामें ही नहीं, अपितु विश्वके कोने-कोनेमें उच्च स्तरकी मानवताकी प्रेरणा देनेवाली शक्तिका वितरण करनेमें समर्थ हुए थे। विदेशोंके मानवतावादी जनोंका समूह दुःख-दारिद्र्य और संघर्ष-रत मानवकी समस्याओंका एकमात्र हल गांधी-दर्शनको ही समझ रहा है।

बुद्धान्दोलनमें इस युगके प्राणियोंको संसारसे विलग होनेकी प्रेरणा मिलती थी। इधर बापू संसारमें रहनेवालोंकी सांसारिकता छीनना नहीं चाहते थे; किंतु उन्हें सांसारिकतामें रहनेकी दशामें ही आचरणद्वारा पावन बननेकी प्रेरणा दिया करते थे और इस प्रकार वह व्यक्ति और समूह नीचेसे विशेष ऊपर उठता था। बौद्धकालीन महाकवि अश्वघोषने 'सौन्दरानंद'

महाकाव्यमें, बौद्धधर्ममें दीक्षित एक दम्पतिका चित्रण किया है। वह कितना मार्मिक और संसारके विकासमें बाधक है! जीवनकी मधुमय आकाङ्क्षाओंको हृदय-पेटिकामें सँजोये हल्दीसे पीले हाथवाली षोडशी ललना, और उसके सम्पूर्ण जीवनकी बागडोरको अपने हाथमें लिये, यौवनकी अरुणिमासे ओतप्रोत विह्वल युवक—दोनों ही उस समयके महान् नेता तथागतसे प्रेरणा पाकर अपनी उठती हुई कुसुम-कोमल उमंगोंपर शिला रख मुण्डित होते हैं और क्षणमें ही जनक-जननीको मूर्च्छित छोड़कर घरसे निकल जाते हैं। राज-पथके चौराहेपर पहुँचकर एक कहता है 'प्रिये!' और दूसरी ओरसे ध्वनि निकलती है—'कहो, प्राण! अब हाथ छोड़ो और तुम अपना रास्ता लो।' महान् नेता तथागतके उपदेशसे उत्पन्न आवेश अभी दोनोंमें कार्यरत था। सुनकर ललनाके अन्तःकरणमें छिपा पौरुष-भाव जाग उठा और उसने हल्दीसे रँगी अपनी अँगुलियोंसे संकेत करके कहा—'तो, प्रियतम! तुम्हारा मार्ग भी तो यह है—जाओ!' और दोनों एक-दूसरेको बिना देखे ही दो दिशाओंकी ओर सदाके लिये चल पड़े। उस समय समीपके पेड़-पौधे, लता-गुल्म तथा पशु-पक्षी—सभी एक बार करुणाकी गुहार करके—आहें भरकर मौन हो गये।

बुद्ध अपनी प्रेयसी यशोधरा और पुत्र राहुलको सोते छोड़ चुपचाप चल पड़े थे। यशोधरा बुद्धके प्रतिबिम्ब राहुलको गोदमें लिये-लिये 'सखि! वे मुझसे कहकर जाते।' की रट लगाकर क्षीणकलेवर होती गयी। उस युगके युवक-युवतियोंको उन्होंने अपने ही अनुरूप ढालनेकी चेष्टा की। बापूने दक्षिण अफ्रिकामें या भारतमें जहाँ कहीं भी जन-जागरण किया, नर-नारीको समष्टि-रूपमें देखा और सदा साथ ही रहनेकी शिक्षा दी। यही नहीं, वयस्क विधुर और विधवाओंको, यदि वे ब्रह्मचर्यके व्रती न रह सकें, तो पुनः प्रेम-सूत्रमें बँध जानेकी सलाह वे देते थे। यदि कोई विधवा बहन पुनर्विवाह करके बापूको प्रणाम करने जाती तो वे अति आह्लाददायक सम्बोधनोंसे उसका स्वागत करते और अपना आशीर्वादरूपी प्रेम बरसाकर उसके उस नये सम्बन्धको भारतीय संस्कृतिके अनुरूप पुनः पावन बनाये रखनेकी सलाह देते थे। उनका कहना था—'अनिष्टकारक इच्छाओंका दमन करते हुए साथ रहकर कल्याणकारी जन-सेवा-कार्यमें रत रहो।' वे निरंतर 'बा' को—कल्याण-मार्गकी प्रेरिकाके रूपमें और अपने सत्कार्योंकी सहायिकाके रूपमें देखते थे और बिना बाके उनके सभी कार्य अधूरे-से लगते थे। बापूके आश्रममें दम्पति-रूपमें रहते हुए भी नर-नारियोंने वह साधना की, जिसका उदाहरण इतिहासमें मिलना कठिन है।

बापूने अपनी रहन-सहन और दिनचर्याको इस प्रेरणासे सादगीसे पूर्ण बनाया कि भारतके करोड़ों मनुष्य विवशताके कारण जिस प्रकार जीवन-यापन करते हैं, उनका—विशेषतः जैसा आहार, वस्त्र और वास-स्थान होता है, शक्ति और साधन रहते हुए हम भी वैसे ही रहनेका व्रत लें; जो आश्रमवासी बनकर हमें इस व्रतमें सहायता पहुँचानेके इच्छुक हों, वे सहर्ष हमारे सम्पर्कमें आयें। भारतीय संस्कृतिके महामान्य ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत'में कहा गया है कि एक ओर मनुष्य अधिक संग्रह करके अपने पास रखता है और दूसरी ओर लोग भूखों मरते रहते हैं—ऐसी परिस्थितिमें संग्रह करनेवाला चोरीका ही माल रखनेका अपराधी है। आधुनिक अर्थशास्त्री भी इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं। इसके अतिरिक्त समाजको वस्तुतः साम्यवादी प्रणालीसे गठित करनेके उत्सुक नेताओंके भी तो यही सिद्धान्त हैं। कृष्णद्वैपायन व्यासका प्राचीन अर्थशास्त्रीय दर्शन, पाश्चात्य मार्क्सका दर्शन तथा गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था—सभीका परिणाम अन्ततः एक ही है; वह यह कि पूर्ण श्रम करनेके पश्चात् जो धन प्राप्त होता है, उस धनसे आगे और अधिकके जो तुम स्वामी बने बैठे हो, वह कहाँसे आया?

बापू जैसे भोजन और वास-स्थानकी सादगीके पक्षमें थे, वस्त्रके विषयमें तो वे और भी सादगीके अभिलाषी थे। उन्होंने अपने व्यक्तिगत आचरणमें भी दिखा दिया कि इतने कम वस्त्रोंसे भी एक व्यक्ति पूर्ण सभ्यतासे युक्त जीवन बिता सकता है। दो-तीन धोतियाँ, दो चादर और एक-दो तौलिये—बस, इतना एक व्यक्तिके लिये क्या कम है? और उष्ण कटिबन्धवाले इस देशमें केवल शीतकालमें ही ओढ़ने और बिछानेके निमित्त रूई या कम्बलकी आवश्यकता होती है!

मानवताकी मूर्ति राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

(लेखक—श्रीमहादेवप्रसादजी निगम)

महात्मा गांधीने अपनी आत्मकथामें यह चेतावनी दी है कि जो मेरी आत्मकथाका अवतार या महात्माके भावसे अध्ययन करेगा, उसे उतना लाभ न होगा जितना कि उस पाठकको होगा, कि जो मुझे अपने समान एक साधारण मनुष्य मानेगा। मैं अवतार, तीर्थंकर या संत नहीं हूँ; मेरी मान्यता यह है—मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।

प्रभु-प्रार्थना वे प्रातः-सायं नियमसे करते थे। उनका कथन था—मुझे भोजन न मिले तो मैं जीवित रह सकता हूँ, किंतु भजन किये बिना नहीं। प्रार्थनाके पश्चात् उसमें सम्मिलित सज्जनोंको वे उपदेश भी देते थे। एक बार उपस्थितोंमेंसे कुछने यह प्रश्न किया—'आप गोस्वामी तुलसीदास और कबीर-दासके समान चमत्कार क्यों नहीं दिखाते?' इसके उत्तरमें आपने निवेदन किया—'चमत्कारको नमस्कार! मुझे अपनी प्रशंसा पसंद नहीं। मैं उनके समान महापुरुष नहीं हूँ।'

चर्खा चलाते समय वे नामका मानस जप करते थे। वे भक्तिके नौ विधानोंमें पारंगत थे।

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई (नवीं)।
जथा लाभ संतोष सदाई (आठवीं)॥

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजतहिं कृपा करत रघुराई॥

इन अर्द्धालियोंको उन्होंने आचरणमें उतारकर दिखलाया था।

उन्होंने हरिश्चन्द्रके आख्यानसे सत्य, प्रह्लादकी यातनाओंसे सत्याग्रह, भरत-चरितसे भगवद्भक्ति, श्रवणकुमारकी कथासे माता-पिताकी आज्ञाकारिता एवं गीतासे निष्काम कर्मयोगकी शिक्षा ग्रहण की थी। अपरिग्रह, अहिंसा और ब्रह्मचर्यके नियम वे मन-वचन-कर्मसे निवाहते थे।

'नवजीवन'के प्रकाशनद्वारा राजनीति और धर्म-नीतिका समन्वय करते हुए वे सत्य, सत्याग्रह, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सेवा आदिके सिद्धान्तोंपर अपने निर्मल विचार प्रकट करते थे।

ग्रन्थावलोकनमें उनका ध्येय था मनन और निदिध्यासन। उनकी योग और यज्ञकी व्याख्या भी अलौकिक थी। प्रचलित शासननीतिका अध्ययन—यह उसमें सर्वसाधारणकी अड़चनोंको ढूँढ़ निकालना और उनके परिहारार्थ अहिंसात्मक सत्याग्रह करना था उनका राजयोग। अग्निमें साकल्य समर्पित न करके, दीन-हीनोंकी भूख मिटाकर उन्हें तृप्त करना था—यज्ञ। जिसने सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया तथा सम्पत्ति एवं धनका परित्याग नहीं किया, उसे शास्त्रोंका वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता—इस सूत्रवाक्यमें उनका पूर्ण विश्वास था।

आत्मशुद्धि, हिंदू-मुस्लिम-एकता, हरिजन-हित एवं शासनसे टक्कर लेनेके उनके शस्त्र-अस्त्र थे—अहिंसात्मक सत्याग्रह।

स्वराज्य प्राप्त करके वे संतुष्ट नहीं हुए थे। उनकी आकाङ्क्षा थी कि भारतमें रामराज्य स्थापित हो। इस हेतु वे भारतीयोंको सदाचरणकी ओर अग्रसर कर रहे थे।

कलिमें हो सतयुगकी करनी। शासक शासित सत आचरनी॥

श्री एच्०वाई०एस्०एल्० पोलक साहबने कहा था कि मानवताकी शिक्षाके लिये कुछ दिन गांधीजीके सम्पर्कमें रहना चाहिये। अब वे इस धराधामपर नहीं हैं। अस्तु 'हम मानव हैं और मानवतामात्र हमारा धर्म है' इस ध्येयके अनुयायी उनकी आत्मकथाके अनुशीलनसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

वैश्यवंशके होकर उनमें ब्राह्मणोंकी-सी ब्रह्म-जिज्ञासा एवं क्षत्रियोंका-सा साहस था। धर्मनीति और राजनीतिमें वे वैश्यवत् निपुण थे। चारों वर्णोंका एक धर्म सेवा है। सेवाके वे आदर्श थे। उन्होंने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंको एक साथ अति उत्तमतासे निवाहा था।

वे अपना एक मिनट भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। प्रति-दिनका कार्यक्रम वे नित्य नया बनाते और उसे पूर्णतया निभाते थे। उनका प्रतिप्रभात मङ्गल-प्रभात था। उसमें नवजीवन-का उत्साह भरा रहता था। वे अपनी दैनंदिनी नित्य लिखते थे। उनसे जो इस बातकी शिकायत करता कि दिनका प्रोग्राम नहीं निभता, तो वे उससे कहते थे—तुम कामचोर हो।

उन्होंने अपना मानव-जीवन सार्थक करके दिखा दिया। वे मनुष्यके लिये जिये और मनुष्यके लिये ही मरे। उनकी अमर मृत्युपर संसारके सभी राष्ट्रोंने अपने-अपने झंडे नीचे करके शोक प्रदर्शित किया। उनका अस्थि-विसर्जन समस्त तीर्थोंके सलिलमें समारोहके साथ किया गया था।

उनकी जीवनीसे स्फुट शिक्षाएँ

(१) मोहनके अपने दास थे औ कर्मके वे चन्द थे।
सत्य-सागरके मथनको उनके संयम मन्द्र थे।
(२) जीवन जेता सब संग्राम। जीते सो जाके सँग राम॥
(३) भारत-भरत-भारती सेव। शिक्षा मानो दानव-देव।
(४) ताव दिखाना, नाम कमाना, मानवताका ध्येय—
पश्चिमवाले इसे मानते, पूरबवाले हेय।

सादा जीवन उच्च विचार

गांधीजीकी प्रत्येक चेष्टासे यह तथ्य प्रदर्शित होता था। उनके विचार-आचारमें समता थी। वे सफेदपोश बगुले नहीं, हंस थे। सरलता स्थायी रखनेके लिये वे समय मिलनेपर बच्चोंके साथ खेलते थे।

वक्तृता

वे घंटों व्याख्यान नहीं देते थे। जिस तथ्यको वे अनुभव कर लेते, वही अपने मुखसे कहते थे। उनका कहना था—बिना आप अनुभव किये कोई वक्ता अपना प्रभाव श्रोतापर नहीं डाल सकता।

गोरक्षा

'इसके जो आज बहुप्रचलित अर्थ लिये जाते हैं, उनसे अधिक व्यापक अर्थोंमें मेरा विश्वास है।'

दिन पाँच जिंदगीके अच्छी तरहसे जी लो।
तन परवरिशके खातिर पशु-पक्षीका न जी लो॥

राष्ट्र-सम्पत्ति

उनके सम्मानमें जगह-जगह जो पैसा प्राप्त होता था, उसे वे अपने व्ययमें न लेकर सब-का-सब तत्स्थानीय कांग्रेस-कार्यालयमें दे देते थे। दक्षिण अफ्रिकामें जो धन उन्हें मिला था, उसमेंसे सोनेका हार कस्तूरबाने रख लिया था। बापूने 'बा' को समझाकर वहाँकी कार्यकारिणी-समितिमें उसे भी जमा करा दिया था।

विश्वशान्ति

वे अखिल विश्वके यावत् मनुष्योंसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नाता निबाहते थे। बिना देश, वर्ण आदि भेद-उपभेदके द्वितीय विश्वव्यापी युद्धको बंद करनेके लिये उन्होंने इंगलैंड और जर्मनीके नेताओंको सत्परामर्श दिया था। सन् १९४७ में उन्हें विश्वशान्तिके दूत सिद्ध होनेपर नोबुल पुरस्कार प्रदान किये जानेकी बात थी; किंतु उनके असामयिक अवसानसे वह किसी औरको दिया गया।

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके लिये उपयोगी उनके अनुभव-सिद्ध अमूल्य उपदेश पाठकोंको उनकी आत्मकथा और नवजीवन-पत्रकी पुरानी फाइलोंसे तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंसे प्राप्त होंगे।

धूलमें हीरा

मेरी मेकल्योड बेथ्यून एक गरीब हब्सीकी लड़की थी। उसने बड़ी कठिनाई झेलकर शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर उसने गाँवमें पाँच बालकोंकी एक पाठशाला खोली। आज उसकी—फ्लोरीडामें नीग्रो लोगोंका कालेज, पाठशालाएँ, प्रौढ़-शिक्षण, चिकित्सालय आदि बहुत-सी संस्थाएँ सफलतापूर्वक चल रही हैं। जिनकी कीमत पचास लाख समझी जाती है। वह अमेरिकाके प्रेसिडेंटकी सलाहकार भी रही थी। गत सन् १९५५ में उसका देहावसान हुआ। उसने अपने एक प्रवचनमें कहा था—

'अपने धनका उपयोग मानव-आत्माकी उन्नतिके लिये करो। कौन जानता है कि धूलमें कोई हीरा पड़ा है या नहीं?' 'मानवता'

श्रीरामचरितमानसमें मानवकी भोजन-विधि

(लेखक—वैद्य पण्डित श्रीभैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी)

भगवती श्रुतिका उपदेश है—अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति।

(तै० उ० भ०, अनु० २, मं० १)

अर्थात् इस पृथ्वीलोकके आश्रयसे स्थित जितने भी प्राणी हैं, वे सब अन्नके द्वारा ही उत्पन्न होते हैं और अन्नके द्वारा ही जीवन-धारण करते हैं। भाव यह है कि विना अन्न खाये (भोजन किये विना) कोई भी प्राणी जी नहीं सकता। क्षुत्पिपासा प्राणके धर्म हैं। स्थूलशरीरका पञ्चभूतोंसे निर्माण होता है—'तत्र पाञ्चभौतिको देहः।'

(सांख्यदर्शन ३। ७५)

यथा—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥

उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमनादि पञ्च कर्मोंद्वारा पञ्च कर्मेन्द्रियोंका तथा श्रवण, दर्शन, स्पर्श, रसन और गन्धादि-ग्रहणरूप पञ्चकर्मोंद्वारा ज्ञानेन्द्रियोंका दिन-रात शक्तिक्षय हुआ करता है। क्षुधा-पिपासाद्वारा इस शक्तिक्षयका परिज्ञान होनेपर भोजनसे ही उस क्षतिकी पूर्ति और बल-वीर्य-का वर्धन तथा संग्रह हुआ करता है। अर्थात् इस स्थूलशरीर-यन्त्रका परिपोषण और वर्धन भोजनसे ही होता है। भोजन किये विना यह शरीर-यन्त्र चल नहीं सकता।

वैसे तो—

भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग जाये।

(विनयप०)

—वाला नियम होनेसे भोजन तो सभी प्राणी करते हैं, किंतु मानव सभी जीवधारियोंसे उत्कृष्ट प्राणी होनेके कारण भोजन-विज्ञानमें सबसे आगे बढ़ा हुआ है। मानव-धर्मशास्त्र तथा चिकित्सा-शास्त्रमें भोजन-विज्ञानपर जो विवेचन किया गया है, वह इतने विस्तारसे है कि उसके लिये एक स्वतन्त्र विशेषाङ्ककी सामग्री ही स्यात् अलम् हो सके। किंतु न तो यहाँ इतना समय है और न इसकी उतनी आवश्यकता ही है। यहाँ तो श्रीरामचरितमानसमें वर्णित भोजन-विधिपर ही संक्षेपसे दो चार बातें कहनी हैं।

भोजनके सम्बन्धमें सबसे मुख्य बात तो यह है कि वह अन्नदोष और दृष्टिदोषसे रहित होकर पवित्र तथा सात्त्विक एवं सुस्वाद एवं लघु-पाच्य होना चाहिये।

चित्त-शुद्धिके लिये स्मृतिकारोंने दूषित अन्नका सर्वथा त्याग करनेका आदेश दिया है। यथा—

अन्नदोषेण चित्तस्य कालुष्यं सर्वदा भवेत्॥

अर्थात् अन्नके दूषित होनेसे सदा ही चित्त अशुद्ध रहता है। (पाराशर०) अतः अन्नकी भलीभाँति परीक्षा किये विना उसे कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। यथा—'तस्य प्रतिग्रहं कुर्यान्नापरीक्ष्य कथंचन' (परा०) परीक्षा करते समय निम्नकथित लोगोंका अन्न नहीं खाना चाहिये—

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्।
आयुर्हि स्वर्णकारान्नं यशश्चर्मविकर्तिनः॥
कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति॥
पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्॥

(मनु० अ० ४ श्लोक २१८-२२०)

अर्थात् राजाका अन्न प्रभावको, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजको, सुनारका अन्न आयुको और चमारका अन्न यशको क्षीण करता है। शिल्पकारका अन्न संतानको तथा धोबीका अन्न बलको नष्ट करता है। संघ (समूह) तथा वेश्याका अन्न मनुष्यको शुभ लोकोंसे दूर कर देता है। चिकित्सक (डाक्टर या वैद्य) का अन्न पीव (राध) के समान, कुलटाका वीर्यके समान, सूद (ब्याज)-खोरका अन्न विष्ठाके समान तथा शस्त्र बेचनेवालेका अन्न मलके समान है। अतः इन सभीके यहाँका अन्न नहीं खाना चाहिये। इसके अलावा उन्मत्त, क्रोधी, रोगीका बनाया हुआ तथा जिसमें केश या कीड़े पड़े हों और जो पैरोंसे स्पर्श हो चुका हो, ऐसा अन्न कदापि नहीं खाना चाहिये। इसके अतिरिक्त बालघातकका देखा हुआ, रजस्वलाद्वारा स्पर्श किया हुआ, पक्षीका जूठा एवं कुत्तेके छूए हुए अन्नको भी नहीं खाना चाहिये। गायका सूँघा हुआ, चंदेद्वारा प्राप्त, विद्वान् पुरुषोंद्वारा निन्दित और चोर, गायक, बढ़ई, यज्ञमें दीक्षित, कैदी, लोक-निन्दक, नपुंसक, व्यभिचारिणी, पाखण्डी—इनका अन्न भी नहीं

खाना चाहिये । शूद्रका जूठा, जन्म-मरणके आशौच (दस दिनके भीतर) का अन्न, विना आदरके दिया हुआ, देवताके निमित्त चढ़ाया हुआ, वन्ध्या-स्त्री, शत्रु अथवा ग्रामाधीश (सरपंच या ग्रामसेवक आदि) का एवं जिसपर किसीने छींक दिया हो, चुगलखोर, असत्यवादी, यज्ञफल वेचनेवाले, नट, दर्जी तथा कृतघ्नका अन्न भी नहीं खाना चाहिये। लोहार, बहेलिये, नाटक खेलनेवाले, वंश-कोढ़ी, कुत्ता पालनेवाले, कलाल (शराब-अफीम बेचनेवाले) एवं जार-स्त्रीका अन्न, प्रेतान्न तथा जिस अन्नसे मन अप्रसन्न हो ऐसा अन्न कदापि नहीं खाना चाहिये (मनु० अ० ४ श्लो० २०७–२१७)। इसके अलावा मद्य-मांस-मिश्रित और तामसी तथा बासी अन्न एवं लहसुन, प्याज, शलगम, गाजर, बैंगन आदिको तो शास्त्रोंमें द्विजमात्रके लिये सर्वथा अभक्ष्य बतलाया गया है। इसके सिवा श्राद्धान्न तथा नवग्रह (शनि, राहु, केतु) आदिकी शान्तिके निमित्त दिये हुए अन्न-दानका भी जहाँतक हो सके, ग्रहण नहीं करना चाहिये । विशेषकर द्विजोंको तो इसका ध्यान रखना ही चाहिये । यथा—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥
(मनु० ५ । ४)

अर्थात् वेदोंका अभ्यास न करनेसे, आचारका परित्याग कर देनेसे, आलस्यसे और अन्न-दोष (दुष्टान्न-भक्षण) से विप्रोंको मृत्यु खा जाती है। यानी वे अल्पायु प्राप्त करते हैं। अस्तु,

अन्नपरीक्षा करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारा भक्ष्यान्न गोमय आदि पवित्र खादद्वारा उत्पन्न किया हुआ हो, न कि हड्डी, रक्त एवं विष्ठादिकी खाद द्वारा (जैसा कि आजकल अधिकांशमें अधिक अन्न उपजानेके लोभसे उत्पन्न किया जाता है) । उपर्युक्त प्रकारसे परीक्षा करनेके उपरान्त न्यायोपार्जित द्रव्यद्वारा गृहीत अन्नको पवित्र स्थान एवं पवित्र पात्रादिमें स्वयं या अपने समान वर्ण, स्वभाववाले व्यक्तिद्वारा एकान्तमें शुद्धतापूर्वक बनाकर पञ्च-महायज्ञके बाद गौ एवं कुत्ते, चींटी आदिको यथाशक्ति उसमेंसे कुछ हिस्सा डालकर अपने इष्टदेव (भगवान्) को भोग लगाकर सर्वप्रथम बालक, रोगी एवं वृद्धजनोंको भोजन कराना चाहिये । फिर इच्छानुसार पूर्व, पश्चिम या उत्तर-दक्षिणकी ओर मुख करके बैठना चाहिये । मनुजी कहते हैं—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥
(मनु० २ । ५२)

'पूर्वकी ओर मुँह करके भोजन करनेसे आयु, दक्षिण मुख करके भोजन करनेसे यश, उत्तरमुख होकर करनेसे स्वर्गादि-भोग एवं पश्चिम मुख करके भोजन करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है'[1] ।

रामचरितमानसमें श्रीराघवेन्द्र सरकारकी बारातके भोजन करनेके समय सम्पूर्ण शास्त्रोक्तविधिका पालन करवाया गया है । यथा—

सादर सब के पायँ पखारे । जथाजोगु पीढ़न्ह बैठारे ॥

अर्थात् सबके आदरपूर्वक चरण धोकर यथायोग्य पीढ़ों (चौकी आदि) आसनोंपर बैठाया । मनुजीने कहा है—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत·················· ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥
(४ । ७६)

अर्थात् गीले पाँव (पैर धोकर) भोजन करना चाहिये । गीले पाँव भोजन करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है । इसके उपरान्त—

आसन उचित सबहि नृप दीन्हे । बोलि सूपकारी सब लीन्हे ॥
सादर लगे परन पनवारे । कनक कील मनि पान सँवारे ॥
सूपोदन सुरभी सरपि सुंदर स्वादु पुनीत ।
छन महुँ सब कें परुसि गे चतुर सुआर बिनीत ॥
(रामचरित० बाल० ३२८)

हरी-हरी पत्तलोंमें भोजन करनेसे मन प्रसन्न होता है, पवित्रता बनी रहती है । बल, पुष्टि तथा नेत्र-ज्योति बढ़ती है (भावप्र० खं० १ । १३७) । सबसे पहले दाल-भात और गायका घृत भोजनके लिये परोसा गया । भाव-प्रकाशमें (भोजन-विधिमें) आया है कि प्रथम माङ्गलिक वस्तुओं, ब्राह्मण, गौ, अग्नि, माला, घृतादिका दर्शन करके सर्वप्रथम मधुर रसका भक्षण करना चाहिये । यथा—

काश्यादिवासिनः प्रथमं सव्यञ्जनां घृतपूर्वां रोटिकां भुञ्जते, ततो मृदु ससूपाद्योदनं भुञ्जते ।
(१ । १३६)

---

१. भोजन-विधिका विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय ११-१२में तथा कल्याण, वर्ष ११, अङ्क ९में संक्षेपरूपसे बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है ।

अर्थात् काशी आदिके निवासी इस विषयमें बड़े चतुर हैं। वे प्रथम शाकादिके साथ घृतयुक्त रोटी खाते हैं। पश्चात् दाल-के साथ कोमल भात (चावल) खाते हैं। कारण कि इससे सुन्दर तथा स्वादिष्ट भोजन शायद ही दूसरा मिल सकता हो। दूसरी बात यहाँ यह भी है कि समधियोंको सर्वप्रथम ऐसा भोजन ही कराना चाहिये जो मिलाकर खाया जा सके। दाल-चावलको छोड़कर पूरी-मिठाई आदि सभी तोड़-तोड़कर खायी जाती हैं। इसके बाद—

पंच कवल करि जेवन लागे॥

(प्राणाय स्वाहा) आदि बोलकर पञ्च-ग्रास करके भोजन करने लगे। वेदोंमें पञ्च-कवलका महत्त्व निम्न प्रकारसे कथन किया गया है। यथा—

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥१॥ प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥

(छान्दोग्य० ५। १९। १-२)

अर्थात् जो अन्न पहले आये, उसका हवन करना चाहिये। उस समय वह भोक्ता जो पहली आहुति दे, उसे 'प्राणाय स्वाहा' यों कहकर दे। यों कहनेसे प्राण तृप्त होता है। प्राणके तृप्त होनेपर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती है। नेत्रेन्द्रियके तृप्त होनेपर सूर्य तृप्त होता है। सूर्यके तृप्त होनेपर द्युलोक तृप्त होता है तथा द्युलोकके तृप्त होनेपर जिस किसीपर द्युलोक और आदित्य अधिष्ठित हैं, वह तृप्त होता है और उसकी तृप्ति होनेपर स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है। इसी प्रकार 'व्यानाय स्वाहा' कहकर दूसरी आहुतिसे व्यान; फिर क्रमशः श्रोत्र, चन्द्रमा, दिशाएँ और जिस किसीपर चन्द्रमा और दिशाएँ अधिष्ठित हैं, वह तृप्त होता है। उससे भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य,तेज और ब्रह्मतेजसे तृप्त होता है। (खण्ड २०) फिर जो 'अपानाय स्वाहा' कहकर तीसरी आहुति दी जाती है, उससे अपान तृप्त होता है। फिर क्रमशः वाक्, अग्नि, पृथिवी; फिर जिस किसीपर पृथिवी और अग्नि अधिष्ठित हैं, वह तृप्त होता है। उससे भोक्ताको प्रजा, पशु, अन्नाद्य, ब्रह्मतेज-की प्राप्ति होती है। फिर जो चौथी आहुति 'समानाय स्वाहा' कहकर दी जाती है, उससे समान तृप्त होता है; फिर क्रमशः मन, पर्जन्य, विद्युत् और जिस किसीपर विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित हैं, वह तृप्त होता है। उससे भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य तेज एवं ब्रह्म-तेजसे तृप्त होता है। (खण्ड २२) फिर जो पाँचवीं आहुति 'उदानाय स्वाहा' कहकर दी जाती है, उससे उदान तृप्त होता है। फिर क्रमशः त्वचा, वायु, आकाश और जिस किसीपर वायु और आकाश अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। उससे भोक्ता प्रजा, पशु तथा अन्नाद्य ब्रह्म-तेजसे तृप्त होता है। (खण्ड २३) भाव यह है कि इस प्रकार पञ्च-कवल करके भोजन करनेसे समस्त लोक, समस्त भूत एवं सम्पूर्ण आत्माओंकी तृप्ति हो जाती है, जिससे समस्त पापोंका क्षय हो जाता है। इसके उपरान्त—

परुसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन बिबिध नाम को जाना॥
चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई॥
छ रस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती॥

भोजन-शास्त्रमें चर्व्य, चोष्य, पेय और लेह्य—चार प्रकार-के भोजनका विवरण मिलता है। व्यञ्जनोंकी तो गणना ही नहीं की जा सकती। छः प्रकारके (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त) रसोंके भेद कहे गये हैं। भोजनके पदार्थोंका इस प्रकारसे सम्पूर्ण वर्णन करके भी उनका पृथक्-पृथक् नाम-निर्देश न करके ग्रन्थकारने बड़ी मर्यादा-रक्षा की है। बहुत-से पदार्थ भोजनके ऐसे भी होते हैं कि जिनका नाम लेने एवं ध्यान-मात्रसे मुँहमें पानी भर आता है; अतः उनका नाम न लेकर खाना ही उचित है। अस्तु, पेटके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे भरकर चौथा भाग वायुके चलने-फिरनेके लिये खाली छोड़ देना चाहिये तथा भोजन धीरे-धीरे खूब चबा-चबाकर तथा एकाग्र एवं प्रसन्नचित्तसे, मौन होकर करना चाहिये। इसके बाद—

आदर सहित आचमन दीन्हा।
देइ पान पूजे जनक दसरथु सहित समाज।
जनवासेहि गवने मुदित सकल भूप सिरताज॥

अर्थात् आदरपूर्वक आचमन करना चाहिये। तीन चुल्लू पानी तो पेटमें जाना ही चाहिये। फिर आचमनके बाद मुखकी शुद्धि, सुन्दरता एवं सुगन्धके लिये पान (ताम्बूल) खाना चाहिये। ब्रह्मचारी, संन्यासी एवं विधवा स्त्रियोंके लिये पान खानेका निषेध किया गया है। भोजनके उपरान्त कुछ देर विश्राम करना चाहिये। यथा—

रिषय संग रघुबंस मनि करि भोजन बिश्राम॥

और 'दृष्टि-दोष' दूर करनेके लिये निम्न श्लोकोंका उच्चारण करते हुए बायें हाथको तीन बार पेटपर फिराना चाहिये। यथा—

अगस्तिरग्निर्बडवानलश्च भुक्तं ममान्नं जरयन्त्वशेषम्।
सुखं च मे तत्परिणामसम्भवं यच्छन्त्वरोगं मम चास्तु देहम्॥
(भाव० १। १७४)

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।
इति संचिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते॥
(भाव० खं० १। १२९)

अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम्॥
(१३०)

पशु-पक्षी तो प्रकृतिद्वारा प्राप्त एवं अमानुषिक आहार अज्ञानतापूर्वक सब समय करते ही रहते हैं; दानवों (राक्षसों) के विषयमें कुछ कहना ही नहीं है, अतः मानव (मनुष्य) के लिये ही भोजन-विधान किया गया है, वैसे भोजन तो सभी प्राणियोंको करना ही पड़ता है; पर क्या खाना चाहिये और कब खाना चाहिये, खानेके लिये जीना चाहिये या जीनेके लिये खाना चाहिये—इसका ज्ञान हरेक मनुष्यको नहीं होता। अतः उनके लिये उपर्युक्त 'मानव-भोजन-विधि'का संक्षेपमें विवेचन किया गया है। आशा है पाठकोंको इससे मानवताकी प्राप्तिमें कुछ सहायता प्राप्त हो सकेगी।

मानवताके आदर्श

(रचयिता—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(१)

अमल धर्मका अनुदिन अर्जन मानवता है,
सदा बुरे कर्मोंका वर्जन मानवता है।
औरोंके हित सुखका सर्जन मानवता है,
पर-त्राण-हित प्राण-विसर्जन मानवता है॥
देना ही देवत्व है, दानवता है अपहरण।
दे करके खाना स्वयं मानवता मङ्गल-करण॥

(२)

यदि न हृदयमें रहे धर्मका भाव निरन्तर,
तो मानवमें, पशुओंमें होगा क्या अन्तर?
मानव-जीवन! एक सुनहरा-सा है मौका,
भव-सागरसे पार उतरनेको है नौका॥
इस चौराहेसे जहाँ जाये जिसकी चाह है।
नरक, स्वर्ग, अपवर्गको गयी यहाँसे राह है॥

(३)

कुत्सित पथपर जो न कभी है पाँव बढ़ाता,
पर-नारीको सदा समझता है जो माता।
समराङ्गणमें जो न शत्रुको पीठ दिखाता,
प्राण गँवाता, किंतु कभी जो प्रण न गँवाता॥
अपनाता न अधर्मको जो कदापि है भूलसे।
वह मानव, जिसके लिये परके धन हैं धूल-से॥

(४)

शरणागतकी रक्षाका उत्तम व्रत लेकर,
'शिवि नरेश' तुल गये तुलापर निजको देकर।
गोरक्षाका प्रश्न? सिंह भूखा था दर्पित,
'नृप दिलीप' ने किया आप अपनेको अर्पित॥
बिके सत्यके हेतु थे 'हरिश्चन्द्र' घर डोमके।
जगमग जिनके सुयशसे अन्तःपट हैं व्योमके॥

(५)

माताकी क्या बात कहे यदि कभी विमाता,
श्रेष्ठ मनुज निज राजपाट तज वनको जाता।
यदि छोटेके लिये बड़ा है त्याग दिखाता,
तो छोटा भी चरणपादुका शीश चढ़ाता॥
स्वार्थ और अभिमान तज करता पर-उपकार है।
उस आदर्श मनुष्यसे धन्य सदा संसार है॥

नवधा प्रगति ?

धर्मकी व्याख्या है—'जिससे लोकमें अभ्युदय हो और अन्तमें निःश्रेयसकी प्राप्ति हो—भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाय—वह धर्म है।' लौकिक अभ्युदयका अर्थ केवल धनैश्वर्यकी वृद्धि नहीं है, चारित्रिक, बौद्धिक—सब प्रकारकी उन्नति हो। उन्नतिको ही आजकल 'प्रगति' कहते हैं और सभी देश, सभी समाज, सभी व्यक्ति इस प्रगतिके लिये पागल है। सर्वत्र ही प्रगतिके लिये नयी-नयी योजनाएँ बन रही हैं और तदनुसार चेष्टाएँ हो रही हैं। हमारे भारतमें भी 'प्रगति' का आजकल बड़ा प्रभाव है। यहाँ भी 'प्रगति' का प्रारम्भ हुआ। एक बड़ी लम्बी-चौड़ी प्रगतिकी कालीन बनी और सोचा गया कि यह समस्त देशमें फैला दी जायगी तो इसपर बैठकर समस्त देशवासी सब प्रकारसे सुखी हो जायँगे। पर प्रगतिका मानस-स्वरूप उपर्युक्त 'अभ्युदय'से बदल गया। जो अभ्युदय निःश्रेयसके साथ चलता है—जहाँ अर्थ और काम धर्मके द्वारा नियन्त्रित होते हैं तथा जिनका फल मोक्ष होता है—वहीं 'अभ्युदय' यथार्थ अभ्युदय होता है, वही लोक-परलोककी सच्ची सिद्धि होती है। निःश्रेयसको—भगवत्-प्राप्तिकी बातको सर्वथा भुलाकर केवल 'अभ्युदय' की बात रह गयी। बस, प्रगति हो—धर्मको हटाकर, ईश्वरको भुलाकर। परिणाम यह हुआ कि उस 'प्रगति' की लम्बी-चौड़ी कालीनमेंसे 'एक विकराल दानव' उत्पन्न हो गया। उसके हाथमें है—नौ तीक्ष्णधार नोकोंवाला भीषण दाव और उसने 'प्रगति' पर आरम्भसे ही अपना अधिकार जमा लिया है और अपने नौ धारदार नोकोंसे सबपर अत्यन्त घोर आक्रमण कर रहा है। वे तीखे नोक हैं—

१. नास्तिकता (कोई ईश्वर, धर्म, शास्त्रको मत मानो)।

२. अधार्मिकता (धर्मका नाम भी मत लो—धर्म ही पाप है, यह समझो)।

३. अर्थलोलुपता (चोरी, डकैती, ठगी, हिंसा—जिस-किसी प्रकारसे भी पैसा आये, न्याय-अन्याय कोई चीज नहीं)।

४. अधिकारलिप्सा (मिथ्याभाषण, मिथ्या आश्वासन, ठगी, बलात्कार, धोखा, वैर, देशका सत्यानाश, मानवका अहित कुछ भी करना पड़े—अधिकार मिलना चाहिये)।

५. सुरा (शराबका उपयोग खूब हो, जिससे तामसिक मस्ती छायी रहे और विवेकका प्रादुर्भाव न हो)।

६. अनाचार (चोरी तथा चोरोंकी प्रतिष्ठा-पूजा हो, दुराचार तथा दुराचारियोंका आदर हो, आचारके विरोधी कार्य किये जायँ—खान-पानमें, रहन-सहनमें, व्यवहार-बर्तावमें—सर्वत्र आचारका नाश किया जाय)।

७. भ्रष्टाचार (रिश्वत, चोरबाजारी, धोखादेही खूब चले—उसमेंसे अधर्मका वहम निकल जाय। वह स्वाभाविक हो जाय)।

८. व्यभिचार (बिना किसी बाधाके मनुष्य पशुवत् यौन व्यवहार करे)।

९. प्रमाद (अकर्तव्य करे, कर्तव्यका त्याग करे। व्यर्थचर्चा, आलस्य, फिजूल-खर्ची, स्तर ऊँचा उठानेके नामपर विलासिताका सेवन, माता-पिता-गुरुकी अवज्ञा, सिनेमाका प्रचार, दलबंदी, एक दूसरेको गिरानेका प्रयत्न, धर्म तथा अध्यात्मके एवं देशभक्तिके नामपर नीच स्वार्थ-साधन—ये तथा ऐसे ही अनेकों प्रमाद-कार्य!)।

नवधा प्रगतिका विस्तार

प्रगति

प्रगतिके विस्तारक

नास्तिकता
अधार्मिकता
अर्थलोलुपता
अधिकारलिप्सा
सुरा
अनाचार
भ्रष्टाचार
व्यभिचार
प्रमाद
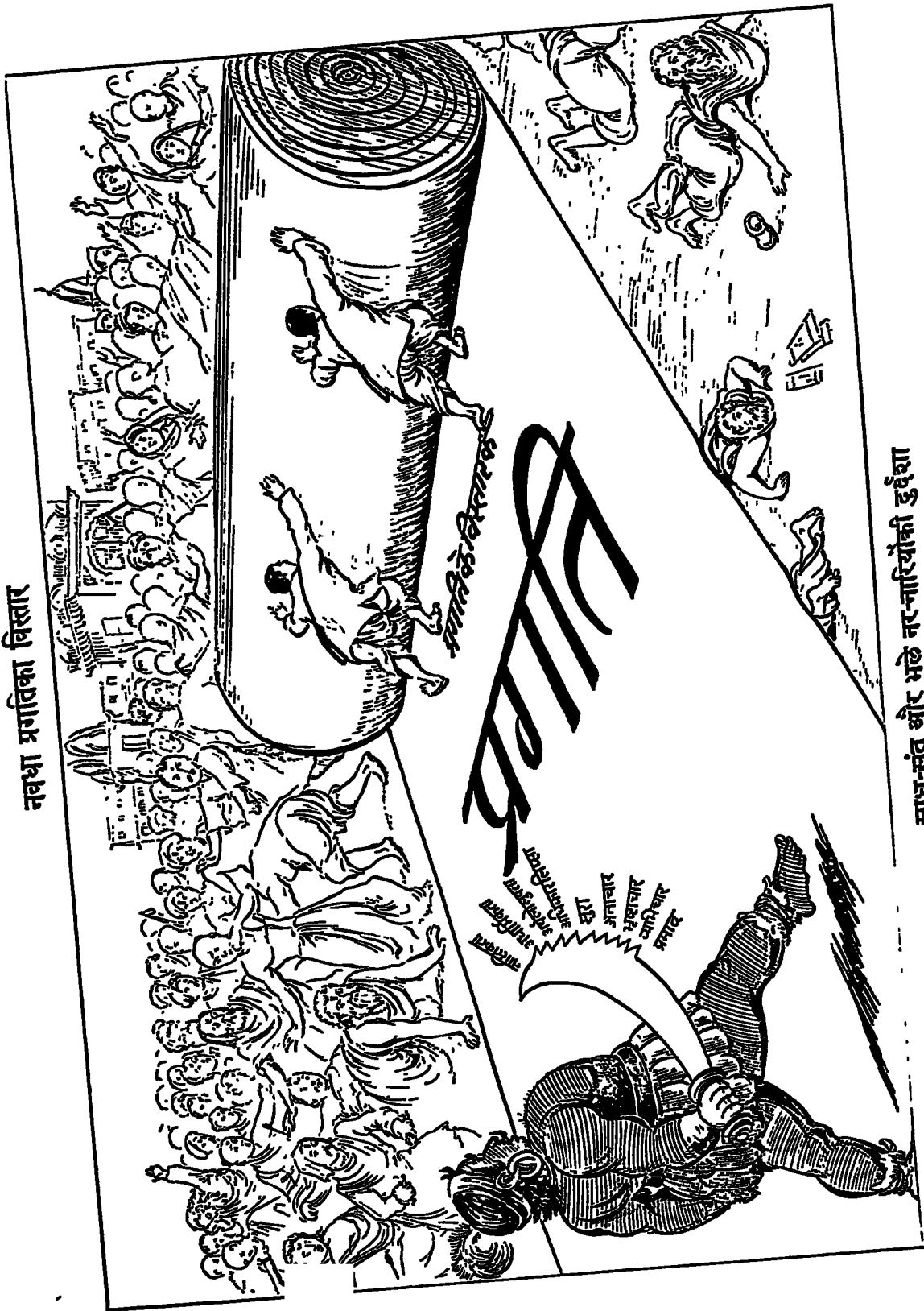
साधु-संत और भले नर-नारियोंकी दुर्दशा

मानवताके अन्वेषी तॉल्स्तोय और गांधी

(लेखक—पं० श्रीबालमुकुन्दजी मिश्र)

बौद्धिक ओजसे भरपूर, शारीरिक दृष्टिसे अपने समकालीनोंमें स्वस्थ, वंश और प्रतिभाके कारण अत्यन्त प्रतिष्ठित, एक बड़ी जमींदारीके स्वामी, आर्थिक चिन्ताओंसे मुक्त, रूसी भाषाके महान् लेखक और विश्व-साहित्यके प्रतिष्ठित यशस्वियोंमेंसे एक लेव निकोलायेविच् तॉल्स्तोयका बाह्य-जीवन समृद्धिमय था, पर उन्हें लगा—

जीवनकी धारा रुक गयी है

जीवन अन्धकारसे घिरा दिखायी देने लगा, स्वयं-जनित निराशासे वे भयभीत हो चले, बाह्य-जीवनसे उन्हें ग्लानि हो गयी; और वे यहाँतक आतङ्कित हो उठे कि 'अन्ना कैरेनिना'के लेविन (पात्र) के रूपमें अपनी मनोदशाका चित्रण करते हुए तॉल्स्तोयने लिखा है—

'प्रत्येक प्राणीके लिये और स्वयं उसके लिये भी जीवनमें पीड़नके, मृत्यु और निरन्तर क्षयके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; इसीलिये उसने निश्चय कर लिया था कि इस भाँति वह जीवित नहीं रह सकता। या तो जीवनका कोई अर्थ उसे जाननेको मिलना चाहिये, नहीं तो, फिर वह अपनेको गोली मार लेगा।'

इस आन्तरिक संघर्षने उन्हें द्रष्टा, चिन्तक, जीवन-तत्त्वके सत्यका अन्वेषी बननेको पुनः विवश किया। तॉल्स्तोयके स्व-लिखित कागजोंमें एक 'अज्ञात-प्रश्नावलि' इस प्रकारसे है—

१. मैं क्यों जी रहा हूँ ?

२. मेरे और अन्य सब लोगोंके अस्तित्वका कारण क्या है ?

३. मेरे अस्तित्व और दूसरे सारे अस्तित्वोंका प्रयोजन क्या है ?

४. अपने अन्तरमें अच्छाई-बुराईका जो विभाजन मैं अनुभव करता हूँ, इसका अर्थ क्या है और ऐसा क्यों होता है ?

५. मुझे कैसे जीना चाहिये ?

६. मृत्यु क्या है—उससे मैं अपनेको कैसे बचा सकता हूँ ?

तॉल्स्तोयने जीवनके आगामी तीस वर्ष इसी सत्यको पहचानने और जाननेमें बिताये कि वे स्वयं और यह सारी दुनिया व्यवस्थित ढंगसे कैसे जी सकती है।

तॉल्स्तोयने जीवनके सत्य-अर्थका अन्वेषण प्रारम्भ किया—जिसका दर्शन हल्के रूपमें हम उनके (War and Peace) (युद्ध और शान्ति) उपन्यासमें देखते हैं। जीवनके अर्थकी ठीक व्याख्या जाननेके लिये वे दर्शनकी ओर झुके। शॉपेनहार, प्लेटो, कांट और पास्कलके दर्शन-ग्रन्थोंसे उन्हें अपने प्रश्नोंका सही उत्तर न मिला। विज्ञान भी उनके मनकी समस्याका समुचित समाधान न कर सका। दर्शन और विज्ञानकी सिद्धान्त-धाराओंको प्रत्यक्ष जीवनसे बहुत परे दूर बहते पाया। वे इस बातको जान लेना चाहते थे—

'पार्थिव दृष्टिसे, कार्य-कारणकी दृष्टिसे तथा देश-कालकी दृष्टिसे मेरे जीवनका क्या अर्थ है ?'

वे धर्मकी ओर मुड़े; ज्ञानकी बातोंसे उन्हें निराशा हाथ लगी थी, धर्म-श्रद्धाकी खोजमें वे लीन रहने लगे। वे शान्तिमय जीवन चाहते थे—

'मैं अपनी ही नास्तिकता (निहिलिज्म) से अपनेको बचाना चाहता हूँ।'

महान् रूसी लेखक तुर्गनेवने २१ जुलाई सन् १८८३ को ५० वर्षीय मित्र तॉल्स्तोयके नाम 'यास्ताया पोल्याना'में एक पत्र भेजाः—

'यह एक मरण-शय्यापर पड़े हुए प्राणीकी अन्तिम और हार्दिक विनती है—साहित्यमें लौट आओ। वही तुम्हारी सच्ची देन है! ओ रूसी भूमिके महान् कवि! मेरी विनती सुनो।'

इन दिनों तॉल्स्तोयकी परिपक्व सर्जक प्रतिमा निर्णायक कार्यसे हटकर धार्मिक चिन्तनमें लय हुई जा रही थी। उनकी टेबलपर आध्यात्मिक ग्रन्थों और बाइबलके सिवा और कुछ अध्ययनके लिये नहीं रखा रहा करता था। धर्मके गहरे अध्ययनसे उनमें भावना जाग्रत् हुई—बाइबलके धर्म (Gospel) की रहस्यवादके रूपमें नहीं, अपितु जीवन-दर्शनके रूपमें सत्यकी शिक्षा सर्वसाधारणको दी जाय।

सत्यके शोधक तॉल्स्तोय अब सत्य-निवेदक बन गये। उनकी व्यक्तिगत निराशाने एक आधिकारिक सिद्धान्त रूप ले लिया। एक नवीन समाज-शास्त्रका निर्माण हो चला—'हमें (मानव-समाजको) इस प्रकार जीना चाहिये।' सत्यके महान् रूसी अन्वेषक एवं पुजारी तॉल्स्तोयने नवजीवनका संदेश देते हुए संसारवासियोंसे कहा।

केवल पैसे द्वारा ही दुखी प्राणियोंमें परिवर्तन लाना पर्याप्त नहीं है।

हमारे बीच, स्वामी और दासके मध्य एक मिथ्या शिक्षाकी रेखा सदासे खिंची रही है; और इसके पूर्व कि हम गरीबोंके उद्धारके लिये कुछ कर सकें, हमें उस लक्ष्मण-रेखाको तोड़ देना होगा। मैं इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि हमारा धन ही सर्वसाधारण मनुष्योंके पीड़नका कारण है।

विश्व-साहित्यके श्रेष्ठ साहित्यकार स्टीफेन ज्वीगके कथनानुसार—तॉल्स्तोयकी जन्मभूमिके वासियों (रूसियों) ने उस महान् आत्माकी केवल प्रगतिशीलताको अपनाया, जब कि भारतकी दिव्यविभूति गांधीने उस रूसी आत्माके 'अप्रतिकार-सिद्धान्त' को अपनाकर भारतकी मुक्तिके लिये अहिंसक शस्त्रोंको ग्रहण किया।

विश्ववन्द्य गांधीजीका महान् भारत आज भी तॉल्स्तोयकी कल्पना—विचारधाराके अनुरूप राष्ट्र-निर्माणके संघर्षमें संलग्न है, अर्थात् बापूकी कल्पना—इच्छाके अनुसार बाहरी आवश्यकताओंको अधिक-से-अधिक कम करके गृहोद्योगोंके आधारपर आन्तरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता (स्वराज्य—रामराज्य) की प्राप्तिके ध्येयकी पूर्तिके लिये कर्मरत है।

लेव तॉल्स्तोय और गांधीजी—दोनोंकी दृष्टि, समान रूपसे, सत्यकी खोजके कारणसे, दूरान्त प्रकाशको निहार लेती थी। इन दोनों सत्यान्वेषियोंकी सिखावन मानव-जातिको संकेत कर रही है कि मनुष्य पशु न बने, पहले मनुष्य बने। यही उनके सत्यान्वेषणका सार है। गांधीजीका सत्यान्वेषण अति-भौतिकतासे पीड़ित वर्तमान विश्वको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर आनेकी प्रेरणा देता है।

राष्ट्रपिता गांधीजी सत्यकी खोजका आरम्भ छोटी कही जानेवाली घटनाओंसे प्रायः आरम्भ किया करते थे। एक बार वे उत्कलकी यात्रा कर रहे थे। उन्होंने एक ऐसी गरीब स्त्रीको देखा, जो फटा हुआ मैला कपड़ा पहने थी। उसका कपड़ा भी इतना छोटा और तंग था कि उसका आधा तन भी ठीक ढंगसे ढक नहीं पा रहा था। गांधीजीने उससे कहा—

'बहन! तुम अपने कपड़े क्यों नहीं धोतीं? इतना आलस्य तो तुम्हें नहीं करना चाहिये।'

सिर नवाकर उसने कहा—'आलस्यकी बात नहीं है। मेरे पास इस एक कपड़ेके अतिरिक्त कोई कपड़ा ही नहीं है, जिसे पहनकर नहाऊँ और धोऊँ।'

बापूकी आँखें डबडबा आयीं। उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की—'जबतक देश आजाद नहीं होता और गरीबको भी देह ढकनेको पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलता, तबतक मैं कपड़े नहीं पहनूँगा। लाज ढकनेके लिये मुझे लँगोटी ही काफी है।'

इस व्रतका पालन उन्होंने आजीवन किया। इस समस्याका समाधान उन्होंने इस रूपमें सिद्धान्तका प्रचार करके किया—चर्खा कातना, हाथके बुने कपड़ेको प्राथमिकता और स्वदेशी वस्तुओंका प्रचार। वे जिन बातोंको सत्य मानते और समझते थे, उनको निष्ठाके साथ अपनाते थे। जिन मान्यताओंका गांधीजीकी दृष्टिमें मूल्य था, उन्हें वे उनकी वस्तुगत सच्चाई, साहस और निःस्वार्थताके साथ, लोकमतकी निन्दा-स्तुतिके प्रति उदासीन रहकर—धारण किया करते थे।

सत्यके अन्वेषी पूज्य बापूने तात्कालिक समाजकी राष्ट्रिय अव्यवस्था, विषमताकी जड़को पहचान लिया था। सत्यकी खोजके साथ उसका वे प्रचार करते थे। कुशल सुधारक जो थे। उनका एक वचन है—

'एक सुधारकका काम तो यह है कि जो हो सकनेवाला नहीं दीखता, उसे खुद अपने आचरणद्वारा प्रत्यक्ष करके दिखा दे।'

आचरणद्वारा उन्होंने जगत्को यह प्रत्यक्ष करके दिखा दिया कि सत्यके आग्रह (सत्याग्रह) में भौतिक विस्फोटक पदार्थोंसे भी कहीं अधिक बलशाली शक्ति निवास करती है। अहिंसाद्वारा ब्रिटिश शक्तिको भी जीता जा सकता है। मशीनी बलसे मानवकी शक्ति कहीं बहुत अधिक और श्रेष्ठ है। ये सब उपलब्धियाँ उनके सत्यान्वेषणका ही परिणाम थीं। राष्ट्रपिता गांधी अपनी सत्यकी स्थापनाओंको, दूसरोंको अपनानेके लिये, कहनेसे पहले अपनेपर प्रयोग करके

सत्य दिखायी देनेवाली बातोंको परखा करते थे। बापूका जीवन सत्यकी खोजमें बीता। इसीलिये उन्होंने अपनी आत्म-कथाका नाम 'सत्यके प्रयोग' रखा था।

लेव निकोलयेविच् टॉल्स्टोय और विश्ववन्द्य महात्मा गांधी मानवताकी राहके ऐसे प्रदीप्त प्रदीप थे, जिनके सत्यान्वेषणके आलोकमें हमारा पथ आज भी आलोकित और प्रशस्त है, आगे बढ़ने और विश्व-जन-हिताय राष्ट्रनिर्माण-कार्य करनेकी हम प्रेरणा पा रहे हैं।

मानवताका शत्रु—अभक्ष्य-भक्षण

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'ब्रजेश', हिंदी-साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

किसी विद्वान्ने सोलहों आने ठीक कहा है—

'जैसा खावै अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवै पानी वैसी होव वानी'

इसके द्वारा यह पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है कि आजका अभक्ष्य-भक्षण मानवताका कितना भयंकर शत्रु है, जो बराबर मानव-समाजको अपने चंगुलमें जकड़कर उसे पतनोन्मुख कर रहा है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि आजके इस वैज्ञानिक युगमें प्रत्यक्षरूपसे विज्ञानकी दुहाई देकर अभक्ष्य-भक्षण (यहाँ मेरा मतलब मछली, मांस, अंडे और सुरासे है) को श्रेष्ठतम करार दिया जाता है, एवं इन पदार्थोंकी वैज्ञानिक महिमा भी इस तरहसे बखानी जाती है कि धीरे-धीरे जनता निरन्तर इसी ओर अग्रसर होती जा रही है। आज भी लगभग ७५ प्रतिशतसे अधिक लोग मांसाहारी ही हैं। एवं जिस तेजीसे इनकी संख्या बढ़ रही है, उसे देखते यह जान पड़ता है कि आगे चलकर बहुत थोड़े लोग ही 'अभक्ष्य-भक्षण' से बचें।

यह अकाट्य और ध्रुव सत्य है कि खान-पानका हमारे संस्कार, बुद्धि, मन, वचन, कर्म एवं स्वास्थ्यपर गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसा हमारा भोजन होगा, वैसी ही हमारी बुद्धि होगी। तामसी एवं दूषित भोजन विकार ही उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त यह भी वैज्ञानिक खोजोंके आधारपर सिद्ध हो चुका है कि मांसाहार करनेसे लोगोंको प्रायः वे ही रोग हो जाते हैं, जो उन जानवरोंमें पहलेसे थे; पर दुःख है, फिर भी लोग नहीं मानते। इसके अतिरिक्त तामसी एवं दूषित भोजन करनेसे मनुष्य क्रमशः नास्तिकता एवं नैतिक दुर्बलताकी ओर अग्रसर होता है, जो मानवताके सचमुच सबसे गहरे शत्रु हैं। दूषित भोजन काम, क्रोध एवं अन्य विकार पैदाकर मनुष्यको पथभ्रष्ट करनेमें कोई कसर नहीं रखता। प्रसिद्ध संत कबीरजीने कितने गम्भीर शब्दोंमें अपने दोहोंद्वारा दूषित एवं अभक्ष्य-भक्षण करनेवालोंको फटकारा है—

बकरी पाती खात है, तिन की काढ़त खाल।
जो बकरी को खात है, तिन को कवन हवाल॥

वास्तवमें दूषित पदार्थ सेवन करनेवालोंको कबीरदासजीने यह बड़ी अच्छी चेतावनी दी है कि 'पत्ती खानेवाली बकरीकी जब खाल उतारी जाती है, तब जो बकरीको ही खा जाते हैं, उनकी क्या गति होगी ?'

हमारे शास्त्रकारोंने तो मद्य, मांस, अंडे, मछली आदिकी तो बात छोड़ दीजिये—दूषित अन्नतकके सेवनका निषेध किया है। श्रद्धालु पाठकोंने ऐसी अनेक कथाएँ साधु-संतोंसे सुनी एवं पढ़ी होंगी, कि अमुकने किसी गृहस्थके घरका किसी भी प्रकारसे दूषित अन्न ग्रहण कर लिया, जिससे उनके मनमें भी कोई विकार उठा, फिर बादमें उस अन्नका प्रभाव निकलनेपर ही उनकी बुद्धि अपने-आप ठिकाने आ गयी।

एक और आश्चर्यकी बात सुनिये! आजके वैज्ञानिक विज्ञानकी दुहाई देकर एवं तर्कके बलपर अंडेको यह कहकर शाकाहार सिद्ध कर रहे हैं कि जिसमें जीव ही नहीं, वह मांस कैसे! पर शायद यह उन्होंने नहीं सोचा कि जिस रससे जीवोत्पत्ति होती है, वह तो उसमें है ही; फिर यह शाकाहार कैसे हो सकता है? यह कितनी थोथी एवं लचर तथा भ्रामक उनकी धारणा है! इससे भी आश्चर्यकी बात तो यह है कि हमारे कुछ भारतीय विद्वान् तथा कुछ अधिकारी भी इसीपर जोर देते हैं।

शास्त्रकारोंने तो विशुद्ध शाकाहारी भोजनको ही सर्वोत्तम माना है; बल्कि सत्य तो यह है कि केवल सात्त्विकी श्रेणीके सात्त्विक भोजनसे ही मनुष्य आजके भीषण युगमें स्वस्थ, सुखी, दीर्घायु एवं शान्तिमय रूपमें रहकर सच्ची मानवताकी ओर अग्रसर हो सकता है। इसके अतिरिक्त राजसी श्रेणीका सात्त्विक भोजन भी मध्यम माना गया है—फिर भी वह कुछ हदतक ग्राह्य है, सर्वथा त्याज्य नहीं।

मानवता और विज्ञान

(लेखक—श्रीयुत एन० टी० जाकाती)

रेडियो, टेलीविज़न, ॲटम बम और राकेटकी वृद्धिके साथ-साथ एक क्रान्ति हमें आक्रान्त कर रही है। मनुष्य सर्वथा एक नयी दुनियामें रहने लगा है। विज्ञानकी शोध इस हदतक पहुँच गयी है कि उससे एक कृत्रिम जीवन उत्पन्न हो रहा है। आज जो कुछ हम देख रहे हैं, यह मनुष्योंके परस्पर सम्बन्धोंके आमूल परिवर्तनका श्रीगणेश है। राष्ट्रोंका जीवन परस्पर अधिकाधिक अविश्वास उत्पन्न करता जा रहा है, परस्पर स्नेह नहीं। हमलोग आवेगों और सामान्य विकारोंके वशीभूत हो रहे हैं। इसका यह अभिप्राय है कि मानव प्राणियोंके नाते हमलोग अन्तर्मुखी वृत्तिसे कम काम लेते हैं, बाह्य आवेगोंसे अधिक। क्या विज्ञानके ये आविष्कार हमारा किसी प्रकार संरक्षण करते हैं और क्या इनसे विभिन्न राष्ट्रोंके मनुष्योंके परस्पर सम्बन्ध अच्छे बनानेका कुछ काम होता है? इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर तो यही आता है कि जिन राष्ट्रोंने परमाणु-शक्ति और अग्नि-बाणोंका आविष्कार किया है, वे जगत्में अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके प्रलोभनसे ही अधिकाधिक ग्रस्त हो रहे हैं। इससे मानव-जातिकी बरबादीके सिवा और क्या हो सकता है? ऐसे वैज्ञानिक आविष्कारोंके चरम प्रयोग मानव-जातिका कुछ भला नहीं करेंगे, उनसे सर्वनाश ही होगा।

किसी वैज्ञानिकके सम्मुख जब मृत्युकी समस्या खड़ी होती है, तब उसका वैज्ञानिक अनुसंधान ठप हो जाता है और वह दार्शनिक पद्धतिसे जीवनका विश्लेषण करने लगता है। तब उसकी विचार-पद्धति ठीक होती है और वह इस समस्याके समाधानके लिये दार्शनिक तत्त्वज्ञानके समीप आता है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिमें ही यह सामर्थ्य है कि सत्तत्त्वका अविलम्ब अनुभव करा दे। भारतीय अध्यात्म-शास्त्र केवल एक बौद्धिक कुतूहलका ही समाधान नहीं करता, प्रत्युत दिव्य जीवनका अनुभव कराता है। भारतीय तत्त्वज्ञका ज्ञानभंडार विज्ञानसे खाली नहीं है; वह चाहे तो विज्ञानके क्षेत्रमें अद्भुत आविष्कार और उनके प्रयोग कर सकता है। पर उसकी दृष्टिमें सायन्स-नामधारी आधुनिक 'विज्ञान' की अपेक्षा आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है। मानव आध्यात्मिक प्राणी है, बुद्धिवादी पशु नहीं। भारतीय तत्त्वज्ञानके अध्ययनसे यह आध्यात्मिक मानव जीव अपनी उस सहज प्रज्ञाको प्राप्त होता है, जो तर्कको अलग कर देती है, जिसके सामने तर्ककी क्रिया-महत्ताका क्षेत्र अत्यन्त मर्यादित है। भारतीय तत्त्वज्ञान-के अनुसार वस्तुतत्त्व इन्द्रियग्राह्य विषय-जगत्से बद्ध नहीं है, प्रत्युत अतीन्द्रिय सहज प्रज्ञासे सम्बद्ध है। प्राच्य-प्रतीच्य देशोंके बीच यह एक बड़ा भेद है कि हमलोग यहाँ गम्भीर विषयोंका तात्त्विक चिन्तन करते हैं, ध्यानसे उन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं; प्रतीच्य देशोंमें चिन्तन या ध्यान-धारणाका इतना अभ्यास नहीं होता। आधुनिक विज्ञान (सायन्स) की महत्तासे इन्कार नहीं है। यह विज्ञान भी एक सत्य है। वस्तुतत्त्वके अनुसंधानका यह एक प्रतीक है। प्रत्येक वैज्ञानिक सत्यका ही अनुसंधान करता है। इसके लिये प्रायः भौतिक सुख-सुविधाओंका वह त्याग करता और बड़ी कठिनाइयोंका सामना करता और बड़ी विपत्तियाँ उठाता है, यदा-कदा प्राणोंकी भी बलि चढ़ा देता है। पाश्चात्त्य जगत्-में मनुष्यकी आत्मानुसंधानकी लालसा विज्ञानके ही रूपमें प्रकट होती है। मानव-जातिका कल्याण ही उनका लक्ष्य होता है और उसपर वे आत्मोत्सर्ग कर देते हैं। निश्चय ही जीवनकी यह महती अभिव्यक्ति है। पर जीवनकी सबसे श्रेष्ठ अभिव्यक्ति सत्यका ही अनुसंधान है। जीवनके आचार और विचार भारतीय तत्त्वज्ञानमें मिलकर एक हो जाते हैं। इसीसे इसकी जीवनी शक्ति और मूल्यवत्ता न केवल भारतीयोंके लिये प्रत्युत सारे जगत्के लिये उपकारक है।

वैज्ञानिक अन्तमें यह अनुभव करता है कि मैंने अपने वैज्ञानिक शोधके द्वारा मानव-जातिका अपकार किया; अध्यात्म-तत्त्वदर्शी यह अनुभव करता है कि मैंने मानव-जातिको वास्तविक लाभ पहुँचाया है। ऐसा तत्त्वदर्शी पुरुष जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्त करनेके अपने प्रयासका महान् अनुभव अपने पीछे छोड़ जाता है। पीछेके लोग सत्यके अनुसंधानमें उसके उन आध्यात्मिक प्रयत्नोंसे लाभ उठा सकते हैं। पूर्ण जीवनका प्रश्न भारतीय मानसमें तथा पाश्चात्त्य मानसमें भी उठता है, पर आवश्यकता होती है मानव-प्रकृतिमें श्रद्धा-विश्वासकी। पूर्णत्व लाभ करनेकी लालसा मानवमात्रमें है। हमलोग विज्ञान-के एक युगसे होकर जा रहे हैं। पर यह हम न भूलें कि मनुष्यमें जो सहज सौन्दर्यप्रेम है, वह उसकी पूर्णत्वलाभकी ही लालसा है। पं० जवाहरलाल नेहरू कहते हैं—'हमें यह समझना

मूर्त्ति-निर्माण-कलाका जहाँतक सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि मूर्त्तिकार देव-देवियोंकी मूर्त्तियोंमें भी मानव-भाव ले आता है। पुरीके जगन्नाथमन्दिरमें, कोणार्कके सूर्यमन्दिरमें, खजुराहो तथा अन्य स्थानोंके अन्य अनेक मन्दिरोंमें मैथुनी प्रक्रियाएँ दरसानेवाली जो अद्भुत मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं, वे मूर्तिकारोंके भावों और अनुभवोंका परिचय देती हैं। इसी प्रकार श्रीराधा-कृष्ण गीतगोविन्दमें तथा भक्ति-सम्प्रदायके विशाल साहित्यमें वर्णित हुए हैं। ऐसी मूर्त्तिकलाकृतियोंमें तथा ऐसे साहित्यिक वर्णनोंमें मानव भाव और अनुभव प्रतिबिम्बित हुए हैं। कालिदासके 'कुमार-सम्भव' में शिव और पार्वतीके प्रणयका अति स्पष्ट वर्णन है। इसके विपरीत मनु आदि ब्रह्माके मानस पुत्र कहे गये हैं। सतशतीमें भगवती चण्डी कहती हैं कि मैं अयोनिजा हूँ। जब ब्रह्माके मनमें प्रजोत्पत्तिका भाव उदय होता है, तब सृष्टि निकल पड़ती है। अतः यह सम्भावना है कि मानव-जन्मकी प्रक्रियासे किसी भिन्न पद्धतिसे भी जन्म हो सकता है। वृक्ष और पौधे धरतीमें बीज बोनेसे उत्पन्न होते हैं। मानव और पाशव जन्मके लिये कृत्रिम पद्धतिसे वीर्याधान कराया जाता है, यद्यपि बड़े पशु मानवी प्रक्रियासे अपनी प्रजा उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार बुद्ध, जिन आदि महामानवोंकी ध्यान-मुद्राएँ मूर्त्तिकारोंने अपनी कल्पनाओंके अनुसार पत्थर काटकर बनायी हैं। बुद्ध या शिवके ध्यानका न तो कोई लेख है न कोई साक्षी ही। देव-देवियोंकी मानवातीत शक्तिका प्रदर्शन करनेके लिये उनके मस्तक और हाथ बहुत-से बना दिये गये हैं। आधुनिक प्रतिमाने अवश्य ही उनके एक ही सिर और दो ही आँखें, कान, हाथ और पैर रखकर उनकी असाधारण शक्ति प्रकट की है। क्या महात्मा गांधीकी असामान्य बुद्धिशक्ति दरसानेको मूर्त्तिकारके लिये यह आवश्यक होगा कि उनके मस्तकमें बहुत-से मस्तक बनाकर जोड़ दे?

मनोविज्ञानकी यह मान्यता है कि कुत्ते यदि सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी कल्पना कर सकते हों तो वे एक बड़े कुत्तेके रूपमें ही उसकी कल्पना करेंगे। इस प्रकारकी मनोवृत्तिने ही सारे जगत्के मूर्त्तिकारोंको अमानव जीवोंकी मूर्त्तियोंपर मानव आकार और भाव लादनेमें प्रवृत्त किया होगा।

मानवतामें मूर्खता

(श्रीरामकुटियासे)

मूर्खोऽस्ति को यस्तु विवेकहीनः।

जो विवेकशून्य है अर्थात् बुद्धिसे काम न लेता हुआ बिना विचारे मनमाना आचरण करता है, वह मूर्ख कहा जाता है। मूर्ख दो प्रकारके होते हैं—एक पठित मूर्ख, दूसरा साधारण मूर्ख।

पठित मूर्ख

जो बहुश्रुत और बहुत बुद्धिमान् होकर स्पष्ट ब्रह्मज्ञानकी बात कहता है, फिर भी दुराशा एवं अभिमान रखता है, वह पठित मूर्ख है। मुक्तावस्थाकी प्रक्रियाका प्रतिपादन करते हुए जो सगुण भक्तिको मिटाना चाहता है, स्वधर्म तथा नित्यनियम-साधनोंकी निन्दा करता है, वह पठित मूर्ख है। अपने ज्ञातापनके अभिमानसे जो सबपर दोष लगाता है और सबके छिद्र ढूँढता है, वह पठित मूर्ख है। शिष्यसे यदि कोई अवज्ञा हो जाय या वह संकटमें पड़ जाय तो जो पुरुष उसे दुर्वचन कहकर उसके द्वारा की ही क्षमायाचना न मान उसके मनको दुखी करता है, वह पठित मूर्ख है। कोई चाहे रजोगुणी अथवा तमोगुणी हो, कपटी हो, अन्तःकरणका कुटिल हो, फिर भी जो वैभव देखकर उसका बखान करता है, वह पठित मूर्ख है। सम्पूर्ण ग्रन्थको बिना देखे-समझे जो व्यर्थ ही उसपर दूषण लगाता है, गुणोंको भी अवगुणकी दृष्टिसे देखता है, वह पठित मूर्ख है। जो अपने ज्ञातापनके अभिमानवश हठ करता है, अपना क्रोध नहीं रोक सकता और जिसकी करनी और कहनीमें अन्तर है, वह पठित मूर्ख है। बिना अधिकारके वक्ता बनकर जो वक्तृता देनेका परिश्रम करता है और जो कठोर या असम्बद्ध वचन बोलता है, वह पठित मूर्ख है। जो श्रोता अपने बहुश्रुतपन या अध्ययनसे और वाचालताके गुणसे वक्तामें हीनता बतलाता है, वह भी पठित मूर्ख है। जो दोष अपनेमें हों, उन्हींको दूसरोंमें बतलाकर जो अपनेको दोष-मुक्त प्रकट करना चाहता है, वह पठित मूर्ख है। जिसने अभ्यास करके बहुत-सी विद्याएँ तो पढ़ लीं, पर लोगोंको संतुष्ट करना—सद्व्यवहार करना नहीं जाना तो वह पठित मूर्ख है। जो स्त्रियोंका साथ करता है, उनके प्रति अध्यात्मनिरूपण करके स्वयं ब्रह्म बनता तथा निन्दनीय वस्तुको अङ्गीकार करता है, वह पठित मूर्ख है। जिसकी दृढ़ देहात्मबुद्धि है अर्थात् जो इस तुच्छ देहको ही अपना स्वरूप समझता है, वह

पठित मूर्ख है। भगवान्को छोड़कर जो लोभवश मनुष्योंकी, धनाढ्य पुरुषोंकी ही कीर्तिका वर्णन करता है, वह पठित मूर्ख है। स्त्रियोंके अवयवोंका, नाना प्रकारके अश्लील हाव-भावका जो वर्णन करता है, वह पठित मूर्ख है। जो अपनेको व्युत्पन्नमति, वीतराग, ब्रह्मज्ञानी एवं महायोगी मानता है और चमत्कार, सिद्धि और भविष्यकी बातें बतलाने लगता है, वह भी पठित मूर्ख है। किसीकी बात सुनकर जो मनुष्य अपने मनमें उसके दोषको ही चर्चा करता है और दूसरोंकी भलाई देखकर मत्सर (डाह) करता है, वह पठित मूर्ख है। जो भक्तिका साधन या भजन नहीं करता और न जिसमें वैराग्य ही है, परंतु जो अपनेको ब्रह्मज्ञानी बतलाता है, वह पठित मूर्ख है। जो तीर्थ और क्षेत्रको नहीं मानता, वेद-शास्त्रको नहीं मानता, गौ, ब्राह्मण या संतको नहीं मानता और स्वयं सिद्ध सजकर अपनेको पुजवाता है, वह पठित मूर्ख है। जो आदर देखकर प्रीति करता है तथा कीर्तिके योग्य न होनेपर भी किसीकी प्रशंसा करता है और तुरंत ही उसका अनादर देखकर उसकी निन्दा करता है, वह पठित मूर्ख है। जो प्रपञ्चों—विषयोंमें रत है, जिसकी परमार्थमें रुचि नहीं है अर्थात् जो जान-बूझकर अन्धकारमें पड़ा रहना चाहता है, वह पठित मूर्ख है। जो दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिये यथार्थ वचन छोड़कर कुछ-का-कुछ बोलता है, जो पराधीन होकर परघर-परधनपर ही निर्वाह करता है, वह पठित मूर्ख है। ढोंग रचकर जो न करने योग्य कर्म करता है और मार्ग भूलकर फिर भी सन्मार्गका हठ करता है, वह पठित मूर्ख है। जो अनधिकारी तथा अवज्ञा करनेवाले शिष्यसे आशा रखता है, वह पठित मूर्ख है। रात-दिन अच्छे-अच्छे ग्रन्थ तो पढ़ता है, परंतु जो अपने अवगुण नहीं छोड़ता, वह पठित मूर्ख है। कथामें बैठे हुए श्रेष्ठ श्रोतागणोंके दोष देख-देखकर जो केवल उनके दोष ही बतलाता है, वह पठित मूर्ख है। ग्रन्थ सुनते समय कोई भूल हो जानेपर जो क्रोधसे चिढ़ने लगता है, वह पठित मूर्ख है। वैभवके अहंकारमें आकर जो सद्गुरुकी उपेक्षा करता है और अपनी गुरु-परम्पराको जो छिपाता है, वह पठित मूर्ख है। ज्ञानोपदेश करके जो अपना स्वार्थ-साधन करता है, कृपणकी तरह धन-संचय करता है और जो द्रव्यके लिये परमार्थका उपयोग करता है, वह पठित मूर्ख है। स्वयं बर्ताव किये बिना जो दूसरोंको सिखाता है तथा जिसका मन और इन्द्रियोंपर नियन्त्रण नहीं, किंतु जो पराधीन होकर भी ब्रह्मज्ञानकी बातें करता है, वह पठित मूर्ख है। मनमें द्वेषभाव रखकर जो मूर्तिका एवं भक्तिका तो खण्डन करता है और अपने सम्प्रदायका एवं अपने ग्रन्थका निर्माण करता है, वह पठित मूर्ख है। जो संसारमें ही सुख मानता है और स्वयं अपना यथार्थ हित नहीं जानता, वह पठित मूर्ख है। भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यको भूलकर जो प्राप्त विवेकका ठीक उपयोग नहीं करता, वह पठित मूर्ख है। शास्त्रका खूब अध्ययन करनेपर भी जो धर्मका पालन नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, वह पठित मूर्ख है। जो देवताओं, ब्राह्मणों, साधुओं, विद्वानों, अन्य धर्मों तथा विभिन्न वर्णाश्रमोंसे द्वेष करता है, वह पठित मूर्ख है।

साधारण मूर्ख

जो गर्भवासके दारुण दुःखको नहीं मानता, वह मूर्ख है। जिनके पेटसे जन्मा, उन्हींसे जो विरोध करता है, वह मूर्ख है। सारे कुलको छोड़कर जो केवल स्त्रीके अधीन होकर जीता है, वह मूर्ख है। जो समर्थ पुरुषसे बैर करके उसकी बराबरी करता है, वह अहंकारी मूर्ख है। जो अपने मुँह अपनी प्रशंसा करता है, वह मूर्ख है। जो व्यर्थ हँसता है, वह मूर्ख है। सत्सङ्ग छोड़कर तथा असज्जनोंसे मित्रता जोड़कर जो दूसरोंकी बुराईमें लगा रहता है, वह मूर्ख है। जहाँ बहुत श्रेष्ठ पुरुष बैठे हों, वहाँ जाकर बीचमें बैठ जाने, सो जाने, खाने लगने, बात करने लगने या उनकी बातें सुनने लगनेवाला मूर्ख है। जो बिना बुलाये दूसरोंके घर भोजन करने जाता और बहुत भोजन करता है, वह मूर्ख है। जो जारण, मारण, विध्वंसन, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन और उच्चाटनादिमें मन लगाता है, वह मूर्ख है। जो दूसरेकी आशापर पुरुषार्थका परित्याग कर देता है और आलस्य-प्रमादमें, विषय-भोगोंमें ही आनन्द मानता है, वह मूर्ख है। जो श्रेष्ठ पुरुषके साथ अति निकटताका सम्बन्ध रखता है, परंतु उसके उपदेश करनेपर बुरा मानता है तथा उसकी बात नहीं मानता, वह मूर्ख है। जो पराधीन है, पर-घरमें रहकर पर-मतिमें पड़ा रहता है तथा द्रव्य-लोभसे बूढ़ेको कन्या प्रदान करता है तथा जो अपनी शक्तिसे अधिक व्यय करता है, वह मूर्ख है। जो निर्धनके घर धरोहर रखता और गयी वस्तुका पश्चात्ताप करता है, वह मूर्ख है। जो द्रव्य पाकर धोखेबाज एवं कुकर्मीकी संगति करता है, वेश्या, सट्टा-लाटरी, मौज-शौक, गाना-तमाशा, सिनेमा-जूआ आदिमें समय तथा समझका एवं धनका व्यय करता है, परंतु धर्म-पुण्य, दान-तीर्थादि शुभ कार्यमें उसे नहीं लगाता, वह मूर्ख है। जो न माननेवाले-

को उपदेश करता है और बड़ोंके सामने ज्ञान बघारता है, वह मूर्ख है। विषय-भोग करनेमें जो निर्लज्ज हो गया है, मर्यादा छोड़कर निरङ्कुश वर्ताव करता है, वह मूर्ख है। व्यथा होनेपर भी ओषधि-सेवन और पथ्य-पालन नहीं करता और अनायास प्राप्त हुए उत्तम पदार्थको स्वीकार नहीं करता, वह मूर्ख है। जो बिना जान-पहिचानके मनुष्यके साथ परदेश-यात्रा करता है, जो वैधृति, व्यतीपात, अमावास्या, ग्रहण, संक्रान्ति आदि कुमुहूर्तोंमें गमन करता है, नदी-नालोंमें कूदता है, हिंसक पशुओंसे छेड़-छाड़ करता है, वह मूर्ख है। जहाँ अपना सम्मान हो, वहाँ जो बार-बार जाता है, अपने मान-अभिमानकी रक्षा नहीं करता, बिना पूछे दूसरोंकी वस्तुओंको छूता है, एकान्तमें स्त्रियोंसे बातचीत करता है, किसीके प्रति किये हुए उपकारको बार-बार बखानकर अपना आभार प्रकट करके उसे ठगता है, अभक्ष्य-भक्षण करता है, जो राह चलते खाता है, खा-पीकर हाथ-मुँह नहीं धोता है, वह मूर्ख है। जिसके पास विद्या, तप, दान, शील, गुण, धर्म, धन, वैभव, पुरुषार्थ नहीं हैं, तो भी जो क्रोध, मद, मत्सर, मोह, आलस्य, प्रमाद, मलिनता, अधीरता आदिका आश्रय करके अहंकार-अभिमान, मान-गुमान करता है, वह मूर्ख है। जो दाँत, आँख, मुँह, नाक, हाथ, पाँव तथा कपड़ोंको मैले रखता है और दोनों हाथोंके नख बढ़ाकर सिर खुजलाता है, वह मूर्ख है। धन-धाम, पुत्र-दाराका सहारा मानकर जो ईश्वरका भजन नहीं करता, वह मूर्ख है। जो अधिक सोता है, अधिक खाता है, अधिक बोलता है, अधिक हँसता है, अधिक स्त्रीभोगी है, अधिक विवाह करता है, अधिक शत्रु पैदा करता है, वह मूर्ख है। जो बिना पूछे बोलता है, बिना माँगे गवाही देता है, बिना कारण दोषारोपण करता है, हीनजनोंसे मित्रता करके सम्भाषण करता है तथा दोषीको दोषी, पापीको पापी, चोरको चोर, डाइनको डाइन कहता है, वह मूर्ख है। जो जगदीशको छोड़ मनुष्यके भरोसे निरर्थक कार्योंमें आयु व्यतीतकर दुःख भोगता है और ईश्वरको गाली देता है; गुरु, देवता, ब्राह्मण, माता, पिता, मित्र तथा श्रेष्ठ जनोंका अनादर करता है, वह मूर्ख है। स्त्री, बालक, नौकर, नीचजन एवं पागलको मुँह लगाता है, वह मूर्ख है। जो कुत्ता-मुर्गा पालता है और उन जानवरोंकी क्रीड़ा कराता और देखता है, वह मूर्ख है। जो कुग्राममें रहता है, नीचोंकी सेवा करता है और कुपात्रको दान देता है, वह मूर्ख है। तीर्थस्थान, ग्राम रास्ता, नदी, वट वृक्षके नीचे तथा तालाबके किनारे जो मल-मूत्रका त्याग करता है, वह मूर्ख है। जो अनीतिसे धन जोड़ता है; ब्राह्मण, साधु, विधवा, अनाथ, गोचरभूमि, देवालय तथा देव-निर्माल्यके हक-हिस्सेसे जीविका चलाता है और आये अतिथिका अनादर करता है, वह मूर्ख है। जो नदी, नखवाले पशु, शस्त्रधारी मनुष्य और स्त्रीका विश्वास करता है, वह मूर्ख है। जो पढ़ते-पढ़ते अक्षर छोड़ देता है अथवा अन्य शब्द जोड़ देता है, वह मूर्ख है। जिसके पास धर्मशास्त्रका ग्रन्थ तो है, पर जो स्वयं अपढ़ है और न दूसरोंसे उनका पढ़ा सुनना चाहता और न किसीको पढ़ने देता है, केवल उस ग्रन्थको बंद करके रखता है, वह मूर्ख है। जो मुँहमें तृण, नख या अँगुली रखता है, भोजनके पात्रमें या कुएँ आदिके पानीमें थूकता, कुल्ला करता है और पात्रोंको धोता नहीं तथा बायें हाथसे खाता है, वह मूर्ख है। देवता, गुरु, संत, ब्राह्मण, नृपति, माता-पिता आदि पूज्य जनोंको एक हाथसे अथवा केवल बायें हाथसे प्रणाम करता है, वह मूर्ख है।

मानवतामें मूर्खताके उपर्युक्त लक्षण हैं, इन लक्षणोंवाले मानव असुर या दानव कहलाते हैं। जिस मनुष्यमें ये दुर्गुण आ जाते हैं, वह दानव-स्वभाव बन जाता है। अतः दुर्लभ जीवन-साधन लाभकर प्राप्त विवेक-बुद्धिका सदुपयोग करते हुए उपर्युक्त दुर्गुणोंसे विपरीत मानवताका विकास करनेवाले सद्गुणों-को धारण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे मानव अपनी सच्ची स्थितिको प्राप्त हो सकता है। सद्गुणोंसे ही मानवताकी शोभा है। वही मनुष्यका सहज स्वरूप—स्वभाव है। उन सद्-गुणोंमें, जो सद्ग्रन्थों, सत्पुरुषों और विभिन्न सद्धर्मावलम्बि-योंके द्वारा वर्णित हैं, प्रधान ये हैं—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच अर्थात् शुद्धि, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मनका निग्रह, इन्द्रिय-दमन, श्रद्धा, तितिक्षा, क्षमा, अभय, दया, तेज, सरलता, स्वार्थत्याग, अमानित्व, दम्भहीनता, अपिशुनता, निष्कपटता, नम्रता, धीरता, वीरता, सेवाभाव, सत्सङ्ग, ईश्वर-स्मरण, ईश्वरध्यान, निर्वैरता, समता, निरहंकारता, मैत्री, दान, कर्तव्य-परायणता और शान्ति—इन चालीस गुणोंको दैवी-सम्पदा या देव-लक्षण कहते हैं। इन सद्गुणोंको धारण करनेसे मानव देवत्वको प्राप्त करता है। आशा है इस लेखको पाठक-साधक-गण पढ़कर, यथासाध्य दुर्गुणोंको हेय तथा सद्गुणोंको ग्राह्य समझकर दुर्गुणोंका त्याग एवं सद्गुणोंका ग्रहण करेंगे तथा इस प्रकार मानवताको सार्थक बनानेका लाभ उठायेंगे।

मानवता और कन्फ्यूसियस

(लेखक—पण्डित श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

ईसवी सन्‌के पूर्व छठी शताब्दीमें विश्वमें तीन महापुरुष पैदा हुए, जिन्होंने जन-समाजको मानवताके मार्गपर अग्रसर किया। उनमें भगवान् बुद्ध भारतमें पैदा हुए, कन्फ्यूसियस चीनमें हुए और जरदुश्त ईरानमें। संसारमें मानवताके विकासमें इन तीनोंकी अपूर्व देन है। इनमें बुद्ध और जरदुश्तके विचार मूलतः वेदोंसे उद्भूत हुए थे; परंतु कन्फ्यूसियसकी जो देन थी, वह बहुत कुछ चीनके प्राचीन शास्त्रोंसे प्रभावित होनेपर भी मौलिक थी। कन्फ्यूसियसने चीनको जिस मानवताकी शिक्षा दी, सारा चीनी समाज उसी साँचेमें ढल गया। कन्फ्यूसियसकी मानवताकी धारणा चीनकी जनताके रग-रगमें समा गयी। मानवताके प्रसारकी दृष्टिसे कन्फ्यूसियसकी गणना संसारके महान्-से-महान् पुरुषोंमें होती है।

कन्फ्यूसियसका शुद्ध नाम था खुङ् फूत्जे, कन्फ्यूसियस तो उसका विकृत अंग्रेजी रूप है। खुङ् नाम है और फूत्जे उपाधि है; फूत्जेका अर्थ है दार्शनिक या प्रभु। अतएव पूरे नामका अर्थ हुआ दार्शनिक खुङ्। कन्फ्यूसियसका जन्म ईसवी सन्‌के पूर्व ५५१ में लू राज्यके त्से माछ्येन नामक ग्राममें हुआ था। यह लू राज्य वर्तमान शांतुंग प्रदेशका एक अङ्ग था। कन्फ्यूसियसके बचपनके दिन खेलनेमें बीते। १५ वर्षकी उम्रमें उसने पढ़ना शुरू किया और १९ वर्षकी अवस्थामें उसका ब्याह हो गया, जिससे उसके एक पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। उसे अपने राज्यमें ही कोठारी (Store-keeper) का काम मिला, उसके बाद वह राजकीय उद्यान और पशुशालाका अध्यक्ष बनाया गया। २२ वर्षकी अवस्थामें उसने जिज्ञासु युवकोंके लिये एक पाठशाला खोली, जो सत्-आचरण और शासनके सिद्धान्तोंकी शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे। वह अपने शिष्योंसे पर्याप्त सहायता प्राप्त करता था; परंतु योग्य जिज्ञासु छात्रोंसे थोड़ी भी फीस मिलनेपर उनको वापस नहीं करता था। जिसमें ज्ञानार्जनकी लालसा और क्षमता नहीं होती, उसको वह कदापि पाठशालामें नहीं रहने देता। धीरे-धीरे उसकी पाठशाला जमने लगी और उसके शिष्योंकी संख्या ३००० के लगभग पहुँच गयी।

५१७ ई० पूर्व वह लू राज्यकी राजधानीमें गया। वहाँ राजकीय पुस्तकालयमें बैठकर उसने संगीत-शास्त्रका अध्ययन किया। राजाने उसका स्वागत किया और उसको राजस्व-विभागका अफसर बनाना चाहा। परंतु कन्फ्यूसियसने इसे स्वीकार न करके अपने घरका रास्ता लिया और घरपर बैठकर उसने १५ वर्ष स्वाध्यायमें बिताये।

एक बार वह अपने कुछ शिष्योंके साथ बाहर जा रहा था। रास्तेमें बस्तीसे बहुत दूर जंगलके बीच एक झोपड़ीमें एक बुढ़ियाको देखा। उसने अपने शिष्योंको बुढ़ियाके पास यह जाननेके लिये भेजा कि बस्ती छोड़कर वह जंगलमें अकेली क्यों रहती है।

उसके एक शिष्यने बुढ़ियासे पूछा—'तुम यहाँ कितने दिनोंसे रहती हो ?'

बुढ़ियाने उत्तर दिया—'मेरे ससुरके पिता गाँव छोड़कर यहाँ आ बसे थे। उनको बाघ उठा ले गया। पश्चात् कुछ वर्षोंके बाद मेरे ससुरको भी एक दिन बाघ उठा ले गया। उसके कुछ वर्षों बाद मेरे पतिको भी जंगलसे आकर एक बाघ उठा ले गया। क्रमशः मेरे बच्चेको भी एक दिन बाघ उठा ले गया। अब मैं अकेली इस झोपड़ीमें बैठी अपने भाग्यको कोसती, जिंदगीके दिन बिता रही हूँ।'

दूसरे शिष्यने पूछा—'तुम बस्तीमें क्यों नहीं चली जाती ?'

बुढ़ियाने उत्तर दिया—'इस देशका राजा अत्याचारी, निरङ्कुश और अन्यायी है। इसी कारण हम यहाँ जंगलमें शरण लेने आ गये थे। बस्तीसे तो यह जंगल ही भला है।'

जब शिष्योंने बुढ़ियाका उत्तर कन्फ्यूसियसको सुनाया तो उसने कहा—'निरङ्कुश और अत्याचारी शासक सचमुच जंगलके बाघसे भी अधिक भयानक होता है।' उसका विश्वास था कि मनुष्यमें स्वभावतः शुभ गुणोंके प्रति पक्षपात होता है और गुरुजनोंके चरित्रमें एक शक्ति होती है, जो लघुजनोंको अनुकरण करनेके लिये प्रेरित करती है। सारी मानव-जाति पाँच प्रकारके सम्बन्धोंसे किसीके साथ सम्बन्धित होती है—जैसे राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र-मित्र। इनमें प्रथम चार सम्बन्ध शासक और शासितके

रूपमें होते हैं और पाँचवाँ सम्बन्ध बराबरका होता है।

जैसे,	शासक	शासित
	राजा	प्रजा
	पिता	पुत्र
	पति	पत्नी
	बड़ा भाई	छोटा भाई

परंतु मित्र—मित्र

इनमें जिनका सम्बन्ध शासकका है, उनको व्यवहारमें उदारता और सत्यताका निरन्तर आश्रय लेना चाहिये; तथा शासित सम्बन्धवालोंको सत्यता और कर्तव्यपरायणताका आश्रय लेना चाहिये। मित्रोंके लिये समानताके आधारपर प्रेमपूर्वक एक दूसरेकी उन्नतिको लक्ष्यमें रखना आवश्यक है। इस प्रकार अपने सम्बन्ध और कर्तव्यका ध्यान रखकर यदि सब लोग चलने लगें तो एक आदर्श राज्यका निर्माण हो सकता है और इस प्रकारके राज्यमें सब लोग सुख और शान्तिसे रह सकते हैं।

५२ वर्षकी अवस्थामें कन्फ्यूशियस चुङ्त् नगरका प्रधान न्यायाधीश बनाया गया। कुछ दिनोंके बाद वह दण्ड-विभागका मन्त्री बनाया गया। कन्फ्यूशियसकी नीतिसे उस राज्यमें अपराधोंकी इतिश्री हो गयी। उसने भ्रष्टाचारके अपराधमें एक बड़े अफसरको दण्ड दे दिया। बेईमानी और हरामखोरी उस देशसे लुप्त हो गयी। जनतामें पुरुषोंमें श्रद्धा और विश्वासकी वृद्धि हुई तथा स्त्रियोंमें पवित्रता और शालीनता बढ़ी। लू राज्यकी इस प्रकार उन्नति होते देखकर पड़ोसी राज्य त्सींके शासकोंके कान खड़े हो गये। उनको आशङ्का हो गयी कि ऐसी ही दशा बनी रही तो उनके राज्यकी प्रजा भी कन्फ्यूशियसके प्रभावमें चली जायगी। अतएव उन्होंने लू राज्यके प्रधान शासककी सेवामें कुछ सुन्दरी रमणियोंको, जो नृत्य और गान-विद्यामें अद्वितीय थीं तथा कुछ सुन्दर घोड़ोंको भेंटमें देनेके लिये भेजा। लू राज्यके शासक रमणियोंके जालमें फँस गये। शासकोंने प्रत्यक्ष ही कन्फ्यूशियसके सिद्धान्तोंकी अवहेलना शुरू कर दी। अतएव उसने अपने पदसे त्यागपत्र दे दिया। ५६ वें वर्षकी उम्रमें कन्फ्यूशियस उस राज्यको छोड़कर चीनदेशमें यात्रापर निकला। और १२ वर्ष विभिन्न राज्योंमें भ्रमण करनेके बाद ४८३ ई० पू०—में अपने घर लौटा तथा ७३ वर्षकी अवस्थामें उसने इहलीला संवरण की।

उसकी मृत्युके उपरान्त देशमें राजकीय शोक मनाया गया। कन्फ्यूशियसकी दृष्टिमें मानवताके पाँच स्तम्भ हैं—(१) प्रेम, (२) न्याय, (३) श्रद्धा, (४) विवेक और (५) निष्ठा। प्रेम ही मानवताका मूल है। न्यायके द्वारा समाजमें मनुष्यका स्थान तथा तदनुसार कर्तव्य और अधिकारका निर्णय होता है। श्रद्धासे अधिकारकी रक्षा तथा कर्तव्यपालनकी प्रेरणा प्राप्त होती है। विवेकसे भले-बुरेकी पहचान होती है और निष्ठाके द्वारा सबको जीवनकी यथार्थताका अनुभव होता है।

कन्फ्यूशियसके आचारवादमें मुख्यतः प्रकृतिपूजा और पितरपूजाका समावेश होता है। चीनमें राजासे लेकर रङ्कतक सभी इन द्विविध पूजाओंका विभिन्न-विभिन्न प्रकारसे अनुष्ठान करते हैं।

कन्फ्यूशियसने तीन ग्रन्थोंका सम्पादन किया। ये वस्तुतः अति प्राचीन कालके लिखित अनेकों पुस्तकोंके संकलन मात्र हैं—(१) शू किंगमें २३ वीं सदी पूर्वसे ८ वीं सदी पूर्वतककी ऐतिहासिक घटनाओंका वर्णन है। (२) शी किंगमें प्राचीन कविताओंका संग्रह है और (३) यी किंगमें ३० वीं सदी पूर्वसे होनेवाले परिवर्तनोंका वर्णन है।

कन्फ्यूसियसके विचार

(१) दुराचारी मनुष्यको उत्कृष्ट पद नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे लोग अपना सुधार कैसे करेंगे।

(२) ईश्वरकी आज्ञा क्या है—यह जबतक समझमें नहीं आ जाता, तबतक कोई श्रेष्ठ मनुष्य नहीं बन सकता।

(३) काव्यकी पुस्तकमें तीन सौ पद हैं, परंतु सबका सार इस एक ही वाक्यमें समाया हुआ है—'अधम विचार मनमें मत लाओ।'

(४) मनुष्य जितना सौन्दर्यको चाहता है, उतना सद्गुणको चाहनेवाला प्रायः नहीं मिलता।

(५) क्या सद्गुण कोई दूरकी वस्तु है? इच्छा करो कि, 'मैं सद्गुणी बनूँ' और देखो! सद्गुण तुम्हारे पास है।

(६) सद्गुण थोड़ा और अधिकार बड़ा, बुद्धि थोड़ी और योजना बड़ी, शक्ति कम और बोझ भारी—जहाँ ऐसी स्थिति हो, वहाँ निष्फलता न आये—यह हो नहीं सकता।

(७) श्रेष्ठ मनुष्य सद्गुणका चिन्तन करता है,

ओछा मनुष्य सुख-सुविधाका चिन्तन करता है।

कन्फ्यूसियसके अनेक उपदेश कहावतोंके समान चीनमें सर्वसाधारणमें प्रचलित हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) जो व्यवहार तुम अपने प्रति नहीं पसंद करते, वह दूसरोंके प्रति न करो। (२) बड़ा आदमी अपना दोष देखता है और छोटा आदमी दूसरेका। (३) यदि विद्याको विचारके द्वारा पचाया नहीं गया तो उसके अर्जनमें किया हुआ श्रम व्यर्थ जाता है। (४) यदि तुम मनुष्यकी सेवा नहीं कर सकते तो देवताकी सेवा क्या करोगे। (५) मनुष्य और उसका कर्तव्य समाजके लिये है।

जरदुश्त-मत और मानवता

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

जरदुश्त बलखके राजा विश्तस्पाका पुत्र था। इतिहासकारोंका अनुमान है कि जरदुश्तका जन्म सिकंदरके आक्रमणसे ३०० वर्ष पूर्व हुआ था। सुनते हैं कि वह इस पृथ्वीपर अवतीर्ण होते ही हँस पड़ा था। पारसियोंके धर्म-ग्रन्थ अवेस्तामें लिखा है कि 'जिस समय जरदुश्त धरा-धामपर अवतीर्ण हुआ, प्रकृतिमें सर्वत्र आनन्द छा गया।' (यस्त १३। ९३)

प्रज्ञा और सत्यमें अनुरक्ति होनेके कारण जरदुश्तने जन-सम्पर्कका त्याग करके जंगलका रास्ता लिया और एक पहाड़के ऊपर एकान्त जीवन व्यतीत करने लगा। एक बार जंगलमें आग लगनेके कारण उस पहाड़के चारों ओर अग्निज्वाला व्याप्त हो गयी, परंतु जरदुश्त किसी प्रकार वहाँसे निरापद बच निकला तथा मैदानमें जनसमूहके सामने उसने पहला उपदेश दिया। वह पहाड़ ईराककी सीमामें पड़ता था और उस समय उस देशमें दारियसका पिता ह्यस्तस्पस राज्य करता था।

१३वीं शताब्दीमें लिखित 'जरदुश्तनामा' नामक फारसी पुस्तकके अनुसार जरदुश्तने जीवनमें अनेक चमत्कार किये, उसके द्वारा लोगोंके रोग और पीड़ासे मुक्त होनेकी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। जरदुश्ती मतका प्रसिद्ध ग्रन्थ अवेस्ता कहलाता है। अवेस्ताके ५ मुख्य भाग हैं—यस्न, जो ७२ हाइते अर्थात् अनुच्छेदोंमें विभक्त है। ये वस्तुतः मन्त्र हैं, जो विभिन्न देवताओंकी प्रसन्नताके लिये यज्ञोंमें पढ़े जाते थे। विस्पेरेद और वेंदीदेदमें यज्ञोंके विधान हैं। यस्तमें देवताओंकी स्तुतियाँ हैं, जो गाकर पढ़ी जाती हैं। पाँचवा खुर्द अवेस्ता, जो अवेस्ताका सारसंग्रह है। खुर्दका अर्थ है छोटा (क्षुद्र)। अतएव यह अवेस्ताका छोटा रूप है, जो सर्वसाधारणके लिये रचा गया है। उपर्युक्त चार भाग विशेषतः पुरोहित-वर्ग तथा सम्पन्न लोगोंके लिये हैं, जो विभिन्न प्रकारके यज्ञोंके अनुष्ठानमें रत होते हैं।

जरदुश्ती मतके देवता प्रायः वैदिक देवता ही हैं। उस समय भारतके पश्चिमोत्तरके देशोंमें अग्निपूजा या सूर्यकी पूजा किसी-न-किसी रूपमें प्रचलित थी। अवेस्तामें आगे चलकर मिथ्र और वेरेथ्रघ्न देवताकी पूजाकी प्रधानता देखनेमें आती है। ये दोनों देवता वेदोंके मित्र और वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र हैं।

इस मतके मुख्य देवता हैं—अहुर या अहुर मज्द। ये दैवी-शक्तिसम्पन्न देवता हैं और सत्य, सदाचार, दया, पुण्य आदि शुभ कर्मोंके प्रेरक हैं। इनका विरोधी अहिर्मन झूठ, दुराचार, निर्दयता और पाप आदि अशुभ कर्मोंका प्रेरक है। जरदुश्ती मतके अनुसार सत्य, सदाचार, दया, पुण्य आदि शुभ कर्मोंमें ही जीवनको लगाना मानवता है। इनके विपरीत कर्मोंको करना शैतानी है।

वैदिक युगके अवसान-कालमें आर्यधर्म भारतके पश्चिमोत्तर देशोंमें ह्रासको प्राप्त हो गया। 'ऋ गतौ' धातुसे आर्य शब्द सम्पन्न होता है। वस्तुतः उन देशोंके आर्य घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करते थे। उनमें हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ प्रबल थीं, वे देवताकी प्रसन्नताके लिये पशुघात करते थे। परस्पर लड़ते रहते थे, मांसाहारी थे और मदिरा-पान करते थे। मानो वहाँ समाजमें फैले हुए दोषोंका निराकरण करके धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये ही जरदुश्तने जन्म लिया था। जरदुश्ती मत बौद्धधर्मके समान एक तत्कालीन सामाजिक कुरीतियोंका विरोधी और सुधारक मत था। उसने कृषि-कार्यमें लगकर, घुमक्कड़ जीवनका त्याग करके गार्हस्थ्य-जीवन बितानेकी उपयोगिता बतलायी; गोरक्षा, पशु-रक्षा करने तथा कुरीतियोंका त्याग करके सभ्य जीवन बितानेकी शिक्षा दी। उनके 'अहुर मज्द' देवता वेदोंके असुर देव हैं।—'असून् प्राणान् राति ददातीति असुरः।' जो प्राणियोंको प्राणवन्त बनाते हैं, वे ही देवता असुर हैं। अवेस्ताकी भाषामें उसे ही

अहुर 'कहते हैं, 'मज्द' का अर्थ है पूज्य। 'अहुर मज्द' मनुष्यको पुण्यात्मिका प्रवृत्तिमें लगाकर उसका उद्धार करते हैं। इस कार्यमें बाधक है अहिर्मन! वह अशुभ प्रवृत्तियोंकी ओर मनको प्रलुब्ध करता रहता है। इन्हीं दोनों तत्त्वोंको आगे चलकर हजरत महम्मद साहब खुदा और शैतानके नामसे पुकारते हैं। यह 'खुदा' शब्द जरदुश्ती मतसे लिया गया है (देखिये—यस्न १२ में 'अहुर मज्द खोदाए')।

मानवताकी दृष्टिसे जरदुश्तका मत मानव-समाजको आचार और धर्मके क्षेत्रमें उन्नत करनेमें सफल हुआ। जरदुश्ती मतकी एक शाखा आगे चलकर ईसाकी चौथी सदीमें मिथ्र (वैदिक 'मित्र') देवताकी पूजाका प्रसार करने लगी और इसका प्रसार जर्मनीसे लेकर समस्त रोमन साम्राज्यमें हो गया। यह मिथ्र देवता वेदोंके सूर्य देवता ही हैं, वही मित्र कहलाते हैं। इस पूजाने पश्चिमके देशोंमें सूर्यकी पूजाके साथ-साथ सात्त्विक आचारका प्रचार किया और मानवताको उन्नत करनेमें पर्याप्त योग दिया। यह आश्चर्यकी बात है कि इधर उन देशोंमें यज्ञ-यागादिके साथ वैदिक धर्मका प्रसार हो रहा था और इधर वैदिक यज्ञोंकी निन्दा करता हुआ ज्ञान और कर्मप्रधान जीवनकी दिव्यताका संदेश देनेवाले बौद्धधर्मका सूर्य भारतमें उदयाचलके क्षितिजपर अपनी सुनहली किरणोंका आलोक बिखेर रहा था।

मानवताके देवदूत महात्मा लाओत्जे

(लेखक—श्रीरामलालजी)

एशिया महाद्वीपके प्रायः सभी भूमिखण्डोंपर जगत्, जीवात्मा और परमात्माके तत्त्वविवेचनकी परम्परा बहुत पहलेसे चली आ रही है, पर उनमें भारत और चीनकी दर्शन अथवा विचार-क्षेत्रमें प्रधानता स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं दीख पड़ती। समय-समयपर बड़े-बड़े महर्षियों और दार्शनिकोंने जन्म लेकर मानवके विचारोंमें मौलिक क्रान्ति उपस्थित की है। ऐसे ही विचारकोंमें परम मनीषी महात्मा लाओत्जेको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उन्होंने मानवको परमेश्वरका रहस्य समझाया एवं जीवनको सरल और निर्मल तथा निष्कपट बनानेका उपदेश दिया। वे चीनमें ताओ-धर्म—भागवतधर्मके प्रवर्तक थे; महात्मा कनफ्यूशियस उनके समकालीन थे और उनके तत्त्वचिन्तनको लाओत्जेने अमित प्रभावित किया था। चीनको दार्शनिक लाओत्जेने ईश्वरीय मार्गपर चलनेका उपदेश दिया।

ताओ-धर्म मानवताका धर्म है। इसका स्पष्ट निर्देश है कि ईश्वर ही अन्तिम और परम ध्येय हैं, समस्त प्राकृतिक विधानमें उन्हींकी परम सत्ता—दिव्य ज्योति परिव्याप्त है। जो यह जान जाता है कि परमात्मा क्या हैं, मनुष्य क्या है, वह सिद्ध है। इन दोनों महान् तत्त्वोंका रहस्य समझ लेनेपर वह जान जाता है कि परमात्मा मेरे मूल हैं और मुझे मानवताकी सीमामें संयमित रहकर जीवनयापन करना चाहिये—संक्षेपमें ताओ-धर्ममें मानवताका यही स्वरूप है। यही लाओत्जेके उपदेशका सारांश है। चीनी भाषामें धर्मके लिये 'त्सुंग चिआओ' शब्द व्यवहृत होता है, जिसका आशय है उपदेशके प्रति सम्मान। ताओ-धर्म भी महात्मा लाओत्जेके उपदेशमात्र हैं मानवके प्रति। वे मानवताके देवदूत थे।

महात्मा लाओत्जेने अनुभव किया कि परमेश्वरकी सृष्टि और प्रकृतिके स्वरमें स्वर मिलाकर समरस गतिसे चलनेवाले मानवको अलौकिक आनन्द मिलता है। मानव प्रकृतिकी गतिमें अवरोध न उत्पन्न कर उसके समय-समयके परिवर्तनोंके साथ सामञ्जस्य स्थापितकर जीवनमें सरलता और निष्कपटताका झरना बहा सकता है। लाओत्जे रहस्यवादी महात्मा थे; उन्होंने मानवताको अपनी रहस्यमयी पारमार्थिक अनुभूतियोंसे सम्पन्न किया। उन्होंने बतलाया कि ताओ परम सत्य है, कालातीत है, समस्त सृष्टिका निर्माण करनेवाला सनातन नित्य-निराकार चिन्मय तत्त्व है, समस्त चराचरमें वही व्याप्त और अभिव्यक्त है, मानवता उसीकी सत्तासे प्राणमय है। ताओका ज्ञान प्राप्तकर मानव समस्त ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसे फिर कुछ जानना नहीं रह जाता। ताओ तत्त्वका दर्शन वही मानव कर सकता है, जिसके हृदयमें लेशमात्र भी स्वार्थकी भावना नहीं रह जाती। ताओ—परमात्म-तत्त्व अतल गहनताका भी गहनत्व है, समस्त आध्यात्मिकताका प्रवेश-द्वार है—ऐसी शिक्षा लाओत्जेने अपने अनुयायियोंको दी।

लाओत्जे भारतीय महर्षिके चीनी संस्करण थे। अपने एक सौ साठ सालके लंबे जीवनमें वे केवल इसी तथ्यपर

विचार करते रह गये कि मानव अपने सरल सदाचारी जीवनके द्वारा किस तरह ताओके सिद्धान्त—दिव्य ईश्वरीय पथपर चलकर परम श्रेय पा सकता है। संक्षेपमें उनका परिचय केवल इतना ही है कि वे चीन महादेशके चू राज्यके निवासी थे। वे ईसासे छः सौ चार साल पहले होनान प्रान्तके क्वे ते नगरसे थोड़ी दूरपर एक साधारण गाँवमें पैदा हुए थे। अपने विचारपूर्ण जीवनके कुछ साल उन्होंने चाऊके राजकीय पुस्तकालयमें बिताये। उन्होंने 'ताओ-ते-किंग' पुस्तककी रचना की, इसमें उनके आध्यात्मिक जीवन और उपदेशोंपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उन्होंने लोगोंको आध्यात्मिक जीवनका विज्ञान विचारके प्रकाशमें समझानेका पूरा-पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने प्रकृतिकी प्रगतिके अनुसार चलनेकी सीख दी, यही उनकी मानवता है। प्रकृति और सृष्टिके सिद्धान्तके विरुद्ध चलनेको वे हिंसात्मक कार्य मानते थे। उन्होंने मानवताका परिचय अध्यात्म-विज्ञानसे कराया। उन्होंने बताया कि समस्त सृष्टिका संचालन अनादि, निराकार, सर्वव्यापी शक्तिके हाथोंसे होता है। इस शक्तिका नाम ताओ है। ताओसे यिन और यांग—प्रकृति और पुरुषकी उत्पत्ति हुई है, इन्हीं दोनोंसे स्वाभाविकरूपमें सारी सृष्टि चलती रहती है। ताओसे उत्पन्न समस्त चराचर निरहंकार और कर्तृत्वके अभिमानसे परे हैं; इसी तरह मानवको भी अहंकारशून्य और सरल होना चाहिये। सारे समाजको व्यवस्थित और सुन्दर बनानेके लिये यह आवश्यक है कि उसकी बाग-डोर विचारकों, संतों और महात्माओंके हाथमें हो। लाओत्जेने आजीवन इस तरह समस्त मानवताके हितका चिन्तन किया।

महात्मा कनफ्यूशियस विचारक लाओत्जेके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। वे उनसे मिलने गये। लाओत्जेने उनको यी चिन—'परिवर्तनके नियम' नामक पुस्तक पढ़ते देखकर कहा कि आजकी मानवता और न्याय अपने अस्तित्वमें नहीं है, उनका केवल नाममात्र रह गया है। वे केवल निर्दयता और अन्यायकी कृतियोंपर परदा डालनेके साधन रह गये हैं। वे मानवके हृदयको चोट पहुँचानेवाले यन्त्र हैं। अव्यवस्था जितनी आज बढ़ गयी है, उतनी पहले कभी नहीं थी। कबूतर अपनेको श्वेत बनानेके लिये नित्य सवेरे स्नान नहीं करते, न कौआ अपना काला आकार स्थिर रखनेके लिये अपने-आपको काले रंगसे रँगता है। इसलिये ताओका पथ ही सद्गति दे सकता है। ईश्वरीय सत्सिद्धान्तको ही पूरे प्रयत्नसे अपनाना चाहिये। यही न्याय और मानवताका मार्ग है।

लाओत्जेने चाऊ राज्यकी राजधानीमें पुस्तकालयाध्यक्षके पदपर काम किया। वे अपने आपको जनसम्पर्कसे दूर रखकर आत्मचिन्तनमें लीन रहना चाहते थे। उन्होंने शासकको अनेक बार सावधान भी किया था कि भौतिकता बढ़ रही है, शासन विनाशके मुखमें जा रहा है, आध्यात्मिक जीवन अपनानेसे ही मानवताका संरक्षण हो सकता है, किंतु उनकी चेतावनी निष्फल हो गयी। राज्यका विनाश होते देखकर उन्होंने राजधानीसे बाहर चले जानेका निश्चय कर लिया। होनानकी उत्तर-पश्चिमी सीमा हाँकूमें पहुँचनेपर सीमारक्षक यिन-हिसीने उनसे निवेदन किया कि आप राज्य छोड़कर एकान्त-सेवनके लिये जा रहे हैं, मेरे लिये एक पुस्तक लिख दीजिये। लाओत्जेने ताओ और सदाचारपर पुस्तक लिख दी। लाओत्जेने लिखा—आकाश और पृथ्वीकी उत्पत्तिके पहलेसे नाम-आकारसे परे एक नित्य नवीन, अपरिवर्तनशील, शाश्वत, परम गुप्त सत्ताका अस्तित्व है, वही ताओ है। ईश्वरकी ओर मुख कर लो, शान्तिमें अवस्थित हो जाओ। जीवन आता-जाता रहता है, जन्म-मरण और प्रत्यावर्तनका क्रम चलता रहता है। शान्ति ही जीवनका संगीत है, सहज समर्पण तत्त्व है, नित्य वस्तु-तत्त्व परमेश्वरमें पूर्ण समर्पण ही परम शान्ति है। यह शान्ति ही सनातन चिन्मय ज्योति है।

महात्मा लाओत्जेने मानवताके सिद्धान्त प्रेम, नम्रता और सदाचारपूर्ण संयमित जीवनके रूपमें स्थिर किये। उन्होंने साधारण मानवकी तरह रहकर प्रेममय जीवन बितानेपर बड़ा जोर दिया। उन्होंने कहा कि मेरे पास तीन निधियाँ हैं, जिन्हें मैं बड़ी सावधानीसे रखता हूँ। पहली प्रेम है, दूसरी नम्रता है और तीसरी निधि यह है कि संसारमें समयानुकूल सदाचारपूर्ण जीवन बिताया जाय। प्रेमसे वीरता आती, नम्रता महान् बनाती है, संयमित समयानुकूल जीवनसे अधिकार—स्वत्वकी रक्षा होती है। उन्होंने निष्काम-निस्स्वार्थ जीवन अपनानेकी ही सीख दी मानवमात्रको। वे सदाचार और मानवताको प्रदर्शनकी वस्तु नहीं मानते थे, जीवनका प्रकाश समझते थे। भलाई और बुराई दोनोंके ही बदले उन्होंने भलाई करनेको ही मानवका सदाचार बतलाया। लाओत्जेके मानवता-सिद्धान्त विश्वजनीन और सर्वमान्य हैं।

मानवता और विश्वबन्धुत्वके प्रेरक श्रीबेडन पावल

(लेखक— श्री 'दत्त')

आज संसारके कोने-कोनेमें खाकी वर्दी पहिने और गलेमें रंगीन रूमाल (स्कार्फ) बाँधे लाखों युवक-युवतियोंको कौन नहीं जानता, जो अपनेको संसारव्यापी एक परिवारका सदस्य मानते हुए विश्वभ्रातृत्व और सेवाका आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। सुषुप्त मानवतामें सहानुभूति, प्रेम और सेवाकी भावनाओंको जाग्रत् करनेवाले इस बालक-बालिकाओंके संगठन 'स्काउट-गाइड आन्दोलन' के प्रवर्तक थे—

श्रीबेडन पावल महोदय। आज उन्हींके द्वारा प्रदर्शित मार्गपर संसार-भरके ये नवयुवक-युवतियाँ आगे बढ़कर मानवताकी सच्ची सेवा कर रहे हैं।

स्काउट-गाइड आन्दोलनमें बालक-बालिकाओंको अपने देशका सुनागरिक बनानेके लिये प्रशिक्षित किया जाता है। उनमें मानवताके सर्वश्रेष्ठ गुणोंका समावेश करानेके लिये स्काउट-गाइड नियम-प्रतिज्ञाओंका पालन सिखाया जाता है, जो मानवताको श्रीबेडन पावलकी अमूल्य देन है। विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायोंके उपदेशोंका मन्थन करनेके बाद श्रीबेडन पावलने ये आदर्श मानवताके रत्न निकाले हैं, जिनपर संसारभरके स्काउट-गाइड आगे बढ़नेका भरसक प्रयास करते हैं। ये मानवताके आदर्श नियम इस प्रकार हैं—

स्काउटकी प्रतिज्ञा

१. मैं मर्यादापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं यथाशक्ति ईश्वर (धर्म) और अपने देशके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करूँगा।

२. सदा दूसरोंकी सहायता करूँगा।

३. स्काउट-नियमोंका पालन करूँगा।

स्काउट-नियम

१. स्काउटका वचन विश्वसनीय होता है।

२. स्काउट वफ़ादार होता है।

३. स्काउटका कर्त्तव्य है कि वह ईश्वर (धर्म) का सम्मान, अपने देशकी सेवा और दूसरोंकी सहायता करे।

४. स्काउट सबका मित्र होता है और प्रत्येक दूसरे स्काउटका भाई होता है—चाहे वह किसी भी देश, जाति या धर्मका हो।

५. स्काउट विनम्र होता है।

६. स्काउट पशु-पक्षियोंका मित्र होता है।

७. स्काउट अनुशासनशील और आज्ञाकारी होता है।

८. स्काउट वीर होता है और आपत्तिमें भी प्रसन्नचित्त रहता है।

९. स्काउट मितव्ययी होता है।

१०. स्काउट मन, वचन और कर्मसे शुद्ध होता है।

इन प्रतिज्ञा और नियमोंका पालन करते हुए स्काउट-गाइड आदर्श नागरिक और सच्चे मानव बनते हैं, जिससे मानवताको बल मिला है। यह संगठन एक अन्ताराष्ट्रिय संगठन है, जिसकी शाखाएँ संसारके लगभग सभी प्रजातन्त्रीय देशोंमें फैली हुई हैं। इस प्रकार मानवताकी सच्ची सेवा करनेवाले इस संगठनका उदय स्वयं बालक-बालिकाओंने श्रीबेडन पावलकी विचारधाराको उनकी पुस्तक (Scouting for Boys) में पढ़कर किया था। १९०७ ई० में ब्राउन-सी नामक द्वीपपर २० मिले-जुले बालकोंके एक शिविरमें श्रीबेडन पावलने जो उपयोगी बातें उन्हें बतलायी थीं, उन्हींको संगृहीत

कर उक्त पुस्तक प्रकाशित की गयी थी, जिसके आधारपर हजारों बालक स्वयमेव स्काउट बनने लगे।

बच्चोंके उत्साह और आन्दोलनकी प्रगतिको देख सन् १९१० में श्रीवेडन पावलने उसको संगठित किया। तत्पश्चात् १९२०-२१में इस संगठनने अन्ताराष्ट्रिय स्वरूप धारण कर लिया और श्रीवेडन पावल इसके 'चीफ स्काउट' निर्वाचित हुए।

इस प्रकारके विश्वव्यापी संगठनके प्रवर्तक श्रीवेडन पावल-का जन्म २२ फरवरी, १८५७को लंदनमें हुआ था। इनके पिता श्रीएच० जी० वेडन पावल ऑक्सफर्ड विश्व-विद्यालयमें विज्ञाना-चार्य थे और इनकी माता श्रीमती हेनरिट्टा ग्रेस थीं। बाल्या-वस्थासे ही बालक वेडन पावलको प्रकृतिसे प्रेम था और वे भ्रमण तथा बाहरी जीवनसे अधिक प्रसन्न रहते थे। प्रारम्भिक शिक्षाके बाद वे ऑक्सफर्डमें अध्ययन करना चाहते थे, किंतु इन्हें एक सैनिक परीक्षामें सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ और १३ वीं हुसार्स-सेनाका अधिकारी बनाकर भारत भेजा गया। भारतमें उन्होंने दस वर्ष व्यतीत किये, जहाँ उन्होंने अनेक प्रकारके सैनिक-अनुभवोंके साथ-साथ भारतीय जीवन और आदर्शोंका अनुभव किया। उन्होंने नेटाल, जुलु प्रदेश, माल्टा, मताबले प्रदेश और अफ्रीकाके अन्य देशोंमें कई युद्धोंमें भाग लिया और वीरतापूर्वक विजय और सम्मान प्राप्त किया। मेफकिंगकी रक्षामें उन्होंने बाल-सेनाका निर्माण किया। इसी समय उनके मस्तिष्कमें बालचर संगठनकी विचारधारा आयी। कुछ लोगोंका मत है कि भारतमें हरि-द्वारके पास जंगलोंमें एक महात्मासे बात-चीतके समय उन्हें इस बाल-संगठनकी स्थापनाका आभास मिला था। मेफकिंग-विजयपर श्रीवेडन पावलको मेजर जनरल बना दिया गया। आज भी इंग्लैंडके इतिहासमें उन्हें 'मेफकिंगका वीर' कहा जाता है। इसके बाद ब्राउन-सी द्वीपमें प्रथम बालचर-शिविरके साथ बालचर-आन्दोलनकी रूपरेखा संसारके सामने आयी, जो आज मानवताका सम्बल है।

श्रीवेडन पावल एक सुदक्ष सैनिक अधिकारी होनेके साथ-साथ एक अनुभवी मनोवैज्ञानिक, शिक्षाविद्, दार्शनिक और विचारक भी थे। उनकी बहुमुखी प्रतिभाने ही आज मानवताको दो अमूल्य रत्न दिये हैं—स्काउटिंग और गाइ-डिंग, जिनसे प्रभावित होकर आज संसारके लाखों-करोड़ों अनजान हृदय विश्वभ्रातृत्वके एक सूत्रमें बँधे हुए हैं। सन् १९५८ में श्रीवेडन पावलकी जन्मशताब्दी संसारभरमें धूम-धामसे मनायी गयी।

श्रीवेडन पावलका जीवन-दर्शन (Philosophy of life) हमें आदर्श मानवताकी ओर अभिप्रेरित करता है। उन्होंने १७ वर्षसे अधिक आयुवाले नवयुवक रोवर स्काउटों-को संसारकी नश्वरता और सेवाका महत्त्व बतलाते हुए जो दार्शनिक विचार प्रकट किये हैं, वे प्रत्येक मानवके लिये मननीय हैं, अनुकरणीय हैं—

"जीवन क्षणिक है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति बड़ा होता जाता है, समय तीव्रतासे व्यतीत होता जाता है। ऐसी स्थितिमें ईश्वर-द्वारा प्रदत्त जीवनका सर्वश्रेष्ठ उपयोग दूसरोंकी सेवा करना है, भलाई करना है। अपने आनन्द, व्यवसाय-उन्नतिके साथ-साथ दूसरोंकी सहायता करना मानवका कर्तव्य है। जीवनमें किसीको चोट या दुःख नहीं पहुँचाना और भविष्यके लिये 'सेवा' को अपनाना प्रत्येक रोवर स्काउटका कर्तव्य है। 'सेवा' केवल खाली समयके लिये ही नहीं है, वरं सेवा जीवन-का एक अङ्ग है, जो अपनी अभिव्यक्तिके लिये अवसर चाहता है। हम सेवाके बदलेमें किसी प्रकारका वेतन या पुरस्कार नहीं पाते, किंतु वह हमें 'स्वतन्त्र मानव' (Free Man) बनाती है। हम किसी मालिकके लिये सेवा नहीं करते, हम परमात्मा और अपनी आत्माके लिये स्वान्तः-सुखाय सेवा करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हम मानव हैं। हमारी सेवाकी सफलता हमारे व्यक्तिगत चरित्रपर निर्भर है, अतः हमें दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिये अपने आपको अनुशासनशील बनाना है। भगवान् आपको वास्तविक मानव और सच्चा नागरिक बननेमें सहायक हों।"

वास्तवमें इन शब्दोंमें श्रीवेडन पावलका जीवन छिपा है, उनका अनुभव छिपा है, जिसके आधारपर चलकर प्रत्येक बालक-बालिका और युवक-युवती वास्तविक मानव बननेका भरसक प्रयास कर रहे हैं। ऐसे ही वास्तविक मानवोंकी आशा मानवता लगाये बैठी है, जिनपर उसका सम्पूर्ण भविष्य आधारित है। भगवान् करें, श्रीवेडन पावलका यह आदर्श संसारके जन-जनके मनको अभिप्रेरितकर वास्तविक मानवता-की ओर अग्रसर करे और यह संसार सरस, सुखी और शान्तिमय बन जाय, जहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधारपर सब भाई-भाई और बहिन-बहिनके रूपमें हिल-मिलकर रह सकें।

धन्य हैं इस प्रेरणाके स्रोत और प्रवर्तक श्रीवेडन पावल और धन्य हैं इसको जीवनमें अपनानेवाले मानवताके सच्चे पुजारी!

मानवताका कल्याण हो!

अन्ताराष्ट्रिय जनहितकारिणी संस्था 'रेडक्रास'

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

आज प्रायः इस संस्थाको स्थापित हुए सौ वर्ष ही पूरे हो रहे हैं। पर इसकी सदस्य-संख्या इतनी तेजीसे बढ़ रही है कि उसे देखकर सर्वथा चकित रह जाना पड़ता है। विश्वके प्रायः ७० राष्ट्रोंमें सब मिलाकर आज इसके १२ करोड़, ७० लाख सदस्य हैं, जब कि १९३९में ४८ राष्ट्रोंमें इसके कुल सदस्य २ करोड़तक ही सीमित थे।

उत्तरी इटलीके सालफेरिनो नामके स्थानमें २४ जूनकी रात्रिमें एक युद्धकी समाप्ति हुई। इस समय इस युद्धक्षेत्रमें ४० हजार सिपाही अर्धमृत या मृतावस्थामें पड़े थे। इसी समय स्विजरलैंडका एक व्यापारी हेनरी डूनैंट किसी प्रकार वहाँ जा पहुँचा। जो सिपाही वहाँ घायल तथा अर्धचेतनावस्थामें पड़े थे, उन्हें एक बूँद जलतककी सहायता देनेवाला कोई नहीं था। इस मर्मविदारक दृश्यसे खिन्न व्यापारीका हृदय अत्यन्त व्यथित तथा दयार्द्र हुआ और उसने उभय पक्षके आहत योद्धाओंके लिये सेवा-शुश्रूषा तथा चिकित्सा आदिकी व्यवस्था की। उसने निकटवर्ती ग्रामीणोंसे उनकी सहायताके लिये प्रार्थना की और 'मानव-मानव भाई-भाई'का नारा लगाया। यही एक प्रकारसे इस पवित्र मानवताकी भावनाकी नींव हुई। इस प्रकार सालफेरिनोकी इस दुःखद-घटनाने मानव-जातिके एक महान् श्रेयका मार्ग भी प्रशस्त किया।

इसके बाद हेनरी डूनैन्टने Memory of Selferino (सालफेरिनोकी संस्मृति) नामसे एक पुस्तक लिखी। इसमें उसने रोगियों तथा आहतोंको किसी भी राष्ट्रसे असम्बद्ध मानने तथा सेवाके समुचित पात्र मानकर शुश्रूषोपयोगी सिद्ध करनेकी अकाट्य युक्तियाँ दीं। यह पुस्तक १८६२ में जेनेवासे प्रकाशित हुई। इस पुस्तकके देखनेसे हेनरीकी उस मनोव्यथाका पता चलता है, जो सालफेरिनोके युद्धक्षेत्रमें उपेक्षित, असहाय, घायल सैनिकोंके देखनेसे उसे हुई थी। १८६४ में उसने जेनेवामें ही राजनीतिज्ञोंकी एक सभा बुलायी, जिसमें सर्वप्रथम यूरोपके बारह शक्तिशाली राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंने 'रेडक्रास-आर्गेनाइजेशन' के प्रस्तावपर हस्ताक्षर किये और यह संस्था प्रकटरूपमें विश्वके सामने आयी। इस तरह उस सहृदय व्यापारीकी अभिलाषा पूरी हुई।

इसके बाद हेनरी प्रायः अपने व्यक्तिगत जीवनके ही कार्य-कलापोंमें लग गया। किंतु १८७० में जब फ्रान्स तथा प्रशाका युद्ध चल रहा था, तब पेरिसके स्त्री-बच्चोंको बचानेमें वह पुनः जी-जानसे जुट गया। १९०१ में उसे 'नोबेल पुरस्कार' मिला, जिसका अधिकांश भाग उसने दीन-हीनोंकी सेवामें ही समर्पित कर दिया। अन्तमें १९१० के ३० अक्टूबरको उसका स्विजरलैंडमें ही देहान्त हो गया। पर इस संस्थाका प्रचार-प्रसार रुका नहीं, वह सर्वत्र बढ़ता ही गया। १९१९ के महायुद्धके बाद तो इसकी प्रगति बहुत ही तीव्र हो गयी और आज इसके प्रायः पौने तेरह करोड़ व्यक्ति सदस्य हैं।

अन्ताराष्ट्रिय रेडक्रास-परिषद्के निम्नलिखित प्रयत्न हैं—(१) इसे प्रत्येक देशके कोने-कोनेमें पहुँचाया जाय। (२) इसके सिद्धान्तोंकी सब प्रकारसे रक्षा की जाय। (३) युद्धके समय अधिक-से-अधिक राष्ट्रिय तथा अन्ताराष्ट्रिय सहायताके आधारपर कैदियों, रोगियों तथा आहतोंकी सेवा की जाय इत्यादि।

१९१२ के बाल्कन युद्ध, १९१४–१८ के महायुद्ध तथा १९४०–४५ के विश्वयुद्धमें इसकी सेवाएँ अत्यन्त बहुमूल्य थीं। इसके अतिरिक्त बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी आदि जनसंहारक बीमारियोंमें भी इसकी सेवाएँ सर्वत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं। बाल-रक्षण, पिछड़े प्रान्तोंकी समुन्नति तथा युद्धके समयमें सैनिकोंके पास पुस्तक, पत्र-पत्रिकाएँ एवं औषध पहुँचानेका कार्य भी इसका बड़ा स्तुत्य है। लँगड़े-लूले, अपाहिज व्यक्तियोंकी सेवा भी यह संस्था तन-मनसे करती है।

मुस्लिम देशोंमें इसका प्रचार अपेक्षाकृत कम है। भारत भी इसका वर्षोंसे प्रभावशाली अङ्ग बन रहा है। गत वर्ष इस संस्थाका १९वाँ अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन दिल्लीमें सानन्द सम्पन्न हुआ। भारतीय रेडक्रास संस्थाके अन्तर्गत ३०० औषधालय, सेवागृह, पाठशालाएँ एवं अन्यान्य सेवासदन हैं। सेन्ट जॉन नामक सहायक संस्था इसकी ही एक उपशाखा है। यह प्रतिवर्ष हजारों व्यक्तियोंकी प्राथमिक चिकित्सा, गृहचिकित्सा तथा क्षुद्ररोग-चिकित्साकी शिक्षा प्रदान करती है। पुनः ये शिक्षित व्यक्ति महान् मेले, पर्व, महोत्सव आदिके अवसरपर विभिन्न नगरोंमें बीमारियोंके अवरोधके लिये टीका तथा प्रारम्भिक उपचारका कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त २० लाख बालक-बालिकाएँ जूनियर रेडक्रास संघके सदस्य हैं। ये अपने स्वास्थ्य, मानवसेवा तथा अन्ताराष्ट्रिय मैत्रीके लिये सचेष्ट रहते हैं।

अमेरिकाकी 'रेडक्रास' संस्थाका इस दिशामें प्रयत्न बहुत ही स्तुत्य है।

मानवता और श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती

[कुछ जीवन-घटनाएँ]

(लेखक—श्रीबाबूरामजी गुप्त)

(१) श्रीस्वामीजी महाराज एक दिन मथुरामें यमुनाजीके किनारे आसन लगाये बैठे थे। एक देवी घाटसे स्नान करके जा रही थी। दयानन्दको ईश्वराराधनमें लीन देखा तो चरणोंपर सिर रख दिया, देवीके भीगे वस्त्रोंके स्पर्शसे आँख खुली तो 'माँ, माँ' कहते हुए चल दिये और गोवर्धन पर्वतके एक भग्न मन्दिरमें तीन दिन-रात निराहार रहकर आत्म-चिन्तनमें लीन रहे। गुरुजीके पास पहुँचे तो दण्डीजीने पूछा 'कहाँ रहे तीन दिन, दयानन्द ?'

'क्षमा करें, गुरुदेव, मैं एक प्रायश्चित्तकी अग्नि तपता रहा।'

'कैसा प्रायश्चित्त ?' गुरुजीने आश्चर्यसे पूछा।

स्वामी दयानन्दजीने स्त्री-स्पर्शकी घटना सुनायी, जिससे विरजानन्दजीने समझ लिया कि यह आत्मा कुछ करके दिखानेवाली है।

(२) शीतकालकी चाँदनी रात थी, गङ्गा-किनारे केवल कौपीन पहिने समाधि लगाये बैठे थे। बदायूँके कलक्टर और उनके साथी एक अंग्रेज पादरी उधरसे आ निकले और खड़े होकर साश्चर्य देखने लगे। समाधि खुली तो कलक्टर साहबने पूछा 'आप ऐसी ठंडीमें एक लँगोट पहने बैठे हैं ! ······ और हम ······' बात काटकर पादरी महोदय बीचमें ही बोल उठे ········ 'इनको सर्दी कहाँ ! माल खाकर मोटे हो गये हैं।' दयानन्दजीने कहा—'हम दाल-रोटी खानेवाले माल क्या खायेंगे। मछली, मदिरा, अंडोंको माल समझनेवाले माल तो आप खाते हैं। माल खाने-न-खानेका सर्दीसे क्या सम्बन्ध है ?' पादरीने पूछा—'फिर इसका कारण ?' कहा 'ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास।' कलक्टर साहबने पादरीको चुप रहनेका संकेत किया।

(३) कासगंजमें जैसा कोई रूखा-सूखा भोजन लाकर देता, कर लेते। जितनी आवश्यकता होती, उतना रख बाकी बाँट देते। कहा करते 'अन्नं न निन्द्यात्तद्व्रतम्' अर्थात् अन्नकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

(४) अजमेरमें किसीने आकर समाचार दिया कि भरतपुरके चर्मकारोंके गंजमें आग लग गयी। दीनबन्धु दयानन्द उसी समय सहायताके लिये तैयार हो गये। तदनन्तर उनकी झोंपड़ियाँ फिरसे बनवानेके लिये लोगोंको चंदा देनेकी प्रेरणा की और उन गरीबोंको धैर्य दिया।

(५) स्वामीजीके शाहपुरा-निवासस्थानके पास एक नयी बन रही कोठीकी छत टूट पड़ी। कई पुरुष नीचे दब गये, पता लगनेपर आपने आगे-आगे आकर जिस शिलाके नीचे वे दब गये थे, उसे अकेले ही निज भुजाबलसे हटाकर उनको जीवन-दान दिया।

(६) लाहौरमें एक दिन पं० शिवनारायण अग्निहोत्री आते हुए स्वामीजीकी भेंटके लिये कुछ पुष्प लाये। स्वामीजीने कहा—'अग्निहोत्रीजी! आपने यह अच्छा नहीं किया। प्रकृतिने इन पुष्पोंको जितने दिन सुगन्ध फैलानेके लिये रचा था, आपने उससे पहले ही उनको तोड़ लिया। अब ये शीघ्र ही सड़कर सुगन्धके स्थानपर दुर्गन्ध फैलायेंगे, वृक्षपर लगे रहते तो उससे बहुत मनुष्योंको लाभ होता और स्वयं समयपर गिरते तो उत्तम खादका काम देते।'

(७) बुलंदशहरके पं० नन्दकिशोर दयानन्द-दर्शनके लिये आ रहे थे। रास्तेमें पड़ते एक खेतसे कुछ फलियाँ तोड़कर भेंट करनेके लिये ले गये। इस भेंटपर स्वामीजीने कहा, 'ये फलियाँ चोरी करके लाये हो !' चोरीका नाम सुनते ही नन्दजी चौंककर बोले, 'चोरी ! मैंने किसकी चोरी की है, महाराज !' स्वामीजीने कहा—'सत्य कहना, ये फलियाँ क्या खेतके मालिककी आज्ञासे लाये हो ! आज्ञाके बिना किसीकी चीज लेना ही चोरी है।'

(८) स्वामीजी एक बागमें भ्रमण कर रहे थे। रामप्रसाद विद्यार्थी साथ था। उसने बागमें गिरा हुआ एक आम उठा लिया। स्वामीजीको जब पता लगा, तब अप्रसन्न होते हुए कहा—'यह आम तुमने मालिककी आज्ञाके बिना क्यों उठाया, क्या यह बाग तुम्हारे बाप-दादाका है !' विद्यार्थी क्षमा माँगने लगा, तब स्वामीजीने कहा—'नहीं, तुम्हें दण्ड दिया जायगा।'

(९) बड़ौदाके एक व्यक्ति गोविन्दराम पर दो लाख रुपयेके हेर-फेरका केस सर टी० सी० माधवराय जजकी

अदालतमें चल रहा था। जज महोदय थे दयानन्दजीके भक्त! गोविन्दके सम्बन्धीने स्वामीजीसे कहा, 'महाराज! गोविन्द जेलमें सड़ रहा है, आप जज साहबसे सिफारिश कर दें·· तो आपके वेदभाष्यके लिये मैं बीस हजार रुपये दूँगा।' स्वामीजीने उसे फटकारते हुए कहा—'रुपयेका प्रलोभन दिखाकर ऐसा घृणित प्रस्ताव! किसीके साथ अन्याय हो, यह तो हम नहीं चाहते; किंतु इस सम्बन्धमें ऐसे प्रलोभनका क्या अर्थ!'

दयालु दयानन्दने इसपर भी एक दिन बात जज महोदयसे कह दी, परिणामस्वरूप गोविन्द सस्ता ही छूट गया। एक भ्रष्टाचारके प्रस्तावपर दयानन्दका हृदय कितना कठोर था और किसीसे अन्याय न हो जाय, इसके लिये कितना कोमल और आजकलके भ्रष्टाचारियोंके लिये कितना शिक्षाप्रद!

मानवता और अतिथिसेवा

(लेखक—श्रीश्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी परिव्राजक महाराज)

देह धरे का धर्म यह देय देय कछु देय।
बहुरि न देही पाइहै अबकी देय सा देय॥

मानवको यह देवदुर्लभ शरीर बड़े सौभाग्यसे प्राप्त हुआ है, इसे विलासिता और आलस्यमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। मानवके लिये सार वस्तु यही है कि वह सदैव परोपकार करता रहे। 'परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत्।' मानवके आदिशासक भगवान् मनु हैं। उन्होंने मानव मात्रको सदाचार, तप, त्याग, धर्म, परोपकार और नीतिपूर्ण व्यवहार करनेका आदेश दिया है। अतिथिसेवा मानवताकी अनादि संस्कृति है अर्थात् समाजमें वही कर्म अनुष्ठेय होता है, जो अधिक पुण्य-प्रदायक हो, सबको सदा प्रिय लगता हो तथा जिसका पूर्वजोंने अनुष्ठान किया हो।

अतिथिसेवामें उपर्युक्त सभी लक्षण प्राप्त होते हैं, इसलिये यह मानवमात्रके लिये अनुष्ठेय है। जिस प्रकार वायुका समाश्रय पाकर समस्त प्राणी अपना जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार मानवसे देव, ऋषि, पितर, कृमि (चींटी आदि जीव) और अतिथि कुछ पानेकी आशा रखते हैं। जो बुद्धिमान् मानव 'बलिवैश्वदेव' द्वारा इन सभीको नित्य तृप्त करता रहता है, वह सहजमें ही तेजोमय परमपद प्राप्त करता है—

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिं पथर्जुना॥

(मनु०)

जिस गृहस्थके गृहपर आया हुआ अतिथि विमुख लौट जाता है, उस गृहस्थके कुल-देवता तथा पितर असंतुष्ट होकर शाप दे देते हैं। इसलिये यदि और कुछ न बन सके तो तृणासन, वासस्थान, पाद-प्रक्षालनके लिये जल और मधुर एवं निश्छल वचनोंके द्वारा ही अतिथिसेवा अवश्य करनी चाहिये; क्योंकि इन उपर्युक्त वस्तुओंका अभाव तो सज्जनोंके यहाँ किसी समय भी नहीं रहता। मानवताकी यह अनादि-परम्परा सुरक्षित रहे, इसलिये मनुजीने आदेश दिया है कि *गृहस्थके गृहपर आया हुआ कोई भी अतिथि* आसन, भोजन, शय्या और कन्द, मूल, फल तथा जलद्वारा यथाशक्ति सत्कृत हुए बिना विमुख न जाने पाये।

जैसे कृषकलोग उपार्जित समस्त अन्नको स्वयं नहीं खा जाते, अपितु उसे बोनेके लिये भी सुरक्षित रखते हैं और समयपर उस रक्षित अन्नको निर्वेदरहित होकर खेतमें बोते हैं। वह बोया हुआ बीजरूप अन्न अनुकूल जल-वायु प्राप्त कर उगता है और कालान्तरमें एक-एक कणके प्रतिफलमें शत-शत अन्नकण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार विद्या और तेजसे परिपूर्ण ब्राह्मण-अतिथिकी मुखाग्निमें प्रक्षिप्त हव्य-कव्य दाताको इस लोकमें अनेक संकटोंसे और परलोकमें महान् पातकोंसे छुटकारा दिला देता है।

यों तो गृहस्थके द्वारपर नित्य आगन्तुक आया ही करते हैं, उन समस्त आगन्तुकोंका विभाजन मनुजीने चार श्रेणियोंमें किया है। उनमें प्रथम श्रेणीके आगन्तुक वे हैं, जो अपने प्रयोजनसे आते हैं। द्वितीय श्रेणीके आगन्तुक वे हैं, जो मित्रसम्बन्धी या कुटुम्बीजन हैं; इन्हें मेहमान तथा पाहुन भी कहा जाता है। तृतीय श्रेणीमें वे हैं, जो चिरपरिचित होते हैं और आमन्त्रित करनेपर आते हैं; इन्हें 'अभ्यागत' कहा जाता है। तथा चतुर्थ श्रेणीके आगन्तुक वे हैं, जो दूरदेशीय, भ्रमण करनेवाले, परिव्राजक तथा अनायास आते हैं, अर्थात् जिनके आनेकी तिथि निश्चित नहीं होती है; इन्हें 'अतिथि' कहा जाता है। दूसरेके गृहपर जो ब्राह्मण एक रात्रि निवास करता है, उस 'अतिथि'की सेवा देवताके तुल्य करनी चाहिये।

गुरुको विधिपूर्वक गोदान करनेसे जो पुण्य-फल प्राप्त होता है, वही फल गृहस्थको अतिथिसेवासे मिल जाता है। शिलोञ्छवृत्तिपर जीवन-निर्वाह करनेवाला तथा पञ्चाग्नि-सेवन करनेवाला ब्राह्मण यदि अतिथिके आनेपर उसकी सेवा नहीं करता तो वह अतिथि उन दोनोंके समस्त पुण्योंको हर लेता है—

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्॥
(मनु०)

ऋषिकुमार नचिकेताको द्वारपर तीन दिन-रात बिना कुछ अन्न-जल ग्रहण किये यमराजकी प्रतीक्षामें खड़े देख उनके लौटनेपर यमपत्नी उनसे कहती हैं—वैवस्वत ! अतिथि-सेवाके लिये अर्घ्य-पाद्यकी सामग्री शीघ्र ही प्रस्तुत करें; क्योंकि अतिथिरूपमें साक्षात् अग्नि ही सद्गृहस्थोंके गृहोंमें प्रवेश करता है और उस अग्निको शान्त करनेके लिये ही गृहस्थजन अर्घ्य, पाद्य तथा दानरूप सेवा करते हैं—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥
(कठोपनिषद् १।१।७)

स्वयं गृहपर आये हुए अतिथिको बैठनेके लिये आसन तथा पादप्रक्षालनके लिये जल देना चाहिये, तदनन्तर विधिपूर्वक व्यञ्जनादियुक्त अन्न खिलाना चाहिये।

धर्मशास्त्र मानवके कर्तव्यको बतलाकर उसे खोटे मार्गसे सदैव निवृत्त करता रहता है, इसीलिये धर्माचार्योंने सद्-गृहस्थोंको अतिथिके अभावमें बलिवैश्वद्वारा अन्नशुद्धि करनेका आदेश दिया है। जिस प्रकार धर्मशास्त्रोंने बिना अतिथिसेवाके पाककी शुद्धि नहीं बतलायी है, उसी प्रकार निठल्ले रहकर दूसरेका अन्न खानेवालेको भी शास्त्रवेत्ताओंने 'जघन्य' कहा है। जो अज्ञानी गृहस्थजन अकारण ही दूसरेका अन्न खाते फिरते हैं, वे जन्मान्तरमें उस अन्नदोषसे अन्नदाताके पशु होते हैं—

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥
(मनु०)

आज भौतिकवादके युगमें अतिथिके रूपमें ऐसे खोटे तथा नकली लोग भी आ जाया करते हैं, जो 'अतिथि' नामके सर्वथा अयोग्य हैं। इन लोगोंकी पहचान उनके वेष, आकार, चेष्टा, मुखाकृति, नेत्र तथा वाणीके व्यवहारद्वारा सरलतापूर्वक की जा सकती है और खोटेकी पहिचान हो जानेपर उनसे सावधान हो जाना चाहिये। इस प्रसङ्गमें मनुजीने स्पष्ट लिखा है कि वेदबाह्य व्रतोंके चिह्न धारण करनेवाले (वाममार्गी); निषिद्धकर्मी, स्वार्थी, शठ (गुरु, देवता तथा शास्त्र-अविश्वासी) और हैतुक (वेद-विरुद्ध तर्क करनेवाले) लोग यदि अतिथिरूपसे गृहस्थके गृहपर आ जायँ तो वाणीमात्रसे भी उनका सत्कार नहीं करना चाहिये। किंतु यति, ब्रह्मचारी, वेदविद्यास्नातक और व्रतस्नातक आदिको सत्कार (स्वस्तिवाचन)-पूर्वक भिक्षा देनी चाहिये।

कहनेका अभिप्राय यह है कि मानवतामें ही यह अतिथि-सेवाकी विशेषता पायी जाती है। वह अपरिचित दूरदेशस्थ प्रवासी अतिथिको प्राप्त कर अपनी अपार श्रद्धाका परिचय सेवाद्वारा देता है। वह अतिथिका स्वागत करके अग्निको, आसन प्रदान करके इन्द्रको, पाद-प्रक्षालन करके पितरोंको और अर्घ्य प्रदान करके पिनाकपाणि भगवान् शंकर आदि देवताओंको तृप्त करता है—

स्वागतेनाग्नयस्तुष्टा आसनेन शतक्रतुः।
पादशौचेन पितरं अर्घ्याच्छम्भुस्तथातिथेः॥

मानवके अतिरिक्त यह उदारताका स्वभाव अन्य प्राणियोंमें नहीं पाया जाता; क्योंकि वे अन्य प्राणीको देखते ही उसपर सामूहिक आक्रमण करके उसके समीपका खाद्य पदार्थ भी छीनकर खा जाते हैं। वे अपने सजातीय और पारिवारिक सम्बन्धका भी कुछ विचार नहीं रखते, अपितु बड़े चावसे उत्पन्न किये हुए अपने ही बच्चोंके मुखसे बड़ी निर्दयता-पूर्वक छीनकर खाते हुए पाये जाते हैं और कभी-कभी तो वे एक दूसरेके प्राण लेनेपर ही उतारू हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति पशु-पक्षियोंमें प्रायः नित्य ही देखी जाती है अतएव यदि इन्हीं लक्षणोंका प्रवेश मानवमें हो जाय तो फिर मानवताका कुछ मूल्य ही नहीं रह जाता। आजका मानव ही इस ओर अधिक प्रवृत्त होकर अपनी प्राचीन मानवता—अतिथिसेवा और उदारताको भूल-सा गया है। इसी कारण वह विघटन, वैमनस्य, कलह और परस्वत्वापहरणकी ओर प्रवृत्त है, उसे यह ज्ञान ही नहीं रहा कि प्रगतिका मार्ग क्या है और अवनतिके गर्तसे किस प्रकार बचा जा सकता है। धर्मशास्त्र मानवको कुमार्गसे बचनेका सुझाव देता है; किंतु

आजके मानवके पास शास्त्र-श्रवण करनेका समय नहीं और कर्तव्यकर्मोंको सम्पादन करनेकी शरीरमें स्फूर्ति नहीं है। ऐसे किंकर्तव्यविमूढ़ मानवका भी जिसके द्वारा शीघ्र उत्थान हो, नभी अतिथिसेवाको करनेका आदेश मनुजीने दिया है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि अतिथिसेवा करना मानवका परम धर्म है और न करनेसे महान् अनर्थ होता है। अर्थात् जिसे मानवताकी रक्षा करना अभीष्ट है, उसे अतिथिसेवा भी नित्य करनी चाहिये। त्याग तथा कर्तव्यपालनसे ही मानवताकी रक्षा सम्भव है। अतिथिसेवासे मानवके स्वभाव तथा कुलीनताकी परीक्षा होती है। इसलिये अपने गृहपर आये हुए अतिथियोंकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। वास्तवमें विचारकर देखा जाय तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का विज्ञान अतिथिसेवामें ही विद्यमान है और आजके मानवको इसी विज्ञानकी आवश्यकता है। जबतक मानवमात्रमें यह भावना कि 'वसुन्धरापर जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी मेरा अपना कुटुम्बी है' जाग्रत् नहीं की जायगी, तबतक मानवकी मानवता अधूरी है।

मानवता और अतिथि-सेवा

(लेखिका—बहिन श्रीशशिबाला बिहारी 'विशारद')

शताब्दियोंसे हमारे पूर्वजोंको अतिथियोंकी सेवामें जहाँ असीम श्रद्धा तथा अनन्त आनन्दका अनुभव होता था, वहाँ आज हम उसे भूल-से गये हैं। अपनेमें छिपी मानवताको जाग्रत् करनेका अतिथिसेवा एक आवश्यक साधन है। अतिथि हमारे लिये साक्षात् भगवान्के प्रतिरूप हैं। अतिथि-सत्कारमें स्व-सुखकी कल्पना भी नहीं रहती। एक सद्गृहस्थके लिये मनुभगवान्ने अपनी स्मृतिके तीसरे अध्यायमें जिन पञ्च-महायज्ञोंका वर्णन किया है, उनमें नृयज्ञ या अतिथि-यज्ञ भी एक प्रधान यज्ञ है।

आजकल मानव अपने विविध कर्तव्योंसे विमुख हो गये हैं। शास्त्रोंकी बातोंको वे हेय-दृष्टिसे देखते हैं। किंतु ऐसे समयमें भी अनेकानेक संत-महात्मा अपने उपदेशामृतसे हमें अपने कर्तव्यकी याद दिलाते रहते हैं। उनकी शिक्षाओंसे लाभ उठाकर हम अपनेको पतनसे बचा सकते हैं। आजका मानव दानव बनता जा रहा है। इस दानवतासे बचानेके लिये आज बहुत-सी संस्थाएँ क्रियाशील हैं। उन संस्थाओंसे बहुत-सी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ निकल रही हैं, जिन्हें अवलोकनकर तथा उनमें उल्लिखित शिक्षाओंका पालन करके हम अपनेमें परिवर्तन ला सकते हैं।

मानवमें यदि एक भी सद्गुण है तो अन्य सभी सद्गुण उसमें स्वतः आ जायँगे। श्रीमद्भगवद्गीताके १२ वें तथा १६ वें अध्यायमें वर्णित सद्गुणोंमें एक 'दान' भी है। यह एक दैवी सम्पदा है।

सद्गृहस्थोंके लिये 'नृयज्ञ' को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भगवद्भावसे यदि हम अतिथियोंके स्वागतमें तत्पर हो जाते हैं तो हमें अन्तःकरणसे एक आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है—

> न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्वह्निशुश्रूषया तथा।
> गृही स्वर्गमवाप्नोति यथा चातिथिपूजनात्॥
> काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च।
> अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः॥

अर्थात् यज्ञ, दक्षिणा, अग्निहोत्र आदिसे उतना शुभ फल नहीं मिलता, जितना अतिथिकी पूजा करनेसे। यदि कोई हजारों मन समिधा या सैकड़ों घड़े घीसे होम करे, किंतु यदि अतिथि प्रसन्न नहीं हुआ तो होम निरर्थक है।

विचारणीय है—ऐसा अतिथि है कौन? साधारण भाषामें जिसके आनेकी तिथि नियत न हो और वह चला आवे, उसे अतिथि कहते हैं। सत्याचरणशील, मृदुभाषी, धार्मिक, परहित-रत विद्वान्, परिव्राजक या अपने निकट सम्बन्धी तथा मित्र भी अतिथि हो सकते हैं। आजकल आये दिन बहुत-से पाखण्डी भी साधुवेषमें गृहस्थोंके दरवाजे-दरवाजे भटकते हैं। इनके कुकृत्य समाचारपत्रोंमें छपते रहते हैं। इनके अतिरिक्त अनुचित दबाव डालकर या भय दिखलाकर जो केवल अपना स्वार्थ-साधन करना चाहे, उसे अतिथि नहीं समझना चाहिये। इनको छोड़कर कोई भी सज्जन कुसमयमें भी हमारे घर पधारें तो उनका उचित सत्कार मानवताकी माँग हो जाती है।

अतिथि-सेवामें जाति-पाँति, वर्णाश्रम आदिका भेद रखना अनुचित है। हितोपदेशका वचन है—

> उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
> पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः॥

फिर, केवल भोजन दे देनेसे ही हमारे कर्तव्यकी इतिश्री नहीं हो जाती। भोजन न होनेपर भी, सच्चे मनसे प्रेमपूर्वक मधुर वचनोंद्वारा भगवद्भावसे पूरा सत्कार करना ही अतिथि-सेवा है। व्यासजीके वचन हैं—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

हमारे शास्त्रोंका तो यहाँतक आदेश है कि यदि शत्रु भी अतिथिके रूपमें आ जाय तो भी पूजनीय है।

यहाँके प्राचीन ऋषि-महर्षि; महाराज शिवि, दधीचि, महाराज रन्तिदेव इत्यादि अपने त्यागके लिये प्रसिद्ध हैं। महाराज शिविने अपनी शरणमें आये कपोतको अपना अतिथि समझा और उसके पीछे आनेवाले बाजको तुष्ट करनेके लिये एक तराजूके पलड़ेपर कपोतको बैठाया, दूसरे पलड़ेपर अपने शरीरका अङ्ग-अङ्ग काटकर देने लगे। स्वयं पलड़ेपर बैठने चले तो देखा साक्षात् अग्निदेव तथा बाजके वेषमें इन्द्रदेव उनकी परीक्षा ले रहे थे। महर्षि दधीचिने देवताओंकी विजयके निमित्त अपनी हड्डियाँतक दे डालीं।

भारतके प्राचीन गौरवमय इतिहासपर यदि हम दृष्टिपात करते हैं, तो हमारा मस्तक श्रद्धासे महापुरुषोंके चरणोंमें झुक जाता है। अड़तालीस दिनोंके भूखे महाराज रन्तिदेवके प्यासेको पानी, भूखेको अन्न दे देनेके पश्चात् उन्होंने आँखें बंद कर लीं, देखा—अतिथिरूपमें साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं धर्मराज सम्मुख खड़े हैं।

एकनाथजीने रामेश्वर-पूजनके लिये ले आये हुए गङ्गा-जलको एक प्यासे गधेके मुँहमें अपने हाथों उँड़ेल दिया था।

यदि हम वर्तमान-कालका भी सिंहावलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि स्वर्गीय पं० मदनमोहन मालवीयजीका अतिथि-सत्कार उनके जीवनका अंग बन गया था। उनका व्यवहार एक विशाल-हृदय कुटुम्बकी तरह होता था। उनका सिद्धान्त ही था—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

वे समस्त प्राणियोंको अपना ही कुटुम्ब मानते थे।

भगवान् सभी प्राणियोंमें हैं। हमें सबकी सेवा करनी है; सबसे प्रेम करना है, सबके लिये आत्मोत्सर्ग करना है। प्रचण्ड दानवता त्यागकर, आइये, हम अपने आदर्शोंका अनुसरण करें।

किसी भी सद्गुणका पालन करनेसे समाजमें जीवन-यापन करते समय मानवताके प्रबल शत्रु कूटनीति, असद्व्यवहार, संकीर्णता आदि अवगुण स्वतः ही शनैः-शनैः नष्ट हो जाते हैं। अतिथि-सेवाके विचारमें, वाणीमें, व्यवहारमें नम्रता होनी चाहिये। तभी हम नैतिक साधनके अभावमें भी मधुर वाणी-मात्रसे ही किसीकी सेवा कर सकते हैं।

ईश्वर सबको सद्बुद्धि दें और वे मानव-समुदायको सच्ची अतिथि-सेवामें प्रवृत्त करें। इसीमें समस्त विश्वका कल्याण है।

मनुष्य-शरीरसे क्या लाभ

लाभ कहा मानुष-तनु पाये।
काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये॥
जो सुख सुर-पुर-नरक, गेह-बन आवत बिनहि बुलाये।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये॥
पर-दारा, पर-द्रोह, मोहबस किये मूढ़ मन भाये।
गरभ-बास दुखरासि जातना, तीव्र बिपति बिसराये॥
भय-निद्रा, मैथुन-अहार, सबके समान जग जाये।
सुर-दुरलभ तनु धरि न भजे हरि मद-अभिमान गवाँये॥
गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम-लय लाये।
तुलसिदास यह अवसर बीते, का पुनि के पछिताये॥

मानवता और अतिथि-सेवा

(लेखक—श्रीपृथ्वीसिंहजी 'प्रेमी')

व्यक्तिद्वारा मानवताकी प्राप्तिके अर्थ किये गये सभी प्रयत्न विनयभाव-समन्वित अतिथि-सेवाके सहज स्वभावके अभावमें सफल नहीं हो सकते। अतएव मानवता तथा अतिथि-सेवाका सम्बन्ध अटूट और अविशृङ्खल है।

मानव-जीवनमें अतिथि-सेवाका स्थान कोरे शिष्ट-शालीन व्यवहार जैसा ही नहीं, अपितु स्त्रीके लिये पति-सेवाके समान है। जिस प्रकार परमार्थ-साधनमें स्त्रीके लिये पति-सेवा पर्याप्त है, ठीक वैसे ही सभी मानव-प्राणियोंके लिये, आत्मीयता-पूर्वक की गयी अतिथि-सेवा—'एक ही साधे सब सधे' के अनुसार—अध्यात्म-लाभके लिये, आत्म-कल्याणके लिये पर्याप्त है।

हमारे धर्मशास्त्रोंने अतिथि-सेवाका महत्त्व ईश्वर-सेवाके सदृश आँका है और हमारे तत्त्वदर्शी ऋषि-मुनियोंने, संत-महात्माओंने एवं विवेकवान् सद्गृहस्थोंने सदा ही अतिथिकी सेवा नारायण-रूपमें की है। पुराण-कालसे लेकर आजतक भारतीय मानवताके इतिहासमें अतिथि-सेवाके उत्तमोत्तम प्रसङ्ग भरे पड़े हैं। यहीं क्यों, संसारके सभी देशोंकी मानव-जातिमें अतिथि-सत्कारके प्रभावोत्पादक उदाहरण प्राप्त हैं।

मोटे रूपसे अतिथि पूर्व परिचित, सर्वथा अपरिचित, मित्र एवं शत्रुतक हो सकता है। कहना न होगा कि अपरिचित अथच शत्रु अतिथिका महत्त्व पूर्वपरिचित और मित्र-अतिथिकी अपेक्षा कहीं अधिक है। अतिथि-सेवा-पथके महान् प्रकाशस्तम्भ त्यागमूर्ति राजा रन्तिदेव और उनके परिवारका गहन कान्तारमें अड़तालीस दिनोंके उपरान्त प्राप्त अन्न-जल अतिथि-सेवामें समर्पित कर देना अपरिचित अतिथिके आतिथ्यका हृदयद्रावक मर्मभेदी कारुणिक संदर्भ है, तो महाभागा सती-शिरोमणि महारानी पद्मिनीके प्राणपति रावल रत्नसिंहद्वारा चित्तौड़ दुर्गमें किया गया दिल्लीश्वर अलाउद्दीनका इतिहास-प्रसिद्ध निष्कपट आतिथ्य शत्रु-अतिथिके आतिथ्यका सद्भावप्रेरक सुन्दर उदाहरण है।

जब-जब किसी मानवकी मानवताने परोपकारमय अतिथि-सेवाका व्रत अङ्गीकार किया, तब-तब इस धराधाम-पर उतरकर स्वयं नारायणने नर-रूपमें उसको कठिनतम परीक्षाकी कसौटीपर परखा। इससे एक ओर अतिथि-सेवाका माहात्म्य बढ़ा, तो दूसरी ओर तपे कुन्दन-सी मानवताके दिव्य स्वरूपके दर्शन हुए।

पुराण-कालमें नृपति मयूरध्वजकी अतिथि-सेवाकी परीक्षा मानवताकी भी परीक्षा थी। मयूरध्वजका आतिथ्यार्थ तनुत्याग अतिथि-सेवाका बड़ा ही रोमाञ्चकारी चूडान्त निदर्शन है। अतिथिके संग आये एक हिंस्र पशुके आहारके निमित्त शरीर-समर्पण करने-जैसी बात संसारके किसी देशकी जातिमें प्राप्त होना असम्भव है।

स्पृहारहित निष्कामतापूर्वक किये गये आतिथ्यमें ऐसा तीव्र आकर्षण है कि परात्पर ब्रह्मके साक्षात् अवतार प्रति-श्वासस्मरणीय श्रीराम और श्रीकृष्णने भी महामुनि भरद्वाज, महात्मा विदुर, विदुर-पत्नी तथा केवट और शबरी-जैसे सेवा-भाव-विभोर भक्तोंका बड़े प्रेमसे आतिथ्य ग्रहण किया है।

आतिथ्यमें भावका इतना महत्त्व है कि एक लेखकके कथनानुसार जहाँ 'बे-मनसे पकायी गयी रोटी कड़वी होती है,' वहाँ हृदय-रससे सिञ्चित आतिथ्यकी क्षुद्र सामग्री भी—

'खाँड को खिजावनी सी, कंद को कुदावनी सी,
सिता को सतावनी-सी सुधा सकुचावनी'
—हो जाती है।

विदुर-पत्नीके केलेके छिलके विश्वम्भर श्रीकृष्णको ऐसे सुस्वादु लगे कि जब विदुरने भावलोकमें लुप्त अपनी पत्नीको सावधान किया और वे छिलकेके बदले केलेका गूदा श्रीकृष्ण-को देने लगीं, तब उनका सारा स्वाद ही किरकिरा हो गया। इसी प्रकार शबरीके बेरकी पूर्णकाम राम यों प्रशंसा करने लगे—

चाखि चाखि भाखें, यह वाहू तें महान मीठो,
लेहु तो लखन! यों बखानत हैं हेर हेर।

—और बेर देनेमें जो बेर हो जाती थी, वह उन्हें असह्य हो उठी—

बेर जनि लाओ बेर बेर जनि लावो बेर,
बेर जनि लाओ बेर लावो, कहँ बेर बेर।

एक कहावत है—'मेह और मेहमान कितने दिनके।'

अर्थात् दोनों थोड़े कालतक ही रहते हैं; किंतु यहाँ मेहमानकी तुलना मेहसे करनेका रहस्य बना ही रह जाता है। हमारी समझमें मेह कुछ काल बरसकर प्राणिमात्रको जीवन-दान दे जाता है तो मेहमान कुछ कालतक निवास करके मेजमांको महानतम पुण्य-फलकी फसल लूननेका अधिकारी बना जाता है। इसके विपरीत एक शास्त्रकारका कथन है कि 'यदि गृहस्थके घरसे अतिथि निराश लौट जाता है तो वह अपने सभी पाप वहीं छोड़ जाता है।'

अतिथि-सेवामें अतिथिकी योग्यता देखना भी उचित नहीं माना गया है। अतिथिकी योग्यताको दृष्टिगत रखते हुए जो आतिथ्य किया जाता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता; क्योंकि योग्यतानुरूप किया गया आतिथ्य आतिथ्य न होकर शिष्टाचार-मात्र रह जाता है। हाँ, अतिथि अवश्य आतिथ्यकारकी सामर्थ्यके अनुसार ही आतिथ्य पानेका अधिकारी होता है। आदर्श अतिथि-सेवाके अधिकाधिक उदाहरण संत-महात्माओंके जीवनमें मिलते हैं। महात्माजन कभी किसी अतिथिमें योग्यता-भेद नहीं करते।

अतिथि अपने घरमें प्राप्त सभी साधन-सुविधाएँ साथ लिये नहीं फिरता और ऐसा सम्भव भी नहीं। ऐसी स्थितिमें मानव-अतिथि किसी मानवके आतिथ्यकी आशा तजकर मानवेतर किस प्राणीकी आशा करेगा? मानव-समाजमें इसी हेतु अतिथि-सेवाकी महत्त्वपूर्ण पवित्रतम प्रथाका प्रचलन हुआ जान पड़ता है। अतः मानवताके नाते अतिथिकी सेवा करना हमारा परम धर्म है।

प्रस्तुत निबन्धकी समाप्तिके पूर्व इतना और कह देना अनुचित न होगा कि जहाँ मानवता निवास करती है, वहाँ आये दिन अतिथि-सेवा कार्योंका सम्पादन होता ही रहता है और जहाँ अतिथि-सेवा होती है वहाँ मानवताका पुनीत स्रोत बहता ही रहता है। बिना मानवताके अतिथि-सेवामें प्रवृत्त होना असम्भव है और अतिथि-सेवासे विमुख मानवता आजतक कहीं देखी-सुनी नहीं गयी।

हमारा भारत देश जहाँ अनेक असाधारण विशेषताओंके लिये प्रसिद्ध है, वहाँ उसकी एक विशेषता यह भी है कि अतिथि-सेवाको उसने सदा ही विशेष महत्त्व दिया है। आतिथ्यके विविध प्रकार और ढंग भारतकी भाँति अन्यत्र शायद ही कहीं पाये जायँ। यहाँ अतिथिके पद-प्रक्षालनसे लेकर शीतल जलके पात्र और सुमधुर वाणीतकसे अतिथि-सेवाकी बात बतायी गयी है।

किंतु दुःख है कि इस महान् गुणके प्रति अब कुछ उपेक्षा दिखायी दे रही है। 'मेहमानसे भगवान् बचाये' की क्षुद्र भावना जोर पकड़ती जा रही है, जो मानवताकी गौरव-गरिमाके विरुद्ध और लोक-परलोक-नशावनी है। ऐसी स्थितिमें अतिथि-सेवाका पल्ला दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेपर ही पलायन करती मानवताको थामा जा सकता है। वे नर धन्य हैं, जिनके जीवनमें अतिथि-सेवाके कल्याणकारी अवसर आते ही रहते हैं।

तीनों पन ऐसे ही खो दिये

सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनौं पन ऐसैं ही खोए, केस भए सिर सेत॥
आँखिनि अंध, स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत॥
मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसे प्रभुहि छाँड़ि क्यौं भटकै, अजहूँ चेति अचेत॥
राम नाम बिनु क्यौं छूटैगो, चंद गहैं ज्यौं केत।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत॥

मानवता

(लेखक—श्रीकिसनलालजी पोद्दार)

मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं—अज्ञानी, ज्ञानी-अज्ञानी और ज्ञानी। अज्ञानी मनुष्योंकी वृत्ति पशुवत् होती है, ज्ञानी-अज्ञानी वृत्तिवाले लोग मनुष्य होते हैं और केवल ज्ञानवृत्ति-वाले देव-मानव होते हैं। एक चौथाई अज्ञान और तीन चौथाई ज्ञानकी वृत्ति ही मानवता कहलाती है। अज्ञानीमें पशुता जन्मजात होती है, ज्ञानी-अज्ञानीमें कुछ पशुता रहती है और कुछ मनुष्यता तथा ज्ञानीमें पूर्ण मानवता रहती है।

सृष्टिमें इस प्रकारका क्रम दीखता है। परंतु मानवता है क्या वस्तु, इसको कम ही लोग समझते हैं। सृष्टिमें सच्चे मानव कौन हुए हैं, इसको ध्यानमें रखकर देखें तो पौराणिक कालमें साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी, श्रीकृष्णजी, श्रीगुरु वसिष्ठ, श्रीभीष्मपितामह आदिके ऊपर हमारी सहज दृष्टि जाती है।

पूजनीय पुरुषों, माता-पिता तथा गुरुजनके आज्ञानुसार चलना, छोटे भाईके साथ पुत्रवत् स्नेहसे बर्ताव करना, सौतेली माता वैरभाव रखकर दुष्टता करे तो भी उसको माताके समान पूज्य समझकर बर्ताव करना, शबरी भीलनीके प्रेमभरे उच्छिष्ट बेर भी प्रेमपूर्वक खाना, सीताका रूप धारण करके भ्रममें डालनेवाली पार्वतीजीको माता कहकर सम्बोधन करना, रूपवती बनकर आयी हुई रावणकी बहन शूर्पणखाका त्याग करना तथा उसको उचित शिक्षा देना, रावणको युद्धमें मारकर सीताको वापस लाना, परंतु समाजमें आक्षेप प्रकट होते ही माता जानकीकी अग्नि-परीक्षा करना, सिंहासनारूढ़ होनेपर अपनी एक प्रजा—धोबीके आक्षेपकी बात सुनकर सीताजीको गर्भावस्थामें त्याग देना इत्यादि श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें उच्च मानवताके उदाहरण हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने 'लोगोंको मानव कैसे बनाया जाय, उनमें मानवताके गुण कैसे लाये जायँ' इत्यादिकी शिक्षा स्वयं अपनी लीलाके द्वारा दी है। सांदीपनि गुरुकी सेवा, कंसका वध, द्रौपदीका वस्त्र बढ़ाकर लज्जा-निवारण, वृन्दावनमें गोपियोंके साथ पवित्र रास-क्रीडा, पाण्डवोंके सगे-सम्बन्धी बनकर आपत्तिकालमें भी उनको अपने नित्य-नैमित्तिक कुलधर्म-कुलाचारको न त्यागनेका उपदेश करना तथा प्रत्येक संकट-कालमें उनकी सहायता करना, सुदामाके तन्दुल खाना, विदुरकी पत्नीके हाथसे प्रेमभरे केलोंके छिलके खाना इत्यादि अनेक उच्च मानवताके उदाहरण श्रीकृष्णकी लीलामें दिये जा चुके हैं।

श्रीगुरु वसिष्ठजी महाराजने 'योगवासिष्ठ' में श्रीरामचन्द्र-जीको तत्त्वज्ञानके उपदेशके रूपमें मानवताकी शिक्षा दी है। विश्वामित्रने द्वेष करके वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंको मार डाला, तथापि वसिष्ठजी अपनी अपूर्व सहिष्णुतासे न डिगे; उन्होंने उच्च मानवताका अपूर्व उदाहरण दिखला दिया।

श्रीभीष्मपितामहने पिताके विषय-सुखके लिये आजन्म ब्रह्मचारी रहनेका कठोर व्रत निभाया, पिताकी आज्ञाके अनुसार भाइयोंकी आजीवन सहायता की, शर-शय्यापर पड़े-पड़े सबके कल्याणार्थ अपना अनुभवपूर्ण सत्य उपदेश दिया, इत्यादि मानवताके उज्ज्वल दृष्टान्त हैं।

ऐतिहासिक कालमें मानवताके उपासक छत्रपति शिवाजी, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि अनेक महापुरुष हुए हैं। छत्रपति शिवाजीने बचपन (८-९ वर्षकी अवस्था) में ही दरबारमें बादशाहको सलाम करनेसे इन्कार कर दिया। रास्तेमें गौओंको मारे जाते हुए देखकर कसाइयोंके हाथसे उनकी रक्षा की। कल्याणके मुसल्मान सूबेदारकी लड़की युद्धकी लूटमें प्राप्त कर जब शिवाजी महाराजके दरबारमें लायी गयी, तब शिवाजी महाराजने उसको बहिनके रूपमें ग्रहण कर, कपड़े-गहने आदिसे अलंकृत करके सुरक्षित उसके माता-पिताके घर पहुँचा दिया। श्रीगुरु रामदासजी महाराजको सारा राज्य दान कर दिया और उनके प्रतिनिधि बनकर राज्यकी देखभाल की। छत्रपतिके ये कार्य मानवताके आदर्शस्वरूप हैं।

स्वामी विवेकानन्दने देश, जाति तथा मानवमात्रके कल्याणके लिये अपने जीवनको लगा दिया। उन्होंने अमेरिका-की विश्वधर्म-परिषद्में व्याख्यान देकर हिंदूधर्मके श्रेयस्कर तत्त्वोंकी ओर विश्वका ध्यान दिलाया। उन्होंने मानवताकी प्रतिष्ठाके लिये ही अपनी जीवन-साधनाके द्वारा लोगोंको प्रेरणा प्रदान की।

स्वामी रामतीर्थने अपने जीवनमें मानवताकी पराकोटिको प्राप्तकर अमेरिकामें तथा अपने देशमें व्यावहारिक वेदान्त तथा तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर लोगोंको सन्मार्गमें लगाया और हिंदू-शास्त्रोंमें निहित मानवताके गूढ़ तत्त्वोंका उपदेश दिया।

लोकमान्य तिलकने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—यह घोषणा करके भारतीय जनताको स्वतन्त्रताके युद्धके लिये आह्वान किया। 'गीतारहस्य' लिखकर कर्मयोगका उपदेश दिया और इस प्रकार मानवताकी अपूर्व सेवा की।

महात्मा गांधीने स्वयं मानवताके सिद्धान्तोंको आचरणमें लाकर, सत्य और अहिंसाकी नीति अपनाकर प्रबल विदेशी शासनको समाप्त करके स्वराज्य प्राप्त किया और इस प्रकार विश्वमें सारे प्रश्नोंको शान्तिपूर्ण ढंगसे सुलझानेका आदर्श दिखलाकर मानवताका एक परम उज्ज्वल दृष्टान्त उपस्थित किया।

उपर्युक्त महापुरुषोंके चरित्र देखकर ही मानवताकी सच्ची कल्पना की जा सकती है। हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं, हमारा कर्त्तव्य क्या है—इत्यादि प्रश्नोंका विचार करके तदनुसार जो आचरण करता है, किसीको भी कष्ट नहीं देता, वही सच्चा मानव है। धर्म पृथक्-पृथक् हो सकते हैं; परंतु जो तत्त्व-विवेकपूर्वक अपने धर्मका आचरण करता है, वह उत्तम 'मानव' बन सकता है। चाहे कितनी भी कठिनाई, विघ्न-बाधाएँ आयें, पर जो अपने धर्मसे नहीं डिगता, वही मानव है। विभिन्न मतोंके लोग जब परस्पर विरोधका त्याग करके दुराग्रहको छोड़कर एक दूसरेके हृदयको जीतनेका प्रयत्न करते हैं, तब शान्ति और आनन्दका वातावरण उत्पन्न होता है। इस प्रकारके आचरणका ही समावेश मानवतामें होता है।

शास्त्रानुसार तथा साधु-संतोंके कथनानुसार अहंकार, लोभ आदिका त्याग करके प्रत्येक मनुष्य और पशु यदि व्यवहार करे तो सहज ही शान्तिकी स्थापना होकर उत्कर्षका मार्ग सुकर हो जाय। जो मनुष्य दुराग्रह छोड़कर काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सररूप षड्रिपुओंको अनुभवके द्वारा जीत लेगा, तथा अशान्ति पैदा करनेवाले विषयोंका त्याग करके तितिक्षाका अभ्यासी बनेगा, वही मनुष्य सच्चा मानव होगा। ऐसे ही मानवोंकी गुण-सामग्रीको 'मानवता' कहेंगे।

वे गुण जिस प्रमाणमें व्यक्ति-व्यक्तिमें, समाज-समाजमें, गाँव-गाँवमें, राष्ट्र-राष्ट्रमें व्यवहार्य हो जायँगे, उसी प्रमाणमें सृष्टिमें शान्तिका साम्राज्य बढ़ेगा और रामराज्यकी स्थापना होगी।

इस प्रकारकी मानवताको प्रत्येक व्यक्ति अङ्गीकार करे, अपने जीवनमें ढाले—यह ईश्वरसे प्रार्थना करके लेखक उपसंहार करता हूँ।

मानवता और विश्वमाता गौ

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

भारतीय वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रोंमें नाना प्रकारसे यह सिद्ध किया गया है कि गौ विश्वमाता है। इसके शरीरमें सभी देवताओंका निवास है। यह शुद्ध सात्त्विक गुणोंकी अनन्त भंडार है। यह साक्षात् भूदेवी है, इहलोकमें जीव-जगत्का पालन करनेवाली है और परलोकमें जीवको शिवत्व प्राप्त करानेवाली है। सभी दर्शनों तथा सत्यद्रष्टा ऋषियोंका भी यही मत है। गव्य पदार्थ या गोबर-गोमूत्रकी खाद, बैलके हलसे जोती हुई भूमिसे उत्पन्न अन्न और यज्ञविधिपर विचार किया जाय तो विज्ञानसे भी इनकी सात्त्विकता सिद्ध होगी।

चक्रवर्ती सम्राट् वेनके राज्यमें वस्तुतः मानवताका एक प्रकारसे विनाश ही हो गया था। दानवताकी ही चरम सीमा दृष्टिगोचर हो रही थी। इसपर महर्षियोंने मन्त्रशक्तिसे वेनका संहार करके महाराज पृथुको प्रकट किया। उन भगवान् पृथु महाराजने दानवोंको परास्तकर पृथ्वीरूपी गोमाताका ही दोहन किया और धर्मका संस्थापन किया, जिससे लोकमें पूर्ण सुख-समृद्धिका विस्तार हुआ। फिर तो पर्वतदोहन, समुद्रदोहन आदिके रूपमें दोहनकी एक लंबी परम्परा ही चल पड़ी।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भी प्रकट होकर गोसेवा अपनायी। श्रीकृष्णलीलाका रहस्य बड़ा ही अद्भुत है। कहा जाता है कि गोपिकाएँ सब श्रुतियाँ थीं। ये श्रुतियाँ (वेदमन्त्र) सब गौओंके श्वासमें निवास करती हैं—'निःश्वासेषु स्थिता वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः।' फिर वेदप्रेमी ब्रह्मा इन गोवत्सोंको चुराते हैं। ये सभी वेदपदार्थ उन परब्रह्म श्रीकृष्णकी ही सब प्रकारसे सेवा करते हैं और श्रीकृष्ण भी आनन्दविभोर होकर इनके साथ क्रीडा करते हैं। इधर गौओंकी सेवासे ही सत्यकाम जाबालने वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया। इस तरह गौ तथा वेदोंका अविच्छेद्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। किंतु यह सब सुखी गौसे ही सम्भव है। गौ जितनी ही दुखी तथा कृश होगी, उतना ही सात्त्विकताका अभाव होगा। उससे विश्वका वातावरण तामसी होकर संहारका कारण बनेगा। इससे मानवताका ह्रास तथा दानवताका विकास होगा। इस तरह मानव अपना विनाश अपने ही हाथों कर बैठेगा। अतः यदि मनुष्यको बचना है तो उसे पहले गोमाताकी रक्षा करनी

चाहिये, विश्वकी माताको बचाना चाहिये। गौ ही विश्वकी माता है—'गावो विश्वस्य मातरः' प्रसिद्ध है—प्रत्यक्ष है। वही हमारी जड़ है। जब जड़ ही नहीं रहेगी, तब शाखा या पत्र कहाँसे आयेंगे—'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्।' अतः मानवको अपनी मूल गोमाताके संरक्षण-संवर्धनका ध्यान सर्वप्रथम करना चाहिये। इसमें ही मानवताकी तथा विश्वकी रक्षा है। आज गौकी उपेक्षाका परिणाम विश्वके सामने है। क्या मानव अथवा विश्व अब भी चेतेगा! यदि उसे बुद्धि हो, यदि उसे जीवित रहना हो तो अब तो उसे इस कार्यमें तनिक भी देर नहीं करनी चाहिये। प्रभो! कृपाकर हमें सुबुद्धि प्रदान करो। सचमुच आज हम विनाशके द्वारपर खड़े दीखते हैं। तुम्हारे सुधारे बिना हमारी बुद्धि सुधरती नहीं दीखती। तुम्हीं विश्वकी रक्षा—कल्याण कर सकते हो, करो।

गौके प्रति निर्दयताका कारण वर्णसंकरता

(लेखक—भक्त रामशरणदासजी)

पंजाबकेसरी महाराजा रणजीतसिंहका एक जीवन-प्रसङ्ग

[एक ऐतिहासिक सत्य घटना]

पंजाबकेसरी महाराजा रणजीतसिंहके समयकी एक सत्य घटना यहाँ दी जाती है, जिससे सिद्ध होता है कि वर्ण-व्यवस्थाको न माननेके कारण ही आज बहुत-से लोग हिंदू होते हुए भी गोमाताके शत्रु बने हुए हैं और गो-हत्या बंद होनेमें रुकावट डाल रहे हैं!

यह उस समयकी बात है, जिस समय पंजाबमें महान् तेजस्वी गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराजा रणजीतसिंहजीका राज्य था और वे लाहौरमें रहते थे। महाराजा महामाया भगवती श्रीदुर्गाजीके उपासक और गो-ब्राह्मणोंके परम भक्त थे। गो-ब्राह्मण निर्भय विचरें, इसीको वे अपने राज्यकी सबसे बड़ी विशेषता मानते थे।

एक बारकी बात है, लाहौरमें किसी सेठने अपने महलके पास एक कुआँ बनवा रखा था और उसके पास ही गाय-बैल आदिके लिये पानी पीनेको चर बनवा रखी थी, जिसमें पानी भर दिया जाता था तथा गाय-बैल आदि आकर उसमें पानी पी जाया करते थे। एक दिन वहाँ एक गाय पानी पीने आयी, और उसने चरमें पानी पी लिया। चरके पास एक मोरी थी उसकी ओर दृष्टि जानेपर गौको उस नालीमें कुछ गेहूँके दाने पड़े दिखलायी दिये। गायने गेहूँ खानेके लिये नालीमें अपना मुँह घुसेड़ दिया और गेहूँ खा लिये। गाय जब गेहूँ खाकर मोरीसे अपना मुँह निकालने लगी, तब सहसा गायके सींग उसमें फँस गये। गायने खूब जोर मारा; पर मुँह बाहर नहीं निकला। अब तो गाय छटपटाने लगी। चारों ओर भीड़ इकट्ठी हो गयी और हलचल मच गयी। गाय इस प्रकार कष्टसे व्याकुल होकर छटपटाये, इसे सच्चे हिंदू मानव कैसे सहन कर सकते थे। गायका मुख निकालनेका भरसक प्रयत्न किया जाने लगा, पर सफलता नहीं मिली। अब तो सभी चिन्तित हो गये कि किस प्रकार गोमाताके प्राण बचाये जायँ। किसीने सलाह दी कि जल्दी-से-जल्दी किसी मिस्त्रीको बुलाकर दीवार तोड़ डाली जाय तो गायके प्राण बच सकते हैं। यह सुनकर पासमें खड़े हुए एक हिंदूने कहा कि 'नहीं! दीवार क्यों तुड़वाते हो, दीवार तुड़वानेसे मकान-मालिकको बड़ा नुकसान पहुँचेगा। इसलिये सबसे अच्छा यही है कि किसी बढ़ईसे आरी माँगकर उससे गायके सींग काट डाले जायँ तो मुँह निकल आयगा।' हिंदूके मुखसे निकले ये शब्द सभीको बुरे लगे। आखिर दीवार तुड़वाना ही निश्चय हुआ और जल्दी-से-जल्दी मिस्त्रीको बुलाकर दीवार तोड़ डाली गयी। गाय सकुशल निकल आयी, बच गयी। इससे हिंदुओंमें एकदम प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी। वहाँ महाराजा रणजीतसिंहजीका एक गुप्तचर सिपाही खड़ा था। उसने भी यह सब दृश्य अपनी आँखोंसे देखा। संध्याको जब वह सिपाही महाराजके दरबारमें उपस्थित हुआ और शहरकी प्रमुख बातें महाराजको सुनाने लगा, तब उसने ज्यों-की-त्यों यह घटना भी सुनायी। किसी हिंदूके द्वारा किये गये गायके सींग काटनेके प्रस्तावको सुनकर महाराज क्रोधमें भर गये और उन्होंने सिपाहीसे कई तरहसे उल्टे-सीधे पूछकर यह जान लिया कि गायके सींग काटनेकी बात वास्तवमें कही गयी

थी और वह एक हिंदूने ही कही थी। तब उन्होंने सिपाही भेजकर उसको बुलवा लिया और इस प्रकार दोनोंमें प्रश्नोत्तर हुए—

महाराजा—अरे तू कौन है?

हिंदू—महाराज! मैं हिंदू हूँ।

महाराजा—तैंने गाय माताके प्रति क्या गंदे शब्द कहे थे, सत्य बताना?

हिंदू—महाराज! क्षमा करें, मेरे मुखसे ये गंदे शब्द निकल गये थे कि दीवार तोड़नेके बदले गायके सींगोंपर आरी चलाकर उन्हें काट दो।

महाराजा—तैंने हिंदू होकर यह पापभरी बात कैसे कही?

हिंदू—महाराज! अपराध हो गया। क्षमा करें।

महाराजा—एक हिंदू मानवके मुखसे गाय माताके सींगोंपर अपने हाथोंसे आरा चलानेकी बात तेरे मुखसे कैसे निकली? सच बता।

हिंदू—महाराज! भूलसे निकल गयी।

महाराजा—क्यों निकली?

हिंदू—महाराज! पता नहीं।

महाराजा—मालूम होता है तू हिंदू-मानवकी संतान नहीं है।

हिंदू—नहीं महाराज! मैं हिंदू हूँ।

महाराजा—अरे! तू हिंदू नहीं है, हिंदू-मानवके मुखसे गाय माताके प्रति ऐसे गंदे शब्द कभी नहीं निकल सकते!

हिंदू—महाराज! निकल गये।

महाराजा—जान पड़ता है कि तू असली हिंदू मा-बापकी संतान नहीं है! सत्य बता, क्या बात है। नहीं तो, तुझे जेलमें डाल दिया जायगा।

हिंदू—महाराज! मैं सत्य कहता हूँ, महाराज! मुझे कुछ पता नहीं।

महाराजाने सिपाहियोंको हुक्म दिया कि इसे ले जाकर जेलमें बंद कर दो और इसकी माँको लाओ। महाराजा चिन्तामें पड़ गये कि हाय, मेरे राज्यमें ऐसे नालायक हिंदू भी रहते हैं।

हुक्मकी देर थी कि सिपाहियोंने उसे तो जेलमें बंद कर दिया और उसकी माँको महाराजाके सामने लाकर उपस्थित कर दिया। महाराजाने उसे सामने खड़ी देखकर पूछा—

महाराजा—अरी बुढ़िया! तू कौन है?

बुढ़िया—महाराज! मैं हिंदू हूँ।

महाराजा—सत्य बता, यदि तू हिंदू है तो फिर तेरे ऐसी नालायक संतान कैसे पैदा हुई, जो हिंदू होकर गाय माताके प्रति ऐसे शब्द मुखसे निकालती है और ऐसे गंदे विचार रखती है?

बुढ़िया—महाराज! मुझे कुछ पता नहीं।

महाराजा—यह तेरे मानवसे दानव संतान कैसे पैदा हुई? तैंने किससे सङ्ग किया था, सत्य बता!

बुढ़िया—महाराज! मैंने किसीसे सङ्ग नहीं किया।

महाराजा—नहीं, यह तेरी हिंदू पतिकी संतान नहीं है।

बुढ़िया—नहीं महाराज, ऐसा कभी नहीं हुआ।

महाराजा—फिर ऐसी संतान कैसे पैदा हुई?

बुढ़िया—कुछ पता नहीं।

इसपर महाराजाने उसे डाँटकर उसके पुत्रको मार देनेका भय दिखलाया और उसे जीवनभर जेलमें डालनेकी धमकी दी। तब बुढ़िया घबरा गयी और थर-थर काँपने लगी तथा सत्य बात कहनेके लिये तैयार हो गयी। उसने कहा—

बुढ़िया—महाराज! क्षमा करना। असली बात यह है कि मैं पतिव्रता हूँ, मैंने कभी भी किसी दूसरे पुरुषका भूलकर भी सङ्ग नहीं किया। मेरे मकानके बराबर एक चमारका मकान थां, जो छुरीसे मुर्दे पशुओंकी खाल उतारा करता था। अवश्य ही जिस रात्रिको अपने पतिद्वारा मेरे गर्भ रहा, उसी रात्रिके बाद प्रातःकाल होनेपर वह अपने मकानकी छतपर बैठा हुआ था। सबसे पहले मेरी दृष्टि उसी चमारपर पड़ी। इसीसे मेरी यह नालायक संतान हुई, कोई दूसरा कारण नहीं है।

महाराजा—ठीक है। चमारोंका काम मुर्दे पशुओंके अङ्ग काटना, चमड़ा उधेड़ना है। उसीका प्रभाव इस तेरे पुत्रके ऊपर पड़ा और चमारवाले संस्कार इसमें आ गये। अच्छा जा, तुझे और तेरे पुत्रको अब छोड़े देता हूँ। अबसे ऐसी गलती कभी न करना। तदनन्तर महाराजाने अपने सारे राज्यमें घोषणा करा दी कि 'प्रत्येक हिंदू-स्त्रीको यह चाहिये कि वह अपने हाथके अँगूठेमें सोनेकी अथवा चाँदीकी—जैसी जिससे बन सके, आरसी बनवाकर पहना करे और उस आरसीमें शीशा लगवाये तथा प्रातःकाल उठते ही सबसे पहिले अपने

अँगूठेकी आरसीके शीशेमें अपना मुँह देख लिया करे, जिससे उसके कोई नालायक संतान न पैदा हो।'

महाराजाकी आज्ञाकी देर थी कि सभी हिंदू-घरोंमें आरसी तैयार कराकर पहनी गयी, जो आजतक हजारों लाखों घरोंमें पहनी जा रही है। महाराजा रणजीतसिंहजी कितने दूरदर्शी थे और वर्णाश्रम-धर्मके, वर्ण-व्यवस्थाके माननेवाले थे तथा मानवताके सच्चे रक्षक थे—यह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आज जो वर्ण-व्यवस्थाका खुले रूपमें विध्वंस किया जा रहा है, वर्णसंकरता फैलायी जा रही है, सर्वत्र गोहत्या-विरोधी कानून बननेमें बाधा दी जा रही है और सारे देशमें अंडे, मांस-मछली खानेका जोर-शोरसे प्रचार हो रहा है—यह वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार न चलने और वर्ण-व्यवस्थाको कट्टरतासे न माननेका ही महान् भयंकर दुष्परिणाम है। जिसके अंदर तनिक भी मानवता है, वह कभी गोमाताका, धर्मका विरोधी हो ही नहीं सकता। सच्चा मानव बननेके लिये वर्ण-व्यवस्थाका मानना बहुत आवश्यक है।

द्वेषसे मानवताका नाश

(लेखक—पण्डित श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

साधु अशान्त था। उसकी आँखोंके डोरे लाल हो गये थे और सिर घूम रहा था। रात्रिमें उसे नींद नहीं आयी थी। वह काठकी चौकीपर इधर-इधर करवटें बदलता रहा, पर पलभर भी उसकी पलकें नहीं लगीं। उसने माला उठायी और जप करने लगा। जपमें मन नहीं लगा, माला उठाकर रख दी और करवट ली। वह चाहता था, उसे नींद आ जाय। कुछ देर भी सो ले, तो शरीर स्वस्थ हो जाय। पर जब भी वह नेत्र बंद करता, बौद्ध भिक्षु उसके सामने आ जाते। उनका सर्वत्र सम्मान होता है, उनके त्याग और तपकी प्रशंसा होती है। उन्हें भिक्षा-प्रदान करनेके लिये गृह-देवियाँ उनकी प्रतीक्षा करती रहती हैं। उनका सर्वत्र हर्षातिरेकसे अभिनन्दन होता है। किंतु उसके साथियोंका उतना सम्मान नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, उन्हें ससम्मान भिक्षा मिलनेमें भी कठिनाई होने लगी। उसकी कुटियामें आज केवल चावल और थोड़े-से आलू आये थे। नमककी डली भी नहीं थी। इसी कारण यह साधु क्षुब्ध हो उठा था। द्वेषाग्निकी ज्वालामें वह दग्ध हो रहा था। द्वेष विनाश चाहता है, अतः जिस किसी प्रकार भी बौद्ध भिक्षुओंका प्रभाव जन-जीवनसे समाप्त कर दिया जाय—वह यही सोच रहा था। सम्पूर्ण रात्रि वह यही सोचता रहा।

प्रत्येक उपासक, प्रत्येक आराधक और प्रत्येक मुमुक्षुका मन राग-द्वेष-शून्य होना चाहिये—यह सिद्धान्त वह जानता था। अपने समीप आनेवाले गृहस्थों, जिज्ञासुओं एवं साधु-समाजमें इस विषयमें वह घंटों उपदेश दिया करता था। किंतु अभ्यर्थना और सम्मानित भिक्षाका अभाव हो चला था उसके लिये, उसके साथी साधुओंके लिये—यह उसे सह्य नहीं था। वह अधीर हो गया था। उसके सम्पूर्ण जीवनकी साधना मानो आज तिरोहित हो रही थी, उसके त्यागका स्वरूप जैसे उसकी कुटियामें उसके त्यागके दम्भपर मन-ही-मन विहँस रहा था। वह द्वेषके लौहतप्त पिंजरेमें विवश बुलबुलकी भाँति असहाय और निरुपाय होकर छटपटा रहा था। उसका विवेक उसकी बुद्धि स्थिर करनेमें असमर्थ हो गया था। पृथ्वीके कण-कणमें अपने मङ्गलमय भुवनमोहन आराध्यका दर्शन करते रहनेका उपदेष्टा क्रोधसे अभिभूत हो रहा था। चाहे जैसे भी हो—बौद्ध भिक्षुओंको लाञ्छित एवं अपमानित करनेके लिये वह तुल गया।

साधुका नाम था शान्तानन्द। अपने तीन-चार साधुओंके साथ वह जेतवन पहुँचा। उस समय बौद्ध भिक्षुओंके साथ तथागत वहीं ठहरे हुए थे। शान्तानन्द भिक्षुओंको देखकर जल उठा।

'बहन!' सामने आती हुई सुन्दरी परिव्राजिकासे शान्तानन्दने अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें निवेदन किया। 'मेरी कुछ सहायता कर सकती हो?'

'अवश्य बन्धु!' परिव्राजिकाने अत्यन्त स्नेहसिक्त स्वरमें उत्तर दिया। 'किसी बन्धुके कार्य आ सकूँ, मेरा सौभाग्य होगा। आप आज्ञा करें।'

'मेरे साथ कुछ दूर चलना होगा।' शान्तानन्दने शान्त स्वरमें कहा।

'चलिये।' परिव्राजिका उन साधुओंके पीछे चल पड़ी।

'महाराज !' आज्ञा मिलते ही उसने कहा । 'सुन्दरीका हत्यारा स्वयं शान्तानन्द है ।'

प्रसेनजित् चौंक उठे ।

'हाँ महाराज !' नागरिकने निवेदन किया ।' 'सुन्दरीका शव जेतवनके गम्भीर धरतीमें गाड़ते हुए उसे मैंने स्वयं देखा था । उस समय मैं वहाँ घूमने गया था । शान्तानन्दकी दृष्टि मुझपर पड़ी । उसने मुझे बाँध लिया और आज इस रहस्य-का उद्घाटन न करनेकी अनेक शपथ लेनेपर उसने मुझे छोड़ा है ।'

नरेशने शान्तानन्दको उनके साथियोंसहित बंदी बना लेनेकी आज्ञा दे दी ।

× × × ×

जेतवनके उसी वृक्षके नीचे उसी मिट्टीके चबूतरेपर पुण्यमय तथागत बैठे थे । उनके सम्मुख भिक्षु-समुदाय बैठा हुआ था ।

'शान्तानन्द साथियोंसहित बंदी बना लिया गया ।' समाचार सुनकर भगवान्‌ने अत्यन्त शान्त एवं गम्भीरतासे कहा 'पापका परिणाम कभी शुभ नहीं होता । साधकोंको अविनीत कटु आलोचकोंकी वाणीसे क्षुब्ध न होकर राग-द्वेषशून्य मनसे अपने साधनमें दृढतापूर्वक लगे रहना चाहिये । सत्पथसे विचलित होना उनका धर्म नहीं ।'

भगवान्‌के मुखारविन्दपर शान्ति क्रीड़ा कर रही थी । शीतल बयार बह रही थी ।

भगवत्प्राप्तिसे ही मानव-जीवनकी सार्थकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मानव-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है । परमात्माकी प्राप्तिको ही जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, मोक्षप्राप्ति, प्रेम-प्राप्ति, पूर्णताप्राप्ति और कृतकृत्यता आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है । स्थूलरूपसे मानव और मानवेतर प्राणियोंमें कोई अन्तर नहीं है । सभीके शरीर पाञ्चभौतिक हैं । उनमें शरीरधारी जीवमात्र एक परमेश्वरके ही अंश हैं, चिन्मय हैं—'ममैवांशो जीवलोके ।' (गीता १५ । ७) योनियाँ दो प्रकार-की होती हैं—१. भोगयोनि, २. कर्मयोनि । मानव-योनि कर्मयोनि (साधनयोनि) है । इसी योनिको श्रीगोस्वामीजी महाराजने 'स्वर्ग नरक अपवर्ग निसेनी' बताया है । मानव-योनिकी यह महत्ता है कि इसी योनिमें किये गये कर्मोंके अनुसार मुक्ति अथवा देवयोनि, स्थावरयोनि, पशु-पक्षी-कीट-पतंगादि योनियाँ प्राप्त होती हैं । मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही भोगोंका विधान होता है । मानवयोनिमें कर्म करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है । अन्य योनियोंमें जीव अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखादि भोगोंको भोगता हुआ संसार-चक्रमें घूमता रहता है—

आकर चारि लच्छ चौरासी । जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥

अन्य योनियोंमें जीवको कर्म करनेकी स्वतन्त्रता न होने-से वहाँ उनको मुक्तिके मार्ग अवरुद्ध रहते हैं । जीवमात्रपर अकारण स्नेह रखनेवाले भगवान् सर्वेश्वर कभी कृपा करके जीवको सदाके लिये दुःख-परम्परासे छुटकारा पानेके हेतु प्रयत्न करनेका अवसर देनेके लिये मनुष्ययोनि प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि मानवको अपने जीवनका एक ध्येय बनाना चाहिये । ध्येय बनानेसे तदनुसार चेष्टा होगी—क्रिया होगी । उनका यह कथन ठीक ही है; परंतु विचार करनेसे ज्ञात होता है कि भगवान्‌ने पहलेसे ही मानव-जीवनका ध्येय निश्चित कर दिया है । भगवान् पहले जीवके लिये ध्येय निश्चित करते हैं, तदनन्तर उक्त ध्येयकी सिद्धिके निमित्त उस जीवको मानव-शरीरकी प्राप्ति कराते हैं । अतः मानवको कोई नूतन ध्येय बनानेकी आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है पूर्वनिश्चित ध्येय या लक्ष्यको पहचाननेकी । भगवान्‌ने सोद्देश्य मानव-जन्म दिया है । उन्होंने यह विचार करके कि 'यह जीव अपना कल्याण-साधन करे' उसे मनुष्य-योनिमें भेजा है तथा उसके लिये मुक्ति या उद्धारके समस्त साधन इस योनिमें जुटा दिये हैं—ऐसे साधन जो अत्यन्त सुलभ, सरल और सर्वथा महत्त्वपूर्ण हैं । इसीलिये गोस्वामीजी महाराजने मानव-योनिको 'साधन-धाम,' 'मोक्षका द्वार' तथा 'भवसागरका बेड़ा' कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । .... ॥

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'जब मनुष्य एक निश्चित

ध्येय लेकर उत्पन्न होता है, तब वह उक्त ध्येयको न पकड़कर अन्य दिशाओंमें क्यों भटकने लगता है ? जब वह परमात्माकी प्राप्तिके पुनीत लक्ष्यको लेकर आता है, तब उस लक्ष्यकी प्राप्तिके साधनोंमें ही क्यों नहीं लगता ? उस ध्येयके विरुद्ध क्रिया उसके द्वारा क्यों सम्पादित होने लगती है ?' इन प्रश्नोंका एकमात्र उत्तर यह है कि वह अपने ध्येयको—अपने पूर्व-निर्धारित लक्ष्यको भूल बैठता है, उसे उसकी विस्मृति हो जाती है। इस विषयको अर्जुनका उदाहरण सामने रखकर समझा जा सकता है। जब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा—'अर्जुन ! क्या तुमने गीताका उपदेश एकाग्र होकर सुना ? क्या तुम्हारा अज्ञान-जनित मोह नष्ट हो गया ?' तब अर्जुनने हर्ष-विस्फारित नेत्रोंसे भगवान्की ओर देखकर इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन् ! मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी। यह सब आपके प्रसादसे हुआ है। अब मैं अपनी पूर्व-स्थितिमें आ गया हूँ।' यहाँ स्मृतिका अर्थ न तो 'अनुभव' है और न 'नूतन ज्ञान' ही। पहले कभी कोई अनुभूति हुई थी, कोई ज्ञान हुआ था; पर वह मोहके आवरणसे आच्छादित होकर विस्मृत हो गया था। भगवान्के ज्ञानोपदेशसे वह मोहका आवरण नष्ट हो गया और पूर्व-चेतना पुनः प्रकाशित हो उठी—भूली हुई बात याद आ गयी। वैशेषिकोंने भी 'स्मृति'का लक्षण ऐसा ही किया है—

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ।

(तर्कसंग्रह)

इसी प्रकार योगदर्शनके रचयिता महर्षि पतञ्जलिने भी 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः[1]' लिखकर पूर्वानुभूत विषयके साथ ही स्मृतिका तादात्म्य बताया है। अर्जुनका 'स्मृतिर्लब्धा' (गीता १८ । ७३)—यह वचन भी इसी अभिप्रायका पोषक है। इससे ज्ञात होता है कि अर्जुन निश्चितरूपसे लक्ष्यको भूल गया था। उस लक्ष्यकी विस्मृतिमें प्रधान कारण था 'मोह', जिसके लिये ही भगवान्ने 'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।' (गीता १८ । ७२) कहकर प्रश्न किया था। 'मोह' शब्दका प्रयोग तो और भी स्पष्टरूपसे उपर्युक्त भावकी पुष्टि करता है। व्याकरणके अनुसार 'मोह' शब्द 'मुह वैचित्त्ये' धातुसे बना है। 'वैचित्त्ये' पदपर ध्यान देनेसे यह पता चलता है कि 'विचेतनता—विगतचेतनता'का नाम ही 'वैचित्त्य' है। अतः यह सिद्ध होता है कि पहले अर्जुनको चेत रहा है और बादमें वह मोहसे ग्रस्त होता है। मोह छूटनेका अर्थ है—पूर्व-चेतनाकी प्राप्ति। जबतक उनकी बुद्धि मोहके कलिलसे व्यतितीर्ण नहीं हुई; तबतक वह भगवदाज्ञापालनके लिये प्रवृत्त नहीं होता। गीता अध्याय २, श्लोक ५२में भगवान्ने 'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति' कहकर इसी ओर अर्जुनको संकेत किया है। पूर्णतः मोह निवृत्त होनेपर ही सम्यक्रूपेण चेतनाकी प्राप्ति होती है। तब वह खुलकर कहता है—

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८ । ७३)

उपर्युक्त विवेचनसे पता चलता है कि जीवनका लक्ष्य, उद्देश्य अथवा ध्येय तो पहलेसे बना-बनाया है, उसको बनाना नहीं है। केवल उसे पहचाननेकी आवश्यकता है। पहचाननेपर उसकी प्राप्तिका साधन सरल हो जाता है। कठिनाई तो पहचान करनेतक ही है। मोहकी ऐसी प्रबल महिमा है कि मानव-जीवन प्राप्त करनेके अनन्तर सचेत रहकर मुक्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले मनुष्यको भी कभी असावधान पाकर वह धर दबाता है। उदाहरणतः महाभारतमें हम देखते हैं कि समरकी सारी तैयारी पूर्ण करनेमें अर्जुनका पूरा हाथ रहता है। कुरुक्षेत्रकी धर्मभूमिमें कौरव और पाण्डव-सेनाएँ व्यूहाकार खड़ी होकर शङ्खध्वनिके तुमुल नादसे युद्धकी सूचना देती हैं, तब अर्जुन भी अपने देवदत्त शङ्खका नाद करता है। शस्त्रसम्पातका प्रारम्भ होनेवाला ही है। अर्जुन पूर्ण सचेत है तथा कर्तव्यपरायण क्षत्रियकी तरह भगवान् श्रीकृष्णको आदेश देता है—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। (गीता १ । २१) 'भगवन् ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करिये। मैं देखूँ कि इस युद्धमें मुझे किन-किन लोगोंसे लोहा लेना है ?' इन जोशभरे वीरोचित शब्दोंको सुनकर भगवान् भी रथको तत्क्षण दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करके अर्जुनको कुरुवंशियोंकी ओर देखनेकी आज्ञा देते हैं। अर्जुन ज्यों ही दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियों, स्नेहियों, गुरुजनों तथा स्वजनोंको ही युद्धके लिये सज्जित देखता है त्यों ही उसके मनमें विषाद छा जाता है। युद्धका परिणाम युद्धसे भी भयंकर और दारुण प्रतीत होता है। इस कुलक्षयसे उसे सुखकी कल्पना न होकर सर्वनाशकी परम्परा खुलती दिखायी देती है। उसके लिये अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं रह जाता और इस कुटुम्ब-ग्रासकी अपेक्षा अपने लिये मृत्युकी आकाङ्क्षा श्रेयस्कर प्रतीत होने लगती है। उसे

---

१. इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—अनुभव किये हुए विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना 'स्मृति' है।

कर्तव्यमें अकर्तव्य, श्रेयमें अश्रेय तथा अर्थमें अनर्थके दर्शन होते हैं। ममता और आत्मीयताके कारण ऐसे युद्धसे विरत होना ही वह श्रेष्ठतम कर्तव्य समझ बैठता है। भगवान् श्रीकृष्ण-ने अर्जुनके इस दुर्धर्ष मोहकी 'क्लैब्य', 'कश्मल' आदि शब्दोंसे तथा 'अनार्यजुष्टम्', 'अस्वर्ग्यम्', 'अकीर्तिकरम्' आदि पदोंसे उसके भयंकर परिणामोंको दिखाकर निन्दा की। पर अर्जुनपर मोहका ऐसा गहरा रंग चढ़ा था कि उसने अपने भावोंको ही श्रेष्ठ माना और पुनः कुछ बोलकर उन्हीं-का पिष्टपेषण किया। पुष्ट प्रमाणोंसे अपने वचनोंपर जोर देते हुए कहा—'पूजाके योग्य पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणको बाणोंसे कैसे मारा जा सकता है? मारनेपर गुरुजन-हिंसाके जघन्य अपराधके बाद हमें उनके रक्तसे सने हुए केवल अर्थ-काममय भोग ही तो प्राप्त होंगे। धर्म अथवा मुक्ति तो मिल नहीं जायगी? अतः मेरे विचारसे युद्धका कोई औचित्य नहीं है।' इस प्रकार अर्जुनपर मोहने ऐसा अधिकार जमा लिया कि वह कर्तव्यविमुख हो गया। अन्ततः भगवान्ने गीता-ज्ञानका महान् उपदेश देकर उसके मोहको निवृत्त किया। इसी तरह गीता प्रत्येक मोहग्रस्त मानवके मोह-निवारणका अमोघ औषध है।

मानव जबतक अपने लिये सुनिश्चित ध्येयकी पूर्तिकी ओर अग्रसर नहीं होता, तबतक वह अन्य सामान्य जीव-योनियोंसे विशिष्ट कोटिमें नहीं पहुँचता। अतः मनुष्य-को अपने उद्धार या कल्याणकी दृष्टिसे अपनी विस्मृत चेतना-की पुनः प्राप्तिके लिये प्रयत्नरत होनेमें ही मानवताकी सार्थकता समझनी चाहिये। जिस कार्यके लिये यह दुर्लभ मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है, उसका साधन न करके मानव शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी मुख्यता माननेके कारण कुटुम्ब एवं भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उसे भूल गया है। जन-साधारणकी ऐसी ही स्थिति प्रायः देखनेमें आती है। वस्तुतः ध्यानसे देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्यकी जितनी क्रियाशीलता इस विरोधी दिशामें है, उतनी ही विवेकपूर्ण क्रियाशीलतासे मुक्ति अथवा उद्धारका मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है। पर हो क्या रहा है? मानव अपने लिये कभी स्वर्गकी, कभी अर्थकी, कभी भोगकी और कभी यशकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी योजनाएँ बनानेमें मस्त है। वह समझता है कि जीवनका मूल्य इतना ही है। इस प्रकार पुनः अपने-आपको आवागमन-चक्रमें डालनेका कुचक्र वह स्वयं ही रच लेता है। भगवान्ने गीतामें बताया है—

> उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
> (गीता ६। ५)

अर्थात् मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार करे, अपने-आपको अवनतिके गर्तमें न गिरने दे। वह स्वयं ही अपना बन्धु तथा स्वयं ही अपना शत्रु है।

आजका मानव आत्माके उद्धारके लिये यत्न न करके स्वयं ही अपने प्रति शत्रुता कर रहा है। कहाँतक उल्लेख किया जाय, आज जिसको भौतिक सम्मान प्राप्त है, वह और अधिक सम्मानकी खोजमें है। धनिक और अधिक धनकी तलाशमें है। ग्रन्थकार मृत्युके बाद अमर कीर्तिकी अभिलाषामें डूबा है। बड़े-बड़े भवनोंका निर्माता अपनी भौतिक कीर्तिको चिरस्थायी बनानेके स्वप्न देखता है और धर्मोपदेष्टा अपनी प्रसिद्धिका वातावरण बनानेमें संलग्न है—आदि-आदि। इस प्रकार मानवका सारा प्रयत्न ध्येयकी प्राप्तिके लिये न होकर उससे उलटी दिशाकी ओर जानेके लिये हो रहा है। परिणाम यह है कि इस दिशामें जितनी ही विशेषताकी उत्कट आकाङ्क्षा की जाती है, मानवताके वास्तविक लक्ष्यसे उतनी ही अधिक दूरी होती जा रही है; क्योंकि ये सारी बातें व्यक्तित्वको दृढ़ करनेमें सहायक हैं। होना यह चाहिये कि मनुष्य व्यक्तित्वको हटाकर वहाँ अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करे। उसका सारा प्रयत्न चिन्मयताकी प्राप्तिके लिये होना उचित है।

जैसे कोई मनुष्य तीर्थ-स्नानको जाता है, वहाँ मेलेसे दूर किसी धर्मशालामें ठहरता है और धर्मशालाके स्थानको अपने लिये उपयोगी बनाने, रसोईका सुन्दर प्रबन्ध करने तथा अन्यान्य सुखोपभोगके सामान जुटाने आदिमें इतना तन्मय हो जाता है कि तीर्थ-स्नान, देवदर्शन, तीर्थ-दर्शन, मेला-महोत्सव और साधु-समागम आदि कोई कार्य नहीं कर पाता। ऐसे मनुष्यको तो हम उपहासास्पद ही बतायेंगे। इसी प्रकार मनुष्य आया तो है भगवत्प्राप्तिके लिये, किंतु लग गया संग्रह और भोग भोगने आदिमें—

> आये थे हरि भजनको, ओटन लगे कपास।

भोगोंकी प्राप्ति हमारा लक्ष्य नहीं है, पर प्रयत्न उसीके लिये होता है। भगवान्की प्राप्ति ही मानव-जीवनका मुख्य लक्ष्य है, किंतु उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, धन, वैभव, भोग आदि पदार्थ साधनमात्र हैं; किंतु उन्हें साध्य बना लिया गया है। और जो वास्तविक साध्य है, उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी है।

भगवान्‌ने जीवके कल्याणके लिये चार पुरुषार्थ निश्चित किये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थोंके विस्तारके क्षेत्र हैं—चारों वर्ण तथा चारों आश्रम। उन्हींके द्वारा इनका अनुष्ठान होता है। चार पुरुषार्थ ही चार इच्छाएँ हैं तथा इनकी प्राप्तिके दो साधन माने जा सकते हैं। काम और अर्थकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी प्रधानता रहती है तथा धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें उद्योगकी। अर्थको काम-प्रवण बना दिया जाय—कामकी पूर्तिके प्रति उन्मुख कर दिया जाय तो अर्थका नाश हो जाता है। धर्मको कामसे संयुक्त कर दिया जाय तो धर्मका नाश हो जाता है। इसके विपरीत यदि अर्थको धर्ममें लगा दिया जाय तो वह धर्मके रूपमें परिणत हो जायगा। धर्मको अर्थमें लगा देनेसे वह अर्थका रूप धारण कर लेगा। इस प्रकार धर्म और अर्थ एक दूसरेके पूरक और उत्पादक हैं। पर उन्हींको जब कामसे जोड़नेका प्रयत्न किया जायगा, तब दोनोंका विनाश हो जायगा तथा कामनाका अभाव करके किया गया धर्म और अर्थ—दोनोंका अनुष्ठान मुक्तिमें सहायक हो जायगा। निष्कामभावसे 'काम' का आचरण (विषय-सेवन) भी मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करेगा। अतः मानवको चाहिये कि वह निष्काम भावसे आसक्तिका त्याग करके धर्म-पूर्वक अर्थ-कामका आचरण करे। अर्थका सद्व्यय करे और अनासक्त भावसे धर्मानुकूल काम-सेवनमें प्रवृत्त हो। ऐसी प्रगति ही सच्ची मानवताकी दिशामें प्रगति है।

इसी प्रकार चारों वर्ण अपने लिये गीतामें उपदिष्ट वर्ण-धर्मका पालन करके सच्ची मुक्ति अथवा सिद्धिको प्राप्त कर सकते हैं। जिसको आत्माके कल्याणका साधन करना है, वह इस द्वन्द्वात्मक जगत्‌के झंझावातोंसे प्रभावित न होकर अपने लिये निश्चित कर्तव्य-मार्गपर चलता रहता है तथा सिद्धिको प्राप्त करके ही दम लेता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बताया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(१८।४५)

'अपने-अपने कर्ममें अनासक्त भावसे लगा रहनेवाला मानव सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।' ठीक ऐसे ही चारों आश्रम भी मानवके ध्येयकी पूर्तिमें पूर्ण सहायक होते हैं। आश्रमोंमें दो आश्रम मुख्य हैं—गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम-में गृहस्थाश्रमकी तैयारी की जाती है और वानप्रस्थाश्रममें संन्यासाश्रमकी। ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम आश्रम है। इसमें प्रविष्ट होकर विद्योपार्जन और धर्मानुष्ठान करके यदि यहीं अर्थ-कामकी इच्छाके प्रति निर्वेद उत्पन्न हो जाय तो सीधे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर मानव एक इसी आश्रममें अपना कल्याण साधन कर सकता है। यदि अर्थ-कामकी इच्छाको विवेक-विचारद्वारा इस आश्रममें नहीं मिटाया जा सका तो उस उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रम रखा गया है। इस आश्रममें रहकर मानव भोगोंके तत्त्वका ज्ञान करनेके लिये धर्मानुकूल अर्थ-कामका आचरण करे। यह भी साध्यकी दिशामें ही प्रवर्तन है, जिससे—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

—वाली बात सम्भव होती है; क्योंकि धर्मानुसार गृहस्थाश्रम-का अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होना अनिवार्य है। सीमित भोगका अर्थ ही गृहस्थाश्रम है। असीमित भोगोंके प्रतीक-रूपमें सीमित भोग गृहस्थको इसलिये प्राप्त होते हैं कि लक्ष्यको याद रखते हुए, भोगोंका तत्त्व जाननेके लिये विधिविधानसे सीमित भोग भोगकर गृहस्थ पुरुष उनका तत्त्व जाननेके पश्चात् उन भोगोंसे उपरत हो जाय और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तत्परतासे लग जाय। उन प्राप्त भोग-पदार्थोंके द्वारा निष्कामभावसे जनता-जनार्दनकी सेवामें प्रवृत्त होकर उस सेवारूप साधनसे भी गृहस्थ परमात्माको प्राप्त कर सकता है। जनता-जनार्दनकी सेवा करते समय सेवाकी सामग्री (धनादि उपकरण) तथा सेवाके साधन (अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि) को भी उन्हींका (सेव्यका ही) समझना चाहिये। यह सेवा-सामग्री जिनकी है, उन्हींकी सेवामें इसे लगा रहा हूँ—यह भाव दृढ़ हो जानेपर उन उपकरणोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। *'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'* के अनुसार वे सेव्यके समर्पित हो जायँगे। ऐसी भावना बननेपर ज्ञात होगा कि अपने पास जो अवशिष्ट भोग-सामग्री और उनका संग्रह है, वह केवल सेवाके उद्देश्यकी पूर्तिके ही लिये है। फिर उनके प्रति अपनी ममताका सर्वथा अभाव हो जायगा। इससे जीवकी जडता जड संसारमें मिल जायगी और उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेसे चेतन-स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जायगी।

इस तत्त्वको और अधिक बोधगम्य बनानेकी दृष्टिसे यहाँ यह जान लेना चाहिये कि इन्द्रियोंका उपभोग तीन प्रकारका होता है—(१) भोगोंका तत्त्व जाननेके लिये (२) उनके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेके लिये तथा (३) परमात्मा-की प्राप्तिके निमित्त शरीर-निर्वाह-क्रियाके सम्पादनके लिये। अब उनका अलग-अलग विश्लेषण किया जाता है।

भोगोंका तत्त्वज्ञान—यहाँ तत्त्व जाननेका अर्थ यह है कि भोगोंमें सीमित सुख है। भोगोंमें सीमित सुखकी मात्रा क्या है—इसके अनुभवके लिये भी हमें उस भोगके अभावके दुःखका अनुभव करना पड़ेगा; क्योंकि भोगके अभावका दुःख जितना अधिक होगा, भोग उतना ही सुख प्रदान करेगा। अतः अभावकी भी आवश्यकता पड़ेगी। अभाव नहीं होगा तो सुख भी नहीं होगा। साथ ही भोग भोगते समय भोगशक्तिका नाश होता है और भोगेच्छा उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है। भोग्य पदार्थ अनित्य होनेसे नाशशील हैं, प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। भोग्य पदार्थोंके नष्ट हो जानेपर उनके भोगनेके संस्कारोंकी स्मृति कष्टकारक होती है। भोगोंके तत्त्वका यह ज्ञान भोगोंके भोगनेसे उपलब्ध हो जाता है।

दूसरोंकी सेवाका तत्त्व—जबतक मानवको अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंका ज्ञान नहीं होगा, तबतक वह प्रतिकूल पदार्थों और क्रियाओंके त्यागपूर्वक अनुकूल पदार्थ और क्रियाओंद्वारा दूसरोंकी सेवा नहीं कर सकता। सेवा करते समय सेवाकी वस्तुओंको समष्टिका समझना चाहिये। इससे वह उनके प्रति ममता और आसक्तिके बन्धनसे मुक्त हो जायगा। जबतक ममता और आसक्ति है, तबतक अनुकूलता-प्रतिकूलताका द्वन्द्व बना रहता है।

शरीर-निर्वाह-क्रिया—का अर्थ है राग-द्वेषरहित होकर विषयोंका सेवन करना। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
>
> (२।६४)

'अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषय-सेवन करनेवाला जितात्मा पुरुष प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता) को प्राप्त होता है।'

विषयोंका राग-द्वेषपूर्वक चिन्तन करनेसे मनुष्यका पतन होता है; क्योंकि विषयोंका ध्यान उनके प्रति मानव-हृदयमें आसक्तिका अङ्कुर उत्पन्न कर देता है और आसक्ति सब अनर्थोंकी जड़ है। यहाँतक कि आसक्तिसे मानवकी बुद्धि नष्ट होकर उसके द्वारा उसका चरम विनाश हो जाता है—

> बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। (गीता २।६३)

किंतु राग-द्वेषरहित होकर विषयोंका सेवन भी प्रसादकी प्राप्ति कराता है। यह विषयसेवन राग-द्वेषके त्याग और संयमपूर्वक केवल शरीर-निर्वाहमात्रके लिये ही होना उचित है, न कि भोगबुद्धिसे। तभी वह मुक्तिका कारण होता है। अस्तु,

गृहस्थाश्रमी गृहस्थ-धर्मका पालन करके भी परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है—यह ऊपर बताया गया। अथवा वह वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे और वहाँ तितिक्षा और संयमकी उत्कट साधनामें रत होकर परमात्माको प्राप्त करे। अथवा संन्यासकी योग्यता प्राप्त करके संन्यास-आश्रममें चला जाय। वहाँ बाहर-भीतरसे त्यागी होकर निरन्तर ब्रह्मचिन्तन करते हुए परमात्माको प्राप्त करे।

जड-चेतनकी ग्रन्थिका नाम ही जीव है; इसलिये मानवमें जड अंशको लेकर सुख-भोग तथा संग्रहकी इच्छा होती है। तथा चेतन अंशको लेकर मुमुक्षा अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिकी इच्छा होती है। मुक्ति और भुक्तिकी इच्छाओंमें भोगोंकी इच्छा चाहे कितनी ही प्रबल हो जाय, वह परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छाको मिटा नहीं सकती। जडता चेतनतापर कुछ कालके लिये भले ही छा जाय, पर उसका अस्तित्व मिटा नहीं सकती। बल्कि परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा प्रबल और उत्कट हो जानेपर भोगेच्छाका अस्तित्व मिट जाता है; क्योंकि भोग और उनकी इच्छा दोनों ही अनित्य हैं। परमात्मा और उनका प्रेम दोनों नित्य हैं। परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा ही भगवान्‌के प्रेमका स्वरूप बन जाती है। प्रेम और भगवान् दोनों एक हैं। जबतक भोगोंकी यत्किंचित् इच्छा है, तभीतक साधनावस्था है। जब परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा, मोक्षकी इच्छा, प्रेम-पिपासा मुख्य इच्छा बन जाती है, तब भोगेच्छा मिट जाती है। उसके मिटते ही नित्यप्राप्त परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मानव सहज ही अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। वह कृतकृत्य, प्राप्त-प्राप्तव्य और ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है अर्थात् उसने करनेयोग्य सब कुछ कर लिया, प्राप्त करनेयोग्य सम्पूर्ण लक्ष्य प्राप्त कर लिया और जाननेयोग्य सब कुछ जान लिया। इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है।

स्वार्थ-ही-स्वार्थ

भारतमाता शोक और आश्चर्यमें

सुख-शान्तिरूपी गौपर दानवतारूप कसाईकी क्रूर दृष्टि
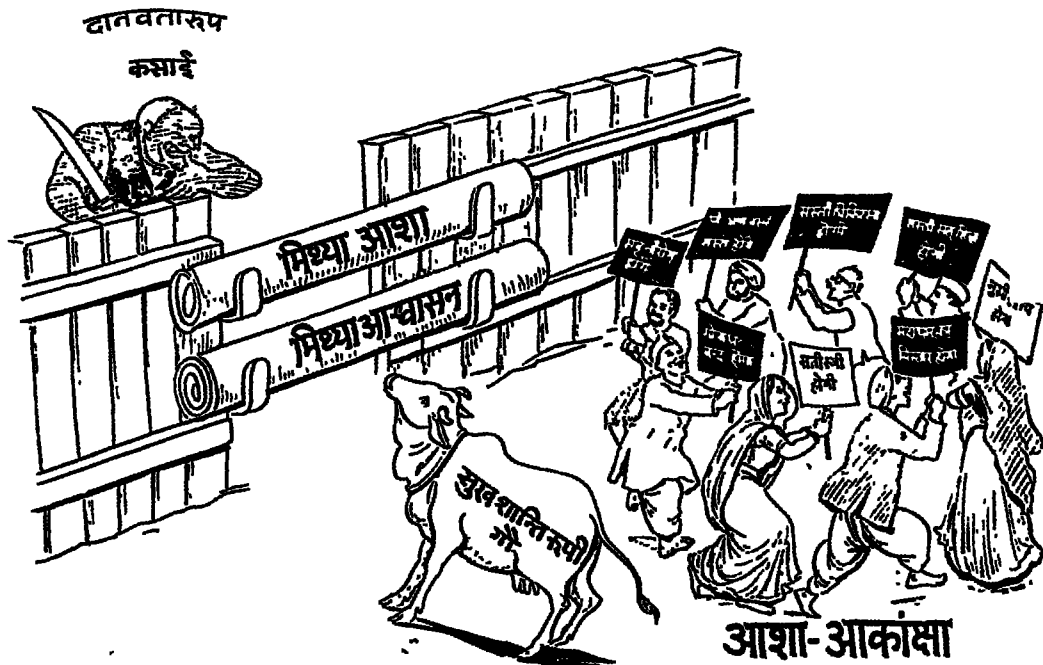
दानवतारूप कसाई

कल्पनाका महल बना—उसपर आशा तथा आश्वासनकी लंबी विज्ञप्ति निकली। लोगोंने आशा-आकांक्षा की—बस, अब सारा देश स्वस्थ—नीरोग हो जायगा, सस्ती चिकित्सा होगी, अन्न-घृत-दूध सस्ता हो जायगा, गोहत्या बंद हो जायगी, सत्-शिक्षा सस्तेमें मिला करेगी, सदाचारका प्रचार होगा, स्त्रियाँ सती-धर्मका पूरा पालन करेंगी, गृहस्थी सुखमयी हो जायगी। इसके फलस्वरूप सारा देश, समस्त विश्व—सभी सुखशान्तिरूपी कामधेनु गौका अमृत दुग्ध पानकर सदा प्रसन्न, शान्त तथा सर्वथा आनन्दमय बन जायँगे। पर हो गया कुछ और ही—महलमेंसे एक दानवतारूपी कसाई निकला और वह जाकर महलके ऊपर खड़ा हो गया। उसके हाथमें नंगी तलवार है, बड़ी क्रूर दृष्टिसे देख रहा है वह; और सुख-शान्तिरूपी गौको मार डालना चाहता है। विवेक-बल हो तो इस कसाईको हटाकर गायकी रक्षा करो।

स्वार्थ-ही-स्वार्थ

स्वार्थ, स्वार्थ, बस स्वार्थ—यही परम और चरम पुरुषार्थ। सभीको स्वार्थकी चिन्ता। सब अपने-अपने स्वार्थकी बात करते, स्वार्थकी सोचते नाच रहे हैं। एक दूसरेको गुमराह कर रहे हैं, फुसला-समझा रहे हैं तथा स्वार्थ-साधनमें बाधा देखकर परस्पर भिड़ रहे हैं। कोई जाँघमें काट रहा है तो कोई गला दबाकर दाँत पीसता तथा होठ चबाता हुआ घूँसा तानकर मार डालना चाहता है। चारों ओर नीच स्वार्थके इस अकाण्ड ताण्डवको देखकर भारतमाता आश्चर्य और शोकमें डूब रही है !!

मानवता

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्रीरमापतिजी उपाध्याय)

संसारके प्राणिमात्र सुख तथा सुख-साधन, दुःख-परिहार तथा दुःखपरिहार-साधनके इच्छुक होते हैं। ऐसी दशामें दिव्य-दृष्टिवाले महर्षियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रोंके आधारपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि दुःखनिवृत्तिपूर्वक सुख-साधनद्वारा ऐहिक-पारलौकिक सुख-प्राप्तिके लिये मानव-शरीरके अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं है।

यह जीवात्मा अनादिकालसे अपने सत्कर्म तथा असत्कर्मोंके जालमें फँसकर चौरासी लाख योनियोंमें जन्म-मरण पाता हुआ, सुख तथा असह्य दुःखोंको भोगता हुआ, बहुत जन्मोंके पुण्य-संचयसे मानवशरीरको प्राप्त करता है। कहा भी है—

'मानुष्यं दुर्लभं लोके'।
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
(मनु० १। ९६-९७)

'जड वृक्षादिसे चेतन प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनमें बुद्धिपूर्वक जीवन बितानेवाले, बुद्धिवालोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्योंमें ब्राह्मण, ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें शास्त्रविहित कर्मोंमें बुद्धिको लगानेवाले, उनमें तदनुसार कर्म करनेवाले तथा उनमें भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं।'

मनुष्य-शरीरको पाकर हमें विचार करना चाहिये कि ऐसा कौन मार्ग है, जिससे मरनेपर अत्यन्त दुःखद नरक तथा कीट-पतङ्गादि योनियोंमें न जाना पड़े। और सांसारिक सुख-सम्पत्तियोंको भोगते हुए नित्य सुख-प्राप्तिके लिये परमात्माकी शरणमें पहुँचा जा सके। इहलौकिक-पारलौकिक सकल सुख-सामग्रीका पथ-प्रदर्शक शास्त्र है। अतः शास्त्रानुसारी मार्गका अन्वेषण करना चाहिये।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २३—२४)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण ... है, वह न सफलता पाता है, न परम गति और न सुख ही। अतएव कार्य-अकार्यमें शास्त्रको ही प्रमाण मानकर शास्त्र-विहित कर्म ही करना चाहिये।'

शास्त्रविहित तथा निषिद्ध कर्म करनेवाले मनुष्य ही हैं। मनुष्यके अतिरिक्त पशु-पक्ष्यादि अपने कर्मोंद्वारा पुण्य-पाप नहीं कर सकते। केवल प्राक्तन पुण्य-पापजन्य सुख-दुःख भोगनेके लिये ही पशु-पक्ष्यादि योनियाँ हैं। उसमें भी भारतवर्ष ही पुण्य-पापजनक कर्मबीजका प्रधान क्षेत्र है।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः॥
(विष्णुपुराण)

'जम्बूद्वीपमें भारत श्रेष्ठ है; क्योंकि यह कर्मभूमि है, और तो सब भोगभूमियाँ हैं।' भारतीय मानवता ही एक ऐसा वैज्ञानिक यन्त्र है, जिसके द्वारा मानव ऐहिक सुख-सम्पत्तिको भोगता हुआ परमात्माको प्राप्त कर सकता है।

अब 'मानवता' शब्दका अर्थ क्या है और मानव (मनुष्य) नाम हमलोगोंका क्यों पड़ा—इसके इतिहासपर प्रथम विचार कीजिये; क्योंकि इस विषयमें बहुतोंका ज्ञान भ्रमग्रस्त हो गया है।

वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड (१४ वें अध्यायमें) 'मानव' (मनुष्य) नाम पड़नेका विस्तृत इतिहास है और यही प्रामाणिक प्रतीत होता है।

श्रीरामचन्द्रजीने जटायुसे कहा कि 'मैं आपका परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ।' इसपर जटायुने कहा कि 'सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माने षोडश प्रजापतियोंकी मानस सृष्टि उत्पन्न की। उनके नाम हैं—१ कर्दम, २ विक्रीत, ३ शेष, ४ संश्रय, ५ स्थाणु, ६ मरीचि, ७ अत्रि, ८ क्रतु, ९ पुलस्त्य, १० अङ्गिरा, ११ प्रचेता, १२ पुलह, १३ दक्ष, १४ विवस्वान्, १५ अरिष्टनेमि और १६ कश्यप। इनमें दक्षप्रजापतिके ६० कन्याएँ हुईं। दक्षप्रजापतिने अपनी १ दिति, २ अदिति, ३ दनु, ४ कालिका, ५ ताम्रा, ६ क्रोधवशा, ७ मनु और ८ अनला नामक आठ कन्याओंका विवाह कश्यप प्रजापतिके साथ कर दिया। अदितिसे १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, २ अश्विन्—ये तैंतीस देवता उत्पन्न हुए। कश्यपकी दिति आदि अन्य पत्नियोंसे दैत्य-दानव आदि तथा साक्षात् अथवा परम्परासे पशु-पक्षी-व्याघ्र-मृग-कीट-पतङ्ग आदि सकल

प्राणियोंकी सृष्टि हुई। कश्यपकी मनु नामक पत्नीने मनुष्योंकी सृष्टि की—

मनुर्मनुष्याञ्जनयद् राम पुत्रान् यशस्विनः।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्च मनुजर्षभ॥
(वा० रा० अरण्य० ३०)

मनु नामकी जननीसे पैदा होनेके कारण 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (४।१।६१)—इस पाणिनि-सूत्रसे मानव-मनुष्य-मानुष—ये तीन शब्द बने।

कुछ विद्वानोंका पुराण आदिके आधारपर यह मत है कि ब्रह्माके पुत्र चतुर्दश मनु हुए। उनमें प्रथम पुत्र स्वायम्भुव मनु हैं। उन्हींसे मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। इसमें—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳसमभवत्ततो मनुष्या अजायन्त। (बृहदा० १।४।३)

शतरूपा नामकी पत्नी तथा स्वायम्भुव मनु—इन दोनोंके सम्बन्धसे मनुष्य उत्पन्न हुए। यह इस मन्त्रसे तथा श्रीमद्भागवतसे भी प्रमाणित होता है। तथापि रामायणके विरोध-परिहारके लिये यही कहना पड़ेगा कि स्वायम्भुव मनुने शतरूपाके ही रूपान्तर कश्यप-पत्नी मनुद्वारा मनुष्योंको उत्पन्न किया, साक्षात् नहीं। यदि साक्षात् मानें अर्थात् यह मानें कि शतरूपाने तथा स्वायम्भुव मनुने अनन्त रूप धारणकर अनन्त गज-व्याघ्र, पशु-पक्ष्यादि प्राणियोंको उत्पन्न किया, तो सभी मनुकी संतान होनेसे मनुष्य होने चाहिये। और आदित्य, दैत्य, दानव आदि शब्द जब स्त्रीवाचक प्रकृतिसे बने हुए हैं, तब मानव-शब्द भी स्त्रीवाचक मनु-शब्दसे ही सिद्ध मानना उचित होगा।

हाँ, यह बात अवश्य है कि स्वायम्भुव मनु ही मनुस्मृतिके आद्य प्रवर्तक हैं; क्योंकि 'मनु' शब्दका अर्थ यह है—

मन्यते जानाति दिव्यदृष्ट्या स्थावरजङ्गमात्मकं सकलं जगद्दृश्यं धर्माधर्मादिकं च यः स मनुः। यद्वा मन्यते चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इति जैमिनिसूत्रबोधितं विहितं पुण्यजनकं निषिद्धं पापजनकं च सर्वं कर्म यः स मनुः।

यह अर्थ स्वायम्भुव मनुमें ही संगत होता है। ब्रह्माने शतसाहस्र—लक्ष श्लोकात्मक धर्मशास्त्रका स्वायंभुव मनुको उपदेश किया। मनुने उसे संक्षिप्तकर मरीच्यादि ऋषियोंको उपदेश किया। ऋषियोंने उसे ग्रन्थरूपमें परिणत किया।

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥
(मनु० १।५८)

मनुस्मृतिके व्याख्याता कुल्लूकभट्टने इन बातोंको स्पष्ट किया है। प्रसङ्गवश मैंने मनुस्मृतिके विषयमें कुछ विचार किया।

कुछ विद्वानोंका मत है कि कश्यप प्रजापतिके पुत्र विवस्वान् मनु हैं। उन्हें विश्वकर्माने अपनी संज्ञा नामकी कन्या प्रदान की। संज्ञाके १ मनु प्रजापति, २ यम और यमुना—दो यमज पैदा हुए। इन्हीं मनुको विवस्वान्का पुत्र होनेसे वैवस्वत मनु तथा सवर्णा (संज्ञा) के पुत्र होनेसे सावर्णि मनु भी कहते हैं। वैवस्वत मनुके, १ इक्ष्वाकु, २ नाभाग, ३ धृष्णु, ४ शर्याति, ५ नरिष्यत्, ६ प्रांशु, ७ नाभागारिष्ट, ८ करूष, ९ पृषध्र—ये नौ पुत्र हुए। इन्हीं वैवस्वत मनुसे मानवकी उत्पत्ति हुई है (हरिवंश १।९)। परंतु वहाँका प्रकरण देखनेसे ज्ञात होता है कि ये विवस्वान् क्षत्रियत्वाभिमानी हुए हैं। उनसे क्षत्रिय राजाओंकी ही परम्परा चली है। अतएव वे सूर्यवंशी क्षत्रिय प्रसिद्ध हुए। इसीलिये रघुवंश इत्यादि काव्योंमें 'मनुवंशकेतुम्' 'मनोः प्रसूतिः' इत्यादि विशेषण आये हैं। परंतु वैवस्वत मनुसे मनुष्यकी उत्पत्तिकी बात वहाँ नहीं कही गयी है। यदि कश्यपपत्नी मनुसे मनुष्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳशूद्रो अजायत॥
(यजु० ३१।११)

इससे तथा—

मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।
(मनु० १।८७)

—इस मनुवचनसे विरोध होगा और श्रुति सबसे बलीयसी है। अतः वाल्मीकीय-वचन प्रामाणिक है। परंतु वस्तुतः विरोध है ही नहीं; क्योंकि मन्त्रव्याख्याता उव्वट तथा महीधर दोनोंने लिखा है—'मुखादिसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति काल्पनिक है। किंतु ब्रह्माके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये क्रमशः मुख-बाहु-ऊरु-पादस्वरूप हैं। अतः मन्त्रसे रामायणका विरोध नहीं है। काल्पनिक उत्पत्तिमूलक ही ब्राह्मणादिके लिये अग्रजादि शब्दका प्रयोग है। यह प्रासङ्गिक विचार है। अतः यहाँ इसका विस्तार करना उचित नहीं।

मानव-शब्दके विचारके अनन्तर अब मानवताका स्वरूप दिखाना उचित होगा। मानवता-शब्दके दो अर्थ

हैं। मानवस्य भावो मानवता—मनुष्यमें रहनेवाली जाति। मनुष्यत्व जाति तो सकल मनुष्यगत एक तथा अखण्ड लोकप्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ मनुष्य-कर्म—मानवका कर्तव्य है।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च।
(५।१।१२४)

—इस पाणिनि-सूत्रसे कर्म अर्थमें तल प्रत्यय हुआ है। अतः मनुष्यके कर्तव्यको ही 'मानवता' कहते हैं। यद्यपि मानवका कर्तव्य भी लोकप्रसिद्ध है, तथापि अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भी मनुष्य अपने कर्तव्यका निश्चय कर सकता है—जैसे आजकल 'स्पृश्यास्पृश्य भक्ष्याभक्ष्य'का मनमाना विचार चल पड़ा है। वस्तुतः भारतीय धर्म (कर्तव्य)-शास्त्र देखा जाय तो आजकलके शास्त्रानभिज्ञ, या शास्त्रको न माननेवाले कर्णधार किस नरकमें स्वयं जायँगे और दूसरोंको भी ले जायँगे—यह कहा नहीं जा सकता।

गीतामें दो सम्पत्तियाँ बतायी गयी हैं—दैवी तथा आसुरी। शास्त्रविहित कर्म करनेमें भयका अभाव, अन्तःकरणकी निर्मलता, तत्त्वातत्त्वविवेक, योग (परमात्म-चिन्तन) में स्थिरता, सात्त्विक दान, दम (इन्द्रियोंको असन्मार्गमें न जाने देना), यज्ञ (देव-गुरु-पूजन, बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र आदि), स्वाध्याय (वेद-स्मृत्यादि-शास्त्राध्ययन), तप (शास्त्रविहित चान्द्रायणादि व्रत), आर्जव (छल-कपट-राहित्य), अहिंसा (काय-वाक्-मनसे किसीको कष्ट न देना), सत्य (यथार्थ और प्रियभाषण), क्रोधाभाव (किसीका अपकार करनेके भावसे क्रोध न करना), त्याग (उदारता), शान्ति (अन्तःकरणमें चञ्चलताका अभाव), अपैशुन (परोक्षमें किसीके दोषका प्रकाश न करना), दया (दीनोंपर अकारण करुणा), अलोलुपता (लोभ न करना), मार्दव (किसीके साथ क्रूरता न करना), ह्री (लोक तथा शास्त्रके द्वारा निन्दित कर्म करनेमें लज्जा), अचापल (निरर्थक-हस्त-मुखादिका व्यापार न करना), तेज (महान् पुरुषका शक्ति-विशेष—जिससे जनता असत्कार्योंसे डरे), क्षमा (किसीके अपमान करनेपर भी उसके प्रति अपकारबुद्धि न करना), धृति (दुःखादिसे चित्तमें चाञ्चल्य न आने देना), शौच (शरीरादि-शुद्धि), अद्रोह (किसीका अपकार-चिन्तन न करना), नातिमानिता (अपनेमें विद्यादि-कृत घमंड न रखना)—ये सब गुण 'दैवी सम्पत्ति' हैं। (गीता १६। १-३) इनका पालन करना 'मानवता' है। ये सम्पत्तियाँ मानवके ऐहिक-पारलौकिक दोनों प्रकारके अभ्युदयकी साधिका हैं।

आसुरी सम्पत्ति—दम्भ (बनावटी धार्मिक आडम्बर), दर्प (घमंड), अभिमान (अपनेको सबसे बड़ा मानना), क्रोध (अल्प अपराधपर भी मनमें विकार लाना), पारुष्य (निठुरता), अज्ञान (सदसद्का विवेक न रखना) तथा दैवी सम्पत्तिके विरुद्ध सम्पत्तियाँ आसुरी सम्पत् हैं। आसुरी सम्पत्तियाँ लोक-परलोक दोनोंको बिगाड़नेवाली हैं। अतः इनसे बचकर रहना मानवता है। (गीता १६।४-५)

आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य शास्त्रीय विधि-निषेधको नहीं मानते और न उनमें शुद्धि (शरीर-वस्त्रादिकी शुद्धि), न सदाचार, न सचाई रहती है। शरीरादिकी स्वच्छता रहती है, पर शुद्धि नहीं। उनके निकट यह जगत् सत्यप्रमाणसे रहित है—

सत्यं वेदपुराणादिकं प्रमाणं नास्ति यत्र तदसत्यम्।

—जगत्स्वरूपबोधक जो वेद-स्मृति-पुराणादि हैं, वे असत्य हैं। इस संसारमें प्राणियोंकी जो उत्पत्ति है, वह धर्माधर्मकृत नहीं है, न ईश्वरकृत है; किंतु कामवश स्त्री-पुरुषके मिथुनसे ही उत्पत्ति है। ऐसे मिथ्या ज्ञानसे उनका अन्तःकरण नष्ट हो गया रहता है। अतएव अल्प-बुद्धि होकर वे ऐसे उग्र कर्म करते हैं, जिनसे जगत्का नाश हो जाता है। अतएव वे जगत्के लिये अहित हैं, इष्टकारी नहीं।

वे छल-छिद्र-अहंकारी—योग्य न होनेपर भी अपनी प्रतिष्ठाका भाव दिखानेवाले, अज्ञानवश अपूरणीय कामोंमें आसक्त, खान-पान, रहन-सहन, बोलचाल, व्यवसाय इत्यादि सभी शास्त्रविरुद्ध कामोंमें ही प्रवृत्त होते हैं।

अनन्त (असंख्य) मरणपर्यन्त रहनेवाली चिन्ताओंमें ही आसक्त, विषयभोगमें लीन, सांसारिक सुख-सम्पत्तिके अतिरिक्त स्वर्ग-नरकादि कुछ नहीं हैं—ऐसे निश्चयवाले, सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे बँधे हुए इधर-उधर घूमते रहते हैं। काम-क्रोधमें ही सदा संलग्न, विषय-भोगके निमित्त चोरी, छल इत्यादिसे धन इकट्ठा करनेवाले, 'यह मुझे मिल गया, यह भी मेरा मनोरथ पूरा हो जायगा; यह धन तो है ही, यह भी फिर आ जायगा; एक शत्रुको तो मैंने मार डाला, दूसरोंको भी मार डालूँगा; मैं धनी तथा कुलीन हूँ; मैं मनमाने यज्ञ करूँगा, अपनी प्रशंसा करनेवालोंको दान दूँगा, खूब मजे उड़ाऊँगा।' इस प्रकार अनन्त मायामय जालमें मछलीकी तरह फँसे हुए असुर-वृत्तिके मनुष्य मरकर मल-मूत्रादिपूर्ण भयानक नरकोंमें जाते हैं। इन आसुरी सम्पत्तियोंसे बचना मानवता है।

भगवान् कहते हैं कि ऐसी आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्यको मैं अति क्रूर योनियोंमें सदा भेजता रहता हूँ। शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले ये लोग सदा नीच योनिमें ही पड़े रहते हैं। फिर उन्हें मनुष्यका जन्म मिलना कठिन हो जाता है। अतः आसुरी सम्पत्तिसे डरना चाहिये। (गीता १७ । ७—२०)

मृत्युके बाद जीवात्मा अवश होकर पुण्य-पापके अनुसार ही उत्तम-अधम योनि पाता है। मृत्युके बाद परलोकमें स्त्री-पुत्र, माता-पिता, भाई-मित्र इत्यादि कोई भी सहायक नहीं होते। किंतु धर्म ही दुःख तथा दुर्योनिसे बचाता है और पाप ही अनेक प्रकारके नरकोंमें डालकर असह्य कष्ट देता है। इसलिये सदा पाप-कर्मोंसे बचना तथा धार्मिक कर्मोंमें तत्परता रखना—यही मानवता है।

जबतक मनुष्यको यह ज्ञान न हो जाय कि कौन पुण्य-कर्म है, कौन पाप-कर्म है, तबतक वह किस प्रकार पाप-कर्मसे बचेगा। यद्यपि अनादि शिष्ट-व्यवहारसे भी पुण्य-कर्म तथा पाप-कर्मका ज्ञान होता है, तथापि आजकलके सभ्य कहे जानेवाले लोग तो प्रायः शास्त्र तथा परम्परासे विरुद्ध अपने मनःकल्पित आचार-विचारको ही सदाचार मानने लगे हैं। ऐसी दशामें भारतीयता तथा भारतीय सदाचारोंकी रक्षाके लिये भारतीय जनताको सावधान होकर भारतीय मानवताकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

मानवता क्या है—इसका विस्तृत वर्णन मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंमें है। अतः प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) को धर्म-ग्रन्थोंसे लाभ उठाना चाहिये। स्वतन्त्रताके द्वारा केवल अर्थ-कामकी पूर्ति ही यत्किंचित् हुई है और धर्म (भारतीय मानवता) न रहा, तो पशु ही बनना पड़ेगा—

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।

कुछ मानवता भूमण्डलके मनुष्यमात्रके लिये है, जिसका दिग्दर्शन दैवी-सम्पत्तिके नामपर कराया जा चुका है। कुछ मानवता व्यक्तिविशेष, जातिविशेष, आश्रमविशेषके लिये भिन्न-भिन्न है। उसका वर्णन किसी लेखके द्वारा नहीं हो सकता। उसके लिये शास्त्रावलोकन आवश्यक है; क्योंकि शास्त्रीय विधि-निषेधका पालन करना ही मानवता है।

इस लेखमें चार विभागोंमें विभक्त मनुष्योंके लिये आधुनिक वातावरणमें भी जिस मानवताकी रक्षा हो सकती है, उसका दिग्दर्शनमात्र है।

ब्रह्मचर्यावस्था (अध्ययनावस्था) की मानवता

मनुष्यकी आयु साधारणतः सौ वर्षकी मानी गयी है। तदनुसार पचीस वर्ष अध्ययनके लिये रखे गये हैं। इस अध्ययन-अवस्थामें प्रत्येक छात्र तथा छात्राको ब्राह्ममुहूर्त (रात्रिके अन्तिम चतुर्थांश) में उठकर पढ़ना चाहिये; क्योंकि वह ब्राह्मी—सरस्वतीका समय है। उस समय बुद्धिका अधिक प्रकाश होता है। फिर सूर्योदयके पहले ही शारीरिक नित्य क्रिया करके दन्तधावनपूर्वक शुद्ध जलसे या नदी इत्यादिमें स्नान कर लेना चाहिये (मनु० ४ । ९२-९३); क्योंकि नौ छिद्रयुक्त यह शरीर सोनेपर अशुद्ध हो जाता है। प्रातःकालिक स्नान दृष्टादृष्ट-उभयफलक है। स्नानके बाद द्विजाति पुरुषको संध्योपासन अवश्य करना चाहिये। न करनेसे पाप होता है। गायत्री-मन्त्रमें बुद्धिके निमित्त ही प्रार्थना है। जिसकी बुद्धि अच्छी होगी, उसके सब कार्य अच्छे होंगे। शूद्रादि भी बिना मन्त्रके सूर्यादिका ध्यान कर सकते हैं। यद्यपि शूद्रादिके लिये शास्त्रतः अध्ययन विहित नहीं है, तथापि शास्त्रोंके अतिरिक्त आधुनिक विषयोंका वे भी अध्ययन कर सकते हैं, जिससे जीविका भलीभाँति चल सके (मनु० १० । ९८–१००)।

जो द्विज संध्या नहीं करता, वह शूद्रादिके समान हो जाता है। अध्ययनकालके जितने नियम हैं, वे सब 'ब्रह्मचर्य' शब्दसे कहे जाते हैं। परंतु अधिकतर वीर्यकी रक्षामें ही इसका तात्पर्य माना जाता है। वीर्यकी सुरक्षा होनेसे ही अन्य इन्द्रियाँ भी बलिष्ठ होती हैं। आठ प्रकारके मैथुनोंसे छात्र-छात्राओं-को अवश्य बचना चाहिये—युवक-युवतीके रूप-चेष्टादिका स्मरण, वर्णन, परस्पर क्रीड़ा, बुरे भावसे एक दूसरेको देखना, गुप्तभाषण, परस्पर सम्बन्धका चिन्तन करना, एक दूसरेकी प्राप्तिके लिये यत्न करना और मैथुन—परस्पर सम्भोग।

इनमें फँसनेवाला छात्र कदापि विद्याध्ययन नहीं कर सकता और अध्ययन करनेपर भी सफल नहीं हो सकता। विद्यार्थीको जलक्रीड़ा नहीं करनी चाहिये। जूठे मुख मार्गमें न चलना चाहिये (मनु० २ । ५६)। रूप-रस, गन्ध-स्पर्श तथा स्त्री—इनमें आसक्ति हानिकारक है (मनु० २ । ९४)। अतः इससे बचना चाहिये। नाचना, गाना, बजाना, मुखसे नाना प्रकारके शब्दोंका अनुकरण करना मना है (मनु० ४ । ६४)। इससे अन्तःकरण दूषित होता है।

जैसे गाड़ीका चालक (कोचवान) घोड़ेको बुरे रास्ते

जानेसे रोकता है, वैसे ही छात्रोंको अपनी इन्द्रियोंको बुरे मार्गपर जानेसे रोकना चाहिये (मनु० २ । ८८) । जूता निकालकर जलसे पैर धोकर भोजन करना चाहिये ।

आर्द्र-चरण—गीले पैर भोजन करनेसे आयु बढ़ती है । नंगे होकर सोना नहीं चाहिये । इन्द्रियोंको वशमें रखनेसे मनुष्यका अभ्युदय होता है (मनु० ४ । ७५-७६) । इन्द्रियोंके वशमें होनेसे वह गिरता है (मनु० २ । ९३) । जूआ, किसीकी निन्दा, मिथ्याभाषण, निष्प्रयोजन बकवाद, बुरे भावसे पर-स्त्रीका देखना हानिकारक है (मनु० १ । ७८) । लौकिक या शास्त्रीय कुछ भी विषय जिनसे पढ़ा हो, उन गुरुका सम्मान करना चाहिये । अनादर कदापि न करना चाहिये (मनु० २ । ११७) । जो सदा बड़ोंका आदर करता है और उन्हें प्रणाम करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है । बड़ोंके आनेपर प्राणवायु स्वभावतः ऊपर जाना चाहता है । उसको यथावस्थित करनेके लिये अभ्युत्थान तथा अभिवादन अवश्य करना चाहिये ।

जिससे थोड़ा भी ज्ञान प्राप्त किया हो, मनुष्य यदि उसको गुरु न माने तो वह कई जन्मोंतक कुत्ता होकर चाण्डालके यहाँ जन्म लेता है (अत्रि-संहिता श्लो० १०) । आचार्य, पिता, माता, भाई—इनका कभी भी अनादर नहीं करना चाहिये (मनु० २ । २२६) ।

आचार्य, पिता एवं माताकी सेवा करना सर्वोत्तम तप है । अतः इनको सदा प्रसन्न रखना चाहिये (मनु० २ । १२८) । छात्रको एकाकी सोना चाहिये (मनु० २ । १८०) । गुरुका परीवाद (विद्यमान दोषका कथन), निन्दा (अविद्यमान दोषका कथन) नहीं करना चाहिये । मनुष्य परीवाद करनेसे मरनेके बाद गदहा, निन्दा करनेसे कुत्ता, अनुचितरूपसे गुरुधनका उपभोग करनेसे कृमि, गुरुका उत्कर्ष न सहन करनेसे कीट होता है । ऐसा न करना 'मानवता' है । लहसुन, गाजर, प्याज, छत्ता, लाल गोंद (लासा), गायका फेनुस (नयी ब्यायी गायका कठिन दुग्ध) छात्रको नहीं व्यवहार करना चाहिये । छात्रोंको (मनुस्मृति, अध्याय २-३ पढ़ने तथा उनके अनुसार आचरण करना चाहिये) ।

गार्हस्थ्य-मानवता

प्रातःकाल उठकर शौच जाय । तदनन्तर दन्तधावन-पूर्वक स्नान करे । प्रातः-स्नानसे आरोग्य, तेज, बल, बुद्धि-का विकास, शुद्धि तथा पुण्य होते हैं (दक्षस्मृति अ० २) । द्विजको प्रातः-सायं संध्या अवश्य करनी चाहिये, अन्यथा वह शूद्रके समान माना जाता है तथा मरनेके बाद वह तिर्यक्योनिमें जायगा । गृहस्थ देवतर्पण, ऋषितर्पण, पितृतर्पण करे । फिर यथाशक्ति हवन करे । किसी शिष्टके घर आ जानेपर यथाशक्ति उसका यथोचित सत्कार करे । अपने पोष्य-वर्गका पालन करता हुआ अतिथि-भिक्षुकोंका भी सत्कार करे ।

१—आयुके प्रथम भागमें अर्थात् पच्चीस वर्षतक गुरुओंसे अध्ययन करके छब्बीसवें वर्षमें गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर विधिपूर्वक विवाह करके द्वितीयाश्रमके नियमोंका पालन करे । (मनु० ४ । १)

२. ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र तथा वर्णबाह्य मनुष्य शास्त्र-प्रदर्शित अपने-अपने कर्मोंद्वारा धन-संग्रह करते हुए परिवारका पालन करें ।

३. दो प्रकारके कर्म शास्त्रमें कहे गये हैं । एक इहलौकिक जीविकाके लिये, दूसरे जन्मान्तर-शुद्धिके लिये ।

ब्राह्मणका जीविकाके लिये—दान लेना, पढ़ाना, यज्ञ-श्राद्ध-उपनयन-विवाहादि संस्कार कराना कर्म है । तथा जन्मान्तर-शुद्धिके लिये—दान देना, यज्ञादि पुण्य कार्य स्वयं करना, शास्त्रोंका अध्ययन तथा शास्त्रप्रदर्शित उपवासादि तप करना कर्म है ।

क्षत्रियका जीविकार्थकर्म—कर लेना, सैनिक बनकर शस्त्र-अस्त्र-बाण आदिका शास्त्रोक्त व्यवहार करना तथा धर्मार्थ—दान देना, यज्ञ करना, तप करना आदि कर्म है ।

वैश्यका जीविकार्थ—वाणिज्य, पशुरक्षा, क्रय-विक्रय तथा खेती करना; धर्मार्थ दान,यज्ञादि करना तथा वेदादि-का अध्ययन करना ।

शूद्रका जीविकार्थ कर्म—ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंकी सेवा करना; धर्मार्थ-बिना वृत्ति ब्राह्मण-सेवा या वेतन लेकर भी ब्राह्मण-सेवा । अथवा बिना मन्त्र पञ्चयज्ञादि करना । वर्णबाह्यकी शूद्र-समान वृत्ति है ।

यदि अपने कर्मोंसे जीविका न चल सके तो मनुष्य यथेच्छ कर्मोंसे जीविका चला सकता है; परंतु अपनेसे उच्च वर्णोंके कर्मोंसे जीविका चलाना निषिद्ध है ।

स्वाभाविक कर्म

ब्राह्मणको—शम—मनको बाह्य विषयोंसे रोककर वशमें करना । दम—चक्षुरादि इन्द्रियोंको वशमें रखना । तप—

(उपवासादिव्रत, गायत्री इत्यादिका जप) । शौच-शरीर, मन, इन्द्रियोंको पवित्र रखना । क्षमा-किसीके अपराध करनेपर भी उसको पीड़ित करनेकी इच्छा न करना । आर्जव-किसीके साथ कुटिलताका व्यवहार न करना । ज्ञान—श्रद्धापूर्वक शास्त्रके मर्मको जानना । विज्ञान—आत्मा-अनात्माके ज्ञानपूर्वक ब्रह्मज्ञान ।

क्षत्रियके स्वाभाविक धर्म—शूरता, तेज (प्रताप—जिसके भयसे असत्कार्यसे लोग डरें), धैर्य (बड़े-से-बड़ा संकट आनेपर भी न घबराना), दाक्ष्य (चतुरता व्यवहार-कुशलता), युद्धमें शत्रुको पीठ न दिखाना, दान करना, स्वामित्व करना—प्रभुता करना ।

वैश्यके स्वाभाविक धर्म—कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य ।

शूद्रका—सेवाकर्म ।

गृहस्थको चाहिये कि गृहपर आये हुए अतिथिका यथाशक्ति भोजनादिसे श्रद्धापूर्वक सत्कार करे । जिसके यहाँसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसका पुण्य-क्षय होता है । इसलिये अन्य शक्ति न होनेपर आसन, जल तथा मीठी बातोंसे ही सत्कार करे ।

द्विजाति किसी प्रकारका मदिरा-पान न करे । मदिरापानसे मनुष्य पतित हो जाता है । द्विज यदि जान-बूझकर मदिरा पिये तो उसका यही प्रायश्चित्त है कि वह जलती हुई मदिरा पीकर मर जाय (बृहस्पतिस्मृति) । द्विजातिको पितृ-मातृ-श्राद्ध अवश्य करना चाहिये । विस्तारके लिये मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थ देखिये ।

वानप्रस्थ (तृतीयाश्रम) की मानवता

जो गृहस्थ वृद्ध हो जाय और उसके पौत्रादि हो जायँ, तब सब कुछ पुत्रको देकर तथा पत्नीको भी पुत्रके पास छोड़कर अथवा साथ लेकर जंगल या तीर्थादिमें जाकर मुन्यन्न या फल इत्यादि खाकर रात-दिन जप-तप-समाधिके द्वारा काल व्यतीत करे । किसी भी सांसारिक विषयमें आसक्ति न रखे । यथाशक्ति हवन इत्यादि भी करे ।

संन्यासाश्रमकी मानवता

जो राग-द्वेषरहित होकर गृहसे या वनसे पृथक् होकर अर्थात् नियत स्थानरहित—गृहशून्य होकर यथेच्छ विचरता है और जिससे किसी अन्य जीवको कुछ भी भय नहीं होता, ऐसा संन्यासी ब्रह्मपदको प्राप्त करता है । संन्यासी एकाकी रहे, किसीको साथ न रखे । किसीके मीठे फल आदि देनेपर भी उनमें आसक्त न हो । मिट्टी या अलाबुका पात्र (कमण्डलु) हो तथा वृक्ष-मूल आदि जनरहित एकान्त स्थानमें रहे । मोटे पुराने वस्त्र पहने, सबमें समान दृष्टि रखे—मरने-जीने दोनोंकी इच्छा न रखे, केवल कर्माधीन रहकर कालमात्रकी प्रतीक्षा करे ।

दूसरोंकी कड़ी बातोंको सहन करे । किसीके प्रति वैरभाव न रखे । यदि कोई क्रोध करे, तो भी उसके प्रति स्वयं क्रोध न करे । यदि कोई निन्दित वचन बोले, तो भी स्वयं उसके प्रति अच्छी तथा मीठी वाणी ही बोले । किसीके साथ प्रपञ्चकी बातें न करे, किंतु सदा परमात्मविषयक बातें ही करे (मनु० ६ । ४०-४८) । सुवर्ण, लोहे, ताम्र, चाँदी इत्यादि धातुमय पात्रमें भिक्षा देनेवालेको धर्म नहीं होता और उन पात्रोंमें भिक्षा करनेवाला यति (संन्यासी) उसके पापोंको खाता है । अर्थात् उनमें भोजन करना पाप है (अत्रि० ११७) । भूकम्पादि भविष्य तथा चक्षु आदिके फरकनेका फल, ग्रहोंका फल न बताये । नीतिमार्गके उपदेश तथा शास्त्रादि-कथासे भिक्षा-प्राप्ति करनेका यत्न न करे (मनु० ६ । ५०) । लौकी, काठ, मिट्टी या बाँसका बर्तन संन्यासीको रखना चाहिये (मनु० ६ । ५४) ।

एक बार भिक्षा करे, अधिक भिक्षा न करे (मनु० ६ । ५५) । गृहस्थके घरके सब लोग खा चुके हों, तब यति भिक्षाके लिये जाय; न मिलनेपर दुखी न हो, मिलनेपर प्रसन्न न हो । अच्छे दण्ड-कमण्डलु देखनेपर यह विचार न करे कि इनको ले लूँ । कभी लोभ न करे (मनु० ६ । ५७) । किसी भी स्त्रीके साथ कुछ भी कभी सम्पर्क न करे ।

संन्यासीके चिह्न—दण्ड-कमण्डलु, काषाय वस्त्र आदिके धारणसे कोई संन्यासी नहीं हो जाता; किंतु उनके साथ यतिका उक्त धर्म भी चाहिये (मनु० ६ । ६६) ।

राजकीय मानवता

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर—इन आठ लोकपालोंके पास सृष्टिकी जो सामग्री है, उस सामग्रीके सारभूत अंशसे राजाकी सृष्टि होती है । अतः सभी प्राणियोंसे अधिक (शासक-) शक्ति राजामें रहती है । (मनु० ७ । ४)

राजा (शासक) अल्पवयस्क भी हो, तथापि उसका

अनादर नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह मनुष्यरूप धारण करके आया कोई देवता ही है। अतः देवताके अपमानसे जो पाप होता है, वही पाप उसके अनादरसे होगा (मनु० ७ । ८)। दिक्पालोंके तेजसे निर्मित होनेके कारण शास्त्रके अनुकूल या शास्त्रके प्रतिकूल जो भी नियम वह बना दे, उसका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। (मनु० ७ । ९)

ब्रह्माने राज्य-शासनके लिये राजाको तेजोमय दण्ड नामक पुत्र दिया है। उसी दण्ड-भयसे सब प्राणी यथोचित कार्यमें संलग्न रहते हैं। जैसे आस्तिक पुरुष यमराजकी यातना—नरकादिके भयसे शास्त्रनिषिद्ध कर्म नहीं करता, उसी प्रकार राजदण्डके भयसे प्रजाजन एक दूसरेको पीड़ित नहीं करते (मनु० ७ । २०)। परंतु उस राजदण्डका प्रयोग लोभ-मोह-मात्सर्यादि दोषोंसे रहित होकर करना चाहिये। राजा यदि न्यायपूर्वक कुछ करता है तो प्रजा प्रसन्न होती है; किंतु वही यदि बिना विचारे दण्ड देता है तो उससे राज्यका नाश होता है (मनु० ७ । १०)। दण्डके ही भयसे प्राणिमात्र सन्मार्गपर चलते हैं। स्वभावतः असत् कार्य बिल्कुल न करनेवाले मनुष्य बहुत कम मिलेंगे (मनु० ७ । २२)। परंतु किसी तरह यदि दण्डमें शिथिलता आ जाय या अदण्डनीयको दण्ड होने लग जाय तथा दण्डनीयको दण्ड न हो तो चोरी, डाका, अगम्यागमन आदिसे सत्-मर्यादा तथा शास्त्रीय धार्मिक नियम नष्ट हो जायँ और सम्पूर्ण प्रजा क्षुब्ध हो जाय; अतः दण्डमें शैथिल्य और अनौचित्य राजा न करे (मनु०७।२४)। परंतु उस दण्ड-संविधानका प्रणेता राजा (शासक) सत्यवादी, उचितानुचितका विचार करनेवाला, लोकमर्यादा तथा शास्त्र-विहित तथा निषिद्ध धर्म-अर्थका विद्वान् होना चाहिये (मनु० ७ । २७)। राजा यदि किसी मर्यादा या धर्मशास्त्रकी परवा न करके मनमाना दण्डादि-विधान करता है तो उसी दण्डादि-विधानसे राजा स्वयं नष्ट हो जायगा और यदि उचित रूपसे दण्ड-विधान करेगा तो वह धर्म, अर्थ, काम—तीनोंसे परिपूर्ण होगा। (मनु० ७ । २७)

जो राजा अपने (भारतीय) धर्मशास्त्रसे अनभिज्ञ है, वह उचित रूपसे दण्डका प्रयोग नहीं कर सकता। अनुचित-रूपसे प्रयुक्त दण्ड राजधर्मानभिज्ञ राजाको ही नष्ट कर देगा (मनु० ७ । २८)। जो शासक अर्थलोलुप नहीं है, सत्यप्रतिज्ञ है, धर्म-शास्त्रानुसार कार्य करता है, संसारमें उसका यश जलमें तैलबिन्दुके समान फैल जाता है (मनु० ७ । ३३)।

शास्त्रके विरुद्ध मनमाना शासन करनेवाला तथा अजितेन्द्रिय शासककी अपकीर्ति जलमें घृतबिन्दुके समान संसारमें फैल जाती है। शास्त्रानुसारी, अपने धर्म-कर्ममें लगे हुए मनुष्यमात्रकी रक्षाके लिये शासककी आवश्यकता है (मनु० ७ । ३४)। मनमाना धर्म चलाकर उन-उन धर्मोंसे च्युत करनेके लिये शासककी आवश्यकता नहीं है (मनु० ७ । ३५)। प्रत्येक शासकके लिये मनुस्मृतिके सप्तमाध्यायका अध्ययन आवश्यक कर देना चाहिये। केवल किसी विषयका विद्वान् होनेसे शासन-शक्ति नहीं आ सकती।

निम्नलिखित मनु-वचनोंपर ध्यान रखते हुए संसारमें चलना कल्याणप्रद है—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥
तस्माद् धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्॥
(मनु० ४ । २३९—२४३)

'परलोकमें सहायताके लिये माता, पिता, पुत्र, पत्नी और जातिवाले कोई खड़े नहीं रहते; एक धर्म ही उपस्थित रहता है। प्राणी अकेला जन्मता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही पाप या पुण्यका भोग करता है। प्राणहीन शरीरको काष्ठ और मिट्टीके ढेलेके समान भूमिपर डालकर बन्धु-बान्धव सब मुख फिराकर लौट आते हैं, एक धर्म ही उसके साथ जाता है। इसलिये परलोकमें सहायताके लिये शनैः-शनैः धर्मका संचय करे; क्योंकि धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकसे तर जाता है। धर्मको प्रधान माननेवाले, तपसे निष्पाप हुए या ब्रह्मरूप तेजस्वी प्राणीको धर्म परलोकमें ले जाता है।

मानवोंके जनन-मरणसम्बन्धी आशौच

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

प्रत्येक परिवारमें जनन और मरण होता ही है। जनन और मरणमें धर्मशास्त्रानुकूल आशौच माननेकी प्रथा हिंदू-जाति (वर्णचतुष्टय) में विशेषरूपसे प्रचलित है। जनन और मरणके आशौचमें धर्मशास्त्रके निर्माणकर्ता आचार्योंके विभिन्न मत हैं। धर्मशास्त्रके सुप्रसिद्ध निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें धर्मशास्त्रका विचार करते हुए स्थल-स्थलपर ग्रन्थ-कर्ता आचार्योंने 'इति दाक्षिणात्याः', 'इति गौडाः' इस प्रकार उल्लेख करते हुए कहा है कि इस विषयमें पञ्च-द्राविडोंका यह मत है और पञ्चगौडोंका यह मत है। 'दाक्षिणात्याः' और 'गौडाः' इस मतद्वयको पढ़कर विद्वज्जन भी भ्रममें पड़ जाते हैं कि इनमें किसका मत ठीक है और किसका मत ठीक नहीं है। वस्तुतः धर्मशास्त्र-विषय अत्यन्त गहन और जटिल है। इसमें पदे-पदे मत-मतान्तरोंकी भरमार है। ऐसी स्थितिमें हमने हिंदू-मानवोंके कल्याणार्थ निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु और शुद्धिविवेक आदि धर्मशास्त्रके प्रामाणिक और प्रचलित प्रसिद्ध ग्रन्थोंके अनुसार शास्त्रीय और लौकिक उभयविध प्रथाओंको दृष्टिमें रखकर उन आवश्यक जनन-मरणसम्बन्धी आशौचोंका संकलन किया है, जिनका हिंदूजाति (वर्ण-चतुष्टय) में निरन्तर काम पड़ता रहता है।

जननाशौच और मरणाशौचमें कहीं-कहीं देशप्रथा, जाति-प्रथा और कुलप्रथाकी भी मान्यता पायी जाती है। शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि विशेष अवसरपर शास्त्रीय मतसे लौकिक मत विशेष बलवान् हो जाता है। अतः देश, काल और कुलकी परिस्थितिके अनुसार जननाशौच और मरणाशौचमें लौकिक प्रथाका भी अनुसरण किया जा सकता है; किंतु यथासम्भव शास्त्रीय मार्गका ही अनुसरण किया जाय तो सभीके लिये सर्वप्रकारसे सर्वोत्तम होगा।

हमने अपने स्वर्गीय पितृचरण भारतविख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डित श्रीविद्याधरजी शास्त्री गौड महोदयसे—जो अपने समयमें काशीमें प्रमुख धर्मशास्त्री माने जाते थे और जिनकी धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओंका विद्वत्-समाजमें अत्यन्त आदर था—उनके जीवनकालमें समय-समयपर कुछ धर्मशास्त्रका भी श्रवण-मनन किया था; उन्हीं पूज्य श्रीपितृचरणके द्वारा प्राप्त विद्याबलके आधारपर आज हिंदू-मानवों (वर्णचतुष्टयों) के परिवारमें होनेवाले आवश्यक जनन-मरणसम्बन्धी आशौचोंका उल्लेख किया जा रहा है। आशा है, इससे आस्तिक हिंदूजातिको अवश्य लाभ होगा।

इस लेखमें हमने बालकोंके जनन-मरणसम्बन्धी आशौच नहीं दिये हैं। अतः बालकोंके जनन-मरणसम्बन्धी आशौचोंके परिज्ञानार्थ कल्याणके विशेषाङ्क 'बालकाङ्क' में प्रकाशित हमारे 'बालकोंके जनन-मरणसम्बन्धी आशौच' लेखको पढ़ना चाहिये।

१—जिस पुरुषको पुत्र या कन्या उत्पन्न हो, वह स्नान करके अन्य लोगोंको स्पर्श कर सकता है। जननाशौचमें मानव-स्पर्श करनेमें कोई दोष नहीं है।

२—जिस स्त्रीको पुत्र उत्पन्न हो, उसे २० दिनका आशौच लगता है अर्थात् वह २० दिनतक देवकार्य और पितृकार्यके योग्य नहीं रहती।

३—जिस स्त्रीको कन्या उत्पन्न हो, उसे ३० दिनका आशौच लगता है अर्थात् वह ३० दिनतक देवकार्य और पितृकार्यके योग्य नहीं रहती।

४—जिस स्त्रीके संतति उत्पन्न हो, आशौचकालमें केवल उसीको स्पर्श नहीं करना चाहिये; शेष सभी सपिण्डोंको स्पर्श करनेमें कोई दोष नहीं है।

५—जिस दिन पुत्र अथवा कन्या उत्पन्न हो, उस दिन नालच्छेदनके पूर्व और छठे दिन एवं दसवें दिन जो दान-पूजा आदि पुण्य-कर्म शास्त्रोंमें लिखे हैं, उनके करनेमें पिता आदिको आशौचजन्य दोष नहीं होता और उस समय पिता आदिके द्वारा दी गयी दानकी वस्तुओंको लेनेमें ब्राह्मणोंको दोष नहीं होता। जननाशौचमें आशौचीके गृहमें भोजन करनेका निषेध अवश्य है।

६—विवाहिता पुत्रीका पितृगृहमें प्रसव हो, तो माता-पिता और सपत्न-माता (सौतेली माता) को त्रिरात्र और सोदर भाई तथा पितृव्य (चाचा) आदि सपिण्डों* को एक रात्रिका आशौच होता है। विज्ञानेश्वरका मत है कि पितृ-गृहमें विवाहिता कन्याका प्रसव हो, तो माता-पिता आदि सपिण्डोंको एकरात्रिका आशौच होता है।

* सात पीढ़ीतक 'सपिण्ड' कहे जाते हैं।

७—विवाहिता पुत्रीका पितृगृहमें मरण हो तो माता-पिता एवं सपत्न माताको त्रिरात्र और सोदर भाई तथा पितृव्यादि सपिण्डोंको एकाह आशौच होता है। कुछ आचार्योंका मत है कि सोदर भाईको त्रिरात्र आशौच होता है। विज्ञानेश्वरका मत है कि पितृगृहमें विवाहिता कन्याकी मृत्यु हो तो माता-पिता और सपिण्डोंको भी त्रिरात्र आशौच होता है।

८—विवाहिता पुत्रीका ग्रामान्तरमें मरण होनेपर भी भाई आदिको त्रिरात्र आशौच होता है, यह विज्ञानेश्वरका मत है। अन्य आचार्योंका मत है कि ग्रामान्तरमें विवाहिता कन्याका मरण होनेपर भाई आदिको एकरात्र आशौच होता है।

९—विदेशमें विवाहिता पुत्रीके मरणमें भाई आदिको स्नानमात्रका आशौच होता है।

१०—विवाहिता पुत्रीका पतिगृहमें प्रसव अथवा गर्भपात हो तो माता-पिता तथा पितृव्यादि सपिण्डोंको आशौच नहीं होता।

११—विवाहिता पुत्रीका पितृगृहमें छः मासतकका गर्भपात हो तो माता-पिताको एकरात्रिका और भ्राता आदिको स्नानमात्रका आशौच होता है। और सातवें मासमें गर्भपातमें माता-पिताको त्रिरात्र और भ्राता आदिको एकाह आशौच होता है।

१२—विवाहिता पुत्रीकी पतिगृहमें मृत्यु हो तो माता-पिताको त्रिरात्र आशौच होता है, यह कमलाकरका मत है। एक ग्रामवासी माता-पिता और सपत्न-माताको त्रिरात्र आशौच होता है। भिन्न ग्रामवासी माता-पिताको पक्षिणी* आशौच होता है, यह शुद्धिविवेककार आदिका मत है।

१३—विवाहिता पुत्रीकी पतिगृहमें मृत्यु होनेपर उसके भाईको पक्षिणी आशौच लगता है।

१४—भाईके घरमें बहनकी और बहनके घरमें भाईकी मृत्यु हो तो परस्परमें त्रिरात्र आशौच होता है। यदि गृहान्तरमें मृत्यु हो तो पक्षिणी आशौच होता है। यदि ग्रामान्तरमें मृत्यु हो तो एक दिनका आशौच होता है। यही आशौच सपत्न भ्राता और भगिनीमें भी कहा गया है।

१५—भगिनी (बहन) के घरमें भगिनीकी मृत्यु हो तो परस्परमें त्रिरात्र आशौच होता है। गृहान्तरमें मृत्यु हो तो पक्षिणी और ग्रामान्तरमें मृत्यु हो तो एकदिनका आशौच होता है। यही आशौच सपत्न-भगिनीके मरणपर भी कहा गया है।

१६—अनुपनीत बालक और अनूढ़ कन्या (अविवाहिता कन्या) को केवल माता-पिताके मरणमें ही दशाह आशौच होता है और पितृव्य आदिके मरणमें इन दोनोंको कुछ भी आशौच नहीं होता, यह धर्मसिन्धुकारका मत है। पञ्चगौड़ोंका मत है कि पितृव्यादिके मरणमें भी दशाहाशौच होता है।

१७—विवाहिता पुत्रीको अपने माता-पिताके मरणमें दस रात्रिके भीतर त्रिरात्र और दशरात्रिके अनन्तर 'पक्षिणी' आशौच होता है।

१८—विवाहिता पुत्रीको पितृव्य-पितामहादिके मरणमें स्नानमात्र आशौच होता है, यह एक आचार्यका मत है। दूसरे आचार्यका मत है कि पितृव्य-पितामहादिके मरणमें विवाहिता पुत्रीको एकरात्रिका आशौच होता है।

१९—माता और पिताका आशौच संततिके लिये किसी भी आशौचमें गतार्थ नहीं होता अर्थात् जिस दिन माता-पिताका आशौच उपस्थित हो उसी दिनसे सम्पूर्ण आशौच मानना उचित है।

२०—मातुल (मामा) के मरणमें और सापत्न-मातुलके मरणमें भगिनीपुत्र (भागिनेय) और भगिनी-पुत्री (भागिनेयी) को पक्षिणी आशौच होता है। दशरात्रिके बाद इनका आशौच नहीं होता है।

२१—उपकारक मातुलके मरणमें और स्वगृहमें मातुलके मरणमें तथा तादृश सापत्न-मातुलके मरणमें भी भानजे और भानजीको त्रिरात्र आशौच होता है। विदेशमें मातुलके मरणमें स्नानमात्र आशौच होता है।

२२—मातुलानी (मामी) के मरणमें भागिनेय और भागिनेयीको पक्षिणी आशौच होता है। सापत्न-मातुलानीके मरणमें कुछ भी आशौच नहीं होता।

२३—अनुपनीत मातुलके मरणमें भागिनेयको एकरात्र आशौच होता है।

२४—उपनीत भागिनेयके मरणमें और उपनीत सापत्न भागिनेयके मरणमें मातुलको और मातुलकी द्वितीया (दूसरी) भगिनीको त्रिरात्र आशौच होता है।

* एकरात्रि दो दिन अथवा दो दिन एकरात्रि—इस प्रकार डेढ़ दिनको पक्षिणी कहते हैं।

२५—अनुपनीत भागिनेय और अनुपनीत सापत्न भागिनेय-के मरणमें मातुल तथा मातुलकी भगिनीको पक्षिणी आशौच होता है

२६—भागिनेयीके मरणमें मातुल और मातुलानीको स्नानमात्रका आशौच होता है।

२७—मातामह (नाना) के मरणमें दौहित्र और दौहित्रीको त्रिरात्र आशौच होता है। ग्रामान्तरमें नानाकी मृत्यु हो तो पक्षिणी आशौच होता है।

२८—मातामही (नानी) के मरणमें दौहित्र और दौहित्रीको पक्षिणी आशौच होता है। निर्णयसिन्धुकारके मतसे त्रिरात्र आशौच होता है।

२९—उपनीत दौहित्रके मरणमें मातामह और मातामही-को त्रिरात्र आशौच होता है और अनुपनीत दौहित्रके मरणमें पक्षिणी आशौच होता है।

३०—दौहित्रीके मरणमें मातामह और मातामहीको कुछ भी आशौच नहीं होता।

३१—सास और श्वशुरके मरणमें समीपवर्ती जामाता (दामाद) को त्रिरात्र आशौच होता है और असमीपवर्तीको (असंनिधिमें) पक्षिणी आशौच होता है। उपकारक सास और श्वशुरके मरणमें असंनिधिमें भी जामाताको त्रिरात्र आशौच होता है। ग्रामान्तरमें सास और श्वशुरके मरणमें एकरात्र आशौच होता है।

३२—भार्या (पत्नी) के मरणसे जिन सास और श्वशुर-का सम्बन्ध निवृत्त हो गया हो, उनके मरणमें भी जामाताको पक्षिणी आशौच होता है। सम्बन्ध निवृत्त होनेपर भी यदि सास और श्वशुर उपकारक हों तो जामाताको त्रिरात्र आशौच होता है।

३३—जामाताके मरनेपर सास और श्वशुरको संनिधिमें त्रिरात्र और असंनिधिमें एकरात्र अथवा स्नानमात्र आशौच होता है।

३४—माताकी बहन (मौसी) के मरणमें बहनके पुत्र और कन्याको पक्षिणी और सापत्न माताकी भगिनीके मरणमें भी 'पक्षिणी' आशौच होता है। संनिधिमें यदि माताकी बहनकी मृत्यु हो तो त्रिरात्र आशौच होता है।

३५—पिताकी भगिनी (बूआ) के मरणमें भाईके पुत्र और पुत्रीको 'पक्षिणी' आशौच होता है।

३६—पिताकी सापत्न-भगिनीके मरणमें स्नानमात्रका आशौच होता है।

३७—भाईके पुत्रके मरणमें बूआ (भूआ) को स्नान-मात्रका आशौच होता है। अपने घरमें पितृष्वसा और मातृष्वसाकी मृत्युमें तीन दिनका आशौच होता है।

३८—अपने पिताकी बहनका पुत्र, मातामहकी बहन-का पुत्र, अपनी माताके बहनका पुत्र, पितामहीकी बहनका पुत्र, मातामहीकी बहनका पुत्र, अपने मातुलका पुत्र, पिताके मातुलका पुत्र और माताके मातुलके पुत्रके मरणमें 'पक्षिणी' आशौच होता है, यदि ये उपनीत हों तो। यदि वे अनुपनीत हों तो एकाह आशौच होता है और यदि इनकी अपने घरमें मृत्यु हुई हो तो त्रिरात्र आशौच होता है तथा इनकी विवाहिता पुत्रीके मरणमें एकाह आशौच और अविवाहिता कन्याके मरणमें स्नानमात्रका आशौच होता है, यह निर्णयसिन्धुकार कमलाकरका मत है। नागोजी भट्टके मतमें अविवाहिता कन्याका एकाह आशौच होता है।

३९—उपनीत श्यालक (साले) के मरणमें बहनोई (जीजा) को एकरात्र और अनुपनीत श्यालक (साले) के मरणमें तथा दूरवर्ती श्यालक (साले) के मरणमें स्नानमात्रका आशौच होता है।

४०—सालेकी पत्नी (सलहज) के मरणमें एकरात्र आशौच होता है, यह किसी आचार्यका मत है।

४१—सालेके पुत्रके मरणमें बहनोईको केवल स्नान-मात्र आशौच होता है।

४२—पत्नीके मरणसे यदि श्यालकका सम्बन्ध निवृत्त हो गया हो, तो बहनोईको स्नानमात्रका आशौच होता है।

४३—सालीके मरणमें एकाह आशौच होता है।

४४—उपनीत दत्तक पुत्रके जनयिता (जन्मदाता) और पालक पिताको त्रिरात्र और सपिण्डको एकाह आशौच होता है। मयूखकारके मतमें पालक पिताके सपिण्डको दशाहाशौच होता है। यही मत पञ्चगौड़ोंमें भी प्रचलित है। यदि सगोत्र सपिण्ड दत्तक हो तो सभीके मतसे दशाहाशौच ही होता है।

४५—दत्तकके पुत्र और पौत्र आदिके जनन और

मरणमें जनयिता तथा उसके सपिण्डको एकाह आशौच होता है और पालकके सपिण्डको भी एकाह आशौच होता है, यह निर्णयसिन्धुकारका मत है।

४६–अनुपनीत दत्तकके मरणमें दोनों (जन्मदाता और पालक) पिताओंको त्रिरात्र आशौच होता है और दोनों पक्षके सपिण्डको एकाह आशौच होता है।

४७–जनयिता और पालक पिताकी मृत्युमें दत्तक पुत्रको त्रिरात्र आशौच होता है। पालक पिताकी मृत्युमें दत्तक पुत्रको दस रात्र आशौच होता है, यह मयूखकारका मत है।

४८–जन्मदाता और पालक पिता—इन दोनों पक्षोंके सपिण्डके मरणमें दत्तकको एकाह आशौच होता है।

४९–जन्मदाता और पालयिता पिताका यदि दत्तक पुत्र और्ध्वदैहिक क्रिया करे तो उसको सम्पूर्ण आशौच होता है।

५०–जन्मदाता और पालयिता पिता—इन दोनों पक्षोंके सपिण्डके मरणमें दत्तकके पुत्र-पौत्रादिको एकाह आशौच होता है।

५१–संन्यासी पिताके मरणमें संन्यासीके पुत्रादिको आशौच नहीं होता। संन्यासी पिताके मरनेपर पुत्रादिको केवल वपन (बाल कटाना) और स्नानमात्र ही उचित है।

५२–संन्यासी पिताके मरनेपर उसका दाह-आशौच एवं उदक-दानादि नहीं होते। ग्यारहवें दिन पार्वण और बारहवें दिन नारायणबलि करना उचित है। महालयमें द्वादशी अथवा अमावास्याको संन्यासीका पार्वण और क्षयाह तिथिको एकोद्दिष्ट अथवा पार्वण करना उचित है।

५३–यदि किसीका पुत्र संन्यासी हो तो उसको भी अपने माता-पिताके मरणमें सचैल स्नान करना उचित है। पिता-माताके अतिरिक्त अन्य किसीके मरणमें संन्यासीको स्नान करना भी विहित नहीं है।

५४–संन्यासी पिताको पुत्रादिके मरणमें स्नान करना भी उचित नहीं है।

५५–संन्यासी गुरुकी मृत्युमें संन्यासीके शिष्योंको स्नानमात्र उचित है।

५६–नैष्ठिक ब्रह्मचारी और वानप्रस्थीको आशौच नहीं होता।

५७–नैष्ठिक ब्रह्मचारी, यति (संन्यासी) और पतितको किसीकी भी मृत्युमें आशौचादि नहीं होता। इसी प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी, यति आदिकी मृत्युमें भी किसीको कुछ आशौच और श्राद्धादि करना नहीं लिखा है।

५८–वानप्रस्थ, यति, षण्ढ (नपुंसक) और युद्धमें मरे हुएका सपिण्डको स्नानमात्र आशौच होता है।

५९–ब्रह्मचर्यस्थित (गुरुकुल-स्थित) ब्रह्मचारीको पिता आदिके मरणमें भी आशौच नहीं होता। समावर्तनोत्तर ब्रह्मचारीको पूर्वमृत माता-पिताका त्रिरात्र आशौच होता है।

६०–ब्रह्मचारी अपने पिताका यदि और्ध्वदैहिक करे तो उसको सम्पूर्ण आशौच होता है। यदि वह और्ध्वदैहिक न करे तो उसे सम्पूर्णाशौच नहीं होता।

६१–ब्रह्मचारीको माता, पिता, आचार्य, उपाध्याय और मातामहके अन्त्यकर्म करनेमें कोई दोष नहीं होता; किंतु इनका दशाह आशौच होता है।

६२–ब्रह्मचारीको पिता आदिके आशौचमें आशौचीका अन्न-भक्षण करना उचित नहीं है। अन्नके भक्षण करनेसे पुनः उपनयन करना प्रायश्चित्त लिखा है।

६३–ब्रह्मचारीको सपिण्डके मरणमें आशौच नहीं होता।

६४–ब्रह्मचारी यदि अन्य किसीका निर्हरण (शवको ले जाना) दाहादि और्ध्वदैहिक कर्म करे तो उसको पुनः उपनयन और कृच्छ्र-प्रायश्चित्त (बारह दिनका व्रत) करना लिखा है। अतः ब्रह्मचारीको किसी अन्यके भी निर्हरणादिमें अधिकार नहीं है।

६५–आचार्य*के मरणमें आचार्यका और्ध्वदैहिक कर्म करनेवाले शिष्यको दस रात्र आशौच होता है और और्ध्वदैहिक न करनेवाले शिष्योंको त्रिरात्र आशौच होता है।

६६–आचार्यकी पत्नी और आचार्यके पुत्रके मरणमें गुरुकुलस्थित शिष्यको त्रिरात्र और स्वगृहस्थित शिष्यको एकरात्र आशौच होता है।

६७–आचार्यके घरमें उपनयनसहित वेदाध्यायी शिष्यकी

* उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥
(मनुस्मृति २। १४०)

मृत्यु हो तो आचार्यको त्रिरात्र आशौच होता है। उपनयनके विना केवल वेदाध्यायी शिष्यके मरणमें 'पक्षिणी' और इतर शास्त्राध्यायी शिष्यके मरणमें एकरात्र आशौच उपाध्याय*को होता है।

६८–शिष्य द्रव्य देकर यदि दूसरेसे अपने गुरु†का दाह कराये तो भी शिष्यको दस दिनका आशौच होता है।

६९–शिष्यके घरमें यदि गुरुकी मृत्यु हो तो गुरुका दाह करनेपर भी शिष्यको त्रिरात्र आशौच होता है।

७०–किसीका सहाध्यायी (सहपाठी) मर जाय तो उसको एकरात्र आशौच होता है।

७१–अपने घरमें मित्र मर जाय तो 'पक्षिणी' आशौच होता है और यदि मित्र अन्यत्र मरे तो एकरात्र आशौच होता है।

७२–आहिताग्नि (अग्निहोत्री) का दाह वैदिक मन्त्रों-द्वारा होता है। अतः आहिताग्निकी मृत्यु यदि विदेशमें हो तो पुत्रादिको उनकी मृत्युके ज्ञात होनेपर भी दाहके पूर्व आशौच नहीं होता और संध्यादि कर्मका भी लोप नहीं होता।

७३–आहिताग्निकी मृत्युमें अस्थिदाहमें अथवा प्रतिकृति-दाहमें सपिण्डोंको भी दशाहाशौच ही होता है; क्योंकि आहिताग्निका आशौच दाहके दिनसे ही होता है।

७४–आहिताग्निका आशौच दाह-दिनसे होता है और अनाहिताग्निका आशौच मरण-दिनसे होता है।

७५–दशाहानन्तर अनाहिताग्निके अस्थिदाहमें और पर्णशरदाह (पुत्तल) में पत्नी और पुत्रने यदि मृत्युके समय आशौच न माना हो तो उनको दशाह आशौच होता है। यदि प्रथम ही आशौच मान लिया हो तो पुनः त्रिरात्र आशौच संस्कारनिमित्त होता है। सपिण्डको पुनः आशौच नहीं होता, केवल स्नानमात्रका होता है।

७६–पर्णशरदाह अथवा अस्थिदाह यदि दशाहके अभ्यन्तर हुआ हो तो दशाहाशौचसे ही शुद्धि होती है, त्रिरात्रादि आशौच नहीं होता।

७७–पति-पत्नी और सपत्नियोंकी मृत्युके समय यदि आशौच न माना हो तो पति-पत्नी और सपत्नियोंको भी पुत्तलदाहके अनन्तर दशाहाशौच होता है। यदि आशौच माना हो तो संस्कारनिमित्त त्रिरात्र आशौच होता है।

७८–शवका स्पर्श यदि दिनमें किया हो तो नक्षत्रके दर्शनसे शुद्धि होती है और यदि रात्रिमें शवस्पर्श किया हो तो सूर्यके दर्शनसे शुद्धि होती है।

७९–स्नेहसे आशौचि-गृहमें रहनेसे त्र्यहाशौच होता है और उसका अन्न खानेसे आशौचीके सदृश आशौच होता है।

८०–स्नेहसे निर्हरण (शवको श्मशान ले जाने) में एकाह आशौच होता है।

८१–स्नेह-लोभादिसे सजातीय और विजातीय निर्हार (शवको श्मशान ले जाने) में तज्जातीय आशौच होता है।

८२–असपिण्ड प्रेतके अलंकरणमें अज्ञानतः उपवास और ज्ञानतः पादकृच्छ्र प्रायश्चित्त (तीन दिनका व्रत) लिखा है।

८३–संसर्गाशौचमें कर्मानधिकार नहीं होता और उसके घरवालोंको तथा तत्स्पृष्ट द्रव्यादिको भी आशौच-सम्बन्ध नहीं होता।

८४–धर्मार्थ अनाथ सवर्णके निर्हार (श्मशान ले जाने) में, क्रिया करनेमें और अग्निदानमें अनन्त फल होता है। धर्मार्थ अनाथादिकी निर्हारादि क्रिया करनेवालेकी केवल स्नानसे शुद्धि होती है। अतः धर्मार्थ पञ्चाग्निपक्ष प्रचलित है।

८५–धर्मार्थ अनाथ मातुलादिके निर्हारमें त्रिरात्र आशौच होता है।

८६–सपिण्ड प्रेतके अनुगमनमें कदापि दोष नहीं होता। असपिण्डमें भी अनाथकी क्रियामें कुछ दोष नहीं है।

८७–अनाथबुद्धिसे समान और उत्कृष्ट वर्णके शवानु-गमनमें कोई दोष नहीं होता।

८८–ब्राह्मणको क्षत्रियके शवानुगमनमें एकाह, वैश्यके शवानुगमनमें पक्षिणी और शूद्रके शवानुगमनमें त्र्यहाशौच होता है। क्षत्रियको वैश्यके शवानुगमनमें पक्षिणी और वैश्यको शूद्रके शवानुगमनमें त्र्यहाशौच होता है।

---

* एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥
(मनुस्मृति २। १४१)

† निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥
(मनुस्मृति २। १४२)

८९—जीवच्छ्राद्धकर्ता* को किसीका आशौच नहीं होता।

९०—जीवच्छ्राद्धकर्ताकी मृत्यु होनेपर बान्धवोंको आशौच नहीं होता। किसी आचार्यका मत है कि जीवच्छ्राद्धकर्ताकी मृत्यु होनेपर बान्धवोंको आशौच होता है।

९१—जीवच्छ्राद्धकर्ताके यदि पुत्रादि हों तो वे उसका और्ध्वदेहिक कर्म कर सकते हैं; यदि वे न करना चाहें तो भी कोई दोष नहीं है।

९२—समान और उत्तम वर्णवालेके यहाँ अस्थिसंचयनसे पूर्व रुदन करे तो वस्त्रसहित स्नान करनेसे शुद्धि होती है और अस्थिसंचयनके बाद रुदन करनेसे आचमनमात्रसे शुद्धि होती है।

९३—अपनेसे हीनवर्णके यहाँ अस्थिसंचयनसे प्रथम रुदन करे तो सचैल स्नान करनेसे शुद्धि होती है और अस्थिसंचयनके बाद रुदन करनेसे स्नानमात्रसे शुद्धि होती है।

९४—ब्राह्मण यदि क्षत्रिय और वैश्यके यहाँ अस्थिसंचयनके दिन रुदन करे तो उसकी दूसरे दिन शुद्धि होती है और अस्थिसंचयनके बाद रुदन करनेसे स्नानमात्रसे ही शुद्धि होती है। इसी प्रकार क्षत्रियको वैश्यके यहाँ रुदन करनेमें समझना चाहिये। शूद्रके यहाँ ब्राह्मण अस्थिसंचयनके पूर्व रुदन करे तो तीन दिन; तथा क्षत्रिय और वैश्यके यहाँ रुदन करे तो दो दिनका आशौच होता है। और अस्थिसंचयनके बाद रुदन करे तो एक दिनका आशौच होता है।

९५—शूद्र यदि शूद्रके यहाँ रुदन करे और स्पर्श न करे तो एक दिनका (अस्थिसंचयनसे उपरान्त सूर्यास्ततकका) आशौच होता है।

९६—शुद्धितत्त्वमें लिखा है कि अस्थिसंचयनके उपरान्त एक मासपर्यन्त रुदन करनेमें द्विजाति एक दिनमें सचैल स्नानसे शुद्ध हो जाता है। ब्राह्मणके सजातीयके यहाँ रुदन करनेसे एक दिनमें और क्षत्रिय तथा वैश्यके यहाँ रुदन करनेसे वह तीन दिनमें शुद्ध हो जाता है।

९७—प्रत्येक वर्णको अपने सपिण्डके यहाँ रुदन करनेसे और उनको श्मशान पहुँचानेमें कोई दोष नहीं है।

९८—देशका राजा अथवा गाँवका ठाकुर (मालिक) यदि दिनमें मरे तो दिनभरका और रात्रिमें मरे तो रात्रिभरका आशौच देशवासी तथा ग्रामवासी मनुष्योंको होता है।

९९—ग्रामके मध्यमें जबतक मृतक पड़ा रहता है, तबतक वह ग्राम अशुद्ध रहता है और जब ग्रामसे मृतक बाहर कर दिया जाता है, तभी वह ग्राम शुद्ध होता है। यही नियम घरके पशु आदिके मृतक होनेमें भी है।

१००—ग्राममें शव (मृतक) हो तो मनुष्य १०० धनुषके मध्यतक भोजन न करे। यदि भोजन करे तो वह दीपक और जलका घड़ा रखकर करे और यदि वह घर अपने कुलका न हो तो रात्रिकालमें भी इसी प्रकारका नियम समझना उचित है।

भारतीय मानवकी भद्र भावना †

(रचयिता—श्रीजनवदनजी द्विवेदी 'अरविन्द', साहित्यालंकार)

सभी सुखी हों, सभी निरोगी,
सभी भद्रताके हों युक्त।
पर-हित-रत हों सभी सर्वदा,
दुःख-कष्टसे सब हों मुक्त॥

भद्र भावनामय सब जन हों,
सब उरके दुर्गुण हों चूर्ण।
परम प्रसन्न रहें सब प्राणी,
पावन प्रण सबके हों पूर्ण॥

सब दुर्जन सज्जन बन जायें,
सज्जन पायें शान्ति महान।
सत्य-अहिंसा-क्षमा-दयाके
सुमन खिलें सब उर-उद्यान॥

सब जीवोंको क्षमा करें हम,
वे भी क्षमा करें सविशेष।
जन-जनमें हो मित्र-भावना,
लेश नहीं हो मनमें द्वेष॥

नहीं राज्यकी हमें कामना,
नहीं स्वर्गकी हमको चाह।
वर दो भगवन्! दूर करें हम
चाहते आर्तजनोंकी आह॥

पालक खुश हों, प्रजा सुखी हों,
सत्य-न्यायका हो व्यवहार।
मङ्गलमय हों सभी दिशाएँ,
हो यह सुखी सकल संसार॥

* जिस पुरुषने अपने जीवनकालमें ही अपना और्ध्वदेहिककर्म कर लिया हो, उसे 'जीवच्छ्राद्धकर्ता' कहते हैं।

† संस्कृत-साहित्यके विश्वकल्याणकी भावनासे भावित कुछ अमर श्लोकोंके भावानुवाद।

वसिष्ठकी महान् मानवता

(लेखक—श्रीमुकुन्दराय वि० पाराशर्य)

प्रारम्भमें छोटी और समय जाते क्रमशः बढ़ती जानेवाली सज्जनोंकी मैत्रीके समान वसिष्ठके आश्रमके तरुवरोंकी छाया ग्रीष्मके मध्याह्नके बाद बढ़ती जा रही थी। उपवनका रूप धारण करनेवाले आश्रमस्थ वृक्षोंके आगे समीपमें प्रवाह-पटमें बहती हुई सरस्वती नदीका प्रवाह ध्यानावस्थित अवस्था-जैसी नीरवता और स्थिरताके साथ बहता चला जा रहा था और सरस्वतीकी सतहको स्पर्श करके बहनेवाली शीतल पवन-लहरी आश्रम-वृक्षोंकी घनी छायामें मध्याह्नमें अङ्ग सिकोड़कर बैठी हुई बालहरिणीके समान ठंडकका हाथ पकड़कर उद्यानमें एक साथ स्वेच्छानुसार खेलनेके लिये आमन्त्रित कर रही थी। सरस्वतीके जलको स्पर्श करके शीतलताको प्राप्त हुआ पवन जैसे ग्रीष्मके तापका समादर कर रहा था, उसी प्रकार वसिष्ठके पास गुरुमन्त्र लेकर सत्सङ्गसे समान शीलवान् बना हुआ आश्रमका प्रदेश वत्सलता और आदरका भाव प्रदर्शित कर रहा था।

आश्रमके इतिहासकी सारी दुःख-रेखाएँ वर्तमानके स्वस्थ मनोद्गुंनके नीचे ढक गयी थीं। कुछ कम संकट नहीं गुजरा था। कान्यकुब्ज-देशाधिपति गाधिपुत्र राजा विश्वामित्र एक बार पासके वनमें मृगयासे थके-माँदे विश्राम करनेके लिये आश्रममें अतिथिरूपमें आये और अपने अतिथि-धर्मको भूलकर वसिष्ठकी कामधेनुके लोभमें, राजसत्ताके मदमें,कामधेनु नन्दिनीको हरकर ले जानेके लिये उन्होंने आश्रममें बड़ा बखेड़ा खड़ा कर दिया। ब्रह्मतेजके सामने क्षात्र-शौर्यकी सीमा उन्होंने देखी। ब्रह्मर्षि वसिष्ठका तपःप्रभाव देखकर उसको प्राप्त करनेके लिये राज्यका त्याग करके वनवास स्वीकार किया और तपस्याके द्वारा सिद्धि प्राप्त की। तथापि इससे वे राजर्षि बने, ब्रह्मर्षि नहीं।

इतनी तपःसिद्धि होनेपर भी वसिष्ठके आश्रममें गर्व खण्डित होनेपर विश्वामित्रके मनमें उन ब्रह्मर्षिके लिये द्वेषभाव रह ही गया और इस द्वेषाग्निके प्रज्वलित होनेके प्रसङ्ग भी दैवयोगसे उपस्थित होते गये। राजा कल्माषपादकी भरी सभामें विश्वामित्रके तपःप्रभावको देखकर जब सभी सभासद् उनकी अभिवन्दना कर रहे थे, उस समय वसिष्ठ ऋषिने और लोगोंके समान विनम्र भावसे विश्वामित्रका सम्मान नहीं किया; इतना ही नहीं, अपनेमें ब्रह्मर्षि होनेका मान रखनेवाले विश्वामित्रको उन्होंने राजर्षि कहकर सम्बोधन किया। विश्वामित्रको ऐसा लगा कि वसिष्ठ गर्वके वशीभूत होकर हमारा अपमान कर रहे हैं; अतएव वसिष्ठको सब प्रकारसे सतानेका विचार उनके मनमें उत्पन्न हुआ। पहले तो उन्होंने राजा कल्माषपादसे हिल-मिलकर, उनके कान भरकर वसिष्ठको उनके पुरोहित-पदसे पृथक् करवाया और सभामें तथा अन्यत्र सब जगह उनकी निन्दा प्रारम्भ कर दी। विश्वामित्रने समझा था कि इससे क्रोधाविष्ट होकर वसिष्ठ युद्धमें प्रवृत्त हो जायँगे और सहज ही उनको हराया जा सकेगा; परंतु वसिष्ठजी और ही प्रकृतिके ऋषि थे। उनकी 'शठं प्रति शाठ्यम्' की नीति न थी। इसके विपरीत वे भूतमात्रके प्रति समभाव रखकर उदार वत्सलताका भाव दिखाते हुए तपश्चरणमें लगे थे। उनके धर्ममें योगसिद्धि प्राप्त करनेका आदर्श नहीं था, परंतु प्राणिमात्रके कल्याणकी अभिलाषा थी और इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये सत्य, प्रेम, निरभिमानताका आचार था। शिष्योंको 'समत्वं योग उच्यते।' 'सत्येनापद्यतेऽमृतम्'—ये सूत्र पढ़ानेवाले वसिष्ठजीने विश्वामित्रके सारे प्रहार हँसते हुए सह लिये। इससे विश्वामित्रका क्रोध और द्वेष और दूना हो गया। वसिष्ठके सर्वनाशका भयंकर निश्चय करके राजा कल्माषपादको उन्होंने अनेकों अयोग्य उपदेश देकर भ्रममें डाल दिया। वनमें शिकार करनेके बहाने आमन्त्रित-कर राजाके द्वारा वसिष्ठके श्रेष्ठ पुत्र शक्तिकी क्रूरतापूर्वक हत्या करवा डाली। अपने अन्तःकरणके आदर्शको स्वयं नहीं, बल्कि अपने वंशजोंके द्वारा सफल बनानेकी कल्पना वसिष्ठजीने की थी। परंतु उनके युवा पुत्र शक्तिको अभी कोई संतान नहीं प्राप्त हुई थी, इसी बीच उसका संहार हो गया। इस आघातको सहन करनेका एकमात्र उपाय समझकर वे तीर्थयात्राके लिये निकले। परंतु शक्तिकी स्त्री अदृश्यवती गर्भवती थी, उसको साथ लेकर लंबी यात्रा करना शक्य नहीं था; इसलिये तुरंत उन्हें आश्रमपर लौटना पड़ा और आश्रममें आते ही अदृश्यवतीने एक पुत्र प्रसव किया। इस शिशु पौत्रको अपना जीवन-मन्त्र पढ़ानेके लिये प्रातःकाल सरस्वतीके

जलमें स्नान करके उगते हुए सूर्यको अर्घ्य देकर वसिष्ठने प्रणवका जप प्रारम्भ कर दिया। तबसे आजतक क्षमाशील कर्तव्यनिष्ठ वसिष्ठके स्वभावकी एक-रस प्रसन्न-चारुता इस आश्रम-प्रदेशमें फैल रही है।

अब मध्याह्नके पश्चात् वसिष्ठजी कामधेनु नन्दिनीकी गर्दनपर हाथ फेरते हुए उसे पुचकार रहे थे और उसके मुँहमें घास दे रहे थे। जिस दिन विश्वामित्रने इस आश्रममें अतिथिरूपमें आकर नन्दिनीको हर ले जानेका अनुचित प्रयत्न किया था, उसी दिनसे नन्दिनीके मनमें वसिष्ठके प्रति विशेष ममता उत्पन्न हो गयी थी। वसिष्ठको देखकर वह रुक जाती, उनका शब्द सुननेके लिये कान खड़े कर देती। वे समीप आकर जब उसके मुँहपर हाथ फेरते, तब शान्त स्थिर आँखोंसे वह वसिष्ठकी ओर देखती रहती।

जिस समय वसिष्ठ नन्दिनीके पास थे, तभी मेधातिथि उनसे मिलने आये। आते ही बोले—'वसिष्ठ! तुम्हारे जिम्मे कामधेनुकी सेवा अलग है! तुम्हें जरा अधिक·······'

'अधिक नहीं, मेधातिथि! इस विषयमें तुम मुझको प्रतिदिन कहते हो। परंतु आज मैं अपनी बात तुम्हें स्पष्ट सुनाऊँगा। यह तो धर्म है, कर्तव्य है। वह मूक प्राणी, जिससे हम सेवा लेते हैं, मनुष्यसे क्या अपेक्षा रखता है, यह बात सोचने योग्य है। यह नन्दिनी आश्रमकी पोषिका है, आश्रमकी माता है। इसकी यथोचित सेवा मुझसे नहीं हो सकती। परंतु जिस समय यह वनमेंसे हिंसक पशुके भयसे भागती हुई आयी और आश्रममें आकर हाँफने लगी, मैंने इसके आगे ले जाकर पानी रखा, मुँहमें घास दी और सहलाते हुए इसकी गर्दनपर हाथ फेरा; उस समय इसकी आँखोंमें विश्वास और संतोषके अश्रु-बिन्दु मुझे दीख पड़े। उस दिनसे मुझसे इसके पास बैठे बिना नहीं रहा जाता। सच कहता हूँ, मेधातिथि! पशुमें भी अन्तःकरण होता है और उसमें किसी भी पशु या मनुष्यके अन्तःकरणको पहचाननेका गुण—धर्म होता है। जो ममता मनुष्यमें अपने लिये या सम्बन्धीके लिये होती है, उसे सम-भावसे पशु-पक्षियोंमें, वनस्पतिमें, जीवमात्रमें फैलाना चाहिये।'

मेधातिथि बीचमें ही बोल उठे— 'मनुष्य अपने-आपसे सबमें इसका विस्तार नहीं कर सकता।'

'ऐसी बात न कहो; क्योंकि समता तो आत्माका स्वभाव है और स्वभावको प्राप्त करना, उसको सिद्ध करना अशक्य नहीं। बल्कि यह सब ईश्वरका है, ईश्वरमय है, ईश्वररूप है। अहंकारकी क्षुद्र मर्यादामें बँधकर किसी प्राणीके गौरवकी हानि करनेमें मानवका हित नहीं। उलटे 'परस्परं भावयन्तः'से कल्याणकी प्राप्ति होती है। क्या कोई प्रत्युत्तर खोजते हो, मेधातिथि? क्या विचार करते हो?'

'कुछ भी नहीं। आपकी बात वैसे तो ठीक लगती है; परंतु सत्य यह है कि मनुष्य अति प्राचीन कालसे अन्य प्राणियोंका अपने सुखके साधनरूपमें उपयोग करता आ रहा है।'

'इस तथ्यको मैं स्वीकार करता हूँ। परंतु क्या इस प्रकार मनुष्य मनुष्यका साधनके रूपमें उपयोग नहीं करता? परंतु बात केवल इतनी ही नहीं है। मनुष्यको तथ्योंसे संतोष नहीं होता। अपनेको वह अधिकाधिक सुखी करना चाहता है। आदर्शकी लालसा मानव-हृदयमें है, वह उसको प्राप्त करना चाहता है; इसलिये अपनी भूलको स्वीकार करके भूल सुधारनेका अधिकार मानव-जातिको है, यह भूलना नहीं चाहिये। भूलको सुधारे बिना भूलवाले रास्तेपर आगेसे आगे बढ़नेसे तो उलटा आदर्शसिद्धिसे बहुत दूर जाना पड़ता है, समीप पहुँचना नहीं होता। इसीसे कहता हूँ कि मनुष्यको अभीसे चेतना चाहिये और अन्तःकरणको अधिक समभावापन्न बनाना चाहिये। यदि आजसे ही चेतकर इस भूलको नहीं सुधारें तो आज दूसरे प्राणीको त्रास देकर अपना काम बनानेवाला मनुष्य मानसिक संकीर्णताके कारण स्वयं अपना निस्सहाय साधन बनेगा। मनुष्य जीतेजी मरकर दूसरोंके उपभोगका साधन बनेगा। मानव-जाति इस प्रकार उत्तरोत्तर अधोगतिको प्राप्त होती जायगी और आज जान-बूझकर भी इस भूलको यदि हम नहीं सुधारेंगे तो भविष्यमें मनुष्यको जो कुछ सहन करना पड़ेगा, उस सबका पाप हमारे सिर··'

वसिष्ठका प्रवचन पूरा होनेके पहले ही दूरसे आवाज आने लगी—'मेधातिथि! गुरुदेव!' परंतु मेधातिथि वसिष्ठकी बात सुननेमें निमग्न थे।

'चाहता हूँ कि आपका शिष्य बन सकूँ, वसिष्ठजी! परंतु अभी तो...'

ऐसोंको दण्ड देनेमें जो मनुष्य शक्तिशाली है और दुष्कर्म करनेवालोंको जान-बूझकर उनका निवारण करनेके लिये उपाय ढूँढ़कर प्रतीकार नहीं करता, उसको इन दुष्कर्म करनेवालोंका पाप लगता है।'—पराशरने कहा।

'यहाँतक तो तेरी बात यथार्थ है; पर बेटा! इस बातको एक डग आगे छोड़ दे। दुष्कर्मका प्रतीकार करना ही चाहिये। पर इसके लिये शस्त्र ही एकमात्र उपाय नहीं है।'

'परंतु शस्त्रके बिना ये दुष्ट लोग तुरंत समझनेवाले नहीं हैं।'

"उनको तुरंत समझानेके लिये हम अपनापन छोड़ देते हैं और वे लोग जैसी नीति काममें लाते हैं, हम भी उन्हींके-जैसे स्वभाववाले बन जाते हैं। अपनापन छोड़नेसे क्या लाभ होना है! जो ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, जिस अध्यात्मका सम्पादन किया है, उसे छोड़कर शस्त्रकी शरण लेनेसे किसीका कल्याण नहीं। हमें ब्रह्मत्वकी रक्षा करनी चाहिये। प्रस्कण्वकी बात तुमने सुनी है? एक बार वे सूर्यको अर्घ्य देकर नदीमेंसे बाहर निकल रहे थे। वहाँ एक बिच्छू नदीके जलमें शिलापर चढ़नेका प्रयत्न करता था, पर पानीमें गिरकर तड़फड़ा रहा था; उसपर प्रस्कण्वकी दृष्टि पड़ी। बिच्छू मर जायगा, इस भयसे उसको पकड़कर वे बाहर फेंक देनेका यत्न करने लगे। हाथ लगते ही बिच्छूने डंक मार दिया, परंतु ऋषि उस डंककी वेदना सहकर पुनः उसको बचानेका प्रयत्न करने लगे। नदीके किनारे एक किसान हल लेकर चला जा रहा था। उसने यह सब देखा और हँसते हुए ऋषिसे कहा—'मुनि महाराज! जब यह बिच्छू पानीमें मरने जा रहा है और फिर भी तुम उसे बचाने जाते हो तो डंक मारता है, ऐसी दशामें इसे क्यों बचाते हो? मरने दो! अपने स्वभावका मजा उसे चखने दो!'

"इसी बीचमें बिच्छूको बचाते हुए प्रस्कण्वने उत्तर दिया—'भाई! इसी कारण इसको बचाता हूँ कि यदि यह बिच्छू मरते हुए भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ता तो मैं केवल डंक मारनेकी व्यथासे अपना स्वभाव छोड़ दूँ, यह कैसे हो सकता है। बल्कि इसे यह समझ नहीं है कि मैं इसको बचानेकी चेष्टा कर रहा हूँ। यदि मेरी ओरसे अभय प्राप्त होनेका ज्ञान इसे होता तो यह डंक न मारता।' इस प्रकार बेटा! अपने निजके दुःखको भूलकर हमें अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये, प्रतिपक्षीको अभय प्रदान करना चाहिये। प्रत्येक दुष्कर्मके पीछे भयका बीज है और अधैर्यका सिञ्चन है। अभयदान देनेवाले अपने ब्रह्मत्वको खो नहीं देना चाहिये।"

पराशरने उत्तरमें अपना बचाव करते हुए कहा—'कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शस्त्र अधिक लाभदायक हो जाता है।' 'यह आभास है, सत्य नहीं।' वसिष्ठने कहा। 'शस्त्रसे शत्रुका संहार होता है, अपनी विजय नहीं होती; क्योंकि उसके द्वारा पराजित, अपमानित शत्रुमें वैर उत्पन्न होता है। मानव-जातिमें जहाँ मैत्री स्वभावतः अपेक्षित होती है, वहाँ शस्त्रके ग्रहणसे वैर और हिंसाको स्थान प्राप्त होता है। मानवका एक-कौटुम्बिक भाव कम हो जाता है; और इससे यहाँतक होता है कि भाई-भाई, पिता-पुत्र—सब परस्पर लड़ मरते हैं। यह इष्ट नहीं है। इस स्थितिमें भावी प्रजाको बचानेके लिये शस्त्रका त्याग ही एक उपाय है और इसके लिये अध्यात्मकी प्राप्ति करनी चाहिये।'

'इस अध्यात्मवृत्ति, समभाव और क्षमाशील सद्भावके बदलेमें आपको क्या मिलेगा, पितामह!—यह बात मुझे अज्ञात नहीं है। आप मानो पूरा न जानकर सोच रहे हैं और विश्वामित्र हमारे सर्वनाशके लिये चढ़ा चला आ रहा है। आपकी इस आदर्श-सिद्धिकी स्थिर वृत्तिके साथ स्थावर वृक्षोंको जैसे दावानल दग्ध कर डालता है, उसी प्रकार विश्वामित्रकी निर्दय प्रज्वलित वृत्ति हम सबको निःशेष कर डालेगी। आपके जीवनका निष्कारण विलय हो जायगा।'

'निष्कारण नहीं, बेटा!'—सहज ही हँसते हुए वसिष्ठजी बोले। 'आदर्श इस जीवनको लेकर है। जगत् एक कुटुम्ब है। वह समता, आदर और स्नेहसे दैवी सम्पत् प्राप्त करे, भावी संतान सहयोगपूर्वक मिल-जुलकर, एकरूप बनकर ठीक मानवोचित जीवन व्यतीत करे—इस आदर्शकी सिद्धिके लिये यदि वसिष्ठको देहकी बलि देनी पड़ेगी तो वह अवश्य देगा। इस आदर्शके सामने वसिष्ठकी इस देहका कोई महत्त्व नहीं है। यदि भावी संततिके उत्कर्षके लिये मुझसे स्वार्पणके द्वारा कुछ भी बन पड़ेगा तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा।'

वसिष्ठ यह बात कह ही रहे थे कि पक्षियोंका एक बड़ा झुंड भयसे चीं-चीं करता हुआ आश्रमके ऊपरसे उड़कर निकल गया और तुरंत आश्रम-वृक्षोंकी ओटसे हरिणोंकी एक टोली वसिष्ठकी ओर दौड़ आयी। हरिण अतिशय हाँफ रहे थे, उनके रोंगटे खड़े हो गये थे और मानो वे उग्रदंष्ट्रा मृत्युकी दाढ़मेंसे बचकर आये हों, इस प्रकार उनकी विकल आँखोंमें भयके चिह्न झलक रहे थे। शिष्योंके साथ ऋषि

नेत्रनिमिष रुक गये। एक हरिणशिशु अरुन्धतीके पास खड़ा काँप रहा था, दूसरा वसिष्ठके पैरको सूँघता हुआ प्रदक्षिणा करने लगा। आश्रमवासी अचेतनके समान निस्तब्ध खड़े थे। उसी समय ऊपर उड़ते हुए सैंकड़ों टोलियोंसे करुण मन्द चीख मारकर एक हंस पंखोंमें बाणसे बिंधा हुआ नीचे गिरा। तुरंत अरुन्धती उस ओर दौड़ीं। सावधानीसे पराशरने धनुष उठा लिया। तब वसिष्ठने हंसको अपने हाथमें लिया और प्यारसे पंखोंमेंसे बाण खींच लेनेका प्रयत्न करते हुए पराशरसे बोले—'रोपण ओषधिका कल्क लाओ। पराशर, जल्दी करो।'

'पितामह! इस समय?'

'हाँ, इस समय यही कर्तव्य है।'

असंतुष्ट चित्तसे जल्दी-जल्दी पराशर वनस्पतिका कल्क तैयार करके लाया और फिरसे धनुष सँभालने लगा। वसिष्ठने हौले-हौले हाथोंसे हंसके पंखोंमेंसे बाणको खींच लिया और घावपर रोपण ओषधिका कल्क दबा दिया। मूर्च्छाकी दुर्बलतासे मृत्युके मुखमेंसे निकलकर हंसकी आँखें नम्र कृतज्ञता प्रकट करती हुई वृद्ध वसिष्ठकी वत्सल मुखमुद्राकी ओर एकटक देखने लगीं। पास ही श्वास रोके खड़ी नन्दिनी सब देख रही थी। उसी समय घोड़ेके टापकी ध्वनि सुनायी पड़ी और तत्काल ही सामनेके वृक्षोंमेंसे पूरे वेगसे अश्व दौड़ाते हुए राजा कल्माषपाद आते दिखलायी दिये। उनको देखकर धनुषपर शरसंधान करता हुआ पराशर बोला—'आ गया मेरे पिताका घातक! आज मैं इसका नाश करूँगा। क्षत्रियोंको मैं जीने नहीं दूँगा। सातों लोकोंका नाश करनेकी शक्ति मैंने सम्पादन की है।'

वसिष्ठने अपनी स्वस्थता नहीं छोड़ी। वे आगे आकर पराशरके बीचमें खड़े होकर बोले—'क्षत्रियोंको या सप्तलोकके किसीको भी नाश करनेकी आवश्यकता नहीं है; परंतु वत्स! तू अपने तपके तेजको दूषित करनेवाले इस क्रोधको मार डाल। अभी तू कर्तव्यपालन नहीं कर रहा है, बल्कि वैरवृत्तिका पोषण करनेके लिये शस्त्र उठा रहा है और उसको कर्तव्यके रूपमें गिनता है। तू यह बाण उतार ले। जबतक यहाँ वसिष्ठ जीता है, तबतक तुझसे बाण नहीं छोड़ा जायगा।'

इस आज्ञाका उल्लङ्घन करके बाण नहीं छोड़ा जा सकता था। इसी बीचमें घोड़ेपर चढ़कर आते हुए राजा कल्माषपादने पराशरको शरसंधान किये तथा वसिष्ठको बीचमें पड़कर रोकते देखा। उसके मनपर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। वह अश्वसे उतर पड़ा और आगे आया। पराशरको बाण उतारते देख तुरंत तलवारको म्यानमें रखकर वह धीरे-धीरे वसिष्ठकी ओर बढ़ा। पूर्वकालमें वसिष्ठ इस राजाके पुरोहित थे। उन्होंने राजाको सम्बोधित करते हुए कहा—'हे प्रजावत्सल राजन्! आपका स्वागत हो। धर्मनिष्ठ और अध्यात्म-विद्यामें रत ऐसे राजाके आगमनसे इस आश्रमको सदा ही हर्ष प्राप्त हुआ है।'

राजा वसिष्ठके उपदेशकी वाणीसे परिचित थे। वे राजाको दयाकी, सहिष्णुताकी, समानता और क्षमाकी बातें कहा करते थे, मानवताका उपदेश दिया करते थे। परंतु इन सबको वस्तुतः उन्होंने अपने जीवनमें—आचारमें पूरा-पूरा उतार लिया है; इस तथ्यकी खबर राजाको नहीं थी। आज यह प्रत्यक्ष देखकर राजाके मनका काँटा निकल गया, क्रोध दूर हो गया, वसिष्ठकी महानताने अनजानमें ही उसके हृदयको स्पर्श कर लिया। एक क्षणमें आगे आकर नमस्कार करते हुए कल्माषपादने कहा—'आपकी शुभेच्छा अन्तःकरणकी है, इसीसे आप अपने पौत्रके बीचमें आकर इस विनाशक शरको नीचे उतरवा सके हैं। इसकी शस्त्र-विद्याकी महिमा मैं बहुत सुन चुका हूँ। क्या यह ब्राह्मण-पुत्र मेरा वध करनेके लिये तैयार हो गया था?'

'केवल आपका ही नाश करनेके लिये यह तैयार नहीं था, बल्कि साथ ही अपनी अध्यात्म-विद्याका, ब्राह्मणत्वका और संक्षेपमें कहूँ तो सच्ची मानवताका नाश करनेके लिये तैयार हो गया था। 'समः सर्वेषु भूतेषु' होकर मनुष्यको क्षमाशील बनना चाहिये—इसे भूलकर यह पद-च्युत हो रहा था। जिस मानवताकी प्राप्तिके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है, उसे यदि वह प्राप्त न कर सका तो फिर उसका प्रयत्न-विहीन या मानवता-विहीन यह शरीर या भौतिक सम्पत्ति क्या काम आयेगी! यही मैं इसको समझानेका प्रयत्न कर रहा हूँ।' वसिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि इस बीचमें उनके हाथमें सोये हुए हंसने आँखें खोलकर देखा और भयसे घबराकर वह अपने पंख फड़फड़ाने लगा। पश्चात् रक्त बहनेके कारण वह बेहोश हो गया।

'अरी! अरी! अरुन्धती, पानी ला!'—वसिष्ठने कहा।

'इसको कैसे बचाया''जान पड़ता है''''।' राजाने कहा।

'यह पक्षीकी जाति है। मनुष्यसे कितना घबराता है! जिसकी शरणमें यह निर्भय होकर जीना चाहता है, उसीके द्वारा इसकी मृत्यु होती है—यह देखकर यह सारी जाति डरती

है। राजन्! देखो वहाँ खड़े उस हरिणको।' घावपर फिर रोपण ओषधि दाबकर, हंसकी गर्दनपर पानी छाँटकर सहलाते हुए वसिष्ठने भागकर सामने खड़े, वसिष्ठ और राजाकी ओर लंबी गर्दन किये, एकटक भयसे ताकते हुए हरिणकी अँगुली की ओर इशारा करते हुए कहा।

उसी समय पराशर वसिष्ठके सामने आकर खड़ा हो गया और धनुष फेंककर चरणोंमें गिरकर बोला—'पितामह! आपकी बात सत्य है। मैं मृत्युसे नहीं डरता। मैं शस्त्र फेंक देता हूँ। अब आपके मन्त्रसे जीवन प्राप्त करूँगा। इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें आपके मन्त्रकी सिद्धिके लिये तप करके उसे प्राप्त करूँगा।' इस दृढ़ निश्चयका प्रभाव उसके ललाटपर अङ्कित हो गया। वसिष्ठने कहा—'बेटा! इसकी मुझे कोई कल्पना नहीं है कि मेरा आदर्श कितना सिद्ध होगा। तेरे प्रति जितना होना चाहिये, उतना आज मुझे आत्म-संतोष है; तू बच गया, क्या यह कम है?' यह कहकर वसिष्ठ चुप हो गये।

कल्माषपाद यह सब देख रहे थे। आगे-पीछेके अनुसंधानका उनको पता था। उनका मन भक्तिके आवेशसे भर गया। उन्होंने वसिष्ठके चरणोंमें मस्तक नवा दिया। थोड़ी देरतक मुँहसे बोली निकल न सकी। फिर उन्होंने कहा—'मैं भी आज सबका विनाश करने आया था। अपना आत्मघात मैं कर चुका होता। परंतु आपने मेरा और सबका उद्धार किया। मैंने पुनर्जीवन प्राप्त किया। मैं आपसे फिर पुरोहित-पदपर आसीन होनेके लिये विनती करता हूँ। आशा करता हूँ कि आप मेरा अनादर नहीं करेंगे। मैं जितना भूल करनेवाला हूँ, उतना ही क्षमाका पात्र हूँ।'

'राजन्! उठकर बैठो। मैं सब समझता हूँ, परंतु विश्वामित्रको उद्विग्न करना उचित नहीं।'

'यदि वे ब्रह्मर्षि होंगे तो उनको अनुचित नहीं जान पड़ेगा। अन्यथा उनका उपचार नहीं है। परंतु वे यहीं पीछे आ रहे हैं।'

'बुलायें·········'विश्वामित्र ऋषि!' राजाने पुकारा। परंतु आश्रमके वृक्षोंके उस ओरसे कोई उत्तर न मिला। किसी सेवकने आकर कहा—'वे तो चले गये।'

अरुन्धती कुछ कहने जा रही थीं। इतनेमें छलाँग मारकर दो-चार हरिण वसिष्ठके समीपसे दूर हट गये और नन्दिनी वसिष्ठकी ओर भरी आँखोंसे आनन्दपूर्वक देखती रही।

आश्रम-वृक्षोंकी छाया उस समय सरस्वती तक लंबी पड़ रही थी।

आदर्श मानव

(रचयिता—पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल शास्त्री)

निज धर्ममार्गमें अटल रहे, कर्तव्य कर्मका पालक जो।
इन्द्रिय-भोगोंकी चाह नहीं, परमार्थ-तत्त्वका साधक जो॥
कष्टसहिष्णु धीरतापूर्वक, याचकका हितकारक जो।
सुख-वैभवमें भूल न जाकर, नियमोंका नित पालक जो॥
बुद्धि विशुद्ध, तपोमय जीवन, क्षमा-धर्मका रागी जो।
राग-द्वेष अरु मान-बड़ाई तथा महत्ता-त्यागी जो॥
तत्त्व-ज्ञान, चैतन्य-ध्यान, निष्काम कर्मका भागी जो।
मानव आदर्श वही जगमें है, गर्वशून्य वैरागी जो॥

मानव बनकर मानवता दान करो

करो सत्य व्यवहार, त्याग दो सारी हिंसा। करो न संग्रह भोग, बाँट दो सबको हिस्सा ॥
ममताको दो त्याग, मालिकी छोड़ो धनकी। समता सबमें करो, छोड़कर लघुता मनकी ॥
छल-कौशल सब छोड़, प्रेमयुत बरतो सबसे। सबका आदर करो, छोड़ गुरुता मद अबसे ॥
सबके दुःख-अभाव स्वयं तुम ले लो सुखसे। निज सुख देकर स-मुद छुड़ा दो सबको दुखसे ॥
पर-हितमें ही हित अपना मानो तुम निश्चय। अभय-दान सबको कर, सत्वर दूर करो भय ॥
वस्त्र, रत्न, धन, धाम, भूमि, विद्या, धी सारी। भोग, काम, पद, मान, कला, चतुराई भारी ॥
जो कुछ हो निज पास, न समझो उसको अपना। सबको सबका समझ, छोड़ दो स्वत्व-कल्पना ॥
भजो सदा भगवान्, भोगका भजना छोड़ो। हो सम्मुख हरिके अब भोगोंसे मुँह मोड़ो ॥
सबमें देखो ईश, सभीका मान करो नित। सबकी सेवा करो, करो सबका सब विधि हित ॥
सच्चे मानव बनो, सभीको दो मानवता। नष्ट करो दुखदायिनि दारुण अति दानवता ॥

क्षमा-प्रार्थना

हम मानव हैं। मानवता हमारी सम्पत्ति है, हमारी स्थिति है और वस्तुतः हमारा स्वरूप है, पर आज वही मानवता हमसे छिनी चली जा रही है और हम असहाय, इस मरण-तुल्य लूटको देख रहे हैं! मानवताके स्वरूप-का संरक्षक है एकमात्र भगवान्, वही मानवताका परम और चरम लक्ष्य है, उसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये जीवको मानव बननेका सौभाग्य दिया गया है—इन्द्रियोंके भोग तो सभी शरीरोंमें थे, परंतु हमने उस भगवान्को भुला-कर अपनी रक्षाका भार भोगको दे दिया और उसीको अपने जीवनका साध्य और साधन बना लिया। जहाँ 'साधन सिद्धि राम पग नेहू' था, वहाँ चारों ओर—साधन और साध्य सभी केवल भोग हो गया। इसीसे आज 'त्याग' और 'कर्तव्य'का स्थान 'अर्थ' और 'अधिकार'ने ले लिया और इसीसे आज असुरको अवसर मिल गया हमारी मानवताको छीनने-लूटने और मारनेका। हमारे अंदर भगवान् विराजे होते तो जैसे श्रीतुलसीदासजीने मनकी ओर आते हुए संसारको ललकारकर कहा था—

निज हित सुनु सठ हठ न करहि, जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभुकै दासनि तजि, भजहि जहाँ मद-मार ॥

'अरे शठ! अपने हितकी बात सुन, यदि तू परिवार-सहित अपनी कुशल चाहता है तो हठ न कर, भगवान्के दासोंको छोड़कर भाग जा और उनका सेवन कर जहाँ अहंकार और काम रहते हों।'

वैसे ही हम भी असुरको ललकारकर, डाँटकर भगा देते। न मानता तो भगवान्के प्रभावसे अपनी मौत आप ही मर जाता। पर हम तो सर्वथा असहाय हो रहे हैं; क्योंकि भगवान्के लिये हमारे जीवनमें स्थान नहीं रह गया है। इस बुरी स्थितिसे निकलनेका सर्वोत्तम एकमात्र उपाय है—भगवान्को फिरसे मानवता-का संरक्षक और लक्ष्य बनाना, फिरसे समस्त भूतोंमें भगवान्के दर्शन करके अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा उसकी पूजा करना। इसी उद्देश्यसे 'कल्याण'का यह 'मानवता-अङ्क' प्रकाशित किया जा रहा है। इसको पढ़कर यदि हमारा जीवन तनिक भी भगवान्के साथ सम्पर्क स्थापित कर सका तो उसके बढ़नेकी आशा

होगी और मा... ...की रक्षा हो जायगी। 'कल्याण'के समस्त पाठक-पाठिकाओंसे विनीत प्रार्थना है कि वे इस दिशामें सावधान होकर स्वयं इस 'मानवता-अङ्क'से लाभ उठावें और दूसरोंको प्रेरणा देकर लाभ उठानेके लिये उत्साहित करें एवं मानवताकी रक्षामें सहायक हों।

इस 'मानवता-अङ्क'में जो कुछ प्रकाशित किया जा रहा है, वह सभी प्राचीन और अर्वाचीन महामना मानवोंके पवित्र विचारोंका संग्रह है। इसमें अनुभूतिके विचार भी हैं और कल्पनाके भी। दोनोंसे ही सबको लाभ उठाना चाहिये।

इस अङ्कके लिये बहुत ही अधिक लेख तथा रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। उन सबको प्रकाशित करना हमारे लिये सम्भव ही न था। इसलिये बहुत-से लेख अमुद्रित ही रह गये हैं। इसके लिये हम हाथ जोड़कर लेखक महानुभावोंसे क्षमा चाहते हैं।

विषय-सूचीमें दिये हुए सब विषयोंपर लेख प्राप्त नहीं हो सके। कुछ सर्वसामान्य विषयोंपर ही अधिक लेख आये। इसलिये भी लेखोंको रखना पड़ा। कुछ लेख बहुत देरसे आनेके कारण भी नहीं दिये जा सके। कुछ लेख अधूरे छपे तथा कुछका केवल थोड़ा-सा अंश ही छापा जा सका। इन सब अपराधोंके लिये भी हम सविनय क्षमा चाहते हैं।

विभिन्न भाषाओंके लेखोंका हिंदी भाषान्तर करनेमें श्रद्धेय पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, श्रीरामनाथजी सुमन, पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०, पी-एच्०डी०, पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी, श्रीकृष्णानन्दजी शर्मा एम्०ए०, श्रीकोशलेशजी भारद्वाज आदि महानुभावोंसे बड़ी सहायता मिली है, इसलिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

चित्रपरिचय-सम्बन्धी अधिकांश छोटे-छोटे लेख ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजीके लिखे हैं। एतदर्थ उन्हें धन्यवाद है। कुछ ऐसे लेख हमारे पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा, श्रीरामलालजी और श्रीशिवनाथजी दूबे साहित्यरत्नके लिखे हुए हैं। इसके अतिरिक्त हमारे सम्पादन-विभागके श्रीमाधवशरण एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, श्रीदुलीचंद दुजारी, श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल एम्० ए०, श्रीगुलाबचन्द बोथरासे भी बड़ी सहायता मिली है। इन सबको धन्यवाद क्या दिया जाय, ये तो सब सम्पादन-विभागके अङ्ग ही हैं।

इस अङ्कमें कुछ विषय बार-बार आये हैं, सो ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जो विषय प्रधान होता है, उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति हुआ ही करती है। इसीको 'अभ्यास' कहते हैं। पाठकगण इसके लिये क्षमा करें। इस अङ्कके सम्पादनमें, मुद्रणमें प्रमाद और असावधानीसे जो भूलें रह गयी हैं, उनके लिये विद्वान् लेखक महानुभाव तथा पाठक-पाठिकाएँ सब क्षमा करें।

इस 'मानवता-अङ्क'से यदि हमारी सुप्त मानवता कुछ भी जागी, लुटती तथा लुप्त होती हुई मानवता किसी अंशमें भी सुरक्षित रही तो वह भगवान्की कृपाका ही शुभ परिणाम होगा। हमलोग तो निमित्त-मात्र हैं। जो कुछ शुभ तथा सत् है, सब भगवान्का है; जो अशुभ, असत्, प्रमाद है, वह हमारा है। पूज्यचरण संत-महात्मा, आचार्य, विद्वान्—सभी महानुभाव कृपा करके ऐसा शुभाशीर्वाद दें, जिसमें श्रीभगवान्की सेवामें ही जीवन सर्वभावसे समर्पित हो सके।

विनीत प्रार्थी—

हनुमानप्रसाद पोद्दार }
चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७ रुपया ५० नया पैसा और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। पत्र लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) ४४ नया पैसा एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ४४ नया पैसा बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) **प्रेस-विभाग, कल्याण-विभाग तथा महाभारत-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।** 'कल्याण' के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें) पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलवे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

मानवके लिये धर्मका आचरण तथा अधर्मका त्याग कर्तव्य

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ (मनु० ४।१५६)

सदाचार (सत् आचरण) से दीर्घ आयुकी, सदाचारसे मनोवाञ्छित संतानकी, सदाचारसे अक्षय धनकी प्राप्ति होती है और सदाचारसे अकल्याणकारी बुरे लक्षणोंका नाश होता है।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ (मनु० ४।१५७)

दुराचार (बुरे आचरण) से मनुष्य जगत्में निन्दित होता है, सदा दुःख पाता है, रोगी रहता है और छोटी आयुवाला होता है।

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ (मनु० ४।१५८)

कोई भी और लक्षण न हो, मनुष्य केवल सत् आचरण करे, श्रद्धावान् हो, किसीके गुणोंमें दोष न देखे, तो वह सौ वर्षोंतक जीता है।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥ (मनु० ४।१७०)

जो मनुष्य अधार्मिक होता है, असत्यसे धन कमाता है और नित्य हिंसामें लगा रहता है, वह इस लोकमें सुख नहीं पाता।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥ (मनु० ४।१७२)

भूमिमें बीज बोनेपर वह जैसे उसी समय फल नहीं देता, वैसे ही (जबतक पूर्वकृत प्रारब्धका फल मिलता रहता है, तबतक) इस संसारमें अधर्म-आचरणका फल भी तत्काल नहीं मिलता, समय आनेपर अधर्म करनेवाला जड़-मूलसे नष्ट हो जाता है।

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥ (मनु० ४।१७४)

अधर्म करनेवाला मनुष्य (पूर्व कर्मवश) पहले बढ़ता हुआ और सुख प्राप्त करता हुआ दिखायी देता है, शत्रुओंपर भी विजय पाता हुआ दिखायी देता है, परंतु अन्तमें समूल नष्ट हो जाता है।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ (मनु० ४।१७६)

अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह धर्मसे रहित (अधर्मसे मिलनेवाले) धन और भोगका त्याग कर दे। परिणाममें दुःख देनेवाले धर्म (धर्मवत् प्रतीत होनेवाले कर्म) को भी त्याग दे और लोकनिन्दित कर्मोंका भी परित्याग कर दे।